श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम्

श्रील श्रीजीवगोस्वामिप्रभुपाद-विरचिते

श्रीभागवतसन्दर्भे

पञ्चमः

श्रीभक्तिसन्दर्भः

श्रीवृन्दावनधामवास्तव्येन न्यायवैशेषिकशास्त्रि, नव्यन्यायाचार्य्य,

काव्यव्याकरणसांख्यमीमांसा वेदान्ततर्कतर्कतर्क

वैष्णवदर्शनतीर्थाद्युपाध्यलङ्कृतेन

श्रीहरिदासशास्त्रिणा

सम्पादितः ।

"भारतशासनाधीनशिक्षासंस्कृतिमन्त्रणालयतः प्राप्तसाहाय्येन मुद्रितोऽयं ग्रन्थः"

"Published with the financial assistance from the Ministry of Education. Govrnment of India."

सद्ग्रन्थप्रकाशक

श्रीगदाधरगौरहरिप्रेस

श्रीहरिदास निवास, कालीदह,

पो०—वृन्दावन, जिला—मथुरा,

(उत्तर प्रदेश) पिन—२८११२१

सङ्गणकसंस्करणं दासाभासेन हरिपार्षददासेन कृतम्

श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम्

मुद्रक*प्रकाशक :—

श्रीहरिदासशास्त्री

श्रीगदाधरगौरहरि प्रेस, श्रीहरिदास निवास, कालीदह,

पो०—वृन्दावन, जिला—मथुरा (उ० प्र०)

पिन—२८११२१

प्रथमसंस्करणम्—एकसहस्रम्

प्रकाशनतिथि—२७।७।८५

श्रीगौराङ्गाब्द ४९९

खृष्टाब्द १९८५

✻ श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयतेताम् ✻

विज्ञप्तिः

श्रीचैतन्यमतानुगा बहुविधस्तत्त्वैः समुद्भासिता ।
सद्भक्ति प्रतिपालनी सुवचसा प्रेमार्थ संस्थापिका ॥
जीवातुर्हरिभक्तजीवनिचये चित्तश्रुतिप्रीतिदा ।
श्रीजीवप्रतिभा जगद्विजयिनी सर्वैधिया धार्य्यताम् ॥

प्रस्तुत ग्रन्थ श्रीजीवकृत भागवत् सन्दर्भ (षट्सन्दर्भ) के अन्तर्गत पञ्चम सन्दर्भ है । ग्रन्थोपसंहार में लिखित है—"कलियुग पावन स्वभजन विभजन प्रयोजनावतार—श्रीश्रीभगवत् कृष्णचैतन्यदेव-चरणानुचर विश्ववैष्णव राजसभा सभाजन भाजन-श्रीरूप सनातनानुशासन-भारतीगर्भे षट् सन्दर्भात्मके श्रीश्रीभागवत सन्दर्भे श्रीश्रीभक्तिसन्दर्भोनाम पञ्चमः सन्दर्भः" अर्थात् कलियुग के उपायस्वरूप जो निज भजन (भगवद्-भजन) वह भजन वितरण ही जिनके अवतार का प्रयोजन है, उन श्रीभगवान् श्रीकृष्णचैतन्यदेव के श्री-चरणानुचर एवं विश्ववैष्णव राजसभा के सम्माननीयपात्र जो श्रीरूप सनातन हैं, उनके उपदेश वाक्य जिसके मध्य में है,-इस प्रकार भागवत-सन्दर्भ के अन्तर्भुक्त भक्ति-सन्दर्भ नामक यह पञ्चम सन्दर्भ है । ग्रन्थारम्भ में लिखित है—

तौ सन्तोषयता सन्तौ श्रीलरूप सनातनौ ।
दाक्षिणात्येन भट्टेन पुनरेतद् विचार्य्यते ॥
तस्याद्यं ग्रन्थनालेखं क्रान्तव्युत्क्रान्त खण्डितम् ।
पर्य्यालोच्याथ पर्य्यायं कृत्वा लिखति जीवकः ॥

अर्थात् श्रीवृन्दावन में सतत विराजमान तपस्यादि सम्पत्तियुक्त श्रीरूपसनातन गोस्वामिद्वय के सन्तोषार्थ दाक्षिणात्य विप्र कुलोद्भव श्रीमन्महाप्रभु के प्रिय पार्षद भट्टवंश सम्भूत श्रीगोपालभट्ट गोस्वामी प्राक्तन दाक्षिणात्य आचार्य्यवृन्द के संग्रह ग्रन्थ से विचार पूर्वक एक सारसंग्रह ग्रन्थ किये थे । किन्तु उक्त सङ्कलन ग्रन्थ में श्रीभगवत सिद्धान्त समूह क्रम पूर्वक, विपरीत क्रम से, एवं खण्डित क्रम से विन्यस्त थे । तत् समुदय की समालोचना करके क्रम निबन्धन पूर्वक श्रीजीवगोस्वामी यह ग्रन्थ लिख रहे हैं । किसी प्रयोजक कर्त्ता के अधीन होकर यह ग्रन्थलिखन कार्य्य करते हैं, इस प्रकार स्वीय निरभिमानिता को प्रकट करने के निमित्त ही 'लिखामि' के स्थल में 'लिखति' का प्रयोग हुआ है ।

श्रीमद्भागवत ग्रन्थ के भाष्यस्वरूप प्रस्तुत सन्दर्भ ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हैं, ग्रन्थ एवं श्रीकृष्ण का वाच्य वाचकतारूप 'सम्बन्ध' है । श्रवण कीर्त्तनादि नवधा भक्ति-अभिधेय हैं, एवं 'प्रेम' प्रयोजन है । समग्र ग्रन्थ में मूल श्लोक एवं लेख्य संख्या का क्रम इस प्रकार है :—

(१) श्रीतत्त्वसन्दर्भ-२५,-४७५, (२) श्रीभगवत् सन्दर्भ-१०२-२७४० (३) श्रीपरमात्म सन्दर्भ-१०६, २७५८ (४) श्रीकृष्णसन्दर्भ १८९-३१०५ (५) श्रीभक्तिसन्दर्भ ३४०, ४६२६ (६) श्रीप्रीतिसन्दर्भ ४२९ -४३०० ।

तत्त्वसन्दर्भ का प्रधान आलोच्य विषय है, श्रीमद्भागवत का सर्व प्रमाण श्रेष्ठत्व, सामान्यतः तत्त्व निरूपण एवं सर्ग विसर्गादि की व्याख्या। भगवत् सन्दर्भ नामक द्वितीय सन्दर्भ में ब्रह्म परमात्मादि भेद से तत्त्व निरूपण, ब्रह्मादि की आविर्भाव योग्यता, एवं विभेद, वैकुण्ठ निरूपण, मायाशक्ति, स्वरूप शक्ति प्रभृति की आलोचना, श्रीविग्रह का नित्यत्व एवं पूर्णत्व, ब्रह्म एवं भगवान् के स्वरूप प्रभृति विचारित हैं। तृतीय सन्दर्भात्मक श्रीपरमात्म सन्दर्भ में आलोच्य विषय यह है—परमात्मा, जीव, माया, जगत्, निर्गुण-सगुण विचार, भगवल्लीला का प्रयोजन प्रभृति। श्रीकृष्णसन्दर्भ नामक चतुर्थ सन्दर्भ में वर्णित विषयसमूह इस प्रकार हैं—श्रीकृष्ण की ही स्वयं भगवत्ता, अंशादि का श्रीकृष्ण में प्रवेश एवं नित्यस्थिति गोलोक निरूपण, श्रीवृन्दावनादि का नित्य कृष्णधामत्व, गोलोक वृन्दावन का एकत्व, यदु गोप प्रभृति का नित्य-परिकरत्व, प्रकट एवं अप्रकट लीलावस्था, महिषीवृन्द का स्वरूप शक्तित्व, गोपीवृन्द का उत्कर्ष, एवं श्रीराधिका का सर्वोत्कर्ष प्रभृति।

पञ्चम सन्दर्भात्मक भक्तिसन्दर्भ का आलोच्य विषय यह है—भक्ति किसको करनी चाहिये ? भक्ति क्यों करेंगे ? भक्ति करने का अधिकारी कौन है ? भक्ति किसको कहते हैं ? भक्ति का स्वरूप वर्णन प्रसङ्ग में प्रथमतः आरोपसिद्धा, सङ्गसिद्धा, एवं स्वरूपसिद्धा–त्रिविध विभाग करके स्वरूपसिद्धा शुद्धाभक्ति भक्ति के वैधी एवं रागानुगा—यह द्विविध प्रकार वर्णित है। अर्थात् भक्ति का अभिधेयत्व, कर्म, योग, ज्ञान का आपेक्षिक अपकर्ष, सकाम एवं निष्काम भक्ति, भक्ति का लक्षण, वैधी भक्ति, शरणापत्ति, श्रवण कीर्त्तनादि का विवरण, सेवापराध, रागानुगाभक्ति, श्रीकृष्ण भजन का वैशिष्ट्य, सिद्धक्रम प्रभृति। श्रीभगवत् प्रीति का परमपुरुषार्थ निरूपण, प्रीति एवं मुक्ति का तारतम्य, मुक्ति का प्रकार भेद, प्रीति के स्वरूप एवं तटस्थ लक्षण, श्रीकृष्ण प्रीति की श्रेष्ठता, गोपीप्रेम, शान्त दास्यादि लक्षणाभक्ति, विभाव अनुभाव प्रभृति का विचार, धीरोदात्तादि का निर्णय, सम्भोग विप्रलम्भादि भेद, श्रीराधा की महिमा प्रभृति प्रीति सन्दर्भ के आलोच्य विषय हैं।

भक्तिसन्दर्भ के अनुच्छेद समूह में सन्निविष्ट विषयों का विवरण निम्नोक्त प्रकार है—

अनु० १-९८। अन्वय मुख से भक्ति महिमा, संक्षेप से सम्बन्ध, अभिधेय एवं प्रयोजन। जीव द्विविध पूर्वसंस्कारवान् एवं वर्त्तमान् में लब्ध कृपावान्। (१) भक्ति का सुखात्मकत्व। (२) भजनीय स्वरूप एवं आत्म प्रसन्नता। भक्ति का परम धर्मत्व, ज्ञान कर्म्मादि भक्तिमुखापेक्षी हेतु भक्ति द्वारा ही भगवान् भजनीय। गुरुशिष्यभाव से प्रवृत्त उपदेश वाक्य श्रीद्भागवत (१।२।११)का तात्पर्य्य भक्ति ही है। श्रीशौनक के प्रति श्रीसूत के उपदेश का सारार्थ (१८) कर्म, ज्ञान, एवं वैराग्य के प्रति यत्न परित्याग पूर्वक भक्ति करना ही कर्त्तव्य है।(१९) त्रिविध कारणों से मङ्गलकामी के पक्ष में श्रीविष्णुवत् ब्रह्मा एवं शिव उपास्य नहीं हैं। (२०) विष्णु उपासक के पक्ष में देवतान्तर की निन्दा सर्वथा वर्जनीय है। (२१) रजः तमः प्रकृति के व्यक्ति,-विष्णु भिन्न अन्य देवता का उपासक होता है। (२३) श्रीनारद व्यास संवाद का सारार्थ भी भक्ति ही है। भा० प्रथमस्कन्ध (२४-३२) श्रीशुक परीक्षित् संवाद का सार भी भक्ति ही है। भा० द्वितीय स्कन्ध। (२७) भक्तियोग में रुचि के पूर्व पर्य्यन्त ही काम्यकर्म्माचरण विहित है। भा० २ स्कन्ध १ अध्याय में विराट धारणा का उपदेश प्रदान के पश्चात् अपवाद न्याय से भक्ति ही कर्त्तव्य रूप में उपदिष्ट है।(२८) सद्योमुक्ति एवं क्रममुक्ति की अपेक्षा भगवत्प्रीति श्रेष्ठ है। (२९) भक्तियोग सर्व वेद सिद्ध है। (३१)अकाम, सर्वकाम, वा मोक्षकाम व्यक्ति के पक्ष में भक्ति ही विहित है। (३२) तीव्राभक्ति ही शुद्धाभक्ति में परिणता होती है। किन्तु यादृच्छिक भक्ति के द्वारा ही कामना पूर्त्ति होती है। यज्ञादि कार्य्य में खादिर यूप संयोग-वत् भागवत सङ्ग होने से प्रेम लाभ होता है। (३३) व्यतिरेक मुख से श्रीशौनक ने भी भक्ति का ही अभिधेयत्व स्थापन किया है। भा० (२।३।१७)। भा० २।३ में वर्णित सर्वदेवता उपासना से श्रेष्ठत्व स्थापन

भक्ति का ही हुआ है। (३४) श्रीहरि-गुणानुवादक की आयुः ही सफल है। (३५-४०) श्रीहरिकथा विमुख व्यक्ति, महापशु है, उसके अङ्ग प्रत्यङ्ग समूह निष्फल हैं। (४१-४२)

श्रीब्रह्म नारद संवाद का सार भी श्रीविष्णु भक्ति है। समस्त वेदों का तात्पर्य्य रूप में श्रीनारायण ही एकमात्र उपास्य हैं। परब्रह्म-श्रीभगवान् की महिमा है। (४३-४५) श्रीविदुर मैत्रेय संवाद में भी उक्त है—भक्तिमार्ग ही सुख रूप वर्त्म है। (४६-४७) श्रीकपिल देवहूति संवाद में भी उक्त है—परतत्त्व ज्ञानहेतु भक्ति ही मङ्गलमय पन्था है। (४८-४९) श्रीपृथुराज के प्रति श्रीकुमार के उपदेश में भक्ति का ही मुख्य अभिधेयत्व विहित है। (५०) श्रीरुद्रगीत में भी भक्ति ही करणीय है। काम्य कर्माद्याग्रह से भक्त्यङ्ग अनुष्ठान का विच्छेद करना अकर्त्तव्य है। (५१) श्रीनारद प्रचेता संवाद में उक्त है— व्यतिरेक मुख से विष्णु सेवा भिन्न समस्त इन्द्रियादि विफल हैं (५२) अन्वयमुख से उक्त है— श्रीहरि सेवा के द्वारा ही सकल देवता तृप्त होते हैं। (५३) श्रीऋषभदेव कर्त्तृक स्वपुत्र शिक्षण में उक्त है—(५म स्कन्ध) अकिञ्चन के पक्ष में प्रीति भक्ति का आचरण ही कर्त्तव्य है। श्रीब्राह्मण एवं रहूगण संवाद में उक्त है—श्रीहरिसेवोत्थ ज्ञानाग्नि द्वारा संसार विनष्ट होता है। महत् सङ्ग के द्वारा ही हरिभक्ति होती है। (५४) श्रीचित्रकेतु के प्रति श्रीसङ्कर्षण के उपदेशान्त में (६ स्कन्ध) उक्त है-पुरुष अवशेष में भक्त होता है—(५४-५७) श्रीप्रह्लाद द्वारा असुर-बालकानुशासन में उक्त है (भा० ७।७) कौमार में ही प्रिय सुहृद् श्रीहरि का भजन करना चाहिये। (५८) श्रीनारद-युधिष्ठिर-संवाद में (७।११।६) उक्त है—भक्ति के द्वारा ही मन सुप्रसन्न होता है। भक्ति ही सर्व-पुरुषार्थ हेतु है। भक्ति ही पराविद्या एवं परमाश्रय है (५९-६०) (५९-६१) श्रीजायन्तेयोपाख्यान-श्रीकवि वाक्य में उक्त है—ज्ञानाद्यमिश्र भक्ति का अनुष्ठान श्रवणादि द्वारा करने से साधक क्रमशः अभय होता है एवं अनायास मन निरुद्ध होता है। (६२)

आविर्होत्र वाक्य में उक्त है—कर्म्मादि त्याग करके भक्ति ही कर्त्तव्य है (६३) कर्म मोक्ष हेतु वेद में कर्म विहित हुआ है। श्रद्धा एवं विरक्ति का अनुदय पर्य्यन्त वेदोक्त कर्म ही अनासक्त भाव से ईश्वरार्पण पूर्वक आचरणीय है। शीघ्र देहात्मबुद्धि त्यागेच्छु के पक्ष में वेदोक्त एवं तन्त्रोक्त विधिपूर्वक श्रीकेशव की अर्चना कर्त्तव्य है। (६५) श्रीचमस वाक्य में लिखित है—श्रीहरिसेवक श्रीहरि के द्वारा रहित होकर विघ्न को सोपान करके उन्नति की ओर अग्रसर होता है। श्रीकरभाजन वाक्य में उक्त है—श्रीहरि,—विभिन्न युगों में विभिन्न मार्गों के द्वारा पूजित होते हैं। (६६)

श्रीभगवदुद्धव-संवाद में लिखित है—श्रीहरि के निर्म्माल्यादि की सेवा करके एवं श्रीहरिलीला का स्मरण कीर्त्तन करके भक्त, अनायास माया जय करके श्रीहरि को प्राप्त कर सकता है। (६८) श्रीहरि-लीला रहित वेद-वाक्य का भी अभ्यास न करे। (७०) भक्ति के द्वारा ही ज्ञान सिद्ध होता है। (८०) श्रवणादि भक्ति अनुष्ठान के द्वारा यावत् परिमाण में चित्त शुद्ध होता है, तावत् परिमाण में श्रीभगवत् स्वरूप, गुण, लीला, एवं माधुर्य्य अनुभूत होते हैं। (८४) सर्व फलराज प्रेम-भक्ति मार्ग में ज्ञान वैराग्याभ्यास की आवश्यकता नहीं है। भक्तिअनुष्ठान के द्वारा ही ज्ञानादि लभ्य समस्त वस्तु की प्राप्ति अनायास से होती है।

स्वर्गवाञ्छा, चित्रकेतु की मोक्षवाञ्छा, श्रीशुकदेव की, पार्षदेच्छु भक्तवृन्द की वैकुण्ठेच्छा, की पूर्त्ति प्रेम सेवा के द्वारा ही होती है। (८५) वर्त्तमान मनुष्य शरीर के द्वारा श्रीहरि को प्राप्त करना ही बुद्धिमत्ता एवं चातुर्य्य का परिचायक है। जैसे श्रीहरिश्चन्द्रादि। (८६) श्रीशुकदेव के द्वारा उपसंहार वाक्य में भी लिखित है—श्रवणादि भक्ति ही कर्त्तव्य है, नानाङ्गपूर्ण शुद्धाभक्ति के मध्य में भी लीला कथा श्रवण ही परम श्रेयः साधक है। (८७-९१) श्रीसूतोपदेश के अवशेष में भी उक्त है (१२।१२) श्रीभगवत् कीर्त्तनादि के प्रति आदर करना कर्त्तव्य है—श्रीकृष्ण-स्मरण के द्वारा ही सत्त्वशुद्धि, ज्ञान, वैराग्य एवं प्रेमभक्ति का लाभ होता है। श्रीहरिभजन के द्वारा ही तपः आदि सम्पत्ति सफल होती है। (९३-९८)

श्रीमद्भागवत के सर्व इतिहास वाक्य का भी तात्पर्य्य भक्तिमात्र में ही है। निज भृत्य के प्रति यम-वाक्य में उक्त है—नामादि कीर्त्तन द्वारा श्रीहरि-भक्ति ही जीवमात्र का परम धर्म है, भक्त गुणादि श्रवण द्वारा वेदादि श्रवणफल सिद्ध होता है। सर्वदा श्रीहरिस्मृति ही परम कर्त्तव्य है—वेदार्पण मन्त्र में भी श्री-जनार्द्दन प्रीति ही उद्दिष्ट है (९५) श्रीव्रजदेवी के प्रति श्रीउद्धव वाक्य में भी उक्त है—समस्त वर्णाश्रमाचार विहित कर्म का उद्देश्य, श्रीकृष्णभक्ति ही है। (९६) श्रीभगवान् के प्रति ब्रह्मा के वाक्य में उक्त है—ज्ञान, भक्ति के ही अन्तर्गत है। श्रीमद्भगवद्गीता के दशम अध्याय में शुद्धाभक्ति उपदिष्टा है। (९७)

श्रीदाम विप्र वाक्य में भी प्रकाशित है—अन्यान्य पुरुषार्थ साधन भी भक्ति मूलक हैं, भक्ति ही समस्त सिद्धि का जीवन है, किन्तु वह सब सिद्धि के बिना भी भक्ति का साधकत्व है। समस्त शास्त्रों में भक्ति का अभिधेयत्व वर्णित है। अज्ञव्यक्तिवृन्द भी काम्य कर्मादि के अङ्ग रूप में श्रीविष्णु की उपासना करते हैं। देवतावृन्द के पारस्परिक वाक्य में उक्त है—भक्ति ही उपासक को स्वकामनादानानन्तर परमफल 'प्रेम' प्रदान करती है। व्यतिरेक मुख से (९९) प्रतिपादित है—काम्यकर्मानादर के द्वारा भक्ति का विश्वसनीयत्व एवं नित्यसुख रूपत्व, स्वल्पायास एवं वित्तादि द्वारा साध्या भक्ति परम फलदा (१००) भक्ति के विना अपर कुछ श्रीहरि सन्तोषकारक नहीं है, श्रीहरि में अर्पित प्राण श्वपच भी भक्तिहीन द्वादशगुण युक्त विप्र की अपेक्षा श्रेष्ठ है, कारण, भक्तिहीन व्यक्ति के उक्त समस्त गुण गर्वित करते हैं, चित्तशुद्धि नहीं करते हैं। (१०२) श्रीभगवदर्पित कर्म को अनादर के द्वारा जैसे चोलदेशराज एवं शुद्ध भक्त के उपाख्यान में प्रकाश है—श्रीगीता के द्वादश अध्याय में, भक्ति की असामर्थ्य में ही कर्मापण विहित है (१०३) योग के अनादर द्वारा, भक्तिमार्ग में श्रम नहीं होता है, अथच तद्वशीकारता रूप अपूर्व फल होता है। (१०५) भक्ति के बिना ज्ञानोत्पन्न होता ही नहीं। (१०६) स्वतन्त्र अन्याश्रय को अनादर करके भी भक्ति प्रतिपादित है। यथा—देवगण, श्रीआदिपुरुष का ब्रह्मा एवं शिव को भी वैष्णव मानकर भजन करें। सत्वैष्णव के पक्ष में विष्णु को अन्य देवता के समकक्ष रूप देखने से भक्ति का लाभ नहीं होता है, प्रत्युत—प्रत्यवाय होता है। अभेद दृष्टि (देवत्रय में) वचन-शान्त भक्त पर एवं ज्ञानीभक्त पर है। श्रीशिव एवं मार्कण्डेय प्रभृति भी शुद्ध वैष्णवों का भजन करते हैं। स्वयं श्रीशिव भी श्रीहरि का ईश्वरत्व को कहे हैं—अतएव वैष्णव बुद्धि से ही श्रीशिव का भजन युक्तियुक्त है, शुद्ध वैष्णववृन्द श्रीशिव को वैष्णव मानते हैं, कतिपय व्यक्ति, भगवद्-अधिष्ठान मानते हैं, श्रीशिव का भजन स्वतन्त्र ईश्वर बुद्धि से करने पर भृगुशाप लगता है। अन्यान्य देव वृन्द को भगवान् की विभूति जानना चाहिये। देवतान्तर की स्वतन्त्र उपासना के द्वारा श्रीहरि को प्राप्त नहीं किया जा सकता है। अन्य देवता की अवज्ञा, अनादर, निन्दा करना अत्यन्त दोषावह है, कारण, उक्ताचरण से पूर्वाचरित धर्म भी विनष्ट होता है। श्रीशिव निन्दक एकान्ती वैष्णव का भी नरक गमन होता है, जैसे चित्रकेतु।

श्रीकपिलदेव के मत में—जब साधारण प्राणी की अवज्ञा निषिद्ध है, तब श्रीशिवनिन्दा का प्रसङ्ग तो हो ही नहीं सकता है। कनिष्ठ भागवत ही श्रीविग्रहादि में शिलादि बुद्धि करके नारकी होता है। जो व्यक्ति, पिता जिस प्रकार निजपुत्र के प्रति प्रीतिशील होता है, उस प्रकार प्राणीमात्र के प्रति प्रीतिशील होता है, उसके प्रति श्रीभगवान् आशु सन्तुष्ट होते हैं। भक्ति में अजात श्रद्ध व्यक्ति के पक्ष में ही अधिकारोचित कर्मानुष्ठान के सहित अर्च्चन करना आवश्यक है। उससे ज्ञान लाभ होता है। किन्तु जात श्रद्ध के पक्ष में यावज्जीवन शुद्धार्च्चन करना ही कर्त्तव्य है। भूत दया के बिना अर्चन सिद्ध नहीं होता है। यथायोग्य यथा शक्ति दान के द्वारा उसका अभाव होने पर सम्मान प्रदान द्वारा दया करना कर्त्तव्य है। समस्त जीवों के मध्य में एकान्ती भक्त ही श्रेष्ठ है। भक्त के प्रति विशेष आदर एवं अन्य के प्रति यथाशक्ति आदर करना कर्त्तव्य है।

प्रथम उपासक के पक्ष में सर्व भूतादर विहित है। सश्रद्ध साधक के पक्ष में वह स्वाभाविक है। जात रति के पक्ष में सर्वभूत में अहिंसा एवं उपरति स्वीय स्वभाव है। परमसिद्ध के पक्ष में सर्वभूत में प्रेम स्वाभाविक है। अन्यत्र रागद्वेष आशु परित्याग हेतु श्रीभगवत् सम्बन्ध में अन्य देवता एवं भूतादर करना कर्त्तव्य है। केवल भूतादर अनर्थ हेतु है- जैसे भरत का। श्रीभगवदर्चन हेतु पत्र पुष्प चयनरूप किञ्चित् हिंसा भी विहित है।

(१०७) पण्डित व्यक्ति, कृतज्ञ, सुहृद् एवं आत्मद हरि व्यतीत अन्य की शरण ग्रहण नहीं करते हैं। (१०८) श्रीहरि के अभक्त के प्रति अनादर करने से (१०९) श्रीहरि के निष्किञ्चन भक्त को देवतागण गुणों के द्वारा आश्रय करते हैं। (११०) कर्मादि मार्गसिद्ध मुनिगण आदरणीय नहीं हैं, भागवत धर्म के द्वादश विध महाजन (१११) श्रीभगवद् भक्ति का ही सर्वोद्‌र्ध्व अभिधेयत्व है। श्रवण कीर्त्तनादि भक्ति, सर्व वर्ण एवं सर्वाश्रमी के पक्ष में नित्य स्वधर्म है। श्रीहरि की अवज्ञा करने से जीवन्मुक्त व्यक्ति का भी पतन होता है।

(११२-१३) वर्त्तमान शरीर में एवं देहान्तर में भक्ति नित्या है। तात्पर्य्य निर्णायक षड़् विध लिंग द्वारा भी भक्ति का ही अभिधेयत्व स्थापित होता है। (११५) चतुःश्लोकी में भक्ति का ही अभिधेयत्व कथित है। भक्ति की सवशास्त्रादि में सार्वत्रिकता है। सर्व शास्त्र में, सर्व कर्त्तृत्व में, सर्व देश में, सर्व करण में, सर्व द्रव्य में, सर्व कार्य्य में, सर्व फल में, सर्व कारक में भक्ति की अबाध स्थिति है। भक्ति का सदातनत्व स्वर्गादि में, सर्वयुग में, सर्वावस्था में है। रहस्याङ्ग भक्ति होने के कारण ही ज्ञानरूप अर्थान्तर के द्वारा ही वह वर्णित है।

(११५-२७) ब्रह्मा नारद को एवं नारद व्यास को हरिभक्ति संकल्प करके ही श्रीमद्भागवत लिखने के निमित्त कहे थे। श्रीभगवान् भी कहे हैं—उत्तम हरिभक्ति ही 'लाभ' शब्द से अभिहित है।

(११९-२०) भागवद् धर्म ही परमहंसवृन्द के एवं श्रीभगवान् का प्रिय है। तदुपदेष्टा ही सर्वोत्कृष्ट है। (१२१) शुद्धा भक्ति में लोकसमूह को प्रवृत्त कराने के निमित्त ही कर्म्मादि मिश्र भक्ति उपदिष्ट है। अतएव भक्त के पक्ष में एकमात्र भक्ति ही कर्त्तव्य है। (१२२)भक्तिका ही परमधर्मत्व, सर्वकाम प्रदत्व,सर्वान्तराय निवारकत्व है। भक्ति मार्ग में ज्ञान मार्ग के समान असहायता निमित्त भय नहीं है। कर्म मार्गवत् मत्सरादि युक्त से भय नहीं है। भक्त, साधनमार्ग से भ्रष्ट नहीं होता है। यथा—ध्रुव, गजेन्द्र, भरतादि।

(१२३-२४) भक्ति का दुष्ट जीवाविकृत भयनिवारकत्व (१२५) भक्ति का पापघ्नत्व, अप्रारब्ध पाप हारित्व है। (१२६) केवलाभक्ति ही सूर्य्य निहारवत् सर्व पाप को विदूरित करती है। (१२७) भक्ति ही सर्वोत्तम प्रायश्चित्त है। यथा—वृत्रासुर बधजन्य पाप से इन्द्र की निष्कृति। महदपराध भोग के द्वारा किंवा महत् सन्तोष के द्वारा नाश होता है। (१२८) प्रारब्ध पाप हारित्व, जातिदोष, एवं व्याधिप्रभृति विनाशकत्व, (१२९) भक्ति का दुर्वासना हारित्व। (१३०) भक्ति का अविद्याहारित्व, (१३१) भक्ति का सर्वप्रीणन हेतुत्व, हरिभक्त को स्थावर जङ्गमादि प्रीति करते हैं।

(१३२) भक्ति का ज्ञानवैराग्यादि सर्व सद्‌गुण हेतुत्व, भक्ति का स्वर्गापवर्ग भगवद्धामादि में सर्वानन्द हेतुत्व, भक्ति का स्वतः परमसुखदत्व के कारण, अन्य साधन एवं साध्य वस्तु विषय में हेयत्वकारिता भक्ति ही है। (१३३-३४) भक्ति का निर्गुणत्व, भक्ति ही निर्गुण है, अपित कर्म्मादि समस्त ही सगुण हैं। (१३५) भक्ति में सत्त्वगुण की अपेक्षा नहीं है। यथा—चित्रकेतु, महत्सङ्ग ही परमनिर्गुण भगवज्ज्ञान वा भक्ति का कारण है। महत्–निर्गुण हैं, उनका सङ्ग भी निर्गुण है। महत् सेवैकनिदानत्व हेतु भक्ति भी निर्गुण है, ब्रह्मज्ञान द्विविध हैं, आनुसङ्गिक रूप से भक्त का एवं स्वतन्त्र रूप से ब्रह्मोपासक का ज्ञानोदय होता है। शान्त भक्त का ब्रह्म, श्रीभगवान् की पराभक्ति का परिकर होता है। जैसे, श्रीगीता के १८।५४

में उक्त है, एवं श्रीभागवतोक्त ब्रह्मज्ञानी का जीवाभेद में ब्रह्मज्ञान होता है। साधक की मति के द्वारा कल्पितत्व हेतु प्रसादाभासोत्थ ब्रह्मज्ञान भी सगुण है। ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति, परमात्म चैतन्य की ही हैं, अतएव निर्गुणा ज्ञान क्रियात्मिका श्रीहरिभक्ति भी निर्गुण है। श्रीकपिलदेवोक्त भक्ति की सगुणावस्था साधक की अन्तःकरणानुगारूपा है। श्रीभगवन् निकेतन में वास निर्गुण है।

(१३६) श्रीभगवदाश्रयकारक निर्गुण है, कारण, क्रिया में ही उसका तात्पर्य्य है। तदाश्रय द्रव्य में नहीं है। (१३७) भगवत् सेवा श्रद्धा निर्गुण है, (१३८) भगवत्धर्म निर्गुण है, (१३९) भक्ति का स्वयं प्रकाशत्व है (१४०) नित्य परमसुख रूपत्व, साधक दशा में एवं सिद्ध दशा में भगवद्विषयक रति प्रदत्व भक्ति का है।

(१४१) भक्ति योगाख्य रति ही पुरुषार्थ है, इस विषय में श्रद्धा का शैथिल्य होने पर भी भगवान् भक्ति प्रदान ही करते हैं, मुक्तिदान नहीं करते। कारण, केवल भक्ति के द्वारा ही भगवान् तुष्ट होते हैं। (१४२) वह भक्ति श्रीभगवान् की ही ह्लादिनी शक्ति की परम वृत्ति है। अतएव प्रीतिस्वरूप श्रीभगवान् भक्ति द्वारा ही प्रीणनीय हैं। (१४३) आत्माराम, पूर्णकाम, श्रीभगवान् क्षुद्र वस्तु के द्वारा भी परितुष्ट होते हैं। सहज भगवत् प्रीति प्रार्थना करके जो लोक भगवत् सेवा करता है, उसको श्रीकृष्ण कल्पतरुवत् निज प्रीति प्रदान करते हैं। (१४४) कृपा प्राबल्य हेतु श्रीभगवान् निजभक्ति शक्ति को जीव में प्रकाशित करके स्वदत्त भक्ति के द्वारा ही स्वयं जीव का बन्धु होते हैं। जीव उपकारकता, आभासमात्र ही है। (१४५) श्रीभगवदनुभव विषय में भक्ति का अनन्य हेतुत्व है। (१४६) श्रीभगवत् प्रापकत्व, (१४७) मन का अगोचर फल दातृत्व भी भक्ति का है। यथा—श्रीध्रुव। श्रीभगवद् वशीकारित्व—श्रीमद्भागवत के ११।१४ अध्यायस्थ साध्य एवं साधन भक्ति का समाधान। साधनावस्था में श्रवण कीर्त्तनकारी भक्त का हृदय, अनर्थ निवृत्ति के द्वारा क्रमशः जितना परिमार्जित होता है, उतना ही वह श्रीकृष्णमाधुर्य्यानुभव करता है, विषय द्वारा बाध्यमान होने पर भी वह अभिभूत नहीं होता है। साध्य भक्ति का संस्कार हारित्वहेतु उससे विषयसमूह बाध्यमान होते हैं। (१४८) साक्षात् भक्ति का तो परम धर्मत्व है ही, भगवदर्पित अलौकिक कर्म का भी परम धर्मत्व है। हरिभक्ति व्यतीत अपर के ऊपर ही यमराज का शासन होता है।

सकृत् भजन के द्वारा ही आयु सफल होती है, भक्ति, सर्व विध कर्मध्वंस पूर्वक—अनायास परम-गति प्राप्ति का कारण होती है, श्रीकृष्ण मन्त्र दीक्षा ग्रहणमात्र से ही लोक जब मुक्त होता है तब जो लोक भक्तिपूर्वक सर्वदा सेवा करता है, वह सुतरां ही कृतकृत्य होगा। (१५०) 'मैं शरणागत हूँ' कहने से ही श्रीहरि जीव को अभय प्रदान करते हैं। (१५१) गर्भस्थ किसी जीव भगवान् की स्तुति करता है, किसी जीव नहीं भी करता है। श्रीहरिभक्त, सर्वावस्था में ही भक्ति समर्थ है, श्रीविष्णुभक्त-अतीत एवं भविष्यत के शतकुल को उद्धार करता है। (१५२) भक्त्याभास का भी सर्व पाप क्षयपूर्वक विष्णुपद प्रापकत्व है—यथा-दण्डहस्त से नृत्यकारी उन्मत्त को ध्वजारोहण फल लाभ, व्याधहत एवं कुक्कुर मुखानीत पक्षी को परिक्रमा का फल लाभ, पूर्वजन्म में प्रह्लाद के द्वारा अज्ञानतः अनुष्ठित श्रीनृसिंह चतुर्दशी व्रत का फल लाभ

(१५३) अपराध रूप में दृश्यमान भक्त्याभास का भी महा प्रभाव है। यथा—श्रीविष्णुमन्त्र रक्षित विप्र के स्पर्श से राक्षस की निर्वेद प्राप्ति, दीपवर्त्तिका चौर मुषिक को राज्ञीत्व एवं परमपद प्राप्ति, कृत जन्माष्टमीव्रतरत दासी के साहचर्य्य से एकव्यक्ति की तद्व्रत फलप्राप्ति, दुष्टकार्य्यार्थ मन्दिर लेपन द्वारा उत्तम गति प्राप्ति,—ब्रह्मज्ञान के द्वारा भी ईदृश फललाभ की सम्भावना नहीं है। श्रीभगवद्वशीकारिता के सम्बन्ध में भी भक्ति ही कारण है। भक्ति के माहात्म्यवृन्द केवल प्रशंसावाद ही नहीं है। जैसे—अजामिलादि में प्रसिद्ध है। केवल श्रीहरिनाम में ही नहीं अपितु—भक्त्यङ्गमात्र में अर्थवाद की कल्पना करने से जो दोष होता है। भजन में क्रमशः उन्नति न होने पर नामार्थवाद कल्पना एवं वैष्णव अनादरादि दुरन्त अपराध

को प्रतिबन्ध कारण रूप से जानना होगा। भक्ति में अर्थवाद कल्पना करने से ही नृग राजा का दान कर्म्माग्रह हुआ था। एवं यमलोक गमन भी हुआ था। इस प्रकार अपराध से भक्तिस्तम्भ भी होता है।

शरीर, धन, जनता एवं लोभहेतु जो पाषण्डी श्रीगुरु अवज्ञादि दशापराध करता है, उसके सम्बन्ध में नाम आशु फल दान नहीं करता है। वैष्णव अपराधी के प्रति श्रीविष्णु सन्तुष्ट नहीं होते हैं। अविश्रान्त श्रीहरिनाम कीर्त्तन के द्वारा ही नामापराध विनष्ट होता है। नामापराध नाश के सहित अपराधावलम्बन पाप वासना भी विनष्ट होती है। नामावृत्ति, सिद्धि के पक्ष में प्रतिपद में सुखोदय हेतु होती है। असिद्ध के पक्ष में फल प्राप्ति पर्य्यन्त होती है। फल प्राप्ति में विलम्ब होने पर जानना चाहिये कि—अपराध विद्यमान है। महत्सङ्गादि लक्षण भक्ति के द्वारा भी दुर्निवार्य्य कौटिलादि—प्राचीन अपराध के ही चिह्न हैं।

(१) कौटिल्य—गुरु-कृष्ण—वैष्णव के प्रति भीतर में अनादर—एवं बाहर पूजादि—यथा—दुर्योधन प्रभृति का आचरण, (१५४) भक्तवृन्द समस्त अज्ञ को कृपा करते हैं। किन्तु कुटिल विज्ञ को कृपा नहीं करते हैं। ज्ञानलव दुर्विदग्धलोक – अचिकित्स्य होने के कारण उपेक्षणीय है। (१५५) (२) अश्रद्धा—भक्ति की महिमा को जानकर भी विपरीत भावना के द्वारा विश्वास का अभावरूप है। यथा—दुर्योधन के विश्व-रूप दर्शन होने पर भी वह विपरीत भावना ग्रस्त था। भगवन्महिमा प्रकाशेच्छु भक्त की विपद् से रक्षा रूप आनुषङ्गिक भक्ति का फल भी कथित है, किन्तु यह निज रक्षा वा महिमा प्रकाश निबन्ध नहीं है। जिस प्रकार–प्रह्लाद-शौनक–परीक्षत् में दृष्ट होता है। इनमें उसकी इच्छा भी नहीं थी।

(१५६) महानुभाव लक्षण आधुनिक भक्त में भी महिमा दृष्ट होने पर भी अविश्वास अकर्त्तव्य है। विशेष उपासना के द्वारा भी उस प्रकार आनुषङ्गिक फलोदय होता है। यथा—ध्रुव। (१५७) (३) भगवन्निष्ठा च्यावक वस्त्वन्तराभि निवेश—यथा–भरत का। इसमें प्राचीन अपराधात्मक चार कर्म्म ही कारण है। (१५८) कतिपय व्यक्ति मानते हैं कि—तादृश भक्त में साधारण प्रारब्ध का ही प्राबल्य—श्रीभगवान् स्वय ही उस भक्त की उत्कण्ठावृद्धि के निमित्त करते हैं—यथा–भरत एवं नारद में हुआ। अपराध निबन्धन उस प्रकार अभिनिवेश होता है, जिस प्रकार–गजेन्द्र में हुआ। (८।४।११- २) (४) भक्ति शैथिल्य – जिससे आध्यात्मिकादि सुखदुःख निष्ठा ही प्रकाशित होती हैं। भक्ति निष्ठाशील व्यक्ति के पक्ष में उस प्रकार सुख अनादृत होता है। उपासना वृद्धिहेतु देह रक्षा के निमित्त सत्साधक की इच्छा होती है। भक्ति के निकट अपराधावलम्बन से भक्ति का शैथिल्य होता है, मध्य मध्य में रुच्यमान भक्ति के द्वारा भी वह विदूरित नहीं होता है। निरपराध मूढ़ असमर्थ लोक की सिद्धि स्वल्प से ही होती है। तत्प्रति भगवत्कृपा अत्यधिक होती है। किन्तु अत्यन्त दौरात्म्य हेतु ही विवेकी का अपराध होता है। विद्वान् एवं समर्थ शतधनु का अपराध हेतु पतन, एवं मूढ़ मूषिकादि का अपराध विद्यमान होने पर भी सिद्धि युक्तियुक्त ही है। दौरात्म्य विद्यमान न होने से अपराध को अतिक्रम करके भक्ति का प्रभाव उदित होता है।

(५) स्व भक्त्यादि कृताभिमानत्व– अपराध हेतु ही होता है। उससे वैष्णवावमाननादि लक्षण अन्य अपराध उत्पन्न होता है। यथा–दक्षकृतापराध। प्राचीन एवं अर्वाचीन अपराध के अभाव से ही सकृत भजन से फलोदय होता है। पूर्व वा इहजन्म में श्रीभगवदाराधनादि सिद्ध व्यक्ति का ही मरण समय में एक बार भी भगवन्नाम ग्रहणादि होते हैं। एवं उससे भगवत् साक्षात्कार चिन्तित होकर श्रीभगवत् प्राप्ति होती है। जिस प्रकार गीता में उक्त है—अपराधाभाव हेतु पुनर्वार कर्मक्षय निमित्त जन्म ग्रहण करना नहीं पड़ता है। जैसे अजामिल का हुआ। किन्तु यमदूत के पक्ष में नामादि कीर्त्तन श्रवण करके भी वैसा नहीं हुआ।

(१६०-६२) श्री भरत एवं श्रीअजामिल के हृदय में सर्वदा श्रीभगवदाविर्भाव था, तज्जन्य मृत्यु समय में सकृत् भजन के द्वारा भगवत् प्राप्ति हुई। (१६१) अन्त में श्रीहरि स्मृति ही परम लाभ है। (१६२)

अतिशय भगवत् कृपा के द्वारा ही मरण समय में दैन्योदय होता है, (१६३) अधिकारी विशेष में ही भगवत् कृपा का फलोदय दृष्ट होता है। जात रुचि में अन्य स्पृहात्याग होता है, यथा उद्धव के द्वारा क्रोध, लोभ, मात्सर्य्य एवं अशुभा भक्ति का परित्याग। (१६४) जात प्रेम में क्षुधा तृष्णा द्वारा अबाधत्व-यथा-परीक्षित् का हुआ।

(१६५) अनन्या भक्ति ही अनन्यत्व है। भक्ति का महादुर्ल्लभत्व एवं दुर्बोधत्व है, अन्य कामना द्वारा भक्ति का अभिधेयत्व नहीं होता है। अकिञ्चनत्व एवं अकामत्व–तन्मात्र कामना के द्वारा ही सिद्ध होता है। एकान्तित्व का दृष्टान्त—श्रीप्रह्लादादि का भगवान् भिन्न साध्य साधन विवर्जितत्व।

(१६६) राजा एवं सेवक के समान प्रभु एवं भृत्य उभय की ही कामना नहीं है। (१६७) भगवत् सुख में एवं मान में भक्त का सुख एवं मान। (१६८) सकाम भक्ति– स्वार्थ साधन तात्पर्य्य द्वारा भक्त्यनुकरणमात्र ही है। सकामत्व द्विविध हैं—ऐहिक एवं पारलौकिक। प्रह्लाद का मुख्य एकान्तित्व, एवं मुमुक्षु पृषद का गौण एकान्तित्व- एकान्त भक्त अम्बरीष के यज्ञादि अनुष्ठान— लोक संग्रहार्थं। भक्ति के द्वारा जीविका प्रतिष्ठादि का न करना ही ऐहिक निष्कामत्व है। (१६९) नवधा निष्काम भक्ति का ही सर्वशास्त्र सारत्व है। समस्त भक्त्यङ्ग के अन्तर्भुक्त नव प्रकार भक्ति के एक अङ्ग द्वारा ही साध्य प्राप्ति होती है। तथापि कहीं पर अन्याङ्ग मिश्रण भिन्न रुचिवशतः ही श्रद्धा होती है।

(१७०) अकिञ्चन भक्त्यधिकारि विशेष निर्णयः। परतत्त्व साम्मुख्य त्रिधा—ज्ञान, भक्ति एवं कर्मार्पण, (१) निर्विशेष परतत्त्व साम्मुख्य ज्ञान, (२) सविशेष परतत्त्व साम्मुख्य भक्ति, (३) तदुभय का द्वार स्वरूप कर्मार्पण, (१७१) निर्विण्ण का ज्ञान में, सकामी का कर्म्म में, एवं श्रद्धालु का भक्ति में अधिकार। (१७२) किसी प्रकार परम स्वतन्त्र भगवत् भक्त कृपा द्वारा सञ्जात श्रद्धामात्र ही भक्त्यधिकार हेतु है। यही केवलमात्र परम मङ्गलकर है। इस प्रकार विश्वास का श्रद्धा है। श्रद्धा भिन्न अनन्य भक्ति प्रवर्त्तित नहीं होती है। कदाचित् किञ्चित् प्रवृत्ता होने पर भी नष्ट हो जाती है। अतएव निर्विण्ण, नातिसक्त होने के अनन्तर भी भगवत् कथादि में श्रद्धा उत्पन्न होने से ही कर्म परित्याग विहित है। हेला से अर्थात् श्रद्धा के बिना भी भक्तिमात्र सिद्ध होती है। यथा—अजामिल में। दाहादि कर्म में अग्न्यादिवत् फलोदय विषय में भक्ति को विधि की अपेक्षा नहीं है। दौरात्म्य के अभाव से अबुद्धि पूर्वक कृता अपराधरूपा हेला भी भक्ति द्वारा बाधिता होती है, किन्तु दौरात्म्य विद्यमान होने पर ज्ञानलव दुर्विदग्धादि में आर्द्रेन्धन में वह्नि शक्तिवत् भक्ति के द्वारा भी हेला बाधिता नहीं होती है। यथा वेण में दृष्ट है। श्रद्धा एवं भक्ति शब्द का अर्थ यहाँ आदर भाव है। श्रद्धा भक्ति का अङ्ग नहीं है, अनन्या भक्त्यधिकारी का विशेषण मात्र है। परपत्नी, परद्रव्य एवं परहिंसा में जिसकी मति नहीं है, उसके प्रति श्रीभगवान् तुष्ट होते हैं।

(१७२) लब्धभक्ति व्यक्ति की पाप में स्वाभाविक अरुचि है, भक्ति के बल से पाप में प्रवृत्ति होने से अपराध ही होता है, श्रीगीतोक्त—"अपिचेत् सुदुराचारः" श्लोक-अनन्य भक्त का अनादर दोषपर है, दुराचारता विधान पर नहीं है।

(१७३) जात निर्वेद वा जात श्रद्ध व्यक्ति के पक्ष में नित्य नैमित्तिक कर्म करने से ही आज्ञाभङ्ग दोष होता है। (१७४) शरणापन्न भक्त का तदनुस्मरण के द्वारा ही विकर्म्म का प्रायश्चित होता है। अनन्य भक्त का श्रीभगवान् भिन्न अन्य देवता में तद्रूप भक्ति नहीं होती है। जात श्रद्ध व्यक्ति का शरणापत्ति ही चिह्न है, कारण, भगवच्छरण को ही अभय कहते हैं। देवादि तर्पण भी पृथक् आराधन रूप से विहित नहीं है। श्रीभगवदाराधना से ही मूल सेवकवत् सब तृप्त होते हैं, कर्मत्यागी की भक्ति, विघ्न द्वारा स्खलित होने पर भी कर्मत्यागजन्य अनुताप करना निषिद्ध है। यथा गीता (१८।६६) एवं भाग (११।५।१७) में उक्त है—

भक्त्यारम्भ में ही स्वरूपतः कर्म्म त्याग विहित है। व्यवहारिक कार्पण्याद्यभाव भी श्रद्धा का चिह्न है। श्रद्धावान् व्यक्ति का भगवत् सम्बन्धी किसी भी वस्तु में अविश्वास नहीं होता है। श्रीहरिस्मरण द्वारा बाह्य एवं अभ्यन्तर शुद्ध होने पर भी स्नानादि आचरण—सत्परम्पराचार गौरव हेतु ही होता है। उस प्रकार न करने से अपराध होता है, कारण, कदर्य वृत्ति निरोध हेतु महत्वृन्द मर्यादा स्थापन किये हैं, श्रद्धा उत्पन्न होने से ही सिद्ध असिद्ध-उभय अवस्था में ही स्वर्ण सिद्धि लिप्सु व्यक्ति के समान सदा भक्त्यनुवृत्ति चेष्टा ही विहित है। सिद्ध की श्रीहरि स्फूर्त्ति हेतु दम्भ प्रतिष्ठामय चेष्टा का लेशमात्र भी नहीं होता है, अतः ज्ञानकृत महदपराधादि नहीं होता है। अतएव श्रीमहादेव के निकट चित्रकेतु का जो अपराध हुआ था वह भागवत तत्त्व में अज्ञान के कारण हुआ था। श्रद्धावान् भक्त का प्रारब्ध के द्वारा विषय सम्बन्धाभास उपस्थित होने से उससे दैन्यात्मिका भक्ति उच्छलिता होती है। अनन्य भक्त रूप से प्रतीत व्यक्ति की श्रद्धा लोक परम्परा प्राप्ता है, किन्तु शास्त्रावधारणजाता नहीं हैं। जिसके उदय से विष्णुतोषण शास्त्र का विरोध होता है। अतः शास्त्रीय श्रद्धालु में सुदुराचारत्व का योग होना असम्भव है। सुदुराचारत्व दोष—लोक परम्पराप्राप्त श्रद्धा में ही सम्भव है। लोक परम्पराप्राप्ता श्रद्धा भी—सात्विकी, राजसिकी, तामसी भेद से त्रिविध हैं।

गीता १७।१ में उक्त है, उक्त श्रद्धा की पूर्णावस्था में सत्यासत्य विचारानन्तर असत्य त्याग होता है, उक्त अवस्थाप्राप्त सत् के प्रति ही 'यदृच्छया मत्कथादौ' इत्यादि श्लोक का विधान है, 'न बुद्धिभेदं जनयेद्' यह कथन—लोक परम्पराप्राप्त श्रद्धालु के सम्बन्ध में है, स्वयं निःश्रेयसं विद्वान्' श्लोक—शास्त्रार्थावधारण जात श्रद्धालु के सम्बन्ध में है। अज्ञजन में उक्त श्रद्धा असम्भव होने पर भी प्राचीन संस्कारानन्तर उपदेश कर्त्तव्य है, अश्रद्दधान, विमुख एवं अशुश्रूषु व्यक्ति को उपदेश प्रदान करने से अपराध होता है।

(१७५) रुच्यादि श्रीगुर्व्वाश्रयान्त उपासना का पूर्वाङ्गरूप साम्मुख्यभेद है, कर्म—भगवत् साम्मुख्य द्वारभूत है, अफलकामी वर्णाश्रम कर्मकारी अनघ शुचि लोक ज्ञानी के सङ्ग में ज्ञानी किंवा भक्तसङ्ग में भक्त होता है। (१७६) ज्ञान एवं भक्ति-साक्षात् साम्मुख्य है ज्ञान, निर्विशेष साम्मुख्य, भक्ति—सविशेष साम्मुख्य है। वह द्विविध, भगवन्निष्ठत्व, परमात्मनिष्ठत्व,— गीता एवं भागवत में उक्त है। भक्ति का आनुषङ्गिक सर्वफलत्व हेतु ज्ञान भी न्यक् कृत होता है। एवं विष्णु की उपासना, परमात्मा की उपासना, अहं ग्रहोपासना, सालोक्य, सार्ष्टि, सारूप्यादि न्यक्कृत होते हैं। निष्किञ्चना भक्ति ही सर्वोर्द्ध्व है।

(१७७) तन्माधुर्य्यानुभव से भक्त का विधिनिषेध कृत दोष नहीं होता है। (१७८) अंशजीव, भगवदाश्रयक तदेक जीवन है, अतएव अकिञ्चना भक्ति ही उसका स्वभावतः उचित है। प्रणव ही वैष्णवों का महावाक्य है। (१७९) सत्सङ्ग से ही अकिञ्चना साक्षात् भक्तिरूप साम्मुख्य होता है। (१८०) श्री-भगवदनुग्रह से जीव का संसार बन्धनकाल का शेष काल उपस्थित होने पर सत्सङ्ग होता है, एवं सत्सङ्ग-मात्र से ही भगवान् में भक्ति होती है, जैसे पिङ्गला को हुई। साक्षात् सत्सङ्ग उपलब्ध न होने पर भी आधुनिक प्राक्तन वा पारस्परिक सत्सङ्ग अनुमेय है। निरपराध व्यक्ति का ही सत्सङ्ग मात्र के द्वारा भगवत् साम्मुख्य वा सम्मति होती है, किन्तु अपराधी के प्रति सत् की विशेष कृपादृष्टि के सहित सत्सङ्ग होने से ही वह साम्मुख्य का कारण होता है। जिस प्रकार श्रीनारद के सहित नल कुवर मणिग्रीव का हुआ था। किन्तु अन्य देवता का नहीं हुई। अपराध की विद्यमानता में भी जिसके प्रति महत् की कृपा स्वतन्त्र रूप से होती है, उसकी ही भगवन्मति होती है। जिस प्रकार उपरिचर वसु की विशेष कृपा के द्वारा तद्विद्वेषी दैत्यगण भी दैत्य हुए थे। प्रह्लाद की विशेष कृपा के द्वारा तच्चेता रूढ़ दैत्य बालकवृन्द की मुक्ति हुई थी।

अनादिसिद्ध तदज्ञानमय तद्वैमुख्यवान् जीव का सत्सङ्गभिन्न अपर किसी भी प्रकार से तत्साम्मुख्य असम्भव होने के कारण सत्सङ्ग ही भगवद्भक्ति का निदान सिद्ध होता है। तद्विमुख जीव में स्वतन्त्र भाव से प्रवर्त्तित न होने के कारण तत्साम्मुख्य के प्रति भगवत् कृपा भी गौण कारण है। तेजोमाली के सहित तिमिर योगवत् सदा परमानन्दैक रस भगवच्चित्त में तमोमय जीवदुःख स्पर्श होना असम्भव हेतु उस प्रकार कृपा का उद्भव होना असम्भव है। लब्ध जागरण के दुःख स्वप्नवत् साधुचित्त में सांसारिक के प्रति कृपोदय होता है। जिस प्रकार नलकूवर के प्रति श्रीनारद की कृपा हुई। शरणागत की दैन्यात्मिका भक्ति के सम्बन्ध में ही भगवत् कृपा होती है। जिस प्रकार गजेन्द्र प्रभृति के प्रति हुई है। अतएव सत्सङ्ग बाहना वा सत्कृपा वाहना होकर ही भगवत्कृपा अन्य जीव में संक्रमिता होती है—स्वतन्त्र रूप से प्रवर्त्तिता नहीं होती है—भगवदनुग्रह सत के आकार से ही जगत् में विचरण करता है।

(१८१) सतों की स्वैरचारिता ही सत्सङ्ग हेतु है, अपर हेतु नहीं है। (१८२) सत् में परमेश्वर प्रयोक्तृत्व भी सत् की इच्छा के अनुसार ही होती है — (१८३) स्वोपासनादि की अपेक्षा न करके ही दुरवस्था दर्शनमात्र से ही सत् की कृपा होती है—जिस प्रकार श्रीनारद की कृपा नल कूवरादि के प्रति हुई। (१८४) सत्सङ्गम ही परम संस्कार हेतु—कारण —साधुगण दर्शनमात्र से ही पवित्र करते हैं।

(१८५) महत् सेवा के बिना भगवत् प्राप्ति नहीं होती है। अतएव सत्सङ्ग ही भगवत् साम्मुख्य का द्वार है। (१८६) 'सन्त' शब्द का अर्थ भगवत् साम्मुख्य का द्वार है। वैदिकाचार पर नहीं है। जिस प्रकार सत्सङ्ग होता है, उस प्रकार ही साम्मुख्य लाभ होता है। ज्ञान-मार्ग में ब्रह्मानुभवी ही महत् है, भगवद्-भक्ति-मार्ग में लब्ध भगवत् प्रेम ही महत् है।

(१८७) सिद्धभक्त त्रिविध हैं। (१) प्राप्त भगवत् पार्षद देह-यथा-श्रीनारदादि (२) निर्धूतकषाय-यथा-श्रीशुकदेवादि, (३) मूर्च्छित कषाय-यथा-प्राग्जन्मगत श्रीनारदादि। उक्त त्रिविध भक्त प्रेमवान् होने पर भी पूर्व पूर्व का आधिक्य है, भजनीय के अंशांशित्व भेद से एवं भक्त के दास सख्यादि भेद से प्रेम तारतम्य होता है, पुरुष प्रयोजन साक्षात्कार में भी जितने परिमाण में भगवान् का प्रियत्व धर्मानुभव होता है, उतने परिमाण में उत्कर्ष होता है। दुष्ट जिह्वा में खण्डास्वादवत् माधुर्य्यानुभव के बिना भगवत् साक्षात्कार निष्फल है, भगवत्साक्षात्कार एवं कषायादि राहित्यादि के एक एक अङ्गवैकल्य से भक्तमहत्ता की क्रमशः न्यूनता है। (१८८-२०१) भक्तश्रेष्ठता का क्रम—कायिक, वाचिक, एवं मानसिक लिङ्ग द्वारा होता है। (१८९)

(१९०) अपने के प्रति द्वेषादिकारी के द्वेषादि द्वारा अक्षुब्ध चित्तहेतु औदासीन्य यथा—प्रह्लाद का निज जनक हिरण्यकशिपु के प्रति। भगवान् वा भक्त-द्वेषकारी के प्रति चित क्षोभ होने पर भी तत्रानभिनिवेश, उत्तम भक्त का भगवद्विद्वेषी में भी निजाभीष्ट देव की स्फूर्त्ति होने के कारण तन्नमस्कारादि—जैसे उद्धवादि का दुर्य्योधन को नमस्कार। किञ्चिन्मानस लिङ्ग के सहित भगवद् धर्माचरण रूप कायिक लिङ्ग द्वारा कनिष्ठ भागवत द्विविध हैं,—पारम्परिक श्रद्धायुक्त प्रारब्ध भक्ति साधक गौण है, अजात प्रेम, शास्त्रीय श्रद्धायुक्त साधक मुख्य कनिष्ठ है।

(१९१-९८) उत्तम भागवत का लक्षण – (११।२-४८-५२) मूर्च्छितकषाय, इनमें संस्कार है, किन्तु उससे मोह नहीं होता है। (५३) निर्धूत कषाय – निरूढ़ प्रेमाङ्कुर है, इनमें नैष्ठिका भक्ति ध्यानाख्या ध्रुवानुस्मृति है। इनमें प्रेमाङ्कुर अनाच्छाद्य रूप में ही ज्ञात है (५४-५) साक्षात् प्रेमजन्महेतु प्रेमिका अर्च्चन मार्ग में तापादि पञ्चसंस्कारी, नवेज्या कर्म्मकारक एवं अर्थ पञ्चकविद् विप्र ही महाभागवत हैं।

(१९९) ईश्वर बुद्धि के द्वारा विधि-मार्ग के भक्त द्विविध हैं। (१) अपर मिश्र भक्ति साधक, (२००)

(२) मध्यम मिश्र साक्षात् भक्ति साधक है। (२०१) सदाचारी भगवद्भक्त के मध्य में ही सत्-सत्तर, सत्तम है, दुराचार, भगवद्भक्त के मध्य में सत्त्वान्य पर्य्याय साधुत्व है, तादृश सङ्ग की भक्त्युन्मुख होने में उपयुक्तता नहीं है। अर्च्चन मार्ग में त्रिविध भक्त हैं,-महत्, मध्यम, एवं कनिष्ठ हैं। शुद्ध दास्य सख्यादि भाव मात्र के द्वारा सर्वोत्तम अनन्य भक्त द्विविध हैं—(१) ऐश्वर्य्यनिष्ठ एवं (२) माधुर्य्यनिष्ठ।

(२०२) महत् एवं सन्मात्र द्वारा निर्दिष्ट वैष्णव साधु भिन्न भी निज गोष्ठी के मध्य में अपेक्षाकृत उत्तम वैष्णव हैं, जैसे कर्मि के मध्य में वैष्णव है। स्कन्दपुराण में इसका वर्णन है, बृहन्नारदीय में शैव के मध्य में भी भागवतोत्तम का वर्णन है। वैष्णवों के मध्य में अनेक भेद विद्यमान होने पर भी उसके प्रभाव-तारतम्य, कृपा तारतम्य, एवं भक्ति तारतम्य द्वारा सत्सङ्ग से कालशीघ्रता एवं वैशिष्ट्य के द्वारा भक्ति का उदय होता है।

मार्ग भेद विचार। अजात रुचि के मध्य में विचार प्रधान मार्ग वा साधन क्रम ही श्रेय है। प्रीति लक्षण भक्तिच्छुहृदय के पक्ष में रुचि प्रधान मार्ग ही श्रेयस्कर है।

(२०३-२१३) गुरुकरण-विचार– उभय मार्ग में ही प्राक्तन श्रवणगुरु ही तत्तत् भजन विधि शिक्षा-गुरु होते हैं, अनेक के मध्य में अन्यतर ही गृहीत होता है। शास्त्र में बहु मन्त्रगुरु निषिद्ध होने के कारण, मन्त्रगुरु एक व्यक्ति ही विहित है, उनकी कृपा से ही भगवद् आविर्भाव विशेष में एवं भजन विशेष में रुचि होती है। श्रवण गुरु—वेदज्ञ, अपरोक्ष भगवदनुभवी, क्रोधाद्यवशीभूत होने से आश्रयणीय है। (२०४) रुचिप्रधान साधकवृन्द के पक्ष में श्रवणादि, विचार प्रधान साधकवृन्द के पक्ष में श्रवण मनन से उत्पन्न श्रद्धा। (२०५) भजन श्रद्धा, (२०६) प्रायशः श्रवणगुरु एवं भजन शिक्षा गुरु एक ही होते हैं, (२०७) मन्त्र-गुरु एक व्यक्ति ही विहित है, एक व्यक्ति से शिक्षा दीक्षादि सम्पन्न न होने से अन्य गुरु वरण विहित है। अनेक गुरु करण से पूर्व पूर्व गुरु परित्याग सिद्ध होता है।

(२०८) श्रवणगुरु के संसर्ग से ही शास्त्रीय भजनोत्पत्ति होती है। अन्य प्रकार से नहीं होती है। शिक्षा गुरु की भी आवश्यकता—श्रीगुरु कर्त्तृक उपदिष्ट श्रीभगवद्भजन प्रकार द्वारा भगवद्धर्म ज्ञानोत्पन्न उनकी कृपा के द्वारा ही व्यसनानभिभूत होकर सत्वर मन निश्चल होता है। श्रुति का संवाद भी यह—'देवता एवं गुरु में भक्तिमान् व्यक्ति को ही महात्मावृन्द उपदेश करते हैं।' (२१०) श्रीमन्त्रगुरु की भी आवश्यकता सुतरां है। व्यवहारिक गुरु को परित्याग करके भी परमार्थ गुर्वाश्रय कर्त्तव्य है—अतएव जब तक मृत्युमोचक श्रीगुरु के चरणाश्रय नहीं करता है, तब तक ही गुर्वादि व्यवहार होता है। (२११) स्वगुरु में काम्यकर्मिवृन्द को भगवद्दृष्टि करनी चाहिये। (२१२) सुतरां पारमार्थिक पथरत व्यक्ति के पक्ष में भी श्रीगुरु में भगवद्दृष्टि करना कर्त्तव्य है। श्रीगुरु में प्राकृतदृष्टि—भगवत्तत्त्व ग्रहण में अनुपयुक्त है।

(२१३) कतिपय शुद्धभक्त, श्रीभगवान् के सहित श्रीगुरुदेव को अभेद दृष्टि से देखते हैं, एवं भगवान् के प्रियतम रूप में श्रीगुरुदेव को मानते हैं। जिस प्रकार प्रचेतागण—निज गुरु श्रीशिव को भगवद् एवं भगवत् प्रियतम रूप में माने थे। (२१४-१६) साक्षात् उपासना—लक्षण भेद—(२१४) साम्मुख्य—द्विविध, निर्विशेषमय एवं सविशेषमय, द्वितीय पुनर्द्विविध—अहंग्रहोपासना रूप एवं भक्ति रूप।

(२१५) ज्ञान का लक्षण—अभेदोपासना ही ज्ञान, उसका साधन प्रकार, महत् की विशेष कृपादृष्टि के द्वारा दिव्यदृष्टि लाभ करने से ही चिन्मात्र वस्तु में भगवत्तादिरूपा विशेषोपलब्धि अभेदोपासक की होती है। अन्यथा निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्मानुभव के द्वारा उसमें साधक लीन होता है। (२१६) अहंग्रहोपासना— "तच्छक्ति विशिष्ट ईश्वर ही मैं हूँ" इस प्रकार चिन्ता करना, इसका फल—अपने में तच्छक्त्यादि का आविर्भाव। इसका अन्तिम फल सारूप्य सार्ष्ट्यादि।

भक्ति का अर्थ है सेवा—कायिक, वाचिक, एवं मानसात्मिका त्रिविध अनुगति, अतएव भक्ति में भय द्वेषादि का एवं अहंग्रहोपासना का निराकरण होता है, तदनुगति मात्र ही श्रीभगवत्प्राप्ति का उपाय है।

(२१७) भक्ति त्रिविधा (१) आरोपसिद्धा, (२) सङ्गसिद्धा (३) स्वरूपसिद्धा, उक्त त्रिविध भक्ति भी पुनर्वार अकैतव सकैतव भेद से द्विविधा है। (१) स्वयं भक्ति न होने पर भी भगवदर्पण द्वारा भक्तित्व प्राप्ता। कर्मादि रूप. (क) लौकिक कर्मार्पण—किसी प्रकार से तद्धर्मसिद्धि हेतु काय-वाक्य-मन के द्वारा कृत लौकिक कर्म का भगवान् को अर्पण करे—दुष्कर्म्म की गति द्विविधा हैं, ज्ञानेच्छु के पक्ष में अविशेष द्वारा एवं भक्तीच्छु के पक्ष में दुष्कर्म्मादि अर्पण द्वारा, दुर्वासनोत्थ दुःखदर्शन हेतु करुणामय से करुणा प्रार्थना करना। सुकर्म में वा दुष्कर्म में जो राग सामान्य है वह सर्वतोभावेन भगवद्विषयक हो, इस प्रकार प्रार्थना होती है।

कामीवृन्द के पक्ष में सर्वदा दुष्कर्म्मार्पण होता है। (१२) (ख) वैदिक कर्मार्पण— अवलेश से जिस किसी प्रकार से भगवान् में कर्म अर्पित होने पर कामना प्राप्त्यनन्तर संसार नाश होता है—यथा नाभि—ऋषभ भगवान् को पुत्र रूप में प्राप्त किये थे। (२१)भगवान् में कर्मार्पण ही त्रिताप की चिकित्सा (२२०-१) संसार बन्धन हेतु कर्म श्रीभगवान् में अर्पित होने पर रोगौषधवत् संसारबन्ध नाशक होता है। (२२२) भगवदाश्रय ही वास्तविक कर्मफल-यथा—भरत—सर्व देवतांशी भगवान् वासुदेव को सर्वकर्म्मार्पण हेतु सर्व कामशून्य हुये थे। (२२३) अन्तर्य्यामी वासुदेव का प्रवर्त्तकत्व हेतु मुख्य कर्त्तृत्व, अतएव कर्मफल भी तदाश्रय अङ्गी विष्णु का है। यज्ञाङ्ग रूप में विष्णु का भजन दोषावह है। वैष्णव मार्ग में भ्रष्टत्व ही पाषण्डित्व है, सर्व वेदमार्ग ही भगवान् में पर्य्यवसित हैं। विशुद्धान्तःकरण भरत में सश्रद्ध कीर्त्तनादिलक्षणा वृद्धिशीला भक्ति का ही उदय हुआ। कर्मार्पण द्विविध—भगवत् प्रीणन रूप एवं उसमें तत्त्य गरूप।

(२२४) कर्म के कारण—त्रिविध हैं—कामना, नैष्कर्म्य, एवं भक्तिमात्र कामना प्राप्ति-यथा—अङ्गराजा की, नैष्कर्म्य यथा—निमि के प्रति, भक्ति प्राप्ति-यथा—भरत की। (२२५) (२) सङ्गसिद्धा-मिश्रा भक्ति—स्वयं भक्ति न होने पर भी भक्ति के परिकर रूप में संस्थापन द्वारा तदन्तःपाती होकर ज्ञान कर्मादि का भी भक्तित्व (क) कर्म मिश्रा- त्रिविधा (अ) सकामा, (आ) कैवल्यकामा, (इ) भक्तिमात्रकामा सकामा-प्रायशः कर्म मिश्रा ही होती है—कर्म-अर्थ-धर्म- भगवदर्पण द्वारा भक्ति का परिकरत्व प्राप्त कर्म को ही धर्म्म कहते हैं।

(२२६-२७) (अ) मिश्रा सकामा। यथा-श्रीकर्द्दमऋषि की (३।२१) (आ) कैवल्यकामा-कभी कर्म-ज्ञानमिश्रा, कभी तो ज्ञानमिश्रा, (२२८) (इ) भक्तिमात्रकामा-कर्म मिश्रा, (२२९) (ख) कर्मज्ञान मिश्रा, (२३०) (ग) ज्ञानमिश्रा। (२३१) (३) स्वरूपसिद्धा-अज्ञानादि द्वारा भी भक्ति का प्रादुर्भाव होने पर साक्षात् तदनुगत्यात्मा भक्तित्वाव्यभिचारिणी तदीय श्रवण कीर्त्तनादि रूपा (अ) केवल (सगुण) स्वरूपा-सिद्धा-उपासक के सङ्कल्प हेतु तत्तद्गुण द्वारा उपचारित, (क) सकामा-तामसी (भा० ३।२९।८) (२३२) (ख) सकामा राजसी (३।२९।९) (२३३) (ग) कैवल्यकामा, सात्त्विकी (३।२९।१०) (२३४) वैधी एवं राग नुगा। (आ) अकिञ्चना भक्तिमात्रकामा, निष्कामा, निर्गुणा वा केवला स्वरूपसिद्धा-श्रवणादि-मार्ग भेद, दास्यादि भावभेद, एवं सत्त्वादि गुणभेद द्वारा भक्तियोग विभक्त होता है। (२३५)वैधी (क)शास्त्रोक्त विधि द्वारा प्रवर्त्तिता-प्रवृत्ति हेतु एवं कर्त्तव्याकर्त्तव्य ज्ञान हेतु, (ख) अर्चन व्रतादिगत श्रीभगवान् उद्धव को (भा० ११।२७।५३) में कहे थे।

(२३६) वैधी भक्तिभेद—(१) शरणापत्ति—अनन्यगतित्व—द्विविध। आश्रयान्तर का अभाव कथन के द्वारा एवं नातिप्रज्ञा द्वारा कथञ्चिदाश्रित अन्य का त्याग के द्वारा— षड् विधा शरणागति के मध्य में भी

"गोप्तृत्वे वरणम्" ही अङ्गी है, अन्यान्य अङ्गसमूह उसके परिकर हैं। सर्वाङ्ग सम्पन्ना शरणापत्ति विशिष्ट भक्त को आशु फल लाभ होता है, तद्भिन्न व्यक्ति को फल लाभ यथा सम्पत्ति एवं यथा क्रम से जानना होगा।

(२३७) शरणापत्ति के द्वारा सिद्ध होने पर भी वैशिष्ट्यलिप्सु व्यक्ति के पक्ष में सामर्थ्यानुसार गुरु-सेवा नित्य विशेष रूप से करनी चाहिये। (२) श्रवणगुरु वा मन्त्रगुरु की सेवा—अनर्थ निवृत्ति विषय में एवं श्रीभगवान् की परमसिद्धि हेतु श्रीगुरु की प्रसन्नता ही मूल कारण है।

श्रीगुरुभक्ति के द्वारा ही सर्वानर्थ नाश होता है। श्रीगुरुभक्ति—अन्य भगवद्भजन की अपेक्षा नहीं रखती है। ज्ञानप्रद गुरु की अपेक्षा अधिक सेव्य अपर नहीं है। श्रीगुरु-सेवा से अधिक धर्म भी नहीं है। यथा श्रीभगवान् श्रीदाम को कहे थे—(२३८) श्रीगुरु की आज्ञा से उनकी सेवा के अवरोध से अन्य वैष्णव-सेवा मङ्गलप्रद है। अन्यथा दोष होता है। वेदज्ञ एवं भगवदनुभवी गुरु मत्सरादिशून्य होते हैं, अतएव गुरुदेव—महाभागवत की सेवा करने में अनुमति प्रदान करते हैं, अतः शिष्य को उभय सङ्कटग्रस्त नहीं होना पड़ता है। महत्-सेवा के विरोधी गुरु को दूर से आराधना करनी चाहिये। वैष्णव विद्वेषी गुरु सर्वथा परित्याज्य है। यथोक्त लक्षण गुरु के अविद्यमान में गुरुवत् समवासन कृपालुचित्त एक महाभागवत की नित्यसेवा मणिसङ्गवत् परम मङ्गलप्रद है। अनन्तर समस्त भागवत चिह्नधारी मात्र का ही यथायोग्य सेवा विधान आवश्यक है। महाभागवत सेवा द्विविधा—(क) प्रसङ्गरूपा, (ख) परिचर्य्यरूपा (२३९) (क) प्रसङ्गरूपा—सत्प्रसङ्ग द्वारा सद्भक्ति रूप अन्तरङ्ग भक्तिनिष्ठा लाभ होती है। सत्सङ्ग जिस प्रकार भगवान् को वशीभूत करती है, योगादि अनुष्ठान उस प्रकार करने में सक्षम नहीं है। वैष्णव व्रत—अवश्य कर्त्तव्य है। वशीकरण द्विविध हैं, मुख्य–गोप्यादि में, तत्फल प्रेम है। गौण–बाणादि में, तत्फल फलोन्मुखी करणता।

(२४०) श्रीभगवान् एवं भगवदीय जन सङ्गव्यतीत अन्य साधना भाव होने पर भी पशु से आरम्भ कर आगन्तुक गोपगण पर्य्यन्त अनेक व्यक्ति श्रीभगवान् को प्राप्त किये हैं। (२४१) सत्सङ्ग मात्र द्वारा श्री-गोप्यादि का मुख्य वशीकरण-अन्यसङ्ग द्वारा अलभ्य है। केवलमात्र प्रीति हेतु व्रज में गोप्यादि के सत्सङ्ग मात्र जन्म के द्वारा ही योगादि में यत्नवान् योगि प्रभृति अलभ्य श्रीभगवान् सुलभ हैं।

(२४३) अज्ञातकृत सत्सङ्ग भी अर्थद है। (२४४) (ख) परिचर्य्यारूप—महत् प्रसङ्ग की अपेक्षा महाभागवत की परिचर्य्या के द्वारा विशिष्ट फल प्रेमोत्सव होता है, कारण, निज पूजा की अपेक्षा भक्त की पूजा भगवान् की सर्वतोभावेन अधिक प्रीतिकरी है। (२४५) व्यतिरेक मुख से—जड़ शरीरादि में आत्मादि बुद्धिकारी एवं तत्त्ववित् व्यक्ति में पूजाबुद्धिहीन व्यक्ति अति निकृष्ट है। (२४६) महाभागवत की सेवा—सिद्ध का लक्षण है, वे अतिप्रिय देह एवं देहसम्बन्धीय स्त्री पुत्रादि का स्मरणहीन होते हैं। (२४७) यथा योग्य वैष्णवाराधन करना चाहिये। श्रीविष्णु प्रसन्नता हेतु वैष्णव का परितोषण करना कर्त्तव्य है। ब्राह्मण एवं अच्युत गोत्र मात्र ही उत्तम जाति होने के कारण, पृथु महाराज के शासनाधीन वे नहीं थे।

'अवैष्णव विप्र को श्वपचवत् दर्शन न करे' यह वाक्य आसक्तिपूर्वक दर्शननिषेध पर है। श्रीयुधिष्ठिर द्रौपदी का अश्वत्थामा के प्रति उस प्रकार व्यवहार दृष्ट होता है। भक्तिवैशिष्ट्यहेतु आराधना का वैशिष्ट्य भी दृष्ट होता है। अष्टविध भक्तियुक्त म्लेच्छ भी विप्रेन्द्र, मुनिश्रेष्ठ, ज्ञानी एवं पण्डित होने के कारण, श्रीहरिवत् पूज्य हैं। वैष्णव के पक्ष में ब्राह्मण मात्र की वन्दना, श्रीभगवान् एवं उद्धवादि भक्तवत् अवश्य अवश्य कर्त्तव्य है। इस प्रकार आचरण न करने से भगवदादेश लङ्घन होता है। वैष्णव पूजक के द्वारा वैष्णवों का आचरण विचारणीय नहीं है। दुर्जातित्व एवं दुराचारित्व हेतु भगवद्भक्तजन अमाननीय नहीं है। सुतरां निज अपमानकारी जन को भी अपमान करना कर्त्तव्य नहीं है। श्रवणादि के पूर्व में ही महाजन

वृन्द की सेवा करनी चाहिये। अग्नि सेवावत् साधुसेवा के द्वारा कर्म्मादि जाड्य, आगामि संसार भय एवं तन्मूलक अज्ञान विनष्ट होता है।

(२४८) (३) श्रवण—नाम रूप गुण लीलामय शब्दों का श्रोत्र स्पर्श,—(क) नाम श्रवण, (२४९) (ख) रूप श्रवण, (२५०) (ग) अन्वय मुख से गुण श्रवण, भगवान् के समान महाभागवतवृन्द के गुणश्रवण विहित है। (२५१-५२) व्यतिरेकमुख से— निन्दक, व्याधवत् इहलोक परलोक के सुख से वञ्चित (२५३) (घ) लीला-श्रवण—लीला वर्णन निबन्धन श्रीमद्भागवत का आविर्भाव। (२५४) लीला—द्विविधा-(अ) सृष्ट्यादि रूपा, (आ) लीलावतार विनोदरूपा लीला, तादतर श्रवण रागनाशक एवं परम मनोहर, उक्त लीला श्रवण से मर्त्य शरीर जितमृत्यु होकर पार्षद देह लाभोपयोगी होता है। यथा—ध्रुव। तत्परिकर श्रवण।

(२५६) साधन क्रम—प्रथमतः अन्तःकरण शुद्धिहेतु नामश्रवण, तत्पश्चात् गुणस्फुरण, एवं परिकर स्फुरण, अनन्तर लीलास्फुरण सुष्ठु होता है। कीर्त्तन स्मरण में भी उक्त क्रम है। महन्मुखरित होने से भगवत् कथा श्रवण महामाहात्म्यजनक होता है, जात रुचि भक्त के पक्ष में परम सुखद होता है। (क) महदाविर्भावित श्रीमद्भागवत एवं श्रीकृष्णकर्णामृतादि ग्रन्थ हैं। (२५८) (ख) महत् कीर्त्यमान—श्रीपृथु-वाक्य, श्रीनारद वाक्य हैं।

(२५९-६१) श्रीभागवत—श्रवण–तादृश प्रभावमय शब्दात्मक हेतु एवं परम रसमयत्व हेतु परम श्रेष्ठ है। (२६२) सवासन महानुभव के मुख से निजाभीष्ट नामादि श्रवण वारम्बार कर्त्तव्य है। श्रीकृष्ण के परम भगवत्त्व हेतु श्रीकृष्णनामादि श्रवण परम भाग्य से ही होता है। श्री शुकदेवादि महत् कीर्त्तन नामादि ही कीर्त्तनीय हैं। श्रवणभिन्न कीर्त्तनादि का ज्ञान नहीं होता है। अतः श्रवण करना पहले सबके पक्ष में परम कर्त्तव्य है। महत्कृत कीर्त्तन का श्रवण भाग्योदय सबके पक्ष में न होने से स्वयं ही पृथक् कीर्त्तन करे। वक्ता उपस्थित होने से श्रवण करे, श्रोता उपस्थित होने पर कीर्त्तन करे। तद्भिन्न समय में स्वयं गान करे।

(४) कीर्त्तन—(क) नामकीर्त्तन–समस्त पापों का प्रायश्चित्त है। श्रीभगवान् की मति नामोच्चारण कारी के प्रति होती है। स्वाभाविक भगवदावेश हेतु तदीय स्वरूप भूतत्व हेतु नाम का एक देश भी परम भागवत के पक्ष अतीव प्रीतिकर है।

(२६३) नामकीर्त्तन फल—निज प्रिय नामकीर्त्तन द्वारा अनुराग उत्पन्न होता है, एवं चित्त द्रवता हेतु भाव वैचित्री होती है, अतएव नामकीर्त्तन का ही साधकतमत्व है। नामकीर्त्तन के द्वारा ही एक जन्म में अरूढ़ योगिवृन्द को बहुजन्म दुर्लभा गति लाभ होती है, भगवान् में मन आसक्त न होने से दिन-रात निर्भय से तद्रतिकर नामसमूह का कीर्त्तन निर्लज्ज भाव से करे—सर्वदा ही गोविन्द नाम ग्रहणीय है। (२६४) श्रीहरिनाम कीर्त्तन—पाप क्षय करने के पश्चात् भगवदैश्वर्य सौन्दर्य्यादि का अनुभव कराता है।

(२६५) साधक एवं सिद्ध—सबके पक्ष में ही श्रीहरिनाम कीर्त्तन परम श्रेयःस्कर है। अर्थात् उच्च नाम सङ्कीर्त्तन ही सबके पक्ष में प्रशस्त है। दशनामापराध परित्याज्य—(१) सत् की निन्दा—वाचिक हिंसा—षट् वैष्णवापराध परित्याज्य हैं—हन्ति निन्दति वै द्वेष्टि वैष्णवान् नाभिनन्दति। क्रुध्यते याति नो हर्षं दर्शने पतनानि षट्॥" विष्णु वैष्णव निन्दक की जिह्वा को छेदन करना कर्त्तव्य है, असमर्थ होने पर अन्यत्र गमन वा स्वप्राण त्याग कर्त्तव्य है। (२) श्रीविष्णु का सर्वात्मकत्व हेतु उनसे शिव के गुण नामादि शक्त्यन्तरसिद्ध जो मानता है, वह नामापराधी है। (३) श्रीगुरु की अवज्ञा, (४) श्रुतिशास्त्र निन्दन, (५) अर्थवाद, 'यह स्तुति मात्र है' इस प्रकार मानना। (६) कल्पन—नाम माहात्म्य को गौण करने के निमित्त अन्य प्रकार चिन्ता करना, (७) नाम के बल से पाप कार्य्य में प्रवृत्ति, भगवच्चरण प्राप्ति साधन नाम को परम घृणास्पद पाप नाश हेतु विनियोग करने से नाम को अपमानित किया जाता है— अतः महा अपराध

होता है। जो निरन्तर नामसङ्कीर्त्तन द्वारा ही विदूरित होता है। अश्वमेध यज्ञ रूप भगवद्भजन के बल से वृत्र हत्या में प्रवृत्त इन्द्र का दोष नहीं हुआ। (८) धर्म व्रतत्यागादि के सहित नाम को समान मानना अपराध है। (९) अश्रद्धालु विमुख एवं सुनने में अनिच्छुक व्यक्ति को नामोपदेष्टा अपराधी है। (१०) श्रीहरिनाम माहात्म्य श्रवण करके भी अहङ्कार हेतु नाम को अनादर करना अपराध है। इन दशनामापराधी व्यक्ति ही पाषण्डी नाम से अभिहित होता है। महदपराध भोग का महत् के अनुग्रह के द्वारा महदपराध की निवृत्ति होती है।

(२६६) (ख) श्रीरूपकीर्त्तन—यथा–श्रीपरीक्षित् एवं चतुःसन वाक्य में वर्णित है। (२६७) (ग) गुणकीर्त्तन—श्रीव्यास के प्रति श्रीनारद वाक्य (२६८) श्रीभगवद् गुणकीर्त्तन – नित्य नूतनोल्लास हेतु साधक एवं सिद्धवृन्द का फल स्वरूप है। (घ) लीला कीर्तन—सश्रद्ध लीला श्रवण के लिए भगवान् शीघ्र हृदय में प्रवेश करते हैं। (२६९) भगवत् लीलामय-गान तदीय रतिप्रद है, सुकण्ठ होने पर नाम लीलादि का गान ही प्रशस्त है—गान शक्त्यभाव से श्रवण, तदाशक्त्य भाव से तदनुमोदन करना कर्त्तव्य है। गायकवृन्द–प्राणिमात्र के परम उपकारी हैं, सुतरां भक्तवृन्द के भी उपकारी हैं। बहुजन मिलित कीर्त्तन को सङ्कीर्त्तन कहते हैं। वह चमत्कार विशेष पोषक हेतु गानापेक्षा अधिक माहात्म्ययुक्त है। तृणादपि सुनीच, तरु के समान सहिष्णु, अमानी एवं मानद होकर नाम सङ्कीर्त्तन करे।

(२७१) कलिकाल में कीर्त्तन के द्वारा ही अनुयुगीय साधना का फल लाभ होता है। (२७२) कलिकाल में साधनान्तर निरपेक्ष सङ्कीर्त्तन के द्वारा ही सर्व स्वार्थ लाभ होते हैं। (२७३) कीर्त्तन द्वारा ही भगवन्निष्ठारूप परमा शान्ति लाभ होती है। एवं संसार नाश होता है,—भक्तिमात्र ही काल देशादि नियम निरपेक्ष है। अतएव कलिसङ्ग द्वारा कीर्त्तन का उत्कर्ष नहीं है। समाधिपर्य्यन्त स्मरण से कीर्त्तन गरीयान् है। विष्णुपुराण में उक्त है—समस्त युगों में कीर्त्तन की सामर्थ्य समान होने पर भी कलि में भगवान् कृपा पूर्वक उसको ग्रहण करते हैं, अतः उसकी प्रशंसा है। अतएव कलियुग में अन्यान्य भक्त्यनुष्ठान भी कीर्त्तन के सहित ही करना कर्त्तव्य है। स्वतन्त्र नाम कीर्त्तन अत्यन्त प्रशस्त है।

(२७४) कलि में नाम कीर्त्तन प्रचार प्रभाव के द्वारा ही परम भगवत् परायणत्व सिद्ध होता है। कलि में पाखण्ड प्रवेश द्वारा नामापराधीगण भगवद्बहिर्मुख होते हैं। (२७५) निजदैन्य, अभीष्ट विज्ञप्ति एवं स्तवपाठ भी कीर्त्तनान्तर्भूत हैं। अन्य नामापेक्षा श्रीभगवतस्थित नामादि कीर्त्तन अधिकतर प्रशस्त है। शरणापत्त्यादि द्वारा शुद्धान्तःकरण होने से नामकीर्त्तन के अपरित्याग द्वारा ही स्मरण कर्त्तव्य है।

(५) स्मरण—मन के द्वारा अनुसन्धान स्मरण सामान्य है, (भा० ११।१३।१४) (२७६ क) नामस्मरण—इसमें शुद्धान्तःकरण की अपेक्षा है। (२७७ ख) रूपस्मरण, श्रीकृष्ण में प्रेमभक्ति ही इसका मुख्य है। अन्य सब आनुषङ्गिक फल हैं। (२७८) (ग) गुणस्मरण, (घ) परिकर स्मरण, (ङ) सेवास्मरण, (च) लीला स्मरण। स्मरण पञ्चविध—स्मरण, धारणा, ध्यान, ध्रुवानुस्मृति एवं समाधि। समाधि—भगवदाविष्ट-चित्तता प्रायशः शान्त भक्त की होती है, यथा श्रीमार्कण्डेय की। यह 'असंप्रज्ञात' नामक ब्रह्मसमाधि से पृथक् है। (२७९) लीलाभिन्न अन्य विषय की अस्फूर्त्ति की समाधि है। यथा दास्यादि भक्तवृन्द की।

(२८०-८२) (छ) पादसेवा—रुचि एवं शक्ति की विद्यमानता होने पर स्मरण को परित्याग न करके ही पादसेवा कर्त्तव्य है। कोई कोई व्यक्ति, सेवास्मरण सिद्धि हेतु पादसेवा करते हैं। सेवा—कालदेशादि के उपयोगी परिचर्य्यादि पर्य्याय शब्द है। (२८३) भगवत् परिकरत्व प्राप्ति हेतु पादसेवा के मध्य में श्रीमूर्त्ति-दर्शनादि एवं तदीय तीर्थ गमनादि अन्तर्भूत हैं। श्रीगङ्गा प्रभृति भक्ति का निदानत्व हेतु गङ्गादि एवं गङ्गास्थित प्राण्यादि परम भागवत होने के कारण भगवत् पाद सेवा में ही उनकी सेवा पर्य्यवसित होती है

निजोपासना स्थान ही अधिक सेव्य है। श्रीकृष्ण की पूर्ण भगवत्ता हेतु उक्त स्थान ही पूर्ण पुरुषार्थद होता है। परम भगवत् प्रियत्व हेतु तुलसी सेवा सत् सेवा में अन्तर्भुक्त है।

(७) अर्च्चन—आगमोक्त आवाहनादि क्रमयुक्त है। यदि अर्च्चन मार्ग में श्रद्धा हो तो शिष्य, मन्त्र-गुरु के निकट विशेष रूप से जिज्ञासा करे। अर्चन के बिना भी शरणापत्त्यादि का एक अङ्ग के द्वारा ही पुरुषार्थ सिद्ध होता है। अतएव यद्यपि श्रीभागवत मत में पञ्चरात्रादिवत् अर्च्चन मार्ग की आवश्यकता नहीं है, तथापि, जो लोक—श्रीनारदादि के वर्त्मानुसरण करके दीक्षाविधान के द्वारा श्रीभगवान् के इच्छुक हैं, उनके पक्ष में दीक्षा ग्रहणानन्तर अर्च्चन अवश्य कर्त्तव्य है। दीक्षा द्वारा पापक्षय, श्रीमन्त्र में भगवत्स्वरूप ज्ञान एवं तद्द्वारा श्रीभगवान् के सहित सम्बन्ध विशेष ज्ञान होता है। सम्पत्तिमान् गृहस्थवृन्द के पक्ष में अर्च्चन मार्ग ही मुख्य है, वैसा न करके निष्किञ्चिनवत् केवल स्मरणनिष्ठ होने से वित्तशाठ्य दोष होता है। अपर के द्वारा अर्च्चन कार्य्य निष्पन्न कराने से व्यवहारनिष्ठ एवं अलसत्व प्रतिपादक एवं अश्रद्धामयत्व हेतु दोष होता है। अत्यन्त विधिसापेक्ष हेतु एवं द्रव्य साध्यता के कारण गृहस्थ के पक्ष में अर्च्चन वा परिचर्य्या मार्ग का प्राधान्य है। दीक्षाग्रहणान्तर गृहस्थवृन्द को मूलसेव्यरूप श्रीभगवदर्च्चन करना चाहिये वैसा न करने से नरकपात अवश्यम्भावी है। अशक्त वा अयोग्य पक्ष में पूजादर्शन एवं मानसपूजा कर्त्तव्य है। अर्च्चन मार्ग में किन्तु विधि अवश्य अपेक्षणीय है। अर्च्चन कार्य्य करने के पूर्व में दीक्षाग्रहण कर्त्तव्य है, एवं शास्त्रीय विधान शिक्षणीय है। वैष्णव सम्प्रदाय के अनुसार ही दीक्षाग्रहण कर्त्तव्य है। अर्च्चन मार्ग में स्वभावतः कदर्यशील विक्षिप्तचित्त लोक का स्वभाव सङ्कोचकरण निबन्धन दीक्षाग्रहणादि की मर्य्यादा का स्थापन ऋषिवृन्द ने किया है। दीक्षा एवं नाममय मन्त्र उभय ही फलादि प्रदान करने में एक अपर की अपेक्षा नहीं करता है। ग्रहण मात्र से ही शक्तिद, एवं अभिवाञ्छित फलद है। श्रीगोपाल मन्त्र, स्वप्रकाश होने के कारण साध्यादि व अपेक्षा इसमें नहीं है। शास्त्रविधि के अनुसार अर्च्चन करके नीच व्यक्ति भी शीघ्र फल लाभ करता है। स्वप्न में भी उसका विघ्न उपस्थित नहीं होता है, किन्तु विधि को अनादर करके विद्वान लोक भी सिद्ध नहीं हो सकता है, यथा—पृथु के प्रति पृथिवी का वाक्य है।

अर्च्चन द्विविध—(क) केवल-निरपेक्ष श्रद्धावान् का। यथा—आविर्होत्र एवं श्रीनारद वाक्य है। (ख) कर्ममिश्र—व्यवहार चेष्टातिशयवान्, श्रद्धालु, प्रतिष्ठित एवं लोकसंग्रह पर गृहस्थ के पक्ष में है।

(२८५) श्राद्धादि लोकाचार—विवेकज्ञ सिद्ध गृहस्थ के पक्ष में आमरण प्रयत्नतः रक्षणीय है। इस सम्बन्ध में कर्म व्यवस्था द्विविध हैं (क श्रीनारदपञ्चरात्रादि के मत में अन्तर्य्यामी भगवद् दृष्टि के द्वारा ही सर्वाराधन कर्त्तव्य है। (ख) विष्णुयामल के मत में—विष्णु निवेदितान्न द्वारा देवतान्तर की एवं पित्रादि की आराधना करना विहित है। श्रीभगवत् पीठावरण पूजा में गणेश दुर्गादि भगवत् स्वरूपभूत शक्त्यात्मक भगवत् नित्यसेवक हैं। श्रुति तन्त्रादि में भी श्रीकृष्णस्वरूपभूत श्रीमदष्टादशाक्षरादि मन्त्र के अधिष्ठातृदेवता रूप में दुर्गानाम्नी भगवद्भक्त्यात्मक स्वरूपभूत शक्तिवृत्ति विशेष है। उसकी ही दासीतुल्या मायांशरूपा दुर्गा, इस प्राकृतलोक में मन्त्र रक्षा लक्षण सेवार्थ नियुक्त है। मायातीत अप्राकृत वैकुण्ठादि लोक में दिक्-पालगण भी नित्य अप्राकृत भगवदंश रूप सर्वत्र गोपवेशधर श्रीहरि देवदेवेश हैं। केवल रूपभेद से नामभेद कथित है। अनन्य भक्तगण, विष्वक्सेनादिवत् विनायकादिका एवं दिक्पालगण का भागवत् एवं नित्य वैकुण्ठादि के सेवक होने के कारण सम्मान करे। प्रोक्षणादि के द्वारा पूजा करे। श्रीहरि के भुक्तावशेष प्रदान उन सबको करे, एवं तच्छेष द्वारा होम भी करे।

(२८६) भगवदवतार देवता न होने के कारण, भूतादि की पूजा भगवत्पूजाङ्ग रूपमें विहित होने पर भी नहीं करनी चाहिये। अवश्य पूज्य सङ्कर्षणादि की पूजा भी तत्स्वीकृत मर्य्यादा के द्वारा न करे। पीठ पूजा में भगवद्धाम में श्रीगुरुपादुका का पूजन सङ्गत है। कारण, जो भगवान् यहाँ व्यष्टि भक्तावतार गुरु-

गुरु रूप में वर्त्तमान है, वही भगवद्धाम में भगवद् के वामभाग में समष्टि साक्षात् अवतार श्रीगुरुदेव रूप में विद्यमान् हैं।

श्रीरामादि उपासना में, श्रीकृष्ण की गोकुलोपासना में शङ्खचक्रादि श्रीकृष्ण के चरणचिह्न,-गङ्गा-मानस गङ्गा, श्वेतद्वीप-गोलोक, जिस प्रकार ब्रह्मसंहिता में उक्त है, तत्रत्य अप्राकृत सोम सूर्य्याग्नि मण्डल अतिशैत्य ताप गुण परित्याग पूर्वक विद्यमान हैं। जिस प्रकार नृसिंहतापनी में लिखित है। कर्ममिश्रत्वादि निरसन हेतु भगवत् परिकरों का वर्णन हुआ।

शुद्ध भक्तों की भूतशुद्धि,—निजाभिलषित भगवत् सेवोपयोगि तत् पार्षददेह भावना ही विहित है। भगवत्सेवैक पुरुषार्थी व्यक्तिसमूह के पक्ष में निज आनुकूल्य हेतु उक्ताचरण श्रेयस्कर है। केशवादि न्यास—अधमाङ्ग विषय में तन्मूर्त्तिध्यान, एवं तत्तन्मन्त्र जप करके तत्तदङ्ग स्पर्श ही करे। मुख्य ध्यान श्रीभगवद्-धामगत ही है। कामगायत्री ध्यान एवं मानस पूजा धाम में ही करनी चाहिये। कारण, सूर्य्यमण्डल में श्रीवृन्दावननाथ—तेजोमय प्रतिमा रूप में ही विद्यमान हैं। साक्षात् भाव से नहीं रहते हैं, वहिरूपचार के द्वारा मानसिक पूजा में वेण्वादि की पूजा भगवन्मुखादि में करनी चाहिये। निज मुखादि में नहीं करनी चाहिये। भूतपूर्व भगवत्परिकर लीला संवलितत्व भी कल्पनामय नहीं है। अर्थात् यथार्थ ही है।

मानसपूजा माहात्म्य—यह मानसयोग-जराव्याधि भय विनाशक है। अष्टविधा प्रतिमा के मध्य में मनोमयी मूर्त्ति का विधान स्वतन्त्र रूप से होने के कारण, कहीं पर मानसपूजा स्वतन्त्र से भी होती है। पूजास्थान विविध हैं—शालग्राम शिलादि में—मथुरादि क्षेत्र श्रीकृष्णादि का महाधिष्ठान है, प्रतिमा—द्विविध होते हैं—चला एवं अचला। परमोपासकवृन्द प्रतिमा को साक्षात् परमेश्वर जानते हैं, अतएव उनकी पूजा में आवाहनादि विशेष विवरण, शूद्रादि पूजित अर्च्चा विग्रह पूजा में जो निषेध वचन है—वह अवैष्णव शूद्र पर है। भक्त के द्वारा उपास्य अर्च्चा विग्रह की सर्वोत्कर्षता है। श्रीकृष्ण ही एकमात्र पूजा के पात्र हैं यथा—राजसूय यज्ञ में विहित हुआ है।

(२८७-८९) ज्ञानादि परिमाण एवं भागवत् वर्त्तनातिशय्य हेतु पुरुष में पात्रोत्कर्षता (२९०-९१) त्रेतादि युग में ही पृथक् प्रतिमा विहित है। (१९२-२) पुरुषों के मध्य में ब्राह्मण ही श्रेष्ठपात्र हैं। मुमुक्षु के द्वारा ज्ञानि पूजा ही मुख्या है।

(२९४) प्रेमभक्ति अभिलाषी व्यक्ति के पक्ष में प्रेमभक्त की पूजा ही श्रेष्ठ है, श्रीभगवान् के विलक्षण प्रकाश स्थान होने के कारण, अर्च्चाविग्रह का ही आधिक्य स्थापित हुआ है। श्रीभगवन्निवास क्षेत्रादि महातीर्थस्थ कीटादि भी कृतार्थ हैं।

(२९५) एकादश पूजाधिष्ठान भेद से पूजा साधनभेद अपासना द्विविधा हैं। (क) अधिष्ठान की परिचर्य्या के द्वारा अधिष्ठाता की उपासना होती है। (ख) साक्षात् अधिष्ठाता की उपासना निज प्रेम सेव्य स्वाभीष्टरूप विशेष परम सुकुमारत्वादि बुद्धिजनित प्रीति के द्वारा ही सर्वथा सेवनीया है। अग्न्यादि में तदन्तर्यामी रूप में चिन्ता करनी चाहिये। भक्त की भक्ति रीति के द्वारा ही परमेश्वर में विशेष भावोदय होता है। परिचर्य्या विधि में तद् देश काल सुखद द्रव्य विहित हैं। इष्टमन्त्र ध्यान—ध्यान स्थल समस्त ऋतु में सुखमय मनोहर रूप रस गन्धादि मय में होने चाहिये। अन्यथा समस्त आग्रह व्यर्थ होते हैं।

(२९६) श्रीकृष्णैकान्तिक भक्तवृन्द—तन्मूलमन्त्र के द्वारा ही नैवेद्यार्पण करें। श्रीकृष्ण के नरलीलत्व हेतु भोजन भी लोक प्रसिद्धवत् ही है। जप में मन्त्रार्थ विधि प्रकार होने पर भी निज पुरुषार्थ के अनुकूल ही चिन्तनीय है। श्रीमदष्टादशाक्षरादि मन्त्र में आत्मसमर्पणात्मक चतुर्थ्यन्त पद योजनीय है। शुद्धभक्ति सिद्धि हेतु समस्त भक्तयङ्ग के शुद्धाशुद्धत्व द्विविध भेद सम्मत हैं।

(२९७) निरुपाधि प्रेम के द्वारा पूजा करने से ही श्रीभगवान् को प्राप्त कर सकते हैं। (२९८) अर्चनाधिकारी निर्णय,—श्रीविष्णु आराधना में स्त्री, शूद्र, एवं सर्व वर्ण सर्व आश्रमों का अधिकार है। नृमात्र का ही दीक्षाविधान द्वारा द्विजत्व विहित है। समस्त युगों में समस्त लोकों के द्वारा समस्त आविर्भाव यथेच्छ पूज्य हैं। (२९९) श्रीएकादशी जन्माष्टम्यादि व्रत, अर्च्चनान्तर्भूत हैं। दीक्षित वैष्णव, शैव एवं सौर के पक्ष में एकादशी व्रतपालन अवश्य कर्त्तव्य है। द्वादशी में दिवानिद्रा, तुलसी चयन एवं श्रीविष्णु का दिवास्नान निषिद्ध है। अष्ट महाद्वादशी श्रीविष्णु प्रीतिद हैं। वैष्णवों के पक्ष में अनिवेदित द्रव्य भोजन नित्य निषिद्ध हेतु महाप्रसादान्न परित्याग ही एकादश्यादि में निराहारत्व है। श्रीहरिवासर में जागरण न करने से श्रीकेशव पूजा में अधिकार नहीं होता है। परमभक्ति परायण श्रीमदम्बरीषादि के चरित्र में एकादशी का अनुष्ठान प्रदर्शित हुआ है। अतएव उक्त एकादशी व्रत अन्तरङ्ग वैष्णव धर्म एवं भागवत सम्मत है। कार्त्तिक व्रत एवं एकादशी व्रतानुष्ठान के प्रभाव से एक ब्राह्मण कन्या सत्यभामा हुई थी।

माघस्नान—सदाचार कथन के द्वारा श्रीरामनवमी एवं वैशाख व्रतादि भी विहित हैं (३००) तादृश व्रत के मध्य में भी निजेष्टदेव का व्रत सुष्ठु विधेय है। वैष्णवों के द्वारा यत्नपूर्वक सेवापराध वर्जनीय है। प्रभुत्वाभिमान से उत्पन्न होने के कारण अपराधसमूह अनादरात्मक हैं। अतएव अपराध का निदानस्वरूप अनादर सर्वथा परित्याज्य है।

(३०१-२) महदनादर ही सर्वनाशक है। (३०३) प्रमादवशतः भगवदपराध होने से पुनर्वार भगवत् सन्तोषण करना चाहिये। श्रीभगवान्,—गीताध्याय, सहस्रनाम माहात्म्य एवं तुलसी स्तवादि पाठ द्वारा सेवापराध क्षमा करते हैं। मथुरादि सेवा द्वारा सापराधलोक पवित्र होता है। एवं सहस्रजन्मार्जित अपराध विनष्ट होता है। महत् की प्रसन्नता व्यतीत महत् अपराध विनष्ट नहीं होता है। अतएव चाटुकारादि द्वारा किंवा महत् की प्रीति निमित्त दीर्घकाल निरन्तर भगवन्नाम कीर्त्तन द्वारा श्रीभगवान् को सन्तुष्ट करके तदपराधक्षमापणीय है।

(८) (वन्दन)—

श्रीभगवान् के अनन्त ऐश्वर्य्य गुणसमूह के श्रवणानन्तर तद्गुणानुसन्धान—पादसेवादि में विधृत दैन्य एवं नमस्कार। नरसिंह पुराण में एवं श्रीमद्भागवत में उक्त है—श्रीकृष्ण के प्रति ब्रह्मा का कथन है—एक बार मात्र नमस्कार के द्वारा ही मोक्ष लाभ होता है। एक हस्त से, वस्त्रावृत देह से, भगवदग्र, पृष्ठ, वाम भाग में वा अतिनिकट में, गर्भमन्दिर में नमस्कार करने पर अपराध होता है।

(३०४-९) दास्य—श्रीविष्णु का दासाभिमान। केवलमात्र दासाभिमान के द्वारा ही सिद्धि होती है। तादृश भजन प्रयास की आवश्यकता नहीं है। (३०५) दास्य सम्बन्ध के द्वारा समस्त भजन महत्तर होता है। तदधिक अपर कुछ भी नहीं हैं। दुर्वासा अम्बरीष को कहे थे।

(३०६-८) (१०) सख्य—हिताशंसनमय बन्धुभाव लक्षण प्रेम। विश्रम्भ विशिष्ट भावनामय होने के कारण दास्य की अपेक्षा सख्य उत्तम है। एवं परमसेवानुकूल होने के कारण, उपादेय है। अदेव होकर देवता की अर्च्चना न करे। इस प्रकार विधान विद्यमान होने पर भी शुद्ध भक्तवृन्द उक्त भाव को सेवा विरुद्ध होने के कारण—उपेक्षा करते हैं। साध्यत्व हेतु प्रेम नव भक्ति का अन्तर्भूत नहीं है। भगवान् के सहित जीव का नित्य सहवास के कारण, भगवत्कृत हिताशंसन नित्य है। अतएव भजन विशेष के द्वारा तद्विषयक हिताशंसनमय सख्य विशिष्ट रूप से सम्पादन करना अ तदुष्कर नहीं है। जिस प्रकार असुर बालकों के प्रति प्रह्लाद का उपदेश है। भगवान् मायिक अमायिक सम्पत्ति दान के द्वारा हिताशंसी हैं। अतएव आरोपित नश्वर विषय के सम्बन्ध में जायापत्यादि के निमित्त उपार्जन में रत होने का प्रयोजन ही क्या है? सत्स्त्री के द्वारा सत्पतिवत् भक्ति द्वारा भगवान् वशीभूत होते हैं।

(३०९) (११) आत्मनिवेदन—देहादि शुद्ध आत्म पर्य्यन्त गोविक्रयवत् सर्वतोभावेन श्रीभगवान् को अर्पण। उसका कार्य्य तीन प्रकार है, (क) निजदेह दैहिक चेष्टा राहित्य, (ख) निज साधन साध्यसमूह का अर्पण, (ग) उनके उद्देश्य से ही केवल चेष्टा, कोई कोई देहार्पण, कोई कोई शुद्ध क्षेत्रज्ञार्पण, कतिपय व्यक्ति केवल दक्षिण हस्तार्पण करते हैं। अम्बरीष सर्वात्म निवेदन किये थे। स्नान परिधानादि तत्सेवा योग्यता हेतु करते हैं। अतः उससे आत्मार्पण भक्ति की हानि नहीं होती है। आत्मनिवेदन द्विविध हैं—(क) भाव के बिना-यथा—'मर्त्यो यदात्यक्त समस्त कर्मा, (भा० ११।२९।३४) (क) भाववैशिष्ट्य के सहित-यथा—'दास्यादि में' (११।११।३५) (३१०) अधिकारिभेद से ओषधिवत् भक्त्यङ्ग निष्ठा होती है—इति वैधीभक्ति।

रागानुगाभक्ति—विषयी लोकों की विषयासक्ति के अतिशय्यवत् भक्त का भगवत् कृपादि विषय में स्वाभाविक संसर्गेच्छातिशयमय प्रेम ही राग है। विशेषण भेद वा दास्य सख्यादि भेद से राग विविध होते हैं। मायामोहित शिव का मोहिनी मूर्त्ति में जो भाव है, वह भागवत सम्मत नहीं है। दास्यादि राग प्रयुक्त श्रवण-कीर्त्तन-स्मरण-पादसेवन-वन्दन-आत्मनिवेदन प्राया भक्ति ही रागात्मिका। जिनकी दास्यादि राग विशेष में रुचि हुई है, किन्तु रागविशेषोत्पन्न नहीं हुआ है, उनकी हृदयमणि—तादृश रागसुधाकर के किरणाभास से समुल्लसित होने से तादृश रागात्मिका भक्ति की शास्त्रादि श्रुता परिपाटी में रुचि होती है, अतएव तादृश रुचि के द्वारा तदीय रागानुगमनकारी रागानुगाभक्ति उनमें प्रवर्त्तित होती है।

यह विधि के प्रयुक्त नहीं है, किन्तु रुचि के द्वारा प्रवर्त्तित है। अतएव ऐसा कहना समीचीन नहीं होगा कि—विधि के अधीन न होने से भक्ति ही नहीं होगी। जिस प्रकार श्रीपरीक्षित् के प्रति श्रीशुकदेव ने कहा है। वैधीभक्ति सापेक्षा होने के कारण, दुर्बला है, रागानुगाभक्ति-स्वतन्त्र प्रवर्त्तित होती है, अतः वह प्रबला है। अतएव भक्ति भिन्न अन्य विषय में अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में अनभिरुचित्वादि ही रागानुगाभक्ति जन्म का लक्षण है। विधिनिरपेक्षता हेतु पूर्वोक्त दास्य सख्यादि से विभेद को जानना होगा। अतएव रागानुगाभक्ति में विधियुक्त क्रम भी अत्याहत नहीं है किन्तु रागात्मिका श्रुत क्रम ही अत्याहृत है।

(३११) रागात्मिका रुचि—(भा० ११।८।३५) में उक्त है—रुचि प्रधान इस मार्ग में मन का प्राधान्य हेतु एवं तत् प्रेयसी रूप में असिद्धा पिङ्गला का तादृश भजन में प्रायशः मन के द्वारा ही युक्तत्वहेतु पिङ्गला ने भी मन के द्वारा ही विहार कामना की थी। इस दृष्टान्त के द्वारा तादृश मधुरभावाकाङ्क्षी भक्ति का भी श्रीमत् प्रतिमादि में औद्धत्य परिहृत हुआ। इस प्रकार पितृत्वादि भाव में भी अनुसन्धान कर लेना चाहिये।

(३१२) ब्रह्मवैवर्त्त में वर्णित कामकला में भी प्रेयसीत्वाभिमानमयी भक्ति है। सेवकत्वाद्यभिमानमयी रागात्मिका भक्ति में रुचि भी रागानुगा है। दास्य-यथा—प्रह्लाद का, वात्सल्य-यथा—स्कान्दोक्त प्रभाकर राजा का। मातृवत्' प्रभृति में 'वति' प्रत्ययान्त शब्द के द्वारा प्रसिद्ध तन्मातृ प्रभृति की अनुगत भावना ही अङ्गीकृत है। अभेद भावना अङ्गीकृत नहीं हुई है। अभेद भावना करने से अहङ्ग्रहोपासनावत् मातृ प्रभृति में अहङ्ग्रहोपासना से दोष होता है, पूर्वमीमांसा एवं श्रुतिस्मृति में कथित विधिलङ्घन से दोष जब होता है, तब विधिनिरपेक्षा रागानुगा भक्ति के द्वारा सिद्धि कैसे हो सकती है? श्रीभगवन्नाम गुणादि में वस्तुशक्ति की विद्यमानता हेतु धर्मवत् भक्ति में विधिसापेक्षता नहीं है। अतएव ज्ञानादि के बिना भी फल लाभ का वर्णन अनेक स्थानों में उपलब्ध है। जिसकी निजी प्रवृत्ति नहीं है, उसके पक्षमें ही विधि की अपेक्षा एवं क्रमविधि है। यद्यपि 'चक्षुनिमीलन पूर्वक धावित होने पर भी' इत्यादि नियम के द्वारा भागवत धर्म का आचरण जिस किसी प्रकार से होने पर भी सिद्धि सुनिश्चित है, तथापि रुचि के अभाव से, रागात्मिका भक्ति कौशल अनभिज्ञ विभिन्न विषयों में विक्षेपवान् लोक को सुस्थिर वर्त्म प्रवेश कराने के निमित्त एवं क्रमशः चित्ताभिनिवेश हेतु मर्य्यादा रूप में क्रम विधि निर्मित हुई है। अन्यथा सन्ततः तद्भक्त्युन्मुखत्व-

जनक ताहृश रुचि न होने के कारण, एवं मर्य्यादा रूप क्रमविधि को अस्वीकार करने पर वह साधक आध्यात्मिकादि उत्पात के द्वारा निहत होता है। रुचि के द्वारा ही भगवन्मनोरम रागात्मिका में क्रमशः अभिनिवेश हेतु स्वयं प्रवृत्तिमान् भक्त के निमित्त मर्य्यादा निर्म्माण नहीं हुआ है। जिस प्रकार श्रीभगवान् उद्धव को कहे हैं—(भा०११।११।१२) दुर्लभ स ऽ्यहेतु रागात्मिका भक्ति का अनुकरण करके जब पूतना ने भी धात्री गति प्राप्त की है, तब तदीय रुचिमान् सहसा भक्तवृन्द, निश्चय ही निरन्तर सम्यक् भक्त्यनुष्ठान के द्वारा स्वस्व भावोचित प्रेम सेवा प्राप्त करेंगे। भक्ति निष्ठा रुचि के द्वारा वा शास्त्रनिष्ठा में आदर के द्वारा एकान्तित्व होता है, तदुभय के अभाव में एकान्तित्व—दम्भमात्र ही है। श्रुति, स्मृति, पुराणादि वाक्य द्वारा एकान्तित्वाभिमानी को लक्ष्य करके निन्दा की गई है। 'भगवत्प्रीति वा रुचि के बिना वेदोक्त कर्म न करके स्वतन्त्र भाव से कर्म करने से ही पाषण्डी होता है। इस प्रकार पाद्मोत्तरखण्ड में वर्णित है। उसका अभिप्राय—अज्ञान की निन्दा करना नहीं है, किन्तु शास्त्रानादर का ही निन्दा करना है। मतविशेष के आदरमात्र के द्वारा आदृता रागानुगामी, अजात ताहृश रुचिशील भक्त के द्वारा एवं ज्ञात ताहृश रुचिशील प्रतिष्ठित भक्त के द्वारा भी लोकशिक्षार्थ वैधी संवलिता ही अनुष्ठेया है। मिश्र भक्ति में रागानुगा के सहित यथायोग्य रूप में एकीकरण करके ही वैधीभक्ति आचरणीया है। यथा श्रीअष्टादशाक्षर मन्त्र ध्यान सम्बन्ध में उक्त है।

विधि एवं निषेध—धर्मशास्त्रोक्त एवं भक्ति शास्त्रोक्त भेद से द्विविध हैं। भगवद्भक्ति में विश्वास हेतु अथवा दुःशीलता हेतु धर्मशास्त्रोक्त विधि एवं निषेध पालन न करने से अथवा करने से वैष्णव भाव से भ्रष्ट नहीं होना पड़ता है। वैष्णव शास्त्रोक्त आवश्यक कृत्य का अनुष्ठान एवं निषिद्ध कृत्य का परिहार—श्रीविष्णुसन्तोषार्थ ही होता है। सुतरां रुचिमान् व्यक्ति में स्वतः ही उक्त उभय विषय में प्रवृत्ति एवं अप्रवृत्ति होती है, कारण, तदीय सन्तोष ही प्रीति का एकमात्र जीवन है।

अतएव ताहृश प्रीति विषय में जो व्यक्ति स्वयं ही जिस राग का अनुगमन कर रहा है, ताहृश रागात्मक सिद्धभक्त कर्त्तृक कृतत्व वा अकृतत्व का अनुसन्धान भी अपेक्षणीय नहीं है। पक्षान्तर में उक्त सिद्ध भक्त कर्त्तृक अनुष्ठित होने से साधारण जनगण का उक्तानुष्ठान में विशेष आग्रह होता है। यही प्रभेद है।

यहाँ पर किसी किसी स्थल में राग रुचि के द्वारा ही शास्त्रोक्त क्रमविधि का निर्वाह होने पर भी वह किन्तु रागानुगा के ही अन्तर्गत होता है। जो गोकुलादि में विराजित रागात्मिका के अनुगत हैं, एवं तत्पर भी हैं, वे श्रीकृष्ण के मङ्गल एवं तदीय संसर्ग विषयक विघ्नादि विनाश कामना से वैष्णव धर्म एवं लौकिक धर्मसमूह का अनुष्ठान करते हैं। रागानुगा में रुचि ही सद्धर्म प्रवर्त्तक होने के कारण—'श्रुति स्मृति ममैवाज्ञे' श्रुतिस्मृति मेरी आज्ञा हैं—यह वाक्य रागानुगाभक्ति विषयात्मक नहीं है, 'अपिचेत् सुदुराचार' इत्यादि वाक्यविरोध हेतु विधिवर्त्म—भक्ति विषयक नहीं है, विधि के द्वारा अप्रवर्त्तिता रागानुगा—वेद वाह्या नहीं है। अतएव रागानुगा, वैधी की अपेक्षा भी अतिशय बलीयसी एवं समीचीना है किन्तु रुचि की विद्यमानता से वेद वैदिक प्रसिद्धा ही रागानुगा है। किन्तु बुद्धयादि का व्यतिरेक मुख से वेद का वर्णन—वेद प्रति प्रतिपाद्य विषय विरुद्ध होने के कारण–वेदवाह्य है। अतएव रागानुगा–वैधी अपेक्षा भी अतिशयवता एवं समीचीना है, कारण, मर्य्यादा वचन आवेश निबन्धन ही हुआ है। रुचि विशेष लक्षण—मानस भाव के द्वारा जिस प्रकार आवेश होता है, विधि प्रेरणा द्वारा उस प्रकार आवेश नहीं होता है। आवेश का स्वारसिकमनोधर्मत्व हेतु अनुकूल भावसमूह के द्वारा आवेश तो होता ही है, परम निषिद्ध प्रतिकूल भाव के द्वारा भी आशु आवेश सामर्थ्य द्वारा ही प्रतिकूल दोष हानि एवं सर्वानर्थ निवृत्ति होती है।

(३१३) भावमार्ग की ही बलवत्ता प्रदर्शन हेतु युधिष्ठिर नारद को प्रश्न किये थे 'भगवन्निन्दा से वेग का नरक गमन हुआ, अथच चिरदोषी शिशुपाल को एकान्ति ज्ञानिजन दुर्लभ भगवत् सायुज्य लाभ क्यों हुआ ? (३१४) अनेक नरक भोग के पश्चात् पृथु जन्म प्रभावोदय वशतः वेण की सद्गति हुई थी, यह सुनने में आती है। भगवत् पीड़ाकर होने के कारण, किंवा सुरापानादिवत् निषिद्ध हेतु निन्दा श्रवण वशतः ही क्या नरकपात होता है ? (३१५-३१६) मूढ़ पुरुष के द्वारा निन्दादि प्राकृततम आदि गुण को उद्देश्य करके ही प्रवर्त्तित होते हैं। किन्तु जीववत् प्रकृति पर्य्यन्त वस्तु समूह में भगवान् का अभिमान न होने के कारण निन्दन के द्वारा भगवान् को पीड़ा नहीं होती है।

(३१७) शुद्ध सच्चिदानन्द विग्रहत्वादि हेतु भगवान् उस प्रकार निन्दा के अतीत हैं, जिनकी प्रतिमा में अथवा आभास में एक बार मात्र यथाकथञ्चित् आवेश होने से पाप नाश होता है। उन श्रीभगवान् में निन्दादि कृत वैषम्य न होने के कारण, शत्रुभाव से भी उनका ध्यान करने से तदावेश द्वारा निन्दादि पाप नाश होता है, अतएव सायुज्य प्राप्ति युक्तियुक्त है। वैरानुबन्ध, निर्वैर, भय, स्नेह एवं काम हेतु भगवदावेश होता है। (३१८) निन्दित वैरभाव के द्वारा जिस प्रकार आशु तदावेश होता है, उस प्रकार कर्त्तव्य बुद्धि से क्रियमाण वैधीभक्ति के द्वारा तदावेश नहीं होता है। (३१९) प्राकृत पेषस्कृत कीटवत् वैरभाव द्वारा निरन्तर तच्चिन्ता करके पापशून्य होकर शिशुपालादि नराकृति परब्रह्म को प्राप्त किये थे।

(३२०) शास्त्रविहित भगवद्धर्म वा भक्ति द्वारा भगवान् में मन को आविष्ट करके जिस प्रकार भगवान् को प्राप्त किया जा सकता है, उस प्रकार अनेक व्यक्तियों ने तदविहित कर्म के द्वारा भी उनको प्राप्त किये हैं। (३२१) द्वेष एवं भय के द्वारा अघ होने पर भी निरन्तर आवेश के द्वारा वह विनष्ट होता है। कतिपय व्यक्ति—काम को भी अघ मानते हैं, भगवान् में काम त्रिविध होते हैं, (१) केवल (२) पति-पत्नि-भावयुक्त (३) उपपति भावयुक्त. (१) कुब्जा का केवल। स्नेहवत् काम का प्रीत्यात्मकत्व हेतु द्वेषवत् दोष नहीं होता है, उनका काम ही प्रेमैक रूप है। गोपियों की तुलना से ही कुब्जा का भाव की निन्दा होती है, स्वरूपत वह निन्दनीय नहीं है। कारण, कार्य्य द्वारा उसकी स्तुति की गई है। 'हे प्रिय ! मेरे पास कुछ दिन रहो' इस वाक्य से प्रीति प्रकाशित हुई। जो व्यक्ति, मनोग्राह्य प्राकृत विषय की कामना करता है, वह कुमनीषी है। कुब्जा ने तो भगवान् की कामना की थी, अतः वह परम सुमनीषिणी है। अतएव उसका काम,-द्वेषादिगण में अन्तर्भुक्त नहीं हुआ एवं पापावह भी नहीं हुआ। कामुकत्वाद्यारोपण एवं अधरामृत पानादि व्यवहार के द्वारा भी मर्य्यादा का अतिक्रम नहीं हुआ है। कारण, लोकवत् लीला कैवल्य ही है। इत्यादि न्याय से लीलास्वभावतः ही सुनिष्पादित हुई है। श्रीवैकुण्ठादि में श्री, भू, लीलादिशक्ति के द्वारा तादृशी लीला नित्यसिद्धा है। अत स्वतन्त्र लीलाविनोद भगवान् की तादृश लीला में अभिरुचि ही ज्ञात होती है। अतएव भगवत्ताद्यनुसन्धान एवं कामुकत्वादि मनन भी स्वाभाविक लीलारस मोहजनित तदभिरुचि वशत ही जानना होगा। परम शुद्ध रूप, तत्स्वरूपशक्ति विग्रह, तदन्यून तत्प्रेयसीजन द्वारा तदधरामृत पानादि सङ्गत ही है, एवं तदभिरुचि वशत ही होते हैं।

(२) पतिभावयुक्त—पतिभावयुक्त काम में दोष नहीं होता है, वास्तविक पक्ष में स्तुति सुनने में आती है। यथा—महिषीवृन्द का। महानुभाव मुनिवृन्द में वह भाव श्रुत होता है। कूर्म्मपुराण में इसका विशद वर्णन है। (३) उपपति भावयुक्त— यथा—गोपाङ्गनावृन्द का। उपपतिभाव जो दोषावह नहीं है, वह गोपी के उत्तरों के द्वारा, श्रीशुकदेव के द्वारा, एवं श्रीकृष्ण-वाक्य के द्वारा ही प्रमाणित हुआ है। अन्यत्र भी उपपति भाव दृष्ट होता है। यथा-पद्मपुराण में दण्डकारण्यवासी मुनिवृन्द के सम्बन्ध में उक्त है आगम प्रभृति में श्रीनन्दनन्दन की उपासना काम रूप में विहित होने के कारण एवं 'साक्षान्मन्मथमन्मथ' नाम के कारण गोपियों का काम एवं पुरुषदेहधारी मुनिवृन्द के अन्तर में स्त्रीभाव से भगवान् को उपभोग

करने का जो काम है, वह भगवान् कर्त्तृक उद्भावित अप्राकृत काम ही है। प्राकृत कामदेवोद्भावित प्राकृत काम नहीं है। उद्धवादि परमभक्तवृन्द ने भी गोपी-प्रेम की प्रशंसा की है। वृहद वामनपुराण में प्रसिद्ध है, श्रुतिगण भी नित्यसिद्ध गोपीभावाभिलाषिणी होकर गोपीरूप में ही तदन्तःपाततनी हुई हैं। इसमें श्रुति-वाक्य दृष्टान्त है। श्रीमद्भागवत में भी उक्त है—'शत्रुगण भी स्मरण प्रभाव से भगवान् को प्राप्त किये हैं। इस वाक्य के द्वारा भावमार्ग का आशु अर्थसाधकत्व प्रदर्शित हुआ है। 'समदृश' शब्द के द्वारा रागानुगा का साधकतनत्व प्रकाशित हुआ है। अन्यथा सर्व साधन साध्य विदुषी श्रुतिगण—अन्य भावावलम्बन से साधन में प्रवृत्त होते। बृहद्वामनपुराण में प्रसिद्ध वर्णन है—श्रीकृष्ण के नित्यधाम में नित्यसिद्धा गोपीवृन्द को श्रुतिवृन्द देखी थीं, अतः 'स्त्रियः' शब्द से उन सबका बोध होता है। काम से साधकचरी श्रुतिगण, भय से कंस, द्वेष से शिशुपालादि, सम्बन्ध से वृष्णिगण, स्नेह से पाण्डवगण एवं भक्ति से श्रीनारदादि श्रीकृष्ण को प्राप्त किये हैं।

(३२२) श्रीनारद—पूर्व जन्म में दासी पुत्र रूप में भक्ति के द्वारा ही पार्षद देह को प्राप्त किये थे। अधुना लब्धराग नारद में विधि की अनधीना रागात्मिका भक्ति विराजित है। आधुनिक व्यक्तिगण भी गोपियों के समान तद्गुणादि श्रवण के द्वारा गोपीभाव प्राप्त होते हैं। राग का ही विशेषत्व प्रदर्शन हेतु सम्बन्ध ग्रहण हुआ है। पूर्वावस्था को अवलम्बन करके गोपीवत् साधकचर वृष्णि विशेषगण—साधकत्व में ही निर्दिष्ट हुए हैं। अतएव सम्बन्धजन्य स्नेह को भी तदरुचिमात्र ही जानना होगा।

(३२३) वेण का भाव - उक्त पञ्च प्रकार भाव के मध्य में एक भाव भी भगवान् में नहीं था, केवल प्रासङ्गिक निन्दा मात्र वैरभाव था। वैरानुबन्ध नहीं था। अतएव तीव्र ध्यानाभाव हेतु ही उसका पाप-वशतः नरक ही हुआ। देवतुल्य स्वभावाक्रान्त व्यक्ति के पक्ष में निज मोक्ष लाभ हेतु भगवान् में वैरभावा-नुष्ठान का साहस करना अनुचित है। अतएव जिस किसी उपायों से श्रीकृष्ण में मनोनिवेश करे। इस प्रकार नारदोक्ति का तात्पर्य्य यह है कि—तादृश बहु प्रयत्न साध्य वैधभक्तिमार्ग द्वारा दीर्घकाल में जिनको प्राप्त किया जा सकता है, रागानुगा मार्ग में भाव विशेष मात्र द्वारा आशु उनको प्राप्त किया जा सकता है, अतएव रागानुगा ही युक्ततम उपाय है।

(३२४) श्रीनारद-वसुदेव-संवाद का तात्पर्य्य यह है—भावमार्ग मात्र की बलवत्ता के मध्य में कैमुत्य द्वारा रागानुगा का ही अभिधेयत्व है। अनुरक्तधी भक्तगण, अवश्य ही भगवान् को प्राप्त करते हैं। वैरानुबन्ध द्वारा जिस प्रकार—इस वाक्य के द्वारा वैरानुबन्ध को सर्वापेक्षा आधिक्य है—इस प्रकार अर्थ करना समीचीन नहीं है, जय-विजय की भगवत्प्राप्ति, स्वाभाविक सिद्धत्व हेतु, युद्ध लीला प्रपञ्चन निबन्धन ब्रह्महेलन रूप तदपराधाभास भोग के छल से सरम्भयोगाभास विहित हुआ है। कतिपय व्यक्ति द्वेषादि भाव को भी भक्ति मानते हैं। किन्तु भक्ति सेवार्थ शब्द आनुकूल्य में ही प्रसिद्ध है। वैरभाव में आनुकूल्यात्मक सेवाभक्ति का सर्वथा विरोधत्व हेतु भक्ति सिद्ध नहीं होता है। अतएव यह मत असत् है।

पद्मपुराण में उक्त है- भक्ति एवं द्वेषादि का भेद सुस्पष्ट है, भक्ति के द्वारा भगवान् हृष्ट होते हैं। रोष व मात्सर्य्य द्वारा भगवान् हृष्ट नहीं होते हैं। तब जो, "असुरवृन्द को भागवत मानता हूँ" इस प्रकार जो उद्धव का उत्कण्ठामय वाक्य है, वह तच्छ्रकोत्कण्ठावशतः केवल दर्शन भाग्यांश में उत्प्रेक्षा होने के कारण युक्तियुक्त है। असुरों में स्वयं भागवतत्व नहीं है। दृष्टान्त यह है—हमारे अन्तिम समय में भगवन्-मुखचन्द्र दर्शन सौभाग्य नहीं है, किन्तु हतभाग्य हम सबकी अपेक्षा भगवन्मुखचन्द्र दर्शनकारी असुरवृन्द में वह भगवद्दर्शन सौभाग्य है, अतः असुरगण भी भागवत है। अतएव द्वेषादि में कथञ्चित् भी भक्ति नहीं है।

(३२५) मुख्य रागानुगाभक्ति—श्रीकृष्ण में ही है किसी अंशी वा अंश में नहीं है। कारण गोपीगण

काम हेतु—एवं दैत्यगण द्वेष हेतु' प्रथमतः श्रीकृष्ण में ही आविष्ट होते हैं, एवं अवशेष में सिद्धि को प्राप्त करते हैं, अतएव श्रीनारद ने भी कहा है-'जिस किसी उपायों से श्रीकृष्ण में मनोनिवेश करो' तादृश आवेश हेतु आशु उपासना होती है, अतः श्रीकृष्ण ने भी एकादश स्कन्ध में स्वयं कहा है—'चतुर्भुजाकार में हो वैधीभक्ति करनी चाहिये, मुझ में नहीं' श्रीगोकुल में शुद्ध राग दर्शन हेतु मुख्यतमा रागानुगा है, गोकुल में श्रीभगवान् स्वयं गोकुलवासियों के पुत्रादि भाव में विलास करते हैं। एक ही स्वेच्छामय भगवान् लोकों के भावानुसार भिन्न भिन्न रूप में एक ही समय में भिन्न भिन्न लोक के द्वारा दृष्ट होते हैं। भक्त कर्त्तृक निज भोजन-पान-स्नान-वीजनादि लक्षण लालनेच्छा भी उनमें अकृत्रिम होती है। साधारण भक्ति सद्भाव को लक्ष्य करके ही 'पत्र-पुष्प-फल-तोय' कहा गया है। सखावृन्द के द्वारा श्रीकृष्ण के पादसम्वाहनादि श्रीकृष्ण की आकाङ्क्षा से ही हुए हैं। अतः इस कार्य्य की प्रशंसा श्रीशुक ने की है। अपर के द्वारा सेवा ग्रहण रूप में वा माधुर्य्य प्रकाशावस्था में भी ऐश्वर्य्य स्फुरण हेतु, उस प्रकार व्यवहार से ऐश्वर्य्य की हानि नहीं है। कारण, ईश्वर में तद्द्वारा भक्तेच्छा विधानरूप प्रशंसनीय स्वभाव ही प्रकाशित होता है। जैसे श्रीव्रजेश्वरी कर्त्तृक बन्धनावस्था में भी यमलार्जुन मोचन श्रीकृष्ण किये हैं। तादृश ऐश्वर्य्य में भी श्रीव्रजेश्वरी की वश्यता ही श्रीशुक द्वारा प्रशंसित हुई है। अतएव जो लोक आज भी तदीय रागानुगापर हैं, उनके पक्ष में भी श्रीव्रजेन्द्रनन्दनत्वादि मात्र धर्म द्वारा ही उपासना समीचीन है।

श्रीविष्णुपुराण में लिखित है—श्रीगोवर्द्धन धारणोपलक्ष्य में विस्मयान्वित व्रजवासीवृन्द को श्रीकृष्ण निज बन्धुसदृश बुद्धि करने के निमित्त कहे थे। श्रीवसुदेवादि का ज्ञान—ऐश्वर्य्य प्रधान है, अतएव ऐश्वर्य्य माधुर्य्यद्वय विशिष्टा भक्ति ही भगवदनुमति है। पूर्वजन्म में भी उनकी तपादि प्रधान भक्ति वर्णित है। श्रीनन्दयशोदा के समान माधुर्य्य निष्ठ पुत्र पालन रूप सौभाग्य श्रीवसुदेव देवकी का नहीं है। सुस्पष्ट रूप से इसको कहते हुये श्रीशुकदेव एवं परीक्षित् उभय ने ही श्रीनन्दयशोदा का भाव की प्रशंसा की है।

'दर्शनालिङ्गनालापैः' इत्यादि द्वारा श्रीनारद भी श्रीवसुदेव देवकी को उपलक्ष्य करके साधक के प्रति उसका उपदेश किये हैं। श्रीभगवान् को पुत्र रूप में प्राप्त करके भी एवं भगवान् तादृश भावनावश होने पर भी स्वाभाविक पारमैश्वर्य्य का आधिक्य ही होता है। अतएव 'ज्ञात्वाज्ञात्वा' जानकर वा न जानकर' इत्यादि उद्धव के प्रति श्रीभगवद् वाक्य द्वारा ज्ञानाज्ञान का अनादर करके 'केवल रागानुगा भक्ति का ही अनुष्ठान प्रशस्त है।' तज्जन्य श्रीगोकुल में ही रागात्मिका का शुद्धत्व हेतु श्रीगोकुलानुगा रागानुगा भक्ति ही मुख्यतमा है। अन्यत्र असम्भव हेतु रागानुगा का माहात्म्य सुनकर एवं पूर्णभगवत्ता देखकर श्रीकृष्ण भजन का ही महामहा माहात्म्य सिद्ध हुआ। उसमें भी गोकुल लीलात्मक श्रीकृष्ण-भजन ही सर्वोपरि है।

(३२६) श्रीमद्भागवत ग्रन्थ के प्रारम्भ से ही श्रीकृष्ण भजन का माहात्म्य प्रदर्शित हुआ है। अन्यान्य अवतार कथानुशीलन का फल श्रीकृष्ण में अभिनिवेश ही है। भक्ति सुलभा एवं निश्चितफला है, अतएव श्रीकृष्ण स्वरूप में ही भक्ति करना कर्त्तव्य है।

(३२७) शुद्ध भक्तगण अभिमानी नहीं होते हैं। कारण, शुद्ध भक्तगण—पुरुषार्थ साधन विषय में श्रीभगवान् के निरुपाधि दीनजन की कृपा को ही साधकतमत्व मानते हैं, किन्तु योगि प्रभृतिवत् स्वप्रयत्न को साधकतमत्व नहीं मानते हैं। (३२८) जो श्रीकृष्ण, ज्ञान योगादि को, परम फलरूप मुक्ति निज द्वेषी दैत्यवृन्द को प्रदान करते हैं, एवं जो स्वयं को अनन्य शरण दास का अधीन करते हैं, उन श्रीकृष्ण के प्रति ही भक्ति ही मुख्यभक्ति है।

(३२९) समस्त जगत् के प्राण कोटि प्रेष्ठ एवं उपकारक श्रीकृष्ण—सेवापरायण भक्त का कुछ भी अभाव नहीं रहता है। श्रीकृष्ण—बाहर गुरु रूप में एवं भीतर में चित्त स्फुरित ध्येयाकार रूप में भक्ति

विरोधी वासना नाश करके निजानुभव एवं प्रेमसेवा प्रदान करते हैं।

(३३०) निज भक्ति का अतिशयत्व का वर्णन श्रीकृष्ण स्वयं श्रीउद्धव के निकट किये हैं। कृपा पूर्वक भक्त के स्पर्द्धादि आशु विदूरित करने के निमित्त एवं अपने के प्रति अन्तर्मुखी कराने के निमित्त अन्तर्य्यामी रूप में स्वांश को भजन के परिवर्त्त में स्वभजन का उपदेश किये हैं। (३३१) अमलाशय व्यक्तिगण—मेरा श्रीकृष्ण रूप को ही समस्त भूतों के भीतर बाहर में असङ्गत्व एवं विभुत्व हेतु आकाशवत् पूर्ण रूप में दर्शन करते हैं। सर्वभूत में मेरा अस्तित्व दर्शनकारी व्यक्ति ही पण्डित है।

(३३२) सर्वभूत में श्रीकृष्णरूप भावनाकारी व्यक्ति का साहङ्कार स्पर्द्धा, असूया एवं तिरस्कार शीघ्र विनष्ट होते हैं। भगवद् दृष्टि साधन में सर्वत्र नमस्कार ही एवं सर्वत्र प्रतिपद में स्वाभाविक नव्यनव्य श्रीकृष्ण स्फूर्त्ति ही साधनावधि है। श्रीगोपालतापनी में प्रसिद्ध – नराकृति परब्रह्म रूप की सर्वत्र नव्य नव्य श्रीकृष्ण स्फूर्त्ति ही सर्वोद्ध्वर्व उपासना है। श्रीमद्भागवत में वर्णित है – काय-वाक्य-मन के द्वारा सर्व भूत में श्रीकृष्ण रूप का अस्तित्व दर्शन करना ही सर्वश्रेष्ठ उपाय वा उपासना है।

(३३३) श्रीगीता में उक्त है—'तत्वज्ञान गुह्य है, अन्तर्य्यामी ज्ञान गुह्यतर है, श्रीकृष्ण मनस्त्वादि लक्षण एवं तदेक शरणत्व लक्षण श्रीकृष्णोपासना ही सर्वगुह्यतम है। श्रीकृष्ण भजन सर्वापेक्षा उत्तम होने के कारण, उनके अवतार का भजन की अपेक्षा भी सुतरां उत्तम है। (३३४) भय से भी श्रीकृष्ण भजन करने से उससे मोक्ष होता है, अतः व्यर्थत्व की सम्भावना नहीं है। जिस प्रकार कंसादि का। अतएव श्रीमदुद्धववत् श्रीकृष्णैकानुगत व्यक्तियों का साध्यत्व एवं साधनत्व में श्रीकृष्ण रूप ही परमोपादेय है। जसे उद्धव के प्रति श्रीकृष्ण वाक्य है—'मेरी प्राप्ति ही तुम्हारे पक्ष में चतुर्वर्ग फल लाभ है।

(३३५) श्रीउद्धव ने भी श्रीभगवच्चरणों में नित्य अचला भावभक्ति की प्राथना की है। (३३६) श्रीकृष्णदास्य ही पुरुषार्थ है। (३३७) श्रीगोकुल लीलात्मक श्रीकृष्ण भजन का माहात्म्यातिशय है। कारण पूतनादि शत्रु को भी धात्र्युचित गतिदान रूप परम शुभ स्वभाव अन्यत्र अवतार समूह में अप्रकटित है।

(३३८) श्रीगोकुल में भी श्रीमद् व्रजवधु के सहित रासादि लीलात्मक श्रीकृष्ण का परमवैशिष्ट्य वर्णन श्रीशुकदेव ने "विक्रीड़ितं" इत्यादि श्लोकों में किया है। परमप्रेष्ठ श्रीराधासम्बलित लीलामय तद्-भजन ही परमतमरूप में स्वतःसिद्ध है। श्रीराधाकृष्ण रहस्य लीला भजन में अधिकारी निर्णय—पौरुष विकारवत् इन्द्रिययुक्त व्यक्ति के द्वारा एवं पितृ पुत्र दास भावापन्न व्यक्ति के द्वारा स्वीयभाव विरोध हेतु रहस्य लीला उपास्या नहीं है। लीला का रहस्यत्व कहीं अल्पांश में कहीं सर्वांश मे है।

(३३९) निजानुभूत रहस्य का प्रकाश करना निषिद्ध है। रागानुगा मार्ग में भी श्रीगुरु के प्रसादलब्ध अथवा श्रीभगवान् के प्रसादलब्ध साध्यसाधन गत स्वीय सर्वस्वभूत जो कुछ रहस्य अनुभूत होता है, उसका प्रकाश किसी के निकट करना नहीं चाहिये।

(३४०) सिद्धिक्रम—प्रत्येक ग्रास में तुष्टि, पुष्टि, क्षुदपायवत् प्रत्येकवार का भजन में किञ्चित् प्रेम, भगवद्रूप की स्फूर्त्ति एवं कालान्तर में वितृष्ण होती है। अनुवृत्ति द्वारा भजन में बहुग्रास भोजी के परम तुष्ट्यादिवत् परम प्रेमादि उत्पन्न होते हैं। अभिधेय भक्ति के विषय में अन्य विशेष विशेष शास्त्र एवं महाजन रीति भी अनुसन्धेय है।

परिशिष्ट (१) परतत्त्व वैमुख्य विरोधी तत्साम्मुख्य ही अभिधेय है। अर्थात् परतत्त्व विषयक ज्ञानोत्पादक भगवदुपासना ही अभिधेय है। प्रयोजन भगवदनुभव है।

(२) ज्ञान साधन एवं योगादि द्वारा आंशिक परतत्त्व साम्मुख्य होने पर भी श्रवण कीर्त्तनादि लक्षण साक्षात् भक्ति ही अभिधेय है।

(३) साक्षाद् भगवत् साम्मुख्य ही मुख्य अभिधेय होने पर भी प्रायशः सर्वत्र ही प्रथम साधकवृन्द की भगवत् कथा में ही रुचि का उदय होता है। भगवद् भजनान्तर में रुचि की अपेक्षा भगवत् कथा में रुचि ही श्रेष्ठा है। भगवत् कथा में रुचि उत्पन्न होने से क्रमशः स्वतः ही भगवत् स्मरण एवं साम्मुख्य सिद्ध हो सकता है।

(४) मन्द भाग्ययुक्त मानव को कृष्ण कथा में रुचि लाभ हेतु सुगम उपाय—पुण्यतीर्थ निषेवण द्वारा पाप विदूरित होता है, एवं तीर्थ स्थान में भ्रमण वा अवस्थान हेतु महात्मावृन्द की दर्शन सम्भाषणादि लक्षण सेवा लाभ होती है। उससे तद्धर्म में श्रद्धा, अनन्तर उनसे भगवत् कथा श्रवणेच्छा, फलतः भगवत् कथा में रुचि का उदय होता है। महत् मुख से भगवत् कथा श्रुत होने से सहसा कार्य्यकरी होती है।

श्री श्रीकृष्णचैतन्यदेव प्रवर्त्तित भागवतीय भक्तितत्वरस पिपासु व्यक्तिवृन्द के पक्ष में अवश्य अवलोकनीय यह 'भक्ति सन्दर्भ' ग्रन्थ है।

श्रीजीव की वंशवल्ली

श्रीसर्वज्ञ (जगद्गुरु कर्णाटक नृपति, १२०३ शक)

|

अनिरुद्ध (नृपति, १२३८ शक)

| |

हरिहर रूपेश्वर

|

पद्मनाभ (जन्म १३०८ शक)

|

पुरुषोत्तम, जगन्नाथ, नारायण, मुरारि, मुकुन्ददेव

|

कुमारदेव

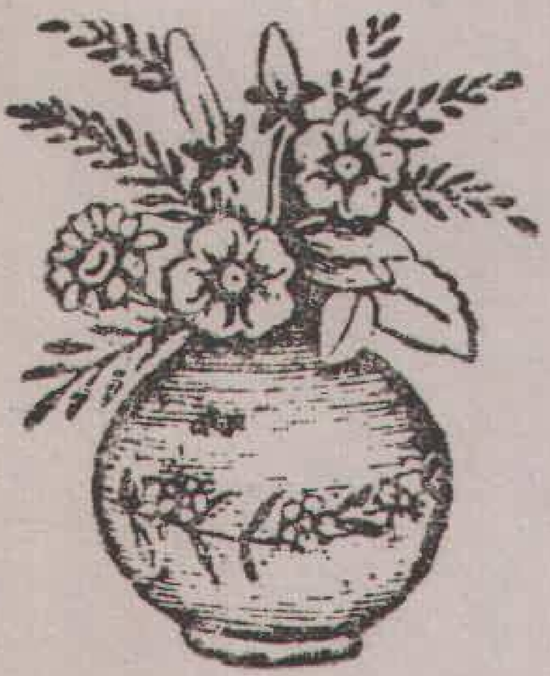
|

(३) श्रीसनातन (१३८६–१४७६) (४) श्रीरूप (१३९२–१४७६) (३) श्रीवल्लभ (अनुपम) (१३९५–१४३७)

|

श्रीजीव (१४३३–१५१८)

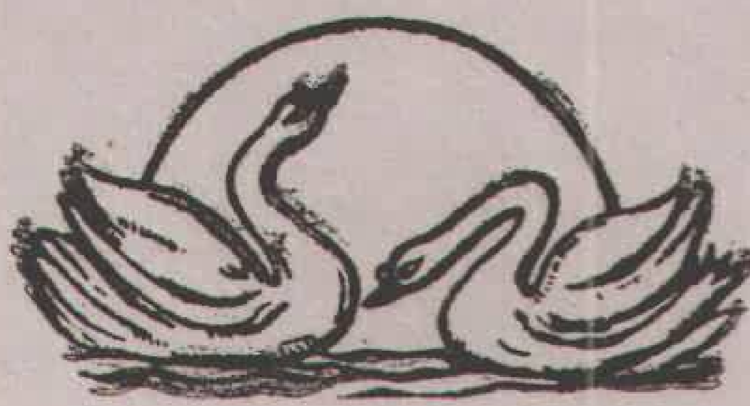
—श्रीहरिदास शास्त्री





नरेन्द्र सरोवर में सपरिकर श्रीमद् भागवती कथा श्रवणरत श्रीश्रीचैतन्य महाप्रभु
प्रवक्ता—श्रीलगदाधर पण्डित गोस्वामी ।







* श्रीश्रीगदाधर गौराङ्गौ जयतः *

——***——

* विषयसङ्कलन *

——***——

विषय | पृष्ठा

विषय पृष्ठा

❋ श्रीश्रीगदाधरगौराङ्गौ जयतः ❋

श्रीश्रीभक्तिसन्दर्भ-धृत-प्रमाणग्रन्थानां

साङ्केतिक-चिह्नानि

अगस्त्य-संहिता	अ सं, अगस्त्य सं	नारदपुराणम्	नारद
अग्निपुराणम्	अग्नि	नारायणव्यूह-स्तवः	ना स्त
अमरकोषः	अमर	निरुक्तम्	निरुक्त
आगमः	आ	नृसिंहतापनी	नृ ता
आदिवराह-पुराणम्	आ वराह	नृसिंहपुराणम्	नृ पु, नृसिंह
आलमन्दारुस्तोत्रम्	आल स्तो	पद्मपुराणम्	पद्म
इतिहास-समुच्चयः	इ समु	पद्यावली	पद्या
उपसंहारः	उप	पुष्पिका	पु
ऋग्वेद-संहिता	ऋक्	पूर्व-मीमांसा	पूर्व
ऐतरेयोपनिषत्	ऐत	ब्रह्मपुराणम्	ब्रह्म
कठोपनिषत्	कठ	ब्रह्मयामलम्	ब्र या
कात्यायनसंहिता	का सं	ब्रह्मवैवर्त्त-पुराणम्	ब्रह्मवै
कूर्मपुराणम्	कूर्म	ब्रह्मसंहिता	ब्र सं
गरुड़पुराणम्	गरुड़	ब्रह्मसूत्रम्	ब्र सू
गीता	गी	ब्रह्माण्डपुराणम्	ब्रह्माण्ड
गोपालतापनी	गो ता	भक्तिरसामृतसिन्धुः	भ र सि
गौतमीयतन्त्रम्	गौत	भक्तिविवेकः	भ वि
चिन्तामणिदीक्षितः	चिन्ता	भविष्यपुराणम्	भविष्य
छन्दोगपरिशिष्टम्	छ प	भागवतम्	भा
जाबाल-संहिता	जा सं	भावार्थ-दीपिका	भा दी
तत्त्वसागरः	त सा	मङ्गलाचरणम्	म
तन्त्रम्	तन्त्र	मत्स्यपुराणम्	मत्स्य
तैत्तिरीयोपनिषत्	तै	मनुसंहिता	मनु
त्रैलोक्यसम्मोहन-तन्त्रम्	त्रै स त	मन्त्रदेव-प्रकाशिका	म प्र
नामकौमुदी	ना कौ	महाभारतम्	म भा
नारदपञ्चरात्रम्	ना प	मुक्ताफल-टीका	मु टी
मुण्डकोपनिषत्	मु	बृहन्नारदीय-पुराणम्	बृ नारद
मोक्षधर्मः	मोक्ष	वैष्णवचिन्तामणिः	वै चि
यजुर्वेदः	यजुः	वैष्णवतन्त्रम्	वै त
यामलम्	याम	शतपथ-श्रुतिः	शत
रामायणम्	रा, राम	शब्दकोषः	शब्द

रामार्च्चन-चन्द्रिका	रा च	शिक्षाष्टकम्	शिक्षा
लघुभागवतम्	ल भा	श्वेताश्वतरोपनिषत्	श्वे
लिङ्गपुराणम्	लिङ्ग	सनत्कुमार-संहिता	स कु सं
वराहपुराणम्	वराह	सर्वज्ञमुनिवाक्यम्	स मु
वामनकल्पः	वा क	सहस्रनामस्तोत्रम्	सहस्रनाम
वामनपुराणम्	वामन	सौपर्ण-श्रुतिः	सौपर्ण
वासनाभाष्यम्	वा भा	सौरपुराणाम्	सौर
विष्णुधर्मः, विष्णुधर्मोत्तरम्	वि ध	स्कन्द-पुराणम्	स्कन्द
विष्णुपुराणम्	वि पु	हयशीर्ष-पञ्चरात्रम्	हय प
विष्णुयामलम्	वि या	हरिभक्तिविलासः	ह भ वि
विष्णुरहस्यम्	वि र	हरिभक्तिसुधोदयः	ह सु, हरि सु
बृहदारण्यकोपनिषत्	बृ	हरिवंशम्	हरि





श्रीश्रीगदाधर गौराङ्गौ जयतः

❀ श्रीश्रीभक्तिसन्दर्भस्य ❀

मातृकाक्रमेण प्रतिचरणगत-श्लोकप्रतीकानामनुक्रमणिका

श्लोकप्रतीकानि	ग्रन्थनाम	श्लोकानुच्छेदाः	श्लोकप्रतीकानि	ग्रन्थनाम	श्लोकानुच्छेदाः
यद्यन्यत्र समा–	भा	५०५	ययोत्तानपदः	भा	७७१
यद्यप्यन्यधियः	,,	६५२	यल्लोकपालो	,,	६८
यद्युज्यते	,,	३७२	यश ऐश्वर्य्य–	,,	६७६
यद्येतदखिलं	वि ध	७८४	यशः श्रियामेव	भा	९५ अनु, ९९ अनु, १५५
यद्वाक्यतो	भा	५०३	यशो भगवतो–	,,	२५४ अनु
यद्वा फलानां	कूर्म	६५५	यश्चैतत् परया	ना प	९०९
यद्वासुदेवं	भा	५३६	यश्चोपदेशः	पद्म	१७३ अनु, ७९६
यद्विभेति	,,	४१०	यष्टव्यं देवता–	वि या	८९६
यन्त्रारूढ़ानि	गो	१०५६	यस्तन्नामोप–	वि ध	९४२
यत्र सुतप्तं	भा	६५८	यस्तु नारायणं	वै त	२२५, ५९९
यत्र स्वधीतं	,,	६५७	यस्तु पूजयते	पद्म	४०३
यत्र सन्ति द्रव–	पद्य	१२०	यस्तु विष्णुं	म भा	२११
यन्नामधेयं म्रियमाण	भा	८४६	यस्तूत्तमश्लोक-	भा	७६१
यन्नामधेयश्रवणा-	,,	३४९	यस्ते उल्लङ्घ्य	...	४९०, १००६
यन्नाम विवशो	,,	१५५ अनु, ४१०	यस्त्वङ्ग गायति	भा	८२५
यन्नामश्रुति-	,,	९८७	यस्माच्चरु	...	३१० अनु
यन्नाम-सकृच्छ्रवणात्	,,	४११, ७५८	यस्मादेव	गरुड़	४६२
यन्नाम-स्मरणा-	पद्म	४५२	यस्मिन्नर्हिंसो-	भा	२६६
यन्निबद्धो-	भा	१०१८	यस्मिन् न्यस्त-	वि पु	८४१
यन्नृलोक-	,,	११३	यस्मिन् म्लेच्छे-	गरुड़, वि ध	७४८, ९४७
यन्मयं वै	,,	९१७	यस्य चेतसि गोविन्दो	वि ध	८४०
यन्मया कृष्ण	स्कन्द	९५२	यस्य चेतसि सम्भवः	भा	५५३
यन्मित्रं परमा-	भा	३०६ अनु	यस्य देवे	श्वे	५ अनु, ३६, ६२५
यन्मुहूर्त्तं	वि पु	३१६	यस्य प्रसन्नो	भा	३५७
यम इति लोक-	नृसिंह	३९६	यस्य प्रसादजो	,,	१४०
यमादिभि-	भा	१९८	यस्य यत्सङ्गतिः	ह सु	७१८
यमाहाध्यात्मिकं	भा	७३	यस्य यल्लक्षणं	भा	७४०
यमेन नियमेन	,,	६७१	यस्य श्रद्दधता-	,,	७९०
ययाच आनम्य	,,	३२३	यस्य साक्षाद्भगवति	,,	६२८
ययात्मा सुप्रसीदति	,,	५८ अनु, १०	यस्य स्मृत्या	स्कन्द	३१३
यया संलभते	,,	९२	यस्य स्यान्मति-	इ समु	४०६, ९८५
यया सर्वमवा-	गरुड़	६३३	यस्यां खलु	भा	१४४
ययेदं धार्य्यते	गी	५७६, ५८९	यस्यां न मे	,,	११९



नरेन्द्र सरोवर में सपरिकर श्रीमद् भागवती कथा श्रवणरत श्रीश्रीचैतन्य महाप्रभु
प्रवक्ता—श्रीलगदाधर पण्डित गोस्वामी ।



❀ श्रीश्रीगौराङ्ग महाप्रभु ❀

श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम्

श्रील-श्रीजीवगोस्वामि-प्रभुपाद-विरचिते
श्रीभागवतसन्दर्भे

पञ्चमः

श्रीभक्तिसन्दर्भः

श्रीश्रीराधागोविन्ददेवो जयति

तौ सन्तोषयता सन्तौ श्रील–रूप-सनातनौ ।
दाक्षिणात्येन भट्टेन पुनरेतद्विविच्यते ॥१॥
तस्याद्यं ग्रन्थनालेखं क्रान्त-व्युत्क्रान्त-खण्डितम् ।
पर्य्यालोच्याथ पर्य्यायं कृत्वा लिखति जीवकः ॥२॥

"हरिता"

अमलप्रमाणात्मक श्रीमद्भागवत ग्रन्थस्थ सम्बन्धाभिधेय प्रयोजन तत्त्व प्रतिपादक षट्सन्दर्भ नामक भागवतसन्दर्भ ग्रन्थमें तत्त्व, भगवत्, परमात्म,श्रीकृष्ण,भक्ति, एवं प्रीति सन्दर्भ हैं, तन्मध्य में भक्ति सन्दर्भ, पञ्चम सन्दर्भ है ।

ग्रन्थाविर्भाव का कारण वर्णन करते हैं—श्रीवृन्दावन में नित्य विराजमान, ज्ञान वैराग्य तपस्या सम्पत्ति युक्त श्रीरूप सनातनगोस्वामिद्वय को सन्तुष्ट करने के निमित्त दक्षिणदेशोद्भव श्रीगोपाल भट्ट गोस्वामि चरण पुनर्वार ग्रन्थ का पर्य्यालोचन किये थे । इस प्रकार पूर्व संगृहीत ग्रन्थ, पर्य्याय युक्त,पर्य्याय विपर्य्यस्त, पर्य्यायांश विहीन रूप में अवस्थित रहा, उक्त विषय समूह की पर्य्यालोचना करतः जीवनामक व्यक्ति पर्य्याय क्रम से उक्त ग्रन्थ का प्रणयनकर रहा है ।

ग्रन्थ प्रणयन की प्रयोजनीयता प्रदर्शन निबन्धन प्रथम श्लोक की अवतारणा करते हैं।"तौ सन्तोषयता" रूपमें। इससे ग्रन्थ की सुप्राचीन प्रामाणिकता स्थापन पूर्वक स्वकपोल कल्पितत्व का निरास हुआ है । उक्त श्लोक में 'सन्तौ" पद का प्रयोग हुआ है । श्रीरूप सनातन, श्रीकृष्णाविर्भाव विशेष रूप श्रीगौराङ्ग महाप्रभु के एवं श्रीकृष्ण के व्रजपरिकर रूप में सतत विद्यमान हैं । श्रीभगवान् सपरिकर निज धाम में लीलारत हैं, लोक शिक्षार्थ लोक लोचन गोचरीभूत होने पर उसको प्रकट विहार कहते हैं, एवं लोक लोचन के अगोचर में विद्यमान होने पर अप्रकट लीला कहते हैं, उभय लीलामें धाम, परिकर,लीला आवेश, अभिमान एकरूप हैं । अतः अभिन्न श्रीगौरगोविन्द विग्रह होने के कारण श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु के परिकर रूप में

१। अत्र पूर्व्वं सन्दर्भचतुष्टयेन सम्बन्धो व्याख्यातः। तत्र पूर्ण-सनातन-परमानन्दलक्षण-परतत्त्वरूपं सम्बन्धि च ब्रह्म परमात्मा भगवानिति त्रिधाविर्भावतया शब्दितमिति निरूपितम्।

श्रीरूप सनातन गोस्वामी, एवं श्रीकृष्ण परिकर रूप में श्रीरूप मञ्जरी एवं श्रीलवङ्ग मञ्जरी रूप में विद्यमान हैं। प्रकट लीला में प्रकट रूपमें, एवं अप्रकट लीला में अप्रकट रूप में विराजित हैं। उक्त 'सन्तौ' पद से इस प्रकार अर्थ बोध होता है। 'श्रील' श्री–ल श्रीयुक्त अर्थमें प्रयुक्त है, 'श्री' का अर्थ लक्ष्मी, सम्पत्ति वेश विन्यास, शोभा, सरस्वती, त्रिवर्ग प्रकार, उपकरण विभूति, बुद्धि, कीर्त्ति, वृद्धि, एवं सिद्धि है। असाधारण प्रेमवान् परिकर होने के कारण उक्त 'श्रील' पद श्रीरूपसनातन की असाधारण ज्ञान, वैराग्य एवं तपस्या रूप सम्पत्ति का प्रकाशक है।

श्रीपाद मध्वाचार्य्य चरण श्रीमद्भागवततात्पर्य्यादि ग्रन्थ प्रणयन किये थे। श्रीमद् भागवत प्रमाणानुसरण से श्रीकृष्ण तत्त्व एवं श्रीव्रज भक्ति प्रतिपादन करने के निमित्त श्रीगौराङ्ग महाप्रभु से श्रीरूपसनातन आदेश प्राप्त किये थे। अतः उक्त अभीप्सित कार्य्यानुष्ठान के द्वारा श्रीरूप सनातन के सन्तोष विधान निबन्धन श्रीश्रीगौराङ्ग महाप्रभु के प्रिय पार्षद दाक्षिणात्य निवासी विप्रभट्ट वंश समुद्भूत श्रीगोपालभट्ट गोस्वामी चरण, उक्त ग्रन्थ समूह से विचार पूर्वक सार सङ्कलन किये थे।

भागवत के एकादशस्कन्ध में श्रीकृष्ण—उद्धव को कहे थे—'मद् भक्त पूजाभ्यधिका' श्रीभगवदर्च्चना से भी भगवद् भक्त की पूजा श्रेष्ठ है, तज्जन्य ही श्रीगोपालभट्ट गोस्वामी चरण श्रीरूप सनातन के सन्तोष विधान करने के निमित्त व्रती हुये थे। कारण, भक्ति, भक्त एवं श्रीभगवान् की महिमा वर्णन करने से ही वैष्णव सन्तुष्ट होते हैं, प्रस्तुत ग्रन्थमें उक्त तत्त्वत्रय की महिमावली का प्रकाशक सिद्धान्तावलीका संग्रह है।

यहाँ जिज्ञासा हो सकती है कि– पिष्ट पेषणन्यायानुसरण यहाँ क्यों हुआ है? अर्थात् श्रीगोपालभट्ट गोस्वामि पाद विरचित ग्रन्थ का पुनर्विरचन की आवश्यकता क्या रही? समाधानार्थ कहते हैं– श्रीगोपाल भट्ट गोस्वामि चरण कर्त्तृक सङ्कलित आद्य ग्रन्थ में भागवतीय सिद्धान्त समूह, स्थलविशेष में निबद्ध थे, किन्तु कहीं पर विपरीत क्रम से, कहीं पर असम्पूर्ण रूप से संगृहीत थे, अतः श्रीजीव गोस्वामि चरण उक्त सिद्धान्त समूह की सम्यक् आलोचना करतः क्रम पूर्वक लिख रखे हैं। श्रीजीव गोस्वामि चरण दैन्य से निज परिचय प्रदान 'जीवक' शब्द द्वारा किये हैं।

'जीव' शब्द के उत्तर हीनार्थ में 'कन्' प्रत्यय से 'जीवक' शब्द निष्पन्न होता है, उक्त शब्द श्रीजीव-गोस्वामि चरण का लघुत्व व्यञ्जक होने से भी अर्थान्तर द्वारा उक्त शब्द से महत्त्व का बोध भी होता है, अर्थाद् 'जीवयति सर्व जीवान् भागवत सिद्धान्त दानेनेति जीवकः" जो भागवत सिद्धान्त प्रदान कर सर्वजीव को जीवित करते रहते हैं, वह 'जीवक' है। यहाँ उत्तम पुरुष "लिखामि" का प्रयोग होना आवश्यक है, किन्तु प्रथम पुरुष 'लिखति' का प्रयोग होने से ग्रन्थकार की निरभिमानिता सूचित हुई है, कारण श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु की प्रेरणा से ही ग्रन्थ लिखन कार्य्य हो रहा है, इस को सूचित करने के निमित्त "लिखति" क्रिया का प्रयोग हुआ है। द्वितीय श्लोक में पर्य्यालोच्याथ' का प्रयोग है, उक्त 'अथ' शब्द का मङ्गल एवं आनन्तर्य्य अर्थ है, यद्यपि अथ शब्द स्वयं मङ्गल वाचक नहीं है, तथापि श्रवण कीर्त्तन से मङ्गल विहित होता है। जिस प्रकार यात्रा कालीन पूर्णकुम्भ स्वयं मङ्गल स्वरूप न होने पर भी आनुषङ्गिक रूप से मङ्गल विहित होता है, तद्रूप "अथ" शब्द सम्बन्ध में भी जानना होगा। आनन्तर्य्य अर्थ विशिष्ट 'अथ' शब्द का श्रवण कीर्त्तन द्वारा मङ्गल विधानार्थ प्रस्तुत स्थल में प्रयोग हुआ है। वस्तुतः सम्बन्ध तत्त्व प्रतिपादन के अनन्तर क्रम प्राप्त रूपमें अभिधेय तत्त्व का प्रतिपादन अवश्य कर्त्तव्य है, तज्जन्य 'अथ' शब्द का प्रयोग हुआ है ॥१–२॥

अभिधेय तत्त्व प्रतिपादक भक्ति सन्दर्भ नामक पञ्चमसन्दर्भ के पूर्व में तत्त्व, भगवत्, परमात्म, एवं

तत्र च भगवत्त्वेनैवाविर्भावस्य परमोत्कर्षः प्रतिपादितः। प्रसङ्गेन विष्ण्वाद्याश्चतुःसनाद्याश्च तदवतारा दर्शिताः। स च भगवान् स्वयं श्रीकृष्ण एवेति निर्द्धारितम्। परमात्मवैभवगणने च तत्तटस्थशक्तिरूपाणां चिदेकरसानामप्यनादि-परतत्त्व-ज्ञानसंसर्ग भावमय-तद्वैमुख्य-

श्रीकृष्ण सन्दर्भ में सम्बन्ध तत्त्व का वर्णन हुआ है। शास्त्र एवं शास्त्र प्रतिपाद्य वस्तु के सहित प्रतिपाद्य प्रतिपादक भावरूप सम्बन्ध को ही मूलस्थ 'सम्बन्ध' शब्द से व्यक्त किया गया है। समस्त शास्त्र जिस वस्तु का प्रतिपादन करने के निमित्त प्रवृत्त हुये हैं, वह वस्तु ही शास्त्र प्रतिपाद्य है, उसका प्रतिपादन करने के निमित्त शास्त्र समूह को प्रतिपादक कहते हैं।

किस वस्तु का सुनिश्चित विचार के द्वारा स्थापन करने के निमित्त निखिल शास्त्रों की प्रवृति है, इसकी समीक्षा करने से बोध होता है कि–निखिल शास्त्र का एकमात्र उद्देश्य ही है, मानव को देहातिरिक्त परमात्म वस्तुका संवाद प्रदान करना। निखिल शास्त्र प्रतिपाद्य वस्तुमें वाच्यगत भेद विद्यमान होने परभी उद्देश्यगत भेद नहीं है, उक्तपूर्ण सनातन परमानन्द स्वरूप वस्तु ही मूर्त्त एवं अमूर्त्त भेद से द्विधा आविर्भूत होते हैं तन्मध्य में अमूर्त्त आनन्द ब्रह्म संज्ञा से अभिहित होते हैं, एवं मूर्त्त आनन्द—पूर्ण अभिव्यक्ति विशेष से 'भगवान्' शब्द से, एवं किञ्चित् अभिव्यक्ति विशेष से 'परमात्मा' संज्ञा से अभिहित होते हैं, इस का विशेष विचार, तत्त्व, भगवत् परमात्म, एवं कृष्ण सन्दर्भात्मक सन्दर्भ चतुष्टय में हुआ है, उक्त सम्बन्ध तत्त्व निर्णय प्रसङ्ग में कहा गया है—एक ही पूर्ण सनातन परमानन्द स्वरूप परतत्त्व, साधक की साधन शक्ति के तारतम्य से ब्रह्म, परमात्मा, भगवान्, तीन प्रकारसे आभिर्भूत होते हैं। निखिल शास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य सम्बन्ध, अद्वय परमानन्द वस्तुमें होने के कारण, उक्त परतत्त्व ही सम्बन्धी हैं, एवं ब्रह्म, परमात्मा भगवान्, प्रकारत्रय, उक्त अद्वयज्ञान लक्षण परतत्त्व का आविर्भाव विशेष हैं।

उक्त परतत्व लक्षण ब्रह्म, परमात्मा, भगवान्—त्रिविध आविर्भाव के मध्य में भी भगवद् रूप में आविर्भाव का ही परमोत्कर्ष प्रतिपादित हुआ है, उक्त भगवान् की स्वयं भगवत्ता साक्षात् श्रीकृष्ण में ही निर्द्धारित हुई है। प्रसङ्ग क्रम से स्वांश विष्णु प्रभृति नैमित्तिक अवतार, तदेकात्म तत्व एवं चतुः सनादि आवेशावतार का प्रदर्शन भी हुआ है।

परमात्मा की विभूति के गणन प्रसङ्ग में जीव समूह की गणना तटस्थ शक्तिके मध्यमें हुई है। कारण जीव स्वरूपतः चेतन होने पर भी अभिमान ग्रस्त होकर अपने को त्रिगुणमय मान लेता है, उक्त जीव समूह, जड़ांश रहित शुद्ध चैतन्य स्वरूप होने से भी उस को संसार दुःख की वार्त्ता सूचित की गई है।

उक्त संसार दुःख का मूल कारण ही माया द्वारा स्वरूप ज्ञानावृत होना है, एवं उक्त माया के द्वारा ही सत्त्व, रजः तमोगुणमय मायाकार्य्य देहादि में 'मैं' यह भावना उपस्थित होती है। अर्थात् चैतन्य स्वरूप विस्मृत होने से ही जड़ीय देहादि में जीवका आत्माभिमान होता है, तज्जन्य ही संसरण दुःख भोग होता है।

जड़ीय वस्तु में मानस सम्बन्ध स्थापन को ही संसार कहते हैं। एवं उक्त जड़ीय सम्बन्ध ही निखिल दुःख का कारण है।

परम करुण ईश्वर की शक्ति माया, क्रूरा नहीं है, अतः अकारण दुःख प्रदान हेतु माया जीव का स्वरूपावरण नहीं करती है। किन्तु जीव निज स्वैरिता के कारण परम प्रिय श्रीप्रभु को भूल जाता है, उक्त दोष से माया शिक्षा प्रदानार्थ जीव स्वरूप को आवृत करती है।

यहाँ संशय हो सकता कि,—विस्मृति के पहले श्रीभगवत् स्मृति की अपेक्षा है, अन्यथा विस्मृति नहीं होती है, पुनर्वार विस्मृति की निवृत्ति होनेपर स्मृति अवस्था में पुनर्वार विस्मृति की आशङ्का होगी, इससे

लब्धच्छिद्रया तन्मायायावृतस्वस्वरूपज्ञानानां तयैव सत्त्वरजस्तमोमये जड़े प्रधाने रचितात्म-भावानां जीवानां संसारदुःखञ्च ज्ञापितम् यथोक्तमेकादशे श्रीभगवता (भा० ११।२२।३४)

अनवस्था दोष तो होगा ही, अपरन्तु उपदेश की प्रयोजनीयता भी नहीं रहेगी।

इस प्रकार संशय अपनोदन करने के निमित्त कहते हैं—जीव स्वभावतः ही द्विविध हैं, अनादि काल से ही कतिपय जीव ईश्वरेच्छा से भगवत् तत्त्वविस्मृत होकर रहते हैं, उक्त स्वभावाक्रान्त जीव समूह को नित्यबद्ध कहा जाता है। एवं कतिपय जीव अनादि काल से ही श्रीभगवदुन्मुख होकर रहते हैं, अर्थात् कभी भी भगवद् विस्मृति उन सब को नहीं होती है, उक्त समुदाय को नित्य मुक्त कहते हैं।

उक्त प्रकार द्वय की वार्त्ता भा० ३।७।३७ के श्रीविदुर मैत्रेय संवाद में हैं—

"तत्त्वानां भगवंस्तेषां कतिधा प्रति संक्रमः।
तत्रेमं क उपासीरन् क उ स्विदनुशेरते॥"

टीका—प्रति संक्रमः—प्रलयः। तत्र प्रलये, इमं परमेश्वरं शयानं राजानमिव चामर ग्राहिणः केवा तमनुशेरते शयानमनुस्वपन्ति, भगवन्! तत्त्व समूह का प्रलय में विलय किस प्रकार होता है, एवं परमेश्वर की उपासना में रत कौन रहता है, एवं परमेश्वर विश्राम करने पर कौन शयन करता है?

टीका—प्रति संक्रम का अर्थ प्रलय है, उस प्रलय के समय, स्रष्टा परमेश्वर शयन करने पर राजा के समान व्यजन हस्त में लेकर कौन उनकी सेवा करता है, एवं शयन के पश्चात् कौन शयन करता है?

क्रमसन्दर्भ—तत्त्वानामिति। तत्र तेषु प्राकृत पर्य्यन्तेषु प्रलयेषु, अनेन पार्षदानां नित्यत्वमभिप्रेतम्, तदुक्तं काशीखण्डे—

"न च्यवन्तेहि यद् भक्ता महत्यां प्रलयापदि।
अतोऽच्युतोऽखिले लोके स एकः सर्वगोऽव्ययः॥"

इति—अनुशेरते—लीनास्तिष्ठति॥ प्राकृत पर्य्यन्त प्रलयों में सेवानिष्ठ होकर कौन रहता है, एवं कौन लीन होकर रहता है? इस संवाद से प्रतीत होता है कि श्रीहरि के पार्षद वर्ग नित्य शरीर धारी हैं, काशी खण्ड में लिखित है—महत् विपत्ति रूप प्रलय में जिनके भक्तगण की विच्युति नहीं होती है, अतः वह अखिल लोक में अच्युत, व्यापक, एवं अव्यय नाम से अभिहित हैं। अनुशेरते शब्द का अर्थ लीन होकर अवस्थान करना है।

उक्त प्रश्न के द्वारा जीव के द्विविध संस्थान की वार्त्ता सुव्यक्त हुई है। उक्त भगवत् विस्मृति का स्वरूप को कहते हैं—"परतत्त्व ज्ञान--संसर्गाभावमय" परतत्त्व ज्ञान का अर्थात् अनुभव का संसर्गाभावरूप वैमुख्य है। अभाव प्रथमतः द्विविध है। प्रथम—अन्योऽन्याभाव, द्वितीय संसर्गाभाव, तन्मध्ये संसर्गाभाव-प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव भेद से त्रिविध हैं, अर्थात् वस्तु उत्पन्न होने के पूर्व में जिस का अभाव परि लक्षित होता है, वह प्रागभाव है, वस्तु उत्पन्न के पश्चात् मुद्गर प्रहारादि से जो अभाव अनुभूत होता है, वह ध्वंसाभाव है, एवं सर्वत्र जिसका अभाव परिलक्षित होता है, वह अत्यन्ताभाव है।

जीव में भगवदनुभवाभाव, प्रागभाव के मध्य में परिगणित है, अर्थात् जो अभाव प्रथम था, पश्चात् विनष्ट होने की सम्भावना है, उसको प्रागभाव कहते हैं। अर्थात् जीव का प्रथम भगवदनुभव का अभाव था, सत्सङ्ग से उक्त भगवदनुभवाभाव विदूरित होने पर जीव के हृदय में भगवदनुभव का उद्बोधन हो सकता है। इससे ही शास्त्रारम्भ सफल होता है।

"आत्मापरिज्ञानमयो विवादो, ह्यस्तीति नास्तीति भिदार्थनिष्ठः ।
व्यर्थोऽपि नैवोपरमेत पुंसां, मत्तः परावृत्तधियां स्वलोकात् ॥" ३ ॥ इति ।

ततस्तदर्थं परमकारुणिकं शास्त्रमुपदिशति । तत्र च ये केचित् जीवा जन्मान्तरावृत्त-तदर्थानुभव-संस्कारवन्तः, ये च तदैव वा लब्धमहत्कृपातिशयदृष्टिप्रभृतयस्तेषां तादृशपरतत्त्व-लक्षण-सिद्ध-वस्तूपदेश-श्रवणारम्भमात्रेणैव तत्कालमेव युगपदेव तत्साम्मुख्यं तदनुभवोऽपि जायते, यथोक्तम् (भा० १।१।२)— "किंवा परैरीश्वरः,सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभि-स्तत्क्षणात्" इति । तत स्तेषां नोपदेशान्तरापेक्षा, यादृच्छिकमुपदेशान्तरश्रवणं तु तल्लीलादि श्रवणवत्तदीयरसस्यैवोद्दीपकम्,-यथा श्रीप्रह्लादादीनाम् । अथान्येषां तच्छ्रवणमात्रेण तादृशत्वं जीवायमानमपि कामादि-वैगुण्येन वीजमपि दोषेण प्रतिहतं तिष्ठति, (भा० ७।९।३९)—

" नैतन्मनस्तव कथासु विकुण्ठनाथ, संप्रीयते दुरितदुष्टमसाधु तीव्रम् ।
कामातुरं हरषशोकभयैषणार्त्तं, तस्मिन् कथं तव गतिं विमृशामि दीनः ॥"४॥

"आत्मापरिज्ञानमयो विवादो, ह्यस्तीति नास्तीति भिदार्थनिष्ठः ।
व्यर्थोऽपि नैवोपरमेत पुंसां, मत्तः परावृत्तधियां स्वलोकात् ॥३॥

भा० ११।२२।३४ की टीका—'न कुतो निवर्त्तते, आत्माज्ञान विलसितत्वात् तज्ज्ञानेनेत्याशयेनाह-आत्मापरिज्ञानमय इति ! ननु कथं मोहमयत्वं विकल्पस्य अहङ्कारस्य वा कैश्चित् सत्यत्वाङ्गीकारात्, तत्राह विवाद इति। अथ भिदार्थ निष्ठाविवादोऽपि आत्मापरिज्ञानमय इत्यन्वयः। यद्वा विवादः सर्वोऽपि भिदार्थं निष्ठ एव नतु वस्तुमात्रनिष्ठः, अतः परस्परं युक्तिभिरेव भेदस्य निराकृतत्वान्मोहमयत्वं सिद्ध मिति । ननु यद्यहङ्कारो विकल्पश्च नास्ति अलं तर्हि तन्निवृत्तिप्रयासेन तत्राह व्यर्थोऽपि अर्थरहितोऽपि स्वरूप भूतात् मत्तो वहिर्मुखानां नैवोपरमेत् प्रत्युत तत् कृतैः कर्मभिरुच्चनीच देहेषु ते संसरन्तीति ॥

क्रमसन्दर्भ—"एवं यथा मण्डलात्मार्कः स्वतः सिध्यति, तथात्मापीत्याह,— यद्यतः, पूर्वोक्त-दृष्टान्त हेतोरात्मैषा मध्यात्मादीनां योऽपर आद्यस्तेषामाश्रयः, सोऽपि स्वतः सिध्यति, किन्तु स्वयानुभूत्येति चिद् रूपत्वाद् विशेषः न केवलमेतावदपि त्वखिलानां परस्पर प्रकाशसिद्धानां सिद्धि र्यस्मात्तथाभूतः सन्निति ॥

श्रीमद् भागवत के ११।२२।३४ श्लोक में श्रीभगवान् उद्धव को कहे हैं, हे उद्धव ! जब तक भगवद् विस्मृति की निवृत्ति नहीं होती है, तब तक सात्त्विक, राजसिक एवं तामसिक अहङ्कार निवृत्ति की सम्भावना नहीं है, कारण, जीव मात्र का परमाश्रय मैं हूँ, मुझ से जीवों में मत् सम्बन्धि विमुखता दोष होता है, उस से जीव का सच्चिदानन्द रूप निज स्वरूप की स्फूर्त्ति नहीं होती है । अतः देहातिरिक्त आत्मा है, निज मत में एवं देहातिरिक्त आत्मा का अस्तित्व नहीं है, परमत में, भेद र्थ निष्ठ विवाद— यद्यपि अर्थ शून्य है, अर्थात् वह परमार्थ रहित है, तथापि जब तक मुझ ईश्वर में वहिर्मुखता रहेगी, तब तक उसकी निवृत्ति किसी प्रकार से नहीं होगी, उससे पारमार्थिक ज्ञान का उदय भी नहीं होगा, किन्तु जिस समय जीव मेरी प्रेरणा को अनुभव कर मेरे स्वरूप के और उन्मुखभाव को प्राप्त करेगा, उस समय आनुसङ्गिक रूप में पारमार्थिक ज्ञान का भी उदय होगा । कारण— परमपुरुषार्थ स्वरूप मुझ को प्राप्त करना ही परम नित्य है । इस से निर्णीत हुआ कि—जीव स्वरूप का माया कर्त्तृक आवरण का मुख्य कारण ही भगवद् वैमुख्य है । अतएव भगवदुन्मुखता हो, तज्जन्य परमकारुणिक शास्त्र भूयोभूयः उपदेश प्रदान करते रहते हैं।

इति दीनम्मन्य-श्रीमत्प्रह्लादवचनानुसारेणान्येषामेव तत्प्राप्तेः । एवमेवोक्तं ब्रह्मवैवर्त्ते—

उक्त शास्त्रीय उपदेश प्राप्त करके भी जो सब जीव जन्मान्तरीय निखिल शास्त्र प्रतिपाद्य श्रीभगवदनुभव संस्कार विशिष्ट हैं, एवं जो सब जीव, इस जन्म में ही महापुरुष के सङ्ग से अतिशय कृपा-दृष्टि प्रभृति प्राप्त किये हैं, इन दोनों प्रकार जीव के हृदय में शास्त्र उपदेश श्रवणारम्भ मात्र से श्रवण समकाल में ही परमानन्द लक्षण परतत्त्व वस्तु, भगवत् साम्मुख्य एवं भगवदनुभव प्रकाशित होते हैं। जैसा कि श्रीमद् भागवत के १।१ में उक्त है—

"धर्मः प्रोज्झित कैतवोऽत्र परमो निर्म्मत्सराणां सतां
वेद्यं वास्तवमत्रवस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम् ।
श्रीमद् भागवते महामुनि कृते किं वा परैरीश्वरः,
सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात् ॥"

टीका—'इदानीं श्रोतृप्रवर्त्तनाय श्रीभागवस्य काण्डत्रय विषयेभ्यः सर्वशास्त्रेभ्यः श्रैष्ठ्यं दर्शयति-धर्म इति अत्र—श्रीमति सुन्दरे भागवते परमो धर्मो निरूप्यते— इति । परमत्वे हेतुः,— प्रकर्षेण उज्झितं कैतवं फलाभिसन्धि लक्षणं कपटं यस्मिन् सः । प्र—शब्देन, मोक्षाभिसन्धिरपि निरस्तः । केवलमीश्वराराधनलक्षणो धर्मोनिरूप्यते इति । अधिकारितोऽपि धर्मस्य परमत्वमाह, निर्म्मत्सराणां परोत्कर्षासहनं मत्सरः, तद्रहितानां, सतां—भूतानुकम्पिनाम् । एकं कर्मकाण्ड विषयेभ्यः शास्त्रेभ्यः श्रेष्ठ्यमुक्तम् । ज्ञानकाण्ड विषयेभ्योऽपि श्रैष्ठ्यमाह—वेद्यमिति । वास्तवं--परमार्थभूतं वस्तु वेद्यं, नतु वैशेषिकानामिव द्रव्यगुणादिकम् यद्वा—वास्तवशब्देन, वस्तुनोंऽशो जीवः, वस्तुनः शक्ति माया च, वस्तुनः कार्य्यं जगच्च, तत् सर्वं वस्त्वेव, न ततो पृथगिति, वेद्यम्—अयत्नेनैव ज्ञातुं शक्यमित्यर्थः,ततः किमतः आह— शिवदं—परम सुखदम् । किञ्च-आध्यात्मिकादि तापत्रयोन्मूलनञ्च, । अनेन ज्ञानकाण्डविषयेभ्यः श्रैष्ठ्यं दर्शितम् । कर्त्तृतोऽपि श्रैष्ठ्यमाह महामुनिः श्रीनारायणः, तेन प्रथमं संक्षेपतः कृते । देवताकाण्ड विषयेभ्योऽपि श्रैष्ठ्यमाह— किं वेति । परैः शास्त्रैः,तदुक्त साधनैर्वा ईश्वरो हृदि किं वा सद्य एव अवरुध्यते स्थिरीक्रियते । वा शब्दः—कटाक्षे । किन्तु विलम्बेन कथञ्चिदेव, अत्रतु शुश्रूषुभिः—श्रोतुमिच्छद्भिरेव तत् क्षणादेवावरुध्यते । ननु इदमेव तर्हि किमिति सर्वे न शृण्वन्ति ? तदाह--कृतिभिरिति, श्रवणेच्छा तु पुण्यैर्विना नोत्पद्यत इत्यर्थः । तस्मादत्र काण्ड त्रयार्थस्यापि यथावत् प्रतिपादनादिदमेव सर्वशास्त्रेभ्यः श्रेष्ठम् । अतो नित्यमेव श्रोतव्यमिति भावः ।

ज्ञानयोग निष्कामकर्म प्रभृति अन्यसाधन—एवं अन्य शास्त्र के द्वारा क्या श्रीहरि, सद्यः--साधन समकाल में अथवा शास्त्र श्रवण समकालमें ही परमेश्वर साधक हृदय में अवरुद्ध होते हैं ? अर्थात् अनुभूति गोचर में अवरुद्ध होते हैं ? किन्तु श्रीमद्भागवत में ऐसी अचिन्त्य शक्ति विशेष है कि--प्राप्त सत्सङ्ग अथवा प्राप्त महत् कृपातिशय दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति की यदि श्रीमद्भागवत श्रवणेच्छा होती है तो, श्रवण करने के साथ ही श्रीभगवान् हृदय में आविर्भूत होते हैं, इस श्लोकमें कृतिभिः पद का प्रयोग है, इससे जन्मान्तरीय अथवा वर्त्तमान जन्म में प्राप्त सत्सङ्ग एवं प्राप्त महत् कृपातिशय रूप भाग्यवान् जीव को सूचित किया गया है । 'सद्यः' पद प्रयोग के द्वारा--श्रवण समकाल, सूचित हुआ है । "अवरुध्यते" पद के द्वारा भगवद् अनुभूति लक्षित हुई है । अतः निज सिद्धान्त का पोषक रूप में ही प्रस्तुत श्लोक का उल्लेख हुआ है। अतएव जिन्होंने सत् सङ्गलाभ किया है, उनको अन्योपदेश की अपेक्षा नहीं है । यदृच्छाक्रम से उपदेशान्तर श्रवण--अर्थात् 'भगवदुन्मुख हो जाओ, भगवान् को मत भूलो' इस प्रकार उपदेश भी उनके पक्ष में भगवत् लीला कथा श्रवण के समान ही है । उस से श्रीभगवत् स्वरूपास्वादन ही उद्दीप्त होता है, अर्थात् जिस प्रकार भक्तगण के हृदय में निरन्तर भगवत् नाम गुण लीला प्रभृति की अनवरत स्फूर्त्ति होने पर भी जिस

"यावत् पापैस्तु मलिनं हृदयं तावदेव हि । न शास्त्रे सत्यबुद्धिः स्यात् सद्बुद्धिः सद्गुरौ तथा ॥५॥
अनेकजन्मजनित-पुण्यराशिफलं महत् । सत्सङ्ग-शास्त्रश्रवणादेव प्रेमादि जायते ॥" ६॥ इति ।

ततो मुख्येन तात्पर्य्येण परतत्त्वे पर्य्यवसितेऽपि तेषां परतत्त्वाद्युपदेशस्य किमभिधेयं प्रयोजनञ्चेत्यपेक्षायां तदवान्तरतात्पर्य्येण तद्द्वयमुपदेष्टव्यम् । तत्राभिधेयं तद्वैमुख्य—

समय श्रीभगवान् की लीला कथा का श्रवण भक्त गण करते हैं, उस समय आस्वादन का अभिनवत्व का प्रकाश भक्त हृदय में होता रहता है ।

श्रीप्रह्लाद प्रभृति भक्त वृन्द के सम्बन्ध में श्रीमद् भागवत के सप्तम स्कन्ध में उक्त आस्वादन का अभिनवत्व वर्णित है । अर्थात् वे सब दत्तात्रेय अवधूत महाशय के मुख से अनेक उपदेश श्रवण कर परस्पर एक अभिनव आनन्दास्वादन रस में निमज्जित हुये थे । अनन्तर जिन्होंने तादृश सत्सङ्ग अथवा महत् कृपा प्राप्त नहीं किया है, एवम्भूत जीवगण के पक्ष में श्रीमद् भागवतादि शास्त्र श्रवणमात्र से 'तादृशत्व'— अर्थात् श्रीभगवत् साम्मुख्य की एवं भगवदनुभव की उपयोगिता 'वीजायमान' होने पर भी अर्थात् अङ्कुरोत्पादन सामर्थ्य युक्त होने पर भी 'कामादि वैगुण्यवशतः' अथवा कालादि दोष वशतः अर्थात् काल, कर्म मायादि दोष विद्यमान निबन्धन, वहिर्मुखता के समान ही प्रतिहत होकर रहती है, अर्थात् श्रीभगवद् गुणानुवाद श्रवण समकाल में भगवत् साम्मुख्य एवं भगवदनुभवोद्गम नहीं होता है ।

उक्त अभिप्राय को सुव्यक्त करने के निमित्त श्रीप्रह्लाद महाशय ने भा० ७।९।३९ में इस प्रकार कहा है—

"नैतन्मनस्तव कथासु विकुण्ठनाथ, संप्रीयते दुरितदुष्टमसाधु तीव्रम् ।
कामातुरं हरषशोकभयैषणार्त्तं, तस्मिन् कथं तव गतिं विमृशामि दीनः ॥"(४)

टीका—'तदेवं भगवत्तत्त्वं निरूप्य स्वस्य च तद्विचारायोग्यतां निवेदयन् प्रार्थयते नैतदिति त्रिभिः । असाधु— वहिर्मुखम्, तीव्रं— दुर्द्धर्षम्, हर्षशोक भयैरेषणात्रयेण चार्त्तं—दुःखितमपि, त्वत् कथासु न सम्प्रीयते, तस्मिन्नेवम्भूते मनसि सति कथं तव तत्त्वं विचारयामि ।'

क्रमसन्दर्भ—तदेवं तत् कथामनुद्य पूर्वं पूर्वं जन्मस्वभाव मनुस्मृत्य तच्च दैन्येनास्मिन् जन्मन्यारोप्य तस्यामप्यति तृष्णया तामसेवमानमिव मत्वा स्व—मनस्तिरस्करोति नैतन्मन इति ॥"

हे भगवन् ! तुम्हारा तत्त्व अति दुर्गम है, मेरा यह मनः तुम्हारे तत्त्व निरूपण करने में सर्वथा अक्षम है । कारण, मेरा मनः असाधु है अर्थात् तुम्हारे अनुभवमें वहिर्मुख है । अथच तीव्र— दुर्द्धर्ष है, किसी प्रकार उस को संयत कर नहीं सकता हूँ । एवं हर्ष, शोक, एवं वासना के द्वारा अभिभूत होकर अतिशय दुःख भोग रहा है, एतादृश अपराध दुष्ट मन के द्वारा मैं कैसे तुम्हारे तत्त्व विचार कर सकूँगा ? कारण, मैं अति दीन हूँ, एवं सर्व साधन-सम्पत्ति शून्य भी हूँ ।

श्रीप्रह्लाद की उक्ति यद्यपि दैन्य सञ्चारी भावोत्थित है तथापि अन्य भगवद् वहिर्मुख जीवके पक्षमें यह अतिसत्य विवरण है ।

उस प्रकार वर्णन ही ब्रह्मवैवर्त्त पुराण में है—

'यावत् पापैस्तु मलिनं हृदयं तावदेवहि ।
न शास्त्रे सत्यबुद्धिः स्यात् सद्बुद्धिः सद्गुरौ तथा ॥५॥
अनेकजन्मजनित-पुण्यराशिफलं महत् ।
सत्सङ्ग-शास्त्रश्रवणादेव प्रेमादि जायते ॥"६॥ इति ।

जब तक भूरि भूरि पापों से हृदय मलिन रहता है, तब तक शास्त्र में सत्य बुद्धि नहीं होती है, एवं

विरोधित्वात्तत्-साम्मुख्यमेव, तच्च तदुपासनलक्षणम्, यत एव तज् ज्ञानमाविर्भवति । प्रयोजनञ्च तदनुभवः, स चान्तर्बहिः-साक्षात्कारलक्षणः, यत एव स्वयं कृत्स्न दुःखनिवृत्तिर्भवति । तदेतदुभयं यद्यपि पूर्व्वत्र सिद्धोपदेश एवाभिप्रेतमस्ति, यथा तव गृहे निधिरस्तीति श्रुत्वा

सद् गुरु में भी सद् बुद्धि का उदय नहीं होता है। अनेक जन्म जनित राशि राशि सञ्चित पुण्य फल से, महत् फलस्वरूप, भगवत प्रेम, भगवदनुभव, एवं विषय वैराग्य का उदय,—सत्सङ्ग जनित श स्त्र श्रवण से होता है।

अतएव निखिल शास्त्रों का अभिधेय, अर्थात् कर्त्तव्यता, एवं प्रयोजन क्या है? इस प्रकार प्रश्न की अपेक्षा में शास्त्रीय उपदेश के अवान्तर तात्पर्य्य में 'अभिधेय' एवं 'प्रयोजन' रूप तत्त्वद्वय का उपदेश करना अवश्य कर्त्तव्य है। अर्थात् शास्त्र समूह में जो कुछ उपदेश लिखित है, उक्त उपदेशसमूह का मुख्य तात्पर्य्य है—परमानन्द स्वरूप—श्रीभगवान् का परिचय प्रदान करना। किन्तु केवल मात्र परमानन्दस्वरूप श्रीभगवान् का परिचय प्रदान करने से ही जीव कृतार्थ हो नहीं सकता है, किन्तु उनको प्राप्त करने का साधनोपदेश करना परम आवश्यक है।

जिस प्रकार उत्तराधिकारी सूत्र से प्राप्त धन का संवाद प्राप्त करने से ही धन की प्राप्ति नहीं होती है, किन्तु प्राप्त करने के निमित्त साधन विषयिणी बलवती आकाक्षा जगती है। अतएव संवाद दाता कृपालु व्यक्ति के पक्ष में अवश्य कर्त्तव्य उपस्थित होता है कि—यह प्रयोजन एवं उपाय का उपदेश प्रदान करे। उस से वह व्यक्ति धन प्राप्त कर सुखी होगा। उस प्रकार ही परम कारुणिक शास्त्र, परम आनन्द मय श्रीभगवान् का संवाद करते रहते हैं, अतएव उसके साथ ही भगवत् प्राप्तिका प्रयोजन एवं साधन का संवाद प्रदान करना भी परम आवश्यक है।

तन्मध्य में भगवत् साम्मुख्य ही अभिधेय है—अर्थात् कर्त्तव्य है, कारण, भगवद् वैमुख्य निबन्धन ही जीवों का अनन्त संसार दुःख उपस्थित हुआ है। अतएव भगवत् साम्मुख्य के बिना, भगवत् शक्ति रूपा वहिरङ्गामाया के द्वारा जीव स्वरूपावरण जनित संसार दुःख निवृत्ति का अपर कोई उपाय नहीं है, भगवदनुभव ही मुख्य प्रयोजन तत्त्व है, उक्त अनुभव भी अन्तर एवं बाहर में श्रीभगवान् का साक्षात् कार करना है, अर्थात् नयन मुद्रित करके हृदय में परमानन्दमय श्रीभगवान् को देखना, एवं नयन उन्मीलित करके स्थावर जङ्गम में, चेतन, अचेतन में श्रीभगवान् को देखना है। अन्तरमें एवं बाहर में श्रीभगवत् साक्षात् कार होने से ही स्वतः ही सर्व प्रकार दुःख की निवृत्ति होती है।

उक्त अभिधेय एवं प्रयोजन वस्तु का परिगणन यद्यपि सिद्ध वस्तु के उपदेश के मध्य में हुआ है, सन्दर्भ चतुष्टय में इसका विशेष विश्लेषण हुआ है, तथापि "तुम्हारे भवन में निधि है" इस प्रकार उपदेश श्रवणानन्तर जिस प्रकार दरिद्र व्यक्ति उक्त निधि प्राप्त करने के निमित्त यत्नवान् होता है, एवं निधि को प्राप्त कर लेता है। इस स्थल में भी उस प्रकार ही समझना होगा। उक्त कथन का तात्पर्य्य यह है कि-अभिधेय एवं प्रयोजन—एतद् उभय ही नित्य वस्तु है, कारण, यदि वे यदि वे नित्यसिद्ध वस्तु नहीं होते तो, भक्ति-एवं भगवदनुभव में जन्यत्व दोष की प्रसक्ति होगी। जिस प्रकार किसी के कण्ठ देश में हार है, किन्तु हार धारण व्यक्ति की उस विषय में अनवधान वशतः विस्मृति हो गई है, किन्तु किसी के उपदेश से स्मृति होने पर कण्ठ देशमें ही वह व्यक्ति हार को प्राप्त करता है,यहाँपर भी उसप्रकार ही जानना होगा।

देहावेशजनित शास्त्रोपदिष्ट विषय में शैथिल्य निवृत्ति करना ही शास्त्रोपदेश का एक मात्र उद्देश्य है। अतएव शास्त्र उक्त प्रकार से श्रीभगवद्विमुख जीवगण के प्रति अनादि सिद्ध भगवदनुभवात्मक ज्ञान का संसर्गाभाव स्वरूप, (प्रागभाव स्वरूप) भगवद् वैमुख्य मूलक दुःख के हेतु को कहते कहते व्याधि की

कश्चिद्दरिद्रस्तदर्थं प्रयतते लभते च तमिति, तद्वत्, तथापि तच्छैथिल्यनिरासाय पुनस्तद्रूपांशः तदेवं तान् प्रत्यनादिसिद्धतज्ज्ञानसंसर्गाभावमय-तद्वैमुख्यादिकं दुःखहेतुं वदन् व्याधिनिदान-वैपरीत्यमय-चिकित्सानिभं तत्साम्मुख्यमुपदिशति, (भा० ११।२।३७)—

(१) "भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्या, दीशादपेतस्य विपर्य्ययोऽस्मृतिः।
तन्माययातो बुध आभजेत्तं, भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा ॥"७"

टीका च—"यतो भयं तन्मायया भवेदतो बुधो बुद्धिमान् तमेवाभजेदुपासीत। ननु भयं देहाद्यभिनिवेशतो भवति, स च देहाद्यहङ्कारतः स च स्वरूपास्फुरणात, किमत्र तस्य माया

निदानवैपरीत्यमय चिकित्सा के समान, भगवत् साम्मुख्य प्रभृति का उपदेश करते हैं, अर्थात् अभिज्ञ दयालु चिकित्सक के समान परम कारुणिक शास्त्र भी निखिल दुःख का निदान रूप भगवद्वैमुख्य का संवाद को सूचित कर अर्थात् "तुम भगवान् को भूल गये हो, अतः इतनी दुःख राशि उपस्थित हुई हैं, भगवद् वैमुख्य का विपरीत भगवत् साम्मुख्य के विना इस दुःख राशिनिवृत्ति होने का अपर कोई उपाय नहीं हैं, इस प्रकार उपदेश करते रहते हैं। भा० ११।२।३७ में वर्णित है—

"भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्या-, दीशादपेतस्य विपर्य्ययोऽस्मृतिः।
तन्माययातो बुध आभजेत्तं, भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा ॥" ७॥

क्रमसन्दर्भ—मन्येऽकुतश्चित् इत्येव स्थापयन् क्रमेण तत्रैव निष्ठापयति—भयमिति। यतो भयं तन्मायया भवेदतो बुधो बुद्धिमान् तमेवाभजेत्। प्रथमतः 'कायेन' इत्य द्युक्त प्रकारेणेषदपि भजेत्, प्रथमतः 'कायेन' इत्याद्युक्त प्रकारेणेषदपि भजेत्, ततो गुरुदेवतात्मा सत् भक्त्या साक्षात् भगवद् धर्म रूपया, ततः एकया—अनन्याव्यभिचारिण्या, नित्यं पाद म्बुजोपासन रूपयेति विशेषतोऽर्थः ॥

ईश्वर की मायाके द्वारा ही जब भय -शरीर में अध्यास जनित पुनः पुनः शरीर ग्रहण, होता है, अतः बुद्धिमान् व्यक्ति के पक्ष में ईश्वर का भजन करना आवश्यक है। प्रथम–कर्म समर्पण द्वारा ईषत् भजन, अनन्तर गुरुदेवतात्मा होकर साक्षात् भगवद् धर्म रूपा भक्ति के द्वारा भजन करना चाहिये, अनन्तर अनन्य, अव्यभिचारिणी भक्ति के द्वारा श्रीकृष्ण की परिचर्य्या करना विधेय है।

स्वामिपाद कृत टीका का अभिप्राय यह है---

निमि महाराज को प्रथम योगीन्द्र कवि ने कहा--राजन्! जबतक जीव की भगवद् भक्ति में दृढ़ श्रद्धा का उदय नहीं होता है, तब तक काय, वाक्य मन के द्वारा कृत एवं क्रियमाण, लौकिक वैदिक समस्त कर्म श्री भगवान् को समर्पण करे। इस में संशय हो सकता है कि--जीव का निज स्वरूप अस्फूर्त्ति के कारण द्वैतप्रपञ्च उपस्थित हुआ है। तज्जन्य भय, शोक, दुःख प्रभृति विविध अनर्थ होते रहते हैं। जिस प्रकार रज्जु स्वरूप की अस्फूर्त्ति हेतु सर्प भ्रान्ति होती है, रज्जु स्वरूप ज्ञानोदय होने पर सर्प भ्रान्ति विदूरित होकर भय की निवृत्ति होती है, उस प्रकार ही जीव की निज स्वरूप ज्ञान विस्मृति होने के कारण शरीर में आत्म बुद्धि होती है, एवं आत्मा में देह बुद्धि होती है। उससे देहादि में अभिनिवेश उत्पन्न हुआ है, उक्त अभिनिवेशजन्य भयादि उत्पन्न हो रहे हैं। अतएव ईश्वर की माया का कर्त्तृत्व इस में क्या है, जिस से ईश्वर भक्ति करनी पड़ेगी? उत्तर में कहते हैं—जीव स्वरूप ज्ञान का अस्फूर्त्ति स्वतः हुई है, अथवा माया द्वारा हुई है? स्वतः हुई है--कहने पर स्फूर्त्ति होने के बाद पुनर्वार अस्फूर्त्ति अवश्य ही होगी, कारण--- वह जीव का स्वभाव हो जाता है।

करोति ? अत आह—ईशादपेतस्येति। ईश-विमुखस्य तन्मायया स्मृतिः स्वरूपास्फूर्त्तिः, ततो विपर्य्ययो देहोऽस्मीति, ततो द्वितीयाभिनिवेशाद्भयं भवति। एवं हि प्रसिद्धं लौकिकीष्वपि मायासु, उक्तञ्च भगवता (गी० ७।१४)—

"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥" ८॥ इति।

एकयाऽव्यभिचारिण्या भक्त्या भजेत। किञ्च, गुरुदेवतात्मा गुरुरेव देवता ईश्वर

जिस का जो स्वभाव है, वह उसका अपरिहार्य्य होता है, अत भूलक्कड़ होना भी जीव के पक्ष में स्वाभाविक होगा। माया द्वारा विस्मृति हुई है—कहने पर--असम्भव दोष होता है। कारण, माया जड़ा प्रकृति है एवं जीव चित् प्रकृति है, ज्ञान, अज्ञान का उपमर्दक होता है, किन्तु अज्ञान ज्ञान का उपमर्दक नहीं हो सकता है। अतः माया द्वारा जीव स्वरूपावरणात्मक कार्य्य असम्भव है, विशेषतः माया--ईश्वर की शक्ति है, जिसका अपर नाम बहिरङ्गा शक्ति है,शक्ति, शक्तिमान्‌का आश्रिता ही होती है,कभी भी स्वतन्त्र रूपमें अवस्थित नहीं होती है, अतएव माया का आश्रय को मानना परमावश्यक है। वह आश्रय तत्त्व ही श्रीभगवान् हैं, कारण--श्रीभगवान् गीता में ७।१४ में स्वयं ही कहे हैं—

"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥" ८॥ इति।

टीका—ननु तर्हि त्रिगुणमय मोहात् कथमुत्तीर्णा भवन्ति तत्राह दैवी। विषय नन्देन दीव्यन्तीति देवा जीवा, तदीया तेषां मोहयित्रीत्यर्थः। गुणमयी—श्लेषेण त्रिवेष्टन महापाशरूपा, मम परमेश्वरस्य माया, बहिरङ्गाशक्ति दुरत्यया—दुरतिक्रमा। पाश पक्षे छेत्तुं उद्‌ग्रन्थयितुं वा केनाऽप्य शक्येत्यर्थः। किन्तु, मद्‌ वाचि विश्वसिहि इति स्ववक्षः स्पृष्ट्वाह, मां श्यामसुन्दराकारमेव।

भगवान् की बहिरङ्गा शक्ति का नाम मायाहै, जिस शक्ति के द्वारा जीव सत्य वस्तु को असत्य, सुख को दुःख, पर को निज,जड़ को निज समझ लेता है। माया—जड़ा प्रकृति होने पर भी चित् प्रकृति स्वरूप जीव को आवृत करने की सामर्थ्य उस में नहीं है। तथापि परमेश्वर की आज्ञा शक्ति से ही वह समर्थ है। माया, क्रूरा नहीं है, अतः अकारण ही जीव का स्वरूपावरण नहीं करती है, जो जीव ईश्वर बहिर्मुख है, उसके प्रति ही माया निज प्रभाव प्रकट करती है, अतएव, जब तक ईश्वर बहिर्मुखता की निवृत्ति नहीं होती है, तब तक मायाकृत आवरण निवृत्ति की सम्भावना ही नहीं है, ईश्वर की माया के द्वारा ही जब जीव के स्वरूपावरण निबन्धन भयादि उपस्थित हुई हैं, तब बुद्धिमान् जन को चाहिये कि वह ईश्वर में भक्ति करे, ईश्वर भक्ति से ईश्वर की अनुकम्पा होगी, उनके अनुग्रह से उनकी शक्ति रूपा माया का तिरोधान होगा। उक्त अभिप्राय से ही श्रीमद्‌ भगवद्‌ गीता में उक्त है—"मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते" हे अर्जुन ! जो मानव मेरी शरण ग्रहण करते हैं, वे मेरी दुर्लङ्घ्य माया से उत्तीर्ण होते हैं।

लौकिक इन्द्रजाल विद्या में भी उस प्रकार रीति है, यादुकर का आश्रित होने पर यादु विद्यामें मुग्ध होना नहीं पड़ता है। कारण, यादुकर स्वयं मुग्ध न होकर-अपर को मुग्ध करता है, किन्तु शरणागतन न होकर स्वतन्त्ररूप से मायिक रहस्य भेद करना असम्भव है। उस प्रकार ही परमेश्वर की शरणागत होने पर ज्ञान वराग्यादि साधन सम्पत्ति से मायिक आवरण भेद करना असम्भव है। अव्यभिचारिणी भक्ति श्रीपरमेश्वर के प्रति होना आवश्यक है। श्रीकृष्ण सन्तोष व्यतीत अपर वस्तु विषयक सङ्कल्प हीन होने से ही अव्यभिचारिणी भक्ति होती है। इस को ही एकनिष्ठ भक्ति कहते हैं। उक्त भक्ति प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है—श्रीगुरुचरण का कैङ्कर्य्य। अर्थात् जिस व्यक्ति का परमाराध्य, परमप्रिय ईश्वर,

आत्मा प्रेष्ठश्च यस्य तथादृष्टिः सन्नित्यर्थः" इत्येषा ॥ श्रीकविर्विदेहम् ॥(१)

२ । किञ्च, (भा० २।२।६)—

(२) "एवं स्वचित्ते स्वत एव सिद्ध, आत्मा प्रियोऽर्थो भगवाननन्तः।
तं निर्वृ तो नियतार्थो भजेत, संसारहेतूपरमश्च यत्र ॥" ६॥

टीका च—"तदा तेन किं कर्त्तव्यम् ? हरिस्तु सेव्य इत्याह— एवं विरक्तः सन तं भजेत । भजनीयत्वे हेतवः--स्वचित्ते स्वत एव सिद्धः, यत आत्मा, अतएव प्रियः, प्रियस्य च सेवा सुखरूपैव; अर्थः सत्यः, न त्वनात्मवन्मिथ्या, भगवान् भजनीयगुणश्च, अनन्तश्च नित्यः । य एवम्भूतस्तं भजेत । नियतार्थश्च निश्चितस्वरूपः; तदनुभवानन्देन निर्वृतः सन्निति भक्तेः स्वतः सुखात्मकत्वं दर्शितम् । किञ्च, यत्र यस्मिन् भजने सति संसारहेतोरविद्याया उपरमो नाशो भवति" इत्येषा अत्र च-कारात् तत्प्राप्तिर्ज्ञेया ॥ श्रीशुकः ॥

श्रीगुरुदेव ही हैं, वह ही श्रीकृष्णचरणों में भक्ति प्राप्त करने का अधिकारी है ।

श्रीकवि,—विदेह को कहे थे ।१।

२ । श्रीमद् भागवत के २।२।६ में उक्त है---

"एवं स्वचित्ते स्वत एव सिद्ध, आत्मा प्रियोऽर्थो भगवाननन्तः ।
तं निर्वृ तो नियतार्थो भजेत, संसारहेतूपरमश्च यत्र ॥' ६॥

क्रमसन्दर्भ--एवं तत्र तत्र भगवत्येव तात्पर्य्ये सति स्वचित्ते स्वत एव सिद्धः श्रीभगवानेव परम पुरुषार्थतया सेव्यः, किं तदाग्रहेणेत्याह, एवं स्वचित्त इति । भा० २।१।५

"तस्माद् भारत सर्वात्मा" इत्यादिना यदुक्तम्, तदेवात्र पुन निर्णीयत इति भावः ।

च--शब्देनानुषङ्गिकमेवाविद्या निवृत्तिः फलमिति बोधितम् ॥

श्रीशुकदेव कहते हैं--जागतिक समस्त विषयों में वितृष्ण होकर श्रीहरि की सेवा करना हीं एकमात्र कर्त्तव्य है, कारण, श्रीहरि ही एकमात्र भजनीय गुण सम्पन्न हैं । तन्मध्य में एक गुण यह है कि-श्रीहरि– साधक के चित्त में सतत विद्यमान् हैं, उनको बाहर अन्वेषण करना नहीं पड़ता है, कारण, आप आत्मा हैं, अतएव प्रिय हैं, आत्मा के समान प्रिय निज देहेन्द्रिय भी नहीं है, प्रिय व्यक्ति की सेवा, सुख रूपा होती है, सामयिक रूप में जीव जिस के प्रति प्रीति करता है, समयान्तर में उसका विरह अवश्य होता है, अतः विरह व्यथा का भोग होता है । किन्तु श्रीहरि कालत्रय में एकरूप में सतत विद्यमान हैं, उस में भी आप भगवान् हैं--भक्त वात्सल्य, कृपालुता सामर्थ्य, कृतज्ञता एवं वदान्यता प्रभृति गुणगण के द्वारा महीयान् हैं, एवं अनन्त भी हैं, उनका विनाश नहीं है, जो मानव उनका भजन करते हैं, उनका भी विनाश नहीं होता है । जो एवम्भूत गुण सम्पन्न हैं, उनका भजन अवश्य ही करना चाहिये । उस से भजन कारी व्यक्ति निश्चल स्वरूप होगा, अर्थात् भजनीय में निष्ठायुक्त एवं भगवदनुभवानन्द से पूर्ण मानस होगा । कारण, श्रीहरि, स्वतः सिद्ध--आनन्द स्वरूप हैं ।

एवं उनका भजन भी स्वतः सुख रूप है । जिनका भजन करने से संसार की मूल हेतु भूता अविद्या का उपरम अर्थात् नाश होता है, अर्थात् अविद्या की निवृत्ति स्वतः ही हो जाती है । यह है श्रीधर स्वामि पाद का अभिप्राय । उक्त श्लोक "संसार हेतूपरमश्च" में 'च' कार का प्रयोग हुआ है, उसका अर्थ--भगवत् प्राप्ति है, अर्थात् संसार हेतु अविद्या की निवृत्ति के अनन्तर श्रीभगवत् साक्षात् कार होता है ॥

प्रवक्ता श्रीशुक हैं । (२)

३। तत्र यद्यपि श्रवणमननादिकं ज्ञानसाधनमपि तत्साम्मुख्यमेव,— ब्रह्माकारस्य तस्यानुभवहेतुत्वात्, अतएव तत्परम्परोपयोगित्वात् सांख्याष्टाङ्गयोगकर्म्माण्यपि तत् साम्मुख्यान्येव, तथा तेषां कथञ्चिद्भक्तित्वमपि जायते,—कर्म्मणस्तदाज्ञापालनरूपत्वेन तदर्पितत्वादिना च करणात्, ज्ञानादीनाञ्चान्यत्रानासक्तिहेतुत्वादिद्वारा भक्तसंस्थितया विधानात्, तथापि पूर्व्वं 'भक्त्या भजेत' इत्यनेन कर्म्मज्ञानादिकं नादृतम्, किन्तु साक्षाद्भक्त्या श्रवण-कीर्त्तनादिलक्षणयैव भजेतेत्युक्तम्। तथैव सहेतुकं श्रीसूतोपदेशोपक्रमत एव दृश्यते, यथाह (भा० १।२।६) 'स वै' इत्यादिना (भा० १।२।२२) "अतो वै कवयः" इत्यन्तेन ग्रन्थेन। तत्र (भा० १।२।६) —

(३) "स वै पुंसां परो धर्म्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति॥" १०॥

---

(३) श्रीहरि भजन करना ही मानव का एकमात्र कर्त्तव्य है, शास्त्रोपदेशद्वारा यह विहित हुआ है, वह भजन किस प्रकार है, उसको परिस्फुट करने के निमित्त विचार करते हैं, यद्यपि शास्त्रोक्त श्रवण मननादि ज्ञान साधन भी परतत्त्व साम्मुख्य कारक हैं, कारण, वह शास्त्र श्रवण मननादि ज्ञान साधन, उक्त परतत्त्व का निर्विशेष रूप में आविर्भाव विशेष का अनुभव के प्रति हेतु होते हैं। अतएव उक्त परतत्त्व साम्मुख्य की उपयोगिता परम्पराक्रम से होने के कारण, सांख्य अष्टाङ्ग योग, कर्म प्रभृति, भी परतत्त्व साम्मुख्य के प्रति हेतु होते हैं। जिसप्रकार पूर्वोक्त साधन समूह, साक्षात् एवं परम्परा क्रम से परतत्त्व साम्मुख्य के प्रतिहेतु होते हैं। उसप्रकार ही उक्त साधन समूह में कुछ भक्ति धर्म भी है। किन्तु साक्षात् रूप में नहीं है—प्रकारान्तर में है। जैसे, कर्म का अनुष्ठान, भगवदाज्ञा बुद्धि से एवं भगवदर्पण दि के द्वारा करने पर कर्म आरोपसिद्धा भक्ति में परिगणित होता है, उस प्रकार ज्ञानादि साधन में भी स्वरूपातिरिक्त जड़ीय पदार्थ में अनासक्ति का हेतुत्व है, अतः प्रथम प्रवृत्त भक्त के पक्ष में भक्ति सहायक होने के कारण, ज्ञानादि साधन में भी सहायक रूप भक्तित्व है इस अभिप्राय से ही श्रीरूप गोस्वामि चरण ने भक्ति रसामृत सिन्धुमें कहा है– "ईषत् प्रथममेवास्य प्रवेशायोपयोगिता।" अर्थात् ज्ञान एवं वैराग्य की, प्रथम प्रवृत्त साधक के पक्ष में भक्ति में प्रविष्ट होने के निमित्त–उपयोगिता है, तथापि पूर्वोक्त

'भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यादीशादपेतस्य विपर्य्ययोऽस्मृतिः,।
तन्माययातो बुध आभजेत्तं, भक्त्यैकयेशं गुरुदेव तात्मा।।"

श्लोक में—"एकया अव्यभिचारिण्या भक्त्या भजेत" कहा गया है। अर्थात् भक्ति के द्वारा भगवान् का भजन करना चाहिये,– इस प्रकार उल्लेख होने के कारण श्रवण कीर्त्तनादि लक्षणा साक्षात् भक्ति के द्वारा ही श्रीभगवान् का भजन करना कर्त्तव्य है, इस प्रकार कहा गया है। श्रीमद् भागवत के १।२।६ श्लोक से आरम्भ कर १।२।२२ श्लोक पर्य्यन्त १७ श्लोक के द्वारा श्रीसूतमुनिने श्रीमद् भागवत के उपक्रममें उस प्रकार ही कहा है, अर्थात् कर्म ज्ञानादि की अपेक्षा शून्य साक्षात् भक्ति का उपदेश ही भगवद् भजन के निमित्त हुआ है।

"स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्य प्रतिहता ययात्मा सुम्प्रसीदति॥६॥
वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः

यत् खलु महापुराणारम्भे पृष्टं सर्व्वशास्त्रसारमैकान्तिकं श्रेयो ब्रूहि' इति, तत्रोत्तरम्-'स वै' इत्यादि, यतो धर्म्मादधोक्षजे भक्तिस्तत्कथाश्रवणादिषुरुचिर्भवेत,-(भा० १।२।८)

जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानञ्च यदहैतुकम् ।।७।।
धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेन कथासु यः ।
नोद्पादयेद् यदि रतिं श्रम एवहि केवलम् ।।८।।
धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते ।
नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामोलाभाय हि स्मृतः ।।९।।
कामस्य नेन्द्रिय प्रीति र्लाभो जीवेत यावता ।
जीवस्य तत्त्व जिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः ।।१०।।
वदन्ति तत्त्वविदस्तत्त्वं यज् ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्दयते ।।११।।
तच्छ्रद्धधाना मुनयो ज्ञानवैराग्ययुक्तया ।
पश्यन्त्यात्मनि चात्मानं भक्त्याश्रुत गृहीतया ।।१२।।
अतः पुम्भि र्द्विजश्रेष्ठा वर्णाश्रमविभागशः ।
स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धि र्हरि तोषणम् ।।१३।।
तस्मादेकेन मनसा भगवान् सात्वतां पतिः ।
श्रोतव्य कीर्त्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्च नित्यशः ।।१४।।
यदनु ध्यासिना युक्ताः कर्मग्रन्थि निबन्धनम् ।
छिन्दन्ति कोविदास्तस्य को न कुर्य्यात् कथा रतिम् ।।१५।।
शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य वासुदेवकथारुचिः ।
स्यान्महत् सेवया विप्राः पुण्यतीर्थनिषेवणात् ।।१६।।
शृण्वतां स्वकथाः कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्त्तनः ।
हृद्यन्तस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत् सताम् ।।१७।।
नष्ट प्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवत सेवया ।
भगवत्युत्तमः श्लोके भक्ति र्भवति नैष्ठिकी ।।१८।।
तदा रजस्तमोभावाः कामलोभादयश्च ये ।
चेत एतैरनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति ।।१९।।
एवं प्रसन्नमनसो भगवद् भक्तियोगतः ।
भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्त सङ्गस्य जायते ।।२०।।
भिद्यते हृदय ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे ।।२१।।
अतो वै कवयो नित्यं भक्तिं परमयामुदा ।
वासुदेवे भगवति कुर्वन्त्यात्मप्रसादनीम् ।।"२२।।

टीका—तत्र यत् प्रथमं पृष्टं सर्वशास्त्र सारमैकान्तिकं श्रेयोब्रूहीति तत्रोत्तरं-सवै--इति । अयमर्थः—धर्मोद्विविधः--प्रवृत्ति लक्षणो निवृत्ति लक्षणश्च । तत्र यः स्वर्गाद्यर्थः प्रवृत्ति लक्षणं सोऽपरः । यतोधर्मात् कृष्णे श्रवणादरादिलक्षणा तृप्ति र्भवति,स परोधर्मः,स एवैकान्तिकश्रेय इति । कथम्भूता ?अहैतुकी, हेतु फलानु

"धर्म्मः स्वनुष्ठितः" इत्यादौ व्यतिरेकेण दर्शयिष्यमाणत्वात् । स वै स एव, (भा० १।२।१३) "स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम्" इति वक्ष्यमाणरीत्या तत्सन्तोषणार्थमेव कृतो

सन्धानं, तद्रहिता, अप्रतिहता, विघ्नैरनभिभूता ।६। ननु तमेतमात्मानं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेनेत्यादि श्रुतिभ्यो धर्मस्य ज्ञानाङ्गत्वं प्रसिद्धं, तत् कुतोभक्तिहेतुत्वमुच्यते? सत्यम् । तत्तु भक्ति द्वारेणेत्याह वासुदेव इति । अहैतुकं शुष्कतर्काद्यगोचरम्—औपनिषदमित्यर्थः ७। व्यतिरेकमाह धर्म इति । यो धर्म इति प्रसिद्धिः, स यदि विष्वक्सेनस्य कथासु रतिं नोत्पादयेत् तर्हि स्वनुष्ठितेऽपि सन्नयं श्रमो ज्ञेयः । ननु मोक्षार्थस्यापि धर्मस्य श्रमत्वमस्त्येव अत आह केवलं विफलश्रम इत्यर्थः । नन्वस्ति तत्रापि स्वर्गादि फलमित्याशङ्क्य एवकारेण निराकरोति, क्षयिष्णुत्वात् न तत् फलमित्यर्थः । नन्वक्षय्यं ह वै चातुर्म्मास्ययाजिनः सुकृतं भवतीत्यादि श्रुतेर्न तत् फलस्य क्षयिष्णुत्व मित्याशङ्क्या हि शब्देन साधयति । तद् यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयत इति तर्कानुगृहीतया श्रुत्या क्षयिष्णुत्व प्रतिपादनात् ।८। तदेव हरिभक्ति द्वारा तदितर वैराग्यात्म ज्ञान पर्य्यन्तः परो धर्म इत्युक्तम् । अन्ये तु मन्यन्ते धर्मस्यार्थः फलं, तस्य च कामः फलं, तस्य चेन्द्रिय प्रीतिः, तत् प्रीतेश्च पुनरपि धर्मार्थादि परम्परेति । यथाहुः—धर्माद्यथश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यत इत्यादि । तन्निराकरोति धर्मस्येति द्वाभ्याम् । आपवर्ग्यस्य उक्तन्यायेनापवर्ग पर्य्यन्तस्य धर्मस्य अर्थाय—फलत्वाय अर्थो नोपकल्पते योग्यो न भवति । तथा अर्थस्याप्येवम्भूत धर्माव्यभिचारिणो कामो लाभाय फलत्वाय नहि स्मृतोमुनिभिः ।६। कामस्य विषयभोगस्य इन्द्रियप्रीतिः लाभः फलं न भवति, किन्तु यावता जीवेत तावतैव कामस्य लाभः, जीवनपर्यन्त एव कामः सेव्य इत्यर्थः । जीवस्य जीवनस्य च पुनः कर्मभिर्धर्म्मानुष्ठान द्वारा य इह प्रसिद्ध स्वर्गादिः सोऽर्थोनभवति, किन्तु तत्त्वजिज्ञासैव ।१०। ननु तत्त्वजिज्ञासानाम धर्म जिज्ञासैव धर्म एव हि तत्त्वमिति केचित्, तत्राह— वदन्तीति । तत्त्व वदन्तु तदेव तत्त्वं वदन्ति । कि तत्? यत् ज्ञानं नाम । अद्वयमिति— क्षणिक ज्ञान पक्षं व्यावर्त्तयति । ननु तत्त्वविदोऽपि विगीत वचना एव? मैवं, तस्यैव तत्त्वस्य नामान्तरैरभिधानादित्याह । औपनिषदैर्ब्रह्मेति, हैरण्यगर्भैः परमात्मेति, सात्वतै र्भगवानिति शब्द्यते—अभिधीयते ।।११।। तच्च तत्त्वं स परिकरया भक्त्या एव प्राप्यत इत्याह— तच्चेत्यन्वयः । ज्ञान वैराग्य युक्तयेत्यत्र ज्ञानं—परोक्षम्, तच्च तत्त्वम् आत्मनि क्षेत्रज्ञे पश्यन्ति । किं तत्, आत्मानं परमात्मानम् । श्रुतेन—वेदान्त श्रवणेन, गृहीतया, प्राप्तया इति भक्ते र्दार्ढ्यमुक्तम् ।१२। श्रवणादि गृहीत धर्मस्य फलं भक्तिः, न र्थकामादिकमितीत्थमर्थमुपपाद्योपसंहरति, अत इति । हे द्विजश्रेष्ठा! हरितोषणं हरेराराधनं संसिद्धिः फलम् ।१३। यस्माच्च भक्तिहीनो धर्मः केवलं श्रमएव तस्माद् भक्ति प्रधान एवधर्मोऽनुष्ठेय इत्याह तस्मादिति । एकेन एकाग्रेण मनसा ।।१४।। भक्ति विहीनोधर्मः केवलं श्रम एवेत्युक्तम्, इदानीन्तु भक्ते र्मुक्तिफलत्वं प्रपञ्चयति यदिति । यस्य अनुध्याअनुध्यानं सैव असिखड्गः तेन युक्ता विवेकिनः, ग्रन्थि- अहङ्कारं निबध्नाति यत् कर्म तत्च्छिन्दन्ति तस्याकथाया रतिं को न कुर्य्यात् ।१५। ननु सत्यमेव कर्म निर्म्मूलनी हरिकथारतिः, तथापितस्यां रुचिर्नोत्पद्यते किं कुर्म्म स्तत्राह शुश्रूषोरिति । पुण्यतीर्थ निषेवणात्—निष्पापस्य महत् सेवा स्यात्,तथा च तद्धर्मश्रद्धा । ततः श्रवणेच्छा ततो रुचिः स्यादित्यर्थः ।१६ ततश्च शृण्वतामिति । पुण्ये—श्रवण कीर्त्तने यस्य सः । सतां सुहृत् हितकारी । हृदि ह्यन्यभद्राणि—कामादि वासनाः, तानि । अन्तःस्थः हृदयस्थःसन् ।।१७।। ततश्च नष्ट प्रायेष्विति । सर्वभद्रनाशस्य ज्ञानकाण्डोत्तर कालत्वात् प्राय ग्रहणम् । भागवतानां भागवत शास्त्रस्य वा सेवया नैष्ठिकी, निश्चला विक्षेपा भावात् ।१८। रजस्तमश्च ये च तत् प्रभवाः भावाः, कामादयः, एतैरनाविद्धमनभिभूतं प्रसीदति, उपशाम्यति ।१९। भगवद् भक्ति योगतः प्रसन्नमनसः, अतएव मुक्तसङ्गस्य ।२०। ज्ञानफलमाह भिद्यत इति । हृदयमेव ग्रन्थिः, चिज्जड़ग्रन्थनरूपोऽहङ्कारः, अतएव सर्वे संशया असम्भावनादि रूपाः, कर्माण्यनारब्ध फलानि । आत्मनि

धर्म्मः परः सर्व्वतः श्रेष्ठः, न निवृत्तिमात्रलक्षणोऽपि, वैमुख्याविशेषात्, तथा च श्रीनारदवाक्यम् (भा० १।५।१२) —"नैष्कर्म्मयमप्यच्युतभाववर्ज्जितम्" इत्यादौ "कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म्म यदप्यकारणम्" इति। अतो वक्ष्यते (भा० (१।२।१२) "अतः पुंभिः" इत्यादि। ततः स एवैकान्तिकं श्रेय इत्यर्थः। अनेन भक्तेस्तादृशधर्म्मतोऽप्यतिरिक्तत्वमुक्तम्। तस्या

स्वरूप भूते ईश्वरे दृष्टे साक्षात् कृते सति। एव कारेण ज्ञानानन्तरमेव दर्शयति ॥२१॥ तत्र सदाचारं दर्शयन् उपसंहरति अत इति। आत्मप्रसादनीं, मनः शोधनीं, वासुदेवे भक्तिं कुर्वन्तीति भजनीय विशेषोदर्शितः ॥२२॥

महापुराण श्रीमद् भागवत के प्रारम्भ में नैमिषारण्य में शौनकादि ऋषिवृन्द श्री सूत के समीप में प्रश्न किये थे " सर्व शास्त्र सारार्थ जीवों का ऐकान्तिक श्रेयः क्या है ? उस का वर्णन आप करें। उस के उत्तर में उक्त श्लोकों में श्री सूत कहे थे। हे विप्रवृन्द ! जिस धर्म के अनुष्ठान से इन्द्रिय ज्ञानातीत अधोक्षज तत्त्व में एवं उनकी कथा के श्रवण कीर्त्तनादि में रुचि भक्ति का उदय होता है, वह ही जीव मात्र का परम धर्म है। यहाँ भक्ति का 'रुचि' अर्थ करने का अभिप्राय यह है कि-आगे कथित होगा कि-"धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां बिष्वक्सेन कथासु यः नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्" सुन्दर रूप से अनुष्ठित धर्म, भी यदि हरि कथा में रुचि उत्पादन करने में अक्षम होता है, तब वह व्यर्थ श्रम ही होता है, व्यतिरेक मुख से भक्ति का महत्त्व कथन के कारण ही भक्ति शब्द का अर्थ यहाँ 'रुचि' अर्थ सुसङ्गत है। श्लोकस्थ-"सवै पुंसां" पदस्थित 'सवै' अव्यय का प्रयोग, एवार्थ में हुआ, अर्थात् अन्य व्यावृत्ति अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, इस के बाद—"स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धि हरितोषणम्" अर्थात् उत्तम रूप से अनुष्ठित धर्मका मुख्य फल श्री-हरि सन्तोष है, इस प्रकार वक्ष्यमाण रीति के अनुसार श्रीहरि सन्तोष के निमित्त ही जिस धर्म का अनुष्ठान होता है, वह धर्म निखिल धर्म से श्रेष्ठ है श्लोकस्थ 'परधर्म' का अर्थ भी वह ही है। केवलमात्र ऐहिक—पार लौकिक वासना शून्य होना निवृत्ति मात्र लक्षण धर्म श्रेष्ठ नहीं है, कारण, भगवद् वैमुख्य रूप मौलिक दोष से युक्त निवृत्ति मात्र लक्षण धर्म का किसी प्रकार पार्थक्य नहीं है। जब तक भगवत् साम्मुख्य नहीं होगा, तब तक विषय भोगी के सहित विषय त्यागी का कुछ प्रभेद नहीं होता है, कारण, विषय भोग एवं विषय त्याग—दोनों ही माया के अधिकार में निपतित है।

भा० १।५।१२ में श्रीनारद महाशयने कहा है—

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम् ॥

टीका—भक्ति हीन कर्म तावत् शून्यमेवेति कैमुतिकन्यायेनदर्शयति, नैष्कर्म्यमिति। निष्कर्म्म-ब्रह्म, तदेकाकारत्वान्निष्कर्म्मतारूपं नैष्कर्म्यम्। अज्यते अनेन इत्यञ्जनमुपाधिस्तन्निवर्त्तकं निरञ्जनम्। एवम्भूतमपि ज्ञानम् अच्युते भावो भक्तिः स्तद्वर्ज्जितं चेत् अलमत्यर्थं न शोभते, सम्यक् परोक्षाय न कल्पते इत्यर्थः। तदा शश्वत् साधन काले फल काले च अभद्रं दुःखरूपं यत् काम्यं कर्म, यदप्यकारणमकाम्यं तच्चेति चकारस्यान्वयः। तदपि कर्म ईश्वरे नार्पितं चेत् कुतः पुनः शोभते ? बहिर्मुखत्वेन सत्त्वशोधकत्वा भावात् ॥"।१२॥

अर्थात् निरुपाधिज्ञान भी हरिभक्ति वर्जित होने से साक्षात् ब्रह्म दर्शन की योग्यता को प्राप्त नहीं करता है। ऐसा होने पर साध्य एवं साधन काल में, दुःखमय निष्काम कर्म भी यदि श्रीभगवान् में अर्पित नहीं होता है, तो वह कर्म शोभित नहीं होता है, अर्थात् फल प्रसू नहीं होता है, अतएव अग्रिम

भक्तेः स्वरूपगुणमाह,--स्वत एव सुखरूपत्वात् 'अहैतुकी' फलान्तरानुसन्धानरहिता, 'अप्रतिहता तदुपरि सुखदुःखदपदार्थान्तराभावात् केनापि व्यवधातुमशक्या च। जातायाञ्च तस्यां रुचि-लक्षणायां भक्त्यां तयैव श्रवणादिलक्षणः साधनभक्तियोगः प्रवर्त्तितः स्यात् ॥

४। ततश्च (भा० ५।१८।११)—"यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना, सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः" इत्यनुसारेण भगवत्स्वरूपादिज्ञानं ततोऽन्यत्र वैराग्यञ्च तदनुगाम्येव स्यादित्याह (भा० १।२।७)—

ग्रन्थ १।२।१३ में कहेंगे—

अतः पुम्भिर्द्विजश्रेष्ठावर्णाश्रमविभागशः ।
स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धि हरितोषणम् ॥

टीका—श्रवणादि गृहीत धर्मस्य फलं भक्तिः, नाथ कामादिकमितीममर्थमुपपाद्योपसंहरति, अत इति। हे द्विज श्रेष्ठा! हरितोषणं हरेराराधनं संसिद्धिः फलम् ॥१३॥

श्रीविष्णु सन्तोष ही धर्मानुष्ठान का एकमात्र फल है, इस श्लोक में कहेंगे। तज्जन्य श्रीहरि की कथा में रुचि ऐकान्तिक श्रेयः है। धर्मानुष्ठान का फल—श्रीहरि कथा में रुचि होने के कारण—भगवदर्पित धर्म से हरि भक्ति का पार्थक्य प्रदर्शित हुआ। उस भक्ति के स्वरूप भूत गुण का वर्णन करते हैं, अहैतुकी-अर्थात् फलान्तर अनुसन्धान रहिता। कारण, भक्ति, स्वयं ही सुखरूपा है, अतएव उस फलान्तरानुसन्धान की अपेक्षा नहीं है। अप्रतिहता—किसी प्रकार की बाधा भक्ति को बाधित करने में सक्षम नहीं हैं। बाधक पदार्थ द्विविध हैं—सुख एवं दुःख, जिसको अवलम्बन कर रहा जाता है, उस से अधिक सुखद वस्तुका अनुसन्धान होने पर निज आश्रय के प्रति शैथिल्य होता है, अथवा आश्रय जातीय वस्तु का अभाव होने पर जो दुःख होता है, तदपेक्षा अधिक दुःखद पदार्थ का अनुसन्धान से निजावलम्बन के प्रति शैथिल्य आ सकता है। किन्तु भक्ति अनुष्ठान में उक्त उभयविध बाधा का अभाव है। कारण, भक्ति आचरण के समान सुख और अपर नहीं है, भक्ति आचरण न करने के समान अपर दुःख भी नहीं है।

उक्त रुचि लक्षणा भक्ति का आविर्भाव होने पर रुचि के द्वारा ही श्रवण कीर्त्तनादि लक्षणा भक्ति अनुष्ठान के प्रति प्रवृत्ति होती है। ३॥

(४) अनन्तर भा० ५।१८।१२ में लिखित है—

'यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना, सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा मनोरथेनासति धावतो बहिः॥"

टीका—मानसमलापगम फलमाह यस्येति। अकिञ्चना, निष्कामा। मनः शुद्धौ हरेर्भक्ति र्भवति, ततश्च तत् प्रसादे सति सर्वे देवाः सर्वे गुणश्च धर्म ज्ञानादिभिः सह तत्र सम्यगासते, नित्यं वसन्ति। गृहाद्यासक्तस्य तु हरिभक्त्यसम्भवात् कुतो महतां गुणा, ज्ञान वैराग्यादयो भवन्ति? असतिविषयसुखे मनोरथेन वहि र्धावतः ॥१२॥

जिस की अकिञ्चना भक्ति, भगवान् के प्रति है, समस्त गुणों के सहित गरुड़ प्रभृति पार्षदवृन्द उक्त भक्त में वशीभूत होकर अवस्थित होते हैं, मनः शुद्धि होने पर हरि के प्रति भक्ति होती है, भक्ति होने पर धर्म ज्ञानादि गुणों के सहित भगवत् पार्षद गण उक्त भक्त देह में अवस्थित होते हैं। इस रीति के अनुसार भगवत् स्वरूप ऐश्वर्य्य माधुर्य्य ज्ञान एवं विषय वैराग्य, भक्ति के अनुगत होकर स्वतः ही उपस्थित होते हैं। भा० १।२।७ में लिखित है—

(४) "वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः ।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानञ्च यदहेतुकम् ॥" ११ ॥

अहैतुकं शुष्कतर्काद्यगोचरमौपनिषदं ज्ञानमाशु ईषच्छ्रवणमात्रेण जनयतीत्यर्थः ॥

५। व्यतिरेकेणाह (भा० १।२।८)—

(५) "धर्म्मः स्वनुष्ठितः पुंसां वासुदेवकथासु यः ।
नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥" १२।

वासुदेवतोषणाभावेन यदि तत्कथासु तत्तल्लीलावर्णनेषु रतिं रुचिं नोत्पादयेत्, तदा श्रमः स्यान्न तु फलम्, कथारुचेः सर्व्वत्रैवाद्यत्वात् श्रेष्ठत्वाच्च सैवोक्ता । तदुपलक्षणत्वेन भजनान्तर-

---

(४) वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः ।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानञ्च यदहैतुकम् ॥११॥

टीका - ननु तमेतमात्मानं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेनेत्यादि श्रुतिभ्यो धर्मस्य ज्ञानाङ्गत्वं प्रसिद्धं, तत् कुतो भक्ति हेतुत्वमुच्यते ? सत्यम् । तत् तु भक्ति द्वारेणेत्याह वासुदेव इति । अहैतुकं शुष्क तर्काद्यगोचरम्, औपनिषदमित्यर्थः ।

भगवान् वासुदेव में प्रयोजित भक्तियोग, ईषत् श्रवण मात्र से ही अतिसत्वर विषय वैराग्य एवं शुष्क तर्कादि का अगोचर उपनिषत् प्रतिपाद्य ज्ञान उत्पन्न करताहै (४)

(५) व्यतिरेक मुख से भी दर्शाते हैं— अर्थात् भगवान् में रुचिलक्षणा भक्तियोग आविर्भूत न होने से समस्त साधन ही विफल होते हैं ।

भा० १।२।८ श्लोक के द्वारा उसका वर्णन करते हैं ।

(५) "धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां वासुदेव कथासु यः ।
नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥"१२॥

टीका—व्यतिरेकमाह धर्म इति । यो धर्म इति प्रसिद्धः स यदि विष्वक् सेनस्य कथासु रतिं नोत्पादयेत् र्तहि स्वनुष्ठितोऽपि सन्नयं श्रमोज्ञेयः, ननु मोक्षार्थस्यापि धर्मस्य श्रमत्वमस्त्येव, अत आह—केवलं विफल श्रम इत्यर्थः । नन्वस्ति तत्रापि स्वर्गादि फलमित्याशङ्क्य एव कारेण निराकरोति क्षयिष्णुत्वमित्याशङ्क्य हि शब्देन साधयति । तद् यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयते, एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते इति तर्कानुगृहीतया श्रुत्या प्रति पादनात् ।(८)

श्रीसूत—शौनकादि ऋषिवृन्द को कहे थे— हे शौनक ! पुरुष मात्रके द्वारा सुनिर्दिष्ट रूप से अनुष्ठित धर्म,—यदि वासुदेव की कथा में रुचि उत्पन्न नहीं करता है, तो वह धर्मानुष्ठान--केवल वृथा श्रम में ही परिणत होता है, सुन्दर रूप से अनुष्ठित धर्म, के द्वारा वासुदेव की कथा में अर्थात् उनकी लीला वर्णनादि में रति उत्पन्न न होने का कारण यह है कि — उक्त धर्म में भगवदाश्रयता नहीं है, अर्थात् श्रीभगवान् में अर्पण अथवा श्रवण कीर्त्तनादि के द्वारा वह धर्म अनुष्ठित नहीं हुआ है । ऐसा होने पर उक्त धर्माचरण से परिश्रम ही फललाभ होगा, किन्तु धर्मोक्त मुख्य फल लाभ नहीं होगा । कारण, कथा रुचि ही सर्व साधन का प्रथम फल है, इस अभिप्राय से ही 'रुचि' की बात कही गई है । यद्यपि मूल श्लोक में कथारुचि का ही स्पष्टतः उल्लेख है, तथापि उपलक्षण से स्मरण, पाद सेवन, अर्चन प्रभृति के सहित कथा रुचिका उपदेश हुआ है, यह जानना होगा । श्लोकस्थ 'श्रम एव' शब्द के द्वारा प्रवृत्ति लक्षण धर्म का फल स्वर्गादि का क्षयिष्णुत्व

रुचिरप्युपदिष्टा। एव-शब्देन प्रवृत्तिलक्षणकर्म्मफलस्य स्वर्गादेः क्षयिष्णुत्वम्, हि-शब्देन तत्रैव च (छा० ८।१।६) —"तद्यथेह कर्म्मजितो लोकः क्षीयते" इति सोपपत्तिक-श्रुतिप्रमाणत्वम्, "निर्णीते केवलम्" इत्यमरकोषात् केवलमित्यव्ययेन निवृत्तिमात्रलक्षण-धर्म्मफलस्य च ज्ञानस्यासाध्यत्वं सिद्धस्यापि नश्वरत्वम्, तत्रापि तेनैव हि--शब्देन (श्वे० ६।२३) "यस्य देवे परा भक्तिः" इत्यादि-श्रुतिप्रमाणत्वम्, (भा० १।५।१२) "नैष्कर्म्म्यमप्यच्युतभाववर्जितम्" इत्यादि, (भा० १०।१४।४) "श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो, क्लिश्यन्ति ये केवलबोध लब्धये" इत्यादि, (भा० १०।२।३२) "आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः, पतन्त्यधोऽनादृत युष्मदङ्घ्रयः" इत्यादि--वचनप्रमाणत्वञ्च सूचितम्।

दर्शाया गया है, अर्थात् सकाम कर्म का फल, स्वर्गादि, समय पर विनष्ट होते हैं। श्लोकस्थ 'हि' शब्द प्रयोग के द्वारा सूचित हुआ है कि—कृषि कार्य्यादि के द्वारा उत्पन्न शस्यादि की प्रथम क्षण में उत्पत्ति, द्वितीय क्षण में स्थिति, एवं तृतीय क्षण में विनष्ट होते हैं, उस प्रकार शास्त्रीय यज्ञादि कर्मफल द्वारा उत्पन्न स्वर्गादि लोक भी विनष्ट होते हैं। इस प्रकार युक्ति पूर्ण श्रुति का प्रामाण्य भी प्रदर्शित हुआ है। श्लोकस्थ 'केवल' शब्द के द्वारा निवृत्ति मात्र लक्षण धर्म का फल स्वरूप ज्ञान का असाध्यत्व प्रदर्शित हुआ है। निष्काम धर्म भी यदि भगवत् भक्ति शून्य होता है तो, उस निष्काम धर्माचरण से ब्रह्म ज्ञान लाभ नहीं होता है, यदि कदापि ज्ञान लाभ हो भी जाय, तथापि वह स्थायी नहीं होता है। श्लोकस्थ 'हि' शब्द के द्वारा यह भी प्रदर्शित हुआ है कि—जिस के हृदय में परमेश्वर विषयक पराभक्ति है, उस के हृदय में ही यथा कथित लक्षण वस्तु तत्त्व का अनुभव प्रकाशित होता है। एवं भा० १।५।१२ में उक्त श्रीव्यास के प्रति श्रीनारदोपदेश से प्रकाश हुआ है कि—निरुपाधि ज्ञान भी अपरोक्षानुभव को प्रकाश करने में सक्षम नहीं है॥

"नैष्कर्म्म्यमप्यच्युत भाव वर्जितं न शोभते ज्ञानमलंनिरञ्जनम्।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम्॥" भा० १।५।१२

टीका—भक्ति होने कर्म तावत् शून्यमेवेति कैमुत्यिकन्यायेन दर्शयति—नैष्कर्म्म्यमिति। निष्कर्म्म ब्रह्म, तदेकाकारत्वान्निष्कर्म्मतारूपं नैष्कर्म्म्यं। अज्यते अनेन इत्यञ्जनमुपाधि, स्तन्निवर्त्तकं निरञ्जनम्। एवम्भूतमपि ज्ञानं, अच्युते भावो भक्तिस्तद् वर्जितं चेत् अलमत्यर्थं—न शोभते, सम्यक् परोक्षाय न कल्पते- इत्यर्थः। तदा शश्वत् साधन काले फल काले च अभद्रं दुःख रूपं यत् काम्यं कर्म्म यदप्यकारणमकाम्यं तच्चेति च कारस्यान्वयः। तदपि कर्म ईश्वरे नार्पितं चेत् कुतः पुनः शोभते ? बहिर्मुखत्वेन सत्त्व शोधकत्वाभावात्॥

भा० १०।१४।४ में ब्रह्माकृत श्रीकृष्ण स्तुति प्रसङ्ग में उक्त है—

"श्रेयः सृतिं भक्ति मुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवल बोधलब्धते।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद् यथा स्थूल तुषावघातिनाम्॥

टीका---भक्ति विना ज्ञानन्तु नैव सिध्येदित्याह श्रेयः सृतिमिति। श्रेयसामभ्युदयापवर्गलक्षणानां सृतिः सरणं यस्याः सरस इव निर्झराणाम्, तां ते तव भक्तिमुदस्य त्यक्त्वा श्रेयसां मार्गभूतमिति वा। तेषां क्लेशलः क्लेश एवावशिष्यते। अयं भावः—यथा अल्प प्रमाणं धान्यं परित्यज्य अन्तःकरण हीनान् स्थूल धान्याभासांस्तुषानेव अवघ्नन्ति, तेषां न किञ्चित्फलम्, एवं भक्ति तुच्छीकृत्य ये केवल बोधाय प्रयतन्ते तेषामपीति (४)

श्लोकद्वयेन भक्तिर्निरपेक्षा, ज्ञान-वैराग्ये तु तत्सापेक्षे इति लभ्यते । तदेवं भक्तिफलत्वेनैव धर्म्मस्य साफल्यमुक्तम् ॥

६। तत्र यदन्ये मन्यन्ते,—धर्म्मस्यार्थः फलम्, तस्य कामस्तस्य चेन्द्रियप्रीतिस्तत्प्रीतेश्च पुनरपि धर्म्मादि-परम्परेति, तच्चान्यथैवेत्याह द्वाभ्याम् (भा० १।२।९-१०) —

(६) "धर्म्मस्य ह्यापवर्गयस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते ।
नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः ॥१३॥
कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता ।

हे नाथ ! तुम्हारी निखिल मङ्गल प्रसविनी भक्ति का अनादर कर जो मानव, केवल ज्ञान प्राप्त करने के निमित्त शास्त्राभ्यास, तपस्या एवं वैराग्य प्राप्त करने के निमित्त प्रयत्न करते हैं, उनका केवल क्लेश ही अवशिष्ट रहता है, इस प्रकार ही भा० १०।२।३२ में कथित है—

येऽन्येरविन्दाक्ष विमुक्तमानिन स्त्वय्यस्त भावादविशुद्ध बुद्धयः ।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृत युष्मदङ्घ्रयः ॥

टीका—"ननु विवेकिनां किं मद्भजनेन ? मुक्ता एव ते, तत्राहुः, येऽन्ये इति । विमुक्तमानिनो विमुक्त वयमिति मन्यमानाः । त्वयि अस्तो निरस्तोऽत एवासन् यो भावस्तस्मात् भक्तेरभावादित्यर्थः । न विशुद्धा बुद्धियषां ते तथा । यद्वा त्वयि अस्तभाः इतिच्छेदः, अस्तमतयो द्वाराच्छेव विशुद्ध बुद्धयः । कृच्छ्रेण बहु जन्म तपस्या परं पदं मोक्ष सन्निर्हितं सत् कुल तपः श्रुतादि । पतन्ति- विघ्नैरभिभूयन्ते । न आदृतौ युस्मदङ्घ्री यैस्ते ।।"

हे भगवन् ! जो लोक तुम्हारे एवं तुम्हारे भक्तवृन्द के चरणार विन्दों का आदर न कर मुक्ति प्रात्प्यर्थ ज्ञान साधन का अनुष्ठान करते हैं, वे सब प्रभूत परिश्रम से शास्त्रादि ज्ञान सम्पन्न ब्राह्मणादि कुल में जन्म ग्रहण करके भी पुनर्वार अधः पतित होते हैं । "श्रमएव 'हि' अव्यय शब्द प्रयोग के द्वारा पूर्वोल्लिखित वचन समूह को सप्रमाणित किया गया है । 'वासुदेवे' भगवति' एवं 'धर्मस्यनुष्ठितः पुंसां' श्लोक द्वय के तात्पर्य्य से बोध होता है कि—भक्ति, कर्म, ज्ञान योगादि की अपेक्षा नहीं रखती है, किन्तु ज्ञान वैराग्यादि भक्ति योग की सम्पूर्ण अपेक्षा करते हैं,अतएव जो अन्यनिरपेक्षा है,वह सबला है, किन्तु जो दूसरे की अपेक्षा कर चलता है, वह दुर्बला है, विद्वज्जन मात्र को चाहिये कि वे सब भक्ति का आश्रय ग्रहण करें। अतएव धर्म समूह का भक्ति लाभ में ही साफल्य है,— यह प्रति पादित हुआ (५)

(६) कतिपय व्यक्ति मानते हैं— कि—धर्म का फल अर्थ है, अर्थ का फल सांसरिक विषय भोग, विषय भोग का फल—इन्द्रिय प्रीति, एवं इन्द्रिय प्रीति का फल— धर्मानुष्ठानादि हैं । इस प्रकार धारणा, भ्रान्ति पूर्ण है, कारण, धर्म का फल—कभी अर्थ—हो नहीं सकता है, कारण जिस धर्माचरण के द्वारा 'पुनरपि जन्म, पुनरपि मरणं, पुनरपि जननी जठरे शयनम्" की निवृत्ति नहीं होती है, उसको धर्म नहीं कहा जा सकता है । अतएव श्रीसूतने धर्मानुष्ठान का फल का कथन श्लोकद्वय के द्वारा भिन्न प्रकार ही किया है—(भा० १।२।९-१०)

(६) धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नाथोऽर्थायोंपकल्पते ।
नार्थस्य धर्म्मैकान्तस्य कामोलाभाय हि स्मृतः (१३)
कामस्य नेन्द्रिय प्रीतिर्लाभो जीवेत यावता ।

जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः ।।" १४।।

आपवर्ग्यस्य (भा० ५ १९।१८-१९)— "यथावर्णविधानमपवर्गश्च भवति, योऽसौ भगवति सर्व्वात्मन्यनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयने परमात्मनि वासुदेवेऽनन्यनिमित्तभक्तियोगलक्षणो नानागति-निमित्ताविद्याग्रन्थिरन्धनद्वारेण यदा हि महापुरुषपुरुष-प्रसङ्गः" इति पञ्चमस्कन्धगद्यानु-सारेणापवर्गो भक्तिस्तथा च स्कान्दे रेवाखण्डे—

"निश्चला त्वयि भक्तिर्या सैव मुक्तिर्जनार्द्दन । मुक्ता एव हि भक्तास्ते तव विष्णो यतो हरे ।।" १५। इति ।

तत उक्तरीत्या भक्तिसम्पादकस्येत्यर्थः। टीका च—"अर्थाय फलत्वाय, अर्थो नोपकल्पते

जीवस्य तत्त्व जिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः ।। (१४)

टीका—तदेवं हरिभक्ति द्वारा तदितर वैराग्यात्म ज्ञान पर्य्यन्तः परो धर्म इत्युक्तम् । अन्ये तु मन्यन्ते धर्मस्य अर्थः फलं, तस्य चेन्द्रिय प्रीतिः, तत् प्रीतेश्च पुनरपि धर्मार्थादि परम्परेति । यथाहुः—धर्मादर्थश्च कामश्च सकिमर्थं न सेव्यत इत्यादि । तन्निराकरोति धर्मस्येति द्वाभ्याम् । आपवर्ग्यस्य उक्तन्यायेनापवर्ग पर्य्यन्तस्य धर्मस्य अर्थाय फलत्वाय अर्थो नोपकल्पते योग्यो न भवति,तथा अर्थस्याप्येवम्भूतधर्माव्यभिचारिणः कामो लाभाय फलत्वाय नहि स्मृतो मुनिभिः (९) कामस्य--विषयभोगस्य, इन्द्रियप्रीति लाभः, फलं न भवति, किन्तु यावता जीवेत, तावानेव कामस्यलाभः, जीवन पर्य्यन्त एव कामः सेव्य इत्यर्थः । जीवस्य--जीवनस्य च पुनः कर्मभि धर्मानुष्ठानद्वारा य इह प्रसिद्धः स्वर्गादिः, सोऽर्थो न भवति, किन्तु तत्त्वजिज्ञासैव ।।१०।।

अपवर्ग प्रतिपादक धर्मका फल---अर्थ नहीं हो सकता है । उक्त अपवर्ग प्रति पादक धर्म प्राण--अर्थ का फल कभी भी विषय भोग नहीं हो सकता है । विषय भोग का फल -- इन्द्रिय प्रीति नहीं है, किन्तु जितना विषय ग्रहण न करने पर जीवन रक्षा नहीं होती है, उतना ही विषय भोग करे । कारण, अनेक सौभाग्य के फल स्वरूप मानव शरीर मिला है, मनुष्य जीवन ही सर्वेन्द्रिय शक्ति समन्वित हैं, उस की रक्षा करना अवश्य कर्त्तव्य है, जीवित रहने का एकमात्र उद्देश्य है, तत्त्व-- यथार्थ वस्तु को जानना । अन्यथा केवल मात्र जीवित रहने से कोई साफल्य नहीं होता है । इस जगत् में धर्मादि अनुष्ठान के द्वारा अर्थादि साफल्य उपार्जन करना भी मनुष्य जीवन का साफल्य नहीं है ।

उक्त श्लोकस्थ आपवर्ग्य शब्दका अर्थ है-भक्ति, कारण । पञ्चम स्कन्धके ऊनविंशाध्यायमें भारतवर्ष वर्णन प्रसङ्ग में श्रीशुक देव ने कहा है, भारतवर्ष में जो व्यक्ति जिस वर्ण में अवस्थित है, उक्त वर्ण विहित धर्मानुष्ठान से अपवर्ग निष्पन्न होता है, वह अपवर्ग क्या है ? उसका परिचय देते हैं, मनोभाव राग-द्वेषादि अभिनिवेश शून्य अवाङ्मनसोगोचर सर्वाश्रय, सर्व भूतात्मा परमात्मा भगवान् श्रीवासुदेव में जो अहैतुकी भक्ति योग है, उस का नाम ही भक्तियोग है । उक्त भक्ति योग को अपवर्ग क्यों कहेंगे ? उसके प्रति हेतु विन्यास करते हैं—"अपवृज्यते अनेन इति अपवर्गः" इस प्रकार व्युत्पत्ति से छेदनार्थ वृज धातु के उत्तर करण वाच्य में अल् प्रत्यय द्वारा अपवर्गपद निष्पन्न हुआ है । जीव का विभिन्न देह में भ्रमण का कारण है---जड़ एवं चेतन में अविद्या जनित ग्रन्थी । भक्ति योग के द्वारा ही उक्त ग्रन्थी छिन्न होती है । एतज्जन्य अहैतुकी भक्ति योग का नाम--अपवर्ग है । किन्तु यथावर्ण विहित धर्मानुष्ठान के द्वारा अहैतुकी भक्ति योग का आविर्भाव नहीं हो सकता है, किन्तु उक्त धर्मानुष्ठान करते करते जब महापुरुष श्रीकृष्ण के भक्त जनका सान्निध्य लाभ होगा,उससमय ही अहैतुकी भक्ति योगाविर्भाव की सम्भावना की जा सकती है । पवित्र धर्मानुष्ठान में रत रहने से महापुरुष प्रसङ्ग होने की सम्भावना है, तज्जन्य ही उस प्रकार कथन हुआ

योग्यो न भवति, तथा अर्थस्याप्येवम्भूतधर्म्माव्यभिचारिणः कामो लाभाय फलत्वाय न हि स्मृतस्तत्त्वविद्भिः। कामस्य विषयभोगस्येन्द्रियप्रीतिर्लाभः फलं न भवति, किन्तु यावता जीवेत, तावानेव कामस्य लाभस्तादृश-जीवनपर्य्याप्त एव कामः सेव्य इत्यर्थः। जीवस्य जीवनस्य च पुनर्धर्म्मानुष्ठानद्वारा कर्म्मभिर्य इह प्रसिद्धः स्वर्गादिः, सोऽर्थो न भवति, किन्तु तत्त्वजिज्ञासैव" इति। तदेवं तत्त्वज्ञानं यस्या भक्तेरवान्तरफलमुक्तम्, सैव परमफलमिति भावः। किन्तत्तत्त्वमित्यपेक्षायां पद्यमेकं तुदाहृतम (भा० १।२।११)—

"वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥" १६॥ इति।

है। श्रीभगवान् में अहैतुकी भक्ति ही जो मुक्ति है, उसका वर्णन स्कन्द पुराणीयरेवाखण्ड में है—

"निश्चलात्वयि भक्तिर्या सैव मुक्ति र्जनार्दन मुक्ता एवहि भक्तास्तेतव विष्णो यतोहरे॥"

हे जनार्दन! तुम्हारे प्रति जो निश्चला भक्ति, उसको ही मुक्ति कहते हैं। हे विष्णो! कारण, तुम्हारे भक्त गण ही यथार्थतः मुक्त हैं। अतएव उक्त प्रमाणानुसार आपवर्ग पद का अर्थ भक्ति सम्पादक है, अर्थात् धर्मानुष्ठान का मुख्य अर्थ है—भक्ति सम्पादक, अर्थात् धर्मानुष्ठान का मुख्य फल श्रीभगवान् में अहैतुकी भक्ति लाभ है। इस प्रकार धर्म का फल,—कभी भी अर्थ नहीं हो सकता है, अर्थात् अर्थ प्राप्ति हेतु तादृश धर्मानुष्ठान करना उचित नहीं है।

इस प्रकार धर्म का अव्यभिचारी अर्थ का फल कभी भी विषय भोग नहीं हो सकता है। यह अभिमत तत्त्वज्ञ व्यक्ति वृन्द का है। विषय भोग का फल-इन्द्रिय प्रीति भी नहीं है, किन्तु यावत् परिमाण विषयभोग से जीवन रक्षा होती है, तावत् परिमाण ही विषय भोग करना कर्त्तव्य है। जीवन धारण एवं भक्ति व्यतीत अपर धर्मानुष्ठान के द्वारा प्रभूत कर्मलभ्य इह लोक प्रसिद्ध स्वर्गादि प्राप्ति नहीं हो सकती है। किन्तु तत्त्व जिज्ञासा ही मानव जीवन धारण का मुख्य उद्देश्य है। ऐसा होने पर जिस भक्ति का अवान्तर फल तत्त्वज्ञान है, उस भक्ति साधन ही सर्व साधन का मुख्य फल है। वह तत्त्व वस्तु क्या है? इस प्रकार जिज्ञासा के उत्तर में कहते हैं—"वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्। ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।" भा० १।२।११

टीका—ननुतत्त्व जिज्ञासा नाम धर्मजिज्ञासैव, धर्म एवहितत्त्वमिति केचित्। तत्राह वदन्तीति। तत्त्वविदस्तु तदेव तत्त्वं वदन्ति। किं तत्? यज् ज्ञानं नाम। अद्वयमिति— क्षणिक ज्ञान पक्षं व्यावर्त्तयति। ननु तत्त्वविदोऽपि विगीत वचना एव? मैवं, तस्यैव तत्त्वस्य नामान्तरै रेवाभिधानादित्याह। औपनिषदै र्ब्रह्मेति, हैरण्य गर्भैः परमात्मेति, सात्वतै र्भगवानिति, शब्द्यते--अभिधीयते॥"

तत्त्वज्ञ मानववृन्द—अद्वय ज्ञान को ही तत्त्व कहते हैं, जो एक---अद्वय ज्ञान तत्त्व वस्तु उपासना भेद से ब्रह्म, परमात्मा, एवं भगवान् शब्द से अभिहित होते हैं। यहाँपर अद्वय शब्द प्रयोग के द्वारा तत्त्व का अखण्डत्व निर्देश हुआ है, अन्य वस्तु समूह—उन से पृथक् नहीं है, इसको सूचित करने के निमित्त उक्त तत्त्व वस्तु को निखिल शक्ति समन्वित मानते हैं, अतः वहशब्द प्रतिपाद्य है। अर्थात् वह ही तत्त्व वस्तु है. जिस को जानने से सब कुछ परिज्ञात होते हैं। कारण, जिस के भीतर में सब कुछ हैं, जिस को छोड़कर अपर कुछ भी नहीं है, उसका नाम ही अद्वय है। असम्पूर्ण अथवा खण्डित वस्तु को जानने के निमित्त सर्व शक्ति समन्वित यह मनुष्य जन्म नहीं हुआ है।

अद्वयमिति तस्याखण्डत्वं निर्दिश्यान्यस्य तदनन्यत्वविवक्षया तच्छक्तित्वमेवाङ्गीकरोति। तत्र शक्तिवर्ग-लक्षणतद्धर्म्मातिरिक्तं केवलं ज्ञानं ब्रह्मेति शब्द्यते, अन्तर्यामित्वमय-मायाशक्ति प्रचुर-चिच्छक्त्यंशविशिष्टं परमात्मेति, परिपूर्णसर्व्वशक्तिविशिष्टं भगवानिति। विवृतञ्चैतत् प्राक्तन-सन्दर्भत्रयेण ॥

७। तच्च त्रिधाविर्भावयुक्तमेव तत्त्वं भक्त्यैव साक्षादपि क्रियत इत्याह (भा० १।२।१२)—

७। "तच्छ्रद्दधाना मुनयो ज्ञानवैराग्ययुक्तया।
पश्यन्त्यात्मनि चात्मानं भक्त्या श्रुतगृहीतया ॥" १७॥

भक्त्या तत्कथारुचेरेव परावस्थारूपया प्रेमलक्षणया, तत् पूर्व्वमेवोक्तं तत्त्वम्, आत्मनि शुद्धे चेतसि पश्यन्ति च,—ज्ञानमात्रस्य का वार्त्ता, साक्षादपि कुर्व्वन्तीत्यर्थः। कीदृशं तत्?

प्रसिद्ध वस्तु में त्रिविध भेद दृष्ट होते हैं, स्व जातीय, विजातीय, एव स्वगत। मनुष्य--मनुष्य में जो भेद—अथवा चेतन–चेतनमें जो भेद-उसका नाम स्वजातीय भेद, मनुष्य पशु में जो भेद, अथवा जड़-चेतन में जो भेद, वह विजातीय भेद है। कर चरण में जो भेद— वह स्वगत भेद है। जो वस्तु— उक्त त्रिविध भेद शून्य है---वह 'अद्वय' नाम से अभिहित है। यह अद्वय वस्तु--ज्ञान स्वरूप है,--अर्थात् जड़ प्रतियोगी स्व प्रकाश है, वह जिस प्रकार स्व प्रकाश है, उस प्रकार अपर स्व प्रकाश वस्तु नहीं है---इस को ही स्वजातीय रहित कहते हैं। द्वितीय---वह तत्त्व वस्तु जिस प्रकार स्व प्रकाश है, उस का विरोधी परप्रकाश कोई भी जड़ वस्तु उस से पृथक् नहीं है— इसका नाम ही विजातीय भेद रहित है। एकही वस्तु होने के कारण-- सर्वत्र स्वगत भेद विवर्जितात्मा है।

उक्त तत्त्व वस्तु का आविर्भाव तीन प्रकार से होता है-- ज्ञानी के हृदय में ब्रह्म रूप में, योगि गण के हृदय में परमात्म रूप में, भक्त वृन्द के हृदय में एवं बाहर में भगवान् रूपमें एक अद्वय तत्त्व का आविर्भाव होता है ॥

उक्त त्रिविध आविर्भाव के मध्य में-- उक्त तत्त्व वस्तु शक्ति समूह रूप जो धर्म है--उक्त समस्त धर्मातिरिक्त केवल ज्ञान ब्रह्म शब्द से अभिहित होता है, अन्तर्य्यामित्वमय माया शक्ति प्रचुर चिच्छक्ति का अंश विशिष्ट ज्ञान का नाम परमात्मा है। अर्थात् जो स्वरूप, माया शक्ति एवं माया शक्ति का कार्य्य एवं चिच्छक्ति के अंश समूह का नियामक है, उसका नाम परमात्मा है, परिपूर्ण सर्वशक्ति विशिष्ट ज्ञान का नाम भगवान् है। तत्त्व, भगवत्, एवं परमात्म सन्दर्भ नामक सन्दर्भ त्रय में उक्त विषय समूह का विशेष विचार किया गया है, तज्जन्य उसका यहाँपर विशेष विस्तार नहीं हुआ। (६)

७। ब्रह्म, परमात्म, एवं भगवान् नामक त्रिविध आविर्भावयुक्त तत्त्व का साक्षात् कार भक्ति से ही होता है। इसका विवरण भा० १।२।१२ में इस प्रकार है--

(७) "तच्छ्रद्दधाना मुनयो ज्ञान वैराग्य युक्तया।
पश्यन्त्यात्मनि चात्मानं भक्त्या श्रुतगृहीतया" (१७)

टीका---तच्च तत्त्वं,---स परिकरया भक्त्या एव प्राप्यत इत्याह। तच्चेत्यन्वयः। ज्ञान वैराग्य युक्तयेत्यत्र ज्ञानं परोक्षम्। तच्च तत्त्वं आत्मनि क्षेत्रे पश्यन्ति। किं तत्? आत्मानं परमात्मानम्। श्रुतेन वेदान्त श्रवणेन गृहीतया प्राप्तया इति भक्तेर्दार्ढ्यमुक्तम्। श्रद्धालु मुनिवृन्द, ज्ञान वैराग्य निषेवित श्रवण

आत्मानं स्वरूपाख्य-जीवाख्य-मायाख्य-शक्तीनामाश्रयम्, ज्ञानवैराग्ययुक्तया स्वात्मजाभ्यां ताभ्यां सेवितया, अतएव च ते मुनयः पृथक् च विशिष्टञ्च स्वेच्छया पश्यन्तीत्यायाति। तदेवं 'श्रुतगृहीतया', 'मुनयः', 'श्रद्दधानाः' इति पद-त्रयेण तस्या एव भक्तेर्दोर्लभ्यं दर्शितम्। सद्-गुरोः सकाशाद्वेदान्ताद्यखिलशास्त्रार्थविचारश्रवणद्वारा यदि सा (भक्तिः) आवश्यकपरम-कर्त्तव्यत्वेन ज्ञायते, पुनश्च भा० २।२।३४)–

"भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया।
तदध्यवस्यत् कूटस्थो रतिरात्मन् यतो भवेत्॥"

इतिवद्यदि विपरीतभावनात्याजकौ मननयोग्यता-मननाभिनिवेशौ स्याताम्, ततः

कीर्त्तनादि रूप साधन लब्ध प्रीति लक्षण भक्ति योग के द्वारा उक्त त्रिविध आविर्भाव युक्त तत्त्व का साक्षात् कार शुद्ध हृदय में करते हैं

भगवत् कथा रुचिकी ही परावस्था रूपा प्रेम लक्षणा भक्तिके द्वारा पूर्वोक्त तत्त्व वस्तुका साक्षात्कार मुनिवृन्द, शुद्ध चित्त में करते रहते हैं। उक्त परतत्त्व विषयक ज्ञान की वार्त्ता क्या कहें, साक्षात् कार पर्य्यन्त भी करते रहते हैं। श्लोक में 'पश्यन्ति' क्रिया पद प्रदान का यह ही तात्पर्य है। उक्त तत्त्व वस्तु किस प्रकार है---उस का परिचय प्रदान करते हैं। 'आत्मानं' अर्थात् स्वरूपाख्य, जीवाख्य, मायाख्य, शक्ति समूह का एकमात्र आश्रय है। यहाँ आत्मा शब्द का आश्रय अर्थ ही है। "ज्ञान वैराग्य युक्तया" अर्थात् निज गर्भजात पुत्र द्वय जिस प्रकार जननी की सेवा करते रहते हैं, उस प्रकार ही भक्ति से आविर्भूत ज्ञान एवं वैराग्य कर्त्तृक श्रीभक्ति देवी सर्वदा निषेविता हैं, प्रीति लक्षणा भक्ति योग का आविर्भाव जिस परिमाण में होता है, उस परिमाण में ही श्रीभगवदनुभव एवं विषय वैराग्य स्वतः ही आविर्भूत होते हैं, उस के निमित्त स्वतन्त्र प्रयास करना नहीं पड़ता है। अतएव मुनिगण निज निज रुचि के अनुसार उक्त अद्वय तत्त्व का आक्षात् कार शक्ति शून्य केवल चिन्मात्र सत्तारूप में एवं शक्ति विशिष्ट रूप में करते रहते हैं। अतएव श्लोकस्थ 'श्रुत गृहीतया" "मुनयः" "श्रद्दधानाः" पदत्रय से भक्ति की दुर्लभता प्रदर्शित हुई है।

सद् गुरु की चरणाश्रय करके उनके समीप से वेदान्तादि निखिल शास्त्रार्थ विचार श्रवण द्वारा यदि श्रीभगवान् में भक्ति करना ही एकान्त कर्त्तव्य है, इस प्रकार बोध होता है, तो, एवं द्वितीय स्कन्ध के द्वितीय के चौतीस श्लोक।

"भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया।
तदध्यवस्यत् कूटस्थो रतिरात्मन् यतो भवेत्॥" १८॥

क्रमसन्दर्भ—सहि भक्तियोगः सर्व वेद सिद्ध इत्याह—भगवानिति।

टीका च—'भगवान् ब्रह्मा, कूटस्थो निर्विकार एकाग्रचित्तः सन् इत्यर्थः। त्रीन् वारान् कार्त्स्न्येन साकल्येन ब्रह्म, वेदमन्वीक्ष्य विचार्य्य, यत सात्मनि हरौ रति र्भवेत्। तदेव भक्ति योगाख्यं वस्तु मनीषया अध्यवस्यन्निश्चितवान्' इत्येषा। त्रिरन्वीक्ष्येति कर्म-ज्ञान-भक्ति प्रतिपादकतयाथि प्रेत्येति ज्ञेयम्। अत्राप्युप संहारानुरोधेनात्म--शब्दस्य हरिवाचकता, निरुक्तञ्च 'आततत्वाच्च मातृत्वायात्मा हि परमोहरिः' इति। अथवा, परमवेदविदा स एव मत इत्याह, भगवान् स्व प्रकाश सार्वज्ञ्याचि गुणः परमेश्वरोऽपि सर्व वेदाभिधेय साराकषण लीलार्थं त्रिरन्वीक्ष तत्र शास्त्रविदन्तराणामीक्षण मनुकृत्य, अनन्त वैकुण्ठ वैभवादि मयानामनन्त विरिञ्चि पाठभेदानां वेदानां तथेक्षणञ्च तेनैव सम्भवतीत्याह, कूटस्थ एक रूप तयैव

श्रद्दधानैः- सा भक्तिरूपासनद्वारा लभ्यते इति । अतः श्रुतिरपि तदर्थमागृह्णाति (वृ० ४।५।६) "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इत्यत्र निदिध्यासनमुपासनम्, दर्शनं साक्षात्कार उच्यते ॥

८ । सा चैवं दुर्लभा भक्तिः श्रीहरितोषणे प्रयुक्तात् स्वाभाविकधर्म्मादपि लभ्यते । तस्मात् हरितोषणमेव तस्य परमफलमित्याह (भा० १।२।१३)--

(८) "अतः पुंभिर्द्विजश्रेष्ठा वर्णाश्रमविभागशः ।
स्वनुष्ठितस्य धर्म्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम् ॥" १८॥

स्वनुष्ठितस्य बहुप्रयत्नेनाच्छिद्रमुपार्ज्जितस्येति तुच्छे स्वर्गादिफले तत्प्रयोगोऽतीवायुक्त इति भावः ॥

९ । यद्येवं श्रीहरिसन्तोषकस्यापि धर्म्मस्य फलं श्रवणादिरुचिलक्षणा भक्तिरेव, तदनुगतास्तत्-प्रवर्त्तिताश्च ज्ञानवैराग्यादिगुणा इत्यायातम्, तदा साक्षाच्छ्रवणादिरूपा भक्तिरेव

काल व्यापीति । अतएवोक्तं स्वयमेव--भा० ११।२१।२४ "किं विधत्ते किमाचष्ट, किमनूद्य विकल्पयेत् । इत्यस्या हृदयं लोके नान्यो मद्वेद कश्चन । इति । श्रीशुकेन च भा० ११।२९।४९ " निगमकृदुपजह्रे भृङ्गवद्वेदसारम् । इति ।

भगवान् ब्रह्म निज प्रज्ञाके द्वारा निखिल वेद का तात् पर्य्य की समालोचना तीन वार करके यह ही निश्चय किये थे— जिस धर्म का अनुष्ठान करने से श्रीहरि में प्रीति लक्षणा भक्ति होती है, वह ही निखिल वेदों का एकमात्र सार उपदेश है। इस प्रकार अथ विचार में यदि विपरीत भावनात्याजक मननयोग्यता होती है एवं मननाभिनिवेश भी होता है, तब दृढ़ विश्वासयुक्त भक्तवृन्द, उक्त प्रीतिलक्षणा भक्ति प्राप्त कर सकते हैं। अतएव श्रुति श्रवण मननादि अनुष्ठान हेतु आग्रह करती है। आत्मा का दर्शन करना चाहिये, श्रवण करना चाहिये, मनन करना चाहिये, एवं निदिध्यासन भी करना चाहिये।

यहाँ दर्शन शब्द का अर्थ - साक्षात् कार है, निदिध्यासन शब्द का अर्थ—उपासना है ॥७॥

८। उक्त पूर्वोक्त लक्षणाक्रान्त भक्ति, श्रीहरि सन्तोषार्थ अनुष्ठित स्वाभाविक धर्मसे भी उदित होती है, अतएव उक्त धर्म का भीसन्तोष ही परम फल है, उसको भा० १।१।१३ के द्वारा कहते हैं—

(८) अतः पुंभिर्द्विजश्रेष्ठा वर्णाश्रम विभागशः।
स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धि र्हरितोषणम् ॥१९॥

टीका—"श्रवणादि गृहीत धर्मस्य फलं भक्तिः, नार्थकामादिकमितीममर्थ मुपपाद्योपसंहरति- अत इति। हे द्विज श्रेष्ठाः! हरि तोषणं हरेराराधनं संसिद्धिः फलम् ॥"

हे द्विज श्रेष्ठ गण! अतएव वर्ण एवं आश्रय के विभागानुसार पुरुष गण कर्त्तृक निर्दिष्ट रूप से अनुष्ठित धर्म का फल हरि सन्तोष है। 'स्वनुष्ठितस्य'-अर्थात् अतिशय प्रयत्न द्वारा निर्दिष्टभाव से उपार्जित का प्रयोग, तुच्छ स्वर्गादि फलोद्देश्य में करना अतीव अयुक्त है। यह ही 'स्वनुष्ठित' पद प्रयोग का तात् पर्य्य है ॥ (८)

९। यदि उक्त प्रकार से श्रीहरि सन्तोषणार्थ में स्वनुष्ठित धर्म का फल--श्रीहरि कथा श्रवणादि रुचि लक्षणा भक्ति ही है, पुनर्वार उक्त भक्ति के द्वारा प्रवर्त्तित अर्थात् सञ्जात प्रीति लक्षणा भक्ति के अनुगत

कर्त्तव्या, किं तत्तदाग्रहेणेत्याह (भा० १।२।१४)—

(९) "तस्मादेकेन मनसा भगवान् सात्वतां पतिः।
श्रोतव्यः कीर्त्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्च नित्यदा॥"२०॥

एकेन कर्म्माद्याग्रहशून्येन श्रवणमत्र नामगुणादीनाम्, तथा कीर्त्तनञ्च॥

१०। तत्रैवान्तिम भूमिकापर्य्यन्तां सुगमां शैलीं वक्तुं धर्म्मादिकष्टनिरपेक्षेण युक्ति मात्रेण तत्-प्रथमभूमिकां श्रीहरिकथारुचिमुत्पादयंस्तस्य गुणं स्मारयति (भा० १।२।१५)—

(१०) "यदनुध्यासिना युक्ताः कर्म्म ग्रन्थिनिबन्धनम्।
छिन्दन्ति कोविदास्तस्य को न कुर्य्यात् कथारतिम्॥"२१॥

कोविदा विवेकिनः, युक्ताः संयतचित्ता यस्य हरेः 'अनुध्या' अनुध्यानं चिन्तनमात्रं स एवासिः खड्गस्तेन ग्रन्थिं नानादेहेष्वहङ्कारं निबध्नाति यस्तात् कर्म्म छिन्दन्ति, तस्यैवम्भूतस्य

रूप में ज्ञान वैराग्या द गुण समूह उदित होते हैं। पूर्वोक्त श्लोक समूह से इस अर्थ का बोध हुआ। ऐसा होने पर साक्षात् श्रीहरि कथा श्रवण कीर्त्तनादि रूपा भक्ति का अनुष्ठान करना ही कर्त्तव्य है। व्यर्थ कर्मादि अनुष्ठानाग्रह की आवश्यकता ही क्या है? उक्त अभिप्राय से ही श्रीसूतने भा० १।२।१४ में कहा है-

(९) "तस्मादेकेन मनसा भगवान् सात्वतां पतिः।
श्रोतव्यः कीर्त्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्च नित्यदा॥"२०॥

टीका—यस्माच्च भक्ति हीनो धर्मः केवलं श्रमएव, तस्माद् भक्ति प्रधान एव धर्म्मोऽनुष्ठेय इत्याह-तस्मादिति। एकेन-एकाग्रेण मनसा॥ (२४)

"एकेन" काम्यकर्मादि अनुष्ठान का आग्रह शून्य मन के द्वारा। भक्ति का अनुष्ठान करना चाहिये। यहाँ श्रवण शब्द से श्रीभगवान् के नाम, रूप, गुण, लीला परिकर का विवरण श्रवण को जानना चाहिये, किन्तु ज्ञानाङ्ग साधन श्रवण मननादि को समझना नहीं चाहिये। कीर्त्तन एवं स्मरण का एकरूप अर्थ को जानना होगा॥ (९)

१०। उक्त भक्ति अनुष्ठान प्रसङ्ग में—भक्ति की अन्तिम भूमिका प्रीति लक्षणा भक्ति, का सुख साध्यत्व एवं सुख भावत्व कथन हेतु, धर्मादि अनुष्ठान कष्ट निरपेक्ष युक्ति के द्वारा भक्ति की प्रथम भूमिका श्रीहरि कथा में रुचि उत्पादन हेतु भक्ति योग का गुण वर्णन भा० १।२।१५ के द्वारा करते हैं।

(१०) यदनुध्यासिना युक्ताः कर्म ग्रन्थिनिबन्धनम्।
छिन्दन्ति कोविदास्तस्य को न कुर्य्यात् कथारतिम्॥" २१॥

टीका—भक्ति विहीनो धर्मः केवलं श्रम एवेत्युक्तम्, इदानीन्तु भक्तेर्मुक्तिफलत्वं प्रपञ्चयन्ति यदिति। यस्य अनुध्यानं, सैव असिः, खड्गः, तेन युक्ता विवेकिनः, ग्रन्थिं अहङ्कारं--निबध्नाति, यत् कर्म तत्छिद्यन्ति, तस्य कथायां रतिं को न कुर्य्यात्॥" (१५)

संयतचित्त विवेकिगण, अनवरत श्रीभगवत् ध्यान रूप खड्ग के द्वारा देह समूह में स्थित अहङ्कार रूप कर्म ग्रन्थि को छेदन करते रहते हैं, कौन व्यक्ति—उक्त श्रीहरि कथा में रुचि न करके रह सकेंगे।

सत् असत् विचार सम्पन्न व्यक्ति को कोविद कहते हैं। "युक्ताः" शब्द का अर्थ —भक्तयङ्ग अनुष्ठान में संयतचित्त है, अर्थात् लय विक्षेपादि रहित है। "अनुध्यानासिना" अनवरत भगवच्चिन्ता रूप

परमदुःखादुद्धर्त्तुः कथायां रतिं रुचिं को न कुर्य्यात् ॥

११। नन्वेवमपि तस्य कथारुचिर्मन्दभाग्यानां च न जायत इत्याशङ्क्य तत्र सुगमोपायं वदन् तामारभ्य नैष्ठिकीपर्य्यन्तां भक्तिमुपदिशति पञ्चभिः (भा० १।२।१६)--

(११) "शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य वासुदेवकथारुचिः ।
स्यान्महत्सेवया विप्राः पुण्यतीर्थनिषेवणात् ॥"२२॥

(भा० १०।८७।३५) "भुवि पुरुपुण्यतीर्थसदनानृषयो विमदाः" इत्याद्यनुसारेण 'प्रायस्तत्र व सङ्गो भवति' इति तदीयटीकानुमत्या च पुण्यतीर्थनिषेवणात् हेतोर्लब्धा यदृच्छया या महत्

खड्ग के द्वारा, "कर्म ग्रन्थि निबन्धन" जो कर्म विभिन्न शरीर में अहङ्कार उत्पन्न करता है, इस प्रकार कर्म ग्रन्थि को छेदन करता है, इस प्रकार कर्म दुःख से उद्धार कारिणी श्रीहरि कथा में प्रीति न करके कौन व्यक्ति रह सकते हैं ? ॥१०॥

११। उक्त सिद्धान्त के ऊपर प्रश्न हो सकता है कि—मन्दभाग्य जनगण की परम कारुणिक हरि कथा में रुचि नहीं होती है, इस प्रकार शङ्का करके रुचि प्राप्त करने का उपाय को कहते कहते श्रीहरि कथा रुचि से आरम्भ कर पाँच श्लोक के द्वारा नैष्ठिकी भक्ति का उपदेश प्रदान करते हैं भा० १।२।१६ में उक्त है—

(११) "शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य वासुदेवकथारुचिः ।
स्यान्महत्सेवया विप्राः पुण्यतीर्थनिषेवणात् ॥" २२॥

टीका—ननु सत्यमेव कर्मनिर्म्मूलनी हरिकथा रतिः । तथापि तस्यां रुचिर्नोत्पद्यते किङ्कुर्म्मस्तत्राह शुश्रूषोरिति । पुण्यतीर्थ निषेवणात्, निष्पापस्य महत् सेवा स्यात् तया च तद्धर्मश्रद्धा । ततः श्रवणेच्छा । ततोरुचिस्यादित्यर्थः ॥" (१६)

हे विप्रगण ! पवित्र तीर्थ निषेवण से प्रायशः महापुरुष वृन्द की सेवा करने का सौभाग्य उपस्थित होता है । उक्त सेवा से श्रीहरि कथा में श्रद्धालु श्रवणेच्छु जन की वासुदेव की कथा में रुचि उत्पन्न होती है । (११)

निरभिमानी ऋषिवृन्द, यद्यपि सतत श्रीहरि ध्यान परायण होने के कारण परम पवित्र हैं, तथापि भू मण्डल के मध्य में बहुल पवित्रतीर्थ में गमन एवं वासादि के द्वारा उक्त तीर्थ समूह को पवित्र करते हैं । भा० १०।८७।३५ श्लोक के अनुसार पवित्रतीर्थ स्थान में गमन में महापुरुष प्रसङ्ग होता है ।

"भुवि पुरु पुण्य तीर्थ सदनान्यृषयो विमदा,
स्त उत भवत् पदाम्बुजहृदोऽघभिदङ्घ्रिजलाः ।
दधति सकृन्मनस्त्वयि य आत्मनि नित्यसुखे
न पुन रुपासते पुरुषसार हरावसथान् ॥

टीका—एवं गुरूपदेशेन तत्त्वमवगम्य सारासार विवेके च सर्व तो निर्विद्य तदैव महत्सङ्गेनोपपत्तिभिः सम्यगवधारयितुं तीर्थ सदनानि मुनयः पर्य्यटन्तीति श्रोतव्यो मन्तव्य इत्यादि श्रुत्यर्थमाह, भुवि पुरुपुण्यतीर्थ सदनानीति । ते उक्त लक्षणा ऋषयो विमदाः, निरहङ्काराः, यतो भवत् पदाम्बुज हृदः । भवतः पदाम्बुजं हृदि येषां ते "अतः स्वयमेवाघभिदङ्घ्रिजलाः अघभित् अङ्घ्रिजलं येषां ते । उत अपि तथा विधा अपि पुरूणि बहूनि पुण्यानि तीर्थानि सदनानि च क्षेत्राणि तान्येवोपासते सेवन्ते प्राय स्तत्रैव महत् सङ्गो भवतीति । अथवा पुरु अधिकं भगवद् भजन लक्षणं पुण्यं येषां तानि च तानि तीर्थानि च गुरवो महान्त

सेवा तया वासुदेवकथारुचिः स्यात् । कार्य्यान्तरेणापि तीर्थे भ्रमतो महतां प्रायस्तत्र भ्रमतां तिष्ठतां वा दर्शन-स्पर्शन-सम्भाषणादिलक्षणा सेवा स्वत एव सम्पद्यते तत्प्रभावेन तदीयाचरणे श्रद्धा भवति । तदीयस्वाभाविक-परस्पर-भगवत् कथायां किमेते सङ्कथयन्ति तत् शृणोमीति तदिच्छा जायते, तच्छ्रवणेन च तस्यां रुचिर्जायत इति । तथा च महद्भ्य एव श्रुता झटिति कार्य्यकरीति भावः । तथा च श्रीकपिलदेववाक्यम् (भा० ३।२५।२३) "सतां प्रसङ्गान्मम वीर्य्य-संविदो, भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः" इत्यादि ॥

इत्यर्थः । तेषां सदनानि आश्रमान् । यथाह अमरसिंहः । निपानागमयो स्तीर्थमृषिजुष्टेजले गुराविति । न पुनः पुरुष सार हरावसथानुपासते । पुरुषाणां सारं विवेकस्थैर्य्यक्षमा शान्ति प्रमुखं हरन्तीति तथा ते च ते अवसथा गृहा स्तान् । न च तेषां गृहादि कुत्सित सुखापेक्षेत्याह, दधति सकृन्मनस्त्वयि य आत्मनि नित्य-सुखे—इति । सकृदपि त्वयि जो मनोदधतीति तेऽपि गृहाद्यासक्ता न भवन्ति किं पुनरेवम्भूता इत्यर्थः ।

मुञ्चन्नङ्ग तदङ्ग सङ्गमनिशं त्वामेव सञ्चिन्तयन्
सन्तः सन्ति यतो यतो गतमदास्तानाश्रमानावसन् ।
नित्यं तन्मुख पङ्कजाद्विगलितत्वत् पुण्य गाथामृत
स्रोतः संप्लव संप्लुतो नरहरे न स्यामहं देहभृत् ॥"(३५)

टीकाकार श्रीधर स्वामिपाद के अभिप्रायानुसार पुण्यतीर्थ निषेवण हेतु महापुरुष सङ्ग प्राप्ति की सम्भावना है । उक्त महत् सङ्गरूप सेवा द्वारा वासुदेव की कथा में रुचि उत्पन्न होती है । कार्य्यान्तर हेतु पवित्र तीर्थ में भ्रमण कारी मानवों को तीर्थ सेवनोद्देश से समागत, अथवा उक्त पवित्र तीर्थ में अवस्थित महा पुरुष वृन्द के दर्शन, स्पर्शन, एवं सम्भाषणादि रूप सेवा सौभाग्य अनायास मिलता है, कारण, वहिमुंख जीवों के पक्ष में महापुरुषवृन्द का अनुसन्धान कर उनके सङ्ग करने का प्रयत्न होना असम्भव है । उक्त महापुरुष वृन्द के दर्शन एवं स्पर्शादि प्रभाव से उनके आचरण में श्रद्धा अर्थात् विश्वास उत्पन्न होता है । उक्त महापुरुष गण द्वारा प्रवर्त्तित स्वभाव सिद्ध पारस्परिक भगवत् कथा में "यह सब किस विषय की अलोचना करते रहते हैं मैं श्रवण करूँ" इस प्रकार इच्छा भी होती है । उस समय उक्त महापुरुष के मुख विगलित श्रीहरि कथा श्रवण जन्य उक्त भगवत् कथा में रुचि कभी आविर्भाव होता है । है । इस रीति से वहिर्मुख जीवों को पवित्र तीर्थ निषेवण के द्वारा श्रीहरि कथा में रुचि प्राप्त करने की सम्भावना है । यह श्रीहरि कथा का श्रवण, महापुरुष के मुख से होने पर अति सत्वर कार्य्य करी होता है, अर्थात् रुचि प्रभृति उत्पन्न होते हैं । इस अभिप्राय से ही भगवान् कपिलदेवने निज जननीदेवहूति को भा० ३।२५।२५ में कहा है—

"सतां प्रसङ्गान् मम वीर्य्य संविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः ।
तज्जोषणादाश्वपवर्ग वर्त्मनि श्रद्धा रति र्भक्तिरनुक्रमिष्यति ॥"

टीका—सत्सङ्गस्य भक्तचङ्गतामुपपादयति–सतामिति । वीर्य्यस्य--सम्यग् वेदनंयासु ता वीर्य्य संविद, हृत्कर्णयो रसायनाः सुखदाः । तासां जोषणात्-सेवनात्, अपवर्गोऽविद्या निवृत्तिर्वर्त्म यस्मिन् तस्मिन् हरौ प्रथमं श्रद्धा, ततोरतिः, ततो भक्ति,अनुक्रमिष्यति, क्रमेण भविष्यतीत्यर्थः ॥२५॥

हे मातः ! साधु वृन्द के प्रकृष्ट सङ्ग से मेरी प्रभाव ज्ञापिका हृत् कर्ण रसायन कथा का श्रवण होता है । उक्त कथा का श्रवण, आसक्ति पूर्वक करने पर अति सत्वर श्रद्धा, (साधन भक्ति) रति, (भाव भक्ति) भक्ति-(प्रेम भक्ति) अनुक्रम से आविर्भूता होती हैं ॥११॥

१२। ततश्च(भा० ११२।१७)—

(१२) "शृण्वतां स्वकथाः कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्त्तनः।
हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत् सताम्॥" २३॥

कथाद्वारा अन्तःस्थो भावनापदवीं गतः सन् हृदि अभद्राणि वासनाः॥

१३। ततश्च (भा० ११२।१८)—

१३। "नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया।
भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी॥" २४॥

नष्टप्रायेषु, न तु ज्ञानमिव सम्यङ्नष्टेष्विति भक्तेर्निरर्गलस्वभावत्वमुक्तम्। भागवतानां

१२। साधुसङ्ग से श्रीहरि कथा श्रवण में रुचि होने के पश्चात्—जिनके कथा श्रवण एवं कीर्त्तन जीव मात्र के हृदय शोधक है, उन श्रीकृष्ण भी, निज कथा श्रवण कारी भक्त वृन्द के हृदयमें विद्यमान होकर अशुभ वासना समूह को विदूरित करते रहते हैं, कारण, श्रीकृष्ण, साधुवृन्द के परम सुहृत् हैं।

(भा० ११२।१७)

(१२) "शृण्वतां स्वकथाः कृष्णः पुण्य श्रवण कीर्त्तनः
हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत् सताम्॥" (२३)

टीका—ततश्च शृण्वतामिति। पुण्ये श्रवण कीर्त्तने यस्य सः। सतां सुहृत् हितकारी। हृदि यानि अभद्राणि कामादि वासनाः, तानि। अन्तःस्थः—हृदयस्थः सन्। (१७)

"अन्तस्थः" हरिकथा श्रवण के द्वारा चिन्तापथ के पथिक होकर श्रीहरि "अभद्राणि" विविध दुर्वासनाको विदूरित करते रहते हैं, अर्थात् यावत् परिमाण में हृदय में श्रीहरिचिन्ता का उदय होता रहता है, तावत् परिमाण में हृदय से दुर्वासना विदूरित होती रहती है।(१२)

(१३) अनन्तर भा० १।२।१८ में कहते हैं—

(१३) "नष्ट प्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवत सेवया।
भगवत्युत्तम श्लोके भक्ति र्भवति नैष्ठिकी॥"२४॥

टीका—ततश्च नष्ट प्रायेष्विति। सर्वाभद्रानाशस्य ज्ञानोत्तरकालत्वात् प्राय ग्रहणम्। भागवतानां भागवत शास्त्रस्य वा सेवया नैष्ठिकी--निश्चला, विक्षेपाभावात् (१८)

समस्त दुर्वासना विनष्ट प्राय होने पर, भगवद् भक्त एवं भागवत शास्त्र की नित्य सेवा द्वारा उत्तम श्लोक श्रीभगवान् में नैष्ठिकी भक्ति का आविर्भाव होता है। "नष्ट प्रायेषु" जिस प्रकार ज्ञानि वृन्द की ज्ञान साधन में अशुभ वासना सम्यक् विनष्ट न होने पर ध्रुवानुस्मृति का उदय नहीं होता है, अर्थात् लय विक्षेपादि द्वारा अभेद चिन्ता की बाधा अपसारित नहीं होती है, भक्ति मार्ग में उस प्रकार सम्यक् वासना निवृत्ति की अपेक्षा नहीं है। सूक्ष्मरूप में विषय वासना विद्यमान होने पर भी भक्ति अनुष्ठान में अथवा अनवरत भगवद् ध्यान में अप्रतिहत गति गङ्गा स्रोत के समान श्री हरि चरण सिन्धु के प्रति अविच्छिन्ना मननगति प्रवृत्ति होती है। लय, विक्षेप, कषाय, रसास्वाद, एवं अप्रति पत्ति के द्वारा मनोगति, भगवच्चरण सिन्धु से विचलित नहीं होती है। इस अवस्था का नाम निष्ठाभक्ति अथवा ध्रुवानुस्मृति है। "भागवत सेवया" भगवद् भक्त अथवा भागवत शास्त्र की सेवा द्वारा ध्रुवानुस्मृति होती है। प्रसङ्ग एवं परिचर्य्या-भेद से भगवद् भक्तगण की सेवा द्विविध हैं। श्रीमद् भागवत ग्रन्थ की सेवा श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण भेद से

भागवत-शास्त्रस्य च सेवया भक्तिरनुध्यानरूपा नैष्ठिकी सन्ततैव भवति ॥

१४। तदेव (भा० ११।२।५३) "त्रिभुवनविभव-हेतवेऽप्यकुण्ठस्मृतिः" इत्याद्युक्त-रीत्या सर्व्व-वासनानाशात् चित्तं शुद्धसत्त्वमग्नं सत् भगवत्तत्त्व-साक्षात्कारयोग्यं भवतीत्याह (भा० १।२।१९)—

(१४) "तदा रजस्तमोभावाः कामलोभादयश्च ये ।
चेत एतैरनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति ॥" २५॥

रजश्च तमश्च ये च तत् प्रभवा भावाः कामादयः, एतैरित्यन्वयः ॥

१५। (भा० १।२।२०) —

तीन प्रकार है। इस प्रकार सेवा करते करते भगवान् में अनवरत ध्यान रूपा नैष्ठिकी भक्ति, जाग्रत, स्वप्न, एवं सुषुप्ति---यह तीन अवस्था में ही अविच्छेद रूप से प्रवृत्त होती है ॥१३॥

१४। उस समय में ही "भा० ११।२।५३"

" त्रिभुवन विभव हेतवे ऽप्यकुण्ठ स्मृतिरजितात्म सुरादिभि र्विमृग्यात् ।
न चलति भगवत् पदारविन्दात् लव निमिषार्द्धमपि स वैष्णवाग्र्यः ॥"

टीका—"किञ्च त्रिभुवन विभव हेतवेऽपि त्रैलोक्य राज्यार्थ मपि, लवार्थ मपि, निमेषार्द्धमपि, भगवत् पदारविन्द भजनात् यो न चलति स वैष्णवाग्र्य. । ननु लवार्थ मात्र भजनोपरमे चेत् तावान् लाभो भवेत् तत् कुतो न चलेत्—तत्राह,–अकुण्ठ स्मृति, भगवत् पदतोऽन्यत् सारं नास्तीत्येवं रूपा अनपगता स्मृतिर्यस्य सः। भगवत् पदारविन्दात् अन्यत् सारं नास्तीति--कुतः ? अत आह। अजिते हराविव आत्मयेषां तथाभूतैः सुरादिभिरपि दुर्ल्लभात् किन्तु केवलं विमृग्यात्। तदपेक्षया सर्वस्य तुच्छत्वंस्मरन् यो न चलतीत्यर्थः ॥"

त्रिभुवन की विभव प्राप्ति का हेतु उपस्थित होने पर भी भगवत् चरणारविन्द से जिस की मति लवनिमेषार्द्ध काल के निमित्त भी विचलिता नहीं होती है. वह ही वैष्णवाग्रणी है। इस रीति से समस्त वासना विनष्ट हो जाती हैं, उस समय चित्त, विशुद्ध सत्त्व में निमग्न होकर भगवत्तत्त्व साक्षात् का योग्य होता है। भा० १।२।१९ में कहा है—

(१४) "तदा रजस्तमोभावाः कामलोभादयश्च ये ।
चेत एतैरनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति ॥"२५॥

टीका—रजस्तमश्च ये च तत् प्रभावाः, भावाः, कामादयः, एतैरनाविद्धमनभिभूतं, प्रसीदति उपशाम्यति ॥१९॥

उस समय रजः, तमः गुण से उत्पन्न लय एवं विक्षेप, एवं कामलोभ प्रभृति भगवच्चिन्तना के बाधक कषाय रसास्वाद एवं अप्रतिपत्ति प्रभृति, चित्त को स्पर्श नहीं कर सकते हैं। अर्थात् लय, विक्षेप, कषाय रसास्वाद एवं अप्रति पत्ति भगवच्चिन्तन में बाधा उत्पन्न करने में असमर्थ होते हैं। कारण, वह चित्त, विशुद्ध सत्त्व में अवस्थित होने के कारण, सतत प्रसन्न रहता है। उक्त श्लोक का अन्वय इस प्रकार है। रजः, तमः, एवं रजः तमः से उत्पन्न कामलोभ प्रभृति जो भाव समूह हैं। इनके द्वारा चित्त आकृष्ट नहीं होता है ॥१४॥

१५। भा१।२।२० में उक्त है—

(१५) एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः ।
भगवत्तत्त्व-विज्ञानं मुक्तसङ्गस्य जायते ॥"२५॥

एवं पूर्व्वोक्तप्रकारेण प्रसन्नमनसस्ततो मुक्तसङ्गस्य त्यक्तकामादि-वासनस्य भक्तियोगतः पुनरपि क्रियमाणात्तस्माद्विज्ञानं साक्षात्कारो मनसि वहिर्वा भावनां विनैवानुभवो यः, स जायते ॥

१६। तस्य च परमानन्दैकरूपत्वेन स्वतः फलरूपस्य साक्षात्कारस्यानुषङ्गिकं फलमाह (भा० १।२।२१)—

(१६) "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे ॥" १७॥

हृदयग्रन्थिरुपाध्यहङ्कारः सर्व्वसंशयाश्छिद्यन्त इति श्रवण-मननादि-प्रधानानामपि तस्मिन् दृष्ट एव सर्व्वे संशयाः समाप्यन्त इत्यर्थः। तत्र श्रवणेन तावज्ज्ञेयगतासम्भावनाश्छिद्यन्ते,

---

(१५) " एवं प्रसन्न मनसो भगवद्भक्तियोगतः ।
भगवत्तत्त्व विज्ञानं मुक्त सङ्गस्य जायते ।।"(२६)

टीका—भगवद् भक्ति योगतः, प्रसन्नमनसः, अतएव मुक्तसङ्गस्य ।

भगवत्तत्त्व विज्ञान का आविर्भाव प्रसङ्ग को कहते हैं। उक्त रीति से प्रसन्न चित्त मुक्त सङ्ग भक्त के हृदय में भगवद् भक्ति योग के प्रभाव से भगवत्तत्त्व का अनुभव प्रकाशित होता है।

'एवं पूर्वोक्त प्रकार प्रसन्न चित्त, अतएव मुक्त सङ्ग अर्थात् कामादि वासना रहित भक्त, पुनर्वार अनुष्ठित भक्ति योग से भावना व्यतीत ही मन में भगवत्तत्त्व का साक्षात्कार अर्थात् अनुभव करने में सक्षम हैं ।।१५।।

१६। उक्त भगवत् साक्षात् कार--परमानन्द स्वरूप है, अतएव उक्त साक्षात् कार भगवत् भक्ति का फल स्वरूप है। भा० १.२.२१ में कथित हैं—

(१६) ' भिद्यते हृदय ग्रन्थिच्छिद्यन्ते सर्व संशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे ।।'' २७।।

टीका—ज्ञानफलमाह, भिद्यत इति। हृदयमेव ग्रन्थिः चिज्जड़ ग्रन्थनरूपोऽहङ्कारः, अतएव सर्वे संशया असम्भावनादि रूपाः कर्माण्यनारब्ध फलानि। आत्मनि स्वरूपभूते ईश्वरे दृष्टे साक्षात् कृतेसति। एव कारेण ज्ञानानन्तरमेवेति दर्शयति।

ईश्वर परमात्मा का साक्षात् कार करने पर देहादि के प्रति हृदय की अहङ्कार रूप ग्रन्थी विनष्ट हो जाती है। संशय समूह विनष्ट होने पर--कर्म क्षय होता है। ये तीन—भगवत् साक्षात् कारके मुख्य फल नहीं हैं, किन्तु आनुसङ्गिक फल है, जिस प्रकार पाक कार्य्य हेतु अग्नि प्रज्वालित करने पर—उसका आनुसङ्गिक कार्य्य अन्धकार नाश, वस्तुका प्रकाश, एवं शीत भयादि की निवृत्ति है, उसप्रकार ही भगवत् साक्षात् कार से पूर्वोक्त अहङ्कार ग्रन्थिभेदन, संशय निवारण, कर्मक्षय आनुषङ्गिक रूप से होते हैं।

शरीर प्रभृति में अहङ्कार को ही हृदय ग्रन्थी कहते हैं। "सर्व संशयाश्छिद्यन्त इति" जो मानव अनवरत ज्ञान साधन के अङ्ग रूप श्रवण मननादि का अनुष्ठान प्रधान रूप से करते रहते हैं, उनके समस्त

मननेन तद्‌गत विपरीतभावना, साक्षात्कारेण त्वात्मयोग्यतागतासम्भावना-विपरीतभावने इति ज्ञेयम्, क्षीयन्ते तदिच्छा-मात्रेणैव तदाभासो न किञ्चिदेव तेष्ववशिष्यत इत्यर्थः ॥

१७। अत्र प्रकरणार्थे सदाचारं दर्शयन्नुपसंहरति, (भा० १।२।२२)–

(१७) "अतो वै कवयो नित्यं भक्तिं परमया मुदा ।
वासुदेवे भगवति कुर्व्वन्त्यात्मप्रसादनीम् ॥" २८॥

आत्मप्रसादनीं मनसः शोधनीम्, न केवलमेतावद्‌गुणत्वं तस्याः, किञ्च परमया मुदेति कर्म्मानुष्ठानवत् न साधनकाले साध्यकाले वा भक्त्यनुष्ठानं दुःखरूपम्; प्रत्युत सुखरूपमेवेत्यर्थः । अतएव नित्यं साधकदशायां सिद्धदशायाञ्चैव तावत् कुर्व्वन्तीत्युक्तम् ॥ श्रीसूतः ॥

१८। तदेवं कर्म्म-ज्ञान-वैराग्ययत्न–परित्यागेन भगवद्भक्तिरेव कर्त्तव्येति मतम् । कर्म्म

संशय--परमात्म साक्षात्कार से विदूरित होते हैं, उस के मध्य में श्रवण के द्वारा ज्ञेय परतत्त्वगत असम्भावना की निवृत्ति होती है। मनन के द्वारा, ज्ञेयगत विपरीत भावना निवृत्ता होती है, आत्मतत्त्व साक्षात् कार के द्वारा—निज योग्यतागत असम्भावना एवं विपरीत भावना की निवृत्ति होती है। संशय निवृत्ति के क्रम को उक्त प्रकार से ही जानना होगा।

"क्षीयन्ते" भगवदिच्छा मात्र से ही निखिल कर्मक्षय होते हैं। अर्थात् कृत, क्रियमाण, एवं करिष्यमाण कर्म का कुछ भ अवशेष नहीं रहता है, आभास भी विनष्ट हो जाता है। कारण, भक्ति अनुष्ठ न के सहित ही कर्मक्षय ह ना प्रारम्भ होता है। किन्तु सम्पूर्ण कर्मक्षय,— भगवत् साक्षात् कार से ही होता है। प्रकरण का अभिप्राय यह हो है ॥१६॥

१७। इस प्रकारण में वर्णित विषय का सदाचार को दर्शाकर प्रकरण का उपसंहार करते हैं। भा० १।२।२२

१७। "अतो वै कवयो नित्यं भक्तिं परमयामुदा ।
वासुदेवे भगवति कुर्व्वन्त्यात्मप्रसादनीम् ॥

टीका—तत्र सद चारं दर्शयन् उपसंहरति अत इति आत्म प्रसादनीं—मनः शोधनीं वासुदेवे भक्तिं कुर्वन्तीति भजनीय विशेषो दर्शितः ॥

अतएव मन.षिवृन्द, परम आनन्द के सहित भगवान् वासुदेव के प्रति नित्य चित्त शोधन कारिणी भक्ति करते रहते हैं।

"आत्म प्रसादनीं" अर्थात् मनः शोधन कारिणी। भक्ति का केवल मात्र यह ही गुण नहीं है, किन्तु "परमया मुदा" अर्थात् कर्मानुष्ठान, जिस प्रकार साधन एवं साध्य काले दुःखद है,भक्ति अनुष्ठान उस प्रकार नहीं है। भक्ति—अनुष्ठान साधन काल में भी सुखरूप है, साध्य काल में भी सुख रूप है। अतः "परमया मुदा" का उल्लेख हुआ है।

अतएव साधन काल में भी आनन्द रूप है, एवं साध्य काल में भी आनन्द रूप है। तज्जन्य "नित्यं पद का उल्लेख हुआ है अर्थात् साधक दशामें एवं सिद्ध दशामें भी भगवान् में भक्ति करते रहते हैं। भा० १।२।३ से १७ श्लोक पर्य्यन्त, श्रीसूतने भक्ति प्रकरण को कहा है ॥१७॥

१८। अतएव काम्य कर्म, ज्ञान, वैराग्य प्रभृति के प्रति यत्न परित्याग पूर्वक श्रीभगवान् में भक्ति करना ही कर्त्तव्य है—इस प्रकरण का यही तात् पर्य्य है। कर्म विशेष रूप देवतान्तर का भजन करना भी

विशेषरूपं देवतान्तरभजनमपि न कर्त्तव्यमित्याह सप्तभिः। तत्रान्येषां का वार्त्ता, सत्यपि श्रीभगवत एव गुणावतारत्वे श्रीविष्णुवत् साक्षात्परमब्रह्मत्वाभावात् सत्वमात्रोपकारकत्वाभावाच्च, प्रत्युत रजस्तमोवृंहणत्वाच्च, ब्रह्मशिवावपि श्रेयोऽर्थिभिर्नोपास्याविरयत्र द्वौ श्लोकौ परमात्मसन्दर्भ एवोदाहृतौ (भा० १।२।२३-२४) —

"सत्त्वं रजस्तमो इति प्रकृतेर्गुणास्तै-
र्युक्तः परः पुरुष एक इहास्य धत्ते।
स्थित्यादये हरि--विरिञ्चि--हरेति संज्ञाः
श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनोर्नृणाँ स्युः ॥२९॥
पार्थिवाद्दारुणो धूमस्तस्मादग्निस्त्रयीमयः,।
तमसस्तु रजस्तमात् सत्त्वं यद्ब्रह्मदर्शनम् ॥३०॥"

सत्त्वतनोः सत्त्वशक्तेः, त्रयीमयस्त्रय्युक्तकर्म्मप्रचुरः, दारुस्थानीयं तमः, धूमस्थानीयं रजः, अग्नि-स्थानीयं सत्त्वम्, त्रय्युक्त-कर्म्मस्थानीयं ब्रह्म। पार्थिवादिति यथा धुमोऽंशेनाग्नीयो भवति, दारु तु तथा नेति, अत्र स्वल्पं त्रयीमयत्वं भवति एवं यथा रजसः सत्त्वसन्निहितत्वं

कर्त्तव्य नहीं है—इस को सात श्लोकों के द्वारा कहते हैं। देवतान्तर उपासना के मध्य में इन्द्रादि देववृन्द की बात तो दूर है, श्रीभगवान् के गुणावतार होने पर भी श्रीविष्णु के समान साक्षात् पर ब्रह्मत्व के अभाव हेतु एवं सान्निध्य मात्र से सत्त्व गुण का उपकारकत्व न होने के कारण, वस्तुतः रजस्तमो गुण के द्वारा आवृत होने के कारण श्रेयस्कामी व्यक्ति वृन्द के पक्ष में ब्रह्मा, शिव भी उपास्य नहीं होते हैं। इस सम्बन्ध में श्लोकद्वय का उल्लेख परमात्मसन्दर्भ में किया गया है। भा० १।२।२३।२४

"सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तैर्युक्तः परः पुरुष एक इहास्य धत्ते।
स्थित्यादये हरि--विरिञ्चि--हरेति संज्ञाः श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनोर्नृणां स्युः ॥२९
पार्थिवाद्दारुणो धूमस्तस्मादग्निस्त्रयीमयः।
तमसस्तु रजस्तस्मात् सत्त्वं यद्ब्रह्मदर्शनम् ॥३०॥

टीका—तदेवोपपादयितुं ब्रह्मादीनां गयाणामेकात्मकत्वेऽपि वासुदेवस्याधिक्यमाह, सत्त्वमिति। इह यद्यपि एक एव परः पुमान् अस्य विश्वस्य स्थित्यादये, सृष्टिस्थितिलयार्थं हरिविरिञ्चि हरेति संज्ञाः केवला भिन्ना धत्ते। हरि विरिञ्चि हरा इति वक्तव्ये सन्धिरार्षः। तत्र तेषां 'मध्ये श्रेयांसि शुभफलानि सत्त्वतनो र्वासुदेवादेव स्युः।२३। उपाधि वैशिष्ट्येन फलवैशिष्ट्यं स दृष्टान्तमाह। पार्थिवात्-स्वतः प्रवृत्ति प्रकाश रहितात् दारुणः काष्ठात् सकाशात् धूमः प्रवृत्ति सभावः त्रयीमयः वेदोक्त कर्म प्रचुरः ईसत् कर्म प्रत्यासत्तेः। तस्मादपि अग्निस्त्रयीमयः, साक्षात् कर्म साधनत्वात्। एवं तमसः सकाशात् रजोः ब्रह्मदर्शनं ब्रह्म प्रकाशकम्। तु शब्देन लयात्मकात् तमसः सकाशाद्रजसः सोपाधिक ज्ञान हेतुत्वेन कथञ्चिद् ब्रह्म दर्शन प्रत्यासत्तिमात्रमुक्तं नतु सर्वथा तत् प्रकाशकत्वं विक्षेपकत्वात्। यत् सत्त्वं तत् साक्षात् ब्रह्मदर्शनम् अतस्तत्तदुपाधीनां हर ब्रह्मादीनामपि यथोत्तरं वैशिष्ट्यमिति भावः।(२४)

सत्त्व, रजः एवं तमः यह तीन गुण प्रकृति के हैं। एक परमपुरुष, उक्त तीन गुण युक्त होकर इस विश्वके सृष्टि स्थिति एवं संहार हेतु सत्त्व गुणसे हरि, रजं गुणसे ब्रह्मा, एवं तमो गुणसे हरसंज्ञा प्राप्त होते हैं।

तथा तमसो नेति। ब्रह्मसन्निहितत्वं स्वल्पं ज्ञेयम्। ततश्च * त्रय्युक्तकर्म यथाग्नावेव साक्षात् प्रवर्त्तते, नान्ययोस्तद्वत् परब्रह्मभूतो भगवानपि सत्त्व एवेत्यर्थः। देवतान्तरपरित्यागेनापि भगवद्भक्तौ सदाचारं प्रमाणयति, (भा० १।२।२५)—

(१८) "भेजिरे मुनयोऽथाग्रे भगवन्तमधोक्षजम्।
सत्त्वं विशुद्धं क्षेमाय कल्पन्ते येऽनु तानिह ॥"३१॥

अथ अतो हेतोः, अग्रे पुरा, सत्त्वं विशुद्धं विशुद्धसत्त्वात्मकमूर्त्तिं भगवन्तम्, प्राकृत--

---

तन्मध्य में सत्त्व मूर्त्ति श्रीविष्णु से ही मानव वृन्द को कल्याण लाभ होता है। जिस प्रकार पृथिवी का विकार स्वरूप काष्ठ से धूम होता है, उस से उत्थित अग्नि है, उस अग्नि से यज्ञ कर्म निष्पत्ति होती है, उस प्रकार काष्ठ स्थानीय तमः गुण धूमस्थानीय रजो गुण, एवं अग्निस्थानीय सत्त्वगुण है। वेदोक्त कर्मस्थानीय ब्रह्म हैं, काष्ठ अवस्था में एवं धूम अवस्था में जिस प्रकार यज्ञ कार्य्य सम्पन्न नहीं ही सकता है, किन्तु प्रकाश बहुल अग्नि में साक्षात् यज्ञ कार्य्य सम्पन्न होता है, उस प्रकार काष्ठ स्थानीय तमोगुण से आवृत शिव से एवं धूमस्थानीय रजोगुणावृत ब्रह्मा से मानवों का परतत्त्व साक्षात् कार रूप मङ्गल साधित नहीं हो सकता है। किन्तु प्रकाश बहुल सान्निध्यमात्र से सत्त्व गुणोपकारक श्रीविष्णु से ही ब्रह्म साक्षात् कार रूप कल्याण साधित हो सकता है। देवतान्तर परित्याग पूर्वक भी श्रीभगवान् में भक्ति करना कर्त्तव्य है, (भा० १।१।२५)

(१८) "भेजिरे मुनयोऽथाग्रे भगवन्तमधोक्षजम्।
सत्त्वं विशुद्धं क्षेमाय कल्पन्ते येऽनु तानिह ॥"३१॥

टीका—वासुदेवभक्तौ पूर्वाचारं प्रमाणमति भेजिरे इति। अथ अतो हेतोः अग्रे पुरा, विशुद्धं सत्त्वं सत्त्व मूर्त्ति भगवन्तमधोक्षजम्। अतो येताननुवर्त्तन्ते तेऽपि इह संसारे मोक्षाय कल्पन्ते ॥२५॥

उक्त विषय में सदाचार का प्रदर्शन करते हैं। अतएत, पूर्वतन मुनिवृन्द विशुद्ध सत्त्वमूर्त्ति अधोक्षज श्रीभगवान् का भजन किये थे। जो मानव, उक्त मुनिवृन्द के आनुगत्य से देवतान्तर की उपासना को परित्याग कर श्रीभगवान् में भक्ति करते हैं, वे सब परम कल्याण अर्थात् भगवत् साक्षात् कार रूप मङ्गल प्राप्त करते हैं। "अथ—इस हेतु, अर्थात् सत्त्व मूर्त्ति श्रीविष्णु से ही परतत्त्व साक्षात् कार रूप परम मङ्गल लाभ होता है, एतज्जन्य अग्रे—पुराकाल में "सत्त्वं–विशुद्ध" विशुद्धसत्त्वाकार मूर्त्ति श्रीभगवान् का भजन करते हैं। यह विशुद्ध सत्त्व—प्राकृत सत्त्व गुणातीत है, श्रीभगवत् सन्दर्भ में इस की विस्तृत आलोचना की गई है। प्राकृत सत्त्व, विशुद्ध सत्त्व नहीं हो सकता है, कारण, जिस सत्त्व गुण में रजोगुण एवं तमोगुण मिश्रित नहीं है, वह ही विशुद्ध सत्त्व है। प्राकृत सत्त्व सतत रजोगुण, तमोगुण मिश्रित ही है, गुणत्रय की स्थिति--अन्योन्य मिलित रूप में होती है। अमिश्रित सत्त्व ही विशुद्ध सत्त्व है। सन्धिनी, संवित् एवं ह्लादिनी नामक शक्ति त्रय की अन्य निरपेक्ष रूप से स्वयं प्रकाश क्षमता का नाम विशुद्ध सत्त्व है। उक्त विशुद्ध सत्त्व की मूर्त्ति--श्रीविष्णु हैं, अर्थात् निज शक्ति से स्वयं प्रकाश मान हैं।

नारायणाध्यात्म में लिखित है—"नित्याव्यक्तोऽपि भगवानीक्षते निज शक्तितः। तामृते परमात्मानं कः पश्येत् परमं प्रभुम्"

यद्यपि श्रीभगवान् नित्य अव्यक्त हैं, अर्थात् कोई भी साधन उनको प्रकाश करने में सक्षम नहीं हैं, तथापि श्रीभगवान् निज शक्ति से नित्य अभिव्यक्त होते हैं। उनकी निज शक्ति के विना उन अनन्त स्वरूप प्रभु को देखने में कौन सक्षम होगा? अतएव जो लोक मुनिवृन्द के आनुगत्य से भजन करते हैं, अर्थात्

सत्त्वातीतत्वञ्च तस्य विवृतं (१०० अनु०) भगवत्सन्दर्भे । अतो येताननु वर्त्तन्ते, ते इह संसारे क्षेमाय कल्पन्ते ॥

१९ । नन्वन्यान् भैरवादीन् देवानपि केचिद्भजन्तो दृश्यन्ते, यतस्ते सकामाः; किन्तु मुमुक्षवोऽप्यन्यान्न भजन्ते, किमुत तद्भक्त्येक-पुरुषार्था इत्याह, (भा० १।२।२६)—

(१९) "मुमुक्षवो घोररूपान् हित्वा भूतपतीनथ ।
नारायणकलाः शान्ता भजन्ति ह्यनसूयवः ॥"३२॥

भूतपतीनिति पितृप्रजेशादीनामुपलक्षणम् । अनसूयवो देवतान्तरानिन्दकाः सन्तः ॥

२० । ननु कामलाभोऽपि लक्ष्मीपतिभजने भवत्येव, तर्हि कथमन्यांस्ते भजन्ते ? तत्राह (भा० १।२।२७)—

(२०) "रजस्तमः प्रकृतयः समशीला भजन्ति वै ।
पितृभूत-प्रजेशादीन् श्रियैश्वर्य्यप्रजेप्सवः ॥" ३३॥

रजस्तमः प्रकृतित्वेनैव पित्रादिभिः समं शीलं येषाम्, समशीलत्वादेव तद्भजने प्रवृत्तिरित्यर्थः।

देवतान्तर की उपासना परित्याग पूर्वक श्रीभगवान् में भक्ति करते हैं, वे सब इस जगत् में भगवद् दर्शनरूप मङ्गल प्राप्त के अधिकारी होते हैं ॥१८॥

१९ । यहाँ प्रश्न हो सकता कि—श्रीविष्णु व्यतीत भैरव प्रभृति देववृन्द का भजन भी कतिपय व्यक्ति करते रहते हैं ? यह क्यों ? उत्तर में कहते हैं, सत्य है, कारण, वे सब सकाम भक्त हैं, किन्तु जो लोक निष्काम हैं, अर्थात् मुमुक्षु हैं, वे सब भैरव प्रभृति देवतान्तर का भजन नहीं करते हैं, एवं जो लोक, भगवद् भक्ति को परम पुरुषार्थ मानते हैं, वे सब भी देवतान्तर का भजन नहीं करते हैं । इस के विषय में अधिक कहना ही क्या है ।

भा० १।२।२६ में उसका कथन है—

(१९) "मुमुक्षवो घोररूपान् हित्वा भूतपतीनथ ।
नारायणकलाः शान्ता भजन्ति ह्यनसूयवः ॥"३२॥

टीका—ननु अन्यानपि केचिद् भजन्तो दृश्यन्ते, सत्यम्, मुमुक्षवस्तु अन्यान् न भजन्ति, किन्तु सकामा एवेत्याह--मुमुक्षव इति द्वाभ्याम् । भूतपतीनिति, पितृ प्रजेशादीनामुपलक्षणम् । अनसूयवः, देवतान्तरानिन्दकाः सन्तः ।

मुमुक्षगण, घोरमूर्त्ति भूतपति भैरव प्रभृति को परित्याग पूर्वक एवं देवतान्तर के प्रति अनिन्दुक होकर प्रशान्तचित्त से श्रीनारायण के मूर्त्ति समूह का भजन करते रहते हैं । श्लोकोक्त "भूत पतीन्" भैरव प्रभृति पद—पितृ पुरुष एवं प्रजापति प्रभृति का उपलक्षण है, अर्थात् ग्राहक है, "अनसूयवः" शब्द का अर्थ-देवतान्तर का अनिन्दुक है ॥१९॥

२० । प्रश्न हो सकता है कि—कामना की पूर्त्ति लक्ष्मीपति श्री नारायण का भजन से होती है, तब मानव देवतान्तर का भजन क्यों करते हैं ? उत्तर में कहते हैं—भा० १।२।२१

(२०) "रजस्तमः प्रकृतयः समशीला भजन्ति वै ।
पितृभूत प्रजेशादीन् श्रियैश्वर्य्यप्रजेप्सवः ॥"३३॥

२१। ततो वासुदेव एव भजनीय इत्युक्तम्। सर्व्वशास्त्रतात्पर्य्यञ्च तत्रैवेत्याह द्वाभ्याम् (भा० १।२।२८--२९)—

(२१) "वासुदेवपरा वेदा वासुदेवपरा मखाः।
वासुदेवपरा योगा वासुदेवपराः क्रियाः ॥३४॥
वासुदेवपरं ज्ञानं वासुदेवपरं तपः।
वासुदेवपरो धर्म्मो वासुदेवपरा गतिः ॥"३५॥

टीका च—"वासुदेवः परस्तात्पर्य्यगोचरो येषां ते। ननु वेदा मखपरा दृश्यन्ते? इत्याशङ्क्य तेऽपि तदाराधनार्थत्वात्तत्परा एवेत्युक्तम्। योगा योगशास्त्राणि, तेषामप्यासन-प्राणायामादि-क्रिया-परत्वमाशङ्क्य तासामपि तत्प्राप्त्युपायत्वात्तत्परत्वमुक्तम्। ज्ञानं ज्ञान-

---

जो लोक, सकाम होते हैं, वे प्रायशः राजस तामस प्रकृति के होते हैं। तज्जन्य रजः तमः प्रकृति के भैरव प्रभृति पितृ प्रजापति प्रभृति के स्वभाव के सहित उन के स्वभाव की समता है, अतः सम्पत्ति ऐश्वर्य्य, एवं पुत्रादि कामना से पितृपुरुष भूतपति एवं प्रजापति प्रभृति का भजन करते हैं। रज स्तमः स्वभाव होने के कारण, पितृभूत प्रजेशादि के सहित सकाममानवों का ऐक्य है, एतज्जन्य उनका भजन में प्रवृत्ति उन सब की होती है ॥२०॥

२१। अतएव वासुदेव ही भजनीय है, कारण, श्रीवासदेव का भजन करने से मानवों के यावतीय मङ्गल निष्पन्न होते हैं। अतः वासुदेव का भजन करना ही कर्त्तव्य है। समस्त शास्त्र का तात्पर्य्य वासुदेब का भजन में है, श्लोकद्वय के द्वारा उसका प्रतिपादन करते हैं १।२।२८—२९

(२१) "वासुदेवः परा वेदा वासुदेवपरा मखाः।
वासुदेव परायोगा वासुदेव पराः क्रियाः ॥३४॥
वासुदेव परं ज्ञानं वासुदेव परं तपः।
वासुदेवपरो धर्मो वासुदेव परा गतिः ॥"३५॥

टीका—अतो मोक्ष प्रदत्वात् वासुदेव एव भजनीय इत्युक्तं, सर्व शास्त्र तात्पर्य्य गोचरत्वादपीत्याह। द्वाभ्याम्। वासुदेवः पर स्तात्पर्य्य गोचरो येषां ते। ननु वेदा मखपरा दृश्यन्ते, इत्याशङ्क्या तेऽपि तदा राधनार्थत्वात् तत्परत्वमुक्तम् ।२८। ज्ञानं—ज्ञानशास्त्रम्। ननु तज्ज्ञानम् परमेवेत्याशङ्क्य ज्ञानस्यापि तत् परमत्वमुक्तम्। तपोऽत्र ज्ञानम्। धर्मोधर्मशास्त्रम् दान व्रतादिविषयम्। ननु तत् स्वर्गादि परमित्याशङ्क्य तस्यापि तदधीनत्वात् तत् परत्वम्। गम्यते इति गतिः, स्वर्गादि फलं, सापि तदानन्दांश प्रकाशरूपत्वात् तत् परैवेत्युक्तम्। यद्वा, वेदा इत्यनेनैव तन्मूलत्वात् सर्वाणि शास्त्राणि वासुदेव पराणीत्युक्तम् तत्र ननु तेषां मखयोग क्रियादिनानार्थपरत्वान्न तदेकपरत्व मित्याशङ्क्य मखादीनामपि तत् परत्वमुक्त मिति द्रष्टव्यम् ॥२९॥

वेदसमूह—श्रीवासुदेव प्रतिपादक हैं, यज्ञ समूह,—वासुदेव आराधन पर हैं। प्राणायामादि योगाङ्ग क्रिया। समूह—वासुदेव प्राप्ति के उपाय हैं। क्रिया समूह भी वासुदेव प्राप्ति के उपाय स्वरूप हैं, ज्ञान शास्त्र का तात्पर्य्य भी श्रीवासुदेव में ही है। ज्ञान साधन का उद्देश्य भी श्री वासुदेव का साक्षात् कार ही है। धर्म शास्त्र भी वासुदेव पर है। श्री वासुदेव ही एकमात्र परमाश्रय अर्थात् परम प्राप्य है।

पूर्वोक्त श्लोकद्वय की श्रीधरस्वामीकृत टीका की व्याख्या इस प्रकार है, "वासुदेव परा वेदाः"

शास्त्रम् । ननु तज्ज्ञानपरमेवेत्याशङ्क्य ज्ञानस्यापि तत्परत्वमुक्तम् । तपोऽत्र ज्ञानम् । धर्म्मो धर्म्मशास्त्रं दानव्रतादिविषयम् । ननु तत् स्वर्गादि-परमित्याशङ्क्य तस्यापि तदधीनत्वात्तत्-परत्वम् । गम्यत इति गतिः स्वर्गादिफलम्, सापि तदानन्दांशप्रकाश-रूपत्वात् तत्परैवेत्युक्तम् । यद्वा, वेदा इत्यनेनैव तन्मूलत्वात् सर्व्वाण्यपि वासुदेवपराणीत्युक्तम् । ननु वेदानां तेषां मख-योगक्रियादि-नानार्थपरत्वान्न तदेकपरत्वमित्याशङ्क्य मखादीनामपि तत्परत्वमुक्तमिति

वेद समूह का तात्पर्य्य गोचर श्री वासुदेव हैं, अर्थात् मुख्य एवं गौणी वृत्ति से अन्वयमुख से एवं व्यतिरेक मुख से वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण को ही प्रतिपादन करते हैं। गीता में उक्त है—"वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्योवेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम्" इस में संशय हो सकता है कि,—निखिल वेद यज्ञकर्म प्रतिपादनार्थ प्रवृत्त हैं, 'वासुदेव पर' वेद है, यह कथन सङ्गत कैसे होगा ? उत्तर में कहते हैं "वासुदेवपरामखा" समस्त यज्ञ भी वासुदेव की आराधना के उद्देश्य से ही अनुष्ठित होते हैं । कारण, "सर्वयज्ञेश्वरो हरिः" अतएव यज्ञ समूह भी वासुदेव पर ही हैं । "वासुदेव परो योगः" योगशास्त्र समूह भी वासुदेव पर हैं, कारण, "ईश्वर प्रणिधानाद्वा" पातञ्जल सूत्रोक्त ईश्वर—श्रीवासुदेव प्रणिधान में ही तात्पर्य्य दृष्ट होता है । इस में सन्देह हो सकता है कि - योगशास्त्र का तात्पर्य्य आसन प्राणायाम प्रभृति क्रिया में ही है, योग शास्त्र का तात्पर्य्य वासुदेव मैं है, कैसे कहा जा सकता है ? उत्तर में कहते हैं, "वासुदेव परा क्रिया" आसन प्राणायामादि क्रिया में ईश्वर वासुदेव प्राप्ति हेतुत्व विद्यमान होने के कारण; निखिल योगशास्त्र का लक्ष्य-वासुदेव ही हैं । "वासुदेव परं ज्ञान" ज्ञान शास्त्र भी वासुदेव प्रतिपादक है । कहा जा सकता है कि-जीव एवं ईश्वर का चित् स्वरूप साम्य अभेदानुसन्धान में ही ज्ञान शास्त्र का तात्पर्य्य है, ज्ञान शास्त्र का तात् पर्य्य वासुदेव हैं, कथन कैसे सङ्गत होगा ? उत्तर, ज्ञान साधन का भी तात्पर्य्य, वासुदेवानुभव में है। कारण, गीता में उक्त है -"बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते, वासुदेवः सर्वमिति समहात्मा दुर्ल्लभः ।" इस श्लोक में ज्ञान का मुख्य तात्पर्य्य वासुदेव स्वरूप की अनुभूति में वर्णित है । "वासुदेव-परं तपः" यहाँ तपः शब्द का अर्थ ज्ञान है, पूर्व में "वासुदेवपरं ज्ञानं" यहाँ ज्ञान शब्द का अर्थ ज्ञान-अध्यात्मशास्त्र किया गया है । यहाँ ज्ञान शब्द का अर्थ—ज्ञान साधन रूप है । श्रीभगवद् गीता में उस प्रकार उल्लेख दृष्ट होता है । त्रयोदश अध्याय के "अमानित्वमदम्भित्वम्" से आरम्भ कर 'मयि चानन्य-योगेन भक्तिरव्यभिचारिणी एतज् ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा' पर्य्यन्त श्रीवासुदेव में अव्यभि--चारिणी भक्ति का उल्लेख ज्ञान रूप में हुआ है । एवं वासुदेव में भक्तिविरोधि ज्ञान को अज्ञान शब्द से कहा गया है । "वासुदेव परोधर्मः" दान व्रतादि प्रतिपादक सकाम धर्म शास्त्र भी वासुदेव पर है । इस में संशय यह है कि—दान व्रतादि सकाम धर्मका फल स्वरूप पुरुषार्थ रूप में स्वर्गादि का उल्लेख दृष्ट होता है ? उत्तर में कहते हैं—"वासुदेव परागतिः" प्राप्ति योग्यवस्तु को गति कहते हैं, कारण--गमधातु का प्रयोग प्राप्तिअर्थ में भी है, सर्वे गत्यर्थाः प्राप्त्यर्था ज्ञानर्थाश्चेति' अतएव सकाम धर्म का फल स्वर्गादि हैं ? उत्तर—स्वर्गादि सुख भी, अखण्ड आनन्द स्वरूप श्री वासुदेव के आनन्द का अंश होने के कारण, स्वर्गीय सुख को पुरुषार्थ कहा गया है, कारण, परमानन्द वस्तु ही मुख्य पुरुषार्थ है । उक्त आनन्द, बिम्ब प्रतिबिम्ब रूप में प्रतिष्ठित है, त्रिपाद विभूति में बिम्ब रूप में, एक पाद विभूति में प्रतिच्छाया सांसारिक आनन्द रूप में वह अवस्थित है । जिस प्रकार चन्द्र न होने से प्रतिबिम्ब नहीं होता है, प्रतिबिम्ब, किन्तु चन्द्र नहीं है, उस प्रकार विशुद्ध आनन्द स्वरूप वासुदेव की आनन्द सत्ता से ही मायिक आनन्द स्वरूप में प्रतिभात होता है, बिम्ब के अवलम्बन से ही प्रतिबिम्ब रहता है । प्रति बिम्ब की स्वतन्त्रसत्ता नहीं है ।

उक्त अभिप्राय को श्रुति प्रकाश कहती है—"एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति"

द्रष्टव्यम्" इत्येषा। अत्र योगादीनां कथञ्चिद्भक्तिसचिवत्वेनैव तत्परत्वं मुख्यं द्रष्टव्यम्। वेदाश्च कर्म्मकाण्डपरा एव ज्ञेयाः केषाञ्चित् साक्षाद्भक्तिपरत्वमपि दृश्यत इति, (श्वे० ६।२३)

"यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥"३६॥इत्यादेः॥

२२। तदेवं * तद्भजनस्यैवाभिधेयत्वं दर्शयित्वा पूर्व्वोक्तं सर्व्वशास्त्रसमन्वयमेव स्थापयति, (भा० १।२।३०)—

(२२) "स एवेदं ससर्जाग्रे भगवानात्ममायया।
सदसद्रूपया चासौ गुणमय्याऽगुणो विभुः॥" ३७॥ इत्यादि।

टीका च—"ननु जगत्सर्ग-प्रवेश-नियमनादि-लीलायुक्ते वस्तुनि सर्व्वशास्त्रसमन्वयो

अन्य भूतोपाधि जीव समूह उक्त आनन्द का कण प्राप्त कर जीवित रहते हैं। अतएव उक्त सकाम धर्मानुष्ठान का तात्पर्य्य भी श्री वासुदेव में ही है। अथवा "वासुदेव परा वेदाः" श्रुति वाक्य का अपर अर्थ भी होता है, निखिल वेद का तात्पर्य्य जब वासुदेव में ही है, तब वेद को अवलम्बन कर ही प्रवृत्त निखिल शास्त्र, निखिल साधन,—अवश्य ही वासुदेव पर होगे। ऐसा न होने पर निखिल शास्त्र एवं साधन समूह अवैदिक अर्थात् वेद वाह्य हो जायेंगे।

प्रश्न हो सकता है कि—शास्त्र एवं साधन समूह के लक्ष्य, मख, योग, क्रियादि विभिन्न प्रकार हैं। अतएव शास्त्र एवं साधन समूह वासुदेव पर हैं—कैसे कहा जा सकता है? उत्तर में कहते हैं पृथक् मख योग क्रियादि का एकमात्र तात्पर्य्य वासुदेव ही हैं, इस को दर्शाने के निमित्त पुनर्वार पृथक् उल्लेख उन सब का हुआ है, यह ही विशेष द्रष्टव्य है। स्वामिकृत टीका का अभिप्राय यह ही है। "वासुदेवपरावेदाः" श्लोकोक्त योगादि साधन समूह का भगवद् भक्ति साधन में किसी प्रकार साहाय्यकारित्व विद्यमान है, अतः शास्त्र समूह एवं साधन समूह का मुख्य तात्पर्य वासुदेव में ही है, समझना होगा। वेद समूह कर्मकाण्ड प्रतिपादक हैं, कुछ अंश साक्षात् भक्ति प्रतिपादक भी दृष्ट होते हैं, श्वेताश्वतर में उक्त है—

"यस्य देवे पराभक्ति र्यथादेवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥३६॥

जिस मानव की भक्ति देवता में जिस प्रकार है,उसप्रकार भक्ति यदि गुरुदेव में होती है, तो शास्त्रोक्त अर्थ समूह उस मानव के हृदय में अनुभूत होते। हैं इस प्रकार भक्ति पर श्रुति दृष्ट होती है।

२२। श्रीसूत,—भा० १।२ २२ श्लोक में श्रीभगवद् भजन का अभिधेयत्व अर्थात् अवश्य कर्त्तव्यता प्रदर्शन पूर्वक पूर्व वर्णित सर्व शास्त्र समन्वय, श्रीवासुदेव में स्थापन करने के निमित्त भा० १।२।३० श्लोक कहते हैं—

(२२) "स एवेदं ससर्जाग्रे भगवानात्ममायया।
सदसद्रूपया चासौ गुणमय्यागुणो विभुः" ॥३७॥

टीका—"ननु जगत् प्रवेश नियमनादि विलास युक्ते वस्तुनि सर्वशास्त्र समन्वयो दृश्यते, कथं वासुदेव परत्वं सर्वस्य? तत्राह,—स एवेति चतुर्भिः। एतैरेव श्लोकैस्तस्य 'कर्माण्युदाराणि ब्रूहि' इति प्रश्नस्योत्तर-मुक्तम्। सदसद्रूपया—कार्य्य कारणात्मकया। अगुणश्चेत्यन्वयः, स्वतो निर्गुणोऽपि सन्नित्यर्थः।"३०॥

सर्व प्रथम भगवान् वासुदेव ही निज अधीना कार्य्य कारण रूपा गुणमयी माया द्वारा महत् तत्त्व से आरम्भ कर विरिञ्चि पर्य्यन्त समस्त वस्तु का सृजन किये हैं। किन्तु मायानाम्नी निज शक्ति के द्वारा

दृश्यते, कथं वासुदेव- परत्वं सर्व्वस्य ? तत्राह—'स एव' इति चतुर्भिः" इत्येषा। इदं महदादि विरिञ्चिपर्य्यन्तम्। एवं प्रवेशादिकापि उत्तरश्लोकेषु द्रष्टव्या ॥ श्रीसूतः श्रीशौनकम् ॥

२३। श्रीभागवताविर्भाव-कारणे श्रीनारद-व्यास-संवादेऽपि (भा० १।५।१२)—

"नैष्कर्म्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं, न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे, न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम्॥"३८॥

इत्युदाहृतम्। टीका च—"निष्कर्म्म ब्रह्म तदेकाकारत्वान्निष्कर्म्मतारूपं नैष्कर्म्म्यम्, अज्यते अनेनेत्यञ्जन-मुपाधिस्तन्निवर्त्तकं निरञ्जनम्, एवम्भूतमपि ज्ञानमच्युते भावो

समस्त सृष्टि काय्र्य करने पर भी आप माया गुण से लिप्त नहीं हैं। कारण, आप विभु अर्थात् व्यापक हैं। तज्जन्य परिच्छिन्न वस्तु माया अपरिच्छिन्न वस्तु वासुदेव को आवृत नहीं कर सकती है।

जो, जगत् के सृष्टि स्थितिलयात्मक कार्य्य समन्वित है, उस में समस्त शास्त्र समन्वय दृष्ट होता है, ऐसा होने पर 'वासुदेव परावेदाः" अर्थात् समस्त शास्त्र वासुदेव वर्णन पर है, इस प्रकार कथन कैसे सम्भव होगा ? उत्तर में कहते है। सर्व प्रथम वासुदेव ने ही परिदृश्य मान विश्व का सृजन किया है। उक्त विवरण को चार श्लोक के द्वारा कहते हैं। इस प्रकार स्वामिपाद कृत टीका का अर्थ है। "इदं" शब्द का अर्थ महत्तत्व से आरम्भ कर विरिञ्चि पर्यन्त समस्त वस्तु हैं। जिस प्रकार श्रीवासुदेव के द्वारा ही विश्व की सृष्टि होती है, उस प्रकार परवर्त्ति श्लोकत्रय के द्वारा प्रवेश एवं संहारादि लीला का वर्णन भी हुआ है, यह द्रष्टव्य है। श्रीसूत—शौनक को कहे थे—

२३। श्रीमद् भागवत के आविर्भाव कारण श्रीनारद व्यास संवाद में भी भक्ति का अभिधेयत्व कथित है।

भा० १।५।१२ "नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं
न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे,
न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम्॥" ३८॥

टीका—भक्ति हीनं कर्म तावत् शून्यमेवेति कैमुत्यिकन्यायेन दर्शयति नैकर्म्यमिति। निष्कर्म ब्रह्म, तदेका कारत्वान्निष्कर्मता रूपं नैष्कर्म्यम्। अज्यते अनेन इत्यञ्जनमुपाधि स्तन्निवर्त्तकं निरञ्जनम्। एवम्भूतमपि ज्ञानम् अच्युते भावो भक्तिस्तद्वर्ज्जितं चेत् अलमत्यर्थं न शोभते, सम्यक् परोक्षाय न कल्पते इत्यर्थः। तदा शश्वत् साधन काले फल काले च अभद्रं दुःखरूपं यत् काम्यं कर्म यदप्यकारणमकाम्यं तच्चेति चकारस्यान्वयः। तदपि कर्म ईश्वरे नार्पितं चेत् कुतः पुनः शोभते ? वहिर्म्मुखत्वेन सत्त्व शोधकत्वाभावात्॥"१२॥

हे मुनिवर ! नैष्कर्म्य एवं निरञ्जन ज्ञान भी यदि भगवान् में भक्ति शून्य होता है, तो वह ज्ञान अतिशय शोभित नहीं होता है। ऐसा होने पर निरन्तर अमङ्गल रूप निष्काम कर्म भी यदि श्रीभगवान् में अर्पित नहीं होता है तो वह जो अतिशय रूप से शोभित नहीं होता है, यह कथन बाहुल्य मात्र है।

श्लोकस्थ ज्ञान शब्द—नैष्कर्म्य एवं निरञ्जन शब्द से विशेषित है। नैष्कर्म्य शब्द का अर्थ निष्कर्म्म—ब्रह्म, ब्रह्म के सहित एकाकारता प्राप्त। अञ्जित—अर्थात् लिप्त होता है। इस से अञ्जन शब्द

भक्तिस्तद्वर्ज्जितं चेदलमत्यर्थं न शोभते, सम्यगपरोक्षाय न कल्पत इत्यर्थः । तदा शश्वत् साधनकाले फलकाले च अभद्रं दुःखरूपं यत् काम्यं कर्म्म, यदप्यकारणमकाम्यं तच्चेति चकारस्यान्वयः, तदपि कर्म्म ईश्वरे नार्पितञ्चेत् कुतः पुनः शोभते ?--वहिर्मुखत्वेन सत्त्व-शोधकत्वाभावात्'' इत्येषा । तदेवं ज्ञानस्य भक्तिसंसर्गं विना कर्म्मणश्च तदुपपादकत्वं विना व्यर्थत्वं व्यक्तम् । किञ्च, (भा० १।५।१५) ''जुगुप्सितं धर्मकृतेऽनुशासतः, स्वभावरक्तस्य महान्

का अर्थ 'उपाधि' होता है । उक्त उपाधिशून्य ज्ञान का नाम-निरञ्जन है । ज्ञाता, ज्ञेय, एवं ज्ञान भेद से ज्ञान की तीन उपाधि हैं, उक्त उपाधित्रय शून्य एवं ब्रह्म स्वरूप के सहित एकाकारता प्राप्त ज्ञान भी यदि भगवद् भक्ति शून्य होता है तो, अतिशय शोभित नहीं होता है । अर्थात् सम्यक् रूप से अपरोक्ष साक्षात् कार का योग्य नहीं होता है, अभिप्राय यह है कि--ज्ञान साधक--' अहं ब्रह्मास्मि'' इस प्रकार स्वरूप के सहित जीवाभेद भावना करते करते जिस समय पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, एवं अहङ्कार प्रभृति तत्त्वरूप आवरण समूह को अतिक्रम करता है, उस समय साधक की अहं तत्त्वोपाधि अहमिका विलुप्त हो जाती है, अतः ज्ञाता का अभाव होने पर ज्ञेय एव ज्ञान भी विलुप्त होते हैं । यहाँ 'ज्ञान' शब्द का अर्थ बोध होता है । अतएव यहाँ ज्ञान शब्द का अर्थ बोध ही जानना होगा । अहङ्कार तत्त्व जनित अहमिका विलुप्त होने पर ज्ञान साधक की साधन करने की क्षमता नहीं रहती है, अर्थात् 'अहं' पद के सहित ब्रह्मपद की अभेद भावना करने की क्षमता नहीं रहती है । कारण, उसकी मायामय अहमिकाविलुप्त हो गई है । अतएव ''अहं ब्रह्मास्मि'' भावना कैसे हो सकती है ? अथच अहमिका विनष्ट होने पर भी महत्तत्त्व एवं प्रकृति रूप आवरण द्वय सम्मुख में विद्यमान रह जाते हैं । उक्त आवरण द्वय को अतिक्रम न करने से अव्यवधान ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं होता है । तज्जन्य ही अर्थात् अव्यवहित ब्रह्म साक्षात् कार के निमित्त पहले अनुष्ठित भक्ति योग के द्वारा आराधित श्रीभगवान् के अनुग्रह से ही साधन सम्पत्ति शून्य साधक के पक्ष में महत्तत्त्व एवं प्रकृति तत्त्व रूप आवरण द्वय अपसारित होकर अव्यवहित ब्रह्म साक्षात् कार होता है ।

अतएव जो ज्ञान साधक, श्रीहरि में भक्ति वर्ज्जित होकर ज्ञान साधन करता है, उसके प्रति भगवत् कृपा नहीं होती है, उस से वह अव्यवहित ब्रह्म साक्षात् कार नहीं कर सकता है । भक्ति हीन ज्ञान की जब ऐसी दुरवस्था है, तब जो काम्य कर्म्म—साधन काल में एवं साध्य काल में अर्थात् फल काल में दुःखमय है, वह कर्म यदि श्रीभगवान् में अर्पित नहीं होता है तो वह कर्म कैसे शोभित होगा ? कारण, काम्य एवं निष्काम—उभय बिध कर्म ही श्रीभगवद् वहिर्मुखता दोष से दुष्ट हैं, अतः उस से चित्त शुद्धि नहीं होती है । अर्थात् ऐहिक—पार लौकिक सुख भोग में वितृष्णा उत्पन्न करने में कर्म्मद्वय असमर्थ है ।

भा० एकादश स्कन्ध के चतुर्दश अध्याय में श्रीभगवान् उद्धव को कहे हैं ।

''कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना ।
विनानन्दाश्रुकलया शुध्येत् भक्त्या विनाशयः ।।

हे उद्धव ! भक्ति के विना चित्त शुद्धि कैसे हो सकती है ? भगवत् प्रसङ्गादि में चित्त विगलित न होने से भक्ति का अस्तित्व की उपलब्धि कैसे होगी ? पुलक एवं अश्रुधार व्यतीत चित्त बिगलित हुआ, इसका अनुमान कैसे होगा ? पूर्व वर्णित प्रसङ्ग से बोध होता है कि भक्ति संसर्ग के विना, ज्ञान साधन का वैफल्य एवं श्रीभगवदर्पण के विना केर्म साधन का वैफल्य सुस्पष्ट है । भा० १।५।१५ में वर्णित है ।

(२३) '' जुगुप्सितं धर्मकृतेऽनुशासतः स्वभावरक्तस्य महान् व्यतिक्रमः ।
यद्वाक्यतो धर्मइतीतरः स्थितो न मन्यते तस्य निवारणं जनः ।।''३९।।

व्यतिक्रमः" इत्यादिकमुक्त्वाह (भा० १।५।१७)—

(२३) "त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरे,--र्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि ।
यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं, को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः ॥" ३६॥

टीका च—"इदानीस्तु नित्यनैमित्तिक-स्वधर्म्मनिष्ठामप्यनादृत्य केवलं हरिभक्ति-रेवोपदेष्टव्येत्याशयेनाह—त्यक्त्वेति । ननु स्वधर्म्मत्यागेन भजन् भक्तिपरिपाकेन यदि कृतार्थो भवेत्तदा न काचिच्चिन्ता, यदि पुनरपक्व एव म्रियते, ततो भ्रश्येद्वा, तदा तु स्वधर्म्मत्याग-

---

टीका—तदेवं हरियशो विना भारतादिषु कृत धर्मादि वर्णनम् अकिञ्चित्करमित्युक्तं, प्रत्युत विरुद्धमेव जातमित्याह—जुगुप्सितमिति । जुगुप्सितं निन्द्यं काम्यकर्मादि । स्वभावत एव रक्तस्य तत्र रागिण पुरुषस्य धर्मकृते—धर्मार्थम् अनुशासतस्तव महानयं व्यतिक्रमः, अन्यायः । कुतः ? इत्यत आह, यस्य वाक्यतोऽयमेव मुख्योधर्म इतिस्थित इतरः प्राकृतो जनः, तस्य काम्य कर्मादि, अन्येन तत्त्वज्ञेन क्रियमाणं निवारणं, यथार्थमेतदिति न मन्यते किन्तु प्रवृत्ति मार्गानधिकृत विषयं तदिति कल्पयति । तदुक्तं,मतान्तरोपन्यासेन भट्टैः—"तथैवं शक्यते वक्तुं येऽन्धपङ्गवादयो नराः । गृहस्थत्वं न शक्यन्ते कर्त्तुं तेषामयं विधिः, नैष्ठिक ब्रह्मचर्य्यं वा परिव्राजकतापि वा । तैरवश्यं ग्रहीतव्या तेन दावेनदुच्यते इत्यादि ॥१५॥

श्रीनारद श्रीकृष्णद्वैपायन को कहे थे—हे मुनिवर ! श्रीहरि गुण वर्णन व्यतीत आपने महाभारतादि ग्रन्थ में जिस धर्मादि का वर्णन किया है, वह सब अकिञ्चित कर हैं । प्रत्युत वह सब अत्यन्त विरुद्ध ही हुये हैं । कारण, स्वभावतः काम्यकर्म में अनुरक्त जनगण के सम्बन्ध में काम्य कर्मादि उपदेश करना धर्मोपदेष्टा आपके पक्ष में अत्यन्त अन्याय कार्य्य हुआ है । कारण, आप साधारण मनुष्य नहीं हैं । आप के उपदेश से साधारण जन गण समझेंगे, कि यह ही मुख्य धर्म है । अपर कोई तत्त्वज्ञ व्यक्ति, काम्य कर्मानुष्ठान को दोषावह कहने पर अथवा आप के द्वारा काम्य कर्म का दोषावहत्व प्रतिपादित होने पर भी, लोक नहीं मानेंगे । अथवा, तत्त्वज्ञ व्यक्ति "न कर्मणा, न प्रजया, न धनेन, त्यागेनैकेन अमृत वमाहुः ।" श्रुति उल्लेख पूर्वक निषेध करने पर भी वे सब कहेंगे,—जो लोक, प्रवृत्तिमार्ग में अनधिकारी हैं, उनके पक्ष में ही यह श्रुति है । इस रीति से तत्त्वज्ञ का उपदेश वे लोक नहीं मानेंगे । यह सब कहकर भा० १।५।१७ में कहते हैं,

(२३) "त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेर्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि ।
यत्र क्व वाभद्रमभुदमुष्य किं को वार्थं आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः ॥" ३६॥

टीका—एवं तावत् काम्य कर्मादेरनर्थं हेतुत्वात् तं विहाय हरेर्लीलैव वर्णनीयेत्युक्तम् । इदानीन्तु नित्य नैमित्तिक स्वधर्मनिष्ठामपि अनादृत्य केवलं हरिभक्तिरेव उपदेष्टव्येत्याशयेनाह त्यक्त्वाएवेति । ननु स्वधर्म त्यागेन भजन् भक्ति परिपाकेण यदि कृतार्थोभवेत् तदा न कदाचिच्चिन्ता, यदि पुनरपक्व एव म्रियेत ततो भ्रश्येद्वा तदा च स्वधर्म त्याग निमित्तोऽनर्थः स्यादित्याशङ्क्याह ततो भजनात् पतेत् कथञ्चित् भ्रश्येत् म्रियेत वा यदि तथापि भक्ति रसिकस्य कर्मानधिकारात् नानर्थशङ्का । अङ्गीकृत्याप्याह । वा शब्दः कटाक्षे यत्र क्ववा नीचयोनावपि अमुष्य भक्तिरसिकस्य अभद्रमभूत् किं ? नाभूदेवेत्यर्थ । भक्ति वासनासद्-भावादिति भावः । अभजद्भिस्तु केवलं स्वधर्मतः को वा अर्थः आप्तः प्राप्तः । अभजतामिति षष्ठी तु सम्बन्ध मात्र विवक्षया ॥१७॥

वर्ण एवं आश्रम धर्म रूप स्वधर्म को परित्याग कर श्रीहरि के चरण कमल का भजन करते करते अपक्वावस्था में ही यदि मानव उक्त भजन से पतित पोता है तो उक्त भजन विज्ञ जन का जन्म यदि किसी

निमित्तोऽनर्थः स्यादित्याशङ्क्याह--ततो भजनात् पतेत् कथञ्चिद्भ्रश्येत् म्रियत वा यदि, तदादि भक्तिरसिकस्य कर्म्मानधिकारात् नानर्थशङ्का, अङ्गीकृत्याप्याह, वा-शब्दः कटाक्षे यत्र क्व वा नीचयोनावपि अमुष्य भक्तिरसिकस्य अभद्रमभूत् किम् ? नाभूदेवेत्यर्थः, भक्ति-वासनासद्भावादिति भावः । अभजद्भिस्तु केवलं स्वधर्मतः को वार्थ आप्तः प्राप्तः ? अभजतामिति षष्ठी तु सम्बन्धमात्रविवक्षया" इत्येषा ॥ श्रीनारदः श्रीव्यासम् ॥

नीच योनि में ही जाय; तथापि क्या उसका किसी प्रकार अमङ्गल होगा ? किन्तु भगवद् भजन कारी व्यक्ति स्वधर्मानुष्ठान द्वाराफललाभ क्या करेगा ।।२३।।

सम्प्रति नित्य नैमित्तिक स्वधर्म निष्ठा का अनादर कर एकमात्र श्रीहरिभक्ति का उपदेश करना आप को चाहिये । इस अभिप्राय से कहते हैं, 'त्यक्त्वा स्वधर्म्मं" कह सकते-कि स्वधर्म्म त्यागपूर्वक भजन करते करते भक्ति की परिपाक अवस्था में यदि प्रेमभक्ति लाभ होता है, तो साधक कृतार्थ होता है, उस से साधक की कोई चिन्ता नहीं हो सकती है, किन्तु यदि स्वधर्म त्याग पूर्वक भक्ति का अनुष्ठान करते करते अपक्वदशा में अर्थात् प्रेमलाभ करने के पहले ही मृत्यु हो जाती है, अथवा अन्य आवेश से भक्तिमात्र से भ्रष्ट होता तो, स्वधर्म परित्याग जनित दोष अवश्यम्भावी होगा। इस प्रकार आशङ्का के उत्तर में कहते हैं--भजन से यदि पतित होता है, अर्थात् भ्रष्ट अथवा मरण हो जाता है, तथापि भक्त्यनुष्ठान कारी को स्वधर्म परित्याग जनित प्रत्यवाय भागी नहीं होना पड़ेगा।

तात्पर्य्य यह है कि भक्ति में दृढ़ विश्वास उत्पन्न जबतक नहीं होता है, तब तक ही काम्य कर्मानुष्ठान करने का अधिकार होता है, किन्तु भक्ति साधन में दृढ़ श्रद्धा उत्पन्न होने पर काम्य कर्मानुष्ठान करने का अधिकार नहीं रहता है । अतएव काम्य कर्म में अनधिकारी श्रद्धालु भक्त के पक्ष में स्वधर्म त्याग जनित अनर्थ उत्पत्ति की आशङ्का नहीं हो सकती है । अपक्वावस्था में पतन को अङ्गीकार कर कटाक्ष भङ्गी से कहते हैं,—भक्ति साधक पतित होकर यदि नीच योनि में जन्म ग्रहण करता है, तथापि उसका अमङ्गल नहीं होता है । काकूक्ति से यह सूचित हुआ है । कारण—भक्ति साधक नीच योनि में प्रविष्ट होने पर भी उस की भक्ति वासना रह जाती है । भक्ति साधकके पक्षमें नीच योनि एवं उच्चयोनि में जन्म का महत्त्व समान है । कारण, भक्तिमार्ग में उत्तम अधम देहादि की किसी प्रकार अपेक्षा नहीं है । भगवान् भक्तिमान् को आदर प्रदान करते हैं, शरीर विशेष को नहीं। इस विषय में मनःशिक्षाग्रन्थ प्रणेता प्रेमानन्द का कथन यह है—

"बल, कि करे बरण कुल !
ये कुले से कुले जनम हउक ना
केवल भकति मूल"
कपि कुले देख वीर हनुमान्
श्रीराम भकत राज ।
राक्षस कुलेते विभीषण वंसे
ईश्वर सभार माझ ।"

श्रीहरि चरणों में भजन विहीन व्यक्ति, केवल स्वधर्मानुष्ठान कर किस फल को प्राप्त करेगा ? श्लोकस्थ "अभजतां" पद में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग हुआ है, उस से सम्बन्ध सामान्य बोध होता है, एवं कर्त्ता में षष्ठी है । श्रीधर स्वामि पाद का कथनाभिप्राय यह ही है ।

श्रीव्यासदेव के प्रति श्रीनारद कहे थे ।।२३।।

२४। तदेवं 'भक्तिरेवाभिधेयं वस्तु' इत्युक्तम्। तथैव श्रीशुक-परीक्षित्संवादोपक्रमेऽपि (भा० २।१।२) —

(२४) "श्रोतव्यादीनि राजेन्द्र नृणां सन्ति सहस्रशः।
अपश्यतामात्मतत्त्वं गृहेषु गृहमेधिनाम् ॥" ४०॥ इत्यादि।

गृहेष्वित्यादिकमुपलक्षणं वहिर्मुखानाम्, आत्मतत्त्वं भगवत्तत्त्वम्, तथा निगमयिष्यमाणत्वात्।

२५। निगमयति (भा० २।१।५) —

(२५) "तस्माद्भारत सर्व्वात्मा भगवानीश्वरो हरिः।
श्रोतव्यः कीर्त्तितव्यश्च स्मर्त्तव्यश्चेच्छताभयम् ॥" ४१॥

टीका च—"सर्व्वात्मेति प्रेष्ठत्वमाह: भगवानिति सौन्दर्य्यम्, ईश्वर इत्यावश्यकत्वम्,

---

२४। पूर्व वर्णित प्रकार से प्रतिपन्न हुआ कि—भक्ति ही एकमात्र अभिधेय वस्तु है, अर्थात् आचरण करना ही एकमात्र कर्त्तव्य है। जिस प्रकार व्यास नारद संवाद भक्ति का एकमात्र अभिधेयत्व अर्थात् कर्त्तव्यत्व विहित हुआ है, उस प्रकार श्रीशुक परीक्षित् संवाद के प्रारम्भ में भी भक्ति का अभिधेयत्व प्रकाशित हुआ है। भा० २।१।२

(२४) "श्रोतव्यादीनि राजेन्द्र! नृणां सन्ति सहस्रशः।
अपश्यतामात्मतत्त्वं गृहेषु गृहमेधिनाम् ॥" ४०॥

टीका—तत्र तावत् स्वाभाविक क्रियाणामनर्थ हेतुत्वं वदन् 'ब्रूहि यद्वा विपर्य्ययम्' इत्यस्योत्तरमाह श्रोतव्यादीनीति दिभिः। गृहेषु सक्तानाम् अतएव गृहमेधिनाम्, तद् गत पञ्चसूनापराणाम्। मेधति हिंसार्थः ॥ (२)

हे राजेन्द्र! आत्मतत्त्व में दृष्टि शून्य गृहासक्त मानव के पक्ष में सहस्र सहस्र श्रोतव्य प्रभृति बहुल कर्त्तव्यता हैं। श्लोकस्थ "गृहेषु" पद समूह उपलक्षण है, अर्थात् वहिर्मुख जीव मात्र के ग्राहक हैं। अर्थात् जब तक भगवद् वहिर्मुखता दोष रहता है, तब तक श्रवणीय, कथनीय, करणीय, एवं चिन्तनीय अनेक विषय विद्यमान होते हैं। श्लोकस्थ आत्मतत्त्व का अर्थ भगवत्तत्त्व है, कारण आत्मतत्त्व की प्रतिष्ठा भगवत्तत्त्व में ही है, दशम स्कन्ध के चतुर्दश अध्याय में इस का प्रदर्शन हुआ है ॥२४॥

२५। भगवच्चरणों में उन्मुखता प्राप्त कराना ही शास्त्र व्याख्या का एक मात्र उद्देश्य है। उस का प्रदर्शन भा० २।१।५ में करते हैं—

(२५) "तस्माद् भारतः सर्वात्मा भगवानीश्वरो हरिः।
श्रोतव्यः कीर्त्तितव्यश्च स्मर्त्तव्यश्चेच्छताभयम् ॥"

टीका—एवं विपर्य्यय प्रश्नस्योत्तरमुक्त्वा श्रोतव्यादि प्रश्नस्योत्तरमाह तस्मादिति। हे भारत! भारत वंश्य। सर्वात्मेति–प्रेष्ठत्वमाह, भगवानिति, सौन्दर्य्यम्, ईश्वर इत्यावश्यकत्वम्, हरिरिति--बन्ध--हारित्वम्। अभयं मोक्षमिच्छता ॥५॥

श्रीभगवद् भक्ति की अवश्य कर्त्तव्यता का प्रतिपादन करते हैं, हे भारत! अतएव सर्वात्मा-भगवान् ईश्वर श्रीहरि की कथा का श्रवण, कीर्त्तन, एवं स्मरण करना अभयप्रार्थी जन के पक्ष में अवश्य कर्त्तव्य है। श्लोक में "सर्वात्मा" पद का उल्लेख हुआ है, उस से श्रीभगवान् का प्रेष्ठत्व अर्थात् प्रियतमत्व प्रति

हरिरिति बन्धहारित्वम् अभयं मोक्षमिच्छता" इत्येषा। मोक्षस्तु सर्व्वक्लेशशान्तिपूर्व्वक-भगवत्प्राप्तिरेवेति ज्ञेयम् ॥

२६। एतदनन्तरं विराड़्धारणामुक्त्वा तदपवादेनापि तां भक्तिमेवाह (भा० २।१।३९)—

(२६) "स सर्व्वधीवृत्त्यनुभूतसर्व्व, आत्मा यथा स्वप्नजनेक्षितैकः ।
तं सत्यमानन्दनिधिं भजेत, नान्यत्र सज्जेद्यत आत्मपातः ॥" ४२॥

टीका च—"सर्व्वेषां धीवृत्तिभिरनुभूतं सर्व्वं येन स एक एव सर्व्वान्तरात्मा, तमेव सत्यं भजेत, अन्यत्रोपलक्षणे न सज्जेत; यत आसङ्गादात्मनः, पातः संसारो भवति। एकस्य तत्तदिन्द्रियैः सर्व्वानुभूतौ दृष्टान्तः-स्वप्नजनानामीक्षिता यथेति। स्वप्नेऽपि कदाचिद्बहून् देहान् प्रकल्प्य जीवस्तत्तदिन्द्रियैः सर्व्वं पश्यति तद्वत्। ईश्वरस्य तु विद्याशक्तित्वान्न बन्धः" इत्येषा।

पादित हुआ है, 'भगवान्' पद परम सौन्दर्य्य का बोधक है, "ईश्वर" पद के द्वारा भजन की कर्त्तव्यता निरूपित हुई है। 'हरि' पद के द्वारा भयहारित्वसूचित हुआ है। "अभय' पद का अर्थ--मुक्ति है, अर्थात् जो लोक, काल, कर्म, मायापारतन्त्र्य से अपने को मुक्त करना चाहते हैं, उनके पक्ष में स्वाभाविक प्रियतम, परमसुन्दर, सर्वबन्धन हारी परमेश्वर की कथा का श्रवण, कीर्त्तन एवं स्मरण करना एकान्त कर्त्तव्य है। मोक्ष शब्द का अर्थ—सर्व क्लेश निवृत्ति पूर्वक भगवत् प्राप्ति ही है। यह जानना चाहिये ॥(२५)

२६। उस प्रकार उपदेश करने के पश्चात् विराड़्धारणा का वर्णन उन्होंने किया है, किन्तु विराड़्धारणा में चित्त का आवेश अत्यन्त दोषावह है, अतः उस को निरास कर भक्ति का वर्णन करते हैं। भा० २।१।३९ में उक्त है—

(२६) "स सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्व, आत्मा यथा स्वप्नजनेक्षितैकः।
तं सत्यमानन्दनिधिं भजेत, नान्यत्र सज्जेद्यत आत्मपातः ॥४२॥

टीका—"तदेवं चित्तस्थैर्य्यार्थं विराड़्देह जीवेश्वराणामभेदेनोपासनमुक्तम्। तत्र तु देह जीवौ ईश्वरे प्रविलाप्य स एवध्येय इति निर्द्धारयति, स इति। सर्वेषां धीवृत्तिभिरनुभूतं सर्वं येन स एक एव सर्वान्तरात्मा, तमेवसत्यं भजेत। अन्यत्र उपलक्षणे न सज्जेत। अतःआसङ्गात् आत्मनोपातः संसारो भवति। एकस्य तत्तदिन्द्रियैः। सर्वानुभूतैः दृष्टान्तः स्वप्नाजनानामीक्षिता यथेति। स्वप्नेहि कदाचित् बहून् देहान् प्रकल्प्य जीवस्तत्तदिन्द्रियैः सर्वं पश्यति, तद्वत्। ईश्वरस्य तु विद्याशक्तित्वान्न बन्धः॥" (३९)

स्वप्नद्रष्टा जीव, जिस प्रकार स्वप्न में उपस्थित व्याघ्र, सर्प मानव, प्रभृति का दर्शन अकेला करता है, उस प्रकार पूर्व वर्णित विराड़्धारणा में सिद्ध योगी पुरुष, विराट् गत काल की बुद्धि वृत्ति समूह के द्वारा विराट्गत समस्त वस्तु का अनुभव करके सत्यस्वरूप आनन्दनिधि विराट् के अन्तर्य्यामि श्रीनारायण का भजन करे। अन्यत्र विराट् गत किसी वस्तु में आसक्त होना ठीक नहीं है। कारण, विराट् गत किसी वस्तु में आसक्त होने से आत्मा का अधः पात होगा, अर्थात् संसार होगा।

सब की बुद्धि वृत्ति के द्वारा भी समस्त वस्तु का अनुभव करते हैं, एक सर्वान्तरात्मा अर्थात् सर्वान्तर्य्यामी है, उन सत्य श्रीभगवान् का भजन करे। अन्यत्र उपाधि में आसक्ति स्थापन न करे। कारण, आत्माभिन्न जड़ीय किसी वस्तु में आसक्त होने पर आत्मा का अधः पात होता है, अर्थात् संसार होता है। एक परमात्मा कैसे सब के ज्ञानेन्द्रिय समूह के द्वारा सब के समस्त विषयों का अनुभव करते हैं, उस को दृष्टान्त के द्वारा समझाते हैं। जीव, जिस प्रकार स्वप्न में अनेक देह की कल्पना करके उन उन देहेन्द्रिय

अत्र स्वधीवृत्तिभिः पश्यन्नेव सर्व्वेषां धीवृत्तिभिरपि सर्व्वं पश्यतीत्येव, तथोक्तम् (वृ० १.२।५) "स ऐक्षत" इत्यत्र सर्व्वधीवृत्तिसृष्टेः पूर्व्वमपि तच्छ्रवणात् । तथा स्वप्नदेहानामीश्वर-कर्त्तृकत्वेऽपि जीवकर्त्तृक--प्रकल्पनकथनं तत्सङ्कल्पद्वारैवेश्वरः करोतीत्यपेक्षायामुक्तम् । यः सर्व्वधीत्यनुक्तत्वात् 'सत्यं भजेत' इति योजयितव्यस्य कर्त्तुर्विद्यमानत्वादयमेवार्थः,–स तथाभूतविराड्धारणासिद्धो योगी विराड्गताभिः सर्व्वाभिर्धीवृत्तिभिर्ज्ञानेन्द्रियैरनुभूतं सर्व्वं

समूह के द्वारा सब कुछ देखते हैं, उस प्रकार ईश्वर भी सब की बुद्धि वृत्ति के द्वारा सब कुछ देखते हैं। उस से संशय उपस्थित होता है। कि स्वप्नद्रष्टा जीव जिस प्रकाह मायाबद्ध है, उस प्रकार ईश्वर को माया बद्ध होना चाहिये? उत्तर में कहते हैं—जीव का ज्ञान, अज्ञान के द्वारा आवृत होने के कारण, उसका बन्धन होता है, एवं ईश्वर का ज्ञान विद्यामय होने के कारण – ईश्वर मुक्त हैं। यह है केवलाद्वैतवादिवृन्द द्वारा स्वीकृत सिद्धान्त की अवतारणा, श्रीधरस्वामि चरण, अद्वैत वादी को भक्ति वाद में आकृष्ट करने के निमित्त समय समयपर लोभनीय अद्वैत वाद की अवतारणा करते हैं। अज्ञान के द्वारा जीव का ज्ञान आवृत है, एवं उस से जीवका संसार होता है, इसका वर्णन गीता के ५।१५ में इस प्रकार है--अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्तिजन्तव." स्वामिपाद कृत टीका का तात्पर्य्य यह है—श्रीभगवान्, विराड्गत सब की बुद्धि वृत्ति के द्वारा सब के सब विषय देखते हैं। ईश्वर निज बुद्धि के द्वारा सबको देखने पर भी सब की बुद्धि वृत्ति के द्वारा सब के विषय समूह को देखते हैं। यहाँ पर सन्देह नहीं हो सकता कि--सर्वान्तर्य्यामी पुरुष में निज बुद्धि वृत्ति की सत्ता कैसे हो सकती है? कारण, वृहदारण्यक १।२।५ में उक्त है—"स ऐक्षत" अर्थात् उन्होंने देखा था। इस श्रुति में परमात्मा में समस्त विषय दर्शन करने की क्षमता का वर्णन है। ईश्वर ही स्वप्न रचित देह समूह के सृष्टि कर्त्ता होने पर भी जीव कर्त्तृक उक्त देह समूह की कल्पना की जो कथा कही गई है, उस का उद्देश्य है—जीव के सङ्कल्प के द्वारा ही ईश्वर उक्त देह समूह की सृष्टि करते हैं। इस अभिप्राय से ही स्वाप्निक देह रचना प्रसङ्गमें जीव कर्त्तृत्व का उल्लेख नहीं हुआ है, कारण, श्लोक में वर्णित है—"जो सब की बुद्धि वृत्ति के द्वारा सब कुछ देखते हैं।" इस प्रकार उल्लेख है। श्लोक में 'सत्यं भजेत' प्रयोग है, अर्थात् सत्य स्वरूप श्रीभगवान् का भजन करे। कौन भजन करेगा? इस प्रकार कर्त्तृपद की योजना करना आवश्यक है। अतएव उक्त श्लोक का इस प्रकार अर्थ सुसङ्गत है। 'सः' अर्थात् पूर्वोक्त योग धारणा सिद्ध योगी पुरुष, विराड्गत सब की बुद्धि वृत्ति अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय समूह के द्वारा विराड्गत समस्तका अनुभव करके भी उन विराट् अन्तर्य्यामी आनन्दनिधि सत्य स्वरूप श्रीनारायण का ही भजन करे। विराड्गत अन्यत्र किसी वस्तु में आसक्ति स्थापन न करे। उक्त आसक्ति से आत्मा का अधः पात होता है, अर्थात् संसार होता है। समस्त विषयों का अनुभव नारायण करते हैं— इस में दृष्टान्त यह है—'आत्मा' स्वप्न द्रष्टा जीव, जिस प्रकार स्वप्नगत समस्त विषय का एवं तदुपलक्षित समस्त वस्तु का द्रष्टा है, श्रीनारायण को भी उस प्रकार द्रष्टा जानना होगा। श्लोक में 'तं' अर्थात् उनको, इस प्रकार उल्लेख के द्वारा 'स एक्षेत' अर्थात् उक्त परम पुरुष प्रकृति के प्रति ईक्षण किये हैं, एवं 'परास्य शक्ति विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च' अर्थात् उक्त परम पुरुष की अन्यनिरपेक्षा शक्ति है, वह शक्ति-विविध प्रकार हैं, वह शक्ति, स्वाभाविक स्वरूप से अभिन्ना है, आगन्तुकी नहीं है। एवं उक्त शक्ति, प्रधानतः ज्ञान, बल, क्रिया भेद से त्रिविध हैं।

उक्त श्रुतिद्वय में परमेश्वर की अन्य निरपेक्ष ज्ञानादि शक्ति का विवरण लिखित होने के कारण ही ब्रह्मसूत्र के ३।२।१ में "सन्ध्ये सृष्टि राह हि" कहा गया है।

विराड़्गतं येन तथाभूतोऽपि सन् तं सत्यमानन्दनिधिं विराड़न्तर्यामिनं श्रीनारायणमेव भजेत। अन्यत्र विराड़्गते तद्धारणावान्तरफले च कुत्रापि न सज्जेत्, यतः सज्जनादात्मपातः संसार एव स्यात्। तस्य सर्व्वानुभूतौ दृष्टान्तः–आत्मा स्वप्नद्रष्टा जीवो यथा स्वप्नगतानां सर्व्वेषां जनानां तदुपलक्षितानां वस्तूनाञ्च य एक एव ईक्षिता भवतीति तद्वत्। अत्र तमित्यनेन (वृ० १।२।५)–"स ऐक्षत" इति, (श्वे० ६।८) "स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" इति श्रुतिप्रसिद्धपरानपेक्ष--ज्ञानादिसिद्धेस्तथा(ब्र० सू० ३।२।१) "सन्ध्ये सृष्टिराह हि"।(ब्र० सू० ३।२।३

स्वाप्निक पदार्थ समूह का निर्म्माता श्रीभगवान् हैं। जीव, स्वाप्निक पदार्थ समूह का निर्म्माता नहीं है। जागरण एवं सुषुप्ति--अवस्थाद्वय के मध्यवर्त्ती होने के कारण "सन्धिभव इति सन्ध्य" इस प्रकार व्युत्पत्ति के द्वारा सन्ध्य शब्द स्वप्नवाचक होता है। उक्त स्वप्नावस्था में जिस रथादि की सृष्टि होती है, उसका कर्त्ता परमेश्वर हैं। कारण, 'स्वप्नरथादि सृष्टि का कारण परमेश्वर हैं,' इस प्रकार घोषणा श्रुति करती है।

सूत्रस्थ गोविन्दभाष्य—"वृहदारण्यके श्रूयते 'न तत्र रथा न रथयोगा, न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते, न तत्र आनन्दान्मुदः प्रमुदो भवन्त्यथानन्दान्मुदः प्रमुदः सृजते। न तत्र वेशन्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्त्यथ वेशन्तान् पुष्करिण्य स्रवन्त्यः सृजते स हि कर्त्ता।" इति। तत्रेयं स्वाप्निकी रथादि सृष्टि र्जीव कर्त्तृक परमात्मा कर्त्तृका वेति संशये जीवकर्त्तृका स्यात्। तस्यापि प्रजापति वाक्ये सत्य सङ्कल्पत्व श्रवणादिति प्राप्ते—

"सन्ध्ये सृष्टि राह हि॥ ३।२।१

सन्ध्यं–स्वप्नः "सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानं" इति तत्रैव श्रवणात्, जागरण सुषुप्ति मध्य भवत्वाच्च। तत्र या रथादि सृष्टिः सा परमात्मकृतैव। कुतः? हि यतः "सहि कर्त्तेति" श्रुतिरेव स्वप्ने रथादि सृष्टि तत् कृतामाह। अयम्भावः। अल्पाल्पकर्मानुसारि फल भोगाय स्वप्न द्रष्टृ पुंमात्रानुभाव्यांस्तावन्मात्र समयान् रथादीन् परमात्मा सृजति। तस्मात् स हि कर्त्तेति सत्य सङ्कल्पता तु मोक्षे स्यादतो न तया स्वप्न सृष्टिः॥१॥

ब्र० सू० ३।२।३ में कहा है—"माया मात्रं तु कार्त्स्न्यैनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्॥"

गी० भा०—"स्वाप्निकपदार्थ निर्म्मातु भंगवतः कारणमाह—

स्वप्न सृष्टावतर्क्या मायैव करणम्। न तु पञ्चीकृतानि भूतानि चतुर्म्मुखादयश्च। कुतः? कार्त्स्न्येनेत्यादेः सर्वानुभाव्यतयानभिव्यक्ते रित्यर्थः। तस्मात् परमात्म कृता स्वप्नसृष्टिरितिसिद्धम्।"

स्वाप्निक पदार्थ समूह के निर्म्माण कर्त्ता श्रीभगवान् हैं। श्रीभगवान् ही अतर्क्या मायाशक्ति के प्रभाव से जीव के स्वल्प स्वल्प कर्मानुयायी फल भोग के निमित्त, स्वप्न द्रष्टा पुरुष मात्र का भोग सम्पादन स्वल्प समय के निमित्त रथादि सृष्टि करते हैं। इस विषय में जीव का कोई कर्त्तृत्व नहीं है। सत्य सङ्कल्प अचिन्त्य शक्ति श्रीभगवान् में स्वाप्निक पदार्थ सृष्टि का कर्त्तृत्व असम्भव नहीं है, कठोपनिषद् प्रभृति श्रुति वाक्य में स्वाप्निक पदार्थ की सृष्टि कर्त्ता रूप में भगवान् का वर्णन है। उक्त स्वप्न दृष्ट रथादि पदार्थ के सृष्टि कर्त्ता जिस प्रकार भगवान् हैं, उस प्रकार उनका करण अतर्क्य शक्ति माया है, अर्थात् केवलमात्र अतर्क्य शक्ति माया के द्वारा ही श्रीभगवान् स्वप्न दृष्ट रथादि पदार्थ की सृष्टि करते रहते हैं। पञ्चीकृत भूत के द्वारा ब्रह्मा प्रभृति उक्त स्वाप्निक पदार्थ के सृष्टि कर्त्ता नहीं हैं। कारण, स्वाप्निक पदार्थ समूह के स्वप्न द्रष्टा जीव, केवलमात्र स्वप्नदर्शन के समय ही उक्त पदार्थ समूह का अनुभव करता है,

"मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्" इति न्यायप्राप्तेन स्वप्नस्यापि कर्त्तृत्वेन जाग्रदादिमय-जगत्कर्त्तृत्वस्य पूर्णत्वप्राप्ते वैलक्षण्यं दर्शितम् । सत्यादिद्वयेन परम-पुरुषार्थत्वञ्चेति विज्ञेयम् ।। श्रीशुकः ।।

२७ । एतदनन्तराध्यायेऽपि तथैवाह (भा० २।२।१४)–

(२७) "यावन्न जायेत परावरेऽस्मिन्, विश्वेश्वरे द्रष्टरि भक्तियोगः ।
तावत् स्थवीयः पुरुषस्य रूपं, क्रियावसाने प्रयतः स्मरेत ।।" ४३।।

परे ब्रह्मादयोऽवरे यस्मात् । कुतः ? विश्वेश्वरे द्रष्टरि, न तु दृश्ये, चैतन्यघनत्वात् ।

अन्य समय नहीं । एवं अपर कोई व्यक्ति, अन्य किसी समय में स्वाप्निक पदार्थ का दर्शन नहीं कर सकते हैं । यदि पञ्चीकृत भूत के द्वारा श्रीब्रह्मा प्रभृति उक्त स्वाप्निक पदार्थ की सृष्टि करते तो, स्वप्न द्रष्टाजीव, स्वप्नभिन्न समय में भी उक्त पदार्थ का दर्शन कर सकते, एवं साधारण जन भी देख पाते । वेदान्त सूत्र में भी जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति नामक अवस्थात्रय में जगत् कर्त्तृत्व का उल्लेख परमशक्तिमय पूर्ण पुरुष में ही हैं । इस विषय में जीव का कोई कर्त्तृत्व नहीं है । यदि स्वप्नसृष्टि कर्त्तृत्व जीव का होता तो, जगत् सृष्टि पूर्ण कर्त्तृत्व परमेश्वर में नहीं रहेगा । कारण, जगत् जाग्रत स्वप्न एवं सुषुप्ति नामक अवस्थात्रय युक्त है, अतएव उक्त अवस्थात्रय युक्त जगत् सृष्टि के मध्य में स्वप्न सृष्टि का कर्त्तृत्व प्रदान यदि जीव को किया जाय तो, अवशेष जाग्रत् एवं सुषुप्ति का सृजन कर्त्ता ईश्वर होंगे । इस से परमेश्वर की परि पूर्ण परमेश्वरता की हानि होगी । उक्त सृष्टि कार्य्य द्वारा ही जीव एवं ईश्वर में वैलक्षण्य प्रदर्शित हुआ है । अर्थात् जीव की क्षमता, किसी विषय में स्वतन्त्ररूप से करने की नहीं है । किन्तु परमेश्वर सर्वथा अपर की अपेक्षा न करके ही निज स्वाभाविक अचिन्त्य शक्तिसे विश्व सृष्टादि करने की क्षमता युक्त हैं । इस प्रकार असाधारण धर्म के द्वारा ही जीव एवं ईश्वरमें सामर्थ्यगत वैलक्षण्य प्रदर्शित हुआ है । श्लोकस्थ-"तं सत्यमानन्दनिधिं" वाक्य में सत्य एवं आनन्दनिधि विशेषण द्वय के द्वारा श्रीनारायण की परम पुरुषार्थता अर्थात् परम प्रयोजनीयता प्रदर्शित हुई है । कारण, जीव मात्रका मुख्य प्रयोजन है—अविनाशी परम आनन्द ।

प्रवक्ता श्रीशुक है । २४-२५-२६ ।।

२७ । इस प्रकार कथन के अनन्तर द्वितीय अध्याय में भी पूर्व वर्णित रीति कहते हैं—भा१ २।२।१४

(२७) "यावन्न जायेत परावरेऽस्मिन्, विश्वेश्वरे द्रष्टरि भक्तियोगः ।
तावत् स्थवीयः पुरुषस्य रूपं, क्रियावसाने प्रयतः स्मरेत ।।"४३।।

तावत् पर्य्यन्त (ब्रह्मादि जिनके अधीन हैं, उन विश्वेश्वर सर्व द्रष्टा श्रीभगवान् के प्रति भक्ति योग का आविर्भाव नहीं होता है, तावत् पर्य्यन्त, आवश्यक कर्मानुष्ठान के पश्चात् संयत चित्त से श्रीभगवान् के विराट् रूप का स्मरण करे ।

टीका—पूर्वोक्त वैराज धारणया एतद्धारणाङ्गत्वमाह-यावदिति । परे ब्रह्मादयोऽवरे कनिष्ठा यस्मात् । कुतः ? विश्वेश्वरे, द्रष्टरि, न तु दृश्ये, चैतन्य घनत्वात् भक्ति योगः—प्रेमलक्षणः । क्रियावसाने आवश्यक कर्मानुष्ठानानन्तरम् । अनेन कर्मापि भक्ति योग पर्य्यन्तमेवेत्युक्तम् । प्रयतो नित्य तत् परः ।।१४।।

श्लोकस्थ 'परावरे' शब्द का अर्थ—ब्रह्मा प्रभृति अवर, कनिष्ठ हैं जिनसे वह परावर हैं । 'विश्वेश्वर' जो सब के आराध्य हैं, द्रष्टरि—वह चैतन्य घन है, अत सब के द्रष्टा है, वह दृश्य नहीं हैं । एवम्भूत श्रीभगवान् में जब तक भक्ति योग नहीं होता है । उक्त भक्ति योग किसी किसी के मत में—भा० २।२।८

भक्तियोगः (भा० २।२।८) "केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे, प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम् । चतुर्भुजं" इत्यादिनोक्तसाधनलक्षणाभिनिवेशः, क्रियावसाने आवश्यककर्म्मानुष्ठानानन्तरम्, अनेन कर्म्मापि भक्तियोग-पर्य्यन्तमित्युक्तम् ॥

२८। तथा च (भा० २।२।१५)--"स्थिरं सुखं चासनम्" इत्यादिना, (भा० २।२।२२) "यदि प्रयास्यन्नृप पारमेष्ठ्यं" इत्यादिना च, क्रमेण सद्योमुक्ति-क्रममुक्त्युपायौ ज्ञानयोगावुक्त्वा ततोऽपि श्रेष्ठत्वं भक्तियोगहेतु-भगवदर्पित-कर्म्मणोऽप्युक्त्वा साक्षाद्भक्तियोगस्य तु कैमुत्यमेवानीतम्, यथा (भा० २।२।३३)—

"केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे प्रादेश मात्रं पुरुषं वसन्तम् ।
चतुर्भुजं कञ्जरथाङ्गशङ्ख गदाधरं धारणया स्मरन्ति ॥"

टीका—तामेव धारणां सविशेषामाह, केचिदिति षड्भिः । केचित् विरलाः, स्वदेहस्य अन्तर्मध्ये यत् हृदयं तत्र योऽवकाशस्तस्मिन् वसन्तम् । प्रादेशस्तर्ज्जन्यङ्गुष्ठयोर्विस्तारः स एव मात्रा प्रमाणं यस्येति हृदयपरिमाणं तत्रोपचर्य्यते कञ्जं--पद्मम् । रथाङ्ग-चक्रम् ।

कतिपय व्यक्ति, निज हृदयाभ्यन्तर प्रादेश मात्रस्थान में विराजमान चतुर्भुज, शङ्ख, चक्र, गदा, पद्मधारी श्रीनारायण का स्मरण, धारणा द्वारा करते हैं । एतादृश साधन में अभिनिवेश रखते हैं । "क्रिया वसाने" आवश्यक कर्मानुष्ठान के पश्चात् इस प्रकार उल्लेख करने के पश्चात् कहते हैं । जब तक भक्तियोग लाभ नहीं होता है, तब तक काम्यकर्मानुष्ठान करना चाहिये । भक्ति योग प्राप्त करने के पश्चात् काम्य-कर्मानुष्ठान करने की प्रयोजनीयता नहीं है । इस से निर्णीत हुआ कि-काम्य कर्मानुष्ठान करने का अधिकार भक्ति योग प्राप्त करने के पूर्वकाल पर्य्यन्त ही है ।।२७।।

२८। अनन्तर भा० २।२।१५ में उक्त है—

"स्थिर सुखं चासन मास्थितोयति र्यदा जिहासुरिमसङ्ग लोकम् ।
देशे च काले च मनो न सज्जयेत् प्राणान् नियच्छेन्मनसा जितासुः ॥"

टीका—एवं तावदासन्नमृत्योः पुंसः कृत्यमुक्तम् । इदानीं तस्यैवं स्वयं देहं त्यक्तुमिच्छतः कृत्यमाह--स्थिरमिति सार्द्धैश्चतुर्भिः । अङ्ग ! हे राजन् ! एवम्भूतो यतिर्यदा इमं लोकं देहं, जिहासुः, हातुमिच्छति, तदा देशे--पुण्यक्षेत्रे, काले च उत्तरायणादौ, मनो न सज्जयेत्—सङ्गं न प्रापयेत् । न देश कालौ योगिनः सिद्धि हेतुः, किन्तु योग एवेति, दृढ़निश्चयो भूत्वा. स्थिरं सुखकरणञ्चासनमास्थितः प्राणान् नियच्छेदित्यर्थः ॥

अनन्तर योगी को निज देह त्याग करने की इच्छा होने पर उसको क्या करना चाहिये, कहते हैं--

हे राजन् ! उक्त लक्षणाक्रान्त योगी, जिस समय इस जगत् को एवं निज शरीर को छोड़ने की इच्छा करता है, उस समय, पुण्य क्षेत्र एवं उत्तरायणादि काल की अपेक्षा वह न करे । केवल सुख पूर्वक स्थिर भाव से उपवेशन कर मनके द्वारा प्राण वायु को संयत कर प्राण त्याग करे ।

भा० २।२।१५--२१ पर्य्यन्त श्लोक में सद्य मुक्ति का उल्लेख करके २२ श्लोक में क्रममुक्ति को कहते हैं ।

"यदि प्रयास्यन् नृप पारमेष्ठ्यं वैहायसानामुत यद्विहारम् ।
अष्टाधिपत्यं गुण सन्निवायो सहैव गच्छेन्मनसेन्द्रियैश्च ॥"

टीका—सद्योमुक्तिमुक्त्वा क्रममुक्ति प्रकारमाह,--यदीति दशभिः । यदि तु पारमेष्ठ्यं पदं प्रयास्यन्

(२८) "न ह्यतोऽन्यः शिवः पन्था विशतः संसृताविह।
वासुदेवे भगवति भक्तियोगो यतो भवेत्॥"४४॥

टीका च—"सन्ति संसरतः पुंसो बहवो मोक्षमार्गास्तपोयोगादयः, समीचीनस्त्वयमेवेत्याह न हीति। यतोऽनुष्ठितादभक्तियोगो भवेत्, अतोऽन्यः शिवः सुखरूपो निर्व्विघ्नश्च नास्त्येव।" इत्येषा। यच्छब्देनात्र भगवत्सन्तोषार्थं कर्म्मोच्यते, (भा० १।२।६) "स वै पुंसां परो धर्म्मः" इत्युक्तेः॥

भवति, उतवैहायसानां—खेचराणां सिद्धानां यत् विहारं क्रीड़ास्थानम्। कीदृशम्। अष्ट आधिपत्यानि अणिमाद्यैश्वर्य्याणि यस्मिन् तदपि प्रयास्यन्। क्व? गुण सन्निवाये—गुणसमुदायरूपे ब्रह्माण्डे सर्वत्रेत्यर्थः। तर्हि देहत्यागावसरे मनश्च इन्द्रियाणि च न त्यजेत्, किन्तु तैः सहैव तत्तल्लोक भोगार्थं गच्छेत्॥"

यदि योगी की इच्छा पारमेष्ठ्यपद प्राप्त करने की होती है, अथवा खेचर सिद्ध पुरुषों का क्रीड़ास्थान प्राप्त करने की इच्छा होती है, अथवा अणिमादि अष्ट ऐश्वर्य्य प्राप्त करने की इच्छा होती है तो, सत्त्व, रजः तमः, गुणों का मिश्रण जिस ब्रह्माण्ड में है, उस ब्रह्माण्ड के जिस किसी स्थान में जाने की इच्छा होती, देह त्याग के समय में मनः एवं इन्द्रिय समूह को परित्याग न करे, मन एवं इन्द्रिय समूह के सहित ही भोग हेतु उक्त स्थान में गमन करे।

कतिपय श्लोक के द्वारा सद्योमुक्ति एवं क्रम मुक्ति का उपाय स्वरूप ज्ञान एवं अष्टाङ्ग योग का उल्लेख कर पूर्वोक्त ज्ञान एवं अष्टाङ्ग योग से भी श्रीभगवान् में अर्पित कर्म का श्रेष्ठत्व वर्णन करके कैमुत्यन्याय से साक्षात् भक्ति योग का श्रेष्ठत्व कहा गया है।

उक्त साक्षात् भक्ति योग का श्रेष्ठत्व प्रति पादक प्रमाण स्वरूप भा० २।२।३३ श्लोकका उट्टङ्कन करते हैं-

(२८) "न ह्यतोऽन्यः शिवः पन्था विशतः संसृताविह।
वासुदेवे भगवति भक्तियोगो यतो भवेत्॥" ४४॥

टीका—"सन्ति संसरतः पुंसो बहवो मोक्षमार्गास्तपोयोगादयः समीचीनस्त्वयमेवेत्याह—न हीति। यतोऽनुष्ठितात् भक्तियोगो भवेत्, अतोऽन्यः शिवः सुखरूपो निर्विघ्नश्च नास्त्येव॥३३॥

संसार में भ्रमण शील मानव के पक्ष में मुक्तिलाभ के उपाय स्वरूप, तपः, योग प्रभृति अनेक साधन विद्यमान होने पर भी यह ही अति समीचीन उपाय है, वह उपाय क्या है? कहते हैं—अनुष्ठित जिस धर्म से भगवान् वासुदेव में भक्ति योग आविर्भूत होता है। अतएव उक्त भक्ति योग के विना सुखरूप एवं निर्विघ्न पन्था और द्वितीय नहीं है। स्वामि पाद कृत टीका का अभिप्राय यह ही है।

श्लोक में लिखित "यतो भवेत्" स्थित 'यत्' शब्द का यहाँपर अर्थ—भगवत् सन्तोषार्थ कर्म। कारण भा० १।२।६ में कहा गया है—

"सवै पुंसां परो धर्मो यतोभक्तिरधोक्षजे।
अहैतुकच प्रतिहता ययात्मा सं प्रसीदति॥"

टीका—तत्र यत् प्रथमं पृष्टं सर्वशास्त्रसार में कान्तिकं श्रेयो ब्रूहीति तत्रोत्तरं सर्व इति—अयमर्थः-धर्मो द्विविधः प्रवृत्ति लक्षणो निवृत्त लक्षणश्च। तत्र यः स्वर्गाद्यर्थः प्रवृत्ति लक्षणः सोऽपरः। यतो धर्मात् कृष्णे श्रवणादरादि लक्षणा तृप्ति र्भवति स परोधर्मः, स एवैकान्तिकं श्रेय इति। कथम्भूता? अहैतुकी-हेतुः फलाभिसन्धानं, तद्रहिता, अप्रतिहता--विघ्नैरनभिभूता॥

२६ । स हि भक्तियोगः सर्व्ववेदसिद्ध इत्याह (भा० २।२।३४)–

(२६) "भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया ।
तदध्यवस्यत् कूटस्थो रतिरात्मन् यतो भवेत् ।।" ४५।।

भगवान् ब्रह्मा, कूटस्थो निर्व्विकार एकाग्रचित्तः सन्नित्यर्थः । त्रिस्त्रीन् वारान् कार्त्स्न्येन साकल्येन, ब्रह्म वेदमन्वीक्ष्य विचार्य्य । यत आत्मनि हरौ रतिर्भवेत्, तदेव भक्तियोगाख्यं वस्तु मनीषया अध्यवस्यत् निश्चितवान् । (त्रिरन्वीक्ष्येति कर्म्म-ज्ञान-भक्ति-प्रतिपादकतयाभिप्रेत्येति ज्ञेयम्) । अत्राप्युपसंहारानुरोधेनात्म-शब्दस्य हरिवाचकता, निरुक्तञ्च (तन्त्रे)–

उक्त श्लोकस्थ "भक्तियोगी यतो भवेत्" स्थित 'यत्' शब्द से भगवत सन्तोषार्थ कर्म गृहीत हुआ है, कारण, पहले "सवै पुंसां परोधर्मः" श्लोक में कहा गया है कि—भगवदर्पित कर्म से ही श्रीभगवद् भक्ति में रुचि का आविर्भाव होता है । इस प्रकार व्याख्या की गई है ।।२८।।

२९ । वह भक्ति योग सर्ववेदसिद्ध है । उसको कहते हैं । भा० २।२।३४

(६) "भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया ।
सदध्यवस्यत् कूटस्थो रतिरात्मन् यतो भवेत् ।।४५।।

टीका—कुतएतत् ? अत आह । भगवान्–ब्रह्मा, कूटस्थः—निर्विकारः एकाग्रचित्तः सन्नित्यर्थः, त्रिः-त्रीन् वारान्, कार्त्स्न्येन साकल्येन, ब्रह्म—वेदम्, अन्वीक्ष्य--विचार्य्य, यतः आत्मनि हरौ, रतिर्भवेत्, तदेव मनीषया--अध्यवस्यत्, निश्चितवान् ।।"

भगवान्–ब्रह्मा । कूटस्थ-निर्विकार--अर्थात् एकाग्रचित्त होकर । त्रिः--तीनवार, कार्त्स्न्येन-साकल्येन-अर्थात् समस्त वेद । ब्रह्म--वेद, अन्वीक्ष्य--विचार कर, जिस से आत्मा प्रिय स्वरूप—श्रीहरि में प्रीति का आविर्भाव होता है, उस भक्ति योग नामक वस्तु का निर्णय--स्वीय प्रज्ञाबल से किये थे । 'त्रिरन्वीक्ष्य' तीन वार पुङ्खानुपुङ्खरूप से विचार कर--कहने का अभिप्राय यह है कि—कर्म–ज्ञान अथवा भक्ति प्रतिपादक वेद समूह हैं, इस प्रकार दृष्टि भङ्गी से विचार कर निश्चय किय थे--कि--वेद समूह--भक्तियोग प्रति पादक ही हैं । काम्यकर्म एवं स्वरूपानुसन्धानात्मक ज्ञान प्रति पादक नहीं है । इस प्रकार समझना होगा । भा० २।३।३५।३६ में उक्त 'स्वात्मना हरिः' हरिः सर्वत्र सर्वदा" १२।१३।२३ 'नाम सङ्कीर्त्तनं यस्य सर्वपाप प्रणासनम् । प्रणामो दुःख शमनं तं नमामि हरिं परम्" ।

उपसंहार वाक्य के अनुरोध से उक्त श्लोकस्थ 'आत्मा' शब्द का अर्थ—श्रीहरि हैं । निरुक्त के अनुसार, अर्थात् अक्षर साम्य से अर्थ करना होता है, इस नियम से 'आत्मा' शब्द से "आततत्वात्" अर्थात् व्यापक हेतु, मातृत्वात् अर्थात् धारण पोषण हेतु, श्रीहरि ही परमात्मा हैं । अथवा--भगवान्,--स्व प्रकाश एवं सर्वज्ञाता प्रभृति गुण सम्पन्न परमेश्वर भी, सर्व वेद का अभिधेय अर्थात् कर्त्तव्योपदेश का सारार्थ संग्रह लीलाहेतु उक्त वेद में अपरापर शास्त्रज्ञ मुनिवृन्द की शास्त्रार्थ विचार दृष्टि का अनुकरण कर निश्चय किये थे कि—जिस भक्ति योग से 'आत्मनि' श्रीहरि में प्रीति का उदय होता है, वह भक्ति योग ही सर्व वेद का मुख्य अभिधेय है--अर्थात् श्रेष्ठ कर्त्तव्य है । यहाँपर 'भगवान्' पद का अर्थ 'परमेश्वर' क्यों किया गया है ? उस का उद्देश्य को कहते हैं । अनन्त वैकुण्ठ के अनन्त वैभवादि मय अनन्त ब्रह्मा के पाठच भेद स्वरूप वेदों की समालोचना करना उक्त परमेश्वर के पक्ष में ही सम्भव है । इस अभिप्राय से ही श्लोकस्थ 'भगवान्' पद का अर्थ 'परमेश्वर' किया गया है । कारण,

आततत्वाच्च मातृत्वादात्मा हि परमो हरिः" इति। अथवा भगवान् स्वप्रकाशसार्व्वज्ञ्याादिगुणः परमेश्वरोऽपि सर्व्ववेदाभिधेयसाराकर्षणलीलार्थं त्रिरन्वीक्ष्य तत्र शास्त्रविदन्तराणामीक्षणमनुकृत्य। अनन्तवैकुण्ठ-वैभवादिमयानामनन्तविरिञ्चपाठ्यभेदानां वेदानां तथेक्षणञ्च तेनैव सम्भवतीत्याह--'कूटस्थः' एकरूपतयैव कालव्यापीति। अतएवोक्तं स्वयमेव (भा० ११।२१।४२)

"किं विधत्ते किमाचष्टे किमनूद्य विकल्पयेत्।
इत्यस्या हृदयं लोके नान्यो मद्वेद कश्चन।।" ४६।।

श्रीशुकेन च (भा० ११।२९।४९) "निगमकृदुपजह्रे भृङ्गवद्वेदसारम्" इति।।

३०। अथ किं तद्यतस्तत्र रतिः स्यात्? तथैव (भा० ११।१९।३८) "यच्छ्रोतव्यम्" इत्यादि प्रश्नस्योत्तर-त्वेनोपसंहरति (भा० २।२।३६)--

---

'कुटस्थ' वह 'कूटस्थ' हैं, अर्थात् एकरूप में सर्व काल व्यापी है। अतएव भगवान् श्रीकृष्ण ने भा० ११।११।४२ में उद्धव के प्रति स्वयं ही कहा है।

"किं विधत्ते किमाचष्टे किमनूद्यविकल्पयेत्।
इत्यस्या हृदयं लोके नान्योमद्वेदकश्चन।।" ४६।।

टीका—अर्थतोऽपि दुर्ज्ञेयत्वमाह किमिति, कर्म काण्डे विधिवाक्यैः किं विधत्ते। देवता काण्डे मन्त्र वाक्यैः किमाचष्टे--प्रकाशयति, ज्ञान काण्डे किमनूद्य विकल्पयेत्—निषेधार्थम्-ःइत्यवमस्या हृदयं--तात्पर्य्यं, मत्—मन्तोऽन्यः, कश्चिदपि न वेदः।।"

हे उद्धव! कर्म काण्डस्थ विधि वाक्य समूह के द्वारा विधान क्या करते हैं? देवता काण्ड में मन्त्र वाक्य द्वारा किस का प्रकाश करते हैं। ज्ञान काण्ड में अनुवाद कर किस का निरोध करते हैं।--श्रुतियों को उक्त तात्पर्य्य समूह को मैं ही जानता हूँ। अपर कोई भी नहीं जानते हैं। इस से स्पष्टतः समझने में आया कि-सम्पूर्ण वेदों की तात्पर्य्य समलोचना करने में एकमात्र श्रीभगवान् ही समर्थ हैं। इस हेतु भगवान् पद का अर्थ ब्रह्मा न करके परमेश्वर किया गया है। श्रीशुकदेव ने भी भा० ११।२९।४९ में कहाहै-

"भवभयमपहन्तुं ज्ञान विज्ञान सारं निगम कृदुपजह्रे भृङ्गवद् वेदसारम्।
अमृतमुदधितश्चापाययद् भृत्यवर्गान् पुरुष मृषभ माद्यं कृष्ण संज्ञं नतोऽस्मि।।"

टीका—एवं कृतोपदेशं जगद् गुरुं प्रणमति-भवभयमिति। भवः- संसारः, भयञ्च— जरारोगादि निमित्तम्, तदुभयनिवृत्तानां प्रवृत्तानाञ्च भृत्य वर्गाणां यथायोग्यमपहत्तुं योऽमृतद्वय मुपजह्रे--उद्धृतवान्। तदेवाह--वेदसारमेकम्। किं तत्? ज्ञान विज्ञान रूपाञ्च, तत्सारम् श्रेष्ठञ्च। भृङ्गवत्--भृङ्गो यथा पुष्पम कोपयन्नेव अमृतमुपहरति तथा स्वयं स्वकृत वेदानुसारेणैव उदधितश्चेकम्। तच्चोभयं यथायथं, भृत्यवर्गान् अपाययत् तं नतोऽस्मीति।।"

जिन्होंने समुद्र मन्थन एवं वेद पर्य्यालोचन के द्वारा उभय विध अमृतोत्तोलन कर यथा योग्य भृत्य वर्ग को पान कराया है, उन वेद कर्त्ता स्वयं भगवान श्रीकृष्ण को मैं प्रणाम करता हूँ।। उक्त विषय में इस प्रकार अनेक प्रमाण द्रष्टव्य है।२९।

३०। अनन्तर वह वस्तु क्या है, जिस के प्रति प्रीति होनी चाहिये? इस प्रकार प्रश्न व्यञ्चक भा० ११।१९।३८।

(३०) " तस्मात् सर्व्वात्मना राजन् हरिः सर्व्वत्र सर्व्वदा।
श्रोतव्यः कीर्त्तितव्यश्च स्मर्त्तव्यो भगवान् नृणाम् ॥"४७॥

च-कारात् पादसेवादयोऽपि गृह्यन्ते। अनन्तरञ्च श्रवणादिफलं यद्दर्शितं तत्तुदाहृतम् (भा २।२।३७) —

"पिवन्ति ये भगवत आत्मनः सतां, कथामृतं श्रवणपुटेषु संभृतम्।
पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं, व्रजन्ति तच्चरण-सरोरुहान्तिकम् ॥"४८॥ इति।

अत्र पुनन्तीत्यनेन पूर्व्वोक्तः स्थूलधारणामार्गश्च परिहृतः। भक्तियोगस्यैव स्वतः पावनत्वादलं तत्प्रयासेनेति ॥ श्रीशुकः ॥

३१। एवं प्राक्तनाध्यायाभ्यां कर्म्म-योग-ज्ञानेभ्यः श्रेष्ठत्वमुक्त्वा तदुत्तराध्यायेऽपि सर्व्व-

---

"यच्छ्रोतव्यमथो जप्यं यत् कर्त्तव्यं नृभिः प्रभोः।
स्मर्त्तव्यं भजनीयं वा ब्रूहि यद्वा विपर्य्ययम् ॥

टीका—यच्छ्रोतव्यं,यज्जप्यं यत् कर्त्तव्यं,यत् स्मर्त्तव्यं, यदाराध्यं तद् ब्रूहि,–विपर्य्ययम्–अश्रोतव्यादि।
श्रोतव्य, जप्य, कर्त्तव्य, स्मरणीय, आराधनीय वस्तु का वर्णन करें। मनुष्य मात्र के पक्ष में जो हित कर हो? परीक्षित महाराज के इस प्रकार प्रश्न के उत्तर प्रदान छल से उपसंहार करते हुये शुकदेव कहते हैं—

(३०) "तस्मात् सर्वात्मना राजन् हरिः सर्वत्र सर्वदा।
श्रोतव्यः कीर्त्तितव्यश्च स्मर्त्तव्यो भगवान् नृणाम् ॥"५७॥

टीका--'यच्छ्रोतव्यमित्यादि प्रश्नस्य उत्तरमुपसंहरति। तस्मादिति।'

हे राजन्! जब श्रीभगवच्चरणारविन्दों में भक्ति ही एकमात्र निखिल कर्त्तव्यों का सार है, तब समस्त इन्द्रियों के द्वारा सर्वदा एवं सर्वत्र भगवान् श्रीहरि, मानब मात्रके पक्षमें अवश्य श्रोतव्य, कीर्त्तितव्य एवं स्मर्त्तव्य हैं। श्लोकोक्त 'कीर्त्तितव्यश्च' 'च' कार के द्वारा पाद सेवन, अर्च्चन, प्रभृति भक्त्यङ्ग का कथन हुआ है। अनन्तर श्रवणादि का फल रूप में उन्होंने भा० २।२।३७ में जो कहा है वह यह है—

"पिवन्ति यें भगवत आत्मनः सतां कथामृतं श्रवण पुटेषु संभृतम्।
पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं व्रजन्ति तच्चरण सरोरुहान्तिकम् ॥"४८॥

टीका—श्रवणादि फलमभिनयेनाह-- पिबन्तीति। सताम्, आत्मनः, आत्मत्वेन प्रकाशमानस्य। कथैव अमृतम्। विषयै विदूषितं--मलिनीकृतंमाशयं पुनन्ति--शोधयन्ति। तस्य चरणपद्मान्तिकं श्रीविष्णुपदं व्रजन्ति ॥३७॥

साधुवृन्द के मुख से क्षरित, श्रवण रूप पात्र में धृत, साधुवृन्द के अतिशय अन्तरङ्ग आत्मीयरूप में प्रकाशमान श्रीभगवान् के कथामृत का पान जो लोक करते रहते हैं। वे सब निज चित्त को शोधित करते हैं, एवं श्रीभगवान् के सामीप्य को प्राप्त करते हैं, अर्थात् विष्णु पद गमन करते हैं। उक्त श्लोक में 'पुनन्ति' पद का प्रयोग है, उसका अर्थ है--विषय वासना से मलिन चित्त का शोधन करते हैं। इस प्रकार उल्लेख होने के कारण,—पूर्व वर्णित विराट् धारणा मार्ग का परिहार हुआ। कारण, भक्तियोग स्वाभाविक ही परम पवित्र कारी है, अतएव चित्त शुद्धि के निमित्त स्वतन्त्र किसी अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं है।

प्रवक्ता श्रीशुक हैं ॥३०॥

देवतोपासनेभ्यः श्रेष्ठत्वप्रवचनेन भगवद्भक्तियोगस्यैवाभिधेयत्वमाह (भा० २।३।२) —ब्रह्मवर्च्चस-कामस्तु यजेत ब्रह्मणः पतिम्" इत्याद्यनन्तरम् (भा० २।३।१०)—

(३१) "अकामः सर्व्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः ।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥"४९॥

टीका च—"अकाम एकान्तभक्तः, उक्तानुक्त-सर्वकामो वा, पुरुषं पूर्णं परं निरुपाधिम्" इत्येषा। तीव्रेण दृढ़ेन स्वभावत एवानुपघात्येन, इति विघ्नानवकाशतोक्ता। कामना तु यादृच्छिकेनापि स्यात्, यथोक्तं भारते—

"भक्तक्षणः क्षणो विष्णोः स्मृतिः सेवा स्ववेश्मनि। स्वभोज्यस्यार्पणं दानं फलमिन्द्रादि-दुर्लभम् ।५०। इति

३१। उक्त रीति से पूर्वोक्त अध्यायद्वय के द्वारा कर्म, योग, ज्ञान से भक्ति योग का श्रेष्ठत्व वर्णन करके तत् परवर्त्ती अध्याय में अर्थात् तृतीय अध्याय में सर्वदेवतोपासना से भक्ति योग का श्रेष्ठत्व वर्णन द्वारा भक्ति योग का ही अभिधेयत्व अर्थात् अवश्य कर्त्तव्यत्व प्रतिपादित हुआ है। भा० २।३।२ में उक्त है--

"ब्रह्मवर्च्चसकामस्तु यजेत ब्रह्मणः पतिम् ।
इन्द्रमिन्द्रियकामस्तु प्रजाकामः प्रजापतीन् ॥"

टीका---ब्रह्मणः पति, वेदपति, ब्रह्माणम्। इन्द्रियपाटव कामस्तु इन्द्रम्। प्रजाकामः--प्रजापतीन्, दक्षादीन् ॥"

जो ब्राह्मणोचित तेज लाभेच्छु हैं, उनको वेद पति ब्रह्मा की उपासना करनी चाहिये। इन्द्रिय कामना के निमित्त इन्द्र की उपासना करे। प्रजा की कामना हो, तो दक्षादि प्रजापति की उपासना करे। इस प्रकार विभिन्न वासना पूर्त्ति के निमित्त विभिन्न देवता की उपासना का वर्णन करके भा० २।३।१० में श्रीभगवद् भक्ति की ही अवश्य कर्त्तव्यता का निर्णय करते हैं—

(३१) "अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः ।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥४९॥

टीका—अकामः--एकान्त भक्तः। उक्तानुक्त सर्वकामो वा पुरुषं पूर्णं परं निरुपाधिम् ॥"

अकाम, सर्वकाम, अथवा मोक्षकाम व्यक्ति, यदि उदार बुद्धि, अर्थात् सुबुद्धि युक्त हो, तो तीव्र भक्ति योग के द्वारा परम पुरुष श्रीहरि का ही उपासना करे।

अकाम शब्द का अर्थ—एकान्त भक्त है। सर्वकाम शब्द का अथ—जो सब कामना की बात कही गई हैं, एवं जिस कामना का उल्लेख नहीं हुआ है, उक्त समस्त कामना विशिष्ट मानव भी निरुपाधि पुरुष श्रीभगवान् की उपासना करे। श्लोक में 'तीव्रेण' शब्द का प्रयोग है, उसका अर्थ--अति दृढ़ भक्ति योग है, अर्थात् जो भक्ति योग, विघ्न के द्वारा अभिभूत नहीं होता है, इस प्रकार भक्ति योग के द्वारा परम पुरुष की उपासना करे। उक्त भक्ति योग, विघ्न के द्वारा प्रतिहत न होने का कारण—भक्ति योग में, स्वभावतः ही विघ्न के द्वारा अभिभूत होने का अवसर है ही नहीं। कारण, श्रीभगवद् भक्ति आचरण के समान अपर सुख नहीं है, भक्ति--आचरण न करने के समान दुःख भी अपर नहीं है तज्जन्य, सुख एवं दुःख के द्वारा भक्ति बाधित नहीं होती है। कामना की पूर्त्ति किन्तु अनायास एवं, अनुसन्धान से ही होती है। महाभारत में कथित है।

"भक्त क्षणः क्षणो विष्णोः स्मृतिः सेवा स्ववेश्मनि ।
स्व भोज्यस्यार्पणं दानं फलमिन्द्रादि दुर्ल्लभम् ॥" ५०॥

तदुक्तं श्रीकर्दमं प्रति (भा० ३।२१।१४) — "न वै जातु मृषैव स्यात् प्रजाध्यक्ष मदर्हणम्" इति । यथा वा, यत्तत्कामस्तीव्रेणैव यजेत । ततश्च शुद्धभक्तिसम्पादनायैवान्ते पर्य्यवसिष्यत्यसावित्यभिप्रायेण सविशेषणमुपदिष्टम् । तदनेनैकान्त-भक्तेषु मुमुक्षौ वा तद्भियोगस्यैवाभिधेयत्वं किं वक्तव्यम्, अपि तु सर्व्वकामेष्वपीति तदेव सर्व्वथापि निर्णीतम् ॥

३२ । किञ्च, (भा० २।३।११)--

(३२) "एतावानेव यजतामिह निःश्रेयसोदयः ।
भगवत्यचलो भावो यद्भागवत-सङ्गतः ॥" ५१॥

टीका च — "पूर्वोक्त-नानादेवतायजनस्यापि संयोशपृथक्त्वेन भक्तियोगफलत्वमाह:- एतावानिति । इन्द्रादीनपि यजतामिह तत्तद्यजने भागवतानां सङ्गतौ भगवत्यचलो भावो

जो समय भक्त का है, वही समय श्रीकृष्ण का है, निज गृह में श्रीविष्णु का स्मरण ही सेवा है। निज भोग्य वस्तु का अर्पण विष्णु को करना ही दान है। अथच उस प्रकार आचरण के द्वारा इन्द्रादि दुर्लभ फल लाभ स्वतः ही होता है। भा० ३।२१।२४ में श्रीकर्दम के प्रति श्रीभगवान् बोले थे--

"न वै जातु मृषैव स्यात् प्रजाध्यक्ष मदर्हणम् ।
भवद्विधेष्वति तरां मयि संगृभितात्मनाम् ॥"

टीका — मयि संगृभीतः---संगृहीत, एकाग्रीकृतः आत्मा चित्तं यैः, तेषां यन्मदर्हणं तादृशेषु अतितरां सर्वथा मृषा निष्फलं न स्यात् ॥

हे प्रजाधक्ष ! जो लोक एकाग्रचित्त से मेरी पूजा करते हैं, उन के द्वारा अनुष्ठित पूजन कार्य्य सर्वथा निष्फलं नहीं होता है। अथवा श्लोकोक्त अकामः सर्वकामो वा" का अर्थ है—निखिल कामना विशिष्ट हो तो भी तीव्र भक्तियोग के द्वारा परम पुरुष श्रीभगवान् की ही उपासना करे। अतएव कामना संक्रान्त चित्त से श्रीहरि भक्ति करने पर उक्त कामना, फल भोग के अनन्तर विशुद्ध भक्ति में पर्य्यवसित होती है। इस अभिप्राय से ही श्लोक में भक्ति योग का विशेषण रूप में 'तीव्र' शब्द का प्रयोग हुआ है। इस से निर्णीत हुआ कि--एकान्त भक्त, एवं मुमुक्ष में उक्त भक्ति योग का ही एकान्त अभिधेयत्व है, अर्थात् एकान्त कर्त्तव्यत्व है, इस विषय में अधिक कहना ही क्या है ? कारण, सर्व कामनायुक्त व्यक्ति के पक्ष में भी तीव्र भाव से भगवद् भक्ति की सर्वथा कर्त्तव्यता निर्णीत हुई है ॥३१॥

३२ । उक्त अध्याय के २।३।११ में और भी वर्णित है

"एतावानेव यजतामिह निःश्रेयसोदयः ।
भगवत्यचलो भावो यद्भागवत--सङ्गतः ॥"५१॥

टीका — पूर्व्वोक्त नाना देवता यजनस्यापि संयोग पृथक्त्वेन भक्तियोग फलत्वमाह, एतावान्निति। इन्द्रादीनपि यजताम् इह तत्तद् भजनेन भागवतानां सङ्गतो भागवत्यचलो भावो भक्ति र्भवतीति यत् एतावानेव निःश्रेयसस्य परमपुरुषार्थस्य उदयो लाभः । अन्यत् तु सर्वं तुच्छमित्यर्थः ॥"

पूर्व वर्णित विविध देवता उपासना कारी को भगवद् भक्त सङ्ग से श्रीभगवान् में अचला भक्तिलाभ होता है, जो कि परम पुरुषार्थ है। अर्थात् विभिन्न देवता का भजन कर भगवद् भक्त सङ्ग से यदि भगवद् भक्ति लाभ नहीं होता है तो, वह विभिन्न देवता भजन कारी व्यक्ति को परम पुरुषार्थ लाभ से

भक्तिर्भवतीति यदेता वानेव निःश्रेयसस्य परमपुरुषार्थस्य उदयो लाभः, अन्यत्तु सर्वं तुच्छमित्यर्थः" इत्येषा। अत्र (भा० २।३।२) "इन्द्रमिन्द्रियकामस्तु" इत्याद्युक्तमिन्द्रियपाटवादिकं पृथक्त्वेन फलम्। भागवतेन संयोगे तु भावः फलम्। खादिरयूप-संयोगे यागस्य फल-वैशिष्ट्यवदिति ज्ञेयम्॥ श्रीशुकः॥

३३। अनन्तरं श्रीशौनकेनापि व्यतिरेकोक्त्या तस्यैवाभिधेयत्वं दृढ़ीकृतम्, यथाह (भा० २।३।१७)—

(३३) "आयुर्हरति वै पुंसामुद्यन्नस्तञ्च यन्नसौ।
तस्यर्ते यत्क्षणो नीत उत्तमश्लोकवार्त्तया॥"५२॥

से वञ्चित है—समझना होगा। स्वामिकृत टीका का तात्पर्य्य यह है—

पूर्व वर्णित नानादेवता उपासना का भी 'संयोग पृथकत्व' न्याय से भक्ति योग प्राप्ति ही परम फल है उसका वर्णन "एतावान्" श्लोक के द्वारा करते हैं, देवतागण भगवद् भक्त होते हैं, अतः इन्द्रादि देवता गण की उपासना जो लोक करते हैं, उपास्य देवतागण भगवद् भक्त होने के कारण, उनके सङ्ग से उपासक में भगवान् के चरणारविन्द में अचलाभक्ति का उदय होता है। यह ही निः श्रेयस् है, अर्थात् परम पुरुषार्थ की प्राप्ति है, एतद्व्यतीत अन्य फल समूह तुच्छ फल में परिणत होते हैं।

स्वामिपाद कृत टीका में उक्त फल बोधन हेतु 'संयोग पृथकत्व' न्याय का उल्लेख हुआ है, उस की अवतारणा इस प्रकार होती है "एकस्य कर्मणो नित्यत्व काम्यत्वाभ्यांद्वैरूप्याङ्गीकारे नित्यानित्य संयोग विरोधः। मैवं संयोग पृथकत्व न्यायात्। यथा—खादिरे पशुं बध्नाति, खादिरं वीर्य्य कामस्य यूपं कुर्वीत इति श्रूयते। अत्र संशयः। किं काम्यस्यैव खादिरता नित्येऽपि स्यादुत नेति। तत्र फलार्थत्वेनानित्यतया नित्य प्रयोगाङ्गता न युक्ता। यत्तु नित्येऽपि खादिरत्व श्रवणं तत् काम्यस्यैव पशुबन्धनाय यूपाश्रयज्ञापनार्थं अतो न नित्यखादिरता इति प्राप्ते वदति। एकस्य तूभयत्वे संयोग पृथक्त्वमिति। अत्र संयोगः सम्बन्धमात्रं पृथक् त्वं भेदः। एकस्य खादिरस्य क्रत्वर्थत्व पुरुषार्थत्व रूपोभयात्मकत्वे वाक्य द्वयेन च क्रतुशेषत्व फल शेषत्व लक्षण संयोग भेदावगमान्न नित्यानित्यसंयोग विरोधः न चाश्रय ज्ञानार्थं नित्य वाक्यं सन्निधाना-देवाश्रयलाभात्। अत उभयार्था खादिरतेति एवं दध्नाजुहोति दध्नेन्द्रियकामस्य इत्यादावुभयार्थतैव, दधित्वस्य द्वेधा श्रवणात्॥

"इन्द्रमिन्द्रिय कामस्तु" इत्याद्युक्तमिन्द्रियपाटवादिकं।
पृथक्त्वेन फलम् भागवतेन संयोगे तु भावः फलम्॥"
खादिरयूप संयोगे यागस्य फलवैशिष्ट्यवदितिज्ञेयम्॥

इन्द्रिय लाभेच्छु व्यक्ति, इन्द्र की उपासना करे। इस प्रकार कहा गया है। पृथक् बुद्धि से उपासना करने पर इन्द्रिय पटुतारूप फल लाभ होगा। भगवद् भक्त सङ्ग से किन्तु श्रीभगवान् में भक्ति का लाभ होगा, जिस प्रकार अन्य काष्ठ द्वारा यूप निर्म्माण से जो फललाभ होगा। खदिर काष्ठ द्वारा यूप निर्म्माण पूर्वक यज्ञ करने से विशेष फल होता है, यहाँपर भी उस प्रकार ही जानना होगा।

श्रीप्रवक्ता--श्रीशुक हैं॥३२॥

३३। अनन्तर श्रीशौनक ने भी व्यतिरेक मुख से उक्त भक्ति योग का ही अभिधेयत्व अर्थात् अवश्य कर्त्तव्यत्व का वर्णन दृढ़ रूप से किया है। (भा० २।३।७)

असौ सूर्य्यः, उद्यन् उद्गच्छन् अस्तञ्च यन् गच्छन् हरति वृथागामित्वाद्बलादाच्छिनत्तीव। यद् येन क्षणोऽपि नीत उत्तमश्लोकवार्त्तया, तस्य आयुर्ऋते वर्ज्जयित्वा,— तावतैव सर्व्वसाफल्यादिति भावः ॥

३४। ननु जीवनादिकमेव तेषामायुषः फलमस्तु ? तत्राह (भा० २।३।१८)—

(३४) "तरवः किं न जीवन्ति भस्त्राः किं न श्वसन्तुचत।
न खादन्ति न मेहन्ति किं ग्रामे पशवोऽपरे ॥" ५३)

न मेहन्ति न मैथुनं कुर्व्वन्ति। तानपि नराकारान् पशून् मत्वाह--अपर इति ॥

३५। तदेवाह(भा० २।३।१७)—

---

(३३) "आयुर्हरति वै पुंसामुद्यन्नस्तञ्च यन्नसौ।
तस्यर्त्ते यत् क्षणोनीत उत्तम श्लोक वार्त्तया ॥" ५२॥

टीका—'किञ्च वृथैव क्षीणमायुः, हरि कथया सफलं कुर्व्वित्याशयेनाह त्रिभिः, आयुरिति। असौ सूर्य्यः, उद्यन्—उदगच्छन्, अस्तमदर्शनञ्च यन्--गच्छन्, यत् येन, क्षणो नीतः, तस्य आयु ऋते--वर्ज्जयित्वा वृथैव हरति ॥"

सूर्य्य एवं अस्तमित होकर पुरुषसमूह की अर्थात् जीव मात्र की आयुः का हरण करते रहते हैं, केवल मात्र जो उत्तम श्लोक श्रीकृष्ण की कथा द्वारा क्षण काल भी अति वाहित करते हैं, उनकी आयुः का हरण नहीं करते हैं।

यह दृश्यमान् सूर्य्य, उदित होकर एवं अस्तमित होकर देहाभिमानी जीव समूह की आयुः हरण करते रहते हैं, कारण, उनके वह समय अतिबाहित हो रहा है, अतः बल पूर्वक अपहरण करते रहते हैं। जो मानव, क्षणकाल भी उत्तम श्लोक कृष्ण के प्रसङ्ग में समय अति बाहित करते हैं, उनकी आयुः को छोड़कर सब की अयुः को अपहरण करते हैं। कारण, उक्त श्रीहरि कथा प्रसङ्ग के द्वारा उस के समस्त साफल्य विहित होते हैं ॥३३॥

३४। कह सकते हैं कि--जीवित रहना ही उन सब को आयुः प्राप्त करने का एकमात्र फल क्यों नहीं होगा ? उत्तर में कहते हैं। भा० २।३।१८।

(३४) "तरवः किं न जीवन्ति भस्त्राः किं न श्वसन्तुचत।
न खादन्ति न मेहन्ति किं ग्रामे पशवोऽपरे ॥" ५३॥

टीका—ननु जीवनमेव तेषामायुषः फलमस्तु ? तत्राह—तरव इति। ननु तेषां श्वासो नास्ति ? तर्हि भस्त्राश्चर्म्मकोषाः। ननु तेषां आहारादिकं नास्ति ? तत्राह-नखादन्ति नाश्नन्ति, न मेहन्ति रेतः सेकं न कुर्वन्ति किम् ? उत अपि नराकारं पशुं मत्वाह--अपर इति ॥"

वृक्ष समूह क्या जीवित नहीं हैं ? कह सकते कि जीवित हैं, किन्तु श्वास प्रश्वास त्याग करने में सक्षम नहीं है। उत्तर में कहते हैं-'कर्म्मकार के भस्त्रादि वायु ग्रहण एवं त्याग क्या नहीं करते रहते हैं ? यदि कोई कहै कि वे सब वायु ग्रहण एवं त्याग करते रहते हैं, ठीक है, किन्तु भोजन एवं मैथुन कर्म तो नहीं करते हैं, उत्तर में कहते हैं—ग्राम्य अपर पशु समूह क्या भोजन एवं मैथुन नहीं करते हैं ?

"न मेहन्ति" क्या मैथुन नहीं करते हैं ? अतएव भगवद् भक्ति हीन जन को नराकृति पशुमानकर अपर श्लोक की अवतारणा करते हैं ॥३४॥

(३५) "श्वविड़्वराहोष्ट्रखरैः संस्तुतः पुरुषः पशुः ।
न यत्-कर्णपथोपेतो जातु नाम गदाग्रजः ॥" ५४॥

श्वादितुल्यैस्तत्परिकरैः सम्यक्स्तुतोऽप्यसौ पुरुषः पशुः । तेषामेव मध्ये श्रेष्ठश्चेत्तर्हि महापशुरेवेत्यर्थः ॥

३६ । तस्याङ्गानि च निष्फलानीत्याह पञ्चभिः (भा० २।३।२०)--

(३६) "विले वतोरुक्रमविक्रमान् ये, न शृण्वतः कर्णपुटे नरस्य ।
जिह्वासती दार्दुरिकेव सूत, न चोपगायत्युरुगाय गाथाः ॥"५५॥

न शृण्वतोऽशृण्वतो नरस्य ये कर्णपुटे ते विले वृथारन्ध्रे इत्यर्थः । असती दुष्टा ॥

३७ । (भा० २।३।२१)--

(३७) "भारः परं पट्टकिरीटजुष्ट,-मप्युत्तमाङ्गं न नमेन्मुकुन्दम् ।

---

(३५) (भा० २।३।१८) "श्वविड़्वराहोष्ट्रखरैः संस्तुतः पुरुषः पशुः ।
न यत्-कर्णपथोपेतो जातु नाम गदाग्रजः ॥"५४॥

टीका—तदेवाह । श्वादिभिः संस्तुतः सदृशत्वेन निरूपितः । यस्य कर्ण पथं कदाचिदपि नागतः सः । अवज्ञास्पदत्वात् श्वभिः,कश्मल विषया सक्तत्वात् विड़्वराहै ग्रीम शूकरैः, कण्टकवद् दुःखद विषया-सक्तत्वादुष्ट्रैः, भारवाहित्वात् खरैस्तुल्य इत्यर्थः ।

वे सब नराकृति पशु ही हैं, जिनके कर्ण पथ में कभी भी गदाग्रज श्रीभगवान् नाम प्रविष्ट नहीं हुआ है, वे सब पुरुष कुक्कुर, विष्ठाभोजी वराह एवं कण्टक भोगी उष्ट्र तुल्य पुरुष गण कर्त्तृक संस्तुत होने पर भी पशु तुल्य ही होते हैं ।

कुक्कुरादि तुल्य उनके परिकर कर्त्तृक सम्यक् स्तुत होने पर भी जो लोक भगवद् वहिर्मुख जन का स्तव करते हैं, वे सब तो पशु हैं हो, किन्तु जिस की स्तुति करते हैं, वह तो महापशु है । उस विषय में में कोई सन्देह नहीं हैं ।

३६ । उक्त भगवद् वहिर्मुख व्यक्ति के समस्त अङ्ग प्रत्यङ्ग निष्फल हैं, उसका वर्णन पाँच श्लोक के द्वारा करते हैं । (भा० २।३।२०)

(३६) "विलेवतोरुक्रमविक्रमान् ये, न शृण्वतः कर्णपुटे नरस्य ।
जिह्वासती दार्दुरिकेव सूत, न चोपगायत्युरुगाय गाथाः ॥५५॥

टीका—"तस्याङ्गानि च निष्फलानीत्याह-'विले' इति पञ्चभिः । 'वत' इति खेदे । न श्रृण्वतः—अशृण्वतः, नरस्य ये कर्णपुटे ते विले वृथा रन्ध्रे । न चेदुपगायति, तस्य जिह्वा असती दुष्टा, दर्दुरी भेकः, तदीया जिह्वेव ॥

जिस मानव के कर्णरूप पात्र, उरुक्रम श्रीभगवान् की गुणगाथा का श्रवण नहीं करता है, उस के उस कर्ण द्वय को वृथागर्त्त समझना होगा । हे सूत ! जो जिह्वा, श्रीभगवान् की गुणगाथा का कीर्त्तन नहीं करती है, उस जिह्वा को दुष्टा भेक जिह्वा मानना चाहिये ।

"न शृण्वतः" अश्रवण कारी मानव के जो कर्णपात्र है, वह विल स्वरूप है, अर्थात् वृथारन्ध्र है, असती--दुष्टा अर्थात् व्यभिचारिणी ॥३६॥

३७ । (भा० २।३।२१) "भारः परं पट्टकिरीटजुष्टमप्युत्तमाङ्गं न नमेन्मुकुन्दम् ।

शावौ करौ नो कुरुतः सपर्य्यां, हरेर्लसत्काञ्चनकङ्कणौ वा ॥"५६॥

पट्टवस्त्रोष्णीषेण किरीटेन वा जुष्टमपि, अप्यर्थे वा-शब्दः ॥

३८ । (भा० २।३।२२)—

(३८) "वर्हायिते ते नयने नराणां, लिङ्गानि विष्णोर्न निरीक्षतो ये ।
पादौ नृणां तौ द्रुमजन्मभाजो, क्षेत्राणि नानुव्रजतो हरे र्यौ ॥"५७॥

द्रुमवज्जन्म भजेते इति तथा वृक्षमूलतुल्याविव्यर्थः ॥

३९ । (भा० २।३।२३)—

(३९) " जीवञ्छवो भागवताङ्घ्रिरेणुं, न जातु मर्त्योऽभिलभेत यस्तु ।
श्रीविष्णुपद्या मनुजस्तुलस्याः, श्वसञ्छवो यस्तु न वेद गन्धम् ॥"५८॥

श्रीविष्णुपद्यास्तत्पदलग्नायाः ॥

शावौ करौ नो कुरुतः सपर्य्यां, हरेर्लसत्काञ्चनकङ्कणौ वा ।"५६।

टीका--पट्ट वस्त्रोष्णोषेण किरीटेन च जुष्टमपि शिरो यदि न नमेत् तर्हि केवलं भार एव । शवो मृत स्तत् कर तुल्यौ, लसन्ति काञ्चन कङ्कणानि ययोस्तौ । अप्यर्थे वा शब्दः ।।२१।।

जिस मनुष्यके मस्तक श्रीमुकुन्द को प्रणाम नहीं करता है । वह यदि पट्टवस्त्र एवं स्वर्ण खचित मणि माणिक्य जटित किरीट द्वारा शोभित भी होता है, तथापि वह केवल भार मात्र ही होता है, मानव के जो हस्तद्वय, श्रीहरि के सेवाकार्य्य नहीं करते हैं, वे समुज्ज्वल काञ्चन निर्मित कङ्कण शोभित होने से भी मृत व्यक्ति के हस्त के सदृश ही हैं । पट्टवस्त्रोष्णीषेण—पट्ट वस्त्र रचित उष्णीष द्वारा विभूषित होने पर अथवा किरीट द्वारा सुशोभित होने पर भी वह भार स्वरूप ही है । श्लोकस्थ लसत् 'काञ्चन कङ्कणौ वा' यहाँ का 'वा' शब्द का प्रयोग अपि' अर्थ में हुआ है ।।३७।।

३८ । (भा० २।३।२३) (३८) "वर्हायिते ते नयने नराणां, लिङ्गानि विष्णो र्न निरीक्षतो ये ।
पादौ नृणां तौ द्रुमजन्म भाजौ,क्षेत्राणि नानुव्रजतो हरेर्यौ ।।५७।।

टीका—ये नयने विष्णो मूर्त्तीर्न निरीक्षेते, ते वर्हाचिने, मयूर पुच्छ नेत्र तुल्ये । द्रुमवज्जन्म भजेते इति तथा, वृक्षमूलतुल्याविव्यर्थः ।।२२।।

जिस मानव के नयन युगल श्रीविष्णु विग्रह का दर्शन नहीं करते हैं, वे नेत्रद्वय मयूर पुच्छस्थित नेत्र तुल्य हैं। वृथा हैं । अर्थात् मयूर पुच्छ में नेत्र की आकृति है, किन्तु उस में दर्शन योग्यता नहीं है । जो नेत्र दर्शनीयतम श्रीविग्रह का दर्शन नहीं करता है, उस को वैसा ही जानना होगा । एवं जिस मानव के चरणद्वय श्रीहरिक्षेत्र में गमन नहीं करते हैं, उन दोनों को वृक्षमूल तुल्य जानना होगा । वृक्ष के समान जन्म लाभ किये हैं, अर्थात् वृक्ष मूल जिस प्रकार कहीं पर नहीं जाता है, उस प्रकार ही चरण द्वय को जानना होगा ।।३८।।

३९ । भा० २।३।२३ में उक्त है—

"जीवञ्छवो भागवताङ्घ्रिरेणुं न जातु मर्त्योऽभिलभेत यस्तु ।
श्रीविष्णुपद्या मनुजस्तुलस्याः, श्वसञ्छवो यस्तु न वेद गन्धम् ।।५८।।

टीका—"नाभिलभेत—अभितो न स्पृशेत्, न धारयेत् । श्रीविष्णु पद्या.--श्रीविष्णु पद लग्नायाः । वेदेति—अवघ्राय—नाभिनन्देदित्यर्थः ।।

४० । (भा० २।३।२४)–

(४०) "तदश्मसारं हृदयं वतेदं, यद्गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः ।
न विक्रियेताथ यदा विकारो, नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः ॥"५९॥

अश्मवत् सारो बलं काठिन्यं यस्य, विक्रिया-लक्षणमथेति । यदा तद्विकारो न भवेत्तदा नेत्रादौ जलादिकं न भवतीत्यर्थः । इदमेवान्वयेन श्रीमता राज्ञा दृढ़ीकरिष्यते, (भा० १०।८०।३) "सा वाग् यया तस्य गुणान् गृणीते" इत्यादिभ्याम् । तदेवं श्रीशुकवाक्यारम्भाध्याय-त्रयाभिधेयत्वेन श्रीभक्तिरेव लब्धा । टीका च (भा० टी० २।१।१, २।२।१, २।३।१)–
"तत्र तु प्रथमेऽध्याये कीर्त्तन-श्रवणादिभिः । स्थविष्टे भगवद्रूपे मनसो धारणोच्यते ।६०।

जो मनुष्य, श्रीविष्णु के चरणों में संलग्न श्रीतुलसी की सुगन्ध का अनुभव नहीं किया है, वह व्यक्ति मृत तुल्य है, अर्थात् वह जीवित शव है, मृत ही है, केवल श्वास निर्गत होता रहता है ।

"श्रीविष्णुपद्याः" श्रीविष्णु के श्रीचरण में संलग्ना तुलसी का धारण ग्रहण जिसने नहीं किया है वह जीवित शव है ॥३९॥

४० । भा० २।३।२४ में लिखित है--

(४०) "तदश्मसारं हृदयं वतेदं, यद्गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः ।
न विक्रियेताथ यदा विकारो, नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः ॥५९॥

टीका—विक्रियालक्षणमाह—अथेति । गात्ररुहेषु—रोमसु हर्षं उद्गमः ॥

जो हृदय, श्रीहरिनाम श्रवण कीर्त्तनसे विगलित नहीं होता है, उस हृदय को पाषाण तुल्य अति कठिन जानना होगा । श्रीहरिनाम श्रवण कीर्त्तन से हृदय भाव विगलित हुआ अथवा नहीं— कैसे समझेंगे ? उसका परिचय प्रदान हेतु कहते हैं—उस समय स्वल्प विगलित होने पर अङ्ग में पुलकोद् गम होगा । एवं अधिक विगलित होने पर नेत्रद्वय से अश्रु विन्दु निर्गत होगी । उस से बोध होगा कि—हृदय भाव विगलित हुआ है । पाषाण के समान सार अर्थात् बल अथवा काठिन्य जिस हृदय में है, उसका नाम – अश्मसार है । चित्त विकार का लक्षण भी यह ही है, जिस समय चित्त में विकार उपस्थित होगा, उस समय नेत्र में जल एवं अङ्ग में पुलक होगा । श्री परीक्षित् महाराज भी भा० १०।८०।३ में प्रतिपादन करेंगे ।

"सा वाग् यया तस्य गुणान् गृणीते । करौ च तत् कर्मकरौ मनश्च ।
स्मरेद्वसन्तं स्थिर जङ्गमेषु श्रृणोति तत् पुण्य कथा स कर्णः ।
शिरस्तु तस्योभयलिङ्ग मानमेत् तदेव यत् पश्यति तद्धि चक्षुः ।
अङ्गानि विष्णोरथ तज्जनानां पादोदकं यानि भजन्ति नित्यम् ॥"

टीका—कथा श्रवणं स्तुवन् दृष्टान्ततया अन्यार्थानाह-सा वागिति । तावेव करौ यौ तत्कर्म्म कर्त्तारौ । तदेव मनो यत्स्थिर जङ्गमेषु वसन्तं संस्मरेत् । यस्तस्य पुण्याः कथाः श्रृणोति स एव कर्णः । उभय लिङ्ग'-- स्थिरं जङ्गमञ्च, तस्यैव लिङ्गमिति मत्वा आनमेत् यत् तदेव शिरः । तदेव तस्य लिङ्गमित्येव यत् पश्यति तदेव चक्षुः । तान्येवाङ्गानि यानि पादोदकं भजन्तीति ।

वही वाक् इन्द्रिय है, अर्थात् वाक् इन्द्रिय का वही साफल्य है, जिस के द्वारा श्रीहरि की गुणगाथा कीर्त्तित होती है । वही करद्वय सफल है, जिस से श्रीहरि की सेवा होती है । वही मन सफल है, जो मन, श्रीविग्रह एवं भगवद् भक्तजन नित्य विद्यमान श्रीहरि का स्मरण करता है । वही कर्ण धन्य हैं, जो जगत्

द्वितीये तु ततः स्थूलधारणातो जितं मनः। सर्वसाक्षिणि सर्वेशे विष्णौ धार्य्यमितीर्य्यते।६१
तृतीये विष्णुभक्तेस्तु वैशिष्ट्यं शृण्वतो मुनेः। भवत्युद्रेकेण तत्कर्मश्रवणादर ईर्य्यते।।"६२।।
इत्येषा ।। श्रीशौनकः श्रीसूतम् ।।

४१। श्रीब्रह्मनारदसंवादेऽपि (भा० २।५।६) --

(४१) "सम्यक्कारुणिकस्येदं वत्स ते विचिकित्सितम्।
यदहं चोदितः सौम्य भगवद्वीर्य्यदर्शने ।।"६३।।

४२। अग्रे च सर्व्वशास्त्रसमन्वयेन (भा० २।५।१५--१६) —

(४२) "नारायणपरा वेदाः" इत्यादि।

पावन कारिणी श्रीहरि कथा का श्रवण करता है। वही मस्तक धन्य है, जो मस्तक श्रीभगवद् विग्रह एवं श्रीभगवद् भक्त को प्रणाम करता है, वही नयन धन्य है, जो श्रीभगवद् विग्रह एवं श्रीभगवद् भक्त का दर्शन करता है, नाभि के उद्र्ध्वस्थित अङ्ग समूह धन्य हैं, जिस अङ्गो के द्वारा श्रीविष्णु एवं भक्त वृन्द के पादोदक नित्य धारण होता है। श्रीशौनक ने व्यतिरेक मुख से जिस का प्रतिपादन किया है, परीक्षित् महाराज ने उसका स्थापन अन्वयमुख से करेंगे ।।

इस हेतु श्रीशुकदेव की कथा के प्रारम्भ के अध्याय त्रय में अभिधेय रूप में भक्ति का वर्णन ही हुआ है।

भावार्थ दीपिका नामक श्री स्वामि कृत टीका के २।१।१, २।२।१, २।३।१में वर्णित हैं— प्रथम अध्याय में श्रवण कीर्त्तनादि के द्वारा श्रीभगवान् के विराट् रूप की धारणा की रीति वर्णित है। द्वितीय अध्याय में विराट धारणा से संयत मन को सर्व साक्षी सर्वेश्वर श्रीविष्णु में स्थापन करने की प्रक्रिया उक्त है। तृतीय अध्याय में—विष्णु भक्ति का वैशिष्ट्य श्रवणकारी श्रीशौनक का भगवद् भक्ति का उद्रेक वशतः श्रीहरि लीला श्रवण में अतिशय आदर वर्णित है।

श्रीसूत को श्री शौनक कहे थे ।।४०।।

४१ ।। भा० २।५।६ के श्रीब्रह्म नारद संवाद में भी भक्ति का अभिधेयत्व प्रति पादित हुआ है—

(४१) "सम्यक् कारुणिकस्येदं वत्स ते विचिकित्सितम्।
यदहं चोदितः सौम्य भगवद्वीर्य्य दर्शने ।।६३।।

टीका - "प्रश्नमभिनन्दति। हे वत्स! हे पुत्र! तवेदं विचिकित्सितं सन्देहः, तत् पूर्वक प्रश्नोऽयं सम्यगित्यर्थः। यतः कारुणिकस्य तवायं प्रश्नः। अत्र हेतुः। यद् यतः, परम धर्म प्रदर्शने—भगवद्वीर्य्य प्रकाशेन प्रवर्त्तितोऽस्मि। अतस्त्वं जिज्ञासुरपि मयि कृपामेव कृतवानित्यर्थः।।

हे वत्स! तुम्हारा यह सन्देह—अर्थात् सन्देह पूर्वक यह प्रश्न सम्यक् है, अर्थात् अति सुन्दर है। मेरे प्रति करुणा करके ही तुमने यह प्रश्न किया। कारण, तुम्हारे प्रश्न से ही मैं श्रीभगवान् के प्रभावमय चरित्र वर्णन में प्रवृत्त हुआ हूँ। अतएव जिज्ञासु होकर भी तुमने मेरे प्रति कृपा की है, यदि तुम इस प्रकार प्रश्न न करते तो मैं श्रीहरि कथा का वर्णन करने में प्रवृत्त नहीं होता, श्रीहरि कथा वर्णन से ही आत्मा कृतार्थ होता है ।।४१।।

४२। अग्रिमग्रन्थ भा० २।५।१५-१६ में सर्वशास्त्र समन्वय के द्वारा भक्ति का अभिधेयत्व प्रकाशित हुआ है—

श्रीनारायण एवोपास्यत्वेन परस्तात्पर्य्यविषयो येषां ते वेदाः। नन्वन्येऽपि देवास्तत्रोपास्यत्वेनाभिधीयन्ते ? सत्यम्, तेऽपि नारायणाङ्ग-प्रभवत्वेनैव तथा वर्ण्यन्त इत्यर्थः। येऽपि तदाश्रया लोकास्तेऽपि तत्पदप्राप्तिहेतवः, मखाश्च तत्परा एव,—तदानन्दांशाभासरूपत्वात्तत्-साधनत्वाच्चेति भावः। तथा योगोऽष्टाङ्गः सांख्यञ्च, तत्साध्यं तप श्चित्तैकाग्रचम्, तत्साध्यं ब्रह्मज्ञानञ्च तत्परम्, तदीय-सामान्याकारप्रकाशकत्वात्तज्ज्ञानस्य योगतपसोस्तत्साधन-त्वाच्चेति भावः। किं बहुना, गतिस्तत्-प्राप्यं ब्रह्मापि तत्परा,—तत्सामान्याकारप्रकाशत्वेन

"नारायण परा वेदा देवा नारायणाङ्गजाः।
नारायण परा लोका नारायण परामखाः॥
नारायण परो योगो नारायण परं तपः॥
नारायण परं ज्ञानं नारायणपरा गतिः॥"

टीका—"तत् प्रपञ्चयति द्वाभ्याम्। नारायणं परं कारणं येषां ते। अनेन शास्त्रयोनित्व प्रतिपादनेनेश्वरे प्रमाणं सर्वज्ञत्वादिकञ्चोक्तम्, देवाश्च, तदङ्गाज्जाताः, अतो न तद्व्यतिरिक्तः, लोकाः—स्वर्गादयाः, तदानन्दांशा मखा स्तत् साधनभूताः। योगः, प्राणायामादिः, तपः, तत् साध्यं-चित्तैकाग्रंच। ज्ञानं-तत् साध्यं। गतिः, तत् फलम्, अनेनैतत् सर्वं तदधीनमित्युक्तम्॥"

निखिल वेदों का उपास्यरूप में श्रेष्ठ तात्पर्य्य का विषय श्रीनारायण हैं। अर्थात् निखिल वेद की प्रवृत्ति, श्रीनारायण को परम उपास्य रूप में प्रतिपादन करने के निमित्त हुई है। इस में संशय हो सकता है कि—वेद में अन्यान्य देवता भी उपास्य रूप में वर्णित हुए हैं ? सत्य है, तथापि उक्त देवता समूह 'देवाः नारायणाङ्गजाः' श्रीनारायण के अङ्ग से समुत्पन्न हुए हैं, अतएव वेद में उन सब का वर्णन उपास्य रूप में हुआ है। "नारायण परालोकाः" स्वर्गादि लोक भी श्रीनारायण के आनन्दांश के आभास रूप हैं, अतः स्वर्गादि लोक का वर्णन फल रूप में वेद में हुआ है। वस्तुतः सत्य आनन्द वस्तु श्रीनारायण हैं, उस आनन्द की प्रतिच्छाया विश्व में है। श्रीनारायण विभु हैं, अर्थात् व्यापक आनन्द स्वरूप हैं, मायामय विश्व परिच्छिन्न है, अर्थात् ससीम दर्पण स्वरूप है। सुतरां उस में सम्पूर्ण असीम आनन्द का प्रतिबिम्ब पड़ना असम्भव है, इस अभिप्राय से ही असीम आनन्द का अंश का आभास स्वरूप होने के कारण, स्वर्ग को साध्य रूप में उल्लेख किया गया है। यज्ञ समूह श्रीनारायण पर हैं, कारण, यज्ञ द्वारा यज्ञेश्वर श्रीनारायण उपासित होते हैं, इस अभिप्राय से ही यज्ञ समूह को श्रीनारायण पर कहा गया है। अष्टाङ्ग योग भी श्री-नारायण पर है, कारण, अष्टाङ्ग योग का फल सांख्य, अर्थात् आत्म-अनात्म विवेक भी श्रीनारायण को लक्ष्य कर प्रवृत्त हुआ है। तपः एवं उस का साध्य—चित्त की एकाग्रता भी भगवदुद्देश्य में प्रवृत्त है। ब्रह्म ज्ञान भी श्रीनारायण पर है, कारण, ब्रह्माण्ड—श्रीनारायण की सामान्याकार अभिव्यक्ति है। अर्थात् चिन्मात्र सत्तारूप में अभिव्यक्ति है। ज्ञान, योग एवं तपस्या में भगवत् साधन का कुछ सहायकारित्व होने के कारण, ज्ञान, योग, तपस्या को श्रीनारायण पर कहा गया है। अधिक कहने की आवश्यकता ही क्या है ? पूर्वोक्त साधन समूह की गति अर्थात् उक्त साधन समूह का प्राप्य ब्रह्म भी श्रीनारायण पर हैं। कारण श्रीनारायण का ही सामान्याकार प्रकाश को ही ब्रह्म कहते हैं, अतः नारायण का अधीन ही ब्रह्म प्रकाश है, अर्थात् निर्विशेष ब्रह्म स्वरूप का आविर्भाव भी श्रीभगवत् कृपाधीन है। श्रीनारायण की कृपा व्यतीत स्वतन्त्ररूप से निर्विशेष ब्रह्म स्वरूपाविर्भाव की क्षमता नहीं है। कारण, परतत्त्व वस्तु, अन्य निरपेक्ष स्वप्रकाश है, किसी प्रकार साधनादि द्वारा साध्य अथवा वेद्य नहीं है।

तदधीनाविर्भावत्वात् । तदुक्तं श्रीमत्स्यदेवेन सत्यव्रतं प्रति (भा० ८।२४।३८) —

"मदीयं महिमानञ्च परब्रह्मेति शब्दितम् ।
वेत्स्यस्यनुगृहीतं मे संप्रश्नैर्विवृतं हृदि ॥" ६४ ॥इति ।

श्रीब्रह्मा श्रीनारदम् ॥

४३ । श्रीविदुरमैत्रेय-संवादेऽपि, तत्र प्रश्नो यथा (भा० ३।५।४)-

(४३) "तत् साधुवर्य्यादिश वर्त्म शं नः, संराधितो भगवान् येन पुंसाम् ।
हृदि स्थितो यच्छति भक्तिपूते, ज्ञानं सतत्त्वाधिगमं पुराणम् ॥"६५॥

अत्र "शं सुखरूपं वर्त्म" इति टीका च । भक्तिपूते प्रेमविमले: सतत्त्वं ज्ञानम्, तच्च

"यमेवैष वृणुते तेनलभ्यः, तस्मै स आत्मा वृणुते तनुं स्वां" परमात्मा, जिस को वरण करते हैं, अर्थात् जिस को निज स्वरूप शक्ति के द्वारा उद्भासित करते हैं। वही उनको प्राप्त कर सकता है। उक्त स्वरूप शक्ति प्रदान करने की क्षमता, सविशेष भगवत् स्वरूप में ही है, निर्विशेष भगवत् स्वरूप में उक्त शक्ति प्रदान करने की क्षमता नहीं है, उक्त सामर्थ्य का अङ्गीकार ब्रह्म में करने पर ब्रह्म निर्विशेष नहीं रहेंगे। सविशेष हो जायेंगे। धर्मधर्मी रूप स्वगत भेद भी उपस्थित होगा। इस अभिप्राय से ही अपर श्रुति कहती है। "विज्ञातारमरे केन विजानीयात्" जो सर्व ज्ञाता है, उन को किस साधन के द्वारा कौन जान सकता है? उनकी कृपा शक्ति से ही वह परिज्ञात होते हैं। इस से प्रतिपन्न हुआ कि—निर्विशेष ब्रह्म स्वरूप का आविर्भाव भी भगवत् कृपाधीन ही है। भा० ८।२४।३८ में सत्यव्रत के प्रति श्रीमत्स्यदेवने कहा भी है—

"मदीयं महिमानञ्च पर ब्रह्मेति शब्दितम् ।
वेत्स्यस्यनुगृहीतं में संप्रश्नैर्विवृतं हृदि ॥"६४॥

टीका—मे मयानुगृहीतं प्रसादीकृतं हृदि अपरोक्षं वेत्स्यसि। त्वया कृतैः सम्प्रश्नर्मया विवृतं प्रकाशितं सन्तम् ॥

हे राजन्! मेरी जो महिमा, अर्थात् महत्त्व, वह परब्रह्म शब्द से अभिहित है, मत् कर्त्तृक अनुगृहीत उस ब्रह्म तत्त्व का साक्षात्कार कर सकोगे। कारण, तुम्हारे प्रश्न समूह के द्वारा मैं प्रसन्न होकर तुम्हारे हृदय में उस तत्त्व को प्रकाशित करूँगा। उक्त श्लोक में "परब्रह्म" एवं "अनुगृहीत पद द्वय की स्थिति एकाधिकरण में होने के कारण, ब्रह्मतत्त्व-अनुगृहीत तत्त्व है, एवं भगवान्-अनुग्राहक तत्त्व है। प्रस्तुत श्लोक के द्वारा उक्तार्थ सुस्पष्ट हुआ है ॥

श्रीब्रह्मा—श्रीनारद को कहे थे ॥४२॥

४३। श्रीविदुर मैत्रेय संवाद में भी भक्ति का अभिधेयत्व वर्णित है, उस प्रकरण में प्रश्न इस प्रकार है—भा० ३।५।४

(४३) "तत् साधुवर्य्यादिश वर्त्म शं नः, संराधितो भगवान् येन पुंसाम् ।
हृदि स्थितो यच्छति भक्तिपूते, ज्ञानं सतत्त्वाधिगमं पुराणम् ॥"६५॥

टीका—"तत्-तस्मात्, हे साधुवर्य्य! शं—सुखरूपं वर्त्म, नः आदिश-कथय। येन वर्त्मना संराधितो हृदि स्थितः सन् तत्त्वाधिगमः-आत्मापारोक्ष्यम्, तत् सहितं पुराणम्--अनादि वेद प्रमाणकम् ॥४॥"

हे साधुवर्य्य! जिस समय मङ्गल मय श्रीभगवान् के भक्त वृन्द वहिर्मुख जीव समूह के प्रति अनुग्रह

ब्रह्म-भगवत्-परमात्मेत्याद्याविर्भावम् ॥ श्रीविदुरः श्रीमैत्रेयम् ॥

४४। तत्राजानजदेवस्तुतिद्वारेवोत्तरम् (भा० ३।५।४६-४७) –

(४४) "पानेन ते देव कथासुधायाः, प्रवृद्धभक्त्या विशदाशया ये ।
वैराग्यसारं प्रतिलभ्य बोधं, यथाञ्जसान्वीयुरकुण्ठधिष्ण्यम् ॥६६॥
तथापरे चात्मसमाधियोग,-बलेन जित्वा प्रकृतिं बलिष्ठाम् ।
त्वामेव धीराः पुरुषं विशन्ति, तेषां श्रमः स्यान्न तु सेवया ते ॥६७॥

"अकुण्ठधिष्ण्यंच वैकुण्ठलोकम्" इति टीका, विशदाशयाः प्रोज्झितकैतवाः सेवैक-पुरुषार्थाः, ये तु ज्ञानसङ्गिनस्तेषां साधन-साध्ययोः कनिष्ठत्वमाह--तथेति । अपरे मोक्षमात्र-

---

करने के निमित्त इस मर जगत् में विचरण करते रहते हैं, अतः आप हम सब को उस सुख रूप पथ को कहें, जिस पथ में भगवान् सु प्रसन्न होकर भक्ति पूत हृदय में अनादि वेद प्रसिद्ध परमात्म तत्त्व साक्षात् कार के सहित तत्त्व ज्ञान उद्भासित करते हैं ।

उक्त श्लोकस्थ "शं" "सुख रूपं वर्त्म" इस प्रकार अर्थ श्रीधर स्वामि पादने किया है । "भक्तिपूत" 'प्रेम विमल हृदय' 'स तत्त्वं' अर्थात् तत्त्ववस्तु—ब्रह्म, परमात्मा, भगवान् तीन प्रकार आविर्भाव ही तत्त्व शब्द से अभिहित हुआ है, अतएव उक्त त्रिविध प्रकार आविर्भाव के सहित जो तद्विषयक ज्ञान वही तत्त्व ज्ञान है । 　　　　　　　　　　　　　　　　　　श्रीविदुर–श्रीमैत्रेय को कहे थे ॥४३॥

४४। उक्त विदुर मैत्रेयसंवाद में अज एवं अनजदेवगण कृत श्रीविष्णु स्तुति के द्वारा श्रीमैत्रेयऋषिने श्रीविदुरकृत प्रश्न का उत्तर प्रदान किया था। (भा० ३।५।४६-४७)

(४४) " पानेन ते देव कथासुधायाः, प्रवृद्धभक्त्या विशदाशया ये ।
वैराग्यसारं प्रतिलभ्य बोधं, यथाञ्जसान्वीयुरकुण्ठधिष्ण्यम् ॥६६॥
तथापरे चात्मसमाधियोग,-बलेन जित्वा प्रकृतिं बलिष्ठाम् ।
त्वामेव धीराः पुरुषं विशन्ति, तेषां श्रमः स्यान्न तु सेवया ते ॥"६७॥

टीका—"एतदेवस्फुटयन्ति--पानेनेति द्वाभ्याम् । वैराग्यं सारोबलं यस्य तं लब्धा,अन्वीयुः प्राप्नुयुः । अकुण्ठधिष्ण्यं-वैकुण्ठ लोकम् ॥४६॥ आत्मसमाधिर्मनःस्थैर्यं, स एव योगः, उपायः, तस्य बलेन । ज्ञान योगतः, श्रमेण-मोक्षः, तत् अङ्गतस्त्वत् कथा श्रवणादिना त्वनायासेनैव । अहं ममतादि विशिष्टानान्तु न कथञ्चिदिति भावः ॥४७॥

यह सब देव वृन्द—महदादि तत्त्वाभिमानी देवता हैं, यह सब श्रीविष्णु के अंश होने के कारण अज हैं, काललिङ्ग–विकृति, मायालिङ्ग--विक्षेप, अंशलिङ्ग—चेतना, ये तीन न होने के कारण वे सब अजानज देव नाम से अभिहित होते हैं । हे देव ! तुम्हारी कथा सुधा का पान करते करते वर्द्धिष्णु भक्ति के प्रभाव से जिन की चित्त शुद्धि हुई है, वे विषय वैराग्य पुष्ट ज्ञान प्राप्त कर जिस प्रकार सुख से वैकुण्ठ लोक गमन करते हैं, उस प्रकार अपर व्यक्तिगण, आत्मसमाधि योगबल से अर्थात् चित्त वृत्ति निरोध करने के पन्था को अवलम्बन कर बलवती प्रकृति को जयकर धीर पुरुष गण परम पुरुष स्वरूप तुम को प्राप्त करते हैं । अर्थात् मायावृत्ति निवृत्ति के अनन्तर स्वरूपानन्द अनुभव में निमग्न हो जाते हैं । किन्तु ज्ञान एवं योग साधन के द्वारा भूरि परिश्रम से उन सब को मोक्षलाभ होता है। परन्तु भगवद् भक्त सङ्ग में तुम्हारी कथा श्रवण कीर्त्तनादि प्रसङ्ग से अनायास मुक्ति होती है ।

कामाः। तन्मात्र-पुरुषार्थेऽपि तेषां श्रमः स्यात्। ये तु सेवैकपुरुषार्थास्तेषां सेवया श्रमो न स्यात्। सदैव सेवया परमानन्दमनुभवतामानुषङ्गिकतया मोक्षश्च स्यादित्यर्थः ॥ अजानजदेवाः श्रीमहत्स्रष्टृ-पुरुषम् ॥

४५। अतएव स्वयं तत् श्लाघते (भा० ३।८।१) —

(४५) "सत्सेवनीयो वत पुरुवंशो, यल्लोकपालो भगवत् प्रधानः।
बभूविथेहाजित-कीर्त्तिमालां, पदे पदे नूतनयस्यभीक्ष्णम् ॥"६८॥

तस्मात् कथोपलक्षिता भक्तिरेव परमश्रेय इति भावः ॥ श्रीमैत्रेयः ॥

४६। श्रीकापिलेयेऽपि यथाह (भा० ३।२५।१९)-

(४६) "न युज्यमानया भक्त्या भगवत्यखिलात्मनि।
सदृशोऽस्ति शिवः पन्था योगिनां ब्रह्मसिद्धये ॥"६९॥

ब्रह्मसिद्धिः परतत्त्वाविर्भावः ॥

स्वामिपाद की टीका के अनुसार "अकुण्ठधिष्णच" शब्द का अर्थ है वैकुण्ठ लोक। 'विशदाशय' का अर्थ मोक्षपर्य्यन्त कामनात्यागी है, अर्थात् सेवैक पुरुषार्थी है। अपर शब्द का अर्थ है, उनको मोक्षलाभ हेतु अत्यधिक परिश्रम करना पड़ता है। किन्तु जो लोक केवल भगवत् सेवामात्र पुरुषार्थी हैं, उनको मुक्ति लाभ हेतु कुछ भी परिश्रम नहीं करना पड़ता है, सर्वदा श्रीभगवत् सेवापरमानन्दानुभवकारी जनगण को आनुषङ्गिक रूप से मोक्षलाभ भी होता है।

अजानज देवगण, श्रीमहत्तत्व सृष्टिकर्त्तापुरुष कारणार्णवशायी महाविष्णु को कहे थे ॥४४॥

४५। अतएव श्रीमैत्रेय ऋषि ने स्वयं भी उसकी प्रशंसा की है। (भा० ३।८।१)

(४५) "सत्सेवनीयो वत पुरुवंशो, यल्लीकपालो भगवत् प्रधानः।
बभुविथेहाजित-कीर्त्तिमालां, पदे पदे नूतनयस्यभीक्ष्णम् ॥"६८॥

श्रोता विदुर को प्रशंसा कर कहते हैं, 'वत' आश्चर्य्य सूचक अव्यय है। यह पुरुवंश साधु पुरुण गण के सेव्य है, कारण, इसवंश में लोक पाल धर्मराज तुमने इस कुल में जन्म ग्रहण किया है। केवल लोक पाल होने के कारण ही तुम प्रशंसनीय हो, यह नहीं, किन्तु श्रीभगवान् ही तुम्हारा सर्वस्व हैं, जिस वंश में भगवद् गतप्राण भक्त का जन्म होता है वह वंश साधुवृन्द का सेवनीय है। उस का दृष्टान्त, तुम ही हो, कारण, श्रीभगवान् की कीर्त्ति श्रेणी को पद पद में प्रतिक्षण में नूतन नूतन करते रहते हो। अतएव श्री हरिकथा उपलक्षिता भक्ति ही परम श्रेय पदार्थ है, प्रकरण का यह सारार्थ है ॥

श्रीमैत्रेय कहे थे ॥४५॥

४६। श्रीकापिलयोग में भी श्रीभगवान् कपिलदेव, निज जननी देवहूति को जो कहे थे—उस में भी श्रीभगवद् भक्ति का ही श्रेष्ठत्व प्रदर्शित हुआ है। (भा० ३।२५।१९)

(४६) "न युज्यमानया भक्त्या भगवत्यखिलात्मनि।
सदृशोऽस्ति शिवः पन्था योगिनां ब्रह्मसिद्धये ॥"६९॥

टीका—मनः शुद्धौ च भक्तिरेवान्तरङ्गसाधनमित्याह—नेति ॥

हे जननि ! मनः शुद्धि विषय में भक्ति ही अन्तरङ्ग साधन है। अखिलात्मा भगवान् में प्रयोज्यमाना

४७। तथा (भा० ३।२५।४४) —

(४७) "एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां निःश्रेयसोदयः।
तीव्रेण भक्तियोगेन मनो मय्यर्पितं स्थिरम्॥"७०॥

तीव्रेण दृढ़ेन योगकर्मादिभिरभङ्गुरेण शुद्धेनेत्यर्थः। तेनैव भक्तियोगेन श्रवणादिना मय्यर्पितं सत् मनः स्थिरं भवतीति यदेतावानेव निःश्रेयसस्य परमपुरुषार्थस्याविर्भावः। अत्रास्मिन्नित्यनेनान्यस्मिंस्तु एतावतोऽप्यधिकोऽस्तीति व्यज्यते॥ श्रीकपिलदेवः॥

४८। श्रीकुमारोपदेशेऽपि ज्ञानोपदेशानन्तरम् (भा० ४।२२।३९--४०)—

(४८) "यत्पादपङ्कजपलाशविलासभक्त्या, कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः।
तद्वन्न रिक्तमतयो यतयो निरुद्ध,-स्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम्॥७१॥
कृच्छ्रो महानिह भवार्णवमप्लवेशां, षड्वर्गनक्रमसुखेन तितीरषन्ति।
तत्त्वं हरेर्भगवतो भजनीयमङ्घ्रिं, कृत्वोडुपं व्यसनमुत्तर दुस्तरार्णम्॥"७२॥

भक्ति के तुल्य योगिगण के ब्रह्मसिद्धि लाभ हेतु मङ्गल एवं सुखमय पन्था द्वितीय नहीं है। श्लोकोक्त ब्रह्मसिद्धि शब्द का अर्थ है - परतत्त्व का आविर्भाव।

४७। इस प्रकार ही तृतीय स्कन्ध के २५।४४ में उक्त है।

(४७) "एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां निःश्रेयसोदयः।
तीव्रेण भक्तियोगेन मनो मय्यर्पितं स्थिरम्।।" ७०॥

टीका—उप संहरति एतावानिति। मयि अर्पितं सन्मनः स्थिरं भवतीति, यत् एतावानेवा"

इस जगत् में तीव्र भक्ति योग के द्वारा मेरे प्रति मन अर्पित होने से ही वह मन स्थिर होता है, अर्थात् लय, विक्षेप, से निष्कृति प्राप्त करता है। यह ही जीव की परम मङ्गल प्राप्ति है। 'तीव्रेण' शब्द का अर्थ दृढ़ भक्ति योग के द्वारा योग कर्मादि भङ्गुर साधन के द्वारा नहीं, किन्तु शुद्ध भक्ति योग के द्वारा मन अर्पित होना चाहिये। उस प्रकार ज्ञान कर्मादि रहित शुद्ध भक्तियोग के द्वारा अर्थात् श्रवण कीर्त्तनादि लक्षण भक्ति योग के द्वारा मन भगवान् में अर्पित होने पर स्थिर होता है, यह ही जीव में परम निःश्रेयस परमपुरुषार्थ का आविर्भाव है। मूल श्लोक में 'अस्मिन्' इस लोक में प्रयोग है, उस से ध्वनित होता है। कि-भक्ति योगके द्वारा श्रीभगवान् में मन अर्पित होने पर इस जगत् में परम कल्याण लाभ तो होता ही है, मरणोत्तर काल में श्रीभगवान् के परम पार्षदत्व प्राप्त कर जीव परमानन्दित भी होता है।

श्रीकपिल देवने कहा था। ४७॥

४८। श्रीपृथुमहाराज के प्रति श्रीसनत् कुमार के उपदेश के अनन्तर वर्णित है (भा० ४।२२।३९-४०)

(४८) "यत् पादपङ्कजपलाशविलासभक्त्या, कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः।
तद्वन्न रिक्तमतयो यतयो निरुद्ध-, स्रोतोगण स्तमरणं भज वासुदेवम्॥७१॥
कृच्छ्रो महानिह भवार्णवमप्लवेशां, षड्वर्गनक्रमसुखेन तितीरषन्ति।
तत्त्वं हरेर्भगवतो भजनीयमङ्घ्रिं, कृत्वोडुपं व्यसनमुत्तर दुस्तरार्णम्॥"७२॥

टीका—तमवेहीति ज्ञानमुपदिष्टं, तस्य दुःखकरत्वेन भक्तिमुपदिशति द्वाभ्याम्। यस्य पादपङ्कजयोः पलाशानि अङ्गुलयः, तेषांविलासः कान्तिः, तस्य भक्त्यास्मृत्या कर्माशयम्—अहङ्कार रूपं हृदयग्रन्थिं

टीका च—"तमवेहीति ज्ञानमुपदिष्टम् । तस्य दुष्करत्वेन भक्तिमुपदिशति द्वाभ्याम् ।" यत् पादेत्यादिकमारभ्य "ननु (तै० २।१।२)–'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इति श्रुतिः, कथं यतयो नोद्ग्रथयन्तीत्युच्यते ? तत्राह (भा० ४।२२।४०)–"कृच्छ्रः" इति । अप्लवेशां न प्लवस्तरण-हेतुरीट् ईशो येषां तेषामिह तरणे महान् कृच्छ्रः क्लेशस्ते हि असुखेन योगादिनेन्द्रिय-षड़्वर्गग्राहं भवार्णवं तितीर्षन्ति, तत् तस्मादुड़ुपं प्लवम्, दुस्तरार्णं दुस्तरार्णवम्" इत्येषा ।

कर्मभिरेव ग्रथितम् । रिक्ता निर्विषयामतिर्येषां रुद्धः, प्रत्याहृतं स्रोतोगण इन्द्रियवर्गो यैः । अरणं शरणम् ।।३९।।

ननु ब्रह्मविदाप्नोति परमिति श्रुतेः कथं यतयो नोद्ग्रन्थन्तीत्यच्यते ? तत्राह कृच्छ्र इति । अप्लवेशां न प्लवस्तरणे हेतु ईट् ईशो येषां, तेषां महान् इह तरणे कृच्छ्रः क्लेशः । तेहि असुखेन योगादिना इन्द्रिय षड़्वर्गग्राहं भवार्णवं तितीर्षन्ति । तत् तस्मात् उडुपं प्लवम् । दुस्तरार्णवमित्यर्थः । अर्ण शब्दे वकाराभाव आर्षः । यद्वा दुस्तरोदकरूपं व्यसनमित्यर्थः ।।४०।।

हे राजन् ! जिनकी अङ्गुलि समूह की कान्ति च्छटा का स्मरण के प्रभाव से भूरि भूरि कर्म द्वारा ग्रथित अहङ्कार रूप हृदय ग्रन्थि का छेदन जिस प्रकार सुख पूर्वक होता है । उस प्रकार हृदय ग्रन्थि का छेदन, भगवद् भक्ति हीन योगिगण भी सुख पूर्वक नहीं कर सकते हैं । अतएव उन शरणागत पालक श्री वासुदेव का भजन करो । हे राजन् ! जिन्होंने भवसिन्धु पार होने की तरणि रूप श्रीभगवान् का आश्रय ग्रहण नहीं किया है, वे सब काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य्य रूप कुम्भीरयुक्त संसार सागर को पार करने की इच्छा करते हैं,वे सब भक्ति व्यतीत कर्म,ज्ञान,योग,मार्गावलम्बन कर अति क्लेश प्राप्त करते रहते अतएव तुम भगवान् श्रीहरि के भजनीय गुण समन्वित चरण को तरणि रूप में अवलम्बन कर यह दुस्तर एवं दुःखमय संसार सागर उत्तीर्ण हो जाओ ।

टीका की व्याख्या — पूर्व श्लोक में नित्य मुक्त विशुद्ध तत्त्व को जानने के निमित्त ज्ञानोपदेश किया गया है । किन्तु वह ज्ञान अति दुःखद होने के कारण श्लोकद्वय के द्वारा सुखमय भक्ति मार्ग का उपदेश करते हैं । जिन्होंने, चरण युगल पलाश, अर्थात् अङ्गुलि समूह का जो विलास अर्थात् कान्ति है, उस कान्ति सम्बन्धिनी भक्ति, अर्थात् स्मृति के द्वारा कर्माशय — अहङ्कार रूप हृदय ग्रन्थि-जो भूरि भूरि कर्म द्वारा ग्रथित है, उस हृदय ग्रन्थि को छेदन किया है, किन्तु जो लोक रिक्तमति हैं, अर्थात् जिनके सङ्कल्प का विषय श्रीभगवान् नहीं हैं, वे सब यतिगण रुद्धस्रोतोगण होने पर भी अर्थात् इन्द्रिय वर्ण को विषयों से प्रत्याहार करके भी, भक्त वृन्द के समान कर्म ग्रन्थि को च्छेदन करने में सक्षम नहीं होते हैं । अरण-शब्द का अर्थ—करण है । अर्थात् रक्षक रूप में वरण करना है । क्यों नहीं सक्षम होते हैं ? कारण निर्देश करते हैं—"कृच्छ्रो महानिह" श्लोक के द्वारा कहते हैं । "अप्लवेशां" जिनके भवसिन्धु उत्तीर्ण होने के हेतु ईश्वर नहीं हैं । अर्थात् भवसिन्ध पार होने के निमित्त जिन्होंने ईश्वर को अवलम्बन करना उचित नहीं समझना है । उनको संसार समुद्र पार करने के निमित्त क्लेश प्राप्त करना पड़ता है । वे सब दुःख से इन्द्रियषड़्वर्ग कुम्भीरयुक्त भवार्णव को पार करने के इच्छुक हैं । अतएव भगवान् को तरणी साधन करके दुस्तर भवार्णव उत्तीर्ण हो जाओ । यह है टीकाकार की व्याख्या ।

गन्तव्य स्थल में उपनीत होने के निमित्त बुद्धिमान् व्यक्ति के निकट मार्ग का विवरण पूछने पर बुद्धिमान् व्यक्ति कहेंगे, गन्तव्य स्थल में उपस्थित होने के निमित्त दो पथ हैं, एकपथ दुःखविहीन स्वल्प समय साध्य है, अपर पथ अत्यन्त क्लेश बहुल है । प्रथम पथ--अति गोपनीय है । उक्त पथ अति सुगम है,

समानप्राप्ययोरपि पथोरेकस्य दुर्गमत्व कथनेनान्यस्याभिधेयत्वं स्वत एव सिध्यति। अत्र तितीर्षन्तिमात्रम्, न तु तरन्तीत्यर्थोऽपि ज्ञेयः ॥ श्रीसनत्-कुमारः श्रीपृथुम् ॥

४९। अतो यच्च ज्ञानमुपदिष्टम्, तदपि तदुपदेशाव्यर्थतासम्पादनेच्छामात्रेणानुष्ठीयमानं तेन भक्तिसादेव कृतमित्याह (भा० ४।२३।९।१०) —

(४९) "सनत्कुमारो भगवान् यमाहाध्यात्मिकं परम्।
योगं तेनैव पुरुषमभजत् पुरुषर्षभः ॥७३॥
भगवद्धर्मिणः साधोः श्रद्धया यततस्तदा।
भक्तिर्भगवति ब्रह्मण्यनन्यविषया भवेत् ॥"७४॥

तेनैव द्वारीकृतेन ॥ श्रीमैत्रेयः ॥

एवं उसके अवलम्बन से आशु गन्तव्यस्थल में उपस्थित हो सकते हैं। इस प्रकार उपदेश का तात्पर्य्य जिस प्रकार सुगम स्वल्प काल साध्य एवं सुनिश्चित लक्ष्यस्थल प्रापक पथ में है, उस प्रकार ही इस स्थल में जानना होगा। अर्थात् मोक्षराज्य में प्रवेश हेतु मार्गद्वय विद्यमान हैं, एक ज्ञान मार्ग, अपर भक्तिमार्ग, जो लोक ज्ञान पथ से जाना चाहते हैं, उनको अनेक क्लेशप्राप्त करना पड़ता है, सुदीर्घ काल के अनन्तर स्वरूपोपलब्धि होती है। श्रीभगवान् गीता में भी उक्त है--"क्लेशोऽधिकतर स्तेषामव्यक्तासक्त चेतसां" द्वितीय पथ--भक्ति पथ है, जिस का अपर नाम गुह्यविद्या है। इस अभिप्राय से ही श्रीभगवद् गीता में "सर्व गुह्यतमंभूयः" का उल्लेख हुआ है। भक्त सङ्ग के विना इस पथ का अनुसन्धान नहीं मिलता है, संवाद प्राप्त कथञ्चित् होने पर भी उस में विश्वास नहीं होता है। इस पथ में गमनरत व्यक्ति को क्लेल प्राप्त करना नहीं पड़ता है, एवं अति सत्वर सुख पूर्वक श्रीभगवत् सान्निध्य में उपस्थित हो सकते हैं। ज्ञान एवं भक्ति का प्राप्य एक होने पर भी ज्ञान पथ का दुर्गमत्व वर्णित होने पर द्वितीय भक्ति पथ का अभिधेयत्व अर्थात् कर्त्तव्य स्वतः सिद्ध है। श्लोक में 'तितीर्षन्ति' पद का उल्लेख होने के कारण उस से प्रतीत होता है कि उत्तीर्ण होने की इच्छा करते हैं, किन्तु उत्तीर्ण नहीं होते हैं। इस प्रकार जानना होगा। श्रीसनत् कुमार श्रीपृथुको कहे थे।४८।

४९। एतज्जन्य भगवान् सनत् कुमार ने जो ज्ञानोपदेश किया था, उस ज्ञान की एवं उनके उपदेश की सत्यता प्रतिपन्न करने के निमित्त वह अनुष्ठित होने पर भी श्रीपृथु महाराज ने उक्त ज्ञानोपदेश का साधन भक्तिमय करके ही साधन किया था। भगवान् सनत् कुमार ने जो श्रेष्ठ आध्यात्मिक योग का उपदेश किया था, पुरुष श्रेष्ठ पृथुमहाराज ने भी उक्त उपाय के द्वारा ही श्रीभगवान् में भक्ति किया था भा० ४।२३। ९-१० में उक्त है—

(४९) "सनत् कुमारो भगवान् यमाहाध्यात्मिकं परम्।
योगं तेनैव पुरुषमभजत् पुरुषर्षभः ॥७३॥
भगवद्धर्मिणः साधोः श्रद्धया यततस्तदा।
भक्तिर्भगवति ब्रह्मण्यनन्यविषया भवेत् ॥७४॥

भगवद्धर्म्मी साधु पृथुमहाराज, सर्वदा-श्रद्धायुक्त हृदय से भजन करते करते विभुचैतन्य श्रीभगवान् में अनन्य विषया अर्थात् अहैतुकी भक्ति प्राप्त किये थे।

श्लोकस्थ (तेनैव) शब्द का अर्थ द्वारीकृतेन है, अर्थात् उक्त उपदेश के माध्यम से ही श्रीपृथुमहाराज

५० । श्रीरुद्रगीतेऽपि (भा० ४।२४।६९)—

"इदं जपत भद्रं वो विशुद्धा नृपनन्दनाः ।
स्वधर्ममनुतिष्ठन्तो भगवत्यर्पिताशयाः ॥" ७५॥

इत्युक्त्वाह (भा० ४।२४।७०) —

(५०) "तमेवात्मानमात्मस्थं सर्वभूतेष्ववस्थितम् ।
पूजयध्वं गृणन्तश्च ध्यायन्तश्चासकृद्धरिम् ॥"७६॥

अथ तमेव पूजयध्वम्, न तु स्वधर्म्मानुष्ठानाग्रहादिकमपि कुरुध्वमित्येवकारार्थः । आत्मस्थं स्वान्तर्यामित्वेन स्थितं तद्वदपरेष्वपि भूतेष्ववस्थितमात्मानं परमात्मानं गृणन्तः कीर्त्तयन्तो ध्यायन्तश्चेत्यन्यत्र मनोवचोव्यापारोऽपि निषिद्धः । असकृदित्येकस्यां पूजायां समाप्यमानायामेवान्यारब्धव्या, न तु कर्म्माद्याग्रहेण विच्छेदः कर्त्तव्य इत्यर्थः ॥ श्रीरुद्रः प्रचेतसः ॥

५१ । एतदेव श्रीनारदेनापि स्फुटीकरिष्यते, अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां यथाह (भा० ४।३१।९-३१) —

ने श्रीभगवान् का भजन किये थे । प्रवक्ता श्रीमैत्रेय हैं । (४९)

५० । (भा० ४।२४।६९) रुद्र गीत में भी भक्ति का अभिधेयत्व प्रतिपादित हुआ है ।

"इदं जपत भद्रं वो विशुद्धा नृपनन्दनाः ।
स्वधर्ममनुतिष्ठन्तो भगवत्यर्पिताशयाः ॥"७५॥

श्रीरुद्र, प्रचेतागण को कहे थे—हे नृपनन्दन गण ! तुम सब श्रीभगवान् में अर्पित चित्त होकर स्वधर्मानुष्ठान करतः इसका जप करो, तुम सब का मङ्गल हो, इस प्रकार कहने के पश्चात् भा० ४।२४।७० में कहा है—

(५०) " तमेवात्मानमात्मस्थं सर्वभूतेष्ववस्थितम् ।
पूजयध्वं गृणन्तश्च ध्यायन्तश्चासकृद्धरिम् ॥७६॥

सर्वभूत में अवस्थित परमात्मा उन श्रीहरि को हृदय में धारण पूर्वक असकृत् पुनः पुनः उनकी पूजा करो, उनका कीर्त्तन करो, एवं ध्यान करो ।

उनकी पूजा ही करो, किन्तु स्वधर्मानुष्ठान के प्रति आग्रह न रखें । श्लोकस्थ "तमेव" पदस्थित एव कार का अर्थ यह ही है । "आत्मस्थं" वह हरि जिस प्रकार तुम सब के हृदय में अवस्थित हैं, उस प्रकार ही भूत समूह के हृदय में भी अन्तर्य्यामि रूप में अवस्थित हैं । "आत्मा श्रीहरि का कीर्त्तन करते करते, एवं ध्यान करते करते अन्यत्र मनोनिवेश नहीं करना चाहिये । श्लोक में 'असकृत' शब्द प्रयोग के द्वारा उक्ताभिप्राय को व्यक्त किये हैं । एक पूजा सम्पन्न होते ही अन्य पूजा का प्रारम्भ कर देना चाहिये । किन्तु काम्यकर्मादि के आग्रह से भगवद् भक्त्यङ्ग का विच्छेद नहीं करना चाहिये । उक्त कथन का तात्पर्य्य यह है कि—अत्यल्प समय भी भक्ति अनुष्ठान व्यतीत नहीं रहना चाहिये ।

श्रीरुद्र, प्रचेतागण को कहे थे ॥५०॥

श्रीभगवद् भक्ति का अभिधेयत्व का कथन श्रीदेवर्षिनारद ने भी विधिनिषेध मुख से भा० ४।३१।९-१३ में कहा है ।

(५१) "तज्जन्म तानि कर्म्माणि तदायुस्तन्मनो वचः ।
नृणां येन हि विश्वात्मा सेव्यते हररीश्वरः ॥७७॥
किं जन्मभिस्त्रिभिर्वेह शौक्र-सावित्र-याज्ञिकैः ।
कर्म्मभिर्वा त्रयीप्रोक्तैः पुंसोऽपि विबुधायुषा ॥७८॥
श्रुतेन तपसा वा किं वचोभिश्चित्तवृत्तिभिः ।
बुद्धया वा किं निपुणया बलेनेन्द्रिय-राधसा ॥७९॥
किं वा योगेन सांख्येन न्यास-स्वाध्याययोरपि ।
किं वा श्रेयोभिरन्यैश्च न यत्रात्मप्रदो हरिः ॥८०॥
श्रेयसामपि सर्वेषामात्मा ह्यवधिरर्थतः ।
सर्वेषामपि भूतानां हरिरात्मात्मदः प्रियः ॥"८१॥

"यतो जन्मादेर्हरिसेवैव फलम्, अतस्तद्विहीनं सर्वं व्यर्थमित्यर्थः । शुक्रसम्बन्धि जन्म विशुद्धमाता-पितृभ्यामुत्पत्तिः, सावित्रमुपनयनेन, याज्ञिकं दीक्षया, विबुधानामिव दीर्घायुषापि

---

(५१) "तज्जन्म तानि कर्म्माणि तदायुस्तन्मनो वचः ।
नृणां येन हि विश्वात्मा सेव्यते हरिरीश्वरः ।७७।
किं जन्मभिस्त्रिभिर्वेह शौक्र-सावित्र-याज्ञिकैः ।
कर्म्मभिर्वा त्रयीप्रोक्तैः पुंसोऽपि विबुधायुषा ।७८।
श्रुतेन तपसा वा किं वचोभिश्चित्तवृत्तिभिः ।
बुद्धया वा किं निपुणया बलेनेन्द्रिय--राधसा ।७९।
किं वा योगेन सांख्येन न्यास-स्वाध्याययोरपि ।
किं वा श्रेयोभिरन्यैश्च न यत्रात्मप्रदो हरिः ।८०।
श्रेयसामपि सर्वेषामात्मा ह्यवधिरर्थतः ।
सर्वेषामपि भूतानां हरिरात्मात्मदः प्रियः ।।८१।।

टीका—अहो गृह प्रसक्तया हरि सेवां विना सर्वं जन्म कर्मादिकं व्यर्थीकृतमितिताननुशोचन्नाह, तज्जन्मेतिचतुर्भिः । यतो जन्मादे र्हरिसेवैव फलम्, अतस्तद्विहीनं सर्वं व्यर्थमित्यर्थ । (९)

शुक्लसम्बन्धि जन्म, विशुद्ध माता पितृभ्यामुत्पत्तिः, सावित्रमुपनयनेन, याज्ञिक-दीक्षया, विबुधानामिव दीर्घायुषापि तत्र वचोभि र्वाग्विलासैः । चित्त वृत्तिभिः—नानावधान सामर्थ्यैः इन्द्रियाणां राधसा पाटवेन ।११। योगेन, प्राणायामादिना । सांख्येन देहादिव्यतिरिक्तात्मज्ञानमात्रेण । सन्न्यास वेदाध्ययनाभ्यामपि । अन्यैरपि कृत वैराग्यादिभिः श्रेयः साधनैः ।।१२।। ननु एषां नाना फलसाधनानां हरि सेवाभावमात्रेण कुतोवैयर्थ्यम् ? तत्राह । श्रेयसां फलानाम्, आत्मैवावधिः पराकाष्ठा । अर्थतः परमार्थतः, आत्मार्थत्वेनेवान्येषां प्रियत्वादित्यर्थः । भवतु आत्मा अवधिः, हरेः किमायातम् ? तत्राह, सर्वेषामपीति । आत्मा, आत्मदश्च, अविद्यानिरासेन स्वरूपाभिव्यञ्जकः, ऐश्वरेणापि रूपेण बलि प्रभृतिभ्य इवात्मप्रदः । प्रियश्च-परमानन्दरूपत्वात् ।।१३।।

हे प्रचेतागण ! वही जन्म, वही कर्म, वही यथार्थ परमायुः, वही मन, एवं वही वाणी है, जिस जन्म

वचोभिर्वाग्-विलासैः चित्तवृत्तिभिर्नानावधानसामर्थ्यैः, इन्द्रिय-राधसा तत्पाटवेन, योगेन प्राणायामादिना, सांख्येन देहादिव्यतिरिक्तात्मज्ञानमात्रेण, अन्यैरपि व्रतवैराग्यादिभिः श्रेयः साधनैः" इति टीका। अथ 'श्रेयसाम्' इत्यादि-टीका च—"नन्वेषां नानाफलसाधनानां हरिसेवनाभावमात्रेण कुतो वैयर्थ्यम्? तत्राह—श्रेयसां फलानामात्मैवावधिः पराकाष्ठा। अर्थतः परमार्थतः, आत्मार्थत्वेनैवान्येषां प्रियत्वादित्यर्थः। भवतु, आत्मावधिः, हरेः

के द्वारा कर्मद्वारा, परमायु के द्वारा, मन के द्वारा वचन के द्वारा ईश्वर श्रीहरि सेवित होते हैं। जन्मादि का मुख्य फल, श्रीहरि सेवा ही है, श्रीहरिसेवा विहीन जन्मादि समस्त ही विफल है। शौक्र, सावित्र एवं याज्ञिक भेद से त्रिविध जन्म प्राप्त कर भी क्या लाभ है? वेदोक्त कर्मानुष्ठान का भी क्या फल है? देवगण के समान सुदीर्घ आयुः प्राप्त करने का भी फल क्या है? साङ्ग वेदाध्ययन का भी क्या फल है? दुःख बहुल तपस्या का भी क्या फल है? वचन शक्ति का यथेष्ट प्रयोग से क्या लाभ है? चिन्ताशील चित्त वृत्ति के द्वारा भी क्या हो सकता हैं? सदसत् विचार निपुणा बुद्धि वृत्ति के द्वारा भी क्या होगा? इन्द्रिय नैपुण्य युक्त शरीर प्राप्त कर पर भी क्या होगा? प्राणायामादि योगाङ्गानुष्ठान से क्या लाभ है? देहादि व्यतिरिक्त आत्मज्ञान अनुशीलन का भी क्या फल है? सन्न्यास एवं वेदाभ्यास का क्या फल है? व्रत, वैराग्य प्रभृति भूरि भूरि पुण्यात्मक अनुष्ठान से भी क्या फल है? जिस के अनुष्ठान से श्रीहरि, आत्मदान नहीं करते हैं। कहा जा सकता कि उक्त साधन समूह के विविध फल वर्णन शास्त्र में सुप्रसिद्ध हैं,अतएव श्रीहरिसेवा प्राप्ति के अभाव से वे सव साधन विफल क्यों होंगे? उत्तर में कहते हैं,—माङ्गलिक फल समूह की पराकाष्ठा—आत्मा ही है। अर्थात् अन्तर एवं बाहर में श्रीहरि की स्फूर्त्ति ही निखिल साधनों का मुख्यफल है। भूरि भूरि साधनानुष्ठान से भी अन्तर-बाहर में यदि श्रीहरि की स्फूर्त्ति नहीं होती है तो, समस्त साधनानुष्ठान ही व्यर्थ होते हैं। कारण, परमार्थ विचार से आत्मार्थ रूप से ही अर्थात् आत्म सम्बन्ध से ही सब में प्रियत्व है।

इस में प्रश्न हो सकता है कि—समस्त साधनों का तात्पर्य्य आत्मसाक्षात् कार में है, यह तो मान्य है, किन्तु उस से श्रीहरि सेवा प्रसङ्ग की अवतारणा क्यों होती है? अर्थात् श्रीहरि, क्या आत्मा हैं? उत्तर में कहते हैं,—आत्मा—श्रीहरि ही हैं, एवं अविद्या निवृत्ति के द्वारा परमानन्द स्वरूप का प्रकाशक भी श्रीहरि ही हैं। ईश्वर रूप में भी आपने बलि प्रभृति को आत्मदान किया है, उस प्रकार से ही भक्ति अनुष्ठान कारी व्यक्ति गण को आत्मदान करते रहते हैं। एवं श्रीहरि ही सब के प्रिय हैं, कारण, आप परमानन्द मूर्त्ति हैं।

विशुद्ध पिता माता से उत्पत्ति को शुक्र सम्बन्धि जन्म कहते हैं,कारण,धर्मादि अनुष्ठान में धार्मिकपिता माता से उत्पन्न होना परमावश्यक है। उपनयन संस्कार के द्वारा जो जन्म होता है, उस को सावित्र जन्म कहते हैं। दीक्षा के द्वारा जन्म को याज्ञिक जन्म कहते हैं। 'इन्द्रिय राधना"—विषय ग्रहण में इन्द्रिय वृन्द की पटुता। 'सांख्येन" शब्द का अभिप्राय यह है—देहादि भिन्न आत्म स्वरूप ज्ञानानुसन्धान करना। "श्रेयसामपि सर्वेषाम्" वाक्य का अर्थ टीका में इस प्रकार प्रकाशित हुआ हैं—यहाँपर प्रश्न हो सकता है कि—विभिन्न साधकों का वैफल्य श्रीहरि सेवा के विना क्यों होगा? उत्तर में कहते है—निखिल मङ्गल मय फल की अवधि अर्थात् पराकाष्ठा है। अथवा—परिसीमा है, "अर्थतः परमार्थ विचार में आत्म साक्षात् कार तात्पर्य्य में ही अपर माङ्गलिक फल समूह का प्रियत्व है। प्रश्न हो सकता है कि,—समस्त मङ्गल फल का आत्म साक्षात् कार में तात्पर्य्य स्वीकृत होने पर भी श्रीहरि की आवश्यकता होगी? उत्तर में कहते हैं—"सर्वेषामपि" अर्थात् देहाभिमानी जीव के पक्ष में श्रीहरि ही आत्मद हैं, अर्थात् अविद्या निरसन

किमायातम् ? तत्राह--सर्वेषामपीति । आत्मा आत्मदश्च,अ विद्यानिरासेन स्वरूपाभिव्यञ्जकः, ऐश्वरेणापि रूपेण बलिप्रभृतिभ्य इव आत्मप्रदः प्रियश्च, परमानन्दरूपत्वात्" इत्येषा । अत्र सर्वेषां भूतानां शुद्धजीवानामपि आत्मा परमात्मेति ज्ञेयम् । रश्मिस्थानीयानां जीवानां सूर्यस्थानीयत्वात्तस्य, तदुक्तम् (भा० १०।१४।५४--५५) —

"तस्मात् प्रियतमः स्वात्मा सर्वेषामेव देहिनाम् ।
तदर्थमेव सकलं जगदेतच्चराचरम् ॥८२॥

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम् ।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया ॥"८३॥ इति ।

पूर्वक निज स्वरूप का प्रकाशक हैं । यहाँपर"सर्वेषामपि भूतानां" शब्द से देहाभिमानी एवं शुद्ध जीवमें भी श्रीहरि ही आत्मा हैं, अर्थात्--परमात्मा हैं । इस प्रकार समझना होगा ।

उक्त अभिप्राय से ही भा० १०।१४।५४–५५ में श्रीशुक देव ने श्रीपरीक्षित् को कहा है—

"तस्मात् प्रियतमः स्वात्मा-सर्वेषामेव देहिनाम् ।
तदर्थमेव सकलं जगदेतच्चराचरम् ॥८२॥
कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम् ।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया ॥" ८३॥

टीका—तदर्थ मेव सकलं प्रियमित्यर्थः । प्रस्तुतमाह--कृष्णमेनमिति ।

हे राजन् ! देह जीर्ण होने पर भी जब जीवित रहने की आशा बलवती होती है, उस से जानना होगा कि,—समस्त देहाभिमानी जीवों का निज निज आत्मा प्रियतम है । यह आत्मा सुख के निमित्त ही देह--अपत्य प्रभृ त चर वस्तु एवं गेहादि अचर वस्तु, एवं चराचरात्मक जगत् जो कुछ हैं, वे सब ही आत्म सम्बन्धान्वित होकर ही प्रियत्वेन प्रतिभात होते हैं । कारण आत्मा सुख स्वरूप होने के कारण ही आत्मा के सम्पर्क से दुःखात्मक जगत् भी सुखात्मक रूप में प्रतिभात होता है । इस रीति से स्थूल एवं सूक्ष्म देह द्वय से अतिरिक्त विशुद्ध आत्मा का स्वाभाविक प्रियत्व दर्शाकर सम्प्रति अभीप्सित विषय की अवतारणा करते हैं । कृष्णमिति—जो सर्वाकर्षक परमानन्द स्वरूप होने के कारण, कृष्ण नाम से अभिहित हैं । श्रीयशोदानन्दन को अखिल आत्मा का आत्मा–अर्थात् परमात्मा जानना । जिस प्रकार वहिश्चर रश्मि परमाणु वृन्द का एवं सूर्य्य मण्डल गत रश्मि परमाणु समूह का सूर्य्य मण्डल ही परमाश्रय हैं, उस प्रकार अशुद्ध एवं विशुद्ध जीवात्मा समूह का श्रीकृष्ण ही परम स्वरूप एवं परमाश्रय हैं । प्रश्न हो सकता है कि—श्रीकृष्ण,—यदि पर मात्मा ही होते हैं, तब दृश्यमान प्राकृत जगत् में दृश्य रूप में क्यों दृष्ट होते हैं ? उत्तर में कहते हैं । "जगद्धिताय" अर्थात् श्रीकृष्ण, सर्व आत्मवृन्द का परमाश्रय एवं परम स्वरूप होकर भी परम कल्याण गुण निधि हेतु परम कारुणिक हैं । एतज्जन्य निज भक्त वृन्द को कृपा करने के निमित्त जगत् में अवतीर्ण होकर भक्त प्रसङ्ग में जगत् गत जीव वृन्द के हितार्थ जगत् में कल्प कल्प में निज स्वरूप शक्ति के द्वारा आविर्भूत होते हैं । राजन् ! इस में संशय हो सकता कि श्रीकृष्ण निखिल जीवों का पराश्रय होकर भी देहिवृन्द के समान् विरुद्ध धर्माक्रान्त होकर जगत् में प्रकाशित क्यों होते हैं ? अर्थात् क्षुधा पिपासादि धर्म देह के हैं, आत्मा के नहीं हैं, आत्मा के उक्त धर्म समूह जब नहीं है, तब परमात्म स्वरूप श्रीकृष्ण में उक्त धर्म समूह का प्रकाश क्यों दृष्ट होता है ? उत्तर में कहते हैं । "माययादेहीव आभाति"

आत्मानौ जीव-तादात्म्यापन्न-ब्रह्मेश्वराख्यौ, ददाति यथायथं स्फोरयति वशीकारयति च यः स आत्मद इति स्वाम्यभिप्रायः ॥

५२। किञ्च, (भा० ४।३१।१४) —

(५२) "यथा तरोर्मूलनिषेचनेन, तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां, तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या ॥" ८४॥

टीका च—"किञ्च, नानाकर्मभिस्तत्तद्देवता-प्रीतिनिमित्तान्यपि फलानि हरिप्रीत्या भवन्ति। केवलं तत्तद्देवताराधनेन तु न किञ्चिदिति सदृष्टान्तमाह–यथेति" इत्यादिका ॥ श्रीनारदः प्रचेतसः ॥

अर्थात् करुणापरवश होकर ही देही के समान प्रतिभात होते हैं ।

यहाँ माया शब्द का अर्थ—कृपा ही है। अर्थात् भक्तवृन्द की भक्त वृन्द में जिस प्रकार इच्छा होती है, तदनुरूप कृष्ण में इच्छादि का प्रकाश होता है, तज्जन्य ही मूल श्लोक में "इव" शब्द का प्रयोग हुआ है। देही जीव जिस प्रकार देह धर्म क्षुधादि युक्त होता है, तद्रूप श्रीकृष्ण, क्षुधादि धर्माक्रान्त नहीं हैं। किन्तु प्रेम वश्यता निबन्धन भक्ति की आकाङ्क्षा के अनुसार क्षुधा पिपासायुक्त होकर प्रकाशित होते हैं। यह श्रीकृष्ण का स्वरूपभूतधर्म है, आगन्तुक अथवा औपाधिक नहीं है। यह स्वरूप निष्ठ धर्म है, अतः आत्मारामवृन्द एवं प्रियभक्त वृन्द उस से अधिक तर सुखी होते हैं—आत्मा–जीव स्वरूप के सहित तादात्म्यापन्न ब्रह्म, एवं ईश्वर नामक स्वरूप दाता हैं। अर्थात् ज्ञानिवृन्द के हृदय में जो जीव स्वरूप के सहित भेद सहिष्णु अभेद भावापन्न निर्विशेष ब्रह्म स्वरूप को आविर्भाव करते हैं। एवं योगि वृन्द के हृदय में जीवात्मा स्वरूप के सहित भेद सहिष्णु अभेद भावापन्न परमात्म स्वरूप का आविर्भावक हैं। अर्थात् यथायथ रूप में जो ब्रह्म एवं परमात्म स्वरूप स्फूरित कराते हैं अर्थात् दर्शभूत कराते हैं। टीकाकार का अभिप्राय भी यह ही है ।।५१।।

५२। और भी भा० ४।३१।१४ में उक्त है—

(५२) "यथा तरोर्मूलनिषेचनेन, तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां, तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या ।।"८४।।

टीका—किञ्च, नाना कर्मभिस्तत्तद् देवता प्रीति निमित्तान्यपि फलानि हरेः प्रीत्या भवन्ति, केवलं तत्तद् देवताराधनेन तु न किञ्चिदिति स दृष्टान्तमाह यथेति। मूलात् प्रथम विभागाः स्कन्धाः, तद्विभागा भुजाः, तेषामपि--उपशाखाः उपलक्षण मेतत् पत्र पुष्पादयोऽपि तृप्यन्ति। न तु मूलसेकं विना ताः स्व स्व निषेचनेन। प्राणस्योपहारो भोजनं, तस्मादेव इन्द्रियाणां तृप्तिः, नतु तत्तदिन्द्रियेषु पृथक् पृथक् अन्नलेपनेन। तथा अच्युताराधनमेव सर्व देवताराधनं, न पृथगित्यर्थः ।।"

जिस प्रकार वृक्ष के मूलदेश में जल सेचन करने पर उस वृक्ष के भुज, उपशाखा प्रभृति समस्त अङ्ग ही तृप्त होते हैं, अथवा प्राण को उपहार प्रदान करने पर अर्थात् पाकस्थली में आहार्य्य वस्तु देने पर जिस प्रकार इन्द्रिय वर्ग की तृप्ति होती है। उस प्रकार एकमात्र अच्युत नामा श्रीकृष्ण की आराधना करने से ही समस्त देवता की आराधना होती है। स्वतन्त्ररूप से देवतान्तर की आराधना की कोई आवश्यकता नहीं है। अन्यान्य कर्म्मादि के द्वारा आराधित उन उन देवता के सन्तोष जनित भूरि भूरि फल भी श्री हरिसन्तुष्ट होने पर स्वतः ही होता है। विष्णु सन्तोष भिन्न केवल उन उन देवता की आराधना के द्वारा

५३ । श्रीऋषभदेवकृत-स्वपुत्रशिक्षणेऽपि (भा० ५।५।३) —"ये वा मयीशे" इत्यादिकम्, (भा० ५।५।२५) "मत्तोऽप्यनन्तात्" इत्यादिकञ्चाग्रे दर्शनीयम् । ब्राह्मण-रहूगण-संवादान्तेऽपीदमस्ति (भा० ५।१३।२०)—

(५३) "रहूगण त्वमपि ह्यध्वनोऽस्य, संन्यस्तदण्डः कृतभूतमैत्रः ।
असज्जितात्मा हरिसेवया शितं, ज्ञानासिमादाय तरातिपारम् ।।"८५।।

ज्ञानमत्र भक्त्याश्रयत्वमेव ।।

५४ । यथोक्तमेतदनन्तरं श्रीरहूगणेनैव (भा० ५।१३।२१-२२)—

(५४) "अहो नृजन्माखिलजन्मशोभनं, किं जन्मभिस्त्वपरैरप्यमुष्मिन् ।
न यद्धृषीकेश-यशः कृतात्मनां, महात्मनां वः प्रचुरः समागमः ।।८६।।

कुछ भी फल लाभ नहीं होता है । सद्दृष्टान्त उसका वर्णन ही 'यथातरोर्मूल निषेचनेन" श्लोक में हुआ है । श्रीनारद प्रचेतागण को कहे थे ।।५२।।

५३ । भा० ५।५।३ में श्रीऋषभदेवने भी निज पुत्र को शिक्षार्थ कथा था ।

ये वा मयीशेकृत सौहृदार्था जनेषु देहाम्भर वार्त्तिकेषु ।
गृहेषु जायात्मजरातिमत्सु न प्रीति युक्ता यावदर्थाश्च लोके ।।"

टीका—मयि ईशे कृतं सौहृदमेवार्थः पुरुषार्थो येषाम् । वा शब्दे नान्य निरपेक्षस्यैवास्य लक्षणत्वं दर्शयति । देहं विभर्त्तीति देहम्भरा विषया वार्त्तैव न धर्म विषया, येषु तेषु जनेषु जायादि युक्तेषु गृहेषु च ।' भा० ५।५।२५ में उक्त है—

"मत्तोऽप्यनन्तात् परतः परस्मात् स्वर्गापवर्गाधिपतेर्न किञ्चित् ।
येषां किमुस्यादितरेण तेषामकिञ्चनानां मयिभक्ति भाजाम् ।।"

टीका—निःस्पृहत्वमाह । मत्तोऽपि येषां न किञ्चित् प्रार्थनीयमस्ति तेषामितरेण राज्यादिना किमुस्यात् ? न किमपि ।।२५।।

इत्यादि श्लोक व्याख्या के समय अग्रिम ग्रन्थ में भक्ति की अवश्य कर्त्तव्यता प्रदर्शित होगी । ब्राह्मण एवं रहूगण के संवाद में भी भक्ति का अभिधेयत्व प्रकाशित है । (भा० ५।१३।२०)

(५३) "रहूगण त्वमपि ह्यध्वनोऽस्य, संन्यस्तदण्डः कृतभूतमैत्रः ।
असज्जितात्मा हरिसेवया शितं, ज्ञानासिमादाय तरातिपारम् ।।"८५।।

हे रहूगण ! तुम भी संसार पथ को अतिक्रम करो, किस प्रकार से संसार को अतिक्रम करोगे, उस का उपाय को कहता हूँ । सब के प्रति दण्ड धारण त्याग करो, अर्थात् मैं ही सब के शासन कर्त्ता हूँ, यह सब मेरे शास्य हैं, इस प्रकार बुद्धि को परित्याग करो, सर्व भूत में बन्धुभाव प्राप्त करो । सर्वत्र चित्त की अनासक्ति स्थापन कर हरि सेवा से प्राप्त तीक्ष्णीभूत ज्ञानरूप खड्ग धारण कर समस्त आसक्ति धारा को छेदन करो । इस श्लोक में जो ज्ञान की बात है, वह भक्ति आश्रय रूप ज्ञान है । अर्थात् भक्त्यङ्ग साधन करते करते जो ज्ञान लाभ होगा । यहाँपर उस की ही जानना होगा ।।५३।।

५४ । उक्त कथन के अनन्तर रहूगण ने भी कहा—(भा० ५।१३।२१-२२)

(५४) "अहो नृजन्माखिलजन्मशोभनं, किं जन्मभिस्त्वपरैरप्यमुष्मिन् ।
न यद्धृषीकेश-यशः कृतात्मनां, महात्मनां वः प्रचुरः समागमः ।।८६।।

न ह्यद्भुतं त्वच्चरणाब्जरेणुभि,-र्हतांहसो भक्तिरधोक्षजेऽमला ।
मौहूर्त्तिकाद्यस्य समागमाच्च मे, दुस्तर्कमूलोऽपहतोऽविवेकः ॥८७॥ इति ।

स्पष्टम् ॥ ब्राह्मणो रहूगणम् ॥

५५। तथा चित्रकेतुं प्रति श्रीसङ्कर्षणोपदेशान्तेऽपि (भा० ६।१६।६२) "दृष्टश्रुताभिर्मात्राभिः" इत्यादौ "मद्भक्तः पुरुषो भवेत्" इत्यग्रत उदाहार्य्यम् । असुरबालकानुशासनेऽपि (भा० ७।६।१-२) --

"कौमार आचरेत् प्राज्ञो धर्म्मान् भागवतानिह ।
दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम् ॥८८॥
यथा हि पुरुषस्येह विष्णोः पादोपसर्पणम् ।
यदेष सर्वभूतानां प्रिय आत्मेश्वरः सुहृत् ॥"८९॥

न ह्यद्भुतं त्वच्चरणाब्जरेणुभि-, र्हतांहसो भक्तिरधोक्षजेऽमला ।
मौहूर्त्तिकाद्यस्य समागमाच्च मे, दुस्तर्कमूलोऽपहतोऽविवेकः ॥"८७॥ इति ।

टीका—अखिल जन्मसु शोभनं नृजन्मैव । न परं श्रेष्ठं येभ्यो देवादि जन्मभ्यस्तैरपि किम् ? अमुष्मिन् स्वर्गेऽपि जन्मभिः किम् ? न किञ्चित् । यत् येषु जन्मसु, यत्र स्वर्गे वा, महात्मनां समागमः प्रचुरो न भवति । हृषीकेशस्य यशसा कृतः शोधित आत्मा यैस्तेषाम् ॥

इस में भी भक्ति योग का अभिधेयत्व उल्लिखित है। अखिल जन्मों के मध्य में मनुष्य जन्म ही सुन्दर है। अपर देवादि जन्म में लाभ क्या होता है? स्वर्गादि में जन्म ग्रहण का भी फल क्या? जिस जन्म में हृषीकेश श्रीकृष्ण की यशोराशि के श्रवण कीर्त्तन से शोधितचित्त महानुभव भगवद् भक्तों का प्रचुर समागम होता है। अतः स्वर्गादि लोक में जन्म ग्रहण करने का फल क्या है?

तुम्हारे चरण कमल में स्थित रेणु समूह की उपासना के द्वारा जिन के सर्वविध पाप एवं अपराध विनष्ट हुए हैं। उनके पक्ष में अधोक्षज श्रीकृष्ण के चरणों में अहैतुकी भक्ति का उदय होना कुछ भी आश्चर्य्य नहीं है। कारण, तुम्हारे मुहूर्त्त काल मात्र समागम के प्रभाव से ही दुष्ट तर्काश्रित मेरा अविवेक विनष्ट हो गया। ब्राह्मण--रहूगण को कहे थे ॥५४॥

५५। उस प्रकार चित्र केतु के प्रति श्रीसङ्कर्षण देव के उपदेश के अन्त में (भा० ६।१६।६२) वर्णित है--

दृष्ट श्रुताभिर्मात्राभि निर्म्मुक्तः स्वेन तेजसा ।
ज्ञान विज्ञान संतृप्तो मद्भक्तः पुरुषो भवेत् ॥"

टीका—"दृष्ट श्रुताभिर्मात्राभिरैकामुष्मिकैर्विषयैः, स्वेन तेजसा, विवेक बलेन ॥"

पुरुष, दृष्ट एवं श्रुत, ऐहिक एवं पारलौकिक विषय से निर्म्मुक्त होकर, निज विवेक के द्वारा परोक्ष एवं अपरोक्ष अनुभव से सम्यक् तृप्त होकर मुझ में भक्ति सम्पन्न होता है। (भा० ७।६।१-२) असुरबालकों के प्रति श्रीप्रह्लाद महाशय का अनु शासन में भी भक्ति का अभिधेयत्व उक्त है।

"कौमार आचरेत् प्राज्ञो धर्म्मान् भागवतानिह ।
दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम् ॥८८॥
यथा हि पुरुषस्येह विष्णोः पादोपसर्पणम् ।
यदेष सर्वभूतानां प्रिय आत्मेश्वरः सुहृत् ॥"८९॥

इहैव मानुष-जन्मनि भागवतान् धर्म्मानाचरेत्, यतोऽर्थदमेतज्जन्म,— देवादि-जन्मनि महाविषयावेशात्, पश्वादि-जन्मनि विवेकाभावाच्च। मानुषजन्म प्राप्य च न विलम्बेतेत्याह- कौमारे कौमारमारभ्येत्यर्थः। यतस्तदपि जन्माध्रुवं पुनर्दुर्लभञ्च, शास्त्रस्य च प्राधान्येन मनुष्यमधिकृत्य प्रवृत्तत्वात्तदनुवादेनोक्तिरियम्, तद्बुद्ध्यादि-साम्येन मानुषत्वमारोप्यैवेति ज्ञेयम्। तत्र भागवत-धर्म्माचरणस्यैव युक्तत्वं दर्शयति—'यथा हि' इत्यादि। इह पुरुषस्य विष्णोः पादोपसर्पणमेव यथा अनुरूपं योग्यमित्यर्थः। यद्यस्मादेष भूतानां स्वभावत एव प्रियः प्रीति विषयः प्रेमकर्त्ता च। तत्र हेतुः--आत्मा परमात्मा, पादोपसर्पणे हेत्वन्तरम्—

टीका---कौमार इत्यादिना इहैव मानुष जन्मनि धर्मानाचरेत्। यतोऽर्थदमेतत्, तत्र च कौमार एव, यतस्तदप्यध्रुवम्। न चैवम्भूते जन्मान्तरे यतो दुर्लभम्। तत्र च धर्मानेवाचरेत्। न सुखार्थं प्रयासान्। तत्र च भागवतानेव न काम्यान्। (१)

इह भागवतानेव धर्मानाचरेदित्येतदुपपादयति--यदादीति चतुर्भिः। इह पुरुषस्य पादोपसर्पणमेव यथानुरूपं योग्यमित्यर्थः। यद् यस्मात् एव प्रिय इत्यादि (२)

विज्ञ मानव, कौमार समय से ही भागवत धर्माचरण करे। कारण, मनुष्य जन्म अतीवदुर्लभ, अथ च परमार्थप्रद है। किन्तु मनुष्य जन्म, क्षण भङ्गुर है। जिस प्रकार समस्त जन्मों के मध्य में मनुष्य जन्म श्रेष्ठ है, उस प्रकार समस्त उपास्य तत्त्वों के मध्य में श्रीविष्णु ही श्रेष्ठ है। 'वेवेष्टीति विष्णुः'' अर्थात् जो व्यापक रूप में सर्वत्र अवस्थित हैं, वह ही विष्णु हैं। उनकी उपासना करने से सब की उपासना होती है। उस प्रकार समस्त साधनों के फल प्रदाता भक्ति साधन है, उस भक्ति साधन करना ही विज्ञजन का एकमात्र कर्त्तव्य है। उपास्य में जो सब गुण विद्यमान होने पर उपासक उपासना करके सर्व प्रकार आत्म प्रसाद लाभ कर सकते हैं, श्रीविष्णु, उक्त समुदय गुण राशि से विभूषित हैं। कारण, श्रीविष्णु ही सकल भूतात्मा हैं, अर्थात् अन्तर्य्यामी हैं, अतएव जब के प्रिय है, अथच हित कारी सुहृत् एवं सर्व समर्थ ईश्वर हैं।

इस मनुष्य जन्म में ही भागवत धर्म समूह का आचरण करे। ''आचरेत्'' विधिलिङ् प्रयोग के द्वारा भागवत धर्म की अवश्य कर्त्तव्यता सूचित हुई है, एवं अकरण से प्रत्यवाय भी सूचित हुआ है। कारण, यह मनुष्य जन्म अर्थद अर्थात् परमार्थ फल दाता है। मनुष्य जन्म ही श्री भगवद् भजनका एकमात्र उपयोगी है। कारण, देवादि जन्म में महाविषयाशक्ति के कारण, एवं पशु प्रभृति जन्म में कर्त्तव्य अकर्त्तव्य विचार करने की अक्षमता के कारण, भागवत धर्माचरण की योग्यता नहीं है। एकमात्र मनुष्य जन्म ही त्याग एवं विवेक पूर्ण होने का उपयोगी है। अतएव मनुष्य जन्म प्राप्तकर भगवद् भजन विषयक अनुष्ठानारम्भ करने में विलम्ब करना उचित नहीं है। इस अभिप्राय से ही कहते हैं, ''कौमारे'' अर्थात् कौमार वयस से ही आरम्भकर भागवत धर्माचरण करे। यहाँ आरम्भ अर्थ में ही सप्तमी बिभक्ति का प्रयोग हुआ है। कारण, उक्त विवेक एवं त्याग करने की शक्ति युक्त, यह मनुष्य जन्म, अध्रुव है, अर्थात् क्षण भङ्गुर है, अथच दुर्लभ है, अनेकानेक साधन से भी मनुष्य जन्म प्राप्त करना सम्भव नहीं है।

यद्यपि पशु योनि में भी भगवद् भक्ति का अनुष्ठान दृष्ट होता है, जिस प्रकार श्रीमद् हनुमान् गरुड़ प्रभृति में भगवद् भक्ति की सत्ता विद्यमान है, तथापि यहाँ केवल मात्र मनुष्य को लक्ष्य करके ही भगवद् भजन का उपदेश करने का तातपर्य्य यह है कि—मनुष्य में सर्व प्रकार से भगवद् भजन करने की योग्यता है, अतः निखिल शास्त्र, प्रधान रूप से मनुष्य को अधिकार करके ही कर्त्तव्य एवं अकर्त्तव्य का उपदेश प्रदान हेतु प्रवृत्त हुए हैं। अन्यत्र पशु प्रभृति योनि में भगवद् भजन दृष्ट होने पर भी समझना होगा कि,

यस्माच्चैष ईश्वरः कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं समर्थः, सुहृत् सर्व्वेषां हितं चिकीर्षुश्चेति। तदेतदुपक्रम्योपसंहरति (भा० ७।६।२६)—

(५५) "धर्म्मार्थकाम इति योऽभिहितस्त्रिवर्ग, ईक्षा त्रयी नय-दमौ विविधा च वार्त्ता।
मन्ये तदेतदखिलं निगमस्य सत्यं, स्वात्मार्पणं स्वसुहृदः परमस्य पुंसः॥"९०॥

ईक्षा आत्मविद्या, तदेतत् सर्व्वं निगमस्यार्थजातं स्वसुहृदः स्वान्तर्य्यामिणः परमस्य

उक्त पशु प्रभृति में मनुष्य के समान बुद्धि एवं त्याग की क्षमता है, अतः अश्वादि में भी मनुष्यत्व आरोप करके ही उक्त उक्ति की गई है।

इस मनुष्य जन्म में ही भागवत धर्म आचरण की उपयोगिता है, इस का प्रदर्शन 'यथाहि पुरुषस्येह' इत्यादि श्लोक द्वारा हुआ है। इस उपासना मार्ग में पुरुष के पक्ष में अर्थात् मानव के पक्ष में श्रीविष्णु चरणोपसमर्पण ही अर्थात् श्रीविष्णु चरण की शरणागति ही अनुरूप है, अर्थात् योग्य है। कारण, श्रीविष्णु समस्त प्राणियों का स्वभावतः ही प्रिय हैं, अर्थात् प्रीति का विषय हैं। कारण, आनन्द ही निरुपाधि प्रीति का विषय होता है। श्रीविष्णु, अखण्ड आनन्द स्वरूप होने के कारण, निखिल जीवों का प्रीति करने का योग्य वह विषय हैं, अथच जीव, जिस प्रकार श्रीविष्णु प्रीति करेगा,श्रीविष्णु भी उस प्रकार जीव को प्रीति करेगा, श्रीविष्णु भी उस प्रकार जीव को प्रीति करते हैं। कारण, आप परमात्मा हैं। उन के चरणों में शरणागत होने के विषय में और एक हेतु का विन्यास करते हैं। यह श्रीविष्णु ईश्वर हैं, अर्थात् करने में न करने में एवं अन्यथा करने में समर्थ हैं। दूसरी बात है--आप सब के सुहृत हैं, अर्थात् सब के हित साधन करते रहते हैं। इस प्रकार सद्‌ गुण गण निधि श्रीविष्णु की उपासना करना मनुष्य मात्र का एकमात्र कर्त्तव्य है। इस प्रकार उपदेश का प्रारम्भ कर उपसंहार में भी भगवद् भक्ति का ही अभिधेयत्व प्रतिपादन किये हैं—(भा० ७।६।२६)

(५५) "धर्म्मार्थकाम इति योऽभिहितस्त्रिवर्ग,
ईक्षा त्रयी नय-दमौ विविधा च वार्त्ता।
मन्ये तदेतदखिलं निगमस्य सत्यं,
स्वात्मार्पणं स्वसुहृदः परमस्य पुंसः॥"९०॥

टीका—ननु च धर्मादिव पुरुषार्थत्वे किमित्याचार्य्याभ्यां वेदोक्तेन सत्य एवाभिहितः तत्राह। धर्मार्थ काम इति, य स्त्रिवर्गस्तदर्थञ्च ये ईक्षाद्या अभिहिताः। ईक्षा, आत्मविद्या, त्रयी,---कर्म विद्या, नय दमौ तक। दण्डनीतिश्च, विविधा च वार्त्ता,-जीविका, तदेतत् सर्वं निगमस्यार्थ जातं, स्वसुहृदः स्वान्तर्य्यामिणः, परमस्य पुंसः, स्वात्मार्पण साधनञ्चेत् तर्हिसर्वं सत्यं मन्ये सत्यपरत्वात्, अन्यथा तदसत्यमेव। यद्वा, तदेतदखिलं निगमस्य त्रैगुण्य विषयस्य प्रतिपाद्यंमन्ये। सत्यं पुनर्निस्त्रैगुण्य लक्षणं परमस्य पुंसः स्वात्मार्पण मेवेत्यर्थः। तदुक्तं भगवता। त्रैगुण्य विषया वेदा निस्त्रैगुण्योभवार्जुनेति।

उपक्रम--उपसंहार, अभ्यास—पुनः पुनः उल्लेख, अपूर्व फल, अर्थवाद--(प्रशंसावाक्य) एवं उपपत्ति-युक्ति, यह छै हेतु के द्वारा शास्त्रों का तात्पर्य्य निर्णय करना पड़ता है। यहाँपर श्रीप्रह्लाद के उपदेश में उपक्रम उपसंहार द्वारा भगवद् भक्ति का अभिधेयत्व प्रदर्शन के निमित्त उपक्रम श्लोक का उल्लेख करने के पश्चात् उपसंहार श्लोक का उल्लेख करते हैं।

हे बालकवृन्द! तुम सब मन में यह कर सकते हों कि—धर्म, अर्थ, काम, यदि पुरुषार्थ नहीं होते तो, षण्ड तमर्क गुरु पुत्रद्वय वेदोक्त प्रमाण के द्वारा प्रमाणित करके हम सब को उक्त धर्मादि का उपदेश

पुंसः, तस्मै स्वात्मार्पणसाधनञ्चेत्तर्हि सत्यं मन्ये, सत्यफलत्वात्, यद्वा, सत्यमर्थक्रियाकारकं सफलमिति यावत्, अन्यथा धर्म्मादीनां निष्फलत्वमेवेति भावः ॥ श्रीप्रह्लादोऽसुरबालकान् ॥

५६ । अग्रे च (भा० ७।७।२९)—

(५६) "तत्रोपायसहस्राणामयं भगवतोदितः ।
यदीश्वरे भगवति यथा यैरञ्जसा रतिः ॥" ६१॥

तत्र पूर्व्वोक्ते त्रिगुणात्मक-कर्म्मणां वीजनिर्हरणेऽपि उपायसहस्राणां मध्ये अयमेवोपायो भगवता श्रीनारदेन मां प्रत्युपदिष्टं । यैरुपायसहस्रैः सिद्धाद्यद्यस्मादुपायाद् यथा

क्यों करते हैं, उत्तर में कहते हैं—धर्म, अर्थ, काम यह त्रिवर्ग नाम से अभिहित है। ईक्षा--आत्मविद्या, त्रयी--कर्म विद्या, नय तर्कनीति एवं विविध जीविका यह सब वेदोक्त ही हैं । मैं उक्त विषयों पर दोषारोपण नहीं कर रहा हूँ । अधिकारी विशेष के निमित्त वेदोक्त उक्त उपदेश समूह सत्य हितकारी होते हैं । इस अभिप्राय से ही भगवान् पद्मनाम ने श्रीगीता में कहा है—

"त्रैगुण्य विषयावेदा निस्त्रैगुण्य भवार्जुन ॥'

किन्तु उक्त उपदेश समूह की सत्यता तब ही प्रतिपन्न होगी, जब परम पुरुष, निरुपाधि हितकारी श्रीभगवान् में आत्म समर्पण होगा । अर्थात् निखिल साधन एवं निखिल साध्य के मुख्य फलरूप श्रीभगवान् में आत्म समर्पण अर्थात् तदीयत्व रूप में अभिमान नहीं होता है, अर्थात् मैं आप का दास हूँ, आप मेरे प्रभु हैं, अथवा मैं आपका नित्य सेवक हूँ, आप मेरा नित्य सेव्य हैं, इस प्रकार सम्बन्ध का उद्बोधन नहीं होता है, तब तक समझना पड़ेगा कि— वेद का मुख्य उपदेश प्रति पालित नहीं हो रहा है । वेदों का मुख्य आदेश,—भगवान् में भक्ति करना है, उसका प्रतिपालन न करके अन्यान्य सब कुछ करने पर भी वेद एवं वेदानुगत शास्त्र साधक के प्रति प्रसन्न नहीं होते हैं । ईक्षा—शब्द का अर्थ—आत्मतत्त्व ज्ञान है, पूर्वोक्त वेदों के उपदेश समूह तब ही सत्यरूप में होंगे, यदि निज हितकारी बान्धव, अन्तर्यामी परम पुरुष में आत्म समर्पण होता है । कारण, भगवान् में आत्म समर्पण ही निखिल साधनों का पारमार्थिक सत्य है । श्री भगवान् में आत्म समर्पण व्यतीत अपर जो कुछ फल है, वे सब अपारमार्थिक होने के कारण असत्य हैं । श्रीप्रह्लाद, असुर बालक वृन्द को कहे थे ।५५॥

५६ । अग्रिम ग्रन्थ भा० ७।७।२९ में और भी उक्त है—

(५६) "तत्रोपायसहस्राणामयं भगवतोदितः ।
यदीश्वरे भगवति यथा यैरञ्जसा रतिः ॥"६१॥

टीका—तथैवं ज्ञान प्रकार मुक्त्वा तत् साधनं धर्मस्य तत्त्वं नारदोक्तमेवाह--तत्रेति पञ्चभिः । यैर्धर्मैं र्यथानुष्ठितैः रतिरिति यत् अयमुपायो भगवतोक्तः । तथापि गीतासु । यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् । यत् तपस्यसि कौन्तेय ! तत् कुरुष्व मदर्पणमिति। भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥"

हे बालक वृन्द ! जिस भजन समूह के द्वारा ईश्वर, भगवान् में अवलेश से यथा योग्य प्रीति का उदय होता है, वे सब भजन ही कर्म वीज परिहार के प्रकृष्ट उपाय हैं । तत्र - पूर्वोक्त विषय में । सत्त्व, रजः, एवं तमोगुणात्मक कर्मसमूह की वीज नाश के सम्बन्ध में सहस्र सहस्र उपायों के मध्य में मुझ को श्रीनारद महाशय यह उपदेश किये थे—जिस उपाय सहस्र के द्वारा सिद्ध उपाय से यथायोग्य ईश्वर श्री

यथावदीश्वरे भगवति अञ्जसा व्यवधानान्तरं विनैव रतिः प्रीतिर्भवति, अतः कर्म्मवीज-निर्हरणमपि तस्यानुषङ्गिकमेव फलमिति भावः ॥

५७ । अग्रे च (भा० ७।७।३०)—"गुरुशुश्रूषया भक्त्या" इत्यादिभिस्तस्यैवोपायस्याङ्गान्युक्त्वाह (भा० ७।७।३३)—

(५७) "एवं निर्जितषड़्वर्गैः क्रियते भक्तिरीश्वरे ।
वासुदेवे भगवति यया संलभते रतिम् ॥"६२॥

एवं पूर्व्वोक्त-गुरुशुश्रूषादि-प्रकारेणैव, न तु तदर्थं पृथक् प्रयत्नेन, निर्जित-कर्म्मवीजलक्षण-

---

भगवान् में व्यवधान शून्य प्रीति का उदय होता है, उस उपाय को अवलम्बन करना ही जीव का अवश्य कर्त्तव्य है । अभिप्राय यह है कि—जब तक श्रीभगवान् में भक्ति का उदय नहीं होता है, तब तक कर्म वासना विदूरित नहीं होगी । अथच अत्यन्त दुर्लभ है सत्सङ्ग अथवा महत् कृपा व्यतीत किसी भी उपायों से उस की प्राप्ति नहीं हो सकती है । किन्तु पवित्र अनुष्ठान में रत होने पर यदृच्छाक्रम से महत् सङ्ग लाभ की सम्भावना होती है । तज्जन्य ही गोस्वामि पाद ने कहा है "यैरुपाय सहस्रैः सिद्धात्" अर्थात् सहस्र सहस्र साधन को साधन स्थानीय रूप से कहा गया है, किन्तु अव्यवहिता एवं अहैतुकी साधन भक्ति से प्रीति भक्ति का आविर्भाव होता है । अतएव कर्म वीज नाश होना ही साधन भक्ति का मुख्य फल नहीं है, किन्तु अवान्तर फल है । भक्ति का मुख्य फल भगवत् प्रीति है ॥५६॥

५७ । भा० ७।७।३० में

'गुरुशुश्रूषया भक्त्या सर्वलाभार्पणेन च ।
सङ्गेन साधुभक्तानामीश्वराधनेन च ॥

टीका—'तत्रैवान्तरङ्ग धर्मानाह । गुरोः शुश्रूषया—भक्त्या, प्रेम्ना, सर्वेषां श्रद्धानामर्पणेन ॥"

"श्रद्धया तत् कथायाञ्च कीर्त्तनैर्गुणकर्मणाम् ।
तत् पादाम्बुरुह ध्यानात् तल्लिङ्गेक्षार्हणादिभिः ॥३१॥
हरिः सर्व भूतेषु भगवानस्ति ईश्वरः ।
इति भूतानि मनसा कामैस्तैः साधुमानयेत् ॥'३२॥

टीका—तस्य लिङ्गानां मूर्त्तीनाम् इक्षणञ्चार्हणञ्चादियेषां वन्दनादीनां तैश्च । ३१—३२॥

उक्त श्लोक समूह के द्वारा अहैतुकी भक्ति रूप उपायों के अङ्ग समूह का वर्णन कर भा० ७।७।३३ में कहते हैं ।

(५७) "एवं निर्जित षड़्वर्गैः क्रियते भक्तिरीश्वरे ।
वासुदेवे भगवति यया संलभते रतिः ॥६२॥

टीका—निर्जितः षण्णां, काम क्रोध लोभ मोह मद मात्सर्य्याणाम् इन्द्रियाणां वा वर्गो यैः ॥३३॥

हे भ्रातृ वृन्द ! पूर्व वर्णित भक्ति के अङ्ग समूह का अनुष्ठान करते करते काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य्य अथवा इन्द्रिय वर्ग जयी भक्तगण ईश्वरमें भक्ति करते रहते हैं । जिस भक्ति के द्वारा भगवान् श्रीवासुदेव में सम्यक् प्रीति लाभ होता है ।

पूर्व वर्णित गुरु शुश्रूषादि के द्वारा निर्जित काम वासना की सत्ता का परिचायक, काम, क्रोध, लोभ मोह, मद् मात्सर्य्य प्रभृति को जय करके भक्तगण पुनर्वार श्रीभगवान् में भक्ति करते हैं । उक्त काम,

काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मात्सर्य्यैर्जनैः पुनरपि भक्तिः क्रियत एव ।। श्रीप्रह्लादस्तात् ।।

५८ । वर्णाश्रमाचारकथनारम्भे नरमात्र-धर्म्मकथनेऽपि (भा० ७।११।७)—

(५८) "धर्म्ममूलं हि भगवान् सर्व्ववेदमयो हरिः ।
स्मृतञ्च तद्विदां राजन् येन चात्मा प्रसीदति ।।" ६३।।

धर्म्मस्य मूलं प्रमाणं भगवान्, यतः सर्व्ववेदमयः, स्मृतं स्मृतिश्च तद्विदां वेदमय-भगवद्विदां तस्य प्रमाणम् । आभ्यां तद्वहिर्मुखधर्म्मस्यापार्थत्वं भगवद्धर्म्मस्यैवावश्यकत्वञ्चोक्तम् । अतएव

(मनु० १-६) --

क्रोध प्रभृति को जय करने के निमित्त, भक्तवृन्द, कभी भी भक्त्यङ्गरूप गुरु शुश्रूषा प्रभृति को परित्याग करके उपायान्तर का अवलम्बन नहीं करते हैं । भक्ति का स्वभाव यह है कि—भक्ति के द्वारा काम, क्रोध प्रभृति वासना वीज का परिचायक राजस, तामस भाव विनष्ट होने पर भी भक्ति साधन के प्रति आवेश में शैथिल्य नहीं होता है । कारण, निरुपाधि भक्ति—भक्ति में आविष्ट करा देती है, फलान्तरानु सन्धान करने नहीं देती । कारण, भक्त, श्रीभगवान् को छोड़कर नहीं रह सकता, भक्त का भक्ति के सहित साक्षात् सम्बन्ध है । एवं भक्ति का साक्षात् सम्बन्ध श्रीभगवान् के सहित है । एतज्जन्य, भक्तगण, भक्ति करके ही सुखी होते हैं ।

श्रीप्रह्लाद—असुर बालक वृन्द को कहे थे ।।५७।।

५८ । भा० ७।११।७ के वर्णाश्रमाचार कथन प्रसङ्ग में श्रीयुधिष्ठिर को देवर्षि नारद, मनुष्य मात्र के पक्ष में अवश्य आचरणीय धर्म्म का वर्णन किये हैं ।

(५८) "धर्ममूलं हि भगवान् सर्ववेदमयोहरिः ।
स्मृतञ्च तद्विदां राजन् येन चात्मा प्रसीदति ।।" ६३।।

टीका—प्रथमं तावद्धर्मे प्रमाणमाह धर्मेति । धर्मस्य मूलं प्रमाणं, स्मृतञ्च स्मृतिः, तद्विदां वेदविदां, येन धर्मेण च आत्मा, मनः प्रसीदति, तुष्यति । तथाच याज्ञवल्क्यः, श्रुतिः स्मृतिः सदाचार स्वस्य च प्रिय मात्मनः । सम्यक् सङ्कल्पजः कामो धर्म मूलमिदं स्मृतमिति । मनुश्च वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् । आचारश्चैव साधूनाम्, आत्मनस्तुष्टिरेवचेति ।।७।।

हे राजन् ! जिस धर्माचरण के द्वारा आत्म प्रसाद लाभ है, उस धर्म समूह का मूल प्रमाण ही श्री-भगवान् हैं, एवं साक्षात् सकल वेदमूर्त्ति हैं, भगवत्तत्त्वाभिज्ञ व्यक्ति इस रीति से कर्त्तव्या कर्त्तव्य निर्णय विषय में स्मृति को भी प्रमाण रूप से अङ्गीकार करते हैं ।

श्रुति एवं स्मृति के द्वारा भगवद्वहिर्मुख धर्म का मिथ्यात्व एवं भगवद् धर्म का अवश्य कर्त्तव्यत्व कीर्त्तित हुआ है । अतएव वेद, अखिल धर्म का मूल है । भगवत् तत्त्वाभिज्ञजन गण की स्मृति, सौशील्य, साधुवृन्द का आचरण, एवं आत्म प्रसाद भी वेदानुगत होने के कारण प्रमाण है, मनुस्मृति वाक्य से एवं देवर्षि नारद कर्त्तृक श्रीयुधिष्ठिर महाराज को वर्णाश्रमोचित आचार वर्णन प्रसङ्ग में उक्त विषय प्रति प्रादित हुआ है । वह सत्य है, कारण-सर्ववेद मूल श्रीभगवान् ही धर्म उक्तका मूल प्रमाणहैं । भा० १।१।२ में

"धर्म्मः प्रोज्झित कैतवोऽत्रपरमो निर्म्मत्सराणां सतां ।
वेद्यं वास्तवमत्रवस्तुशिवदं तापत्रयोन्मूलनम् ।
श्रीमद् भागवते महामुनिकृते किं वा परैरीश्वरः,
सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत् क्षणात् ।"

"वेदोऽखिलो धर्म्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् । आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥" ६४॥

इति मनुस्मृतिवाक्यादप्यत्र विशिष्टतयोपदिष्टम् । तच्च युक्तम्, (भा० १।१।२) "धर्म्मः प्रोज्झित-कैतवोऽत्र परमो निर्म्मत्सराणां सतां, वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम्" इत्युक्तत्वात् । येनैव धर्म्मेण आत्मा मनः प्रसीदतीत्यनेन (भा० १।२।६) "ययात्मा सुप्रसीदति" इतिवत् 'सु'-शब्दविशिष्टतयानुक्तत्वात्तच्छ्रवणादिलक्षणसाक्षाद्भक्तेरेव प्रशस्तत्वञ्च बोधितम् । तत्तत्सर्व्वधर्म्मकथनान्ते तु स्वयमेव स्वस्य प्रथमे गन्धर्व्वजातौ जन्मन्यानुषङ्गिकं भगवद्गान-मात्रं सत्कर्म्मोक्त्वा द्वितीये च शूद्रजातौ जन्मनि सत्सङ्ग-श्रवणादिमात्रं तदुक्त्वा स्वस्य तादृश-भगवत्पार्षदत्वपर्य्यन्तफलप्राप्तौ तथाविधमपि स्वधर्म्मलक्षणं कारणान्तरं नादृतवान् ।

निर्म्मत्सर साधुवृन्द के धर्मार्थकाममोक्षवाञ्छारूप कपटता शून्य धर्म का वर्णन है । इस प्रकार उल्लेख होने के कारण, जिस धर्म के द्वारा मनः प्रसन्न होता है, "येन चात्मा प्रसीदति" इस प्रकार उपदेश होने के कारण एवं श्रीमद् भागवत के १।१।११ श्लोक में "ब्रूहि भद्राय भूतानां येनात्मासुप्रसीदति" प्रश्न हुआ है, उस के उत्तर भा० १।२।६ में है—

"स वै पुंसां परोधर्म यतो भक्तिरधोक्षजे ।
अहैतुक्य प्रतिहता ययात्मा सु प्रसीदति ॥"

श्रीसूत की इस उक्ति में 'सु प्रसीदति' शब्द का प्रयोग हुआ है । 'प्रसीदति' क्रिया के पहले सु शब्द का प्रयोग हुआ है । इस से सुस्पष्ट प्रतीति होती है कि—देवर्षि नारद ने महाराज युधिष्ठिर को वर्णाश्रम धर्म का उपदेश किया था । उस उपदेश से चित्त प्रसन्न तो होता है, किन्तु सुन्दर रूप से नहीं होता है । तज्जन्य श्रीशौनक कृत प्रश्न में भी 'जिस से आत्मप्रसन्नता मिलती है । इस प्रकार उल्लेख हुआ है । श्रीसूत के प्रत्युत्तर मे भी "सु प्रसीदति" का प्रयोग हुआ है । इस का तात्पर्य्य यह है कि केवल वर्ण एवं आश्रम धर्म का अनुष्ठान से चित्त प्रसन्न होता है, किन्तु श्रवण कीर्त्तनादि लक्षणा भगवद् भक्ति का अनुष्ठान से आत्मा की सु प्रसन्नता होती है । अतएव देवर्षि नारद ने 'सु प्रसीदति" इस प्रकार न कहकर भगवत् श्रवण कीर्त्तनादि लक्षणा साक्षात् भक्ति का श्रेष्ठत्व प्रतिपादन किया है । वर्णाश्रम धर्मानुष्ठान करते करते यदि चित्त सु प्रसन्न होना तो देवर्षि, "येन चात्मा प्रसीदति" श्लोकस्थित 'प्रसीदति" क्रिया के पहले 'तु' इस अव्यय पद का प्रयोग करते । अतः साक्षात् भगवत् भक्ति अनुष्टान के विना अपर किसी भी साधन से चित्त वासना शून्य नहीं हो सकता है ।

देवर्षि ने निज जीवन वृत्तान्त का वर्णन भी किया है, उस में 'वर्णाश्रमोचित सत् कर्म्मका अनुष्ठान मैंने किया था, इस प्रकार उल्लेख नहीं है, द्वितीय शूद्रजन्म में मुनि गण के समीप में श्रीहरि कथा श्रवण का उल्लेख किया है । इस से प्रतिपन्न होता है कि—देवर्षि के तृतीय जन्म में भक्ति का आभास से, एवं द्वितीय जन्म में भक्ति का अनुष्ठान से श्रीभगवान् के समीप में रह कर सेवा सौभाग्य लाभ हेतु सच्चिदानन्द मय भगवद् भावभावित पार्षद देह लाभ देवर्षि ने किया था । अतएव श्रीहरि कथा श्रवणात्मक भक्ति अनुष्ठान वर्णन उन्होंने बारम्बार किया है, किन्तु किसी जन्म में वर्णाश्रमोचित धर्म का अनुष्ठान किया था । जिस के फल स्वरूप पार्षद देह मिला—इन प्रकार नहीं कहा ।

विशेषतः भा० ७।१५।६८ में कहा है ।

"यथा हि यूयं नृपदेव दुस्त्यजादापद् गणादुत्तरतात्मनः प्रभोः ।
यत् पादपङ्करुह सेवया भवानहारषीन्निर्जित दिग्गजः क्रतून् ॥"

तथाहि तत्रैव (भा० ११।५।६८) "यथा हि यूयम्" इत्यस्य टीका च— "एतच्च सर्व्वसाधारण-मुक्तम्, भक्तस्य तु भक्तिरेव सर्वपुरुषार्थहेतुरिति पाण्डवानेव लक्ष्यीकृत्याह--"यथा हि" इत्येषा। तस्मादत्रापि साक्षाद्भक्तावेव तात्पर्य्यम्। अथात्र (भा० १।५।१७) 'त्यक्त्वा स्वधर्म्मं चरणाम्बुजं हरेर्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि' इत्यादौ भक्तेर्धर्म्मातिरिक्तत्वेऽपि (भा० ७।११।११) "श्रवणं कीर्त्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः" इत्यादिनोत्तरग्रन्थे धर्मत्वविधानं सर्व्वेषामपि प्राणिनामावश्यकत्वापेक्षया परमश्रेयोरूपत्वाद्यपेक्षया च लाक्षणिकमेव। वस्तुतस्तु पञ्चमे (भा० ५।६।१२) "तत्रापि" इत्यादि-गद्ये "भगवतः कर्म्मबन्धविध्वंसन-श्रवण-स्मरण-" इत्यादिना श्रीजड़भरतस्य या भक्तिनिष्ठोक्ता, तस्याः (भा० ५।६।८) "पितर्य्युपरते" इत्यादि-गद्ये (भा० ५।६।८) "त्रय्यां

टीका— 'एतच्च सर्वसाधारणमुक्तम्, भक्तस्य तु भक्तिरेव सर्वपुरुषार्थ हेतुरिति पाण्डवानेव लक्ष्यीकृत्याह—यथाहीति। हे नृपदेव! नृपैर्देवैश्च सहायं दुस्त्यजादिति वा आत्मनः, श्रीकृष्णादेव प्रभो र्हेतोः। अडभाव आर्षः, उत्कर्षेण अतरतेत्यर्थः। यथा यथावत् तमेव भजतेति शेषः। यद्वा यथा आपद्गणादुत्तीर्णास्त्वं यथा च क्रतूनहार्षीत्, तथा श्रीकृष्णादेव तारकात् संसारादप्युत्तरतेत्यर्थः।

मैंने-वर्ण एवं आश्रम धर्म का वर्णन जो कुछ किया है, वह सर्व साधारण के निमित्त हैं। किन्तु भक्त का पुरुषार्थ भक्ति ही है, एवं सर्व पुरुषार्थ लाभ का हेतु भक्ति ही है। स्वामिपाद की टीका का तात्पर्य्य भी वह ही है "भक्ति ही सर्व पुरुषार्थ साधिका शब्द से बोध होता है, कि—भक्त के पक्ष में भक्ति भिन्न अपर साधन के प्रति आदर न रख कर भक्ति ही करना कर्त्तव्य है। इस प्रकार "धर्ममूलं हि भगवान्" प्रसङ्ग में भी नारद का निर्भर, साक्षात् भक्ति में ही है,-इस का प्रकाश हुआ है।

इस प्रसङ्ग में आशङ्का हो सकती है, उसका उद्भावन करके कहते हैं— भा० १।५।१७ में श्रीनारद श्रीकृष्णद्वैपायन कहे थे,—वर्णाश्रम रूप स्वधर्म त्याग करतः श्रीहरि के चरण कमल का भजन करते करते अपक्वावस्था में यदि पतित होता है, अथवा मृत्यु हो जाती है, तथापि भक्ति अनुष्ठानकारी व्यक्ति का नाश अथवा किसी प्रकार अनर्थ उपस्थित नहीं हो सकता है,— इस प्रकार उक्ति की विद्यमानता के कारण, वर्णाश्रमादि धर्म से भिन्न ही भक्ति है, इसका प्रदर्शन हुआ है।

ऐसा होने पर देवर्षि ने वर्णाश्रम धर्म कथन प्रसङ्ग में श्रीहरि के श्रवण, कीर्त्तन स्मरण प्रभृति को ७।११।११ श्लोक के द्वारा वर्णाश्रम धर्म के मध्य में अन्तर्भुक्त क्यों किया है? उत्तर में कहते हैं—यद्यपि श्रवण कीर्त्तनादि लक्षणाभक्ति, वर्णाश्रम धर्म से पृथक् हैं, तथापि, श्रीहरि कथा श्रवण, कीर्त्तन एवं स्मरण करना समस्त मानवों का एकमात्र कर्त्तव्य है, इस को दर्शाने के निमित्त वर्णाश्रम धर्म कथन प्रसङ्ग में भी श्रीहरि कथा श्रवण कीर्त्तनादि का उल्लेख हुआ है। कारण, श्रीहरि कथा श्रवण कीर्त्तन प्रभृति--परम मङ्गल स्वरूप हैं। भक्ति भिन्न किसी भी साधन के द्वारा मङ्गल अर्थात् फल लाभ नहीं होता है! तज्जन्य कर्माङ्ग श्रवण कीर्त्तनादि लाक्षणिकी है, किन्तु स्वरूप सिद्ध नहीं है।

वस्तुतः भा० ५।२।१३ के गद्य में भी श्रीभरत की भक्ति निष्ठा वर्णित हुई है। श्रीभरत—निज तृतीय जन्म में स्वजन सङ्ग से अत्यन्त उद्विग्न होकर श्रीभगवन्नाम श्रवण, स्मरण एवं कीर्त्तन करने लगे थे, उस से उनका कर्मबन्ध विध्वंस हो गया, श्रीभगवच्चरण युगल हृदय में धारण कर कालातिपात करने लगे थे, श्रीभगवान् के अनुग्रह से निज पूर्व जन्म वृत्तान्त स्मृति पटल में उदित हुआ। उस से प्रतिघात आशङ्का से व्यवहारिक लोक के निकट स्वयं उन्मत्त, जड़, अन्ध एवं बधिर रूप में दृष्ट हुए थे। इत्यादि प्रसङ्ग के द्वारा

विद्यायामेव पर्य्यवसितमतयो न परविद्यायाम्" इत्यादिना तदवज्ञातॄणामज्ञत्वबोधनेन धर्म्मातिरिक्तत्वं परविद्यात्वञ्च बोधितम् । अतएवोक्तं श्रीनारसिंहे—

"सनकादयो निवृत्तचाख्ये तेन धर्म्मे नियोजिताः ।
प्रवृत्तचाख्ये मरीच्याद्या भक्त्यैकं नारदं मुनिम् ॥"९५॥ इति ।

'तेन' ब्रह्मणेति प्राकरणिकम् । तथा लक्षणामय--कष्टकल्पनया श्रवणादीनां स्वधर्म्मान्तर्गणना

श्रीजड़ भरत महाशय की भक्ति निष्ठा सुव्यक्त हुई है ।

भा० ५।१९।८ में गद्य में भी वर्णित है—श्रीभरत महाशय के पिता का देहान्त होने पर, भ्रातृवर्ग उनका अलौकिक प्रभाव को अवगत होने में अक्षम रहें, कारण, भ्रातृवर्ग की चित्त वृत्ति, त्रिगुणमयी कर्म विद्या में परिवेष्टित थी, अतः परतत्त्व परिज्ञान में जड़मति थे, तज्जन्य उनके भ्रातृवृन्द, भरत के अनुशासन से निवृत्त हो गये थे । इस पद्य के द्वारा भरत महाशय का अनादर कारी भ्रातृवृन्द का अज्ञत्व वर्णन करके त्रिगुणात्मक धर्म से भक्ति का अतिरिक्तत्व एवं पर विद्यात्व दर्शाया गया है। अतएव नृसिंह पुराण में कथित है—

"सनकादयो निवृत्त्याख्ये तेनधर्मे नियोजिताः ।
प्रवृत्त्याख्ये मरीच्याद्या भक्त्यैकं नारदं मुनिम् ॥"९५॥

ब्रह्मा, सनकादि ऋषिगण को निवृत्त्याख्य धर्म में एवं श्रीनारद भिन्न मरीचि प्रभृति प्रजापतिगण को प्रवृत्त्याख्य धर्म में नियुक्त किये थे । यहाँपर नियुक्त करने के कर्त्ता रूप में ब्रह्मा का उल्लेख हुआ है । वहिर्मुख जनगण की प्रवृत्ति, भक्ति अनुष्ठान में हो, तज्जन्य लक्षणामय कष्ट कल्पना के द्वारा श्रवणादि भक्त्यङ्ग समूह को भी वर्णाश्रम धर्म के मध्य में गणना की गई है । यह अभिप्राय यह है कि देवर्षि नारद, धर्मराज युधिष्ठिर के निकट जिस वर्णाश्रम धर्म का वर्णन किये हैं, उस में श्रीहरि कथा श्रवणादि का उल्लेख है, उस में संशय हो सकता कि—श्रीहरि कथा श्रवण कीर्त्तनादि वर्णाश्रमधर्म के ही अङ्ग हैं। आशङ्का निरसन हेतु श्रीजीवगोस्वामी पाद उक्त सिद्धान्त समूह की अवतारणा किये हैं । उक्त सिधान्त समूह का सारार्थ यह है—वर्णाश्रमधर्म त्रिगुणमय कर्म विद्या है, श्रवण कीर्त्तनादि लक्षणाभक्ति किन्तु त्रिगुणातीत गुह्य विद्या है । अतएव, कर्म विद्या एवं गुह्य विद्या के मध्य में स्वरूपगत पार्थक्य विद्यमान होने पर भी वर्णाश्रम धर्म प्रसङ्ग में श्रवण कीर्त्तनादि लक्षणा भक्ति का जो उल्लेख हुआ है, उस से भगवद् वहिर्मुख मानवों की रुचि सङ्गसिद्धा भक्ति अनुष्ठान में होगी, उस से क्रम पन्था में श्रीहरि कथा श्रवण कीर्त्तनादि में रुचि की सम्भवना है, एवं उस रुचिलक्षणाभक्ति से क्रमशः विशुद्ध भक्ति में प्रवेश की योग्यता हो सकती है । इस अभिप्राय से ही वर्णाश्रम धर्म प्रसङ्ग में भी हरि कथा श्रवण कीर्त्तनादि भक्ति का उल्लेख हुआ है इस प्रकार श्रीमद् भागवत के अन्यस्थान में भी, कर्म, ज्ञान, योगमिश्र भक्ति का उपदेश विद्यमान, उक्त उपदेश समूह का तात्पर्य्य भी उक्त रीति से जानना होगा । अर्थात् सङ्ग सिद्धा एवं आरोपसिद्धा भक्ति का अनुष्ठान करते करते विशुद्ध भक्ति में प्रवेश की सम्भावना हो सकती है, इस अभिप्राय से ही श्रीमद् भागवत के स्थल विशेष में उपदेश वाक्य में अन्यमिश्राभक्ति की वार्त्ता भी उल्लिखित है । वस्तुतः श्रीमद् भागवत में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष वाञ्छारूप कष्टता शून्य परमधर्म वर्णित है, उक्त परम धर्म का विवरण श्रीसूत के वाक्य के द्वारा प्रकाशित हुआ है ।

"सवै पुंसां परोधर्मो यतोभक्तिरधोक्षजे ।
अहैतुक्य प्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति ॥"

अर्थात् मानव मात्र का वह ही परम धर्म है, जो धर्म अनुष्ठित होने पर श्रीहरि में अहैतुकी अप्रतिहता

च वहिर्मुखानामपि साक्षाद्भक्तिप्रवर्त्तनायैव । एवमन्यत्रापि अन्यमिश्रभक्त्युपदेश-वाक्येषु ज्ञेयम् । तस्मादपि भक्तावेव तात्पर्य्यमिति ॥ श्रीनारदो युधिष्ठिरम् ॥

५६ । जायन्तेयोपाख्यानेऽपि (भा० ११।२।३०) -"अत आत्यन्तिकं क्षेमंपृच्छामः" इत्यस्योत्तरम् (भा० ११।२।३३) –

(५६) "मन्येऽकुतश्चिद्भयमच्युतस्य, पादाम्बुजोपासनमत्र नित्यम् ।
उद्विग्नबुद्धेरसदात्मभावा,-द्विश्वात्मना यत्र निवर्त्तति भीः ॥"९६॥

टीका च-"प्रथममात्यन्तिकं क्षेमं कथयति-'मन्ये' इति" इत्यादिका । पुनश्च (भा० ११।२।११) "धर्म्मान् भागवतान् ब्रूत" इत्यस्योत्तरत्वेन (भा० ११।१।२४) "ये वै भगवता प्रोक्ता उपाया

भक्ति का आविर्भाव होता है । एवं आत्मा, जीव, चित्त की सुप्रसन्नता भी होती है । इस से सुस्पष्ट प्रतीति होती है कि—अहैतुकी भक्ति ही एकमात्र परमधर्म है । उक्त अहैतुकी भक्ति लक्षण परमधर्म्म ही श्रीमद् भागवत प्रतिपाद्य है । अतः उक्त धर्म के विरुद्ध प्रसङ्ग समूह का मार्म्मिक तात्पर्य्य को पूर्वोक्त रीति से जानना होगा । कारण, प्रतिज्ञा वाक्य का विरुद्ध प्रसङ्ग सिद्धान्त सङ्गत नहीं होता है । समस्त उपदेश में भक्ति में तात्पर्य्य रक्षित है ।

श्रीनारद श्रीयुधिष्ठिर को कहे थे ॥५८॥

५९ । भा० ११।२।३० निमि जायन्तेयोपाख्यान में उक्त है—

"अत आत्यन्तिकं क्षेमं पच्छामो भवतोऽनघाः ।
संसारेऽस्मिन् क्षणार्द्धोऽपि सत्सङ्गः शेवधि र्नृणाम् ॥"

टीका—हे अनघाः-निरवद्याः । भवतो युष्मान् आत्यन्तिकं क्षेमं पृच्छामः । यतः क्षणार्द्धकालभवोऽपि सत्सङ्गः शेवधि निधिः । निधिलाभे यथा आनन्दो भवति, तथा परमानन्द इत्यर्थः ॥

हे महापुरुषवृन्द ! आप के श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, एवं दर्शन से महापापि वृन्द की भी अशेष पाप राशि विदूरित होती हैं, अतः आपके समीप में आत्यन्तिक क्षेम को अवगत होने के निमित्त हम जिज्ञासु हैं । अर्थात् जिस वस्तु को प्राप्त करने से देश, काल, एवं वस्तु से किसी प्रकार भय उत्पन्न नहीं होता है, वह वस्तु क्या है ? उस को जानना चाहते हैं । कारण, मनुष्य जन्म तब ही सफल होता है, जब आत्यन्तिक वस्तु का लाभ होता है । अथच आत्यन्तिक क्षेम वस्तु का संवाद, एकमात्र साधु सङ्ग से ही प्राप्त होता है, अतः इस संसार में क्षणार्द्धकाल भी साधुसङ्ग मानव के पक्ष में निधि तुल्य है । निमिमहाराज के इस प्रकार प्रश्न का उत्तर श्रीकवि योगीन्द्र दिये हैं—भा० ११।२।३३)

(५९) "मन्येऽकुतश्चिद्भयमच्युतस्य, पादाम्बुजोपासनमत्र नित्यम् ।
उद्विग्नबुद्धेरसदात्मभावा–, द्विश्वात्मना यत्र निवर्त्तते भीः ॥" ९६॥

टीका—"प्रथममात्यन्तिकं क्षेमं कथयति मन्य इति । न कुतश्चिद् भयं यस्मात् तत् अकुतश्चिद् भयम् । अत्र संसारे असदात्मभावनातो नित्यं सर्वदा उद्विग्न बुद्धेः, विश्वात्मना सर्वथा निःशेषं यत्र पादाम्बुजोपासने भी निर्वर्त्तते तत् ॥"

संसार में असत् देहादि जड़ीय वस्तु में आत्मा एवं आत्मीयभाव हेतु सर्वदा उद्विग्न बुद्धि मानव के पक्ष में नित्य अच्युत के चरण कमल की उपासना अर्थात् उनके चरण कमल के सान्निध्य में मनः स्थापन करना ही अकुतश्चित् भय है । यह मेरा अनुभव है । अर्थात् श्रीभगवान् को भूलकर जड़ीय देहादि में मनः

ह्यात्मलब्धये'' इत्यादि-पद्यत्रयमुक्त्वा (भा० ११।२।३७) ''भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यात्''

संलग्न करना ही उद्वेग एवं अशान्ति का कारण है, एवं श्रीभगवच्चरणों में मनः स्थापन करना ही शाश्वत सुख एवं अभय का कारण है, भगवच्चरणों में मनोनिवेश होने से सर्वदा सर्व प्रकार से भय निवृत्त होता है। (भा० ११।२।२८)

"मन्ये भगवतः साक्षात् पार्षदान् वो मधुद्विषाः।
विष्णोर्भूतानि लोकानां पावनाय चरन्तिहि।
दुर्ल्लभोमानुषोदेहो देहिनां क्षणभङ्गुरः।
तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम्।
अत आत्यन्तिकं क्षेमं पृच्छामो भवतोऽनघाः।
संसारेऽस्मिन् क्षणार्द्धोऽपि सत्सङ्गः शेवधि र्नृणाम्।
धर्मान् भागवतान् ब्रूत यदि नः श्रुतये क्षमम्।
यैः प्रसन्नः प्रपन्नाय दास्यत्यात्मानमप्यजः ।।

टीका—परम प्रीत्या तद्दर्शनमभिनन्दति द्वाभ्याम्। मन्य इति। ननु भगवतः पार्षदानां कथमत्रोपलब्धि स्तत्राह विष्णोरिति। विष्णुभक्ता लोकपावनार्थं सर्वत्र पर्य्यटन्तीत्यर्थः ।।२८।।

मयादुर्लभंलब्धम्, अहो भाग्यमित्याह—दुर्लभ इति। बहवोदेहा भवन्ति येषां ते देहिनो जीवास्तेषां क्षणभङ्गुरोऽपि मानुषोदेहो दुर्लभः। परम पुरुषार्थ साधनत्वात्। वैकुण्ठः प्रियो येषां वैकुण्ठस्य वा प्रियास्तेषां दर्शनम् ।।२९।। हे अनघाः—निरवद्याः भवतो युष्मान् आत्यन्तिकं क्षेमं पृच्छामः। यतः क्षणार्द्धकालभवतोऽपि सत्सङ्गः शेवधि निधिः। निधिलाभे यथा आनन्दो भवति तथा परमानन्द इत्यर्थः।३० तदर्थञ्च भागवतान् धर्मान् ब्रूत, यदि नोऽस्माकं श्रुतये श्रवणाय क्षमं योग्यं भवति। कथम्भूतान्? यैर्धर्म्मैः प्रपन्नाय भक्ताय अजोहरिः, आत्मानमपि दास्यति तान् ।।३०।। सह सदस्यैः ऋत्विग्भिश्च वर्त्तमानम्। तेऽपि भगवद्धर्म श्रवणपरा बभूवुरित्यर्थः।

टीकाकार कहते हैं—"मन्य" इत्यादि श्लोक के द्वारा प्रथम आत्यन्तिक क्षेम का वर्णन करते हैं।

पुनश्च "धर्मान् भागवतान् ब्रूत यदि नः श्रुतये क्षमम्।
यैः प्रसन्नः प्रपन्नाय दास्यत्यात्मानमप्यजः।।"

हे महापुरुष वृन्द! जिस भागवत धर्माचरण से श्रीभगवान् सुप्रसन्न होकर आत्मा एवं अज जन्म रहित होकर भी शरणागत भक्त को आत्मदान करते रहते हैं, उस भागवत धर्म का वर्णन आप करें, यदि हम सबमें उक्त धर्म श्रवणकी योग्यता हो तो। निमिमहाराज के प्रश्नके उत्तर में श्रीकवियोगीन्द्र कहे थे—

"ये वै भगवता प्रोक्ता उपाया ह्यात्मलब्धये।
अञ्जः पुंसामविदुषां विद्धि भागवतान् हि तान् ।।३४।।
यानास्थाय नरो राजन्! न प्रमाद्येत कर्हिचित्।
धावन्निमील्य वा नेत्रे नस्खलेन्न पतेदिह ।।३५।।
कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना वानुसृतस्वभावात्।
करोति यद्यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत् तत् ।।३६।।

टीका—प्रथमं आत्यन्तिकं क्षेमं कथयति मन्य इति। न कुतश्चिद् भयं यस्मात् तत् अकुतश्चिद् भयम्। अत्र संसारे असदात्म भावात् असति देहादावात्मभावनातो नित्यं, सर्वदा उद्विग्नबुद्धेः, विश्वात्मना, सर्वथा निःशेषं यत्र पादाम्बुजोपासने भी निवर्त्ततेतत् ।।३३।। भागवत धर्मलक्षणमाह ये वै इति। मन्वादि मुखेन

इत्यादि-पद्ये "बुध आभजेत्तं भक्त्यैकयेशम्" इत्यत्र 'भक्त्या' इत्यनेन तस्या ज्ञानाद्यमिश्र-

वर्णाश्रमादि धर्मानुक्त्वा अतिरहस्यत्वात् स्वमुखेनैव भगवता अविदुषामपि पुंसाम् अञ्जः, सुखेनैव, आत्म-लब्धये, ये वै उपायाः प्रोक्तास्तान् भागवतान् धर्मान् विद्धि ।।३४।। अञ्ज पदेनोक्तं सुकरत्वं विवृणोति यानिति । यान् आस्थाय--आश्रित्य, योगादिष्विव न प्रमाद्येत— विघ्नै र्न विहन्येत । किञ्च निमील्य नेत्रे धावन्नपि इह एषु भागवत धर्मेषु नस्खलेत् । निमीलनं नामाज्ञानम्, यथाहुः । श्रुतिस्मृती उभे नेत्रे विप्राणां परिकीर्त्तिते । एकेन विकलः काणो द्वाभ्यामन्धः प्रकीर्त्तितः, इति । अज्ञात्वापीत्यर्थः । यथा पदन्यासस्थान-मतिक्रम्य शीघ्र परतः पदन्यासेन गति र्धावनं तद्वदत्रापि किञ्चित् किञ्चिदतिक्रम्य अति शीघ्रानुष्ठानं धावनम् । तथानुतिष्ठन्नपि न स्खलेत् न प्रत्यवायी स्यात् । तथा न पतेत्-फलात् न भ्रश्येत्, ब्राह्मणादीनामुक्तानपि धर्मान् कांश्चिदकुर्वाणो भागवतान् धर्मान् श्रवण कीर्त्तनादीन् कुर्वाणस्तत् फलं प्राप्नुयादित्यर्थः ।।३५।।

भक्ति तत्त्वानभिज्ञ जन गण के प्रति प्रसन्न होकर श्रीभगवान् स्वयं को प्राप्त कराने के निमित्त निज मुख से जिस उपाय को कहे हैं, उस को भागवत धर्म कहते हैं । यहाँ, श्रीभगवत् कथित उपाय समूह— भागवत धर्म का स्वरूप लक्षण हैं । एवं भगवत् प्राप्ति तटस्थ लक्षण है ।

हे राजन् ! मनुष्य मात्र विश्वस्त चित्त से जिस भागवत धर्म को अवलम्बन कर विघ्न से अभिभूत नहीं होते हैं । एवं जिस भागवत धर्म मार्ग में अवस्थित होकर जन समूह श्रुति एवं स्मृति रूप नयनद्वय को मुद्रित करके धावित होने पर भी मार्ग से स्खलित नहीं होते हैं ।

भागवत धर्म किस को कहते है ? उसको कहते हैं—

"कायेन वाचा मनसेन्द्रियै र्वा बुद्ध्यात्मना वानुसृतस्वभावात् ।
करोति यत् यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत् तत् ।।३६।।

टीका—ननु के ते भागवत धर्माः ? ईश्वरार्पितानि सर्वाणि कर्म्माण्यपीत्याह कायेनेति । आत्मना चित्तेनं अहङ्कारेण वा । अनुसृतो यः स्वभावस्तस्मात् । अयमर्थः, न केवल विधितः कृतमेवेति नियमः स्वभावानुसारिलौकिकमपीति । तथाच भगवद् गीतासु—यत् करोषि यदश्नासियज्जुहोषि ददासि यत् । तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्वमदर्पणमिति । यद्वा-ननु कायादीनामेव कर्मनात्मन इत्य शङ्क्य ह-अध्यासेनानु-सृतात् ब्राह्मणत्वादि स्वभावावात् यत् यत् करोतीत्यर्थः । तत् सकलं परस्मै परमेश्वराय नारायणायेति समर्पयेत् । तथासति सकलमपि कर्म भागवतो धर्मो भवतीति भ वः ।।३६।।

यावत् पर्य्यन्त सत्सङ्ग के द्वारा विशुद्ध भागवत धर्म में दृढ़ श्रद्धा का उदय नहीं होता है, तावत् पर्य्यन्त विधिपूर्वक काय, वाक्य मन, इन्द्रिय एवं बुद्धि के द्वारा देहाभिनिवेश वशतः जो भी कर्म्माचरण होगा, एवं स्वाभाविक जो सब कर्माचरण होगी, उक्त समस्त कर्म परमेश्वर श्रीनारायण को अर्पण करे । यह तीन श्लोक का उल्लेख श्रीकवियोगीन्द्रने प्रश्न के उत्तर रूप में किया । अनन्तर भा० ११।२।३७ में कहा—

"भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यादीशादपेतस्य विपर्य्ययोऽस्मृतिः ।
तन्माययातो बुध आभजेत् तं भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा ।।"

टीका—"ननु किमेवं परमेश्वर भजनेन ? अज्ञान कल्पितभयस्य ज्ञानैक निवर्त्त्यत्वादित्याशङ्क्याह—भयमिति । यतोभयं तन्मायया भवेत्, अतो बुद्धो बुद्धिमांस्तमेव आभजेत् । ननु भयं देहाद्यभिनिवेशतो भवति, स च देहाहङ्कारतः, स च स्वरूपास्मरणात् किमत्र तस्य माया करोति, अत आह— ईशादपेतस्येति ईशविमुखस्य तन्मायया अस्मृति र्भगवतः स्वरूपास्फूर्त्ति स्ततो विपर्य्ययो देहोऽस्मीति, ततो द्वितीयाभि निवेशाद्भयं भवति । एवं हि प्रसिद्धं लौकिकीष्वपि मायासु । उक्तञ्च भगवता—"दैवी ह्येषा गुणमयी मममाया दुरत्यया । मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते" इति । एकया— अव्यभिचारिण्या भक्त्या,

श्रवण-कीर्त्तनादि-लक्षणत्वम्, 'एकया' इत्यनेन नैरन्तर्य्यलक्षणमव्यभिचारित्वं चोपदिष्टम् ॥

६० । तत्र यद्यपि (भा० ११।२।३६) "कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा" इत्यादि-प्राक्तन-वाक्ये लौकिकस्यापि कर्म्मणो भगवदर्पणाद्भागवतधर्म्मत्वं सिध्यतीति यथोक्तं तथा नैरन्तर्य्यमपि सम्भवति, तथापि श्रवण-कीर्त्तनादिलक्षणमात्रत्वं व्याहन्येत, तस्मात्तत्राव्यभिचारित्वं तन्मात्रत्वञ्च यथा भवेत्तथोपाय तदनन्तरमाह द्वाभ्याम् । तत्र प्रथममव्यभिचारित्वोपायमाह प्रथमेन (भा० ११।२।३८) —

(६०) "अविद्यमानोऽप्यवभाति हि द्वयो, ध्यातुर्धिया स्वप्न-मनोरथौ यथा ।
तत् कर्म्मसङ्कल्पविकल्पकं मनो, बुधो निरुन्ध्यादभयं ततः स्यात् ॥" ६७॥

द्वयः प्रधानादि-द्वैतप्रपञ्चो यद्यप्यविद्यमान आत्मनि शुद्धे न विद्यत एवेत्यर्थः; तथापि

भजेत् । किञ्च-गुरुदेवतात्मा, गुरुरेव देवता ईश्वर, आत्मा प्रेष्ठश्च यस्य, तथादृष्टिः सन्नित्यर्थः ॥३७॥

इस श्लोक में "बुध आभजेत्तं" प्रयोग है, अर्थात् विज्ञजन, उन माया नियामक परमेश्वर का ही सम्यक् भजन करें एवं "भक्त्यैकयेशं" पद के द्वारा एकान्त भक्ति के द्वारा उनका भजन करें । इससे सुस्पष्ट बोध होता है कि—ज्ञानाद्यमिश्रा श्रवण कीर्त्तनादि लक्षणा भक्ति का विधि न ही हुआ है । उक्त भक्ति में "एकया" विशेषण प्रयुक्त होने से उक्त श्रवण कीर्त्तनादि का नैरन्तर्य्य अव्यभि चारित्व का प्रकाश भी हुआ है ॥५९॥

६० । भा० ११।२।३६ में लिखित "कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा श्लोक के अनुसार काय, वाक्य, मन एवं इन्द्रिय समूह के द्वारा अनुष्ठित शास्त्रीय एवं लौकिक कर्म्म समूह का अर्पण भगवान् को करने से वह भागवत धर्म होता है । इस में नैरन्तर्य्य भी सम्भव है, अर्थात् सर्वदा कर्म करना जीव का स्वभाव है । तथापि केवल श्रवण कीर्त्तनादि लक्षणा भक्ति का अनुष्ठान ही सर्वदा करे । इस में विरोध उपस्थित होता है । तज्जन्य श्रवण कीर्त्तनादि लक्षणा भक्ति का अव्यभिचारित्व, अर्थात् सार्वदिकत्व को कहते हैं, एवं केवल मात्र भगवद् भक्ति का ही अनुष्ठान करे—ज्ञान कर्मादि का अनुष्ठान न करे— इस को कहते हैं । जिस प्रकार से सर्वदा भक्ति अनुष्ठान किया जा सकता है, एवं केवल मात्र भक्ति अनुष्ठान में रत होना सम्भव होता है, उसका उपाय, अग्रिम श्लोकद्वय के द्वारा कहते हैं ।

उस के मध्य में सर्वदा भगवान् में चित्त स्थिर हो, अर्थात् लय, विक्षेपादि द्वारा भगवान् से चित्त विचलित न हो, उसका उपाय भा० ११।२।३८ प्रथम श्लोक के द्वारा कहते हैं ।

(६०) "अविद्यमानोऽप्यवभाति हि द्वयो, ध्यातुर्धिया स्वप्न-मनोरथौ यथा ।
तत् कर्म्मसङ्कल्पविकल्पकं मनो, बुधो निरुन्ध्यादभयं ततः स्यात् ॥" ६७॥

टीका—ननु विषय विक्षिप्त चित्तस्य कुतोऽव्यभिचारिणी भक्तिः सम्भवति कुतस्तरामभयं ? तत्र न तावद्विषयोनाम वास्तवोऽस्ति किन्तु मनोविलासोमात्रम्, अतो मनोनियमनेन भजनात् अभयं स्यादित्याह अविद्यमानोऽपीति । द्वयम्—द्वैत प्रपञ्च ध्यातुः पुंसोधिया—मनसा, स्वप्नश्च मनोरथश्च यथेत्यर्थः । तत्-तस्मात् कर्माणि, सङ्कल्पयति विकल्पयति च यन्मनस्तन्निरुध्यात्—नियच्छेत् । ततश्चैकया भक्त्या भजनादभयं स्यादित्यर्थः ॥३८॥

जिस का चित्त, विषय वासना से विक्षिप्त है, उस के पक्ष में श्रीभगवान् में अव्यभिचारिणी भक्ति कैसे हो सकती है ? अर्थात् विक्षिप्त चित्त व्यक्ति, श्रीभगवान् को हृदय में कैसे स्थापन कर सकता है ?

ध्यातुरविद्यामयध्यानयुक्तस्य सतस्तस्य धिया अवभाति, तस्मिन् शुद्धेऽपि कल्प्यत एवेत्यर्थः, यथा स्वप्नो मनोरथश्च तथेत्यर्थः। 'तत्' तस्मात्, कर्म्माणि सङ्कल्पयति विकल्पयति च यन्मनस्तन्नियच्छेत्, ततश्चाव्यभिचारिण्या भक्त्या भजनादभयं स्यादिति भावः ॥

६१। ननु तथापि मनोनिरोधरूपेण योगाभ्यासेन भक्तिकैवल्य-व्यभिचारः स्यादित्याशङ्क्य भक्त्यैव क्रियमाणया तदासक्तत्वेन स्वत एव मनोनिरोधोऽपि स्यादिति तन्मात्रतोपायमाह द्वितीयेन (भा० ११।२।३९) --

(६१) "शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणे, र्जन्मानि कर्म्माणि च यानि लोके ।

अथच सर्वदा भगवान् को हृदय में स्थापन न करने से अभय लाभ भी नहीं होगा ? उत्तर में कवि योगीन्द्र कहते हैं। विषय नामक कोई वास्तव वस्तु नहीं है। किन्तु जड़ीय पदार्थ के सहित मानस सङ्कल्प स्थापन ही विषय है। अतएव जड़ीय पदार्थ के सहित मानस सङ्कल्प निरोध कर श्रीभगवान् का भजन करने से ही अभय प्राप्ति होती है। यद्यपि द्वैत पदार्थ की स्थिति आत्मा में नहीं है, तथापि अनवरत जड़ीय पदार्थ की सङ्कल्प कारिणी बुद्धि के द्वारा ही विषय, हृदय में प्रकाशित होता है।

जिस प्रकार स्वप्न में व्याघ्र, सर्प, रथ, प्रभृति विद्यमान न होने पर भी मानस सङ्कल्प में प्रतिभात होते हैं, अथवा जाग्रत् अवस्था में मानस अभिनिवेश होने पर विषयान्तर का ध्यान करते करते यथावस्थित देहानुसन्धान नहीं रहता है, एवं विषयान्तर में मन आविष्ट हो जाता है। व्यवहारिक विषय समूह में ही इस रीति को जानना होगा। अतएव जो सतत जड़ीय विषय का सङ्कल्प एवं विकल्प कर रहा है, उस मन को निरोध करने से ही हृदय में अव्यभिचारिणी भक्ति होती है, अर्थात् हृदय में श्रीहरि भिन्न अपर वस्तु की स्फूर्त्ति न होने के कारण, भक्ति का उदय हो सकता है, एवं उस अव्यभिचारिणी भक्ति से अभय लाभ भी होता है।

मूल श्लोकस्थ "द्वयः" शब्द का अर्थ प्रधानादि द्वैत प्रपञ्च है। यद्यपि अविद्यमान अर्थात् विशुद्ध आत्मस्वरूप में द्वैत प्रपञ्च नहीं है, इस प्रकार अर्थ जानना पड़ेगा, तथापि अविद्यामय ध्यान युक्त ध्यान कारी का सङ्कल्प सत्य रूप से प्रकाशित होता है। अर्थात् वह विशुद्ध जीव चैतन्य भी कल्पित ही हो जाता है। इस प्रकार अर्थ ही सुसङ्गत है। जिस प्रकार स्वप्न में एवं मनोरथ में वस्तुतः केवल मानस सङ्कल्प के आवेश से असत् पदार्थ सत् रूप में प्रतिभात होकर मन प्रभाव विस्तार करता है, यहाँपर भी उस प्रकार जानना होगा। अतएव विविध कर्म का सङ्कल्प कारी एवं विकल्प कारी मनको नियन्त्रित करे। मन को संयत करने में समर्थ होने पर अव्यभिचारिणी भक्ति के द्वारा भगवान् का भजन करने से अभय उपस्थित होता है। उक्त श्लोक का यह अभिप्राय है ॥६०॥

६१। इस प्रकार कथन से सन्देह उपस्थित होता है कि---योगाभ्यास का लक्ष्य है, मनोनिरोध, उक्त योगाभ्यास का अनुशीलन करने से अव्यभिचारिणी भक्ति नहीं होगी। कारण, केवलाभक्ति, विलीन होकर योगमिश्रा भक्ति में पर्य्यवसित होगी। इस प्रकार संशय करके कहते हैं—,अनुष्ठित भक्ति के द्वारा श्रीभगवान् में आसक्ति होने से अथवा भजनानुष्ठान में आसक्ति होने से उस से ही स्वभावतः मनोनिरोध होता है। इस अभिप्राय से ही केवल भक्ति मात्र को ही उपाय मान कर भा० ११।२।३९ में श्रीकवियोगीन्द्र ने कहा—

(६१) "शृण्वन् सुभद्राणिरथाङ्गपाणे, र्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके।

गीतानि नामानि तदर्थकानि, गायन् विलज्जो विचरेदसङ्गः ॥"९८॥

टीका च—"तदर्थकानि तानि जन्मानि कर्म्माणि चार्थो येषां तानि नामानि । एतान्यपि साकल्येन ज्ञातुमशक्यानीत्याशङ्क्याह—यानि लोके गीतानि प्रसिद्धानि, तानि शृण्वन् गायंश्च विचरेत् । असङ्गो निस्पृहः" इत्येषा ॥ श्रीकविर्विदेहम् ॥

६२। अग्रे च कर्म्मादीन् परिहरन् साक्षाद्भक्तिमेव विधत्ते (भा० ११।३।४४-४७)—

(६२) "परोक्षवादो वेदोऽयं बालानामनुशासनम् ।
कर्म्ममोक्षाय कर्म्माणि विधत्ते ह्यगदं यथा ॥९९॥
नाचरेद्यस्तु वेदोक्तं स्वयमज्ञोऽजितेन्द्रियः ।
विकर्म्मणा ह्यधर्म्मेण मृत्योर्मृत्युमुपैति सः ॥१००॥
वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे ।

गीतानि नामानि तदर्थकानि, गायन् विलज्जो विचरेदसङ्गः ॥"९८॥

टीका—"एतदत्यन्ताशक्यमित्याशङ्क्य सुगमं मार्गमाह—शृण्वन्निति । तदर्थकानि, तान्येव जन्मानि कर्माणि च अर्थो येषां तानि । एतान्यपि साकल्येन ज्ञातुमशक्यानीत्याशङ्क्याह । यानि लोके गीतानि प्रसिद्धानि तानि शृण्वन् गायंश्च विचरेत् । असङ्गो निःस्पृहः ॥

हे राजन् ! चक्रपाणि श्रीकृष्ण के समस्त कर्म, एवं जो सब जन्म कर्म लौकिक भाषा में निबद्ध हैं, उन सब नामों का तात्पर्य्य श्रीभगवान् श्रीकृष्ण ही हैं, उन सब नाम का श्रवण एवं गान करते करते लोकापेक्षा रहित होकर सर्वत्र अनासक्त भाव से विचरण करे ।

श्लोकोक्त "तदर्थकानि" शब्द का अभिप्राय यह है,—जो सब नामों का तात्पर्य्य, शब्दार्थ मूलक कर्म में है, एवं भगवान् के उन सब जन्म में ही है, उनसब नामों का श्रवण, एवं गान करते करते निर्लज्ज होकर अर्थात् लोक मुझ को क्या कहेगा, इस प्रकार लोक समर्थन प्राप्त करने की अपेक्षा नहीं रहती है । इस अवस्था में विचरण करे । इस में संशय उपस्थित होता है कि—श्रीभगवान् के नाम, जन्म, कर्म, प्रभृति अनन्त हैं, अतएव परिपूर्ण रूप से श्रीकृष्ण के नाम, जन्म, कर्म्म को कोई नहीं जान सकते हैं ? इस प्रकार आशङ्का परिहार हेतु कहते हैं,—"यानि लोके गीतानि" अर्थात् भगवान् के जो जन्म, कर्म, नाम लोक में प्रसिद्ध हैं, उन सब नामों का श्रवण एवं गान करते करते विचरण करे । उक्त जन्म, कर्म, नाम समूह का श्रवण, गान करते करते ही सर्व वासना का क्षय होगा । "असङ्ग" शब्द का अर्थ निःस्पृह है । अर्थात् उक्तानुशीलन के द्वारा विनिमय पद्धति से जागतिक नश्वर वस्तु संग्रह की इच्छा को परित्याग करे । अन्यथा प्रसिद्ध रीति से त्याग के परिवर्त्त में लोक समर्थन प्राप्त होगा, ईश्वर प्रीति नहीं ।

श्रीकवि-विदेह को कहे थे ॥६१॥

६२। अग्रिम ग्रन्थ में काम्य कर्मादि का परि हार करते हुये साक्षात् भक्ति का ही प्रति पादन करते हैं। भा० ११।३।४४-४७

(६२) "परोक्षवादो वेदोऽयं बालानामनुशासनम् ।
कर्म्ममोक्षाय कर्म्माणि विधत्ते ह्यगदं यथा ॥९९॥
नाचरेद्यस्तु वेदोक्तं स्वयमज्ञोऽजितेन्द्रियः ।
विकर्म्मणा ह्यधर्म्मेण मृत्योर्मृत्युमुपैति सः ॥१००॥

नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः ॥१०१॥

य आशु हृदयग्रन्थिं निर्जिहीर्षुः परात्मनः ।

विधिनोपचरेद्देवं तन्त्रोक्तेन च केशवम् ॥" १०२॥ इत्यादि ।

परोक्षेति टीका च — "यत्रान्यथा स्थितोऽर्थः संगोपयितुमन्यथाकृत्वोच्यते, स परोक्षवादः, तथा च श्रुतिः (ऐत० १।३।१४) " तं वा एतं चतुर्होतं सन्तं चतुर्होतेत्याचक्षते परोक्षेण । परोक्षप्रिया इव हि देवाः" इति । परोक्षवादत्वमेवाह--कर्म्ममोक्षायेति । ननु स्वर्गाद्यर्थं कर्म्माणि विधत्ते, न कर्म्म मोक्षार्थम्, तत्राह--बालानामनुशासनं यथा तथा । अत्र दृष्टान्तः--

---

वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे ।

नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः ॥१०१॥

य आशु हृदयग्रन्थिं निर्जिहीर्षुः परात्मनः ।

विधिनोपचरेद्देवं तन्त्रोक्तेन च केशवम् ॥"१०२॥ इत्यादि

टीका—दुर्ज्ञेयं वेद तात्पर्य्यमाह—परोक्षवाद इति । यत्रान्यथा स्थितोऽर्थः सङ्गोपयितुमन्यथा कृत्वोच्यते स परोक्षवादः । तथा च श्रुतिः । तं वा एतं चतुर्हूतं सन्तम् । चतुर्होतेत्याचक्षते परोक्षेण । परोक्ष प्रिया इव हि देवा इति । परोक्षवादत्व मेवाह—कर्ममोक्षायेति । ननु स्वर्गाद्यर्थं कर्माणि विद्यते न कर्म-मोक्षार्थं तत्राह- बालानामनुशासनं यथा भवति तथा । अत्र दृष्टान्तः । अगदमौषधम् । यथा पिता बालम् अगदं पाययन् खण्डलड्डुकादिभिः प्रलोभयन् पाययति ददाति च तानि । नैतावता अगदपानस्य तल्लाभः प्रयोजनम्, अपितु आरोग्यम् । तथा वेदोऽप्यवान्तर फलैः प्रलोभयन् कर्ममोक्षायैव कर्माणि विधत्ते ।४४॥

अन्य उद्देश्य से जो कुछ कहा जाता है, उसे परोक्षवाद कहते हैं, श्रुति का कथन भी उस प्रकार ही होता है । चार आहूति जिस में है, उस को चतुहोता कहते हैं । परोक्ष भाव से प्रसङ्ग करना ही परोक्ष प्रिय वेद का स्वभाव है । वह परोक्ष वाद क्या है ? अर्थात् वेद काम्य कर्म का कथन किस अभिप्राय से करते हैं—उसको कहते है, "कर्म्म मोक्षाय" अर्थात् कर्मासक्ति परित्याग हेतु कर्मानुष्ठान करने के निमित्त वेद आदेश करते हैं। कह सकते हैं कि—वेद,—स्वर्गादि फल प्राप्ति हेतु भूरि भूरि काम्य कर्म्माचरण का उपदेश देते हैं, कर्मासक्ति त्याग हेतु वेद का कोई आदेश तो है ही नहीं है । इस प्रकार आक्षेप निरसन हेतु कहते हैं, 'बालानां अनुशासन" अर्थात् पिता, जिस प्रकार बालक को औषध सेवन कराने के निमित्त खण्डलड्डुकादि द्वारा प्रलोभित करके औषध सेवन कराते हैं। उक्त खण्डलड्डुकादि प्रदान करना अथवा औषध सेवन कराना ही पिता का उद्देश्य नहीं है, किन्तु व्याधि से निर्म्मुक्त करना ही पिता का मुख्य तात्पर्य्य है, उस प्रकार वेद भी आनुषङ्गिक फल समूह की वार्त्तावली का उल्लेख द्वारा प्रलोभित करके कर्मासक्ति त्याग कराने के अभिप्राय से ही काम्य कर्मानुष्ठान करने का आदेश देते हैं। अनन्तर 'नाचरेत् यस्तु" का अर्थ करते हैं । उक्त कथन से जिज्ञासा हो सकती कि—काम्य कर्म परित्याग करना ही यदि पुरुषार्थ होता है तो, प्रथम अवस्था से ही कर्म त्याग का विधान क्यों नहीं देते हैं ? उत्तर में कहते हैं— "नाचरेत् यस्तु वेदोक्त" मानव जब तक अज्ञ रहेगा,—अर्थात् श्रीभगवत् कथा श्रवण कीर्त्तनादि में दृढ़ विश्वास प्राप्त नहीं करेगा, तब तक उस को काम्य कर्म्म करना पड़ेगा । श्लोकस्थ "अज्ञः" पद का अर्थ ज्ञा जिसका, नहीं है, अर्थात् श्रीहरि कथा में जिसका विश्वास नहीं है । इस प्रकार अर्थ किया गया है, अतएव श्रीहरि कथा श्रवणादि में श्रद्धा न होने के कारण भक्ति में प्रवृत्ति नहीं होता है। उस प्रकार ही अजितेन्द्रिय अर्थात् ब्रह्म जिज्ञासु होकर पारमेष्ठ्यसुख पर्य्यन्त योग में विरक्ति यदि नहीं होती है, तो

अगदमौषधम्, यथा पिता बालमगदं पाययन् खण्डलड्डुकादिभिः प्रलोभयन् पाययति ददाति च तानि खण्डलड्डुकादीनि, नैतावता अगदस्य तल्लाभः प्रयोजनमपि त्वारोग्यम्, तथा वेदोऽप्यवान्तरफलैः प्रलोभयन् कर्म्ममोक्षायैव कर्म्माणि विधत्ते" इत्येषा। नाचरेदिति टीका च –"ननु कर्म्ममोक्षश्चेत् पुरुषार्थस्तर्हि प्रथममेव कर्म्म त्यज्यताम्, अत आह--नाचरेदिति" इत्येषा। 'अज्ञः' न विद्यते 'ज्ञा' श्रीभगवतः कथाश्रवणादौ श्रद्धा-लक्षणा धीर्वृत्तिर्यस्य सः, अतएव तस्मिन् न प्रवर्त्तत इत्यर्थः। तथैवाजितेन्द्रियो ब्रह्मजिज्ञासुः सन् पारमेष्ठ्य-पर्य्यन्त-भोगे विरक्तो वा न भवतीत्यर्थः, (भा० ११।२०।९) "तावत् कर्म्माणि कुर्वीत" इत्यादौ परस्पर निरपेक्षयोः श्रद्धाविरक्तयोर्द्वयोरेव तत्तन्मर्य्यादात्वेनोक्तेः। विकर्म्मणा विहिताकरणरूपेण मृत्योरनन्तरं मृत्यु मरणतुल्यां यातनामुपैति, पुनः पुनर्मरणमुपैति यातनाञ्चोपैतीत्यर्थः। अतस्तेषां विहित-कर्म्मत्यागे कथञ्चिन्न निस्तारः। ईश्वरप्रयोजक-कर्त्तृकस्य कर्म्मण ईश्वरार्पणलक्षण-यथार्थानुष्ठानेन तत्प्रसादे त्वसौ सुतरामेव स्यादित्याह-वेदोक्तमिति। तस्माद्-

---

मनुष्यमात्र का अवश्य कर्त्तव्य है कि वह वेदोक्त काम्य कर्मानुष्ठान अवश्य करे। कारण—भा० १०। २०।९ में उक्त है॥

"तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथा श्रवणादौवा श्रद्धा यावन्नजायते॥"

टीका – "सावधि कर्मयोगमाह। तावदिति नवभिः। कर्माणि–नित्यनैमित्तिकानि। यावता यावत्॥"

हे उद्धव! तावत् काल पर्य्यन्त ज्ञानी को काम्यकर्म करना पड़ेगा, यावत् काल पर्य्यन्त पारमेष्ठ्य सुखादि में हेय बुद्धि नहीं होती। भक्त को भी तब तक काम्य कर्मानुष्ठान करना होगा जब तक श्रीभागवत् कथा श्रवण कीर्त्तनादि में दृढ़ विश्वास उत्पन्न नहीं होता है, उक्त श्लोक में लिखित-श्रद्धा एवं विरक्ति पदद्वय—परस्पर निरपेक्ष हैं। अर्थात् श्रद्धा, विरक्ति की अपेक्षा नहीं रखती है, एवं विरक्ति भी श्रद्धा की अपेक्षा नहीं रखती है। श्रद्धा एवं विरक्ति को इस प्रकार सीमा निर्दिष्ट है। अर्थात् ऐहिक पारलौकिक समस्त सुख में विरक्ति जब तक नहीं होती है, तब तक ज्ञानी को काम्य कर्मानुष्ठान करने के निमित्त आदेश दिया है। श्रीहरि कथा श्रवणादि में जब तक श्रद्धा नहीं होती है, तब तक काम्य कर्मानुष्ठान करने के निमित्त भक्त को आदेश दिया गया है। उक्त ज्ञानी एवं भक्त—यदि सीमा प्राप्त न कर अर्थात् ब्रह्म जिज्ञासु ज्ञानी, ऐहिक पारत्रिक सुखभोग में विरक्त न होकर काम्य कर्म त्याग करता है, एवं भक्त, श्रीहरि कथा श्रवण कीर्त्तनादि में श्रद्धा प्राप्त न कर काम्य कर्म परित्याग करता है तो, वेद विहित कर्म का अननुष्ठान वशतः विकर्मानुष्ठान दोष होता है, उस से मृत्यु के पश्चात् मृत्युरूप यातना भोगनी पड़ती है, अर्थात् पुनः पुनः मृत्यु एवं जन्म यातना मिलती रहती है। उक्त श्लोक का इस प्रकार अर्थ समझना होगा। अतएव कर्मत्याग विषय में अनधिकारी व्यक्ति वेद विहित कर्म परित्याग करने पर किसी प्रकार से निस्तार नहीं है। जिस कर्म का प्रयोजक कर्त्ता ईश्वर हैं, उस कर्म का अर्पण ईश्वर में करने से उस कर्म का अनुष्ठान यथार्थ होता है, अतएव श्रीभगवत् प्रसन्नता प्राप्त करने से मृत्यु यातना का भोग नहीं होता है। उक्त विवरण का कथन "वेदोक्तमेवकुर्वाणः' श्लोक के द्वारा करते हैं। उस की व्याख्या करते हैं,-अतएव वेदोक्त कर्माचरण ही करे। कभी भी वेद निषिद्ध कर्माचरण न करे। एवं उक्त वेद विहित कर्म फल भगवान् को अर्पण करने से कर्म बन्ध का अगोचर नैष्कर्म्य लाभ होता है। अर्थात् श्रीभगवान् में कर्मार्पण कर

वेदोक्तमेव कुर्वाणो न तु निषिद्धम्, नैष्कर्म्म्यां कर्मबन्धागोचरतारूपां सिद्धिं लभते। ननु कर्मणि क्रियमाणे तस्मिन्नासक्तिस्तत्फलञ्च स्यात्, न तु नैष्कर्म्मरूपा सिद्धिरत आह-निःसङ्गोऽनभिनिवेशवान्। ईश्वरे तन्निमित्तमेव तत्रार्पितम्, न तु फलोद्देशेन। ननु फलस्य श्रुतत्वात् कर्मणि कृते फलं भवेदेव, न, रोचनार्थेति कर्मणि रुच्युत्पादनार्था, अगदपाने खण्डलड्डुकादिवत्। ततश्च कर्माभिरुच्या वेदार्थं सम्यग्विचारयति। तदा च, (वृ० ३।८।१०) "यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्माल्लोकात् प्रैति स कृपणः" इत्यनेनाब्रह्मज्ञस्य कृपणताम्, (वृ० ४।४।२२) "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति ब्रह्मचर्य्येण" इत्यादिना यज्ञादीनां ज्ञानविशेषताञ्चावधार्य्य निष्कामेषु कर्मसु प्रवर्त्तते। ततः 'स्वर्गकामो यजेत" इत्यादिभिः कामितस्यैव स्वर्गादेः फलत्वेनावगमादकामितोऽसौ न भवतीति नैष्कर्म्यसिद्धिः स्वतः एव भवतीति स्थिते किमुत श्रीमदीश्वरार्पणेन तत्प्रसादे सतीत्यर्थः। तदेवं विलम्बेनैव नैष्कर्म्य-

---

कर्मानुष्ठान करने से कर्म बन्धन निवृत्त हो जाता है, एवं ऐहिक पारलौकिक सुख भोग में वितृष्णा होती है। संशय हो सकता है कि—कर्म करने से ही कर्म में आसक्ति अवश्य होती है एवं उक्त कर्मानुष्ठान जनित फललाभ भी अवश्यम्भावी है। अतः कर्म बन्ध निवृत्ति एवं विषय वितृष्णा रूप सिद्धि लाभ कैसे सम्भव होगा? उत्तर में कहते हैं। "निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे" निःसङ्ग- अभिनिवेश शून्य होकर कर्म करे। एवं उक्त कर्म का फल ईश्वर सन्तोष ही है, इस प्रकार सङ्कल्प मन में रखना चाहिये। किन्तु अपर किसी प्रकार फल प्राप्ति की अभिसन्धि से कर्म न करे।

कह सकते कि—शास्त्रोक्त कर्म फल समूह की प्राप्ति कर्मानुष्ठान कारी को अवश्य होगी कारण, शास्त्रोक्त कर्म फल कथन सत्य है। उत्तर में कहते हैं-नहीं, भगवत् सन्तोषार्थ कर्मानुष्ठान करने से उस कर्म का फल भगवत् सन्तोष ही होगा, अन्य फल नहीं होगा। तब शास्त्र में जो फल वर्णन है, वह अज्ञ व्यक्ति को कर्म में प्रवृत्त कराने के निमित्त है, औषध सेवन में बालक को खण्डलड्डुकादि से लुब्ध कराने के समान है। कर्मानुष्ठान में अभिरुचि उत्पन्न होने से वेद तात्पर्य्य का सम्यक् आलोचन करने की योग्यता होती है। उस समय "योवा कृपणः तमेतं" प्रभृति श्रुतिका अवलोकन होता है-अर्थात् हे गार्गी! जो व्यक्ति परमात्मा को न जानकर इस लोक से चला जाता है वह कृपण है, अर्थात् आत्मवञ्चक है। इस प्रकार श्रुति के द्वारा विभु चैतन्य विषयक ज्ञान हीन जन कृपण होता है। एवं ब्राह्मणगण' उन परमात्मा को वेदानु वचन के द्वारा जानने की इच्छा करते हैं। ब्रह्मचर्य्य प्रभृति अनुष्ठान के द्वारा यथार्थतः परमात्म तत्त्व ज्ञान लाभ नहीं होता है, इस रीति से श्रुति की समालोचना करने पर बोध होता है कि—यज्ञादि कर्म का पर्य्यवसान ज्ञान में ही है। इस प्रकार विशेष उपलब्धि होने पर निष्काम कर्म में प्रवृत्ति होती है। अर्थात् कर्मानुष्ठान के निमित्त वैदिक आदेशों का तात्पर्य्य है, निष्काम भाव से कर्मानुष्ठान करना इस रीति से कर्मानुष्ठान करते करते ब्रह्म तत्त्व ज्ञात होने का अधिकार होता है।

अतएव "स्वर्गकामो यजेत" अर्थात् स्वर्गलाभ हेतु कामना करके यज्ञ करे, इत्यादि श्रुति वाक्य के द्वारा स्वर्ग कामना का जो उल्लेख है, उसका तात्पर्य्य यह है कि जो स्वर्गप्राप्ति हेतु कामना करके कर्म करता है, उस की स्वर्ग प्राप्ति हो तो, किन्तु जो व्यक्ति स्वर्ग प्राप्ति की कामना नहीं करता है, उस के पक्ष में स्वर्ग फल रूप में उपस्थित नहीं होगा। एतज्जन्य निष्काम साधक, स्वभावतः ही नैष्कर्म्यसिद्धि सम्पन्न होता है, अर्थात् ऐहिक पारलौकिक सुख भोग के प्रति वितृष्ण होता है। इस प्रकार सिद्धान्तस्थिर होने पर

सिद्धेर्हेतुमुक्त्वा, (भा० ४।३१।१४) "यथा तरोर्मूलनिषेचनेन" इति न्यायेन सर्व्वधर्म्मपर्य्याप्ति-हेतुं नैष्कर्म्यसिद्धिसाध्य-हृदयग्रन्थिभेदनस्यापि शीघ्रोपायं स्वातन्त्र्येणाह—य आश्विति: य आशु शीघ्रमेव देहद्वयात् परस्यात्मनो जीवस्य हृदयग्रन्थिं देहाहङ्कारं निर्हर्त्तुमिच्छुर्भवति स त्वन्यत् कर्मादिकं स्वरूपतः एव त्यक्त्वा तन्त्रोक्तेनागम-मार्गेण, च-कारादृवेदोक्तेन च विधिना प्रकारेण केशवं देवमर्चयेत् ॥

६३। अन्यदेवदृष्टिपरित्यागार्थस्तथोपसंहारश्च (भा० ११।३।५५)—

(६३) "एवमग्न्यर्कतोयादावतिथौ हृदये च यः।
यजेदीश्वरमात्मानमचिरान्मुच्यते हि सः॥"१०३॥

आत्मानं परमात्मानम् ॥ श्रीमदाविर्होत्रो विदेहम् ॥

६४। अग्रे च व्यतिरेक-मुखेन (भा० ११।५।१)—

सर्वशक्ति युक्त श्रीभगवान् में निखिल कर्म समर्पण द्वारा श्रीभगवान् सु प्रसन्न होने पर जो निष्काम भाव लाभ होगा, इस में सन्देह क्या है ?

निष्काम भाव प्राप्ति के हेतु का जो उल्लेख हुआ है, उस से बहु काल के पश्चात् निष्काम भाव का लाभ होता है। किन्तु भा० ४।३१।१४ में वर्णित है—"यथा तरोर्मूल निषेचनेन" अर्थात् वृक्ष मूल में जल सेचन करने पर शाखापल्लवादिका सन्तोष होता है। इस नीति से स्वतन्त्र भाव से अतिसत्वर सर्वधर्म फल प्राप्ति का एकमात्र हेतु श्रीविष्णु सन्तोष है, एवं निष्काम भाव सिद्धिका फल स्वरूप हृदयस्थ जड़चेतन ग्रन्थिच्छेदन करने का निर्दुष्ट उपाय भी वही है। उस को ११।३।३७ में आविर्होत्र कहते हैं—

"य आशु हृदय ग्रन्थिं निर्जिजर्हीषु परात्मनः।
विधिनोपचरेद्देवं तन्त्रोक्तेन च केशवम्।"

हे राजन्! जो अतिसत्वर स्थूल सूक्ष्म देहद्वय से अतिरिक्त जीवात्मा की देहग्रन्थी, देहाहङ्कार को छेदन करने का अभिलाषी है। उसको चाहिये कि वह आगमशास्त्र वर्णित उपाय के द्वारा एवं "तन्त्रोक्तेन च केशवम्" 'च' कार प्रयोग से अर्थ होता है कि वेदोक्त विधि के द्वारा आराध्यतम श्रीकृष्ण की अर्च्चना करे। उक्त श्लोक केशव पद के विशेषण रूप में 'देव' पद का उल्लेख हुआ है, कारण—भा० १०।४।३९ में "मूलं हि विष्णुर्देवानाम्" श्रीविष्णु ही समस्त देवताओं का मूल हैं। उनकी उपासना करने से समस्त देवता की उपासनासम्पन्ना होती है। अन्य देवता के प्रति आराध्य बुद्धि न रखे ॥६२॥

६३। उपसंहार वाक्य में भी आविहोत्र ने कहा—हे राजन्! मैंने जिस प्रकार वैदिक तान्त्रिक अर्च्चना की कथा कही है। उस प्रकार जो व्यक्ति, अग्नि, सूर्य्य जल, प्रभृति में एवं अतिथि में निज हृदय में परमात्मा स्वरूप श्रीभगवान् की उपासना करता है, वह सत्वर माया बन्धन से मुक्त हो जाता है, इस विषय में कोई संशय नहीं है। अन्यत्र उपास्य बुद्धि परित्याग पूर्वक ईश्वर, आत्मास्वरूप श्रीविष्णु की उपासना करे। भा० ११।३।५५

(६३) "एवमग्न्यर्कतोयादावतिथौ हृदये च यः।
यजेदीश्वरमात्मानमचिरान्मुच्यते हि सः॥" १०३॥

"आत्मानं"—शब्द का अर्थ--परमात्मा है। उनकी उपासना करे।

श्रीमदाविर्होत्र विदेह को कहे थे ॥६३॥

"भगवन्तं हरिं प्रायो न भजन्त्यात्मवित्तमाः ।
तेषामशान्तकामानां का निष्ठाऽविजितात्मनाम् ॥१०४॥

इत्येतत्प्रश्नोत्तरम् (भा० ११।५।२-३)—

(६४) "मुखबाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह ।
चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक् ॥१०५॥
य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम् ।
न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद्भ्रष्टाः पतन्त्यधः ॥"१०६॥

पूर्वं श्रीद्रुमिलोपदेशेऽपि देवकृत-श्रीनारायणस्तुतौ (भा० ११।४।१०) —

६४। अग्रिम ग्रन्थ भा० ११।५।१ में व्यतिरेक मुख से श्रीविष्णूपासना का प्रतिपादन किये हैं—
"भगवन्तं हरिं प्रायो न भजन्त्यात्मवित्तमाः ।
तेषामशान्त कामानां का निष्ठाऽविजितात्मनाम् ॥१०४॥

टीका— पञ्चमे भक्ति हीनानां का निष्ठा को युगे युगे ।
पूजा विधिरिति प्रश्नद्वयस्योत्तरमुच्यते ।

त्वां सेवतां सुरकृता बहवोऽन्तराया इत्यनेन श्रीहरिभक्ता विघ्नमूर्ध्नि पदं दत्त्वा परां गतिं यान्ति। अभक्तानां तु विघ्नाभवन्ति इत्युक्ते, तर्हि तेषां का मतिर्भवतीति पृच्छति, भगवन्तमिति । हे आत्म वित्तमाः अविजितात्मनाम् अतएव सान्त कामानां का निष्ठा किं प्राप्यमित्यर्थः ॥१॥

आविर्होत्र योगीन्द्र, जिस प्रकार वैदिक एवं तान्त्रिक विधि के अनुसार श्रीविष्णूपासना की वर्णना किये हैं, उस प्रकार भा० ११।५।१ में विदेह के प्रश्नोत्तर में व्यतिरेकमुख से अर्थात् जो लोक श्रीविष्णु भक्ति नहीं करते हैं, उनकी दुर्गति का वर्णन प्रसङ्ग में भी विष्णु भक्ति का अभिधेयत्वस्थापन किये हैं। हैं। प्रश्न का अभिप्राय यह है—

हे आत्मतत्त्वज्ञ चूड़ामणि वृन्द ! प्रायशः मानवगण, भगवान् हरि का भजन नहीं करते हैं, वे सब अजितेन्द्रिय अशान्तकाम मानववृन्द की गति क्या होती है ? प्रश्नोत्तर में श्रीचमस योगीन्द्र कहते हैं भा० ११।५।२--३ में

(६४) "मुख बाहूरुपादेभ्य: पुरुषस्याश्रमैः सह ।
चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक् ॥१०५॥
य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभव मीश्वरम् ।
नभजन्त्यवजानन्ति स्थानाद् भ्रष्टाः पतन्त्यधः ॥१०६॥

टीका—स्वजनकस्य गुरोर्भगवतोऽनादराद् गुरुद्रोहेण दुर्गतिं यान्तीति वक्तुं भगवतः सकाशाद्वर्णा-श्रमाणामुत्पत्तिमाह बुधेति । गुणैः—सत्त्वेनविप्रः । सत्त्वरजोभ्यां क्षत्रियः । रजस्तमोभ्यां वैश्यः, तमसाशूद्र इति । १। एषां मध्ये ये अज्ञात्वा न भजन्ति, ये च ज्ञात्वापि अवजानन्ति । आत्मनः प्रभवोजन्म यस्मात् तम् । तदभजने कृतघ्नतामप्याह ईश्वरमिति । स्थानात् वर्णाश्रमाद् भ्रष्टाः ॥३॥

द्वितीय पुरुष के मुख से सत्त्व गुण से ब्राह्मण, सत्त्व रजोगुण से बाहु द्वारा क्षत्रिय, रजस्तमो गुण से उरुदेश से वैश्य, चरण से तमोगुण विशिष्ट शूद्र की उत्पत्ति हुई है, अर्थात् चारवर्ण की उत्पत्ति हुई है । एवं जघन देश से गृहाश्रम, हृदयदेश से ब्रह्मचर्य्य, वक्षःस्थल से वानप्रस्थ, मस्तक से सन्न्यास आश्रम की

"त्वां सेवतां सुरकृता बहवोऽन्तरायाः
स्वौको विलङ्घ्य परमं व्रजतां पदं ते ।
नान्यस्य वर्हिषि बलीन् ददतः स्वभागान्
धत्ते पदं त्वमविता यदि विघ्नमूर्ध्नि ॥"१०७॥

इत्युक्तम् । तत्र च यज्ञे स्वभागान् ददतः सुरकृता विघ्ना न भवन्ति, त्वां सेवमानानां तु मात्सर्य्येण तत्कृतास्ते भवन्ति, किन्तु 'यदि' इति निश्चये— 'यदि वेदाः प्रमाणम्' इतिवत् निश्चितमेव त्वं तेषामवितेति त्वां सेवमानो विघ्नमूर्ध्नि पदञ्च धत्ते, प्रत्युत तमेव सोपानमिव

उत्पत्ति हुई है। यह चार वर्ण एवं चार आश्रम के मध्य में जो मानव निज पिता एवं गुरु श्रीभगवान् श्रीविष्णु का भजन न करके अनादर करते हैं, वे सब पितृ द्रोही, ईश्वर द्रोही, एवं गुरुद्रोही पातकी होते हैं, उस पातक से वे सब निज निज वर्ण एवं आश्रम से अधः पतित होकर विविध प्रकार गर्भ यातना प्रभृति भोग करते रहते हैं। प्रागुक्त भा० ११।४।१० में श्रीद्रुमिल कृत उपदेश में देवगणकृत श्रीनारायण की स्तुति प्रसङ्ग में निम्नोक्त विवरण है—

"त्वां सेवतां सुरकृताबहवोऽन्तरायाः
स्वौका विलङ्घ्य परमं व्रजतां पदं ते ।
नान्यस्य वर्हिषि बलीन् ददतः स्वभागान् ।
धत्ते पदं त्वमविता यदि विघ्नमूर्ध्निः ॥१०७॥

टीका—अस्माकञ्च अपराधाचरणं स्वभावत्वात् न चित्रमित्याहुः, त्वामिति । त्वां सेवतां सेवमानां सुरैरिन्द्रादिभिः कृता अन्तराया विघ्ना भवन्ति । कस्मादित्यत आहुः स्वौक इति । स्वस्थानं-स्वर्गमतिक्रम्य परमं तव स्थानं व्रजताम् । नान्यस्य त्वामसेवमानस्य । कुतः वर्हिषि यज्ञे स्व भागान् पुरोडाशादीन् बलीन् करान् कृषकइव राज्ञे इन्द्रादिभ्यो ददतः प्रयच्छतः । तर्हि किं मद् भक्तो विघ्नैर्भ्रंश्यति नेत्याहुः, धत्ते-इति । यदीति निश्चये । यतस्त्वं सर्वसुराधीश्वरोऽविता रक्षकः अतोऽसौ विघ्नानां मूर्ध्नि पदमङ्घ्रिं धत्ते । कुतः पुनस्त्वदीय विघ्नशङ्केति भावः ॥१०॥

हे प्रभो ! जो लोक तुम्हारी सेवा करते हैं, देवगण उस में भूरि भूरि विघ्न उपस्थित करते रहते हैं। देवगण, तुम्हारे भक्त गण के प्रति विघ्न उपस्थित करते हैं— उसका कारण यह है, जो लोक तुम्हारे चरण कमल का भजन करते हैं, वे सब देवगण के निज निवास स्थल स्वर्ग लोक को अतिक्रम कर तुम्हारे परम स्थान श्रीवैकुण्ठ लोक गमन करेंगे। देव वृन्द के पक्ष में उक्ताचरण असहनीय है, अतः विघ्न उपस्थित करते हैं।

किन्तु जो लोक यज्ञादि कर्माचरण करके देवगण के प्राप्य कर प्रदान करते हैं, उनके प्रति विघ्न उपस्थित देवगण नहीं करते हैं। केवल विष्णु भक्त गण के प्रति विघ्नाचरण करते हैं, उसका कारण है— परश्रीकातरता रूप मात्सर्य्य । किन्तु उक्त विघ्नाचरण से भक्तगण की क्षति नहीं होती है. कारण, भक्तप्रिय तुम हो, समस्त निष्काम भक्त की रक्षा तुम स्वयं करते हो, अतः देवगण कृत विघ्न के मस्तकोपरि पद धारण कर वे सब आनन्दमय वैकुण्ठारोहण करते हैं।

"त्वमविता यदि विघ्नमूर्ध्नि" श्लोक में 'यदि' शब्द का प्रयोग निश्चयार्थ में हुआ है। "यदि वेदाः प्रमाणंस्युः" यहाँ जिस प्रकार यदि शब्द निश्चयार्थक है, उस प्रकार ही, यहाँ 'यदि' शब्द का प्रयोग निश्चयार्थ में हुआ है। तुम्हारे भक्त वृन्द को देवगण कृत विघ्न से अनिष्ट नहीं होता है, प्रत्युत विघ्नसमूह,

कृत्वा व्रजतीत्यर्थः । तदेवं श्रुत्वा संसार एव तिष्ठतां यत् पर्य्यवसानं भवेत्तत् पृष्टं 'भगवन्तम्' इत्यादिना । तत्रोत्तरयन् प्रथमं तेषां प्रत्यवायित्वमाह— मुख' इति पादोनद्वयेन, पर्य्यवसानमाह--'स्थानात्' इति पादेन ॥ श्रीचमसो विदेहम् ॥

६५ । अग्रे च पूर्वोक्तप्रकारेण भक्तेरेवाभिहितत्वे, भवेत्तस्य तद्विशेषप्रश्नोऽपि युक्तः, (भा० ११।५।१९) "कस्मिन् काले" इत्यादिना तथैवोत्तरितम् (भा० ११।५।२०) --

(६५) "कृतं त्रेता द्वापरञ्च कलिरित्येषु केशवः ।
नानावर्णाभिधाकारो नानैव विधिनेज्यते ॥" १०८॥

नानैव विधिना विविधेन मार्गेण ॥ श्रीकरभाजनो विदेहम् ॥

उच्चतमस्थान वैकुण्ठारोहण हेतु सोपान का कार्य्य करते हैं। विदेह महाराज, श्रीद्रुमिल के उत्तर को सुनकर श्रीचमस योगीन्द्र के निकट इस प्रकार प्रश्न की अवतारणा किये थे— "जो लोक सांसारिक सुख भोग में आविष्ट हैं, वे सब श्रीभगवान् का भजन नहीं करते हैं, वे सब अशान्त काम मनुष्यों की दुरवस्था किस प्रकार होती है, उसका वर्णन करें," प्रश्नोत्तर में योगीन्द्र ने प्रथम कहा, अभजनकारी चारवर्णी, एवं चार आश्रमी को गुरुतर प्रत्यवाय होता है, इस का वर्णन "मुखबाहूरुपादेभ्यः" श्लोक के द्वारा आप ने कहा है। अवशेष एक चरण के द्वारा किस प्रकार दुर्गति होती है, उसका वर्णन 'स्थानाद् भ्रष्टा पतन्त्यधः' के दारा करते हैं, अर्थात् वे सब निज निज वर्ण एवं आश्रम से भ्रष्ट होकर अधः पतित होते हैं। इस प्रकार दुर्गति का वर्णन उक्त श्लोक पाद के द्वारा आपने किया है।

श्रीचमस योगीन्द्र विदेह को कहे थे ।।६४।।

६५। अग्रिम अध्याय भा० ११।५।१९ में पूर्व वर्णित प्रकार से भक्ति का ही अभिधेयत्व वर्णित होगा। इस अभिप्राय से उक्त भक्ति का ही प्रकार विशेष को जानने के निमित्त प्रश्न करना भी युक्ति युक्त है।

"कस्मिन् काले स भगवान् किं वर्णः कीदृशोनृभिः ।
नाम्ना वाकेन विधिना पूज्यते तदिहोच्यताम् ॥१९॥

टीका—"तदेवं भगवद् भक्तिरेव कर्त्तव्येति स्थिते तत्र विशेषं पृच्छति, कस्मिन् काल इति । किंवर्णः, कीदृक् वर्णवान् । कीदृशः—कीदृगाकारः । केन वा नाम्ना । केन वा विधिना ।"

'किस युग में भगवान् किस आकार में, किस नाम से पूजित होते हैं, उसका वर्णन आप करें।' इस प्रकार प्रश्न करने पर श्रीकर भाजन योगीन्द्र ने उसका अनुरूप उत्तर प्रदान किया॥ भा० ११।५।२०

(६५) "कृतं त्रेता द्वापरञ्च कलिरित्येषु केशवः ।
नानावर्णाभिधाकारो नानैव विधिनेज्यते ।।" १०८।

टीका—'एषु कृतादि कालेषु । नाना प्रकारा वर्णाभिधाकारा यस्य सः । नानैव विधिना, विविधेनैव मार्गेण ॥" २०॥

हे राजन्! भगवान् श्रीकेशव, सत्य त्रेता द्वापर एवं कलि, यह चतुर्युग में, विविध वर्ण, विविध आकार, एवं विविध नाम से अभिहित होकर विविध मार्ग के द्वारा उस युगानुवर्त्ती मनुष्यगण कर्त्तृक आराधित होते रहते हैं। नानैव विधिना— शब्द का अर्थ है—विविध मार्ग के द्वारा श्रीहरि आराधित होते हैं।

श्रीकर भाजन—विदेह को कहे थे ।।६५॥

६६ । श्रीभगवदुद्धव-संवादेऽपि (भा० ११।७।६)--

(६६) "त्वन्तु सर्वं परित्यज्य स्नेहं स्वजन-बन्धुषु ।
मय्यावेश्य मनः सम्यक् समदृग् विचरस्व गाम् ।।"१०९।।

(भा० ३।४।३१) "नोद्धवोऽण्वपि मन्न्यूनः" इत्यादिभिः श्रीमदुद्धवस्य सिद्धत्वेनैव प्रसिद्धत्वात् तं लक्ष्यीकृत्य तद्द्वारान्येभ्य एवोपदेशोऽयम् । एवमन्यत्र च ज्ञेयम् । ततश्च जहल्लक्षणया त्वं त्वदीयमार्गानुगतो भक्तो विचरस्व विचरत्वित्येवार्थः । समदृक्त्वञ्च, मां विनान्यत्र हेयोपादेयत्वाभावात् । 'तु'-शब्दो वहिर्मुखनिवृत्त्यर्थः । तेनापि पूर्वमिदमभिप्रेतम् (भा० ११।६।४६-४९)

---

६६ । भा० ११।७।६ में वर्णित श्रीभगवदुद्धव संवाद में भी वर्णित है ।।

(६६) "त्वन्तु सर्वं परित्यज्य स्नेहं स्वजन बन्धुषु ।
मय्यावेश्य मनः सम्यक् समदृग् विचरस्व गाम् ।।"१०९।।

क्रमसन्दर्भ—

"अतस्तमुपलक्ष्य तदुपदेश्यान् प्रत्येवाह,—त्वन्त्विति । (भा० ३।४।३१) "नोद्धवोऽण्वपि मन्न्यूनः" इत्यादिभिः श्रीमदुद्धवस्य सिद्धत्वेनैव प्रसिद्धत्वात्तं लक्ष्मीकृत्य तद् द्वारान्येभ्य एवोपदेशोऽयम् । एवमन्यत्र च ज्ञेयम् । ततश्च जहल्लक्षणया त्वं—त्वं तदीय- मार्गानुगतो भक्तो विचरस्व- विचरत्वित्येवार्थः । समदृक्त्वञ्च-मां विनान्यत्र हेयोपादेयत्वाभावात् । तु शब्दो वहिर्मुखत्व निवृत्त्यर्थः ।।"

हे उद्धव ! तुम, स्वजन बन्धु बान्धव के प्रति सर्व प्रकार स्नेह परित्याग कर मुझ में मनोनिवेश करतः सर्वत्र समदृष्टि सम्पन्न होकर पृथिवी में विचरण करो ।। यहाँ पर अनुसन्धेय यह है कि,-श्रीभगवान् उद्धव की महिमा के प्रसङ्ग में कहे हैं कि—'श्रीउद्धव मुझ से किसी भी अंश में न्यून नहीं है । उद्धव सम्बन्ध में श्रीभगवदुक्ति उस प्रकार होने के कारण, श्रीमान् उद्धव जो भगवान् के नित्यसिद्ध परिकर हैं । इस में सन्देह नहीं है । विशेष भा० ११.१७ अध्याय के विभूति प्रसङ्ग में कथित है-"त्वन्तु भागवतेष्वहम्" हे उद्धव ! 'तुम, किन्तु निखिल भागवतगण के मध्य में मैं हूँ ।' इस प्रकार विशेष उक्ति ही श्रीमन् उद्धव के नित्य सिद्धत्व के प्रति अभ्रान्त प्रमाण है । अतएव उस प्रकार उद्धव के प्रति सर्वत्याग मार्ग का उपदेश नहीं हो सकता है, किन्तु श्रीउद्धव को लक्ष्य करके विषयाविष्ट जीव समूह के प्रति उस प्रकार उपदेश किया गया है । इस प्रकार ही अन्यत्र जहाँपर नित्यसिद्ध परिकर को अन्य आवेश त्याग एवं भगवद् भक्ति करने के निमित्त उपदेश दिया गया है, वहाँपर भी समझना होगा कि — नित्यसिद्ध पार्षद को लक्ष्यकरके अन्य जीव समूह को उपदेश दिया गया है । अतएव "जहल्लक्षणा के द्वारा अर्थात्"गङ्गायां घोषः प्रतिवसति स्म' गङ्गा में घोष का निवास है । यहाँ जिस प्रकार जल प्रवाह रूप गङ्गामें आभीर पल्ली की स्थिति असम्भव होने के कारण गङ्गा शब्द का जल प्रवाहमय मुख्यार्थ को परित्याग कर गङ्गातीर में निवास अर्थ को समझना पड़ता है, उस प्रकार ही यहाँपर उद्धव की सर्व विषय में आवेश शून्यता एवं श्रीभगवान् में नित्य आविष्टता विद्यमान होने के कारण ही उन के प्रति सर्वस्नेह त्याग पूर्वक श्रीभगवान् में गाढ़ आविष्ट होने का उपदेश प्रदान अनुपपन्न ही होता है । तज्जन्य इस श्लोक में "त्वं" इस पद का अर्थ है—तुम्हारी कथा का अनुसरण कर जो जन भक्त होगा, वह जन, सर्वत्र स्नेह शून्य होकर विचरण करे । 'विचरस्व' विचरण करो, स्थल में 'विचरण करे, इस प्रकार अर्थ समझना होगा । 'समदृक्, शब्द का अर्थ भी यहाँ मुझ को

"त्वयोपभुक्त-स्रग्गन्धवासोऽलङ्कार-चर्च्चिताः।
उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेम हि ॥११०॥
वातवसना मुनयो श्रमणा ऊद्‌र्ध्वमन्थिनः।
ब्रह्माख्यं धाम ते यान्ति शान्ताः सन्न्यासिनोऽमलाः ॥१११॥
वयन्त्विह महायोगिन् भ्रमन्तः कर्म्मवर्त्मसु।
त्वद्वार्त्तया तरिष्यामस्तावकैर्दुस्तरं तमः ॥११२॥
स्मरन्तः कीर्त्तयन्तश्च कृतानि गदितानि च।
गत्युत्स्मितेक्षितक्ष्वेलि यन्नृलोकविडम्बनम् ॥"११३॥ इति।
श्रीभगवानुद्धवम् ॥

छोड़कर अन्यत्र हेय बुद्धि सम्पन्न होना अथवा उपादेय बुद्धि शून्य होना जानना होगा। "त्वन्तु" तुकार का अर्थ "वहिर्मुख भाव निवृत्ति" को जानना होगा।

भा० ११।६।४६--४९ में उद्धव भी स्वाभिप्राय को व्यक्त किये थे—

त्वयोपभुक्त-स्रग्गन्धवासोऽलङ्कार-चर्च्चिताः।
उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेम हि ॥११०॥
वातवसना मुनयः श्रमणा ऊद्‌र्ध्वमन्थिनः।
ब्रह्माख्यं धाम ते यान्ति शान्ताः सन्न्यासिनोऽमलाः ॥१११॥
वयन्त्विह महायोगिन् भ्रमन्तः कर्म्मवर्त्मसु।
त्वद्वार्त्तया तरिष्यामस्तावकैर्दुस्तरं तमः ॥११२॥
स्मरन्तः कीर्त्तयन्तश्च कृतानि गदितानि च।
गत्युत्स्मितेक्षितक्ष्वेलि यन्नृलोकविडम्बनम् ॥"११३॥

टीका—त्यक्तुमशक्नुवन् प्रार्थये न माया भयादित्याह त्वयेति। चर्चिताः--अलङ्कृताः हि—निश्चितं जयेम ॥४६॥ सन्न्यासिनो हि ब्रह्मचर्य्यादि क्लेशैः कथञ्चित् तरन्ति, वयन्तु अनायासेनैव तरिष्याम इत्याह वातरशना इति। ऊद्‌र्ध्वमन्थिन ऊद्‌र्ध्वरेतसः ॥४७॥ तावकैर्भक्तैः सह त्वद्वार्त्तया दुस्तरं तमः संसारम् ॥४८॥ क्ष्वेली—परिहासः। द्वन्द्वैकत्वम् ॥४९॥

हे प्रभो! तुम्हारे दास हम सब, तुम्हारे द्वारा स्वीकृत माल्य, गन्ध, वसन अलङ्कार से विभूषित होकर एवं तुम्हारी उच्छिष्ट भोजन कर अनायास तुम्हारी माया को जय कर सकते हैं। मुनीश्वर गण, दिगम्बर एवं ऊद्‌र्ध्वरेताः, आत्मतत्त्वानुशीलन परायण, विषय तृष्णात्यागशील एवं अन्तः करण संयम विशिष्ट, तथा रागादि मल शून्य होकर तुम्हारी निर्विशेष नामक अङ्गज्योति में लीन होते हैं। किन्तु हम सब दास हैं, उस आदर्श को दूर से प्रणाम करेंगे। हे महायोगीन्द्रगण सेवित पदारविन्द! हम सब किन्तु कर्ममय संसार में भ्रमण करते करते तुम्हारे प्रियजन के सहित मिलित होकर, तुम्हारी कथा के प्रसङ्ग का कीर्त्तन करते करते अनायास दुस्तर संसार उत्तीर्ण हो जायेंगे। माया उत्तीर्ण होने के निमित्त हम सब को प्रयास नहीं करना पड़ेगा। तुम्हारी गति, तुम्हारा हास्य, मधुर दृष्टि, परिहास वचन, तुम्हारे मनुष्योचित आचरण समूह का कीर्त्तन करते करते अनायास मायामय संसार उत्तीर्ण हो जायेंगे।

श्रीभगवान् उद्धव को कहे थे। ६६॥

६७। अग्रे च ज्ञानयोगस्य केवलस्यासाध्यत्वं भक्तियोगस्य तु सुखसाध्यत्वमानुषङ्गिकतया ज्ञानजनकत्वं स्वयमपि पुरुषार्थत्वञ्चेति। यथा (भा० ११।११।१७)—

"न कुर्य्यान्न वदेत् किञ्चिन्न ध्यायेत् साध्वसाधु वा।
आत्मारामोऽनया वृत्त्या विचरेज्जड़वन्मुनिः॥" ११४॥

इत्यन्तेन ग्रन्थेन ज्ञानयोगमुक्त्वा भक्तियोगमुद्भावयितुमाह (भा० ११।११।१८)—

(६७) "शब्दब्रह्मणि निष्णातो न निष्णायात् परे यदि।
श्रमस्तस्य श्रमफलो ह्यधेनुमिव रक्षतः॥" ११५॥

अत्र परब्रह्म-पदेन परतत्त्वमात्रमुच्यते, न तु ब्रह्मत्व-भगवत्त्वादि-विवेकेनेति ज्ञेयम्, सर्व्वत्र तत्सामान्यात्। तदेवं शब्दब्रह्माभ्यासस्य परब्रह्माभ्यासः प्रयोजनमित्युक्तम्। तत्र सर्व्वेष्वेवांशेषु,

---

६७। अग्रिम ग्रन्थ भा० ११।११।१७ में भक्ति शून्य ज्ञान योग का निष्फलत्व अर्थात् मुक्ति प्रदान में असामर्थ्य, एवं भक्ति योग का सुख साध्यत्व तथा आनुषङ्गिक विशुद्ध ज्ञान जनकत्व हेतु भक्ति योग का स्वयं ही परमपुरुषार्थता का वर्णन श्रीभगवान् ने किया है।

अर्थात् भक्ति विहीन स्वरूपानुसन्धानात्मक ज्ञान मुक्ति दान में अक्षम है। किन्तु भक्तियोगानुष्ठान जिस प्रकार सुखमय है, उस प्रकार ही अननुसन्धान से भी विशुद्ध ज्ञान प्रदायक है। अथच भक्ति योग स्वयं ही साधन, एवं स्वयं ही साध्य हैं। भक्तियोग भिन्न, भक्ति योग का अपर कोई साध्य नहीं है। यह सब उपदेश के द्वारा भक्ति योग का अवश्य कर्त्तव्यत्व प्रदर्शित हुआ है।

"न कुर्य्यान्नवदेत् किञ्चिन्न ध्यायेत् साध्वसाधुवा।
आत्मारामोऽनया वृत्त्या विचरेज्जड़वन्मुनिः॥" ११४॥

टीका—अपि च न कुर्य्यादिति। यो दैहिकेऽपि कर्मण्युदासीनः स मुक्तः। इतरोबद्ध इत्यर्थः। एतान्येव सर्वाणि मुमुक्षोः साधनानि ज्ञातव्यानि॥१७॥"

जो व्यक्ति दैहिककर्म्म में भी उदासीन होकर सत् असत् कुछ भी नहीं कहता है, मन में भी सत् असत् की चिन्ता नहीं करता है। सर्वदा निज स्वरूपानन्द में निमग्न होकर अकर्म्मण्य जड़ के समान सतत आत्मतत्त्व चिन्ताशील होता है, वह मुक्ति पथ में प्रविष्ट हो सकता है। यहाँ तक ज्ञान योग का वर्णन करके भक्ति योग की कथा का उद्भावन करने के निमित्त भा० ११।११।१८ में कहते हैं—

(६७) "शब्द ब्रह्मणि निष्णातो न निष्णायात् परे यदि।
श्रमस्तस्य श्रमफलो ह्यधेनुमिव रक्षतः॥" ११५॥

टीका—यस्तु केवलं शब्द ब्रह्मणि अभिज्ञः पाण्डित्यमात्र श्लाघी न तूक्तैः साधनै स्तदर्थ निष्ठो भवेत् तं निन्दति। शब्द ब्रह्मणि निष्णातोऽध्ययनादिना पारं गतोऽपि परे ब्रह्मणि, न निष्णायात्, ध्यानाद्यभियोगं न कुर्य्यात्, तस्य शास्त्रश्रमः, श्रमैकफलो न तु पुरुषार्थ पर्य्यवसायी। अधेनुं—चिर प्रसूताम्॥१८॥

यदि कोई व्यक्तिः शब्द ब्रह्म वेद एवं वेदार्थ विचार में निपुण होते हैं, अर्थात् 'मैं पण्डित हूँ' इस प्रकार आत्मश्लाघी होते हैं, अथच पर ब्रह्म के ध्यानादि नहीं करते हैं, तो उनके वह शास्त्राध्ययन पण्ड श्रममात्र ही है। अर्थात् वह पुरुषार्थ साधन में असमर्थ है, उक्त शास्त्राध्ययन के द्वारा आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति एवं परमानन्दलाभ नहीं होता है। जिस प्रकार चिर प्रसूता धेनु पालन करने से उस से दुग्ध प्राप्त करने की कोई आशा नहीं रहती है, उस प्रकार शास्त्रविचार में निपुण होकर भी यदि श्रीभगवदुपासना

विशेषत उपनिषद्भागे शब्दब्रह्मणस्तत्प्रतिपादकत्वे स्थितेऽपि तद्विचारकोटिभिरपि परब्रह्म-निष्ठा न जायते, किन्तु तस्य यस्मिन्नंशे श्रीभगवदाकार-परब्रह्मलीलादिकं प्रतिपाद्यते, तदभ्यासेनैव भगवदाकारे ब्रह्माकारे च निष्ठा जायते । तदुक्तम् (भा० ११।४।४०)

"संसारसिन्धुमतिदुस्तरमुत्तितीर्षो-,र्नान्यः प्लवो भगवतः पुरुषोत्तमस्य ।
लीलाकथारसनिषेवणमन्तरेण, पुंसो भवेद्विविधदुःखदवार्दितस्य ॥"११६॥

(भा० १०।१४।४) ---

"श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो, क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये ।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते, नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ॥"११७॥

नहीं करते हैं तो उनका शास्त्राध्ययन केवल भेक कोलाहल में पर्य्यवसित होता है ।

उक्त श्लोक में लिखित "न निष्णायात् परे यदि" 'पर' शब्द का अर्थ परतत्त्व मात्र है । किन्तु ब्रह्मत्व अथवा भगवत्तत्त्वादि का बोध उस पर शब्द से नहीं होता है । सर्वत्र सामान्य पर तत्त्व का बोध ही उक्त 'पर' शब्द से होता है । किन्तु पर ब्रह्म शब्द ब्रह्म अथवा भगवत् स्वरूप को लक्ष्य कर प्रयुक्त होता है । अतएव, शब्द ब्रह्म वेद, एवं तदनुगत शास्त्राध्ययन का मुख्य फल ही पर ब्रह्म की उपासना करना । यदि शास्त्राध्यनकरके भी परमेश्वर की उपासना नहीं करते हैं, तो शास्त्राध्ययन, वृथाश्रम में ही पर्य्यवसित होता है ।

यद्यपि शब्द ब्रह्म के द्वारा सर्वत्र: विशेषतः उपनिषद् भाग में पर तत्त्व का प्रति पादन हुआ है, तथापि उपनिषद् भाग में पुङ्खानुपुङ्ख रूप में असंख्य वार पर तत्त्व का विचार करने पर भी पर ब्रह्म में निष्ठा का उदय नहीं होता है । किन्तु शब्द ब्रह्म रूप वेद के जिस अंश में श्रीभगवत् स्वरूप पर ब्रह्म के रूप गुण लीलादि का प्रतिपादन हुआ है उस अंश का अनुशीलन से ही श्रीभगवत् स्वरूप में एवं निर्विशेष ब्रह्म स्वरूप में निष्ठा होती है । उसका विवरण ही भा० १२।४।४० में इस प्रकार है—

"संसारसिन्धुमतिदुस्तरमुत्तितीर्षो-,र्नान्यः प्लवो भगवतः पुरुषोत्तमस्य ।
लीलाकथारसनिषेवणमन्तरेण, पुंसो भवेद्विविधदुःखदवार्दितस्य ।।"११६॥

टीका—ननु यदि साकल्येनाभिधातुं न शक्यन्ते तर्हि किं तदभिध्यानेन तत्राह संसारेति । विविधं दुःखमेव दवो दावानलस्तेन अर्दितस्य पीड़ितस्य अत उत्तितीर्षोः पुंसः भगवतो या लीलास्तासां कथास्तासां रस स्तन्निषेवण मन्तरेण अन्यः प्लवस्तरण साधनं न भवेत् । उपायान्तरासम्भवात्, तत् कथा श्रवणमेव यथाशक्ति निषेव्यमित्यर्थः ॥

हे राजन् ! अति दुस्तर यह संसार सिन्धु उत्तीर्ण होने के इच्छुक व्यक्ति के पक्ष में एकमात्र पुरुषोत्तम श्रीभगवान् की लीला का आसक्ति पूर्व अनुशीलन करना छोड़कर अपर कोई भी सरल साधन सरणि नहीं हैं । कारण, विविध दुःख दावानल दग्ध जीव के पक्ष में श्रीभगवान् की लीला कथादि का श्रवण, कीर्त्तन, एवं स्मरण ही एक मात्र सुख मय उपाय है ।

भा० १०।१४।४ में श्रीब्रह्माने भी कहा है—

"श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो, क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये ।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते, नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ।।" ११७॥

टीका—भक्तिं विना ज्ञानन्तु नैवसिद्ध्येत्—इत्याह-श्रेयः सृतिमिति । श्रेयसामभ्युदयापवर्गलक्षणानां

६८। अतएव मदीयलीलाशून्यां वैदिकीमपि वाचं नाभ्यसेदित्याह द्वाभ्याम्, (भा० ११।११।१६)

(६८) "गां दुग्धदोहामसतीञ्च भार्य्यां, देहं पराधीनमसत्प्रजाञ्च ।
वित्तं त्वतीर्थीकृतमङ्ग वाचं, हीनां मया रक्षति दुःखदुःखी ॥"११८॥

मया श्रीभगवता, हीनां मम लीलादिशून्याम् ॥

सृतिः सरणं यस्याः सरस इतरनिर्झराणाम्, तां ते, तव भक्तिमुदस्य त्यक्त्वा श्रेयसां मार्गभूतामिति वा। तेषां क्लेशलः क्लेश एवावशिष्यते। अयं भावः—यथा अल्प प्रमाणं धान्यं परित्यज्य अन्तः कण हीनान् स्थूल धान्याभसांस्तुषानेव अवघ्नन्ति, तेषां न किञ्चिद् फलं, एवं भक्तिं तुच्छीकृत्य ये केवलं बोधाय प्रयतन्ते तेषामपीति। (४)

हे विभो! स्वरूपतः गुणतः आप अपरिच्छिन्न हैं। जो मानव, निखिल मङ्गल प्रसविनी भक्ति का अनादर कर केवल स्वरूप ज्ञान के निमित्त क्लेश करते हैं, उनको साधन जनित क्लेश लाभ ही होता है, अपर कोई फल लाभ नहीं होता है। जिस प्रकार स्वल्प परिमाण धान्य को परित्याग कर बलवान् व्यक्ति, स्तुपीकृत तुष का अवघातन में प्रवृत्त होता है, उसको उस से तण्डुल लाभ नहीं होता है, प्रत्युत अवहनन जनित हस्त व्यथालाभ होता है, उस प्रकार भक्ति हीन साधक का यम नियमादि के द्वारा आत्म बोध नहीं होता है, किन्तु सुदीर्घ साधना निवेश जनित क्लेश ही होता है। उस प्रकार ही जानना होगा ॥६७॥

६८। अतएव भा० ११।११।१६-२० श्लोक द्वय के द्वारा भगवान् कहते हैं— "मदीय लीला कथा शून्य वैदिक वाणी का श्रवण भी न करे।"

(६८) "गां दुग्धदोहामसतीञ्च भार्य्यां, देहं पराधीनमसत् प्रजाञ्च ।
वित्तंत्वतीर्थीकृतमङ्गवाचं, हीनां मया रक्षति दुःखदुःखी ॥"११८॥

टीका—एतदेवान्यार्थ निदर्शनैः प्रपञ्चयति गामिति। दुह्यत इति दोहः पयः। दुग्धो दोहो नोत्तरत्र दोहोऽस्ति यस्यास्तामर्थ शून्याम्, असतीं भार्य्यां, कामशून्याम्। देहं पराधीनाम्, प्रतिक्षणं दुःख हेतुम्। असत् प्रजां दृष्टादृष्ट साधनशून्यं पुत्रम्। अतीर्थीकृतम्—आगते पात्रे अदत्तं वित्तं दुष्कीर्त्तिदुरितापादकम्। अङ्ग हे उद्धव! दुःखानन्तर दुःखमेव स रक्षति।

हे उद्धव! यदि कोई व्यक्ति दुग्ध हीन धेनुका प्रति पालन दुग्धार्थी होकर करता है, तो वह जिस प्रकार धेनु के निमित्त तृण जलादि संग्रहनिमित्त दुःख, एवं दुग्ध रूप अभीष्ट अप्राप्ति जनित दुःख को प्राप्त करता है। यह प्रथम दृष्टान्त—द्वितीय दृष्टान्त यह है—जो व्यक्ति, अपने के प्रति काम गन्ध हीना अथच अन्य पुरुष के प्रति रति युक्ता स्त्री का पालन करता है,वह जिस प्रकार द्विविध दुःख प्राप्त प्राप्त करता है— एक स्वयं रति सुख प्राप्त नहीं कर सकता है, द्वितीय-उसका भरण पोषण निमित्त श्रम करना पड़ता है।

तृतीय दृष्टान्त—जो व्यक्ति, दूसरे का अधीन है, अथच देह व्याधिपीड़ित है, वह द्विविध दुःख प्राप्त करता है। पराधीनता जन्य एक दुःख, रोगाधीनता हेतु अपर दुःख।

चतुर्थ दृष्टान्त—असत् पुत्र की रक्षा करने से जिस प्रकार द्विविध दुःख उपस्थित होते हैं। प्रथमदुःख जीवित अवस्था में पुत्र से किसी प्रकार आनुकूल्यलाभ की सम्भावना नहीं है, अथच भरण पोषण भी करना पड़ता है।

पञ्चम दृष्टान्त—अपवित्र सम्पत्ति की रक्षा करना जिस प्रकार उभय विध दुःख का कारण है, अर्थात् जो वित्त श्रीभगवत् सेवाके उद्देश्य में व्ययित नहीं होता है, वह वित्त ही अपवित्र है। उस अपवित्र सम्पत्ति की रक्षा हेतु अनन्त क्लेश प्रथम दुःख। द्वितीयतः, उक्त सम्पत्ति से पारमार्थिक किसी प्रकार कल्याण लाभ

६९ । 'मया हीनां वाचम्' इत्युक्तं विवृणोति (भा० ११।११।२०)

(६९) "यस्यां न मे पावनमङ्ग कर्म्म, स्थित्युद्भवप्राण-निरोधमस्य ।
लीलावतारेप्सितजन्म वा स्याद्,-बन्ध्यां गिरन्तां विभृयान्न धीरः ॥"११९

यस्यां मे जगतः शोधकं चरितं न स्यात्, किन्तु ? अस्य विश्वस्य स्थित्यादिरूपं तद्धेतुरित्यर्थः । ततोऽप्युत्कृष्टतमत्वेन विमृश्याह-लीलावतारेष्वीप्सितं जगतः प्रेमास्पदं

की सम्भावना भी नहीं है । उसी प्रकार श्रीभगवान् की लीला कथा शून्य वेदवाणी का आदर कर श्रवण कीर्त्तन करने से— शास्त्रानुशीलन जनित एक प्रकार दुःख, पारमार्थिक किसी प्रकार आस्वादन प्राप्त करने की सम्भावना न होने से द्वितीय दुःख उपस्थित होता है । श्लोकस्थ 'माया' शब्द का अर्थ है—भगवता एवं 'हीना' शब्द का अर्थ है - मम लीलादिशून्याम् ॥ अर्थात् श्रीभगवान् जो मैं हूँ, मेरी लीलाकथा शून्या वाणी का श्रवण आदर पूर्वक करने से दुःख के ऊपर दुःख उपस्थित होता है ॥६८॥

६९ । मेरी लीला कथा शून्या वाणी का श्रवण करने से जो दुःख के ऊपर दुःख उपस्थित होता है, इस कथन का विवरण भा० ११।११।२० में प्रदान करते हैं—

(६९) "यस्यां न मे पावनमङ्ग कर्म्म, स्थित्युद्भवप्राण-निरोधमस्य ।
लीलावतारेप्सितजन्म वा स्याद्, बन्ध्यां गिरन्तां विभृयान्न धीरः ॥११९॥

टीका—मया हीनां वाचमित्युक्तं विवृणोति। यस्यां वाचि मे जगत शोधकंचरित्रंनस्यात् । किं तत् ! अस्य विश्वस्य स्थित्यादि रूपम् । तद्धेतुरित्यर्थः । लीलावतारेषु ईप्सितं जगतः प्रेमास्पदं श्रीराम कृष्णादि जन्म वा न स्यात् तां निष्फलां गिरं धीरो धीमान् न धारयेत् ।।२०॥

वेद की जिस कथा में जगत् पवित्र कारी मेरा चरित्र वर्णित नहीं है । उसका श्रवण न करे । वह कथा,—ऐश्वर्य्य एवं ऐश्वर्य्यमिश्रित माधुर्य्य भेद से द्विविध हैं । तन्मध्ये दृश्यमान जगत् के सृष्टि स्थिति संहार सम्पादन रूप चरित्र--केवल ऐश्वर्य्य मय है, द्वितीय,—लीलावतार के अभीप्सित जन्मादि मय चरित्र—ऐश्वर्य्य मिश्रित—माधुर्य्यमय है । उक्त उभय विध चरित्र वेद के जिस अंश में वर्णित नहीं है, वह अंश--पारमार्थिक आस्वादन प्रदान में असमर्थ होने के कारण बन्ध्या रमणी के तुल्य अनादरणीय है ।

वेद की जिस वाणी में जगत् पवित्र कारी मदीय चरित्र का उल्लेख नहीं है, वह किस प्रकार है, उसका वर्णन करते हैं, विश्व के सृष्टि स्थिति विनाश रूप कार्य्य का वर्णन, अर्थात् विश्व के स्थिति प्रभृति के हेतु स्वरूप । इस प्रकार अर्थ समझना होगा । उक्त विश्व—सृष्ट्यादिमय चरित्र से उत्कृष्टतमरूप में विचार कर कहते हैं,—लीलावतारवृन्द के मध्यमें जगत् से जो अत्यन्त प्रीत्यास्पद श्रीराम कृष्णादि, स्वरूप का जन्म वृत्तान्त जिस में वर्णित नहीं है । उस निष्फला वेद वाणी का धारण धीमान् व्यक्ति न करे । भा० १।५।२२ में श्रीनारद महाशयने कहा है

" इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा ।
स्विष्टस्य सूक्तस्य बुद्धदत्तयोः ।
अविच्युतोऽर्थः कविभि र्निरूपितो ।
यदुत्तमः श्लोक गुणानु वर्णनम् ॥"२२॥

टीका—तदेवं भगवल्लीलां प्राधान्येनानुवर्णय—इत्युक्तं, तत्र को भगवान्, का च तस्य लीला इत्यपेक्षायामाह--इदं विश्वं भगवानेव, स तु अस्मादितरः । ईश्वरात् प्रपञ्चो न पृथक् ईश्वरस्तु प्रपञ्चात् पृथगित्यर्थः । तत्र हेतुः, यतोभगवतो हेतो र्जगतः स्थित्यादयो भवन्ति,अनेनैव लीलादि र्दर्शिता । यद्वा इदं

श्रीकृष्णरामादिजन्म वा न स्यात्तां निष्फलां गिरं वेदलक्षणामपि धीरो धीमान् न धारयेत्। तदुक्तं श्रीनारदेन (भा० १।५।२२)—"इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा" इत्यादि। अतएव गीतं कलियुगपावनावतारेण श्रीभगवता---

"श्रुतमप्यौपनिषदं दूरे हरिकथामृतात्। यत्र सन्ति द्रवच्चित्त-कम्पाश्रुपुलकादयः ॥१२०॥

७०। तदेवं भक्त्यैव ज्ञानं सिध्यतीत्युक्त्वा तच्च ज्ञानमार्गमुपसंहरति (भा० ११।११।२१)

(७०) "एवं जिज्ञासयापोह्य नानात्व-भ्रममात्मनि।
उपारमेत विरजं मनो मय्यर्प्य सर्व्वगे ॥"१२१॥

जिज्ञासया (भा० ११।११।१) "बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः" इत्यादि-

---

विश्वं भगवान् इतर इव यः स जीवोऽपि भगवान्, चेतना चेतन प्रपञ्चस्तद्व्यतिरेकेण नास्ति, स एवैक स्तत्त्वमित्यर्थः। हि शब्देन सर्वं खल्विदं ब्रह्मेत्यादि श्रुति प्रमाणं सूचितम्। त्वद्धि स्वयमेव भवान् वेद। प्रादेशमात्र मेकदेशमात्रम् आचार्य्य वान् पुरुषो वेदेत्यादि श्रुत्यर्थ सम्पादनाय प्रदर्शितम् ॥२०॥

उत्तम श्लोक श्रीकृष्ण के निरन्तर गुण वर्णन ही मानव मात्र की तपस्या का, अध्ययन का यज्ञ का ज्ञान साधन एवं दान का नित्यफल रूप में निरूपित है। इत्यादि प्रमाण से श्रीहरि गुण कीर्त्तन की मुख्य कर्त्तव्यता का निर्द्देश दिया गया है। अतएव कलियुग पावनावतार भगवान् श्रीश्रीकृष्णचैतन्य देव ने भी कहा है—

"श्रुतमप्यौपनिषदं दूरे हरिकथामृतात्।
यत्र सन्ति द्रवच्चित्त-कम्पाश्रुपुलकादयः ॥१२०॥

उपनिषद् प्रतिपाद्य ब्रह्म, श्रुत होने पर भी हरिकथामृत से बहु दूर में अवस्थित हैं। कारण, अनवरत ब्रह्म स्वरूप की कथा श्रवण करने पर भी चित्त विगलित नहीं होता है, जिसका श्रवण से हृदय विगलित नहीं होता है, उस प्रकार कथाश्रवण से क्या जीवों का मङ्गल साधित हो सकता है ? ॥६९॥

श्रीभगवान् की भक्ति के द्वारा ही स्वरूप बोधात्मक ज्ञान की प्राप्ति होती है, इस को कहकर भा० ११।११।२१ में वर्णित श्लोक के द्वारा ज्ञान मार्ग का उपसंहार करते हैं—

(७०) "एवं जिज्ञासयापोह्य नानात्वभ्रममात्मनि।
उपारमेत विरजं मनो मय्यर्प्य सर्वगे ॥१२१॥

टीका—उक्तं ज्ञान मार्गमुपसंहरति। एवं निश्चित्य विचारेणात्मनि नानात्व भ्रमं देहाद्यध्यासं निरस्य निर्म्मलं मनो मयिसर्वगे परिपूर्णे समर्प्य सन्धार्य्य- उपारमेत न तु शास्त्रपाण्डित्यमात्रेणेत्यर्थः,।

हे उद्धव ! इस प्रकार आत्मतत्त्व जिज्ञासु होकर आत्म स्वरूप में स्थूलत्व, कृशत्व, ब्राह्मणत्व प्रभृति नानात्व भ्रम त्याग पूर्वकलयविक्षेप शून्य मन का अर्पण सर्वगत मुझ में करके शान्ति लाभ करे। उक्त श्लोक में 'जिज्ञासया' पद का प्रयोग हुआ है, उस का अर्थ भा० ११।११।१ में वर्णित—

"बद्धोमुक्त इति व्याख्यागुणतो मे न वस्तुतः।
गुणस्य मायामूलत्वात् न मे मोक्षो न बन्धनम् ॥"

टीका—नित्य बद्धोनित्य मुक्त एक एवेति मे भ्रम इति यदुक्तं तत् किं वस्तुतो विरोधः प्रतीतितो वा। नाद्यः। बन्धमोक्षयो र्वास्तवत्वाभावादित्याह,—बन्धो मुक्त इति द्वाभ्याम्। आत्मा बद्धो मुक्तश्च मे गुणतो मदधीनसत्त्वादि गुणोपाधितो न तु वस्तुतः। ननु कथं सर्वशास्त्रविरुद्धमुच्यते तत्राह इति मे व्याख्येति।

पूर्व्वोक्त-प्रकारक-विचारेण, आत्मनि शुद्धजीवे, नानात्वं देवत्वमनुष्यत्वादिभेदमपोह्य। एवं मल्लीलादिश्रवणेन मनो मयि ब्रह्माकारे सर्व्वगे अर्प्य धारयित्वा उपारमेत ॥

७१। तदेवं ज्ञानमिश्रां भक्तिमुपदिश्य तदनादरेणानुषङ्गसिद्धज्ञानगुणां शुद्धामेव भक्तिमुपदिशति चतुर्भिः (भा० ११।११।२२)—

(७१) "यद्यनीशो धारयितुं मनो ब्रह्मणि निश्चलम्।
मयि सर्वाणि कर्म्माणि निरपेक्षः समाचर ॥१२२॥

"यदीति निश्चये"–टीकायां (भा० ११।४।१०) "धत्ते पदं त्वमविता यदि विघ्नमूर्ध्नि" इतिवत् अत्र खलु ज्ञानेच्छुरेव प्रकृतः। श्रीमदुद्धवं प्रति तादृशत्वमारोप्यैवेदमुच्यते। ततश्च (भा० १०।१४।४) "श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो, क्लिश्यन्ति ये केवलबोध-लब्धये।

एवं मत्कृतो निर्णयः, अलमतिकुतर्कैरित्यर्थः। अथवा, एवमन्वयः, आत्मा बद्धो मुक्त इति या व्याख्या उक्तिः, सा मे गुणतो मद् गुण पार तन्त्र्यात्। अत्र हेतुत्वेन गुणनियन्तरि तस्मिस्तद्व्यतिरेकमाह। अतएव न मे बन्धनं मोक्षोवेति। अन्यत् समानम् ॥

पद्य के अनुसार विचार करके शुद्ध जीवात्मा में देवत्व मनुष्यत्व प्रभृति भेदज्ञान शून्य होकर मदीय लीला कथा श्रवण द्वारा सर्वगत ब्रह्म स्वरूप मुझ में मनोधारण कर साधनानुष्ठान से निवृत्त होना चाहिये ॥७०॥

७१। इस रीति से ज्ञानमिश्रा भक्ति का उपदेश प्रदान कर उक्त ज्ञान का अनादर करतः शुद्धाभक्ति का अनुष्ठान करते करते स्वतः ही जड़ एवं चैतन्य का विवेक रूप ज्ञानोदय होता है। इसका वर्णन चार श्लोकों के द्वारा करते हैं। (भा० ११।११।२२)

(७१) "यद्यनीशो धारयितुं मनो ब्रह्मणि निश्चलम्।
मयि सर्वाणि कर्म्माणि निरपेक्षः समाचर ॥"२२॥

टीका—यद्यनीशोऽशक्तश्चेत्तर्हि आस्तामिदं मद्भक्त्यैवकृतार्थो भविष्यसीत्याह मयीति।

हे उद्धव! निश्चय ही तुम निर्विशेष ब्रह्म स्वरूप में मन धारण कर नहीं सकोगे : अतएव मोक्षपर्य्यन्त कामना शून्य होकर मद्विषयकसर्वकर्म्मानुष्ठान करो।

उक्त श्लोक "यद्यनीशो धारयितुं" में 'यदि' शब्द का प्रयोग हुआ है, उसका अर्थ 'निश्चय है। कारण (भा० ११।४।१०) धत्ते पदं त्वमविता यदिविघ्न मूर्द्धि" यहाँ के 'यदि' शब्द का अर्थ श्रीधरस्वामिपादने 'निश्चय' अर्थ ही किया है। प्रस्तुत स्थल में भी यदि शब्द का उस प्रकार निश्चय अर्थ करना चाहिये। कारण, ज्ञानमार्ग में निर्विशेष ब्रह्म स्वरूप में मनोधारण करना अत्यन्त दुःखद है। श्रीमद् भगवद् गीता में उक्त है, "क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्त चेतसां" अर्थात् निर्विशेष ब्रह्म स्वरूप में चित्त आविष्ट करना अत्यन्त दुरूह कार्य्य है।

यहाँ संशय हो सकता है कि--श्रीभागवत का अभिधेय यदि भगवद् भक्ति ही है, तब उद्धव को श्रीकृष्ण ने ज्ञान मार्ग का उपदेश क्यों दिया? समाधान हेतु कहतेहैं--ज्ञान मार्ग में अभिरुचि सम्पन्न व्यक्ति का अभिलाष पूर्ण करने के निमित्त उद्धव में ज्ञानेच्छु का धर्म आरोप कर यह ज्ञान उपदेश उन्होंने किया है। तज्जन्य ही भा० १०।१४।४ में--

"श्रेयः सृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो, क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।

तेषामसौ" इत्यादि- प्रमाणेन भक्तिं विना केवल-ज्ञानमार्गेण ब्रह्मणि मनो धारयितुं निश्चित-मेवानीशो भवसि, ततोऽपि स्वतो ज्ञानादि-सर्वगुणसेवितं भक्तिमार्गमेवाश्रयेतेति तत् सोपानमुपदिशति—मयीत्यादिना। अथवा, प्राक्तनभक्तिबलाभावाद्ब्रह्मज्ञानेच्छुर्यदि तत्र मनो धारयितुमनीशः स्यात्तदाधुनाप्येवं कुर्विति योज्यम्। समाचर अर्पय, निरपेक्षो वाञ्छान्तर-रहितः ॥

७२। ततश्च (भा० ११।११।२३-२४)

(७२) "श्रद्धालुर्मत्कथाः शृण्वन् सुभद्रा लोकपावनीः।
गायन्ननुस्मरन् जन्म कर्म चाभिनयन् मुहुः ॥१२३॥
मदर्थे धर्मकामार्थानाचरन् मदपाश्रयः।
लभते निश्चलां भक्तिं मय्युद्धव सनातने ॥"१२४॥

टीका च—"मदर्पणेन कर्मभिर्विशुद्धसत्त्वस्यान्तरङ्गां भक्तिमाह–श्रद्धालुरिति" इत्येषा। अभिनयन् जन्मकर्मलीलयोर्मध्ये येऽंशा निजाभीष्ट-भावभक्तगतास्तान् स्वयमनुकुर्वन् भगवद्-

---

तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ॥"

ब्रह्माकृत स्तुति में उक्त है,—जो मानव, निखिल मङ्गल जननी तुम्हारी भक्ति का अनादर करके केवल ज्ञान का आदर करता है, उस को केवल क्लेश ही मिलता है। इस के अनुसार ज्ञान मार्ग के द्वारा निर्विशेष ब्रह्म में मनो धारण करना असम्भव होगा। तज्जन्य स्वभावसिद्ध ज्ञानादि गुण गण सेवित भक्ति मार्ग का आश्रय ग्रहण करो, इस अभिप्राय से ही कहते हैं—'मयि सर्वाणि कर्माणि" अर्थात् मद्विषयक सर्वकर्म्मानुष्ठान करो। इस प्रकार अर्थ सङ्गति करनी होगी। अथवा "यद्यनीशो धारयितुं" श्लोक में "निरपेक्षः समाचर" पदद्वय का प्रयोग है, तत्तत्य 'समाचर" क्रियापद का अर्थ--अर्पण करना, निरपेक्ष पद का अर्थ है--कामनान्तर रहित होना। अर्थात् मेरे ही सन्तोषार्थ निखिल कर्म का अर्पण मुझ को करो ॥७१॥

७१। अनन्तर भा० ११।११।२३-२४ में कहते हैं—

(७२) "श्रद्धालु र्मत् कथाः शृण्वन् सुभद्रा लोकपावनीः।
गायन्ननुस्मरन् जन्म कर्म चाभिनयन् मुहुः ॥१२३॥
मदर्थे धर्मकामार्थानाचरन् मदपाश्रयः।
लभते निश्चलां भक्तिं मय्युद्धव सनातने ॥"१२४॥

टीका—मदर्पणेन कर्मणा विशुद्धसत्त्वस्यान्तरङ्गां भक्तिमाह-श्रद्धालुरिति द्वाभ्याम्। अभिनयन्-स्वय-मनुकुर्वन् ।२३। आचरन्—सेवमानः ।२४।

हे उद्धव! उस प्रकार अनुष्ठान करते करते ऐहिक पारलौकिक सुख भोग में वितृष्णा होती है, अनन्तर सुदृढ़ विश्वासयुक्त हृदय से जगत् पवित्र कारिणी सर्व प्रकार मङ्गलदायिनी मेरा चरित्र श्रवण, गान, एवं निरन्तर स्मरण तथा जन्म कर्म समूह का बारम्बार अभिनय करते करते एवं मदीय सुखार्थ धर्म विषय भोग एवं अर्थोपार्जन करतः एक मात्र मुझ को दृढ़ रूप में अवलम्बन करने से, नित्य आनन्द स्वरूप मुझ में निश्चला भक्ति होती है।

गतान् भक्तान्तरगतांश्च तानन्यद्वारानुकुर्वन्नित्यर्थः । किञ्च, यो धर्मो गोदानादि-लक्षणस्तमपि मदर्थे मदीयजन्मादिमहोत्सवाङ्गत्वेनैव,-यश्च कामो महाप्रासादवासादि लक्षणस्तमपि मदर्थे मदीयसेवाद्यर्थं मन्मन्दिर-वासादिलक्षणत्वेनैव, यश्चार्थो धनसंग्रहस्तमपि मदर्थे मत्सेवामात्रोप--योगित्वेनैवाचरन् सेवमानः, मदपाश्रय आश्रयान्तर-शून्यचेताश्च सन् तामेव कथा-श्रवणादि-लक्षणां भक्तिं मयि निश्चलां सर्वदाव्यभिचारिणीं लभते, तत्-सुखेन कैवल्यादावप्यनादरात् । न च भजनीयस्य चलतया वा सा चलिष्यतीति मन्तव्यमित्याह— सनातन इति ॥

७३-७४ । नन्वेवम्भूत-भक्तिमार्गे प्रवृत्तिर्निष्ठा वा कथं स्यादित्याशङ्क्य तत्र हेतुमाह (भा० ११।११।२५)—

(७३) "सत्सङ्गलब्धया भक्त्या मयि मां स उपासिता" इति ।

भक्त्या भक्तिरुच्या स भक्तो मामुपासिता भजमानो भवति । तस्य च भक्तस्य मदीयं ब्रह्माकारं भगवदाकारञ्च सर्वमपि स्वरूपविज्ञानमनायासेनैव भवतीत्याह—

विविध निष्काम कर्मानुष्ठान के द्वारा विशुद्ध चित्त साधक के सम्बन्ध में "श्रद्धालुः" इत्यादि श्लोक में अन्तरङ्गा भक्ति का वर्णन किया गया है । श्लोकस्थ 'अभिनयन' पद की व्याख्या करते हैं । श्रीभगवान् की जन्म, कर्म लीला के मध्य में जो अंश निज अभीष्ट भाव विशिष्ट भक्तगत है, उस अंश का अभिनय स्वयं करे । एवं जो अंश भगवत् गत है, उस अंश का अभिनय अपर के द्वारा कराना चाहिये । लीलाभिनय का अर्थ इस प्रकार ही जानना होगा । और भी कहते हैं, गो दानादि स्वरूप जो धर्म, उसका अनुष्ठान भी मदीय जन्मोत्सव के अङ्ग रूप में करना चाहिये । श्लोकस्थ--काम शब्द से महा अट्टालिका में निवास स्वरूप विषय भोग भी मेरी सेवा के निमित्त मेरा मन्दिर में निवास रूप से ही जानना होगा । श्लोक में धन संग्रह की जो कथा कही गई है,—उसका व्यवहार भी मदीय सेवामात्र उपयोगि रूप में ही करना चाहिये । अर्थात् जितने परिमाण में धन संग्रह करने पर मदीय सेवा परिपाटी की रक्षा सुन्दर रूप होती है, उस प्रकार अर्थ संग्रह करे । निज इन्द्रिय चरितार्थ करने की लालसा से अत्यधिक धन संग्रह का प्रयास न करे । एवं अर्थ सञ्चय बुद्धि का पोषण भी न करे । श्लोक में उक्त "मदपाश्रय" पद की व्याख्या करते हैं । मुझ को छोड़ कर अपर किसी भी देव अथवा देवी का आश्रय ग्रहण न करे ।

मेरी चरितकथा श्रवण करते करते जिस भक्ति लाभ होती है, उस के आस्वादन सुख से मुक्ति प्रभृति में अनादर बुद्धि स्वतः ही होती है, एवं मेरे प्रति निश्चला अर्थात् अव्यभिचारिणी भक्ति होती है । यहाँ संशय हो सकता कि— श्रीभगवान् चञ्चल हैं, अतएव मन्दिर प्रभृति नश्वर हैं, चिरस्थायी नहीं हैं, इस प्रकार कूट तर्क निरास निबन्धन कहते हैं । मैं 'सनातन' हूँ, अर्थात् कालत्रय में एक रूप में ही विद्यमान् रहता हूँ । अतएव मेरी अस्थिरता नहीं है, एवं मत् कर्त्तृक प्रदत्त वैभवादि की भी अस्थिरता नहीं है ॥७२

७३--७४ । उस प्रकार भक्ति मार्ग में प्रवृत्ति एवं निष्ठा किस प्रकार से हो सकती है ? इस प्रकार संशय अपनोदन करने के निमित्त भा० ११।११।२५ में कहते हैं—

(७३) "सत्सङ्ग लब्धया भक्त्या मयि मां स उपासिता ।
स वै मे दर्शितं सद्भिरञ्जसा विन्दते पदम् ॥

टीका—"ततश्च अनेन प्रकारेण मयि सत्सङ्गेन लब्धया भक्त्या स भक्तो माम् उपासिता--ध्याता भवति । स च ध्यानशीलः सद्भिर्दर्शितं वैनिश्चितं सुखेनैव मे पदं स्वरूपं प्राप्नोति ।'

(७४) "स वै मे दर्शितं सद्भिरञ्जसा विन्दते पदम्" इति ।

अञ्जसा भक्त्यनुषङ्गेणैव, पदं स्वरूपम् ॥ श्रीभगवान् ॥

७५ । अग्रे च भक्तियोगस्यैव प्राक्सिद्धता साक्षात्-श्रीभगवत्प्रवर्त्तितता स्वयमेव मुख्यता, परेषान्त्ववर्वाचीनता यथारुचि नानाजनप्रवर्त्तितता तुच्छता चेति, यथा श्रीउद्धव उवाच (भा० ११।१४।१-२) —

(७५) "वदन्ति कृष्ण श्रेयांसि बहूनि ब्रह्मवादिनः ;
तेषां विकल्पप्राधान्यमुताहो एकमुख्यता ॥१२५॥
भवतोदाहृतः स्वामिन् भक्तियोगोऽनपेक्षितः ।
निरस्य सर्वतः सङ्गं येन त्वय्याविशेन्मनः ॥"१२६॥

हे उद्धव ! एकमात्र सत्सङ्ग से ही विशुद्ध भक्ति अनुष्ठान में रुचि होती है । एवं रुचि लक्षणा भक्ति के द्वारा मेरी उपासना करने के निमित्त निष्ठा होती है ।

उक्त श्लोक में "सत्सङ्गलब्धया भक्त्या" पद का उल्लेख है, उसका अर्थ यह है-- सत्सङ्ग से जो भजनानुष्ठान करने की रुचि मिलती है, उस रुचि के द्वारा वह भक्त मेरी उपासना करता रहता है । उस भक्त का, मेरा निर्विशेष ब्रह्म स्वरूप का एवं भगवत्तत्त्व का तथा स्वरूप तत्त्व का सर्व प्रकार अनुभव अनायास से ही होता है । उसका विवरण उक्त श्लोक के द्वितीय अंश के द्वारा कहते हैं—

(७४) "स वै मे दर्शितं सद्भिरञ्जसा विन्दते पदम् ॥

वह भक्त, साधुगण कर्त्तृक प्रदर्शित मेरा स्वरूप का निश्चितरूप से अनायास अनुभव करता है । अर्थात् भक्ति के आनुषङ्गिक रूप से अनुभव कर सकता है । "पद" शब्द का अर्थ--स्वरूप है । श्रीभगवान् श्रीउद्धव को कहे थे ॥७३--७४॥

७५ । अग्रिम ग्रन्थ भा० ११।१४ में श्रीकृष्ण, श्रीउद्धव को समस्त साधन के पहले श्रीभक्तियोग की सत्ता को कहेंगे । अर्थात् सृष्टि के प्रारम्भ में ही श्रीभगवान् श्रीब्रह्मा को "एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्व जिज्ञासुनात्मनः ।" श्लोक में भक्ति योग का ही उपदेश प्रदान किये थे । अतएव कर्मादि साधन का संवाद जगत् में प्रचारित होने के पहले ही भक्तियोग का संवाद प्रचारित हुआ था । काल क्रमसे भक्ति योग कर्म साधन के द्वारा आवृत हो जाने से पुनर्वार भगवान् श्रीकृष्ण ने उसका प्रवर्त्तन जगत् में किया । दूसरी बात यह है कि--वह भक्ति योग,--ज्ञान कर्म प्रभृति निरपेक्ष होने से स्वयं ही मुख्य है, अन्य समस्त साधन ही भक्ति योग के मुखापेक्षी है । भक्ति योग व्यतीत अन्य समस्त साधन ही आधुनिक है, एवं निज निज रुचि के अनुसार यक्ष, रक्षः, एवं विभिन्न वासना क्रान्त मुनिगण के द्वारा प्रवर्त्तित हैं । एवं उक्त साधन समूह का फल भी अतितुच्छ है । यह सब कहकर भक्ति की ही अवश्य कर्त्तव्यता का वर्णन भा० ११।१४।१--२॥ में करेंगे ।

(७५) "वदन्ति कृष्ण श्रेयांसि बहूनि ब्रह्मवादिनः ।
तेषां विकल्पप्राधान्यमुताहो एकमुख्यता ॥१२५॥
भवतोदाहृतः स्वामिन् भक्तियोगोऽनपेक्षितः ।
निरस्य सर्वतः सङ्गं येन त्वय्याविशेशमनः ॥"१२६॥

टीका च—"श्रेयांसि श्रेयःसाधनानि । किं विकल्पेन प्राधान्यम्, उताहो किंवा एकस्यैव मुख्यता ? एकमुख्यता-पक्षोत्थापने कारणम्—भवतेति । नापेक्षितमपेक्षा यस्मिन् सोऽहैतुकः । अयमर्थः—भवता यो भक्तियोग उक्तः, अन्ये च यानि निःश्रेयसः-साधनानि वदन्ति, तेषां किं फलसाधनत्वेन प्राधान्यमेव सर्वेषाम्, उत अङ्गाङ्गित्वम् ? प्राधान्येऽपि किं विकल्पेन सर्वेषां तुल्यफलत्वम् ? यद्वा, कश्चिद्विशेषः ? इत्येषा ।।

७६ । अत्रोत्तरं श्रीभगवानुवाच (भा० ११।१४।३) —

(७६) "कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेदसंज्ञिता ।
मयादौ ब्रह्मणे प्रोक्ता धर्मो यस्यां मदात्मकः ।।"१२७।।

टीका—एवं तावद् भगवता भक्त्या मोक्ष इत्युक्तम्,अन्ये तु अन्यानि साधनानि वदन्ति । तत्र विशेष निर्धारणां पृच्छति । वदन्तीति, श्रेयांसि--श्रेयसाधनानि । किं विकल्पेन प्राधान्यम् ? उताहो किंवा एकस्यैव मुख्यता । (१) एकमुख्यता पक्षोत्थाने कारणं भवतेति । न अपेक्षितमपेक्षा यस्मिन् सोऽहैतुकः । अयमर्थः-- भवता यो भक्तियोत उक्तः, अन्ये च यानि श्रेयः साधनाति वदन्ति तेषां किं साक्षात् फल साधनत्वेन प्राधान्यमेव सवषां, उत अङ्गाङ्गित्वम् ? प्राधान्येऽपि किं विकल्पेन सर्वेषां तुल्य फलत्वं यद्वा कश्चिदस्ति विशेष इति । (२)

श्रीउद्धव कृत प्रश्न यह है,—हे कृष्ण ! ब्रह्मवादी ? अर्थात् जो लोक वेद का प्रामाण्य मानकर कहते हैं, वे सब मह त्मावृन्द परम मङ्गल प्राप्ति हेतु विविधसाधन का वर्णन करते हैं । उक्त स.धन समूह के मध्य में एक साधन मुख्य है, अपर साधन समूह गौण हैं, अथवा समस्त साधन ही मुख्य हैं । हे स्वामिन् ! आपने तो निरपेक्ष भक्तियोग का वर्णन ही किया है । जिस भक्ति योग के प्रभाव से अन्यसाधन एव अन्यसाध्य के प्रति आसक्ति रहित होकर एकमात्र आप में मानसिकगाढ़ आवेश होता है ।

उक्त श्लोक द्वय की स्वामिकृत व्याख्या यह है - "श्रेयांसि" विविध प्रकार मङ्गल प्र पक साधना । "विकल्पेन प्राधान्यं" अर्थात् यह भी हो सकता है, वह भी हो सकता है, इस रीति से प्रत्येक साधन का प्राधान्य है । "उता हो" किंवा 'एकमुख्यता' एक साधन मुख्य है, अपर साधन समूह गौण हैं, अर्थात् अङ्गाङ्गि भाव से—अङ्गी—प्रधान, अङ्ग--सहाय कारी रूप में हैं एक मुख्यता पक्ष को पुष्ट करने के निमित्त कहते हैं—

"भवतोदाहृतः स्वामिन् भक्ति योगोऽनपेक्षितः " आपने कहा है कि—भक्ति योग—अनपेक्षित है, अर्थात् भक्ति योग में अपर की अपेक्षा नहीं है । इस प्रकार अहैतुक भक्ति योग का वर्णन आपने किया है । इस प्रकार कहने का अभिप्राय यह है कि आपने भक्ति योग का वर्णन किया है, अपर समस्त मुनिगण-नित्य मङ्गल प्राप्ति हेतु अपर साधन समूह को कहते हैं । उस के मध्य में नित्यमङ्गल लाभ हेतु प्रत्येक साधन स्वतन्त्र है, अथवा एक अङ्गी अर्थात् प्रधान है, अथवा अपर साधन समूह अङ्ग हैं, अर्थात् पारस्परिक अङ्गाङ्गि भाव से प्रत्येक का मङ्गल प्रदान में प्राधान्य है । अर्थात् उक्त साधन समूह के मध्य में कुछ विशेष है ।।७५। ।

७६ । श्रीउद्धव कृत प्रश्न के उत्तर में श्रीभगवान् बोले थे—(भा० ११।१४।३)

(७६) "कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेदसंज्ञिता ।
मयादौ ब्रह्मणे प्रोक्ता धर्मो यस्यां मदात्मकः ।।"१२७।।

टीका च—"तत्र भक्तिरेव महाफलत्वेन मुख्या, अन्यानि तु स्व-स्व-प्रकृत्यनुसारेण खपुष्पस्थानीय-स्वर्गादि-फलबुद्धिभिः प्राणिभिः प्राधान्येन परिकल्पितानि क्षुल्लकफलानीति विवेक्तुं प्रकृत्यनुसारेण बहुधा वेदार्थ-प्रतिपत्तिमाह--कालेनेति सप्तभिः । मदात्मको मय्येवात्मा चित्तं येन सः" इत्येषा, यद्वा, मदात्मको मत्स्वरूपभूतः, निर्गुणत्वेन प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् ।

७७ । तदेवं सति तस्यामेवानेकविध-श्रेयोवदने हेतुमाह (भा० ११।१४।९) —

(७७) "मन्मायामोहितधियः पुरुषाः पुरुषर्षभ ।
श्रेयो वदन्त्यनेकान्तं यथाकर्म यथारुचि ।।"१२८।।

तत्प्रकृतीनां मायागुणमूलत्वात् मन्मायामोहितधियः, अनेकान्तं नानाविधं श्रेयः पुरुषार्थं

टीका— तत्र भक्तिरेव महाफलत्वेन मुख्या अन्यानि तु स्वस्व प्रकृत्यनुसारेण पुष्पस्थानीय स्वर्गादि फल बुद्धिभिः प्राणिभिः प्राधान्येन परिकल्पितानि क्षुल्लक फलानीति विवेक्तुं प्रकृत्यनुसारेण बहुधा वेदार्थ प्रतिपत्तिमाह कालेनेति, सप्तभिः, मदात्मकः, मय्येवात्मा चित्तं येन सः ।।(३)।।

हे उद्धव ! प्रलय के समय भक्ति उपदेश ग्रहण करने के निमित्त, मानव न रहने से यह वेद वाणी लुप्त हो गई थी । कारण, उस समय जगद् गत साधक भक्तवृन्द, अनुद्बुद्ध संस्काराक्रान्त होकर प्रकृति में लीन होकर रहते हैं। वह प्रकृति, भगवान् में लीन होती है, अतएव जो सब भक्ति साधन करेंगे, उनके इन्द्रिय समूह सुस्पष्ट रूप में न होने से ही प्रापञ्चिक जगत् में भक्ति साधन का अभाव स्पष्टतः ही रहा । इस अभिप्राय से ही कहते हैं,—वेद जो भक्ति का संवाद प्रदान करते हैं, वह भक्ति, प्रलय काल में विनष्ट हो गई थी । किन्तु उस समय भी अपर ब्रह्माण्ड में एवं श्रीवैकुण्ठ में समस्त साधन सिद्ध भक्त वृन्द, एवं प्राप्त पार्षद देह तथा नित्यसिद्ध पार्षदवृन्द, श्रीभगवान् में भक्ति करते थे। तृतीयस्कन्ध में श्रीविदुर, मैत्रेय को प्रश्न किया थे—'तत्रेमं क उपासीरन् क उ स्विदनुशेरते' हे प्रभो ! महाप्रलय के समय श्रीभगवान् जब शयन करते हैं, उस समय कितने संख्यक् जीव, श्रीभगवान् की सेवा करते हैं, एवं कितने संख्यक मानव, उक्त प्रलय के समय अनुद्बुद्ध संस्कारापन्न होकर प्रकृति में निद्रित होकर रहते हैं ? अर्थात् जीव-नित्यमुक्त एवं नित्यबद्ध रूप में द्विविध हैं, उस के मध्य में नित्यमुक्त जीव, अनादि काल से श्रीकृष्ण सेवा अनुभव करते हैं, महाप्रलय के समय भी श्रीकृष्ण सेवा सुखानुभव का विराम नहीं है,

नित्य बद्ध जीव समूह, साधु सङ्ग एवं साधुकृपा से श्रीभगवान् में भक्ति करने के निमित्त उन्मुख होने पर यदि सिद्धि प्राप्त करने के पहले ही ब्रह्माण्ड ध्वंस हो जाता है तो वे सब उक्त भजन संस्कार के सहित भक्ति में लीन होकर रहते हैं । ब्रह्माण्ड का सृजन होने पर वे सब श्री भगवद् भजन में प्रवृत्त होते हैं । यह सब भक्तों की उपयुक्त इन्द्रियादि की अभिव्यक्त करने के निमित्त श्रीभगवान् में सृष्टि करने का सङ्कल्प उदित होता है । कारण, भक्त सम्बन्ध व्यतीत श्रीभगवान् की कार्य्य में प्रवृत्ति स्वतन्त्र रूप से नहीं होती है । श्लोक के शेषार्द्धका अर्थ यह है—हे उद्धव ! मैंने सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्मा को भक्ति का संवाद प्रदान किया था ।।७६।।

७७। इस प्रकार स्थिति होने पर भी सृष्टि में समय अनेक विध श्रेयो का कथन होता है, भा० ११।१४।९ में उसका कारण निर्देश करते हैं ।

(७७) "मन्मायामोहितधियः पुरुषाः पुरुषर्षभ ।
श्रेयो वदन्त्यनेकान्तं यथाकर्म यथारुचि ।।"१२८।।

तत् साधनञ्च ॥

७८। यतः (भा० ११।१४।२०)—

(७८) "न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥"१२९॥

न साधयति न वशीकरोति, तपो ज्ञानम्, त्यागः सन्न्यासः॥

७९। तथा (भा० ११।१४।२२)

(७९) "धर्म्मः सत्य-दयोपेतो विद्या वा तपसान्विता।
मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि॥" १३०॥

धर्म्मो निष्कामः, विद्या शास्त्रीयं ब्रह्मज्ञानम्, तपस्तदीक्षणम्॥

८०। भक्तिलक्षणैस्तु (भा० ११।१४।२६)—

(८०) "यथा यथात्मा परिमृज्यतेऽसौ, मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः।
तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं, चक्षुर्यथैवाञ्जन-संप्रयुक्तम्॥"१३१॥

टीका—तत् प्रकृतीनां मायागुण मूलत्वान्मन्माया मोहितधियः, अनेकान्तं नाना विधम्॥९॥

निखिल श्रेयः साधन का एकमात्र महाफल भक्ति ही है। तज्जन्य भक्ति ही मुख्य श्रेयः साधन हैं॥७७॥

७८। किन्तु वह सब साधन मुझ को वशीभूत करने में सक्षम नहीं हैं। भा० ११।१४।२० में कहते हैं—

(७८) "न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥"१२९॥

टीका—"अतएवम्भूतं श्रेयो नान्यदस्तीत्याह न साधयतीति द्वाभ्याम्॥"

"न स्वाध्यायस्तपस्त्यागः" श्लोक स्थित 'तपः' शब्द का अर्थ है ज्ञान साधन। अर्थात् ज्ञान साधन भी मुझ को वशीभूत करने में अक्षम है। त्याग शब्द का अर्थ—सन्न्यास प्रभृति आश्रम धर्म हैं॥७८॥

७९। भक्ति भिन्न अपर साधन समूह के द्वारा चित्त शुद्ध नहीं हो सकता है--उसका वर्णन भा० ११।१४।२२ में करते हैं—

(७९) "धर्म्मः सत्य-दयोपेतो विद्या वा तपसान्विता।
मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि॥"१३०॥

टीका--भक्त्यभावे अन्यत् साधनं व्यर्थ मित्याह--धर्म इति द्वाभ्याम्॥

हे उद्धव! भक्ति हीन चित्त को सत्य दया युक्त धर्म एवं चित्त एकाग्रता युक्त शास्त्रीय ज्ञान, सम्यक् रूप से चित्त शोधन करने में अक्षम है। यहाँ–धर्म शब्द से निष्काम धर्म को जानना होगा, विद्या शब्द से शास्त्रीय ब्रह्म ज्ञान, तपः शब्द से--ब्रह्म प्रति पादक शास्त्रानुशीलन, अथवा ब्रह्म स्वरूपानुसन्धान से चित्तैकाग्ररूप अर्थ को जानना होगा॥७९॥

८०। भक्ति लक्षण साधन समूह के द्वारा जिस प्रकार चित्त शुद्धि होती है, उस प्रकार चित्त विशुद्ध अन्य किसी साधन से नहीं होता है। भा० ११।१४।२६ में उसका वर्णन है—

टीका च—"ननु (तै० २।१।२) 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्,' (श्वे० ३।८) 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति' इत्यादि-श्रुतिभ्यो ज्ञानादेवाविद्यानिवृत्त्या तत्प्राप्तिरवगम्यते, कुतो भक्तियोगेनेत्युच्यते ? तत्राह यथा यथेति । आत्मा चित्तं परिमृज्यते, शोध्यते मत्पुण्यगाथानां श्रवणैरभिधानैश्च । भक्तेरेव अवान्तर–व्यापारो ज्ञानम्, न पृथगित्यर्थः" इत्येषा ॥ श्रीभगवान् ॥

८१ । अग्रे च कर्म-ज्ञान-भक्तिलक्षणान् योगान् तत्तदधिकारितायां पृथक् हेतूंश्चोक्त्वा ज्ञान-कर्मानादरेण भक्तेरेवाभिधेयत्वमाह पञ्चभिः । तत्र ज्ञानाभ्यासानादरं वक्तुं तदधिकारहेतु-वैराग्याभ्यासानादरं विधत्ते (भा० ११।२०।२६)—

(८१) "प्रोक्तेन भक्तियोगेन भजतो माऽसकृन्मुने, ।

---

(८०) " यथा यथात्मा परिमृज्यतेऽसौ, मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः ।
तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं, चक्षुर्यथैवाञ्जन-संप्रयुक्तम् ॥"१३१॥

ननु ब्रह्मविदाप्नोति परम् । तमेवविदित्वातिमृत्युमेतीत्यादि श्रुतिभ्यो ज्ञानादेव अविद्या निवृत्त्यात्तत् प्राप्तिरवगम्यते कुतो भक्तियोगेनेत्युच्यते तत्राह यथा यथेति । आत्मा चित्तं परिमृज्यते शोध्यते मत्पुण्य--कथानां श्रवणैरभिधानैश्च, भक्तेरेव अवान्तर व्यापारो ज्ञानं न पृथगित्यर्थः ॥

हे उद्धव ! मेरे जगत् पवित्र कारी नाम, रूप, गुण, लीला, के श्रवण कीर्त्तन, के द्वारा उस प्रकार चित्त शुद्ध होता है । जिस प्रकार दिव्याञ्जन युक्त नयन सूक्ष्मवस्तु दर्शन करने में सक्षम होता है । श्रवण कीर्त्तनात्मिका भक्त्यनुष्ठान के द्वारा चित्त में उस प्रकार सूक्ष वस्तु दर्शन की सामर्थ्य आती है । यहाँपर प्रश्न यह हो सकता है कि—श्रुति में कथित है, "जो मानव, ब्रह्म स्वरूप का अनुभव कर सकता है, वह ही परतत्त्व को प्राप्त कर सकता है, एवं उक्त परमात्म स्वरूप का अनुभव करके मृत्युग्रस्त संसार को अतिक्रम करने में सक्षम होता है।" यह सब प्रमाण से प्रमाणित होता है कि ज्ञान के द्वारा ही अविद्या निवृत्ति होती है, एवं परतत्त्व वस्तु की प्राप्ति होती है । अतएव भक्तियोग के द्वारा माया निवृत्ति होती है, इस प्रकार कथन का औचित्य क्या है ?

उत्तर में श्रीकृष्ण उद्धव को कहते हैं,—'यथा यथा इति' आत्मा 'चित्त' मेरे पवित्र चरित्र समूह के श्रवण कीर्त्तन द्वारा जिस प्रकार परिमार्जित अर्थात् शोधित होता है, उस प्रकार दिव्य अञ्जनयुक्त नेत्र के समान वह सूक्ष्म वस्तु दर्शनकर सकता है । अतएव पाक कार्य्य के निमित्त चुल्ली में अनल प्रज्वालित होकर जिस प्रकार अन्धकारादि को विनष्ट करता है, किन्तु अन्धकारादि विनष्ट करना अग्नि प्रज्वालन का मुख्य उद्देश्य नहीं है, किन्तु वह कार्य्य आनुषङ्गिक रूप से हो जाता है, उस प्रकार भक्ति अनुष्ठान करने का श्री कृष्णचरणों में प्रेमलाभ ही मुख्य उद्देश्य है, परतत्त्वादि अनुभवात्मक ज्ञान का उदय, अवान्तर रूप से हो जाता है । तज्जन्य पृथक् रूप से ज्ञान साधनानुष्ठान की आवश्यकता है ही नहीं । श्रीभगवान् उद्धव को कहे थे ॥८०॥

८१ । भा० ११।२० में कर्म ज्ञान एवं भक्तियोग का उल्लेख करके एवं साधनत्रय के अधिकारी होने के निमित्त पृथक् पृथक् हेतु का विन्यास किया है । एवं ज्ञान कर्म के प्रति आदर परित्याग पूर्बक भक्तियोग की अवश्य कर्त्तव्यता का प्रतिपादन पाँच श्लोकों के द्वारा किये हैं ।

अवश्य कर्त्तव्य भक्ति अनुष्ठान में ज्ञानयोगानुशीलन के प्रति अनादर प्रकट हेतु, ज्ञान साधनानुष्ठान के अधिकार के हेतुरूप वैराग्य अभ्यास के प्रति भी अनादर विधान करते हुये कहते हैं । भा० ११।२०।२६

काामा हृदया नश्यन्ति सर्वे मयि हृदि स्थिते ॥"१३२॥

मा माम् ॥

८१ । ज्ञानाभ्यासानादरं विधत्ते (भा० ११।२०।३०)—

(८२) "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि मयि दृष्टेऽखिलात्मनि ॥"१३३॥

भक्त्यैव दृष्टे साक्षात्कृते ॥

८३ । तथैवाह(भा० ११।२०।३१)—

(८३) "तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः ।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह ॥"१३४॥

टीका च "तदेवं व्यवस्थयाधिकारत्रय मुक्तम् । तत्र भक्तेरन्यनिरपेक्षत्वादन्यस्य च तत्-सापेक्षत्वाद्भक्तियोग एव श्रेष्ठ इत्युपसंहरति--तस्मादिति त्रिभिः । मदात्मनो मयि आत्मा

---

(८१) "प्रोक्तेन भक्तियोगेन भजतो माऽसकृन्मुनेः ।
कामा हृदय्या नश्यन्ति सर्वे मयि हृदि स्थिते ॥"१३२॥

टीका—कथं भजेत किंवा ततो भवति ? तदाह,—प्रोक्तेनेतिद्वाभ्याम् । श्रद्धामृत कथायां मे शश्वन्मदनु कीर्त्तनमित्यादिना, तत्र तत्रोक्तेन मा-माम् । असकृन्निरयं भजतो हृदय्या हृद्गताः कामानश्यन्ति ।

हे उद्धव ! मैंने भक्तियोग का वर्णन किया, उक्त भक्ति योग के द्वारा निरन्तर भजनशील मुनि के हृदयस्तित सर्व वासना विनष्ट होते हैं, कारण, मैं सर्वदा उन के हृदय में विराजमान हूँ । में सर्वदा अवस्थित होने पर अपर किसी प्रकार वासना का उद्गम नहीं होता है । श्लोकस्थ "मासकृन्मुनेः में 'मा' पद का अर्थ—मुझ को है ॥८१॥

८२ । सम्प्रति ज्ञानाभ्यास के प्रति अनादर का विधान करते हैं—(भा० ११।२०।३०)

(८२) "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि मयि दृष्टेऽखिलात्मनि ॥"१३३॥

टीका—हृदयमेव ग्रन्थिरहङ्कारस्तत् पूर्वकाश्च सर्वे संशया असम्भावनादयः । कर्माण्यनारब्धफलानि संहार हेतु भूतानि च ॥३०॥

हे उद्धव ! भक्तियोग के प्रभाव से ही अखिलात्मा मेरा साक्षात् कार होने पर जड़ चेतनात्मक हृदय ग्रन्थि विनष्ट हो जाती है, ज्ञानगत, ज्ञेयगत, ज्ञातागत, समस्त सन्देह की निवृत्ति होती है । किन्तु यदि भक्ति योग के द्वारा ही श्री भगवान् का साक्षात् कार होता है, तभी यह सब अवान्तर फल होते हैं ।८२।

८३ । उस प्रकार ही ज्ञान एवं वैराग्य के प्रति अनादर का प्रसङ्ग भा० ११।२०।३१ में है—

(८३) "तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः ।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह ॥"१३४॥

टीका—तदेवं व्यवस्थया अधिकार त्रयमुक्तम् । तत्र च भक्तेरन्य निरपेक्षत्वादन्यस्य च तत् सापेक्षत्वाद् भक्तियोग एव श्रेष्ठ इत्युपसंहरति, तस्मादिति त्रिभिः । मदात्मनो मयि आत्मा चित्तं यस्य तस्य,

चित्तं यस्य तस्य, श्रेयः श्रेयःसाधनम्" इत्येषा। अत्र प्रायोग्रहणस्यायं भावः—भजतां ज्ञान-वैराग्याभ्यासेन प्रयोजनं नास्त्येव, तत्र यथा स्थितेऽपि सद्योमुक्तिमार्गे केषाञ्चित् क्रममुक्ति-मार्गे प्रवृत्तिर्जायते, तथा (गी० १८।५४) "ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा" इत्यादि-श्रीगीतानुसारेण यदि क्रमभक्तिमार्गे प्रवृत्तिः स्यात्, तदा भवत्विति। तदेवं भक्तेः प्रेमलक्षणे सर्वफलराजे स्वफले नास्त्येव ज्ञानाद्यपेक्षा॥

८४। पृथक् पृथग् ज्ञानादिफलेऽपि साध्ये नास्तीत्याह (भा० ११।२०।३२-३३)—

श्रेयः—श्रेयः साधनम् ।।३१।।

हे उद्धव! अतएव मुझ में भक्ति युक्त, मद्गत चित्त, योगिवृन्द के पक्ष में ज्ञान एवं वैराग्य प्रायशः ही मङ्गल साधक नहीं होते हैं। इस विषय में कुछ भी संशय नहीं है।

पूर्व वर्णित व्यवस्था के अनुसार त्रिविध अधिकारी का वर्णन हुआ है। अर्थात् जो व्यक्ति ऐहिक पार लौकिक विषय प्रतिष्ठा सुख समूह में विरक्तचित्त है, अतः ऐहिक पारलौकिक सुख प्राप्ति के साधन स्वरूप लौकिक वैदिक कर्म्मानुष्ठान का परित्याग भी उसने किया है, किन्तु भक्ति प्राप्त करने का अभिलाषी है, वह ही ज्ञान योग का अधिकारी है, द्वितीय जो व्यक्ति ऐहिक पारलौकिक सुख भोग में लालसान्वित है, एवं उक्त सुख प्राप्ति के निमित्त साधन समूह के अनुष्ठान में आग्रहान्वित है, वह ही काम्य कर्म साधन का अधिकारी है। तृतीय। जो व्यक्ति, महत्सङ्ग एवं महत् कृपा जनित सौभाग्य से श्रीभगवत् कथा श्रवण कीर्त्तनादि में श्रद्धायुक्त है, अथच विषय में अत्यन्त आसक्त भी नहीं है, विरक्त भी नहीं है, वह ही भक्ति योग का अधिकारी है। इस प्रकार ज्ञान, कर्म, भक्ति रूप साधन त्रय के त्रिविध अधिकारी की कथा कही गई है। उक्त साधन त्रय के मध्य में भक्ति योग ही अन्य निरपेक्ष है, कर्म एवं ज्ञान योग—भक्तिसापेक्ष है। अतएव कर्म, ज्ञान एवं भक्ति योग के मध्य में भक्तियोग ही श्रेष्ठ है। इस प्रकार "तस्मात् मत्भक्तियुक्तस्य" प्रभृति श्लोक त्रय के द्वारा प्रसङ्ग का उपसंहार करते हैं। श्लोकस्थ "मदात्मनः" पद का अर्थ है मुझ में जिन के आत्मा अर्थात् चित्त है, उक्त भक्ति युक्त योगि पुरुष के पक्ष में ज्ञान एवं वैराग्य प्रायशः श्रेयः साधन अर्थात् मङ्गल के प्रति हेतु नहीं होते हैं। यहाँ तक टीका की व्याख्या है। श्लोक में "प्रायशः" पद प्रदान का अभिप्राय यह है—जो लोक, निष्काम भाव से विशुद्ध भजन करते हैं, उन के पक्ष में ज्ञान एवं वैराग्याभ्यास करने का प्रयोजन नहीं है। उस में भी कतिपय साधकों की इच्छा सद्योमुक्ति मार्ग का एवं क्रममुक्ति मार्ग में होती है। उस प्रकार गी० १८।५४ में उक्त है।

"ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषुभूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥"

इस श्लोक के अनुसार प्रतीत होता है कि ब्रह्म स्वरूपानुभूति प्राप्त करने के पश्चात् श्रीभगवान् में पराभक्ति होती है। यहाँपर समझना होगा कि यह सद्योमुक्ति मार्ग नहीं है, किन्तु क्रम मुक्ति मार्ग है, क्रम मुक्ति मार्ग में ही इस प्रकार प्रसङ्ग होता है। इस प्रकार क्रम भक्ति मार्ग में यदि किसी की प्रवृत्ति होती है, तो उस साधक के पक्ष में कथञ्चित् ज्ञान वैराग्य की अपेक्षा रह सकती है। ऐसा होने पर निखिल फल समूह के राजास्वरूप श्रीभगवत् प्रेमलाभ में ही विशुद्ध भक्ति का तात्पर्य्य है। इस प्रकार विशुद्ध भक्ति साधन में ज्ञान वैराग्य की किसी पकार अपेक्षा है ही नहीं ।।८३।।

८४। ज्ञानादि साधन में जो फल निर्दिष्ट है, उक्त प्राप्ति हेतु ज्ञानादि पृथक् साधन करना भी निष्प्रयोजनीय है, कारण, विशुद्ध भक्ति साधन के द्वारा ही उक्त साधन समूह का मुख्य फल लाभ अनायास

(८४) "यत् कर्म्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत् ।
योगेन दानधर्म्मेण श्रेयोभिरितरैरपि ॥१३५॥
सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा ।
स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथञ्चिद्यदि वाञ्छति ॥"१३६॥

इतरैस्तीर्थयात्राव्रतादिभिरपि यद्भाव्यम्, तत् सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभते । तत्राप्यञ्जसा अनायासेनैव । किं तत् सर्वम् ? तदाह--स्वर्गापवर्गमिति । स्वर्गः प्रापञ्चिकसुखं सत्त्वशुद्धयादिक्रमेणापवर्गो मोक्षसुखञ्च । तदतिक्रमिसुखञ्च भवतीत्याह--मद्धाम वैकुण्ठञ्चेति

से ही होता है । उस का वर्णन भा० ११।२०।३२-३३ में करते हैं ।

(८४) "यत् कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञान वैराग्यतश्च यत् ।
योगेन दानधर्म्मेण श्रेयोभिरितरैरपि ॥१३५॥
सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा ।
स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथञ्चिद्यदि वाञ्छति ॥"१३६॥

टीका—तत्र हेतुः, यत् कर्मभिरित्यादि । इतरैरपि तीर्थ यात्राव्रतादिभिः श्रेयः साधनैर्यद्भाव्यं सत्त्व शुद्धयादि तत् सर्वमञ्जसा अनायासेनैव स्वर्गमपवर्गं मद्धाम वैकुण्ठंलभत एव । वाञ्छातु नास्तीत्युक्तं,—यदि वाञ्छतीति ॥३२।३३।

हे उद्धव ! असंख्य काम्य कर्मानुष्ठान के द्वारा जो फल लाभ होता है, चित्त की एकाग्रता, ज्ञान साधन, दानधर्म एवं अन्यान्य श्रेयः साधन से जो फल लाभ होता है । मदीय भक्त, भक्तियोग के प्रभाव से उक्त साधन समूह के फल समूह को अनायास प्राप्तकर सकते हैं, तदतिरिक्त, स्वर्ग, मोक्ष, एवं सुख मय वैकुण्ठ धाम की, इच्छा होने पर अनायास प्राप्तकर सकते हैं ।

श्लोकस्थ "इतरैरपि" पद का अर्थ-तीर्थ यात्रा, व्रतादि अनुष्ठान के द्वारा जो फल लाभ होगा, मदीय भक्ति के प्रभाव से तत् समुदय फल को मद्भक्त प्राप्त कर सकते हैं । अथच उक्त फल लाभ अवलेश से ही होता है । उक्त साधनों के सर्व फल क्या है ? कहते हैं, "स्वर्गापवर्ग मद्धाम" अर्थात् स्वर्ग—प्रापञ्चिक सुख । क्रमशः चित्त शुद्धि प्रभृति क्रम से मोक्षसुख लाभ भी हो सकता है । यहाँतक कि प्रापञ्चिक सुख एवं मोक्ष सुख को तिरस्कार करता है इस प्रकार सुख लाभ भी होता है । अर्थात् "मद्धाम" वैकुण्ठ लोक में निवास जनित जो सुख है, उसको यदि चाहता है, तो भक्ति प्रभाव से मदीय भक्त अनायास उस सुख का अनुभव करने में सक्षम होंगे ।

जिज्ञासा हो सकती है—कि--जो निष्काम भक्त है, उसकी इच्छा स्वर्ग, मोक्ष, वैकुण्ठ लोक के सुखास्वादन हेतु क्यों होगी ? उत्तर में कहते हैं,—"कथञ्चित् यदि वाञ्छति" अर्थात् भक्ति के सहायक रूप में यदि भक्त की इच्छा होती है तो, उक्त वाञ्छात्रय के मध्य में श्रीचित्रकेतु प्रभृति के समान किसी भक्त की स्वर्गवाञ्छा होती है, श्रीचित्रकेतु महाराज की स्वर्गवाञ्छा भक्ति सहायक रूप में हुई थी । भा० ६।१७।२-३ में उसका उल्लेख है,—"स लक्षं वर्षाणामव्याहतबलेन्द्रियः, रेमे विद्याधर स्त्रीभि र्गापयन् हरि मीश्वरम्" । अर्थात् चित्रकेतु महाराज, अप्रतिहत बलक्रिया होकर लक्ष लक्ष वर्षपर्य्यन्त विद्याधर स्त्रीगण के द्वारा निज प्राण वल्लभ श्रीहरि का कीर्त्तन करवाकर विहार किये थे । यहांपर उनकी स्वर्गीय सुखवाञ्छा का उद्देश्य था, अति दीर्घकाल यावत् वार्द्धक्य रहित भाव से अवस्थित होकर सुकण्ठी विद्याधर रमणी वृन्द के सुकण्ठ से प्रिय श्रीहरि के गुण कीर्त्तन करवाना । मर जगत् में अवस्थित होने से गायक एवं श्रोता

कथञ्चिद्भक्त्युपकरणत्वेनैव यदि वाञ्छति कश्चित्, तत्र श्रीचित्रकेत्वादिवत् स्वर्गवाञ्छा, तस्य भक्त्युपकरणत्वञ्चोक्तम् (भा० ६।१७।२।३)--"स लक्षं वर्षलक्षाणामव्याहत-बलेन्द्रियः" रेमे विद्याधरस्त्रीभिर्गापयन् हरिमीश्वरम्" इति। श्रीशुकादिवदपवर्गवाञ्छा, तत्प्रार्थनया श्रीकृष्णेन दूरीकृतायां मायायां मातृगर्भाद्बहिर्बभुवेति हि ब्रह्मवैवर्त्तीय-कथा। तत्र च भक्त्युपकरणत्वम् (गी० १८।५४) —"ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा" इत्यादि-श्रीगीता-वचनात्। तथा प्राप्त-भगवत्पार्षदपद-तदीयवृन्दविशेषवद्वैकुण्ठेच्छा। ते हि प्रेरणा साक्षात् श्रीभगवच्चरणारविन्द-सेवेच्छयैव तत् प्रार्थ्यं प्राप्तवन्तः, (भा० ३।१४।२५) "यच्च व्रजन्त्यनिमिषामृषभ नुवृत्त्या" इत्यादिवत्।। श्रीभगवान्।।

में वार्द्धक्य आने की सम्भावना रहती है। जिस से उक्त अनुष्ठान में बाधा उपस्थित होती।

कोई कोई भक्त निष्काम होकर भी श्रीशुकदेवादि के समान अपवर्ग की वाञ्छा करते हैं। ब्रह्म-वैवर्त्त पुराण में लिखित है, श्रीशुकदेव, श्रीकृष्ण के निकट मायानिवृत्ति हेतु प्रार्थना करने पर श्रीकृष्ण भी मायापसारित किये थे। उस से श्रीशुकदेव भूमिष्ठ हुए थे। इस प्रार्थना के अभ्यन्तर में पराभक्ति का सहकारित्व है। कारण, "ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा" श्रीभगवद् गीता के वचनानुसार लय विक्षेपादि शून्य पराभक्ति का सहकारित्व का संवाद सुस्पष्ट है। कोई कोई भक्त, निष्काम होकर भी पार्षद वृन्द के समान वैकुण्ठ लोक प्राप्ति की वाञ्छा करते हैं।

यहाँपर 'पार्षदवृन्द' शब्द के पश्चात् 'विशेष' शब्द का प्रयोग है। उस का अभिप्राय यह है,—सालोक्य, सामीप्य, स्वारूप्य, एवं सार्ष्टि रूप चतुर्विध मुक्ति का अधिकारी भक्त ही है। ज्ञानी अथवा योगी उक्त मुक्ति चतुष्टय के अधिकारी नहीं हो सकते हैं। सुखैश्वर्य्योत्तरा एवं प्रेमसेवोत्तरा भेद से उक्त मुक्ति चतुष्टय, द्विविध होते हैं, जिस मुक्ति में सुख ऐश्वर्य्य भोग की लालसा रहती है, उसे सुखैश्वर्य्योत्तरा कहते हैं, एवं जिस में प्रीति पूर्वक साक्षात् श्रीभगवान् के चरणारविन्द की सेवा प्राप्ति की इच्छा रहती है—उसे प्रेमसेवोत्तरामुक्ति कहते हैं। उक्त प्रेमसेवोत्तरा मुक्ति प्राप्ति के निमित्त निष्काम भक्त की लालसा होती है। उक्त निष्काम भक्त वृन्द, प्रीति पूर्वक श्रीभगवान् की साक्षात् सेवा प्राप्ति के निमित्त निज प्रार्थनीय श्रीवैकुण्ठ लोक लाभ करते हैं। जिस वैकुण्ठ लोक का परिचय, देवगण के निकट श्रीब्रह्माने प्रदान किया है। (भा० ३।१५।२५)

"यच्च व्रजन्त्यनिमिषामृषभानुवृत्त्या दूरे यमाह्युपरि नः स्पृहणीय शिलाः।
भर्त्तुर्मिथः सुयशसः कथनानुरागः वैक्लव्य वाष्प कलया पुलकीकृताङ्गाः॥"

टीका—पुनः कथम्भूतम्? यच्च नः उपरिस्थितं व्रजन्ति। अनिमिषां देवानाम्, ऋषभः श्रेष्ठो हरिः, तस्यानुवृत्त्या, दूरे यमो येषां, यद्वा दूरीकृतयमनियमाः। दूरेऽहमाईति पाटे दूरीकृताहङ्कारा इत्यर्थः। स्पृहणीयं करुणादि शीलं येषाम्। किञ्च भर्त्तुर्हरेर्यन् सुयशस्तस्य मिथकथने योऽनुरागस्तेन वैक्लव्यं-वैवश्यं, तेन वाष्पकला, तथा सह पुलकीकृतमङ्गं येषाम्। यद्वा नः उपरीति व्रजतां विशेषणं, निरहङ्कारत्वात् अस्मत्तोऽपि ये अधिकास्ते यद् व्रजन्तीत्यर्थः॥

वैकुण्ठ लोक को निखिल देवाराध्य श्रीभगवान् के अनुकूल वृत्ति अवलम्बन कारी मृत्युक्षय रहित भक्त वृन्द ही प्राप्त करते हैं, जिन भक्त वृन्द के चरित्र लाभ करने के निमित्त मुनिवृन्द के हृदय में लालसा उत्पन्न होती है। कारण, वे सब श्रीभगवान् के समान परमैश्वर्य्य मण्डित होने पर भी परस्पर निज प्रिय

८५। अन्ते च (भा० ११।२९।२२)—

(८५) "एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम्।
यत् सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति मामृतम् ॥" १३७॥

टीका च--"अतो मद्भजनमेव बुद्धेर्विवेकस्य मनीषायाश्चातुर्य्यस्य च फलमित्याह--एषेति तामेव दर्शयति—सत्यममृतञ्च, मा माम्, अनृतेनासत्येन मर्त्येन विनाशिना मनुष्यदेहेन इह अस्मिन्नेव जन्मनि प्राप्नोतीति यत्, सैव बुद्धिर्मनीषा चेति। बुद्धिर्विवेकः, मनीषा चातुर्य्यम्" इत्येषा। (भा० १०।७२।२१)--

"हरिश्चन्द्रो रन्तिदेव उञ्छवृत्तिः शिविर्बलिः।
व्याधः कपोतो बहवो ह्यध्रुवेण ध्रुवं गताः ॥१३८॥

श्रीभगवान् के गुण कीर्त्तनानुराग में विभोर होते हैं। इस प्रमाण से प्रतिपन्न होता है कि – निष्काम भक्त वृन्द भी परम प्रिय श्रीहरि की सेवा के निमित्त पार्षद देह प्राप्ति रूप मुक्ति वाञ्छा करते हैं।

श्रीभगवान् उद्धव को कहे थे।८४

८५। एकादश स्कन्ध के अन्तिम अध्याय ११।२९।२२ में श्रीभगवान् उद्धव को कहे थे—

(८५) "एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम्।
यत् सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति मामृतम् ।।" १३७॥

टीका—अतोमद् भजनमेव बुद्धे विवेकस्य मनीषायाश्चातुर्य्यस्य च फलमित्याह एषेति। तामेव दर्शयति,—सत्यममृतञ्च मा माम् अनृतेन असत्येन, मर्त्येन, विनाशिना—मनुष्यदेहेन, इह अस्मिन्नेव जन्मनि प्राप्नोतीति यत् सैव बुद्धिर्मनीषाचेति। बुद्धिर्विवेकः। मनीषा—चातुर्य्यम् ॥२२॥

हे उद्धव! अतएव मेरा भजन ही विवेकवती बुद्धि, एवं चातुर्य्य का परम फल है। वह फल क्या है? उसको कहते हैं, विनाश शील क्षणस्थायी शरीर के द्वारा इस संसार में इस जन्म में ही सत्य आनन्द मय मुझ को यदि प्राप्त करलेता है, तो, वह ही बुद्धि—विवेक, एवं मनीषा अर्थात् चातुर्य्य है। और यदि मुझ को प्राप्त न कर अनित्य एवं दुःखमय देह के द्वारा अनित्य एवं दुःखमय वस्तु को प्राप्त करता है तो, समझना होगा कि—वह मानव विवेक शून्य मूर्ख एवं अचतुर है।

उक्त श्लोक की श्रीधर स्वामिकृत व्याख्या इस प्रकार है—अतएव मेरा भजन ही बुद्धि अर्थात् सत् असत् विचार करने की क्षमता है, एवं मनीषा-अर्थात् चातुर्य्य का फल है। उसको कहते हैं-"एषाबुद्धिमतां बुद्धिः" सत्य एवं अमृत स्वरूप मुझ को, अनृत-असत्य मर्त्य – विनाशी, मनुष्य शरीर के द्वारा, इस जन्म में ही जो मुझ को प्राप्त कर लेता है, वह ही बुद्धि है, एवं मनीषा है, बुद्धि का अर्थ -विवेक है, मनीषा शब्द का अर्थ–चातुर्य्य है।

भा० १०।७२।२१ में उक्त है

" हरिश्चन्द्रो रन्तिदेव उञ्छवृत्तिः शिविर्बलिः।
व्याधः कपोतो बहवो ह्यध्रुवेण ध्रुवं गताः ।।"

टीका-विश्वामित्रार्थानृण्याय हरिश्चन्द्रो भार्य्यात्मजादि सर्वं विक्रीय स्वयं चाण्डालतां प्राप्तोऽप्यनिर्विण्णः सहायोध्यावासिभिर्ज्जनैः स्वर्गं गतः। रन्तिदेवः, सकुटुम्बोऽष्टचत्वारिंशदहान्यलब्धोदकोऽपि कथञ्चित्-लब्धान्नोदकादि अर्थिभ्यो दत्वा ब्रह्मलोकं गतः। उञ्छवृत्ति मुद्गलः, षण्मासं सीदत् कुटुम्बोऽप्यातिथ्य

पूर्वं भक्तिप्रकरणगतत्वात् "अतः" इति हेतूपन्यासः कृतः ।। सः (श्रीभगवान्) ।।

८६ । श्रीशुकोपदेशोपसंहारे च श्रवणमुपलक्ष्य (भा० १२।४।४०) –

(८६) "संसारसिन्धुमतिदुस्तरमुत्तितीर्षो, र्नान्यः प्लवो भगवतः पुरुषोत्तमस्य ।
लीलाकथारसनिषेवणमन्तरेण, पुंसो भवेद्विविधदुःखदवार्दितस्य ।।"१३८।।

टीका च–"अन्यः प्लव उत्तरणसाधनं न भवेत्, उपायान्तरासम्भवात्, तत्कथाश्रवणमेव यथाशक्ति निषेव्यम्" इत्येषा । अन्यासामपि भक्तीनां तत्पूर्वकत्वेनैव प्रवृत्तेरुपायान्तरासम्भवत्वं युक्तम् । एतदन्तराध्यायश्च तादृशोपक्रमोपसंहारमय एव, (भा० १२।५।१)-

---

दानेन ब्रह्म लोकं गतः । शिविः, शरणागत कपोतरक्षणाय स्वमांसं श्येनाय दत्त्वा दिवं गतः, बलिः सर्वस्वं ब्राह्मण वेषधारिणे हरये दत्त्वा तमेवात्मसाच्चकारः कपोतश्चातिथये व्याधाय कपोत्यासह आत्ममांसं दत्त्वा विमानेन दिवं गतः । व्याध स्तयोः सत्त्वं वीक्ष्य स्वयमति निर्विण्णो महाप्रस्थाने वनाग्नि दग्धदेहो निष्कल्मषो दिवमारुरोह । एवमन्ये च बहवोऽध्रुवेण शरीरेण ध्रुवं लोकं गता इति ।।"

हरिश्चन्द्र, रन्तिदेव, उञ्छ वृत्ति, शिवि, बलि, व्याध, कपोत प्रभृति अनेक महापुरुष वृन्द,--अस्थायी विनाशी देह के द्वारा नित्य सनातन वस्तु मुझ को प्राप्त किये हैं ।

स्वामिपाद कृत टीका में लिखित है, "अतो मद्भजनमेव" यहाँ अतः शब्द का अर्थ उन्होंने अतएव किया है । इस प्रकार हेतु का उल्लेख करने का तात्पर्य्य यह है--"एषा बुद्धि मत्तां बुद्धिः" इस श्लोक के पूर्व में भक्ति प्रसङ्ग वर्णित हुआ है, तज्जन्य ही 'अतः' इस प्रकार हेतु का उपन्यास किया गया है ।

प्रवक्ता श्रीभगवान् हैं ।८५।

८६ । श्रीशुकोपदेश के उपसंहार में भी श्रीकृष्ण लीलाकथा श्रवण को उपलक्ष्य कर कहा गया है कि श्रीहरि कथा श्रवण व्यतीत संसार सिन्धु उत्तीर्ण होने का अपर कोई उपाय नहीं है । भा० १२।४।४०

(८६) "संसारसिन्धुमतिदुस्तरमुत्तितीर्षो
र्नान्यः प्लवो भगवतः पुरुषोत्तमस्य ।
लीलाकथा रस निषेवण मन्तरेण
पुंसो भवेद्विविध दुःखदवार्द्दितस्य ।।" १३८।।

टीका—ननु यदि साकल्येनाभिधातुं न शक्यन्ते तर्हि किं तदभिधानेन, तत्राह,--संसारेति । विविधं दुःखमेव दवो दावानलस्तेन अर्दितस्य पीडितस्य, अत उत्तितीर्षोः पुंसः भगवतो या लीला स्तासां कथास्तासां रसस्तन्निषेवणमन्तरेण अन्यः प्लवस्तरणसाधनं न भवेत् । उपायान्तरासम्भवात् । तत्कथा श्रवणमेव यथा शक्ति निषेव्यमित्यर्थः ।।४०।

हे राजन् ! विविधदुःख दावानल से दन्दह्यमान देहाभिमानी जीवके हृदय में अतिदुस्तर संसारसिन्धु उत्तीर्ण होने की इच्छा जागरुक होने पर श्रीभगवान् की लीलाकथा रूप तरणी की ही अवलम्बन करना चाहिये, कारण, भगवान् पुरुषोत्तम की लीलाकथा निषेवण भिन्न अपर कोई संसार समुद्र तरण साधन तरणी नहीं है ।

उपायान्तर की असम्भवना के कारण अन्य प्लव अर्थात् उत्तरण साधन नहीं हो सकता है । स्वामि पाद का अभिप्राय यह ही है । यहाँपर श्रीधर स्वामि पाद कर्त्तृक व्याख्यात उपायान्तर की असम्भवना का कथन अतिशय युक्ति युक्त है । कारण, अपर जितने भी भक्त्यङ्ग साधन हैं, उन में श्रीहरि कथा श्रवण ही

"अत्रानुवर्ण्यतेऽभीक्ष्णं विश्वात्मा भगवान् हरिः ।
यस्य प्रसादजो ब्रह्मा रुद्रः क्रोधसमुद्भवः ॥"१४०॥

इत्युपक्रमे, (भा० १२।५।१३)—

"एतत्ते कथितं तात यदात्मा पृष्टवान्नृप ।
हरेर्विश्वात्मनश्चेष्टां किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥"१४१॥

इत्युपसंहारेऽपि तादृश-महिमत्वेन पूर्वोक्त-लीलाकथाश्रवणस्यैव प्राधान्यात्, तत उपक्रमोपसंहारनिर्दिष्टत्वात् श्रवणोपलक्षित-भक्तेरेवात्रापि प्राधान्यम् । यस्तु तन्मध्ये (भा० १२।५।२) "त्वन्तु राजन् मरिष्येति" इत्यादिना ज्ञानोपदेशः, स च तस्य या प्रागवगता

प्रधान है, उस से ही अपर भक्तयङ्ग साधन में प्रवृत्ति होती है । जबतक साधु के मुखारविन्द से श्रीहरि कथा श्रवण करने के निमित्त रुचि उत्पन्न नहीं होती है, तबतक अपर भक्तयङ्ग साधनमें प्रवृत्ति का उद्गम नहीं होता है ।

इस के परवर्त्ती अध्याय भा० १२।५।१ में उपक्रमोपसंहार के द्वारा पूर्व वर्णित विषय का उल्लेख हुआ है ।

"अत्रानुवर्ण्यतेऽभीक्ष्णं विश्वात्मा भगवान् हरिः ।
यस्य प्रसाद जो ब्रह्मा रुद्रः क्रोधसमुद्भवः ।"१४०॥

टीका—एतत् पुराणं श्रृण्वनभयं प्राप्नोतीत्यभिप्रेत्य पुराणार्थमनुस्मारयति— अत्रेति - अयं भावः । जगतः कर्त्ता ब्रह्मापि यस्य प्रसादजः । प्रसादोऽत्र रजोवृत्तिर्हर्षः । ततो जगतत्वात् परतन्त्रः । सर्व संहर्त्ता रुद्रश्च यस्य क्रोध सम्भवो नतु स्वतन्त्रः । स विश्वस्यात्मा नियन्ता, भगवान् अत्रानुवर्ण्यते । अत एवम्भूतं भागवतं श्रृणुतः । कुतोऽन्यस्माद् भयशङ्केति । (१)

हे राजन् ! जो मानव, श्रीमद् भागवत श्रवण करता है, उस को भय अपर से कसे हो सकता है ? कारण, ब्रह्मा जिनके प्रसादज है, अर्थात् रजोगुण वृत्ति हर्ष से उत्पन्न होने के कारण परतन्त्र हैं, सवसंहार कर्त्ता रुद्र भी जिनके क्रोध समुत्पन्न हैं, अतएव आप भी जिन के अधीन हैं, उन विश्व नियन्ता भगवान् श्रीहरि, निरन्तर जिस के प्रतिश्लोक में क्रमशः वर्णित हैं । इस प्रकार उपक्रम करके भा० १२।५।१३ में निज प्रियतम शिष्य श्रीपरीक्षित् महाराज को कृतार्थ करने के निमित्त प्रश्न करते हैं—

"एतत्ते कथितं तात् यदात्मा पृष्टवान्नृप ।
हरेर्विश्वात्मनश्चेष्टां किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ।।"१४१॥

टीका—हरेश्चेष्टामात्मा त्वं यत् पृष्टवान् तदेतत् ते कथितम् । शिष्यस्य कृतार्थता परीक्षणाय पृच्छति किमिति ॥१३॥

हे राजन् ! हे वत्स ! तेमने सर्वात्मा प्रियतम श्रीहरि की लीला का श्रवण के निमित्त जो प्रश्न किया था, उसका वर्णन मैंने किया, पुनर्वार तुम क्या सुनना चाहते हो ? इस उपसंहार वाक्य में हरिकथा श्रवण की महिमा अतिशय प्रकाशित होने से पूर्व वर्णित लीला कथा श्रवण का प्राधान्य वर्णित हुआ है । अतएव उपक्रम उपसंहार में हरि कथा श्रवण का प्राधान्य निर्दिष्ट होने के कारण, यहाँपर श्रीहरि कथा श्रवणोपलक्षिता भक्ति का ही प्राधान्य को जानना होगा । इस अभिप्राय से ही श्रीस्वामिपादने उपायान्तर का असम्भव के कारण,—श्रीहरि कथा श्रवण कीर्त्तन महिमा वर्णन प्रसङ्ग के मध्य में भी "त्वन्तु राजन् मरिष्येति पशुबुद्धिमिमां जहि । न जातः प्रागभूतोऽद्यदेहवत् त्वं न नङ्क्ष्यसि (भा० १२।५।२) टीका । त्वं

भक्तिनिष्ठा, तस्याः सम्प्रत्यपि स्थैर्य्यप्रकटनार्थं एव, एकान्तिभक्तेषु भगवता मोक्षवरच्छन्दनवत् पूर्व्वमपि तन्निष्ठया स्वतः एव मरणभयपरित्यागात्, अनन्तरञ्च श्रुत्वापि तं ज्ञानोपदेशं स्वस्य भक्तिनिष्ठाया एव स्वयं दर्शयिष्यमाणत्वात् । तत्र प्राचीना तन्निष्ठा, यथा प्रथमे (भा० १।१९।५) "कृष्णाङ्घ्रिसेवामधिमन्यमानः" इति, (भा० १।१९।७) "दध्यौ मुकुन्दाङ्घ्रिमनन्यभावः" इत्यादि च तन्निष्ठयैव तद्भय परित्यागो यथा तद्वाक्ये (भा० १।१९।१५) "द्विजोपसृष्टः

पुनः कृतार्थ एवेत्यनु स्मारयति त्वन्त्विति । पशु बुद्धिमविवेकम । यस्मात् न नङ्क्ष्यसि कुत इत्यत अ ह— न जात इति । यथा देहः प्रागभूत् एवाद्यजातो नङ्क्ष्यति । न चैवं त्वं पूर्वं नाभूर्नचाद्य जातोऽसि अतो न नङ्क्ष्यसि ॥२॥

हे राजन् ! 'तुम मरोगे' इस प्रकार अविवेक त्याग करो, इस प्रकार ज्ञानोपदेश किया गया है । उक्त उपदेश का तात्पर्य्य यह है—पहले श्रीशुकदेव ने परीक्षित् महाराज की जिस भक्ति निष्ठा को अवगत हुये थे, सम्प्रति उस भक्ति की स्थिरता प्रकटन के निमित्त ही उस प्रकार ज्ञानोपदेश किया गया है । एकान्ति भक्त वृन्द के निकट श्रीभगवान् जिस प्रकार मोक्षवर ग्रहण करने के निमित्त अनुरोध करते हैं, यहाँपर भी उस प्रकार परीक्षित् महाराज की भक्ति निष्ठा का उदय किस प्रकार हुआ है, उस की परीक्षा करने के निमित्त ही ज्ञानोपदेश किया है । कारण, पहले भी भक्ति में गाढ़ निष्ठा हेतु स्वतः ही मरणमय को परित्याग श्रीपरीक्षित् महाराज किये थे । अनन्तर उक्त ज्ञानोपदेश श्रवण के पश्चात् भी स्वीय भक्ति निष्ठा को ही व्यक्त किये थे ।

इसके मध्य में भक्ति के प्रति निष्ठा की वार्त्ता महाराज की भा० १।१९।५ में इस प्रकार है—

"अथो विहायेममनुञ्च लोकं विमर्शितौ हेयतया पुरस्तात् ।
कृष्णाङ्घ्रि सेवामधिमन्यमान उपाविशत् प्रायममर्त्यनद्याम् ॥"

टीका—अथो अनन्तरम् । उभौ लोकौ, पुरस्ताद्राज्यमध्य एव हेयतया विचारितौ विहाय । श्रीकृष्णाङ्घ्रिसेवामेवाधिमन्यमानः सर्व पुरुषार्थेभ्योऽधिकां जानन्, प्रायमनशनं तस्मिन्नित्यर्थः । तत् सङ्कल्पेनोपाविशदिति यावत् । यद्वा, प्राय प्रकृष्टमयनं शरणं यथा भवति तथा ॥५॥

महाराज परीक्षित् श्रीकृष्ण चरणारविन्द की सेवा को ही सार मानकर गङ्गातीर में प्रायोपवेशन किये थे । भा० १।१९।७ में उक्त है—

"इति व्यवच्छिद्य स पाण्डवेयः प्रायोपवेशं प्रति विष्णुपद्याम् ।
दध्यौ मुकुन्दाङ्घ्रि मनन्यभावो मुनिव्रतो मुक्त समस्तसङ्गः ।"

टीका—इति- एवं विष्णुपद्यां गङ्गायां प्रायोपवेशं प्रति व्यवच्छिद्य निश्चित्य । पाण्डवेय इति तत् कुलौचित्यंदर्शयति । नास्त्यन्यस्मिन् भावोयस्य सः । कुतः ? मुनिव्रतः--उपशान्तः । तत् कुतः ? मुक्त समस्त सङ्गो येन सः । (७)

इस में "सर्वसङ्ग विनिर्मुक्त मौनी महाराज परीक्षित् के द्वारा अनुष्ठित श्रीकृष्ण के चरण युगल का ध्यान का वर्णन है । उक्त श्लोक द्वय के द्वारा महाराज की भक्ति निष्ठा वर्णित हुई है । भा० १।१९।१५ श्लोक में सर्प दंशन से भय निवृत्ति की वार्त्ता लिखित है—

" तं मोपयातं प्रतियन्तु विप्रा गङ्गा च देवी धृतचित्तमीशे ।
द्विजोपसृष्टः कुहकस्तक्षको वा दशत्वलं गायत विष्णुगाथाः ॥१५॥

टीका— तान् प्रार्थयते द्वाभ्याम् । तं मा माम्, उपयातं, शरणागतं प्रतियन्तु--जानन्तु । देवी देवता

कुहकस्तक्षको वा, दशत्वलं गायत विष्णुगाथाः" इति। तज्ज्ञानोपदेश-श्रवणानन्तरमपि तादृश-स्वनिष्ठायाः स्थैर्य्यदर्शनं यथा तत्र तावत् पद्यत्रयेण तज्ज्ञानोपदेशमबहु मत्वा श्रवण-लक्षणया भक्त्यैव स्वकृतार्थत्वमुक्तम् (भा० १२।६।२-४)—

"सिद्धोऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि भवता करुणात्मना।
श्रावितो यच्च मे साक्षादनादिनिधनो हरिः ॥१४२॥
नात्यद्भुतमहं मन्ये महतामच्युतात्मनाम्।
अज्ञेषु तापतप्तेषु भूतेषु यदनुग्रहः ॥१४३॥
पुराणसंहितामेतामश्रौष्म भवतो वयम्।
यस्यां खलूत्तमश्लोको भगवाननुवर्ण्यते ॥"१४४॥ इति

रूपा गङ्गा च प्रत्येतु। वा शब्द प्रतिक्रियाऽनादरे। गाथाः कथा--गायत ॥५॥

ब्राह्मण कर्त्तृक प्रेरित कुहक अथवा यथार्थ तक्षक मुझ को यथेष्ट दंशन करे। आप सब श्रीकृष्ण की गुण कथा का गान करें। इस प्रकार निज प्रार्थना के द्वारा स्पष्ट रूप से मृत्युभय निवृत्ति का विवरण प्रकाशित हुआ है।

द्वादशस्कन्ध के पञ्चम अध्याय में वर्णित "त्वन्तु राजन् मरिष्यति" हे राजन्! 'तुम मरोगे' इस प्रकार अविवेक प्राप्त होना ठीक नहीं है।' इस से आरम्भकर जो ज्ञानोपदेश किया गया है। उसके पहले भी महाराज में श्रीहरिभक्ति की अव्यभिचारिता प्रदर्शित हुई है। उस के मध्य में (भा० १-२।६।२-४) तीन श्लोकों के द्वारा ही महाराज कृतार्थ हुए है इस का उल्लेख है।

"सिद्धोऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि भवता करुणात्मना।
श्रावितो यच्च मे साक्षादनादिनिधनो हरिः ॥१४२॥
नात्यद्भुतमहं मन्ये महतामच्युतात्मनाम्।
अज्ञेषु तापतप्तेषु भुतेषु यदनुग्रहः ॥१४७॥
पुराणसंहितामेतामश्रौष्म भवतो वयम्।
यस्यां खलूत्तमश्लोका भगवाननुवर्ण्यते ॥"१४४॥ इति।

टीका—सिद्धं, कृतार्थोऽस्मि। यतोऽनुगृहीतोऽस्मि। अनुग्रहमेवाह—यद् यस्मात् श्रावितः। च शब्दात् प्राप्ति साधन श्रावितम्। (२)

करुणात्मतामभिनन्दति— नात्यद्भुतमिति द्वाभ्याम्।२ अश्रौष्म श्रुतवन्तः, भवतः सकाशात् ॥४॥

हे प्रभो! आप साक्षात् करुणा की मूर्त्ति हैं। आप के द्वारा मैं कृतार्थ एवं अनुगृहीत हूँ। कारण, आपने कृपा करके मुझ को अनादि निधन श्रीहरि की कथा का श्रवण कराये हैं। जो श्रीहरि गत प्राण हैं, उन महापुरुषों के पक्ष में त्रिताप दग्ध अज्ञ देहाभिमानी जीव के प्रति एतादृश अनुग्रह—अद्भुत नहीं है। आप के वदन चन्द्र से विनिःसृत--यह पुराण संहिता रूप अमृत का पान हमने किया। जिस में उत्तम श्लोक श्रीभगवान् सर्वत्र अनुक्रम से वर्णित हुये हैं। अर्थात् अन्वय व्यतिरेक के द्वारा एवं मुख्य, गौण वृत्ति के द्वारा श्रीमद् भागवत में सर्वत्र भगवान् श्रीकृष्ण ही वाच्य एवं लक्ष्य रूप में वर्णित हैं।

इस प्रकार ज्ञानोपदेश श्रवण के पश्चात् भी श्रीहरि भक्ति अनुष्ठान के द्वारा ही महाराज परीक्षित की चित्तैकतानता प्रदर्शित हुई है। पुनर्वार एक श्लोक के द्वारा श्रीगुरुवाक्य की गौरवरक्षा हेतु ब्रह्म ज्ञान

पुनश्चैकेन पद्येन तद्वाक्यगौरवमात्रेणाङ्गीकृतस्य ब्रह्मज्ञानस्य तक्षकादिभय-निवृत्ति-हेतुत्वमुक्त्वाप्यन्येन तदूर्ध्वमधोक्षज एव वाक्चेतसोस्तन्नामकीर्त्तन-ध्यानावेशानुज्ञा प्रार्थिता (भा० १२।६।५--६)

"भगवंस्तक्षकादिभ्यो मृत्युभ्यो न बिभेम्यहम् ।
प्रविष्टो ब्रह्मनिर्वाणमभयं दर्शितं त्वया ॥१४५॥
अनुजानीहि मां ब्रह्मन् वाचं यच्छाम्यधोक्षजे ।
मुक्तकामाशयं चेतः प्रवेश्य विसृजाम्यसून् ॥" १४६॥

अथ पुनरन्येन पद्येनाज्ञाननिरासक-ज्ञानविज्ञानसिद्धिश्च भगवत्पदारविन्द-दर्शन-सुखान्त-र्भूतैव मम स्फुरतीति विज्ञापितम्, यथा (भा० १२।६।७)

"अज्ञानञ्च निरस्तं मे ज्ञान-विज्ञान-निष्ठया ।
भवता दर्शितं क्षेमं परं भगवतः पदम् ॥" १४७॥ इति ।

अत्र पद-शब्दस्य चरणारविन्दविधायकत्वे (भा० ११।१८।१६) "ज्ञानेन वैयासकि-शब्दितेन,

---

को तक्षक दंशन से भयनिवृत्ति के हेतु रूप में अङ्गीकार करके भी अपर श्लोक द्वय (भा० १२।६।५--६) के द्वारा ब्रह्म ज्ञान के उपरिस्थित अधोक्षज श्रीकृष्ण में ही वाक्य एवं चित्त में श्रीकृष्ण के नाम कीर्त्तन एवं ध्यान के द्वारा आवेश प्राप्त करने की अनुज्ञा की प्रार्थना भी उन्होंने की है।

'भगवंस्तक्षकादिभ्यो मृत्युभ्यो न बिभेम्यहम् ।
प्रविष्टो ब्रह्मनिर्वाणमभयं दर्शितं त्वया ॥१४५॥
अनुजानीहि मां ब्रह्मन् वाचं यच्छाम्यधोक्षजे ।
मुक्तकामाशयं चेतः प्रवेश्य विसृजाम्यसून् ॥"१४६॥

टीका—सिद्धोऽस्मीत्युक्तं, तदेवाविष्करोति भगवन्निति । यत स्त्वया दर्शितं ब्रह्म, प्रविष्टः । कथम्भूतम् ? अभयम् । यतो निर्वाणं कैवल्य रूपम् ।५। किं भूयः श्रोतु मिच्छसीति यदुक्तं तत्र सिद्धोऽहं न किञ्चित् श्रोतुमिच्छामि, केवलं अनुज्ञां देहीत्याह,—अनुजानीहीति । वाचमित्युपलक्षणम् । सर्वेन्द्रियाणाम् । वाचं नियम्य किं करिष्यति । तदाह—मुक्ताः कामाशयास्तद्वासना येन तच्चेतोऽधोक्षजे प्रवेश्य असून् विसृजामि ॥६॥

हे भगवन् ! मैं तक्षकादि मृत्युगण से किञ्चिन्मात्र भीत नहीं हो रहा हूँ । कारण, आप के द्वारा प्रदर्शित अभय ब्रह्म निर्वाण में मैं प्रविष्ट हो गया हूँ। इस वाक्य के द्वारा श्रीगुरुवाक्यानुरोध से ब्रह्म ज्ञानाङ्गीकार भी सूचित हुआ है । इस के परवर्त्ती श्लोक (भा० १२।६।७)

"अज्ञानञ्च निरस्तं में ज्ञानविज्ञान निष्ठया ।
भवतादर्शितं क्षेमं परं भगवतः पदम् ॥"१४७॥

में ब्रह्म ज्ञान से भी अधिक आस्वादन युक्त अधोक्षज तत्त्व श्रीकृष्ण हैं, उनके पदारविन्द दर्शन सुख को एवं अज्ञान निरासक ज्ञान विज्ञान सम्पन्नता को भी उन्होने सूचित किया है । भा० १२.६.६ श्लोक में ब्रह्म ज्ञान से भी अधिक आस्वादन युक्त श्रीकृष्ण में वाक्य एवं चित्त का गाढ़ आवेश की प्रार्थना है । "हे वेदज्ञ शिरोमणे ! आप मेरे प्रति यह कृपा करें, जैसे मैं अधोक्षज श्रीकृष्ण में वागिन्द्रिय समर्पण कर सकूँ ।

भेजे खगेन्द्रध्वजपादमूलम्" इत्येवास्ति प्रथमे साधकम्। तदेतत्प्रकरणार्थस्तत्र श्रीसूतेनैव स्पष्टीकृतः, (भा० १।१८।२-४) --

"ब्रह्मकोपोत्थिताद्यस्तु तक्षकात् प्राणविप्लवात्।
न संमुमोहोरुभयाद्भगवत्यर्पिताशयः ॥१४८॥
नोत्तमश्लोकवार्त्तानां जुषतां तत्कथामृतम्।
स्यात् संभ्रमोऽन्तकालेऽपि स्मरतां तत्पदाम्बुजम् ॥"१४९॥ इति।

तथा पूर्वं द्वादशस्यैव तृतीये प्रथमस्कन्धान्तःस्थस्य (भा० १।१९।३७)

अर्थात् सर्वदा श्रीकृष्ण नाम कीर्त्तन कर सकूँ। एवं सर्व भोग वासना शून्य चित्त को श्रीकृष्ण के चरणों में स्थापन कर प्राण त्याग कर सकूँ। इस के बाद पुनर्वार अन्य एक श्लोक के द्वारा अज्ञान निवर्त्तक परोक्ष एवं अपरोक्ष ज्ञान सिद्धिकी स्फूर्त्ति श्रीभगवत् पदारविन्द साक्षात् कार रूप आनन्द के अन्तर्भूत रूप में हुई थी इसका वर्णन हुआ है। (भा० १२।६।११) हे प्रभो! यदि आप कहें, कि--प्राण त्याग के समय ज्ञान निष्ठ हो जाओ' उस के उत्तर में निवेदन करता हूँ। आप की कृपा से ज्ञान विज्ञान निष्ठ हेतु मेरा अज्ञान विदूरित हो गया है। यहाँतक कि अज्ञान का संस्कार पर्य्यन्त भी विनष्ट हो गया है। कारण आपने ही श्रीभगवान् के अभय श्रीचरणारविन्द का दर्शन कराया है। इस श्लोक में उल्लिखित 'पद' शब्द का अर्थ-'चरणार विन्द' होना सुसङ्गत है। कारण भा० १।१८।१६ में उक्त है—

"सवै महाभागवतः परीक्षिद् येनापवर्गाख्यमदभ्र बुद्धिः।
ज्ञानेन वैयासकि शब्दितेन भेजे खगेन्द्रध्वज पाद मूलम् ॥"

टीका—तच्च शुक परीक्षित् संवादेन कथितेन येन इत्याह-- स वा इति द्वाभ्याम्। वैयासकिना, श्रीशुकेन, शब्दितेन येन ज्ञानेन, ज्ञानसाधनेन, अपवर्ग इत्याख्या यस्य तत्, खगेन्द्रध्वजस्य हरेः पादमूलं भेजे ॥"१६।

अर्थात् वैयासकि श्रीशुकदेव कर्त्तृक कथित ज्ञान साधन के द्वारा परीक्षित् महाराज गरुड़ ध्वज श्रीकृष्ण के पाद मूल लाभ किये थे। अतएव इस प्रकरण का अर्थ प्रथम स्कन्ध के अष्टादश अध्याय के द्वारा श्रीसूतने सुस्पष्ट रूप से किया है॥ भा० १।१८।२।-४

"ब्रह्म कोपोत्थिताद् यस्तु तक्षकात् प्राणविप्लवात्।
न संमुमोहोरुभयाद् भगवत्यर्पिताशयः ॥१४८॥
नोत्तमश्लोक वार्त्तानां जुषतां तत्कथामृतम्।
स्यात् संभ्रमोऽन्तकालेऽपि स्मरतां तत्पदाम्बुजम् ॥"१४९॥

टीका—ब्रह्म कोपादुत्थितात् तक्षकाद्, यः प्राण विप्लवः, प्राण नाशस्तस्माद् यदूरुभयं तस्मान्न सम्मुमोह। अत्र हेतुः, यस्तु भगवत्यर्पिताशय इति ॥२॥

न चैतच्चित्रमित्याह, उत्तमः श्लोकस्यैव वार्त्ता येषु अतएव नित्यं तत् कथारूपममृतं जुषतां सम्भ्रमो मोहो न स्यात् ॥४॥

"हे शौनक! परीक्षित् महाराज, ब्रह्म शापोत्थित तक्षक से प्रचुरतरभय हेतु प्राण नाश जन्य किसी प्रकार मोह प्राप्त नहीं हुए थे। कारण, परीक्षित्,--भगवान् श्रीकृष्ण में प्राणमन प्रभृति अर्पण किये थे। हे शौनक! यह कुछ आश्चर्य्य कर नहीं है। जो मानव,आसक्ति पूर्वक श्रीहरि कथामृतका आस्वादन करते हैं,

"अतः पृच्छामि संसिद्धिं योगिनां परमं गुरुम् ।
पुरुषस्येह यत् कार्य्यं म्रियमाणस्य सर्व्वथा ॥"१५०॥

इत्यस्य राजप्रश्नस्योत्तरत्वेन भगवद्ध्यान-कीर्त्तने एव स्वयं श्रीशुकदेवेनाप्युपदिष्टे (भा० १२।३।४९--५१)—

तस्मात् सर्वात्मना राजन् हृदिस्थं कुरु केशवम् ।
म्रियमाणो ह्यवहितस्ततो यासि परां गतिम् ॥१५१॥
म्रियमाणैरभिध्येयो भगवान् परमेश्वरः ।
आत्मभावं नयत्यङ्ग सर्वात्मा सर्वसम्भवः ॥१५२॥
कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः ।
कीर्त्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबन्धः परं व्रजेत् ॥"१५७॥

इत्यादिना । ततस्तत्र केशवे, अवहितः कृतावधानः, आत्मभावमात्मनो भक्तिम् । अस्तु

हैं, उन सब की महिमा भी श्रीभगवान् की महिमा के समान अति पवित्र है । उन सब महाभागवत के मृत्यु समय में भी किसी प्रकार सम्भ्रम उपस्थित नहीं होता है, कारण, वे सब निरन्तर श्रीकृष्ण चरण कमल का स्मरण करते हैं, अतः उन सब को देहानुसन्धान करने का अवसर नहीं रहता है । जिनका देहानुसन्धान है, उनको ही मृत्यु से भय होता है ।

प्रथम स्कन्ध के अन्त में अर्थात् १।१९।३७ में

" अतः पृच्छामि संसिद्धिं योगिनां परमं गुरुम् ।
पुरुषस्येह यत् कार्य्यं म्रियमाणस्य सर्व्वथा १५०॥॥"

टीका—सम्यक् सिद्धि र्यस्मात् तम् । कार्य्यं कर्त्तुं योग्यं, कर्त्तव्यन्तु— आवश्यकमिति तयोर्भेदः । अतएव सर्वथा म्रियमाणस्य पुरुषस्य यस्मिन् कृते संसिद्धिर्मोक्षलक्षणा सिद्धि र्भवति तत् त्वां योगिनां गुरुं पृच्छामि ।

श्रीपरीक्षित् महाराज, श्रीशुकदेव के निकट प्रश्न किये थे,—जिस से सम्यक् सिद्धि प्राप्ति होती उस संसिद्धि को जानना चाहता हूँ । मुमुर्षु मानवों को जो कर्त्तव्य है, उसका कथन आप करें । श्रीपरीक्षित् कृत प्रश्न के उत्तर में श्रीशुकदेव, द्वादश स्कन्ध के तृतीय अध्याय में वर्णित श्रीभगवद्ध्यान एवं कीर्त्तन का उपदेश, अवश्य कर्त्तव्य रूप में किये थे । (भा० १२। ।४९-५१)

"तस्मात् सर्वात्मना राजन् हृदिस्थं कुरु केशवम् ।
म्रियमाणो ह्यवहित स्ततो यासि परां गतिम् ॥१५१॥
म्रियमाणैरभिध्येयो भगवान् परमेश्वरः ।
आत्मभावं नयत्यङ्ग सर्वात्मा सर्वसम्भवः ॥१५२॥
कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः ।
कीर्त्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबन्धः परं व्रजेत् ॥"१५३॥

क्रमसन्दर्भ ।

तदेवं तत्र स्पृष्टार्थान् सर्वान् समापयिष्यंस्तत्र कर्त्तव्यमुपदिशति तस्मादिति । सर्वात्मना-सर्वेणैव

तावदायाससाध्यं ध्यानम्, हि यस्मादनायास-साध्यात् कीर्त्तनादेवेत्यर्थः। द्वितीयस्कन्धेऽपि (भा० २।२।३३) "न ह्यतोऽन्यः शिवः पन्थाः" इत्यादिना, (भा० २।३।१) "एवमेतन्निगदितम्" इत्यन्तेन ग्रन्थेन नानाङ्गवान् शुद्धभक्ति-योग एव तत्रोत्तरत्वेन पर्य्यवसितः। तत्रापि (भा० २।२।३७) "पिबन्ति ये भगवतः' इत्यादिना लीलाकथा-श्रवण एव परमपर्य्यवसानं दृश्यते। तस्मात् साधुक्तं (भा० १२।५।२) "त्वं तु राजन् मरिष्येति" इत्यादिकं तद्भक्तिनिष्ठाप्रकटनार्थ-मेवेति, यतो भक्तावेव तदुपदेशस्य तात्पर्य्यम्, अतएव द्वितीयस्याष्टमे राजप्रार्थना च नान्यथा

प्रयत्नेन। तत्रैव कैमुत्येन हेतुमाह, म्रियेति। हि-यस्मादन्येऽपि यः कश्चिन् म्रियमाणोऽप्यवहितस्तस्मिन् कृतावधानश्चेत्तन्मात्रादेव परां सर्वोत्कृष्टा गतिं याति। त्वं पुनस्तस्य परमान्तरङ्गः किमुतेत्यर्थः ।।४६।।

अतएवान्यैरपि म्रियमाणैरभिध्येयः आत्म भावं आत्मनो भक्तिम्। यद्वा, परम प्रेमात्मतुल्यतामित्यर्थः।

(भा० ११।५।३६) 'कलिम्" इत्यादिनैव कलेरित्यादि व्याख्यातमेव। कलिदोष प्रशमनत्वेन नाम कीर्त्तन--स्मरण माहात्म्यमुक्त्वोपसंहरति, कलेरिति। अस्तु तावदायास साध्यं ध्यानम्, हि यस्मादनायास साध्यात् कीर्त्तनादेवेत्यर्थः। स च कलिः श्रेयोऽतिक्रम हेतूनां दोषाणां निधिरपि कलेरेको गुणः, कीर्त्तनादर रूपो महामेवास्ति, कंसादेः श्रीनारदादर इव। अतस्तस्य विघ्नोद्यमाभावात् सिध्यत्येव नामकीर्त्तयितेत्य ह कीर्त्तनादेवेति ।।५१।।

हे राजन्! विद्या, तपस्या, प्राणनिरोध, सर्व जीवों में बन्धुभाव, तीर्थ यात्रा, व्रत, दान, जप प्रभृति साधन समूह के द्वारा भी जब अन्तरात्मा 'जीव' की उस प्रकार शुद्धि नहीं होती है, भगवान् श्रीहरि की चिन्ता हृदय में करने से जिस प्रकार शुद्धि होती है। अतएव सर्व प्रकार से श्रीकेशव को हृदय में धारण करो। मुमुर्षु समय में भी यदि श्रीहरि को हृदय में धारण कर सकते हो, तो भी अवश्य ही परमागति प्राप्ति होगी, इस में किसी प्रकार संशय नहीं है। म्रियमाण जन के पक्ष में परमेश्वर श्रीहरि का ध्यान करना प्रधान कर्त्तव्य है। कारण, सर्वात्मा, सर्वसम्भव श्रीभगवान् निज स्मरण कारी भक्त को स्वरूप प्रदान अर्थात् भक्ति प्रदान अवश्य ही करते हैं।

हे राजन्! यद्यपि कलियुग, अशेष दोष का आकर है, तथापि उसका एक महीयान् गुण है, जिस प्रकार कंस का श्रीनारद समादर रूप महान् गुण था। वह यह है—एकमात्र श्रीकृष्णनाम कीर्त्तन से ही समस्त आसक्ति बन्धन से निर्म्मुक्त होकर परमपद लाभ होता है। उक्त श्लोकों के द्वारा श्रीशुकदेव ने सुस्पष्ट रूप से ही श्रीभगवद्ध्यान एवं कीर्त्तन का उपदेश प्रदान किया है। तन्मध्ये "केशवे अवहित" शब्द से 'कृतानुसन्धान' अर्थ जानना होगा। एवं "आत्मभाव" शब्द से आत्म भक्ति रूप अर्थ को जानना होगा। उस में भी अर्थात् ध्यान एवं कीर्त्तन के मध्य में भी श्रमसाध्य ध्यान से भी अनायास साध्य कीर्त्तन से समस्त बन्धन से मुक्त होकर परम पद लाभ होता है। कारण, कीर्त्तन की ही उस प्रकार विशेष महिमा है। इस प्रकार भा० २।२।३३ में उक्त है—

"न ह्यतोऽन्यः शिवः पन्था विशतः संसृताविह।
वासुदेवे भगवति भक्ति योगो यतो भवेत् ।।"

टीका—सन्ति संसरतः पुंसो बहवो मोक्षमार्गास्तपोयोगादयः समीचीन स्त्वयमेवेत्याह— नहीति। यतोऽनुष्ठितात् भक्तियोगो भवेत्, अतोऽन्यः शिवः सुख रूपो निर्विघ्नश्च नास्त्येव। (३३)

हे महाराज! इस से श्रेष्ठ अपर कोई भी मङ्गल मय पन्था है ही नहीं। उक्त श्लोक से आरम्भ कर भा० १२।३।१ श्लोक पर्य्यन्त-विविध अङ्ग युक्त शुद्ध भक्ति का वर्णन करके श्रीपरीक्षित् कृत--"मुमुर्षु व्यक्ति

स्यात् (भा० २।८।२) "कृष्णे निवेश्य निःसङ्गं मनस्त्यक्ष्ये कलेवरम्" इति। तदेवं (भा० १२।५।१)

का कर्त्तव्य क्या है'।—इस प्रकार प्रश्न का उत्तर प्रदान श्रीशुकदेव किये थे। भा० २।३।१

"एवमेतन्निगदितं पृष्टवान् यद् भवान् मम।
नृणां यन् म्रियमाणानां मनुष्येषु मनीषिणाम्॥

टीका—इदानीमन्य देवता भजनस्यादि पुत्रापि भजनवदेव तुच्छ फलत्वेन हेयत्वं वक्तुं पूर्वोक्तमनुवदति। एवमिति। ममेति—माम्। कदाचिद् दैवयोगेन मनुष्यत्वं प्राप्तेषु जीवेषु ये मनीषिणस्तेषां, तत्रापि ये म्रियमाणास्तेषां विशेषतः, एवम्, एतत् हरिकथा श्रवणादिकं निगदितं— विहितमित्यर्थः। (१)

उस में भा० २।२।३७ में "साधुवृन्द के मुख से जो लोक श्रीकृष्ण लीला कथा श्रवण करते हैं" कह कर लीला कथा श्रवण में ही उपदेश का चरम पर्य्यवसान उन्होंने किया है।

"पिबन्ति ये आत्मनः सतां कथामृतं श्रवण पुटेषु संभृतम्।
पुनन्ति ते विषय विदूषिताशयं व्रजन्ति तच्चरण सरोरुहान्तिकम्॥"

टीका—श्रवणादि फलमभिनयेनाह--पिबन्तीति। सताम्--आत्मनः आत्मत्वेन प्रकाशमानस्य। कथैव अमृतम्। विषयै विदूषितं मलिनीकृतमाशयं, पुनन्ति--शोधयन्ति। तस्य चरण पद्मान्तिकं—विष्णुपदं व्रजन्ति॥ (३७)

"त्वन्तु राजन् मरिष्येति पशुबुद्धिमिमां जहि।
न जातः प्रागभूतोऽद्य देहवत् त्वं न नङ्क्ष्यसि॥"

टीका—त्वं पुनः कृतार्थ एवेत्यनुस्मारयति त्वन्त्विति। पशुबुद्धिमविवेकम्। यस्मात् न नङ्क्ष्यसि। कुत इत्यत आह—न जात इति। यथा देहः प्रागभूत एवाद्य जातोनङ्क्ष्यति न चैवं त्वं पूर्वं नाभून चाद्य जातोऽसि अतो न नङ्क्ष्यसि।

"हे राजन्! तुम मरोगे, इस प्रकार पशु बुद्धि त्याग करो।' इस प्रकार श्रीशुक का कथन, परीक्षित् की भक्ति निष्ठापरीक्षा हेतु हुआ है। यह अति सुन्दर है। कारण, भक्ति में ही श्रीशुकोपदेश का तात्पर्य्य है। इस प्रकार व्याख्या न करने से श्रीपरीक्षित् कृत प्रश्न का उत्तर यथायथ रूप से नहीं होता है। कारण भा० २।८।३ में उक्त है—

"कथयस्व महाभाग यथाहमखिलात्मनि।
कृष्णे निवेश्य निःसङ्गं मनस्त्यक्ष्ये कलेवरम्॥

टीका—निःसङ्गं मनः, श्रीकृष्णे निवेश्येति—स्व प्रयत्नो दर्शितः।

महाराज ने प्रश्न किया—"हे महाभाग! आप यही कृपा करें, जैसे मैं अन्यवासना को छोड़कर निःसङ्ग मन को श्रीकृष्ण चरणों में निविष्ट करके देह त्याग कर सकूँ।" जब भक्ति विषयक प्रश्न हुआ था, तब उत्तर भी तदनुरूप न होने से प्रश्न ही व्यर्थ होता। अतएव भा० १२।५।१ उपसंहार वाक्य के द्वारा सुष्ठु प्रतिपादन हुआ है कि-

"अत्रानुवर्ण्यतेऽभीक्ष्णं विश्वात्माभगवान् हरिः।
यस्य प्रसादजो ब्रह्मा रुद्रः क्रोधसमुद्भवः॥"

टीका—एतत् पुराणं श्रृण्वन्नभयं प्राप्नोतीत्यभिप्रेत्य पुराणार्थमनुस्मारयति, अत्रेति, अयं भावः। जगतः कर्त्ता ब्रह्मापि यस्य प्रसादजः। प्रसादोऽत्र रजो वृत्तिर्हर्षः। ततो जातत्वात्--परतन्त्रः। सर्व संहर्त्ता रुद्रश्च यस्य क्रोध सम्भवो न तु स्वतन्त्रः। स विश्वस्यात्मा नियन्ता भगवान् अत्रानुवर्ण्यते। अत एवम्भूतं भागवतं शृण्वतः कुतोऽन्यस्माद् भयशङ्केति॥

"अत्रानुवर्ण्यतेऽभीक्ष्णम्" इत्याद्यनुसारेणापि साध्वेव स्थापितम् "संसारसिन्धुमतिदुस्तरम्" इत्यादि ।। श्रीशुकः ।।

८७ । श्रीसूतोपदेशान्तेऽपि पञ्चभिः (भा० १२।१२।५३)—

(८७) "नैष्कर्म्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं, न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् ।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे, न चार्पितं कर्म्म यदप्यकारणम् ।।"१५४।।

टीका च—"इदानीं ज्ञानकर्मादरादपि भगवत्कीर्त्तनादिष्वेवादरः कर्त्तव्य इत्याह— नैष्कर्म्म्यं ब्रह्म, तत्प्रकाशकं यज्ज्ञानम्, यतो निरञ्जनमुपाधिनिवर्त्तकं तदप्यच्युतभक्तिवर्जितं

अतएव भा० १२।४।४० उपसंहार वाक्य में सुन्दर वर्णित है कि—
"संसारसिन्धुमतिदुस्तर मुत्तितोर्षोर्नान्यप्लवोभगवतः पुरुषोत्तमस्य ।
लीलाकथा रसनिषेवण मन्तरेण पुंसोभवेद्विविध दुःखदवार्द्दितस्य ।।"

श्रीहरि की लीलाकथा का श्रवण व्यतीत संसार सिन्धु उत्तरण के अपर कोई भी उपाय है ही नहीं । प्रवक्ता श्रीशुक हैं—८६)

(भा० १२।१२।५३) में उक्त है—

(८७) "नैष्कर्म्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं, न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् ।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे, न चार्पितं कर्म्म यदप्यकारणम् ।।"१५४।।

टीका—इदानीं ज्ञान कर्मादरादपि भगवत् कीर्त्तनादिष्वादरं कर्त्तव्य इत्याह—त्रिभिः, नैकर्म्यं ब्रह्म, तत् प्रकाशकं--यज्ज्ञानं, यतो निरञ्जनं उपाधि निवर्त्तकं, तदपि अच्युत भक्ति वर्जितं चेत् न शोभते ना परोक्ष पर्य्यन्तं भवतीत्यर्थः ईश्वरे न चेदर्पितं तर्हि यदनुत्तमं सर्वोत्तममपि कर्म तदपि पुनः कुतः शोभते । अतः शश्वत् साधन काले, फल काले च अभद्रं दुःखात्मकम् ।

श्रीशौनकादि ऋषि वृन्द के निकट विविध उपदेश करने के पश्चात् श्रीसूत, वेद व्यास के प्रति देवर्षि नारद कर्त्तृक उपदिष्ट वचनों के द्वारा उपसंहार कर रहे हैं।

उक्त उपदिष्ट पाँच श्लोकों में श्रीभगवद् भक्ति की अवश्यकर्त्तव्यता सुव्यक्त हुई है । हे शौनक ! निष्कर्मतारूप ब्रह्म प्रकाशक रूप जो अज्ञान है, वह ज्ञान, यदि निरुपाधि अवस्थापन्न होकर भी भक्ति शून्य होता है तो, वह ज्ञान, कतिशय शोभित नहीं होता है । अर्थात् अपरोक्ष ज्ञान का साधक नहीं होता है । अतएव जो कर्म, साधन एवं साध्य, उभय काल में ही दुःखद एवं अमङ्गल स्वरूप है, वह कर्म यदि निष्काम भाव से अनुष्ठित होकर भगवदर्पित नहीं होता है, तो वह कर्म— चित्त शोधन करने में अक्षम ही होगा, इस विषय में कहना ही क्या है ?

अर्थात् निष्काम भाव से अनुष्ठित कर्म भी यदि श्रीभगवान् में अर्पित नहीं होता है, तो, उक्त निष्काम कर्म अनुष्ठान से ऐहिक एवं पारलौकिक सुख भोग तुच्छ बुद्धि रूप चित्त शुद्धि नहीं हो सकती है । और सकाम कर्म, यदि भगवान् में अर्पित नहीं होता है तो, उस कर्म अनुष्ठान मङ्गलमय फल लाभ नहीं होगा, उस विषय में वक्तव्य ही क्या है ? स्वामिपाद कृत टीका की व्याख्या करते हैं— सम्प्रति ज्ञान एवं कर्म के प्रति आदर होने पर भी श्रीभगवत् भक्ति रूप कीर्त्तनादि में ही आदर करना कर्त्तव्य है । उस को कहते हैं । नैष्कर्म्म्य, निष्कर्मता रूप ब्रह्म प्रकाशक जो ज्ञान, कारण, यह ज्ञान, निरञ्जन अवस्था प्राप्त है, अर्थात् ज्ञान, ज्ञाता, एवं ज्ञेय—उपाधित्रय का निवर्त्तक है । अतएव एतादृश ज्ञान में ब्रह्म स्वरूप आविर्भाव

चेत्, न शोभते, नापरोक्षपर्य्यन्तं भवतीत्यर्थः" इत्यादिका ॥

८८ तथा (भा० १२।१२।५४)—

(८८) "यशः श्रिय मेव परिश्रमः परो, वर्णाश्रमाचारतपःश्रुतादिषु ।
अविस्मृतिः श्रीधरपादपद्मयो-र्गुणानुवाद-श्रवणादिभिर्हरेः ॥"१५५॥

टीका च—"किञ्च, वर्णाश्रमाचारादिषु यः परो महान् परिश्रमः, स यशोयुक्तानां श्रियामेव कीर्त्तौ सम्पदि वा केवलम्, न परमपुरुषार्थ इत्यर्थः । गुणानुवादादिभिस्तु श्रीधर-पादपद्मयोरविस्मृतिर्भवति" इत्येषा ॥

८९ । तथा (भा० १२।१२।५५)—

(८९) "अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः क्षिणोत्यभद्राणि च शं तनोति ।
सत्त्वस्य शुद्धिं परमाञ्च भक्तिं, ज्ञानञ्च विज्ञानविरागयुक्तम् ॥"१५६॥

कराने की, योग्यता है, किन्तु वह ज्ञान भी यदि अच्युत भक्ति शून्य होता है, तो वह शोभित नहीं होता है । अर्थात्—अपरोक्षानुभूति सम्पादक नहीं होता है । टीकाका तात्पर्य्य यह ही है ।८७॥

८८ । अनन्तर भा० १२।१२।५४ में श्रीहरि कीर्त्तन की अवश्य कर्त्तव्यता का वर्णन करते हैं—

(८८) "यश श्रिय मेव परिश्रमः परो, वर्णाश्रमाचारतपःश्रुतादिषु ।
अविस्मृतिः श्रीधरपादपद्मयो,-र्गुणानुवाद-श्रवणादिभिर्हरेः ॥"१५५॥

टीका—किञ्च वर्णाश्रमाचारादिषु यः परो महान् परिश्रमः स यशोयुक्तायां श्रियामेव । कीर्त्ति-सम्पत्तिश्च केवलं परः पुरुषार्थ इत्यर्थः । गुणानुवादादिभिस्तु श्रीधर पादपद्मयोरविस्मृति र्भवति ॥

हे शौनक ! वण एवं आश्रमोचित आचार, ऐवं तपस्या तथा अध्ययनादि कर्म में जो महान् परिश्रम है, उस परिश्रम से केवल यशः एवं सम्पत् प्रभृति की प्राप्ति होती है । किन्तु उसके द्वारा आत्यन्तिक दुःख त्रय निवृत्ति एवं परमानन्द प्राप्ति रूप परम पुरुषार्थ लाभ नहीं होता है । श्रीहरि गुणानुवाद श्रवण कीर्त्तन प्रभृति के द्वारा श्रीधर पादपद्म युगल की अविस्मृतिरूप परम पुरुषार्थ लाभ होता है ।

उक्त श्लोक में श्रीधर स्वामिकृत व्याख्या का अभिप्राय यह है,—हे शौनक ! और भी कहता हूँ, वर्ण एवं आश्रमोचित आचारादि प्रति पालन करने में जो महीयान् परिश्रम होता है, वह केवल, निज सुयशः एवं सम्पत्ति प्राप्तिका कारण ही होता है किन्तु परम पुरुषार्थ प्राप्ति का हेतु नहीं होता है ।

श्रीहरि का गुणानुवाद श्रवण कीर्त्तन प्रभृति के द्वारा किन्तु श्रीधर पादपद्म युगल में अविस्मृति होती है । तात्पर्य्य यह है कि—अखण्ड आनन्द मूर्त्ति स्वरूप परम पुरुषार्थ है । श्रीहरि कथा श्रवण कीर्त्तनादि के द्वारा श्रीधर पाद पद्म की अनवरतः स्मृति रूप परम पुरुषार्थ प्राप्ति होती है । अतएव अपर किसी प्रकार साधन के प्रति महत्त्व स्थापन न करके श्रीहरि कथा श्रवण कीर्त्तनादि में श्रद्धा करनी चाहिये ।८८॥

८९ । भा० १२।१२।५६ श्लोक के द्वारा श्रीकृष्ण चरण कमल स्मृति की विशेष महिमा का कीर्त्तन करते हैं ।

(८९) "अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः, क्षिणोत्यभद्राणि च शं तनोति ।
सत्त्वस्य शुद्धिं परमाञ्च भक्तिं, ज्ञानञ्च विज्ञानविरागयुक्तम् ॥"१५६॥

स्पष्टम् ॥

९० । तथा (भा० १२।१२।५६) —

(९०) "यूयं द्विजाग्र्या वत भुरिभागा, यत् शश्वदात्मन्यखिलात्मभूतम् ।
नारायणं देवमदेवमीश,--मजस्रभावा भजताविवेश्य ॥" १५७॥

टीका च — "तदेवं श्रोतृ नात्मानञ्चाभिनन्दन्नाह— यूयमिति द्वाभ्याम् । हे द्विजाग्र्याः, यद् यस्मादात्मन्यन्तःकरणे श्रीनारायणमाविवेश्य शश्वद्भजत, सम्भावनायां लोट्, अतो भुरिभागा बहुपुण्याः । कथम्भूतम् ? अखिलात्मभुतं सर्वान्तर्यामिनम्, अतएव देवं सर्वोपास्यम् अदेवं न देवोऽन्यो यस्य तम् । कुतः ? ईशम्, यद्वा, यस्माद्यूयं भुरिभागास्तपआदिना सम्पन्नास्ततो नारायणं भजतेति विधिः" इत्येषा । अत्र तपआदिसम्पत्तेः सार्थकत्वं नारायण भजनेनैव भवतीति स्वाम्यभिप्रायः ॥

९१ । तथा (भा० १२।१२।७५)—

टीका—ततः किमत आह—अविस्मृतिरिति क्षिणोति-नाशयति ।

हे शौनक ! अनवरतः श्रीकृष्णचरणारविन्द युगल की स्मृति, निखिल अमङ्गलराशि को विदूरित करती है । यहाँतक कि—समस्त अमङ्गल की मूल जननी जो भगवद् विमुखता है, उसकी निवृत्ति भी उस से होती है । एवं श्रीकृष्ण चरणारविन्द का अतुलनीय माधुर्य्यारिव द का विस्तार भी उक्त स्मृति करती है । ऐहिक-पारलौकिक सुख भोग के प्रति वितृष्णा की कथा दूर है, मुक्ति के प्रति भी अन दर बुद्धि उत्पन्न करती है । तत् पश्चात् श्रीकृष्णचरणारविन्द में परम आवेश मयी परा भक्ति का आविर्भाव कराती है । एवं अनुभव पूर्ण परोक्ष ज्ञान, तथा विषय वैराग्य भी उत्पन्न करादेती है ।८९।

९० । अनन्तर भा० १२।१२।५६ में

(९०) "यूयं द्विजाग्र्या वत भुरिभागा , यत् शश्वदात्मन्यखिलात्मभूतम् ।
नारायणं देवमदेवमीश,—मजस्रभावा भजताविवेश्य ॥" १५७॥

श्रोतृवृन्द को अभिनन्दित करते हुये कहते हैं—आप सब प्रचुरतर भाग्यवान् हैं, अर्थात् तपस्या प्रभृति के द्वारा परिपूर्ण हैं, अतएव श्रीनारायण का भजन आप सब करें । यहाँपर मूल श्लोक में लिखित (भजत) क्रिया पद का प्रयोग विधिलिङ्ग अर्थ में हुआ है । टीकाकार का कथनाभिप्राय यह है कि— तपस्या प्रभृति सम्पत्ति की यथार्थं सफलता श्रीनारायण भजन से ही होती है । यदि तपस्या ज्ञान वैराग्यादि सम्पत्ति युक्त होकर भी श्रीनारायण का भजन नहीं करते हैं तो उक्त सम्पत्ति समूह माया बन्धन निवृत्ति का कारण नहीं होते हैं, अतएव वे सब विफल होते हैं । हे द्विज वृन्द ! आप सब के सहित प्रसङ्ग होने से मैं भी धन्य हो गया हूँ, कारण, पहले जिस समय महाराज परीक्षित् प्रायोपवेशन किये थे, उस समय जिस सभा में ऋषिकुल मुकुटमणि श्रीशुकदेव के मुखारविन्द से विगलित जिस आत्म तत्त्व का श्रवण, महात्मा गण, कर रहे थे, मैं भी वहाँ पर उस प्रसङ्ग का श्रवण किया था । सम्प्रति आप सब के सहित कथा प्रसङ्ग होने पर श्रीनारायण के प्रति मेरा हृदय अत्यन्त उत्कण्ठित हुआ है ।।९०।।

९१ । कारण, श्रीनारायण ही, निखिल पदार्थों का आश्रय स्वरूप आत्म तत्त्व है । यह आत्मतत्त्व श्रीनारायण के प्रति उत्कण्ठा उद्बोधन का एकमात्र कारण ही है, आप सब के सहित श्रीभगवत् कथा प्रसङ्ग ।

(९१) "अहञ्च संस्मारित आत्मतत्त्वं, श्रुतं पुरा मे परमर्षिवक्त्रात् ।
प्रायोपवेशे नृपतेः परीक्षितः, सदस्यृषीणां महताञ्च शृण्वताम् ॥"१५८॥

एतत्प्रसङ्गेनाहञ्चात्मतत्त्वमखिलात्मभूतं श्रीनारायणं स्मारितः, सम्प्रति परमोत्कण्ठितीकृतोऽस्मीत्यर्थः । यदात्मतत्त्वं मे मया महर्षिमुखात् श्रुतम् ॥ श्रीसूतः

९२ । तदेवमस्मिन् श्रीमति महापुराणे गुरुशिष्यभावेन प्रवृत्तानामुपदेशशिक्षावाक्येषु भक्तेरेवाभिधेयत्वं साधितम् । तथा (भा० १।१६।६)—

"तत् कथ्यतां महाभाग यदि कृष्ण कथाश्रम ।
अथवास्य पदाम्भोज-मकरन्दलिहां सताम् ॥"१५९॥

इत्यनुसारेण सर्वेषामितिहासानामपि तन्मात्र-तात्पर्य्यत्वं ज्ञेयम् । विस्तरभिया तु न विव्रियते । अथान्यत्र च तदेव दृश्यते । तत्रान्वयेन यथा (भा० ६।३।२२)—

---

(९१) "अहञ्च संस्मारित आत्मतत्त्वं, श्रुतं पुरा मे परमर्षिवक्त्रात् ।
प्रायोपवेशे नृपतेः परीक्षितः, सदस्यृषीणां महताञ्च शृण्वताम् ॥"१५८॥

भा० ११।१२।५३ 'नैष्कर्म्यमप्यच्युत भाव वर्जितं" श्लोक से आरम्भ कर 'अहञ्च संस्मारित आत्म तत्त्वं" पर्य्यन्त पाँच श्लोक का कथन श्रीसूत, श्रीशौनकादि ऋषि वृन्द के निकट किये थे ॥९१॥

९२ । परम सुन्दर श्रीमद्भागवत महापुराण में गुरु शिष्य भाव से जो जो कथा प्रसङ्ग हुये हैं, उन में गुरुभाव से जो उपदेश हुआ है, एवं शिष्य भाव से जो शिक्षा गृहीत हुआ है, उन समुदय वाक्य में ही एकान्त कर्त्तव्यता, श्रीभगवद् भक्ति की ही सुनिश्चित रूप से स्थापित हुई है । अन्य कथा प्रसङ्ग में भी भगवद् भक्ति की एकान्त कर्त्तव्यता निरुपित है ।

भा२ १।१६।६ में उक्त है --

"तत् कथ्यतां महाभाग यदि कृष्ण कथाश्रयम् ।
अथवास्य पदाम्भोज-मकरन्दलिहां सताम् ॥"१५९॥

टीका—अस्य विष्णोः पदाम्भोजयो र्यो मकरन्द स्तं लिहन्ति आस्वादयन्ति ये तेषां सतां महतां वा कथाश्रयमिति समासान्निष्कृष्यानुषङ्गः । तर्हि कथ्यताम् ।

हे शौनकादि ऋषिवृन्द श्रीसूत के समीप में श्रीहरि कथा वर्णन करने के निमित्त जो निवेदन किये थे उस का विवरण यह है, हे महाभाग ! आप उस प्रसङ्ग का वर्णन करें । अर्थात् परीक्षित् महाराज दिग् विजय करने के समय कलि निग्रह किये थे, उस कथा प्रसङ्ग में यदि श्रीकृष्ण का प्रसङ्ग हो, अथवा श्री कृष्ण चरणारविन्दमकरन्द आस्वादन कारी भक्तवृन्द का प्रसङ्ग हो तो उसका वर्णन आप करें ।

किन्तु यदि उक्त कलिनिग्रह प्रसङ्ग में श्रीभगवान् का अथवा उनके भक्तवृन्द का प्रसङ्ग--न हो तो उसका वर्णन आप न करें । इस प्रकार प्रार्थना के अनुसार समझना होगा कि—श्रीमद् भागवत में वर्णित समस्त इतिहास प्रकरणों का मुख्य तात्पर्य्य,--भगवान् एवं तदीय जनगण का चरित्र वर्णन में ही है । अर्थात् श्रीमद् भागवत के इतिहास प्रसङ्ग में भी श्रीभगवान् एवं तदीय भक्तजन के प्रसङ्ग व्यतीत साधारण काव्य के समान विफल विरस प्रसङ्ग का वर्णन नहीं हुआ है । प्रत्येक इतिहास वर्णन प्रसङ्ग में जो भगवान् एवं भक्त जन का चरित्र वर्णन करना ही मुख्य तात्पर्य्य है, उस का विस्तार–ग्रन्थ बाहुल्य के भय से नहीं

(९२) "एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्म्मः परः स्मृतः ।
भक्तियोगो भगवति तन्नामग्रहणादिभिः ।।"१६०।।

पुंसां जीवमात्राणां परो धर्म्मः सार्वभौमो धर्म्म एतावान् स्मृतः, नैतदधिकः । एतावन्त्व-मेवाह,--तन्नाम ग्रहणादिभिर्यो भक्तियोगः साक्षाद्भक्तिरिति । एव-कारेणान्यव्यावृत्तत्वं स्पष्टयति--भगवतीति । नामग्रहणादीन्यपि यदि कर्म्मादौ तत्साद्‌गुण्याद्यर्थं प्रयुज्यन्ते, तदा तस्य परत्वं नास्ति, तुच्छफलार्थं प्रयुक्तत्वेन तदपराधादित्यर्थः । तथैव क्षयिष्णुफलदातृत्वञ्च भवतीति भावः ।। श्रीयमः स्वभटान् ।।

किया गया है । एतद्भिन्न—अर्थात् श्रीसूत शौनक संवाद भिन्न अन्यसंवाद में भी भक्ति की अवश्य कर्त्तव्यता का वर्णन दृष्ट होता है । तन्मध्ये अन्वय मुख से अर्थात् अवश्य कर्त्तव्यता मुख से भा० ६।३।२२ में श्रीयमराज, निज भृत्यवृन्द के प्रति भी भक्ति योग की ही अवश्य कर्त्तव्यता का उपदेश दिये थे ।

(९२) "एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्म्मः परः स्मृतः ।
भक्तियोगो भगवति तन्नामग्रहणादिभिः ।।" १६।।

हे भृत्य वृन्द ! इस जगत् में मानव मात्र का एकमात्र परम धर्म, यह ही शास्त्र में वर्णित है–कि, श्रीभगवान् के नाम श्रवण कीर्त्तन प्रभृति के द्वारा श्रीहरि में भक्ति करना । इस से भक्ति योग की अवश्य कर्त्तव्यता सुष्ठु प्रदर्शित हुई है । पुरुष समूह का परम धर्म भक्ति योग है, अर्थात् जीव मात्र का परमधर्म--सार्वभौम धर्म भक्ति योग ही है, यह सर्व शास्त्र सम्मत है, इस से अधिक धर्म और कुछ भी नहीं हो सकता है, वह सार्वभौम धर्म है क्या ? अर्थात् जिस धर्म में समस्त जीवों का समान अधिकार है, वह किस प्रकार है ? उसका वर्णन करते हैं, – उक्त श्रीहरि के नाम ग्रहण प्रभृति के द्वारा श्रीहरि में भक्ति योग प्राप्त करना अर्थात् श्रीहरि नाम प्रभृति ग्रहण के द्वारा साक्षात् भक्ति योग का अनुष्ठान करना ।

तात् पर्य्य यह है कि--जो भी मानव, जो कुछ भी धर्मानुष्ठान क्यों न करें, उस धर्मानुष्ठान के समय श्रीभगवत् प्राप्ति के निमित्त यदि जीवन में व्याकुलता नहीं आती है तो वह धर्मानुष्ठान पण्डश्रम में पर्य्यवसित होता है । मूल श्लोक में "एतावानेव" 'एव' कारका उल्लेख होने के कारण-अपर साधनों का व्यावृत्ति—निरास सुस्पष्ट रूप से हुआ है । मूल श्लोक में 'भगवति" पद का भी प्रयोग है । उस से प्रतीति होती है कि---कर्म, ज्ञान, योगादि साधन की सफलता सम्पादन के निमित्त यदि श्रीभगवन्नाम कीर्त्तन प्रभृति का अनुष्ठान होता है तो, उस नाम कीर्त्तनादि के द्वारा जो भक्ति अनुष्ठित होती है, उसकी श्रेष्ठता नहीं है । कारण, भक्ति योग, अन्यनिरपेक्ष है, कर्म ज्ञानादि साधन का भोग मोक्ष रूप फल अति तुच्छ है, उस तुच्छ फल सम्पादन हेतु भक्ति योग प्रयुक्त होने से भक्ति योग के निकट अपराध ही होता है । अर्थात् उक्त अनुष्ठित भक्ति योग से नामापराध ही होता है, एवं उक्त रीति से नाम कीर्त्तन से विनाश शीलता प्रशस्त होती है । श्रीहरि चरणों में प्रीति लाभ उक्त अनुष्ठान नहीं होता है, नश्वर भौतिक पदार्थों में अत्यधिक आसक्ति बढ़ती है । कारण, अन्यसाधन के सहित मिश्रित करके श्रीनामादि कीर्त्तन करने से उक्त श्रवण कीर्त्तनादि रूप भक्ति योग--उस साधक के प्रति अप्रसन्न होता है । सुतरां साक्षात् भक्तियोग का जो मुख्य फल—श्रीकृष्ण चरणों में प्रीति लाभ है, उस से वह साधक सम्पूर्ण वञ्चित हो जाता है । उक्त अभिप्राय को प्रकट करने के निमित्त ही मूल श्लोक में 'भगवति' पद का उल्लेख हुआ है ।

श्रीयमराज—निज भक्त वृन्द को कहे थे ।।९२।।

६३ । तथा (भा० ६।१।१७)—

(६३) "सध्रीचीनो ह्ययं लोके पन्थाः क्षेमोऽकुतोभयः ।
सुशीलाः साधवो यत्र नारायण-परायणाः ॥"१६१॥

अयं पन्थाः श्रीनारायणभक्तिमार्गः ॥ श्रीशुकः ॥

६४ । तत्रैवान्वयेन सर्वशास्त्रश्रवणफलत्वं सकैमुत्यमाह (भा० ३।१३।४)—

(६४) "श्रुतस्य पुंसां सुचिरश्रमस्य, नन्वञ्जसा सूरिभिरीड़ितोऽर्थः ।
तत्तद्गुणानुश्रवणं मुकुन्द,-पादारविन्दं हृदयेषु येषाम् ॥"१६२॥

पुंसां श्रुतस्य वेदार्थविगतेरयमेवार्थः प्रयोजनम्, ईड़ितः श्लाघितः । कोऽसौ ? मुकुन्दस्य

---

६३ । साक्षात् भक्ति योग की अवश्य कर्त्तव्यता भा० ६।१।१७ श्लोक में श्रीशुकदेव श्रीपरीक्षित् महाराज को कहे थे ।

(६३) "सध्रीचीनो ह्ययं लोके पन्थाः क्षेमोऽकुतोभयः ।
सुशीलाः साधवो यत्र नारायण-परायणाः ॥"१६१॥

टीका— अत्र हेतुः, सध्रीचीनः समीचीनः, अयं पन्था भक्तिमार्गः । यतः क्षेमः । क्षेमत्वे हेतुः, न कुतश्चिद् विघ्नादेर्भयं यस्मिन् । तदेवाह— सुशीलाः--कृपालवः, साधवो निष्कामाः यत्र यस्मिन् मार्गे । अतो न ज्ञान मार्ग इव असहायता निमित्तं भयं, नापि कर्म मार्गवत् मत्सरादि युक्तेभ्यो भयमितिभावः ॥

हे राजन् । श्रीनारायण के भक्ति योग के प्रभाव से महा पापीवृन्द भी परम पवित्र होते हैं, कारण, भक्तिमार्ग, अति समीचीन, अर्थात् अति सुन्दर एवं अति पवित्र है, भक्ति मार्ग ही अतिक्षेम एवं मङ्गलमय है, जो लोक भक्तिमार्ग को अवलम्बन करते हैं, उनको विघ्न से अभिभूत नहीं होना पड़ता है, कारण, भक्तिमार्ग में विचरणकारी व्यक्ति गण, परम कृपालु निष्काम एवं एकमात्र श्रीनारायण परायण होते हैं । अतएव, ज्ञानमार्ग में जिस प्रकार असहायता दोष है, कर्म मार्ग में जिस प्रकार परश्रीकातरता दोष हैं, भक्ति मार्ग में उक्त दोष नहीं है । तात्पर्य्य यह है कि—ज्ञान मार्ग में "मैं ईश्वर हूँ अथवा ब्रह्म हूँ" इस प्रकार अभेद भावना होती है, अतः ज्ञानी का स्खलन पतन में ईश्वर सहायक नहीं होते हैं । भक्तिमार्ग में साधक अपने को श्रीहरि दास मानते हैं, एवं श्रीहरि को निज प्रभु मानते हैं, श्रीहरि का अनुग्रह ही साधक का एकमात्र जीवातु होता है, तज्जन्य भक्ति मार्ग स्थित भक्त वृन्द के प्रति श्रीहरि एवं तदीय भक्त वृन्द की सर्वदा अत्यधिक अनुकम्पा होती रहती है । कर्म मार्ग में कर्म्मिगण, पर श्री कातर होते हैं, अतएव अपर कर्मिगण--उन्नति के बाधक होते हैं । भक्ति पथ में निज स्वार्थ के प्रति दृष्टि नहीं रहती है । श्रीहरि की परिचर्य्या ही लक्ष्य होती है, अतः भक्त एवं भगवान् भक्तिमार्गावलम्बन कारी के प्रति सर्वदा करुणामयी दृष्टि निःक्षेप करते रहते हैं । उक्त कारण समूह से ही भक्ति मार्ग--सर्वथा अकुतोभय--मङ्गल स्वरूप है । मूल श्लोकस्थ—"अयं पन्थाः" पद का अर्थ श्रीनारायण भक्ति मार्ग है ।

श्रीशुक—परीक्षित् को कहे थे ॥६३॥

६४ । भा० ३।१३।४ में अन्वय मुख से निखिल शास्त्राध्ययन के मुख्य फल रूप में भक्ति की ही अवश्य कर्त्तव्यता कैमुत्यिक न्याय से वर्णित है ।

(६४) 'श्रुतस्य पुंसां सुचिरश्रमस्य, नन्वञ्जसा सूरिभिरीड़ितोऽर्थः ।
तत्तद्गुणानुश्रवणं मुकुन्द, पादारविन्दं हृदयेषु येषाम् ॥'१६२॥

टीका—अतस्तस्य चरितं श्रोतव्यमित्याह । सुचिरं श्रमो यस्मिन् तस्य पुंसां श्रुतस्य अञ्जसा

पादारविन्दं येषां हृदयेषु वर्त्तते, तेषां तत्तद्गुणानां भगवद्भक्त्यात्मकानामनुश्रवणं यत् सोऽर्थमिति । ततः सुतरामेव श्रीमुकुन्दस्येत्यर्थः । एवमेवोक्तम् (भा० १।२।२८) "वासुदेवपरा वेदाः" इत्यादि, (भा० २।२।३४) "भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येन" इत्यादि । तथा च पाद्म-बृहत्-सहस्रनाम्नि—

"स्मर्त्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्त्तव्यो न जातुचित् । सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेव किङ्कराः ॥"१६३॥

तथा च स्कान्दे प्रभासखण्डे; लिङ्गपुराणे च–

"आलोडच सर्वशास्त्राणि विचार्य्य च पुनः पुनः । इदमेव सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा ॥१६४॥

मुख्यत्वेन अयमेवार्थ ईड़ितः स्तुतः । ननु मुकुन्द पादारविन्दं येषां येषां हृदयेष्वस्ति तेषां तेषां भागवतानां गुणानुश्रवणमिति यत् ॥

सुदीर्घ काल व्यापी श्रमसाध्यन वेदार्थ ज्ञान का यह ही फल है, जिसकी प्रशंसा उच्चैःस्वर से समस्त विद्वज्जनों ने किया है । वह मुख्य फल क्या है ? कहते हैं—जिनके हृदय में अनवरत श्रीभगवच्चरनारविन्द विराजमान है, उन सब महापुरुष वृन्द के मुखचन्द्र विनिःसृत श्रीहरि की गुण कथा श्रवण करना । अर्थात् श्रीहरि में जात रति भक्त जन के मुख से श्रीहरि कथा श्रवण करना ही निखिल वेद एवं वेदानुगत शास्त्राध्ययन का मुख्य फल है ।

श्रीगोस्वामि चरण कृत उक्त श्लोक की व्याख्या—पुरुष मात्र का वेद तात्पर्य्य बोध का यह ही मुख्य फल है, जिसकी प्रशंसा साधुजनों ने मुक्त कण्ठ से की है । वह फल, क्या है ? कहते हैं । जिन के हृदयों में मुकुन्द चरण विद्यमान है । उनसब महापुरुष भक्त वृन्द के मुख से श्रीकृष्णगुणावली का अनवरत जो श्रवण है, वह ही वेदादि शास्त्र अध्ययन का मुख्य फल है, साधुवृन्द उसकी भूयोभूयः प्रशंसा करते रहते हैं ।

अतएव भक्त जन वृन्द के समीप से श्रीकृष्ण गुण कथा श्रवण को ही साधुवृन्द, अवश्य कर्त्तव्यतारूप में साधु वाद प्रदान करते हैं । ऐसा होनेपर श्रीमुकुन्द के गुण कथा श्रवण ही वेदादि निखिल शास्त्राध्ययन का मुख्य फल रूप में जो उद्घोषित हुआ है, इस के सम्बन्ध में अधिक कहने की आवश्यकता ही क्या है ?

"श्रुतस्य पुंसां सुचिरश्रमस्य, नन्वञ्जसा सुरिभिरीड़ितोऽर्थः"

श्लोक का तात्पर्य्य इस प्रकार ही जानना होगा । इस अभिप्राय से ही भा० १।२।२८ में "वासुदेव परावेदाः" इत्यादि एवं भा० २।२।३४ में "भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येन" इत्यादि श्लोकों का कथन हुआ है । अतः श्रीभगवद् भक्ति की ही अवश्य कर्त्तव्यता का वर्णन, पद्म पुराण के बृहत् सहस्रनामस्त्रोत्र में अन्वय व्यतिरेक मुख से स्पष्टतः हुआ है ।

"स्मर्त्तव्यः सततं विष्णु र्विस्मर्त्तव्यो न जातुचित् ।
सर्वे विधि निषेधाः स्युरेतयोरेव किङ्कराः ॥"

सर्वदा श्रीविष्णु का स्मरण करना कर्त्तव्य है, कभी भी उनको भूलना नहीं चाहिये । शास्त्र के निखिल कर्त्तव्य उपदेश, सतत श्रीविष्णु स्मरण रूप कर्त्तव्य विधि के अनुगत किङ्कर हैं । एवं शास्त्र के निखिल निषेध, अर्थात् अकर्त्तव्य उपदेश, श्रीविष्णु विस्मरण रूप निषेध विधि के अनुगत किङ्कर है ।

जिस प्रकार उक्त स्थल में अन्वय एवं विधि मुख से श्रीहरि भक्ति की अवश्य कर्त्तव्यता विहित हुई उस प्रकार ही स्कन्द पुराण के प्रभाष खण्ड में एवं लिङ्ग पुराण में अन्वय मुख से श्रीविष्णु भक्ति की ही अवश्य कर्त्तव्यता उपदिष्ट हुई है ।

अतएव वेदार्पणमन्त्रः–

"इति विद्यातपोयोनिरयोनिविष्णुरीड़ितः। ब्रह्मज्ञस्तपते देवः प्रीयतां मे जनार्द्दनः॥"१६५॥

श्रीविदुरः॥

९५। यतो यश्च शास्त्रे वर्णाश्रमाचारो विधीयते; तस्याप्यनुपम-चरितं फलं भक्तिरेव, यथा (भा० १०।४७।२४)–

(९५) "दान-व्रत-तपो-होम-जप-स्वाध्याय-संयमैः।
श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते॥"१६६॥

दानादिभिः श्रीकृष्णसन्तोषार्थैरिति ज्ञेयम्। तदुक्तम् (भा० ४।३१।९) "तज्जन्म तानि कर्म्माणि तदायुस्तन्मनो वचः" इत्यादि, वृहन्नारदीये—

"आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य्य च पुनः पुनः।
इदमेव सुनिष्पन्नं धेयो नारायणः सदा" १६४॥

यह श्लोक उभय पुराण में समान रूप से है। समस्त शास्त्र मन्थन एवं पुनः पुनः विचार करके यही सुसिद्धान्त किया गया है कि—सर्वदा श्रीनारायण का ध्यान करे। अतएव वेद अध्ययन करके उसका अर्पण मन्त्र में भी श्रीविष्णु भक्ति का प्रसङ्ग ही उपलब्ध है।

"इति विद्या तपोयोनिरयोनिविष्णु रीड़ितः।
ब्रह्मज्ञस्तपतेदेवः प्रीयतां मे जनार्द्दनः॥१६५॥

इस प्रकार विद्या एवं तपस्या का उद्गमस्थान श्रीविष्णु हैं, अथच श्रीविष्णु, अयोनि रूप से समस्त शास्त्रों में कीर्त्तित हैं। ब्रह्मज्ञानिवृन्द, जिन श्रीविष्णु की तपस्या करते रहते हैं, उन सर्वाराध्य जनार्दन श्री विष्णु मेरे प्रति प्रसन्न होवें॥

प्रकरण प्रवक्ता श्रीविदुर हैं।९४॥

९५। तज्जन्य शास्त्र में वर्ण एवं आश्रमोचित जो आचरण विहित है, उस आचरण का भी अतुलनीय फल श्रीभगवद् भक्ति ही है, भा० १०।४७।२४ में श्रीउद्धव महाशय व्रजदेवी वृन्दको कहे थे—

(९५) "दान व्रत तपो होम जप स्वाध्याय संयमैः।
श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते॥१६६॥

टीका—श्रेयोभिः—श्रेयः साधनैः।

क्रमसन्दर्भ। (भा० १०।२१।९) "गोप्यः किमाचरद्" इतिवद् भक्तिः श्रवणादि--रुचिः साध्यते॥

हे व्रजदेवीवृन्द! दान, व्रत, तपस्या, होम, जप, स्वाध्याय—निज अधिकारोचित अध्ययन, एवं इन्द्रिय संयम प्रभृति द्वारा एवं जितने भी माङ्गलिक अनुष्ठान हैं, उक्त समस्त साधन समूह का साध्य अर्थात् फल,—श्रीकृष्ण चरणों में भक्ति है।

उक्त श्लोक में दानादि साधनों का जो उल्लेख है, उक्त साधन समूह श्रीकृष्णार्पित होना चाहिये। कारण, जो, दान व्रत तपस्या प्रभृति साधन श्रीकृष्णार्पित नहीं होते हैं, वह सब साधन द्वारा श्रीकृष्ण भक्ति की प्राप्ति नहीं होती है। तज्जन्य ही महर्षि श्रीनारद भा० ४।३१।९ में कहे हैं—

तज्जन्म तानि कर्माणि तदायुस्तन्मोवचः।
नृणां येन हि विश्वात्मा सेव्यते हरिरीश्वरः॥"

"जन्मकोटिसहस्रेषु पुण्यं यैः समुपार्जितम् । तेषां भक्तिर्भवेच्छुद्धा देवदेवे जनार्द्दने ॥"१६७॥ इति ।

अगस्त्यसंहितायाम्—

"व्रतोपवासनियमैर्जन्मकोटयाप्यनुष्ठितैः । यज्ञैश्च विविधैः सम्यग्भक्तिर्भवति माधवे ॥१६८॥ इति ।

एतदेव व्यतिरेकेणोक्तम् (भा० १।८)--**"धर्म्मः स्वनुष्ठितः पुंसाम्" इत्यादौ,** (भा० १२।१२।५४) **"यशः श्रियामेव" इत्यादौ च ॥ श्रीउद्धवः श्रीव्रजदेवीः ॥**

टीका—अहो गृहाप्रसक्तया हरि सेवां विना सर्वं जन्मकर्मादिकं व्यर्थीकृतमिति ताननुशोचन्नाह तज्जन्मेति चतुर्भिः । यतो जन्मादे र्हरि सेवैव फलम् । अतस्तद्विहीनं सर्वं व्यर्थमित्यर्थः ॥

क्रमसन्दर्भ—तत्र तेषां ब्रह्मनिष्ठां त्याजयितुं श्रीभगवन्निष्ठां प्रशंसन्ति--तज्जन्मेति ।

अर्थात् मानववृन्द वह जन्म ही जन्म है, वह कर्म ही यथार्थतः कर्म है, वह जीवन ही यथार्थतः जीवन है, वह मन–वाक्य, यथार्थतः धन्य हैं, जिस जन्म, जिस कर्म, जिस जीवन, जिस मन, एवं जिस वचन के द्वारा श्रीहरि सेवित होते हैं । अतएव इस प्रमाण के द्वारा समझना होगा कि— दान व्रतादि साधन समूह श्रीकृष्णार्पित होने चाहिये ।

वृहन्नारदीय पुराण में लिखित है—

"जन्मकोटि सहस्रेषु पुण्यं यैः समुपार्जितम् ।
तेषां भक्ति र्भवेच्छुद्धा देवदेव जनार्दने ॥१६७॥

समस्त पुण्यों का एकमात्र सर्वश्रेष्ठ फल श्रीभगवद् भक्ति ही है । अर्थात् जिन्होंने सहस्र सहस्र कोटि कोटि जन्म में पुण्योपार्जन किया है, देव देव श्रीजनार्दन में उनकी विशुद्धा भक्ति होती है । अगस्त्य संहिता में भी लिखित है—

"व्रतोपवासनियमै र्जन्म कोटयाप्यनुष्ठितैः ।
यज्ञैश्च विविधैः सम्यग् भक्तिर्भवति माधवे ॥"१६८॥

जिन्होंने कोटि कोटि जन्म के द्वारा व्रत, उपवास, नियम प्रभृति का अनुष्ठान किया है, एवं कोटि कोटि जन्म में यज्ञ समूह का अनुष्ठान किया है, श्रीमाधव के श्रीचरणों में उनकी भक्ति होती है । इस प्रकार भगवद् भक्ति की अवश्य कर्त्तव्यता के विषय में भा० १।२।८ में श्रीसूतने भी व्यतिरेक मुख से कहा है—

"धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक् सेनकथासु यः ।
नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रमएव हि केवलम् ।"

टीका—व्यतिरेक माह धर्म इति । यो धर्म इति प्रसिद्धः, स यदि विष्वक् सेनस्य कथासु रतिं नोत्पादयेत् तर्हि स्वनुष्ठितोऽपि सन्नयं श्रमज्ञेयः । ननु मोक्षार्थस्यापि धर्मस्य श्रमत्वमस्त्येव अत आह केवलं विफल श्रम इत्यर्थः । नन्वस्ति तत्रापि स्वर्गादि फलमित्याशङ्क्य एव कारेण निराकरोति, क्षयिष्णुत्वान्न तत् फल मित्यर्थः । नन्वक्षय्यं ह वै चातुर्म्मास्य याजिनः सुकृतं भवतीत्यादि श्रुतेर्न तत् फलस्य क्षयिष्णुत्वमित्याशङ्क्य हि शब्देन साधयति । तत् यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयते, एवमेरात्र पुण्यजितो लोकः क्षीयत इति तर्कानुगृहीतया श्रुत्या क्षयिष्णुत्व प्रतिपादनात् ।"

सुन्दर रूप से धर्मानुष्ठान करने पर भी यदि उससे श्रीकृष्ण चरणों में प्रीति नहीं होती है तो, वह अनुष्ठान श्रममात्र में पर्य्य वसित होता है । इस प्रकार ही भा० १२।१२।५४ में भी कहा गया है--

"यशः श्रियामेव परिश्रमः परो वर्णाश्रमाचारतपः श्रुतादिषु ।

९६। यच्च तत्र ज्ञानमभिधीयते, तदपि भक्तयन्तर्भूततयैव लभ्यम्, यथा (भा० १०।१४।५)

(९६) "पुरेह भूमन् बहवोऽपि योगिन,-स्त्वदर्पितेहा-निजकर्मलब्धया।
विबुध्य भक्त्यैव कथोपनीतया, प्रपेदिरेऽञ्जोऽच्युत ते गतिं पराम्॥"१६९॥

हे भूमन्, इह लोके पूर्वं बहवो योगिनोऽपि सन्तो योगैर्ज्ञानमप्राप्य पश्चात्त्वयि अर्पिता ईहा लौकिक्यपि चेष्टा तथार्पितानि यानि निजानि कर्म्माणि तैर्लब्धया कथा-रुचिरूपया

अविस्मृतिः श्रीधर पाद पद्मयो गुणानुवाद श्रवणादरार्दिभिः॥

श्रीउद्धव---श्रीव्रजदेवीवृन्द को कहे थे ॥९५॥

९६। श्रीमद् भागवत ग्रन्थ के प्रकरण के बीच बीच में जो ज्ञान साधन का उपदेश हुआ है, वह ज्ञान भी भक्ति साधन के अन्तर्भूत करके ही उपदिष्ट हुआ है। अर्थात् विशुद्ध भक्ति का अनुष्ठान न करने से श्रीमद् भागवत में वर्णित विमल ज्ञान को स्वतन्त्र रूप से प्राप्त करने की सम्भावना नहीं है। भा० १२।१४।५ में श्रीब्रह्मा कहे हैं—

(९६) "पुरेह भूमन् बहवोऽपि योगिनस्त्वदर्पितेहा निजकर्मलब्धया।
विबुध्यभक्त्यैव कथोपनीतया, प्रपेदिरेऽञ्जोच्युत ते गतिं पराम्॥"१६९॥

टीका—हे भूमन्! अपरिच्छिन्न! इह लोके पूर्वं योगिनोऽपि सन्तो योगैर्ज्ञानमप्राप्य पश्चात् त्वदर्पितेहाः त्वय्यर्पितेहानिजकर्मलब्धया विबुध्य भक्त्यैव कथोपनीतया प्रपेदिरेऽञ्जोऽच्युत ते गतिं पराम्॥१६९॥

टीका—भक्त्यैव ज्ञानं नान्यथेत्यत्र सदाचारं प्रमाणयति पुरेति। हे भूमन्! अपरिच्छिन्न! इह लोके पूर्वं योगिनोऽपि सन्तो योगै ज्ञानमप्राप्य पश्चात् त्वदर्पितेहाः त्वय्यर्पिता लौकिक्यपि ईहा चेष्टा यै स्तं। निज कर्म लब्धया। त्वदर्पितै निजैः कर्मभिर्लब्धया। त्वय्यर्पिता ईहा निजानि कर्माणि च तै लब्धया इत्येकं पदं वा। कथोपनीतया कथया त्वत् समीपं प्रापितया भक्त्यैव विबुध्य, आत्मानं ज्ञात्वा, अञ्जः सुखेनैव, ते परां गतिं प्राप्ताः।

हे भूमन्! अर्थात् स्वरूप एवं गुणों से सर्वथा परिपूर्ण स्वरूप! इस जगत् में कुछ वस्तु स्वरूप में बृहत् है, जिस प्रकार आकाश, किन्तु गुण-एक मात्र उसमें शब्द है, कुछ वस्तु गुण से पूर्ण होने पर भी स्वरूप में क्षुद्र है, जिस प्रकार पृथिवी में शब्द स्पर्शादि पञ्चगुण होने पर भी स्वरूपतः क्षुद्र है। उस प्रकार पारमार्थिक जगत् में निर्विशेष ब्रह्म स्वरूपतः सर्वथा पूर्ण होने पर भी गुण हीन है, अर्थात् प्राकृत अप्राकृत कुछ भी गुण,--निर्विशेष ब्रह्म में नहीं है।

हे नाथ! तुम जिस प्रकार स्वरूपतः पूर्ण हो, इस प्रकार स्वरूपभूत अप्राकृत गुण राशि से भी परिपूर्ण हो। इस अभिप्राय से ही श्रीब्रह्मा ने श्रीकृष्ण को 'भूमन्! शब्द से सम्बोधन किया। पूर्वकाल में इस जगत में अनेकानेक महात्मा वृन्द योग साधन में प्रवृत्त होकर भी योग साधन के द्वारा ज्ञानलाभ करने में अक्षम हुये थे। पश्चात् तुम को लौकिक वैदिक उभय विध कर्म अर्पण करके निज कर्म्माचरण के द्वारा तुम्हारी कथा में रुचिलक्षणा भक्ति प्राप्त कर पश्चात् तुम्हारी परमा भक्ति प्राप्त कर अतिसुख पूर्वक तुम्हारे सान्निध्यरूप परम गति को प्राप्त किये थे।

स्वामि पाद कृत व्याख्या का तात्पर्य्य—हे भूमन्! इस जगत् में प्राक्तन समय में अनेक महात्मा वृन्द योगी होकर भी बहु विध योग साधन के द्वारा विमल ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ होकर पश्चात् लौकिकी चेष्टा को भी तुम को अर्पण किये थे, तुम को अर्पित निज कर्मवृन्द के फल से तुम्हारी कथा श्रवण में रुचि लक्षणा भक्ति लाभ किये थे। अनन्तर तुम्हारी कथा में रुचिलक्षणा भक्ति लाभ के फल से तुम्हारी

पुनश्च कथोपनीतया कथया तत्समीपं प्रापितया कथनीयरुचिरूपया भक्त्यैव अञ्जः सुखेन विबुध्य आत्मतत्त्वमारभ्य श्रीभगवत्तत्त्वपर्यन्तमनुभूय तव परमान्तरङ्गां गतिं प्राप्ताः। श्रीगीतोपनिषत्सु च (१०।८)--"अहं सर्वस्य प्रभवः" इत्यादिभिः शुद्धां भक्तिमुपदिश्याह (गी० १०।११) ---

---

सान्निध्य प्रापिका तुम्हारी रुचिलक्षणा -भक्ति प्राप्ति हुई थी, उक्त भक्ति के फल स्वरूप सुख से आत्म तत्त्व से प्रारम्भ कर श्रीभगवत्तत्त्व का अनुभव कर तुम्हारी परमा अन्तरङ्ग गति को प्राप्त किये थे। यहाँ समझने की बात यह है कि—भगवदर्पित कर्म फल से श्रीभगवत कथा में रुचि होती है, अर्थात् भगवान् में कर्मार्पण करते करते यदि सत्सङ्ग रूप सौभाग्यलाभ होता है। तो, उक्त सौभाग्य से श्रीहरि कथा में रुचि होती है। यदि सत्सङ्ग रूप सौभाग्य लाभ नहीं होता है तो, केवल मात्र भगवदर्पित कर्म के द्वारा श्रीहरि कथा में रुचिका उदय नहीं होता है। श्रीहरि कथा में रुचिलाभ के फल से कथनीय पदार्थ श्रीहरि में रुचिलक्षणा भक्ति का आविर्भाव होता है।

"आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजन क्रियाः।
ततोऽनर्थ निवृत्तिः स्यात् ततो निष्ठा ततोरुचिः"

इस लक्षण के अनुसार निष्ठा के पश्चात् रुचि का उदय होता है, श्रीहरि कथा में रुचि रूपा यह प्रथम प्रथम रुचि है, इस प्रकार रुचि होने के पश्चात् ही श्रीहरि में रुचिका उदय होता है। जब तक कथनीय श्रीहरि में रुचि नहीं होती है, तब तक श्रीहरि के निमित्त यथार्थ व्याकुलता जीवन में नहीं आ सकती है। इस प्रसङ्ग में श्रीभगवद् भक्ति के अन्तर्भूत रूप से ही ज्ञान लाभ की कथा कही गई है। अर्थात् भगवद् भक्ति का अनुष्ठान व्यतीत स्वतन्त्र रूप से किसी भी अनुष्ठान के द्वारा स्वरूपावबोधक विमल ज्ञान लाभ की सम्भावना नहीं की जा सकती है।

श्रीमद् भगवद् गीता के त्रयोदश अध्याय में भी उस प्रकार उल्लेख दृष्ट होता है।

"विविक्त देशसेवित्वमरति र्जनसंसदि।
मयि चानन्य योगेन भक्ति रव्यभिचारिणी।
एतज् ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यत् ततोऽन्यथा॥"

इस श्लोक में विशुद्धा भक्ति भिन्न साधन को अज्ञान कहा गया है। गी० १०।८ में भी उक्त है—

"अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधाः भावसमन्विताः॥"

टीका—तत्र महैश्वर्य्य लक्षणां विभूतिमाह—,अहं सर्वस्य--प्राकृता प्राकृत वस्तु मात्रस्य प्रभवः, उत्पत्तिप्रादुर्भावयोः—हेतुः। मत्त एवान्तर्य्यामि स्वरूपात् सर्वं जगत् प्रवर्त्तते-चेष्टते, तथा मत्त एव नारदाद्यवतारात्मकत्वात् सर्वं भक्ति ज्ञान तपः कर्मादिकं साधनं तत्तत् साध्यञ्च प्रवृत्ति भवति। ऐकान्तिक-भक्ति लक्षणं योगमाह इति मत्वा, आस्तिक्यतो ज्ञानेन निश्चित्य इत्यर्थः। भावो दास्य सख्यादि स्तद्युक्ताः।

इत्यादि श्लोकों के द्वारा शुद्धाभक्ति का उपदेश प्रदानकर गी० १०।१०।११ में कहते हैं—

"तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीति पूर्वकं।
ददामि बुद्धि योगं तं येन मामुपयान्ति ते॥"

टीका—ननु तुष्यन्ति च रमन्ति चेति त्वदुक्त्या त्वद् भक्तानां भक्त्यैव परमानन्दो गुणातीत इत्यवगतं किन्तु तेषां त्वत् साक्षात् प्राप्तौ कः प्रकारः, स च कुतः सकाशात्तैरवगन्तव्य इत्यपेक्षायामाह—तेषामिति।

"तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ।।"१७०।। इति ।। ब्रह्मा श्रीभगवन्तम् ।।

९७। यान्यन्यानि सर्वाणि तत्र पुरुषार्थ-साधनान्युच्यन्ते, तान्यपि तथैव भक्तिमूलान्येव, यथा (भा० १०।८१।१९)—

(९७) "स्वर्गापवर्गयोः पुंसां रसायां भुवि सम्पदाम् ।
सर्वासामपि सिद्धीनां मूलं त्वच्चरणार्च्चनम् ।।"१७१

(भा० ८।२३।१६) "मन्त्रतस्तन्त्रतश्छिद्रम्" इत्यादि-न्यायेन (भा० ११।५।२) "मुखबाहूरुपादेभ्यः"

सतत युक्तानां, नित्यमेव मत् संयोगाकाङ्क्षिणां तं बुद्धि योगं ददामि, तेषांहृदवृत्तिष्वहमेव उद् भावयामीति स बुद्धियोगः स्वतोऽन्यस्माच्च कुतश्चिदप्यधिगन्तुमशक्यः, किन्तु मदेकदेयस्तदेक ग्राह्य इति भावः। मामुपयन्ति--मामुपलम्भन्ते— साक्षान्मन्निकटं प्राप्नुवन्ति ।।१०।।

नित्य भक्ति योग के द्वारा जो प्रीति पूर्वक मेरा भजन करते हैं -मैं उन सब को शुद्ध ज्ञान जनित विमल प्रेम योगदान करता हूँ, वे सब उस के द्वारा मेरापरमानन्द धाम को प्राप्त करते हैं ।

गी० १०।११ "तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ।।"

टीका—"ननु च विद्यादि वृत्ति विना कथं त्वदधिगमः, तस्मात्तैरपितदर्थं यतनीयमेव, तत्र नहीनहीत्याह, तेषामेव, नत्वन्येषां योगिनां, अनुकम्पार्थं, मदनुकम्पा येन प्रकारेण स्यात्तदर्थमित्यर्थः। तैर्मदनुकम्पा प्राप्तौ कापिचिन्ता न कार्य्या,यत, स्तेषां बुद्धिवृत्तौ स्थितः। ज्ञानं मदेकप्रकाश्यत्वान्न सात्विकं, निर्गुणत्वेपि भक्त्युत्थ ज्ञानतोऽपि विलक्षणं यत्तदेव दीपस्तेन। अहमेव नाशयामीति तैः कथं तदर्थं प्रयतनीयम् तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहमिति मदुक्तेस्तेषां व्यावहारिकः पारमार्थिकश्च सर्वोऽपि भारो मया वोढ़ुमङ्गीकृत एवेति भावः। श्रीमद् गीता सर्वसम्भूता भूतापतापहृत्। चतुः श्लोकीयमाख्याता, ख्याता सर्वनिशर्मकृत् ।"

इस प्रकार भक्ति योगानुष्ठान कारियों में अज्ञान नहीं रह सकता है। कतिपय व्यक्ति मानते हैं कि- अतत् निरसन क्रम से तत् वस्तु का अनुसन्धान करने से ही ज्ञानोदय होता है, केवल भक्ति भाव का अनुशीलन करने से उक्त दुर्ल्लभ ज्ञान लाभ कैसे हो सकता है ? उत्तर में कहते हैं-हे अर्जुन ! निज बुद्धि का अनुशीलन क्रम से क्षुद्रजीव असीम सत्यवस्तु का ज्ञान लाभ कैसे कर सकता है ।

विचार के द्वारा पर तत्त्वविषयक विशुद्ध ज्ञान लाभ करने में समक्ष है। मेरी कृपा से क्षुद्र जीव,सम्यक् ज्ञान लाभ करने में सक्षम है। भक्त गण,मेरा अलौकिक ज्ञानदीपके द्वारा निरन्तर उद्भासित होते हैं। मैं विशेष अनुकम्पा के द्वारा भक्त वृन्द के हृदयस्थित अज्ञानान्धकार विनष्ट कर देता हूँ। जिस शुद्ध ज्ञान में जीव का अधिकार है, वह ज्ञान, भक्ति अनुशीलन से ही लभ्य है। तर्कादि अपर साधन के द्वारा लभ्य नहीं है।

ब्रह्मा—श्रीभगवान् को कहे थे ।।९६।।

९७। श्रीमद् भागवत में जो सब अन्य पुरुषार्थ साधनों की कथा उल्लिखित हैं, उन सब साधनों का मूल भक्ति ही है, अर्थात् भक्ति की सहायता से ही समस्त पुरुषार्थ सिद्ध होता है। भा० १०।८१।१९ में उक्त है—

(९७) "स्वर्गापवर्गयोः पुंसां रसायां भुवि सम्पदाम् ।
सर्वासामपि सिद्धीनां मूलं त्वच्चरणार्च्चनम् ।।"१७१।।

इत्यादुचक्तनित्यत्वेन च सर्वथा तद्वहिर्मुखानां तु तत्तदलाभ एव स्यादित्यर्थः । यथा स्का:दे-

"विष्णुभक्तिविहीनानां श्रौताः स्मार्त्ताश्च याः क्रियाः ।
कायक्लेशः फलं तासां स्वैरिणी व्यभिचारवत् ॥१७२॥ इति ।

तदुक्तं श्रीयुधिष्ठिरेण (भा० १०।७२।४) --

"त्वत्पादुके अविरतं परि ये चरन्ति, ध्यायन्त्यभद्रनशने शुचयो गृणन्ति ।
विन्दन्ति ते कमलनाभ भवापवर्ग,-माशासते यदि च आशिष ईश नान्ये ॥"१७३॥

इति । अत उक्तं वृहन्नारदीये-

टीका—एवं सम्पूज्यापि धनस्यादाने कारणं कल्पयति,-स्वर्गापवर्गयोरिति, द्वाभ्याम् ॥

श्रीदाम विप्र के वाक्य से प्रकाशित है कि—स्वर्ग में, मुक्ति में, रसातल में एवं भूतल में जितनी सम्पत्ति है, एवं जितनी सिद्धियां हैं, श्रीभगवान् के चरणार्चन ही उन सबका मूल है। अर्थात् श्रीकृष्ण चरणार्च्चन के विना उक्त समस्त पुरुषार्थ का लाभ नहीं हो सकता है।

काम्य कर्मानुष्ठान में मन्त्रगत एवं साधनगत अनेक त्रुटि उपस्थित होती हैं भा० ८।२३।१६ में उक्त है।

"मन्त्रतस्तन्त्रतश्छिद्रं देश कालार्ह वस्तुतः ।
सर्वं करोति निश्छिद्रमनुसङ्कीर्त्तनं तव ॥"

टीका—आस्तां तावत् पूजा यस्मान्मन्त्रतः स्वरादि भ्रंशेन, तन्त्रतो व्युत्क्रमादिना देशतः कालतः अर्हतः, पात्रतः, वस्तुतश्च दक्षिणादिना यच्छिद्रं न्यूनं तत् सर्वं तवानुकीर्त्तनमात्रमेव निश्छिद्रं करोति।

एवं भा० ११।५।२ में उक्त है—

"मुखबाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैसह ।
चत्वारो जज्ञिरेवर्णा गुणैर्विप्रादय पृथक् ॥

टीका—स्व जनकस्य गुरोर्भगवतोऽनादराद् गुरुद्रोहेण दुर्गतिं यान्तीति वक्तुं भगवतः सकाशाद्वर्णाश्रमाणामुत्पत्तिमाह मुखेति। गुणैः सत्त्वेन विप्रः, सत्त्व रजोभ्यांक्षत्रियः, रजस्तमोभ्यां वैश्यः, तमसा शूद्र इति।

उक्त श्लोक के द्वारा भगवद् भजन का नित्यत्व विहित हुआ है। अतः भगवद् वहिर्मुख व्यक्ति गण कभी भी स्वर्गादिसुख अथवा किसी प्रकार पुरुषार्थ प्राप्त करने में सक्षम नहीं हैं। स्कन्द पुराण में वर्णित है।

"विष्णुभक्ति विहीनानां श्रौताः स्मार्त्ताश्च याः क्रियाः ।
कायक्लेशः फलं तासां स्वैरिणी व्यभिचारवत् ॥"१७२॥

वेश्यावृन्द का व्यभिचार जिस प्रकार काय क्लेश में पर्य्यवसित होता है, उस प्रकार श्रीविष्णु भक्ति हीन जन गण जो कुछ अनुष्ठान करते हैं, किम्बा स्मृति शास्त्रोक्त अनुष्ठान करते हैं, तत् समुदय अनुष्ठान काय क्लेश में ही पर्य्यवसित होता है। केवल कर्मानुष्ठान द्वारा परिश्रम फल लाभ होता है। श्रीयुधिष्ठिर भा० १०।७२।४ में कहे हैं—

"त्वत् पादुके अविरतं परि ये चरन्ति, ध्यायन्त्यभद्रनशने शुचयो गृणन्ति ।
विन्दन्ति ते कमलनाभ ! भवापवर्ग,माशासते यदि त आशिष ईश नान्ये ॥"१७३॥

टीका—एष चक्रवर्त्तिनां मनोरथः कथं त्वया क्रियत इति चेदत आह—त्वत् पादुके--इति। परि ये चरन्तीति यच्छब्द व्यवधानमार्षम्। ये परिचरन्ति देहेन। ध्यायन्ति—मनसा। अभद्रस्य नशने नाशके।

"यथा समस्तलोकानां जीवनं सलिलं स्मृतम् । तथा समस्तसिद्धीनां जीवनं भक्तिरिष्यते ॥१७४॥ इति ।

श्रीदामविप्रः ॥

९८ । तदेवं तानि साधनानि भक्तिजीवनान्येवेति भक्तेरेव सर्वत्राभिधेयत्वम् । तानि विनापि च भक्तेरेव तत्र साधकत्वमपि दर्शितं तत्र (भा० २।३।१०) **"अकामः सर्वकामो वा" इत्यादौ । यथा श्रीविष्णुपुराणे पुलह वाक्यम्** (वि० पु० १।११।४६) --

"यो यज्ञपुरुषो यज्ञे योगे यः परमः पुमान् । तस्मिंस्तुष्टे यदप्राप्यं किं तदस्ति जनार्द्दने ॥"१७५॥

अतएव मोक्षधर्मे–

"या वै साधनसम्पत्तिः पुरुषार्थ चतुष्टये । तया विना तदाप्नोति नरो नारायणाश्रयः ॥"१७६॥ इति ।

तस्मात् साधूक्तं सर्वशास्त्रश्रवणफलत्वेन तदभिधेयत्वम् । अतएव प्रथमं स्वयंभगवता

गृणन्ति-वाचा । तथा भवस्य अपवर्ग नाशं मोक्षं विन्दन्ति--यद्याशासते तर्हि आशिषोऽपि त एव विन्दन्ति नान्ये चक्रवर्त्तिनोऽपि ।

हे कृष्ण ! सर्व अमङ्गल विनाश कारी तुम्हारी पादुका युगल की परिचर्य्या जो लोक पवित्र भावसे देह के द्वारा करते हैं, मन के द्वारा नियत ध्यान करते हैं । एवं वाक्य के द्वारा तुम्हारी लीला कथा का कीर्त्तन करते हैं, हे कमल नाभ ! वे सब मोक्षपर्य्यन्त प्राप्त करने में समर्थ होते हैं । यदि वे सब अपर विषय के इच्छुक होते हैं, तो आप की सेवा से वह भी सिद्ध होता है । किन्तु तुम्हारे भक्त व्यतीत अपर कोई भी व्यक्ति तत् समुदय को प्राप्त करने में समर्थ नहीं होते हैं । तज्जन्य वृहन्नारदीय पुराण में उक्त है--

"यथा समस्त लोकानां जीवनं सलिलं स्मृतम् ।
तथा समस्त सिद्धानां जीवनं भक्तिरिष्यते ॥"१७४॥

जल, जिस प्रकार समस्त प्राणियों का जीवन है, उस प्रकार भक्ति भी अखिल सिद्धियों का जीवन स्वरूप है ।
श्रीदाम विप्र--कहे थे ॥८७॥

९८ । अतएव भक्ति ही उक्त समस्त साधनों का जीवन होने के कारण, सर्वत्र ही भक्ति का अभिधेयत्व सिद्ध होता है । किन्तु उक्त साधन समूह को छोड़कर ही भक्ति स्वयं ही पुरुषार्थ प्रदान करने में समर्थ है । इस का वर्णन भा० २।३।१७ में हुआ है ।

"अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधी ।
तीव्रेण भक्तियोगेन भजेत पुरुषं परम् ॥"

टीका–अकामः–एकान्त भक्तः । उक्तानुक्तसर्वकामो वा, पुरुषं पूर्णं, परं--निरुपाधिम् ॥

श्रीविष्णु पुराण में पुलह ऋषि का कथन है–

"यो यज्ञ पुरुषो यज्ञे योगे यः परमः पुमान् ।
तस्मिंस्तुष्टे यदप्राप्यं किंतदस्ति जनार्दने ॥"१७५॥

जो, यज्ञ में यज्ञ पुरुष नाम से कथित हैं, एवं जो योग साधना में परम पुरुष शब्द से अभिहित हैं, उन श्रीजनार्द्दन को सन्तुष्ट करने में समर्थ होने पर कुछ भी अप्राप्य नहीं रहते हैं । मोक्ष धर्म में भी उक्तहै-

या वै साधन सम्पत्तिः पुरुषार्थ चतुष्टये ।
तया विना तदाप्नोति नरो नारायणाश्रयः ॥"१७६॥

चतुर्वर्ग प्राप्त करने का अभिलाषी होने पर जो सब साधन उसको प्राप्त करने के निमित्त विहित है, उक्त समुदय साधन व्यतीत भी मानव गण, श्रीनारायण का आश्रय लाभ करने पर उक्त पुरुषार्थ को प्राप्त

सैव प्रवर्त्तितेत्युक्तम् (भा० ११।१४।३) --"कालेन नष्टा प्रलये वाणीयम्" इत्यादिना। तदेवं सति ये तु नातिकोविदास्ते तत्तदर्थं कर्म्माद्यङ्गत्वेनैव श्रीविष्णूपासनां कुर्वते, ततः तदपराद्धेन निज-निजकामनामात्रफलप्रदत्वं तत्रानियतत्वञ्च तस्याः, तत्तदर्थमपि स्वतन्त्रत्वेन क्रियमाणाया भक्तेस्त्ववश्यं तत्तत्फलप्रदत्वम्। न च तत्तन्मात्रदानेन पर्य्याप्तिः, किन्तु पर्य्यवसाने परमफल-प्रदत्वमेवेति। ततस्तस्या एव परमहितत्वेनाभिधेयत्वमाह (भा० ५।१९।२६) —

(९८) "सत्यं दिशत्यर्थितमर्थितो नृणां, नैवार्थदो यत् पुनरर्थिता यतः।
स्वयं विधत्ते भजतामनिच्छता-,मिच्छापिधानं निजपादपल्लवम् ॥"१७७॥

अर्थितःप्रार्थितः सन् नृणामर्थितं सत्यमेव ददाति, न तत्र कदाचिदपि व्यभिचार इत्यर्थः।

कर सकते हैं।

अतएव समस्त शास्त्र श्रवण का फल रूप में भक्ति का जो अभिधेयत्व कहा गया है, वह कथन अतीव सुन्दर है। तज्जन्य ही श्रीभगवान् सृष्टि के प्रारम्भ में भक्ति का प्रवर्त्तन किये थे। भा० ११।१४।३ में उक्त है श्रीभगवान् उद्धव को कहे थे—

"कालेन नष्टा वाणीयं प्रलये वेद संज्ञिता।
मयादौ ब्रह्मणे प्रोक्ता धर्मो यस्यां मदात्मकः ॥"

टीका—तत्र भक्तिरेव महाफलत्वेन मुख्या, अन्यानि तु स्व प्रकृत्यनुसारेण पुष्पस्थानीय स्वर्गादि फल बुद्धिभिः प्राणिभिः प्राधान्येन परिकल्पितानि, क्षुल्लक फलानीति विवेक्तुं प्रकृत्यनुसारेण बहुधा वेदार्थ प्रतिपत्तिमाह,—कालेनेति सप्तभिः। मदात्मकः,—मय्येवात्मा चित्तं यस्य सः ॥(३)

महाप्रलय के समय कालक्रम से मेरा आदेश स्वरूप वेदोपदेश, जगत् में तदनुरूप ग्राहक के अभाव हेतु विलुप्त प्राय हो गया था। अनन्तर महाप्रलय के अन्त में सर्व प्रथम मैं ने ब्रह्मा को वेद संज्ञिता वाणी का उपदेश किया था। जिस में मदात्मक धर्म वर्णित है। अर्थात् मेरी जिस आदेश वाणी में ह्लादिनी शक्ति के वृत्तिरूप भक्ति नाम से अभिहित धर्म का विवरण कहा गया है। अतएव जो लोक विशेष अभिज्ञ नहीं है, वे अब धर्मादि रूप पुरुषार्थ प्राप्ति के निमित्त कर्मादि अनुष्ठान के अङ्ग रूप में श्रीविष्णु की पूजा करते रहते हैं। इस से भक्ति देवी की अमर्य्यादा होती है, अतः भक्ति, केवलमात्र कामनानुरूप फल प्रदान कर्मानुष्ठानकारी को करती है। किन्तु वह फल भी चिरस्थायी नहीं होता है। किन्तु यदि उक्त अनभिज्ञ व्यक्तिगण, अभिलषित फललाभ हेतु स्वतन्त्ररूप से भक्ति का अनुष्ठान करते तो, अवश्य ही भक्ति देवी उन सब को अन्यान्य साधन के फल समूह प्रदान करती। अधिकन्तु पर्य्यवसान में परम फल जो श्रीकृष्ण प्रीति उस को भी प्रदान करती। अनन्तर परमहित-कारित्व रूप में भक्ति का अभिधेयत्व की वर्णना करते हैं, भा० ५।१९।२६ में देवगण परस्पर को कहते हैं,—

(९८) "सत्यं दिशत्यर्थितमर्थितो नृणां, नैवार्थदो यत् पुनरर्थिता यतः।
स्वयं विधत्ते भजतामनिच्छता,-मिच्छापिधानं निजपादपल्लवम् ॥"१७७॥

टीका—तत्रापि निष्कामः कृतार्था इत्याहुः सत्यमिति। प्रार्थितः सन् अर्थित ददातीति सत्यं तथापि परमार्थदो न भवत्येव। यद् यस्मात् यतो दत्तानन्तरं पुनरपि अर्थिता भवति। ननु नार्थितश्चेत्, किमपि न दद्यात्, इत्याशङ्क्याहुः, अनिच्छतां निष्कामाणान्तु इच्छानां पिधानमाच्छादकं सर्वकाम परिपूरकं-निज पाद पल्लवं स्वयमेव सम्पादयति ॥

मानववृन्द, भक्ति का अनुष्ठान करके यदि श्रीभगवान् के निकट अपर कुछ पुरुषार्थ वस्तु प्रार्थी होते

किन्तु, तथापि तन्मात्रेणार्थदो न भवति, तन्मात्रं दत्त्वा निवृत्तो न भवतीत्यर्थः, यत उपासकस्तत्रापूर्णत्वाद्भोगक्षये सति तदेव पुनरर्थिता भवति, (भा० ९।१९।१४) "न जातु कामः कामानाम्" इत्यादेः । तदेतमभिप्रेत्य स तु परमकारुणिकस्तत्पादपल्लव-माधुर्य्याज्ञानेन तदनिच्छतामपि भजतामिच्छापिधानं सर्वकामसमापकं निजपादपल्लवमेव विधत्ते, तेभ्यो ददातीत्यर्थः । यथा माता चर्व्यमाणां मृत्तिकां बालकमुखादपसार्य्य तत्र खण्डं ददाति, तद्वदिति भावः । एवमप्युक्तम् (भा० २।३।१०)–"अकामः सर्वकामो वा" इत्यादौ तीव्रत्वं भक्तेः । तथोक्तं गारुड़े—

हैं, तो परमदयालु श्रीहरि, उनके प्रार्थना के अनुरूप धर्मादि पुरुषार्थ वस्तु प्रदान करते हैं, किन्तु मन में विचार भी करते हैं, मैं ने जो कुछ दिया है, वह परमार्थ वस्तु नहीं है, कारण, उक्त कामित वस्तु प्राप्त करने के पश्चात् हृदय में अभाव बुद्धि होगी, और मेरे निकट पुनर्वार वे सब धन जन की प्रार्थना करेंगे । इस प्रकार विचार कर उक्त सकाम भक्त गण के हृदय में जिस से वासना का उद्गम नहो, तज्जन्य वासना उद्गमस्थान में भगवान् निज पाद पल्लव प्रदान करते हैं ।

उक्त श्लोकस्थित स्वामिकृत टीका काअभिप्राय यह है--सकाम भक्त गण कर्त्तृक प्रार्थित होकर भगवान् उसके अभिलषित पदार्थ सत्य ही प्रदान करते हैं । इस में कभी भी अन्यथा नहीं होती है । किन्तु भगवान् अभिलषित वस्तु प्रदान कर ही निवृत्ति नहीं होते हैं, कारण, उपासक गण, जिस कामित वस्तु को प्राप्त करते हैं, वे सब अपूर्ण हैं, अतः क्षय होने के पश्चात् पुनर्वार वे सब उस प्रकार वस्तु की प्रार्थना करते रहते हैं, कारण, भा० ९।१९।१४ में उक्त है—

"न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूयएवाभिवर्द्धते ॥"

टीका—हविषा घृतेन, कृष्णवर्त्मा अग्निरिव ।

अर्थात् घृत निक्षेप से अग्नि जिस प्रकार वर्द्धित होता है । उस प्रकार काम्यवस्तु का उपभोग से काम कदापि शान्त नहीं होता है,केवल वर्द्धित ही होता है । इस अभिप्राय से ही परम कारुणिक श्रीभगवान् निज पाद पल्लव के माधुर्य्य विषय में अनभिज्ञता निबन्धन तद्विषय में अनिच्छा कारी भक्त वृन्द के सम्बन्ध में इच्छा पिधान कारी—अर्थात् सर्वाभिलाष पूर्णकारी निज पाद पल्लव प्रदान करते हैं । अर्थात् श्रीभगवान् निज भक्त के हृदय से अन्य वासना विदूरित करके निज चरण माधुर्य्य का आस्वादन प्रदान करते हैं । जिस प्रकार माता निज बालक को मृत्तिका चर्वण करते देखकर उस के मुख से मृत्तिका अपसारित करके खण्ड मिश्री भक्षण करने को देती है, यहाँपर भी उस प्रकार जानना होगा ।

अभिप्राय यह है कि—जो भक्त,—भक्ति साधन का अनुष्ठान कर्म ज्ञान योगादि के सहित अमिश्रित भाव से करते हैं अर्थात् विशुद्ध भक्ति का अनुष्ठान करते हैं, अथच भगवत् सेवा रूप परम पुरुषार्थ लाभ की वासना के सहित स्वर्गादि त्रिवर्ग पुरुषार्थ की वासना भी रहती है, उनके सम्बन्ध में श्रीभगवान् निज चरणामृत आस्वादन कराकर अपर वस्तु में वितृष्णा उत्पन्न करते हैं । कारण, विशुद्ध, भजन कारी भक्त गण के कल्याण विधान करना ही भगवान् का कार्य्य है ।

श्रीभगवच्चरण माधुर्य्य आस्वादन का भी इस प्रकार प्रभाव है, एकवार उसका आस्वाद प्राप्त करने से तदतिरिक्त वस्तु में आसक्ति नहीं जगाती है, भा० २।३।२० में कहा भी है ।

"यद्दुर्लभं यदप्राप्य मनसो यन्न गोचरम् । तदप्यप्रार्थितं ध्यातो ददाति मधुसूदनः ।।" १७८ ।। इति ।

एवं श्रीसनकादीनामपि ब्रह्मज्ञानिनां भक्त्युनुवृत्त्या तत्पादपल्लवप्राप्तिर्ज्ञेया ।। देवाः परस्परम् ।।

९९ । अथ व्यतिरेकेण कर्म्मानादरेणाह—तत्र कर्म्मणः फलप्राप्तावनिश्चयत्वं दुःखरूपत्वञ्च, भक्तेस्तु तस्यामावश्यकत्वं साधक-दशायामपि सुखरूपत्वञ्चेत्याह (भा० ११८।१२) —

(९९) "कर्म्मण्यस्मिन्ननाश्वासे धूमधूम्रात्मनां भवान् ।
आपाययति गोविन्द-पादपद्मासवं मधु ।।" १७९।।

अस्मिन् कर्म्मणि सत्रेऽनाश्वासेऽविश्वसनीये, वैगुण्य-बाहुल्येन कृषिवत् फलनिश्चयाभावात् । अनेन भक्तेर्विश्वसनीयत्वं ध्वनितम् । धूमेन धूम्रौ विरञ्जितौ विवर्णावात्मानौ शरीर-चित्ते

"अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः ।
तीव्रेण भक्ति योगेन यजेत पुरुषं परम् ।।"

टीका—अकामः—एकान्त भक्तः । उक्तानुक्त सर्वकामो वा, पुरुषं पूर्णं, परं--निरुपाधिम् ।।

इत्यादि श्लोक में भक्ति की तीव्रत्व की कथा कही गई है । गरुड़ पुराण में भी उक्त है—

"यद् दुर्लभं यदप्राप्यं मनसो यन्न गोचरम् ।
तदप्य प्रार्थितं ध्यातो ददाति मधुसूदनः ।।"१७८।।

जो वस्तु दुर्ल्लभ, दुष्प्राप्य, एवं मनका अगोचर है, इस प्रकार वस्तु की प्रार्थना न करने पर भी श्रीमधुसूदन का ध्यान करने से मधुसूदन उसको प्रदान करते हैं । इस प्रकार रीति के अनुसार ही श्री सनकादि चतुः सनकी भक्तिकी अनुवृत्तिसे श्रीभगवच्चरण पल्लव प्राप्ति हुई थी । इस प्रकार जानना होगा । देववृन्द परस्पर को कहे थे ।।८९।।

९९ । अनन्तर व्यत्तिरेक मुख से कर्म का आस्वादन करके व्यतिरेक मुख से भक्ति का अभिधेयत्व स्थापन करते हैं । उसके मध्य में फल प्राप्ति विषय में कर्म साधन का अनिश्चयत्व एवं दुःख रूपत्व है, किन्तु भक्ति साधन का अवश्य फल दायकत्व एवं सिद्धावस्था की बात तो दूर है । साधनावस्था में भी भक्ति का सुख रूपत्व है । उसका वर्णन भा० १।१८।१२ में है--

(९९) "कर्मण्यस्मिन्ननाश्वासे धूमधूम्रात्मनां भवान् ।
आपाययति गोविन्द पाद पद्मासवं मधु ।।१२।।

टीका—किञ्च, अस्मिन् कर्मणि सत्रे अनाश्वासे--अविश्वसनीये । वैगुण्यं बाहुल्येन फलति, निश्चया भावात् । धूमेन धूम्रः, विवर्ण आत्मशरीरं येषां तानस्मान् । कर्मणि षष्ठी । आसवं मकरन्दं, मधु मधुरम् ।।१२।।

नैमिषारण्य निवासी मुनिगण, श्रीसूत को कहे थे । हम सब जो यज्ञ का अनुष्ठान कर रहे थे, वह अविश्वसनीय है, कारण, उस में अनेक वैगुण्य उपस्थित होते रहते हैं । अतः फल प्राप्ति की किसी प्रकार निश्चयता नहीं है । अधिकन्तु यज्ञानुष्ठान के प्रज्वलित अग्नि से उत्थित धूम द्वारा हमारे शरीर विवर्ण हो गये हैं । इस प्रकार स्थिति में आप हम सब को श्रीगोविन्द के श्रीचरण पद्म के मधुर मकरन्द आस्वादन करा रहे हैं ।

यज्ञ रूप इस कर्म अनाश्वास है, अर्थात् अविश्वसनीय है, विघ्न बाहुल्य वशतः फल प्राप्ति की निश्चयता

येषाम्, कर्म्मणि षष्ठी, तानस्मानित्यर्थः। पादपद्मस्य यशोरूपमासवं मकरन्दम्, मधु मधुरम्। अत्र सत्रवत् कर्म्मान्तरं यशः-श्रवणवद्भक्त्यन्तरञ्चेति ज्ञेयम्। तदेवं भक्तिविनाभूतानां कर्म्मादिभिरस्माकं दुःखमेवासीदिति व्यतिरेक-त्वमत्र गम्यते। तदुक्तम् (भा० १२।१२।५४) "यशःश्रियामेव परिश्रमः परः" इत्यादि, (भा० १।२।२२) "अतो वै कवयो नित्यम्" इत्यादि च। ब्रह्मवैवर्त्ते च शिवं प्रति श्रीविष्णुवाक्यम्—

"यदि मां प्राप्तुमिच्छन्ति प्राप्नुवन्त्येव नान्यथा। कलौ कलुषचित्तानां वृथायुः प्रभृतीनि च। भवन्ति वर्णाश्रमिणां न तु मच्छरणार्थिनाम्।।"१८०।। इति।। श्रीऋषयः सूतम्।।

नहीं है। इस से भक्ति की विश्वसनीयता सूचित हुई है। धूम के द्वारा धुम्र--अर्थात् विरञ्जित आत्मा, अर्थात् विवर्ण शरीर एवं चित्त जिनके हैं, उस प्रकार हम सब को श्रीगोविन्द पाद पद्म मकरन्द पान करा रहे हैं। यहाँपर "धूमधूम्रात्मनां" पद में कर्म में षष्ठी विभक्ति हुई है। अर्थात् हम सब को उस प्रकार जानना होगा। पाद पद्म के यशरूप—आसव, अर्थात् मकरन्द। मधु का अर्थ मधुर है। यहाँ यज्ञ के समान ही अन्य यावतीय कर्मकाण्ड के साधन को उस प्रकार जानना होगा। अर्थात् निखिल काम्य कर्म साधन ही दुःखकर हैं, एवं अभीप्सित फल प्रदान में अनिश्चय कर हैं। किन्तु भक्ति के यावतीय अङ्ग समूह, साधन एवं सिद्ध अवस्था में सुखप्रद हैं, एवं फल प्रदान विषय में किसी प्रकार सन्देह स्थल नहीं है। शौनकादि ऋषिगण, व्यतिरेक मुख से श्रीसूत के समीप में कह रहे हैं—कि--हम सबने भक्ति का साहाय्य ग्रहण नहीं किया है, केवल कर्मानुष्ठान के द्वारा दुःख भोग ही किया है॥

इस प्रकार भा० १२।१२।५४ में श्रीसूत ने भी कहा है—

"यशः श्रियामेव परिश्रम परो वर्णाश्रमाचार तपः श्रुतादिषु।
अविस्मृतिः श्रीधर पादपद्मयो गुणानुवाद श्रवणादरादिभिः।।

अर्थात् वर्ण एवं आश्रम के अनुरूप आचरण, तपस्या एवं वेदादि शास्त्राध्ययन के द्वारा मानवगण जिस प्रकार परिश्रम करते हैं, वह परिश्रम, यशः एवं सम्पत्ति अर्जन में पर्य्यवसित होता है। अर्थात् यशः एवं सम्पत्ति लाभ को परम पुरुषार्थ, वे सब मानते हैं तज्जन्य ही वर्णाश्रमोचित आचरण पालन भी वे सब करते हैं। यहाँपर दर्शाया गया है कि - श्रीभगवत् सन्तोष के प्रति लक्ष्य न रखकर वर्णाश्रमोचित आचरण एवं तपस्या प्रभृति के द्वारा केवल परिश्रम ही सार होता है। भक्ति का परम सुख प्रदत्व पति पादन हेतु श्रीसूत ने भा० १.२.२२ में कहा है—

"अतो वै कवयो नित्यं भक्ति परमया मुदा।
वासुदेवे भगवति कुर्वन्त्यात्म प्रसादनीम्।।

अतएव कविगण, परमानन्द के सहित वसुदेव भगवान् में आत्म प्रसन्नता सम्पादक भक्ति का विधान नित्य ही करते रहते हैं। ब्रह्म वैवर्त्त पुराण में श्रीशिव के प्रति 'श्रीविष्णु का कथन इस प्रकार है—

"यदि मां प्राप्तुमिच्छन्ति प्राप्नुवन्त्येव नान्यथा।
कलौ कलुष चित्तानां वृथायुः प्रभृतीनि च।
भवन्ति वर्णाश्रमिणां न तु मच्छरणार्थिनाम्।।"१८०।।

यदि कोई व्यक्ति मुझ को प्राप्त करने के इच्छुक हैं, तो वे अवश्य ही मुझ को प्राप्त कर सकते हैं, इस में अन्यथा नहीं है। कलिकाल में जो लोक केवल वर्णाश्रमोचित आचरण करते हैं, वे सब अति कलुष चित्त के होते हैं, उन सबकी आयुः व्यर्थ अति वाहित होती है। किन्तु जो मेरा आश्रय ग्रहण करते हैं, वे सब

१०० । तथा, (भा० ११५।१७)--"त्यक्त्वा स्वधर्म्मम्" इत्यादिकमनुसन्धेयम् । एवं महावित्त-महायासादि-साध्येन कर्म्मादिना तुच्छं स्वर्गादिफलम्, स्वल्पायास-स्वल्पवित्तादि--साध्यया भक्त्या तदाभासेन च परम-महत्फलं तत्र तत्रानुसन्धाय भक्तावेव शास्त्रतात्पर्य्यं पर्य्यालोचनीयम् । तस्मात् तत्तच्छास्त्राणामपि भक्तिविधेयक- तत्तदनुवादेन प्रवृत्तत्वान्न वैफल्यमित्यपि ज्ञेयम् । किञ्च, (भा० ७।६।१०)—

ही कृतार्थ होते हैं ।

श्रीशौनकादि ऋषिगण श्री सूत को कहे थे ।।९९।।

१०० । इस प्रकार भा० ११५।१७ के

"त्यक्त्वास्वधर्मं चरणाम्बुजं हरे र्भजन्न पक्वोऽथ पतेत् ततो यदि ।
यत्र क्व वा भद्रमभूदमुष्य किं को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः ।।"

टीका—"एवं तावत् काम्य कर्मादेरनर्थ हेतुत्वात् तं विहाय हरेर्लीलैव वर्णनीयेत्युक्तम् । इदानीन्तु नित्य नैमित्तिक स्वधर्म निष्ठामपि अनादृत्य केवलं हरिभक्तिरेव उपदेष्टव्येत्याशयेनाह त्यक्त्वेति तदा न कदाचिच्चिन्ता, यदि पुनरपक्क एवम्रियेत ततो भ्रश्येद्वा तदा च स्वधर्म त्याग निमित्तोऽनर्थः स्यादित्या-शङ्क्याह ततो भजनात् पतेत् कथञ्चित् भ्रश्येत् म्रियेत वा यदि तथापि भक्ति रसिकस्य कर्मानधिकरात् नानर्थ शङ्का । अङ्गीकृत्याप्याह । वा शब्दः कटाक्षे । यत्र क्व वा नीचयोनावपि अमुष्य भक्तिरसिकस्य अभद्रमभूत् किं, नाभूदेवेत्यर्थ । भक्ति वासना सद् भावादिति भावः । अभजद्भिस्तु केवलं स्वधर्मतः को वा अर्थः आप्तः प्राप्तः । अभजतामिति षष्ठी तु सम्बन्ध मात्र विवक्षया ।।

अर्थात् भजन करते करते यदि कोई साधक निज साधन पथ से दैव क्रम से अपराध वशतः विभ्रष्ट हो जाता है । उस से भी विशेष अमङ्गल उपस्थित नहीं होता है । किन्तु जो लोक श्रीभगवान् के श्रीचरण पद्म का भजन को परित्याग कर केवल स्वधर्माचरण ही करते हैं, वे सब कुछ भी मङ्गल लाभ करने समर्थ नहीं होते हैं । इस से कर्म साधन से भक्ति का सुखकरत्व एवं सुफल दातृत्व प्रदर्शित हुआ है ।

पूर्व पूर्व शास्त्र वाक्य से यह प्रतीत होता है कि बहु अर्थ एवं बहु परिश्रम के द्वारा अति तुच्छ स्वर्गादि फल लाभ होते हैं, किन्तु स्वल्प अर्थ एवं अल्प परिश्रम के द्वारा साध्या जो भक्ति है, उसके आभास मात्र के द्वारा भी परम महत् फल लाभ कर सकते हैं । उक्त वाक्य समूह से बोध होता है कि-निखिल शास्त्र का तात्पर्य्य भक्ति में ही है ।

यहाँपर संशय हो सकता है कि—यदि काम्य कर्मादि साधन एवं फल में पर्य्याप्त दोष है, तो परम कारुणिक शास्त्र उक्त साधनानुष्ठान करने के निमित्त आदेश प्रदान क्यों करते हैं ? उत्तर में कहते हैं—

जब तक महत् सङ्ग नहीं होता है, तब तक भक्ति के प्रति आदर बुद्धि नहीं हो सकता है । अथच आदर बुद्धि न होने पर भक्ति अनुष्ठान करने पर भी उस में आवेश नहीं होता है । तज्जन्य यावत् पर्य्यन्त महत् सङ्ग जनित सौभाग्य वशतः भक्ति में आदर बुद्धि नहीं होता है, तावत् पर्य्यन्त भक्ति सम्बलित कर्मादि साधनानुष्ठान करना पड़ेगा । उक्त कर्मानुष्ठान करते करते सत्सङ्ग लाभ की सम्भावना होती है । उक्त सत्सङ्ग से श्रीहरि कथा में रुचि प्राप्त करने के पश्चात् विशुद्ध भक्ति में प्रवेशाधिकार लाभ होता है । इस अभिप्राय से ही कर्म ज्ञान योगादि अनुष्ठान करने का उपदेश बारम्बार दिया गया है । इस से शास्त्रोपदेश का वैफल्य नहीं होता है । किन्तु निखिल शास्त्र का मुख्य तात्पर्य्य क्रममुक्ति प्राप्ति उपाय के समान भक्ति अनुष्ठान में ही है ।

(१००) "विप्राद्द्विषड् गुणयुतादरविन्दनाभ,-पादारविन्द-विमुखात् श्वपचं वरिष्टम् ।
मन्ये तदर्पित-मनोवचनेहितार्थ,-प्राण पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः ॥"१८१॥

टीका च—"भक्त्यैव केवलया हरेस्तोषः सम्भवतीत्युक्तम् । इदानीं भक्तिं विना नान्यत् किञ्चित्तोष-हेतुरित्याह—विप्रादिति । (भा० ७।९।९) "मन्ये धनाभिजन-रूप-तपः श्रुतौज,-स्तेजः-प्रभाव-बल-पौरुष-बुद्धि-योगाः" इत्यादौ पूर्वोक्ता ये धनादयो द्विषट् द्वादश गुणास्तै-र्युक्ताद्विप्रादपि श्वपचं वरिष्ठं मन्ये, यद्वा, सनत्सुजातोक्ता (महा० भा० उ० प० ४३ अ० २०) द्वादश धर्म्मादयो गुणा द्रष्टव्याः,—

'धर्म्मञ्च सत्यञ्च दमस्तपश्च, अमात्सर्य्यं ह्रीस्तितिक्षानसूयाः ।

भा० ७।९।१० में श्रीप्रह्लाद ने कहा भी है—

विप्राद्द्विषड् गुण युतादरविन्दनाभपादारविन्दविमुखात् श्वपचं वरिष्ठम् ।
मन्ये तदर्पितमनोवचने हितार्थ प्राणं पुनाति सकुलं नतु भूरिमानः ॥"१८१॥

टीका—"एवं भक्त्यैव केवलया हरेस्तोषः सम्भवतीत्युक्तम् । इदनीं भक्ति विना नान्यत् किञ्चित् तोष हेतु रित्याह विप्रादिति पूर्वोक्ता धनादयो ये द्विषट् द्वादश गुणास्तैर्युक्ताद् विप्रादपि श्वपचं वरिष्ठं मन्ये यद्वासनत्सुजातोक्ता द्वादश धर्मादयो गुणा द्रष्टव्याः । तदुक्तं महाभारते धर्मश्च सत्यञ्च दमस्तपश्च मात्सर्य्यं ह्रीस्तितिक्षानसूया । यज्ञश्च दानञ्च धृतिः श्रुतञ्च व्रतानि वै द्वादश ब्राह्मणस्य इति । यद्वा, शमोदमस्तपः शौचं क्षान्त्यार्जव विरक्तताः । मौन विज्ञान सन्तोषाः सत्यास्तिक्ये द्विषड् गुणा इति । कथम्भुतात् विप्रात् ? अरविन्दनाभस्य पादारविन्दात् विमुखात् । कथम्भूतं श्वपचम् ? तस्मिन्नरविन्द नाभेऽर्पिता मन आदयो येन तम् । ईहितं कर्म । वरिष्ठत्वे हेतुः, स एवम्भूतः श्वपचः सर्वं कुलं पुनाति । भूरिर्म्मानो गर्वो यस्य सतु विप्रः आत्मानमपि न पुनाति, कुतः कुलम् । यतो भक्ति हीनस्यैते गुणा गर्वायैव भवन्ति न तु शुद्धये । अतो हीन इति भावः ॥"

हे नाथ ! धनाभिजन प्रभृति अथवा धर्म सत्य प्रभृति द्वादश गुण समन्वित ब्राह्मण से श्वपच को मैं श्रेष्ठ मानता हूँ । कारण, वह ब्राह्मण, द्वादश गुण समन्वित होने पर भी हे कमल नाभ ! यदि आप के पादारविन्द से विमुख होता है, एवं श्वपच, जाति दोष दुष्ट होकर भी यदि आपके चरणों में कायिक वाचिक मानसिक व्यापार एवं अर्थ प्राण, अर्पण करता है तो वह भगवद् वहिर्मुखता दोष दुष्ट ब्राह्मण से भी आप में अर्पित मनः प्राण हेतुः श्वपच को मैं श्रेष्ठ मानता हूँ । कारण, भगवत् वहिर्मुख ब्राह्मण, जितने साधनानुष्ठान क्यों न करे, अथवा गुण सम्पन्न हो, न क्यों, उस के प्रत्येक साधनानुष्ठान के मध्य में मायिक अभिमान रहता है, उस से वह अपने को पवित्र कर नहीं सकता, कुलको पवित्र करना तो दूर है । और भक्ति अनुष्ठान हेतु दीनता प्राप्त वह श्वपच निजको पवित्र तो करता ही है, निज कुल को भी पवित्र करने में समर्थ होता है ।

स्वामिपाद कृत टीका की व्याख्या—केवल भक्ति के द्वारा ही श्रीहरि सन्तुष्ट होते हैं, इसका विवरण "भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाय श्लोक में है । भक्ति के बिना श्रीहरि को सन्तुष्ट करने में कोई व्यक्ति सक्षम नहीं होता है—व्यतिरेक मुख से उसका विवरण—'विप्र द्द्विषड् गुणयुतात्' श्लोक में कहते हैं । ब्राह्मण के द्वादश गुण इस प्रकार है, धन, आभिजात्य, रूप, तपस्या, श्रुत, ओज, तेजः, प्रभाव, बल, पौरुष, बुद्धि एवं अष्टाङ्ग योग प्रभृति हैं, यह द्वादश गुण युक्त ब्राह्मण, से श्वपच को मैं श्रेष्ठ मानता हूँ । अथवा सनत् सुजातीय में कथित धर्म सत्य प्रभृति गुण सम्पन्न ब्राह्मण को जानना होगा । द्वादश गुण इस प्रकार है—

यज्ञश्च दानञ्च धृतिः श्रुतञ्च, व्रतानि वै द्वादश ब्राह्मणस्य ।।"१८२।। इति।

कथम्भूताद्विप्रात् ? अरविन्दनाभ-पादारविन्द-विमुखात् । कथम्भूतं श्वपचम् ? तस्मिन्नरविन्दनाभे अर्पिता मनआदयो येन तम्, ईहितं कर्म । वरिष्ठत्वे हेतुः–स एवम्भूतः श्वपचः सर्वं कुलं पुनाति, भूरि मानो गर्वो यस्य स तु विप्र आत्मानमपि न पुनाति, कुतः कुलम् ? यतो भक्तिहीनस्यैते गुणाः गर्वायैव भवन्ति, न तु शुद्धये, अतो हीन इति भावः' इत्येषा । मुक्ताफल-टीका च–"द्विषट् द्वादश गुणाः धनाभिजनादयः, यद्वा,--

'शमो दमस्तपः शौचं क्षान्त्यार्ज्जव–विरक्तयः । ज्ञान-विज्ञान-सन्तोषाः सत्यास्तिक्ये द्विषड् गुणाः ।'१८३।

इत्यप्युक्ता" इत्येषा । स्कान्दे श्रीनारद-वाक्यम्--

"कुलाचारविहीनोऽपि दृढ़भक्तिजितेन्द्रियः । प्रशस्तः सर्वलोकानां न त्वष्टादशविद्यकः ।
भक्तिहीनो द्विजः शान्तः सज्जातिर्धार्मिकस्तथा ।।"१८४।।

काशीखण्डे च--

धर्म, सत्य, दम, तपस्या, अमात्सर्य्य, ह्री, लज्जा, तितिक्षा, अनसूया, यज्ञदान, धृति, श्रुत पाण्डित्य

"धर्म्मश्च सत्यञ्च दमस्तपश्च, अमात्सर्य्यं ह्रीस्तितिक्षानसूया ।
यज्ञश्च दानञ्च धृतिः श्रुतञ्च, व्रतानि वै द्वादश ब्राह्मणस्य ।।"१८२।।

ये द्वादश व्रत,ब्राह्मण के होते हैं। १८२। इस प्रमाणके अनुसार द्वादशगुण शब्द से धर्मादि को जानना होगा । उक्त द्वादश गुण युक्त ब्राह्मण का दोष प्रदर्शन करते हैं, वह अरविन्दनाभपदार विन्द विमुख है अर्थात् श्रीहरि चरण वहिर्मुखता दोष दुष्ट है । जिस महत् गुण से श्वपच श्रेष्ठ है, उस को कहते हैं, उसने अरविन्द नाभ श्रीकृष्ण में मन प्रभृति को अर्पण किया है । श्लोकोक्त 'ईहित' शब्द का अर्थ है,-- कायिक कर्म, उक्त भगवद् वहिर्मुख द्वादश गुण सम्पन्न ब्राह्मण से भगवदुन्मुख श्वपच का श्रेष्ठत्व का हेतु वर्णन करते हैं । पूर्व वर्णित श्वपच कुल को भी पवित्र करता है, अपर पक्ष में प्रचुरतर मायामय अहङ्कार विशिष्ट भगवद् वहिर्मुख ब्राह्मण निज को पवित्र करने में अक्षम है, कुल को पवित्र करना दूसरी बात है । कारण, भगवान् में भक्ति हीन जन का गुण—मायामय अहङ्कार उत्पन्न करता हैं, किन्तु चित्त शोधन नहीं करता है, अतएव भगवद् वहिर्मुख ब्राह्मण द्वादश गुण युक्त होने पर भी अतिशय हीन है । यहाँतक श्रीस्वामि पाद कृत टीका का अर्थ है ।

श्रीवोपदेव कृत मुक्ताफल की टीका में उक्त है कि—द्विषट् गुणाः--धनाभिजन प्रभृति द्वादश गुण हैं ।

अथवा, "शमोदमस्तपः शौचं क्षान्त्यार्जव विरक्तय ।
ज्ञान विज्ञान सन्तोषाः सत्यास्तिक्ये द्विषड् गुणाः ।।"१८३।।

अर्थात् शम, दम, तपस्या, शौच, क्षान्ति, सारल्य, विरक्ति, ज्ञान, (शास्त्रोत्थ) विज्ञान-(अनुभव) सन्तोष, सत्य, आस्तिक्य प्रभृति द्वादश गुणों का उल्लेख यहाँ पर है । यह है हेमाद्रिकृत टीका की व्याख्या स्कन्द पुराण के श्रीनारद वाक्य में उक्त है,—

'कुलाचार विहीनोऽपि दृढ़भक्तिजितेन्द्रियः ।
प्रशस्तः सर्व लोकानां नत्वष्टादश विद्यकः ।।
भक्तिहीनो द्विजः शान्तः सज्जाति धार्मिकस्तथा ।।" १८४।

कुल एवं आचार विहीन ज्ञान भी यदि दृढ़ भक्तिमान् एवं जितेन्द्रिय होता है, तो, वह जनसमाज

"ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वा यदि वेतरः। विष्णुभक्तिसमायुक्तो ज्ञेयः सर्वोत्तमोत्तमः॥"१८५॥

वृहन्नारदीये—

"विष्णुभक्तिविहीना ये चण्डालाः परिकीर्त्तिताः। चाण्डाला अपि ते श्रेष्ठा हरिभक्तिपरायणाः॥"१८६।

नारदीये च—

"श्वपचोऽपि महीपाल विष्णोर्भक्तो द्विजाधिकः। विष्णुभक्तिविहीनो यो द्विजातिः श्वपचाधिकः॥"१८७

अत्र मूलपद्ये "कुलं पुनाति" इत्युक्ते स्वं पुनातीति सुतरामेव सिद्धम्, यथोक्तम् (भा० २।४।१८)

"किरात-हूनान्ध्र पुलिन्द-पुक्कशा, आभीर-कङ्का यवनाः खसादयः।

येऽन्ये च पापा यदपाश्रयाश्रयाः, शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥"१८८॥ इति।

प्रह्लादः श्रीनृसिंहम्॥

१०१। अतएवाहुः (भा० १०।२३।३९)—

के मध्य में प्रशंसनीय होता है। किन्तु अष्टादश शास्त्र विद्या में पारदर्शी सद्वंशसम्भूत, शान्त एवं धार्मिक ब्राह्मण भी यदि भक्तिहीन अजितेन्द्रिय होता है, तो वह प्रशंसनीय नहीं होता है।

काशी खण्ड में लिखित है— "ब्राह्मण क्षत्रियोवैश्यः शूद्रो वा यदि वेतरः।
विष्णु भक्ति समायुक्तो ज्ञेयः सर्वोत्तमोत्तमः॥"१७५॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अथवा अपर जातीय कोई भी व्यक्ति यदि विष्णु भक्ति युक्त होता है तो उसको निखिल उत्तम जन के मध्य में उत्तम जानना जाहिये। वृहन्नारदीय पुराण में उक्त है—

"विष्णु भक्ति विहीना ये चण्डालाः परि कीर्त्तिताः।
चण्डाला अपि ते श्रेष्ठा हरिभक्ति परायणाः॥१८६॥

जो लोक विष्णु भक्ति विहीन है। वे सब चाण्डाल नाम से अभिहित होते हैं। पक्षान्तर में, श्रीविष्णु चरण में भक्ति परायण चण्डाल श्रेष्ठ है। नारद पुराण में उक्त है—

"श्वपचोऽपि महीपाल विष्णोर्भक्तो द्विजाधिकः।
विष्णुभक्तिविहीनो यो द्विजातिः श्वपचाधिकः॥"१८७॥

हे महाराज! श्रीविष्णु भक्त श्वपच भी ब्राह्मण से श्रेष्ठ है। किन्तु श्रीविष्णु चरणों में भक्ति विहीन ब्राह्मण--श्वपच से अधम है। पूर्व वर्णित मूल पद्य में अर्थात् विप्राद्द्विषड्गुण युतात्" इत्यादि श्लोक में कथित है—भगवच्चरणों में भक्तिमान् श्वपच निज कुल को भी पवित्र करता है। अतएव निज को पवित्र कर सकता है, यह स्वतः प्रमाणित हुआ है

भा० २।४।१८ श्लोक में श्रीशुक ने कहा है—

"किरात-हूनान्ध्रपुलिन्द-पुक्कशा, आभीर-कङ्का यवनाः खसादयः।
येऽन्ये च पापा यदपाश्रयाश्रयाः, शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥"१८८॥

किरात, अन्ध्र, पुलिन्द, पुक्कशः आभीर शुह्म, यवन, एवं खस प्रभृति अतिनीच पापजातीय जन निकर, एवं अन्य जो सब लोक पाप कर्म्माचरण करते करते स्वयं साक्षात् पापमूर्त्ति हो गये हैं, वे सब भी श्रीभगवान के श्रीचरणाश्रित के आश्रित होकर अन्तर बाहर उभयतः ही पवित्रता को प्राप्त करते हैं। उन परम प्रभाव सम्पन्न, श्री भगवान् के श्रीचरणों में प्रणाम कर रहा हूँ।

श्रीप्रह्लाद—श्रीनृसिंह को कहे थे॥१००॥

(१०१) "धिग्जन्म नस्त्रिवृद्यत्तद्धिग्व्रतं धिग् बहुज्ञताम् ।
धिक् कुलं धिक् क्रिया-दाक्ष्यं विमुखा ये त्वधोक्षजे ॥" १८६॥

टीका च—"त्रिवृत् शौक्रं सावित्रं दैक्षमिति त्रिगुणितं जन्म, व्रतं ब्रह्मचर्य्यम्, क्रियाः कर्म्माणि दाक्ष्यञ्च" इत्यादिका । तथोक्तम् (भा० ४।३१।१०) "किं जन्मभिस्त्रिभिः" इत्यादि ॥ यज्ञिकविप्राः ॥

१०२ । श्रीभगवत्समर्पित-कर्म्मणोऽप्यनादरेण तु दर्शितम् (भा० ११।२।१४)-"तस्मादेकेन मनसा" इत्यादि । श्रीगीतोपनिषत्सु च भक्त्यसामर्थ्य एव तद्विहितम् (गी० १२।८-११) —

---

१०१ । अनन्तर भगवद् भक्ति वहिर्मुख ब्राह्मण अतिशय निन्दनीय है,—याज्ञिक ब्राह्मण गण, आत्म-धिक्कार करते करते उस विषय को भा० १०।२३।२६ में कहते हैं—

(१०१) "धिग्जन्म नस्त्रिवृद्यत्तद्धिग्व्रतं धिग्बहुज्ञताम् ।
धिक् कुलं धिक् क्रिया दाक्ष्यं विमुखा ये त्वधोक्षजे ॥" १८६॥

टीका—त्रिवृत्—शौक्रच सावित्रं दैक्षमिति जिगुप्सितं जन्म । व्रतं-ब्रह्मचर्य्यम् क्रियाः—कर्माणि, दाक्ष्यञ्च । क्रिया दाक्ष्यमित्येकं वा पदं । धिगित्यधिक्षेपे ये वयन्तु अधोक्षजे विमुखास्तेषां जन्मादि तत् सर्वं धिगिति व्यगर्हयन्नित्यर्थः ।

हम सब अधोक्षज श्रीकृष्ण में विमुख हैं,, भक्ति विहीन हैं, सुतरां हमारे शौक्रय सावित्र्य एवं दैक्ष्य तीन प्रकार जन्म को धिक्कार । अब तक हम सब जो ब्रह्मचर्य्य व्रत करते रहे हैं, उस व्रत को धिक् । बहु दर्शिता का जो अभिमान करते रहते हैं, उसको धिक् । यज्ञादि क्रिया का जो अनुष्ठान करते आ रहे हैं उस को धिक्कार, ब्राह्मण कुल में जन्म ग्रहण करने के कारण जो आत्म प्रशंसा करते रहते हैं, उस कुल को धिक्कार, अभी तक जो सब यज्ञादि अनुष्ठान करते आ रहे हैं, एवं उस कर्म में निपुणता के कारण जो अभिमान हुआ है, उस को भी शत शत धिक्कार । कारण, भगवच्चरणों में बहिर्मुख मानव वृन्द के द्वारा अनुष्ठित व्रत तपस्यादि कार्य्य केवल घोरतर आत्माभिमान में ही पर्य्यवसित होते हैं, अतः उक्त कर्मसमूह कभी भी निज निज फल प्रदान करने में सक्षम नहीं होते हैं ।

स्वामिपादकृत टीका का अभिप्राय यह है—त्रिवृत् शब्द से शौक्र जन्म अर्थात् विशुद्ध पिता मातासे जन्म, सावित्र जन्म—अर्थात् गायत्री जन्म, एवं दैक्ष--अर्थात् यज्ञ कर्म में दीक्षा ग्रहणानन्तर जो जन्म--यह त्रिविध जन्म को जानना चाहिये । व्रत का अर्थ—ब्रह्मचर्य्य है । क्रिया शब्द से कर्म को जानना होगा । एवं दाक्ष्य शब्द से निपुणता को जानना होगा । इस प्रकार स्वामि टीका की व्याख्या करके भा० ४।३१।१० में उक्त प्रचेतागण के प्रति श्रीनारदोक्ति का वर्णन करते हैं—

"किं जन्मभि स्त्रिभिर्वेह शौक्ल सावित्र याज्ञिकैः ।
कर्मभि र्वा त्रयीप्रोक्तैः पुंसोऽपि विबुधायुषा ॥"

टीका—शुक्ल सम्बन्धि जन्म, विशुद्ध माता पितृभ्यामुत्पत्तिः, सावित्र मुपनयनेन, याज्ञिकं दीक्षया । बिबुधानामिव दीर्घायुषापि ॥१०॥

जो कुछ भी साधन सम्पत्ति एवं गुण होते हैं, उस में यदि भगवत् सम्बन्ध नहीं होता है तो वे सब ही व्यर्थ होते हैं ।

याज्ञिक विप्रगण कहे थे ॥१०१॥

"मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्द्ध्वं न संशयः ।।१८०।।
अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ।।१८१।।
अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ।।१८२।।
अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्त्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ।।"१८३।। इति ।

अत्र पाद्म-कार्त्तिकमाहात्म्येतिहासोऽनुसन्धेयः, यथा—"चोलदेशराजस्य कस्यचि द्विष्णुदास नाम्ना विप्रेण शुद्धमर्च्चनमेव कुर्वता सह कस्य पूर्वं भगवत् प्राप्तिः स्यादिति स्पर्द्धया बहून्

१०२। अनन्तर श्रीभगवत् समर्पित कर्म का अनादर पूर्वक भक्ति का अभिधेयत्व दिखाते हैं—भा० १।२।१४ में श्रीसूतने कहा है—

"तस्मादेकेन मनसा भगवान् सात्वतां पति ।
श्रोतव्यः कीर्त्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्च नित्यदा ।।"

टीका—यस्माच्च भक्ति विहीनो धर्मः केवलं श्रम एव तस्मात् भक्ति प्रधान एव धर्मोऽनुष्ठेयः, इत्याह तस्मादिति । एकेन--एकाग्रेण मनसा ।।१४।।

हे मुनिवृन्द ! जब धर्मानुष्ठान के द्वारा केवल परिश्रम ही सार होता है, तब भक्ति अनुष्ठान करना ही कर्त्तव्य है । अतएव एकाग्र चित्त से भक्त प्रति पालक श्रीभगवान् की लीला कथा का सर्वदाश्रवण एवं कीर्त्तन करना एवं श्रीभगवान् का ध्यान करना, उनकी पूजा करना एकान्त कर्त्तव्य है ।

श्रीगीतोपनिषद् के १२।८--११ में कथित है कि, विशुद्ध भक्ति अनुष्ठान करने में अक्षम होने पर भगवदर्पित कर्म का अनुष्ठान करे ।

"मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्द्ध्वं न संशयः ।।१८०।।
अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ।।१८१।।
अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽपि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ।।१८२।।
अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्त्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वजर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ।।"

टीका—यस्मान्मद्भक्तिरेव श्रेष्ठा तस्मात्त्वं भक्तिमेव कुर्विति तामुपदिशति मय्येवेति त्रिभिः । एवकारेण निर्विशेष व्यावृत्तिः । मयि श्यामसुन्दरे पीताम्बरे वनमालिनि, मन आधत्स्व—मत् स्मरणं कुर्वित्यर्थः । तथा मयि बुद्धि विवेकवतीं, निवेशय--मन्मननं कुर्वित्यर्थः । तच्चमननं ध्यान प्रतिपादक शास्त्र वाक्यानुशीलनं ततश्च मय्येव निवसिष्यसीतिच्छान्दसं, मत् समीप एव निवासं प्राप्स्यसीत्यर्थः ।८।

यज्ञान् भगवदर्पितानपि सुष्ठु विदधतो न भगवत् प्राप्तिरभूत् । किन्तु विप्रस्य भगवत्प्राप्तौ दृष्टायां तान् परित्यज्य—

साक्षात् स्मरणासमर्थं प्रति प्राप्त्युपायमाह । अथेति । अभ्यास योगेन, अन्यत्रान्यत्र गतमपि मनः पुनः पुनः प्रत्यहृत्य मद्रूप एव स्थापनमभ्यासः स एव योगस्तेन प्राकृतत्वादिति कुत्सित् रूपरसादिषु चलत्या मनोनद्यास्तेषु चलनं निरुध्य अति सुभद्रेषु मदीयरूप रसादिषु तच्चलनं शनैः शनैः सम्पादय इत्यर्थः । हे धनञ्जयेति । बहून् शत्रून् जित्वा धनमाहृतवता त्वया मनोऽपि जित्वा ध्यानधनं ग्रहीतुं शक्यमेव इति भावः ॥९॥

अभ्यासेऽपीति । यथा पित्त दूषिता रसना मत्स्यण्डिकां नेच्छति । तथैवाविद्या दूषितं मनः त्वद्रूपादिकं मधुरमपि न गृह्णातीत्यतस्तेन दुर्ग्रहेण महाप्रबलेन मनसा सहयोद्धुं मयनैव शक्यते इति मन्यसे चेदिति--भावः । मत् कर्माणि परमाणि यस्य सः । कर्माणि मदीय श्रवण कीर्त्तन वन्दनार्चन मन्मन्दिर मार्जनाभ्युक्षण पुष्पाहरणादि परिचरणानि कुर्वन् विनापि मत्स्मरणं सिद्धिं प्रेमवत् पार्षदत्व लक्षणां प्राप्स्यसीति ।१०।

एतदपि कर्त्तुमशक्तश्चेत्तर्हि मत्योगमाश्रितः, मयि सर्व कर्म समर्पणं मद् योगस्तमाश्रितः सन् । कुरु । सर्वं कर्म फलत्यागं प्रथम षष्ठोक्तं कुरु । अयमर्थः । प्रथमषष्ठे भगवदर्पित निष्कर्मयोग एव मोक्षोपाय उक्तः । द्वितीय षष्ठेऽस्मिन् भक्तियोगे एव भगवत् प्राप्त्युपाय उक्तः । स च भक्ति योगो द्विविधः । भगवन्निष्ठोऽन्तः करण व्यापारो वहिष्करण व्यापारश्च । तत्र प्रथम स्त्रिविधः,--स्मरणात्मक मननात्मकश्च । अखण्ड स्मरणासामर्थ्ये तदनुरागिणां । तदभ्यास रूपश्च इति त्रिक एवायं मन्दधियां दुर्गमः सुधियां निरपराधानान्तु सुगम एव । द्वितीयः—श्रवण कीर्त्तनात्मकस्तु सर्वेषामेव सुगम एवोपायः । एवमुभयोपाय-वन्तोऽनधिकारिणः सर्वतः प्रकृष्टाः द्वितीय षष्ठेऽस्मिन्नुक्ता । एतत् कृत्यसमर्थाः इन्द्रियाणां भगवन्निष्ठी कृत्य श्रद्धालवश्च भगवदर्पित निष्कामकर्मिणः प्रथम षष्ठोक्ताधिकारिणोऽस्मान्निकृष्टा एवेति ॥११॥

हे अर्जुन ! मेरी कृपा से मेरे भक्तवृन्द, अनायाससिद्धि लाभ करते हैं। अतएव तुम सङ्कल्प विकल्पात्मक मनको मुझ में स्थिर भाव से स्थापन करो, अर्थात् जागतिक विषय को लक्ष्य करके सङ्कल्प विकल्प न करके मेरे सम्बन्ध में सङ्कल्प विकल्प करने से मेरा सन्तोष होता है। तुम तुम्हारी व्यवसायात्मिका बुद्धि का निवेश मुझ में करो । अर्थात् मेरा सन्तोष कर,असन्तोष कर कार्य्य को विचारकर जिस में मेरा सन्तोष होत है, उस प्रकार कार्य्य ही करो । इस प्रकार से मदीय विषय में सर्वदा अनुशीलन करते करते श्रीभगवद् भजन करना ही एकमात्र कर्त्तव्य है, श्रीभागवत् प्राप्ति ही परम पुरुषार्थ है इत्यादि प्रकार सम्यक् ज्ञान लाभ होगा । इस अवस्था में देह त्याग के पश्चात् तुम मेरे समीप में अवस्थान करोगे । इस में अणुमात्र भी संशय नहीं है । किन्तु हे धनञ्जय ! यदि स्थिर भावसे चित्त धारण करने में तुम अक्षम होते हो, तो, विक्षिप्त चित्त को वारम्बार संयत करके मेरा निरन्तर स्मरण रूप योग का अभ्यास करो। इस रीति से तुम मुझ को प्राप्त करोगे ।

यदि तुम उस प्रकार स्मरण करने में अक्षम होते हो, तो, एकादशी व्रत प्रभृति का अनुष्ठान करो, अर्चन एवं नाम सङ्कीर्त्तन प्रभृति जिस कर्म के द्वारा मेरी प्रसन्नता होती है, एकाग्र मनसे उस कर्म समूह का अनुष्ठान करो, केवल मदीय सन्तोष के निमित्त ही कर्म कर रहे हो, तज्जन्य तुम अवश्य ही मुक्त हो जाओगे । यदि तुम उस प्रकार मदीय प्रीति कर कार्य्य करने में असमर्थ होते हो तो, मेरी शरणापन्न होकर संयत चित्त से नित्यनैमित्तिक कम समूह का फल परित्याग करो। तात्पर्य्य यह है कि, वर्ण एवं आश्रमोचित कार्य्य करना ईश्वरीय आदेश हैं, इस हेतु मैं कह रहा हूँ। किन्तु उक्त कर्म समूह के दृष्ट एवं अदृष्ट फल समूह ईश्वराधीन हैं, इस विषय में मेरा कुछ भी कर्त्तृत्व नहीं है। इस प्रकार भावयुक्त होकर

'यत्स्पर्द्धया मया चैतद्यज्ञदानादिकं कृतम् । स विष्णुरूपधृग्विप्रो याति वैकुण्ठमन्दिरम् ॥१९४॥

तस्माद्यज्ञैश्च दानैश्च नैव विष्णुः प्रसीदति । भक्तिरेव परं तस्य निदानं तोषणे मतम् ॥१९५॥

इति मुद्गल प्रत्युक्त्वा,

विष्णौ भक्तिं स्थिरां देहि मनोवाक्कायकर्मणा । त्रिरुच्चैर्व्याजहारासौ होमकुण्डाग्रतः स्थितः ॥''१९६॥

इत्युक्त्वा शुद्धभक्तिशरणतामेव मुहुर्दैन्येनाङ्गीकृत्य होमकुण्डे देहं त्यजतः पश्चादेव तत्प्राप्तिः " इति।

योगानादरेणाह (भा० १०।५१।६०)—

(१०२) ''युञ्जानानामभक्तानां प्राणायामादिभिर्मनः ।

अक्षीणवासनं राजन् दृश्यते क्वचिदुत्थितम् ॥''१९७॥

उत्थितं विषयाभिमुखम् ॥ श्रीभगवान् मुचुकुन्दम् ॥

निखिल कर्म्म फलासक्ति को परित्याग करो, ऐसा करने पर तुम मेरी प्रसन्नता को प्राप्त करोगे।

गीतोक्त वाक्य समूह से प्रतीत होता है कि—विशुद्ध भक्ति का अनुष्ठान करने में अक्षम होने से भगवदर्पित कर्म करना कर्त्तव्य है। वस्तुत विशुद्ध भक्ति अनुष्ठान ही भगवत् प्राप्ति का श्रेष्ठ उपाय है।

यहाँपर पद्म पुराणीय कार्त्तिक माहात्म्य का इतिहास अनुसन्धेय है। चोलदेश के अधिपति शुद्ध अर्च्चनाङ्ग भक्ति का अनुष्ठान कारी विष्णु दास नामक विप्रके सहित स्पर्द्धा करके अनेक यज्ञादि कर्मानुष्ठान किये थे। और किस की भगवत् प्राप्ति पहले होगी, इस विषय में आग्रह परायण हो गये थे। किन्तु उक्त ब्राह्मण की भगवत् प्राप्ति अनायास हो गई थी, यह देखकर भगवदर्पित कर्म समूह को परित्याग पूर्वक राजा ने कहा,—

''यत् स्पर्द्धया मया चैतद् यज्ञ ज्ञानादिकं कृतम् ।
स विष्णु रूपधृग् विप्रो याति वैकुण्ठ मन्दिरम् ॥१९४॥
तस्मात् यज्ञैश्च दानैश्च नैव विष्णुप्रसीदती ।
भक्तिरेव परं तस्य निदानं तोषणे मतम् ॥१९५॥

मैंने स्पर्द्धा से यज्ञ दानादि कर्म किया था, उस से विष्णु प्रसन्न नहीं होते हैं, भक्ति अनुष्ठान से विष्णु प्रसन्न होते हैं, भक्ति अनुष्ठान कारी ब्राह्मण का वैकुण्ठ लाभ सब से पहले हुआ। राजाने मुद्गल को उस प्रकार कहा, एवं होम कुण्ड के समीप में स्थित होकर इस प्रकार वाक्य उच्चारण करते करते होमकुण्ड में देहत्याग किया।

''विष्णौ भक्तिं स्थिरां देहि मनोवाक् कायकर्मणा ।
त्रिरुच्चैर्व्याजहारासौ होमकुण्डाग्रतः स्थितः ॥१९६॥

इत्युक्त्वा शुद्धभक्तिशरणतामेव मुहुर्दैन्येनाङ्गीकृत्य होमकुण्डे देहं त्यजतः पश्चादेव तत् प्राप्तिः ॥

मुझ को भक्ति प्रदान करो, तीनवार इस वाक्य को उच्चारण करके होमकुण्ड में देह त्याग किया, एवं पश्चात् भक्ति लाभ किया।

अनन्तर योग अनादर के द्वारा भक्ति का अभिधेयत्व स्थापन करते हैं। भा० १०।५१।६०

(१०२) ''युञ्जानानामभक्तानां प्राणायामादिभिर्मनः ।
अक्षीणवासनं राजन् दृश्यते क्वचिदुत्थिम् ॥'' १९७॥

टीका—व्यतिरेकमाह। युञ्जानानामिति। उत्थितम् विषयाभिमुखम्।''

श्रीभगवान् मुचुकुन्द महाराज के निकट भक्ति हीन जन वृन्द की निन्दा के प्रसङ्ग कहे थे। जो सब

१०३ । तथा (भा० १।६।३६)—

(१०३) "यमादिभिर्योगपथैः कामलोभहतो मुहुः ।
मुकुन्दसेवया यद्वत्तथाद्धात्मा न शाम्यति ।।"१६८।।

ततः सुतरामेव (भा० ११।१४।२०) "न साधयति मां योगः" इत्यादिकमिति भावः ।। श्रीनारदो श्रीव्यासम् ।।

१०४ । अथ ज्ञानानादरेणाप्युदाह्रियते । तत्र तस्य कृच्छ्रसाध्यत्वेनानादरो दर्शित एव

भक्ति हीन जनगण, केवल मात्र प्राणायाम प्रभृति साधन के द्वारा निज निज मन को संयत करते रहते हैं ? वासना क्षीण न होने के कारण, उनके मन विषय में धावित होते रहते हैं । श्लोकस्थ उत्थित पद का अर्थ विषयके प्रति धावित होना है ।

श्रीभगवान् श्रीमुचुकुन्द के प्रति कहे थे ।।१०२।।

१०३ । भा० १।६।३६ में उक्त है—

(१०३) "यमादिभिर्योगपथैः कामलोभहतो मुहुः ।
मुकुन्दसेवया यद्वत्तथाद्धात्मा न शाम्यति ।।"१६८।।

टीका—एतदेवेत्युक्तमवधारणमनुभवेन द्रढ़यति । यमादिभिस्तथा न शाम्यति, यथा मुकुन्द सेवया अद्धा साक्षात् आत्मा मनः शाम्यति । कथञ्चिन्मुकुन्दसेवा मात्रेण शाम्यति किं पुन स्तद् गुणवर्णनेति भावः ।

देवर्षि नारद भी वेद व्यास के निकट उस प्रकार ही कहे हैं—हे महर्षे ! अनुक्षण काम क्रोध लोभ प्रभृति षड़् रिपु कर्त्तृक अभिभूत आत्मा, श्रीमुकुन्द की सेवा के द्वारा जिस प्रकार साक्षात् रूप से शान्ति लाभ करता है, यम नियम प्रभृति योग साधन के द्वारा उस प्रकार शान्ति लाभ नहीं कर सकता है । तज्जन्य ही श्रीभगवान् निज प्रियभक्त श्रीउद्धव के निकट कहे थे । भा० ११।१४।२०

"न साधयति मां योगो न साङ्ख्यं धर्म उद्धव ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्ति र्ममोर्जिता ।।

टीका—अत एवम्भूतं श्रेयोनान्यदस्तीत्याह न साधयतीतिद्वाभ्याम् ।

परम शक्तिमती मद्विषयिणी विशुद्धा भक्ति व्यतीत—योग, साङ्ख्य धर्म, वेदाध्ययन तपस्या एवं वैराग्य प्रभृति साधन समूह मुझ को सन्तुष्ट नहीं कर सकते हैं । यह ही पूर्वोक्त प्रतिज्ञा वाक्य की तात्पर्य व्याख्या है ।

श्रीनारद श्री वेदव्यास को कहे थे ।।१०३।।

१०४ ।। सम्प्रति ज्ञान साधन को अनादर करके भक्ति का अभिधेयत्व का निर्द्धारण कर रहे हैं ।—तद्विषय में प्रथमतः यह प्रतिपन्न हुआ है कि—ज्ञान साधन, अतीव कष्ट साध्य होने के कारण, उसका आदर कोई नहीं करते हैं । इस विषय में भा० ३।५।४५—४६ श्लोकद्वय को उदाहरण रूप में प्रस्तुत करते हैं—

"तान् वै ह्यसद् वृत्तिभिरक्षिभिर्ये पराहृतान्तर्मनसः परेशः ।
अथोनपश्यन्त्युरुगाय नूनं ये ते पदन्यास विलास लक्ष्म्याः ।।४५।।
पानेन ते देव कथासुधायाः प्रवृद्धभक्त्या विशदाशया ये ।
वैराग्य सारं प्रतिलभ्य बोधं यथाञ्जसान्वीयुरकुण्ठधिष्ण्यम् ।।०६।।

टीका—ननुयदि हृदिस्थत्यापि पदाब्जं केषाञ्चित् सुदुरं तर्हि अन्येषामपि तथैवस्यात्, अविशेषादित्याशक्त्याहुः । तानिति । असद्वृत्तिभिर्बहिर्मुखैः अक्षिभिरिन्द्रियैः पराहृतं दूरमपहृतं अन्तस्थं मनोयेषां ते,

(भा० ३।५।४५-४६) "पानेन ते देव कथासुधायाः" इत्यादिभ्याम् । तथोक्तं श्रीकुमारोपदेशे (भा० ४।२२।४०) "कृच्छ्रो महान्" इत्यादि, श्रीगीतासु च (१२।१-५) "अर्ज्जुन उवाच-

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्तां पर्य्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥१९९॥

अथो अतएव ते नूनं तान् न पश्यन्ति । वे प्रसिद्धम् । कुत, पुनस्तेषां तत्सङ्गः स्यात् । कान् ? ते तव पदन्यासोगमनं, तस्य विलासो विभ्रमस्तस्य लक्ष्मीः शोभा तस्या ये । तल्लीलाकथनादिभिः शोभमानास्त्वद् भक्तानित्यर्थः । पथ इति लक्ष्म्या इति च पाठे त्वत् पदन्यास विलासो लक्ष्यो येषाम् तान् पथः तन्मार्गभूतान् सतः, मार्गान् वा श्रवणादीन् न पश्यन्तीत्यर्थः । यद्वा ये एवम्भूता भागवतास्ते तानुन्मत्तान् नूनं नैव पश्यन्तीत्यन्वयः । सत्सङ्गा भावेन ह रकथा श्रवणाभावात् । हृदिस्थितमपि तेषां सुदुरमिति भावः ।४५।।

एतदेवस्फुटयन्ति पानेनेति द्वाभ्याम् । वैराग्यंसारो बलं यस्य तं लब्ध्वा अन्वीयुः प्राप्नुयुः । अकुण्ठ-धिष्ण्यं वैकुण्ठलोकम् ॥४६॥

श्रीभगवान् की कथा सुधा का पान करते करते पवित्र भक्ति लाभ करके जो लोक पवित्र चित्त के हुए है, वे सब वैराग्य सार रूप ज्ञान लाभ करके अति अनायास श्रीवैकुण्ठ लोक को प्राप्त करते हैं । और जो लोक मनःस्थैर्य्यरूप योगानुष्ठान के द्वारा परम बलवती प्रकृति को पराजित करके परमात्म स्वरूप को प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं, उनको केवल परिश्रम फल ही मिलता है । श्रीभगवत् सेवा रूपा भक्ति में उस प्रकार परिश्रम लाभ नहीं होता है । श्रीसनत् कुमार श्रीपृथुमहाशय के निकट उपदेश प्रदान प्रसङ्ग कहे थे—भा० ४।२२।४०

"कृच्छ्रो महानिह भवार्णवमप्लवेशां षड्वर्गनक्रमसुखेन तितीरषन्ति ।
तत् त्वं हरेर्भगवतो भजनीयमङ्घ्रि कृत्वोड़ुपं व्यसनमुत्तर दुस्तरार्णम् ॥"

टीका—ननु ब्रह्मविदाप्नोति परमिति श्रुतेः, कथं यतयोनोद्ग्रयन्तीत्युच्यते ? तत्राह कृच्छ्र इति । अप्लवेशां—न प्लव स्तरणे हेतुः, ईट् ईशो येषां, तेषां महान् इह तरणे कृच्छ्रः क्लेशः । ते हि असुखेन योगादिना इन्द्रिय षड़्वर्ग ग्राहं भवार्णवं तितीर्षन्ति । तत् तस्मात् उड़ुपं प्लवम् । दुस्तरार्णवमित्यर्थः । अर्ण शब्दे 'व' काराभाव आर्षः । यद्वा दुस्तरोदक रूपं व्यसनमित्यर्थः ॥४०॥

हे महाराज ! यदि कहे कि—यति समूह ब्रह्मविद्या द्वारा कर्म ग्रन्थि भेदन करने में सक्षम होते हैं । कारण, श्रुति में उक्त है—"ब्रह्मविदाप्नोति परम्" अथापि वे सब सुख पूर्वक संसार उत्तीर्ण होने में सक्षम नहीं होता हैं । कारण, जो सब यतिवर्ग, भवसमुद्र उत्तारण के निमित्त एकमात्र उपाय स्वरूप श्रीभगवान् के श्रीचरण युगल को अवलम्बन नहीं करते हैं, उनको अतिशय क्लेश प्राप्त करना पड़ता है । कारण, भवसमुद्र में काम क्रोधादि षट् नक्र सर्वदा विद्यमान हैं । तज्जन्य यह अतीव भीषण है । श्रीभगवान् में भक्ति हीन यतिगण योगादि साधन के द्वारा अत्यन्त दुःख से एवम्भूत समुद्र उत्तोरण की इच्छा मात्र ही करते रहते हैं । किन्तु कभी उत्तीर्ण होने में समर्थ नहीं होते हैं । अतएव हे नृप ! भजनीय श्रीभगवान् के जो श्रीचरण युगल हैं, उनको प्लवरूप में ग्रहण कर तुम, यह भव समुद्र पूर्वक उत्तीर्ण हो जाओ । भक्ति व्यतीत अन्यसाधनसमूह केवल दुःखमय है, इसका कथन प्रस्तुत श्लोक में हुआ है ।

श्रीगीता शास्त्र के द्वादशाध्याय के प्रथम पाँच श्लोक में उक्त प्रसङ्ग का वर्णन हुआ है-अर्ज्जुन उवाच-

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्य्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥१९९॥

श्रीभगवानुवाच—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥२००॥
ये त्वक्षरमनिर्द्देश्यमव्यक्तं पर्य्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यञ्च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥२०१॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥२०२॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ताहि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥"२०३॥ इति ।

भक्तिमार्गे तु श्रमो न स्यात्, तद्वशीकारितारूपं फलञ्चापूर्वमित्याह (भा० १०।१४।३) –

श्रीभगवानुवाच— मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्त मे युक्ततमा मताः ॥२००॥
ये त्वक्षरमनिर्द्देश्यमव्यक्तं पर्य्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यञ्च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥२०१॥
संनियम्येन्द्रियग्रागं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥२०२॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुखं देहवद्भिरवाप्यते ॥"२०३॥

टीका— द्वादशे सर्वभक्तानां ज्ञानिभ्यः श्रैष्ठ्यमुच्यते ।
भक्तेष्वपि प्रशस्यन्ते येऽद्वेषादि गुणान्विताः ॥
भक्ति प्रकरणस्योपक्रमे "योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मेयुक्त तमो मतः ॥" इति

भक्तेः सर्वोत्कर्षो यथाश्रुतः, तथैवोपसंहारेऽपि तस्या एवं सर्वोत्कर्ष श्रोतु कामः पृच्छति । एवं सतत युक्ता, मत्कर्म्मकृन्मत् परम इति तदुक्त लक्षणा भक्तास्त्वां श्यामसुन्दराकारं ये पर्य्युपासते ये चाव्यक्तं निर्विशेषं अक्षरं एतद्वैतदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वं, इत्यादि श्रुत्युक्तं ब्रह्म उपासते । तेषामुभयेषां योगविदां मध्ये के ऽतिशयेन योग विदश्च त्वत् प्राप्तौ श्रेष्ठमुपायं जानन्ति न लभन्ते वा ते योगवित्तया इति वक्तव्ये योगवित्तमा इत्युक्तिर्योगविदाराणामपि बहूनां मध्ये के योग वित्तमा इत्यर्थं बोधयति ।

अर्जुन बोले—हे कृष्ण तुमने अबतक जो कुछ उपदेश दिया, उस से मैं समझा कि—योगी दो प्रकार हैं, प्रथम योगी वह है, जो अनन्य भक्ति के द्वारा निर्म्मलान्तः करण से तुम्हारी उपासना करता है, द्वितीय वह है—जो अव्यक्त, अक्षर स्वरूप में आध्यात्मिक योगावलम्बन से मेंरून धारण करता है । इन दोनों के मध्य में श्रेष्ठ योगी कौन है ? उत्तर में श्रीभगवान् बोले—

टीका—"तत्र मद् भक्ताः श्रेष्ठा इत्याह, मयि श्यामसुन्दराकारे मन आवेश्य आविष्टं कृत्वा नित्ययुक्ता मन्नित्य योगकाङ्क्षिणः परया गुणातीतया श्रद्धया । यदुक्तं सात्त्विक्याध्यात्मिकीश्रद्धा कर्म श्रद्धातु राजसी ।

(१०४) "ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव
जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीय--वार्त्ताम् ।

तामस्यधर्मे या श्रद्धा मत्सेवायान्तु निर्गुणा इति ते मे मदीया अनन्य भक्ता युक्ततमा योग वित्तमा इत्यर्थः । तेनानन्य भक्तेभ्योन्यूना अन्ये ज्ञान कर्मादि मिश्र भक्तिमन्तो योग वित्तरा इत्यर्थोऽभिव्यञ्जितो भवति । ततश्च ज्ञानाद् भक्तिः श्रेष्ठा भक्तावप्यनन्य भक्तिः श्रेष्ठा इत्युपपादितम् ।।२।।

निर्गुण श्रद्धा के सहित समस्त जीवन को भक्तिमय करके जिन्होंने मुझ में मनोनिवेश किया है, वह भक्त व्यक्ति ही योगिवृन्द की अपेक्षा श्रेष्ठ है ।।२।।

टीका—"मदीय निर्विशेष ब्रह्मस्वरूपोपासकास्तु दुःखित्वात्ततो न्यूना, इत्याह येत्विति द्वाभ्यां । अक्षरं ब्रह्म, अनिर्द्देश्यं शब्देन व्यपदेष्टुमशक्यं यतोऽव्यक्तं रूपादि हीनं सर्वत्रगं सर्वदेश व्यापि अचिन्त्यं तर्कागम्यं, कूटस्थं सर्वकालव्यापि, एकरूपतया तु यः कालव्यापी स कूटस्थ इत्यमरः । अचलं, वृद्धयादि रहितं, ध्रुवं, नित्यं, मामेवेति । अक्षरस्य तस्य मत्तो भेदाभावात् । ३।४।

जो लोक, इन्द्रिय वर्ग को नियन्त्रित करके सब के प्रति समदर्शन होकर समस्त प्राणिवृन्द के हित हेतु रत होकर मेरा अक्षर, अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वगत, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल, ध्रुव, एवं निर्विशेष स्वरूप की उपासना करते हैं। वे सब अत्यन्त क्लेश से मुझ को प्राप्त करते हैं, मुझ को छोड़कर और द्वितीय उपास्य वस्तु नहीं है । ३।४

टीका—तर्हि केनांशे तेषामपकर्ष स्तत्राह क्लेश इति । न केनापि व्यजते इत्यव्यक्तं ब्रह्म, तत्रैव सक्त चेतसां तदेवानुबुभूषूणां तेषां तत् प्राप्तौ क्लेशोऽधिकतरः । हि यस्मात् अव्यक्ता गतिः, केनापि प्रकारेण, व्यक्ति र्भवति सा गतिर्देहवद्भि जीवै र्दुःखं यथा भवत्येवं अवाप्यते । तथाहि इन्द्रियाणां शब्दादि ज्ञान विशेष एव शक्तिः,नतु विशेषेतर ज्ञाने इति अतः इन्द्रिय निरोधः,तेषां निर्विशेषज्ञानोमिच्छतां अवश्यकर्त्तव्य एव । इन्द्रियाणां निरोधस्तु स्त्रोतस्वतीनामिवनिरोध दुष्कर एव । यदुक्तं सनत् कुमारेण । यत् पादपद्म पलास विलास भक्त्या, कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः । तद्वन्नरिक्त मतयो यतयो निरुद्ध स्त्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम् । क्लेशोमहानिहभवार्णवमप्लवेशं षड् वर्ग नक्रमसुखेन तितीर्षयन्ति । तत् त्वं हरेर्भगवतो भजनीयमङ्घ्रि कृत्वोडुपं व्यसनमुत्तर दुस्तरार्णं । इति तावताक्लेशेनापि सा गति र्यद्यवाप्यते तदपि भक्ति मिश्रेणैव । भगवति भक्तिं विना केवल ब्रह्मोपासकानान्तु केवल क्लेश एव लाभो नतु ब्रह्म प्राप्तिः । यदुक्तं ब्रह्मणा, तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यत् यथा स्थूल तुषावघातिनाम् । इति ।।५।।

भक्त योगी, अति अनायास से परात्पर वस्तु का अनुशीलन करके भगवान् को प्राप्त करते हैं, किन्तु ज्ञान योगी-अव्यक्त तत्त्व में परिनिष्ठित होकर केवल क्लेशलाभ करते हैं, फल प्राप्ति में भी निश्चयता नहीं है, प्रत्युत दुःख ही सार होता है । जीव नित्य चिन्मय वस्तु है, अव्यक्त अवस्था में लीन होने से उस की स्वरूप हानि होती है । भक्ति योग ही मङ्गलमय है, स्वतन्त्र रूप से ज्ञान योग के अनुष्ठान से अमङ्गल उत्पन्न होता है, अतएव निराकार, निर्विकार, सर्वव्यापि एवं निर्विशेष स्वरूप की उपासना करके जो अध्यात्मयोग साधित होता है, वह फलतः क्लेश पर्य्यवसायी होने के कारण प्रशस्त नहीं है ।५।

श्रीभगवद् गीता के कतिपय वचनों के द्वारा बोध होता है कि— भक्ति मार्ग ही एकमात्र प्रशस्त मार्ग है, कारण, भक्तिमार्ग में श्रम नहीं है, किन्तु ज्ञान मार्ग में बहुतर क्लेश भोगना पड़ता है, विशेषतः भक्ति साधन की यहाँतक सामर्थ्य है कि— वह श्रीभगवान् को भी वशीभूत करता है । उक्त भगवद् वशीकारित्व ही विशुद्ध भक्ति का मुख्य फल है । भा० १०।१४।३ श्रीब्रह्माने कहा भी है—

(१०४) "ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव
जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीय--वार्त्ताम् ।

स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभि-
र्ये प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम् ॥" २०४॥

उदपास्य ईषदप्यकृत्वा, स्थाने सतां निवास एव स्थिताः सन्मुखरितां सद्भिर्मुखरितां स्वत एव नित्यं प्रकटितां भवदीयवार्त्ता तत्सन्निधिमात्रेण स्वत एव श्रुतिगतां श्रवणं प्राप्ताम्, प्रायशो बाहुल्येन तनु-वाङ्मनोभिर्नमन्तः सत्कुर्वन्तो ये जीवन्ति केवलम्, यद्यपि नान्यत् कुर्वन्ति, तैः प्रायश-स्त्रिलोक्यामन्यैरजितोऽपि त्वं जितोऽसि वशीकृतोऽसि । अतएवोक्तं श्रीनृसिंहपुराणे—

'पत्रेषु पुष्पेषु फलेषु तोये, ष्वक्रीतलभ्येषु सदैव सत्सु ।
भक्त्या सुलभ्ये पुरुषे पुराणे, मुक्तौ किमर्थं क्रियते प्रयत्नः ?" २०५॥ इति ॥

स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभि-
र्ये प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम् ॥"२०४॥

टीका—"तर्हि अज्ञाः कथं संसारं तरेयुः, अतआह ज्ञान इति । उदपास्य ईषदप्यकृत्वा, सद्भिर्मुखरितां स्वत एव नित्यं प्रकटितां, भवदीय वार्त्तां, स्वस्वस्थान एव स्थिताः, तत् सन्निध नमात्रेण स्वतएव श्रुतिगतां श्रवणं प्राप्तां, तनुवाङ् मनोभि र्नमन्तः—सत् कुर्वन्तो ये जीवन्ति, केवलं यद्यपि नान्यत् कुर्वन्ति तैः, प्रायशः त्रिलोक्याम्—अन्यैरजितोऽपि त्वं जितः प्राप्तोऽसीति किं ज्ञान श्रमेणेत्यर्थः ॥

हे अजित ! जिन्होंने स्वरूप ज्ञान प्राप्ति हेतु किञ्चिन्मात्र प्रयास न करके कृताञ्जलि पूर्वक महत् के समीप में अवस्थान पूर्वक स्वतः ही श्रुतिगत महत् मुखरित भवदीय कथा श्रवण को जीवातु किया है, उस महाभाग्यवान् भक्तवृन्द त्रिभुवन के मध्य में अप्राप्य होने के कारण 'अजित' नाम से ख्यात आप को काय, वाक्य, मन के द्वारा वशीभूत करते हैं । अथवा उक्त महापुरुष गण, निज काय, वाक्य, मन के द्वारा, आप को वशीभूत करते हैं । उक्त श्लोक की व्याख्या करते हैं—

'उदपास्य" अर्थात् स्वल्पमात्र भी प्रयास न करके । 'स्थाने' अर्थात् महात्मा वृन्द के निवास स्थान में स्थित होकर । साधुगण कर्त्तृक मुखरित अर्थात् उनके मुख से नित्य ही स्वतः श्रीभगवान् की गुण लीलादि कथा प्रकटित हो रही है । कारण, वे सब, श्रीभगवद् गुणादि कीर्त्तन व्यतीत क्षण काल भी अति वाहित नहीं करते हैं । सुतरां उनके निकट में गमन मात्र से ही अनायास आगन्तुक के कर्णकुहर में भगवद् गुणानुवाद प्रविष्ट होता है । 'प्रायशः" बहुल रूप से । तनु मन एवं वाणी के द्वारा नमस्कार करते करते । तीन प्रकार श्रीहरि कथा का सम्मान होता है । श्रवण समय में अञ्जलि बन्ध के द्वारा, साधु, साधु शब्दोच्चारण के द्वारा, एवं आस्तिकय बुद्धि के द्वारा । इस प्रकार अनुशीलन कर जो लोक जीवित रहते हैं, वे सब कुछ भी साधन न करने पर भी त्रिभुवन में अपराजेय 'अजित' नाम से ख्यात आप उन सब भक्त वृन्द के द्वारा पराजित होते हैं । अर्थात् आप उन सब के निकट वशीभूत होकर रहते हैं । अतएव श्रीनृसिंह पुराण में उक्त है—

"पत्रेषु पुष्पेषु फलेषु तोये,-ष्वक्रीतलभ्येषु सदैव सत्सु ।
भक्त्या सुलभ्ये पुरुषे पुराणे, मुक्तौ किमर्थं क्रियते प्रयत्नः ?"२०५ ॥

जगत् में पत्र, पुष्प, फल एवं जल प्रभृति वस्तु लाभ जब विना मूल्य से अनायास होते हैं, एवं पुराण पुरुष श्रीभगवान् भी एक मात्र भक्ति से ही वशीभूत होते हैं, तब मुक्ति लाभ हेतु वृथा परिश्रम करने का

१०५। वस्तुतस्तु (भा० १०।१४।४)

(१०५) "श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद्यथा स्थूल-तुषावघातिनाम् ॥"२०६॥

टीका च—"भक्तिं विना च ज्ञानं नैव सिद्धयतीत्याह--श्रेय इति। श्रेयसामभ्युदयापवर्गलक्षणानां सृतिः सरणं यस्याः सरस इव निर्झराणां ताम्, ते तव भक्तिमुदस्य त्यक्त्वा

प्रयोजन ही क्या है ? इस से प्रतिपन्न होता है कि—भक्ति मार्ग में स्वल्प मात्र भी परिश्रम नहीं है ॥१०४॥

१०५। भा० १०।१४।४ श्रीब्रह्माने श्रीकृष्ण को वास्तविक तत्त्व कहा है—

(१०५) "श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद्यथा स्थूल-तुषावघातिनाम् ॥"२०६॥

टीका—भक्तिं विना ज्ञानन्तु नैव सिध्येदित्याह। श्रेयः सृतिमिति। श्रेयसामभ्युदयापवर्ग लक्षणानां, सृतिः, सरणं यस्याः, सरस इव। निर्झराणाम्। तां ते तव भक्तिमुदस्य—त्यक्त्वा, श्रेयसांमार्गभूतांमति वा। तेषां क्लेशलः क्लेश एवावशिष्यते। अयं भावः। यथा अल्प प्रमाणं धान्यं परित्यज्य अन्तः कण हीनान् स्थूल धान्य भासांस्तुषानेव अवघ्नन्ति, तेषां न किञ्चित् फलम्, एवं भक्तिं तुच्छीकृत्य ये केवलोबोधाय प्रयतन्ते तेषामपीति ॥४॥

एक और ज्ञान मार्ग जिस प्रकार अतिशय श्रम साध्य है, दूसरी ओर भक्ति की सहायता व्यतीत ज्ञान कभी भी स्वतन्त्र रूप से किसी प्रकार फल प्रदान में सक्षम नहीं होता है। हे विभो ! जो लोक, निखिल मङ्गल जननी भक्ति को तुच्छ बुद्धि से अनादर करके, केवल बोध लाभ हेतु क्लेशस्वीकार करते रहते हैं, उन सब का वह प्रयत्न केवल क्लेशदायी ही होता है। धान्य का परिमाण स्वल्प देखकर अनादर करके जो लोक स्थूल तुषावघातन में यत्नवान् होते हैं, उन सब के पक्ष में तुष अवहनन जनित हस्त वेदनालाभ ही सार होता है, उस प्रकार अल्पश्रमसाध्य भक्ति साधनमें अनादरकारी ज्ञान साधन रत व्यक्ति का भी पण्डश्रम ही होता है।

श्रीधर स्वामिपाद की व्याख्या इस प्रकार है—भक्ति के विना ज्ञान भी सिद्ध अर्थात् फल प्रद नहीं हो सकता है। इस अभिप्राय से ही "श्रेयसृतिं" श्लोक कहते हैं। भक्तिरसाविष्ट श्रीब्रह्मा भक्ति का विशेषण प्रदान किये हैं। "श्रेयसृतिं" अर्थात् सरोवर से निर्गत निर्झर समूह के समान जिस भक्ति से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप चतुर्वर्ग निर्गत होते रहते हैं। एवम्भूत निखिल मङ्गल जननी आपकी भक्ति को परित्याग कर जो लोक, ज्ञान साधन के निमित्त प्रयत्नशील होते हैं, उनको केवल क्लेश लाभ होता है। यहाँ का अभिप्राय यह है कि—जिस प्रकार अल्प परिमाण धान्य परित्याग करके अन्तः कण हीन स्थूल धान्याभासराशि को जो लोक अवधातन करते रहते हैं। उनको परिश्रम व्यतीत अपर कुछ भी फल लाभ नहीं होता है। उस प्रकार भक्ति को तुच्छ मानकर केवल बोधलाभ हेतु जो लोक प्रयत्न करते हैं, उनको—तपस्या संयम, एवं शास्त्राध्ययन जनित केवल श्रम लाभ ही होता है। यह है टीकाकार का कथन।

श्रेयसां मार्गभूतामिति वा । तेषां क्लेशलः क्लेश एवावशिष्यते । अयं भावः–यथा अल्पप्रमाणं धान्यं परित्यज्य अन्तःकण--हीनान् स्थूलधान्य भासांस्तुषानेव येऽवघ्नन्ति, तेषां न किञ्चित् फलम् एवं भक्ति तुच्छीकृत्य ये केवल-बोधाय प्रयतन्ते, तेषामपि'' इत्येषा । अत्र 'विभो' इतिवत् केवल शुद्धेत्यपि सम्बोधनम्, असौ दृश्यमानः क्लेशलः, सन्न्यासादीन्येवेति च ज्ञेयम् । श्रीगीतासु च (१३।८) -''श्रीभगवानुवाच--अमानित्वमदम्भित्वम्'' इत्यादिकं ज्ञानयोगमार्ग--मुपक्रम्य, मध्ये (गीता० १३।१०) ''मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी'' इत्यप्युक्त्वा,

---

भक्ति के विना ज्ञान जो दुःखदायी है, उसका कथन श्रीमद् भगवद् गीता १३--८ से ११ में है 'अमानित्वमदम्भित्वं इत्यादि ज्ञान योग को उपक्रम करके मध्य में ''मयि चानन्य योगेन भक्ति रव्यभिचारिणी अर्थात् मेरे प्रति अनन्य उपाय से अव्यभिचारिणी भक्ति योग होना आवश्यक है। इस का उल्लेख करके अवशेष में ''तत्त्वज्ञानार्थ दर्शनम्'' अर्थात् तत्त्व ज्ञान का फल स्वरूप आत्मदर्शन है, इस प्रकार समापन करके भी ''एतज् ज्ञान मिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा'' अर्थात् अनन्य उपाय से अव्यभिचारिणी भक्ति ही यथार्थ ज्ञान शब्द वाच्य है । मेरे प्रति भक्ति शून्य जो ज्ञान है, वह ज्ञान अज्ञान संज्ञा में परिगणित होता है । अतएव भक्ति योग भिन्न ज्ञान कभी भी ज्ञान शब्द वाच्य नहीं हो सकता है । उक्त त्रयोदश अध्याय के अन्त में आपने कहा है । ''मद्भक्त एतद् विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते'' अर्थात् हे अर्जुन ! मेरा भक्त, मद्वर्णित ज्ञान एवं ज्ञेय वस्तु का यथार्थ स्वरूप को जानकर स्वरूपाविर्भावलाभ की उपयोगिता को प्राप्त करते हैं । उक्त त्रयोदश अध्याय के अन्यत्र एवं अन्य स्थल में नवमादि अध्याय में इस जातीय अभिप्राय प्रकाशित हुआ है । उस के ९।३ श्लोक में उक्त है—हे परन्तप ! भक्ति के सहित ज्ञान लक्षण धर्म को आस्तिक्य रूपमें ग्रहण न करने पर साधारण मानवगण उपायान्तर द्वारा मुझ को प्राप्त करने का प्रयत्न कर के भी मुझ को प्राप्त न कर मृत्यु सङ्कुल संसार पथ में परि भ्रमण करते रहते हैं ।

यहाँपर श्लोकोक्त ''धर्मस्यास्य'' पदस्थ 'अस्य' पद का अर्थ इस प्रकार है--'सततं कीर्त्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढ़व्रताः । अर्थात् हे अर्जुन ! कतिपय उत्तम अधिकारी व्यक्ति स्त्रोत्र मन्त्रादि के द्वारा मेरी सेवा करते हैं, कोई कोई अधिकारी व्यक्ति, दृढ़ सङ्कल्प से ईश्वर ज्ञानानि एवं इन्द्रिय संयमादि में प्रकृष्ट यत्न युक्त होकर मेरी उपासना करते हैं । कुछ व्यक्ति, भक्ति युक्त मानस से सतत प्रणाम के द्वारा मेरी उपासना करते हैं । इस श्लोक में भक्ति धर्म की कथा कही गई है । अतऐव भक्ति साधन का आश्रय व्यतीत अपर किसी भी साधन से माया बन्धन से निष्कृतिप्राप्ति नहीं हो सकती है । अतऐव मुद्गल प्रभृतियोंने सुस्पष्ट रूप से भक्ति साधन की कथा न कहने पर भी जन्मान्तर में उन सबों ने जो साधन भक्ति का अनुष्ठान किया था । वह अवश्य ही जानना होगा ।

गीता के श्लोक समूह की व्याख्या इस प्रकार है—

''अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्ति रार्जवम् ।
आचार्य्योपासनं शौचं स्थैर्य्यमात्म विनिग्रहः ॥७॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च ।
जन्म मृत्यु जरा व्याधि दुःख दोषानु दर्शनम् ॥८॥
असक्ति रनभिष्वङ्गः पुत्र दार गृहादिषु ।
नित्यञ्च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥९॥
मयि यानन्य योगेन भक्ति रव्यभिचारिणी ।
विविक्त देश सेवित्वमरति र्जन संसदि ॥१०॥

प्रान्ते (गी० १३।११) "तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्" इति समाप्याह (गी० १३।११) — एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा" इति । ततो भक्तियोगं विना ज्ञानं न भवतीत्यर्थः । अतोऽन्तेऽप्युक्तम्

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वंतत्त्व ज्ञानार्थ दर्शनम् ।
एतज् ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ।।११।।

टीका—अथोक्ताद्विभिन्नत्वेन ज्ञेयं क्षेत्रज्ञद्वयं विस्तरेण निरुपयिष्यन् तज् ज्ञान साधनान्यमानित्वादीनि विंशतिमाह पञ्चभिः, अमानित्वं स्वसत्कारानपेक्षत्वम् । अदम्भित्वं धार्म्मिकत्वख्यातिफलक धर्माचरण विरहः, अहिंसा—परापीड़नम्, क्षान्तिरपमानसहिष्णुता, आर्जवं छद्मिष्वपि सारल्यम्, आचार्य्योपासनं—ज्ञान प्रदस्य गुरोरकैतवेन संसेवनम्, शौचं वाह्याभ्यन्तरपावित्र्यम्—'शौचञ्च द्विविधं प्रोक्तं वाह्यमाभ्यन्तरं तदा । मृज्जलाभ्यां स्मृतं वाह्यं भावशुद्धिस्तथान्तरम्" इतिस्मृतेः, स्थैर्य्यं सद् वर्त्मैक निष्ठत्वम्, आत्म विनिग्रह आत्मानुसन्धिप्रतीपाद् विषयान्मनसो नियमनम्, इन्द्रियार्थेषु शब्दादि विषयेषु प्रतीपेषु वैराग्यं रुच्यभावः, अनहङ्कारो देहादिष्वात्माभिमानत्यागः, जन्मादिषु दुःखरूपस्य दोषस्यानुदर्शनम्, पुनः पुनश्चिन्तनम्, पुत्रादिषु परमार्थप्रतीपेष्वसक्तिः--प्रीतित्यागः, अनभिष्वङ्गस्तेषु सुखिषु दुःखिषु च सत्सु तत् सुखदुःखानभिनिवेशः, इष्टा निष्टानामनुकूल प्रति कूलानामर्थानामुपपत्तिषु प्राप्तिषु समचित्तत्वं, हर्षविषाद विरहः, नित्यं सर्वदा, मयि परेशेऽव्यभिचारिणी स्थिरा भक्तिः श्रवणाद्या— अनन्य योगेनैकान्तित्वेन मद्भक्त सेवा, तथा विविक्तदेशसेवित्वं निर्जनस्थानप्रियता, जनानां ग्राम्याणां संसदि रतित्यागः, अध्यात्ममात्मनि यज्ज्ञानं तस्य नित्यत्वं सर्वदा विमृश्यत्वम्, तत्त्वं त्वहमेव परं ब्रह्म,—

"वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।"

इत्यादि स्मृतेः तज्ज्ञानस्य योऽर्थस्तत् प्राप्तिलक्षणस्तस्य दर्शनं हृदि स्मरणम् । एतदमानित्वापादकं ज्ञानं परम्परया साक्षाच्च तदुपलब्धि साधनं प्रोक्तम्--(ज्ञायते उपलभ्यतेऽनेन । इति व्युत्पत्तेः, यत्ततोऽन्यथा विपरीतं मानित्वादि तदज्ञानं तदुपलब्धि विरोधीति ।।"

सारार्थ वर्षिणी टीका—"उक्त लक्षणात् क्षेत्रात् विविक्ततया ज्ञेयौ जीवात्मपरमात्मानौ क्षेत्रज्ञौ विस्तरेण वर्णयिष्यन् तज्ज्ञानस्य साधनादि अमानित्वादीनि विंशतिमाह पञ्चभिः । अत्र अष्टादश, भक्तानां ज्ञानिनाञ्च साधारणानि, किन्तु भक्तैः, मयि चानन्य योगेन भक्तिरव्यभिचारिणी, इत्येकमेव भगवदनुभव साधनत्वे यत्नतः क्रियते । अन्यानि सप्तदश, उक्ताभ्यासवतां तेषां स्वतएवोत्पद्यन्ते न तु तेषु यत्नः, इति साम्प्रदायिकाः । अन्तिमे द्वे तु ज्ञानिनामसाधारणे एव । अत्र अमानित्वादीनि विस्पष्टार्थानि । शौचं वाह्या-माभ्यन्तरञ्च तथा च स्मृतिः–शौचं द्विविधं प्रोक्तं वाह्यमाभ्यन्तरं तथा मृज्जलाभ्यां स्मृतं वाह्यं भावशुद्धि-स्तथान्तरां इति । आत्म निग्रहः – शरीर संयमः ।।७।।

जन्मादिषु दुःखरूपस्य दोषस्यानुदर्शनं पुनः पुनः पर्य्यालोचनं, असक्तिः पुत्रादिषु प्रीतित्यागः । अनभिष्वङ्गः, पुत्रादीनि सुखे दुःखे चाहमेव सुखी दुःखीत्याध्यासाभावः । इष्टानिष्टयो व्यावहारिकयो-रूपपत्तिषु प्राप्तिषु नित्यं सर्वदा समचित्तत्वम् ।।८।९।।

मयि श्यामसुन्दराकारे अनन्ययोगेन ज्ञानकर्मतपो, योगाद्यमिश्रणेन भक्तिः, च कारात् ज्ञानादि मिश्रण प्राधान्येन च आद्याभक्तैरनुष्ठेया-द्वितीया ज्ञानिभिरिति केचित् । अन्ये तु अनन्याभक्ति र्यथाप्रेम्नः साधनं तथा परमात्मानुभवस्यापीति ज्ञापनार्थमत्र षट् के ऽप्युक्तिरिति भक्ता व्याचक्षते । ज्ञानिनस्तु अनन्येन योगेन सर्वात्म दृष्ट्या इति । अव्यभिचारिणी प्रतिदिनमेव कर्त्तव्या । केनापि निवारयितुमशक्या इति मधुसूदनसरस्वती पादाः ।।१०।।

आत्मानमधिकृत्य वर्त्तमानं ज्ञानं अध्यात्मज्ञानं तस्य नित्यत्वं नित्यानुष्ठेयत्वं पदार्थ शुद्धिनिष्ठत्व

(गी० १३।१८)---"मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते" इति । तत्रान्यत्र च (गी० ९।३) –

"अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप ।
अप्राप्य मां निवर्त्तन्ते मृत्युसंसार-वर्त्मनि ।।"२०७।।

मित्यर्थः । तत्वज्ञानस्यार्थः प्रयोजनं मोक्षस्तस्य दर्शनं स्वाभीष्टत्वेनालोचनमित्यर्थः । एतद्विंशतिकं ज्ञानं साधारण्येन जीवात्म परमात्मनोः, ज्ञानस्य साधनं । असाधारणं, परमात्मज्ञानं त्वग्रे वक्तव्यम् । ततोऽन्यथा अस्मादविपरीतं मामित्यादिकम् ।।११।।

अमानित्व, दम्भ हीनत्व, अहिंसा, क्षान्ति, आर्जव अर्थात् सरलता, आचार्योपासन, अर्थात् गुरुसेवा, शौच, स्थैर्य्य, आत्मनिग्रह, इन्द्रियवेद्य विषयों में वैराग्य, अहङ्कार शून्यता, जन्म, मृत्यु जरा व्याधि दुःख प्रभृति में दोष दर्शन, असक्ति अर्थात् पुत्रादि में आसक्ति शून्यता, पुत्रादि के सुख दुःख में औदासीन्य, सर्वदा समचित्तत्व, मुझ श्री कृष्ण में अव्यभिचारिणी भक्ति, विविक्त स्थान में अवस्थिति, जनाकीर्ण स्थान में अरति, अध्यात्म ज्ञान में नित्यत्वबुद्धि, ।

तत्त्व ज्ञान का प्रयोजन रूप मोक्षानुसन्धान, यह विंशति प्रकार प्रयत्न को अनभिज्ञ व्यक्ति गण क्षेत्र विकार मानते हैं । वस्तुतः ऐसा नहीं है, यह सब प्रत्येक ज्ञान स्वरूप हैं, इन सब को अवलम्बन करने से विशुद्ध तत्त्व लाभ होता है, अतः यह सब क्षेत्र विकार नहीं होकर क्षेत्र विकार नाशक औषध स्वरूप हैं । उक्त विंशति प्रकार के मध्य में मुझ में अनन्यअव्यभिचारिणी भक्ति ही एकमात्र अवलम्बनीय है, ऐसा होने पर ऊनविंशति प्रकार आचरण, भक्ति का अवान्तर फलरूप में उदित होते हैं, एवं क्षेत्र को शुद्ध कर–नित्यसिद्ध क्षेत्र प्राप्ति के ओर अग्रसारित करते हैं । भक्ति देवी का सिंहासन स्वरूप उक्त ऊनविंशति प्रकार प्रयत्न को सविज्ञान ज्ञान समझना होगा, भक्ति सम्पर्कव्यतीत अपर यावतीय प्रयत्न अज्ञान संज्ञा से विभूषित हैं । कारण, भक्ति योग के विना ज्ञान होना सम्भव ही नहीं है, प्रकरण का उप संहार करते हुये गी० १३।१८ आपने कहा है—

"इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयञ्चोक्तं समासतः ।
मद् भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ।।१८।।"

टीका—उक्तं क्षेत्रादिकं अधिकारि फल सहितमुपसंहरति–इतीति । क्षेत्रं महाभूतादि, ज्ञानं अमानित्वादि तत्त्व ज्ञानार्थ दर्शनान्तं, ज्ञेयं ज्ञान गम्यञ्च अनादीत्यादि धिष्ठितमित्यन्तं । एकमेव तत्त्वं ब्रह्म भगवत् परमात्मा शब्द वाच्यञ्च संक्षेपेणोक्तं । मदक्तः भक्तिमज् ज्ञानी, मद्भावाय मत्सायुज्याय । मयि भावाय । प्रेम्ने उपपद्यते उपपन्नोभवति ।।१२।।

हे अर्जुन ! मैंने तुम्हारे निकट संक्षेप से क्षेत्र, ज्ञान एवं ज्ञेय– तत्त्वत्रय का वर्णन किया । इस का नाम ही विज्ञान समन्वित ज्ञान है । मदीय भक्त वृन्द, मद्वर्णित ज्ञान एवं ज्ञेय वस्तु को जानकर मुझ में निरुपाधिक प्रेमभक्ति को प्राप्त करते हैं । कारण एक ही अद्वय तत्त्व, ब्रह्म, परमात्मा भगवान् नाम से अभिहित है, भक्ति हीन व्यक्ति गण स्वरूपावबोधात्मक ज्ञान लाभ करने में असमर्थ हैं । भक्ति देवी का पाद पीठ स्वरूप ज्ञान है, भक्ति देवी को आश्रय करने से अनायास जीवात्मा की स्वत्वशुद्धि होती है । गी० ९।३ में भी कथित है—

"अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तपः !
अप्राप्य मां निवर्त्तन्ते मृत्युसंसार वर्त्मनि ।।२०७।।"

टीका—नन्वेवमस्य धर्मस्याति सुकरत्वे सति को नाम संसारी स्यात् । तत्राह । अश्रद्दधानाः । अस्येति ।

अस्य (गी० ९।१४) "सततं कीर्त्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढ़व्रताः" इत्यादिपूर्व्वोक्त-लक्षणस्येत्यर्थः। अतएवास्फुट-भक्तीनां मुद्गलादीनामपि कृतचरी साधनभक्तिरनुसन्धेया ॥ ब्रह्मा श्रीभगवन्तम् ।

१०६। आश्रयान्तर-स्वातन्त्र्यानादरेणाह (भा० ६।९।२२)—

(१०६) "अविस्मितं तं परिपूर्णकामं, स्वेनैव लाभेन समं प्रशान्तम् ।
विनोपसर्पत्यपरं हि बालिशः, श्व-लाङ्गुलेनातितितर्त्ति सिन्धुम् ॥"२०८॥

कर्म्मणि षष्ठी आर्षी। इमं धर्मं अश्रद्दधानाः, शास्त्र वाक्यैः प्रति पादितं भक्तेः सर्व्वोत्कर्षं स्तुत्यर्थ वादमेव मन्यमाना आस्तिक्येन न स्वीकुर्वन्ति। ये ते उपायान्तरैर्मत् प्राप्त ये कृतप्रयत्ना अपि मामप्राप्य मृत्युवाप्ते संस रवर्त्मनि, नितरामतिशयेन वर्त्तन्ते ॥३॥

हे परन्तप! भक्ति के सहित ज्ञान लक्षण धर्म को आस्तिक्य बुद्धि से ग्रहण न करके साधारण मानव गण उपायान्तर द्वारा मुझ को प्राप्त करने का प्रयत्न करने पर भी मुझ को प्राप्त न कर मृत्यु संसार पथ में परिभ्रमण करते रहते हैं।

इस प्रकार गीता के ९।१४ में भी कथित है

"सततं कीर्त्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढ़व्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥१४॥

टीका—"भजन्तीत्युक्तं, तद् भजनमेव किं इत्यत आह, सततं मदेति, मात्र कर्मयोग इव काल देश पात्र शुद्धाद्यपेक्षा कर्त्तव्येत्यर्थः। "न देश नियमस्तत्र न काल नियमस्तथा। नोच्छिष्टादौ निषेधोऽस्ति श्रीहरेर्नामलुब्धके" इतिस्मृतेः। यतन्तो यतमानाः। यथा कुटुम्ब पालनार्थं दीनाः गृहस्थाः धनिक दारादौ धनार्थं यतन्तो तथैव मद्भक्ताः कीर्त्तनादि भक्ति प्राप्त्यर्थं साधु सभादौ यतन्ते, प्राप्य च भक्तिं अधीयमानं शास्त्रं पठतः इव पुनः पुनरभ्यस्यन्ती च। एतावन्ति नाम ग्रहणानि एतावत्यः प्रणतयः, एतावत्यः परिचर्य्या श्च वश्य कर्त्तव्याः— इत्येवं दृढ़ानि व्रतानि नियमाः येषां ते। यद्वा, दृढ़ानि अपतितानि एकादश्यादि व्रतानि नियमाः येषां ते। नमस्यन्तश्च इति चकारः, श्रवण पाद सेवनाद्यनुक्त सर्व भक्ति संग्रहार्थः। नित्ययुक्ताः: भाविनं मन्नित्यसंयोगं आकाङ्क्षन्तः, आशंसायां भूतवच्चेति वर्त्तमानेऽपि भूतकालिकः क्तः प्रत्ययः। अत्र मां कीर्त्तयन्त एव मामुपासत इति मत्कीर्त्तनादिकमेव मदुपासनमिति वाक्यार्थः। अतो मामिति न पौनरुक्त्यमाशङ्कनीयम् ॥"१४॥

उक्त विद्वत् प्रतीति युक्त महात्मा भक्त वृन्द, सर्वदा मदीय नाम, रूप, गुण एवं लीलाका कीर्त्तन करते हैं। अर्थात् श्रवण कीर्त्तनादि भक्ति का आचरण करते हैं। मदीय यह सच्चिदानन्द स्वरूप का नित्य दास्यलाभ हेतु वे सब शारीरिक, मानसिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक क्रिया में दृढ़ व्रत होकर, मेरा अनुशीलन करते हैं। सांसारिक कर्म्म द्वारा चित्त विक्षिप्त न हो, तज्जन्य संसार यात्रा निर्वाह के समय भक्ति योग के द्वारा मेरी शरणापत्ति को अङ्गीकार करते हैं।

श्रीब्रह्मा—श्रीभगवान् को कहे थे ॥१०५॥

१०६। श्रीमद् भागवत (६।९।२२) के श्रीदेवगण कृत भगवत् स्तुति प्रसङ्ग में भी स्वतन्त्र भाव से देवतान्तराश्रय के प्रति अनादर प्रकाश करके श्रीभगवद् भक्ति की अवश्य कर्त्तव्यता का उल्लेख हुआ है।

(१०६) "अविस्मृतं तं परिपूर्णकामं स्वेनैव लाभेन समं प्रशान्तम्।

अविस्मितं ततोऽन्यस्यापूर्ववस्तुनोऽसद्भावाद्विस्मयरहितम्, यद्वा सदा सस्मितमतः स्वेनैव स्वीयेनैव स्वस्यैव कर्म्मभूतस्य क्रियाभूतेन लाभेन परिपूर्णकामम, नान्यस्येत्यर्थः । अतः सर्व्वत्र समम्, ततः प्रशान्तं चित्तदोषरहितम्, बालिश ईशस्याप्रियः सोऽतितितर्त्ति अतितर्तुमिच्छतीत्यर्थः । यथोक्तम् (भा० १।२।२७)—"रजस्तमःप्रकृतयः" इत्यादि, स्कान्दे श्रीब्रह्मनारद संवादे च—

"वासुदेवं परित्यज्य योऽन्यदेवमुपासते । स्वमातरं परित्यज्य श्वपचीं वन्दते हि सः ॥"२०६॥

तत्रैवान्यत्र च—

विनोपसर्पत्यपरं हि बालिशः श्वलाङ्गुलेनातितितर्त्ति सिन्धुम् ॥"२०८

टीका - तत एवेत्यव धारणे हेतु माहुः । अविस्मितं – निरहङ्कारं कुतूहल शून्यं वा । कुतः ? प्रशान्तं-रागादि शून्यम् । तच्चकुतः ? स्वेनेव लाभेन परिपूर्ण कामम् । तच्च कुतः ? समम्, उपाधिपरिच्छेद शून्यम् । एवम्भूतं परमेश्वरं विना अपरं यः शरणार्थमुपसर्पति स हि बलिशोऽज्ञः । यतोऽसो शुनो लाङ्गुलेन पुच्छेन समुद्र मतितिर्त्ति-अति तरितु मच्छतीत्यर्थः । यथा तेन समुद्र तरणं नभवति तथा अनीश्वराश्रयेण व्यसनार्णव तरणं न भवतीति भावः । २२॥

हे प्रभो ! निरहङ्कार रागादि शून्य, निज स्वरूपानन्दानुभव से परिपूर्ण काम, उपाधिगत परिच्छेद शून्य परमेश्वर,—आप हैं, आप को छोड़कर जो मानव अन्य देवता का आश्रय ग्रहण करता है, वह निश्चय ही अज्ञ है । कारण, देवतान्तर आश्रयकारी व्यक्ति, कुक्कुर की पूच्छ धारण कर अति विस्तीर्ण समुद्र उत्तीर्ण होने के इच्छुक है । जिस प्रकार कुत्ते की पूँछ पकड़ कर अति विस्तीर्ण सागर उत्तीर्ण होना असम्भव है, उस प्रकार परमेश्वर को आश्रय न करके देवतान्तर के आश्रय से दुःख समुद्र उत्तीर्ण होना सम्भव नहीं है । श्लोकोक्त (अविस्मित" पद का अर्थ है, श्रीभगवद् भिन्न अपूर्व वस्तु न होने के कारण जो विस्मय रहित हैं, अतएव निज स्वरूपानन्द से ही जो पूर्ण काम है । यहाँ 'स्वेनैव" पद का अथ है— स्वीय अर्थात् स्वयं, को प्राप्त कर जो पूर्ण काम हैं । 'स्वेन' पद,—श्लोकोक्त कर्म है, एवं 'लाभ' क्रिया पद है । यहाँ का तात्पर्य्य यह है कि – निज स्वरूप भिन्न अपर किसो की अपेक्षा जिनको नहीं है । इस अभिप्राय से ही भा० १।२।२७ में कहा गया है —

"रजस्तम प्रकृतयः समशीलाभजन्ति वै ।
पितृभूत प्रजेशादीन् श्रियैश्वर्य्य प्रजेप्सवः ॥

टीका—रजस्तमसी प्रकृतिः स्वभावो येषां ते, अतएव पितृभूतादिभिः समं शीलं येषां ते । श्रियासह ऐश्वर्य्यञ्च प्रजाश्चेप्सन्तीति तथा ते ।

अर्थात् जो लोक, ऐश्वर्य्य के सहित पुत्रादि की कामना करते हैं, वे सब रजस्तमः स्वभाव सम्पन्न होने के कारण पितृ भूत प्रभृति के समस्वाभावापन्न होते हैं, अतः स्व जातीय की उपासना वे सब करते हैं । जो, मुक्ति कामना करते हैं, वे श्रीभगवान् व्यतीत देवतान्तर की उपासना नहीं करते हैं । कारण श्री भगवान् की उपासना व्यतीत मोक्ष लाभ नहीं होता है ।

स्कन्द पुराण के श्रीब्रह्म नारद संवाद में उक्त है—

"वासुदेवं परित्यज्य योऽन्यदेवमुपासते ।
स्वमातरं परित्यज्य श्वपचीं वन्दते हि सः ॥"२०६॥

"वासुदेवं परित्यज्य योऽन्यदेवमुपासते । त्यक्त्वामृतं स मूढ़ात्मा भुङ्क्ते हालाहलं विषम् ।।"२१०।।

महाभारते—

"यस्तु विष्णुं परित्यज्य मोहादन्यमुपासते । स हेमराशिमुत्सृज्य पांशुराशिं जिघृक्षति ।।"२११।।

अतएवोक्तं श्रीसत्यव्रतेन (भा० ८।२४।४६) —

"न यत् प्रसादायुतभागलेश,-मन्ये च देवा गुरवो जनाः स्वयम् ।

कर्त्तुं समेताः प्रभवन्ति पुंस,-स्तमीश्वरं वै शरणं प्रपद्ये ।।" २१२।।

श्रीब्रह्मशिवावपि वैष्णवत्वेनैव भजेत, (भा० २।६।५) **"स आदिदेवो जगतां परो गुरुः",** (भा० १२।१३।१६) **"वैष्णवानां यथा शम्भुः" इत्याद्यङ्गीकारात् । अतएव द्वादशे श्रीशिवं प्रति श्रीमार्कण्डेय--वचनम्** (भा० १२।१०।३४)—

अर्थात् वासुदेव को परित्याग करके अन्य देवता की उपासना जो लोक करते रहते हैं, वे सब निज जननी को परित्याग पूर्वक श्वपची की वन्दना करते हैं । स्कन्द पुराण के अन्यत्र भी लिखित है—

"वासुदेवं परित्यज्य योऽन्यदेवं उपासते ।
त्यक्त्वामृतं स मूढ़ात्मा भुङ्क्ते हालाहलं विषम् ।।२१०।।

जो लोक,—वासुदेव को परित्याग करके अन्य देवता की उपासना करते हैं, वे मूढ़ होते हैं, एवं अमृत को त्याग कर हल हल विष भोजन करते हैं । महाभारत में भी वर्णित है—

"यस्तु विष्णुं परित्यज्य मोहादन्यमुपासते ।
स हेमराशिमुत्सृज्य पांशुराशिं जिघृक्षति ।।"२११।।

जो व्यक्ति, श्रीविष्णु को परित्याग पूर्वक मोहवशतः अन्य देवता की उपासना करता है, वह स्वर्ण राशि को छोड़कर पांशुराशि में अभिलाष करता है । अतएव सत्यव्रत महाराज भी श्रीमत्स्यदेवकी स्तुति करते हुये कहे हैं—भा० ८।२४।४६

"न यत् प्रसादायुतभागलेश-मन्ये च देवा गुरवो जनाः स्वयम् ।
कर्त्तुं समेताः प्रभवन्ति पुंस स्तमीश्वरं वै शरणं प्रपद्ये ।।"२१२।।

टीका—परमेश्वरत्वं परमगुरुत्वञ्च प्रपञ्चयन्नाह नेति । यत्प्रसादस्य अयुतभागः तस्य लेशमपि अन्ये देवादयः सर्वेसमेता अपि स्वयं तस्मिन् निरपेक्षाः सन्तः कर्त्तुं न प्रभवन्ति ।।

अन्य देवतावृन्द, गुरुवर्ग, एवं महात्मावृन्द स्वतन्त्र रूप से मानवों के प्रति आप के अनुग्रह के अयुत भाग के लेश मात्र अनुग्रह भी करने में सक्षम नहीं हैं, उन परमेश्वर स्वरूप की शरण ग्रहण मैं करता हूँ । श्रीब्रह्मा एवं श्रीशिव को भी वैष्णव बुद्धि से उपासना करनी चाहिये, स्वतन्त्र ईश्वर बुद्धि से उनकी उपासना न करे । इस विषय में श्रीशुक देवने महाराज परीक्षित् को भा० २।६।५ में जो उपदेश प्रदान किया है—वह इस प्रकार है—

"स आदि देवो जगतां परो गुरुः स्वधिष्ण्यमास्थाय सिसृक्षयैक्षत ।
तां नाध्यगच्छद् दृशमत्र सम्मताम् प्रपञ्च निर्म्माण विधि र्यया भवेत् ।।"

टीका—भगवद् भजनादेव तत्र ज्ञानमित्येतत् प्रपञ्चयिष्यन् ब्रह्मणोऽपि तत्त्वज्ञानं तत् प्रसादादेवेति दर्शयितुमितिहासमाह स इत्यादिना । परोगुरु भक्तिरहस्योपदेष्टा, स्वधिष्ण्यं—पद्मम्, आस्थाय-अधिष्ठाय,

"वरमेकं वृणेऽथापि पूर्णात् कामाभिवर्षणात् ।
भगवत्यच्युतां भक्ति तत्परेषु तथा त्वयि ।।"२१३।।

तथा त्वय्यपि तत्पर इत्यर्थः। अतएवाष्टमे प्रजापतिकृत-शिवस्तुतौ (भा० ८।७।३३)-- "येत्वात्मरामगुरुभिर्हृदि चिन्तिताङ्घ्रि,-द्वन्द्वम्"इति, चतुर्थे श्रीमदष्टभुजं प्रति प्रचेतोभिरपि

तस्याधिष्ठान अन्वेषणाय पूर्वं जले निमग्नः, पश्चात् परावृत्य स्वधिष्ण्ये स्थित्वेत्यर्थ। ऐक्षत, तत्कथं स्रष्टव्य-मित्यालोचितवान्। तादृशं—प्रज्ञाम्। अत्र सृष्टिविषये सम्मतामव्यभिचारिणीम्। विधिः प्रकारः।"

श्रीभगवद् भक्ति के उपदेष्टा आदि देव श्रीब्रह्मा, निज उद्भवस्थान श्रीविष्णु के नाभि कमल में अवस्थित होकर अधिष्ठान अन्वेषण के निमित्त जल में निमग्न हुये थे। किन्तु बहु प्रचेष्टा से भी अवधि प्राप्त न होने से अन्वेषण कार्य्य से निवृत्त हुये थे। एवं निज अधिष्ठान पद्म में अवस्थित होकर कैसे विश्वसृष्टि कार्य्य करेंगे, इस विषय में मन में चिन्ता किये थे किन्तु जिस प्रज्ञा से प्रपञ्च निर्म्माण हो सकता है, उस विषय में अनुकूल प्रज्ञा प्राप्त करने में असमर्थ हुये थे।

श्लोक में 'परोगुरुः' पद का अर्थ भक्ति रहस्योपदेष्टा है। अतएव ब्रह्मा को वैष्णव श्रेष्ठ बुद्धि से आराधना करनी चाहिये। श्लोक के द्वारा यही प्रतिपन्न हुआ है।—श्रीशिव की आराधना वैष्णव बुद्धि से करना ही उचित है इस विषय में भा० १२।१३।१६ में लिखित है—

"निम्नगानां यथा गङ्गा, देवानामच्युतोयथा।
वैष्णवानां यथा शम्भुः पुराणानामिदं तथा।।"

क्रमसन्दर्भ—अतएवाह—निम्नगानामिति।

अतएव श्रीमद् भागवत के १२।१०।३४ श्लोक में श्रीशिव के प्रति मार्कण्डेय ऋषि की उक्ति में प्रकाशित है—

"वरमेकं वृणेऽथापि पूर्णात् कामाभिवर्षणात्।
भगवत्यच्युतां भक्ति तत्परेषु तथा त्वयि।।"२१३।।

तथा त्वयीति त्वयि च तत्पर इत्यर्थः। (भा० १२।८।४०)

क्रमसन्दर्भ—

"किं वर्णये तव विभो यदुदीरितोऽसुः संस्पन्दते तमनु वाङ्मनइन्द्रियाणि। स्पन्दन्ति वै तनुभृतामज-शर्वयोश्च" इत्यनेनैव श्रीनारायणर्षिप्रत्युक्तत्वात्।

हे प्रभो! यद्यपि मेरा कुछ भी प्रार्थनीय नहीं है। तथापि सर्वाभीष्ट वर्षण कारी पूर्णकाम तुम्हारे समीप में मैं एक वर प्रार्थना करता हूँ। श्रीभगवान् में एवं श्रीभगवद् भक्तगण में तथा तुम्हारे प्रति मेरी अचला भक्ति हो, श्लोकस्थ 'तथा त्वय्यपि' पद का अर्थ है—वह भगवत् परायण जो तुम हो—इस प्रकार अर्थ समझना होगा। कारण, यदि श्रीशिव के प्रति भगवत् प्रियदृष्टि से भक्ति प्रार्थना नहीं करते तो श्री भगवान् में अच्युता भक्ति प्रार्थना से ही श्रीशिव के प्रति भी भक्ति प्रार्थना सम्पन्न होती। पृथक् भाव से तुम्हारे प्रति जैसे मेरी भक्ति हो, इस प्रकार उल्लेख का प्रयोजन नहीं होता।

अतएव अष्टम स्कन्ध के प्रजापतिकृत शिवस्तुति (भा० ८।७।३३) में उक्त है—

"येत्वात्मारामगुरुभिर्हृदिचिन्तिताङ्घ्रि—
द्वन्द्वं चरन्तमुमया तपसाभितप्तम्।

(भा० ४।३०।३८) —"वयन्तु साक्षाद्भगवन् भवस्य, प्रियस्य सख्युः क्षणसङ्गमेन" इति ।

वैष्णवस्य सतः समदर्शिनस्तु न भक्तिलाभः, प्रत्यवायश्च, यथा वैष्णवतन्त्रे—

कत्थन्त उग्रपरुषं निरतं श्मशाने
ते नूनमूतिमविदंस्तव हातलज्जाः ॥"

टीका—एवं नित्यं परानुग्रहव्यग्र त्वां ये निन्दन्ति ते ऽति मूर्खाइत्याहुः। ये च त्वाम् उमया सह चरन्तं तस्यां नितरां रतं कामिनं कत्थन्ते प्रलपन्ति, तथा श्मशाने चरन्तम्, उग्रं क्रूरं परुषश्च हिंस्रं कत्थन्ते, कथम्भूतम्। आत्मारामाश्च ते गुरवो विश्वहितोपदेष्टारश्च तै र्हृदि चिन्तितमङ्घ्रि द्वन्द्वं यस्य तथा भूतमपि तपसाभितप्तमपि ते नूनं तव ऊतिमविदन्निति काकुः। त्वल्लीलां नैवविदुरित्यर्थः। अतोहातलज्जाः, त्वक्त-लज्जाः कथमात्मारामैः सेवितचरणयुगलस्य कामित्वसम्भवः। कथं वा तपसाभितप्तस्य शान्तस्योग्रत्वं परुषत्वं वा सम्भवतीति अविचार्य्यैवं प्रलापादित्यर्थः।

हे प्रभो ! आप, भगवद् भक्ति के द्वारा अपर को अनुग्रह करने के निमित्त नित्य व्याकुल हैं, किन्तु आप की निन्दा जो लोक करते हैं, वे सब अति मूर्ख हैं। आप, उमा में अत्यन्त आसक्त हैं, कामुक हैं, श्मशान में विचरण करते हैं तज्जन्य आप सदाचार विवर्जित हैं, एवं अतिशय क्रूरचेष्टा परायण आप हैं, इस प्रकार कह कर जो लोक आप की निन्दा करते हैं, वे लोक, आप की लीला को कुछ भी नहीं समझ पाते हैं। कारण, आत्मारामगण कर्त्तृक जिनके चरण युगल सेवित होते हैं—उनका कामित्व होना असम्भव है। तपस्या के द्वारा अभितप्त शान्तमूर्त्ति आप हैं, आप का उग्रत्व होना भी सम्भव नहीं है। निर्लज्ज मुर्खगण ही आप के लीलारहस्य को न समझ कर उस प्रकार कदर्थना करते रहते हैं। इस श्लोक में भगवद् भक्ति के उपदेश द्वारा जगत् कल्याणकारित्व गुण मण्डित श्रीशङ्कर का महाभागवतत्व ही प्रदर्शित हुआ है। भा० ४।३०।३८ में प्रचेतागण ने भी श्रीमदष्टभुज श्रीहरि के स्तुति प्रकरण में श्रीशङ्कर को भगवत् प्रिय ही कहा है।

"वयन्तु साक्षाद् भगवान् भवस्य प्रियस्य सख्युः क्षण सङ्गमेन।
सुदुश्चिकित्सस्य भवस्य मृत्यो र्भिषक्तमं त्वाद्य गतिं गताः स्मः॥"

टीका—सत्सङ्गानलमस्माभिरेवानुभूतमित्याहुः—वयन्त्विति। तव यः प्रियः सखा तस्य भवस्य। अत्यन्तमचिकित्सस्य भवस्य जन्मनो मृत्योश्च भिषक्तमम्—सद्वैद्यं त्वां गतिं प्राप्ताः।

अर्थात् प्रचेतागण, श्रीभगवान् को कहे थे,—हे प्रभो ! सत्सङ्ग के फल का अनुभव हम सब ने किया है। कारण, आप के प्रियतम एवं सखा श्रीशङ्कर हैं, उनके क्षण भर सङ्ग प्रभाव से ही दुश्चिकित्स्य—अर्थात् चिकित्सा के द्वारा सुदुःसाध्य जो जन्म मृत्यु व्याधि है, उसके श्रेष्ठ चिकित्सक— सद्वैद्य—एवं परम गति आप की शरण ग्रहण हमने किया है। यदि आप के प्रियतम श्रीशङ्कर के सङ्गलाभ नहीं होता तो, आप के चरणों में शरणागत होने का सौभाग्य हम सब को नहीं होता। श्रीमद् भागवत के इस श्लोक में श्रीमहादेव को श्रीहरि के सखा एवं प्रियतम कहा गया है। श्रीवैष्णव होकर भी श्रीहरि एवं श्रीहरि में समदर्शी होने पर किन्तु श्रीहरि चरणों में भक्ति लाभ नहीं होता है। तात् पर्य्य यह है कि श्रीवैष्णव के पक्ष में श्रीशङ्कर में एवं श्रीहरि में प्रियता दृष्टि रखनी चाहिये। स्वतन्त्र ईश्वर बुद्धि से उपासना करने पर 'शैव' होना पड़ेगा। श्रीशङ्कर में ईश्वरत्व एवं भक्त भाव की सत्ता है। तन्मध्य में जो लोक स्वतन्त्र ईश्वर रूप में श्रीशिव की उपासना करते हैं, वे सब शैव होते हैं। और जो लोक—श्रीशिव की उपासना भगवद् भक्त रूप में करते हैं, वे सब वैष्णव होते हैं। स्वतन्त्र ईश्वर बुद्धि से श्रीशङ्कर की उपासना करने से श्रीहरि भक्तिलाभ ही नहीं होता है, यही नहीं, किन्तु प्रत्यवाय भी होता है। इस विषय में वैष्णव तन्त्र में

"न लभेयुः पुनर्भक्तिं हरेरैकान्तिकीं जड़ाः। एकाग्रमनसश्चापि विष्णु-सामान्यदर्शिनः ॥२१४॥
यस्तु नारायणं देवं ब्रह्मरुद्रादिदैवतैः। समत्वेनैव वीक्षेत स पाषण्डी भवेद्ध्रुवम् ॥"२१५॥ इति।

अतएवाभेद-दृष्टिवचनं समभक्त ज्ञान्यादिपरमेव, यथा श्रीमार्कण्डेयोपाख्याने द्वादश एव श्रीशिव-वाक्यम् (भा० १२।१०।२०--२२) —

"ब्राह्मणाः साधवः शान्ता निःसङ्गा भूतवत्सलाः।
एकान्तभक्ता अस्मासु निर्वैराः समदर्शिनः ॥२१६॥
सलोका लोकपालास्तान् वन्दन्त्यर्च्चन्त्युपासते।
अहञ्च भगवान् ब्रह्मा स्वयञ्च हरिरीश्वरः ॥२१७॥
न ते मय्यच्युतेऽजे च भिदामण्वपि चक्षते।
नात्मनश्च परस्यापि तद्युष्मान् वयमीमहि ॥"२१८॥ इति।

तत्ततोऽपि तानतिक्रम्य युष्मान् मार्कण्डेयादीन् शुद्धवैष्णवान् वयमीमहि भजेमेत्यर्थः।

लिखित है—

"न लभेयुः पुनर्भक्तिं हरेरैकान्तिकीं जड़ाः।
एकाग्रमनसश्चापि विष्णु-सामान्यदर्शिनः ।२१४॥
यस्तु नारायणं देवं ब्रह्मरुद्रादिदैवतैः।
समत्वेनैव वीक्षत स पाषण्डी भवेद्ध्रुवम् ॥"२१५॥

श्रीहरि में एकाग्रमनाः होकर भी यदि श्रीविष्णु के सहित श्रीशिव ब्रह्मा प्रभृति की भावना श्रीहरि के अभिन्न रूप में करता है तो, वह जड़बुद्धि मानव—श्रीहरि में ऐकान्तिकी भक्ति लाभ कर नहीं सकता। इस से निर्णय यह हुआ कि—शिव ब्रह्मादि देवगण को यदि श्रीहरि के अभिन्न रूप से देखकर यदि उनकी उपासना करते हैं, तो श्रीहरि चरणों में भक्ति लाभ नहीं होगा, कारण, अपराध होगा। श्रीहरि हर में अभेद दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति को जो विघ्नलाभ होता है, उसका वर्णन वैष्णव तन्त्र में है—जो व्यक्ति, परमेश्वर श्रीनारायण को ब्रह्म रुद्रादि देव गण के सहित सम बुद्धि से देखता है, वह निश्चय ही पाषण्डी होगा। अतएव शास्त्र में जहाँ जहाँ श्रीहरि हर में अभेद बुद्धि पर वर्णन है, उक्त वर्णन समूह को सम भक्त अर्थात् शान्त भक्त ज्ञानी पर ही है, ऐसा जानना होगा। जिस प्रकार श्रीमद् भागवत के मार्कण्डेय उपाख्यान में वर्णित है--भा० १२।१०।२०--२२

'ब्राह्मणाः साधवः शान्ता निःसङ्गा भूतवत्सलाः।
एकान्तभक्ता अस्मासु निर्वैराः समदर्शिनः ॥२१६॥
सलोका लोकपालास्तान् वन्दन्त्यर्च्चन्त्युपासते।
अहञ्च भगवान् ब्रह्मा स्वयञ्च हरिरीश्वरः ॥२१७॥
न ते मय्यच्युतेऽजे च भिदामण्वपि चक्षते।
नात्मनश्च परस्यापि तद्युष्मान् वयमीमहि ॥"२१८॥

टीका—वरदानादिना भवत् सेवैवास्माभिः क्रियते नत्वनुग्रहो जगद्वन्द्यत्वाद् भवतामिति ब्राह्मणान् स्तौति ब्राह्मणा इत्यादिना। ये साधवः सदाचाराः' शान्ता मत्सरादि रहिताः। निःसङ्गा निष्कामाः ॥२०॥

न केवलं त एव किन्तु अहञ्चेत्यादि ॥२॥ पूज्यतमत्वे हेत्वन्तरमाह नेति। अण्वपि--अणुमात्रमपि,

यदुक्तं श्रीशिवेनैव प्रचेतसः प्रति (भा० ४।२४।३०) —

"अथ भागवता यूयं प्रियाः स्थ भगवान् यथा ।
न मद्भागवतानाञ्च प्रेयानन्योऽस्ति कर्हिचित् ॥"२१९॥

अन्यत्र च (भा० ८।७।४०)--"प्रीते हरौ भगवति प्रीयेऽहं सचराचरः" इति च । तस्य मार्कण्डेयस्य शुद्ध-वैष्णवत्वञ्चोक्तमेतत्पूर्वम् (भा० १२।१०।६) —

"नैवेच्छत्याशिषः क्वापि ब्रह्मर्षिर्मोक्षमप्युत ।
भक्तिं परां भगवति लब्धवान् पुरुषेऽव्यये ॥"२२०॥

न चक्षते न पश्यन्ति । तत् तस्मात्, एवम्भूतान् युष्मान् ईमही भजेम ॥२२।

श्रीशिव—कहते हैं—हे मार्कण्डेय ! जो सब ब्राह्मण, सदाचार सम्पन्न, मात्सर्य्यादि रहित, सर्वभूत में वात्सल्ययुक्त, (ब्रह्मा विष्णु, शिव के प्रति । हमारे प्रति एकान्त भक्तिमान् हैं, अथच निर्वैर एवं समदर्शी भी हैं । एतादृश गुण सम्पन्न ब्राह्मण वृन्द की वन्दना, लोकपाल वृन्द के सहित चतुर्दश भुवनवासी समस्त लोक करते हैं । अर्च्चना एवं उपासना भी कर रहे हैं । केवल यही नहीं किन्तु मैं, शिव, ब्रह्मा, यहाँतक कि स्वयं भगवान् ईश्वर भी पूर्वोक्त लक्षण युक्त ब्राह्मण की वन्दना करते हैं ।

कारण, वे सब मुझ शिव में, ब्रह्मा में, अच्युत में किञ्चिन्मात्र भेद दृष्टि नहीं रखते हैं, एवं आप के सहित जगद् वासी प्राणि वृन्द के प्रति किसी प्रकार भेद दृष्टि नहीं रखते हैं । आप सब उस प्रकार हैं । आप सब का स्तव हम सब करते हैं । यहाँपर "नात्मनश्च परस्यापि, तद् युष्मान् वयमीमहि" इस श्लोकस्थ 'तत्' पद का अर्थ करते हैं—तत् ततोऽपि तानतिक्रम्य मार्कण्डेयादीन्-शुद्ध वैष्णवान् वयमीमहि भजेम इत्यर्थः । श्रीशिव ने भी भा० ४।२४।३० में कहा है----

"अथ भागवता यूयं प्रियाः स्थ भगवान् यथा ।
न मद्भागवतानाञ्च प्रेयानन्योऽस्ति कर्हिचित् ॥"२१९॥

टीका----अथ भागवतत्वात् यूयं मे प्रियास्थः । भवद्भिरपि मयि प्रीतिः कार्य्येत्याशयेनाह । मदन्यो भागवतानाञ्च प्रेयान् नास्ति ।"

भगवान् मेरा प्रिय है, भगवद् भक्त वृन्द आप सब भी उस प्रकार मेरे प्रिय हैं । भगवद् भक्त वृन्द भी मुझ को छोड़कर अपर किसी को प्रियत्वेन नहीं जानते । भगवद् भक्त भिन्न मेरा भी अपर कोई प्रिय नहीं हैं । इससे भी प्रतिपादित हुआ कि श्रीशङ्कर में श्रीभगवत् प्रियत्व ही है ।

अन्यत्र भा० ८।७।१० में दृष्ट है----

"प्रीते हरौ भगवति प्रीयेऽहं स चराचरः ।
तस्मादिदं परं भुञ्जे प्रजानां स्वस्तिरस्तु मे ॥"

टीका—"कृपयतः कृपां कुर्वतः पुंसः । मे मत्तः, स्वस्तिः, सत्ता, सुखेन जीवितमस्त्वित्यर्थः ॥"

श्रीभगवान् श्रीहरि प्रसन्न होने से स्थावर जङ्गम के सहित मैं 'शिव' प्रसन्न होता हूँ । श्रीमार्कण्डेय के शुद्ध वैष्णवत्व के सम्बन्ध में भा० १२।१०।६ में श्रीशिव की कण्ठोक्ति यह है—

"नैवेच्छत्याशिषः क्वापि ब्रह्मर्षिर्मोक्षमप्युत ।
भक्तिं परां भगवति लब्धवान् पुरुषेऽव्यये ॥२२०॥"

इति मार्कण्डेयमुद्दिश्य श्रीशिवेन। तथा श्रीशिवस्य तच्चेतस्याविर्भावात् समाधि-विरामेण च तदेव व्यञ्जितम्, यथा (भा० १२।१०।१३) "किमिदं कुत एवेति समाधेर्विरतो मुनिः" इति। किञ्च, (भा० १२।१०।२०)--"ब्राह्मणाः साधवः" इत्यादावभेद-दृष्टिवचनेऽपि (भा० १२।१०।२१) "स्वयञ्च हरिरीश्वरः" इत्यनेन तस्यैव प्राधान्यमुक्तम्। तस्यैव स्वयमीश्वरत्वञ्चोक्तम् (भा० १।२।२४)---"पार्थिवाद्दारुणः" इत्यादिना। ब्रह्मपुराणे श्रीशिववाक्यमपि तथैव—

टीका—आशिषोऽभ्युदय लक्षणाः। उत निश्चितम्। अत्र हेतुः—भक्तिमिति।

श्रीशङ्कर उमाको कहे थे—हे प्रिये! यह ब्रह्मर्षि मार्कण्डेय कहीं पर किसी के निकट धर्म, अर्थ, काम की प्रार्थना तो करते ही नहीं, यहाँतक कि—मोक्ष की प्रार्थना भी नहीं करते हैं। कारण, यह मार्कण्डेय ऋषि, अव्यय पुरुष श्रीभगवान् में पराभक्ति को प्राप्त किये हैं। यहाँपर अनुसन्धेय यह है कि—जिस समय, श्रीशिव मार्कण्डेय हृदय में आविर्भूत हुये थे—उस समय ही मार्कण्डेय की समाधि टूटगई थी, यदि श्रीहर एवं श्रीहरि, सर्वथा अभेद होते तो मार्कण्डेय की समाधिभङ्ग क्यों होती? इससे श्रीहरि हर का पार्थक्य सुस्पष्ट हुआ। उक्त समाधिभङ्ग विषय में भा० १२।१०।१३ में कथित है।

"किमिदं कुत एवेति समाधेर्विरतो मुनिः"।

टीका—"न केवलं वहिरेव आत्मन्यपि प्राप्तः। शिवं विचक्ष्य विस्मितः। कथं प्राप्तम्? सहसा अकस्मादेव हृदि भातम्। कथम्भूतम्? तड़िद्वत् पिशङ्गा जटा धारयतीति तथा तम्। त्र्यक्षीणि यस्य तम्। शूलादिभिः सह अक्षमालादीन् बिभ्राणमित्यन्वयः। अक्षमालादीनां द्वन्द्वं वयम्। विस्मय पूर्वकं वहिर्दर्शनमाह किमिदमिति॥"

अर्थात् मुनि मार्कण्डेय—निज हृदय में आविर्भूत श्रीशिवमूर्त्ति दर्शन करके चिन्ता किये थे-हृदय में मैं क्या देख रहा हूँ? यह मूर्त्ति कहाँ से आई, इस प्रकार चित्त चाञ्चल्य वशतः मार्कण्डेय समाधि से विरत हुये थे। और भी भा० १२।१०।२० में श्रीशिव ने कहा है—

"ब्राह्मणाः साधवः शान्ता निःसङ्गा भूतवत्सलाः।
एकान्तभक्ता अस्मासु निर्वैराः समदर्शिनः॥"

टीका—वरदानादिना भवत् सेवैवास्माभिः क्रियते नत्वनुग्रहो जगद् वन्द्यत्वाद् भवतामिति ब्राह्मणान् स्तौति। ब्राह्मणाइत्यादिना। ये साधवः सदाचाराः। शान्ताः—मत्सरादि रहिता निःसङ्गाः--निष्कामाः॥

"सलोकालोक पालास्तान् वन्दन्त्युर्च्चयन्त्युपासते।
अहञ्च भगवान् ब्रह्मा स्वयञ्च हरिरीश्वरः॥"

टीका—न केवलं त एव किन्तु अहञ्चेत्यादि॥२१॥

इस श्लोक में हरि हर में जो अभेद उपदेश हुआ है, इस में भी हरि शब्द के पहले स्वयं पद का उल्लेख हुआ है। इस से भी श्रीहरि का प्राधान्य वर्णित हुआ है। श्रीहरि का स्वयं ईश्वरत्व का प्रतिपादन भा० १।२।२४ सुस्पष्ट रूप से हुआ है।

"पार्थिवाद् दारुणो धूमस्तस्मादग्निस्त्रयीमयः।
तमसस्तु रजस्तस्मात् सत्त्वं यद् ब्रह्मदर्शनम्॥"

टीका—"उपाधि वैशिष्टयेन फल वैशिष्ट्यं सदृष्टान्तमाह--पार्थिवात् स्वतः प्रवृत्ति प्रकाश रहितात्

"यो हि मां द्रष्टुमिच्छेन ब्रह्माणं वा पितामहम् । द्रष्टव्यस्तेन भगवान् वासुदेवः प्रतापवान् ।।"२२१।। इति ।
तद्विज्ञानेन सर्वविज्ञानादिति भावः । अत एवमप्युक्तं सार्वभौमैः श्रीचिन्तामणिदीक्षितैः—

"वनमालिनि यादृशाशयो, मम तादृङ् न कपालमालिनि ।
असिते मुदिरे यथा शिखी, मुदमभ्येति तथा न पाण्डुरे ।।२२२।।
देव्यस्तटिन्यस्त्रिदशास्तडागा, विश्वेश्वरोऽयं सरितामधीशः ।
तृष्णाहरः कोऽपि न कृष्णमेघं, विहाय चिन्तामणिचातकस्य ।।" २२३।।

तदेवं वैष्णवत्वेनैव शिवभजनं युक्तम् । केचित्तु वैष्णवास्तत्पूजनमावश्यकत्वेनोपरिथतं

दारुणः काष्ठात् सकाशात्, धूमः प्रवृत्ति स्वभावः, त्रयीमयः वेदोक्त कर्मप्रचुरः, ईषत् कर्म प्रत्यासत्तेः । तस्मादपि अग्निस्त्रयीमयः साक्षात् कर्म साधनत्वात् । एवं तमसः सकाशात रजो ब्रह्म दर्शनं ब्रह्म प्रकाशकम् तु शब्देन लयात्मकात् तमसः सकाशाद्रजसः सोपाधिक ज्ञान हेतुत्वेन कथञ्चिद् ब्रह्म दर्शन प्रत्यासत्तिमात्र मुक्तं नतु सर्वथा तत् प्रकाशकत्वं विक्षेपकत्वात् । यत् सत्त्वं तत् साक्षात् ब्रह्म दर्शनम् । अतस्तत्तद् गुणोपाधीनां हर ब्रह्मादीनामपि यथोत्तरं वैशिष्ट्यमिति भावः ।"

जिस प्रकार स्वाभाविक प्रवृत्ति प्रकाश रहित काष्ठ से प्रवृत्तिस्वभाव धूम श्रेष्ठ है, उस प्रकार लयात्मक तमोगुण से सोपाधिक ज्ञान हेतुक विक्षेपात्मक रजोगुण श्रेष्ठ है, उस से साक्षात् ब्रह्म दर्शन हेतु प्रकाश बहुल सत्त्व गुण श्रेष्ठ है । अतएव श्रीशिव, श्रीब्रह्मा, श्रीविष्णु के मध्य में श्रीविष्णु ही श्रेष्ठ हैं । इत्यादि वचनों के द्वारा श्रीविष्णु का ही स्वयमीश्वरत्व प्रतिपादित है । ब्रह्म पुराण में श्रीशिव वाक्य भी उस प्रकार ही है ।

"यो हि मां द्रष्टुमिच्छेत ब्रह्माणं वा पितामहम् ।
द्रष्टव्यस्तेन भगवान् वासुदेवः प्रतापवान् ।।"२२१।।

जो व्यक्ति मुझ (शिव) को देखना चाहता है, अथवा पितामह ब्रह्मा का साक्षात्कार करना चाहता है, उसके पक्ष में प्रतापवान् वासुदेव ही द्रष्टव्य है । कारण, भगवान् वासुदेव का साक्षात् कार होने से श्रीशिव एवं ब्रह्मा का साक्षात् कार स्वतः ही निष्पन्न होता है ।।२२१।।

श्रीवासुदेव को जानने से सब का परिज्ञान होता है अतएव सार्वभौम श्रीचिन्तामणि दीक्षित ने भी कहा है—

"वनमालिनि यादृशाशयो, मम तादृङ् न कपालमालिनि ।
असिते मुदिरे यथा शिखी, मुदमभ्येति तथा न पाण्डुरे ।।२२।।
देव्यस्तटिन्यस्त्रिदशास्तड़ागा, विश्वेश्वरोऽयं सरितामधीशः ।
तृष्णाहरः कोऽपि न कृष्णमेघं, विहाय चिन्तामणिचातकस्य ।।" २२३।।

वनमालि श्रीकृष्ण में जिस प्रकार चित्त विभोर होता है—उस प्रकार कपालमाली को देखने से नहीं होता है । मयूर, निविड़ नील मेघमाला को देखकर जिस प्रकार आनन्दित होता है । उस प्रकार शुभ्र मेघ को देखकर आनन्दित नहीं होता है ।।२२२।।

देवीगण नदी स्वरूपा हैं, देववृन्द–तड़ाग सदृश हैं विश्वेश्वर तो सरित् पति ही हैं, किन्तु चिन्तामणि चातक के पक्ष में कृष्णमेघ व्यतीत अपर कोई भी तृष्णाहरणकारी नहीं है ।।२२३।।

यह सब प्रमाणों के द्वारा निर्णय होता है कि वैष्णव श्रेष्ठ रूप में ही श्रीशिव का भजन करना कर्त्तव्य है । स्वतन्त्र ईश्वर रूप से नहीं । यदि किसी

चेत्तर्हि तस्मिन्नधिष्ठाने श्रीभगवन्तमेव पूजयन्ति, यथा श्रीविष्णुधर्मोत्तरान्तिमोऽयमितिहासः,---विश्वक्सेन-नामा कश्चिद्विप्र एकान्ति-भागवतः पृथिवीं विचरन्नासीत्, स कदाचिदेक एव वनान्ते उपविष्टः। तत्राथ ग्रामाध्यक्षसुतः कश्चिदागतस्तमुवाच— कोऽसीति । ततः कृतस्वाख्यानं पुनस्तमुवाच,— मम शिरः पीड़ाद्य जातेति निजेष्टं देवं शिवं पूजयितुं न शक्नोमीत्यतो मम प्रतिनिधित्वेन त्वमेव तं पूजयेति । एतदनन्तरञ्च तत्रत्यं सार्द्धं पद्यम्—

"एतदुक्तः प्रत्युवाच वयमेकान्तिनः श्रुताः ॥२२४॥
चतुरात्मा हरिः पूज्यः प्रादुर्भावगतोऽथवा । पूजयामश्च नैवान्य तस्मात्त्वं गच्छ माचिरम् ॥"२२५॥

ततस्तस्मिंस्तदनङ्गीकृतवति स खड्गमुन्नमितवान् शिरश्छेत्तुम् । ततश्चासौ विप्रः स्तब्धस्तेन मृत्युमनभीप्सन् विचार्य्योक्तवान्,—'भद्रं तत्रैव गच्छामः' इति । गत्वा चेदं मनसि चिन्तितम्,-

---

वैष्णव जन को अवश्य कर्त्तव्य रूप में श्रीशिव पूजन आवश्यक होता है तो, उक्त शिव लिङ्गाधिष्ठान में भगवान् श्रीहरि की पूजन करनी चाहिये। इस प्रकार सदाचार का विवरण श्रीविष्णु धर्मोत्तर ग्रन्थ के शेषभाग में इस प्रकार है—विष्वक्सेन नामक एक ब्राह्मण एकान्त वैष्णव थे, उनकी निष्ठा श्रीहरि में थी, किसी समय आप पृथिवी भ्रमण में निर्गत होकर एक वन में अवस्थान कर रहे थे। उस समय एक ग्रामाध्यक्ष के पुत्र आकर उन से कहा—तुम कौन हो ? उत्तर में भक्त ब्राह्मण ने कहा—मैं वैष्णव ब्राह्मण हूँ। उक्त ग्रामाध्यक्ष पुत्र ने पुनर्वार उन से कहा— आज मेरी शिरः पीड़ा हो रही है, मैं इष्टदेव शिव की पूजा करने में असमर्थ हूँ। अतः तुम मेरा प्रतिनिधि होकर शिव पूजा सम्पन्न करो। इस प्रकार कथोपकथन के पश्चात् विष्णु धर्मोत्तर के सार्द्ध श्लोक इस प्रकार है—

"एतदुक्तः प्रत्युवाच वयमेकान्तिनः श्रुताः ॥२२४॥
चतुरात्मा हरिः पूज्यः प्रादुर्भावगतोऽथवा ।
पूजयामश्च नैवान्यं तस्मात्त्वं गच्छ माचिरम् ॥"२२५॥

अर्थात् ग्रामाध्यक्ष पुत्र के प्रार्थना वाक्य को सुनकर उक्त भक्त ब्राह्मण कहे थे—हे युवक ! हम श्री भगवान् के एकान्ती भक्त रूप में सर्वत्र ख्यात हैं, एकमात्र तुरीय स्वरूप श्रीहरि ही यदि वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध रूप में आविर्भूत होते हैं तो पूजा कर सकते हैं, अर्थात् श्रीविष्णु विग्रह की पूजा हम करते हैं। किन्तु अन्य देवता की पूजा नहीं करते हैं। अतएब तुम यहाँ से आशु चले जाओ। अनन्तर उक्त भक्त ब्राह्मण किसी प्रकार श्रीशिव पूजा करने में सम्मत न होने पर ग्रामाध्यक्ष पुत्र ने ब्राह्मण का मस्तक छेदन करने के निमित्त खड्ग उत्तोलन किया,यह देखकर स्तम्भित होकर ब्राह्मण सोचने लगे,इस युवकके हाथ से मृत्यु वरण करना अभीप्सित नहीं है। इस सङ्कट में करना क्या है ? इस प्रकार अनेक विचार कर ब्राह्मण ने कहा—आच्छा, मैं जा रहा हूँ। अनन्तर शिवलिङ्ग के निकट उपस्थित होकर मन मन में इस प्रकार विचार करने लगे—यह शिव प्रलय हेतु तमोगुण वर्द्धक होने के कारण तमोभावापन्न हैं, और श्रीनृसिंहदेव भी तामस दैत्य वृन्द को विदीर्ण कारी होने के कारण तमोगुण भजन कारी हैं, तमोगुण नाश हेतु तमोराशि नाशक सूर्य्य के समान तामस दैत्य वृन्द के मध्य में उदित होते हैं।

यह ग्रामाध्यक्ष पुत्र दैत्य स्वभावा क्रान्त है, अतएव शिव उपासक दुष्ट वृन्द के दुष्ट भाव विनष्ट करने के निमित्त शिवाकार अधिष्ठान में श्रीनृसिंह देव की पूजा मैं करूँगा। इस प्रकार निश्चय करके "श्रीनृसिंहाय नमः" कहकर जब ब्राह्मणने पुष्पाञ्जलि प्रदान करने के निमित्त उद्यत हुआ तो, ग्रामाध्यक्ष

'अयं रुद्रः प्रलयहेतुतया तमोवर्द्धनत्वात्तमोभावः, श्रीनृसिंहदेवश्च तामसदैत्यगणविदारकतया तमोभञ्जनकर्त्तृत्वात्तद्-भञ्जनार्थमेव तत्रोदयेत सूर्य्य इव तमोराशेः, अतो रुद्राकाराधिष्ठानेऽपि तदुपासकानामेषां तमोभञ्जनकृते श्रीनृसिंहपूजामेवास्मिन् कारिष्यामि' इति । अत 'श्रीनृसिंहाय नमः इति गृहीतपुष्पाञ्जलौ तस्मिन् पुनः क्रोधाविष्टेन ग्रामाध्यक्षपुत्रेण खड्गः समुद्यमितः । ततश्चाकस्मात्तदेव लिङ्गं स्फोटयित्वा श्रीनृसिंहदेवः स्वयमाविर्भूय तं ग्रामाध्यक्ष-पुत्रं सपरिकरं जघान । दक्षिणस्यां दिश्यतिप्रसिद्धो 'लिङ्गस्फोट' नामा तत्र स्वयं स्थितवानिति ।

अतोऽनन्यभक्ताः श्रीशिवमपि वैष्णवत्वेनैव मानयन्ति, केचित् कदाचित्तदधिष्ठानत्वेनैव वा अतएवोक्तमादिवाराहे—

जन्मान्तरसहस्रेषु समाराध्य वृषध्वजम् । वैष्णवत्वं लभेद्धीमान् सर्वपापक्षये सति ॥"२२६ ॥ इति

अतएव श्रीनृसिंह-शिवभक्तयोरन्तरं वृहदेव, श्रीनृसिंहतापन्यां श्रुतौ (पू० ५।१०)—"अनुपनीत शतमेकमेकेनोपनीतेन तत्समम्, उपनीतशतमेकमेकेन गृहस्थेन तत्समम्, गृहस्थशतमेकमेकेन वानप्रस्थेन तत्समम्, वानप्रस्थशतमेकमेकेन यतिना तत्समम्, यतीनान्तु शतं पूर्णमेकेन रुद्रजापकेन तत्समम्, रुद्रजापकशतमेकमेकेनार्थर्वाङ्गीरस–शिखाध्यापकेन तत्समम्, अथर्व्वाङ्गीरसशिखाध्यापकशतमेकमेकेन मन्त्रराजाध्यापकेन तत्समम्" इति । मन्त्रराजश्च तत्र श्रीनृसिंहमन्त्र एवेति ।

स्वतन्त्रत्वेन भजने तु भृङ्गशापो दुरत्ययः, यथा चतुर्थे (भा० ४।२।२७-२८) —

पुत्र पुनर्वार क्रोधाविष्ट होकर ब्राह्मण के मस्तक छेदन करने के निमित्त खड्ग को उठालिया । तत्क्षणात् अकस्मात् उस शिव लिङ्ग को भेद करके श्रीनृसिंह देव स्वयं प्रकट हो गये एवं ग्रामाध्यक्ष पुत्र को सपरिकर विनष्ट कर दिये । अद्यापि दक्षिण देश में अति प्रसिद्ध लिङ्ग स्फोट नामक श्रीनृसिंह देव विद्यमान् हैं । अतएव अनन्य विष्णु भक्त वृन्द श्रीशिव की पूजा वैष्णव श्रेष्ठ रूप से ही करते हैं । अथवा कतिपय ऐकान्तिक विष्णु भक्त श्रीविष्णु के अधिष्ठान रूप में ही श्रीशिव की पूजा करते हैं । एतज्जन्य आदि वराह पुराण में उक्त है—

"जन्मान्तरसहस्रेषु समाराध्य वृषध्वजम् ।
वैष्णवत्वं लभेद्धीमान् सर्वपापक्षये सति ॥"२२६॥

अर्थात् बुद्धि मान् व्यक्ति सहस्र सहस्र जन्म वृषभध्वज महादेव की आराधना करके सर्व पापक्षय होने से वैष्णवत्व लाभ करते हैं । अतएव श्रीनृसिंह तापनी श्रुति में श्रीनृसिंह एवं शिव भक्त के मध्य बहुल पार्थक्य दृष्ट होते हैं । यथा अनुपनीत एकशत ब्राह्मण बालक उपनीत एक बालक के समान हैं, एक शत ब्राह्मण, एक गृहस्थ के समान हैं, एकशत गृहस्थ, एक वानप्रस्थ के समान हैं, एकशत वान प्रस्थ एक सन्न्यासी के समान हैं, एकशत सन्न्यासी एक रुद्रजापक के समान हैं, एकशत रुद्रजापक—एक अथर्व वेदान्तर्गत आङ्गिरस शाखाध्यापक के समान हैं, एकशत अथर्वाङ्गीरस शाखाध्यापक एक मन्त्रराजाध्यापक के समान हैं, श्रीनृसिंह तापनी में लिखित "मन्त्रराज" शब्द से श्रीनृसिंह मन्त्र को जानना होगा । स्वतन्त्र

"भृगुः प्रत्यसृजच्छापं ब्रह्मदण्डं दुरत्ययम् ॥२२७॥
भवव्रतधरा ये च ये च तान् समनुव्रताः ।
पाषण्डिनस्ते भवन्तु सच्छास्त्रपरिपन्थिनः ॥"२२८॥ इत्यादि ।

वेदविहितमेवात्र भवव्रतमनूद्यते, अन्यविहितत्वे पाषण्डित्वविधानायोगः स्यात्, पूर्व्वत एव पाषण्डित्वसिद्धेः । अथ तत्परिपन्थकानां श्रीभागवतादीनां सच्छास्त्रत्वमायातम्, तत् पुरस्कृतानां सूतसंहितानामसच्छास्त्रत्वं स्पष्टमेव । तस्मात् स्वतन्त्रत्वेनैवोपासनायामयं दोषः, यतश्च तत्रैव तेन श्रीजनार्द्दनस्यैव वेदमूलत्वमुक्तम् (भा० ४।२।३१)

"एष एव हि लोकानां शिवः पन्थाः सनातनः ।
यं पूर्व्वे चानुसंतस्थुर्यत् प्रमाणं जनार्द्दन, ॥"२२९ ॥ इति ।

एष वेदलक्षणो यत् प्रमाणं यत्र मूलमित्यर्थः । अतएवान्वयेनापि श्रीविष्णुभक्तिर्दृढ़ीकृता,

---

ईश्वर बुद्धि से श्रीशिव की उपासना करने से किन्तु दुर्निवार भृगुशाप उपस्थित होगा ।

भा० ४।२।२७–२८ में भृगुमुनि का अभिसम्पात वर्णित है ।

"भृगुः प्रत्यसृजच्छापं ब्रह्मदण्डं दुरत्ययम् ॥२२७॥
भवव्रत धरा ये च ये च तान् समनुव्रताः ।
पाषण्डिनस्ते भवन्तु सच्छास्त्रपरिपन्थिनः ॥"२२८॥

टीका—प्रत्यसृजत्- प्रत्यदात् । शापरूपं ब्रह्म दण्डम् । सच्छास्त्रस्य परिपस्थिनः— प्रति कूलाः ।

भृगुमुनि,—शिवानुचर, नन्दीश्वर का अभिशाप को सुनकर दुरतिक्रम ब्रह्मदण्डरूप प्रति अभिशाप प्रदान किये थे । जो लोक महा देव के व्रतधारी हैं, एवं जो महादेव भक्त के आनुगत्यस्वीकार करेंगे, वे सब ही सच्छास्त्र, वेद एवं वेदानुगत शास्त्र का प्रति कूल पाषण्डी हों । यहाँ "भवव्रत" शब्द से वेद विहित भवव्रत को जानना होगा । वेदविरुद्ध शास्त्र विहित भवव्रत धारी जन गण स्वतः ही पाषण्डी होते हैं । सुतरां उन सब के प्रति अभिशाप प्रदान करने का कोई औचित्य नहीं है । कारण, वेद विरुद्ध शास्त्रानुशीलन कारी जनगण पाषण्डी हैं । स्वतन्त्र ईश्वर बुद्धि से श्रीशिव की उपासना करने से ही भृगुमुणि कृत अभिसम्पात जनित दोष उपस्थित होगा, कारण, इस प्रसङ्ग में भृगुने श्रीजनार्द्दन का वेदमूलत्व स्थापन किया है । भा० ४।२।३१

"एष एव हि लोकानां शिवः पन्थाः सनातनः ।
यं पूर्व्वे चानुसंतस्थू र्यत् प्रमाणं जनार्द्दनः ॥"२२९॥

अर्थात् वेद विहित उपाय ही मानव मात्र का सनातन मङ्गलमय पन्था है । पूर्वकाल में ऋषिवृन्द, निज निज अभीष्ट सिद्धि हेतु वेद को अवलम्बन किये थे । श्रीजनार्दन ही वेदों का मूल आश्रय हैं । अतएव अन्वय मुख से अर्थात् कर्त्तव्यता मुख से भी भा० १।२।२३ के द्वारा श्रीविष्णु भक्ति की दृढ़ता प्रतिपादन हुई ।

"सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तै र्युक्तः परः पुरुष एक इहास्य धत्ते ।
स्थित्यादये हरिविरिञ्चि हरेति संज्ञाः श्रेयांसि तत्रखलु सत्त्वतनो र्नृणां स्युः ॥"

टीका—तदेवमुपपादयितुं ब्रह्मादीनात्रयाणामेकात्मकत्वेऽपि वासुदेवस्याधिक्यमाह—सत्त्वमिति । इह यद्यपि एक एव परः पुमान्, अस्य विश्वस्य स्थित्यादये स्थितिसृष्टिलयार्थं हरिविरिञ्चि हरेति संज्ञाः

(भा० १।२।२३) "सत्त्वं रजस्तमः" इत्यादिना। तथा श्रीहरिवंशे शिव-वाक्यमेव (भविष्य-पु० ८९।८)—

"हरिरेव सदा ध्येयो भवद्भिः सत्त्वसंस्थितैः। विष्णुमन्त्रं सदा विप्राः पठध्वं ध्यात केशवम् ॥"२३०॥

तस्मात् श्रीशिवभक्तेरप्येवम्भूतत्वे स्थिते परासामपि देवतानां वैष्णवागमादौ तद्बहिरङ्गावरण-सेवकत्वेनाप्राकृतानामेव पूजाविधानम्। श्रीभगवल्लोकसंग्रहपराणां तल्लीलौपयिक-नरलीलापार्षदानां वा भगवत् प्रीणन-यज्ञादौ तु श्रीयुधिष्ठिर-राजसूयवदन्यासामपि तद्विभूतित्वेनैवेति ज्ञेयम्, यथानुष्ठितं श्रीप्रह्लादेन (भा० ७।१०।३२) —

"ततः संपूज्य शिरसा ववन्दे परमेष्ठिनम्।
भवं प्रजापतीन् देवान् प्रह्लादो भगवत्कलाः ॥"२३१॥

तदुक्तं श्रीयुधिष्ठिरेणैव (भा० १०।७२।३) —

"क्रतुराजेन गोविन्द राजसूयेन पावनीः।

केवलं भिन्ना धत्ते। हरिविरिञ्चि हरा इति वक्तव्ये सन्धिरार्षः। तत्र तेषां मध्ये श्रेयांसि शुभफलानि, सत्त्वतनोर्वासुदेवादेव स्युः॥

श्रीहरिवंश में श्रीशिव ही श्रीहरि भक्ति की दृढ़ता का प्रतिपादन किये हैं। भविष्यपुराण ८९।८)

"हरिरेव सदाध्येयो भवद्भिः सत्त्वसंस्थितैः।
विष्णु मन्त्रं सदा विप्राः पठध्वं ध्यात केशवम् ॥"१३०॥

हे विप्र वृन्द! सात्त्विक स्वभाव सम्पन्न, आप सब के पक्ष में सत्त्व मूर्त्ति श्रीकृष्ण का ध्यान करना कर्त्तव्य है। अतएव सर्वदा विष्णु मन्त्र जप करें एवं केशव का ध्यान करें। अतएव श्रीशिव भक्ति के सम्बन्ध में जब उस प्रकार सिद्धान्त गृहीत होता है, तब वैष्णव तन्त्रादि में अन्यान्य देवता की पूजा करने का जो विधान है, वहाँपर समझना होगा कि—श्रीभगवान् के ही वहिरङ्ग आवरण के सेवक होने के कारण वे सब ही अप्राकृत होते हैं। अथवा, श्रीभगवान् को लोक संग्रहपर नर लीला के उपयोगी पार्षद् वृन्द की पूजा विहित हुई है। तात्पर्य्य यह है कि—जिस समय, श्रीभगवान् नर जगत् में अवतीर्ण होकर मनुष्य लीला को प्रकट करते हैं, उस समय, साधारण मनुष्य के समान उन के प्रिय पार्षद वृन्द, विभिन्न देवताओं की आराधना करते हैं। एवं उक्त देवता वृन्द भी श्रीभगवान् की नर लीला के परिकर हैं। श्रीयुधिष्ठिर के राज्यसूय यज्ञ के समान श्रीभगवत् सन्तोषार्थ अनुष्ठित यज्ञादि में किन्तु अन्यान्य देव वृन्द की आराधना भगवद् विभूति बुद्धि से ही करनी चाहिये। यहाँपर भा० ७।१०।३२ में वर्णित श्रीप्रह्लाद महाशय आचरण दृष्टान्त रूप में उपस्थापित है —

"ततः संपूज्य शिरसा ववन्दे परमेष्ठिनम्।
भवं प्रजापतीन् देवान् प्रह्लादो भगवत् कलाः ॥"२३१॥

ऐकान्तिक श्रीहरिभक्त के पक्ष में उस प्रकार आचरण ही अभीप्सित है। अनन्तर श्रीप्रह्लाद महाशय-प्रजापति वृन्द एवं अन्यान्य देववृन्द की पूजा उत्तम रूप से सम्पन्न करके अवनत मस्तक के द्वारा वन्दना किये थे। यहाँपर मूल श्लोक में "भगवत् कलाः" विशेषण पद का उल्लेख स्पष्टतः ही हुआ है। श्रीभ० १०।३२।३ में श्रीयुधिष्ठिर महाराज की उक्ति भी तदनुरूप ही है।

"क्रतुराजेन गोविन्द राजसूयेन पावनीः।

यक्ष्ये विभूतीर्भवतस्तत् सम्पादय नः प्रभो ।।"२७२।। इति ।

विभूतित्वेनैवेत्थमुक्तं पाद्मे कार्त्तिक-माहात्म्ये च श्रीसत्यभामां प्रति श्रीभगवता—

"सौराश्च शैवा गाणेशा वैष्णवाः शक्तिपूजकाः । मामेव प्राप्नुवन्तीह वर्षापः सागरं यथा ।।२३३।।

एकोऽहं पञ्चधा जातः क्रीड़या नामभिः किल । देवदत्तो यथा कश्चित् पुत्रादिजन-नामभिः ।।"२३४।।

वस्तुतस्तु सर्वापेक्षया श्रीवैष्णवा एव श्रेष्ठाः, तदुक्तं स्कान्दे ब्रह्मनारद-संवादे, तत्रैवान्यत्र प्रह्लादसंहितायामेकादशी--जागरणप्रसङ्गे च—

"न सौरो न च शैवो वा न ब्राह्मो न च शाक्तिकः ।
न चान्यदेवता--भक्तो भवेद्भागवतोपमः ।।"२३५।। इति ।

तादृश-सौरादीनां तत्प्राप्तिश्च न केवलं तद्धेतुकैव, किन्तु भगवत् प्रीत्यर्थकृत-तज्जात शुद्धभक्ति-द्वारा वा श्रीविष्णुक्षेत्रमरणादिप्रभावेण वा, यथा तत्रैव वर्णितयोर्देवशर्म्म-चन्द्र—

यक्ष्ये विभुतीर्भवतस्तत् सम्पादय नः प्रभो ।।"२३२।।

टीका—विभूतीः—अंशान् ।

अर्थात् हे गोविन्द ! निखिल यज्ञ श्रेष्ठ राजसूय यज्ञ के द्वारा तुम्हारी पवित्र कारिणी विभुति समूह को आराधना करूँगा । इस का समाधान तुम करो, तुम, सब समाधान करने में समर्थ हो, अतः मेरा अभिलाष पूर्ण करो । इस श्लोक में श्रीयुधिष्ठिर महाराज देवतान्तर की अर्च्चना भगवान् की विभूति रूप में करने का अभिलाष प्रकाश किये थे ।

पद्म पुराण के कार्त्तिक माहात्म्य में श्रीसत्यभामा को भगवान् श्रीकृष्ण कहे थे—हे देवि ! वर्षाकाल के वर्षित जल समूह जिस प्रकार समुद्र प्रविष्ट होते हैं, उस प्रकार जो लोक, शिव, गणेश, विष्णु, एवं शक्ति सूर्य्य की उपासना करते हैं, वे सब भी मुझ को प्राप्त करते हैं । जिस प्रकार एक देवदत्त, पिता, भ्राता पुत्र प्रभृति विभिन्न नामों से अभिहित होता है, उस प्रकार ऐक ही मैं श्रीकृष्ण,—क्रीड़ा ऐवं नाम भेद से पञ्चधा प्रकटित होता हूँ ।

"सौराश्च शैवा गाणेशा वैष्णवाः शक्तिपूजकाः ।
मामेव प्राप्नुवन्तीह वर्षापः सागरं यथा ।।२३३।।
एकोऽहं पञ्चधा जातः क्रीड़या नामभिः किल ।
देवदत्तो यथा कश्चित् पुत्रादिजन-नामभिः ।।"२३४।।

वस्तुतः सकल उपासकों के मध्य में श्रीवैष्णव ही श्रेष्ठ है । इस प्रकार उक्ति, स्कन्द पुराण के ब्रह्म नारद संवाद में एवं उक्त स्कन्द पुराण के अन्यत्र एकादशी जागरण प्रसङ्ग में एवं प्रह्लाद संहिता में श्रीवैष्णव का श्रेष्ठत्व वर्णित है—

"न सौरो न च शैवो वा न ब्राह्मो न च शाक्तिकः ।
न चान्यदेवता-भक्तो भवेद्भागवतोपमः ।।"२३५।।

श्रीभगवद् भक्त के तुल्य सूर्य्य उपासक नहीं होते हैं, शिव उपासक, ब्रह्मा का उपासक, अथवा शक्ति उपासक तुल्य नहीं होते हैं, अधिक कहना क्या है ? अपरदेव गण के भक्त भी वैष्णव के सदृश नहीं होते हैं ।

पद्म पुराण के कार्त्तिक माहात्म्य में श्रीसत्यभामा के निकट श्रीकृष्ण जो कहे थे—कि सर्व देवोपासक की ही भगवत् प्राप्ति होती है—उसका तात्पर्य्य यह है कि—सूर्य्यादि विभिन्न देव गण की उपासना ही श्रीभगवत् प्राप्ति के हेतु नहीं है, किन्तु सूर्य्यादि देव गण की उपासना यदि भगवत् प्रीति के उद्देश्य से होती

शर्म्मनाम्नोः सूर्य्यमाराधयतोः तदुक्तं तत्रैव श्रीभगवता---

"तत्क्षेत्रस्य प्रभावेण धर्म्मशीलतया पुनः । वैकुण्ठभवनं नीतौ मत्परौ मत्समीपगैः ॥२३६॥
यावज्जीवन्तु यत्ताभ्यां सूर्य्यपूजादिकं कृतम् । तेनाहं कर्मणा ताभ्यां सुप्रीतो ह्यभवं किल ।"२३७॥

तत्क्षेत्रं मायापुरी, तौ च कृष्णावतारे सत्राजिदक्रूराख्यौ जाताविति च तत्र प्रसिद्धिः । एवं पुण्डरीकस्यापि पितृसेवया तत्प्राप्तिश्च योजनीया ।

स्वतन्त्रोपासनायां तत् प्राप्तिः श्रीगीतोपनिषत्स्वेव निषिद्धा (गी० ९।२३-२५)—

"येऽप्यन्यदेवता-भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्व्वकम् ॥२३८॥
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२३९॥
यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः ।

है तो, उक्त उपासना समूह से विशुद्ध शक्ति का आविर्भाव होता है, उस से अथवा श्रीविष्णु क्षेत्र में मृत्यु होने के कारण ही श्रीभगवत् प्राप्ति होती है । यह छोड़कर स्वतन्त्र सूर्य्यादि देववृन्द की उपासना से श्री भगवत् प्राप्ति नहीं हो सकती है । उस प्रकरण में श्रीकृष्ण ने सूर्य्य आराधक देवशर्मा—चन्द्रशर्म्मा के चरित्र वर्णन प्रसङ्ग में श्रीसत्यभामा को कहे थे—

"तत्क्षेत्रस्य प्रभावेण धर्म्मशीलतया पुनः ।
वैकुण्ठभवनं नीतौ मत्परौ मत्समीपगैः ॥२३६॥
यावज्जीवन्तु यत्ताभ्यां सूर्य्यपूजादिकं कृतम् ।
तेनाहं कर्मणा ताभ्यां सुप्रीतो ह्यभवं किल ॥"२३७॥

हे देवि ! उस विष्णुक्षेत्र के प्रभाव से ही धार्मिक प्रवर देवशर्म्मा एवं चन्द्रशर्मा नामक सूर्य्य भक्त द्वय मेरी भक्ति प्राप्त कर मेरे पार्षद गण कर्त्तृक पुनर्वार वैकुण्ठ धाम में आनीत हुये थे । उक्त महात्माद्वय के द्वारा यावज्जीवन जो सूर्य्यपूजादि हुये थे उस से में उनदोनों के प्रति परम सन्तुष्ट हुआ था । यह प्रसङ्ग पद्म पुराण में ही वर्णित है । यहाँ क्षेत्रवास शब्द से मायापुरी में निवास को जानना होगा । श्रीकृष्णावतार के समय उक्त देवशर्मा—चन्द्रशर्मा ही क्रमशः सत्राजित् एवं अक्रूर अभिहित थे । यह प्रसिद्धि है । इस प्रकार पुण्डरीक नामक भक्त के द्वारा पितृ सेवा अनुष्ठित होने पर उस से भगवत् प्राप्ति का विवरण भी उल्लेख है, उस में भी इस प्रकार सिद्धान्त ग्रहण ही करना पड़ेगा । अर्थात् भगवदन्तर्य्यामित्व दृष्टि से पितृ सेवा करने से श्रीभगवत् सन्तोष होता है, एवं भगवत् सन्तोष से भगवद् भक्ति लाभ होता है, अनन्तर विशुद्ध भक्ति से श्रीभगवदाराधना करने पर श्रीभगवत् प्राप्ति होती है । स्वतन्त्र भावसे देवतान्तर उपासना के द्वारा श्रीभगवत् प्राप्ति नहीं होती है, उसका वर्णन भगवद् गीता ९।२३-२५ में है—

"येऽप्यन्यदेवता-भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्व्वकम् ॥२३८॥
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२३९॥
यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः ।

भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ।।" २४०।।

तस्मात्तदीयत्वेनोपासनायां क्वचिद्गुणोऽपि भवति । अवज्ञादौ तु दोषः (भा० ११।३।२६) "श्रद्धां भागवते शास्त्रेऽनिन्दामन्यत्र चापि हि" इतिवत्, यथा पाद्मे—

भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ।।"२४० ।।

टीका—ननु च ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये इत्यनेन त्वया स्वस्यैवोपासना त्रिविधोक्ता । तत्र बहुधा विश्वतोमुखमिति तृतीयाया उपासनाया ज्ञापनार्थमहं क्रतुरहं यज्ञ इत्यादिना स्वस्य विश्व रूपत्वं दर्शितम् । अतः कर्म योगेन कर्म्माङ्ग भूतेन्द्रादि याजकस्तथा प्राधान्येनैव देवतान्तर भक्ता अपि त्वद्भक्ता एवं कथं तर्हि ते न मुच्यन्ते । यदुक्तं "त्वया, गतागतं कामकामा लभन्ते ।। इति । अन्तवत्तु फलं तेषामिति च तत्राह येऽपीति सत्यं मामेव यजन्तीति । किन्तु अविधि पूर्वकं मत् प्रापकं विधिविनैव यजन्तुतः पुनरावर्त्तन्ते ।।

अर्थात् हे अर्जुन ! जो लोक, अन्य देवताके भक्त होकर श्रद्धायुक्तान्तः करण से उन उन देवता की उपासना करते हैं, वे सब भी मेरी उपासना करते हैं। कारण, उक्त देववर्ग—मेरी विभूति हैं, अथवा अन्तर्य्यामी रूप में उन उन देवता में मैं विद्यमान हूँ । किन्तु जिस रीति से उपासना करने से मोक्षलाभ होता है, उस रीति से वे लोक उपासना नहीं करते हैं। अर्थात् स्वतन्त्र रूप से देवतान्तर की उपासना करने पर धर्म, अर्थ, काम—यह त्रिवर्ग लाभ होता है । किन्तु श्रीविष्णु की उपासना व्यतीत मोक्षलाभ नहीं हो सकता है । उस अभिप्राय से ही कहा गया है कि—"अविधि पूर्वकं यजन्ति" श्रीधर स्वामि पाद ने भी कहा है—"मोक्ष प्रापकं विधिं विना" अर्थात् जिस उपाय से उपासना करने पर मुक्ति होती है, उस विधि को उल्लङ्घन पूर्वक अर्च्चन करते हैं ।

टीका—अविधि पूर्वकत्वमेवाह—अहमिति । देवतान्तर रूपेणाहमेव भोक्ता प्रभुः स्वामी फलदाता चाहमिति । मान्तु तत्वेन न जानन्ति । यथा सूर्य्यस्याहमुपासकः,सूर्य्य एव मयि प्रसीदतु । सूर्य्य एव मदभीष्टं फलं ददातु । सूर्य्य एव परमेश्वर इति तेषां बुद्धि र्नतु परमेश्वरो नारायण एव, सूर्य्यः स एव तादृश श्रद्धोत्पादकः स एव मह्यं सूर्य्योपासना फलप्रद इति बुद्धिरतत्त्वतो मदभिज्ञानाभावात्ते च्यवन्ते । भगवान्नारायण एवेति सूर्य्यादि रूपेण आराध्यते इति भावनया विश्वतो मुखं मामुपासीनास्तु मुच्यन्त एव । तस्मान्मद्विभूतिषु सूर्य्यादिषु पूजा मद्विभूति ज्ञानं पूर्विकैव कर्त्तव्याः नत्वन्यथेति द्योतितम् ।।२४।।

मेरी उपासना न करने से मुक्ति नहीं होती है, उसका कारण, यह है कि—मैं ही समस्त यज्ञ भोक्ता हूँ । एवं कर्म फल दाता, कर्म प्रवर्त्तक नियामक प्रभु हूँ। यथायथ रूप से मुझ को न जानने के कारण, उन उन देवतागण के उपासक गण परमार्थ पथ भ्रष्ट होते हैं ।

टीका—ननु च तत्तद् देवता पूजापद्धतौ यो यो विधिरुक्तस्तेनैव विधिना सा सा देवता पूज्यत एव । यथा विष्णु पूजा पद्धतौ य एव विधि स्तेनैव वैष्णवा विष्णुं पूज्यन्त्यतः देवतान्तर भक्तानां को दोषः? इति चेत् सत्यं, तर्हि तां देवतां तद् भक्ताः प्राप्नुवन्त्येवं । इत्ययं न्याय एव इत्याह यान्तीति तेन तत्तद् देवतानामपि नश्वरत्वात् तत्तद् देवताभक्ताः कथमनश्वरा भवन्तु। अहन्तु अनश्वरो नित्यो मद्भक्ता अप्यनश्वरा नित्या एवेति द्योतितम् । भवानेकः शिष्यते शेष संज्ञ इति । "एकोनारायणः एवासीन्न ब्रह्मा न च शङ्करः" इति । "परार्द्धान्ते सोऽबुध्यत गोपरूपो मे पुरस्तादाविबभूव" इति । न च्यवन्ते च मद्भक्ता महत्यां प्रलयादपीत्यादि श्रुतिभ्यः ।।२५।।

जो लोक जो जो देवता की उपासना करते हैं, वे लोक उन उन देव लोक में गमन करते हैं, भूत वृन्द की उपासना से प्रेत लोक को जाते हैं । एवं मेरी उपासना करने से मुझ को प्राप्त करते हैं । भगवद्

"हरिरेव सदाराध्यः सर्व्वदेवेश्वरेश्वरः। इतरे ब्रह्मरुद्राद्या नावज्ञेयाः कदाचन ॥"२४१॥

गौतमीये च—

"गोपालं पूजयेद्यस्तु निन्दयेदन्यदेवताम्। अस्तु तावत् परो धर्म्मः पूर्व्वधर्म्मोऽपि नश्यति ॥"२४२॥ इति

अतएव (भा० ६।८।१७) "हयशीर्षा मां पथि देवहेलनात्" इति श्रीनारायणवर्म्मणि तदागः प्रायश्चित्तम्। विष्णुधर्म्मे चायमितिहासः—पूर्व्वं श्रीमदम्बरीषो बहुदिनं भगवदाराधनं तपोऽनुष्ठितवान्। तदन्ते च भगवानेवेन्द्ररूपेणैरावतीकृतं गरुड़मारुह्य तं वरेण च्छन्दयामास स चेन्द्ररूपं दृष्ट्वा तं नमस्कारादिभिरादृत्यापि तस्माद्वरं नेष्टवान्, उक्तवांश्च-ममाराध्याकारो

गीतोक्त प्रमाण समूह से ज्ञात होता है कि—स्वतन्त्रेश्वर बुद्धि से देवतान्तर उपासना के द्वारा भगवत् प्राप्ति नहीं होती है। अतएव भगवत् प्रियत्व रूप से देवतान्तर की उपासना करने पर स्थल विशेष में गुण भी होता है। किन्तु देवतान्तर की अवज्ञा करने से दोष होगा। इस विषय में श्रीमद् भागवत के ११।३।२६ में कथित है—

"श्रद्धां भागवते शास्त्रेऽनिन्दामन्यत्र चापिहि ॥"

टीका—भागवते—भगवत् प्रतिपादके। अन्यत्र शास्त्रादौ या अनिन्दया ताम्। मनसः प्राणायामैः। वाचो मौनेन, कर्मणोऽनीहया दण्डम्। सत्यं यथार्थ भाषणम्। शमदमौ अन्तः करणवाह्येन्द्रिय निग्रहौ।

भगवत् प्रति पादक शास्त्र में श्रद्धा करे, किन्तु अन्य शास्त्र की निन्द्या न करे। इस प्रकार प्रबुद्ध योगीन्द्र के उपदेश के समान श्रीविष्णु में विशेष आदर करे, किन्तु देवतान्तर की निन्दा न करे। पद्म पुराण में उक्त है—

'हरिरेव सदाराध्यः सर्व देवेश्वरेश्वरः।
इतरे ब्रह्मरुद्राद्या नावज्ञेयाः कदाचन' ॥२४१॥

सर्व देवगण के ईश्वर, ब्रह्मा शिवके भी आराध्य श्रीहरि की आराधना सबको करनी चाहिये। किन्तु कभी भी ब्रह्म रुद्र प्रभृति देववृन्द की अवज्ञा न करे।

गौतमीयतन्त्र में भी उक्त है—

"गोपालं पूजयेद् यस्तु निन्दयेदन्यदेवताम्।
अस्तु तावत् परोधर्मः पूर्वधर्म्मोऽपि नश्यति ॥२४२।

अर्थात् जो व्यक्ति, गोपाल देवकी पूजा करता है, किन्तु अन्य देवता को अवज्ञा करता है। उस का परधर्म की कथा तो दूर हो, पूर्वाचरित धर्म भी विनष्ट होता है।

अतएव श्रीमद्भागवत के ६।८।१७ में उक्त है—" हयशीर्षा मां पथि देव हेलनात्। नारायण वर्म्म कथन के समय कथित है—भगवान् हयग्रीव—पथ में देवतान्तर के अवहेलन दोष से मेरी रक्षा करें। इस प्रकार देवतान्तर की निन्दा होने पर प्रायश्चित्त का भी उल्लेख है। विष्णु धर्म में यह इतिहास है--पूर्व काल में महाराज अम्बरीष सुदीर्घ दिन श्रीभगवदाराधन रूप तपस्यानुष्ठान किये थे तदनन्तर भगवान् इन्द्रमूर्त्ति धारण कर ऐरावतरूपी गरुड़ में आरोहण करके अम्बरीष के निकट उपस्थित होकर कहे थे--- "मेरे निकट वर मागो"। महराज ने अनुज्ञा को सुना, एवं इन्द्र मूर्त्ति को देखकर उनको नमस्कार प्रभृति द्वारा यथेष्ट सम्मान किया, किन्तु उन इन्द्र मूर्त्ति के निकट वर प्रार्थना नहीं की, उन्होंने कहा भी था, जो मेरा आराध्य देव हैं, उन भगवान् श्रीकृष्ण ही मुझ को वर प्रदान करेंगे। अपर कोई मुझ को वरप्रदाता नहीं हो सकते हैं। अर्थात् मैं अपर किसी से वर ग्रहण नहीं करूँगा। अम्बरीष के वाक्य को सुन कर इन्द्र

यः, स एव मम वरदाता भवेन्नान्य इति। अथ तद्देयं वरमहमेव दास्यामीति पुनरुक्त-वत्यपीन्द्रे नेष्टवन्तं तं प्रति स वज्रं समुद्यतवान्, तथापि तं वरं नाङ्गीकृतवति तस्मिन् सुप्रसन्नो भूत्वा तद्रूपमन्तर्द्धाप्य स्वरूपमाविर्भावयन्ननुजग्र हेति।

तत्र च शिवावज्ञादौ महानेव दोषः, यथा चतुर्थ एव नन्दीश्वर-शापः (भा० ४।२।२४)—"संसरन्त्विह ये चामुमनु शर्व्वावमानिनम्" इति, इदमेव यत्किञ्चिदेव,—श्रीशिवस्य

रूपी कृष्णने कहा, तुम्हारे आराध्य देव श्रीकृष्ण, तुम्हें जो वर देंगे, मैं वही वर दूँगा, पुनर्वार इस प्रकार कहने पर भी जब अम्बरीष वर ग्रहणेच्छु नहीं हुए, तब इन्द्र रूपी श्रीकृष्ण कोपाभिनय करके अम्बरीष के मस्तक में वज्र निःक्षेप करने के निमित्त उद्यत हो गये। उस अवस्था में भी महाराज ने जब वर अङ्गीकार नहीं किया, तब इन्द्ररूपी श्रीकृष्ण तत् कृपेक्षण नामक भक्ति की गाढ़ निष्ठा को देखकर महाराज अम्बरीष के प्रति सुप्रसन्न हो गये, एवं स्वीकृत इन्द्ररूप को परित्याग कर निज स्वरूप को प्रकट कर यथेष्ट अनुग्रह किये थे।

यद्यपि देवतान्तर की निन्दा ही दोष जनक है, तथापि श्रीशिव अवज्ञा प्रभृति अतीव दोषावह हैं। भा० ४।२।२४ में शिव प्रिय नन्दीश्वर कृत शिवापमान कारी के प्रति अभिशाप इस प्रकार है—

"विद्याबुद्धिरविद्यायां कर्म मय्यामसावजः।
संसरन्त्विह येचामुमनु शर्वावमानिनाम्॥२४॥

टीका—अयन्तु शापोऽस्यानुरूप एवेत्याह। विद्याबुद्धिः, इयमेव तत्त्वविद्येति बुद्धिर्यस्या अतोऽसौ अज एव। विप्रान् शपति। संसरन्त्विति सार्द्धद्वाभ्याम्। सर्वमन्यत इति तथा। तममुं दक्षं चे चानुवर्त्तन्ते ते संसरन्तु, जन्ममरणाद्यनुभवन्त्विति, एकः शापः। श्रुतायाः वेदरूपायाः। पुष्पिण्याः—पुष्पाणीवार्थवादाः, मनक्षोभकत्वात्। तानि सन्ति यस्याम्। अर्थवाद बहुलतायां इत्यर्थः। मधुगन्धतुल्येन प्ररोचनेन मनः क्षोभकेण, उन्मथित आत्मा मनोयेषां ते सम्मुह्यन्त। कर्मस्वासक्ता भवन्त्विति द्वितीय शापः। सर्वभक्ष्याः, भक्ष्याभक्ष्य विचार शून्याः, वृत्त्यै देहादि पोषणाय धृतानि विद्यातपो व्रतानि यैः, वित्तादिष्वेवाभिरतिर्येषां ते, याचकाः सन्तो विचरन्त्विति च शापचतुष्टयम्।

जो व्यक्ति, यह शिवनिन्दाकारी दक्ष प्रजापति के अनुगत होंगे, वे सब ही जन्ममरणादि दुःख बहुल संसार दशा को प्राप्त करें। यह अभिसम्पात अतितुच्छ है। कारण, महाभागवत श्रीशिव निन्दाजनित अपराध को दश अपराध के मध्य में मुख्य रूप से कहा गया है। श्रीमहादेव—महाभागवत हैं, इस का वर्णन भा० ४।११।३३ में है—

"हेलनंगिरिश भ्रातुर्धनदस्य त्वया कृतम्।
यज्जघ्निवान् पुण्यजनान् भ्रातृघ्नानित्यमर्षितः॥३३॥

टीका—अन्य च त्वया कार्य्यमित्याह—हेलनमिति द्वाभ्याम्। यद् यतो जघ्निवान्— घातितवान्॥

हे वत्स! तुमने महादेव के भ्राता (सखा) कुवेर की प्रचुर तर अवज्ञा की, कारण, भ्रातृहत्याकारी बुद्धि से बहुल यक्षों को विनष्ट तुमने किया है। स्वायम्भुवमनुकथित इस रीति के अनुसार महादेव के सखा होने के कारण कुवेर के निकट अपराध भी वैष्णव अपराध के मध्य में परिगणित हुआ। अतः उक्त स्वभाव के समुचित सर्व विषयक विनय एवं पुनः पुनः भक्ति अभिलाष से अभिलाषी होकर श्रीध्रुवने भी कुवेर के निकट भगवद् भक्ति वर प्रार्थना की। यह है—चतुर्थ स्कन्धोक्त आख्यान का अभिप्राय।

तात्पर्य्य यह है कि—महाभागवतोत्तम श्रीमहादेव के सहित कुवेर का बन्धुत्व निबन्धन, कुवेर को

महाभागवतत्वेन दोषस्य स्वयमेव सिद्धत्वात्। (भा० ४।११।३३) "हेलनं गिरिशभ्रातुर्धनदस्य त्वया कृतम्" इति स्वायम्भुवोक्त-रीत्या नूनं तत्सख्यमनुस्मृत्यैव कुवेरादपि श्रीध्रुवेण भगवद् भक्तिस्वभावकृत-सर्व्वविषयक-विनय-पुनः पुनर्भक्त्यभिलाषाभ्यां युक्तेन सता कृतं भगवद् भक्तिवरप्रार्थनमिति चतुर्थाभिप्रायः। अतएवोक्तम् (कौर्मे)—

"यो मां समर्च्चयेन्नित्यमेकान्तं भावमाश्रितः।
विनिन्दन् देवमीशानं स याति नरकं ध्रुवम् ॥"२४३॥ इति।

दृष्टञ्च तथा चित्रकेतुचरिते

श्रीकपिलदेवेन साधारणानामपि प्राणिनामवमानादिकं निन्दितम्, किमुत तद्विधानाम्, तथाहि (भा० ३।२९।२१) —

"अहं सर्व्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा।
तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्च्चाविडम्बनम् ॥" २४४॥

भूतेषु वक्ष्यमाणरीत्या अप्राणभृज्जीवमारभ्य भगवदर्पितात्मजीवपर्य्यन्तेषु, भूतात्मा तदन्तर्यामी, तं मामवज्ञाय,तेषामवज्ञया तदधिष्ठानकस्य ममैवावज्ञां कृत्वेत्यर्थः। ततस्तां कृत्वा योऽर्च्चां मत्प्रतिमां कुरुते, स तद्विडम्बनं तस्या अवज्ञामेव कुरुत इत्यर्थः। यतः, (भा० ३।२९।२२)

महाभागवत माना गया है, एवं कुवेर के निकट अपराध भी वैष्णव अपराध के मध्य में परिगणित हुआ है। तज्जन्य ही श्रीध्रुव, कुवेर के निकट अत्यन्त विनीत भाव से पुनः पुनः भगवत् भक्ति प्रार्थना किये थे। उक्त अभिप्राय से ही कूर्म्म पुराण में श्रीभगवदुक्ति है—

"यो मां समर्च्चयेन्नित्यमेकान्त भावमाश्रितः।
विनिन्दन् देवमीशानं स याति नरकं ध्रुवम् ॥२४३।

जो व्यक्ति, एकान्त भाव से मेरा नित्य अर्च्चन करता है, अथच महादेव की निन्दा करता है, उस का नरक गमन सुनिश्चित है ॥

श्रीमद् भागवत के चित्रकेतु चरित्र में उस प्रकार आचरण दृष्ट होता है। श्रीकपिल देवने तो साधारण प्राणि मात्र को अवमानन करना, अत्यन्त निन्दित व्यवहार कहा है। यदि साधारण प्राणिमात्र की अवमानना इस प्रकार दोषावह होता है तो महाभागवतोत्तम श्रीशिवकी निन्दा करना अत्यन्त दोषावह ही होगा, इस में कहना ही क्या है? भा० ३।२९।२१ में उक्त है—

"अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा।
तमवज्ञाय मां मर्त्यं कुरुतेऽर्च्चाविडम्बनम् ॥"२४४॥

टीका—"चित्तशुद्धिः सर्व भूतात्म दृष्टैचव भवतीति वक्तु केवल प्रतिमादिनिष्ठां निन्दन्नाह। अहमिति सप्तभिः। अर्च्चैव विडम्बनमनुकरणम्। अर्च्चायं पूजा विडम्बनमिति वा। अवज्ञोपेक्षाद्वेष निन्दाः, क्रमेण चतुर्भिर्निविध्यन्ते ॥

मैं समस्त भूतों में अवस्थित हूँ। मेरी अवज्ञा करके जो मानव मेरी प्रतिमा की अर्च्चना करता है, वह मेरी अवज्ञा ही करता है।

यहाँपर "भूतेषु" शब्द से वक्ष्यमाण रीति के अनुसार अप्राणि जीव से आरम्भ कर श्रीभगवान्

"यो मां सर्व्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम् ।
हित्वार्चां भजते मौढचाद्भस्मन्येव जुहोति सः ॥"२४५॥

मौढचात् शैली दारुमयी वा काचित् प्रतिमेयमिति मूढ़बुद्धित्वाद् यः सर्व्वेषु भूतेषु वर्त्तमानं परमात्मानमीश्वरं मां हित्वा तस्या मयैक्यमविभाव्य अर्चां मदीयां प्रतिमां भजते, केवल-लोकरीति-दृष्ट्या तस्यै जलादिकमर्पयति । यथाग्निपुराणे दशरथ-मारितपुत्रस्य तपस्विनो विलापे—

"शिलाबुद्धिः कृता किंवा प्रतिमायां हरेर्मया । किं मया पथि दृष्टस्य विष्णुभक्तस्य कर्हिचित् ॥२४६॥
तन्मुद्राङ्कितदेहस्य चेतसा नादरः कृतः । येन कर्म्मविपाकेन पुत्रशोको ममेदृशः ॥"२४७॥ इति ।

यथा चोक्तं पाद्मे

में जो लोक आत्म समर्पण किये हैं, उन सब को जानना होगा । अर्थात् अप्राणि जीव से आरम्भ कर श्रीभगवान् के ऐकान्तिक भक्त के मध्य में किसी की अवज्ञा करने पर मेरी अवज्ञा होती है । कारण, उक्त जीव समूह में मैं अन्तर्य्यामी रूप से अवस्थान करता हूँ । अतएव उक्त प्राणिवर्ग के प्रति अवज्ञा करने पर उस उस देह में विद्यमान मेरी अवज्ञा होती है, उस प्रकार अवज्ञा करके जो भी व्यक्ति मेरी प्रतिमा की अर्च्चना करते हैं, वे सब मेरी अवज्ञा करते रहते हैं । कारण भा० ३।२९।२२ में आपने कहा है—

"यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम् ।
हित्वार्चां भजते मौढचाद् भस्मन्येव जुहोति सः ॥"२४५॥

टीका—हित्वा उपेक्षा ।

जो मानव, सर्वभूत में अन्तर्य्यामी रूप में अवस्थित ईश्वर स्वरूप मुझ को परित्याग पूर्वक प्रतिमा में साक्षात् भगवद्बुद्धिका अभाव वशतः शिलामयी, काष्ठमयी प्रतिमा बुद्धि पोषण करता है । वह मूर्ख है, उस मूर्खतादोष से उस के द्वारा अनुष्ठित अर्च्चना भस्माहुति में पर्य्यवसान होती है । अभिप्राय यह है कि-सर्व भूत में अन्तर्य्यामी रूप में विद्यमान परमेश्वर के सहित प्रतिमा की ऐक्य भावना न करके जो व्यक्ति मेरी प्रतिमा की पूजा करता है, वह व्यक्ति तत्त्वानभिज्ञ है, अतः केवल लोक रीति दृष्टि से उक्त प्रतिमादि में जलार्पण करता रहता है । अर्थात् प्रतिमा सेवक के हृदय में जो सर्वभूतान्तर्य्यामी विद्यमान है, वह ही प्रतिमा रूप में मदीय गृह में अवस्थित हैं, इस प्रकार बुद्धि न होने के कारण प्राणि वृन्द की अवज्ञा उस के द्वारा होती है । जिस प्रकार अग्नि पुराण में वर्णित है—मृगभ्रान्ति से अन्धमुनि के पुत्र सिन्धु मुनि को श्रीदशरथ महाराजने मारा था, तब तपस्वी प्रवर अन्धमुनिने इस प्रकार कह कर विलाप किया था ॥

"शिलाबुद्धिः कृता किंवा प्रतिमायां हरेर्मया ।
किं मया पथि दृष्टस्य विष्णुभक्तस्य कर्हिचित् ॥२४६॥
तन्मुद्राङ्कितदेहस्य चेतसा नादरः कृतः ।
येन कर्म्मविपाकेन पुत्रशोको ममेदृशः ॥२४७॥ इति ।

अर्थात् मैंने कभी भी क्या श्रीहरि की प्रतिमा में शिला बुद्धि की है । किंवा पथ के मध्य में भगवद् भक्त समुचित हरिनामाक्षर शङ्ख चक्रादि चिह्नाङ्कित विष्णु भक्त को देखकर क्या मैंने कभी मनसे अनादर किया है ? जिस कर्म फल से मेरा यह पुत्रशोक उपस्थित हुआ । शास्त्र में और भी वर्णित है—

"अर्च्च्ये विष्णौ शिलाधीर्गुरुषु नरमतिर्वैष्णवे जातिबुद्धिः
र्विष्णोर्वा वैष्णवानां कलिमलमथने पादतीर्थेऽम्बुबुद्धिः ।
शुद्धे तन्माम्नि मन्त्रे सकलकलुषहे शब्दसामान्यबुद्धि–
र्विष्णौ सर्व्वेश्वरेशे तदितरसमधीर्यस्य वै नारकी सः ॥"२४८॥

तस्य च मूढ़स्य मदृष्टचभावात् सर्व्वभूतावज्ञापि भवति । ततस्तद्दोषेण भस्मनि यथा जुहोति कश्चित् तथा तस्याश्रद्दधानस्य फलाभाव इत्यर्थः । (गी० १७।१) "ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः" इत्यादुयक्तरीत्या लोकपरम्परा-मात्रजात-यत्किञ्चिच्छ्रद्धासद्भावे तु कनिष्ठ-भागवतत्वमेव, (भा० ११।२।४७) –

"अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते ।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः ॥"२४९॥

"अच्चर्ये विष्णौ शिलाधीर्गुरुषु नरमतिर्वैष्णवे जातिबुद्धि–
र्विष्णोर्वा वैष्णवानां कलिमलमथने पादतीर्थेऽम्बुबुद्धिः ।
शुद्धे तन्नाम्नि मन्त्रे सकलकलुषहे शब्दसामान्यबुद्धि-
र्विष्णौ सर्व्वेश्वरेशे तदितरसमधीर्यस्य वै नारकी सः ॥"२४८॥

जो मानव श्रीविष्णु प्रतिमा में शिलाबुद्धि करता है । श्रीभगवन् मन्त्रोपदेष्टा वा भजन शिक्षादाता श्रीगुरुवर्ग में साधारण मनुष्य बुद्धि करता है, वैष्णव में जाति बुद्धि करता है । विष्णु अथवा वैष्णव वृन्द के कलिमलमथनकारी चरणामृत में साधारण जलबुद्धि करता है, परम पवित्र सकलपाप हारी भगवन्नाम एवं मन्त्र में साधारण शब्द बुद्धि करता है, सर्वेश्वर गण के द्वारा आराध्यपदारविन्द श्रीविष्णु में सामान्य देवता बुद्धि करता है, वह व्यक्ति, निश्चय ही नारकी है । एतादृश मूर्ख की भगवत् प्रतिमा में भगवद् दृष्टि न होने के कारण, सर्व भूत के प्रति अवज्ञा होती रहती है । अतएव सर्व भूतावज्ञादोष के कारण, भस्म में आहुति प्रदान करने पर जिस प्रकार निष्फल होता है, उस प्रकार शास्त्रीय श्रद्धाविहीन व्यक्ति के द्वारा अनुष्ठित भगवत् प्रतिमा पूजा से भी फललाभ नहीं होता है । भगवद् गीता के १७।१ में उक्त है—

"ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण ! सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥"

टीका—ननु आसुरसर्गमुक्त्वा तदुपसंहारे "यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामचारतः । न स सिद्धि-मवाप्नोति न सुखं न परां गतिं ॥" इति त्वयोक्तं तत्राहमिदं जिज्ञासे इत्याह ये इति, ये शास्त्र विधि-मुत्सृज्य काम चारतो वर्त्तन्ते किन्तु काम भोग रहिताएव श्रद्धयान्विताः सन्तो यजन्ते, तपोयज्ञज्ञानयज्ञ जप यज्ञादिकं कुर्वन्ति । तेषां का निष्ठा का स्थितिः, किमालम्बनमित्यर्थः । तत् किं सत्त्वं, आहोस्वित् रजः, अथवा तमः, तत् ब्रूहीत्यर्थः ।

हे कृष्ण ! जो लोक, शास्त्र विधि परित्याग पूर्बक लौकिक श्रद्धायुक्त हृदय से उपासना करते हैं, उनकी वह निष्ठा, सात्त्विकी, राजसी अथवा तामसी है ? इत्यादि प्रमाण से लोक परम्परारीति से यदि प्रतिमा पूजन में किञ्चित् श्रद्धा होती है तो, वह कनिष्ठ भागवत लक्षण में पर्य्यवसित होता है । कारण, भा० ११।२।४७ में उक्त है

"अर्च्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते ।
न तदभक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः ॥२४९॥

इत्युक्तेः, यद्यपि यथाकथञ्चिद्भजनस्यैवावश्यं फलावसानतास्त्येव, तथापि झटिति न भवतीत्येव। तथोक्तं वक्ष्यते च साफल्यम् (भा० ३।२९।२५) --"अर्च्चादावर्च्चयेत्तावत्" इत्यादिना। अवज्ञामात्रस्य तादृशत्वे सुतरान्तु (भा० ३।२९।२३) —

"द्विषतः परकाये मां मानिनो भिन्नदर्शिनः।
भूतेषु बद्धवैरस्य न मनः शान्तिमृच्छति।।"२५०।।

भिन्नदर्शिनः सर्व्वत्रान्तर्याम्येकत्वदृष्टिरहितस्य, सर्व्वतोऽत्यन्तमेव विलक्षणः श्रीमान् व्रजसार्व्वभौमनन्दनस्तं न पश्यत्यभिन्नदर्शी, तस्येत्यर्थः। अतएव मानिनः, अतएव बद्धवैरस्य च। तथा च महाभारते,—

टीका—अर्च्चायां— प्रतिमायां, पूजामीहते- करोति, न तद् भक्तेषु अन्येषु च सुतरां करोति। प्राकृतः--प्रकृतप्रारम्भः। अधुनैव प्रारब्ध भक्तिः, शनैरुत्तमो भविष्यतीत्यर्थः।।

जो मानव, श्रीहरि सन्तोषार्थ श्रद्धायुक्त हृदय से प्रतिमा में ही पूजा करता है, अथच भगवद् भक्त वृन्द के प्रति अथवा साधारण जीववृन्द के प्रति सम्मान आदर बुद्धि नहीं करता है, वह प्राकृत भक्त है, अर्थात् उस का भक्ति मार्ग में प्रवेश सम्प्रति ही हुआ है। अर्थात् लौकिकी श्रद्धायुक्त भगवत् प्रतिमा सेवक को कनिष्ठ भागवत मानना होगा। यहाँ 'श्रद्धा' शब्द से लौकिकी श्रद्धा को जानना होगा। शास्त्र तात्पर्य्य अवधारण जनित श्रद्धा होने पर भगवद् भक्त एवं प्राणिमात्र के प्रति आदर बुद्धि होती। इस प्रकार कनिष्ठ भागवत भी श्रीगुरुपादाश्रय पूर्वक भागवद् धर्माध्ययन करने पर समय पर उक्त भागवत में परिगणित हो सकता है।

यद्यपि यथा कथञ्चित् भजन से भी अवश्य फललाभ होता है, तथापि प्राणि मात्र के प्रति आदर बुद्धि न होने से सत्वर फल लाभ नहीं होता है। भा० ३।२९।३५ में उक्त है—

"अर्च्चादावर्च्चयेत् तावदीश्वरं मां स्वकर्मकृत्।
यावन्न वेद स हृदि सर्वभूतेष्ववस्थितम्।।

टीका—तर्हि किम् अर्च्चादावर्च्चनमनर्थकमेव? नेत्याह--अर्च्चादाविति सर्वभूतेष्ववस्थितं मां स्वहृदि यावन्न वेदो स्वकर्मकृत्—स्वकर्माविरोधेन। यथावकाशम्। अनेन कर्मनिष्ठाया अपि स एवावधिरित्युक्तं भवति।

जब तक निज हृदय में एवं सर्वभूतों में अन्तर्य्यामिरूप में अवस्थित परमेश्वर का अनुभव नहीं होता है, तब तक निज वर्णाश्रमोचित धर्माचरण के अविरोध से प्रतिमा में मेरो अर्च्चना करनी चाहिये। इससे प्रतिमा पूजा का साफल्य वर्णित हुआ है। जब अवज्ञा ही एतादृश दोषावह है, तब सर्वभूतों में द्वेषभाव कितना दोषा वह है, वह अवर्णनीय है।। भा० ३।२९।२३ में श्रीकपिल देवने कहा है—

"द्विषतः परकाये मां मानिनो भिन्न दर्शिनः।
भूतेषु बद्ध वैरस्य न मनः शान्तिमृच्छति।।"२५०।।

'भिन्नदर्शिनः'—शब्द से सर्वत्र अन्तर्य्यामी अवस्थित होने पर जो एकत्व दृष्टि है, उस प्रकार एकत्व दृष्टि रहित को जानना होगा। एवं सव प्रकार से अत्यन्त ही विलक्षण श्रीव्रजसार्वभौमनन्दन श्रीकृष्ण हैं, उनको विशेष रूप से नहीं देखता है, अर्थात् अभिन्न रूप से ही देवता है। उसकी मानसिक शान्ति नहीं होती है। अर्थात् जो लोक, समस्त भूतों में अन्तर्य्यामी रूप में मैं विद्यमान हूँ। इस प्रकार एकत्व दृष्टि

'पितेव पुत्रं करुणो नोद्वेजयति यो जनम्। विशुद्धस्य हृषीकेशस्तस्य तूर्णं प्रसीदति ॥२५१॥ इति।

किञ्च, (भा० ३।२९।२४) —

"अहमुच्चावचैर्द्रव्यैः क्रिययोत्पन्नयानघे।
नैव तुष्येऽर्चितोऽर्चायां भूतग्रामावमानिनः ॥"२५२॥

अवमानिनो निन्दाकर्त्तुः, निन्दापि द्वेषसमा, किंवा (भा० ११।२३।३) —

"न तथा तप्यते विद्धः पुमान् बाणैर्हि मर्म्मगैः।
यथा तुदन्ति मर्म्मस्था ह्यसतां परुषेषवः ॥"२५३॥

इत्युक्तरीत्या ततोऽधिकेति, नायं व्युत्क्रम इत्यभिप्रेत्य न द्वेषात् पूर्व्वमसौ पठिता।

सम्पन्न नहीं होता है, एवं धार्मिक अभिमानापन्न होकर अभिमानी होता है, उस से प्राणि मात्र के प्रति द्वेष भाव भी पुष्ट होता है, उसकी मानसिक शान्ति कभी भी नहीं होता है। महाभारत में उक्त कथन के अनुरूप कथन है—

"पितेव पुत्रं करुणो नोद्वेजयति जो जनम्।
विशुद्धस्य हृषीकेश स्तस्य तूर्णं प्रसीदति" ॥२५१॥

पुत्र के प्रति करुण पिता माता के तुल्य जो व्यक्ति किसी को उद्वेग प्रदान नहीं करता है, उस पवित्र हृदय भक्त के प्रति भगवान् हृषीकेश अति सत्वर प्रसन्न होते हैं। इस से प्रतीत होता है कि—प्राणि मात्र को उद्वेग प्रदान कारी व्यक्ति के प्रति भगवान् सत्वर प्रसन्न नहीं होते हैं। भा० ३।२९।२४ में श्रीकपिल देवने कहा भी है--

"अहमुच्चावचैर्द्रव्यैः क्रिययोत्पन्नयानघे।
नैव तुष्येऽर्चितोऽर्चायां भूतग्रामावमानिनः ॥"२५२॥

टीका—द्रव्यैरुत्पन्नया क्रियया। भूतग्रामावमानिनः—तन्निन्दकस्य।

अयि पवित्र स्नेह मयि जननि! प्रचुरतर गुण सम्पन्न अनेकानेक द्रव्य द्वारा अनुष्ठित क्रिया के द्वारा प्रतिमा में अर्चित होकर भी प्राणी मात्र की निन्दा कारी व्यक्ति के प्रति मैं कदापि प्रसन्न नहीं होता हूँ। इस निन्दा को द्वेष के समान हो जानना होगा। 'अवमानिनः' शब्द का अर्थ निन्दुक है। अथवा भा० ११।१३।३ उक्त है—

"न तथा तप्यते विद्धः पुमान् बाणैर्हि मर्म्मगैः।
यथा तुदन्ति मर्म्मस्था ह्यसतां परुषेषवः ॥"२५३॥

टीका—कुत इत्यत आह—नेति। यथा मर्म्मस्था-मर्म्मस्वेव नित्यं स्थिताः। परुषोक्ति रूपा इषवस्तुदन्ति व्यथयन्ति, तथा इतरे वाणा न तुदन्ति। अतस्तैस्तथा न तप्यते—इत्यर्थः॥

भगवदुक्ति के अनुसार द्वेष से निन्दा में दुःखाधिक्य होता है। अतएव कपिलदेव के वाक्य में द्वेष का वर्णन करने के बाद ही निन्दा का प्रसङ्ग हुआ है, उस से क्रमभङ्ग दोष नहीं हुआ है। कारण, द्वेष से भी निन्दा अत्यन्त दुःखदायी है। यहाँ का अभिप्राय यह है कि—सर्वत्र ईश्वर बुद्धि न होने के कारण, भक्ति में अश्रद्धालु व्यक्ति के पक्ष में भूतमात्र के प्रति आदर शून्य होकर श्रीभगवत् प्रतिमा में पूजन करने से दोषोल्लेख हुआ है। अनन्तर भक्ति श्रद्धा का आविर्भाव के हेतु रूप सर्वत्र ईश्वर बुद्धि के कारण रूप में स्वधर्म युक्त होकर श्रीभगवत् प्रतिमा में अर्च्चन करने का उपदेश दिया गया है। सर्व भूत में अनादर आचरण होने पर भी "श्रीभगवत् प्रतिमा अर्च्चन की अव्यर्थता स्वीकृत हुई है। अर्थात् वर्णाश्रमोचित धर्म

तदेवमीश्वर-ज्ञानाभावाद्भक्तावश्रद्दधानस्य दोष उक्तः। अथ तच्छ्रद्धाहेतु-तज्ज्ञानस्य स्वधर्म्म संयुक्त तदर्च्चनमेव कारणमुपदिशंस्तादृशार्च्चनस्याप्यव्यर्थतामङ्गीकरोति (भा० ३।२६।२५

"अर्च्चादावर्च्चयेत्तावदीश्वरं मां स्वकर्म्मकृत्।
यावन्न वेद स्वहृदि सर्व्वभूतेष्ववस्थितम्॥" २५४॥

तावदेव स्वकर्म्मकृत् सन्नर्च्चादावर्च्चयेद्यावत् सर्व्वभूतेष्ववस्थितमीश्वरं मां न वेद, न जानाति अत्र स्वकर्म्म-सहायत्वमजातश्रद्धस्य, शुद्धभक्तावनधिकारात्। तत् प्रतिपादयिष्यते (भा० ११।२०।२७)—"जातश्रद्धो मत्कथासु" इत्यादिना। अतो भगवज् ज्ञानादूर्द्ध्वं जात-श्रद्धस्तु स्वकर्म्मकृन् सन् न अर्च्चयेत्, किन्तु शुद्धमर्च्चादिकमेव कुर्व्वीतेत्यायातम्। तच्च

प्रति पालन पूर्वक श्रीभगवत् प्रतिमा की पूजा करते करते क्रमशः भक्ति में श्रद्धा होती है एवं सर्वत्र भगवत् सत्ता की उपलब्धि भी हो सकती है। इस अभिप्राय से ही भा० ३।२६।२५ में लिखित हुआ है—

" अर्च्चादावर्च्चयेत्तावदीश्वरं मां स्वकर्म्मकृत्।
यावन्न वेद स्वहृदि सर्व्वभूतेष्ववस्थितम्॥" २५४॥

टीका—तर्हि किं अर्च्चादावर्च्चनमनर्थकमेव? नेत्याह—अर्च्चादाविति। सर्वभूतेष्ववस्थितं मां स्वहृदि यावन्न वेद। स्वकर्मकृत् कर्माविरोधेन। यथावकाशम्। अनेन कर्म निष्ठाया अपि स एवावधिरित्युक्तं भवति॥"

अजातश्रद्ध व्यक्ति के पक्ष में शुद्धा भक्ति में अधिकार न होने के कारण, वर्णाश्रमाचार सम्बलित होकर प्रतिमा में अर्च्चन की व्यवस्था दी गई है। तब तक ही वह व्यक्ति प्रतिमा में अर्च्चना करे—जब सर्वत्र ईश्वर अवस्थित हैं, इसका परिज्ञान नहीं होता है। भक्ति में अजातश्रद्धव्यक्ति का अधिकार शुद्धा भक्ति में नहीं है, अतः वर्णाश्रमाचार सम्बलित होकर प्रतिमा अर्चन का आदेश दिया गया है। अभिप्राय यह है कि—जो व्यक्ति श्रीकृष्ण कथा में जातश्रद्ध है, एवं समस्त काम्य कर्मानुष्ठान में दोष दृष्टि होने के कारण–उस के अनुष्ठान के प्रति अलंबुद्धि युक्त भी हुआ है। अथच निखिल विषय भोग को दुःखात्मक जानकर भी उसको परित्याग करने में अक्षम है। इस प्रकार अवस्था प्राप्त करने के पश्चात् प्रीति युक्त मानस से वह व्यक्ति एक मेरा 'श्रीकृष्ण का' भजन करेगा। इस का प्रति पादन भा० ११।२०।२१ में उक्तहै-

"जातश्रद्धो मत् कथासु निर्विण्णः सर्वकर्म्मसु।
वेद दुःखात्मकान् कामान् परित्यागेऽप्यनीश्वरः॥"

टीका—भक्त्यधिकारिणो भक्ति योगमाह जातश्रद्ध इति नवभिः। मत्कथासु जातश्रद्धः, अतएव अन्येषु कर्म्मसु निर्विण्णः, उद्विग्नो, नतु तत् फलेषु विरक्तः, तदाह—वेदेति। यद्यपि वेद, तथापि तत् परित्यागेऽनीश्वरोऽशक्तः।

अतएव समस्त भूतों में श्रीभगवान् की सत्ता की उपलब्धि करने के पश्चात् श्रद्धावान् भक्त, स्वधर्माचार युक्त होकर प्रतिमा का अर्चन न करे, किन्तु वर्ण एवं आश्रम धर्मको परित्याग कर अर्च्चनादि भक्त्यङ्ग का अनुष्ठान करे। इस का प्रतिपादन भा० ११।२०।९ में हुआ है—

"तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथा श्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥"

टीका—सार्वधि कर्म योगमाह तावदिति—नवभिः। कर्माणि नित्यनैमित्तिकानि। यावता--यावत्।

प्रतिपादयिष्यते (भा० ११।२०।९) --"तावत् कर्म्माणि कुर्व्वीत" इत्यादिना, न त्वर्च्चां परित्यजेदित्यर्थः,—

"प्रतिष्ठिताच्चा न त्याज्या यावज्जीवं समच्चयेत् । वरं प्राणपरित्यागः शिरसो वापि कर्त्तनम् ।।"२५५।

इति हयशीर्षपञ्चरात्रे-विरोधात् ।

अथ स्वधर्म्मपूर्व्वकमर्च्चनं कुर्व्वंश्च भूतदयां विना न सिध्यतीत्याह (भा० ३।२९।२६) —

"आत्मनश्च परस्यापि यः करोत्यन्तरोदरम् ।
तस्य भिन्नदृशो मृत्युर्विदधे भयमुल्वणम् ।।"२५६।।

अन्तरोदरमुदरभेदेन भेदं करोति, न तु मदधिष्ठानत्वेनात्मसमं पश्यति, ततश्च क्षुधितादिकमपि दृष्ट्वा स्वोदरादिकमेव केवलं बिभर्त्तीत्यर्थः, तस्य भिन्नदृशो मृत्युरूपोऽहमुल्वणं भयं संसारम् । निगमयति (भा० ३।२९।२७) —

"अथ मां सर्व्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम् ।
अर्च्चयेद्दान-मानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा ।।"२५७।।

यावत् पर्य्यन्त भक्त साधक में भगवत् कथादि में श्रद्धा का उदय नहीं होता है, एवं ज्ञानी में ऐहिक-पारलौकिक सुख भोग के प्रति वितृष्णा का उदय नहीं होता है, तावत काल पर्य्यन्त भक्त एवं ज्ञानी—उभय व्यक्ति को ही वर्णाश्रमोचित कर्माचरण करना चाहिये । श्रीकृष्ण ने इसका प्रति पादन उक्त भा० ११।२०।९ में किया है । किन्तु किसी अवस्था में भी श्रीभगवद्विग्रह की अर्च्चना को परित्याग न करे । कारण—हयशीर्ष पञ्चरात्र के विधान के सहित विरोध उपस्थित होगा । हयशीर्ष पञ्चरात्र में उक्त है—

प्रतिष्ठिताच्चा न त्याज्या यावज्जीवं समच्चयेत् ।
वरं प्राणपरित्यागः शिरसो वापि कर्त्तनम् ।।"२५५।।

अर्थात् प्राण परित्याग अथवा मस्तक छेदन होने पर भी प्रतिष्ठित श्रीभगवन्मूर्त्ति पूजा को परित्याग न करे । जीवन जब तक है, तब तक श्रीविग्रह पूजा करे । इस वचन के सहित विरोध उपस्थित होने के कारण, प्रतिमा पूजा का त्याग कभी भी नहीं करना चाहिये । अनन्तर स्वधर्मानुष्ठान पूर्वक प्रतिमा पूजा करने पर भी यदि प्राणिमात्र के प्रति दया का उद्रेक नहीं होता है तो, उस पूजानुष्ठान से मनोरथ सिद्ध नहीं होता है भा० ३।२९।२६ में श्रीकपिल देव ने कहा है—

"आत्मनश्च परस्यापि यः करोत्यन्तरोदरम् ।
तस्य भिन्नदृशो मृत्युर्विदधे भयमुल्वणम् ।।"२५६।।

टीका—अन्तरा—अन्तरं भेदम्, उत् अपि, अरम्—अल्पम्, अल्पमपि भेदं यः पश्यतीत्यर्थः । यद्वा, अन्तरा मध्ये, उदरं उदरं, शरीरम् । मृत्युरहम्, तस्य भयं विदधे करोमि ।

जो मानव, निज एवं अपर के उदर के भेद से भेद बुद्धि करता है, किन्तु सर्व भूत में मैं विद्यमान हूँ, इस प्रकार दृष्टि से आत्मसम नहीं देखता है, तज्जन्य अपर को क्षुधार्त्त अथवा पिपासार्त्त देखकर भी केवल निज उदर पूरण ही करता है, अर्थात् अपर को क्षुधार्त्त देखकर भी उसको भोजन देकर केवल निज उदर पूरण करता है, उस भिन्न दृष्टि मानव के प्रति मैं मृत्यु मूर्त्ति धारण कर जन्म मरण स्वभावाक्रान्त संसार प्रदान करता रहता हूँ । अनन्तर भा० ३।२९।२७ स्थित कपिल देव के वाक्य के द्वारा उपसंहार करते हैं--

अथ--अतो हेतोः, यथायुक्तं यथाशक्ति दानेन तदभावे मानेन च, 'अभिन्नेन चक्षुषा' इति पूर्व्ववत्। तथोक्तं सनकादीन् प्रति श्रीवैकुण्ठदेवेन (भा० ३।१६।१०) "ये मे तनूर्द्विजवरान् दुहतीर्मदीया, भूतान्यलब्धशरणानि च भेदबुद्धया" इत्यादि, यद्वा, भिन्नेन चक्षुषाऽन्यत्र या दृष्टिस्ततोऽतिविलक्षणया दृष्ट्या सर्व्वोत्कृष्टदृष्टेत्यर्थः। तत्र सर्व्वेषां साधारण्येनैवार्हणे प्राप्ते विशेषयति (भा० ३।२९।२८-३३)—

"जीवाः श्रेष्ठा ह्यजीवानां ततः प्राणभृतः शुभे।
ततः सचित्ताः प्रवरास्ततश्चेन्द्रियवृत्तयः ॥२५८॥

"अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम्।
अर्च्चयेद्दानमानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा॥"२५७॥

टीका—अथ, अतः सर्वभूतेषु कृतालयम्---कृतावासम्। अत्र हेतुः, भूतानामात्मानम्—अन्तर्यामिणम्, अभिन्नेन चक्षुषा, समदर्शनेन॥

अतएव अन्तर्यामी दृष्टि से सर्वभूत में अवस्थित मुझ को यथा शक्ति दान देकर असमर्थ पक्ष में केवल सम्मान प्रदान कर, मित्र भाव से एवं अभिन्न दृष्टि से प्राणिमात्र को सम्मान प्रदान करना चाहिये। मूल श्लोक में प्रयुक्त 'अथ' शब्द—हेत्वर्थ वाची है। उस प्रकार श्री वैकुण्ठदेव भी भा० ३।१६।१० में श्रीसनकादिक के प्रति कहे थे—

"ये मे तनूर्द्विजवरान् दुहतीर्मदीया
भूतान्य लब्ध शरणानि च भेद बुद्धया।
द्रक्षन्त्यघक्षतदृशो ह्यहिमन्यवस्तान्
गृध्रा रुषा मम कुशन्त्यधि दण्डनेतुः॥"

टीका—किञ्च मे तनूः अधिष्ठानानि। कास्ताः? द्विजवरान्, दुहतीः, दोग्ध्री गाः, इत्यर्थः। दुहितृरिति पाठेऽपि गा एव विष्णुरूपात् सूर्य्यात् उत्पन्नत्वात् सूर्य्य सुताश्च गाव, इति वचनात्। अलब्ध शरणानि–रक्षक हीनानि, भेद बुद्धया मदधिष्ठानं न भवन्तीति, पृथग् दृष्ट्या ये द्रक्ष्यन्ति–ईक्षन्ते। अघेन क्षता नष्टा दृष्टि र्येषां तान्। मदीयोऽधिकृतो दण्डनेता यो यमः तस्य गृध्राकारा ये दूताः। अहिवत् मन्युर्येषां ते रुषा क्रोधेन कुशन्ति चञ्चुभि श्छिन्दन्ति॥

घोरतर पापों से नष्ट दृष्टि, एवं सर्पतुल्य कोपन स्वभाव जन गण, मेरे अधिष्ठान स्वरूप ब्राह्मण वृन्द को एवं विष्णु मूर्त्ति सूर्य्य से समुत्पन्न धेनुवृन्द को एवं निराश्रय प्राणीवृन्द को भेद बुद्धि से देखते रहते हैं। उन सब को पापी गणों के दण्डकर्त्ता यमराज के गृध्र तुल्य किङ्करगण क्रोधाविष्ट होकर चञ्चु के द्वारा भीषण आघात करते हैं। इत्यादि प्रमाण से भगवदधिष्ठान स्वरूप गो ब्राह्मण एवं निराश्रय प्राणी वृन्दमात्र का अनादर कारी के प्रति गुरुतर अपराध जनित यमदण्ड का विधान वर्णित हुआ है। अथवा,—भगवान् कपिल देव कर्त्तृक कथित "मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा" वाक्य का अर्थ है—भिन्न चक्षु से सम्मान करना चाहिये। अर्थात्, अन्यत्र जिस दृष्टि से व्यवहार किया जाता है, उस से अति विलक्षण सर्वोत्कृष्ट समान जनक दृष्टि से उन सब को आदर प्रदान करे। इस प्रकार अर्थ समझना होगा।

वहाँपर समस्त प्राणीवृन्द के सम्बन्ध में साधारण रूप से अर्च्चन विहित होने पर भी उक्त प्राणी वृन्द के मध्य में जिस में जिस प्रकार वैशिष्ट्य विद्यमान है--भगवान् कपिल देव उसका वर्णन किये हैं—(भा० ३।२९।२८--३३)

तत्रापि स्पर्शवेदिभ्यः प्रवरा रसवेदिनः ।
तेभ्यो गन्धविदः श्रेष्ठास्ततः शब्दविदो वराः ॥१५९॥
रूपभेदविदस्तत्र ततश्चोभयतोदतः ।
तेषां बहुपदः श्रेष्ठाश्चतुष्पादस्ततो द्विपात् ॥२६०॥
ततो वर्णाश्च चत्वारस्तेषां ब्राह्मण उत्तमः ।
ब्राह्मणेष्वपि वेदज्ञो ह्यर्थज्ञोऽभ्यधिकस्ततः ॥२६१॥
अर्थज्ञात् संशयच्छेत्ता ततः श्रेयान् स्वधर्म्मकृत् ।
मुक्तसङ्गस्ततो भूयानदोग्धा धर्म्ममात्मनः ॥२६२॥
तस्मान्मय्यर्पिताशेषक्रियार्थात्मा निरन्तरः ।
मय्यर्पितात्मनः पुंसो मयि संन्यस्तकर्म्मणः ।
न पश्यामि परं भूतमकर्त्तुः समदर्शनात् ॥"२६३॥ इति ।

पूर्व्वपूर्व्वस्मादुत्तरोत्तरस्मिन्नेकैक-गुणाधिक्येनाधिक्यम् । धर्म्ममदोग्धा निष्कामकर्म्मा,

---

"जीवाः श्रेष्ठा ह्यजीवानां ततः प्राणभृतः शुभे ।
ततः सचित्ताः प्रवरास्ततश्चेन्द्रियवृत्तयः ॥२५८॥
तत्रापि स्पर्शवेदिभ्यः प्रवरा रसवेदिनः ।
तेभ्यो गन्धविदः श्रेष्ठास्ततः शब्दविदो वराः ॥२५९॥
रूपभेदविदस्तत्र ततश्चोभयतोदतः ।
तेषां बहुपदः श्रेष्ठाश्चतुष्पादस्ततो द्विपात् ॥२६०॥
ततो वर्णाश्च चत्वारस्तेषां ब्राह्मण उत्तमः ।
ब्राह्मणेष्वपि वेदज्ञो ह्यर्थज्ञोऽभ्यधिकस्ततः ॥२६१॥
अर्थज्ञात् संशयच्छेत्ता ततः श्रेयान् स्वधर्म्मकृत् ।
मुक्तसङ्गस्ततो भूयानदोग्धा धर्म्ममात्मनः ॥२६२ ।
तस्मान्मय्यर्पिताशेषक्रियार्थात्मा निरन्तरः ।
मय्यर्पितात्मनः पुंसो मयि संन्यस्तकर्म्मणः ।
न पश्यामि परं भूतमकर्त्तुः समदर्शनात् ॥"२६३॥ इति ।

टीका—तथापि यथोत्तरं मानाद्यतिशयः कार्य्य इति वक्तुं तारतम्यमाह—जीवा इति सार्द्धैः षड्भिः । अजीवानामचेतनेभ्यः । ततस्तेऽभ्योऽपि प्राणभृतः प्राण वृत्तिमन्तः । सचित्ताः—ज्ञानवन्तः । इन्द्रियाणां वृत्तयो येषु वृक्षाणामपि सूक्ष्मा इन्द्रियाणां वृत्तयः सन्त्येव । तथाहि महाभारते मोक्षधर्मेषु स्मर्य्यते—तस्मात् पश्यन्ति पादपाः, तस्माज्जिघ्रन्ति पादपा इति । २८। प्रभूता तरुषु स्पर्शनेन्द्रिय वृत्तिरेव, अतस्तेभ्यः स्पर्श वेदिभ्यः रस वेदिनो मत्स्यादयः श्रेष्ठाः । गन्धविदो—भ्रमरादयः । शब्दविदः सर्पादयः । २९। रूपभेदविदः काकादयः । उभयतो दन्ता येषाम् । अपादेभ्यस्तेभ्यो बहुपदाः तेभ्यश्चतुष्पाद इत्यर्थः । ततो द्विपान्मनुष्यः ३० । ततस्तेषु वर्णाः ॥३१।

संशयच्छेत्ता मीमांसकः । ततोऽपि केवल स्वधर्म कृत् । मुक्त सङ्गस्य लक्षणम्—आत्मनो धर्ममदोग्धा निष्काम इत्यर्थः ।३२। अर्पिता अशेषः क्रिया अर्थ स्तत् फलानि आत्मा देहश्च येन । अतएव निरन्तरः

निरन्तरो ज्ञानाद्यव्यवहित--भक्तिः। अकर्त्तुरर्पितात्मत्वेन स्वभरणादि कर्म्मानपेक्षमाणाद् यद्भगवति भक्तिः क्रियते, तत्रापि स्वस्य भगवदधीनत्वं ज्ञात्वा तदभिमानशून्याच्च, समदर्शनाद्भगवदधिष्ठानतासाम्येनात्मवत् परेष्वपि हितमाशंसमानात्। 'जीवाः श्रेष्ठा ह्यजीवानाम्' इत्यादिना भेदो हि विवक्षितः। ततो मद्भक्तेष्वेवादरबाहुल्यादिकं कर्त्तव्यम्, अन्यत्र तु यथाप्राप्तं यथाशक्ति चेति भावः। तथैवोक्तम् (भा० ३।२९।३४) —

"मनसैतानि भूतानि प्रणमेद्बहु मानयन्।

अव्यवहितः, अकर्त्तुः कर्त्तृत्वाभिमान शून्यात्।३३। जीवानां कलया परिकलनेन अन्तर्य्यामितया प्रविष्ट इति दृष्ट्येत्यर्थः।।३४।।

अर्थात् अचेतन पदार्थ से सचेतन पदार्थ, उससे बोध शक्ति युक्त, उस से इन्द्रिय वृत्ति युक्त, उस के मध्य में स्पर्शवेदी, उस से रसज्ञ, उससे शब्दज्ञ, उससे रूप भेदज्ञ उससे मुख के निम्न एवं ऊर्द्ध्व में दन्त विशिष्ट, उस के मध्य में बहुपद, उस से चतुष्पद, उससे द्विपद मनुष्य, उस के मध्य में ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र वर्णचतुष्टय, उस के मध्य में ब्राह्मण श्रेष्ठ है, ब्राह्मण के मध्य में वेदज्ञ, वेदज्ञ के मध्य में वेदतात्पर्य्याभिज्ञ अधिक श्रेष्ठ है, उस से संशयच्छेत्ता, उस से स्वधर्माचरणकारी श्रेष्ठ है, तन्मध्य में निष्काम धर्माचरण कारी श्रेष्ठ है, उस से जो व्यक्ति, ज्ञानादि साधन के प्रति आदर न करके अशेष क्रिया एव क्रिया फल भगवान् को अर्पण करता है, वह भक्त, श्रेष्ठ है। हे मङ्गल मूर्त्ति जननि। जो व्यक्ति मुझ में सर्व प्रकार से आत्म समर्पण किया है एवं निज देह भरण पोषण निमित्त प्रयत्न न करके एक मात्र भगवान् मुझ में भक्ति करता है। एवं सर्वभूत में भगवदधिष्ठान बोध से अपने के समान हिताकाङ्क्षी है, उस प्रकार भक्त से अपर कोई प्राणी श्रेष्ठ नहीं हैं।

पूर्व पूर्व शरीरों से उत्तरोत्तर शरीरों का श्रेष्ठत्व एक एक गुणाधिक्य से है। अर्थात् ज्ञान विकाश के तारतम्य से ही कनिष्ठ एवं उत्तम भेद निरूपित हुआ है। धर्म्मदोग्धा— शब्द का अर्थ है, धर्माचरण के विनिमय से अपर वस्तु ग्रहण न करना। अर्थात् भोग प्राप्ति के निमित्त त्याग न करना अर्थात् निष्काम कर्म्म। निरन्तर शब्द का अर्थ है— मुक्ति हेतु ज्ञानादि के द्वारा अव्यवहित भक्ति होना आवश्यक है। अकर्त्तुः—का अर्थ है, भगवदर्पितात्मा होने के कारण, निज पालन पोषणादि निमित्त प्रयत्न शून्या अर्थात् भगवर्दपितात्मा होकर केवल भगवत् परिचर्य्या में ही अभिनिविष्ट होना चाहिये। उसमें भी अपने को भगवदधीन अर्थात् दास स्वरूप जानकर ही भगवत् परिचर्य्या करे। इस में भी निज कर्त्तृत्व अभिमान शून्य होना चाहिये। समदर्शन शब्द का अर्थ है—सर्वत्र भगवत् अधिष्ठान रूप समता के कारण जिस प्रकार निज के प्रति शुभाकाङ्क्षी होना पड़ता है, उस प्रकार प्राणी मात्र के प्रति हिताकाङ्क्षी होना कर्त्तव्य है। कथनारम्भ में लिखित है—

"जीवाः श्रेष्ठा ह्यजीवानां ततः प्राणभृतः शुभे।
तत सचित्ताः प्रवरास्ततश्चेन्द्रियवृत्तयः।।"

अर्थात् अजीवों से जीव गण श्रेष्ठ हैं, इस प्रकार ज्ञान विकाश के तारतम्य से ही शरीरधारियों में भेद है। समस्त प्राणीयों से भगवद् भक्त में असमोद्‌र्ध्व ज्ञान का विकाश होता है, अतः भक्त ही श्रेष्ठ है, उक्त भक्त वृन्द के प्रति ही बहुल आदर प्रदान करना अवश्य कर्त्तव्य है। एवं अन्यान्य प्राणीवृन्द के प्रति भी यथा योग्य सम्मान प्रदर्शन करना चाहिये।

उक्त अभिप्राय से ही भगवान् कपिलदेव ने कहा है—

ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति ।।"२६४।। इति ।

जीवकलया तत्तत्कलनया तदन्तर्यामितयेत्यर्थः । अत्र (गी० ६।२६) "समोऽहम्" इत्यादि-गीतापद्यमपि स्मर्त्तव्यम् । तदेवं प्रथमोपासकानां सर्व्वभूतादरो विहितः । सश्रद्धसाधकानान्तु भगवद्वैभव-सार्व्वत्रिकता-स्फूर्त्या भवत्येवासौ । यथोक्तं स्कान्दे—

"एते न ह्यद्भुता व्याध तवाहिंसादयो गुणाः । हरिभक्तौ प्रवृत्ता ये न ते स्युः परतापिनः ।।"१६५।।

इति वक्ष्यमाणरीत्या शुद्धबन्धुत्वादि-भावसाधकानामपि बन्धुभावसिद्ध-श्रीगोकुलवास्यादि-शीलानुसरणेन तादृश-भगवद्गुणानुसरणेन चासौ जायते । जातभावानां त्वहिंसा चोपरमश्च स्वीय एव स्वभावः । यथा (भा० ११।१८।२२) —

"यत्रानुरक्ताः सहसैव धीरा, व्यपोह्य देहादिषु सङ्गमूढ़म् ।
व्रजन्ति तत् पारमहंस्यमन्त्यं, यस्मिन्नहिंसोपरमः स्वधर्म्मः ।।"२६६।।

"मनसैतानि भूतानि प्रणमेद् बहुमानयन् ।
ईश्वरो जीव कलया प्रविष्टो भगवानिति ।।"२६४।।

टीका—जीवानाम् कलया—परि कलनेन, अन्तर्य्यामितया प्रविष्ट इति दृष्ट्वेत्यर्थः ।।

ईश्वर, प्राणि मात्र में जीवनियामक रूप में प्रविष्ट हैं, इस प्रकार मानस सङ्कल्प करके समस्त प्राणियों को बहु सम्मान पूर्वक मान प्रदान करे । यहाँ ज्ञातव्य यह है कि— उपासना में प्रथम प्रवृत्त साधक के पक्ष में प्राणी मात्र के प्रति आदर भाव रखना होगा । यह अनिवार्य्य विधि है । साधु शास्त्र एवं गुरु-वाक्य में श्रद्धायुक्त साधक के पक्ष में किन्तु सर्वत्र ही भगवद् वैभव बुद्धि होती है, अतः स्वतः ही उनके द्वारा सर्व भूतादर सम्पन्न होता है । स्कन्द पुराण में उक्त है—

एतेन ह्यद्भुता व्याधतवाहिंसादयोगुणाः, ।
हरिभक्तौ प्रवृत्ता ये न ते स्युः परतापिनः ।।"२६५।।

व्याध के प्रति पर्वत मुनि ने कहा—हे व्याध ! तुम्हारे में अहिंसा प्रभृति जो कुछ गुण दिखाई देते हैं, इस से आश्चर्य्यान्वित होने का विषय नहीं है । कारण, जो लोक, हरि भक्ति में प्रवृत्त होते हैं, वे सब दूसरे को उद्वेग प्रदानकारी नहीं होते हैं । इस से हरि भक्तिमें प्रवृत्त व्याध की सर्वत्र भगवद् विभूति स्फूर्त्ति का उदाहरण प्रस्तुत हुआ है । वक्ष्यमाण रीति के अनुसार विशुद्ध बन्धुभावाक्रान्त साधक वृन्द के पक्ष में भी प्राणी मात्र के प्रति प्रियता स्वतः ही उपस्थित होती है । अर्थात् जो लोक श्रीकृष्ण में ईश्वरत्व का अनुसन्धान न करके केवल पुत्र, सखा, प्रिय, स्वरूप विशुद्ध जातीय भाव स्थापन पूर्वक भजन करते हैं, उनके द्वारा अनुष्ठित बन्धुभाव में नित्यसिद्ध श्रीगोकुल वासियों का अनुसरण विद्यमान होने के कारण, सर्वत्र बन्धु भावोचित भगवद् गुणों के अनुसरण हेतु सर्व जीवों में अर्थात् सर्वत्र प्रियता बुद्धि स्वभावतः ही उदित होती है । जिन साधकों में श्रीभगवद् भाव अर्थात् भगवत् प्रीति का उदय हुआ है, उन में किन्तु अहिंसा एवं उपरति स्वरूप-निज असाधारण स्वभाव ही होता है । उस विषय में भा० ११।१८।२२ में श्रीसूत की उक्ति यह हैं—

'यत्रानुरक्ताः सहसैव धीरा, व्यप्योह्य देहादिषु सङ्गमूढ़म् ।
व्रजन्ति तत् पारमहंस्यमन्त्यं, यस्मिन्नहिंसोपरमः स्वधर्म्मः ।।"२६६।।

इत्यनुसारेण परमसिद्धानाञ्च, (भा० ११।२।४५) "सर्व्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः" इत्याद्यनुसारेण सिद्ध एव सः। तत्र साधकानां यत्तु (भा० ४।३१।१४) "यथा तरोर्मूलनिषेचनेन" इत्यादौ तदन्योपासनानां पुनरुक्तत्वमुपलभ्यते, तत् पुनः केवल-स्वतन्त्र-तत्तद्दृष्टोपासनानामेव। अत्र तु तत्तदधिष्ठानक-भगवदुपासनमेव विधीयते। तदादरावश्यकत्वञ्च तत्सम्बन्धेनैव

टीका—धीराः सन्तः। ऊढ़ं—धृतम्। अन्त्यं परमकाष्ठापन्नं, तदाह, यस्मिन्नहिंसा उपशमश्च स्वाभाविको धर्म्मः॥

श्रीभगवान् में अनुरक्त साधुवृन्द देहादि में आसक्ति परित्याग पूर्वक अन्त्य पारमहंस्य पदवी में आरोहण करते हैं। अर्थात् ज्ञानी एवं भगवत भेद से परमहंस पदवी द्विविध हैं। उस के मध्य में श्रीभगवान् में अनुरक्त साधुवृन्द 'अन्त्य पारमहंस्य' पदवी में आरोहण करते हैं। जिस पदवी में आरोहण करने से स्वभाव सिद्ध अहिंसा एवं उपरम उदित होते हैं। इस दृष्टान्त के द्वारा भगवान् में जात रति भक्त वृन्द के अहिंसा एवं उपरति जो स्वभावसिद्ध धर्म हैं, उसका प्रदर्शन हुआ।

परमसिद्ध भागवतवृन्द में उक्त धर्म सिद्ध ही है। भा० ११।२।४५ में वर्णित है—

"सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद् भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥"

टीका—यद्धर्म्म इत्यस्योत्तरमाह त्रयेण, सर्वभूतेष्विति। आत्मनः स्वस्य सर्वभूतेषु ब्रह्मभावेन समन्वयं पश्येत्। तथा ब्रह्मरूपे आत्मनि अधिष्ठाने भूतानि च यः पश्येत्। यद्वा, आततत्वात् प्रमातृत्वादात्मा हि परमो हरिरिति तन्त्रोक्तेरात्मनो हरेः सर्वभूतेषु मशकादिष्वपि नियन्तृत्वेन वर्त्तमानस्य भगवद् भावं निरतिशैश्वर्य्यमेव जो पश्येत्—नतु तस्य तारतम्यम्। तथा आत्मनि हरावेव भूतानि च यः पश्येत्। कथम्भूते? भगवति, अप्रच्युतैश्वर्य्य रूपे। न पुन र्जड़ मलिन भूताश्रयत्वेन जाड्यादि प्रसक्त्या ऐश्वर्य्यादि प्रच्युतिं पश्येत्। स सर्वत्र परिपूर्णं भगवत्तत्त्वं पश्यन् भागवतोत्तम इत्यर्थः।

अर्थात् जो व्यक्ति, चेतन अचेतन सर्वभूत में निज अभीष्ट भगवत् सत्ता का अनुभव करता है, एवं सर्वभूत् को भगवदाश्रित रूप में जानता है। तृतीयतः निज अभीष्ट दास्य, सख्य वात्सल्यादि भगवद् भाव के मध्य में जो भाव है, उस भाव की सत्ता की उपलब्धि चेतन अचेतन प्राणीमात्र में करता है, वह उत्तम भागवत है। इस उक्ति के अनुसार भागवत में सर्वत्र भगवत सत्तादि का अनुभव विद्यमान होने के कारण हिंसादि दृष्टि का अभाव-स्वभावतः ही सिद्ध होता है। उस में भी भा० ४।३१।१४ में वर्णित है—

यथा तरोर्मूल निषेचनेन तृप्यन्ति तत् स्कन्ध भुजोपशाखा।
प्राणोपहाराच्चयथेन्द्रियाणां तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या॥"

टीका—किञ्च नाना कर्मभिस्तत्तद् देवता प्रीति निमित्तान्यपि फलानि हरेः प्रीत्या भवन्ति, केवलं तत्तद् देवताराधनेन तु न किञ्चिदिति सदृष्टान्तमाह तथेति। मूलात् प्रथम विभागाः स्कन्धाः, तद्विभागाः-भुजाः, तेषामपि उपशाखाः, उप लक्षणमेतत्, पत्र पुष्पादयोऽपि तृप्यन्ति। न तु मूलसेकं विना ताः स्व स्व निषेचनेन। प्राणस्योपहारो भोजनं, तस्मादेव, इन्द्रियाणां तृप्तिः, नतु तत्तदिन्द्रियेषु पृथक् पृथगन्नलेपनेन। तथाच्युताराधनमेव सर्व देवताराधनं, न पृथगित्यर्थः॥

साधक भक्त गणों के पक्ष में, वृक्ष मूल में जल सेचन करने से जिस प्रकार उस की स्कन्ध भुज शाखादि में तृप्ति आ जाती है, उस प्रकार श्रीविष्णु की आराधना करने से ही निखिल देवगण की उपासना होती है, अतएव श्रीविष्णु भिन्न देवतान्तर की उपासना करने का उपदेश पुनरुक्त दोष युक्त होता है।

सम्पद्यते । तच्चान्यत्र झटिति रागद्वेषनिवृत्त्यर्थमिति ज्ञेयम् । अतएव केवलभूतानुकम्पया श्रीभगवदर्च्चनं त्यक्तवतो भरतस्यान्तरायः । तस्माद्भूतदयैव भगवद्भक्तिर्मुख्या नार्च्चनमिति निरस्तम् । तथैव तदव्यवहितपूर्व्वं निर्गुण-भक्त्युपायत्वेन (भा० ३।२९।१५) "क्रियायोगेन शस्तेन नातिहिंस्रेण नित्यशः" इत्यत्र 'अति'-शब्देन पाञ्चरात्रिकार्च्चन-लक्षणक्रियायोगार्था पत्र-पुष्पावचयादि-लक्षणा किञ्चित् हिंसापि विहिता । तस्मादन्येषामनादरो न कर्त्तव्यस्तत्

अर्थात् श्रीविष्णु की उपासना करने से ही जब देवतान्तर की उपासना हो जाती है तब अन्यदेवता की उपासना करने का प्रयोजन ही क्या है ? उत्तर में कहते हैं—केवल स्वतन्त्र ईश्वर बुद्धि से ही 'पृथक् भाव से' देवतान्तर की उपासना,-भक्ति साधक के पक्ष में दोषावह है, अतः अकर्त्तव्यता का प्रतिपादन किया गया है । इस प्रकरण में किन्तु उक्त ब्रह्मादि से आरम्भ कर प्राणीवृन्द में भगवान् की उपासना करने की विधि है । प्राणिमात्र को आदर प्रदान करना एकान्त कर्त्तव्य तो है ही, उस प्रकार आदर प्रदान भी श्री भगवत् सम्बन्ध से ही सम्पन्न हो सकता है । भगवद् दृष्टि से सर्वभूत को आदर प्रदान करने से अति सत्वर अन्यत्र रागद्वेष की निवृत्ति भी हो जायेगी । इस अभिप्राय से ही भगवद् से ही सर्वभूतों को आदर प्रदान करने का उपदेश हुआ है ।

अतएव केवल भूतगण के प्रति अनुकम्पा करने के निमित्त अत्याविष्टचित्त होकर श्रीभगवदर्च्चन परित्याग करने से भरत महाशय के द्वारा आचरित भगवद् भक्ति में विघ्न उपस्थित हुआ था । तज्जन्य जो लोक कहते हैं कि—भूतदया ही मुख्य भगवद् भक्ति है, श्रीभगवद् विग्रह की पूजा करना मुख्य भक्ति नहीं है, यह कथन भरत महाशय के दृष्टान्त के द्वारा ही निरस्त हुआ ।

अतएव इस के पहले श्रीकपिल देवने जो कहा है, भूतमात्र के प्रति अनादर करके भगवद्विग्रह की पूजा करने से अतिशय दोष होता है, उसमें भी उन्होंने भा० ३।२९।१५ में कहा है—

"निषेविता निमित्तेन स्वधर्मेण महीयसा ।
क्रियायोगेन शस्तेन नाति हिंस्रेण नित्यशः ॥"

टीका—"एवम्भूताया भक्तेः साधनान्याह पञ्चभिः । निषेवितेन सम्यगनुष्ठितेन, अनिमित्तेन, स्वधर्मेण नित्यनैमित्तिकेन, महीयसा–श्रद्धादियुक्तेन, क्रियायोगेन--पञ्चरात्राद्युक्त पूजा प्रकारेण, निष्कामेण ।"

निर्गुण भक्ति योग लाभ हेतु निष्काम भाव से सम्यगनुष्ठित स्वधर्माचरण करना एवं प्रबल तर श्रद्धा के सहित नित्य अनुष्ठित अतिशय हिंस शून्य निष्काम क्रिया योग के द्वारा श्रीभगवन्मूर्त्ति की उपासना करना ऐकान्त कर्त्तव्य है । उक्त उक्ति में "नातिहिंस्रेण" पद का उल्लेख है । अर्थात् अतिशय हिंसा न करके नारद पञ्चरात्रोक्त विधि के अनुसार अर्च्चनादि लक्षण क्रिया योग के द्वारा भगवद्विग्रह की पूजा करे । इस में भगवद्विग्रह पूजा हेतु "पत्र पुष्प अवचयन रूप" हिंसा भी विहित हुई है । कारण, अतिशय हिंसा न करे, इस प्रकार उल्लेख होने से कुछ हिंसा करने का विधान स्वतः ही प्राप्त होता है, किन्तु वह हिंसा निज देहेन्द्रिय तृप्ति के निमित्त विहित नहीं हुई है, किन्तु भगवद् भक्ति रक्षा के निमित्त जितनी हिंसा की आवश्यकता पड़ेगी, उसको करने की सम्मति देते हैं । यह हिंसा सात्त्विकी हिंसा है, इस से दोष नहीं होता है, वस्तुतः भक्ति अङ्ग पूजन रूप कार्य्य पोषण हेतु गुण ही होता है । भगवद्भक्ति के आनुकूल्य से सात्त्विकी उद्भिज्ज जाति की हिंसा न करने से श्रीभगवद् भक्तयङ्ग श्रीभगवद् विग्रह सेवादि अनुष्ठान नहीं हो सकता है ।

'अतएव अन्यभूतों का अनादर न करे, भगवदधिष्ठान दृष्टि से सर्वभूतों को आदर प्रदान करे ।'

सम्बन्धेनादरादिकञ्च कर्त्तव्यम् । स्वातन्त्र्येणोपासनन्तु धिक्कृतमिति साध्वेवोक्तम्-"अविस्मितं तं परिपूर्णकामम्" इत्यादि ॥ देवाः श्रीमदादिपुरुषम् ॥

१०७ । तथा (भा० १०।४८।२६)—

(१०७) "कः पण्डितस्त्वदपरं शरणं समीया-, द्भक्तप्रियादृतगिरः सुहृदः कृतज्ञात् ।
सर्व्वान् ददाति सुहृदो भजतोऽभि कामा,-नात्मानमप्युपचयापचयौ न यस्य ।।"१६७

सुहृदो हितकारिस्वभावात्तत्रापि कृतज्ञ दुपकाराभासेऽपि बहुमन्वानाद् यो भजतो भजमानाय सर्व्वान् कामानभीष्टान् अभि सर्व्वतोभावेन ददाति । तत्रापि सुहृदः सुहृदे सप्रीतये त्वात्मानमपि ददाति । न च सर्व्वतोभावेन दाने तादृशेभ्यो बहुभ्यो दाने वा समावेशाभावः स्यादित्याह— उपचयेति ॥ अक्रूरः श्रीभगवन्तम् ॥

भगवान् कपिल देव द्वारा प्रदत्त उपदेश का तात्पर्य्य उस प्रकार ही जानना होगा। स्वतन्त्र ईश्वर बुद्धिसे देवतान्तर की उपासना को किन्तु धिक्कार दिया गया है । अतएव "अविस्मितं तं परिपूर्ण कामम्" श्लोक की व्याख्या अति मनोरम ही हुई है ।

देवगण— श्रीमदादि पुरुष को कहे थे ।।१०६।।

१०७ । उक्त प्रकरण के अनुरूप वर्णन भा० १०।४८।२६ में है—

(१०७) "कः पण्डितस्त्वद परं शरणं समीयात् भक्तप्रियादृतगिर सुहृदः कृतज्ञात् ।
सर्वान् ददाति सुहृदो भजतोऽभिकामानात्मानमप्युपचयापचयौ न यस्य ।।२६७।।

टीका—स्व मनोरथः परिपूरित इति तुष्यन्नाह कः पण्डित इति । ऋत गिरः—सत्यवाचः । त्वत्तोऽपरं शरणं कः समीयात्—गच्छेत् । यतो भवान् भजतः सर्वानभितः कामांश्च ददाति आत्मानमपीति ।

श्रीअक्रूर, निज गृह में अभीष्ट देव श्रीकृष्ण को प्राप्त कर यथोचित पूजादि सम्पन्न करके कृताञ्जलि होकर कहे थे ,— हे प्रभो ! कौन पण्डित व्यक्ति, भक्तप्रिय, सत्यवाक् सुहृत् एवं कृतज्ञ स्वरूप तुम को छोड़ कर देवतान्तर का आश्रय ग्रहण करेगा ! कारण, तुम निज भजन कारो सुहृज्जन को अभिलषित भोग प्रदान करके तृप्त न होकर आत्मदान करते हो, अथच अनन्त भक्त को आत्मदान करने से भी तुम्हारे में अपचय अथवा उपचय नहीं होता है ।

श्लोकोक्त 'सुहृत्' शब्द का अर्थ—हितकारी स्वभाव है । तन्मध्य में भी कृतज्ञ,--उपकार के आभाष से भी बहु मनन कारी हो, जो भजन कारी जन गण को सर्वाभीष्ट विषय का दान सर्वतो भावेन करते हैं, उस में भी आत्म तृप्ति के निमित्त आत्मदान भी करते ।

उक्त श्लोक में "सुहृदः" षष्ठी विभक्ति "सुहृदे" चतुर्थी विभक्ति के स्थान में हुई है, यह आर्ष प्रयोग है । सर्वतो भावेन योग्य वस्तु प्रदान में एवं आत्मदान करने में सम्यग् आवेश का अभाव नहीं होता है । इस अभिप्राय से ही कहते हैं—उपचय एवं अपचय नहीं है । अर्थात् अनेक भक्त, एक ही श्रीभगवान् का भजन करते रहते हैं, भगवान् एकसमय में ही भक्त गण के निकट उदित होकर प्रत्येक भक्त को ही सर्व प्रकार भोग एवं आत्मदान करते हैं । इस से संशय हो सकता है कि-भगवान् एक हैं, भक्त अनेक हैं, भगवान् कैसे प्रति भक्त में आवेश की रक्षाकर सकते हैं ? उत्तर में कहते हैं—भगवान् अद्वय अव्यय अखण्ड तत्त्व हैं । अतः समस्त समाधान करने में भी समर्थ हैं, एवं सर्वस्व दान करने पर भी उनकी क्षति

१०८। तदभक्तमात्रानादरेणाह (भा० ३।१५।२४) –

(१०८) "येऽभ्यर्थितामपि च नो नृगतिं प्रपन्ना, ज्ञानञ्च तत्त्वविषयं सहधर्म्मं यत्र ।
नाराधनं भगवतो वितरन्त्यमुष्य, सम्मोहिता विततया वत मायया ते ।।"२६८।।

यत्र यस्यां भगवद्धर्म्मपर्य्यन्तो धर्म्मो भवति, भगवत् पर्य्यन्तस्य तत्त्वस्य ज्ञानञ्च भवतीत्यर्थः, तां प्राप्ता अपि सर्व्वेषां धर्म्माणां ज्ञानानाञ्च मूलं ये भगवत आराधनं न वितरन्ति न कुर्व्वन्ति, ते सम्मोहिताः, तदुक्तम् (भा० २।३।२०)–"बिले बतोरुक्रमविक्रमान् ये" इत्यादि, तथा च ब्रह्मवैवर्त्ते—

नहीं होती है। अक्रूर श्रीभगवान् को कहे थे ।।१०७।।

१०८। भा० ३।१५।२४ में श्रीब्रह्मा देव गण के निकट में श्रीभगवान् अभक्त वृन्द का अनादर वर्णन के द्वारा भी भगवद् भक्ति का अभिधेयत्व स्थापन किये हैं, अर्थात् भक्ति का अवश्य कर्त्तव्यत्वस्थापन किये हैं।

(१०८) "येऽभ्यर्थितामपि च नो नृगतिं प्रपन्ना ज्ञानञ्च तत्त्वविषयं सहधर्म्मं यत्र ।
नाराधनं भगवतो वितरन्त्यमुष्य, सम्मोहिता विततया वत मायया ते ।।" २६८।।

टीका—प्रसङ्गात्ताननुशोचन्ति, नोऽस्माभि र्ब्रह्मादिभि रभ्यर्थितां नृगतिं मनुष्य जाति प्रपन्नाः प्राप्ताः सन्तोऽपि हरेराराधनं न कुर्वन्ति, कीदृशीं नृगतिम् ? यत्र यस्यां धर्म सहितं तत्त्व ज्ञानं भवति, तदुभय साधकत्वात् तस्याः। तेऽमुष्य भगवतो विस्तृतया मायया ननु सम्मोहिताः। वतेति खेदे। यदि वा एवं सम्बन्धः— न केवलं त एव न व्रजन्ति किन्तु ये भगवदाराधनं न कुर्वन्ति तेऽपि, तेषां माया विमोहितत्वादिति।

जिन्होंने हम सब के अभीप्सित मनुष्य देह प्राप्त किया है, अथच श्रीभगवदाराधना नहीं किया है, वे सब निश्चय ही भगवदीय सुविस्तृत माया के द्वारा विमोहित हैं। उन सब भगवद् भजन कारी मनुष्य वृन्द के निमित्त हम सब का हृदय शोकाभिभूत हो जाता है। कारण, मनुष्य जन्म ही धर्म के सहित तत्त्व ज्ञान का साधक है।

अर्थात् जिस मनुष्य जाति में जन्म ग्रहण करने से भगवद् धर्म पर्य्यन्त धर्मानुष्ठान किया जा सकता है। एवं भगवत् पर्य्यन्त तत्त्व ज्ञान लाभ भी होता है। उस मनुष्य जाति में जन्म ग्रहण करके भी जो लोक समस्त धर्मानुष्ठान के एवं समस्त ज्ञान लाभ के मूल स्वरूप भगवान् की आराधना नहीं करते हैं, उन सब अभक्त वृन्द की दुर्दशा को देखकर हमारे हृदय दुःख से भर जाते हैं। भा० २।३।२० में श्रीशौनक कहे हैं–

"बिलेवतोरुक्रमविक्रमान् ये न शृण्वतः कर्णपुटे नरस्य ।
जिह्वासती दार्दुरिकेव सूत न चोपगायत्युरुगाय गाथाः ।।"

टीका—तस्याङ्गानि च निष्फलानीत्याह-बिले, इति पञ्चभिः। वत इति खेदे। नृ शृण्वतः, अशृण्वतः, नरस्य ये कर्णपुटे ते बिले, वृथारन्ध्रे न चेदुपगायति, तस्य जिह्वा असती दुष्टा, दर्दुरो भेकः, तदीया जिह्वेव।

जिस मानव के कर्णरन्ध्रद्वय भगवान् के प्रभावमय चरित्र श्रवण नहीं करते हैं, वह कर्णद्वय-गर्त्त तुल्य हैं, जिस की जिह्वा श्रीभगवद् गुण गाथा का गान नहीं करती है, वह जिह्वा भेक जिह्वा के सदृश है। इत्यादि वाक्य के द्वारा भगवद् अभजन कारी की निन्दा बहुल भाव से हुई है। ब्रह्म वैवर्त्त पुराण में भी लिखित है—

"प्राप्यापि दुर्लभतरं मानुष्यं विबुधेप्सितम् । यैराश्रितो न गोविन्दस्तैरात्मा वञ्चितश्चिरम् ।।२६९।।
अशीतिश्चतुरश्चैव लक्षांस्तान् जीवजातिषु भ्रमद्भिः पुरुषैः प्राप्य मानुष्यं जन्म पर्य्ययात्।।१७०।।
तदप्यफलतां जातं तेषामात्माभिमानिनाम् वराकाणामनाश्रित्य गोविन्दचरणद्वयम्।।२७१।।इति।।
श्रीब्रह्मा देवान् ।।

१०९ । तथा (भा० ५।१८।१२) —

(१०९) "यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना, सर्व्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः ।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा, मनोरथेनासति धावतो वहिः ।।"२७२)

अकिञ्चना निष्कामा, गुणैर्ज्ञानवैराग्यादिभिः सह सर्व्वे शिव-ब्रह्मादयो देवाः सम्यगासते ।।
प्रह्लादः श्रीनृसिंहम् ।।

"प्राप्यापि दुर्लभतरं मानुष्यं विबुधेप्सितम् ।
यैराश्रितो न गोविन्दस्तैरात्मा वञ्चितश्चिरम् ।।२६९।।
अशीतिश्चतुरश्चैव लक्षांस्तान् जीवजातिषु ।
भ्रमद्भिः पुरुषैः प्राप्य मानुष्यं जन्म पर्य्ययात् ।।२७०।।
तदप्यफलतां जातं तेषामात्माभिमानिनाम् ।
वराकाणामनाश्रित्य गोविन्दचरणद्वयम् ।।"२७१।।

देववृन्द के अभिलषित दुर्ल्लभतर मनुष्य जन्म प्राप्तकर गोविन्द के चरणारविन्द का आश्रय ग्रहण न करने पर अनादि काल तक आत्म वञ्चक होना पड़ता है । चतुरशीति लक्ष जीव योनि में भ्रमण करते करते पर्य्याय क्रम से मानव जीवन प्राप्त कर आत्माभिमानी क्षुद्रचेता मानव, श्रीगोविन्द के चरण का आश्रय न करके मानव जन्म को विफल बना देता है ।।

श्रीब्रह्मा देववृन्द को कहे थे ।।१०८।।

१०९ । उक्त प्रकार भा० ५।१८।१२ में उक्त है—

(१०९) "यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना, सर्व्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः ।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा, मनोरथेनासति धावतो वहिः ।।"१७२।।

मानसमलापगमफलमाह । यस्येति । अकिञ्चना—निष्कामा । मनः शुद्धौ हरेर्भक्तिर्भवति, ततश्च तत् प्रसादे सति सर्वे देवाः सर्वे गुणैश्च धर्म ज्ञानादिभिः सह तत्र सम्यगासते--नित्यं वसति । गृहाद्यासक्तस्य तु हरि भक्त्यसम्भवात् कुतोमहतां गुणा ज्ञानवैराग्या दयो भवन्ति ? असति विषयसुखे मनोरथेन वहिर्धावतः ।।

अन्वय व्यतिरेक मुख से श्रीभगवद् भक्ति का अभिधेयत्व भाः ५।१८।१२ में प्रतिपादित है । "हे प्रभो मनः शुद्धि होने से श्रीहरि के प्रति भक्ति होती है, अनन्तर श्रीभगवान् की प्रसन्नता से समस्त देव वृन्द धर्म ज्ञानादि समस्त गुणों के सहित उक्त भक्त में निवास करते हैं । जो व्यक्ति, गृहादि में आसक्त हैं, उन के पक्ष में श्रीभगवान् में भक्ति का उदय होना असम्भव है । जिस में भगवद् भक्ति होना ही असम्भव है, उस में कैसे महापुरुष गण के गुण, ज्ञान एवं वैराग्य प्रभृति हो सकते हैं । कारण, भगवद् वहिर्मुख भक्ति हीन व्यक्ति - विषय--भोग हेतु निरन्तन भगवद् वहिर्मुख होकर असत् पथ में धावित होते रहते हैं ।

११० । अतएव तत्तन्मार्गसिद्धानां मुनीनामप्यनादरः (भा० ३।९।१०)–

(११०) "अह्न्यापृतार्त्तकरणा निशि निःशयाना, नानामनोरथधिया क्षणभग्ननिद्राः।
दैवाहतार्थ-रचना मुनयोऽपि देव, युष्मत्प्रसङ्गविमुखा इह संसरन्ति ॥"२७३।

अह्नि व्यापृतेत्यादि, युष्मद्भजनविमुखाः संसारिणो भवन्ति, किं बहुना ? तत्तन्मार्गसिद्धा मुनयोऽपि युष्मत् प्रसङ्गविमुखाश्चेत् इह जगति तद्वदेव संसरन्ति, अथवा मुनयोऽपि

मूल श्लोकस्थित अकिञ्चन शब्द का अर्थ- निष्काम है। गुण एवं वैराग्य के सहित शिव, ब्रह्मा प्रभृति देवगण उक्त भक्त में नित्यवास करते रहते हैं।

प्रह्लाद श्रीनृसिंहदेव को कहे थे ॥१०९॥

११०। अतएव ज्ञानादि मार्ग में सिद्ध मुनिवृन्द भी यदि भक्ति विमुख होते हैं तो उन सब मुनिवृन्द के प्रति अनादर प्रकाश कर भा० ३।९।१० में ब्रह्मा श्रीगर्भोदशायी भगवान् को कहे थे।

(११०) "अह्न्यापृतार्त्तकरणा निशि निःशयाना,
नानामनोरथधिया क्षणभग्ननिद्राः।
दैवाहतार्थ–रचना मुनयोऽपि देव,
युष्मत् प्रसङ्गविमुखा इह संसरन्ति ॥"२७३॥

टीका—ननु भवत्येवमविवेकिनां, विवेकिनस्तु मुक्ता एवेति किं तेषां भक्त्या कृत्यम्, अत आह। अह्नि आपृतानि--व्यापृतानि च तान्यार्त्तानि क्लिष्टानि करणानीन्द्रियाणि येषाम्। रात्रौ विषय सुख लवोऽपि नास्ति, यतो निःशयानाः, स्वप्नदर्शनेन च क्षणे क्षणे भग्ननिद्राः। दैवेनाहताः, सर्वतः प्रतिहताः, अर्थानां रचना अर्थार्थोद्यमा येषाम् ॥"१०॥

हे प्रभो ! भक्ति हीन अविवेकी जन वृन्द का संसार दुःख तो निवृत्त होता ही नहीं विवेकी जन गण भी यदि तुम्हारे प्रति भक्ति नहीं करते हैं तो, उस दोष से उन सब में संसार दुःख उपस्थित होता रहता है। तुम्हारी एवं तुम्हारे भक्त वृन्द की चरित कथा में विमुख जो ऋषि गण हैं, वे सब दिवस में विभिन्न कार्य्य करते रहते हैं। एवं उपवासादि के द्वारा इन्द्रिय वृन्द को क्लिष्ट करते रहते हैं। रात्रि में निद्रित होने पर भी विभिन्न सङ्कल्पात्मक चित्त विक्षेप से क्षण क्षण में निद्रा भङ्ग हो जाती है। अतएव दिवस अथवा रजनी के मध्य में किसी प्रकार ऐन्द्रियक सुख लाभ नहीं होता है। दुरदृष्ट के कारण, अर्थ प्राप्त हेतु विभिन्न उद्योग भी विफल होते हैं। अर्थात् दिवस में विभिन्न कार्य्यों में व्यस्त रहते हैं, उपवासादि के द्वारा इन्द्रिय वृन्दको क्लिष्ट करते हैं। हे भगवन् । उक्त ऋषि गण यदि आपके एवं आपके भक्त वृन्दके भजन विमुख होते हैं तो वे सब संसार दशा को प्राप्त करते हैं। अधिक कहना ही क्या है ? उस उस साधन मार्ग में सिद्ध मुनि वृन्द भी यदि भगवत् प्रसङ्ग विमुख होते हैं। तो, वे सब, साधारण जन के समान संसार को प्राप्त करते हैं।

अथवा, मुनि वृन्द यदि भगवत् प्रसङ्ग विमुख होते हैं तो, उनको संसार होता है। उक्त मुनिवृन्द किस प्रकार अवस्था को प्राप्त करते हैं—उसका वर्णन करते हैं—दिवस में विविध कार्य्य करते रहते हैं। एवं उपासनादि के द्वारा इन्द्रिय वर्ग को क्लिष्ट करते हैं। अतएब वे सब विषय सुख एवं पारमार्थिक आनन्द से वञ्चित रहते हैं। भा० १०।२।३२ में लिखित है—

"येऽन्ये ऽरविन्दाक्ष विमुक्त मानिनः स्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।

तद्विमुखाश्चेत्तर्हि संसरन्त्येव। कथम्भूताः सन्तः संसरन्ति ? तत्राह—अह्लद्यापृतेत्यादि, (भा० १०।२।३२) "आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदम्" इत्यादेः। अत उक्तं श्रीधर्म्मेण (भा० ६।३।१९।२२

"धर्म्मन्तु साक्षाद्भगवत् प्रणीतं, न वै विदुर्ऋषयो नापि देवाः।
न सिद्धमुख्या असुरा मनुष्याः, कुतो नु विद्याधर-चारणादयः ॥२७४॥
स्वयम्भूर्नारदः शम्भुः कुमारः कपिलो मनुः।
प्रह्लादो जनको भीष्मो बलिर्वैयासकिर्वयम् ॥२७५॥
द्वादशैते विजानीमो धर्म्मं भागवतं भटाः।
गुह्यं विशुद्धं दुर्बोधं यं ज्ञात्वामृतमश्नुते ॥१७६॥
एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्म्मः परः स्मृतः ॥" २७७॥ इत्यादि।

आरुह्य कृच्छ्रेन परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृत युष्मदङ्घ्रयः ॥"

टीका—ननु विवेकिनां किं मद् भजनेनः ? मुक्ता एव हि ते, तत्राहुः। येऽन्ये इति। विमुक्त मानिनो विमुक्ता वयमिति मन्यमानाः। त्वयि अस्तो निरस्तो अतएवासन् जो भावस्तस्मात् भक्ते रभावादित्यर्थः। न विशुद्धा बुद्धिर्येषां ते तथा। यद्वा त्वयि अस्तभाः इतिच्छेदः। अस्त मतयो वादेष्वेव विशुद्ध बुद्धयः। कृच्छ्रेण बहुजन्म तपसा परं पदं मोक्ष सन्निहितं सत् कुलतपः श्रुतादि। पतन्ति विघ्नैरभिभूयन्ते न आदृतौ युष्मदङ्घ्री यैस्ते।

हे कमल लोचन ! जो लोक भक्ति हीन होकर निज को स्थूल सूक्ष्म देह से विमुक्त हैं, इस प्रकार अभिमान करते हैं, आप के चरणारविन्द में उनकी भक्ति न होने के कारण चित्त शुद्धि नहीं होती है, अर्थात् ऐहिक पारत्रिक सुख भोग में वितृष्णा नहीं होती है। उक्त भक्ति हीन साधकगण अतीव क्लेश पूर्वक तपस्या एवं शास्त्रादि विचार सम्पन्न ब्राह्मणादि कुल में जन्म ग्रहण करके भी आपके एवं आप के भक्त वृन्द के चरणों का अनादर करते हैं, तज्जन्य अपराधग्रस्त होकर अधः पतित होते हैं, अर्थात् जन्म मरण रूप संसार सरणि में गमनागमन करते रहते हैं।

अतएव भा० ६।३।१९—२२ में धर्म राजने निज भृत्यवर्ग के प्रति कहा—

"धर्मन्तु साक्षाद् भगवत् प्रणीतं, न वै विदुर्ऋषयो नापि देवाः।
न सिद्धमुख्या असुरा मनुष्याः कुतो नु विद्याधर चारणादयः ॥"२७४॥

टीका—ननु विष्णु भक्ताश्चेत् कथमधर्म पक्षपातं कृतवन्त स्तत्राह—धर्ममिति। ऋषयो भृग्वादयः।

हे भक्त वृन्द ! साक्षात् भगवान् कर्तृक कथित धर्म को ऋषि गण किन्तु नहीं जानते हैं, सिद्ध मुख्य गण भी नहीं जानते हैं, अतएव असुर गण, मनुष्यगण, विद्याधर गण, चारण गण जो नहीं जानते हैं, उस का विवरण क्या कहें ? केवल स्वयम्भु, नारद, शम्भु कुमार, (चतुःसन) कपिल, मनु, प्रह्लाद, जनक, भीष्म, बली वैयासकी (शुक) और मैं (यमराज) यह द्वादश व्यक्ति धर्म को जानते हैं।

स्वयम्भूर्नारदः शम्भुः कुमारः कपिलो मनुः।
प्रह्लादो जनको भीष्मो बलिर्वैयासकिर्वयम् ॥२७५॥
द्वादशैते विजानीमो धर्म्मं भागवतं भटाः।
गुह्यं विशुद्धं दुर्बोधं यं ज्ञात्वामृतमश्नुते ॥२७६॥
एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्म्मः परः स्मृतः ॥"२७७॥ इत्यादि।

एते धर्म्मप्रवर्त्तका विजानीम एव, न तु स्व-स्मृत्यादिषु प्रायेणोपदिशाम इत्यर्थः यतो गुह्यमप्रकाश्यं दुर्ब्बोधमन्यैस्तथा ग्रहीतुमशक्यञ्च। गुह्यत्वे हेतुः—यं ज्ञात्वेति। अमृतं परमं फलम्, (भ० र० सि० १।१।३८)—

"ब्रह्मानन्दो भवेदेष चेत् परार्द्धगुणीकृतः। नैति भक्तिसुखाम्भोधेः परमाणुतुलामपि॥"२७८।

इत्यादौ सूचितं परमत्वम्, (भा० १०।३३।३९) "विक्रीड़ितं व्रजबधूभिरिदञ्च विष्णोः" इत्यादौ "भक्तिं पराम्" इत्यादिनोक्तम्। "कृष्णाधरामृतास्वादसिद्धिरत्र" इत्यादौ किञ्चिद्-

---

कारण यह भागवत धर्म अति गुह्य, विशुद्ध (अप्राकृत) एवं दुर्बोध्य है। जिस भागवत धर्म को जान कर जन्म मृत्यु प्रवाह से मुक्त हो सकता है। अथवा भगवत् पार्षत् देह लाभ कर सकता है।

इस जगत् में मानव मात्र के निमित्त भागवत धर्म ही परम धर्म रूप में वर्णित हुआ है। धर्मशास्त्र के प्रवर्त्तक हम सब द्वादश जन उक्त धर्म को जानते तो हैं, किन्तु निजकृत स्मृति में उसका उल्लेख नहीं करते हैं। श्लोकोक्त 'विजानीमः' किया का इस प्रकार अर्थ जानना होगा। कारण, यह भागवत धर्म अति गोपनीय, अर्थात् अप्रकाश्य, एवं दुर्बोध्य है, अपर व्यक्ति, यथायथ रूप में ग्रहण करने में असमर्थ हैं। अति गोपनीय क्यों है? कहते हैं—जिस को जानकर मुक्त होता है, अर्थात् जन्ममृत्यु रूप संसार धर्म को अतिक्रम कर सकता है। अमृत शब्द का अर्थ है—परम फल। भक्ति रसामृतसिन्धु १।१।३८ में उक्त है—

"ब्रह्मानन्दो भवेदेष चेत् परार्द्धगुणीकृतः।
नैति भक्ति सुखाम्भोधेः परमाणु तुलामपि ॥२७८॥

टीका—परार्द्धेति—परार्द्धं कालं व्याप्य क्रियमाणेन समाधिना सिद्धं ब्रह्मसुखमपीत्यर्थः। भक्तिरूप सुख समुद्रस्य यः परमाणुस्तस्यापि तुलनां नैति—न प्राप्नोति॥

परार्द्ध काल पर्य्यन्त निरवच्छिन्न समाधि द्वारा सिद्ध ब्रह्म सुख प्राप्ति भी भक्ति रूप सुख समुद्र के एक परमाणु के तुल्य नहीं हो सकती है॥२७८॥

इस से भक्ति का सान्द्रानन्द सुखमयत्व सूचित हुआ है। अतएव निखिल पुरुषार्थ से भक्ति ही परम श्रेष्ठ पुरुषार्थ है। भा० १०।३३।३९ में उक्त है—

"विक्रीड़ितं व्रजबधूभिरिदञ्च विष्णोः
श्रद्धान्वितोऽनु श्रृणुयादथ वर्णयेद् यः।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
हृद्रोग माश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः॥"

टीका—भगवतः काम विजय रूप रास क्रीड़ा श्रवणादेः कामविजयमेव फलमाह—विक्रीड़ितमिति। अचिरेण धीरः सन् हृद्रोगं काममाशु अपहिनोतिपरित्यजतीति।

भगवान् श्रीकृष्ण की कामविजय लीला श्रवण से धीर व्यक्ति के हृदय से कामविदूरित हो जाता है, पश्चात् पराभक्ति की प्राप्ति होती है। यहाँ पर 'परां' शब्द से भक्ति का ही श्रेष्ठत्व प्रतिपादित हुआ है।

श्रीकृष्ण भक्ति से ही कृष्णाधरामृतास्वादसिद्धि होती है। यहाँ पर श्रीकृष्णाधरामृत का आस्वादन विशेष रूप से होता है। अतएव भा० ६।३।२५ में उक्त है—

"प्रायेण वेद तदिदं न महाजनोऽयं देव्या विमोहित मतिर्वत माययालम्।
त्रय्यां जड़ीकृतमतिर्मधुपुष्पितायां वैतानिके महति कर्मणि युज्यमानः॥"

विशदितमश्नुते। अतएव वक्ष्यते (भा० ६।३।२५)-"प्रायेण वेद तदिदं न मराजनोऽयम्" इत्यादि। महाजनो द्वादशभ्यस्तदनुगृहीत-सम्प्रदायिभ्यश्चान्यो महागुणयुक्तोऽपीत्यर्थः । तस्मात् साधूक्तम्—"अह्नचापृतार्त्ता-' इत्यादि ।। ब्रह्मा श्रीगर्भोदकशायिनम् ।।

१११। तदेवं श्रीभगवद्भक्तेरेव सर्व्वोद्ध्र्वमभिधेयत्वं स्थितम्, तथा च श्रीगीतासु (६।४६-४७)

"तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।

टीका—यदुक्तं त्वर्थं तर्हि द्वादशाब्दादि स्मरणमिति-तत्राह प्रायेणेति। महाजनो मन्वादिः। अयम्भावः यथाभूत सञ्जीवनौषधमजानन्तो वैद्या रोग निर्हरणाय त्रिकटुकनिम्बादिनि स्मरन्ति, तथा स्वयम्भु, शम्भु, प्रमुख द्वादश व्यतिरेकेणायं महाजनोगुह्यमिदमज्ञात्वा द्वादशब्दादिकं स्मरतीति। किञ्च मायया देव्या अलं विमोहितमतिरयं जनः, मधुमधुरं यथा भवत्येवं पुष्पितायां पुष्पस्थानीयैरर्थवादै र्मनोहरायां त्रय्यां जड़ीकृता अभिनिविष्टा मतिर्यस्य अतएव महत्येव कर्मणि अग्निष्टोमादौ श्रद्धया युज्यमानः नाल्पे प्रवर्त्तते। दृश्यते च प्राकृतस्य लोकस्य महतिमन्त्रादौश्रद्धा, अल्पे चाश्रद्धा। तस्मादस्य ग्राहको नास्तीति तैर्नोक्तम्। यद्वा, स्वाधीनः सिंहोऽस्तीत्येतावताश्वश्वशृगालादिवारणाय तं यथा न प्रयुञ्जते, तथातितुच्छत्वात् पापस्य न तन्निरसनाय परममङ्गलं हरेर्नामस्मरन्ति। यद्वा नाममाहात्म्य ज्ञाने सर्वमुक्ति प्रसङ्गादित्येषा दिक्। ग्रन्थ विस्तरभयान्नाति प्रपञ्चयते।

अतएव धर्मराज यम ने कहा है—स्वयम्भु, शम्भु प्रमुख द्वादश महाजन व्यतीत अपर महाजन गण प्रायशः इस भागवद् धर्म को नहीं जानते हैं। कारण, उन सब की मति-अघटन घटन पटीयसी भगवन्माया द्वारा विमोहित है। तज्जन्य आपाततः मधुर पुष्पस्थानीय प्रशंसा वाक्यमय त्रिगुणमयी श्रुति में बुद्धि अत्यन्त अभिनिविष्ट है, अतः अति विस्तीर्ण अग्निष्टोमादि वर्णन में वे सब श्रद्धायुक्त हैं। अर्थात् अल्पश्रम साध्य भागवद् धर्म में उन सब की प्रवृत्ति नहीं होती है। जिस प्रकार मृत सञ्जीवनी औषधि का ज्ञान न होने से वैद्य वृन्द व्याधि निवृत्ति हेतु त्रिकटु निम्ब प्रभृति सेवन की व्यवस्था प्रदान करते हैं। उस प्रकार सुधामय भागवत धर्म का अनुसन्धान न होने के कारण साधन, साध्य उभय समय में ही दुःख प्रद बहु आयास साध्य अग्निष्टोमादि कर्म्मानुष्ठान की व्यवस्था प्रदान करते हैं। अथवा, जिस प्रकार किसी व्यक्ति के निकट परम स्वाधीन सिंह होने पर भी अतितुच्छ अश्व, कुक्कुर, शृगाल प्रभृति को विताड़ित करने के निमित्त सिंह को नियुक्त वह नहीं करता है, उस प्रकार अतितुच्छ पापनिवृत्ति हेतु परम मङ्गल श्रीहरिनाम का उपदेश नहीं वे देते हैं। किंवा, नाम माहात्म्यका ज्ञान होने से समस्त जीव मुक्त हो जायेंगे, इस भय से महाजनगण पापादि नाश हेतु मायाबन्ध विमोचक श्रीहरिनाम का उपदेश प्रदान नहीं करते हैं। श्लोकोक्त 'महाजन' पद से उक्त द्वादश महाजन स्वयम्भु प्रभृति एवं उक्त द्वादश महाजन कर्त्तृक अनुगृहीत सम्प्रदायाचार्य्य व्यतीत अपर महागुण युक्त महाजन गण भी इस भागवत धर्म को नहीं जानते हैं। इस प्रकार अर्थ समझना होगा। अतएव "अह्नया पृतार्त्त" इत्यादि श्लोक की व्याख्या अतीव मनोरम हुई है।

श्रीब्रह्मा—श्रीगर्भोदकशायी को कहे थे ।।११०।।

१११। उपरोक्त सिद्धान्त के द्वारा भगवद् भक्ति का ही सर्वोद्ध्र्व अभिधेयत्व सिद्ध हुआ। श्रीमद् भगवद् गीता के ६।४६--४७ में उक्त है—

"तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।

कर्म्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्ज्जुन ॥२७६॥
योगिनामपि सर्व्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥"२८०॥ इति ।

अत्र "योगिनामपि सर्व्वेषाम्" इति च पञ्चम्यर्थे एव षष्ठी, "तपस्विभ्यः" इत्यादिना तथैवोपक्रमात्, भजतः सर्व्वाधिक्यमेव विवक्षितञ्च । 'सर्व्व'-शब्दोऽत्र (गी० ४।२५) "दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्य्युपासते" इत्यादिना पूर्व्वपूर्व्वोक्तान् सर्व्वानप्युपायिनो गृह्णातीति ज्ञेयम् ।

कर्म्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्ज्जुन ॥२७६॥
योगिनामपि सर्व्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥"२८०॥

टीका—"कर्म ज्ञान तपो योगवतां कः श्रेष्ठः—इत्यपेक्षायामाह—तपस्विभ्यः । कृच्छ्र चान्द्रायणादि तपोनिष्ठेभ्यो ज्ञानिभ्यो ब्रह्मोपासकेभ्योऽपि योगी परमात्मोपासकोऽधिकोमतः, इति ममेदमेव मतमिति भावः यदि ज्ञानिभ्योऽभ्यधिकस्तदा किं, अत कर्मिभ्य इत्याह—कर्म्मिभ्यश्चेति ॥४६॥

तर्हि योगिनः सकाशान्नास्त्यधिकः कोऽपीत्यवसीयते । तत्र मैवं वाच्यमित्याह—योगिनामिति । पञ्चम्यर्थे षष्ठी निर्द्धारणायोगात् । तपस्विभ्यो ज्ञानिभ्योऽधिक इति पञ्चम्यर्थ क्रमाच् च योगीभ्यः सकाशादपीत्यर्थः । न केवलं योगिभ्य एकविधेभ्यः सकाशात् अपितु योगिभ्यः सर्वेभ्यः-नानाविधेभ्यो योगारूढ़ेभ्यः संप्रज्ञात समाध्यसंप्रज्ञात समाधिमद्भ्योऽपीति । यद्वा—योगाः-उपायाः कर्म ज्ञान तपो योग भक्त्यादयस्तद्वतां मध्ये यो मां भजेत्, मद्भक्तो भवति स युक्ततमः—उपायवत्तमः । कर्म्मी तपस्वी ज्ञानी च योगीमतः । अष्टाङ्गयोगी योगितरः । श्रवण कीर्त्तनादि भक्तिमांस्तु योगितम इत्यर्थ. । यदुक्तं श्रीमद्भागवते मुक्तानामपि सिद्धानां नारायण परायणः ।

सुदुर्ल्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने । इति ।"

हे अर्जुन ! तपस्वीगण से श्रेष्ठ योगीगण हैं, ज्ञानी गण से योगी श्रेष्ठ, कर्मिवृन्द से भी योगी श्रेष्ठ है । अतएव तुम योगी बनो । किन्तु समस्त योगियों के मध्य में मद्गत चित्त से निविड़ विश्वस्त होकर जो व्यक्ति मेरा भजन करता है, उसको में युक्ततम मानता हूँ । उक्त श्लोक में लिखित "योगिनामपि सर्वेषाम्" में षष्ठी विभक्ति पञ्चमी विभक्ति के स्थान में हुई है । निर्द्धारणार्थ में षष्ठी प्रयोग यहाँ नहीं हुआ है । कारण, 'तपस्विभ्यः" प्रभृति शब्द का प्रयोग, पञ्चमी विभक्ति द्वारा ही हुई है । इस श्लोक में भजन कारी का ही सर्व श्रेष्ठत्व प्रदर्शित हुआ है । 'उक्त श्लोक में 'सर्वेषां' पद का प्रयोग है, उक्त सर्व शब्द प्रयोग के द्वारा गी० ४।२५ से आरम्भ कर ४।२६ पर्य्यन्त समस्त संयम उपायों का संग्रह हुआ है ।

"दैव मेवापरे यज्ञं योगिनः पर्य्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोप जुह्वति । २५॥
श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन् विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥२६॥
सर्वाणीन्द्रिय कर्माणि प्राण कर्माणि चापरे ।
आत्म संयम योगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥२७॥
द्रव्ययज्ञा तपोयज्ञा योगयज्ञा स्तथापरे ।
स्वाध्याय ज्ञान यज्ञाश्च यतयः संशित व्रताः ॥२८॥

तदेवमभक्तनिन्दाश्रवणात् श्रीमद्भगवद्भक्तेः सर्व्वेषु नित्यत्वमपि सिद्धम् । उक्तञ्च श्रीभगवतोद्धवं प्रति (भा० ११।१८।४२)—"भिक्षोर्धर्म्मः शमोऽहिंसा तप ईक्षा वनौकसः"

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापान गतीरुद्धा प्राणायाम परायणाः ।
अपरे नियता हाराः प्राणाः प्राणेषु जुह्वति ॥२९॥

टीका—यज्ञाः खलु भेदेनान्येऽपि बहवो वर्त्तन्ते तां स्तवं शृण्वित्याह । दैवमेवेत्यष्टभि । देवा इन्द्र वरुणादय इज्यन्ते यस्मिन् तं दैवमिति इन्द्रादिषु ब्रह्म बुद्धि राहित्यं दर्शितं । सास्य देवतेति तृण् । योगिनः कर्म्म योगिनः । अपरे ज्ञान योगिनस्तु ब्रह्म परमात्मैवाग्निस्तास्मिंस्तत् पदार्थे यज्ञं हविः स्थानीयं त्वं पदार्थं जीवं यज्ञेन प्रणव रूपेण मन्त्रेनैव जुह्वति । अयमेव ज्ञानयज्ञोऽग्रे स्तोष्यते । अत्र यज्ञं यज्ञेन इति शब्दौ कर्मकरण साधनौ प्रथमाति शयोक्त्या शुद्ध जीव प्रणवावाहतुः ।।२५।।

अन्ये नैष्ठिकाः श्रोत्रादीनीन्द्रियानि, संयमः संयतं मन एव, अग्नयस्तेषु जुह्वति, शुद्धेमनसि इन्द्रियाणि प्रविलापयन्तीत्यर्थः । अन्ये ततो न्यूना ब्रह्म चारिणः शब्दादीन् विषयान् इन्द्रियाग्नषु इन्द्रियान्येवाग्नयस्तेषु जुह्वति शब्दादीनिन्द्रियेषु प्रविलापयन्तीत्यर्थ ।।२६।।

अपरे शुद्ध त्वं पदार्थविज्ञाः । सर्वाणीन्द्रियाणि तत् कर्माणि श्रवण कीर्त्तनादीनि च । प्राण कर्म्माणि दशप्राणाः । तत् कर्माणि च, प्राणस्य वहिर्गमनं, अपानस्याधोगमनं, समानस्य भुक्त पीतादीनां समीकरणं, उदानस्योद्ध्र्वनयनं व्यानस्य विश्वक् नयनं । "उद्गारे नाग आख्यातः कूर्म्म उन्मीलनेस्मृतः । कृकरस्तु क्षुतिक्षेयोदेवदत्तो विजृम्भणे । न जहाति मृतञ्चापि सर्वव्यापी धनञ्जयः ।।" इत्येवं दशप्राणाः, तत्कर्माणि, आत्मनस्त्वं पदार्थस्य संयमः शुद्धिरेवाग्निस्तस्मिन् जुह्वति । मनोबुद्धिचादीन्द्रियाणि दश प्राणानाश्च प्रविलापयन्ति । एकः प्रत्यगात्मैवास्ति नान्ये मन आदय इति भावयन्तीत्यर्थः ॥२७॥

द्रव्यदानमेव यज्ञो येषां ते द्रव्ययज्ञाः । तपः कृच्छ्र चान्द्रायणादि एव यज्ञो येषां ते तपोयज्ञाः । योगोऽष्टाङ्ग एव, यज्ञो येषां ते योग यज्ञाः । स्वाध्यायो वेदस्य पाठः, तदर्थस्य ज्ञानञ्च यज्ञो येषां ते । यतयो यत्नपराः, सर्व्व एत सम्यक् शितं तीक्ष्णीकृतं व्रतं येषां ते ।।२८।।

अपरे प्राणायाम निष्ठाः । अपाने अधोवृत्तौ प्राणं ऊर्द्ध्ववृत्तं जुह्वति । पूरक काले प्राणमपानेनैकी कुर्वन्ति । तथा रेचक काले अपाने प्राणं जुह्वति । कुम्भक काले प्राणापानयोर्गती रुद्ध्वा प्राणायाम परायणा भवन्ति । अपरे इन्द्रिय जयकामाः । नियताहाराः– अल्पाहाराः । प्राणेषु आहार सङ्कोचेनैव जीर्य्यमानेषु प्राणान् इन्द्रियानि जुह्वति । इन्द्रियानां प्राणाधीन वृत्तित्वात् प्राण दौर्वल्ये सति स्वयमेव स्वस्व विषय ग्रहणासमानीन्द्रियाणि प्राणेष्वेव प्रलीयन्ते ।।२९।।

जो इस प्रकार यज्ञ में व्रती होता है, वह योगी है, यज्ञ समूह के प्रकार भेद से योगीवृन्द का भेद होता है । यज्ञ अनेक प्रकार होने के कारण ही योगी अनेक प्रकार होते हैं । वस्तुत समस्त यज्ञ—

कर्म यज्ञ, द्रव्य यज्ञ, एवं ज्ञान यज्ञ में अन्तर्भुक्त हैं । कर्म योगी गण दैव यज्ञ की उपासना करते हैं, उस में इन्द्र वरुणादि मायिक सामर्थ्य विशिष्ट अधिकृत पुरुषों का यजन होता है । उस से निष्काम कर्मयोगी होना सम्भव होता है । ज्ञान योगी गण, तत्वमसि महावाक्य को अवलम्बन पूर्बक त्वं पदार्थ जीव को प्रणव मन्त्र द्वारा तत् पदार्थ ब्रह्म में होम करते हैं ।।२५।।

नैष्ठिक गण, मनः संयम रूप अग्नि में श्रोत्रादि इन्द्रिय समूह को होम करते हैं । ब्रह्मचारी गण-- शब्दादि विषयसमूह को इन्द्रिय रूप अग्नि में होम करते हैं ।२६।।

इत्यादौ, (भा० ११।१८।४३) "सर्व्वेषां मदुपासनम्" इति, तथा श्रीनारदेन च सार्व्ववर्णिक-स्वधर्म्मकथने, (भा० ७।११।११) "श्रवणं कीर्त्तनञ्चास्य" इत्यादि अकरणे दोष-श्रवणञ्चान्यत्र

प्रत्यगात्मात्मा का अनुसन्ध न कारी कैवल्यवादी पातञ्जल योगी, समस्त इन्द्रिय कर्म एवं दशविध प्राणकर्म्म समूह को त्वं पदार्थ रूप शुद्ध जीवात्मा रूप अग्निमें होम करते हैं। विषयाभिमुखी आत्मा का नाम परागात्मा है। विषयत्यागी आत्मा का नाम प्रत्यगात्मा है। प्रत्यगात्मा व्यतीत मनः प्रभृति का अस्तित्वकोपातञ्जल योगी स्वीकार नहीं करते हैं ।।२७।।

समस्त यज्ञों को द्रव्य यज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याय ज्ञानयज्ञ रूप चार भाग से विभक्त किया जा सकता है। द्रव्यमय यज्ञ को द्रव्य यज्ञ, कृच्छ्र चान्द्रायण, चातुर्मास्य प्रभृति तपोयज्ञ, एव अष्टाङ्ग योग को योग कहते हैं, वेदार्थ विचार पूर्वक चिदचिद् विचार को ज्ञान यज्ञ कहते हैं ।।२८।।

वेद एवं तदनुगत स्मृति शास्त्र में चार प्रकार यज्ञ परिलक्षित होते हैं। एतद्व्यतीत तन्त्रादि शास्त्र में हठयोग, विविध संयम रूप व्रतयज्ञ का उल्लेख है, तदनुगत व्यक्ति गण—प्राणायाम निष्ठ होकर अपान वायु में प्राण वायु को, प्राण वायु में अपान वायु को रुद्ध कर कुम्भक करते हैं। कतिपय व्यक्ति भोजन सङ्कोचकरके प्राण को प्राण में हवन कर देते हैं ।।२९।।

अतएव जो लोक भगवान् का भजन नही करते हैं वे सब निन्दित होते हैं, इस प्रकार उल्लेख होने के कारण—भगवद् भगवद् भक्ति का ही नित्यत्व सूचित हुआ है। अर्थात् जो भी व्यक्ति, जो भी साधनानुष्ठान क्यों न करें, भगवद् भक्ति करना सब के पक्ष में अवश्य कर्त्तव्य है। भक्ति व्यतीत, किसी भी साधन स्वतन्त्र रूप से फल देने में सक्षम नहीं हैं।

भा० ११।१८।४२–३ में श्रीभगवान् श्रीउद्धव को कहे हैं—

"भिक्षोर्धर्म्म शमोऽहिंसा तप ईक्षा वनौकसां,
गृहिणो भूतरक्षेज्या द्विजस्याचार्य्य सेवनम्।
ब्रह्मचर्य्यं तपः शौचं सन्तोषो भूत सौहृदम्।
गृहस्थस्याप्यृतौ गन्तुः सर्वेषामदुपासनम् ।।"

टीका—चतुर्णां प्रधान धर्मानाह--भिक्षोरिति।४२। अन्य धर्मान् कांश्चिद् गृहस्थस्यापि अतिदिशति ब्रह्म चर्य्यमिति। तपः शौचं रागादि राहित्यञ्च। तस्य ब्रह्मचर्य्य प्रकारमाह—ऋतौ गन्तु रिति।४३।

हे उद्धव! अन्तः करण संयम एवं अहिंसा यम दो सन्न्यासी के धर्म हैं। क्लेश सहन करना एवं ईक्षा (आत्मानु स धान करना) वान प्रस्थ के धर्म हैं। प्राणि वृन्द की रक्षा करना एवं यज्ञ यह दो, गृहस्थ के धर्म हैं। आचार्य्य की सेवा करना ब्रह्म चारी का धर्म है। केवल मात्र ऋतु काल में स्त्री सम्भोग करना गृहस्थ का धर्म है। ब्रह्मचारी वान प्रस्थी एवं सन्न्यासी के धर्म हैं—ब्रह्मचर्य्य रक्षा करना, तपस्या, शौच, सन्तोष, एवं प्राणी मात्र के प्रति बन्धु भाव स्थापन करना। किन्तु ब्रह्मचर्य्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्नचास यह आश्रम चतुष्टय का अनिवार्य्य धर्म है—मेरी उपासना करना। अर्थात् समस्त आश्रमियों को मेरी उपासना अवश्य करना चाहिये। उक्त प्रमाण से प्रतिपन्न हुआ है कि—श्रीभगवान् के प्रति भक्ति करना समस्त आश्रमीयों का एकमात्र कर्त्तव्य है।

उस प्रकार श्रीनारद ने भी भा० ७।११।११ में सार्व वर्णिक धर्म वर्णन प्रसङ्ग में कहा है—

"श्रवणं कीर्त्तनञ्चास्य स्मरणं महतां गतेः।
सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम् ।।"

(भा० ११।५।२) "मुखबाहूरुपादेभ्यः" इत्यादि, तथा च महाभारते—

"मातृवत् परिरक्षन्तं सृष्टिसंहारकारकम् । यो नार्च्चयति देवेश तं विद्याद्ब्रह्म घातकम् ॥"२८१॥

श्रीगीतोपनिषत्सु च (७।१५)–

" न मां दुष्कृतिनो मूढ़ाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥"२८२॥ इति ।

टीका—अस्य श्रीकृष्णस्य श्रवणादयोनव । इज्या—अर्च्चनम् ।

"नृणामयं परोधर्मः सर्वेषां समुदाहृतः ।
त्रिंशत् लक्षणवान् राजन् सर्वात्मा ये न तुष्यति ॥१२॥

टीका—एवं त्रिंशल्लक्षणवान् ॥

हे राजन् ! साधु वृन्द के एकमात्र आश्रय श्रीकृष्ण श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, सेवा, अर्च्चन, नमस्कार, दास्य, सौख्य, एवं आत्म निवेदन इस नवधा भक्ति के मध्य में किसी एक भक्त्यङ्ग का पालन मानवमात्र को अवश्य करना होगा । सत्य दया प्रभृति ३० लक्षण धर्म प्रति पालन करने पर सर्वात्मा भगवान् सन्तुष्ट होते हैं । श्रीभगवद् भक्ति न करने से सर्व वर्णी एवं सर्व आश्रमी के पक्ष में जो प्रत्यवाय होता है—उस का वर्णन भा० ११।५।२ में इस प्रकार है—

"मुखबाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह
चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्वर्णादयः पृथक् ।
य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम् ।
न भजन्त्यव जानन्ति स्थानाद् भ्रष्टाः पतन्त्यध. ॥"

टीका—स्व जनकस्य गुरोर्भगवतोऽनादराद् गुरु द्रोहेण दुर्गतियान्तीति वक्तुं भगवतः सकाशाद्–वर्णाश्रमाणामुत्पत्तिमाह—मुखेति । गुणैः सत्त्वेन विप्राः । सत्त्व रजोभ्यां क्षत्रियः । रजस्तमोभ्यां वैश्यः, तमसा शूद्र इति । एषां मध्ये ये अज्ञात्वा न भजन्ति, ये च ज्ञात्वापि अव जानन्ति । आत्मनः प्रभवो जन्म यस्यात् तम् । तदभजने कृतघ्नतामप्याह ईश्वरमिति । स्थानात् वर्णाश्रमाद् भ्रष्टाः ॥३॥

परम गुरु स्वरूप श्रीभगवान् का भजन न करने से कृतघ्नता दोष से पतित होना पड़ता है । उस प्रकार है महाभारत में उक्त है—

"मातृवत् परिरक्षन्तं सृष्टि संहार कारकम् ।
यो नार्च्चयति देवेशं तं विद्याद्ब्रह्म घातकम् ॥"२८१॥

जो भगवान् 'मा' के समान समस्त जीवों की रक्षा सब प्रकार से सतत करते रहते हैं, जो मानव उन सर्वदेवाराध्य सृष्टि संहार कारक श्रीकृष्ण की अर्च्चना नहीं करते उन को ब्रह्मघाती जानना चाहिये । इत्यादि श्लोकों में श्रीभगवान् में भक्ति हीन जन की निन्दा का प्रसङ्ग उपलब्ध है ।

श्रीभगवद् गीतोपनिषद् के ७।१५ में लिखित है—

"न मां दुष्कृतिनो मूढ़ाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥"२८२॥

टीका—ननु तर्हि पण्डिता अपि केचित् किमिति त्वां न प्रपद्यन्तो तत्र ये पण्डिता स्तेमां प्रपद्यन्ते-एव पण्डित मानिन एव न मां प्रपद्यन्ते इत्याह न मामिति । दुष्कृतिन. दुष्टाश्च ते कृतिनः पण्डिताश्चेति ते

आग्नेये, विष्णुधर्म्मे च–

"द्विविधो भूतसर्गोऽयं दैव आसुर एव च । विष्णुभक्तिपरो दैव आसुरस्तद्विपर्य्ययः ॥"२८३॥

अन्यदप्युदाहृतम् (भा० ७।९।१०)–"विप्राद्द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभ,--पादारविन्दविमुखात्" इति, (नारदीये)–"श्वपचोऽपि महीपाल" इत्यादि, तथा गारुड़े–

कुपण्डिता इत्यर्थः । ते च चतुर्विधाः । एके मूढ़ाः पशु तुल्याः । कर्म्मिणः । यदुक्तं –"नूनं दैवेन निहता ये चाच्युत कथा सुधां । हित्वा श्रृण्वन्त्यसद् गाथाः पुरीषमिव विड्भुजः" इति । मुकुन्दं को न सेवेत विना नरेतरमिति च । अपरे नराधमाः किञ्चित् कालं भक्तिमत्वेन प्राप्तनरत्वाः, अप्यन्ते फल प्राप्तौ न साधनोपयोगः, इतिमत्वा स्वेच्छयैव भक्ति त्यागिनः । स्व कर्तृक भक्ति त्याग लक्षणमेव तेषामधमत्वमिति भावः । अपरे शास्त्राध्ययनाध्यापनादिमत्वेऽपि माययापहृत ज्ञानं येषां ते । वैकुण्ठ विराजिनो नारायण मूर्त्तिरेव सार्वकालिकी न तु कृष्णरामादि मूर्त्ति मानुषीति मन्यमाना इत्यर्थः । यद्वक्ष्यते--"अवजानन्ति मां मूढ़ा मानुषीं तनुमाश्रितमिति ।' ते खलु मां प्रपद्यमाना अपि नमां प्रपद्यन्ते इति भावः । अपरे आसुरं भावमाश्रिताः । आसुराः जरासन्धादयः । मद्विग्रहंलक्ष्यीकृत्य शरै र्विद्धन्ति । तथैव दृश्यत्यादि हेतुमत् कुतर्कैर्मद् विग्रहं वैकुण्ठस्थमपि खण्डयन्त्येव नतु प्रपद्यन्त इत्यर्थः ॥१५॥

हे अर्जुन ! आसुरिक भावापन्न, माया द्वारा आपहृत विवेक, दुष्कर्मनिरत मूढ़ नराधमगण मेरे चरणों में शरणागत नहीं होते हैं । इस श्लोक में भगवद् भजन हीन व्यक्ति की निन्दा का वर्णन है, अग्नि पुराण एवं विष्णु धर्म में उक्त है—

"द्विविधो भूतसर्गोऽयं दैव आसुर एव च ।
विष्णुभक्तिपरो दैव आसुरस्तद्विपर्य्ययः ॥"२८३॥

दैव एवं आसुर भेद से भूतसर्ग द्विविध हैं, उस के मध्य में विष्णु भक्तिनिष्ठ दैव है, एवं विष्णु भक्ति विहीन आसुर है । अन्य उदहरण भा० ७।९।१० में है ।

"विप्राद्विषड्गुण युतादरविन्द नाभ पादार विन्दविमुखात् श्वपचं वरिष्ठम् ।
मन्ये तदर्पित मनो वचने हितार्थ प्राणं पुनाति सकुलं न तु भूरिमानः ॥"

टीका—एवं भक्त्यैव केवलया हरेस्तोषः सम्भवतोत्युक्तम् । इदानीं भक्ति विना नान्यत् किञ्चित् तोष हेतु रित्याह । विप्रादिति । पूर्वोक्ता धनादयो ये द्विषट् द्वादश गुणा स्तैर्युक्ताद्विप्रादपि श्वपचं वरिष्ठं मन्ये । यद्वा सनत् सुजातोक्ता, द्वादश धर्मादयो गुणा द्रष्टव्याः । तदुक्तं महाभारते—धर्मश्च सत्यश्च दम स्तपश्च मात्सर्य्यं ह्री स्तितिक्षानसूया । यज्ञश्च दानञ्च धृतिः श्रुतञ्च व्रतानि वै द्वादश ब्राह्मणस्य इति । यद्वा,—शमो दमस्तपः शौचं क्षान्त्यार्ज्जव विरक्तताः । मौन विज्ञान सन्तोषाः सत्यास्तिक्ये द्विषड् गुणा इति । कथम्भूतात् विप्रात् ? अरविन्दनाभस्य पादारविन्द विमुखात् । कथम्भूतं श्वपचम् ? तस्मिन्नरविन्द नाभेर्ऽपिता मन आदयो येन तम् । ईहितं कर्म । वरिष्ठत्वे हेतुः स ऐवम्भूतः श्वपचः सर्वकुलं पुनाति । भूरिर्म्मानो गर्वोयस्य सतु विप्रः आत्मादि न पुनाति, कुतः कुलम्, यतो भक्ति हीनस्यै ते गुणा गर्वायैव भवन्ति न तु शुद्धये, अतो हीन इति भावः ।

भक्त शिरोमणि प्रह्लाद निज प्रभु श्रीनृसिंह को कहे थे—हे प्रभो ! भगवत् चरणार विन्द में भक्ति हीन, अथच धर्म, सत्य, दम, तपस्या, अमात्सर्य्य, तितिक्षा, अनसूया, यज्ञ, दान, धृति, अध्ययन, व्रत–इन द्वादश गुणयुक्त ब्राह्मण से भी भगवच्चरणों में जिसने मन, वचन, चेष्टा, अर्थ एवं प्राण समर्पण किया है, उस श्वपच को मैं श्रेष्ठ मानता हूँ । कारण यह भक्तिमान् श्वपच निज वंश को पवित्र करता है, किन्त

"अन्तं गतोऽपि वेदानां सर्व्वशास्त्रार्थवेद्यपि यो न सर्व्वेश्वरे भक्तस्तं विद्यात् पुरुषाधमम् ।।"२८४।।

वृहन्नारदीये च—

"हरिपूजा-विहीनाश्च वेदविद्वेषिणस्तथा। द्विजगोद्वेषिणश्चापि राक्षसाः परिकीर्त्तिताः ।।"२८५।।

अपरञ्चाह (भा० १०।२।३२) —

(११) "येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिन-,स्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः, पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ।।"२८६।। इति।

प्रथमतस्तावत् त्वय्यस्तभावादविद्यमानभक्तित्वादविशुद्धबुद्धयः, (भा० ११।१४।२२)—

भगवान् में भक्ति हीन द्वादश गुणयुक्त ब्राह्मण, भक्ति हीनता दोष से घोरतर अभिमानी होता है, अत वह आत्म शोधन ही नहीं कर सकता है, कुल को पवित्र करना तो दूर है। इस श्लोक के द्वारा भगवान् में भक्ति हीन व्यक्ति को निन्दा की गई है। नारदीय पुराण में भी "श्वपचोऽपि महीपाल" इत्यादि श्लोकों के द्वारा अभक्त की निन्दा की गई है। गरुड़ पुराण में भी उस प्रकार अभक्त की निन्दा का वर्णन है—

"अन्तं गतोऽपि वेदानां सर्व्वशास्त्रार्थवेद्यपि।
यो न सर्व्वेश्वरे भक्तस्तं विद्यात् पुरुषाधमम् ।।"२८४।।

समस्त वेदों में निष्णात होकर भी एवं सर्वशास्त्रार्थ भिज्ञ होकर भी जो मानव सर्वेश्वर भगवान् में भक्ति नहीं करते हैं, उनको पुरुषाधम जानना होगा।

वृहन्नारदीय पुराण में भी अभक्त निन्दा का वर्णन है—

"हरिपूजा-विहीनाश्च वेदविद्वेषिणस्तथा।
द्विजगोद्वेषिणश्चापि राक्षसाः परिकीर्त्तिताः ।।"२८५।। इति

जो लोक, हरि पूजाविहीन, एवं वेदविद्वेषी, तथा गो ब्राह्मण द्वेष कारी हैं, वे सब राक्षस संज्ञा से आनहित होते हैं। श्रीमद् भागवत १०।२।३२ गर्भस्तुति प्रसङ्ग में भी अभक्त की निन्दा की गई है।

(१११) "येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिन--,स्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।
आरुह्य कृच्छ्रेण पर पदं ततः, पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ।।"२८६।।

टीका—ननु विवेकिनां किं मद् भजनेन मुक्ता एव हि ते तत्राहुः,—येऽन्य इति। विमुक्तमानिनो विमुक्ता वयमिति मन्यमानाः। त्वयि अस्तो निरस्तोऽत एवासन् यो भावस्तस्मात् भक्तेरभावादित्यर्थः, न विशुद्धा बुद्धिर्येषां ते तथा। यद्वा त्वयि अस्तभा, इतिच्छेदः। अस्तमतयो वादेष्वेव विशुद्ध बुद्धयः। कृच्छ्रेण बहु जन्म तपसा परं पदं मोक्ष सनिहितं सत् कुलतपः श्रुतादि। पतन्ति विघ्नैरभिभूयन्ते। न आदृतौ युष्मदङ्घ्री यैस्ते ।।

हे कमल लोचन! भक्तभिन्न जो लोक अपने को स्थूल सूक्ष्म देह बन्धन से मुक्त मानते हैं, उन लोकों की बुद्धि शुद्धि ही नहीं हुई है, कारण, वे लोक आप के प्रति भक्ति न करके केवल इस जगत् के एवं पर जगत् के सुख भोग के प्रति सतृष्ण होकर रहते हैं। कारण, आप के प्रति भक्ति न करने से मनोगत स्थूल सूक्ष्म विषय भोग वासना की निवृत्ति किसी उपाय से भी नहीं होती है। अथच ऐहिक--पाल लौकिक सुख भोग में वितृष्ण न होने पर ब्रह्म जिज्ञासा में अधिकार ही नहीं होता है, वे सब अभिमानी व्यक्तिगण आप के चरणों में एवं आपके भक्त वृन्दों के चरणों भक्ति हीन होने के कारण उक्त अनादर दोष दुष्ट होते हैं, तज्जन्य क्लेशसाध्य श्रुतादि सम्पन्न ब्राह्मणादि कुल में जन्म ग्रहण करके भी अधः पतित होते हैं।

"धर्म्मः सत्य-दयोपेतो विद्या वा तपसान्विता ।
मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि ॥" २८७॥

इत्याद्युक्तेः, तथापि ज्ञानमार्गमाश्रित्य विमुक्तमानिनो देहद्वयातिरिक्तत्वेनात्मानं भावयन्तः, ततः (गी० १२।५) "क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्" इत्याद्युक्तेः, कृच्छ्रेण परं पदं जीवन्मुक्तिरूप-मारुह्य प्राप्यापि ततोऽधः पतन्ति भ्रश्यन्ति । कदेत्यपेक्षायामाहुः--अनादृतेति ।

कारण, प्रथमतः ही भगवद् भक्ति शून्यता दोष होता है, उक्त दोष से ही ज्ञानी वृन्द अशुद्ध चित्त होते हैं, अर्थात् निपुणता से ऐहिक भोग विलास में रत हो जाते हैं। कारण भा० ११।१४।२२ में उक्त है—

"धर्म्मः सत्य-दयोपेतो विद्या वा तपसान्विता ।
मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि ॥" २८७॥

टीका भक्त्यभावेऽन्यत् साधनं व्यर्थमित्याह—धर्म इति द्वाभ्याम् ॥

क्रमसन्दर्भ—"धर्मः सत्यदयोपेतः" इत्याद्यन्तं तदीयमन्तः संस्करणं, प्रायः साधन भक्ति महिमा परमेव । तत्र 'बाध्यमानोऽपि" इति गद्यम् साध्य भक्तौ जातायां बाध्यमानत्वायोगात्, भा० १०।८७।३५ "दधति सकृन्मनस्त्वयि" इत्युक्तेः, विषयाविष्ट चित्तानां विष्णवावेशः सुदूरतः । वारुणीदिग् गतं वस्तु व्रजन्नैन्द्रीं किमाप्नुयात् । इति विष्णु पुराणाच्च--तन्महिम—'साधनभक्त महिम' परत्वेन गम्यते ॥' अत्रैव तावद् वक्ष्यते--कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसाविना । विनानन्दाश्रुकलया शुद्ध्येद्भक्त्या विनाशयः ॥"

टीका—रोमहर्षादिकं विना कथं भक्ति र्गम्यते भक्त्या विना च कथमाशयः शुध्येदिति ॥

श्रीकृष्ण, उद्धव को कहे थे—सत्य एवं दयायुक्त धर्म, तपस्या युक्त विद्या प्रभृति, मदीय भक्ति विमुख चित्त को सम्यक् शुद्ध करने में असमर्थ हैं। इस में सन्देह नहीं है। भक्ति हीन ज्ञानी का चित्त ऐहिक एवं पारत्रिक सुख भोग में वितृष्ण होना असम्भव है, किन्तु इस अवस्था में भी जीव एवं ईश्वर की अभेद भावना करते करते स्थूल सूक्ष्म देह से ज्ञानी अपने को अतिरिक्त मानते हैं। उस के बाद—गीता में (१२.५) कथित है—

"क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ताहि गति र्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥"

टीका—र्तर्हि केनांशे तेषामपकर्ष स्तत्राह क्लेश इति । न केनापि व्यज्यते इत्यक्तं, ब्रह्म, तत्रैवासक्त चेतसां तदेवानुबुभूषूणां तेषां तत् प्राप्तौ क्लेशोऽधिकतरः । हि यस्मात् अव्यक्तः गतिः, केनापि प्रकारेण व्यक्ति भवति सा गति र्देहवद्भि र्जीवै र्दुःखं यथा भवत्येवं अवाप्यते । तथाहि, इन्द्रियाणां शब्दादि ज्ञान विशेष एव शक्तिः, नतु विशेषेतर ज्ञाने इति । अतः, इन्द्रिय निरोधः, तेषां निर्विशेष ज्ञान मिच्छतां अवश्य कर्त्तव्य एव । इन्द्रियाणां निरोधस्तु स्रोतस्वतीनामिव निरोध दुष्कर एव । यदुक्तं सनत् कुमारेण,—'यत्पाद पङ्कज पलाश विलास भक्त्या, कर्माशयं ग्रथित मुद्ग्रथयन्ति सन्तः । तद्वन्नरिक्त मतयो यतयो निरुद्ध स्त्रोतोगणास्तमरणं भजवासुदेवम् ॥ क्लेशो महानिह भवार्णवमप्लवेशं षड् वर्गनक्रमसुखेन तितीर्षयन्ति । तत् त्वं हरेर्भगवतो भजनीयमङ्घ्रि कृत्वड़ुपं व्यसन मुत्तर दुस्तरार्णम् ॥ इति तावता क्लेशेनापि सागति र्यद्यवाप्यते तदपि भक्तिमिश्रणैव । भगवति भक्ति विना केवल ब्रह्मोपासकानान्तु केवल क्लेश एव लाभो नतु ब्रह्मप्राप्तिः । यदुक्तं ब्रह्मणा तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यत् यथा स्थूलतुषावधातिनाम् । इति ।

यदीति शेषः, तेषां भक्तिप्रभावस्याननुवृत्तेरबुद्धिपूर्व्वकस्य त्वदनादरस्य निवर्त्तकाभावात्, तथापि दग्धानामपि पापकर्म्मणां महाशक्ति-श्रीभगवत्पादपद्मावज्ञया पुनर्विरोहात्। तथा च 'वासना'-भाष्योत्थापितं भगवत्परिशिष्टवचनम्—

"जीवन्मुक्ता अपि पुनर्बन्धनं यान्ति कर्म्मभिः। यद्यचिन्त्यमहाशक्तौ भगवत्यपराधिनः॥"२८८॥

अतएव तत्रैव—

"जीवन्मुक्ताः प्रपद्यन्ते क्वचित् संसारवासनाम्। योगिनो वै न लिप्यन्ते कर्म्मभिर्भगवत्पराः॥२८९॥

तथा तत्र रथयात्रा-प्रसङ्गे विष्णुभक्तिचन्दोदयादि-धृतं पुराणान्तरवचनम्—

"नानुव्रजति यो मोहाद्व्रजन्तं परमेश्वरम्। ज्ञानाग्निदग्धकर्म्मापि स भवेद्ब्रह्मराक्षसः॥" २९०॥

एवमेवोक्तम् (भा० ३।९।१४) —"योऽनादृतो नरकभाग्भिरसत्प्रसङ्गैः" इति। अतएवोपदिष्टम् (भा० ११।१९।५) —

हे अर्जुन! जिन के चित्त, निर्विशेष ब्रह्म स्वरूप में आसक्त है, उनको अधिकतर क्लेश प्राप्त करना पड़ता है, श्रीभगवद् गीता में इस प्रकार उल्लेख होने के कारण, ज्ञानि वृन्द प्रचुर क्लेश स्वीकार कर जीवन्मुक्ति अवस्था में उपनीत होकर भी उस अवस्था से अधः पतित होते हैं, अर्थात् भ्रष्ट होते हैं। कब इस प्रकार भ्रष्ट होने का अवसर आता है? उत्तर में कहते हैं—जिस समय ज्ञानि गण, भक्त एवं भगवान् का अनादर करते हैं—कारण भगवदनादर कारी ज्ञानि गण के सम्बन्ध में भगवत् कृष्ण शक्ति का आविर्भाव नहीं होता है। यह तो रही बुद्धि पूर्वक भगवदनादर का सुस्पष्ट फल। अबुद्धि पूर्वक अनादर करने से देहद्वय की आसक्ति की निवृत्ति नहीं होती है। यद्यपि ज्ञानि वृन्द के पाप समूह भस्मीभूत होते हैं, तथापि महाशक्ति युक्त श्रीभगवान् के चरण कमल युगल की अवज्ञा करने के कारण पुनर्वार ज्ञानिगण के हृदय में भोगवासना का उद्गम होता है। उस विषय में वासना भाष्योद्धृत भगवत् परिशिष्ट का वचन इस प्रकार है—

"जीवन्मुक्ता अपि पुनर्बन्धनं यान्ति कर्म्मभिः।
यद्यचिन्त्य महाशक्तौ भगवत्यपराधिनः॥"२८८॥

जीवन्मुक्त महापुरुष वृन्द भी यदि अचिन्त्य महाशक्ति सम्पन्न भगवान् के निकट अपराधी होते हैं तो वे सब, कर्मराशि के द्वारा पुनर्वार बन्धन दशा को प्राप्त करते हैं। अतएव उक्त वासना भाष्य में ही लिखित है—

"जीवन्मुक्ताः प्रपद्यन्ते क्वचित् संसारवासनाम्।
योगिनो वै न लिप्यन्ते कर्म्मभिर्भगवत् पराः॥"२८९॥

जीवन्मुक्त महात्मा गण भी संसार वासना को प्राप्त करते हैं, किन्तु भगवत् परायण योगिगण कभी भी कर्म के द्वारा लिप्त नहीं होते हैं। उस प्रकार विष्णु भक्ति चन्द्रोदय ग्रन्थ के रथयात्रा प्रसङ्ग में उद्धृत पुराणान्तर वचन है—

'नानुव्रजन्ति यो मोहाद्व्रजन्तं परमेश्वरम्।
ज्ञानाग्निदग्धकर्म्मापि स भवेद्ब्रह्मराक्षसः॥"२९०॥

जो मानव, अज्ञान वशतः रथारोहण करके यात्रा कारी श्रीभगवान् के पश्चात् गमन नहीं करते हैं,

"तस्माज्ज्ञानेन सहितं ज्ञात्वा स्वात्मानमुद्धव ।
ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो भज मां भक्तिभावितः ॥" २९१॥ इति

तस्मात् सुतरामेव सर्व्वेषां श्रीहरिभक्तिर्नित्येत्यायातम् ॥ देवाः श्रीभगवन्तम् ॥

११२ । प्रेमकृत--कर्म्माशयनिर्धुननानन्तरमपि भक्तिः श्रूयते (भा० ११।१४।२५)—

(११२) "यथाग्निना हेम मलं जहाति, ध्मातं पुनः स्वं भजते च रूपम् ।
आत्मा च कर्म्मानुशयं विधूय, मद्भक्तियोगेन भजत्यथो माम् ॥"२९२ ।

वे सब ज्ञानाग्नि दग्ध कर्मा होने पर भी ब्रह्म राक्षस होते हैं । अतएव भा० ३।९।१४ में उक्त है—

"तद्वा इदं भुवन मङ्गल मङ्गलाय
ध्याने स्म नो दरशितं त उपासकानाम् ।
तस्मै नमो भगवतेऽनुविधेम तुभ्यं
योऽनादृतो नरकभाग्भिरसत् प्रसङ्गैः ॥"

टीका—नन्वेवमपि सोपाधिकमेतदर्वाचीनमेवेत्याशङ्क्याह—तद्वै तेदेवेदम् । हे भुवन मङ्गल ! यतस्ते त्वया नोऽस्माकमुपासकानां मङ्गलाय ध्याने दर्शितम् । नहि अव्यक्त वर्त्माभिनिवेशित चित्तानामस्माकं त्वया सोपाधिक दर्शनं दातुं युक्त मिति भावः । अतस्तुभ्यं नमोऽनुविधेम अनुवृत्ता करवाम । तर्हि किमिति के चिन्मां नाद्रियन्ते ? तत्राह योऽनादृत इति । असत् प्रसङ्गैः निरीश्वर कुतर्क निष्ठैः ॥

तुम, असत् प्रसङ्ग कारी नरक गामी वृन्द के द्वारा अनादृत होते रहते हो, इस सेप्रतिपन्न हुआ है कि—जो लोक—श्रीभगवान् को अनादर करते हैं, वे सब नारकी हैं । अतएव भा० ११।१९।५ में उक्त है—

'तस्माज्ज्ञानेन सहितं ज्ञात्वा स्वात्मानमुद्धव ।
ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो भज मां भक्तिभावितः ॥"२९१॥

टीका—उपसंहरति । ज्ञानेनसहितं तत्पर्य्यन्तं यथा भवति तथा ज्ञात्वा तत् सम्पन्नः सन् मामेव भज अन्यत् सर्वं त्यजेत्यर्थः ॥

हे उद्धव ! अपर किसी प्रकार पवित्र अनुष्ठान से चित्त विशुद्ध नहीं हो सकता है, जीव का कृष्ण दासत्व अभिमान होने से एवं अनुभव होने से भक्ति साधन में जिस प्रकार आदर एवं आवेश होता है, उस प्रकार किसी भी पवित्र साधनके द्वारा भक्तिमें आवेश तथा उसके प्रति आदर उपस्थित नहीं होता है । अतएव भक्ति अविरुद्ध ज्ञान का वैशिष्ट्य है, अतः शास्त्रार्थ विचार के द्वारा जीव का यथार्थ स्वरूप, भगवद् दासत्व पर्य्यन्त अनुभव करके जीव स्वरूप ज्ञान, एवं अनुभव सम्पन्न होकर भक्ति भाव से मेरा भजन करो, एवं अन्य समुदय आवेश को परित्याग करो ।

इस प्रकार ज्ञानी साधक के पक्ष में भी श्रीहरि में भक्ति करना अवश्य कर्त्तव्य है, उस को दर्शाया गया है । अतएव समस्त श्रेणी के साधकों के पक्ष में श्रीहरिभक्ति अतिशयरूपेण आचरणीय है–यह ही निर्णय हुआ ।

देवतावृन्द—श्रीभगवान् को कहे थे ॥१११॥

११२। भगवत् प्रेम के द्वारा कर्माशय निर्धूत होने के पश्चात् भी भक्ति अनुष्ठान की कथा श्रुत भा० ११।१४।२५ में है—

(११२) "यथाग्निना हेम मलं जहाति, ध्मातं पुनः स्वं भजते च रूपम् ।

तथैवात्मा जीवो मत्प्रेम्णा कर्म्माशयं विधूय ततः शुद्धस्वरूपञ्च प्राप्य मां भजतीत्यर्थः। तदुक्तम् (भा० दी० १०।८७।२१ श्रीस्वामि-टीका-धृत-श्रीसर्वज्ञमुनिवाक्ये)—"मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भगवन्तं भजन्ते" इति ॥

श्रीभगवान् ॥

११३। एवमप्युक्तं स्कान्दे रेवाखण्डे—

"इन्द्रो महेश्वरो ब्रह्मा परं ब्रह्म तदैव हि। श्वपचोऽपि भवत्येव यदा तुष्टोऽपि केशव ॥२९३॥
श्वपचादपकृष्टत्वं ब्रह्मेशानादयः सुराः। तदैवाच्युत यान्त्येते यदैव त्वं पराङ्मुखः ॥"२९४॥ इति

तथैवाह (भा० ३।२८।२२)—

(११३) "यच्छौचनिःसृत-सरित्प्रवरोदकेन।
तीर्थेन मूर्द्ध्न्यधिकृतेन शिवः शिवोऽभूत्" इति।

आत्मा च कर्म्मानुशयं विधूय, मद्भक्तियोगेन भजत्यथो माम् ॥"२९२॥

टीका—अपि च भक्त्यैव आत्मशुद्धि र्नान्यत इति सदृष्टान्तमाह यथेति। यथेति। यथाग्निना ध्मातं तापितमेव सुवर्णम् अन्तर्मलं जहाति न क्षालनादिभिः स्वं निजं रूपञ्च भजते। कर्मानुशयं कर्मवासनाम्। मां भजते मद्रूपताम् आपद्यते।

श्रीभगवान् उद्धव को कहे थे हे उद्धव! अग्नि द्वारा सुवर्ण जिस प्रकार निज मालिन्य को परित्याग करता है, एवं तापित होने से ही उज्ज्वल वर्ण धारण भी करता है, उस प्रकार जीव भी मद् विषयक प्रेम से कर्माशय को विधूत करके तदनन्तर विशुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर मेरा भजन करता है। अर्थात् जीव प्रेम भक्ति के द्वारा कर्म वासना का त्याग करके महा प्रेमाविर्भाव हेतु मेरी परिपूर्ण सेवापद्धति को प्राप्त करता है। भागवत भावार्थ दीपिका १०।८७।२१ में श्रीधर स्वामिकृत उल्लिखित श्रीसर्वज्ञमुनि वाक्य है—

"मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्या भगवन्तं भजन्ते"

मुक्त पुरुष वृन्द भी लीलापूर्वक शरीर धारण करके श्रीभगवान् का भजन करते हैं। इस प्रमाण से निर्णीत हुआ कि—विशुद्ध स्वरूप प्राप्ति के पश्चात् भी श्रीभगवान् में भक्ति मुक्त गण करते रहते हैं।

श्रीभगवान् कहे थे। (११२)

११३। स्कन्द पुराण के रेवा खण्ड में भी इस प्रकार उक्ति है—

"इन्द्रोमहेश्वरो ब्रह्मा परं ब्रह्म तदैव हि।
श्वपचोऽपि भवत्येव यदा तुष्टोऽसि केशव ॥२९३॥
श्वपचादपकृष्टत्वं ब्रह्मेशानादयः सुराः।
तदैवाच्युत यान्त्येते यदैव त्वं पराङ्मुखः ॥"२९४॥

हे केशव! इन्द्र, महेश्वर, ब्रह्मा यहाँतक कि श्वपच भी उस समय परम ब्रह्म स्वरूप को प्राप्त कर सकता, जब तुम उनके प्रति प्रसन्न होते हो, किन्तु ब्रह्मा, शिव, इन्द्रादि देवगण तभी श्वपच से भी निकृष्ट हो जाते हैं, जब तुम उनके प्रति अप्रसन्न होते हो, श्रीकपिल देवने भी भा० ३।२८।२२ में कहा है—

(११३)"यच्छौच निःसृत सरित् प्रवरोदकेन
तीर्थेन मूर्द्धन्यधिकृतेन शिवः शिवोऽभूत्।
धातुर्मनः शमलशैल निसृष्ट वज्रं

स्पष्टम् । तस्माद्भक्तेर्महानित्यत्वेनाप्यभिधेयत्वमायातम् । अग्रे (भा० १०।८७।२०)— "स्वकृतपुरेषु" इत्यादौ जीवानां स्वभावसिद्धा सैवेति व्याख्येयम् ॥ श्रीकपिलदेवः ॥

११४ । तदेवमवान्तरतात्पर्य्येण भक्तेरेवाभिधेयत्वं षड्‌विधैरपि लिङ्गैरवगम्यते ।

ध्यायेच्चिरं भगवतश्चरणारविन्दम् ॥"

टीका—किञ्च यस्य शौचेन क्षालनेन निःसृतायाः सरित् प्रवराया गङ्गाया उदकेन तीर्थेन संसार तारकेण मूर्द्धिन अधिकृतेन धृतेन शिवोऽपि शिवोऽभूत् अत्यधिकं सुखं प्रापेत्यर्थः । ध्यातुर्मनसि यः शमल शैलः पापपर्वतः, तस्मिन् निसृष्टं क्षिप्तं वज्रमिव यत् । यद्वा शमलशैले निसृष्टं स्वलाञ्छनरूपं वज्रयेन तत् ।

शिव, जिनके चरण प्रक्षालन से निःसृत परम पवित्र सरित् प्रवर गङ्गा जल को मस्तक में धारण करके शिव नाम से अभिहित हुये हैं, अर्थात् स्वयं सुखी होकर अपर को सुखी करने की क्षमता को प्राप्त किये हैं, उन भगवान् के चरण युगल का ध्यान निरन्तर करना चाहिये, कारण, उक्त चरण युगल ही पाप पर्वत को विचूर्ण करने के निमित्त वज्ररूप हैं। इस से प्रतिपन्न होता है कि विशुद्ध स्वरूप होकर भी श्रीभगवद् भक्ति करते हैं। अतएव भक्ति का महानित्यत्व निबन्धन अभिधेयत्व--अर्थात् अवश्य कर्त्तव्यत्व प्रदर्शित हुआ। अग्रिम ग्रन्थ भा० १०।८७।२० में भी उक्त है—

"स्वकृतपुरेष्वमीष्ववहिरन्तरसंवरणं
तव पुरुषं वदन्त्यखिल शक्ति धृतोऽशकृतम् ।
इति नृगतिं विविच्य कवयो निगमावपनं
भवत उपासतेऽङ्‌घ्रिमभवं भुवि विश्वसिताः ॥"

टीका—अपि च कुतो नियमाशङ्का स्यात्, भगवतो देहाद्युपाधि कृतदोष प्रसङ्ग इति यतोऽविद्याकाम कर्मभिः संसरतो जीवस्यापि भगवद् भावं लक्षणय बोधयन्त्यस्तं दोषं निषेधयन्ति । स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकस्तत्वमसीत्याद्याः श्रुतयः । ननु कृतवर्थस्यात्मनः स्तुतिरियम् ईश्वरत्वेन क्रियते न तु तस्येश्वरत्वं बोध्यते । नैतद् युज्यते । यतस्तत्र यस्य देवे पराभक्ति र्यथादेवे तथा गुरौ । तस्यैते कथिताह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मन इत्याद्याः श्रुतयः कृतावतारस्य भगवत श्चरण भजनमुपायं वदन्तीत्याह स्वकृत पुरेष्विति । स्वकर्मोपार्ज्जितेषु पुरेषु देहेष्वमीषु नरादिषु भोक्तृत्वेन वर्त्तमानं पुरुषम्, अखिल शक्तिधृतः सर्वशक्तचाश्रमस्य पूर्णस्य तवांशकृतं वदन्ति । अंश इवांशः कृत इव कृतः । त्वद्रूपं वदन्तीत्यर्थः । ननु कार्य्य कारण संवृतस्य कुत एवम्भूतत्वं तत्राह-अवहिरन्तर संवरणमिति । वहिः कार्य्यम् अन्तरं कारणम् वस्तुत स्तदावरण शून्यम्, तयोरसत्त्वादित्यर्थः । इत्येवं नृगतिं नु जीवस्य गति तत्त्वं विविच्य विशोध्य कवयो ऽन्यथेदं न प्राप्यत इति जानन्तो निगमावपनं निगमोक्तकर्मणामावपनम् । आ समन्तात् उपान्तेऽस्मिन्नित्यावपनं क्षेत्रं सर्वार्पण विषयमित्यर्थः । यत्रार्पितानि कर्माणि मुक्तिफलं फलन्ति, तं भगवतोऽङ्‌घ्रिम्, अभवं भवनिवर्त्तकं, विश्वसिताः, कृतविश्वासा उपासते--अर्च्चनवन्दनादिभिः सेवन्ते । भुवीति--मर्त्यलोके इदमेवोचितमितिदर्शयति ॥

त्वदंशस्य ममेशान त्वन्मायाकृतबन्धनम् ।
त्वदङ्‌घ्रिसेवामादिश्य परानन्द निवर्त्तय ।"

इस श्लोक में जीव मात्र की जो स्वभाव सिद्धा भगवत् सेवा है, उस का प्रदर्शन आगे होगा ।

श्रीकपिलदेव कहे थे ।

तत्रोप-क्रमोपसंहारयोरेकत्वेन यथा (भा० १।१।१) "जन्माद्यस्य यतः" इत्यादावुपक्रम-पद्ये "सत्यं परं धीमहि" इति। अत्र श्रीगीतासु(१२।१)"एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्य्युपासते" इत्यादौ श्रीभगवत्येव ध्यानस्याकष्टार्थत्वेन तद्ध्यानिनो युक्ततमत्वेन चोक्तत्वात् (गी० ७।७) "मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चित्, इत्यादौ, (गी० १४।२७) "ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्" इत्यादौ परतत्त्वस्य श्रीभगवद्रूप एव पर्य्यवसानात्, तस्यैव सर्व्वज्ञत्व-सर्व्वशक्तित्वाभ्यां जगज्जन्मादि-हेतुत्वात्तत्र श्रीभगवत्येव ध्यानमभिधीयते। तथैव हि तत् पद्यं (१०४ अनु०) परमात्मसन्दर्भे

११४। उक्त रीति से श्रीमद् भागवत् का अभिधेयत्व भक्ति ही है, इस का बोध, अवान्तर तात्पर्य्य से एवं उपक्रम उपसंहार, अभ्यास, अपूर्व फल, अर्थ बाद, उपपत्ति रूप षड़् बिध लिङ्ग के द्वारा होता है। उस के मध्य में उपक्रमोपसंहार का एकत्व हेतु श्रीमद् भागवत के उपक्रम एवं उपसंहार में एक ही अभिधेयत्व वर्णित है, अर्थात् एक ही भगवान् का ध्यान करने की सामर्थ्य लाभ हेतु प्रार्थना जिस प्रकार उपक्रम श्लोक में है, उस प्रकार उपसंहार श्लोक में भी है। "जन्माद्यस्य यतः" इत्यादि उपक्रम श्लोक में "सत्यं परं धीमहि" के द्वारा भगवान् का ध्यान करने की योग्यता प्रार्थना की गई है। ध्यान के सम्बन्ध में श्रीभगवद् गीता १२।१ में उक्त है—"एवं सततयुक्ता ये भक्तस्त्वां पर्य्युपासते" हे भगवन्। इस प्रकार सतत अभियुक्त चित्त से जो सब भक्त तुम्हारी उपासना करते हैं और जो लोक तुम्हारे अव्यक्त निर्विशेष ब्रह्म स्वरूप की उपासना करते हैं, इन सबों के मध्य में योगवित्तम कौन हैं? अर्थात् उभयविध योगी के मध्य में श्रेष्ठ कौन हैं? इत्यादि श्लोक में कथित है कि—जो लोक श्रीभगवान् का ध्यान करते हैं, उनको क्लेश प्राप्त करना नहीं पड़ता है। इस प्रकार कथन से श्रीभगवद्ध्यान का सुख साध्यत्व प्रदर्शित हुआ है। भगवद् गीता ७।७ में उक्त है, "मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय" एवं १४।२७ में उक्त है—ब्रह्मणोहि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च॥" एवं "सततयुक्ताः" प्रश्न के उत्तर में श्रीभगवान् कहे थे, हे अर्जुन! जो भक्त मुझ में आविष्टमनाः एवं नित्याभियुक्त होकर परम श्रद्धान्वित हृदय से मेरी उपासना करते हैं, मैं उनको युक्ततम मानता हूँ। इस प्रकार भगवदुक्ति से सुव्यक्त हुआ है कि-भगवत् स्वरूप ध्यान कारी व्यक्ति ही युक्ततम हैं, अतः "सत्यं परं धीमहि" पद व्याख्या में भगवद्ध्यान की योगता प्रार्थना की गई है। इस प्रकार समझना चाहिये।

"ब्रह्मणोहि प्रतिष्ठाहं" श्लोक में कहा गया है—मैं अमृत अव्यय ब्रह्म की प्रतिष्ठा हूँ, अर्थात् परमानन्द घनीभूत श्रीविग्रह हूँ। आश्रय हूँ। निर्विशेष ब्रह्मानन्दरस ही, अघटन घटन पटीयसी चिन्मयी योगमाया शक्ति की वैचित्र्य से भगवद्रूप में अभिव्यक्त होता है। इस उक्ति में "पर तत्त्व" का अर्थात् पार मार्थिक श्रेष्ठतत्त्वका पर्य्यवसान श्रीभगवद्रूप में है, तज्जन्य सविग्रह श्रीभगवान् ही अन्य निरपेक्ष परतत्त्व है, व्यक्त हुआ है। सर्व्वज्ञ एवं सर्वशक्तियुक्त होने के कारण श्रीभगवान् ही जगत् के जन्म स्थिति नाश के हेतु हैं, तज्जन्य "सत्यं परं धीमहि" वाक्यस्थ पर शब्द से श्रीभगवान् ही अभिहित हुए हैं। एवं उक्त भगवद्-ध्यान की प्रार्थना की गइ है। इस उप क्रम वाक्य में भी भक्ति का ध्यानाङ्ग रूप अभिधेयत्व वर्णित हुआ है। परमात्म सन्दर्भ में "जन्माद्यस्य" श्लोक की विस्तृत व्याख्या है, जिस में उक्त श्लोक का तात्पर्य्य श्रीभगवान् में ही पर्य्यवसित हुआ है।

भा० १२।१३।१४ में उक्त है—

"कस्मैयेन विभासितोऽयमतुलोज्ञानप्रदीपः पुरा,
तद्रूपेण च नारदाय मुनये कृष्णाय तद्रूपिणा।

विवृतमस्ति। (भा० १२।१३।१९) "कस्मै येन विभासितोऽयमतुलो ज्ञानप्रदीपः पुरा" इत्यादावुपसंहार-पद्येऽपि "सत्यं परं धीमहि" इति। अतएव स्पष्टमेवास्य श्रीभगवत्त्वम्, श्रीभागवतवक्तृत्वात्, पूर्व्वञ्च (भा० १।१।१) "तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये" इत्युक्तम् अभ्यासेनोदाहरणं, पूर्व्वं दर्शितमदर्शितं चानेकविधमेव, अपूर्व्वतया फलेन च दर्शितं श्रीव्यास-समाधौ (भा० १।७।६

योगीन्द्राय तदात्मनाथभगवद्राताय कारुण्यत
स्तच्छुद्धं विमलं विशोकममृतं सत्यं परं धीमहि ॥"

क्रमसन्दर्भ—"वस्त्वद्वितीयं तन्निष्ठम्" इति सामान्यत स्तात्पर्य्यं दर्शयित्वा भा० १।१।२ "जन्माद्यस्य" इत्याद्युपक्रम पोषकं श्रीभगवत्येव तस्य पर्य्यवसानं दर्शयन्नुपसंहरति–कस्मा इति। कस्मै ब्रह्मणे, महावैकुण्ठं दर्शयता श्रीभगवता येन विभाषितः प्रकाशितः, नतु तदा विरचितोऽयं श्रीमद्भागवत रूपः। पुरा—पूर्व परार्द्धादौ, तदात्मनेत्यस्योत्तरेणान्वयः। तत्र तदात्मना श्रीशुकरूपेणेति गम्यम्। 'तद्रूपेण च' इत्यादिभिस्त्रिभिः पदै र्न केवलं चतुःश्लोक्येव ते न प्रकाशिता, अपितु, तत तत्राविष्टेन अखण्डमेवेदं पुराणमिति द्योतितम्। श्रीसङ्कर्षण सम्प्रदाय प्रवृत्तिस्तु, श्रीकृष्ण द्वैपायन कर्त्तृक प्रकाशनान्तर्गतमेवेति पृथङ्नोक्ता। तत् परं सत्यं भगवदाख्यं तत्त्वं धीमहि, 'यत्तत् पदमनुत्तमम्' इति सहस्रनामस्तोत्रे तच्छब्दस्य तन्नामत्वेन गणितत्वात्। परं शब्देन च श्रीभगवानेवोच्यते। आद्योवतारः पुरुष परस्य" इति द्वितीयात्। ब्रह्मादीनां बुद्धि वृत्ति प्रेरकत्वेनाभिधानाद् गायत्र्यर्थोपलक्षितेन धीमहीति गायत्री पदेनोपसंहारः॥

इत्यादि उपसंहार श्लोक में भी 'जन्माद्य' इत्यादि उपक्रम श्लोक के समान 'सत्यं परं धीमहि' अविकृत एक ही पद का उल्लेख हुआ है। अतएव 'सत्यं परं धीमहि' वाक्यस्थ 'पर' शब्द का वाच्य श्रीभगवान् हैं। कारण, श्रीभगवान् ही श्रीमद् भागवत ग्रन्थ वक्ता हैं। संक्षेप में उन्होंने ही श्रीमद् भागवत के मुख्य प्रतिपाद्य परम गुह्य भगवज् ज्ञान, भगवदनुभव, भगवत् प्रेम एवं भगवत् प्रेम प्राप्ति का अव्यभिचारी उपाय साधन भक्ति इन चार तत्त्वों का उपदेश श्रीब्रह्मा को किया था। उपक्रम श्लोक में जिस प्रकार "तेने ब्रह्महृदा य आदिकवये" अर्थात् जिन्होंने ब्रह्मा के हृदय में सृष्टि के प्राक् काल में वेदार्थ तात्पर्य्य का प्रकाश किया था, इस प्रकार उल्लेख है, उस प्रकार उपसंहार वाक्य में भी "कस्मैयेन विभाषितोऽयमतुलो ज्ञान प्रदीपः पुरा" अर्थात् जिन्होने ब्रह्मा के समीप में साध्य साधनादि तत्त्व ज्ञान का प्रदीपस्वरूप श्रीभागवताख्य शास्त्र उपदेश किया, उन सत्यरूप 'पर' अर्थात् भगवान् का ध्यान करने की योग्यता प्रार्थना करता हूँ। इस प्रकार उपक्रम एवं उपसंहार वाक्य के द्वारा श्रीमद् भागवत का तात्पर्य्य श्रीभगवान् के ध्यान में पर्य्यवसित हुआ है।

शास्त्र तात्पर्य्य निर्णय हेतु षड़्विध लक्षण विहित हैं। अर्थात् शास्त्र में प्रसङ्ग क्रम से विविध विषय वर्णित होते हैं, किन्तु शास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय क्या है, इस को अवगत होने के निमित्त उपक्रम उपसंहार, अभ्यास (पुनः पुनः उल्लेख) अपूर्व, फल, अर्थवाद, उपपत्ति (युक्ति) ये छै लक्षणों को अवलम्बन करना पड़ता है। श्रीमद् भागवत के उपक्रम एवं उपसंहार वाक्य में जिस प्रकार श्रीभगवद् ध्यान की प्रार्थना की गई है, उस प्रकार अभ्यास– अर्थात् एक ही विषय का पुनः पुनः उल्लेख के द्वारा भी भगवद् भक्ति का अवश्य कर्त्तव्यतारूप अभिधेयत्व प्रदर्शित हुआ है। इस का प्रदर्शन पूर्व ग्रन्थ में हुआ है। एवं प्रस्तुत सन्दर्भ में अनुल्लिखित रूप में भी श्रीमद् भागवत में अनेक प्रकार उल्लेख हैं। अपूर्व एवं फल का प्रदर्शन श्रीव्यास समाधिस्थ भा० १।७।६ में है—

"अनर्थोपशमं साक्षाद् भक्ति योगमधोक्षजे।

"अनर्थोपशमं साक्षात्" इत्यादि, प्रशंसालक्षणेनार्थवादेन चाभ्यासवद्बहुविधमेव तत्र तत्रास्ति, उपपत्त्या च (भा० ११।२।३७) "भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्तात्" इत्याद्यनेकमिति । अत्र गतिसामान्ये च (भा० १।५।२२)–"इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा" इत्यादि तथाह (भा०३।५।१२)

लोकस्याजानतो विद्वांश्चक्रे सात्वतसंहिताम् ।"

टीका–अनर्थमुपशमयति–योऽधोक्षजे साक्षाद् भक्ति योगः, तञ्चापश्यत् । एतत् सर्वं स्वयं दृष्ट्वा एवमजानतो लोकस्यार्थे सात्वतसंहितां श्रीभागवताख्यां चक्रे । तदनेन श्लोकत्रयेण श्रीभागवतार्थः संक्षेपेण दर्शितः । एतदुक्तं भवति,—विद्याशक्त्या मायां नियन्ता नित्याविर्भूत परमानन्द स्वरूपः सर्वज्ञः सर्वशक्तिरीश्वरः, तन्मायया सम्मोहित स्तिरोभूत स्वरूपस्तद्विपरीत धर्मा जीवः, तस्यचेश्वरस्य भक्त्या लब्धज्ञानेन मोक्ष इति । तदुक्तं विष्णुस्वामिना ह्लादिन्या संविदाश्लिष्टः सच्चिदानन्द ईश्वरः स्वाविद्या संवृतोजीवः संक्लेश निकराकरः । तथा—स ईशो यद्वशे माया स जीवो यस्तयार्दितः । स्वाविर्भूतपरानन्दः स्वाविर्भूतसुखदुःख भूः स्वादृगुत्थ विपर्य्यास भवभेदजभीशुचः । यन्मायया जुषन्नास्ते तमिमं नृहरिं नुमः । इत्यादि ।

साक्षात् भक्ति योग के द्वारा ही अनर्थ की निवृत्ति होती है । अधोक्षज श्रीभगवान् में उस प्रकार साक्षात् भक्ति योग का दर्शन भी श्रीव्यास देव किये थे । इस से भक्ति योग के द्वारा निखिल अनर्थ निवृत्ति रूप अपूर्व, एवं फल का प्रदर्शन हुआ । श्रीमद् भागवत में प्रशंसा लक्षण अर्थ वाद के द्वारा भी अभ्यास के समान भक्तियोग की प्रशंसा विविध रूप से उल्लिखित है । उपपत्ति–अर्थात् युक्ति के द्वारा भी प्रदर्शित हुआ है कि—भगवद् भक्ति के विना, अपर किसी भी उपाय से जीव का मायापसारण एवं स्वरूप ज्ञान नहीं हो सकता है । भा० ११।२।३७ में उसका वर्णन है ।

"भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्या
दीशा पेतस्य विपर्य्ययोऽस्मृतिः ।
तन्माययातो बुध आ भजेत् तं
भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा ।"

टीका–ननु किमेवं परमेश्वर भजनेन । अज्ञान कल्पित भयस्य ज्ञानैक निवर्त्यत्वादित्याशङ्क्याह–च यमिति । यतो भयं तन्माययाभवेत् अतो बुधो बुद्धिमानं स्तमेव आभजेत् । ननु भयं देहाद्यनिभिवेशतो भवति सच देहाहङ्कारतः सच स्वरूपास्मरणात् । किमत्र तस्य माया करोति– अत आह ईशादपेतस्येति । ईश विमुखस्य तन्मायया अस्मृतिर्भगवतः स्वरूपास्फूर्त्ति स्ततो विपर्य्ययो देहोऽस्मीति ततो द्वितीयाभि निवेशाद् भयं भवति । एवं हि प्रसिद्धं लौकिकीष्वपि मायासु । उक्तञ्च भगवता, दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया । मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते इति एकया अव्यभिचारिण्या भक्त्या भजेत् । किञ्च गुरुदेवतात्मा--गुरुदेव देवता ईश्वर आत्मा प्रेष्ठश्च यस्य तथा दृष्टिः सन्नित्यर्थः ।

श्रीमद् भागवत के(१।१५।२२)में गति सामान्य के द्वारा भी अर्थात् निखिल साधनों का फल रूप में भी भगवद् भक्ति की ही अवश्य कर्त्तव्यता प्रदर्शित हुई है ।

"इदं हि पुंस स्तपसः श्रुतस्य वा स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धदत्तयोः ।
अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो यदुत्तमः श्लोक गुण नु वर्णनम् ।।

टीका—"अनेनैव तप आदि सर्वं तव सफलं स्यादित्याह इदमिति । श्रुतादयो भावे निष्ठा । इदमेव हि तपः श्रवणादेरविच्युतो नित्यः अर्थं फलम् । किं तत् ? उत्तमश्लोकस्य गुणानु वर्णनमिति यत् ।।"

(११४) "मुनिर्विवक्षुर्भगवद्गुणानां, सखापि ते भारतमाह कृष्णः" इत्यादि। स्पष्टम् ॥ श्रीविदुरः ॥

११५। इयमेव भक्तिः (भा० १।१।२) "धर्म्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सताम्" इत्यत्रोक्ता। (भा० २।१०।१) "अत्र सर्गो विसर्गश्च" इत्यादौ दशलक्षण्यामपि सद्धर्म्म

मानव मात्र के तपस्या, वेदाध्ययन, यज्ञ, मन्त्रजप, ज्ञान एवं दान—इन सब साधनों का मुख्य फल उत्तम श्लोक श्रीहरि का गुणाणुवर्णन है। अर्थात् मनीषिवृन्द–श्रीहरि गुण कीर्त्तन को ही निखिल साधनों का मुख्य फल कहते हैं। अतएव समस्त साधनों का समान अर्थात् एकफल रूप में श्रीमद् भगवद् भक्ति की ही अवश्य कर्त्तव्यता प्रदर्शित हुई है।

भा० ३।५।१२ में उक्त है—

(११४) "मुनिर्विविक्षु र्भगवद् गुणानां, सखापि ते भारत माह कृष्णः।
यस्मिन्नृणां ग्राम्यसुखानुवादै र्मतिगृहीता नु हरेः कथायाम् ॥

टीका—महाभारतस्यापि अत्रैव तात्पर्य्यमित्याह। मुनिः कृष्णो वेदव्यासः, भगवद्गुणान् मोक्षधर्मान्ते नारायणीयोपाख्यानेन वक्तुमिच्छुः सन्' अर्थ कामादि वर्णनन्तु हरिकथायां मति प्रवेशार्थमेवेत्याह–यस्मिन्निति। नृणां मतिः ग्राम्यसुखानुवादै र्द्वारभूतैः नु निश्चितं हरेः कथायां गृहीता नीता। तदुक्तं इतिहास समुच्चये। कामिनो वर्णयन् कामान् लोभंलुब्धस्य वर्णयन्। नरः किं फल माप्नोति कूपेऽन्धमिव पातयन्। लोकचित्तावतारार्थं वर्णयित्वात्र तेन तौ। इतिहासैः पवित्रार्थैः पुनरत्रैव निन्दितौ। अन्यथा घोरसंसार बन्ध हेतु र्जनस्य तौ। वर्णयेत् स कथं विद्वान् महाकारुणिको मुनिरिति॥"

विदुर मैत्रेय ऋषि को कहे थे— आप के सखा मुनि वेदव्यास, भगवद् गुण वर्णन करने का अभिलाषी होकर महाभारत वर्णन किये हैं, जिस में हरि कथा में मति प्रवेश कराने के निमित्त मानव वृन्दों का अर्थ कामादि वर्णन रूप ग्राम्य सुखानुवाद किये हैं। इस से भी मुख्य पुरुषार्थ श्री हरि कथा कीर्त्तन ही है। "इदं हि पुंसः" श्लोक में निखिल साधनों का मुख्य फल-श्रीहरि कीर्त्तन को ही कहा गया है। अतएव गति सामान्य न्याय से—श्रीमद् भागवत १।५।२२ में उक्त उत्तम श्लोक के गुणानुवाद को मुख फल रूप में दर्शाया गया है। अतएव श्रीमद् भागवत के मुख्य अभिधेय–जो श्रीहरिभक्ति है—इस में कुछ भी संशय नहीं है।

प्रवक्ता श्रीविदुर हैं।।११४।।

११५। उक्त भक्ति की कथा भा० १।१।२ में कही गई है—

"धर्म्मः प्रोज्झित कैतवोऽत्र परमो निर्म्मत्सराणां सतां
वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम्।
श्रीमद् भागवते महामुनिकृते किंवा परैरीश्वरः।
सद्यो हृद्यवरुद्धयतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात्॥"

क्रमसन्दर्भः—अथैतस्य वक्ष्यमाण शास्त्रस्य कर्मज्ञान भक्ति प्रतिपादकेभ्य स्त्रिकाण्ड विषयशास्त्रेभ्यो वैशिष्ट्यं दर्शयन् क्रमादुत्कर्षमाह—धर्म इति। अत्र यस्तावद्धर्म्मो निरूप्यते, स खलु भा० १।२।६ "स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे" इत्यादिकया भा० (१।२।१३) "अतः पुंभिर्द्विजश्रेष्ठा वर्णाश्रम विभागशः। स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धि र्हरितोषणम्, इत्यन्तया रीत्या भगवत् सन्तोषणैक तात्पर्य्येण शुद्ध भक्त्युत्पादक तथा निरूपणात् परम एव। यतः सोऽपि तदेकतात् पर्य्यत्वात् प्रोज्झित कैतवः--प्रकर्षेणोज्झितं कैतवं फलाभिसन्धि लक्षणं कपटं यस्मिंस्तथाभूतः। (प्र) शब्देन सालोक्यादि सर्व प्रकार मोक्षाभिसन्धिरपि

इत्येकलक्षणत्वेनोक्ता । तस्या अभिधेयत्वं श्रीभागवत-वीजरूपायां चतुःश्लोक्यामप्युदाहृतम् (भा० २।९।३५) —

"एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनात्मनः ।
अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्व्वत्र सर्व्वदा ॥"२९५॥ इत्यादि

पूर्व्वं हि ज्ञान-विज्ञान-रहस्य-तदङ्गानि वक्तव्यत्वेन चत्वार्य्येव प्रतिज्ञातानि । तत्र

निरस्तः, यत एवासौ तदेक तात्पर्य्यत्वेन निर्मत्सराणां फल कामुकस्येव परोत्कर्षासहनं मत्सर स्तद्रहितानामेव, तदुपलक्षणत्वेन पश्चालम्भेन दयालूनामिव च सतां स्वधर्म पराणां विधीयते । एवमीदृशं स्पष्टमनुक्तवतः कर्मशास्त्रादुपासनाशास्त्राच्चास्य तत्तत् प्रतिपादकांशेऽपि वैशिष्ट्यमुक्तम् । उभयत्रैव धर्मोत्पत्तेः । तदेवं साक्षात् श्रवण कीर्त्तनादि रूपस्य वार्ता तु दूरत आस्तामिति भावः ॥"

अर्थात् श्रीमद् भागवत में मोक्षाभिसन्धि प्रमुख कपटता शून्य साधुवृन्द के परम धर्म वर्णित है । यहाँपर 'परमधर्म' शब्द से विशुद्ध भक्ति को ही जानना होगा ।

श्रीमद् भागवत के २।१०।१ में उक्त है—

"अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानपोषणमुतयः ।
मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः ॥"

यहाँ दश लक्षण के मध्य में जो सद्धर्म की कथा उल्लिखित है, वह सद्धर्म एवं धर्मः प्रोज्झित कैतवोऽत्र परमोनिर्मत्सराणां सताम् ॥ इत्यादि श्लोक में उक्त परम धर्म का एक ही लक्षण उक्त है। अर्थात् महा पुराण के जो दश लक्षण की कथा उल्लिखित है, उन दश लक्षण के मध्य में "ईशानुकथा" की व्याख्या में, "मन्वन्तराणि सद्धर्म्म" इत्यादि श्लोक में उक्त सद्धर्म, एवं श्रीमद् भागवत के प्रतिपाद्य 'परम धर्म" एकार्थ वाचक है ।

भगवद् भक्ति का अभिधेयत्व का वर्णन श्री मद् भागवत की वीज रूपा चतुःश्लोकी में भी है,

(भा० २।९।३५) "एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनात्मनः ।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा ॥२९५॥

क्रमसन्दर्भ—अथक्रम प्राप्तं रहस्य पर्य्यन्त साधकत्वात् रहस्यत्वेनैव तदङ्गमुपदिशति--एतावदिति । आत्मनो मम भगवत स्तत्त्व जिज्ञासुना प्रेमरूपं याथार्थ्यं रहस्यमनु भवितु मिच्छु नैतावदेव जिज्ञास्यम्--श्रीगुरुचरणेभ्यः शिक्षणीयम् । किं तत् ? यदेकमेव वस्तु अन्वय व्यतिरेकाभ्यां विधि निषेधाभ्यां सदा सर्वत्र स्यादित्युपपद्यते । तत्रान्वयेन यथा (भा० ७।७।५५) "एतावानेव लोकेऽस्मिन्" इत्यादि, (गी० १८।६१) ईश्वरः सर्वभूतानाम् " इत्यादि, (गी० १८।६५) "मन्मनाभव मद्भक्तः" इत्यादि च । व्यतिरेकेण यथा (भा० ११।५।२) ("मुखबाहूरुपादेभ्यः इत्यादि भा० ३।९।१०) ऋषयोऽपिदेव, युष्मत् प्रसङ्ग विमुखा इह संसरन्ति" इत्यादि । (गी० ७।१५) "नमां दुष्कृतिनोमूढ़ाः ।" इत्यादि, (भ० स० ११५ तमानुच्छेदधृत पाद्म वचनम्) 'यावज्जनो भजति नो भुवि विष्णुभक्ति--इत्यादि वा कुत्र कुत्रोपपद्यते ? सर्वत्रशास्त्रकर्त्तृ देश-करण--द्रव्य--क्रिया--कार्य्य -फलेषु समस्तेष्वेव । तत्र समस्त शास्त्रेषु यथा स्कान्दे ब्रह्मनारद संवादे--संसारेऽस्मिन् महाघोरे जन्ममृत्यु समाकुले । पूजनं वासुदेवस्य तारकं वादिभिः स्मृतम् ।।" इति । तत्राप्यन्वयेन यथा--(भा० २।२।३४) (भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येन) इत्यादि । तथा पाद्मे स्कान्दे लैङ्गे च—'आलोड्य सर्व शास्त्राणि विचार्य्य च पुनः पुनः । इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा । इति । व्यतिरेकोदाहरणम् ।

चतुःश्लोक्याः प्राक्तनास्त्रयोऽर्था अपि (६५ अनु०) भगवत्सन्दर्भे क्रमेणैव प्राक्तन-श्लोकत्रये व्याख्याताः । 'रहस्य'-शब्देन तत्र प्रेमभक्तिः, 'तदङ्ग'-शब्देन साधनभक्तिरुच्यते । टीका च--

---

गारुड़े—'पारं गतोऽपि वेदानां सर्वशास्त्रवेद्यपि यो न सर्वेश्वरे भक्त स्तं विद्यात् पुरुषाधमम् ।' इत्यादिकं सर्वत्रावगन्तव्यम् । तच्चान्ते दर्शयिष्यते । एकादशे च (भा० ११।११।१८) 'शब्द ब्रह्मणि निष्णातो न निष्ण यात् परेयदि श्रमस्तस्य श्रमफलो ह्यधेनुमिवरक्षकः इति । सर्व वर्त्तेषु यथा भा० ११।१७।४६ 'ते वै विदन्त्यति तरन्ति च देवमायां, स्त्री शूद्र--हून--शवराः अपि पाप जीवाः । यद्यद्भुत क्रम परायण शील शिक्षा स्तिर्य्यग् जना अपि किमु श्रुतधारणा ये' । इति गारुड़े च—'कीटपक्षि मृगानाञ्च हरौ संन्यस्त चेतसाम् ऊर्द्ध्वामिव गतिं मन्ये किं पुन र्ज्ञानिणां नृणाम् ।" इति, तत्रैव साचारे दुराचारे ज्ञानिन्यज्ञानिनि, विरक्ते रागिणि मुमुक्षौ--मुक्ते,भक्तच सिद्धे, भक्ति सिद्धे । तस्मिन् भगवत् पार्षदतां प्राप्ते, तस्मिन्नित्य पार्षदे' च सामान्येन दर्शनादपि सार्वत्रिकतः । तत्र साचारे दुराचारे च यथा—(गी० ६।३०) 'अपिचेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् । साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः ।' इति । सदाचारस्तु किं वक्तव्य इत्यपेरर्थः । ज्ञानिन्यज्ञानिनि च (भा० ११।११।३३) ज्ञात्वाज्ञात्वाथ ये वै माम् " इत्यादि (बृहन्नारदीये) 'हरि र्हरति पापानि दुष्ट चित्तैरपिस्मृतः । इति । विरक्ते रागिणि च (भा० ११।१४।१८) "बाध्यमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः । प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभि-भूयते' इति । अबाध्यमानस्तु सुतरां नाभिभूयत इत्यपेऽर्थः । मुमुक्षौ मुक्ते च (भा० १।२।२६) 'मुमुक्षवो घोररूपान्' इत्यादि । (भा० १।७।१०) 'आत्मारामाश्च मुनयः' इत्यादि च । भक्तचसिद्धे भक्तिसिद्धे च (भा० ६।१।१५) 'केचित् केवलया भक्त्या वासुदेवपरायणा.' इत्यादि । (भा० ११।२।५३) 'न चलति भगवत् पदारविन्दाल्लवनिमिषार्द्धमपि सवैष्णवाग्रचः' इति च । भगवत्पार्षदतां प्राप्ते (भा० ६।४।६७) "मत्सेवया प्रतीतं ते इत्यादि (भा० ३।१५।२२) 'वापीषु विद्रुमतटास्वमलामृताप्सु ' इत्यादि । सर्वेषु दर्षेषु, भुवनेषु, ब्रह्माण्डेषु तेषां वहिश्च तै स्तैः श्रीभगवदुपासनायाः क्रियमाणायाः श्रीभागवतादिषु प्रसिद्धिः सिद्धैवेति सर्व देशोदाहरणं ज्ञेयम् । सर्वेषु करणेषु यथा 'मनसेनोपचारेण परिचर्य्य हरिं मुदा । परे वाङ्मनसा गम्यं तं साक्षात् प्रतिपेदिरे ।' इति । एवम्भूत वचने हि अस्तु तावद् वहिरिन्द्रियेण, मनसा वचसापि तत् सिद्धिरिति प्रसिद्धिः, सर्व द्रव्येषु यथा (भा० १०।८१।४) 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति' इत्यादि । सर्व क्रियासु यथा (भा० ११।२।१२) 'श्रुतोऽनुपठितो ध्यात आदृतो वानुमोदितः । सद्यः पुनाति सद्धर्मो देव विश्वद्रुहोऽपि हि ।" इति । (गी० ६।२७) 'यत् करोषि यदश्नासि' इत्यादि । एवं भक्त्याभासेषु भक्त्या-भाषापराधेष्वप्यजामिल मूषिकादयो दृष्टान्ताः गम्याः । सर्वेषु कार्य्येषु यथा (स्कान्दे) 'यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञोक्रियादिषु । न्यूनं सम्पूर्णतामेति सद्यो वन्दे तमच्युतम् ।' इति । सर्वफलेषु यथा— (भा० २।३।१०) 'अकामः सर्वकामो वा' इत्यादि, तथा (भा० ४।३१।१४) 'यथातरोर्मूलनिषेचनेन' इत्यादि वाक्येन श्रीहरि पर्य्यायां क्रियमाणायां सर्वेषामन्येषामपि देवादीनामुपासना स्वत एव भवतीत्यतोऽपि सार्व त्रिकता । यथोक्तं स्कान्दे श्रीब्रह्म नारद संवादे—'अर्चिते देवदेवेशे शङ्ख चक्र गदाधरे । अर्चिताः सर्वदेवाः स्युर्यतः सर्व गतोहरिः ।" इति । एवं यो भक्तिं करोति, यद् गवादिकं भगवते दीयते, येन द्वारभूतेन भक्तिः क्रियते, यस्मै श्रीभगवत् प्रीणनार्थं दीयते, यस्माद् गवादिकात् पय आदिकमादाय भगवते निवेद्यते, यस्मिन् देशादौ कुले वा कश्चिद् भक्तिमनुतिष्ठति, तेषामपि भगवत् कृतार्थ त्वं पुराणेषु दृश्यत इतिकारक गतापि । एवं सार्वत्रिकत्वं साधितम् ।

सदातनत्वमप्याह सर्वदेति । तत्र सर्गादौ यथा (भा० ११।१४।३) 'कालेन नष्टा वाणीयं प्रलये वेदसंज्ञिता इति । सर्गमध्ये तु बहुत्रैव । चतुर्विध प्रलयेष्वपि (भा० ३।७।३७) 'तत्रेमं क उपासीरन्' इति विदुर प्रश्ने ।

"रहस्यं भक्तिस्तदङ्गं साधनम्" इत्येषा । ततः क्रम-प्राप्तत्वेन (भा० ११।१४।३) –

"कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेद-संज्ञिता ।
मयादौ ब्रह्मणे प्रोक्ता धर्म्मो यस्यां मदात्मकः ।।"२९६।।

सर्वेषु युगेषु यथा--(भा० १२।३।५२) 'कृतेयद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां भजतो मखैः । द्वापरे पारचर्य्यायां कलौ तद्धरि कीर्त्तनात्" इति । किं बहुना ? सा हानिस्तन्महच्छिद्रं स मोह स च विभ्रमः । यन्मूहूर्त्तं क्षणं वापि वासुदेवं न चिन्तयेत् । इत्यपि वैष्णवे । सर्वावस्थास्वपि—गर्भे श्रीनारदकारित श्रवणेन श्री-प्रह्लादे प्रसिद्धम् । बाल्ये श्रीध्रुवादिषु । यौवने श्रीमदम्बरीषादिषु, वार्द्धक्ये खट्वाङ्ग, ययाति, धृतराष्ट्रादिषु मरणे अजामिलादिषु, स्वर्गितायां चित्र केत्वादिषु, नारकितायामपि, 'यथायथा हरेर्नाम कीर्त्तयन्ति स्म नारकाः । तथा तथा हरौ भक्ति मुद्वहन्तो दिवं ययुः । 'इति नृसिंह पुराणे । अतएवोक्तं दुर्वाससा (भा० ९।४।६२) 'मुच्येत यन्नाम्न्युदिते नारकोऽपि इति । यथा (भा० २।१।११) 'एतन्निर्विद्यमानानाम्' इत्यादावपि सर्वावस्थोदाहृतिः ।।'

अथ तत्र तत्र व्यतिरेकोदाहरणानि च कियन्ति दर्श्यन्ते 'पारं गतोऽपि वेदानां सर्वशास्त्रार्थ वेद्यपि । यो न सर्वेश्वरे भक्तस्तं विद्यात् पुरुषाधमम् । इति । किं वेदैः किमुशास्त्रै र्वा किं वा तीर्थ निषेवणैः । विष्णु भक्ति विहीनानां किं तपोभिः किमध्वरैः । इत्यादि । वाजपेय सहस्रै र्वा भक्ति र्यस्य जनार्दने ।' इत्यादि गारुड़ बृहन्नारदीय पाद्म वचनानि, तथा (भा० २।४।१७) 'तपस्विनो दानपरा यशस्विनो, मनस्विनो मन्त्र विदः सुमङ्गलाः क्षेमं न विन्दन्ति विना यदर्पणं तस्मै सुभद्र श्रवसे नमो नमः ।' (भा० ५।१९।२३) न यत्र वैकुण्ठ कथा सुधापगा, न साधवो भगवता स्तदाश्रयाः । न यत्र यज्ञेशमखा महोत्सवाः सुरेशलोकोऽपि न वै स सेव्यताम् ।" (भा० १०।५९।४१) "यया च आनम्य किरीटकोटिभिः" इत्यादि, (भा० ३।२९।१३) 'सालोक्य सार्ष्टि--सारूप्य--सामीप्य" इत्यादि ।' (भा० ७।७।५२) 'न दानं न तपोनेज्य इत्यादि, (भा० १।५।१२) (१२।१२।५३) 'नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाव वर्णितम् ।' इत्यादि (भा० ३।१५।४८) 'नात्यन्तिकं विगणन्त्यपि ते प्रसादम्' इत्यादयः ।

अथ सर्वत्र सर्वदा यदुपपद्यत इति योजनिकार्थो युगपद् यथा (भा० २।२।३६) "तस्मात् सर्वात्मना राजन् हरिः सर्वत्र सर्वदा" इत्यादि । अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां सर्वत्र सदा यदुपपद्यत इत्यत्र यथा (पाद्मे) 'स्मर्त्तव्यः सततं विष्णुः' इत्यादि । साकल्येऽपि यथा (भा० २।२।३३) 'नह्यतोऽन्यः शिवः पन्थाः' इत्युपक्रम्य तदुपसंहारे (भा० २।२।३६) 'तस्मात् सर्वात्मनाराजन् हरिः सर्वत्र सर्वदा श्रोतव्य कीर्त्तितव्यश्च स्मर्त्तव्यो भगवान् नृणाम् ।।" इति । अत्र नृणां जीवानाम् ।

पहले श्रीभगवान् ज्ञान, विज्ञान, रहस्य एवं उस के अङ्ग इन चारो विषयों का वर्णन करेंगे—इस प्रकार प्रतिज्ञा किये थे ! उक्त चतुः श्लोको के मध्य में ज्ञान विज्ञान एवं रहस्य का कथन 'अहमेवास मेवाग्र ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत' 'यथामहान्ति भूतानि" तीन श्लोकों के द्वारा हुआ है । उक्त प्रति ज्ञात विषय चतुष्टय के मध्य में 'रहस्य' शब्द का अर्थ--प्रेम भक्ति एवं उसके अङ्ग शब्द का अर्थ साधन भक्ति है । श्रीधर स्वामिपाद कृत टीका में भी 'रहस्यं भक्तिस्तदङ्गं साधनं' उल्लेख है । अर्थात् रहस्य शब्द का अर्थ भक्ति है, एवं अङ्ग शब्द का अर्थ उस प्रेम भक्ति प्राप्ति की उपाय स्वरूप श्रवण कीर्त्तनादि विशुद्ध साधन भक्ति है । अतएव क्रम प्राप्त होने के कारण भा० ११।१४।३ में वर्णित है—

"कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेद संज्ञिता ।
मयादौ ब्रह्मणे प्रोक्ता धर्मो यस्यां मदात्मकः ।।"

क्रमसन्दर्भ कालेनेति सार्द्धकम् । तैः । कालेन नष्टा, तत्रापि प्रलये कल्पान्ते, बहुधा नष्टेत्यर्थः ।

इति भगवद्वाक्यानुसारेण च चतुर्थेऽस्मिन् पद्ये साधनभक्तिरेव व्याख्याता ।

अत्र च पुनर्व्याख्या विवरणायोत्थाप्यते । तथा हि,-आत्मनो मम भगवतः, तत्त्वजिज्ञासुना प्रेमरूपं रहस्यमनुभवितुमिच्छुना, एतावन्मात्रमेव जिज्ञासितव्यं श्रीगुरुचरणेभ्यः शिक्षणीयम् । किन्तत् ? यदेकमेव अन्वयेन विधि-मुखेन, व्यतिरेकेण निषेध-मुखेन च स्यादुपपद्यते ।

इयमिति (२य श्लोक) 'भवता' इत्यादिना यथा भवतानूद्यते, तथा निरूपितेत्यर्थः । एतेन ज्ञानादिकं ज्ञानादि मिश्रत्वं मदावेशान्य (मद्भक्तियोगं विनान्य) फलत्वञ्च न मन्मति बोधितम् । आदौ ब्रह्म कल्पादौ । मदात्मक मत् स्वरूपभूतः--ह्लादिनी साररूपत्वात् ।

स्वामी टीका—तत्र भक्तिरेव महाफलत्वेन मुख्या अन्यानि तु स्व प्रकृत्यनुसारेण पुष्पस्थानीय स्वर्गादि फल बुद्धिभिः प्राणिभिः प्राधान्येन परि कल्पितानि क्षुद्रफलानीति विवेक्तुं प्रकृत्यनुसारेण बहुधा वेदार्थ प्रतिपत्तिमाह, कालेनेति सप्तभिः । मदात्मकः मय्येवात्मा चित्तं येन सः ।।

हे उद्धव ! प्रलय काल में विशुद्ध भक्ति ग्रहणोपयोगी पात्र न होने के कारण—इस जगत् में वेद की मुख्य आदेश वाणी रूप यह भक्ति अप्रकाशित थी । सृष्टि के प्रथम समय में मैंने ब्रह्मा को जिस आदेश वाणी के द्वारा मेरा स्वरूप भूत धर्म का उपदेश दिया था । जिसमें विशुद्ध भक्ति धर्म का विवरण ही था । इस प्रकार भगवदुपदेश वाक्यानुसार ही चतुः श्लोकी के चतुर्थ श्लोक—(एतावदेव जिज्ञास्यम्) श्लोक की व्याख्या साधन भक्ति पर हुई है । यहाँपर उक्त श्लोक की व्याख्या विस्तृत रूप से करने के निमित्त उक्त श्लोक का उल्लेख किया गया है । व्याख्या यह है—

आत्मा—भगवान् जो मैं हूँ वह मेरा प्रेम रूप रहस्य तत्त्व का अनुभव करने के निमित्त जो व्यक्ति इच्छुक है, वह व्यक्ति, श्रीगुरु चरण के समीप में एतावन्मात्र ही जिज्ञासा करे । वह जिज्ञास्य विषय क्या है ? उत्तर में कहते हैं - जो एक वस्तु है, उस की उपलब्धि सर्वत्र अन्वय मुख से अर्थात् विधिमुख से एवं व्यतिरेक मुख से अर्थात् निषेध मुख से होती है, वही जिज्ञास्य है ।

उस के मध्य में अन्वय मुख से प्राप्ति भा० ७।७।५५ में है—

"एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसः स्वार्थः परः स्मृतः ।
एकान्त भक्ति र्गोविन्दे यत् सर्वत्र तदीक्षणम् ।।"

टीका—अध्याय द्वयोक्तमुपसंहरति एतावानिति । तदीक्षणं, गोविन्द दृष्ट्या सम्माननम् ।

क्रमसन्दर्भ—तस्य भगवत एव ईक्षणं स्फूर्त्तिः (भा० ११।२।४५) "सर्व भूतेषु यः पश्येत्" इत्यादेः ।।

मानव मात्र को मङ्गल लाभ वह ही है यदि श्रीगोविन्द के चरण युगल में एकान्त भक्ति हो, और सर्वत्र श्रीगोविन्द की स्फूर्त्ति हो । (भा० ३।३५।४४) में भी श्रीकपिल देव ने जननी को कहा है—

"एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां निःश्रेयसोदयः ।
तीव्रेण भक्ति योगेन मनोमय्यर्पितं स्थिरम् ।।

क्रमसन्दर्भ—देवानामित्यादिवत् स्वस्य तु मतमाह—एतावानिति । तीव्रेण दृढ़ेन योग कर्मादिर-भङ्गुरेण शुद्धेनेत्यर्थः । तेनैवार्पितं सत् स्थिरं भवतीति यत्—एतावानेव निःश्रेयसस्य परमपुरुषार्थस्याविर्भावः ।

हे मातः ! तीव्र भक्ति योग के द्वारा मुझ में मनः अर्पण करने से ही मनःस्थिर होता है । यही मानव जगत् में निःशेष मङ्गल प्राप्ति है । (भगवद् गीता ९।३४--१८।६५ में उक्त है—

तत्रान्वयेन, यथा (भा० ७।७।५५)--"एतावानेव लोकेऽस्मिन्" इत्यादि, (गी० ९।३४, १८।६५) "मन्मना भव मद्भक्तः" इत्यादि च। व्यतिरेकेण, यथा (भा० ११।५।२-३)—

"मुखबाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह।
चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक्॥२९७॥
य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम्।
न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद्भ्रष्टाः पतन्त्यधः॥"२९८॥

"मन्मनाभव मद् भक्तो मद् याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैव मात्मानं मत् परायणः।

टीका—भजन प्रकारं दर्शयन्नुपसंहरति—मन्मना इति। एवं आत्मानं मनो देहञ्च युक्त्वा मयि नियोज्य।

"मन्मना भव मद् भक्तो मद् याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रति जाने प्रियोऽसि मे।

टीका—मन्मना भवेति। मद्भक्तः सन्नेव मां चिन्तय वा भूत्वा मद्ध्यानं कुर्विदर्थः। यद्वा मन्मना-भव, मह्यं श्याम सुन्दराय सुस्निग्धाकुञ्चित कुन्तलकाय, सुन्दर भ्रूवल्लिमधुरकृपाकटाक्षामृतवर्षिवदन चन्द्राय। स्वीयं देयत्वेन मनोयस्य तथा भूतो भव। अथवा श्रोत्रादीन्द्रियानि देहीत्याह। मद्भक्तोभव। श्रवण कीर्त्तन मन्मूर्त्ति दर्शन, मन्मन्दिर मार्जन लेपन पुष्पाहरण मन्मालाङ्कारच्छत्रचामरादि भः सर्वेन्द्रिय करणकं मद् भजनं कुरु। अथवा मह्यं गन्ध पुष्प धूपदीप नैवेद्यादीनि देहीत्याह मद्याजी भव,—मत् पूजनं कुरु। अथवा मह्यं नमस्कारमात्रं देहीत्याह। मां नमस्कुरु। भूमौ निपत्य अष्टाङ्गं पञ्चाङ्गं वा प्रणामं कुरु। एषां चतुर्णां मच्चिन्तन सेवन पूजन प्रणामानां समुच्चयमेकतरं वा त्वं कुरु। मामेवैष्यसि प्राप्स्यसि। मनः प्रदानं श्रोत्रादीन्द्रिय प्रदानं गन्ध पुष्पादि प्रदानं वा त्वं कुरु। तुभ्यं अहमात्मानं एव दास्यामीति सत्यं ते तवैव नात्र संशयिष्ठा इति भावः। सत्यं शपथ तत्थ्ययोरित्यमरः। ननु माथुर देशोद्भूता लोकाः प्रति वाक्यमेव शपथं कुर्वन्ति। सत्यं, तर्हि प्रतिजाने प्रतिज्ञां कृत्वा ब्रवीमित्वं मे प्रियोसि नहि प्रियं कोऽपि वञ्चयतीति भावः।

हे अर्जुन! तुम मद्विषयक सङ्कल्पयुक्त भक्त हो जाओ। मेरी पूजा शील हो ओ, मुझ को प्रणाम करो, एसा करने पर मुझ को प्राप्त करोगे। मैं तुम्हारे निकट शपथ कर कहता हूँ। एवं प्रतिज्ञा करता हूँ-इस प्रकार मेरा भजन करने से तुम अवश्य ही मुझ को प्राप्त करोगे। इस विषय में मैं प्रतिभू रहा। अर्थात् मैं जामिन हूँ। कारण, तुम मेरा अतीव प्रिय हो, तुम जिस किसी साधन के द्वारा क्यों न च लो, मुझ को प्राप्त कर न सकोगे। भुक्ति, मुक्ति, अर्थात् स्वरूपानन्दास्वादन में डूब जाओगे। मेरी कथा तुम्हारे मानस पटल में उदित नहीं होगी। मैं तुम को प्रीति करता हूँ। तुम को पाने के निमित्त मेरी अतीव आकाङ्क्षा भी है। यदि तुम इस भक्ति पथ को अवलम्बन करते हो तो, मेरे सहित तुम्हारा नित्यसम्बन्ध सर्वदा ही हृदय में जाग्रत होगा। मुझ प्राप्त कर तुम सुखी होगे। और मैं भी तुम को प्राप्त कर सुखी बनूँगी। यह विशुद्ध भक्ति पथ ही मेरा प्रापक है। श्रीमद् भागवत एवं श्रीमद् भगवद् गीता शास्त्र में अन्वय मुख से भक्ति की अवश्य कर्त्तव्यता निर्दिष्ट हुई है। व्यतिरेक-अर्थात् निषेध मुख से भी श्रीमद् भागवत के ११।५। २-३ में भक्ति की अवश्य कर्त्तव्यता वर्णित है।

"मुख बाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्या श्रमैः सह।
चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुर्णविप्रादयः पृथक्॥२९७॥

(गी० ७।१५) "न मां दुष्कृतिनो मूढ़ाः" इत्यादि,

"यावज्जनो भजति न भुवि विष्णुभक्ति,--वार्त्तासुधारसमशेषरसैकसारम् ।
तावज्जरामरणजन्मशताभिघात-,दुःखानि तानि लभते बहु-देहजानि ।।"२९९।।

च एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम् ।
न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद् भ्रष्टाः पतन्त्यधः ।।"२९८।।

क्रमसन्दर्भ—मुखबाह्विति । विराट् तदन्तर्य्यामिणोरभेदोक्तिः । मुख बाहूरुपादेभ्यः' इत्युपलक्षण-मेवाश्रमेषु । यथा वक्ष्यते, (भा० ११।१०।१४) 'गृहाश्रमो जघनतो ब्रह्मचर्य्यं हृदो मम । वक्षः स्थलाद् वनेवासः सन्न्यासः शिरसि स्थितः । इति । न भजन्त्यतएवावजानन्तीत्यर्थः । यद्वा, केचिदश्रुत्वा न भजन्ति, केचिच्छ्रुत्वापि न भजन्ति चेदवजानन्त्येवेत्यर्थः । स्थानाद् वर्णाश्रमरूपात् स्वाश्रमाद् भ्रष्टाः सन्तः क्रमादधोधो गच्छन्तीत्यर्थः ।

श्री चमस योगीन्द्र निमिमहाराज को कहे थे—हे राजन् ! द्वितीय पुरुष के मुख, बाहु, उरु एवं चरण युगल से क्रमशः सत्त्वगुण से ब्राह्मण, रजः सत्त्व गुण से क्षत्रिय, रज स्तमो गुण से वैश्य, केवल तमो गुण से शूद्र—इन चारों वर्णो की उत्पत्ति हुई है । पुरुष के जघन देश से गार्हस्थ्य, हृदय से ब्रह्मचर्य्य, वक्षः स्थल से वान प्रस्थ, एवं मस्तक से सन्न्यास आश्रम की उत्पत्ति हुई है । चार वर्ण एवं आश्रमों के मध्य में जो व्यक्ति निज जनक स्वरूप परम पुरुष परमेश्वर का भजन नहीं करते हैं, वे उनकी अवज्ञा करते हैं, एवं निजाधिकृत स्थान से भ्रष्ट होकर निपतित होते हैं । श्रीमद् भागवत के उक्त श्लोक द्वय के द्वारा श्रीभगवद् अभजन कारी के प्रति दोष प्रदर्शन पूर्वक भगवद् भजन की अवश्यकर्त्तव्यता प्रदर्शित हुई है । श्रीभगवद् गीता ७।१५ में भी उक्त है—

"न मां दुष्कृतिनो मूढ़ाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृत ज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ।।"

टीका—ननु तर्हि पण्डिता अपि केचित् किमिति त्वां न प्रपद्यन्ते । तत्र ये पण्डितास्ते मा प्रपद्यन्त एव, पण्डित मानिन एव न मां प्रपद्यन्त इत्याह न मामिति । दुष्कृतिनः दुष्टाश्च ते कृतिनः पण्डिताश्चेति ते कुपण्डिता इत्यर्थः । ते च चतुर्विधाः । एके मूढ़ाः पशु तुल्याः कर्म्मिणः । यदुक्तं "नूनं दैवेन निहता ये चाच्युत कथा सुधां । हित्वा शृण्वन्त्यसद् गाथाः पुरीषमिव विड्भुज । इति । मुकुन्दं को वै न सेवेत विना नरेतर-मिति च । अपरे नराधमाः, कञ्चित् कालं भक्तिमत्त्वेन प्राप्तनरत्वाः, अप्यन्ते फल प्राप्तौ न साधनोपयोगः, इति मत्वा स्वेच्छयैव भक्तित्यागिणः । स्व कर्त्तृक भक्ति त्याग लक्षणमेव तेषामधमत्वमिति भावः । अपरे शास्त्राध्ययनाध्यापनादि मत्त्वेऽपि मायया अपहृतं ज्ञानं येषां ते । वैकुण्ठ विराजिनी नारायण मूर्त्तिरेवसार्वकालिकी भक्तिप्राप्या, न तु कृष्णा रामादि मूर्त्ति मानुषीति मन्यमानाइत्यर्थः । यद्वक्ष्यते—"अव जानन्ति मां मूढ़ा मानुषीं तनुमाश्रितमिति । ते खलु मां प्रपद्यमाना अपि नमां प्रपद्यन्ते, इति भावः । अपरे असुरं भावमाश्रिताः । आसुराः जरासन्धादयः । मद् विग्रहं लक्ष्यी कृत्यशरैं विद्धयन्ति । तथैव दृश्यत्वानि हेतुमत् कुतर्कै मंद्विग्रहं वैकुण्ठस्थमपि खण्डयन्त्येव नतु प्रपद्यन्त इत्यर्थ ।"

हे अर्जुन ! दुष्कृति मूढ़, माया के द्वारा विलुप्त बुद्धि असुर भावापन्न नराधम गण मेरी शरण ग्रहण नहीं करते हैं । इस श्लोक में भी भगवदभजन कारी के प्रति प्रचुर तर निन्दा प्रदर्शन के द्वारा भगवद् भजन की अवश्य कर्त्तव्यता दर्शायी गई है । पद्म पुराण में भी लिखित है—

"यावज्जनो भजति न भुवि विष्णुभक्ति,
वार्त्ता सुधारसमशेष रसैक सारम् ।

इति पद्मपुराणे च। कुत्र कुत्रोपपद्यते ? सर्व्वत्र-शास्त्र-कर्त्तृ-देश-करण-द्रव्य-क्रिया-कार्य्य-फलेषु समस्तेष्वेव। तत्र (१) समस्तशास्त्रेषु यथा स्कान्दे-ब्रह्मनारद-संवादे—

"संसारेऽस्मिन् महाघोरे जन्म-मृत्यु-समाकुले। पूजनं वासुदेवस्य तारकं वादिभिः स्मृतम् ॥"३००॥

(क) तत्राप्यन्वयेन यथा, (भा० २।२।३४) "भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्ये त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया" इत्यादि, तथा स्कान्दे, पाद्मे च—

"आलोडच सर्व्वशास्त्राणि विचार्य्य च पुनः पुनः। इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा ॥"३०१॥

तावज्जरा मरण जन्मशतानि घात,
दुःखानि तानि लभन्ते बहु देह जानि ॥"२९९॥

इस पृथिवी में जो व्यक्ति जन्म ग्रहण करके अशेष आस्वादन की मुख्य सार वस्तु विष्णु भक्ति कथा सुधारस सेवा नहीं करता है, वह बहु बहु जन्म देह धारण करके जरा मरण जन्म शत दुःख भोग करता है। पद्म पुराण में भी इस प्रकार वचन उपलब्ध है।

इस प्रकार दोष कीर्त्तन के द्वारा भगवद् भक्ति की अवश्य कर्त्तव्यता प्रतिपादित हुई है। अन्वय अर्थात् विधिमुख से, व्यतिरेक—अर्थात् निषेध मुख से भगवद् भक्ति का जो संवाद सर्वत्र उपलब्ध है, उस को स्थापन कर कहते हैं, जो पदार्थ सर्वत्र सर्वदा उपलब्ध होता है, श्रीगुरु चरण के समीप में उस पदार्थ की शिक्षा करना अवश्य कर्त्तव्य है। किस वस्तु की उपलब्धि सर्वत्र होती है, व्याख्या के द्वारा उस को कहते हैं। जो सर्व शास्त्र में, सर्वकर्त्ता में, सर्व देश में, सर्व करण में सर्व द्रव्य में, सर्व क्रिया में, सर्व कार्य्य में, सर्व फल में वह ही जिज्ञास्य है। उसका प्रदर्शन क्रम पूर्वक करते हैं।

(१) समस्त शास्त्र में भगवद् भक्ति की अवश्य कर्त्तव्यता का वर्णन स्कन्द पुराण के ब्रह्म नारद संवाद में इस प्रकार है—

"संसारेऽस्मिन् महाघोरे जन्म मृत्यु समाकुले।
पूजनंवासु देवस्य तारकं वादिभिः स्मृतम् ॥"३००॥

समस्त शास्त्र कर्त्ता ऋषिगण कहते हैं—इस महाघोर जन्ममृत्यु समाकुल संसार में श्रीवासुदेव का पूजन ही संसार दुःख से उद्धार कारी है। इस कथन से समस्त शास्त्रों में श्रीभगवद् भजन की ही अवश्य कर्त्तव्यता प्रतिपादित है, उसका प्रदर्शन हुआ।

(क) अन्वय मुख से समस्त शास्त्रों में जो भगवद् भजन की अवश्यकर्त्तव्यता प्रति पादित हुई है, उसका वर्णन श्रीमद् भागवत के २।२।३४ में श्रीशुकदेव--महाराज परीक्षित् को कहे हैं—

"भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येनत्रिरन्वीक्ष्य मनीषया ."
तदध्यवस्यन् कूटस्थो रतिरात्मन् यतो भवेत् ॥"

भगवान् ब्रह्मा, एकाग्रचित्त से तीन वार समग्र वेद विचार करके यही स्थिर किये थे—जिस से भगवान् श्रीहरि में प्रीति का उदय होता है, समग्र वेद अवश्यकर्त्तव्य रूप से उस को ही कहते हैं। इस से निखिल वेदों का मुख अभिधेय श्रीभगवद् भक्ति ही है। इस को दर्शाया गया है। स्कन्द पुराण में एवं पद्म पुराण में उस प्रकार वर्णन है—

'आलोडच सर्वशास्त्राणि विचार्य्य च पुनः पुनः।
इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणो सदा ॥३०१॥

(ख) व्यतिरेकेण, यथा गारुड़े—"पारङ्गतोऽपि वेदानाम्" इत्यादिकं सर्व्वत्रावगन्तव्यम्। तच्चान्ते दर्शयिष्यते।

(२) सर्व्वकर्त्तृषु, यथा (भा० २।७।४६)—

"ते वै विदन्त्यतितरन्ति च देवमायां
स्त्री-शुद्र-हून-शवरा अपि पापजीवाः।
यद्यद्भुतक्रमपरायणशीलशिक्षा-
स्तिर्य्यग्जना अपि किमु श्रुतधारणा ये॥"३०२॥ इति।

गारुड़े च—

"कीटपक्षिमृगाणाञ्च हरौ सन्न्यस्तचेतसाम्। ऊद्र्ध्वामेव गतिं मन्ये किं पुनर्ज्ञानिनां नृणाम्॥"३०३॥

समस्त शास्त्रों को आलोड़न करके एवं पुनः पुनः विचार करके मुख्य रूप से यही सुनिष्पन्न हुआ कि—"सर्वदा ही श्रीनारायण का ध्यान करना चाहिये (३०१)

(ख) व्यतिरेक अर्थात् निषेध मुख से भी गरुड़ पुराण में भगवद् भजन का अवश्य कर्त्तव्यत्व प्रतिपादित हुआ है। "पारं गतोऽपि वेदानाम्" सर्ववेदविद् होकर भी जो व्यक्ति जनार्दन श्रीहरि में भक्ति हीन है, उसका समस्त अध्ययन पण्डश्रम मात्र होता है। इसका प्रदर्शन अग्रिम ग्रन्थ में होगा।

(२) सम्प्रति समस्त व्यक्ति ही भक्ति के अधिकारी हैं, इसका उदाहरण प्रस्तुत हो रहा है—श्रीमद् भागवत के २।७।४६ में उक्त है—

"ते वै विदन्त्यतितरन्ति च देवमायां
स्त्री—शूद्र-हून-शवरा अपि पाप जीवाः।
यद्यद्भुत क्रमपरायण शीलशिक्षा—
स्तिर्य्यग्जना अपि किमु श्रुतधारण ये॥"३०२॥

स्त्री, शूद्र, हून, शवर, यहाँतक कि जिस की उत्पत्ति पाप से ही हुई है, वेश्यापुत्र प्रभृति। वे भी यदि यदि अद्भुत पराक्रम श्रीहरि जिनके एकमात्र आश्रय हैं, उन भगवद् भक्तवृन्द के स्वभाव का अनुशीलन यदि करते हैं, तो, वे भी श्रीभगवत्तत्त्व को जान सकते हैं, वे भी माया को अतिक्रम करने में समर्थ होंगे। अधिक क्या है? हंस, गज, शुक, शारी, सर्प प्रभृति भी भक्त के सहित यदि भक्तवृन्द के आचरण का अनुसरण करते हैं तो वे भी भगवत्तत्त्व जानने में सक्षम होंगे। एवं माया से उत्तीर्ण हो सकते हैं। वैसी स्थिति होने पर जो सब मनुष्य, श्रीसद् गुरु के मुख से श्रीभगवन्नाम जप प्रभृति श्रवण करके श्रवण कीर्त्तन स्मरणादि करते हैं, वे सब भगवत्तत्त्व को जानेंगे, एवं माया से उत्तीर्ण हो जायेंगे। इस विषय में संशय का अवसर कहाँ है? इस से समस्त व्यक्ति ही भगवद् भजन में अधिकारी हैं, यह दर्शाया गया है। (३०१) गरुड़ पुराण में भी उक्त है—

"कीटपक्षिमृगाणाञ्च हरौ सन्न्यस्तचेतसाम्।
ऊद्र्ध्वामेव गतिं मन्ये किं पुनर्ज्ञानिनां नृणाम्॥"३०३

श्रीभगवान् श्रीहरि में अर्पित चित्त होने से कीट पक्षी, मृग प्रभृति की भी ऊद्र्ध्वगति होती है, अतएव ज्ञानि मानव वृन्द की जो ऊद्र्ध्वगति होगी इस में संशयित होने का क्या है? ३०३

अत्रैव साचारे दुराचारे, ज्ञानिनि अज्ञानिनि, विरक्ते रागिणि, मुमुक्षौ मुक्ते, भक्त्यसिद्धे भक्तिसिद्धे, तस्मिन् भगवत्पार्षदतां प्राप्ते, तस्मिन्नित्यपार्षदे च सामान्येन दर्शनादपि सार्व्वत्रिकता। तत्र (क) साचारे दुराचारे च, यथा (गी० ९।३०)—

"अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥"३०५॥ इति।

सदाचारस्तु किं वक्तव्य इत्यपेरर्थः।

(ख) ज्ञानिनि अज्ञानिनि च (भा० ११।११।३३)-- "ज्ञात्वाज्ञात्वाथ ये वै माम्" इत्यादि, (बृहन्नारदीये) "हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः" इत्यादि।

यहाँ साचार— दुराचार में ज्ञानी अज्ञानी में, रागी विरक्त में, मुमुक्षु— मुक्त में भक्ति सिद्ध, भक्ति असिद्ध में, भगवत् पार्षदता प्राप्त एवं नित्य पार्षद प्रभृति में साधारण रूप से भक्ति की व्याप्ति दृष्ट होने के कारण भक्ति का सर्वत्र अधिकार है।

(क) तन्मध्य में सदाचार निष्ठा में एवं दुराचार में जो भक्ति का अधिकार है— उसका दृष्टान्त गीता ९।३० में है—

"अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥"३०४॥

दुष्कर्मरत सुदुराचारी व्यक्ति भी अन्य देवताका भजन न करके मेरा भजन करता है तो उसको साधु मानना चाहिये। यह मेरा साक्षात् आदेश है। कारण, वह दुराचार होने पर भी हृदय में अनन्य भक्ति के द्वारा मेरे प्रति श्रद्धालु हुआ है। अति सत्वर वह धर्म जीवन को प्राप्त करेगा, एवं निरन्तर अनुतप्त होने के कारण दुष्कृति से निष्कृति लाभ किया है, कारण, वह अनन्य भक्ति में विश्वस्त हुआ है। उसका विनाश कभी नहीं होगा। यदि असदाचारी व्यक्ति भी श्रीहरि भक्ति अनुष्ठान में अधिकारी होता है तो, सदाचार सम्पन्न व्यक्ति जो भक्ति में अधिकारी होगा, इस में कहना ही क्या है? "अपिचेत् सुदुराचारः" श्लोकस्थ 'अपि' शब्द द्वारा उक्तार्थ प्रकाशित हुआ है।

(ख) ज्ञानी एवं अज्ञानी—उभय ही भक्ति अनुष्ठान के अधिकारी हैं। इसका दृष्टान्त भा० ११।११। ३३ में है—

"ज्ञात्वा ज्ञात्वाथ ये वै मां यावान् यश्चास्मि यादृशः।
भजन्त्यनन्य भावेन ते मे भक्ततमा मताः॥"

हे उद्धव! देश कालादि द्वारा अपरिच्छिन्न सर्वात्मा सच्चिदानन्द स्वरूप मुझको जानकर हो, अथवा न जानकर ही हो, केवल श्रीव्रजराज नन्दन रूप में निज अभीप्सित दास्यादि भाव के मध्य में एकतर भाव से मेरा भजन करते हैं। किन्तु कभी भी अन्यभाव से भजन नहीं करते हैं। उनको मैं भक्ततम मानता हूँ। इस से ज्ञानी एवं अज्ञानी उभय व्यक्ति में ही भक्ति की वृत्ति दृष्ट होती है। बृहन्नारदीय पुराण में भी वर्णित है—

"हरि र्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपिस्मृतः॥"

अर्थात् दुष्ट चित्त सम्पन्न जनगण भी यदि श्रीहरि का स्मरण करते हैं, तो, श्रीहरि, उनके समस्त पापों को विनष्ट कर देते हैं। इत्यादि प्रमाण से सुव्यक्त होता है कि— पापी जन का भी श्रीहरि भक्ति में अधिकार है।

(ग) विरक्ते रागिणि च (भा० ११।१४।१८)—

"बाध्यमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः।
प्रायः प्रगल्भया भक्तचा विषयैर्नाभिभुयते ॥"३०५॥

अबाध्यमानस्तु सुतरां नाभिभूयत इत्यपेरर्थः।

(घ) मुमुक्षौ मुक्ते च (भा० १।२।२६)—"मुमुक्षवो घोररूपान्" इत्यादि, (भा० १।७।१०) आत्मारामाश्च मुनयः" इत्यादि च।

(ङ) भक्तयसिद्धे भक्तिसिद्धे च (भा० ६।१।१५)—

"केचित् केवलया भक्तचा वासुदेवपरायणाः।
अघं धुन्वन्ति कार्त्स्न्येन नीहारमिव भास्करः ॥"३०६॥ इति,

(भा० ११।२।५३) "न चलति भगवत् पदारविन्दा,--ल्लवनिमिषार्द्धमपि स वैष्णवाग्रच" इति च।

अधिकार है। विषय विरक्त एवं विषयासक्त—उभय विध व्यक्ति ही जो भक्ति अनुष्ठान में अधिकारी हैं, उसका उल्लेख श्रीमद् भागवत

(ग) (११।११।३३) में सुस्पष्ट रूप से है—

"बाध्यमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः।
प्रायः प्रगल्भया भक्तचा विषयैर्नाभिभूयते ॥"३०५॥

हे उद्धव! मेराभक्त, भक्ति के प्रारम्भ में विषय समूह के द्वारा आकृष्यमाण होकर भी प्रायशः समर्था भक्ति के प्रभाव से विषय के द्वारा अभिभूत नहीं होता है। इस से विषयासक्त जन में भी भक्ति का अधिकार प्रदर्शित हुआ है। अतएव विषय विरक्त व्यक्ति, भक्ति के प्रभाव से जो विषय के द्वारा अभिभूत नहीं होता है, यह कहना बाहुल्य मात्र है। बाध्यमानोऽपि" श्लोकस्थ 'अपि' शब्द के द्वारा यह अर्थ ध्वनित हुआ है।

(घ) मुमुक्षु एवं मुक्त पुरुष में भी जो भक्ति की वृत्ति है—उसका वर्णन इस श्लोक में है—(भा० १।२।२६)

"मुमुक्षवो घोररूपां हित्वा भूतपतीनथ।
नारायणकलाः शान्ता भजन्ति ह्यनसूयवः ॥"

अविद्या बन्धन से जो लोक मुक्त होने के इच्छुक हैं, वे सब मुमुक्षु मानवगण, घोरमूर्त्ति भैरवादि को परित्याग पूर्वक शान्त मूर्त्ति श्रीनारायण की विभूति समूह की उपासना करते रहते हैं। किन्तु देवतान्तर के प्रति दोष दृष्टि नहीं करते हैं। इस में मुमुक्षु जन में भक्ति की वृत्ति प्रदर्शित हुई है। (भा० १।७।१०) में मुक्त जनों में भक्ति की वृत्ति का वर्णन है—

"आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतो गुणोहरिः ॥"

हे शौनक! अहङ्कार रूप चित् जड ग्रन्थि से निर्म्मुक्त होकर आत्मारामामुनिगण भी श्रीहरि के गुणों से आकृष्ट होकर श्रीहरि में अहैतुकी भक्ति करते रहते हैं। इस श्लोक के द्वारा मुक्त पुरुष में भी भक्ति की वृत्ति प्रदर्शित हुई है।

(च) भगवत्पार्षदतां प्राप्ते (भा० ६।४।६७)

"मत्सेवया प्रतीतं ते सालोक्यादिचतुष्टयम् ।
नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत् कालविप्लुतम् ।।" ३०७।। इति ।

नित्यपार्षदे च (भा० ३।१५।२२) —

"वापीषु विद्रुमतटास्वमलामृताप्सु, प्रेष्यान्विता निजवने तुलसीभिरीशम् ।
अभ्यर्च्चती स्वलकमुन्नसमीक्ष्य वक्त्र-,मुच्छेषितं भगवतेत्यमताङ्ग यच्छ्रीः ।।" ३०८।।

(३) सर्व्वेषु वर्षेषु भुवनेषु ब्रह्माण्डेषु "तेषां वहिश्च तैस्तैः श्रीभगवदुपासनायाः क्रियमाणायाः श्रीभागवतादिषु प्रसिद्धिः सिद्धैवेति सर्व्वदेशोदाहरणं ज्ञेयम् ।

(ङ) (भा० ६।८।१५) में भक्ति में असिद्ध, अर्थात् अजातरति एवं भक्ति साधन द्वारा सिद्ध, अर्थात् जिन्होंने श्रीहरिचरणों में रति लाभ किया है। उभयविध व्यक्ति में भक्ति की वृत्ति की विद्यमानता का दृष्टान्त है।

"केचित् केवलया भक्त्या वासुदेव परायणाः ।
अघं धुन्वन्ति कार्तस्न्येन नीहारमिव भास्करः ।।" ३०६।।

श्रीशुक देव महाराज परीक्षित् को कहे हैं—हे राजन् ! वासुदेवपरायण कतिपय महानुभवगण, केवला भक्ति के प्रभाव से, भास्कर जिस प्रकार कुज्झटिका विनष्ट करते हैं, उस प्रकाव पाप राशि को विनष्ट करते हैं। इस से अजातरति भक्त में भक्ति की वृत्ति प्रदर्शित हुई। (भा० ११।२।५३) में भी उसका वर्णन है—

"त्रिभुवनविभवहेतवे ऽप्यकुण्ठ स्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात् ।
न चलति भगवत् पदारविन्दाल्लव निमिषार्द्धमपि स वैष्णवाग्र्यः ।।"

श्री हवियोगीन्द्र श्रीनिमिमहाराज को कहे थे—

हे राजन् ! त्रिभुवन वैभव प्राप्ति की सम्भावना होने पर भी देवगण कर्त्तृक अन्वेषणीय श्रीभगवत् चरणार विन्द से जिस का चित्त लव निमेषार्द्ध काल के निमित्त भी कभी भी विचलित नहीं होता है, वह वैष्णवों के मध्य के श्रेष्ठ है। इस से जात रति भक्त में भक्ति की वृत्ति प्रदर्शित हुई है।

(च) भगवत् पार्षद देह प्राप्त भक्त में भी भक्ति की वृत्ति दृष्ट होती है। (भा० ६।४।६७) में उक्त है—

"मत् सेवया प्रतीतं ते सालोक्यादिचतुष्टयम् ।
नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत् कालविप्लुतम् ।।" ३०७।।

श्रीवैकुण्ठ नाथ श्रीदुर्वासा को कहे थे—हे मुनिवर ! मेरे निष्काम भक्तवृन्द, भक्ति के प्रभाव से सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य नामक मुक्ति चतुष्टय स्वयं उपस्थित होने पर भी वे सब, उक्त मुक्ति चतुष्टय के मध्य में एक के प्रति इच्छा प्रकाश नहीं करते हैं। कारण, वे सब मेरी सेवानन्द में विभोर होने के कारण, मुक्ति समूह के प्रति अति तुच्छ बुद्धि करते हैं। जब वे परमानन्द स्वरूप मुक्ति के प्रति आकाङ्क्षा नहीं करते हैं—तब काल द्वारा विनष्ट पदार्थ के प्रति उनकी आकाङ्क्षा नहीं होगी, यह कथन बाहुल्य मात्र है। इस से प्राप्त भगवत् पार्षद देह भक्त में भक्ति वृत्ति दर्शायी गई है।

भा० ३।१५।२२ में नित्य पार्षदों में भक्ति वृत्ति का वर्णन है।

"वापीषु विद्रुमतटास्वमलामृताप्सु, प्रेष्यान्विता निजवने तुलसीभिरीशम्
अभ्यर्च्चती स्वलकमुन्नसमीक्ष्य वक्त्र--,मुच्छेषितं भगवतेत्यमताङ्ग यच्छ्रीः ।।" ३०८।।

(४) सर्वेषु करणेषु, यथा—

"मानसेनोपचारेण परिचर्य्य हरिं मुदा । परेऽवाङ्मनसागम्यं तं साक्षात् प्रतिपेदिरे ॥"३०९॥ इत्यादि ।

एवम्भूत-वचने हि, अस्तु तावद्बहिरिन्द्रियेण, मनसा वचसापि तत्सिद्धिप्रसिद्धिः ।

(५) सर्व्वद्रव्येषु, यथा (भा० १०।८१।४) —

"पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।

तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥"३१० ॥ इति ।

(६) सर्व्वक्रियासु, यथा (भा० ११।२।१२) —

"श्रुतोऽनुपठितो ध्यात आदृतो वानुमोदितः ।

सद्यः पुनाति सद्धर्म्मो देवविश्वद्रुहोऽपि हि ॥"३११॥ इति,

श्रीब्रह्मा देवगण को कहे थे । हे देववृन्द ! जहाँ सरोवर के जल अति स्वच्छ एवं अमृत तुल्य स्वादु है, एवं तट समूह प्रवाल मय हैं, लक्ष्मी उस तट के निकटवर्त्ती निज कानन में उपवेशन कर दासी गण के सहित तुलसी के द्वारा श्रीविष्णु की पूजा करती रहती हैं। अर्च्चन समय में सरोवर के सलित में निज सुकुञ्चित सुन्दर कुन्तलावली एवं उत्कृष्ट नासिका युक्त श्रीमुख को अवलोकन करके लक्ष्मी यह मानती है कि—श्रीनारायण उनके मुख चुम्बन कर रहे हैं, लक्ष्मी के हृदय में इस प्रकार भावोदय होता है । इस से नित्य सिद्ध परिकर लक्ष्मी में श्रीविष्णु भक्ति का अवस्थान प्रमाणित होता है ।

(३) समस्त वर्ष में सकल भुवन में, समस्त ब्रह्माण्ड में एवं वर्ष, भुवन, ब्रह्माण्ड के बाहर जो अष्ट आवरण हैं, उक्त आवरण समूह में भी अवस्थित जन गण जो श्रीभगवान् की उपासना करते रहते हैं, उस का वर्णन श्रीमद् भागवत प्रभृति शास्त्र में सुस्पष्ट रूप में है । इस के द्वारा सर्व देश में श्रीहरि भक्ति वृत्ति का उदाहरण जानना होगा ।

(४) समस्त करणों भक्ति वृत्ति का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

"मानसोपचारेण परिचर्य्य हरिं मुदा ।

परे वाङ्मनसागम्यं तं साक्षात् प्रतिपेदिरे ॥३०९॥

आनन्द पूर्वक मानस उपचार से श्रीहरि का अर्च्चन करके महाभाग्यवान् मानववृन्द अवाङ्मनस गोचर उन श्री हरि का साक्षात् कार प्राप्त किये हैं । इत्यादि प्रमाण के द्वारा अन्तः करण से श्रीभगवद् उपासना का संवाद प्राप्त होता है । इस प्रकार वहिरिन्द्रिय के द्वारा अर्थात् मनसा वचसा भी श्रीहरि की उपासना करने से श्री हरि भक्ति सिद्ध होती है, वह प्रसिद्ध है ।

(५) समस्त द्रव्य में भगवत् भक्ति सिद्धि की उपयोगिता का उदाहरण यह है । (भा० १०।८१।४)

"पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।

तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥"३१०॥

श्रीकृष्ण श्रीदाम विप्र को कहे थे—आपने क्या उपायन घर से लाया है । भक्त के द्वारा अर्पित स्वल्प उपायन भी मेरे पक्ष में भूरि होते हैं । भक्ति पूर्वक मुझ को जो व्यक्ति पत्र, पुष्प, फल, जल प्रदान करता है, भक्त प्रदत्त उस वस्तु को मैं भोजन करता हूँ ।

(६) समस्त क्रिया में भगवद् भक्ति की जो वृत्ति है उस का दृष्टान्त भा० ११।२।१२ में इस प्रकार है—

"श्रुतोऽनुपठितो ध्यात आदृतो वानुमोदितः ।

सद्यः पुनाति सद्धर्म्मो देवविश्वद्रुहोऽपि हि ॥"३११॥

(गी० ६।२१)—

"यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम् ॥"

एवं भक्त्याभासेषु भक्त्याभासापराधेष्वपि अजामिल-मूषिकादयो दृष्टान्ता गम्याः।

(७) सर्व्वेषु कार्य्येषु, यथा (स्कान्दे)

"यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु। न्यूनं सम्पूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युतम् ॥३१३॥

(८) सर्व्व-फलेषु यथा (भा० २।३।१०)--"अकामः सर्व्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः"

देवर्षि नारद श्रीवसुदेव को कहे थे- हे वसुदेव! हे वसुदेव! भागवत धर्म श्रवण करने पर श्रीगुरु मुख से श्रवण करने के पश्चात् स्वयं पाठ करने से, ध्यान करने से, आदर करने पर, अथवा भागवत धर्मानुष्ठानकारी की प्रशंसा करने से तत् क्षणात् विश्वद्रोही मानव देहावेश से मुक्त होकर श्रीभगवच्चरणों में आविष्ट हो सकता है।

टीका—आहृतः—आस्तिक्येन गृहीतः। अनुमोदितः परैः क्रियमाणः संस्तुतः। सद्धर्म्मो भागवत धर्म्मः। देव हे वसुदेवेत्यर्थः। यद्वा, देवेभ्यो विश्वस्मै च द्रुह्यन्ति ये तानपि।

श्रीमद् भगवद् गीता में भी समस्त क्रिया में भगवद् भक्ति वृत्ति का संवाद उल्लिखित है।

(गी० ६।२७) "यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम् ॥"३१२॥

हे अर्जुन! तुम जो कुछ करते हो, जो भोग करते हो, जो हवन करते हो। जो तपस्या करते हो, उन सब को मुझ में अर्पण करो, अर्थात् समस्त मुझ को अर्पण करके ही करो। इस प्रकार भक्त्याभास— अर्थात् जो भक्ति नहीं है, वस्तुत अपराध जनक है, इस प्रकार भक्ति अनुष्ठान जनित फल प्राप्ति, अजामिल मूषिक प्रभृति में सुस्पष्ट है। आसन्न मृत्यु समय में निज पुत्र को नारायण नाम से आह्वान करके अजामिल भक्ति प्राप्य वैकुण्ठ धाम में प्रस्थान किया। एक मूषिक—श्रीभगवन्मन्दिर में निवास करता था, प्रत्यह श्रीभगवान् की आरती की वत्ती को मुँह से जो जाता था, एकदिन लेजाते समय वत्ती जलगई, उस से उस की मृत्यु हो गई। उस से वह सुन्दरी कन्या होकर जन्म ग्रहण किया, एवं राजमहिषी होकर बहुल दीप मालिका उत्सव के द्वारा श्रीभगवदाराधना करके भगवद् धाम में प्रस्थान किया।

यहाँ भगवद् दीप वर्त्तिका अप हरण जनित अपराध उस प्रकार हो, किन्तु अपहरण समय में प्रज्वलित वर्त्तिका के द्वारा भगवद् आरात्रिक का अनुकरण होने से दीप प्रदान रूप भक्ति से भगवान् सन्तुष्ट होकर उस को भक्ति लभ्य निज धाम प्रदान किये थे।

(७) जगत् में जो सब वैदिक वा तान्त्रिक अनुष्ठान है, तत् समुदाय के मध्य में भी भक्ति की वृत्ति परिदृष्ट होती है, उदाहरण—स्कन्द पुराण में लिखित है—

"यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु।
न्यूनं सम्पूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युतम् ॥"३१३

जिनका स्मरण करने से एवं नाम ग्रहण करने से तप, यज्ञ, एवं क्रिया प्रभृति तत्क्षणात् निश्चित् रूप से पूर्ण होते हैं उन अच्युत को नमस्कार करता हूँ।

इत्यादि, तथा, (भा० ४।३१।१४) "यथा तरोर्मूलनिषेचनेन" इत्यादि-वाक्येन हरिपरिचर्य्यायां क्रियमाणायां सर्व्वेषामन्येषामपि देवादीनामुपासना स्वत एव सिध्यतीत्यतोऽपि सार्व्वत्रिकता, यथोक्तं स्कान्दे श्रीब्रह्मनारद-संवादे—

अर्च्चिते देवदेवेशे शङ्खचक्रगदाधरे। अर्च्चिताः सर्व्वदेवाः स्युर्यतः सर्व्वगतो हरिः॥" ३१४॥

एवं यो भक्तिं करोति, यद्गवादिकं भगवते दीयते, येन द्वारभूतेन भक्तिः क्रियते, यस्मै श्रीभगवत् प्रीणनार्थं दीयते, यस्माद्गवादिकात् पयआदिकमादाय भगवते निवेद्यते, यस्मिन् देशादौ कुले वा कश्चिद्भक्तिमनुतिष्ठति, तेषामपि कृतार्थत्वं पुराणेषु दृश्यत इति 'कारक' गतापि, एवं सार्व्वत्रिकत्वं साधितम्।

इस श्लोक में सर्वविध अनुष्ठान श्रीहरि स्मृति के द्वारा एवं श्रीहरि नाम ग्रहण के द्वारा सम्पूर्ण होते होते हैं, – इसका उल्लेख है।

(८) इह लोक एवं पर लोक में जितने प्रकार फल प्राप्ति की सम्भावना है, उक्त समस्त प्रकार फल प्राप्ति में ही भगवद् भक्ति की अनुवृत्ति है। उसका उदाहरण भा० २।३।१० में है—

"अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्ति योगेन यजेत पुरुषं परम्॥

उदार बुद्धि विशिष्ट एवं भगवद् भक्तगण यदि किसी प्रकार काम्य फल प्रार्थी होते हैं, अथवा नहीं होते हैं, किं वा यदि समस्त विषयों में कामना विशिष्ट होते हैं, तो उन के पक्ष में तीव्र भक्ति योग के द्वारा परम पुरुष भगवान् की आराधना करनी चाहिये। इस से प्रतिपन्न हुआ कि--समस्त फल प्राप्ति में भगवद् भक्ति की सुस्पष्ट अनुवृत्ति है। उस प्रकार भा० ४।३१।१४ में उक्त है—

"यथा तरोर्मूल निषेचनेन तृप्यन्ति तत स्कन्धभुजोपशाखाः।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या॥"

जिस प्रकार वृक्ष मूल में जल सेचन करने पर वृक्ष के स्कन्ध शाखा उपशाखा, फल पुष्प प्रभृति सुतृप्त होते हैं, जिस प्रकार भोजन करने पर समस्त इन्द्रिय तृप्त होती हैं, उस प्रकार अच्युत का अर्च्चन करने पर समस्त देवता की अर्च्चना निष्पन्न होती है। इस वाक्य के द्वारा प्रतिपादित हुआ कि—श्रीहरि की पूजा करने से अन्यान्य समस्त देवता की पूजा स्वतः ही निष्पन्न होती है। तज्जन्य श्रीहरि भक्ति की सार्वत्रिकता प्रदर्शित हुई है। स्कन्द पुराण के ब्रह्म नारद संवाद में उस प्रकार ही वर्णित है।

"अर्च्चिते देवदेवेशे शङ्खचक्रगदाधरे।
अर्च्चिताः सर्व्वदेवाः स्युर्यतः सर्व्वगतो हरिः॥"३१४॥

शङ्ख, चक्र, गदाधर देवदेव अर्च्चित होने पर समस्त देवता ही अर्च्चित होते हैं। कारण श्रीहरि, सर्व देव मय हैं।

इस प्रकार जो भक्ति करते हैं,जो जो द्रव्य प्रभृति भगवान् को अर्पण करते हैं,जिस व्यक्ति को अवलम्बन कर भक्ति का अनुष्ठान किया जाता है, श्रीभगवत् प्रीत्यर्थ जिस को जो कुछ दान किया किया जाता है। एवं जिस देश में जिस कुल में यदि कोई व्यक्ति भक्ति का अनुष्ठान करते हैं-सभी व्यक्ति कृतार्थ होते हैं,

इस का विवरण समस्त पुराणों में दृष्ट होता है। इस रीति से समस्त कारको में ही भक्ति की अनुवृत्ति साधित हुई है। अर्थात् भक्ति की सार्वत्रिकता साधित हुई है।

सदातनत्वमाह,— सर्व्वदेति । तत्र (१) सर्गादौ यथा (भा० ११।१४।३) –"कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेदसंज्ञिता" इत्यादि, सर्ग-मध्ये बहुत्रैव ।

(२) चतुर्विध-प्रलयेष्वपि (भा० ३।७।३७) "तत्रेमं क उपासीरन् क उ स्विदनुशेरते" इति विदुर-प्रश्ने ।

(३) सर्व्वेषु युगेषु, (भा० १२।३।५२) –

"कृते यद्धचायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः ।
द्वापरे परिचर्य्यायां कलौ तद्धरिकीर्त्तनात् ।।"३१५।। इति ।

किं बहूना ?—

"सा हानिस्तन्महच्छिद्रं सः मोहः स च विभ्रमः । यन्मुहूर्त्तं क्षणं वापि वासुदेवो न चिन्त्यते ।।"३१६।।

भक्ति, पूर्वकाल में थी, एवं वर्त्तमान काल में भी है, एवं भविष्यत में भी रहेगी अर्थात् सर्वदा है, अतः भक्ति का सदातनत्व का वर्णन करते हैं ।

(१) उस में सृष्टि के आदि में भक्ति की स्थिति का वर्णन भा० ११।१४।३ में है—

"कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेदसंज्ञिता ।
मयादौ ब्रह्मणे प्रोक्ता धर्म्मो यस्यां मदात्मकः ।।"

जिस में मदीय धर्म्म उक्त है, वह वेद वाक्य कालक्रम से लुप्त हो गया था । पश्चात् मैंने सृष्टि के पूर्व में ब्रह्मा को कहा था । "धर्मो यस्यां मदात्मकः" कहने पर समझने में आता है कि--प्रलय के पूर्व में भी भागवत धर्म विद्यमान था ।

सृष्टि के मध्य वर्त्ती काल में भक्ति की विद्यमानता की वार्त्ता अनेकस्थलों में घोषित है ।

(२) चतुर्विध प्रलय में भी भगवद् भक्ति की वार्त्ता श्रुत है— भा० ३।७।२७ में विदुर के प्रश्न से प्रकाशित है— "तत्रेमं क उपासीरन् क उ स्विदनुशेरते"

प्रलय काल में परमेश्वर शयन करने पर निद्रित उन परमेश्वर की उपासना कौन करते हैं, और कौन उन में लीन होकर रहते हैं । विदुर के प्रश्न से परिस्फुट होता है कि प्रलय सम काल में भी भगवद् भक्ति विद्यमान रहती है ।

(३) सम्प्रति, सत्य, त्रेता, द्वापर, एवं कलि युग में जो हरिभक्ति विद्यमान है, उसका वर्णन भा० १२।३।५२ में कहा है—

"कृते यद्धचायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः ।
द्वापरे परिचर्य्यायां कलौ तद्धरिकीर्त्तनात् ।।"३१५।।

सत्य युग में भगवद् ध्यान कारी को जो फल मिलता है, त्रेता युग में यज्ञ द्वारा भगवान् की आराधना करने से जो फल होता है, द्वापर युग में अर्च्चन के द्वारा जो फल होता है । कलियुग में केवल श्री हरिकीर्त्तन के द्वारा ही उक्त समस्त फल लाभ होता है । इस श्लोक के द्वारा प्रतिपादित हुआ है कि भगवद् भक्ति के अङ्ग समूहका अनुष्ठान समस्त युगों में होता रहता है । प्रस्तुत श्लोक के द्वारा वह संवाद सूचित हुआ है ।

अधिक कहना ही क्या है ? विष्णु पुराण में लिखित है—

"सा हानि स्तन्महच्छिद्रं स मोहः स च विभ्रमः ।
यन्मुहूर्त्तं क्षणं वापि वासुदेवो न चिन्त्यते ।।"३१६।।

इत्यपि वैष्णवे ।

(४) सर्व्वावस्थास्वपि,—(क) गर्भे श्रीनारद-कारितश्रवणेन श्रीप्रह्लादे प्रसिद्धम्, (ख) बाल्ये श्रीध्रुवादिषु, (ग) यौवने श्रीमदम्बरीषादिषु, (घ) वार्द्धक्ये धृतराष्ट्रादिषु, (ङ) मरणे अजामिलादिषु, (च) स्वर्गितायां श्रीचित्रकेत्वादिषु, (छ) नारकितायामपि—

"यथा यथा हरेर्नाम कीर्त्तयन्ति स्म नारकाः । तथा तथा हरौ भक्तिमुद्वहन्तो दिवं ययुः ॥"३१७॥

इति श्रीनृसिंहपुरणात् । अतएवोक्तं दुर्व्वाससा (भा० ९।४।६२):-"मुच्येत यन्नाम्नुचदिते नारकोऽपि" इति, तथा, (भा० २।१।११)—

"एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतोभयम् ।
योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्त्तनम् ॥"३१८॥

वही हानि है, वही महाच्छिद्र है, वही मोह, है, एवं वही विभ्रम है, जो मुहूर्त्त अथवा क्षण वासुदेव चिन्ताव्यतीत अति वाहित होता है । इस श्लोक में सर्वक्षण ही श्रीहरिस्मरण की व्यवस्था दी गई है ।

(४) जीववृन्द की जितनी अवस्था होती हैं, समस्त अवस्था में ही भगवद् भक्ति की विद्यमानता हो सकती है, उस को कहते हैं—

(क) गर्भा वस्था में श्रीनारद, प्रह्लाद को हरि कथा श्रवण कराये थे । इस से गर्भ में भी हरिभक्ति की अनुवृत्ति दृष्ट होती है ।

(ख) बाल्यकाल में ध्रुव प्रभृति में हरि भक्ति की विद्यमानता दृष्ट होती है ।

(ग) यौवन में अम्बरीष महाराज में हरिभक्ति दृष्ट होती है ।

(घ) वार्द्धक्य में धृतराष्ट्र प्रभृति में हरिभक्ति देखी जाती है ।

(ङ) मृत्यु समय में अजामिल प्रभृति में हरिभक्ति दृष्ट होती है ।

(च) स्वर्ग प्राप्त होकर भी श्रीचित्रकेतु प्रभृति में श्रीहरिभक्ति का अनुष्ठान दृष्ट होता है ।

(छ) नारकी अवस्था में भी श्रीहरिभक्ति की अनुवृत्ति शास्त्र में दृष्ट होती हैं । श्रीनृसिंह पुराण में उक्त है—

"यथा यथा हरेर्नामकीर्त्तयन्ति स्म नारकाः ।
तथा तथा हरौ भक्तिमुद्वहन्तो दिवं ययुः ॥३१७॥

नारकी जीव गण, जैसे जैसे श्रीहरि नाम कीर्त्तन करते हैं, तैसे तैसे वे सब श्रीहरि भक्ति को अवलम्बन करके स्वर्ग में प्रस्थान किये थे । यहाँ 'स्वर्ग' का अर्थ—'वैकुण्ठ' है ।

अतएव श्रीदुर्व्वासा ने भा० ९।४।६४ में कहा भी है—

"मुच्येत यन्नाम्न्युदिते नारकोऽपि"

जिनके नाम ग्रहण करने से नारकी जीव भी मुक्त होते हैं । उस प्रकार भा० २।१।११ में वर्णित है

"एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतोभयम् ।
योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्त्तनम् ॥"३१८॥

हे राजन् ! श्रीहरि के नामानुकीर्त्तन फलाकाङ्क्षि पुरुषों का एवं तत् फलों का साधन है, मुमुक्षु वृन्द का वह मोक्ष साधन है । ज्ञानिवृन्द का यही ज्ञान का फल है । अतएव साधक सिद्ध—सब के पक्ष में

इत्यत्रापि ।

अथ तत्र तत्र व्यतिरेकोदाहरणानि च कियन्ति दर्श्यन्ते—

"किं वेदैः किमु शास्त्रैर्वा किंवा तीर्थनिषेवणैः । विष्णुभक्तिविहीनानां किं तपोभिः किमध्वरैः ॥"३१९॥

"किं तस्य बहुभिः शास्त्रैः किं तपोभिः किमध्वरैः । वाजपेयसहस्रैर्वा भक्तिर्यस्य जनार्द्दने ॥"३२०॥

इति वृहन्नारदीय-पाद्म-वचनादीनि, तथा (भा० २।४।१७, ५।१९।२३, १०।५९।४१)

"तपस्विनो दानपरा यशस्विनो, मनस्विनो मन्त्रविदः सुमङ्गलाः ।
क्षेमं न विन्दन्ति विना यदर्पणं, तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः ॥३२१॥
न यत्र वैकुण्ठकथासुधापगा, न साधवो भागवतास्तदाश्रयाः ।
न यत्र यज्ञेशमखा महोत्सवाः, सुरेश-लोकोऽपि न वै स सेव्यताम् ॥३२२॥

श्रीहरि नाम सङ्कीर्त्तन की अपेक्षा अपर कोई साधन एवं परम मङ्गल कर नहीं है।

यहाँपर विषयी, मोक्षार्थी एवं ज्ञानी अवस्था में भी भगवद् भक्ति अनुर्वात्तत होती है, यह दिखाया गया है।

श्रीहरि भक्ति की, सर्वत्र सर्वदा अनुवृत्ति है, उसका वर्णन निषेध मुख से भी करते हैं। वृहन्नारदीय एवं पद्म पुराण में लिखित है—

'किं वेदैः किमु शास्त्रैर्वा किंवा तीर्थनिषेवणैः ।
विष्णुभक्तिविहीनानां किं तपोभिः किमध्वरैः ॥' ३१९॥

"किं तस्य बहुभिः शास्त्रैः किं तपोभिः किमध्वरैः ।
वाजपेयसहस्रैर्वा भक्तिर्यस्य जनार्द्दने ॥"३२०॥

विष्णु भक्ति विहीन व्यक्ति के पक्ष में वेदादि शास्त्र अध्ययन, तीर्थ सेवा, तपस्या एवं यज्ञानुष्ठान से कुछ भी फल नहीं होता है। अर्थात् श्रीहरि भक्ति परायण व्यक्ति के पक्ष में ही उक्त सब फलद हैं। इस से वेदादि शास्त्र ज्ञानादि में श्रीहरि भक्ति की अनुवृत्ति की कथा अनुमोदित हुई है। अन्वय मुख से भी कहते हैं—जिनकी भक्ति श्री जनार्दन में है,उनके पक्ष में बहु शास्त्र ज्ञान का क्या प्रयोजन है ? तपस्या वा यज्ञका अनुष्ठान भी उन के पक्ष में निष्प्रयोजन है। सहस्र सहस्र वाजपेय यज्ञ से भी उनका क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? यहाँ सर्वत्र श्रीहरि भक्ति का अनुवर्त्तन पूर्ववत् वर्णित हुआ है। उस प्रकार श्रीमद् भागवत में भी वर्णित हैं - (भा० २।४।१७)

"तपस्विनो दानपरा यशस्विनो, मनस्विनो मन्त्रविदः सुमङ्गलाः ।
क्षेमं न विन्दन्ति विना यदर्पणं, तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः ॥३२१॥

श्रीशुकदेव कहते हैं—हे नाथ ! आप के चरणों में भक्ति हीन जन गण के निखिल साधन व्यर्थ होते हैं। ज्ञानि गण, दान पर कर्म्मिगण, यशोलिप्सु कर्म्मिगण, अर्थात् अश्वमेधादि यज्ञानुष्ठानकारि व्यक्तिगण, मनस्वियोगिगण, मन्त्रजपकारिगण, सदाचार निष्ठ गण,—निज निज अनुष्ठित साधनों का अर्पण आप को न करने से फल लाभ नहीं करते हैं, एवं विविध विघ्न से उपद्रुत होते रहते हैं। उन सुमङ्गल यशाः--अर्थात् जिन के कथा श्रवण कीर्त्तनादि से ही सर्वाभीष्ट लाभ होता है। एवं सर्वानर्थ निवृत्ति होती है, आप के चरणों में मेरा भूयोभूयः प्रणाम ।

यथाच आनम्य किरीटकोटिभिः, पादौ स्पृशन्नच्युतमर्थसाधनम् ।
सिद्धार्थ एतेन विगृह्यते महा--,नहो सुराणाञ्च तमो धिगाढ्यताम् ।।"३२३।।

(भा० ३।२९।१३) "सालोक्य-सार्ष्टि-सारूप्य--"इत्यादि, (भा० ७।७।५२) "न दानं न तपो नेज्या"

श्रीमद् भागवत के ५।१९।२३ में भी भक्ति के विना समस्त देशों का हेयत्व प्रदर्शित हुआ है।

" न यत्र वैकुण्ठकथासुधापगा, न साधवो भागवतास्तदाश्रयाः ।
न यत्र यज्ञेशमखा महोत्सवाः, सुरेश लोकोऽपि न वै स सेव्यताम् ।।३२२।।

जहाँ, श्रीहरि कथा सुधा स्वर्धुनी प्रवाहित नहीं होती है, जहाँ हरि कथा रसिक सदाचार परायण भक्त गण निवास नहीं करते हैं, जहाँ, यज्ञेश्वर प्रवर्त्तित यज्ञ अर्थात् श्रीहरि नाम सङ्कीर्त्तन रूप महोत्सव नहीं होता है, इस प्रकार स्वर्ग लोक की भी कभी सेवा नहीं करनी चाहिये।

श्रीभगवान् में भी भक्ति हीन जन की निन्दा के प्रसङ्ग में श्रीमद् भागवतके १०।५९।४१ लिखित है—

यथाच आनम्य किरीटकोटिभिः, पादौ स्पृशन्नच्युतमर्थसाधनम् ।
सिद्धार्थ एतेन विगृह्यते महा,--नहो सुराणाञ्च तमो धिगाढ्यताम् ।।"३२३।।

स्वार्थ साधक देववृन्द निजेष्टदेव श्रीकृष्ण के सहित युद्ध में प्रवृत्त हुये थे। यह सुनकर अत्यन्त विस्मित महाराज परीक्षित के प्रति शुकदेव कहे थे—हे राजन् ! देवराज इन्द्र, स्वार्थ साधक होकर श्री कृष्ण के निकट प्रार्थना किये थे—हे प्रभो ! आप नरकासुर बध करके मेरी जननी अदिति के कुण्डलादि लाकर दीजिये। इन्द्र की इस प्रकार प्रार्थना से श्रीकृष्ण भी नरक बध पूर्वक कुण्डलादि आनयन करके अदिति को समर्पण किया था। किन्तु सत्यभामा की प्रार्थना से पारिजात वृक्ष उत्पाटन करके गरुड़ के ऊपर स्थापन करने पर, इन्द्रादि देवगण, पहले स्वार्थ सिद्ध हेतु जिनके चरण स्पर्श किरीट कोटि के द्वारा करके प्रार्थना किये थे, सम्प्रति अति नगण्य पारिजात वृक्ष हेतु श्रीकृष्ण के सहित युद्ध में प्रवृत्त हुये। अहो ! देववृन्द के ऐश्वर्य्य जनित कैसा महीयान् क्रोध है ?

भगवान् के भजनानन्द में जिनके चित्त आविष्ट है, वे सालोक्यादि पञ्चविध मुक्ति को भी अनादर करते हैं। भा० ३।२९।१३ में श्रीकपिलदेवने कहा है—

"सालोक्य सार्ष्टि सारूप्य सामीप्यैकतमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ।।

हे मातः ! मदीय जनगण, मेरी सेवोपयोगिता को छोड़कर सुखैश्वर्य्य कामना से समान लोक में निवास रूप सालोक्य, सार्ष्टि—भगवान् के समान ऐश्वर्य्य प्राप्ति, सारूप्य—भगवान् के समान रूप प्राप्ति, सामीप्य, श्रीभगवान् के समीप में उपस्थित होने को अधिकार प्राप्ति, एकत्व—सायुज्य यह पाँच प्रकार मुक्ति प्रदान करने पर भी वे सब ग्रहण नहीं करते हैं।

श्रीमद् भागवत के ७।७।५२ में अन्वय व्यतिरेक मुख से भगवद् भक्ति को ही एकमात्र भगवत् सन्तोष के हेतु रूप में उल्लेख किया गया है—

": न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च ।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विड़म्बनम् ।।"

श्रीप्रह्लाद दैत्य बालकों को कहे थे—हे भ्रातृवृन्द ! दान, तपः, याग, शौच, व्रत प्रभृति श्रीहरि को सन्तुष्ट नहीं कर सकते हैं। एकमात्र निष्काम भक्ति ही श्रीहरि को सन्तुष्ट कर सकती है। भक्ति व्यतीत अपर अनुष्ठान समूह अभिनय मात्र ही है, कारण, किसी भी साधनमें श्रीहरि के निमित्त प्राण में व्याकुलता

इत्यादि, (भा० १।५।१२, १२।१२।५३) "नैष्कर्म्म्यमप्यच्युतभाववर्ज्जितम्" इत्यादि, (भा० ३।१५।४८ "नात्यन्तिकं विगणयन्त्यपि ते" इत्यादि च ।

अथ 'सर्व्वत्र सर्व्वदा यदुपपद्यते' इत्यादि-योजनिकार्थो युगपद्यथा (भा० २।२।३६) "तस्मात् सर्व्वात्मना राजन् हरिः सर्व्वत्र सर्व्वदा" इत्यादि ।

अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां सदा यदुपपद्यत इत्यत्र यथा (पाद्मे)—

"स्मर्त्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्त्तव्यो न जातुचित् । सर्व्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेव किङ्कराः ॥"३२४॥

नहीं आती है । भा० १।५।१२ १२।१२।५३ में कथित ही भक्ति व्यतीत ज्ञानादि साधन समूह विफलता में पर्य्यवसित होते हैं—

"नैष्कर्म्यमप्यच्युत भाववर्ज्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् ।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यदप्य कारणम् ॥"

देवर्षि नारद श्रीकृष्ण द्वैपायन को कहे थे— हे मुनिवर ! निष्कर्म्म रूप निरुपाधि ज्ञान भी यदि भगवद् भक्ति शून्य होता है तो, वह ज्ञान सम्यक् प्रकार से ब्रह्म साक्षात्कार का योग्य नहीं होता है, अर्थात् भक्ति हीन निरुपाधि ज्ञान ब्रह्म साक्षात्कार कराने में सर्वथा असमर्थ है । जब ज्ञान की स्थिति इस प्रकार है, तब साध्य एवं साधन काल में अमङ्गल रूप निष्काम कर्म्म साधन--यदि भगवदर्पित नहीं होता है तो उस से चित्त शुद्ध होने की कोई सम्भावना नहीं है । भा० ३।१५।४८ में वर्णित है—

"नात्यन्तिकं विगणयन्त्यपि ते प्रसादं किम्वन्यदर्पित भयं भ्रुवउन्नयैस्ते ।
येऽङ्ग त्वदङ्घ्रि शरणा भवतः कथायाः कीर्त्तन्यतीर्थयशसः कुशला रसज्ञाः ॥"

श्रीसनकादि ऋषिगण—श्रीवैकुण्ठ नाथ को कहे थे—हे नाथ ! आप के चरणों में शरणागत होकर जो लोक जगत् पवित्र कारित्व एवं रमणीयत्व हेतु कीर्त्तनीय यशाः आपके कथास्वादन में आसक्त होते हैं, वे सब चतुर भक्त समाज आप के आत्यन्तिक प्रसाद स्वरूप मुक्ति सुख को भी आदर नहीं करते हैं । अतएव आप के भ्रू विजृम्भण से भय सङ्कुल स्वर्गादि सुख के प्रति जो आदर नहीं करते हैं, उस को कहना ही क्या है ? इस से अन्वय एवं व्यतिरेक मुख से भगवद् भक्ति की अवश्य कर्त्तव्यता एवं सर्वत्र सर्वदा अनुवृत्ति प्रदर्शित हुई है, अनन्तर पक्षान्तर अवलम्बन के द्वारा "सर्वत्र सर्वदा" उभय पद की युगपत् योजना के द्वारा जो अर्थ प्रकाशित होता है, उसका वर्णन करते हैं । अर्थात् जिस वाक्य में 'सर्वत्र सर्वदा' पद का युगपत् उल्लेख हुआ है, उसके द्वारा भक्ति की अवश्यकर्त्तव्यता प्रतिपादन करते हैं । एवं श्रीगुरुचरण के समीप से वही अवश्य शिक्षणीय है–उस को कहते हैं—

"तस्मात् सर्वात्मना राजन् ! हरिः सर्वत्र सर्वदा ।
श्रोतव्यः कीर्त्तितव्यश्च स्मर्त्तव्यो भगवान् नृणाम् ॥" (भा० २।२।३६)

महाराज परीक्षित् को श्रीशुकदेवने कहा है राजन् ! निखिल वेदों का मुख्य अभिधेय श्रीहरिभक्ति है, अतएव, मानव मात्र का अन्तः करण के द्वारा सर्वत्र सर्वदा श्रीहरि कथा श्रवण, कीर्त्तन स्मरण करना अवश्य कर्त्तव्य है । इस श्लोक में युगपत् 'सर्वत्र सर्वदा' पदद्वय का उल्लेख करके श्रीहरि भक्ति की अवश्य कर्त्तव्यता का प्रतिपादन हुआ है । पुनर्वार पक्षान्तर में अन्य प्रकार अर्थ करके कहते हैं—अन्वय एवं व्यतिरेक मुख से सदा पद का अर्थ योजित होकर जिसकी अवश्य कर्त्तव्यता का प्रतिपादन हुआ है, श्रीगुरु चरण के समीप से वह ही अवश्य शिक्षणीय है । इस प्रकार अर्थ विषय में प्रमाण पद्म पुराण में है—

अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां सदा सर्व्वत्र यदुपपद्यत इति साकल्येऽपि, यथा (भा० २।२।३३) "न ह्यतोऽन्यः शिवः पन्थाः" इत्युपक्रम्य तदुपसंहारे, (भा० २।२।३६)—

"तस्मात् सर्व्वात्मना राजन् हरिः सर्व्वत्र सर्व्वदा ।
श्रोतव्यः कीर्त्तितव्यश्च स्मर्त्तव्यो भगवान्नृणाम् ॥"३२५॥ इति ।

नृणां जीवानाम् (भा० १०।८७।२०) "इति नृगतिं विविच्य कवयः" इतिवत् । एतदुक्तं भवति-यत् 'कर्म्म' तत् सन्न्यासभोगशरीरप्राप्त्यवधि, 'योगः'—सिद्ध्यवधि, 'सांख्यम्'--आत्मज्ञानावधि,

---

"स्मर्त्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्त्तव्यो न जातुचित् ।
सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेव किङ्कराः ॥"३२४॥

सर्वदा श्रीविष्णु का स्मरण करना कर्त्तव्य है, कभी भी विस्मरण होना नहीं चाहिये । निखिल कर्त्तव्य उपदेश एवं निषेध उपदेश श्रीविष्णु स्मरण एवं विस्मरण के ही किङ्कर हैं । अर्थात् निखिल विधि के राजा श्रीविष्णु स्मरण है, एवं निखिल निषेध के राजा श्रीविष्णु विस्मरण हैं । यहाँ अन्वय एवं व्यतिरेक मुख से एवं 'सतत' पद योजित करके श्रीविष्णु भक्ति की अवश्य कर्त्तव्यता प्रति पादित हुई है । पक्षान्तर में अर्थ करते हैं— विधि एवं निषेध संवलित 'सदा एवं सर्वदा" पदद्वय से जो कर्त्तव्य उपदेश उपलब्ध है, वह ही श्रीगुरु चरण से अवश्य शिक्षणीय है । अन्वय व्यतिरेक के द्वारा अर्थात् साकल्य से—'अन्वय व्यतिरेक 'एवं 'सदासर्वत्र' पद योजनाके द्वारा जो भक्ति की अवश्य कर्त्तव्यता स्थापित हुई है—उस विषय में प्रमाण यह है—भा० २।२।३६

' न ह्यतोऽन्यः शिवः पन्था विशतः संसृताविह ।
वासुदेवे भगवति भक्ति योगो यतो भवेत् ॥"

इस प्रकार उपक्रम करके श्रीशुक ने कहा है—भा० २।२।३५

'तस्मात् सर्वात्मना राजन् हरिः सर्वत्र सर्वदा ।
श्रोतव्यः कीर्त्तितव्यश्च स्मर्त्तव्यो भगवान् नृणाम् ॥"३२५॥

हे राजन् ! संसारी जनों के पक्ष में संसार से मुक्त होने के निमित्त, तपस्या, अष्टाङ्ग योग प्रभृति अनेक साधनों का वर्णन शास्त्र में है । किन्तु यही सुखमय है । एवं समीचीन पन्था है, वह क्या है ? जिस के अनुष्ठान से श्रीवासुदेव में प्रेमलक्षणा भक्ति होती है । यह छोड़कर सुखमय निर्विघ्न पन्था द्वितीय नहीं है । इस से आरम्भ कर श्लोक चतुष्टय के द्वारा श्रीभगवद् भक्ति का ही मुख्य अभिधेयत्व प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—हे राजन् ! अतएव सर्वतो भावेन, "सर्वत्र सर्वदा' भगवान् श्रीहरि की कथा का श्रवण, उनका कीर्त्तन एवं स्मरण करना मानव मात्र का अवश्य कर्त्तव्य है । इस श्लोक में युगपत् 'सदा--सर्वत्र पद योजित करके श्रीहरि भक्ति की अवश्य कर्त्तव्यता प्रतिपादित हुई है । श्लोकस्थ-- 'भगवान् नृणाम्" वाक्य के 'नृ' पद का अर्थ जीवमात्र समझना चाहिये । कारण—भा० १०।८७।२० में उक्त है—

"इति नृगतिं विविच्य कवयो निगमावपनं,
भवत उपासतेऽङ्घ्रिमभवं भुवि विश्वसिताः ॥

श्लोकोक्त प्रमाण के अनुसार उक्त पद का जीवमात्र अर्थ ही समझना चाहिये । कारण, कर्म एवं ज्ञान मार्ग के समान भक्ति मार्ग में अधिकारिगत भेद विचार नहीं है, जीवमात्र ही भगवद् भक्ति में समान

'ज्ञानम्'--मोक्षावधि । तथा तथा तत्तत्योग्यतादिकानि च सर्व्वाणि । एवम्भूतेषु कर्म्मादिषु शास्त्रादिव्यभिचारिता ज्ञेया, हरिभक्तेस्तु अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां सदा सर्व्वत्र तत्तन्महिमभि-रूपपन्नत्वात्तथाभूतस्य रहस्यस्याङ्गत्वं युक्तम् । अतो रहस्याङ्गत्वेन च ज्ञानरूपार्थान्तराच्छन्न-तयैवेदमुक्तमिति ।

तदेवं श्रीभागवतं संक्षेपेणोपदेक्ष्यन्तं श्रीनारदं श्रीब्रह्मापि तथैव सङ्कल्पं कारितवान्, यथा (भा० २।७।५२)--

(११५) "यथा हरौ भगवति नृणां भक्तिर्भविष्यति ।
सर्व्वात्मन्यखिलाधार इति सङ्कल्प्य वर्णय ॥"३२६॥

भविष्यत्यवश्यं भवेत्, इति इमं प्रकारम्, सङ्कल्प्य नियमेनाङ्गीकृत्य ॥ श्रीब्रह्मा नारदम् ॥

अधिकारी हैं। श्रीभगवान् जीवमात्र के ही सेव्य हैं, प्रभु हैं, एवं जीव मात्र ही श्रीभगवान् के नित्य सेवक हैं।

उक्त कथन का तात्पर्य्य यह है—काम्य कर्म की अवधि तव तक ही है, जब तक मनुष्य, सन्न्यास लक्षण त्याग मार्ग का आश्रय ग्रहण नहीं करता है । एवं अनुष्ठित कर्म का फल भोगोपयोगी देह लाभ जब तक नहीं होता है, तब तक काम्य कर्मानुष्ठान करना पड़ता है, तत् पश्चात् कर्मत्याग है, योग साधन का अनुष्ठान भी तब तक ही होता है, जब तक सिद्धि प्राप्ति नहीं होती है, सिद्धि प्राप्ति के अनन्तर योगानुष्ठान की निवृत्ति हो जाती है । आत्म तत्त्व ज्ञान लाभ, जबतक नहीं होता है, तब तक ही आत्म अनात्म विवेकानुष्ठान करना पड़ता है ।

आत्म ज्ञान लाभ होने के पश्चात् उस की भी निवृत्ति हो जाती है, ज्ञान साधन भी जीव एवं ईश्वर का अभेदानुसन्धान एवं मोक्षलाभ के पूर्व पर्य्यन्त स्थित होता है । मुक्ति लाभ के अनन्तर ज्ञान साधन की योग्यता नहीं रहती है । साध्य का अनुसार साधनानुष्ठान की अपेक्षा रहती है, एवं उन उन कर्मादि शास्त्र प्रकृति में व्यभिचारितापरिदृष्ट होती है। अर्थात् आरम्भ परि समाप्ति का वर्णन दृष्ट होता है । एवं किस प्रकार योग्यता लाभ होने पर उक्त साधनानुष्ठान में समर्थ होना होता है, उसका वर्णन भी शास्त्र में है ।

श्रीहरि भक्ति की महिमा का वर्णन विधि एवं निषेध मुख से अर्थात् 'सदा सर्वदा' रूप से किया गया है । अर्थात् श्रीहरि भक्ति की आरम्भ परि समाप्ति नहीं है, एवं अधिकारिगत योग्यता की अपेक्षा भी नहीं है । अतएव उक्त रीति से श्रीहरि भक्ति ही प्रेम लक्षण रहस्य तत्त्व का अङ्ग (साधन) होने का उपयुक्त है । रहस्य वस्तु का अङ्ग होने के कारण ही ज्ञान रूप अर्थान्तर के द्वारा आच्छन्न करके ही इस भक्ति साधन का उल्लेख किया गया है। कारण, रहस्य शब्द का अर्थ है—गोपनीय, जो वस्तु गोपनीय है, उस का साधन भी गोपनीय होना आवश्यक है । अतएव श्रीब्रह्मा, जगत् के प्रति लक्ष्य करके संक्षेप में श्रीमद् भागवत का जो उपदेश नारद को किये थे, एवं महर्षि नारद को उस उपदेश के अनुसार जो सङ्कल्प कराये थे, उसका भा० २।७।५२ में इस प्रकार है (भा० २।७।५२)

(११५) "यथा हरौ भगवति नृणां भक्तिर्भविष्यति ।
सर्व्वात्मन्यखिलाधार इति सङ्कल्प्य वर्णय ॥"३२६॥

टीका—यथा वर्णितेन नृणां भक्ति र्भविष्यतीत्येवं सङ्कल्प्य सञ्चिन्त्य तथा हरि लीला प्राधान्येन

११६। श्रीनारदेनापि तन्महापुराणाविर्भावार्थं तथैवोपदिष्टम् (भा० १।५।१३)--

(११६) "अथो महाभाग भवानमोघदृक्, शुचिश्रवाः सत्यरतो धृतव्रतः।
उरुक्रमस्याखिलबन्धमुक्तये, समाधिनानुस्मर तद्विचेष्टितम् ॥"३२७॥

अथो अतः, (भा० १।५।१२)--"नैष्कर्म्म्यमप्यच्युतभाववर्जितम्" इत्याद्युक्तेः कारणात्। अत्र विचेष्टितानुस्मरणेनाखण्डैव भक्तिर्लक्ष्यते ॥

११७। अन्ते च (भा० १।५।४०)--

(११७) "त्वमप्यदभ्रश्रुत विश्रुतं विभोः, समाप्यते येन विदां बुभुत्सितम्।

श्रीभागवतं वर्णय। नतु भक्ति रस विघातेन केवलं तत्त्वमित्यर्थः।

हे वत्स ! तुम जगत् को श्रीमद् भागवत के मर्म्मार्थ का जो उपदेश करोगे, उस में अखिलाधार सर्वात्मा भगवान् श्रीहरि में जिस से मानव मात्र में भक्त्युदय हो, इस प्रकार सङ्कल्प, अर्थात् उस के अनुरूप नियमों को अङ्गीकार करके उपदेश करो। भक्ति र्भविष्यति–शब्द का अर्थ, भक्ति अवश्य हो, इति इस प्रकार रीति को सङ्कल्प्य--अवलम्बन करके ही वर्णन करो।

श्रीब्रह्मा नारद को कहे थे ॥११५॥

११६। श्रीब्रह्मा, श्रीनारद को जिस प्रकार सङ्कल्प कराये थे। श्रीनारद ने भी श्रीवेदव्यास के हृदय में उस प्रकार श्रीमद् भागवत आविर्भाव कराने के निमित्त उपदेश किये थे। उस का वर्णन १।५।१३ में है--

(११६) "अथो महाभाग भवानमोघदृक्, शुचिश्रवाः सत्यरतो धृतव्रतः।
उरुक्रमस्याखिलबन्धमुक्तये, समाधिनानुस्मर तद्विचेष्टितम् ॥"३२७॥

टीका—तदेवं भक्ति शून्यानि ज्ञान–वाक्–चातुर्य्यं कर्म्मकौशलानि व्यर्थान्येव, यतः, अतो हरेश्चरितमेवानुवर्णयेत्याह अथो-इति। अथो अतः कारणात्, अमोघा यथार्था दृक् धीर्यस्य। शुचि शुद्धं श्रवो यशो यस्य, सत्ये रतः। धृतानि व्रतानि येन। स भवान्, एवं महा गुणस्तावत्, अथ उरुक्रमस्य विविधं चेष्टितं लीलां समाधिना चित्तैकाग्र्येण अखिलस्य बन्धस्य मुक्तये त्वमनुस्मर--स्मृत्वा वर्णयेत्यर्थः। एतच्च वाक्यान्तरमिति मध्यम पुरुष प्रयोगोनानुपपन्नः।

देवर्षि नारद, ने कृष्ण द्वैपायन को कहा—मुनिवर ! भक्ति शून्य ज्ञान, वाक् चातुर्य्य, कर्म कौशल प्रभृति सब ही विफल हैं, मैंने सयुक्ति उसका वर्णन आप के समक्ष में किया है। अतएव श्रीहरि चरित्र का वर्णन निरन्तर करो। कारण, आप--अमोघदृष्टि, पवित्रयशाः सत्यभिरत, एवं धृत व्रत यह सब महागुण सम्पन्न हैं। अतएव उरुक्रम श्रीभगवान् की विविध लीला का स्मरण एकाग्र चित्त से करके अखिल जीवों के माया बन्धन मुक्त हेतु वर्णन करो ॥३२७॥

श्लोकस्थ 'अथ' शब्द का अर्थ—अतः अतएव है। अर्थात् भा० १।५।१२ में वर्णित

"नैष्कर्म्म्यमप्यच्युत भाव वर्जितम्"

कारण, उल्लेखित होने के कारण श्रीहरि कथा वर्णन ही मानव मात्र का अवश्य कर्त्तव्य है। इस श्लोक में श्रीहरि की विविध लीला का निरन्तर स्मरण करने की कथा उपदिष्ट होने के कारण—अखण्डा भक्ति लक्षित हुई है ॥११६॥

११७। श्रीनारद कृत उपदेश के अन्त में (भा० १।५।४०) में वर्णित है—

प्रख्याहि दुःखैर्मुहुरर्द्दितात्मनां, संक्लेशनिर्व्वाणमुशन्ति नान्यथा ॥३२८॥

विदां विदुषाम् ॥ श्रीनारदः श्रीव्यासम् ॥

११८। श्रीव्यासोऽपि तन्महापुराणप्रचारणारम्भे भक्तिमेव परमश्रेयः प्रदत्वेन समाधावनुभूतवानिति प्रथमसन्दर्भे दर्शितं (भा० १।७।४) "भक्तियोगेन मनसि" इत्यादि-प्रकरणे। तथैव, (भा० ११।१९।३०) "को लाभः" इति प्रश्नानन्तरं स्वयं श्रीभगवतैव सम्मतम् (भा० ११।१९।४०)

(११८) "भगो मे" इत्यादौ, "लाभो मद्भक्तिरुत्तमः" इति।

स्पष्टम् ॥ श्रीभगवान् ॥

११९। अतएव स्वगतं विचारयति स्म (भा० १।४।३१)—

(११९) "किंवा भागवता धर्म्मा न प्रायेण निरूपिताः।
प्रियाः परमहंसानां त एव ह्यच्युतप्रिया ॥"३२९॥

---

(११७) "त्वमप्यदभ्रश्रुत विश्रुतं विभोः समाप्यते येन विदां बुभुत्सितम्।
प्रख्याहि दुःखैर्मुहुरर्द्दितात्मनां, संक्लेशनिर्व्वाणमुशन्ति नान्यथा ॥"३२८॥

टीका—अतस्त्वमप्येवं कुर्वित्याह त्वमिति। अदभ्रम्-अनल्पं, श्रुतं यस्य हे अदभ्रश्रुत, विभोर्विश्रुतं यशः प्रख्याहि--कथय। येन विश्रुतेन, बुद्धेन, विदां विदुषां बुभुत्सितं बोद्धुमिच्छा समाप्यते तत्। यतो दुःखैः पीड़िताना संक्लेशशान्तिं प्रकारान्तरेण न मन्यते।

हे अप्रतिहत विवेक। तुम भी श्रीभगवान् के विमल यशः का वर्णन करो, जिस भगवद् स्वरूप का अनुभव करने से विज्ञ जनों की बलवती तत्त्व जिज्ञासा समाप्ति हो जाती है। अर्थात् जब तक श्रीभगवत् कथा रस का आस्वादन नहीं होता है, तब तक रसमय श्रीभगवान् का विमल आस्वादन किया नहीं जा सकता है। श्रीभगवत् कथा कीर्त्तन से भूरि भूरि दुःख से प्रपीड़ित मानवों की क्लेश शान्ति होती है, अपर किसी भी उपाय से शान्ति लाभ की सम्भावना नहीं है। श्लोकस्थ विदां शब्द से 'विदुषाम्' अर्थ जानना होगा। श्रीनारद श्रीव्यास को कहे थे ॥११७॥

११८। श्रीव्यास ने भी श्रीमद् भागवत महापुराण प्रचार के आरम्भ में प्रेम भक्ति समाधि के द्वारा परम मङ्गल प्रद रूप में भक्ति का ही अनुभव किये थे। तत्त्व सन्दर्भ में "भक्ति योगेन मनसि सम्यक् प्रणिहितेऽमले" प्रभृति श्लोकों के द्वारा उसको दर्शाया गया है। उस प्रकार ही भा० ११।१९।३० में "को लाभः" इस प्रश्न के उत्तर में श्रीभगवान् ने भा० ११।१९।४० में

(११८) "भगो मे ऐश्वरो भावो लाभो तद्भक्ति रुत्तमः"

द्वारा कहा है। अर्थात् हे उद्धव! मेरे ऐश्वर्य्यादि षाड़्गुण्य ही परम भाग्य है। एवं मदीय चरणों में भक्ति लाभ ही उत्तम लाभ है। इस प्रकार निज सम्मत भक्ति को ही परम लाभ शब्द से उल्लेख किये हैं।

प्रकरण प्रवक्ता श्रीभगवान् हैं—॥११८॥

११९। श्रीवेदव्यास भी स्वगत विचार (अर्थात् मन ही मन में विचार) किये थे। भा० १।४।३१

(११९) "किं वा भागवता धर्मा न प्रायेण निरूपिताः।
प्रियाः परमहंसानां त एव ह्यच्युतप्रियाः ॥३२९॥

स्पष्टम् ॥ श्रीव्यासः ॥

१२० । अशेषोपदेष्टुरपि तदुपदेशेनैव भगवतः परम उत्कर्ष उच्यते, यथा (भा० ६।१६।४०) —

(१२०) "जितमजित तदा भगवन्, यदाह भागवतं धर्म्ममनवद्यम्"

जितमित्यत्र भवतेति ज्ञेयम्, आहेत्यत्र तु भवानिति ॥ चित्रकेतुः श्रीसङ्कर्षणम् ॥

१२१ । तदेवं भक्तेरेवाभिधेयत्वं स्थितम् । तत्र यद्बहुत्र कर्म्मादिमिश्रत्वेन तद्धर्म्म उपदिश्यते, तत्तु तत्तन्मार्गनिष्ठान् भक्ति-सम्बन्धेन कृतार्थयितुं तानेव कांश्चिद्भक्त्यास्वादनेन शुद्धायामेव भक्तौ, प्रवर्त्तयितुं चेति ज्ञेयम् । पुनश्च, सर्व्वत्र तस्या एवाभिधेयत्वं वक्तुं

टीका—असम्पत्तौ हेतुं स्वयमेवाशङ्कते किं वेति । प्रायेन भूयस्त्वेन । हि यस्मात्, त एव धर्म्माः-- अच्युतस्य प्रियाः ॥

अथवा मैंने भागवत धर्म का वर्णन बहुल रूप से नहीं किया, तज्जन्य ही क्या मैं चित्त में प्रसन्नता प्राप्त करने में अक्षम हूँ ? कारण, परमहंस आत्माराम वृन्द का एवं श्रीभगवान् का वह भागवत धर्म ही एकान्त प्रिय है । सुस्पष्ट वक्ता श्रीव्यास हैं ॥११९॥

१२० । अशेष कर्त्तव्य उपदेश कर्त्ता श्रीभगवान् का परमोत्कर्ष श्रीभागवत धर्म उपदेश के द्वारा हुआ है । उस का विवरण--भा० ६।१६।४० में है—

(१२०) "जितमजित तदा भवता, यदाह भागवतं धर्ममनवद्यम् ।
निष्कञ्चना ये मुनय, आत्मारामा यमुपासते ऽपवर्गाय ॥"

टीका—फल कामनयापित्वदाराधनं यदा मोक्ष हेतु तदा किं वक्तव्यं भागवत धर्म्ममाहात्म्यमिति वक्तुं तत् सम्प्रदाय प्रवर्त्तकत्वेनैव भगवन्तं स्तौति जितमिति । यदा भवान् भागवतं धर्म्ममाह तदा हे भगवन् त्वया जितं सर्वोत्कर्षेण स्थितम् । तत्र हेतुः ये निष्किञ्चनाः सनत् कुमारादयः मुनयः ते यं भगवन्तम् । अपवर्गाय सेवन्ते तेन भवता जितम् । यं धर्ममिति वा ।

श्रीचित्र केतु महाराज, निज प्रभु श्रीसङ्कर्षण देव को कहे थे—हे अजित ! हे भगवन् ! जब आप इस जगत् में आकर विशुद्ध धर्म उपदेश किये हैं, तब ही निष्काम भक्तिप्रिय भत गण को जय किये हैं । इस प्रकार उक्ति से, भागवत धर्म उपदेश के द्वारा ही श्रीभगवान् का उत्कर्ष प्रदर्शित हुआ है । "जितं" शब्द से समझना होगा कि—आपने ही भक्त वृन्द को जिता है । "आह- शब्द के द्वारा जानना होगा कि—आपने ही भागवत धर्म का वर्णन किया है । चित्र केतु—श्रीसङ्कर्षण को कहे थे ॥१२०॥

१२१ । अशेष विचार के द्वारा श्रीभगवद् भक्ति का अभिधेयत्व अर्थात् अवश्य कर्त्तव्यत्व निर्द्धारित हुआ है । तन्मध्य में अनेक शास्त्रों में कर्म ज्ञानादि मिश्र रूप में जो भागवत धर्म का उपदेश दृष्ट होता है, वह कर्म ज्ञानादि साधन मार्ग में निष्ठा प्राप्त साधक वृन्द को भक्ति सम्बन्ध के द्वारा कृतार्थ करने के निमित्त है । एवं किसी किसी साधक वृन्द को भगवद् भजन जनित आनन्द आस्वादन द्वारा विशुद्ध भक्ति में प्रवर्त्तन कराने के निमित्त ही उस प्रकार उपदेश हुआ है । यह समझना होगा । पुनश्च सर्व शास्त्र में भक्ति का अभिधेयत्व कहने के निमित्त पूर्व में यद्यपि भक्ति की महिमा कही गई है, तथापि क्रमरीति अवलम्बन से यहाँ उसकी व्याख्या की जा रही है । सर्व मानव के पक्ष में विशेषतः भक्त को भक्ति भिन्न अपर कुछ भी करना नहीं चाहिये । इस अभिप्राय हेतु पुनर्वार भक्ति की महिमा का वर्णन करते हैं । उक्त महिमा वर्णन

तदीय-महिमा पूर्व्वत्र व्याख्यातोऽपि क्रमेण व्याख्यायते। सर्व्वैरेव विशेषतो भक्तैरन्यत्तु न कर्त्तव्यमित्यभिप्रायेण तत्र तस्याः परमधर्म्मत्वम्, सर्व्वकामप्रदत्वं च (भा० ६।३।२२) "एतावानेव लोकेऽस्मिन्" इत्यादौ, (भा० २।३।१०) "अकामः सर्व्वकामो वा" इत्यादौ (भा० ११।१५।३५) "सर्व्वासामपि सिद्धीनाम्" इत्यादौ च दर्शितमेव। स्कान्दे च सनत्कुमार-मार्कण्डेय संवादे—

"विशिष्टः सर्व्वधर्म्माणां धर्म्मो विष्णवर्च्चनं नृणाम्। सर्व्वयज्ञ-तपो-होम-तीर्थस्नानैश्च यत् फलम् ॥३३०॥ तत् फलं कोटिगुणितं विष्णुं सम्पूज्य चाप्नुयात्। तस्मात् सर्व्वप्रयत्नेन नारायणमिहार्च्चयेत् ॥"३३१॥

तत्रैव ब्रह्म-नारद-संवादे च—

"अश्वमेधसहस्राणां सहस्रं यः करोति वै। न तत् फलमवाप्नोति मद्भक्तैर्यदवाप्यते ॥"३३२॥

प्रसङ्ग में श्रीहरि भक्ति का परम धर्मत्व एवं सर्वाभीष्ट प्रदत्त का वर्णन भा० ६।३।२२ २।३।१०। एवं ११।१५।३५ में है।

"एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां निःश्रेयसोदयः।
तीव्रेण भक्ति योगेन मनोमय्यर्पितं स्थिरम् ॥
अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥
स्वर्गापवर्गयोः पुंसां रसायां भुवि सम्पदाम्।
सर्वासामपि सिद्धीनां मूलं तच्चरणार्च्चनम् ॥"

मनुष्य मात्र की सर्वाङ्गीण उन्नति के निमित्त भक्ति योग ही एक मात्र धर्म है। जिस में निष्काम भाव से श्रीभगवान् में मनोनिवेश की पद्धति है।

उदार बुद्धि सम्पन्न व्यक्ति, सकाम हो, अथवा निष्काम हो, तीव्र भक्ति योग के द्वारा—परम पुरुष श्रीकृष्ण की अर्च्चना करे। स्वर्ग, अपवर्ग, भूतलस्थ सम्पद् एवं समस्त सिद्धि लाभ हेतु, एकमात्र कारण—श्रीकृष्ण चरणार्च्चन ही है। स्कन्द पुराण के सनत् कुमार मार्कण्डेय संवाद में वर्णित है—

"विशिष्टः सर्व धर्माणां धर्म्मो विष्णवर्च्चनं नृणाम्।
सर्वयज्ञ तपो होम तीर्थ स्नानैश्च यत् फलम् ॥३३०॥
तत् फलं कोटि गुणितं विष्णुं सम्पूज्य चाप्नुयात्।
तस्मात् सर्व प्रयत्नेन नारायणमिहार्च्चयेत् ॥३३१॥

श्रीसनत् कुमार मार्कण्डय को कहे थे—हे मार्कण्डेय! समस्त धर्म के मध्य में अर्थात् सर्व कर्त्तव्यता के मध्य में श्रीविष्णु अर्च्चन ही मानव मात्र का विशिष्ट धर्म है। सर्व यज्ञ, तप, होम, एवं तीर्थ स्नान के द्वारा जो फललाभ होता है। श्रीविष्णु की सम्यक् पूजा करने से उस फल से कोटि गुण अधिक फल लाभ होता है। अतएव इस संसार में सर्व प्रथम श्रीनारायण की ही पूजा करे। स्कन्द पुराण के ब्रह्म नारद संवाद में भी वर्णित है—

"अश्वमेध सहस्राणां सहस्रं यः करोति वै।
न तत् फलमवाप्नोति मद्भक्तैर्यदवाप्यते ॥"३३२॥

जो मानव, सहस्र सहस्र अश्वमेध यज्ञानुष्ठान करते हैं, उस से भी वे उस प्रकार फल लाभ नहीं कर सकते हैं, जिस प्रकार मेरे भक्त गण, फल लाभ करते हैं।

अशुभघ्नत्वमपि (भा० ६।१।१७) "सध्रीचीनो ह्ययं लोके पन्थाः क्षेमोऽकुतोभयः" इत्यादौ दर्शितम् । टीका च—"अतो न ज्ञानमार्गे इवासहायता निमित्तं भयम्, नापि कर्म्म-मार्गवन्मत्सरादियुक्तेभ्यो भयमिति भावः" इत्येषा । तथा च स्कान्दे द्वारका-माहात्म्ये परमेश्वरवाक्यम्—

'मद्भक्तिं वहतां पुंसामिह लोके परेऽपि वा । नाशुभं विद्यते लोके कुलकोटिं नयेद्दिवम् ॥"३३३॥

विष्णुपुराणे च—

"स्मृते सकलकल्याणभाजनं यत्र जायते । पुरुषं तमजं नित्यं व्रजामि शरणं हरिम् ॥"३३४॥ इति ।

सर्व्वान्तरायनिवारकत्वमाहु (भा० १०।२।३३)—

(१२१) "तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद्--भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः ।
त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया, विनायकानीकप मूर्द्धसु प्रभो ॥"३३५॥

भगवद् भक्ति के द्वारा निखिल अशुभ विनष्ट होते हैं, अर्थात् भक्ति ही एकमात्र अशुभघ्न है, उसका वर्णन भा० ६।१।१७। में श्रीशुकने किया है ।

"सध्रीचीनोह्ययं लोकेपन्थाः क्षेमोऽकुतोभयः ।
सुशीलाः साधवो यत्र नारायण परायणः ॥"

हे राजन् ! यह भक्ति मार्ग ही समीचीन है । कारण, यह भक्ति मार्ग, मङ्गलप्रद एवं अकुतोभय है, किसी प्रकार विघ्न से भय की आशङ्का भी इस में नहीं है । कारण, जो लोक, इस भक्ति मार्ग में विचरण करते हैं,—वे सब, कृपालु, निष्काम, एवं नारायण परायण होते हैं, जो लोक, इस भक्ति मार्ग को अवलम्बन करते हैं, उनको सहायता करने के निमित्त वे सब कृपालु भक्तवृन्द निरन्तर आनुकूल्य करते हैं । इस श्लोक की टीका में श्री धर स्वामि पादने कहा है,—अतएव ज्ञान मार्ग के समान भक्ति मार्ग में असहायता निमित्त भय नहीं है । एवं कर्म मार्ग के समान पर श्रीकातरता युक्त मानव से भी भय की आशङ्का नहीं है । उस प्रकार वर्णन, स्कन्द पुराण के द्वारका माहात्म्य के परमेश्वर वाक्य में है ।

"मद्भक्तिं वहतां पुंसामिह लोके परेऽपि वा ।
नाशुभं विद्यते लोके कुलकोटिं नयेद्दिवम् ॥"३३३॥

जो सब मानव, मदीय चरण युगल में भक्ति का अनुष्ठान करते हैं, उनको इह लोक वा परलोक में अमङ्गल नहीं होता है । एवं वह कोटि कुल को वैकुण्ठ लाभ कराता है ।

श्रीविष्णु पुराण में लिखित है—

"स्मृते सकल कल्याण भाजनं यत्र जायते ।
पुरुषन्तमजं नित्यं व्रजामि शरणं हरिम् ॥"३३४॥

भक्ति का सर्वान्तराय निवारकत्व का वर्णन भा० १०।२।३३ में है—

(१२१) "तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद् भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयिबद्धसौहृदाः ॥
त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया, विनायकानीकप-मूर्द्धसु प्रभो ॥"३३५॥

टीका - त्वदीयास्तु न कदाचिदपि पतन्तीत्याहुः । तथा नेति । विनायकाः विघ्नहेतवस्तेषामनीकानि

पूर्वम् (भा० १०।२।३२) येऽन्येऽरविन्दाक्ष" इत्यादिना मुक्तानामपि श्रीभगवदनादरेण परमार्थभ्रंश उक्तः भक्तानां स नास्तीत्याहुः,— तथेति । यथा पूर्व्वे आरूढ़-परमपदत्वावस्थातोऽपि भ्रश्यन्ति, तथा तावका मार्गात् साधनावस्थातोऽपि न भ्रश्यन्ति, किमुत मृग्यात्वत्त इत्यर्थः । श्रीवृत्र-गजेन्द्र-भरतादीनां सज्जन्मतो भ्रंशेऽपि भक्तिवासनानुगति-दर्शनात् । (वासना भाष्ये च)—

'मुक्ता अपि प्रपद्यन्ते पुनः संसारवासनाम् । यद्यचिन्त्य-महाशक्तौ भगवत्यपराधिनः ॥" ३३६॥

स्तोमास्तान् पान्ति ये तेषां मूर्द्धसु विचरन्ति विघ्नान् जयन्तीत्यर्थः ।

श्रीब्रह्मादि देवगण, श्रीदेवकी देवी के हृदय में आविर्भूत श्रीकृष्ण को लक्ष्य करके जो स्तव किये थे, उस में भी भक्ति का सर्वविध विघ्न निवारकत्व प्रदर्शित हुआ है । हे माधव ! ज्ञानिवृन्द, जिस प्रकार साधन मार्ग से भ्रष्ट होते हैं, जो लोक आप के हैं, वे सब उस प्रकार भक्ति मार्ग से भ्रष्ट नहीं होते हैं । कारण, उनके आप के प्रति बन्धु भाव अति सुदृढ़ है । अतएव वे सब आप के द्वारा रक्षित होकर निर्भय से विघ्न समूह के मध्य में जो सब विघ्न अति प्रबलतर हैं, उनके भी मस्तक में विचरण करते हैं । कारण, आप भक्त रक्षण कार्य्य में सर्वथा समर्थ हैं, इस अभिप्राय से ही आप सबने सम्बोधन किया—"हे प्रभो !" "तथा न ते माधव ! " श्लोक के पूर्व श्लोक में—

"येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्त मानिन-
स्त्वय्यस्तभावादविशुद्ध बुद्धयः ।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः-
पतन्त्यधोऽनादृत युष्मदङ्घ्रयः ॥"

टीका—ननु विवेकिनां किं मद्भजनेन मुक्ता एव हि तत्राहुः, येऽन्ये इति । विमुक्तमानिनो विमुक्ता वयमिति मन्यमान्याः । त्वयि अस्तो निरस्तोऽतएव असत् जो भावस्तस्तात् भक्तेर भावादित्यर्थः । न विशुद्धा बुद्धिर्येषां ते तथा । यद्वा, त्वयि अस्तभावाः इतिच्छेदः । अस्तमतयो वादेष्वेव विशुद्ध बुद्धयः । कृच्छ्रेण बहु जन्म तपसा परं पदं मोक्षसन्निहितं सत्कुलतपः श्रुतादि । पतन्ति विघ्नैरभिभूयन्ते । न आदृतौ युष्मदङ्घ्री यैस्ते ॥

उक्त श्लोक के द्वारा प्रतिपादित हुआ है कि—जीवन्मुक्त महापुरुषवृन्द भी परमार्थ वस्तु लाभ से परिभ्रष्ट होते हैं, यदि भक्त एवं भगवच्चरणों में अनादर रूप अपराध उन सब का होता है । किन्तु भक्त कभी भी परमार्थ वस्तु लाभ से वञ्चित नहीं होते हैं । इस का वर्णन ही "तथा न ते माधव ! तावकाः क्वचिद्" श्लोक में है । जिस प्रकार परम पदारूढ़ अवस्था से ज्ञानिगण भ्रष्ट होते हैं, उस प्रकार त्वदीय व्यक्ति गण, साधन अवस्था से भी भ्रष्ट नहीं होते हैं । सिद्ध अवस्था से तो कभी भ्रष्ट होने की सम्भावना ही नहीं है । इस में संशय हो सकता है कि—श्रीवृत्र, गजेन्द्र, भरत प्रभृति सज्जन्म से अर्थात् सर्व प्रकार से भगवद् भजनोपयोगि मनुष्य देह से क्यों भ्रष्ट हुए हैं ? उत्तर में कहते हैं—

वे सब सज्जन्म से भ्रष्ट होने पर भी भगवद् भजन की वासना, असुर देह में हस्ति देह में एवं मृग देह में भी दृष्ट होती है । अतएव भक्ति वासना की हानि न होने के कारण उन सब का पतन भी पतन शब्द वाच्य नहीं है ।

मुक्त ज्ञानिमहापुरुषवृन्द भगवच्चरणों में अपराधी होन से उनको जो संसारी होना पड़ता है ।

इति तेषां तु पुनः संसार-वासनानुगतेः । यद्वा, येन निःसन्देहत्वादि-रूपेण प्रकारेण "येऽन्ये ऽरविन्दाक्ष" इत्यादिरूपैतत्पद्य-पूर्वपद्योक्ता वहिर्मुखा भ्रश्यन्ति, तेनैव निःसन्देहत्वादि रूपेण प्रकारेण तावका न भ्रश्यन्ति, तद्भ्रंश-तद्भ्रंशाभावयोरुभयोरपि निःसन्देहत्वादिरूप-प्रकारेणैव सम इत्यर्थः । यतस्त्वयि बद्धसौहृदाः, सौहृदमत्र श्रद्धा-मार्गादिति साधकत्व-प्रतीतेरेव, त्वद्बद्धसौहृदत्वादेव त्वयेत्यादि, तथोक्तम् (भा० ११।४।१०) —"त्वां सेवतां सुरकृताः"

उस विषय में वासना भाष्यधृत वचन यह है।

"मुक्ता अपि प्रपद्यन्ते पुनः संसार वासनाम् ।
यद्यचिन्त्य महाशक्तौ भगवत्यपराधिनः ।।"३३६।।

जीवन्मुक्त महापुरुष वृन्द भी यदि अचिन्त्य महाशक्ति सम्पन्न भगवच्चरणों में अपराधी होते हैं, तो पुनर्वार कर्मराशिके द्वारा संसार बन्धन को प्राप्त करते हैं। अर्थात् पुनर्वार उन सब जीवन्मुक्त गणमें संसार वासना की अनुवृत्ति होती है।

अथवा जो लोक आप के प्रति वहिर्मुख होते हैं, अर्थात् आपको अनादर करते हैं, वे सुनिश्चित रूप से जीवन्मुक्त होने पर भी संसारी हो जाते हैं। किन्तु त्वदीय जनगण की उस प्रकार सुनिश्चित रूप से स्खलित होने की सम्भावना नहीं है। ज्ञानिगण के पक्ष में संसार में पतित होना निःसन्देह है, एवं उक्त भक्त वृन्दके पक्षमें पतित न होना भी निःसन्देह है। अतएव ज्ञानी एवं भक्तमें निःसन्देहांश में समता है, अर्थात् भगवदवज्ञाकारी ज्ञानिगण में संसार वासना का उद्गम होगा ही। भक्त वृन्दका अपतन का कारण यह है कि आप के प्रति उनसब के सुहृद् भाव बद्धमूल है। यहाँ सुहृद् भाव शब्द से--श्रद्धामार्ग को ही जानना होगा। अर्थात् आप के प्रति भक्त वृन्द का सुदृढ़ विश्वास है। दृढ़ विश्वास में अवस्थित होने के कारण, इन सब को साधक जानना होगा। आप के प्रति उन सब के सुहृद् भाव विद्यमान होने के कारण ही आप उन सब की रक्षा सर्वतो भावेन करते हैं। भक्तगण प्रभु कर्त्तृक रक्षित होकर विघ्नगण के मस्तक में पदार्पण करके गमन करते हैं— उसका विवरण भा० ११।४।१० में है—

"त्वां सेवतां सुरकृता बहवोऽन्तरायाः
स्वौको विलङ्घ्य परमं व्रजतां पदं ते ।
नान्यस्य वर्हिषि बलीन् ददतः स्वभागान्
धत्ते पदं त्वमविता यदि विघ्नमूर्द्धिन ।"

मदन, मारुत, एवं देववधू वृन्द, वदरिकाश्रम में श्रीनरनारायण का स्तव करके कहे थे हे प्रभो ! जो लोक—देवगण को यज्ञीय हविप्रदान करते हैं, उन के प्रति देव गण विघ्नाचरण नहीं करते हैं। किन्तु जो लोक, देवतान्तर का भजन न करके आप का भजन करते हैं, उनके प्रति देवगण विघ्नोत्पादन करते हैं। कारण, देवगण, मन में करते हैं कि– अधीन व्यक्ति गण, श्रीहरि भजन करके उत्तम गति को प्राप्त कर लेंगे। अतएव विघ्नोत्पादन करना आवश्यक है। किन्तु त्वदीय भक्तगण, आप के द्वारा रक्षित होकर विघ्न के मस्तकोपरि पद धारण करके आप के चरण कमल के समीप में उपनीत होते हैं। भगवद् भक्तगण, कभी भी विषयों के द्वारा अभिभूत नहीं होते हैं, उसका दृष्टान्त,–भा० ११।२।३४ में है—

"यानास्थाय नरो राजन् न प्रमाद्येत कर्हिचित् ।
धावन् निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह ।।"

श्रीकवियोगीन्द्र निमिमहाराज को कहे थे– हे राजन् ! भागवत--धर्म में विश्वास करने पर नरमात्र

इत्यादौ, (भा० ११।२।३५) "धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेत्" इत्यादौ च ॥ ब्रह्मादयः श्रीभगवन्तम् ॥

१२२ । तथा, (भा० ३।२१।२४) –

(१२२) "न वै जातु मृषैव स्यात् प्रजाध्यक्ष मदर्हणम् ।
भवद्विधेष्वतितरां मयि संगृभितात्मनाम् ॥"३३७॥

मयि संगृभितः संगृहीतो बद्ध आत्मा येषाम्, तथा (भा० ११।१४।१८) "बाध्यमानोऽपि इत्यादिक-मप्यत्रोदाहरणीयम् । अत्र प्रायो बाध्यमानत्वं कदाचित् कदाचित्तद्ध्यानादित आकृष्यमाणत्वमवगम्यते, तथाप्यनभिभूतत्वं (भा० ११।२०।२१) "वेद दुःखात्मकान् कामान्

कभी भी विघ्न के द्वारा अभिभूत नहीं होते हैं । एवं श्रुति, स्मृति ज्ञान रूप नेत्र द्वय निमीलन करके धावित होने पर भी भागवत धर्म मार्ग से कभी भो स्खलन पतन नहीं होता है ।

ब्रह्मादि देवगण श्रीभगवान् को कहे थे—१२१॥

१२२ । उस प्रकार कथन भा० ३।२१।२४ में है—

(१२२) "न वै जातु मृषैव स्यात् प्रजाध्यक्ष मदर्हणम् ॥
भवद्विधेष्वतितरां मयि संगृभितात्मनाम् ॥"३३७॥

टीका—मयि संगृभितः संगृहीतः एकाग्रीकृतः आत्मा चित्तं यैः तेषांयन्मदर्हणं तादृशेषु अतितरां सर्वथा मृषा निस्फलं न स्यात् ॥'

श्रीभगवान् श्रीकर्दमऋषि को कहे थे,—हे प्रजाध्यक्ष ! प्रजापते ! जिन्होंने मुझ में चित्तार्पण किया है, उनका मदर्च्चन कभी भी विफल नहीं होता है, तन्मध्ये आप के सदृश महानुभव गण जो मदर्च्चन करते हैं, वह कैसे विफल हो सकता है ?।

गोस्वामि पाद कृत व्याख्या—हे प्रजापते ! जो व्यक्ति, मुझ में संगृहीत अर्थात् बद्ध चित्त हैं, वे सब जो मेरी अर्च्चना करते हैं, वह ही विफल नहीं होती है । उस प्रकार उदाहरण—भा० ११।१४।१८ में है--

"बाध्यमानोऽपि मद्भक्तोविषयैरजितेन्द्रियः ।
प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभि भूयते ॥"

टीका—अपि च आस्तां तावदुत्तमभक्तकथा यतः प्राकृतोऽपि भक्तः कृतार्थ एवेत्याह बाध्यमान इति द्वाभ्याम् । विषयैराकृष्यमाणोऽपि । प्रगल्भया समर्थया ।

श्रीभगवान् श्रीउद्धव को कहे थे—हे उद्धव ! मेरे अजितेन्द्रिय भक्तगण, विषय के द्वारा बाध्यमान होने पर भी प्रगल्भा भक्तिके प्रभाव से विषय के द्वारा अभिभूत नहीं होते हैं । यहाँ समझने का यह है कि-- "बाध्यमान" पद का प्रयोग वर्त्तमान काल में हुआ है । अर्थात् जब ही बाधित होती है, तब ही विषय के द्वारा अभिभूत नहीं होता है । जिस प्रकार ज्वर प्रतिषेधक औषधि सेवन जिस दिन करते हैं, उस दिन ज्वर का आक्रमण होता है, किन्तु वह अभिभूत नहीं कर सकता है । उस प्रकार विषय वासना की प्रतिषेधक औषधि स्वरूप श्रीहरि भक्ति का अनुष्ठान करने से विषय वासना आकर आक्रमण करना तो चाहती है, किन्तु भक्ति साधन में बाधा दे नहीं सकती । यहाँ प्रायशः बाधित होने पर भी भगवद् ध्यानादि द्वारा आकृष्यमाण होते हैं, । अर्थात् भगवद् ध्यान के प्रभाव से चित्त श्रीभगवान् मे आकृष्ट होकर रहता है, चित्त

परित्यागेऽप्यनीश्वरः'' इत्यादि-न्यायेन। तत्रापि भगवन्तं प्रति निजदैन्यादि-निवेदनादिना भक्तेरेवानुवृत्तिरिति ज्ञेयम्॥ श्रीशुक्लः कर्दमम्॥

१२३। दुष्टजीवादि-भय-निवारकत्वमाह, (भा० ७।५।४३--४४) —

(१२३) ''दिग्गजैर्दन्दशूकेन्द्रैरभिचारावपातनैः।
मायाभिः सन्निरोधैश्च गरदानैरभोजनैः॥३३८॥
हिमवाय्वग्निसलिलैः पर्व्वताक्रमणैरपि।
न शशाक यदा हन्तुमपापमसुरः सुतम्।
चिन्तां दीर्घतमां प्राप्तस्तत् कर्त्तुं नाभ्यपद्यत॥''३३९॥

अत्र (वि० पु० १।१४।४४) ''दन्ता गजानां कुलिशाग्रनिष्ठुराः'' इत्यादिकं वैष्णव-वचन-जातमनुसन्धेयम्, (भा० १०।६।३) ''न यत्र श्रवणादीनि'' इत्यादिकञ्च, यथा वृहन्नारदीये—

को आकृष्ट करने की क्षमता, विषय वासना का ह्रास हो जाता है। यद्यपि विषय, श्रीभगवान् से चित्त को आकृष्ट करता है, तथापि, भा० ११।२०।२७ में उक्त है—

''वेद दुःखात्मकान् कामान् परित्यागेऽप्यनीश्वरः।
ततो भजेत मां प्रीतः श्रद्धालु र्दृढ़निश्चयः॥''

टीका—भक्त्यधिकारिणो भक्ति योगमाह—जातश्रद्ध इति—नवभिः। मत् कथासु जातश्रद्धः। अतएव अन्येषु कर्म्मसु निर्विण्ण उद्विग्नो नतु तत् फलेषु विरक्तः, तदाह वेदेति। यद्यपि वेद, तथापि तत् परित्यागेऽप्यनीश्वरोऽशक्तः।

इत्यादि न्याय से,—अर्थात् विषय भोग अतीव दुःखावह है, इस प्रकार अनुभव करके भी परित्याग करने में असमर्थ है। उस अवस्था में भी श्रीभगवान् में निज दैन्यादि निवेदन के द्वारा श्रीहरि भक्ति की अनावृत्ति होती है। अर्थात् लय विक्षेप से निज को उद्धार करना असम्भव जानकर श्रीप्रभु के चरणों में भक्त सकातर निवेदन करता रहता है। उस से चित्त निरन्तर अभिमान शून्य होकर दीन भाव से विगलित होता है। उस से श्रीभगवान् की कृपाराशि आकृष्ट होती है। इस प्रकार भक्ति की अनुवृत्ति, विषय के द्वारा बाध्यमान अवस्था में भी प्रकाशित होती रहती है। श्रीशुक्ल – कर्दम को कहें थे॥१२२॥

१२३। दुष्टजीवों से श्रीभगवद् भक्ति का भय निवारकत्व का वर्णन भा० ३।५।४३--४४ में कहते हैं--

(१२३) ''दिग् गजै र्दन्दशूकेन्द्रैरभिचारावपातनैः।
मायाभिः सन्निरोधैश्च गरदानैरभोजनैः॥३३८॥
हिमवाय्वग्निसलिलैः पर्व्वताक्रमणैरपि।
न शशाक यदा हन्तुमपापमसुरः सुतम्।
चिन्तां दीर्घतमां प्राप्तस्तत् कर्त्तुं नाभ्यपद्यत॥''३३९॥

हिरण्यकशिपु, निजपुत्र प्रह्लाद को बध करने के निमित्त दिग् गजगण के द्वारा, विषधर सर्प समूह द्वारा, अभिचार यज्ञ द्वारा गिरि पातन द्वारा, आसुरिक माया समूह के द्वारा, गर्त्तावरोध द्वारा, विष भक्षण के द्वारा, हिम, वायु, अग्नि, सलिल में निक्षेप द्वारा अनाहार द्वारा, पर्वत क्षेपण द्वारा, जब निष्पापचित्त पुत्र को बध करने में असमर्थ हुये थे, तब दुरत्यय चिन्ता को प्राप्त किये थे। किन्तु प्रतिकार का कोई उपाय

"यत्र पूजा-परो विष्णोस्तत्र विघ्नो न बाधते । राजा च तस्करश्चापि व्याधयश्च न सन्ति हि ॥३४०॥
प्रेताः पिशाचा कुष्माण्डा ग्रहा बालग्रहास्तथा । डाकिन्यो राक्षसाश्चैव न बाधन्तेऽच्युतार्च्चकम् ॥"३४१

श्रीनारदः श्रीयुधिष्ठिरम् ॥

१२४ । तथा (भा० ३।२२।३७) –

(१२४) "शारीरा मानसा दिव्या वैयासे ये च मानुषाः ।
भौतिकाश्च कथं क्लेशा बाधेरन् हरिसंश्रयम् ॥"३४२॥

उद्भावन उन से नहीं हो सका । यहाँ विष्णु पुराण के "दन्ता गजानां कुलिशाग्र निष्ठुराः ॥" प्रभृति वचन समूह अनु सन्धेय हैं । अर्थात् जिस समय, हस्ती समूह प्रह्लाद को वज्रादपि कठोर दन्तों के द्वारा निपीड़न करने लगे थे, तब कोमल भक्ति शक्ति के प्रभाव से कठिन दन्त समूह अति सुकोमल हो गये थे । इस प्रकार अग्नि—चन्द्र से भी सुशीतल, विष—अमृत से स्वादु हुये थे । अर्थात् विरुद्ध धर्म प्राप्त हुये थे । भक्ति शक्ति के प्रभाव से मायामयी जड़ाशक्ति पराभूत होती है, उस की दृष्टान्त द्वारा दर्शाया गया है । भा० १०।६।३' में वर्णित है—

" न यत्र श्रवणादीनि रक्षोघ्नानि स्वकर्मसु ।
कुर्वन्ति सात्वतां भर्त्तुर्यातु धान्यश्च तत्र हि ॥"

श्रीशुक देवने कहा,—हे राजन् ! जिस यज्ञ प्रभृति कर्म्म में भक्त जन वल्लभ श्रीहरि के राक्षस विनाश कारी श्रवण कीर्त्तनादि भक्त्यङ्ग का अनुष्ठान नहीं होता है । वहाँ, राक्षसी गण, निज प्रभाव प्रकाश करने में समर्था होती हैं । इस से व्यतिरेक मुख से भक्ति का दुष्ट जीव भय निवारकत्व का प्रदर्शन हुआ । वृहन्नारदीय पुराण में उक्त है—

"यत्र पूजा-परो विष्णोस्तत्र विघ्नो न बाधते ।
राजा च तस्करश्चापि व्याधयश्च न सन्ति हि ॥३४०॥
प्रेताः पिशाचाः कुष्माण्डा ग्रहा बालग्रहास्तथा ।
डाकिन्यो राक्षसाश्चैव न बाधन्तेऽच्युतार्च्चकम् ॥"३४१॥

जहाँपर विष्णु भक्त गण निवास करते हैं, वहाँपर विघ्न, बाधा उपस्थित कर नहीं सकता है । राजा, चोर, व्याधि का आगमन वहाँ नहीं होता है । प्रेत, पिशाच, कुष्माण्ड, ग्रह, बालग्रह, डाकिनी, राक्षस प्रभृति, श्रीहरि के अर्च्चन कारी को बाधा प्रदान करने में असमर्थ होते हैं ।

श्रीनारद श्रीयुधिष्ठिर को कहे थे ॥१२३॥

१२४ । उस प्रकार श्रीमद् भागवत के ३।२२।३७ में वर्णित है—

"शारीरा मानसा दिव्या वैयासे ये च मानुषाः ।
भौतिकाश्च कथं क्लेशा बाधेरन् हरिसंश्रयम् ॥"३४२॥

टीका—दिव्यास्त्वन्तरीक्षाः । मानुषाः शत्रु प्रभवाः । भौतिकाः--शीतोष्णादि प्रभवाः । वैयासे-विदुरः ।

क्रमसन्दर्भ —शारीराः—मानसाश्चाध्यात्मिकाः, दिव्या आधि दैविकाः । मानुषा भूतान्तरजाश्चाधिभौतिकाः । तत्तदवान्तर भेद विवक्षया तु द्वयोभेदः ।

हे वैयासे ! हे व्यास नन्दन विदुर ! शारीर, मानस, आध्यात्मिक, दिव्य, आधिदैविक, मानुष, आधिभौतिक प्रभृति क्लेश समूह श्रीहरि पदाश्रित, व्यक्ति वृन्द को बाधा प्रदान करने में कैसे सक्षम होंगे ?

एवमप्युक्तं गारुड़े,—

"न च दुर्व्वाससः शापो वज्रञ्चापि शचीपतेः। हन्तुं समर्थः पुरुषं हृदिस्थे मधुसूदने॥"३४३॥ इति।

श्रीमैत्रेयो विदुरम्॥

१२५। अथ पापघ्नत्वे तावदप्रारब्धपापघ्नत्वमाह, (भा० ११।१४।१९)—

(१२५) "यथाग्निः सुसमिद्धार्च्चिः करोत्येधांसि भस्मसात्।
तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः॥"३४४॥

टीका च—"पाकाद्यर्थमपि प्रज्वालितोऽग्निर्यथा काष्ठानि भस्मीकरोति, तथा यागादिनापि कथञ्चिन्मद्विषया भक्तिः समस्तपापानीति। भगवानपि स्वभक्तिमहिमाश्चर्य्येण सम्बोधयति,- अहो उद्धव विस्मयं शृणु" इत्येषा। अत्र दृष्टान्ते "सुसमिद्धार्चिः" इतिवद्दार्ष्टान्तिके 'सुदृढ़ा' इत्याद्यनुक्तेः 'अदृढ़ापि' इत्यादि उन्नीयते। अत्रैव "कृत्स्नशः" इत्युक्तम्। पाद्म-पाताल-खण्डस्थ-वैशाखमाहात्म्ये च—

"यथाग्निः सुसमिद्धार्च्चिः करोत्येधांसि भस्मसात्। पापानि भगवद्भक्ति स्तथा दहति तत्क्षणात्।"३४५

गरुड़ पुराण में भी इस प्रकार उल्लेख है—

"न च दुर्व्वाससः शापो वज्रञ्चापि शचीपतेः।
हन्तुं समर्थं पुरुषं हृदिस्थे मधुसूदने॥"३४३॥ इति॥

जिन के हृदय में श्रीमधुसूदन अवस्थान करते हैं, दुर्वासा मुनिका शाप, एवं शचीपति इन्द्र का वज्र भी उन पुरुष को विनष्ट करने में असमर्थ हैं।

श्रीमैत्रेय श्रीविदुर को कहे थे॥१२४॥

१२५। श्रीभगवद् भक्ति के पापघ्नत्व विषय में अ प्रारब्ध पापघ्नत्व का उद हरण प्रस्तुत करते हैं- भा० ११।१४।१९ में उक्त है—

(१२५) "यथाग्निः सुसमिद्धार्च्चिः करोत्येधांसि भस्मसात्।
तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः॥"३४४॥

क्रमसन्दर्भ—अथ पापघ्नत्वे तावदप्रारब्ध पापघ्नत्वमाह, यथेति। अत्र दृष्टान्ते सुसमिद्धार्चिरितिवद् दार्ष्टान्तिके सुदृढ़ा' इत्यस्य शब्दस्यानुक्तेः। 'अदृढ़ापि' इत्युन्नीयते अतएव 'कृत्स्नशः' इत्युक्तम्। तथैवोक्तं पाद्म पाताल खण्डस्थ वैशाख माहात्म्ये च—

"यथाग्निः सुसमिद्धार्च्चिः करोत्येधांसि भस्मसात्।
पापानि भगवद्भक्ति स्तथा दहति तत्क्षणात्॥"३४५॥ इति

यद्यपि (भा० ६।२।१५) "हरिरित्यवशेनाह" इत्यादि लिङ्गादि प्रत्यय विरहेऽपि (यजुः) 'पूषा प्रपिष्ट भागः' (यजुः) 'यदाग्नेयोऽष्टा कपालो भवति' इत्यादिवद् विधित्वमस्ति, (भा० २।१।५) 'तस्माद् भारत सर्वात्मा' इत्यादौ च साक्षात् विधि श्रवणमप्यस्ति, 'तस्मात्' इति हेतु निर्देशश्चाकरणे दोषं क्रोड़ी करोति। तथापि विधिसापेक्षेयं नभवतीति तथाभूतस्वभावाग्निलक्षण वस्तु दृष्टान्तेन सूचितम्। अतएव (भा० ११। २।३५) 'यानास्थाय' इत्यादिकमपि दृश्यते। "सुसमिद्धार्च्चिः" इत्यनेन साधनान्तर सापेक्षत्वमशक्य साध्यत्वं विलम्बिततञ्च निराकृतम्। तदेव व्यक्तं पाद्मे 'तत् क्षणात्' इति। यद्वा, यथा मद् विषया भक्ति

यद्यपि (भा० ६।२।१५) "हरिरित्यवशेनाह पुमान्नार्हति यातनाम्" इत्यादौ लिङादिप्रत्यय-विरहेऽपि (यजुः) "पूषा प्रपिष्टभागः", (यजुः) "यदाग्नेयोऽष्टाकपालो भवति" इत्यादिवद्विधित्वमस्ति, (भा० २।१।१५)—

यथा कथञ्चिच्छ्रवणादि लक्षणा (भक्त्याभास रूपा) समस्तानि पापानीति ।

टीका—पाकाद्यर्थं प्रज्वालितोऽग्निर्यथा काष्ठाणि स्वीकरोति तथा रागादिनापि कथञ्चिन्मद्विषया सती भक्तिः समस्त पापानीति 'भगवानपि स्वभक्ति महिमाश्चर्य्येण सम्बोधयति । अहो उद्धव ! विस्मयं शृणिवति ।

श्रीभगवद् भक्ति में सर्वपाप विनष्ट करने की सामर्थ्य है । उस के मध्य में अप्रारब्ध पाप अर्थात् जो पाप, फल भोग प्रदान हेतु आरम्भ नहीं हुआ है, उसको विनष्ट करने की क्षमता को कहते हैं-'यथाग्निः' भगवान् श्रीकृष्ण, उद्धव को कहे थे, हे उद्धव ! प्रज्वलित अग्नि, जिस प्रकार काष्ठ समूह को भस्मीभूत करता है, उस प्रकार मद्विषयिणी भक्ति निखिल पाप राशि को विनष्ट करती है । स्वामिपादकृत टीका का व्याख्यार्थ यह है जिस प्रकार पाक कार्य्यादि सम्पादननिबन्धन प्रज्वालित अग्निकाष्ठ समूहको भस्मसात् करता है, उस प्रकार वागिन्द्रिय के द्वारा भी किसी प्रकार मद्विषया भक्ति अनुष्ठित होने पर समस्त पाप विनष्ट होते हैं । तात् पर्य्य यह है कि--अग्नि प्रज्वालन का मुख्य उद्देश्य-पाककार्य निष्पादन करना है, आनुषङ्गिक रूप से काष्ठ समूह भस्मीभूत होते हैं, उस प्रकार, श्रीभगवान् में प्रेमभक्ति लाभ हेतु अनुष्ठित भक्ति, आनुषङ्गिक भाव से कृत, क्रियमाण, करिष्यमाण, तीन प्रकार पाप को ही विनष्ट करती हैं । भगवान्, भक्ति महिमा से विस्मित होकर स्वयं कहे थे, हे उद्धव ! विस्मय की कथा सुनो,यह है टीका का तात्पर्य्य । पद्म पुराण के पाताल खण्ड के वैशाख माहात्म्य में लिखित है—

"यथाग्निः सुसमिद्धार्च्चिः करोत्येधांसि भस्मसात् ।
पापानि भगवद् भक्तिस्तथा दहति तत्क्षणात् ॥३४५॥

जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि काष्ठ समूह को भस्मसात् करता है, उस प्रकार भगवद् विषया भक्ति, पाप समूह को तत् क्षणात् विनष्ट करती है, यद्यपि, भा० ६।२।१५ में उक्त है—

"पतितस्खलितो भग्नः सन्दष्टस्तप्त आहतः ।
हरिरित्यवशेनापि पुमान् नार्हति यातनाम् ॥"

यहाँपर यद्यपि सङ्कल्प पूर्वक श्रीहरिनाम ग्रहण नहीं हुआ, अर्थात् यह श्रीहरिनाम ग्रहण करने से मेरे निखिल पाप विनष्ट हो जायेंगे, इस प्रकार सङ्कल्प अजामिल का नहीं था, किन्तु पुत्र स्नेह से नारायण नाम ग्रहण उसने किया था, तथापि सङ्कल्प के विना भी अननुसन्धान से जो व्यक्ति श्रीहरि नामोच्चारण करते हैं, उनको यम यातना भोगनी नहीं पड़ती है, श्रीहरिनाम ग्रहण विषय में विधि की अपेक्षा नहीं है ।

प्रासाद से निपतित होकर, पथ में स्खलित होकर, भग्नगात्र होकर सर्पादि द्वारा सन्दष्ट होकर, ज्वरादि द्वारा सन्तप्त होकर, अथवा दण्डादि द्वारा आहित होकर अननुसन्धान से भी यदि श्रीकृष्ण नाम गृहीत होता है तो, उस से नाम ग्रहण कारी को किसी प्रकार यातना भोगनी नहीं पड़ती है ।

यद्यपि उक्त श्लोक में लिङ्गादि प्रत्यय का प्रयोग नहीं हुआ है, तथापि, पूर्व मीमांसा में लिखित "पूषा प्रपिष्ट भागो यदाग्नैयौष्टाकपालो भवतीत्यादिवद् विधित्वमस्ति" अर्थात् पूषा प्रपिष्ट भाग भी आग्नेय भाग में अष्ट कपाल होता है,यहाँ विधिलिङ्ग का प्रयोग न होने से भी विधि धर्म का बोध होता है, अर्थात् अवश्य कर्त्तव्यता का बोध होता है, उस प्रकार प्रकृत स्थल में भी विधिलिङ्ग प्रयोगाभाव से भी

"तस्माद्भारत सर्व्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः।
श्रोतव्यः कीर्त्तितव्यश्च स्मर्त्तव्यश्चेच्छताभयम् ॥"३४६॥

इत्यादौ साक्षाद्विधिश्रवणमप्यस्ति, 'तस्मात्' इति हेतुनिर्द्देशश्चाकरणे दोषं क्रोड़ीकरोति तथापि विधिसापेक्षेयं न भवतीति तथाभूत-स्वभावाग्निलक्षण--वस्तुदृष्टान्तेन सूचितम्। अतएव (भा० ११।२।३५) "यानास्थाय नरो राजन्" इत्यादिकमपि दृश्यते। 'सुसमिद्धार्च्चिः' इत्यनेन साधनान्तरसापेक्षत्वमशक्य-साध्यत्वं विलम्बितत्वञ्च निराकृतम्। तदेव व्यक्तं पाद्मात् 'तत्क्षणात्' इति ॥ श्रीभगवान् ॥

१२६। तथा च (भा० ६।१।१५)—

(१२६) "केचित् केवलया भक्त्या वासुदेवपरायणाः।
अघं धुन्वन्ति कार्त्स्न्येन नीहारमिव भास्करः ॥"३४७॥

विधित्व का बोध होगा। भा० २।१।५ में साक्षात् विधित्व का भी श्रवण है"
तस्माद्भारत ! सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः।
श्रोतव्यः कीर्त्तितव्यश्च स्मर्त्तव्यश्चेच्छताभयम् ॥"३४६

श्रीशुकदेवने कहा—हे भारत ! अतएव सर्वात्मा भगवान् ईश्वर श्रीहरि, मोक्षाभिलाषी मानव के पक्ष में अवश्य श्रोतव्य, कीर्त्तितव्य एवं स्मर्त्तव्य है। "तस्मात्" हेतु निर्देश के कारण अकरण जन्य प्रत्यवाय भी सूचित हुआ है। तथापि अननुसन्धान से भी दहन स्वभाव वह्नि लक्षण वस्तु के दृष्टान्त के द्वारा यह भक्ति विधिसापेक्ष नहीं हो सकती है। अर्थात् विधि पूर्वक भक्ति अनुष्ठान से ही फललाभ कर सकते हैं, इस प्रकार सिद्धान्त हो ही नहीं सकता है, कारण जिस किसी प्रकार से भक्ति का अनुष्ठान करने से ही फल लाभ से विमण्डित हो सकते हैं। अतएव भा० ११।२ ३५ में कहा गया है,—"यानास्थाय नरोराजन् !' "न स्खलेन्नपतेदिह" एवं "नेत्रे निमील्य" अर्थात् श्रुति--स्मृति ज्ञान शून्य होकर विधि को अतिक्रम करके भी यदि भक्ति का अनुष्ठान करते हैं, तथापि स्खलन पतन होने की सम्भावना ही नहीं है।

विशेष कर—"यथाग्निः सुसमिद्धार्चिः" इस प्रकार दृष्टान्त के उल्लेख के द्वारा भगवद् भक्ति का साधनान्तर सापेक्षत्व, अशक्यसाध्यत्व,एवं विलम्बितत्व का निरास किया गया है। अर्थात् भक्ति, स्वयं ही अचिन्त्य प्रभाव शालिनी होने के कारण, अपर किसी साधन की सहायता की अपेक्षा इस में नहीं है, एवं निज साध्य प्रेम प्रदानमें सामर्थ्य हीना भी नहीं है, प्रेम प्रदान में भी विलम्ब नहीं करती है। उस का ही सुस्पष्ट कथन पद्म पुराण के पाताल खण्ड के वैशाख माहात्म्य में—

"यथाग्निः सुसमिद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात्।
पापानि भगवद् भक्ति स्तथा दहति तत्क्षणात् ॥"

"तत् क्षणात्" पदके द्वारा हुआ है।

प्रवक्ता श्रीभगवान् हैं ॥१२५॥

१२६। भा० ६।१।१५ में कथित है—

(१२६) "केचित् केवलया भक्त्या वासुदेवपरायणाः।
अघं धुन्वन्ति कार्त्स्नेचन नीहारमिव भाक्करः ॥"३४७॥

टीका च—"केचिदित्यनेनैवम्भूता भक्तिप्रधाना विरला इति दर्शयति— केवलया तपआदि-निरपेक्षया, 'वासुदेवपरायणाः' इति नाधिकारि-विशेषणमेतत्, किन्तु अन्येषामश्रद्धया तत्राप्रवृत्तेरर्थात्तेष्वेव पर्य्यवसानादनुवादमात्रम्" इत्येषा। अत्र भास्करो हि केवलेन स्वरश्मिना स्वभावत एव नीहारं निःशेषं धुनोति, न तदर्थं प्रयत्नतस्तथा वासुदेवपरायणा अपि भक्त्येति ज्ञेयम् ॥

१२७। किञ्च, (भा० ६।१।१६)—

(१२७) "न तथा ह्यघवान् राजन् पूयेत तप-आदिभिः।
यथा कृष्णार्पितप्राणस्त पुरुष-निषेवया ॥" ३४८॥

टीका च—"एतच्च ज्ञानमार्गादपि श्रेष्ठमित्याह,—न तथा पूयेत शुध्येत्, यथा तत्-

---

श्रीशुकदेव ने कहा,—हे राजन्! कोई कोई सौभाग्यवान् वासुदेव परायण भक्तगण, तपस्या प्रभृति निरपेक्षा भक्ति के प्रभाव से, सूर्य्य जिस प्रकार, कुज्झटिका को विनष्ट करते हैं, उस प्रकार सम्पूर्ण पापराशि को विनष्ट करते हैं। इस प्रकार महानुभाव वृन्द की संख्या अतीव विरल है। श्रीधर स्वामिपाद कृत टीका का अर्थ यह है—"केचित्" पदविन्यास के द्वारा सूचित हुआ है कि—एतादृश भक्ति प्रधान सम्प्रदाय अति विरल है। भक्ति के विशेषण रूप में "केवलया" पदोल्लेख द्वारा सूचित हुआ है कि, भक्ति तपस्या प्रभृति साधनान्तर की अपेक्षा नहीं करती है। "वासुदेव परायणाः" पद, अधिकारी का विशेषण नहीं है, किन्तु, साधारण जनगण, भक्ति मार्ग में अविश्वस्त होने के कारण, उनकी प्रवृत्ति, भक्ति मार्ग में नहीं होती है। तज्जन्य, जो लोक, वासुदेवपरायण हैं, उनकी प्रवृत्ति ही, अन्य निरपेक्षा भक्ति में होती है। एतज्जन्य, "वासुदेव परायणाः।' पद—अनुवाद मात्र है। यह ही टीका का अर्थ। उक्त श्लोक में "भास्कर" पदोल्लेख के द्वारा यह सूचित हुआ है कि—भास्कर, जिस प्रकार निज रश्मिके द्वारा स्वभावतः ही कुज्झटिका समूह को विनष्ट करते हैं, प्रयत्न नहीं करना पड़ता है, उस प्रकार ही वासुदेवपरायण जनगण भी अन्य निरपेक्षा भक्ति के द्वारा निखिल पाप राशि को अनायास विनष्ट करते हैं। इस प्रकार समझना होगा ॥१२६॥

१२७। और भी भा० ६।१।१६ में उक्त है—

(१२७) "न तथा ह्यघवान् राजन् पूयेत तप--आदिभिः।
यथा कृष्णार्पितप्राणस्तत् पुरुष--निषेवया ॥"३४८॥

हे राजन्! पापीयान् जन, तपस्या द्वारा उस प्रकार पवित्र नहीं होता है। श्रीकृष्णार्पितप्राण भक्त, भगवद् भक्त की सेवा के द्वारा जिस प्रकार विशुद्ध होता है। टीका का अभिप्राय—यह कथन-ज्ञान मार्ग से भी श्रेष्ठत्व प्रदर्शन हेतु हुआ है। ज्ञान प्रभृति मार्गानुशीलन से मानव उस प्रकार पवित्र नहीं होता है, जिस प्रकार, भगवद् भक्त की सेवा के द्वारा पवित्र होता है। कारण, भगवद् भक्त श्रीकृष्ण में प्राणार्पण करने में सक्षम है। यह है टीका की व्याख्या। भा० ६।१।११ में कहा गया है—"प्रायश्चित्तं विमर्शनम्" अर्थात् ज्ञान को भी पाप का प्रायश्चित्त रूप में उल्लेख किया गया है। अतएव टीका कारने कहा है भक्ति मार्ग, ज्ञानमार्ग से श्रेष्ठ है, "एतच्च ज्ञान मार्गादपि श्रेष्ठम्" इस प्रकार होने पर भा० ६।१३।१७ में उक्त प्रसङ्ग का समाधान होता है।

पुरुषनिषेवया, कृष्णे अर्पिताः प्राणा येन" इत्येषा। अत्र (भा० ६।१।११) "प्रायश्चित्तं विमर्शनम्' इति ज्ञानस्यापि प्रायश्चित्तत्वं पूर्व्वमुक्तम्। तत एव टीकोक्तम्—'एतच्च' इत्यादि। तदा (भा० ६।१३।१७) "ऋतम्भर-ध्यान-निवारिताघः" इत्याद्युक्त्या भगवद्ध्यान-निवारित-वृत्रहत्या पापस्येन्द्रस्य (भा० ६।१३।१८) "तञ्च" इत्यादौ पुनरश्वमेधविधानं साधारणलोके पापप्रसिद्धेरेव निवारणार्थमिति ज्ञेयम्। ननु कथं तदानीमप्याविर्भूत-भगवत्प्रेमत्वात् परमभागवतस्य वृत्रस्य हत्या भगवदाराधनेनापि गच्छतु? महदपराधमात्रमपि भोगैक-नाश्यं तत्प्रसाद-नाश्यं वेति मतम्? उच्यते,—तथापि भगवत्प्रेरणया तत्र प्रवृत्तस्येन्द्रस्य न तादृशो दोष इति तदाराधनमेव तत्र प्रायश्चित्तं विहितम्। श्रीभगवतापि तदासुरभावनिवारणायैव तथोपदिष्टमित्यनवद्यम्॥ श्रीशुकः॥

१२८। क्वचित् प्रारब्धपापहारित्व मप्याह द्वाभ्याम्, (भा० ३।३३।६-७)—

"ततो गतो ब्रह्मगिरोपहूत ऋतम्भर ध्यान निवारिताघः।
पापस्तु दिग्देवतया हतौजास्तं नाभ्यभूदवितं विष्णुपत्न्या॥"

टीका—ततः, इन्द्रः स्वर्गं गतः प्राप्तः। कथम्भूतः? ब्रह्मगिरा—ब्राह्मणवाक्येन उपहूतः सन्, ऋतम्भर सत्यपालको हरिः, तस्य ध्यानेन, निवारितमघं येन। प्रागपि तु पापो ब्रह्मबधस्तमिन्द्रं नाभ्यभूत्, तस्याभिभवं नाकरोत्, कुतः! दिग्देवतया प्रागुदीच्यां दिशि स्थितया श्रीरुद्रेण अवितं रक्षितं सन्तम्।

इस श्लोक में वर्णित है—श्रीहरि ध्यान के द्वारा वृत्रासुर बध जनित पाप निवृत्ति होने पर ब्रह्मर्षि वृन्द जो पाप नाश हेतु अश्वमेध यागानुष्ठान कराये थे- इसका उद्देश्य था केवल साधारण लोक में प्रसिद्ध पाप निवृत्ति साधन का अनुष्ठान प्रचलन करना। अर्थात् भगवद्ध्यान के द्वारा जो पाप विदूरित हुआ, साधारण लोकों का वह बोधगम्य नहीं हुआ, अतएव बोध सम्पादनार्थ पुनर्वार इन्द्रको अश्वमेधयज्ञानुष्ठान कराये थे। भा० ६।१३।१८ में वर्णित है—

"तञ्च ब्रह्मर्षयोऽभ्येत्य हयमेधेनभारत!
यथावद् दीक्षयाञ्चक्रुः पुरुषाराधनेन ह॥"

टीका—पुरुषस्य हरेराराधनं यस्मिन् तेन।

यहाँ संशय हो सकता कि—असुर देह प्राप्ति समय में भी परम भागवत श्रीमान् वृत्र में भगवत् प्रीति का आविर्भाव हुआ था। अतएव उसकी हत्या से जो अपराध हुआ, उसकी निवृत्ति, भगवदाराधन के द्वारा कैसे हो सकती है? महदपराध भी भोग द्वारा विनष्ट होता है, एवं महत् के अनुग्रह के द्वारा भी विनष्ट होता है, शास्त्र सिद्धान्त भी यही है।

उत्तर में कहते हैं—यद्यपि शास्त्र सिद्धान्त उस प्रकार ही है, तथापि श्रीभगवत् प्रेरणा से ही इन्द्र वृत्रासुर को बध करने में प्रवृत्त हुये थे, अतः तादृश दोष न होने के कारण ही देवराज के पक्ष में श्रीभगवद् आराधन ही विहित हुआ। श्रीभगवान् भी श्रीवृत्र का असुर भाव विदूरित करने के निमित्त ही श्रीवृत्र को बध करने का उपदेश प्रदान किये थे। इस प्रकार सिद्धान्त से ही उक्त संशय का अनवद्य समाधान होता है।

प्रकरण प्रवक्ता श्रीशुक हैं॥१२७॥

१२८। कभी भक्ति, प्रारब्धपापहरण भी करती है—उसका उदाहरण भा० ३।३३।३७ में है—

(१२८) "यन्नामधेय-श्रवणानुकीर्त्तनाद्-,यत्प्रह्वणाद्यत्स्मरणादपि क्वचित् ।
श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते, कुतः पुनस्ते भगवन्नु दर्शनात् ॥३४९॥
अहो वत श्वपचोऽतो गरीयान्, यज्जिह्वाग्रे वर्त्तते नाम तुभ्यम् ,
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्य्या, ब्रह्मानुचुर्नाम गृणन्ति ये ते ॥"३५०॥

श्वादत्वमत्र श्वभक्षकजातिविशेषत्वमेव । श्वानमत्तीति निरुक्तौ वर्त्तमानप्रयोगात्, क्रव्यादवराच्छीलत्व-प्राप्तेः । कादाचित्क-श्वभक्षणप्रायश्चित्तविवक्षायां त्वतीतप्रयोगः क्रियेत । "रूढ़िर्योगमपहरति" इति-न्यायेन च तद्विरुध्यते । अतएव श्वपच इति तैर्व्याख्यातम् । सवनश्चात्र सोमयाग उच्यते । ततश्चास्य भगवन्नाम-श्रवणाद्येकतरात् सद्य एव सवनयोग्यता-

---

(१२८) "यन्नामधेय-श्रवणानुकीर्त्तनाद्,--यत् प्रह्वणाद्यत्स्मरणादपि क्वचित् ।
श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते, कुतः पुनस्ते भगवन्नु दर्शनात् ॥३४९॥
अहो वत श्वपचोऽतो गरीयान्, यज्जिह्वाग्रे वर्त्तते नाम तुभ्यम् ।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्य्या, ब्रह्मानुचुर्नाम गृणन्ति ये ते ॥"३५०॥

टीका—अत स्तद् दर्शनादहं कृतार्थोऽस्मीति कैमुत्यन्यायेनाह । यन्नामधेयस्य श्रवणमनु कीर्त्तनञ्च तस्मात् । क्वचित् कदाचिदपि । श्वानमत्तीति—श्वादः, श्वपचः, सोऽपि सवनाय—सोम यागाय कल्पते योग्यो भवति । अनेन पूज्यत्वं लक्ष्यते ।६। तदुपपादयति—अहोवतेत्याश्चर्य्ये, यस्य जिह्वाग्रे तव नाम वर्त्तते स श्वपचोऽपि अतोऽस्मादेव हेतो गरीयान् यद् यस्माद् वर्त्तते अत इति वा । कुत इत्यत आह । अतएव तपस्तेपुः कृतवन्तः । जुहुवुः—होमं कृतवन्तः । सस्नु, तीर्थेषु स्नाताः आर्य्यास्त एव सदाचाराः । ब्रह्म-वेदम्, अनूचुः—अधीतवन्तः । त्वन्नाम कीर्त्तने तप आद्यन्तर्भूतम्, अतस्ते पुण्यतमा इत्यर्थः । यद्वा, जन्मान्तरे तैस्तपो होमादि सर्वं कृतमस्तीतित्वन्नाम कीर्त्तन महाभाग्योदय गम्यते— इत्यर्थः ।(७)

भगवान् श्रीकपिल देव, जननी श्रीदेवहूति को कहे थे—हे भगवन् ! जब तुम्हारे नाम श्रवण कीर्त्तन से एवं तुम्हारे चरणों में प्रणाम--स्मरण से कुक्कुर भक्षक जाति विशेष भी सोमयागकारी व्यक्ति के समान पूज्य होता है, तब तुम्हारे दर्शन से जाति से अपवित्र व्यक्ति भी पवित्र होगा, यह अधिक क्या है ? अतीव आश्चर्य्य एवं आनन्द का विषय यह है कि—जिस की जिह्वा के अग्रभाग में तुम्हारे सुख हेतु तुम्हारे नाम विद्यमान है, इस प्रकार व्यक्ति श्वपच होने पर भी गुरु जन के समान पूजनीय तथा आदरणीय होता है । कारण, जो लोक, तुम्हारे नाम ग्रहण करते हैं, उनके द्वारा समस्त तपस्या, समस्त यज्ञ, सकल तीर्थ स्नान, यावतीय भगवत् स्वरूप का अर्च्चन एवं निखिल वेदाध्ययन भी सम्पन्न हो जाते हैं ।

पूर्वोक्त श्लोक द्वय की स्वामिपाद कृत व्याख्या का अर्थ यह है—जो लोक, श्रीभगवन्नाम का श्रवण एवं निरन्तर कीर्त्तन करते हैं वे कुक्कुर मांस भोजी होने पर भी सोम यागकारी के समान पूज्य होते हैं । श्वानमत्तीति निरुक्ति हेतु वर्त्तमान प्रयोग हुआ है, अथवा जिस का कुक्कुर मांस भक्षण करना स्वभाव ही है, इस से जाति गत एवं व्यक्ति गत आचरण का ग्रहण हुआ है । किन्तु कदाचित् आपद् काल में कुक्कुर मांस भक्षण जनित पाप का प्रायश्चित्त स्वरूप हरिनामोच्चारण का फल नहीं है, ऐसा होने पर अतीत काल वाचक प्रत्यय का प्रयोग होता । रूढ़ि अर्थ एवं यौगिक अर्थ के मध्य में रूढ़्यर्थ ही बलवान् होता है । अतएव प्रकृति प्रत्यय के द्वारा अर्थ करके कदाचित् कुकुर मांस भक्षणकारी के प्रायश्चित्त विषय रूप में

प्रतिकूल-दुर्जातित्वप्रारम्भक-प्रारब्धपापनाशः प्रतिपद्यते। तस्मात् (भा० ११।१४।२१) 'भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्" इति तु कैमुत्यर्थमेव प्रोक्तमित्यायाति। किन्तु योग्यत्वमत्र श्वपचत्वप्रापक-प्रारब्धपापविच्छिन्नत्वमात्र मुच्यते। सवनार्थन्तु गुणान्तराधानमपेक्षत एव। ब्राह्मणकुमाराणां शौक्रे जन्मनि योग्यत्वे सत्यपि सावित्र-दैक्षजन्मापेक्षावत् सावित्रादि-जन्मनिमित्तसवनसदाचारप्राप्तेः, इति सवने प्रवृत्तिर्नास्य युज्यते। तस्मात् पूज्यत्वमात्र-तात्पर्य्यमित्यभिप्रेत्य टीकाकृद्भिरप्युक्तम्–"अनेन पूज्यत्वं लक्ष्यते" इति। तथापि प्रारब्ध--हारित्वं तु व्यक्त-मेवायातम्। तदुपपादयति,—'अहो वत' इत्याश्चर्य्ये, यस्य जिह्वाग्रे तव

श्रीहरि नामका ग्रहण प्रसङ्ग यहाँ नहीं है,किन्तु स्वभाव अथवा जाति रूपमें प्राप्त व्यक्ति को भी शुद्धि नाम ग्रहण से होती है।

अतएव स्वामि पादने श्वपच शब्द का अर्थ "श्वानमत्तीति श्वपचः" किया है। "सवन" शब्द का अर्थ सोमयाग है। अतएव श्रीभगवन्नाम ग्रहण प्रभृति के द्वारा सवन यागानुष्ठान कारी के पक्ष में प्रतिकूल जो दुर्ज्जाति आरम्भक पाप है, अर्थात् प्रारब्ध पाप है, उस का भी विनाश सद्यः होता है। अतएव भा० ११।१४।२१ में उक्त है—

"भक्त्याहमेकयाग्राह्यः श्रद्धयात्माप्रियः सताम्।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्॥"

टीका—श्रद्धया या भक्तिस्तया। सम्भवात् जातिदोषादपीत्यर्थः।

क्रमसन्दर्भ—श्रद्धया-भक्त्या—श्रद्धा पूर्विकया—केवलया भक्त्या त्वहमेव ग्राह्यः,—क्रमाद् वशीकार्य्यः, सैवमन्निष्ठा –मयि दार्ढ्यं गतासती।

दुर्ज्जाति में उत्पन्न व्यक्ति भी मुझ में भक्ति निष्ठा प्राप्त कर ही पवित्र होता है। इस श्लोक में कैमुत्तिक न्याय से प्रारब्ध पाप हारित्व वर्णन हुआ है। "श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते" यहाँ कल्पते शब्द का अर्थ है- योग्य होता है। वह योग्यता क्या है, उसको कहते हैं—

जिस पाप के द्वारा श्वपच कुल में जन्म हुआ है, वह प्रारब्ध पाप है, श्रीहरिनाम ग्रहण से उस प्रारब्ध पाप विनष्ट ही होता है। किन्तु 'सवनाय कल्पते' अर्थात् सोमयाग का अधिकारी होता है,इस कथन का अभिप्राय है कि—गुणान्तराधान की अपेक्षा उस श्वपच जाति के व्यक्ति में अवश्य है, अर्थात् यथारीति कार्य्योपयोगी शिक्षा एवं आचरण की अपेक्षा अवश्य ही है। जिस प्रकार ब्राह्मण के वीर्य्य से उत्पन्न होने से ब्राह्मण होता है, किन्तु उस ब्राह्मण कुमार का तब तक सवनादि देवार्च्चन में अधिकार नहीं होता है, जब तक उसका सावित्र जन्म एवं दीक्षा ग्रहण जन्म नहीं होता है, कारण, सवनादि कर्म्म में सावित्र्यादि जन्म संस्कार सम्पन्न व्यक्ति ही अधिकारी होता है। यही सदाचार है। अतएव श्रीहरिनाम ग्रहण से श्वपच व्यक्ति सोमयाग करने का अधिकारी नहीं होता है, कारण, वह कार्य्य करना उसके पक्ष में असम्भव ही होगा, अतएव 'सद्यः सवनाय कल्पते' शब्द का तात्पर्य्य है— सोमयाग कारी व्यक्ति जिस प्रकार पूज्य—आदरणीय होता है, उस प्रकार श्रीहरिनाम ग्रहण कारी श्वपच व्यक्ति भी पूज्य— अर्थात् आदरणीय होता है। इस अभिप्राय से ही श्रीधर स्वामिपादने कहा भी है—"अनेन पूज्यत्वं लक्ष्यते" अर्थात् 'सवनाय कल्पते शब्द से पूज्यत्व ध्वनित होता है। इस प्रकार अर्थ की प्राप्ति होने पर भी श्रीहरिभक्ति का प्रारब्ध हारित्व सुस्पष्ट प्रकाशित हुआ है।

उस का प्रतिपादन करते हैं—"अहोवत्" शब्द के द्वारा। अर्थात् अतीव आश्चर्य्य की कथा है—

नाम वर्त्तते, स श्वपचोऽपि, अतोऽस्मादेव हेतोर्गरीयान्, यद् यस्माद् वर्त्तते, अत इति वा। कुत इत्यत आह,—'त एव तपस्तेपुः' इत्यादि, त्वन्नाम-कीर्त्तने तप- आद्यन्तर्भूतम्, अतस्ते पुण्यतमा इत्यर्थः। एवं प्रारब्धपापहेतुक-व्याध्यादिहरत्वञ्च, स्कान्दे—

"आधयो व्याधयो यस्य स्मरणान्नामकीर्त्तनात्। तदैव विलयं यान्ति तमनन्तं नमाम्यहम्॥" ३५१॥

उक्तञ्च नामकौमुद्यां प्रारब्धपापहरत्वं क्वचिदुपासकेच्छावशादिति॥ श्रीदेवहूतिः॥

१२६। तद्वासनाहारित्वमाह (भा० ६।२।१७)—

(१२६) "तैस्तान्यघानि पूयन्ते तपोदान-व्रतादिभिः।
नाधर्म्मजं तद्धृदयं तदपीशाङ्घ्रिसेवया॥" ३५२॥

जिसकी जिह्वा के अग्रभाग में तुम्हारे नाम विद्यमान है, वह श्वपच होकर भी भक्ति के प्रभाव से ही गुरु जन के समान पूज्य होता है। श्रीहरिनाम जिह्वा में विलसित होने से क्यों श्वपच गुरु के तुल्य पूज्य होता है? उत्तर में कहते हैं—कारण, जिह्वा में श्रीहरिनाम विद्यमान है, अतः वह पूज्य है। अतएव श्रीहरिनाम ग्रहण कारी व्यक्ति गण के द्वारा सर्व तपस्यादि सर्वतीर्थ स्नानादि सम्पन्न होते हैं? तपस्या प्रभृति तुम्हारे नाम कीर्त्तन में ही अन्तर्मुक्त होते हैं। अतएव श्रीहरिनाम कीर्त्तन कारी व्यक्तिगण पुण्यतम हैं। उक्त श्लोक का इस प्रकार अर्थ जानना होगा।

इस प्रकार स्कन्द पुराण में श्रीहरि भक्ति का प्रारब्ध पापहेतुक व्याधि प्रभृति विनाशकत्व का वर्णन है—

"आधयो व्याधयो यस्य स्मरणान्नामकीर्त्तनात्।
तदैव विलयं यान्ति तमनन्तं नमाम्यहम्॥" ३५१॥ इति।

जिनके स्मरण एवं नाम कीर्त्तन से आधि व्याधि प्रभृति तत्क्षणात् विनष्ट होते हैं, उन अनन्त शक्तिमान् श्रीभगवान् को मैं प्रणाम करता हूँ।

नाम कौमुदी में भी उक्त है—उपासक की इच्छा से प्रारब्ध पापापहरण, श्रीहरिभक्ति करती है यह कथन श्रीदेवहूति का है॥१२८॥

१२९। श्रीहरि भक्ति का वासनाहारित्व का वर्णन करते हैं—अर्थात् पाप प्रवृत्ति का मूल कारणापहारित्व का वर्णन करत हैं—भा० ६।२।१७ में उक्त है,—

(१२९) "तैस्तान्यघानि पूयन्ते तपोदान—व्रतादिभिः।
नाधर्म्मजं तद्हृदयं तदपीशाङ्घ्रिसेवया॥" ३५२॥

टीका—किञ्च, तैस्तपोदानादिभिस्तान्यघान्येव पूयन्ते—नश्यन्ति। अधर्म्माज्जातं मलिनन्तु तस्य पापकर्त्तुर्हृदयम्। यद्वा तेषामघानां हृदय सूक्ष्मरूपं संस्काराख्यं न शुध्यति, तदपीशाङ्घ्रि सेवया, कीर्त्तनादिना कीर्त्तनादिनाशुध्यतीत्यर्थः। अयं भावः— महान्त्यपि पापानि, सकृदुच्चरितेनैव नाम्ना नश्यन्ति, सकृत् प्रवर्त्तितेन दीपेन इव गाढ़ ध्वान्तानि। तदावृत्त्या तु पापान्तरस्यानुत्पत्तिः, दीप धारण इव तमोऽन्तरस्य। ततश्च वासनाक्षयश्च भवति, स्मरतां तमहर्निशमित्यादिषु। तदेवाग्राप्युक्तं गुणानुवादः खलु सत्त्व भावन इति। तदपीशाङ्घ्रिसेवयेति च। अतोऽस्य अजामिलस्य हरिनाम्नैव सर्व पाप क्षयः। वासना क्षयस्तु महापुरुष दर्शनादिभिरिति।

अधर्म्मज्जातं तेषामघानां हृदयं संस्काराख्यं न शुद्धयति, तदपीशाङ्घ्रिसेवया शुद्धयतीत्यर्थः ।

पाद्मे च--

"अप्रारब्धफलं पापं कूटं वीजं फलोन्मुखम् । क्रमेणैव प्रलीयेत विष्णुभक्तिरतात्मनाम् ॥"३५३॥

अप्रारब्धफलं वक्ष्यमाणेभ्योऽन्यत्, कूटं वीजत्वोन्मुखम्, वीजं प्रारब्धत्वोन्मुखम्, फलोन्मुखं प्रारब्धमित्यर्थः ॥

श्रीविष्णुदूता यमदूतान् ॥

१३० । अविद्या-हरत्वमाह, (भा० ४।११।३०) –

(१३०) "एवं प्रत्यगात्मनि तदा भगवत्यनन्त, आनन्दमात्र उपपन्न-समस्तशक्तौ ।
भक्तिं विधाय परमां शनकैरविद्या,-ग्रन्थिं विभेत्स्यसि ममाहमिति प्ररूढ़म् ।"३५४॥

तथा च पाद्मे —

"कृतानुयात्रा विद्याभिर्हरिभक्तिरनुत्तमा । अविद्यां निर्दहत्याशु दावज्वालेव पन्नगीम् ॥"३५५॥ इति ।

क्रमसन्दर्भ---यानि प्रायश्चित्तानि उक्तानि, तैस्तान्यघानि पूयन्त एव, किन्तु अधर्माज्जातं तेषामघानां हृदयं संस्काराख्यं न शुध्यति, तदपीशाङ्घ्रि सेवयैव शुध्यति, तदीय दुर्वासना समूह स्त्वीशानुगत्यैव पूयत इत्यर्थः । पाद्मे च –

"अप्रारब्धफलं पापं कूटं वीजं फलोन्मुखम् ।
क्रमेणैव प्रलीयेत विष्णुभक्तिरतात्मनाम् ।।"३५३।।

अत्र अप्रारब्ध फलं – वक्ष्यमाणेभ्योऽन्यत्, कूटं वीजत्वोन्मुखम्, वीजं प्रारब्धत्वोन्मुखम्, फलोन्मुखं-प्रारब्धमित्यर्थः ।

जिस कर्म्म का फल भोग आरम्भ नहीं हुआ है, इस प्रकार पाप एवं कूट अर्थात् पाप करने का संस्कार एवं वीज—वासना, एवं फलोन्मुख पाप--विष्णु भक्ति में निष्ठा प्राप्त होने से क्रमशः विनष्ट होता है, यहाँ अप्रारब्ध फल शब्द से वक्ष्यमाण पाप राशि से भिन्न पाप को जानना होगा । कूट शब्द का अर्थ वीजत्व की उन्मुखावस्था । वीज शब्द से प्रारब्धोन्मुख अवस्था को जानना चाहिये । फलोन्मुख शब्द से प्रारब्ध अवस्था को जानना होगा ।

श्रीविष्णुदूतवृन्द--यमदूत गण को कहे थे ॥१२९॥

१३० । श्रीभगवद् भक्ति का अविद्याहरत्व का वर्णन करते हैं – भा० ४।११।३० में उक्त है--

(१३०) "एवं प्रत्यगात्मनि तदा भगवत्यनन्त, आनन्दमात्र उपपन्न-समस्तशक्तौ ।
भक्तिं विधाय परमां शनकैरविद्या--,ग्रन्थिं विभेत्स्यसि ममाहमिति प्ररूढ़म् ।।"३५४।।

टीका---तदन्वेषणफल माह त्वमिति । तदा–अन्वेषणकाल एव ।

श्रीमनु, श्रीभगवद् भक्ति की अविद्या विनष्ट करने को क्षमता का वर्णन करते हैं---तुम, बाल्य काल में ही अनन्त स्वरूप, विशुद्ध आनन्द मूर्त्ति, सर्व शक्ति, युक्त, परमात्मा, भगवान् में परमा भक्ति प्राप्त कर क्रमशः 'मैं मेरा' भाव से निबद्ध अविद्या ग्रन्थि भेदन करने में सक्षम होगे (१३०)

पद्म पुराण में भी उस प्रकार उक्ति है---स्वायम्भुव मनु श्रीध्रुव को कहे थे--

श्रीमनुर्ध्रुवम् ॥

३३१ । सर्व्वप्रीणन-हेतुत्वमुक्तं (भा० ४।३१।१४) --"यथा तरोर्मूल निषेचनेन" इत्यादिना । तथाह (भा० ४।९।४६--४७) —

(१३१) "सुरुचिस्तं समुत्थाप्य पादावनतमर्भकम् ।
परिष्वज्याह जीवेति वाष्पगद्गदया गिरा ॥३५६॥
यस्य प्रसन्नो भगवान् गुणैर्मैत्र्यादिभिर्हरिः ।
तस्मै नमन्ति भूतानि निम्नमाप इव स्वयम् ॥"४५७॥

सुरुचिर्निजविद्वेषिणी मातुः स्वपत्न्यपि, तं भगवदाराधनत आगतं श्रीध्रुवम् । यथा पाद्मे,--

"कृतानुयात्रा विद्याभिर्हरिभक्तिरनुत्तमा ।
अविद्यां निर्दहत्याशु दावज्वालेव पन्नगीम् ॥"३५५॥

जिस समय, उत्तमा भक्ति का शुभागमन भक्त हृदय में होता है, उस समय, विद्या प्रभृति शुभवृत्ति वृन्द उनके (पीछे पीछे) अनुगमन करते हैं। दावानल जिस प्रकार सर्पिणी को भस्मसात् करता है, उस प्रकार उत्तमा भक्ति, अविद्या को निःशेष रूप से दग्ध करती है । उक्त प्रमाणद्वय के द्वारा भगवद् भक्ति की, अविद्या विनष्ट करने की क्षमता का वर्णन हुआ है ।

श्रीमनु ध्रुव को कहे थे ॥१३०॥

१३१ । श्रीभगवान् में भक्ति करने से सब सन्तुष्ट होते हैं----(अर्थात् भगवद् भक्ति का सर्व प्रीणनत्व का) उसका वर्णन करते हैं । भा० ४।३१।१४ में उक्त है—

यथा तरोर्मूल निषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः ।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या ॥"

टीका—किञ्च नाना कर्मभिस्तत्तद् देवता प्रीति निमित्तान्यपि फलानि हरेः प्रीत्या भवन्ति, केवलं तत्तद् देवताराधनेन तु न किञ्चिदिति सदृष्टान्तमाह यथेति । मूलात् प्रथम विभागाः स्कन्धाः, तद्विभागा भुजाः, तेषामपि उपशाखा, उपलक्षणमेतत्, पत्र पुष्पादयोऽपि तृप्यन्ति । नतु मूल सेकं विना ताः स्व स्व निषेचनेन । प्राणस्योपहारो भोजनं, तस्मादेव इन्द्रियाणां तृप्तिः, नतु तत्तदिन्द्रियेषु पृथगन्नलेपनेन । तथा अच्युताराधनमेव सर्व देवताराधनं, न पृथगित्यर्थः ।

जिस प्रकार तरु के मूल देश में जल सेचन करने से शाखापल्लवादि की सन्तुष्टि होती है, उस प्रकार श्रीभगवान् अच्युत की आराधना करने से सब देवता की सन्तुष्टि होती है ।

भा० ४।९।४६:-४७ में श्रीमैत्रेय विदुर को कहे थे—

(१३१) 'सुरुचिस्तं समुत्थाप्य पादावनतमर्भकम् ।
परिष्वज्याह जीवेति वाष्पगद्गदया गिरा ॥३५६॥
यस्य प्रसन्नो भगवान् गुणैर्मैत्र्यादिभिर्हरिः ।
तस्मै नमन्ति भूतानि निम्नमाप इव स्वयम् ॥"३५७॥

टीका—सुरुच्याः प्रीतिर्नासम्भावितेत्याह—यस्येति । नमन्ति—अनुसरन्ति । आपो यथा स्वयमेव निम्नं देशमवतरन्ति ॥

जिस समय श्रीध्रुव, श्रीभगवद् दर्शन करके उनके आदेश से गृह में प्रत्यावर्त्तन कर रहे थे, उस

"येनार्चितो हरिस्तेन तर्पितानि जगन्त्यपि । रज्यन्ति जन्तवस्तत्र जङ्गमाः स्थावरा अपि ॥"३५८॥
श्रीमैत्रेयः—

१३२ । ज्ञानवैराग्यादि-सर्व्वसद्‌गुणहेतुत्वमुक्तम्, (भा० ५।१८।१२) –

"यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना, सर्व्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः ।
हरावभक्तस्य कुतो महद्‌गुणा, मनोरथेनासति धावतो बहिः ॥"३५९॥ इति ।

स्वर्गापवर्ग-भगवद्धामादि-सर्व्वानन्द हेतुत्वमप्युक्तम्, (भा० ११।२०।३२)--यत् कर्म्मभिर्यत्तपसा"

समय, संवाद पाकर महाराज उत्तानपाद सुनीति एवं सुरुचि नाम्नी महिषीद्वय के सहित पथ में श्रीध्रुव को मिले थे, तब श्रीध्रुव पहले विमाता सुरुचि को प्रणाम करने से सुरुचि ने ध्रुव को उठाकर गले मे लगा लिया एवं वाष्प रुद्ध कण्ठ से 'जीवित रहो, जीवित रहो' कहकर आशीर्वाद किया । विद्वेषिणी होकर इस प्रकार आचरण सुरुचि ने क्यों किया – उसको कहते हैं—

जिस के प्रति मित्रता प्रभृति गुणों के द्वारा भगवान् श्रीहरि, सुप्रसन्न होते हैं, निम्नदेश में जल जिस प्रकार स्वाभाविक गति से जाता है, उस प्रकार समस्त प्राणी उस भगवत् प्रिय व्यक्ति को प्रणाम करते हैं । सुरुचि, माता सुनीति की सपत्नी एवं निज विद्वेषिणी थी, तथापि श्रीभगवदाराधना करके समागत उस ध्रुव को देखकर सुरुचि ने स्नेहाशीर्वाद किया इस से—भगवद् भक्ति के प्रभाव से परम शत्रु भी सुप्रसन्न होता है, यह दर्शाया गया पद्म पुराण में भी उक्त है—

'येनार्चितो हरिस्तेन तर्पितानि जगन्त्यपि ।
रज्यन्ति जन्तवस्तत्र जङ्गमाः स्थावरा अपि ॥"३५८॥

जिन्होंने श्रीहरि की अर्च्चना की है, उन्होंने निखिल जगत् को सुतृप्त किया है । स्थावर जङ्गम प्राणीमात्र ही उनके प्रति अनुरक्त होते हैं । श्रीमैत्रेय कहे थे—॥१३१॥

१३२ । श्रीभगवद् भक्ति का ज्ञान वैराग्यादि सर्व सद् गुण हेतुत्व का वर्णन भा० ५।१८।१२ में है—

"यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना, सर्व्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः ।
हरावभक्तस्य कुतो महद्‌गुणा, मनोरथेनासति धावतो बहिः ॥"३५९॥

क्रमसन्दर्भ—किञ्च, यस्येति । अकिञ्चना—निष्काम । सर्वे सुरा-भगवच्छिवब्रह्मादयो ज्ञान-वैराग्यादिभि सर्वैर्गुणैरिति यदृच्छयैवेत्यर्थः । समासते,—सम्यगासते, वशीभूय तिष्ठन्तीत्यर्थः ।

टीका—मानसमलापगमफलमाह-'यस्येति' अकिञ्चना--निष्कामा । मनः शुद्धौ हरेर्भक्तिर्भवति, ततश्च तत् प्रसादे सति सर्वे देवाः सर्वैर्गुणैश्च धर्म ज्ञानादिभिः सह तत्र सम्यगासते नित्यं वसन्ति । गृहाद्यासक्तस्य तु हरिभक्त्यसम्भवात् कुतो महतां गुणा ज्ञान वैराग्यादयो भवन्ति ? असति विषय सुखे मनोरथेन बहिर्धावतः ।

श्रीभगवान् में जितकी अकिञ्चना, निष्कामा भक्ति है, भगवद् भक्त वृन्द अर्थात् पार्षद् वृन्द समस्त सद् गुणों के सहित उक्त भक्त में आसक्ति के सहित निवास करते हैं, जिनकी भक्ति श्रीभगवान् में नहीं है, उनमें महापुरुषोचित सद्‌गुणों का अवस्थान कैसे हो सकता है ? कारण, भगवद् विमुखतादोष से उनकी चित्त वृत्ति दोषमय मायिक विषयों में धावित होती रहती है । इत्यादि श्लोकों के द्वारा कथित है कि-- श्रीभगवान् में भक्ति होने से ज्ञान वैरागादि समस्त सद् गुण स्वतः ही होते हैं ।

श्रीभगवान् में भक्ति करने से स्वर्ग--अपवर्ग एवं भगवद् धाम प्राप्ति जनित जो आनन्द लाभ होता

इत्यादिना स्वतः परमसुख-दानेन कर्म्मादिज्ञानान्त-साधनसाध्यवस्तूनां हेयत्वकारितामाह, (भा० ११।१४।१४)—

(१७२) " न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं, न सार्व्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा, मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत् ॥" ३६०॥

रसाधिपत्यं पातालादि-स्वामित्वम्, अपुनर्भवं ब्रह्मकैवल्यरूपं मोक्षम्, किं बहुना ? यत् किञ्चिदन्यदपि साध्यजातम्, तत् सर्व्वं नेच्छत्येव, किन्तु मत् मां विना तादृश-भक्तिसाध्यं मामेव सर्व्वपुरुषार्थाधिकमिच्छतीत्यर्थः । मय्यर्पितात्मा कृतात्मनिवेदनः ॥ श्रीभगवान् ॥

१३३ । अथ साक्षाद्भक्तेर्निर्गुणत्वं वक्तुं भगवदर्पित-कर्म्मारभ्य सर्व्वेषां कर्म्मणां तावत् सगुणत्वमाहैकेन, (भा० ११।२५।२३)—

(१३३) "मदर्पणं निष्फलं वा सात्त्विकं निजकर्म्म तत् ।
राजसं फलसङ्कल्पं हिंसाप्रायादि तामसम् ॥" ३६१॥

है उसका वर्णन भी भा० ११।२०।३२ में है--

"यत् कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञ न वैराग्यतश्चयत् योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि ।
सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा ॥"

श्रीकृष्ण, उद्धव को कहे थे—हे उद्धव ! कार्य्य कर्म्म समूह का अनुष्ठान, तपस्या, ज्ञान साधन, विषय वैराग्य, अष्टाङ्ग योग, दान धर्म, एवं तीर्थ यात्रा,व्रत प्रभृति के द्वारा जो फल लाभ होता है, मदीय भक्तगण तत् समुदय फल लाभ मदीय भक्ति योग के प्रभाव से अनायास प्राप्त कर सकते हैं ।

श्रीभगवद् भक्ति स्वयं इस प्रकार परमानन्द प्रदान करती है, जिस से कर्म, ज्ञान, योग प्रभृति साधन के प्रति एवं उक्त साधन समूह के द्वारा प्राप्य वस्तु के प्रति भी तुच्छता बुद्धि हो जाती है । उसका वर्णन भा० ११।१४।१४। में हैं—

(१३२) "न पारमेष्ट्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं, न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा, मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत् ।।" ३६०॥

श्रीकृष्ण, उद्धव को कहे थे—जिन्होंने मुझ को आत्मसमर्पण किया है, वह मुझ को छोड़कर पारमेष्ठ्य सुख, अर्थात् सत्य लोक में ब्रह्मा होकर त्रिभुवन के आधिपत्य प्राप्ति करने से जो सुख होता है, पातालादि का स्वामित्व से जो सुख होता है, ब्रह्म कैवल्य रूप मुक्ति में जो सुख, अष्टाङ्ग सिद्धि लाभ से जो सुख होता है, एतद् व्यतीत साधन समूह के साध्य वस्तु लाभ से जो सुख होता है, मेरा भक्त, यह सब कुछ भी प्राप्त करना नहीं चाहता है । किन्तु अकिञ्चना भक्ति प्राप्य लिखित पुरुषार्थ श्रेष्ठ मुझ को प्राप्त करना चाहता है । मय्यर्पितात्मा शब्द से आत्म समर्पण कारी को जानना होगा ।

श्रीभगवान् कहे थे ।।१३२।।

१३३ । अनन्तर साक्षाद् भगवद् भक्ति जो गुणातीता है—उस को कहने के निमित्त श्रीभगवान् में अर्पित कर्म से आरम्भकर समस्त साधनों का सगुणत्व प्रति पादन एक श्लोक के द्वारा करते हैं—(भा० ११।२५।२३) में उक्त है--

(१३३) "मदर्पणं निष्फलं वा सात्त्विकं निजकर्मतत् ।

मयि अर्पणं यस्य मदर्पितमित्यर्थः, निष्फलं निष्कामम्, फलं सङ्कल्प्यते यस्मिंस्तत्, आदि शब्दाद्दम्भमात्सर्य्यादिभिः कृतम् ॥

१३४। अथानुष्ठानान्तराणां त्रिगुणान्तर्गतत्वं वदन् चतुर्थवक्षायां साक्षाद्भक्तेर्निर्गुणत्वमाह चतुर्भिः, (भा० ११।२५।२४)—

(१३४) "कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानं रजो वैकल्पिकन्तु यत्।
प्राकृतं तामसं ज्ञानं मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम् ॥"३६२॥

प्राकृतं बालमूकादि--ज्ञानतुल्यम्, वैकल्पिकं देहादिविषयं यत्तद्रजो राजसम्, केवलस्य निर्विशेषस्य ब्रह्मणः शुद्धजीवाभेदेन ज्ञानं कैवल्यम्, त्वं-पदार्थमात्रज्ञानस्य कैवल्यत्वानुपपत्तेः, तत्-पदार्थज्ञानसापेक्षत्वात्। सत्त्वयुक्ते हि चित्ते प्रथमतः शुद्धं सूक्ष्मं जीवचैतन्यं प्रकाशते, ततश्चिदेका-कारत्वाभेदेन तस्मिन् शुद्धं पूर्णं ब्रह्मचैतन्यमप्यनुभूयते, ततः सत्त्वगुणस्यैव तत्र कारणताप्राचुर्य्यात् सात्त्विकत्वम्, तथा च श्रीगीतोपनिषदि (१४।१७)---"सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानम्" इत्यादि। भगवज्ज्ञानस्य तु, (भा० ६।१४।३५)—

राजसं फल सङ्कल्पं हिंसा प्रायादि तामसम् ॥"३६१॥

श्रीकृष्ण ने कहा हे उद्धव! जो कर्म मुझ को अर्पित होता है। वह मदर्पित कर्म है, एवं जो कर्म ऐहिकपारलौकिक सुख भोग कामना शून्य है, यह सब निज कृत कर्म— सात्त्विक हैं। फल प्राप्ति हेतु जिस कर्म में सङ्कल्प होता है, वह राजस कर्म्म है, जिस कर्म में हिंसा, दम्भ, एवं मात्सर्य्य होता है। वह कर्म तामस है।

जो कर्म मुझ को अर्पण किया जाता है, उसको मदर्पित कर्म्म कहते हैं, निष्फल शब्द से निष्काम कर्म को जानना होगा, जिस कर्म में फल का सङ्कल्प होता है, उसको फल सङ्कल्प कहते हैं। श्लोकस्थ आदि शब्द से दम्भ, मात्सर्य्य प्रभृति के द्वारा अनुष्ठित कर्म को भी तामस कर्म जानना चाहिये ॥१३३॥

१३४। अनन्तर अन्यान्य अनुष्ठान समूह को त्रिगुणान्तर्गतत्व को कहते हुये साक्षात् भक्ति का निर्गुणत्व का कथन चार श्लोकों में करते हैं। भा० ११।२५।२४ में उक्त है—

(१३४) "कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानं रजो वैकल्पिकन्तु यत्।
प्राकृतं तामसं ज्ञानं मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम् ॥"३६२॥

हे उद्धव! बालमूकादि के तुल्य ज्ञान तामस है। देहादि विषयक जो ज्ञान वह वैकल्पिक अर्थात् राजस है। निर्विशेष ब्रह्म के सहित शुद्ध जीव चैतन्य का अभेदानुसन्धानात्मक कैवल्य ज्ञान सात्त्विक है। केवल 'त्वं' पदार्थ जीव चैतन्य का ज्ञान से कैवल्य की सम्भावना नहीं है। कारण, 'तत्' पदार्थ ज्ञान व्यतीत कैवल्य नहीं हो सकता है। सत्त्व युक्त चित्त में प्रथम सूक्ष्म, शुद्ध जीव चैतन्य प्रकाशित होता है, अनन्तर उस चित्त में चैतन्य साम्य से अभेदानुसन्धान के द्वारा एकाकार रूप में शुद्ध पूर्ण ब्रह्म चैतन्य अनुभूत होता है। अर्थात् यद्यपि जीव चैतन्य अणु है, एवं ब्रह्म चैतन्य विभु है, इस अणुत्व एवं विभुत्व अंश में जीव चैतन्य के सहित विभु चैतन्य भेद विद्यमान है, तथापि, जीव भी चैतन्य स्वरूप है, एवं ब्रह्म भी चैतन्य स्वरूप है, इस अंश में अभेद विद्यमान होने के कारण ब्रह्म चैतन्य के सहित ब्रह्म चैतन्य का एकाकार अनुभव होता है। तज्जन्य सत्त्व गुणमें ही कैवल्य ज्ञान की प्रचुर कारणता है, अतः कैवल्य ज्ञानको सात्त्विक कहा गयाहै।

"देवानां शुद्धसत्त्वानामृषीणाञ्चामलात्मनाम् ।
भक्तिर्मुकुन्दचरणे न प्रायेणोपजायते ॥३६३
मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः ।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने ॥"३६४॥

इत्युक्त्वा, सत्त्वादि-सद्भावेऽप्यभावात्, (भा० ६।१४।१)—

"रजस्तमःस्वभावस्य ब्रह्मन् वृत्रस्य पाप्मनः ।
नारायणे भगवति कथमासीद्दृढ़ा मतिः ॥"३६५॥

इत्युक्त्वा, तदभावेऽति सद्भावान्न तत्कारणत्वम्, किन्तु तदुत्तरत्वेन तस्य पूर्वजन्मनि श्रीनारदादि-सङ्गवर्णनया, (भा० ११५।३२)—

"नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं, स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः ।
महीयसां पादरजोऽभिषेकं, निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत् ॥"३६६॥

श्रीभगवद् गीतोपनिषद् में भी १४।१७ उक्त है—

"सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानं" अर्थात् सत्त्व गुण से ही ज्ञानोदय होता है। किन्तु सत्त्वादविद्यमान होने पर भी भगवद्विषयक ज्ञानाभाव परिलक्षित होता है। भा० ६।१४।२ में कथित है—

"देवानां शुद्धसत्त्वानामृषीणाञ्चामलात्मनाम् ।
भक्तिर्मुकुन्दचरणे न प्रायेणोपजायते ॥३६३॥
मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः ।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने ॥"३६४॥

श्रीपरीक्षित् महाराज, श्रीशुकदेव को कहे थे—हे प्रभो! देवगण की एवं शुद्ध सत्त्व अमलात्मा ऋषिवृन्द की भक्ति श्रं मुकुन्द चरणों में प्रायशः नहीं होती है। सहस्र महस्र मुक्त महापुरुष वृन्द के मध्य में कोई एक व्यक्ति सिद्ध होता है। उस सिद्ध महापुरुषों के कोटि कोटि के मध्य में प्रशान्तात्मा कामादि के द्वारा अक्षोभित चित्त,—नारायण सेवा परायण भक्त सुदुर्ल्लभ है ॥३६३॥

इस प्रकार कह कर देव एवं ऋषि गण में सत्त्वादि सद्‌गण विद्यमान होने पर भी भक्ति नहीं होती है। अतः (भा० ६।१४।१)

"रजस्तमः स्वभावस्य ब्रह्मन् वृत्रस्य पाप्मनः ।
नारायणे भगवति कथमासीद्दृढ़ा मतिः ॥"३६५॥

हे ब्रह्मन्! रजस्तम स्वभावाक्रान्त पापीयान् वृत्र की कैसे अविचलामति श्रीनारायण में हुई?

परीक्षित महाराज की भक्ति के द्वारा प्रदर्शित हुआ है कि सत्त्व रज स्तमो गुण भक्ति का कारण नहीं हो सकता है, कारण, वृत्रासुर में सत्त्व गुणाभाव होने पर भक्ति दृष्ट होती है ॥३६५॥

महाराज परीक्षित् के प्रश्न के उत्तर में श्रीशुक देव वृत्र के पूर्व जन्म में जो श्रीनारदादि के सहित सङ्ग हुआ था। उसका वर्णन करते हैं—७।५।३२

"नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः ।
महीयसां पादरजोऽभिषेकं, निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत् ॥"३६६॥

इत्युक्त्या च, भगवत्कृता-परिमलपात्रभूतस्य श्रीमतो महतः सङ्ग एव कारणम् । तत्सङ्गश्च (भा० १।१८।१३)

"तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
भगवत्सङ्गि-सङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ।।" ३६७।।

इत्युक्त्या निर्गुणावस्थातोऽप्यधिकत्वात् परम-निर्गुण एव, सप्तमस्य प्रथमे च, (भा० ७।१।१) "समः प्रियः सुहृद्ब्रह्मन्" इत्यादौ, सगुणे देवादौ तस्य कृपा वास्तवी न भवति, किन्तु श्रीमत् प्रह्लादादिष्वेवेति प्रतिपादनान्महतां निर्गुणत्वाभिव्यक्त्या तत्सङ्गस्यापि निर्गुणत्वं व्यक्तम् ।

टीका—ननु चैको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा इत्यादि श्रुति प्रतिपादितं विष्णुं कथं न विदुः, कुतो वा तेषां तमिस्रप्रवेशः, तत्राह नैषामिति । निष्किञ्चनानां—निरस्त विषयाभिमानानां महत्तमानां पादरजसाऽभिषेकं यावन्न वृणीत, तावत् श्रुति वाक्यतो ज्ञातेऽपि एषां मतिरुरुक्रमस्याङ्घ्रिं न स्पृशति न प्राप्नोति, असम्भावनादिभि विहन्येत इत्यर्थः । अनर्थस्य संसारस्यापगमो यदर्थः, यस्या अङ्घ्रिस्पर्शिन्या मतेरर्थ प्रयोजनम् । महदनुग्रहाभावान्न तत्त्व निश्चयो नापि मोक्षस्तेषामित्यर्थः ।।

यावत् पर्य्यन्त निष्किञ्चन महापुरुष वृन्द की चरण धूलि से अभिषिक्त होने की प्रार्थना नहीं होगी, तावत् पर्य्यन्त गृहव्रती वृन्द की मति श्रीगोविन्द चरणारविन्द को स्पर्श करने में सक्षम नहीं होगा । जो मति, श्रीगोविन्द के श्रीचरणों को स्पर्श करती है, उस में सुकृतोत्थ, दुष्कृतोत्थ, अपराधोत्थ, एवं भजनोत्थ यह चतुर्विध अनर्थ निवृत्त हो जाते हैं । श्रीप्रह्लाद के वाक्य के द्वारा एवं भगवत् कृपा परिमल से सुवासित शक्तिमान् महापुरुष गण के सङ्ग ही श्रीभगवद् भक्ति प्राप्ति का मुख्य कारण है— यह प्रदर्शित हुआ ।

उस प्रकार साधु भक्त वृन्द के-सङ्ग का विवरण भा० १।१८।१३ में श्रीशौनकादि ऋषिगण श्रीसूत को कहे थे ।

"तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
भगवत्सङ्गि--सङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ।।" ३६७।।

टीका—भगवत् सङ्गिनो विष्णुभक्ताः, तेषां सङ्गस्य यो लवः, अत्यल्पः कालः, तेनापि स्वर्गं न तुलयाम, न समं पश्याम, न चापवर्गम् । सम्भावनायां लोट् । मर्त्यानां तुच्छा आशिषो राज्याद्याः न तुलयाम इति किमुत वक्तव्यम् ।

हे सूत ! श्रीभगवान् में जिनकी प्रगाढ़ आसक्ति है, उन सब भक्त वृन्द के सहित लव मात्र काल सङ्ग होने से जो अपार आनन्द सिन्धु उच्छलित होता है, स्वर्ग अथवा मोक्ष में उस आनन्द सिन्धु का एक कण भी नहीं है । तज्जन्य हम सब, साधु सङ्ग के सहित उस की तुलना नहीं कर सकते हैं । जिस प्रकार सुमेरु पर्वत के सहित एक सर्षप की तुलना सर्वथा असम्भव दोष ग्रस्त है, उस प्रकार सत्य भक्त वृन्द के सहित स्वर्ग वा अपवर्ग की तुलना भी असम्भव दोष ग्रस्त है । अन्य अतितुच्छ राज्यादि सम्पद सुख की तुलना भक्तसङ्ग के सहित जो नहीं हो सकती है, उस विषय में क्या कहें ?

इस प्रकार उक्ति के द्वारा—प्रदर्शित हुआ है कि—निर्गुण मोक्षावस्था से भी भगवद् भक्त सङ्ग का महत्त्व अधिक है—एवं भगवद् भक्त सङ्ग परम निर्गुण है । भा० ७।१।१। में कथित है—

"समः प्रियः सुहृद् ब्रह्मन् भूतानां भगवान् स्वयम् ।
इन्द्रस्यार्थे कथं दैत्यानवधीद्विषमोयथा ।।"

तथा भक्तेरपि गुणसङ्गनिर्धूननानन्तरञ्चानुवृत्तिः श्रूयते, यदुक्तमुद्धवं प्रति श्रीभगवता (भा० ११।२५।३३)—

"तस्माद्देहमिमं लब्ध्वा ज्ञान-विज्ञान-सम्भवम् ।
गुणसङ्गं विनिर्धूय मां भजन्तु विचक्षणाः ।।"३६८।। इति ।

परमेश्वरज्ञानस्य नैर्गुण्यहेतुत्वेन निर्गुणत्वोक्तिस्तु लक्षणामय-कष्टकल्पना । तथा कैवल्य-ज्ञानस्यापि नैर्गुण्यहेतुत्वादवैशिष्ट्यनोदाहरणभेदाप्रवृत्तिश्च स्यात् । तस्मात् स्वत एव निर्गुणं भगवज्ज्ञानम् । अतएव, (भा० ११।२५।२६)—

टीका—यदुक्तं पूर्वस्कन्धान्ते । हतपुत्रा दितिः, शक्रपार्ष्णिग्राहेण विष्णुना मन्युना शोकदीप्तेन ज्वलन्ती पर्य्यचिन्तयदिति । तत् श्रुत्वा विस्मितः परीक्षित् पृच्छति स्म इति त्रिभिः । नहि समस्य सुहृदश्च वैषम्यं नामास्ति । न च प्रियस्य प्रीति कर्त्तृषु वैषम्यं युक्तमित्यर्थः ।।"

सगुण देवादि में श्रीभगवान् की वास्तविकी कृपा नहीं होती है, किन्तु प्रह्लाद प्रभृति में उनकी समधिक कृपा है । इस से भगवद् भक्त वृन्द का निर्गुणत्व अर्थात् भक्त सङ्ग का निर्गुणत्व प्रतिपादित हुआ है । भगवद् भक्ति भी सत्त्व, रजः, तमः—गुणातीत है, अतः उक्त गुणत्रय की निवृत्ति के पश्चात् ही गङ्गास्रोतवत् भक्ति की अबाधगति होती है । अर्थात् जब तक साधक के हृदय में सत्त्व, रजः, एवं तमोगुण का लेशमात्र विद्यमान रहता है, तब तक भगवद् भक्ति की गति निर्बाध रूप से श्रीहरि चरण सिन्धु में प्रविष्ट नहीं होती है । भक्ति साधन का अनुष्ठान अनवरत करते करते जब सत्त्व रजः तमो गुण की कषाय निवृत्ति होती है, तब निर्बाध गङ्गास्रोतवत् श्रीहरि चरण सिन्धु में भक्ति की अनवरत वृत्ति होती है ।

भा० ११।२५।३३ में श्रीभगवान् उद्धव के प्रति कहे हैं--

"तस्माद् देहमिमं लब्धा ज्ञान विज्ञान सम्भवम् ।
गुणसङ्गं विनिर्धूय मां भजन्तु विचक्षणाः ।।३६८।।

टीका--तस्मात् विवेकिनामिदमेव युक्तमित्य ह--तस्मादिति । ज्ञान विज्ञानयोः सम्भवो यस्मिंस्तमिदं नरदेहम् ।।

अतएव विवेकी व्यक्ति का यही एकान्त कर्त्तव्य है । इस मनुष्य देह में परोक्ष एवं अपरोक्ष ज्ञान लाभ होता है, तज्जन्य यह देह सुदुर्ल्लभ है । सुनिपुण जन इस देह को प्राप्तकर सत्त्व, रजः, तमोगुण सङ्ग परित्याग पूर्वक मेरा भजन करे । एतज् जन्य परमेश्वर विषयक ज्ञान, निर्गुण होने के कारण, अर्थात् परमेश्वर के प्रति भक्ति का उदय होने से निर्गुण अवस्था की प्राप्ति होती है । अतः भगवद् भक्ति को जो निर्गुण कहा गया है । किन्तु भक्ति निर्गुणा नहीं है । वह लक्षणामय कष्ट कल्पना मात्र है । कारण, कैवल्य ज्ञान का भी नैर्गुण्य है, अर्थात् कैवल्य ज्ञान से भी सत्त्व, रजः तमोगुण की निवृत्ति होती है । अतः कैवल्य ज्ञान भी नैर्गुण्य हेतु है । ऐसा होने पर कैवल्य ज्ञान से भगवद् भक्ति का कोई वैशिष्ट्य नहीं होता है । कैवल्य ज्ञान में भी गुणातीत अवस्था होती है, एवं भक्ति में भी त्रिगुणातीत अवस्था होती है । अतः ज्ञान एवं भक्ति में पार्थक्य क्या रहता है ? यदि उभय में पार्थक्य नहीं रहता तो—

कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानं मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्"

इस प्रकार उभय में भेद कथन के निमित्त भगवान् की प्रवृत्ति ही नहीं होती । अतएव स्वरूपतः ही भगवद् विषयक ज्ञान निर्गुण है । तज्जन्य भा० ११।२५।२६ में भगवान् कहे थे—

"सात्त्विकं सुखमात्मोत्थं विषयोत्थस्तु राजसम् ।
तामसं मोहदैन्योत्थं निर्गुणं मदपाश्रयम् ।।"३६९।।

इत्यत्र तत्सुखस्यापि निर्गुणत्वं वक्ष्यते । एवं श्रवणादिलक्षण-क्रियारूपाया अपि भक्तेः (भा० ११२।१६)—

"शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य वासुदेवकथा-रुचिः ।
स्यान्महत्सेवया विप्राः पुण्यतीर्थनिषेवणात् ।।"३७०।।

इत्युक्त्या तदेकनिदानत्वेन निर्गुणत्वमेव । ननु (भा० ८।२४।३८) —

"मदीयं महिमानञ्च परं ब्रह्मेति शब्दितम् ।
वेत्स्यस्यनुगृहीतं मे संप्रश्नैर्विवृतं हृदि ।।"३७१।।

इति श्रीमत्स्यदेवस्य वचनेन ब्रह्मज्ञानमपि श्रीभगवत्प्रसादोत्थं श्रूयते, तत् कथं तस्य सगुणत्वम् ? उच्यते,—ब्रह्मज्ञानं द्विविधानां जायते,— तत्र भगवदुपासकानामानुषङ्गिकत्वेन,

---

"सात्त्विकं सुखमात्मोत्थं विषयोत्थस्तु राजसम् ।
तामसं मोहदैन्योत्थं निर्गुणं मदपाश्रयम् ।।"३६९।

'त्वं' पदार्थ – अणु चैतन्य जीव स्वरूप का अनुभव हेतु जो सुख है, वह सात्त्विक है, विषयानुभव जनित सुख राजस है, मोह एवं दैन्य से उत्थित सुख तामस है । मदीय अनुभव जनित जो सुख है वह किन्तु निर्गुण है । भगवदनुभव जनित सुख जो निर्गुण है, उसका कथन पश्चात् होगा । इस प्रकार श्रवण कीर्त्तनादि लक्षणा क्रिया रूपाभक्ति का भी निर्गुणत्व जानना होगा । कारण भा० १।२।१६ में कथित हैं—

"शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य वासुदेवकथा--रुचिः ।
स्यान्महत्सेवया विप्राः पुण्यतीर्थनिषेवणात् ।।३७०।।

टीका – ननु सत्यमेव कर्म निर्मूलनी हरिकथा रतिः, तथापि तस्यां रुचिर्नोत्पद्यते किं कुर्म्म स्तत्राह- शुश्रूषोरिति । पुण्यतीर्थ निषेवणात् निष्पापस्य महत् सेवा स्यात् तया च तद्धर्म श्रद्धा । ततः श्रवणेच्छा । ततो रुचिः स्यादित्यर्थः ।।

श्रीसूत – शौनकादि ऋषि वृन्द को कहे थे,— हे विप्रगण ! पुण्य तीर्थ की सेवा करने से प्रायशः महत् सङ्गलाभ की सम्भावना हो सकती है । महत् सङ्ग से महत् मुखोच्चारित हरिकथा श्रवण में इच्छा का उद्गम होता है । एवं उक्त हरिकथा श्रवण करने से उक्त महापुरुष के प्रति श्रद्धा का उद्गम होता है । एवं उनकी सेवा करने का सौभाग्योदय भी होता है । उक्त महापुरुष की सेवा करने से वासुदेव कथा में रुचि होती है । उक्त विवरण से सुस्पष्ट प्रतीति होती है कि—श्रीभगवत् कथा श्रवण कीर्त्तनादि करने की प्रवृत्ति के एकमात्र हेतु है सत्सङ्ग । अथच उस सत् सङ्ग भी निर्गुण है । तज्जन्य भगवद् भक्ति जो निर्गुणा है, उस में कोई संशय नहीं है ।

यहाँ संशय हो सकता है कि,—भगवत् प्रसादोत्थ ब्रह्मज्ञान भी होता है । भा० ८।२४।३८ में वर्णित है--

"मदीयं महिमानञ्च परं ब्रह्मेति शब्दितम् ।
वेत्स्यस्यनुगृहीतं मे संप्रश्नैर्विवृतं हृदि ।।"३७१।।

ब्रह्मोपासकानां स्वतन्त्रत्वेन। भगवदुपासकैस्तु भगवच्छक्तिरूपया भक्त्या किञ्चिद्भेदेनैव गृह्यते, तच्च, (गी० १८।५४) "ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति" इत्यादि-श्रीगीतोक्त्यनुसारेण, (भा० १।७।१०) "आत्मारामाश्च मुनयः" इत्याद्यनुसारेण च भगवतः

टीका—मे मया अनुगृहीतं प्रसादीकृतं हृदि अपरोक्षं वेत्स्यसि। त्वया कृतैः सम्प्रश्नैर्मया विवृतं प्रकाशितं सन्तम् ॥

श्री मत्स्यदेव—सत्यव्रत महाराज को कहे थे,—मेरी महिमा, अर्थात् महत्त्व--विभुत्व--पर ब्रह्म शब्द से अभिहित है, एवं वह तत्त्व--मत् कर्त्तृक अनुगृहीत है, इसका अनुभव--निज हृदय में प्रश्नादि के द्वारा विस्तृत रूप से अवगत हो सकोगे। अतएव ब्रह्म ज्ञान का सगुणत्व का निर्देश कैसे हो सकता है? कारण, सत्सङ्ग से अथवा सत् कृपा से उत्थित होने के कारण, क्रियारूपा साधन भक्ति यदि निर्गुणा होती है, तो भगवत् कृपा से आविर्भूत ब्रह्म ज्ञान भी निर्गुण कैसे नहीं हो सकता है? अर्थात् साधु सङ्ग जिस प्रकार निर्गुण है, उस प्रकार श्रीभगवत् कृपा भी निर्गुणा है। अतएव निर्गुणा भगवत् कृपा से उत्थित ब्रह्म ज्ञान भी निर्गुण ही होगा। इस के उत्तर में कहते हैं-द्विविध उपासक के हृदयमें ब्रह्म ज्ञान आविर्भूत होता है।

तन्मध्य में भगवदुपासक वृन्द के हृदय में जो ब्रह्म ज्ञान आविर्भूत होता है, वह अनुसाङ्गिक रूप से अर्थात् अप्रधान भाव से होता है। किन्तु ब्रह्म उपासक के हृदय में जो ब्रह्म ज्ञान आविर्भूत होता है, वह स्वतन्त्र अर्थात् प्रधान रूप से होता है। भगवत् उपासक वृन्द, भगवत् शक्ति रूपा भक्ति के प्रभाव से 'त्वं पदार्थ" जीव चैतन्य के सहित भेद से ही ब्रह्म स्वरूप का अनुभव करते हैं, किञ्चित् भेद रूप से जो अनुभव करते हैं, उसका उल्लेख श्रीभगवद् गीता में सुस्पष्ट रूप से है—(गी० १८।५४)

"ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥

टीका – ततश्चोपाध्यपगमे सति ब्रह्मभूतः अनावृत चैतन्यत्वेन ब्रह्मरूपइत्यर्थः। गुण मालिन्यापगमात्। प्रसन्नश्चासावात्माचेति सः, ततश्च पूर्वदशायामिव नष्टं न शोचति। न च। प्राप्तं काङ्क्षति, देहाद्य--भिमानाभावादिति भावः। सर्वेषु भूतेषु भद्राभद्रेषु बालक इवसमः, बाह्यानुसन्धानाभावादिति भावः। ततश्च निरिन्धन ज्वालाविव ज्ञाने शान्ते ऽप्यनश्वरां ज्ञानान्तर्भूतां मद् भक्तिं श्रवण कीर्त्तनादि रूपां लभते, तस्या मत्स्वरूप शक्ति वृत्तित्वेन माया शक्ति भिन्नत्वात्। अविद्या विद्ययोरपगमेऽपि अनपगमात्। अतएव परां – ज्ञानादन्यां श्रेष्ठां निष्काम कर्म ज्ञानादुर्वरत्वेन केवलामित्यर्थ। लभते इति पूर्वं ज्ञान वैराग्यादिषु मोक्ष सिद्धचर्थं कलया वर्त्तमानाया अपि सर्व भूतेषु अन्तर्यामिन इव तस्य। स्पष्टोपलब्धि र्नासीदिति भाव। अतएव कुरुत इत्यनुक्त्वा लभते इति प्रयुक्तम्। माषमुद्गादिषु मिलिता तांते तेषु नष्टेष्वपि अनश्वरां काञ्चन माणिक्यमिव तेभ्यः पृथक् तया केवलं लभते इतिवत्। सम्पूर्णाभाः प्रेमभक्तेस्तु प्रायस्तदानीं लाभ सम्भवो अस्ति, नापि तस्या फल सायुज्यं। इत्यतः परा शब्देन प्रेमलक्षणेति व्याख्येयं ॥

कोई कोई भक्ति साधक, क्रममुक्ति के रीत्यनुसार सुख अनुभव की आशा से ब्रह्म स्वरूप में अवस्थित होकर सर्वदा ही चित्तप्रसन्नता को प्राप्त करते हैं। विनष्ट वस्तु के निमित्त न तो शोक करते हैं, और अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति हेतु आकाङ्क्षा भी नहीं करते हैं। सर्वभूत में ब्रह्म सत्ता की उपलब्धि करते हैं, अतः समभावापन्न होते हैं। इस प्रकार अवस्था प्राप्ति के पश्चात् मुझ में अर्थात् श्रीभगवान् में लय विक्षेप शून्या, तैल धारावत् अनवच्छिन्ना पराभक्ति को प्राप्त करते हैं। भा० १।७।१० में उक्त है—

"आत्मारामाश्च मुनय निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।

पराख्यभक्तिपरिकरो भवतीति । ब्रह्मोपासकैस्तु पूर्व्ववदभेदेनैव गृह्यते, तत्फलस्य (भा० ३।१५।४८) "नात्यन्तिकं विगणयन्त्यपि ते प्रसादम्" इत्युक्तदिशा परैरात्यन्तिकत्वेन मतस्यापि, परमविद्वद्भिरनादृतत्वात्, तथा भक्तिविरुद्धत्वेन (भा० ६।१०।२८) "स्वर्गापवर्ग-नरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः" इत्युक्त्या, नरकवदपवर्गस्यापि हेयत्वात् प्रसादाभास एवासौ ।

कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतो गुणो हरिः ।।"

टीका – निर्ग्रन्थाः ग्रन्थेभ्यो निर्गताः । तदुक्तं गीतासु—यदा ते मोह कलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च । इति । यद्वा ग्रन्थिरेव ग्रन्थिः, निवृत्तः क्रोधाहङ्कार रूपो ग्रन्थिर्येषां ते निवृत्त हृदय ग्रन्थय इत्यर्थ । ननु मुक्तानां किं भक्त्येति, सर्वाक्षेप परिहारार्थमाह इत्थम्भूतो गुणो हरिरिति ।।

आत्माराम मुनिगण श्रीहरि के गुण से आकृष्ट होकर श्रीहरि में अहैतुकी भक्ति करते रहते हैं, इत्यादि प्रमाणानुसार भक्ति साधक में ब्रह्मानुभव, श्रीभगवदीय पराख्य भक्ति के परिकर रूप में ही प्रकाशित होता है । किन्तु ब्रह्मोपासक गण, जीव चैतन्य के सहित अभेद रूप से ही ब्रह्म स्वरूप का अनुभव करते भा० ३।१५।१८ में उक्त है—

"नात्यन्तिकं विगणयन्त्यपि ते प्रसादं
किम्मन्यदर्पितभयं भ्रुव उन्नयैस्ते ।
येऽङ्गत्वदङ्घ्रि शरणा भवतः कथायाः
कीर्त्तन्यतीर्थ यशसः कुशला रसज्ञाः ।।

टीका—स्वयमपि भक्ति प्रार्थयितुं भक्तानां सुखातिशयमाहुः । आत्यन्तिकं मोक्षाख्यमपि तव प्रसादं तेन विगणयन्ति नाद्रियन्ते । किमु किमुत, अन्यदिन्द्रादि पदम् । ते भ्रुव उन्नयैरुज्जृम्भैः– अर्पितं निहितं भयं यस्मिन् तत् । ते के ? अङ्ग हे भगवन् ! ये भवतः कथाया रसज्ञाः । कथम्भूतस्य ? रमणीयत्वेन च पावनत्वेन च कीर्त्तन्यं कीर्त्तनार्हं तीर्थञ्च यशो यस्य, तस्य ।

चतुःसन श्रीवैकुण्ठ नाथ को स्तव करते हुये कहे थे—हे नाथ ! जो आप के चरणों में एकान्त शरणागत हैं, वे आप के मोक्ष नामक आत्यन्तिक प्रसाद का भी आदर नहीं करते हैं । इस उक्ति से प्रतिपादित हुआ है कि—अन्य मोक्षार्थिवृन्द के निकट आत्यन्तिक रूप से समादृत वह जीव एवं ब्रह्म चैतन्य का अभेदानुसन्धान के फल रूप मोक्ष को भी परम विज्ञ भक्त गण समादर नहीं करते हैं । भक्ति विज्ञ महानुभव गण उस अभेद अनुसन्धानात्मक ज्ञान साधन का मुख्य फलरूप मोक्ष का आदर नहीं करते हैं, यही नहीं किन्तु भक्ति विरुद्ध होने के कारण— भा० ६।१०।२८

"नारायण पराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति ।
स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थ दर्शिनः ।।

टीका— स्वर्गादावेव तुल्योऽर्थः प्रयोजन मति द्रष्टुं शीलं येषां ते तथा ।।

जो लोक, नारायण परायण हैं, वे सब किसी से भी किञ्चिन्मात्र भीत नहीं होते हैं । कारण, वे सब स्वर्ग, मोक्ष, एवं नरक को तुल्य कार्य्यकारी रूप में देखते हैं । अर्थात् पुण्य कर्म्म साध्य स्वर्ग, अभेदानु--सन्धानात्मक ज्ञान साध्य मोक्ष, पाप कर्म साध्य नरक, पृथक् वस्तु होने पर भी, भक्ति साधक के जीवनी शक्ति रूप परम अभीष्ट श्रीभगवान् के सहित निज दास्यादि एकतर सम्बन्ध का विघातक होने के कारण स्वर्ग, मोक्ष, नरक में वे सब तुल्य दृष्टि करते रहते है । इस प्रमाण के अनुसार नरक के समान मोक्ष के

स्वमत्यनुसारेण प्रसादतया गृह्यमाणश्चेन्मति-कल्पितत्वात् सगुण एव । ततः कैवल्यज्ञानमपि तथा, विशेषतस्तस्य गुणसम्बन्धेन जन्माङ्गीकृतमिति । ननु अन्तर्वहिश्च करणं पुरुषस्य गुणमयमेव, तदुद्भवयोर्ज्ञानक्रिययोः कथं निर्गुणत्वम् ? उच्यते,-ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिर्वा न तावज्जड़स्य त्रैगुण्यस्य धर्म्मः, घटस्येव, न च चिद्रूपस्यापि जीवस्य ईश्वर धीनशक्तित्वेना-मुख्यत्वात्, देवताविष्टपुरुषस्येव, ततः परमात्मचैतन्यस्यैवेत्यायाति, तथोक्तम् (भा० ६।१६।२४) "देहेन्द्रिय-प्राणमनोधियोऽमी, यदंशविद्धा प्रचरन्ति कर्म्मसु" इति, तथा च श्रुतिः (वृ० ४।४।१८)

प्रति भी भक्तगण हेयत्व दृष्टि करते हैं। तज्जन्य अभेदानुसन्धानात्मक ज्ञान साध्य मोक्ष को वे सब प्रसादाभास ही मानते हैं। यदि कोई निज बुद्धि के अनुसार मोक्ष को श्रीभगवत् प्रसाद मानते हैं, तो वह निजमति कल्पित हेतु सगुण ही है।

तात्पर्य्य यह है कि—पहले जो प्रश्न हुआ था--कि—भक्ति, निर्गुण साधु सङ्ग से आविर्भूत होने पर यदि वह निर्गुण होती है तो, ब्रह्मानुभव भी भगवत् प्रसाद तो उद्भूत होने के कारण, वह निर्गुण क्यों नहीं होगा ? इसका समाधान यह हुआ कि—निर्भेद ब्रह्मानुसन्धान रूप मोक्ष श्रीभगवत् प्रसाद से उत्थित नहीं है, कारण, परम विज्ञ भक्ति तत्त्ववेत्ता श्रीनारद, प्रह्लाद, ध्रुव, उद्धव एवं आदिज्ञानिगुरु सनकादि ऋषिगण भी परावस्था में उस प्रकार मुक्ति को अर्थात् अभेदानुसन्धान त्मक ज्ञान साध्य जीव चैतन्य के सहित सर्वथा अभेद ब्रह्मानुभवात्मक मोक्ष को श्रीभगवत् प्रसाद नहीं मानते हैं। केवल कतिपय मोक्षार्थी गण ही उस मोक्ष को भगवत् प्रसाद मानते हैं। कारण, जो लोक श्रीभगवान् में विद्वेष करते हैं, वे सब श्रीहरि के हस्त से निहत होकर सायुज्य मुक्ति लाभ करते हैं। बहु काल श्रवण मनन, निदिध्यासन नियम प्रभृति श्रमसाध्य साधन करके भी उस सायुज्य मुक्ति प्राप्त करने पर उस को कैसे भगवद् प्रसाद कहा जा सकता है ? कारण, जो भगवद्विद्वेषीजन प्राप्य है, वह साधक जन के साधन के द्वारा तुष्ट श्रीभगवान् कर्त्तृक प्रदेय नहीं हो सकता है। अतएव कैवल्य ज्ञान भी सत्त्व गुण से समुत्थित होने के कारण, वह सगुण ही है। विशेषतः उस कैवल्य ज्ञान का जन्म, सत्त्व गुण के सम्बन्ध से ही स्वीकृत हुआ है। यहाँ कहा जा सकता कि—मानवीय अन्तः करण वहिः करण प्रभृति इन्द्रिय समूह गुणमय ही हैं, अर्थ गुण विकार हैं, अतएव गुण विकार इन्द्रिय वृन्द से समुत्थित ज्ञान क्रियादि कैसे निर्गुण हो सकता है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं—

ज्ञान शक्ति एवं क्रिया शक्ति—त्रिगुणमय जड़धर्म नहीं है। जिस प्रकार जड़ीय घट में ज्ञान वा क्रिया शक्ति नहीं है। यह भी कहा नहीं जा सकता है कि—ज्ञान वा क्रिया शक्ति, चतन्य स्वरूप जीवधर्म है। कारण, जीव चैतन्य की क्षमता, स्वतन्त्र रूप से कुछ करने की नहीं है। ईश्वर प्रेरणाधीन होकर ही उस में ज्ञान वा क्रिया शक्ति प्रकाशित होती है। अतएव चैतन्य स्वरूप जीव में भी ज्ञान वा किया शक्ति मुख्य रूप से प्रकाशित नहीं होती है। देवताविष्ट पुरुष के समान ईश्वर दत्त चिदाभास संक्रमित होकर ही जीव में ज्ञान वा क्रिया शक्ति प्रकाशित होती है। तज्जन्य ज्ञान एव क्रिया शक्ति परमात्म चैतन्य स्वरूप का ही मुख्यधर्म है। यही निर्णीत सिद्धान्त है।

श्रीमद् भागवत के ६।१६।१४ में उक्त है—

"देहेन्द्रिय प्राणमनोधियोऽभी यदंशविद्धाः प्रचरन्ति कर्म्मसु ।
नैवान्यदा लौहमिवाप्रतप्तं स्थानेषु तद्द्रष्ट्रपदेशमेति ॥

टीका—तेषां तदज्ञाने हेतुमाह । देहेन्द्रियादयोऽमी यदंशविद्धाः यच्चैतन्यांशेन आविष्टाः सन्तः

"प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनः" इति ,(ऋक्०) "न ऋते तत् क्रियते किञ्चनारे" इत्यादिका । तदेवं सति श्रं गुणकार्य्यप्राधान्येन भवन्त्यौ ते गुणमयत्वेनोच्येते, परमेश्वरप्राधान्येन तु स्वतो गुणातीते एव, तदुक्तं देवामृतपानाध्याये श्रीशुकेन (भा० ८।९।२९)—

"यद्युज्यतेऽसुवसुकर्म्ममनोवचोभि-,र्देहात्मजादिषु नृभिस्तदसत् पृथक्त्वात् ।
तैरेव सद्भवति यत् क्रियतेऽपृथक्त्वात् सर्व्वस्य तद्भवति मूलनिषेचनं यत् ॥"३७२॥

पृथक्त्वात् परमात्मेतराश्रयत्वात्, अपृथक्त्वात् तदेकाश्रयत्वादित्यर्थः । अतो युक्तमेव ज्ञानक्रियात्मिकाया हरिभक्तेर्निर्गुणत्वम् । विशेषतस्तस्या गुणसम्बन्धेन जन्माभावश्चाङ्गीकृतः

कर्मसु स्व स्व विषयेषु प्रचरन्ति, जाग्रत स्वप्नयोः । अन्यदा सुषुप्ति मूर्च्छादौ नैव प्रचरन्ति । यथा अप्रतप्तं लौहं न दहति । अतो यथा लौहमग्नि शक्त्यैव दाहक सदग्नं न दहति । एवं ब्रह्मगत ज्ञान क्रिया शक्तिभ्यां प्रवर्त्तमाना देहादयस्तन्न स्पृशन्ति न विदुश्चेतिभावः । जीवस्तर्हि द्रष्टृत्वाज्जानातु नेत्याह, स्थानेषु जाग्रदादिषु द्रष्टृपदेशं द्रष्टसंज्ञां तदैवेति प्राप्नोति नान्यो जीवोनामास्ति । नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टेत्यादि श्रुतेः । यद्वा द्रष्टृपदेशं द्रष्टृ संज्ञं जीवमपि तदेव एति जानन्ति न तु जीव स्तज्जानातीत्यर्थः । तदुक्त हंस गुह्यस्तोत्रे । देहोऽसत्रोक्षा इत्यादि ॥"

देह, इन्द्रिय, प्राण, मन एवं बुद्धि, यह सब परमात्मचैतन्य शक्ति में आविष्ट होकर अग्निशक्ति आविष्ट लौह के समान निज निज कार्य्य सम्पादन में समर्थ होते हैं । स्वतन्त्र रूप से कुछ करने की शक्ति उन सब में है ही नहीं । श्रुति में भी उस प्रकार वर्णित है — (वृ० ४।४।१८)

"प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुतश्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनः ॥"

न ऋते तत् क्रियते किञ्चनारे ।।" परमात्म, प्राण का प्राण, चक्षु का चक्षु, श्रोत्र का श्रोत्र, मन का मन, उनके चैतन्य को छोड़कर कोई कुछ कर नहीं सकते हैं । इत्यादि श्रुति प्रमाणों से प्रतिपादित होता कि—चैतन्य का आभासमात्र आविष्ट होकर देहेन्द्रिय प्रभृति में निजोचित कार्य्य करने की क्षमता आती है, तद् व्यतीत स्वतन्त्ररूप से किसी भी इन्द्रिय में कार्य्य करने की सामर्थ्य नहीं है ।

इस प्रकार स्थिर सिद्धान्त होने पर—ज्ञान शक्ति एवं क्रिया शक्ति की प्रवृत्ति जहाँपर प्रधान रूप से त्रिगुणमय कार्य्य में होता है, वहाँ उस ज्ञान क्रिया को गुणमय धर्म कहा जाता है, और जहाँपर त्रिगुणातीत परमेश्वर को ही प्रधान रूप से लक्ष्य करके अनुष्ठित होता है, वह ज्ञान-क्रिया—स्वभावतः ही गुणातीत है । इस अभिप्राय से ही श्रीशुक ने भी (भा० ८।९।२९) देवगण के अमृत पान प्रसङ्ग में कहा है—

"यद्युज्यतेऽसुवसुकर्म्ममनोवचोभि-र्देहात्मजादिषु नृभिस्तदसत् पृथक्त्वात् ।
तैरेव सद्भवति यत् क्रियतेऽपृथक्त्वात्, सर्व्वस्य तद्भवति मूलनिषेचनं यत् ॥"३७२॥

टीका—एतदेवोपपादयति यदिति । असुः प्राणः, वसु—धनम्, प्राणादिभि र्देहात्मजादिषु नृभिर्यद् युज्यते—प्रयुज्यते देहाद्यर्थं यत् किञ्चित् क्रियते—इत्यर्थः । तदसत् व्यर्थं भवति । पृथक्त्वात् भेदाश्रयत्वात्-शाखानिषेचनवत् तैरेव प्राणादिभिरीश्वरोद्देशेन यत् क्रियते तत् तु सत् महाफलं भवति । कुतः अपृक्त्वात्-ईश्वरस्यसर्वानुगतत्वात् । तत्र दृष्टान्तः । यत् तरोर्मूलनिषेचन तद् यथा सर्वस्य स्कन्धशाखादेरपिभवतीति । यद्वा,—ल्यव् लोपे पञ्चम्यौ, पृथक् त्वं पर्य्यालोच्य भेददृष्ट्या देहाद्युद्देशेन यत् क्रियते तदसत् । अपृथक्त्वं पर्य्यालोच्य ईश्वर दृष्ट्या तैरेव तेष्वेव च यत् क्रियते तत् सम्भवतीति शेषं समानम् ॥"

न तु ब्रह्मज्ञानस्येव गुणसम्बन्धेन जन्मभाव इति। अतोऽसौ भक्तिस्तस्यापि प्रीणनत्वादि-गुणैरुदाहरिष्यते। यत्तु श्रीकपिलदेवेन भक्तेरपि निर्गुणसगुणावस्थाः कथितास्तत्पुनः पुरुषान्तःकरणगुणा एव तस्यामुपचर्य्यन्त इति स्थितम् ॥

१३५। तदेवमभिप्रेत्य ज्ञानरूपाया भक्तेर्निर्गुणत्वमुक्त्वा क्रियारूपाया व्याचष्टे। तत्राप्यस्तु तावत् श्रवणकीर्त्तनादिरूपायाः, भगवत्सम्बन्धेन वासमात्ररूपाया आह, (भा० ११।२५।२५)

(१३५) "वनन्तु सात्त्विको वासो ग्राम्यो राजस उच्यते।
तामसं द्यूतसदनंमन्निकेतन्तु निर्गुणम् ॥"३७३॥

हे राजन्! मानववृन्द,—प्राण, धन, कर्म्म, मनः, वाक्य समूह द्वारा देह, पुत्र प्रभृति के प्रति जो कुछ करते हैं—वह सब ही असत् हैं, अर्थात् वृथा है, कारण, सर्वाश्रय परमात्म स्वरूप के प्रति दृष्टि न होने से शाखा में जल सिञ्चन के समान अनेक अनुष्ठान करके भी आत्मप्रसाद लाभ नहीं होता है। कारण, प्रतिदेह में आत्मा पृथक् हैं, अतः पुत्र के प्रति प्रीति करने पर पिता का प्रीति साधन नहीं होता है। इस प्रकार पिता का प्रीति साधन करने से माता का प्रीति साधन नहीं होता है। किन्तु परमेश्वर प्रीत्यर्थ प्राण, धन, मनः वाक्य प्रभृति के द्वारा जो कुछ आचरित होता है, वह वृक्ष के मूलदेश सेचन के तुल्य महाफल प्रद होता है,अर्थात् जिस प्रकार वृक्ष के मूल देश में जल सेचन करने पर शाखा पल्लवादि का सन्तोष होता है, उस प्रकार समस्त शरीर में अन्तर्य्यामी रूप में विद्यमान परमेश्वर की उपासना करने से देह, पुत्र, स्वजन, बन्धु, बान्धव, देवता, गन्धर्व प्रभृति सब को परम सन्तोष होता है, कारण, समस्त देह में एक ही परमेश्वर अन्तर्य्यामी रूप में विद्यमान हैं।

मूल श्लोक में "पृथक्त्वात्" पद का उल्लेख है। अर्थात् परमात्माभिन्न वस्तु को आश्रय करके प्रवृत्त होने के कारण—वह असत् है। और "अपृथक्त्वात्" पदका अर्थ है—एकमात्र परमेश्वर को आश्रय करके प्रवृत्त होने के कारण वह सत् है। अतएव निखिल ज्ञान एवं क्रिया शक्ति परमेश्वर के चिद् आभास सम्बलित होकर ही प्रकाशित होती हैं। स्वतन्त्र रूपमें जड़ीय देहेन्द्रियादि की ज्ञान एवं क्रिया शक्ति प्रकाश में सामर्थ्य नहीं है। तज्जन्य—परमेश्वर ही निखिल ज्ञान एवं क्रिया शक्ति का प्रवर्त्तक हैं। अथच उक्त ज्ञान एवं क्रिया शक्ति का विनियोग यदि परमेश्वर के उद्देश्य में होता है तो वह ज्ञान एवं क्रिया शक्ति का निर्गुण क्यों नहीं होगा? अतएव ज्ञान एवं क्रिया स्वरूप श्रीहरि भक्ति जो निर्गुण है, यह कथन अतिशय युक्ति युक्त है। विशेष कथा यह है कि—श्रीहरि भक्ति कदापि सत्त्वादि गुण सम्बन्ध में आविर्भूत नहीं होती है। किन्तु, ब्रह्म ज्ञान, सत्त्व गुण सम्बन्ध में ही आविर्भूत होता है, अतएव निर्गुणा भक्ति जो, श्रीभगवान् के भी सुखप्रद गुण समूह के द्वारा अलङ्कृता है, उसका सप्रमाण वर्णन अग्रिम ग्रन्थ में होगा। तृतीयस्कन्ध में श्रीकपिल देवने भक्ति की अवस्था का वर्णन निर्गुण सगुण रूप में किया है, वह भक्ति साधक के अन्तः करण में स्थित सत्त्व रजः एवं तमो गुण का ही उपचार भक्ति में किया है। यह सिद्धान्त सुस्थिर हुआ है ॥१३४॥

१३५। श्रीभगवान् उक्त अभिप्राय से ही ज्ञान रूप भक्ति का निर्गुणत्व को कह कर क्रिया रूप भक्ति का निर्गुणत्व का वर्णन करते हैं। उस के मध्य में श्रवण कीर्त्तनादि रूपा भक्ति जो सर्वथा निर्गुण है, उस में कोई संशय नहीं है। भगवत् सम्बन्ध विद्यमान होने के कारण, भगवन्मन्दिर में निवास करना रूप भक्ति भी निर्गुण है,—उसका वर्णन भा० ११।२५।२५ में है—

'वनं वासः' इति तत्सम्बन्धिनी वसनक्रियेत्यर्थः, वाणप्रस्थानामिति ज्ञेयम् । एवं ग्राम्य इति गृहस्थानाम्, तामसमिति दुराचाराणाम्, द्यूतसदनमित्युपलक्षणम्, मन्निकेतमिति मत् सेवापराणामिति च वनादीनां वासेन सह "आयुर्घृतम्" इतिवदेकाधिकरणत्वम् । वनस्य वृक्षषण्डरूपस्य रजस्तमः प्राधान्यादत एव विविक्तत्वलक्षण-तदीयसात्त्विकगुणस्यापि तद्-युगलमिश्रत्वेन गौणत्वम् । वासक्रियायास्तु सत्त्वोत्पन्नत्वात्तद्-वर्द्धनत्वाच्च सात्त्विकत्वे मुख्यत्वमिति तस्या एवाभिधेयत्वमुचितम् । अतएव ग्राम्य इति तद्धितान्त एव पठितः । एवं

---

(१३५) 'वनन्तु सात्त्विको वासो ग्राम्यो राजस उच्यते ।
तामसं द्यूतसदनं मन्निकेतन्तु निर्गुणम् ।।"३७३।।

टीका—वनं-विविक्तत्वाद् सात्त्विको वासः । भगवन्निकेतनन्तु साक्षात् तदाविर्भावान्निर्गुणं स्थानम् ।

वान प्रस्थाश्रमिवृन्द की वन सम्बन्धिनी वास क्रिया सात्त्विक है इस प्रकार गृहस्थगण के ग्राम में निवास करना राजस है, दुराचार व्यक्ति वृन्द के निवास जहाँ पर होता है, अर्थात् जूया, मद्यपान, मिथ्या प्रवञ्चना जहाँपर होती रहती है, वहाँ निवास करना तामस है । किन्तु भगवत् सेवापरायण भक्त वृन्द के श्रीभगवन्मन्दिर में निवास करना, निर्गुण है, यहाँ ज्ञातव्य यह है कि—वन, ग्राम, द्यूतसदन, प्रभृति में वास क्रिया के सहित एकाधिकरणता कही गई है ।

अर्थात् "वनं वासः" इस प्रकार उल्लेख श्लोक में होने के कारण, "वनेवासः सात्त्विकः" इस प्रकार आधार आधेय उल्लेख न करके "वनं एवं वास को एकाधार में प्रकाश करने से इस प्रकार अर्थ होता है-जिस प्रकार "आयुर्घृतं" अर्थात् आयु ही घृत है, आपाततः इस प्रकार अर्थ बोध होता है । वस्तुतः घृत आयुष्कर है, तज्जन्य आयुष्कारण घृत के सहित अभेदोक्ति हुई है, प्रस्तुत स्थल में भी वैसा जानना होगा । रज स्तम गुण के प्राधान्य हेतु यहाँ प्रश्न हो सकता है कि—वृक्ष समष्टि का नाम ही वन है, वृक्ष समूह भी रजस्तमोगुण प्रधान हैं, ऐसा होने पर रजस्तमः प्रधान वन का सात्त्विकत्व कैसे हो सकता है ? उत्तर में कहते हैं,– यद्यपि वन, रजस्तमः प्रधान है, तथापि निर्जन होने के कारण, वन का एक सात्त्विक गुण भी है । किन्तु सात्त्विक गुण विद्यमान होने पर भी रजस्तमो गुण मिश्रित होने के कारण, वन का निर्ज्जनता रूप सात्त्विक गुण भी गौण है । किन्तु वन में निवास क्रिया सत्त्व गुण से उत्पन्न होने के कारण एवं सत्त्व गुण वर्द्धक हेतु सात्त्विक धर्म का मुख्यत्व है । अर्थात् साधक के हृदय में जब सत्त्व गुण प्रकाशित होता है, तभी निर्जन वन में वास करने की प्रवृत्ति होती है । एवं निर्जन वन में रहते रहते सत्त्व गुण की वृद्धि होती है । तज्जन्य वन में वास रूप क्रिया मुख्य सात्त्विक है । अतएव "वनेवासः" क्रिया का ही अभिधेयत्व है, अर्थात् कर्त्तव्य विहित है । अतएव 'ग्राम्य' पद का उल्लेख तद्धितान्त रूप में हुआ है । अर्थात् "ग्रामेवासः ग्राम्यः" इस प्रकार उल्लेख हुआ है । अभिप्राय यह है कि—ग्राम में निवास करने पर भोग वासनारूप रजोगुण का उद्गम होता है, एवं भोग वासना रूप रजोगुणाक्रान्त हृदय होने से ही ग्राम में वास करने की प्रवृत्ति होती है । तज्जन्य ग्राम में निवास को राजस कहा गया है । इस प्रकार "द्यूत सदनं" स्थल में भी वास क्रिया ही अभिप्रेत है । अर्थात् जिस समय तमो गुण प्रबल होता है, उस समय उक्त स्थान में रहने की प्रवृत्ति होती है । वहाँ रहते रहते तमो गुण की वृद्धि अत्यधिक होती है । इस अभिप्राय से ही द्यूतसदन को तामस कहा गया है । मन्निकेतन-निर्गुण है । अर्थात् मेरा मन्दिर निर्गुण है । जिस प्रकार स्पर्श मणि के स्पर्श से लौह भी स्वर्ण होता है, उस प्रकार सच्चिदानन्द स्वरूप भगवत् सम्बन्ध माहात्म्य से प्राकृत इष्टकादि द्वारा निर्मित भगवान् के मन्दिर भी निर्गुण होता है । यहाँ ज्ञातव्य यह है कि —वृक्ष

'द्यूतसदनम्' इत्यत्र च वासक्रियैव विवक्षिता, 'मन्निकेतम्' इत्यत्रापि, किन्तु भगवत् सम्बन्ध-माहात्म्येन निकेतस्यापि निर्गुणत्वं भवेत्, स्पर्शमणि-न्यायेन । तादृशत्वन्तु तादृशभक्ति-चक्षुर्भिरेवोपलब्धव्यम् (ब्राह्मे)--"दिविष्ठास्तत्र पश्यन्ति सर्व्वानेव चतुर्भुजान्" इतिवत् । एवमेव टीका च–"भगवन्निकेतन्तु साक्षात्तदाविर्भावान्निर्गुणं स्थानम्" इत्येषा ॥

१३६ । एवं वासमात्रस्य तादृशत्वमुक्त्वा सर्व्वासामेव तत्क्रियाणामाह (भा० ११।२५।२६)

(१३६) "सात्त्विकः कारकोऽसङ्गी रागान्धो राजसः स्मृतः ।
तामसः स्मृतिविभ्रष्टो निर्गुणो मदपाश्रयः ॥" ३७४॥

अत्र च क्रियायामेव तात्पर्य्यम्, न तदाश्रये द्रव्ये, सात्त्विक-कारकस्य शरीरादिकं हि गुणत्रयपरिणतमेव ॥

१३७ । तदेवं क्रियामात्रस्य तादृशत्वमुक्त्वा, तत्प्रवृत्तिहेतुभूतायाः श्रद्धाया अप्याह,

---

समष्टि रूप वन,- रजस्तमः प्रधान है, किन्तु उस में रहने की प्रवृत्ति सात्त्विक है, वन में रहते रहते सत्त्व गुण की वृद्धि होती है, तज्जन्य 'वनेवासः' को सात्त्विक कहा गया है । इस प्रकार ग्राम एवं द्यूतसदन को भी जानना होगा । श्री भगवन् मन्दिर किन्तु स्वरूपतः ही निर्गुण है, मन्दिर में निवास करने से सत्वगुण की वृद्धि होती है, तज्जन्य निर्गुण है, ऐसा नहीं हैं । किन्तु श्रीभगवन् मन्दिर का निर्गुणत्व की उपलब्धि, भगवत् सेवा परायण भक्त वृन्द के नेत्र से ही होती है । जिस प्रकार क्षेत्र माहात्म्य प्रसङ्ग में कथित है,

"दिविष्ठास्त्र पश्यन्ति सर्वानेव चतुर्भुजान् ।"

अर्थात् देवगण—क्षेत्र वासिगण को चतुर्भुज रूप में देखते हैं, किन्तु साधारण लोक नहीं देखते हैं । श्रीभगवन्मन्दिर के सम्बन्ध में भी उस प्रकार जानना होगा । श्रीधर स्वामिपाद कृत टीका का यही अभिप्राय है ।

"भगवन् निकेतन्तु साक्षात् तदाविर्भावात् निर्गुणं स्थानम्".

अर्थात् श्रीभगवान् के निकेतन किन्तु साक्षात् उनका आविर्भाव हेतु निर्गुणस्थान है ॥१३५॥

१३६ । इस प्रकार श्रीभगवन् मन्दिर में केवल मात्र रहने को ही निर्गुण कहकर भगवत् सम्बन्धि निखिल क्रिया का ही निर्गुणत्व वर्णन स्वयं श्रीकृष्ण करते हैं (भा० ११।२५।२६)

(१३६) "सात्त्विकः कारकोऽसङ्गी रागान्धो राजसः स्मृतः ।
तामसः स्मृतिविभ्रष्टो निर्गुणो मदपाश्रयः ॥" ३७४॥

टीका—कारकः कर्त्ता, असङ्गी—अनासक्तः । रागान्धोऽत्यभिनिवेशवान् । स्मृतिविभ्रष्टो अनुसन्धान शून्यः मदपाश्रयो मदेक शरण" स हि निरहङ्कारत्वात् निर्गुणः ॥

अनासक्त भाव से जो व्यक्ति कर्म करता है, वह कर्त्ता सात्त्विक है, जो कर्त्ता, फललाभ हेतु अभिनिविष्ट है, वह राजस है, जो व्यक्ति, अनुसन्धान रहित होकर कार्य्य करता है । वह तामस है । जो व्यक्ति, एकमात्र मुझ में शरणागत है, वह निर्गुण है । यहाँ समझने की बात है कि–क्रिया में ही सात्त्विक, राजसिक, तामसिक सत्त्व का तात्पर्य्य है, किन्तु क्रियाश्रय द्रव्य में नहीं । कारण, जो सात्त्विक कार्य्य करता है, उस का शरीर सत्त्व, रजः तमोगुण का ही विकार है ॥१३६॥

(भा० ११।२५।२७)—

(१३७) "सात्त्विक्याध्यात्मिकी श्रद्धा कर्म्मश्रद्धा तु राजसी ।
तामस्यधर्म्मे या श्रद्धा मत्सेवायान्तु निर्गुणा ।।"३७५।।

अधर्म्मोऽपरधर्म्मः, अन्यत् पूर्व्ववत् ।। श्रीभगवान् ।।

१३८ । अत आह, (भा० ६।२।२४)—

(१३८) "धर्म्मं भागवतं शुद्धं त्रैवेद्यञ्च गुणाश्रयम्" इति ।

"शुद्धं निर्गुणम्, त्रैवेद्यं वेदत्रयप्रतिपाद्यं गुणाश्रयम्" इति टीका च । वेद-शब्देनात्र कर्म्मकाण्डमेवोच्यते, (गी ९।२१)--"एवं त्रयीधर्म्मम्" इत्यादेः ।। श्रीशुकः ।

१३९ । अतएव भक्तेः श्रीभगवत्स्वरूपशक्तित्वबोधकं स्वयंप्रकाशत्वमाह, (भा० ५।१४।४५)

(१३९) "यज्ञाय धर्म्मपतये विधिनैपुणाय, योगाय सांख्यशिरसे प्रकृतीश्वराय ।
नारायणाय हरये नम इत्युदारं, हास्यन् मृगत्वमपि यः समुदाजहार ।।"३७६

---

१३७ । उक्त रीति से भगवत् सम्बन्धि क्रिया मात्र का निर्गुणत्व कहकर भगवत् सम्बन्धीय क्रिया करने की हेतु रूपा श्रद्धा का निर्गुण कहते हैं—(भा० ११।२५।२०)

(१३७) "सात्त्विक्याध्यात्मिकी श्रद्धा कर्म्मश्रद्धा तु राजसी ।
तामस्यधर्म्मे या श्रद्धा मत् सेवायान्तु निर्गुणा ।।"३७५।

टीका—अधर्म्मे धर्म इति या श्रद्धा सा तामसी ।

अध्यात्म तत्त्व विषय में जो श्रद्धा—वह सात्त्विकी है, कर्मानुष्ठान में जो श्रद्धा,–वह राजसी है, अपर धर्म में जो श्रद्धा है, वह तामसी है, किन्तु मेरी सेवाहेतु जो श्रद्धा है, वह निर्गुणा है । अधर्म शब्द का अर्थ-अपर धर्म है । श्रीभगवान् कहे थे—।१३७।

१३८ । अतएव श्रीशुकदेवने (भा० ६।२।२४) में कहा है—

(१३८) "धर्म्मं भागवतं शुद्धं त्रैवेद्यञ्च गुणाश्रयम् " इति ।

टीका—त्रैवेद्यं—वेद त्रय प्रतिपाद्यं गुणाश्रयं यमदूतानां धर्मं कृष्णदूतानाञ्च भागवतं भगवत् प्रणीतं, शुद्धं, निर्गुणं धर्ममाकर्ण्येति योज्यम् । भक्तिमानासीदित्युत्तरस्यानुषङ्गः ।

हे राजन् ! भगवत् प्रणीत धर्म शुद्ध है, अर्थात् मायागुण संस्पर्श रहित होने के कारण निर्गुण है । श्रीविष्णु दूत गण के द्वारा वर्णित भागवत धर्म को अजामिल सुने थे, एवं यमदूतगण कर्त्तृक वर्णित वेदत्रय प्रतिपाद्य त्रिगुणमय धर्म्म को भी सुने थे । तत् पश्चात् श्रीविष्णु दूतगण द्वारा वर्णित भागवत धर्म श्रवण करके तत् क्षणात् श्रीभगवान् में भक्तिमान् भी हुये थे । यहाँ वेद शब्द से कर्म्मकाण्ड ही लक्षित हुआ है । कारण गीता में ९।२१ में उक्त है—

"एवं त्रयी धर्ममनुप्रपन्ना गतागतं काम कामा लभन्ते" ।।

प्रवक्ता श्रीशुक हैं—१३८।।

१३९ । अतएव भक्ति, जो भगवान् की स्वरूप शक्ति है, उसका वर्णन स्वयं प्रकाश धर्म के द्वारा सुस्पष्ट रूप से भा० ५।१४ ५४ में किया गया है ।

य आर्षभेयो भरतः, मरणसमये तत्रापि मृगशरीरे, तद्वचनजन्मात्यन्तासम्भवात् स्वप्रकाशत्वमेव तस्याः कीर्त्तनलक्षणाया भक्तेः सिद्धयति । एवं गजेन्द्रेऽपि ज्ञेयम् ।। श्रीशुकः ।।

१४० । परमसुखरूपत्वञ्च दृश्यते । तत्र साधनदशायाम् (भा० १।२।२२) "अतो वै कवयो नित्यं भक्ति परमया मुदा" इत्यादौ, (भा० ११।१८।१२) "कर्म्मण्यस्मिन्ननाश्वासे" इत्यादौ च तद्रूपत्वाभिव्यक्ति-र्दर्शितैव । सिद्धदशायान्तु सुतरां तत् प्रकटीभवति, यथा (भा० ६।४।३७)

---

(१३) 'यज्ञाय धर्म्मपतये विधिनैपुणाय, योगाय सांख्यशिरसे प्रकृतीश्वराय ।
नारायणाय हरये नम इत्युदारं, हास्यन् मृगत्वमपि यः समुदाजहार ।।" ३७६।।

टीका—तस्य सेवानुरागमाह । यज्ञायेति । यज्ञ रूपाय धर्मपतये यज्ञादि फलदात्रे । विधौ नैपुण्यं यस्यतस्मै धर्मानुष्ठात्रे योगोऽष्टाङ्गस्तस्मै । सांख्यं ज्ञानं तच्छिरः, प्रधान फलं यस्तु तस्मै योगाय । प्रकृतीश्वराय-मायानियन्त्रे, अतएव नारं, जीव समूह, अरणमाश्रयो यस्य तस्मै सर्व जीव नियन्त्रे । एवं कर्म ज्ञान देवता काण्डैः प्रति पादिताय हरये नम इति उदारम् उच्चैः यः सम्यगुच्चारितवान् । मृगत्वं, मृगदेहमपि हास्यन् त्यक्ष्यन् । य एवम्भूतः तस्य तदुचितमिति वा, तस्यानुवर्त्म नार्हतीति वा सम्बन्धः ।

महा भागवत भरत, द्वितीय जन्म में मृगदेह प्राप्त किये थे, किन्तु पूर्व जन्म के संस्कार हेतु मृगदेह त्याग के समय उन्होंने उच्चैःश्वर से कहा था—'जो यज्ञ पुरुष, यज्ञादि फल दाता, यथाविधि धर्मानुष्ठान कारी, अष्टाङ्ग योग स्वरूप, आत्मानात्म विवेक के मूल स्वरूप, मायानियन्ता, सर्व जीवान्तर्यामी हैं, मैं उन श्रीहरि को नमस्कार करता हूँ । अर्थात् जो कर्म, ज्ञान, एवं देवता काण्ड के प्रति पाद्य हैं, उन श्रीहरि को मैं आत्म समर्पण कर रहा हूँ । इस प्रकार कहते कहते मृगदेह को परित्याग किये थे । इस प्रकरण में ज्ञातव्य यह है कि भरत—मृत्यु यन्त्रणाग्रस्त थे, उस में भी मृग शरीर में श्रीभगवन् नामात्मक वाक्यस्फूर्त्ति होना अत्यन्त असम्भव है । कारण, पशु पक्षी प्रभृति शरीर में जो रसना है, उस में ध्वनि उच्चारित होने की ही सम्भावना है, किन्तु हरि, कृष्ण प्रभृति वर्णोच्चारण की सामर्थ्य नहीं है । एक ओर मृत्यु समय दूसरी ओर मृगशरीर, उस में भी भरत ने सुस्पष्ट रूप से श्रीभगवन्नामोच्चारण किया था । इस से सुस्पष्ट प्रतीत होता है कि, वह कीर्त्तन लक्षणा भक्ति, रसना की अपेक्षा नहीं करती--किन्तु स्वयं प्रकाशित होती है । श्रीहरि भक्ति, यदि स्वरूप शक्ति की वृत्ति स्वरूपा नहीं होती तो जिह्वा प्रभृति की अपेक्षा न करके स्वयं प्रकाशित नहीं हो सकती । इस प्रकार गजराज के विषय में भी जानना होगा ।

प्रवक्ता श्रीशुक हैं ।। १३९।।

१४० । भगवद् भक्ति- परम सुख स्वरूपिणी है, उसका वर्णन श्रीमद्भागवत में है । उसके मध्य में साधन अवस्था में भक्ति का परम सुख रूपत्वका वर्णन भा० १।२।२२ में है—

"अतो वै कवयो नित्यं भक्ति परमया मुदा ।
वासुदेवे भगवति कुर्वन्त्यात्मप्रसादनीम् ।।"

टीका—तत्र सदाचारं दर्शयन् उपसंहरति अत इति । आत्म प्रसादनीं मनः शोधनीं वासुदेवे भक्ति कुर्वन्तीति भजनीय विशेषोदर्शितः ।

अतएव सुविज्ञ जन, परम आनन्द के सहित भगवान् श्रीवासुदेव में नित्य मनः शोधनी भक्ति करते रहते हैं । इस श्लोक में 'परमया मुदा' इस प्रकार उल्लेख के द्वारा साधन दशा में भी भक्ति अनुष्ठान में परमानन्द धर्म प्रदर्शित हुआ है । उस प्रकार भा० ११।१८।१२ में वर्णित है—

(१४०) "मत्सेवया प्रतीतन्ते सालोक्यादिचतुष्टयम् ।
नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत् कालविप्लुतम् ।।"३७७।।

अत्रान्यस्य कालविप्लुतत्वमिति सेवायास्तदभावप्राप्तै निर्गुणत्वं सिद्धम् । अत्र कालविप्लुतं सालोक्यादिभ्यो ऽतिशये तु किमुतेति ।। श्रीविष्णुर्दुर्व्वाससम् ।।

१४१ । श्रीभगवद्विषयक-रतिप्रदत्वमुक्तम् (भा० ७।७।३३) "एवं निर्जितषड़्वर्गैः क्रियते भक्तिरीश्वरे" इत्यादिना । यत्तु (भा० ५।६।१८) "अस्त्वेवमङ्ग भजतां भगवान् मुकुन्दो, मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम्" इत्युक्तचापि तद्रतिर्न प्राप्यत इति शङ्क्यते, तत्

"कर्म्मण्यस्मिन्ननाश्वासे धूमधूम्रात्मनां भवान्
आपाययति गोविन्द पादपद्मासवं मधु ।।"

टीका—किञ्च अस्मिन् कर्मणि सत्रे अनाश्वासे अविश्वसनीये । वैगुण्यं बाहुल्येन फलति निश्चया भावात् । धूमेन धूम्रः विवर्ण आत्मा शरीरं येषां तान् अस्मान् । कर्म्मणि षष्ठी । आसवं मकरन्दं, मधु मधुरम् ।

श्रीशौनकादि ऋषि गण कहे थे—हे सूत ! विघ्न बाहुल्य वशतः फललाभ में अविश्वसनीय कर्मात्मक यज्ञीय धूम से हमारे शरीर एवं मन विवर्ण हो गये हैं । इस प्रकार हम सब को आप श्रीगोविन्द चरण कमल मधु आस्वादन कराकर आप्यायित कर रहे हैं । श्रीसुत एवं श्रीशौनकादि की उक्ति से श्रीभगवद् भक्ति की आनन्द स्वरूपता सुस्पष्ट रूप से प्रकाशित हुई है । साधन दशा में ही जब भक्ति आनन्द स्वरूपिणी है, तब सिद्ध दशा में भक्ति परि पूर्ण आनन्द स्वरूपिणी होकर सुतरां प्रकटित होती है । उस का वर्णन भा० ९।४।६७ में है—

(१४०) "मत् सेवया प्रतीतन्ते सालोक्यादिचतुष्टयम् ।
नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत् कालविप्लुतम् ।।"३७७।।

श्रीवैकुण्ठ नाथ—दुर्वासा को कहे थे—मुनिवर ! निष्काम भक्त वृन्द मेरी सेवा के द्वारा अनायास प्राप्त सालोक्यादि चतुर्विध मुक्ति को नहीं चाहते हैं, कारण वे सब सेवानन्द से ही परिपूर्ण काम होते हैं, सुतरां काल कवलीकृत स्वर्गादि सुख लिप्सु वे सब होते ही नहीं । स्वर्गादि सुख को काल विनाशी प्रति पादन करने के कारण—श्रीभगवत् सेवा रूपा भक्ति जो काल विनाशी नहीं है, वह सुस्पष्ट हुआ । अतएव भक्ति का निर्गुणत्व भी प्रति पादित हुआ । श्रीविष्णु दुर्वासा को कहे थे ।।१४०।।

१४१ । श्रीभगवद् विषयक प्रीति प्रदत्व का वर्णन भा० ७।७।३३ में है—

"एवं निर्जित षड़्वर्गैः क्रियते भक्तिरीश्वरे ।
वासुदेवे भगवति मया संलभ्यते रतिः ।।

टीका—निर्जितः षण्णां काम क्रोध लोभ मोह मद मात्सर्य्याणाम् इन्द्रियाणां वा वर्गो यैः ।

श्रीप्रह्लाद, असुर बालक वृन्द को कहे थे—हे भ्रातृ वृन्द ! श्रीगुरु शुश्रूषा प्रभृति भक्त्यङ्ग का अनुष्ठान करते करते काम क्रोधादि षड़्वर्ग अथवा इन्द्रियादि के वेग पराजित होते हैं । अनन्तर लय विक्षेप शून्य हृदय में भगवद् भक्ति का अनुष्ठान करते करते भगवान् परमेश्वर वासुदेव में रतिलाभ होता है । इत्यादि वर्णनों से प्रति पादित होता है कि—साधन भक्ति में श्रीभगवान् में रति प्रदान सामर्थ्य प्रचुर परिमाण में है । किन्तु भा० ५।६।१८ में उक्त है—

"राजन् पतिर्गुरुरलं भवतां यदूनां दैवं प्रियः कुलपतिः क्वचकिङ्करो वः ।

खल्वविवेकादेव, कर्हिचिदिति भक्तियोगाख्य-तद्रतिपुरुषार्थतायां शैथिल्ये सत्येवेत्यर्थलाभात्, कर्हिचिदपीत्यनुक्तत्वात्, "असाकल्ये तु चिच्चनौ" इत्यमरकोषाच्च। तथापि यद्यपि चिरमावृत्तिः स्यात्तदा रतिमपि ददाति, (भा० ५।१९।२६) "सत्यं दिशत्यर्थितमर्थितो नृणाम्"

अस्त्वेवमङ्ग भजतां भगवान् मुकुन्दोमुक्ति ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम् ॥

टीका—"ननु भगवतोऽतिसुलभत्वदर्शनात् मोक्षस्य चाति दुर्ल्लभत्वादियमतिस्तुति रेवेत्याशङ्क्याह। हे राजन्! भवतां पाण्डवानां यदूनाञ्च पतिः पालकः, गुरुः, उपदेष्टा, दैवमुपास्यः, प्रियः सुहृत् कुलस्य पतिर्नियन्ता, किं बहुना क्वच कदाचिद् दौत्यादिषु वः पाण्डवानां किङ्करोऽपि आज्ञानुवर्त्ती। अस्तु नामैवं तथापि अन्येषां नित्यं भजतामपि मुक्ति ददाति, नतु कदाचिदपि स प्रेमभक्ति योगम् ॥"

भगवान् मुकुन्द, निज पाद पद्म में भक्ति अनुष्ठानकारी भक्त वृन्द को मुक्ति दान करते हैं, किन्तु कभी भी "प्रेम भक्ति" दान नहीं करते हैं। इस उक्ति से प्रतीत होता कि,—साधन भक्ति के द्वारा भगवत् चरणों में रति लाभ नहीं होता है। इस प्रकार संशय उपस्थित होता है। किन्तु वह संशय, अविचार से ही उत्पन्न होता है, कारण, विचार करने से दृष्ट होता है कि—मूल श्लोक में "कर्हिचित्" पद का उल्लेख हुआ है, किन्तु कर्हिचिदपि पद का प्रयोग नहीं हुआ है। कारण—असाकल्य अर्थ में ही 'चित् एवं चन' प्रत्यय होता है। कारण, अमरकोष में उक्त है—"असाकल्येचित्चनौ" अर्थात् असर्वकाल, असर्वदेश, असर्व पात्र विशेष में ही 'चित् एवं चन' प्रत्यय का प्रयोग होता है। मूल में उल्लिखित 'कर्हिचित्' पद का अर्थ है,—कभी दान नहीं करते हैं। किन्तु यदि कहते कि—'कर्हिचिदपि' तब अर्थ होता कभी भी नहीं देते। इस से उक्त आशङ्का होती। मूल श्लोकस्थ 'कर्हिचित्' पद से कभी दान नहीं करते हैं, इस प्रकार अर्थ होता है। कर्हिचित् शब्द के सहित अपि शब्द का प्रयोग न होने से समझना होगा कि—जिस रति का नाम भक्तियोग है, वह भक्ति योग नामक भगवद् रति ही परम पुरुषार्थ है। जब तक उस पुरुषार्थ में अर्थात् श्रीभगवान् में रति ही मूल प्रयोजन है, इस प्रकार निश्चयकर उस की प्राप्ति हेतु आकुल आकाङ्क्षा नहीं होती है, तब तक ही श्रीभगवान् भक्ति साधक को निज चरणार विन्द में प्रीति वा रति प्रदान नहीं करत हैं। 'कर्हिचित्' पद से यही अर्थ होता है।

"तेषां सतत युक्तानां भजतां प्रीति पूर्वकम्।
ददामि बुद्धि योगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥"

इस रीति से प्रीति पूर्वक सतत भजन यदि होता है, तो भगवान् रति भी प्रदान करते हैं,। 'कर्हिचित्' पदका सार्थक उदाहरण भा० ५।१९।२६ में है—

"सत्यं दिशत्यर्थितो नृणां नैवार्थदो यत् पुनरर्थिता यतः।
स्वयं विधत्ते भजतामनिच्छतामिच्छापिधानं निजपादपल्लवम् ॥"

टीका—तत्रापि निष्कामाः कृतार्था इत्याहुः सत्यमिति। प्रार्थितः सन् अर्थितं ददातीति सत्यं तथापि परमार्थदो न भवत्येव। यद् यस्मात् यतो दत्तादनन्तरं पुनरपि अर्थिता भवति। ननु नार्थितश्चेत्, किमपि न दद्यात्, इत्याशङ्क्याहुः। अनिच्छतां निष्कामाणान्तु इच्छानां पिधानमाच्छादकं, सर्वकामपरिपूरकं निजपाद पल्लवं स्वयमेव सम्पादयति ॥

प्रार्थित वस्तु प्रदान करने से पुनर्वार अतृप्त होकर प्राप्त करने की वासना होती है, अतः एक समय वैसा ही करते हैं, जिस से प्रार्थना करने का विवर सुरभित हो जाय, अर्थात् विषय तृष्णा उद्गम के विवर में निज पद पल्लव ही दे देते हैं, जिससे समस्त तृष्णा श्रीचरणारविन्द की दास्य गन्ध से सुरभित

इत्यादेरिति च कर्हिचित्--पदेन गम्यते ।

भक्तविषयक- भगवत् प्रीत्येकहेतुत्वमप्युदाहृतम् (भा० ७।७।५१) "नालं द्विजत्वं देवत्वम्" इत्यादि । तथा चाह (भा० ७।९।९) —

(१४१) "मन्ये धनाभिजनरूपतपःश्रुतौज,-स्तेजः प्रभाव-बलपौरुषबुद्धियोगाः ।
नाराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो, भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाय ।।'३७८

अभिजनः सत्कुलजन्म, बुद्धिर्ज्ञानियोगः, योगोऽष्टाङ्गः ।। प्रह्लादः श्रीनृसिंहदेवम् ।।

१४२ । ननु निरतिशय-नित्यानन्दरूपस्य भगवतः कथं तया सुखमुत्पद्येत, निरतिशयत्व-नित्यत्वयोर्विरोधात् ? उच्यते,--शास्त्रे खलु निरतिशयानन्दत्वं नित्यत्वञ्च भगवतः श्रूयते,

---

होकर ही निकलें । कभी विषय प्रदान करते हैं, कभी तो सोचते हैं, विषय प्रार्थना से इसे मुक्त कर दूँ, अतः स्व चरण पद्म प्रदान जिस प्रकार करते हैं, उस प्रकार कभी भक्ति योग भी देते हैं, अर्थात् जब तक योग्य नहीं होता, अर्थात् विषय लोलुपता रहती है, तब तक भक्ति योग नहीं देते हैं । भक्ति प्राप्ति हेतु महती उत्कण्ठा होने से सत्वर प्रदान करते हैं ।

एकमात्र भक्ति योग के द्वारा ही भगवान् सन्तुष्ट होते हैं उसका उदाहरण भा० ७।७।५१ में है—

"नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वासुरात्मजाः ।
प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता ।।"

श्रीप्रह्लाद ने असुर बालकों को कहा था—हे असुर बालक वृन्द ! द्विजत्व, देवत्व, ऋषित्व, बहु वैभव शालित्व किं वा बहु शास्त्राभिज्ञता मुकुन्द की प्रीति सम्पादन नहीं कर सकती है । उस प्रकार श्रीनृसिंह देव को स्तव करके प्रह्लाद कहे थे—भा० ७।९।९

(१४१) "मन्ये धनाभिजनरूपतपःश्रुतौज,-स्तेजः प्रभाव-बलपौरुषबुद्धियोगाः ।
नाराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो, भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाय ।।"३७८।।

टीका—हरितोषणे स्वस्यायोग्यतामाशङ्क्य योग्यतां सम्भावयति मन्य इति द्वाभ्याम् । अभिजनः सत् कुले जन्म । रूपं—सौन्दर्य्यम् । श्रुतं पाण्डित्यम् । ओज इन्द्रिय नैपुण्यम् । तेजः कान्तिः । प्रभावः प्रतापः । बलं शारीरम् । पौरुषम् उद्यमः । बुद्धिः प्रज्ञा । योगोऽष्टाङ्गः । एते धनादयो द्वादश अपि गुणाः परस्य पुंसः आराधनाय न भवन्ति । हि यतः केवलया भक्त्यैव गजेन्द्राय तुष्टोऽभवत् ।।

मेरा विश्वास यह है कि—धन, सत् कुल में जन्म, रूप, तपस्या, वेदाभिज्ञता, ऐन्द्रियक बल, कान्ति, प्रताप, शरीरिक बल, उद्यम, ज्ञान योग एवं अष्टाङ्ग योग--इन द्वादशों के मध्य में हे परम पुरुष ! एक भी तुम्हारे सन्तोष विधान करने में समर्थ नहीं है । किन्तु एकमात्र भक्ति के द्वारा ही भगवान् प्रसन्न होते हैं, तज्जन्य केवल भक्ति से ही गजेन्द्र के प्रति भगवान् प्रसन्न हुये थे । उक्त प्रमाण द्वय के द्वारा प्रतिपादित हुआ कि—एकमात्र भक्ति द्वारा ही भगवान् भक्त के प्रति सु प्रसन्न होते हैं ।

प्रह्लाद—श्रीनृसिंह देव को कहे थे ।।१४१।।

१४२। उक्त विषय में प्रश्न हो सकता है कि--निरतिशय नित्य आनन्द स्वरूप ही भगवान् हैं, उनका सन्तोष भक्ति के द्वारा कैसे हो सकता है । भक्ति के द्वारा भगवान् यद्यपि सन्तुष्ट होते हैं, तथापि भगवत् स्वरूपानन्द में निरतिशयत्व एवं नित्यत्व का व्याघात उपस्थित होता है । कारण, जो निरतिशय है,

भक्तेरपि तथा तत्प्रीतिहेतुत्वं श्रूयते, तत एवं गम्यते,—तस्य परमानन्दैकरूपस्य स्वपरानन्दनी स्वरूपशक्तिर्या ह्लादिनीनाम्नी वर्त्तते, प्रकाशवस्तुनः स्वपरप्रकाशन-शक्तिवत् तत्परमवृत्तिरूपैवैषा। ताञ्च भगवान् स्ववृन्दे निक्षिपन्नेव नित्यं वर्त्तते। तत्सम्बन्धेन च स्वयमतितरां प्रीणातीति। अतएव तस्य प्रीतिरूपस्यापि भक्तिप्रीणनीयत्वमाह, (भा० ५।१५।१३)

(१४२) "यत्प्रीणनाद्वर्हिषि देव-तिर्य्यङ्-मनुष्य-वीरुत्तृणमाविरिञ्चात्।
प्रीयेत सद्यः स ह विश्वजीवः, प्रीतिः स्वयं प्रीतिमगाद्गयस्य॥"३७८॥

विश्वजीवः सर्व्वजीवनहेतुः, देवादीनां द्वन्द्वैक्यम्, प्रीतिः सुखरूपोऽपि॥ श्रीशुकः॥

१४३। अतएव तथाभूतत्वेनात्मारामस्य पूर्णकामस्यापि तस्य क्षुद्रगुणवस्त्वपि परितोषाय

अर्थात् जिस से अधिक अपर कुछ भी नहीं हैं, एवं जो ध्वंस प्रागभाव रहित है। उसका यदि अतिशय सुख होता है, तो निरतिशयत्व एवं नित्यत्व का व्याघात होना अवश्यम्भावी है। इस के उत्तर में कहते हैं—उच्यते। अर्थात् इस विषय में सार सिद्धान्त को कहते हैं। शास्त्र में श्रीभगवत् स्वरूप का वर्णन निरतिशय आनन्द एवं नित्य रूप में हुआ है। एवं भक्ति का वर्णन, भगवत् सुख हेतु रूप में हुआ है। अतएव उक्त वाक्य की सामञ्जस्यरक्षा करके ही सिद्धान्त करना समीचीन है। उस से बोध होता है कि—श्रीभगवान् अनन्तस्वरूप सम्पन्न होने पर भी मुख्य परमानन्द विग्रह हैं। उनकी ह्लादिनी नाम्नी जो स्वरूप शक्ति है--वह शक्ति श्रीभगवान् को स्वरूपानन्दास्वादन कराने में एवं भक्त वृन्द को भगवत् सेवा सुखास्वादन कराने में सक्षम है। जिस प्रकार सूर्य्य—निज प्रकाश शक्ति के द्वारा निज को एवं अपर वस्तु समूह को प्रकाशित करने में सक्षम है, उस प्रकार प्रकाश शील वस्तु का स्वभाव यह है कि—वह स्वयं को एवं अपर को प्रकाश करने में समर्थ है, उस ह्लादिनी शक्ति की परम वृत्ति रूपा यह भक्ति है, उक्त शक्ति को भगवान् भक्त वृन्द में निक्षेप करके नित्य विद्यमान हैं। अतएव ह्लादिनी शक्ति की सार वृत्ति रूपा प्रीति लक्षणा भक्ति के द्वारा भगवान् अतिशय सन्तुष्ट होते हैं।

अतएव स्वयं सुखरूप श्रीभगवान् भक्ति से ही अतिशय प्रीत होते हैं--इस का उदाहरण भा० ५।१५।१३ में है—

(१४२) "यत् प्रीणनाद्वर्हिषि देव-तिर्य्यङ्,-मनुष्य-वीरुत्तृणमाविरिञ्चात्।
प्रीयेत सद्यः स ह विश्वजीवः, प्रीतिः स्वयं प्रीतिमगा द्गयस्य॥"३७९॥

टीका—यस्य भगवतः प्रीणनात्। देवादीनां द्वन्द्वैक्यम्, तत् सद्यः प्रीयेत। प्रीतिं गच्छेत्। स विश्व जीवः सर्वान्तर्य्यामी स्वयं प्रीति रूप एव। वर्हिषि यज्ञे गयस्य, ह स्फुटं—प्रीतिमगात्, तृप्तोऽस्मीति--प्रत्यक्षं प्रीतिमाविष्कृतवानित्यर्थः।

विश्व जीव—शब्द का अर्थ— सर्व जीवन हेतु है। प्रीति—अर्थात् भगवान् सुख रूप होकर भी सुखी हुये थे। अर्थात् जो श्रीभगवान्, सन्तुष्ट होने पर देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, लता, तृण, प्रभृति समस्त ब्रह्माण्ड तृप्त होते हैं, उन सर्व जीवन हेतु श्रीभगवान् स्वयं सुखरूप होकर भी गय राजा के यज्ञ में 'तृप्तोऽस्मि' 'मैं परितृप्त हूँ।' इस प्रकार कहकर स्वीय तृप्ति को प्रकट किये थे।

प्रवक्ता श्रीशुक हैं॥१४२॥

१४३। अतएव यद्यपि श्रीभगवान् परमानन्द स्वरूप होने के कारण ही निज स्वरूपानन्द में विभोर

कल्पत इति दृष्टान्तेनाह, (भा० १।११।४–५)—

(१४३) "तत्रोपनीतवलयो रवेर्दीपमिवादृताः ।
आत्मारामं पूर्णकामं निजलाभेन नित्यदा ॥३८०॥
प्रीत्युत्फुल्लमुखाः प्रोचुर्हर्षगद्गदया गिरा ।
पितरं सर्व्वसुहृदमवितारमिवार्भकाः ॥"३८१॥

तत्र श्रीद्वारकायाम्, रवेरुपहाररूपं दीपमादृतवन्तो जना इवेत्यर्थः । एवं स्तुत्यादिकमपि तत्-प्रीणनतामर्हतीत्याह,—प्रीत्येति । पितरमर्भका इवेति दृष्टान्तः । तस्य प्रीतावसाधारणं गुणविशेषमप्याह,—सर्व्वसुहृदमिति । सर्व्वसुहृत्त्वे लिङ्गम्--'अवितारम्' इति । तथा आत्माराम-पूर्णकामत्वेऽपि तादृशस्य-स्वसम्बन्धाभिमानि–प्रीतिमत्पुत्रादिषु प्रीतिविशेषोदयो

रहते हैं, तज्जन्य आप आत्माराम एवं पूर्णकाम हैं, तथापि क्षुद्र गुण सम्पन्न वस्तु भी उनके सन्तोष सम्पादन में योग्य है, इसका वर्णन भा० १।११।४-५ में उक्त दृष्टान्त के द्वारा करते हैं—

(१४३) "तत्रोपनीतवलयो रवेर्दीपमिवादृता ।
आत्मारामं पूर्णकामं निजलाभेन नित्यदा ॥३८०॥
प्रीत्युत्फुल्लमुखाः प्रोचुर्हर्षगद्गदया गिरा ।
पितरं सर्व्वसुहृदमवितारमिवार्भकाः ॥"३८१॥

द्वारका वासि प्रजावृन्द, यद्यपि जानते थे कि—श्रीकृष्ण, आत्माराम एवं परमानन्द स्वरूप होने के कारण सर्वदा ही पूर्णकाम हैं, तथापि सूर्य्य पूजा में प्रदीप प्रदान के समान, द्वारका वासि प्रजावृन्द, वहाँपर विविध उपहार आनयन किये थे । एवं बालक गण, जिस प्रकार प्रीति संपृक्त हृदय से पिता को अनेक कुछ कहते हैं, उस प्रकार ही वे सब प्रीति प्रफुल्ल वदन से हर्षगद् गद वाक्य द्वारा सर्व लोक सुहृत् एवं रक्षक उन भगवान् श्रीकृष्ण को कहने लगे थे। तात्पर्य्य यह है कि—यद्यपि भगवान् परम आनन्द स्वरूप हैं, तथापि भक्ति पूर्वक उनका स्तव करने से सन्तुष्ट होते हैं । इस विषय में दृष्टान्त यह है – बालक वृन्द, जिस प्रकार परमविज्ञ पिता को प्राप्त कर कल वाक्य से तात्पर्य्य शून्य अनेक कुछ कहते हैं, पिता परम विज्ञ होने पर भी "अमृतं बालभाषितम्" इस उक्ति से सन्तोष प्राप्त करते हैं, उस प्रकार श्री भगवान् श्रीकृष्ण, समस्त शक्ति पति होकर भी निज भक्त वृन्द के प्रीति पूरित कण्ठ से कृत स्तुति से भी सन्तोष प्राप्त करते हैं । भक्त कृत स्तुति से भगवान् सन्तुष्ट होते हैं—उस में उनका असाधारण गुण विषय का वर्णन करते हैं । "सर्व सुहृदम्" अर्थात् आप सर्व जीव के हितकर बन्धु हैं । आप सर्व सुहृद हैं, उस में एक दृष्टान्त यह है--- 'अवितारम्' अर्थात् सबके रक्षक हैं । अतएव आप आत्माराम एवं पूर्णकाम होकर भी निज सम्बन्धाभिमानी प्रीतियुक्त पुत्रादि के प्रति पिता प्रभृति की प्रीति जिस प्रकार होती है, उस प्रकार श्रीभगवान् के सहित दास सखा, प्रभृति सम्बन्ध के अभिमान कारी अथच श्रीभगवान् में जो लोक प्रीति युक्त हैं, उन सब भक्त के प्रति श्रीभगवान् आनन्द स्वरूप होकर भी प्रीति युक्त होते रहते हैं । इस प्रकार जहाँ जहाँ श्रीभगवान् को कल्प तरु स्थानीय कहकर दृष्टान्त दिया जाता है, वहाँ वहाँ समझना होगा कि—कल्पतरु जिस प्रकार आश्रित जन के सङ्कल्प पूरण करते हैं, श्रीभगवान् भी भक्ति विषय में अनुरूप कृपा प्रकाश उस प्रकार करते हैं । जो लोक, श्रीभगवच्चरणों में प्रीति कामना करके उनका भजन करते हैं—उन सब के प्रति अनुरूप प्रीति प्रदान का याथार्थ्य अवश्य स्वीकार्य्य है । कारण, कल्पतरु प्रार्थिव्यक्ति की प्रार्थना पूरण जिस प्रकार करते

यथा दृश्यते, तथा तेषु तं प्रीतिमन्तमित्यर्थः। एवं कल्पतरुदृष्टान्तेऽपि भगवतो भक्ति विषयिका कृपा यथार्थमेवोपपद्यते,— ये खलु सहजतत्प्रीतिमेवात्मनि प्रार्थयमाना भजन्ते, तेभ्यस्तद्दान-याथार्थ्यस्यावश्यकत्वात्। तस्मादस्त्येवानन्दरूपस्यापि भक्तावानन्दोल्लास इति। सूतः॥

१४४। एवं भक्तिरूपायास्तच्छक्तेर्जीवेऽभिव्यक्तौ भगवानेव कारणम्। तत्तदिन्द्रियादिप्रवृत्तौ च स एवेति तस्मिंस्तया जीवस्योपकारकाभासत्वमेव। तथापि भक्तानुरज्यदात्मत्वे भगवतः स्वकृपाप्राबल्यमेव कारणमिति वदत् पूर्व्वार्थमेव साधयति, (भा० १२।८।४०) —

(१४४) "किं वर्णये तव विभो यदुदीरितोऽसुः
संस्पन्दते तमनु वाङ्मनइन्द्रियाणि।
स्पन्दन्ति वै तनुभृतामज-शर्वयोश्च
स्वस्याप्यथापि भजतामसि भावबन्धुः॥"३८२॥

हैं, एवं वाञ्छित पूरण करना धर्म जिस प्रकार आगन्तुक अथवा अभिनय नहीं है, किन्तु स्वभाव सिद्ध है, उस प्रकार ही जो लोक, श्रीभगवान् के प्रति अकपट प्रीति प्रार्थना करके भजन करते हैं, उन सब को स्वयं के प्रति अकपट स्वाभाविक प्रीति प्रदान भी श्रीभगवान् का स्वरूप धर्म है, आगन्तुक वा अभिनय नहीं है। अतएव आनन्द स्वरूप श्रीभगवान् में भक्ति जनित आनन्दोल्लास अवश्य है।

प्रकरण प्रवक्ता श्रीसूत हैं ॥१४३॥

१४४। इस प्रकार भक्ति स्वरूपा भगवत् शक्ति का आविर्भाव जीव में होने का कारण श्रीभगवान् ही हैं। यद्यपि जीव मात्र की बुद्धि इन्द्रिय प्रभृति की स्वस्व विषय में प्रवृत्ति के प्रति कारण भी श्रीभगवान् ही है। इन्द्रिय वृन्द को निज निज विषयों में प्रवृत्ति प्रदान कर श्रीभगवान् जो उपकार करते रहते हैं, वह यथार्थतः उपकार नहीं है--उपकार का आभास मात्र है। तथापि श्रीभगवान् भक्त के प्रति जो अनुरक्त चित्त होते हैं, उसका कारण ही है—श्रीभगवान् में असाधारणी कृपा का प्राबल्य। अर्थात् श्रीभगवान् की कृपा—साधारणी एवं असाधारणी भेद से द्विविध हैं, उस के मध्य में भगवद् वहिर्मुख साधारण जीव मात्र के बुद्धीन्द्रिय प्रभृति को निज निज विषयों में प्रवृत्त होने की सामर्थ्य प्रदान, भगवान् करते हैं, वह उनकी असाधारणी कृपा है, अथवा, आपाततः दृष्टि से उसको कृपा मानते हैं, किन्तु वह वास्तविक कृपा नहीं है। कारण, जड़ीय वस्तु भोग हेतु जीव मात्रके इन्द्रिय वृन्द को प्रवृत्ति प्रदान करके निज स्वरूपानन्दास्वादन से वञ्चित करना ही होता है, अतः उस साधारणी कृपा का नाम कृपाभास ही है। अपर कृपा—असाधारणी है, अर्थात् जिस कृपा से जीव, बुद्धीन्द्रिय द्वारा जड़ीय वस्तु ग्रहण करने में अरुचि प्राप्त कर श्रीभगवत् स्वरूपानन्दास्वादन बुद्धीन्द्रिय के द्वारा करने में उन्मुख होता है। उसका नाम ही श्रीभगवान् की असाधारणी कृपा है। प्राप्त महत् सङ्ग सम्पन्न जीव ही इस प्रकार कृपा पात्र करने का अधिकारी होता है. शास्त्र, इस कृपा को ही जीव के प्रति श्रीकृष्ण का परम कारुणिकत्व की अभिव्यक्ति कहते हैं। भक्त में श्रीभगवान् का चित्त जो अनुरक्त होता है, उस के प्रति श्रीभगवान् की निज कृपा ही मूल कारण है। इस को कहने के निमित्त भा० १२।८।४० में श्रीमार्कण्डेयऋषि पूर्व वर्णित तात्पर्य्य का वर्णन करते हैं—

(१४४) "किं वर्णये तवविभो यदुदीरितोऽसुः
संस्पन्दते तमनु वाङ् मन इन्द्रियाणि।

हे विभो, तव किमहं वर्णये,—त्वत्कृपालुतायाः कियन्तमंशं वर्णयेयमित्यर्थः। यतो येन त्वयैव उदीरितः प्रेरितोऽसुः प्राणः संस्पन्दते प्रवर्त्तते, तमसुमनु च वागादयः स्पन्दन्ते। तत्र हेतुः—'वै' अन्वय-व्यतिरेकाभ्याम् (वृ० ४।४।१८) "श्रोत्रस्य श्रोत्रम्" इत्यादि-श्रुतिभिश्च तत् प्रसिद्धमित्यर्थः। न केवलं प्राकृतानां तनुभृताम्, किन्तु अज-शर्वयोश्च। अतः स्वस्य ममापि तथैव। एवं यद्यपि न क्वचिदपि कस्यापि स्वातन्त्र्यम्, तथापि दारुयन्त्रवत् त्वत्प्रवर्त्तितैरपि वागादिभिर्भजतां पुंसां भावेन स्वदत्तयैव भक्त्या बन्धुरसीति॥ मार्कण्डेयः श्रीनर-नारायणौ।

१४५। भगवदनुभव-कर्त्तृत्वेऽनन्यहेतुत्वमाह, (भा० १।८।३६)—

(१४५) "शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः, स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः।

स्पन्दन्ति वै तनुभृतामजशर्वयोश्च
स्वस्याप्यथापि भजतामसि भावबन्धुः॥"३८२॥

अन्तर्यामी श्रीभगवान् ही प्राणादि इन्द्रिय वर्ग का प्रवर्त्तक हैं। उनकी प्रेरणा से ही तनु, वाक् मन, इन्द्रिय प्रभृति निज निज क्षेत्र में कार्य्यक्षम होते हैं। अतएव श्रीभगवान् का स्तव करते समय अपनी कुछ भी सामर्थ्य नहीं है, यह अनुभव करके श्रीमार्कण्डेय बोले थे,—हे विभो! मैं कैसे आप का स्तव कर सकता हूँ? आप के द्वारा प्रेरित होकर ही प्राण निःश्वासादि में क्रिया कारित्व होता है, आप की प्रेरणा से ही शरीर धारी जीव मात्र की, यहाँतक-कि—ब्रह्मा, शिव, एवं मेरी वाक्यमन, इन्द्रिय प्रभृति ज्ञान एवं क्रिया शक्ति सम्पन्न होते हैं। अतएव किसी में भी स्वतन्त्र रूप से कुछ भी करने की सामर्थ्य नहीं हैं। तथापि आप के द्वारा प्रवर्त्तित वाक् प्रभृति इन्द्रय के द्वारा जो लोक आप का भजन करते रहते हैं, उनके पक्ष में आप के द्वारा प्रदत्त भक्ति के द्वारा ही आप उन सब के भावबन्धु रूप में प्रकाशित होते हैं। अर्थात् परम हित कारी रूप में उनसब भजन कारी के समक्ष में प्रकट होते हैं। अतएव मैं आप की परम कृपालुता के किस अंश का वर्णन कर सकता हूँ? आप की प्रेरणा से ही इन्द्रिय प्रभृति निज क्षेत्र में प्रवृत्त होने में समर्थ हैं, आप की प्रेरणा व्यतीत कोई भी कुछ करने में सक्षम नहीं हैं, उसका वर्णन श्रुति ने इस प्रकार किया है—"श्रोत्रस्य श्रोत्रम्" अर्थात् श्रोत्र की श्रवण सामर्थ्य जिन के चिदाभास सम्वलन से ही प्रकाशित होती है। विधि एवं निषेध मुख उस विषय का वर्णन श्रुति में सुस्पष्ट रूप से ही हैं। केवल प्रकृत देह धारी व्यक्ति गण के प्रति आप की यह प्रेरणा है, यही नहीं, किन्तु अप्राकृत ब्रह्मा, एवं शङ्कर के सम्बन्ध में भी यही व्यवस्था है। अत मेरा सम्बन्ध में भी वही व्यवस्था है। काष्ठ पुत्तलिका को जिस प्रकार नट इच्छानुरूप परिचालित कर नृत्य कराता रहता है, उसकी क्षमता स्वयं की नहीं है। उसी प्रकार प्राकृत अप्राकृत निखिल जीव को आप जिस प्रकार प्रेरणा करते हैं, वे सब उस प्रकार निज निज कार्य्य क्षेत्र में कार्य्य करते रहते हैं। अतएव भजनांश में भी किसी का स्वातन्त्र्य नहीं है, जिस को जिस प्रकार भाव प्रदान कर प्रिय हितकारी भावबन्धु आप होते हैं, आप की प्रेरणा प्राप्त व्यक्ति भी उसी प्रकार आप का भजन करते हैं, आप स्वयं भक्ति प्रदान कर उस के सेव्य होते हैं। उक्त कथन का तात्पर्य्य यह है कि—भक्ति रूपाचित् शक्ति का आविर्भाव जीव हृदय होने का एक मात्र कारण ही श्रीभगवत् कृपा है।

मार्कण्डेय श्रीनर नारायण को कहे थे॥१४४॥

१४५। श्रीभगवान् की श्रवण कीर्त्तनादि रूपा विशुद्धा भक्ति को छोड़कर अपर किसी साधन से भगवदनुभव नहीं होता है।

त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं, भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम् ॥"३८३॥

स्पष्टम् ॥ श्रीकुन्ती श्रीभगवन्तम् ॥

१४६ । श्रीभगवत्प्रापकत्वमाह, (भा० ११।१८।४५)—

(१४६) "भक्त्योद्धवानपायिन्या सर्व्वलोक महेश्वरम् ।
सर्व्वोत्पत्त्यप्ययं ब्रह्मकारणं मोपयाति सः ॥"३८४॥

टीका च—"महेश्वरत्वे हेतुः,-सर्व्वोत्पत्त्यप्ययं सर्व्वस्योत्पत्त्यप्ययौ यस्मात्, अतएव तत्-कारणं मा मां ब्रह्मस्वरूपं वैकुण्ठनिवासिनम्, यद्वा, ब्रह्मणो वेदस्य कारणं मामुपयाति सामीप्येन प्राप्नोति" इत्येषा । श्रीगीतासु (८।२२) "पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या

भा० १।८।३६ में श्रीकुन्ती देवी श्रीकृष्ण को कही थीं ।

(१४५) "शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः, स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः ।
त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं, भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम् ॥"३८३॥

टीका—अस्य पक्षस्य सिद्धान्ततामभिप्रेत्य श्रवणादि फलमाह—शृण्वन्तीति । नन्दन्ति, अन्यैः कीर्त्यमानमभिनन्दन्ति, ये जनाः । ईहितं चरितम् । तावकं त्वदीयं पदाम्बुजम् । त एव पश्यन्त्येव अचिरेणैवेति सर्वत्रावधारणम् । कीदृशं ? भव प्रवाहस्य जन्म परम्परायाः उपरमो यस्मिन् तत् ॥

हे गोविन्द ! जो लोक, निरन्तर तुम्हारे चरित्र श्रवण, गान, कीर्त्तन, स्मरण, एवं अपर के द्वारा गीत का अभिनन्दन करते हैं, वे सब ही अति सत्वर आप के चरण कमल युगल का दर्शन करते हैं, जिस से संसार परम्परा की निवृत्ति होती है । इस श्लोक में 'त एव' का प्रयोग है, अर्थ है, वे सब ही दर्शन करते हैं । 'एव' कार का प्रयोग होने के कारण ज्ञान कर्मादि साधन समूह के द्वारा दर्शन होने की सम्भावना निरस्त हुई है । इसका उल्लेख सुस्पष्ट है ।

श्रीकुन्ती श्रीभगवान् को कही थीं ॥१४५॥

१४६ । एकमात्र अव्यभिचारिणी भक्ति के द्वारा ही श्रीभगवत् प्राप्ति होती है, उसका वर्णन भा० ११।१८।४५ में है—

(१४६) "भक्त्योद्धवानपायिन्या सर्व्वलोक-महेश्वरम् ।
सर्व्वोत्पत्त्यप्ययं ब्रह्मकारणं मोपयाति सः ॥"३८४॥

श्रीकृष्ण कहे थे, हे उद्धव ! जो व्यक्ति पूर्व वर्णित लक्षणाक्रान्त भक्ति का अनुष्ठान करता है, वह ही अव्यभिचारिणी भक्ति सर्व लोक महेश्वर, सर्वोत्पत्ति विनाशक, सर्व कारण कारण विभु स्वरूप मुझ को प्राप्त करता है । मैं महेश्वर हूँ । कारण, मुझ से सब की उत्पत्ति होती है, एवं विनाश भी होता है । अतएव मैं ही विश्व का उपादान कारण एवं निमित्त कारण हूँ । मैं विभु स्वरूप होकर भी वैकुण्ठ में निवास करता हूँ । अथवा, मैं ही ब्रह्म शब्द वाच्य वेद का कारण हूँ । इस प्रकार अर्थ भी सुसङ्गत है, कारण, श्रीभगवद् गीता में उक्त है । "वेदान्त कृद् वेद विदेव चाहम्" अर्थात् मैं ही वेदन्त का कर्त्ता हूँ, एवं मैं ही वेदार्थ वित् हूँ । श्रुति में भी वर्णित है—"अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतत्" 'ऋग्वेद' इत्यादि । मूल श्लोक में "याति" क्रिया का प्रयोग है । उसके पहले 'उप' उपसर्ग का भी प्रयोग है । उस से 'प्राप्ति'—अर्थ सूचित हुआ है । श्रीभगवद् गीता में भी (८।२२) उक्त है—"पुरुषः स परः पार्थ ! भक्त्यालभ्यस्त्वनन्यया"

लभ्यस्त्वनन्यया" इति ॥ श्रीभगवान् ॥

१४७। तथा मनसोऽप्यगोचरफलदाने श्रीध्रुवचरितं प्रमाणम्, परमभक्तिसम्बलित-स्वलोकदानात्। तद्वशीकारित्वं तूदाहृतम् (भा० ११।१४।२०) "न साधयति मां योगः" इत्यादौ। तथा, तत्पश्चान्ते (भा० ११।१४।२१)—

(१४७) "भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयात्मा प्रियः सताम्" इति।

अत्रैवं विवेचनीयम्,—यद्यप्यस्य वाक्यस्य एकादश-चतुर्द्दशाध्यायप्रकरणे साध्य-साधन-भक्त्योरविविक्ततयैव महिम-निरूपणमिति साधनपरत्वं दुर्निर्णेयम्, तथापि फलभक्ति-

---

हे अर्जुन! उन परम पुरुष को अनन्या भक्ति के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।

उक्त प्रमाण समूह के द्वारा प्रति पादित हुआ है कि– अनन्या भक्ति ही भगवत् प्रापिका है। श्रीभगवान् कहे थे ॥१४६॥

१४७। भक्ति मानस सङ्कल्पागोचर फल प्रदान में सक्षम है—उस विषय श्रीध्रुव चरित्र ही प्रमाण है—कारण, श्रीध्रुव को परम भक्ति सम्बलित निज लोक प्रदान भगवान् किये थे। भक्ति में भगवान् वशीभूत होते हैं उसका उदाहरण भा० ११।१४।२० में है।

"न साधयति मां योगो न सांङ्क्षंच धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥"

टीका—अत एवम्भूतं श्रेयो नान्यदस्तीत्याह न साधयतीति द्वाभ्याम्।

इस के बाद श्लोक में कह हैं – भा० ११।१४।२१

(१४७) "भक्त्याह मेकया ग्राह्यः श्रद्धयात्मा प्रियः सताम्।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्।

टीका—श्रद्धया या भक्ति स्तया। सम्भवात् जाति दोषादपीत्यर्थः॥

हे उद्धव! श्रद्धा पूर्विका अव्यभिचारिणी भक्ति के द्वारा साधुगण प्रिय मैं गृहीत होता हूँ। यहाँ इस प्रकार विचार करना आवश्यक है—यद्यपि भा० ११।१४।२१–८१ में साधन एवं साध्य भक्ति के अविचारित भाव से ही भक्ति महिमा वर्णित है—, जिस में "भक्त्याहमेकया ग्राह्यः" एवं "न साधयति मां योगः" वाक्य द्वय का प्रयोग हुआ है। तज्जन्य पूर्व वर्णित भक्ति की महिमा वर्णन प्रसङ्ग में साधन भक्ति की महिमा कहना दुःसाध्य है। तथापि साधन भक्ति का फल ही भाव भक्ति है, भाव भक्ति की महिमा कहने से उसके द्वारा साधन भक्तिकी महिमा का निर्णय भी निर्बाध रूप से होता है। अतः भा० ११।१४।२१ अध्याय में वर्णित विषय का तात्पर्य्य को भक्ति महिमा वर्णन पर ही जानना होगा। अर्थात् जिस साधन भक्ति से भगवान् वशीभूत होते हैं, उस अभिप्राय को प्रकट करने के निमित्त भङ्गी पूर्वक साधन भक्ति की महिमा का कथन हुआ है। यहाँ का अभिप्राय यह है कि—"न साधयति मां योगः" इत्यादि श्लोक में कथित है – अष्टाङ्ग योग, आत्म अनात्म विचार, वर्णाश्रम धर्मसमूह, मुझ को साधित अर्थात् वशीभूत नहीं कर सकते हैं। बलवति भक्ति जिस प्रकार मुझ को वशीभूत करती है। इस से प्रतिपन्न हुआ है कि भक्ति ही श्रीभगवान् को वशीभूत करनेमें समर्था है। श्लोकमें लिखित अष्टाङ्ग योग प्रभृति साधन है, उक्त साधन समूह के सहित ही भक्ति का उल्लेख हुआ है। इस से प्रकरण प्राप्त भक्ति शब्द से साधन

महिमद्वारापि साधनमहिमपरत्वमेव, यत्रेदृशमपि फलं भवतीति (भा० ११।१४।१) "वदन्ति कृष्ण श्रेयांसि" इत्यादि--प्रश्नमारभ्य साधनस्यैवोपक्रान्तत्वात्, (भा० ११।१४।२६) "यथा यथात्मा परिमृज्यतेऽसौ, मत्पुण्यगाथा-श्रवणाभिधानैः" इत्यादिना तस्यैवोपसंहृतत्वाच्च ।

को ही जानना होगा। किन्तु भक्ति रसामृत सिन्धु ग्रन्थ में भक्ति गुण वर्णन, प्रसङ्ग में सुस्पष्ट उल्लेख है कि—साधन भक्ति की फल रूपा भक्ति के बिना साधन भक्ति के द्वारा श्रीभगवान् को वशीभूत करना असम्भव है। अर्थात् भक्ति रसामृत सिन्धु ग्रन्थ में प्रथमतः

"अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्म्माद्यनावृतम् ।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥"

के द्वारा भक्ति का लक्षण किया गया है। अनन्तर, उक्त उत्तमा भक्ति के तीन भेद साधन, भाव, प्रेम कहे गये हैं। उस के मध्य में क्लेशघ्नी, शुभद्रा, साधन भक्ति के गुण हैं, मोक्ष लघुताकृत् एवं दुर्ल्लभा, भाव भक्ति के असाधारण गुण हैं, सान्द्रानन्द विशेषात्मा, श्रीकृष्णाकर्षिणी—प्रेम भक्ति के गुणद्वय का उल्लेख है। उस में भी प्रेम भक्ति में उक्त षड् गुण विद्यमान है। इस वर्णन से प्रतीत होता है कि--श्रीकृष्ण को वशीभूत करने की शक्ति प्रेम भक्ति की हैं। अथच "न साधयति मां योगः" इत्यादि श्लोकों में भक्ति को अष्टाङ्ग योग प्रभृति साधनों का प्रतियोगी रूप में उल्लेख किया गया है, कारण साधन का प्रतियोगी साधन ही हो सकता है, साधन का फल नहीं जिस प्रकार पण्डित ही पण्डित का प्रतियोगी हो सकता है, किन्तु मूर्ख पण्डित का प्रतियोगी नहीं होगा। उस प्रकार अष्टाङ्ग योग वर्णाश्रम धर्म प्रभृति साधन है, उन सब साधनों का प्रतियोगी साधन भक्ति ही हो सकती है, साध्य रूपा भाव भक्ति अथवा प्रेम भक्ति नहीं हो सकती। अथच प्रेम भक्ति के बिना भगवान् वशीभूत भी नहीं होते हैं। इस प्रकार संशय निरसन हेतु विचार का प्रारम्भ यहाँ हुआ है। सन्दर्भकार कहते हैं— भा० ११।१४।१

"वदन्ति कृष्ण श्रेयांसि बहूनि ब्रह्मवादिनः ।
तेषां विकल्प प्राधान्यमुताहू एक मुख्यता ॥"

टीका—एवं तावद् भगवता भक्त्या मोक्ष इत्युक्तम्, अन्ये तु अन्यानि साधनानि वदन्ति तत्र विशेष निर्धारणां गच्छति। वदन्तीति श्रेयांसि श्रेयः साधनानि । किं विकल्पेन प्राधान्यम्, उताहो किं वा एकस्यैव मुख्यता।।

हे कृष्ण! वेदज्ञ ऋषिगण, मानव वृन्द को मङ्गल प्राप्त कराने के निमित्त विविध साधनों का उल्लेख करते रहते हैं, अथच उन सब की उक्ति के मूल प्रमाण, वेद को ही मानते हैं, यदि उन सब के उल्लिखित साधन समूह वेद मूलक नहीं होते तो उन सब की उक्ति-- अयथार्थ होती। ऐसा होने पर वेद मूलकसाधन समूह के मध्य में प्रत्येक का याथार्थ्य अङ्गाङ्गि भाव से मानना होगा, अथवा 'इदं वा इदं वा" रूप से अर्थात् यह भी हो सकता है, यह भी हो सकता,इस रीतिसे प्रत्येक ही मङ्गल प्रापिका मुख्य साधन होगा? उद्धवकृत इस प्रश्न से आरम्भ कर साधन विषय का ही उपक्रम हुआ है। एवं उपसंहार वाक्य में भी साधन भक्ति में ही पर्य्यवसान दृष्ट होता है। (भा० ११।१४।२६)

"यथा यथात्मा परिमृज्यतेऽसौ, मत्पुण्यगाथा-श्रवणाभिधानैः ।
तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं चक्षुर्यथैवाञ्जन सम्प्रयुक्तम् ॥"

टीका—ननु ब्रह्म विदाप्नोति परम् । तमेव विदित्वातिमृत्युमेति--इत्यादि श्रुतिभ्यो ज्ञानादेव अविद्या निवृत्त्या त्वत्प्राप्तिरवगम्यते कुतो भक्तियोगेनेत्युच्यते तत्राह यथा यथेति । आत्मा चित्तं परिमृज्यते शोध्यते

विशेषतस्तु तत्र (भा० ११।१४।१८) "धर्म्मः सत्यदयोपेतः" इत्याद्यन्तं तदीयमन्तः प्रकरणं प्रायः साधनमहिमपरमेव। तत्र "बाध्यमानोऽपि" इति पद्यम्,—साध्यभक्तौ जातायां बाध्यमानत्वा-योगात्, (भा० १०।८७।३५) "दधति सकृन्मनस्त्वयि य आत्मनि नित्यसुखे, न पुनरुपासते पुरुषसारहरावसथान्" इत्युक्तेः,

"विषयाविष्टचित्तानां विष्ण्वावेशः सुदूरतः। वारुणी-दिग्गतं वस्तु व्रजन्नैन्द्रीं किमाप्नुयात् ॥" ३८५

मत्पुण्यकथानां श्रवणैरभिधानैश्च। भक्तेरेवावान्तरव्यापारो ज्ञानं, न पृथगित्यर्थः।

अर्थात् मेरी कथा का श्रवण कीर्त्तन द्वारा चित्त जैसा जैसा परिमार्जित होगा, वैस वैसा ही सूक्ष्म पारमार्थिक वस्तु दर्शन की योग्यता होगी। इस प्रकार श्रवण कीर्त्तनादि लक्षणा साधन भक्ति में ही पर्य्यवसान किया गया है। किन्तु चतुर्दश अध्याय में कथित प्रकरण के मध्य में

"बाध्यमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः।
प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते" ११।१४।१८

टीका—अपि च आस्तां तावदुत्तम भक्त कथा, यतः प्राकृतोऽपि भक्तः कृतार्थ एवेत्याह बाध्यमान इति द्वाभ्याम्। विषयैराकृष्यमाणोऽपि। प्रलग्भया—समर्थया॥

मेरा अजितेन्द्रिय भजन शील भक्त, विषय द्वारा बाधित होने पर भी प्रगल्भया भक्ति के प्रभाव से प्रायशः बाधित नहीं होता है। यह अष्टादश श्लोक से आरम्भकर

"धर्मः सत्यदयोपेतोविद्या वा तपसान्विता।
मद्भक्त्यापेत मात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि॥

अर्थात् हे उद्धव! सत्य एवं दया युक्त धर्म, एवं तपस्या युक्त विद्या, मुझ में भक्ति हीन चित्त को सम्यक् शोधन करने में अक्षम है। ११।११।२२ पर्यन्त श्लोक समूह में साधन भक्ति की महिमा वर्णित हुई है। तन्मध्य में "बाध्यमानोऽपि मद्भक्तः" यह श्लोक, यद्यपि साधन भक्ति महिमा वर्णन प्रसङ्ग में पठित है, तथापि समझना होगा कि—साधन करते करते जिस समय श्रीभगवान् में साध्य स्वरूपा भाव भक्ति का उदय होगा, तब ही उक्त कथन सार्थक होगा, अर्थात् उस समय साधक विषयों के द्वारा बाधित अर्थात् अभिभूत नहीं होगा। किन्तु साधन अवस्था में विषयावेश से भक्ति बाधित हो जाती है। इस अभिप्राय से ही भा० १०।८७।३५ में श्रुतियों ने कहा है—

"दधति सकृन्मनस्त्वयि य आत्मनि नित्यसुखे,
न पुनरुपासते पुरुषसारहरावसथान्॥"

हे प्रभो! जो नित्य सुख, नित्यप्रिय, परमात्म स्वरूप आप में एक बार भी मन धारण करते हैं—वे पुनर्वार धैर्य्य, गाम्भीर्य्य, दया दाक्षिण्य प्रभृति हृदय सारापहरणकारी विषय की सेवा नहीं करते हैं, इस प्रकार उक्ति हेतु—एवं विष्णु पुराण में लिखित

"विषयाविष्टचित्तानां विष्ण्वावेशः सुदूरतः।
वारुणी--दिग्गतं वस्तु व्रजन्नैन्द्रीं किमाप्नुयात्॥" ३८५

जिस प्रकार पश्चिम दिक् में विद्यमान वस्तु लाभ हेतु पूर्वदिक् में धावित होने से वह वस्तु लाभ असम्भव है, स प्रकार जिस का चित्त, विषय में आविष्ट है, उस के पक्ष में श्रीविष्णु में चित्ताविष्ट होना

इति विष्णुपुराणाच्च तन्महिम-परत्वेन गम्यते । अत्र व तावद्वक्ष्यते, (भा० ११।१४।२३)—

"कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना ।
विनानन्दाश्रुकलया शुध्येद्भक्त्या विनाशयः ॥" ३८६ ॥

इत्यनेन, (भा० ११।१४।२४) मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति" इति कैमुत्यवाक्येन च साध्य-भक्तेः संस्कारहारित्वम्, ततो विषया एव बाध्यमाना भवन्तीति ।

अथ (भा० ११।१४।१९) यथाग्निः सुसमिद्धार्चिः" इति पद्यं नामाभासादेः सर्व्वपापक्षयकारित्व-प्रसिद्धेस्तत्परम् । अथ (भा० ११।१४।२०) "न साधयति मां योगः" इत्येतत् सार्द्धपद्यं योगादीनां साधनरूपाणां प्रतियोगित्वेन निर्द्दिष्टत्वात् श्रद्धा-सहायत्वेन विधानाच्च तत्परम् । साध्यायां श्रद्धोल्लेखः पुनरुक्त इति । यद्यपि फलभक्तिद्वारैव तद्वशीकारित्वं तस्यास्तथाप्यत्र

असम्भव है । इत्यादि प्रमाण के अनुसार साध्य स्वरूप भाव भक्ति पर ही उक्त 'बाध्यमानोऽपि' श्लोक है । इस प्रकरण के ११।१४।२३ में कहेंगे—

"कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना ।
विनानन्दाश्रुकलया शुध्येद्भक्त्या विनाशयः ॥" ३८६॥

हे उद्धव ! भक्ति के विना कैसे चित्त शुद्ध हो सकता है ? श्रवण कीर्त्तनादि से चित्त विगलित न होने पर भक्ति अस्तित्व का बोध कैसे होगा ? शरीर में रोमहर्ष एवं नेत्र में आनन्दाश्रु के विना चित्त द्रवता का परिचय प्राप्त कैसे होगा ।।?

इस से ज्ञात होता है कि—भाव भक्ति का उदय में ही सम्यक् चित्त शुद्ध होता है । विशेष कर "मद् भक्तियुक्तो भुवनं पुणाति" प्रमाण के द्वारा निर्णीत हुआ है कि—प्रेम भक्ति लाभ करने बाद ही जगद् गत जीव हृदय शोधन करने की क्षमता आती है । इस प्रकार कैमुत्य वाक्य के द्वारा भी साध्य भाव भक्ति में साधक हृदयस्थ भोगवासना संस्कार विनष्ट करने की क्षमता प्रकाशित हुई है । अर्थात् जो भाव भक्ति, जगद् गत जीव हृदयस्थ भोग वासना संस्कार विनष्ट कर सकती है । वह सुतरां साधक के हृद्गत भोग वासना संस्कार विनष्ट करेगी । अतएव साध्य, भाव भक्ति लाभ के पश्चात् ही साधक हृदय विषयों से अबाधित होता है । अर्थात् विषयावेश— साधक हृदय को अभिभूत नहीं कर सकता है ।

अनन्तर भा० ११।१४।१९ में वर्णित—

"यथाग्नि सुसमिद्धार्च्चिः करोत्येधांसि भस्मसात् ।
तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः ।।"

हे उद्धव ! सम्यक् प्रज्वलित वह्नि, जिस प्रकार काष्ठ राशि को भस्मसात् करता है, उस प्रकार, मैं जिस का विषय हूँ, इस प्रकार भक्ति भी निखिल पापराशि को सम्पूर्ण रूप से विनष्ट करती है । इस श्लोक की साधन भक्ति पर ही जानना होगा । कारण, नामाभासादि की ऐसी सामर्थ्य है कि उस से समस्त पाप विनष्ट होते हैं । अनन्तर "भा० ११।१४।२० में लिखित "न साधयति मां योगः" श्लोक भी,—साधन रूप योगादि के प्रतियोगी रूप में भक्ति का उल्लेख होने से, एवं श्रद्धा युक्त अनुष्ठान विहित होने पर साधन भक्ति पर ही है । कारण, यदि उक्त श्लोक को साधन भक्ति पर न स्वीकार किया जाय तो, अर्थात् साध्य भाव भक्ति पर माना जाय तो "श्रद्धयात्मा" यहाँ सहार्थ बोधक श्रद्धा पद का उल्लेख है, उस से पुनरुक्त

साधनरूपाया मुख्यत्वेन प्राप्तत्वात् तत्रैवोदाहृतम्। किंवा (भा० ५।६।१८) "अस्त्वेवमङ्ग भजतां भगवान् मुकुन्दो, मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम्" इति न्यायेन, नावशः सन् प्रेमाणं ददातीति तस्या एव साक्षात्तद्गुणकत्वं ज्ञेयम्। अथ (भा० ११।१४।२२) "धर्म्मः सत्यदयोपेतः" इति पद्यञ्च धर्म्मादि-साधन-प्रतियोगित्वेन निर्द्देशात् साधनभक्तेरेवान्यत्रापि तत्फलतयोदाहृतत्वाच्च तत्परम्। यत्तु "कथं विना" इत्यादिकम्, तच्च साधन-भक्ति-फलस्य शोधकत्वातिशय-प्रतिपादनेन तत्परमिति। तस्मात् साध्वेव (भा० ११।१४।१८) "बाध्यमानोऽपि" इत्यादि-पद्यानि तत्तत्प्रसङ्गे दर्शितानि ॥ श्रीभगवान् ॥

१४८। तत्रास्तु तावत्तस्याः साक्षाद्भक्तेः परधर्म्मत्वादिकं भगवदर्पणसिद्ध-तदनुगतिकस्य लौकिककर्म्मणोऽपि परधर्म्मत्वमुदाहरिष्यते (भा० ११।२९।२१) "यो यो मयि परे धर्म्मः"

दोष होगा। कारण, श्रद्धा के सहित भक्त्यनुष्ठान करने पर ही भगवान् में भाव भक्ति लाभ होता है। ऐसा होने पर पुनर्वार "श्रद्धा" पद का उल्लेख निष्प्रयोजन होगा।

यद्यपि साधन भक्ति की फलरूपा भाव भक्ति के द्वारा ही श्रीभगवान् वशीभूत होते हैं, तथापि साधन रूपा भक्ति का विवरण ही इस प्रकरण में कहा गया है। अतः भगवद् वशी कारित्व धर्म का उल्लेख साधन भक्ति में ही हुआ है। अथवा भा० ५।६।१८ में उक्त है—

"अस्त्वेवमङ्ग भजतांभगवान्मुकुन्दो, मुक्ति ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम्"

भगवान् मुकुन्द ! भजन कारी भक्त वृन्द को मुक्तिदान करते हैं—किन्तु कभी प्रेम भक्ति प्रदान नहीं करते हैं। इस नीति के अनुसार भक्त के अधीन न होकर प्रेम प्रदान नहीं करते हैं। तज्जन्य साक्षात् सम्बन्ध में साधन भक्ति का ही श्रीभगवद् वशीकरणत्व गुण है। इस प्रकार जानना होगा।

अभिप्राय यह है कि—भक्त को प्रेमदान करने के पहले श्रीभगवान् यदि भक्ति द्वारा वशीभूत नहीं होते हैं तो कैसे अदेय वस्तु प्रदान करेंगे? भा० ११।१४।२२ में उक्त "धर्मः सत्यदयोपेतः" श्लोक में भक्ति को धर्मादि साधन प्रतियोगी रूप में उल्लेख करने के कारण यह श्लोक भी साधन भक्ति महिमा वर्णन पर ही है। कारण, साधन भक्ति से ही चित्त शुद्धि होती है,— इस प्रकार उल्लेख अनेक स्थलों में दृष्ट होता है। भा० ११।१४।२३ में उक्त "कथ विना रोमहर्षं" श्लोक भी साधन भक्ति महिमा वर्णन पर है, कारण, साधन भक्ति की फल स्वरूपा भाव भक्ति द्वारा हृदय शोधित होता है, कहने से तात्पर्य्यतः साधन भक्ति की महिमा का प्रकाश होता है। कारण, साधन भक्ति का अनुष्ठान करते करते मोक्ष सुख के प्रति तुच्छता बुद्धि होती है, अनन्तर चित्त विगलित होता है, अतएव भा० ११।१४।१८ में वर्णित "बाध्यमानोऽपि मद्भक्तः" इत्यादि श्लोक समूह का वर्णन जो साधन भक्ति प्रकरण में हुआ है, इस का समन्वय उत्तम हुआ है।

प्रकरण प्रवक्ता श्रीभगवान् हैं ॥१४७॥

१४८—साक्षात् भक्ति की कथा तो दूर है—अर्थात् साक्षाद् भक्ति जो, परम धर्म है, एवं मन का अगोचर फल प्रदान में समर्था है, उस की महिमा की कथा तो दूर है, जब लौकिक कर्म समूह का अर्पण भगवान् को करने से भक्ति होती है, एवं भक्ति का आनुगत्य है, वे सब कर्म भी जो परम धर्म है, उसका उदाहरण भा० ११।२९।२१ के द्वारा प्रस्तुत करते हैं—

"यो यो मयि परे धर्मः कल्पयते निष्फलाय चेत्।
तदायासो निरर्थः स्याद् भयादेरिव सत्तमः ॥"

इत्यादौ । तथा पापघ्नत्वादिकं तस्याः श्रवणादिनापि भवतीत्यप्युक्तम् (भा० ११।२।१२) "श्रुतोऽनुपठितो ध्यातः" इत्यादौ ।

पाद्मे माघ-माहात्म्ये देवदूत-वाक्यञ्च,—

"आहास्मान् यमुना-भ्राता सादरं हि पुनः पुनः भवद्भिर्वैष्णवस्त्याज्यो विष्णुञ्चेद्भजते नरः ॥३८७॥
वैष्णवो यद्गृहे भुङ्क्ते येषां वैष्णवसङ्गतिः । तेऽपि वः परिहार्य्याः स्युस्तत्सङ्ग-हतकिल्विषाः ॥"३८८॥

बृहन्नारदीये यज्ञमाल्युपाख्यानान्ते,—

"हरिभक्तिपराणान्तु सङ्गिनां सङ्गमाश्रितः । मुच्यते सर्व्वपापेभ्यो महापातकवानपि ।"३८९॥

टीका—किञ्च यो य इति अयमर्थः । किं वक्तव्यं, मद् धर्मस्य न ध्वंस इति । यतो लौकिकोऽपि यो यो निरर्थो व्यर्थ आयासः सोऽपि मयि परे निष्फलाय चेत् कल्पयते निष्कामतया अर्पितश्चेत् तर्हि धर्म एव स्यात् । निरर्थायासे दृष्टान्तः । यथा भय शोकादे र्हेतोः पलायनक्रन्दनादिक्लेशस्तद्वत् ॥

श्रीकृष्ण—श्रीउद्धव को कहे थे,— हे उद्धव ! मद्विषयक धर्म्म का ध्वंस नहीं होता है । कारण, जो सब लौकिक कर्म्म निरर्थक हैं, अर्थात् विफल श्रम हैं, वे सब कर्म भी यदि निष्काम भाव से मुझ को अर्पित होते हैं तो, वे सब भी धर्म्म रूप में परिगणित होते हैं । लौकिक कर्म जो विफल परिश्रम के हैं, अर्थात् परिश्रम बहुल होकर भी फल शून्य हैं, उस में दृष्टान्त उपस्थित करते हैं । जिस प्रकार अत्यन्त भय से पलायन करना, एवं शोकादि हेतु क्रन्दन करना, प्रभृति दुःख जिस प्रकार विफल होते हैं, अर्थात् पलायन के द्वारा भय की निवृत्ति नहीं होती है, एवं क्रन्दन से शोकादि की निवृत्ति भी नहीं होती है । उस प्रकार लौकिक कर्म में परिश्रम बाहुल्य तो है ही किन्तु फल भी नहीं है । विशुद्ध भक्ति के श्रवण कीर्त्तन द्वारा पाप निवृत्ति होती है । उसका उदाहरण भ० ११।२।१२ में है—

"श्रुतोऽनुपठितो ध्यात आदृतो वानुमोदितः ।
सद्य पुनाति सद्धर्म्मो देव विश्वद्रुहोऽपि हि ॥"

देवर्षि नारद—वसुदेव को कहे थे—हे वसुदेव ! अनुमोदन करने से विश्वद्रुह पातकों से भी पातकी गण पवित्र होते हैं । पद्म पुराण के माघमास स्नान माहात्म्य में यमदूत वृन्द के वाक्य भी इस प्रकार है—

"आहास्मान् यमुना-भ्राता सादरं हि पुनः पुनः ।
भवद्भिर्वैष्णवस्त्याज्यो विष्णुञ्चेद्भजते नरः ॥३८७॥
वैष्णवो यद्गृहे भुङ्क्ते येषां वैष्णवसङ्गतिः ।
तेऽपि वः परिहार्य्याः स्युस्तत्सङ्ग-हतकिल्विषाः ॥"३८८॥ इति ।

यमुना भ्राता यम, आदर के सहित हम सब को वारंवार कहे हैं, जो मनुष्य श्रीविष्णु का भजन करते हैं तुम सब उन सब वैष्णवों को छोड़ देना । अर्थात् उन सब में मेरा कोई अधिकार नहीं है । यहाँ तक कि—जिस के घर में वैष्णव भोजन करते हैं, एवं जिनको वैष्णव सङ्ग है, उनको भी परित्याग करना । कारण, वैष्णव सङ्ग प्रभाव से उनके समस्त पातक विदूरित हो गये हैं ॥३८७–३८८॥

बृहन्नारदीय के यज्ञ माली उपाख्यान में उक्त है—

"हरिभक्ति पराणान्तु सङ्गिनां सङ्ग माश्रितः ।
मुच्यते सर्व पापेभ्यो महापातकवानपि ॥"३८९॥

जो मानव, हरिभक्ति परायण भक्त वृन्द के सङ्ग लाभ से कृतार्थ हुए हैं, उनके सङ्ग लाभ करने से

ततः सुतरामेवेदमादिदेश, (भा० ६।३।२९)—

(१४८) "जिह्वा न वक्ति भगवद्गुणनामधेयं, चेतश्च न स्मरति तच्चरणारविन्दम् ।

कृष्णाय नो नमति यच्छिर एकदापि, तानानयध्वमसतोऽकृत-विष्णुकृत्यान् ।।"३९०।।

आस्तां तावत् (भा० ६।३।२८) "तानानयध्वम्" इत्यादिकेनैतत्पूर्व्वद्वितीयपद्येनोक्तानां मुकुन्दपादारविन्द—मकरन्दरसविमुखानामानयनवार्त्ता, तथा (भा० ६।३।२७) "ते देवसिद्ध-" इत्यादिकेनैतत्पूर्व्वतृतीयपद्येनोक्तानां देव-सिद्ध-परिगीत-पवित्रगाथानां साधूनां समदृशां

महापातकी भी समस्त पापों से मुक्त हो जाते हैं ।।३८९।।

अतएव धर्मराज श्रीयम, स्वयं किङ्कर गण के प्रति कहे थे । (भा० ६।३।२९)

(१४८) "जिह्वा न वक्ति भगवद्गुणनामधेयं, चेतश्च न स्मरति तच्चरणारविन्दम् ।

कृष्णाय नो नमति यच्छिर एकदापि, तानानयध्वमसतोऽकृत–विष्णुकृत्यान् ।।"३९०।।

टीका—किञ्च जिह्वेत्यादि । यत् येषां जिह्वेत्याद्यान्वयः । न कृतं विष्णुकृत्यं भगवद् व्रतं यैः । एकदापीति सर्वत्राप्यन्वयः ।

जिस की जिह्वा एकवार भी श्रीभगवान् के नाम गुणादि का उच्चारण नहीं करती है, जिस का चित्त भगवच्चरणारविन्द का स्मरण नहीं करता है, वह सब अकृत विष्णु कृत्य हैं, जीवन में एकवार भी श्रीविष्णु सम्बन्धीय कार्य्य नहीं किये हैं, उन सब असाधु गण को मेरे संयमनीपुरी में ले आओ ।

धर्म राज यमने, विष्णु सम्बन्धि कार्य्य न करने के कारण जिस को ले आने के निमित्त आदेश किया था । वह तो समीचीन ही है । किन्तु इस के पूर्व श्लोक में आपने कहा है— (भा० ६।३।२८)

"तानानयध्वमसतो विमुखान् मुकुन्द पादारविन्दमकरन्दरसादजस्राम् ।

निष्किञ्चनैः परमहंस कुलैरसङ्गै र्जुष्टाद् गृहे निरयवर्त्मनि बद्धतृष्णान् ।।

टीका—के तर्हि, दण्डार्थमानेया इत्यत्राह तानिति द्वाभ्याम् । असतो दुष्टान्, तानेवाह,— मुकुन्दपादारविन्दयो र्यो मकरन्द रूपो रसः, तस्मात् विमुखान्, कथम्भूतात् ? निष्किञ्चनैरजस्रं जुष्टात्, तेषां ज्ञापकमाह निरयवर्त्मनि—स्वधर्म शून्ये गृहेबद्धा तृष्णा यै स्तान् ।

हे दूतगण ! उन सब असत्गण को मेरेपास ले आओ, जो निष्किञ्चन, अनासक्त परम हंस गण कर्त्तृक अनवरत निषेवित मुकुन्द चरणारविन्द रस से विमुख हैं एवं नरक के द्वार स्वरूप गृहस्थ सुख वासना में आसक्त चित्त है, इस प्रकार असत् गण को ही मेरे यहाँ ले आओ ।

इस श्लोक में असाधु गण की आनयन वार्त्ता उद् घोषित है, किन्तु इस के पूर्व श्लोक में (भा० ६।३। २७) उन्होंने कहा है—

"ते देवसिद्ध परिगीत पवित्र गाथा ये साधवः समदृशो भगवत् प्रपन्नाः ।

तान् नोपसीदत हरेर्गदयाभिगुप्तान् नैषां वयं नच वयः प्रभवाम् दण्डे ।।

जो, साधु हैं, सर्वभूत में समदृष्टि सम्पन्न हैं, एवं भगवत् प्रपन्न हैं, उनसब महापुरुष वृन्द के गुणसमूह का कीर्त्तन, देव एवं सिद्ध पुरुष गण करते रहते हैं । वे सब सर्वदा ही श्रीहरि की गदा के द्वारा अभिरक्षित हैं, सुतरां उन सब महापुरुष वृन्द के निकट तुम सब कभी न जाना । उनसब को दण्डित करने में हम सब समर्थ नहीं हैं । यहाँतक कि—काल भी उनसब को संयमन करने में अक्षम है । कारण, जो लोक भगवत् शरणागत हैं, वे सब भक्त, काल, कर्म एवं मायातीत हैं, इस प्रकार महापुरुष वृन्द को आनयन करने में यमराज का निषेध तो है ही, किन्तु जिस की जिह्वा, कभी भी गुण, नाम का कीर्त्तन मानव जन्म को प्राप्त

भगवत्परानां निकटगमन-निषेधवार्त्तापि, यद्यस्य जिह्वापि श्रीभगवतो गुणञ्च नामधेयञ्च वा एकदा जन्ममध्ये यदा कदापि न वक्ति जिह्वाया अभावे चेतश्च तच्चरणारविन्दमेकदापि न स्मरति, चेतसो विक्षिप्तत्वे शिरश्च कृष्णाय कृष्णं लक्षीकृत्य नो नमति,

"शाठ्येनापि नमस्कारं कुर्व्वतः शार्ङ्गधन्विने । शतजन्मार्जितं पापं तत्क्षणादेव नश्यति ॥"३९१॥

इति स्कान्दोक्त-महिमानं नमस्कारं न करोति, तानानयध्वम् । तत्र हेतुः,— असतः, असत्त्वे हेतुः,— अकृत-विष्णुकृत्यात्, यथा च स्कान्दे रेवाखण्डे श्रीब्रह्मोक्तौ,—

"स कर्त्ता सर्व्वधर्म्माणां भक्तो यस्तव केशव । स कर्त्ता सर्व्वपापानां यो न भक्तस्तवाच्युत ॥३९२॥

पापं भवति धर्म्मोऽपि तवाभक्तैः कृतो हरे । निःशेषधर्म्मकर्त्ता वाप्यभक्तो नरके हरे ।

सदा तिष्ठति भक्तस्ते ब्रह्महापि विमुच्यते ॥"२९३॥

पाद्मे च,—

"मन्निमित्तं कृतं पापमपि धर्म्माय कल्पते । मामनादृत्य धर्म्मोऽपि पापं स्यान्मत् प्रभावतः ॥३९४॥

कर कभी नहीं करती है, जिह्वा के अभाव में चित्त भी भगवत् चरणारविन्द का स्मरण नहीं करता है, विक्षिप्त चित्त के कारण यदि स्मरण नहीं होता तो भी यदि श्रीकृष्ण को लक्ष्य करके एकवार मात्र भी नमस्कार नहीं करता है तो उसका फल वर्णन करते हैं—दूतगण—उस व्यक्ति को मदीय भवन में ले आना। स्कन्द पुराणोक्त नमस्कार महिमा को कहते हैं—

"शाठ्येनापि नमस्कारं कुर्व्वतः शार्ङ्गधन्विने ।
शतजन्मार्जितं पापं तत्क्षणादेव नश्यति ॥"३९१॥

अर्थात् शठता पूर्वक भी यदि कोई व्यक्ति शार्ङ्गधन्वा श्रीविष्णु को प्रणाम करता है तो, उस के शत जन्मार्जित पाप तत्क्षणात् विनष्ट हो जाता है, । एतादृश महिमान्वित नमस्कार भी जो व्यक्ति नहीं करता है,— उस पापी को ले आना। कारण, वह असत् है। जो लोक श्रीविष्णु सम्बन्धी कुछ भी कार्य्य नहीं करते हैं, वे सब अन्यान्य सद् गुण युक्त होने से भी असत् हैं। इस अभिप्राय से ही स्कन्द पुराण के रेवाखण्ड में श्रीब्रह्मा ने कहा भी है—

" स कर्त्ता सर्व्वधर्म्माणां भक्तो यस्तव केशव ।
स कर्त्ता सर्व्वपापानां यो न भक्तस्तवाच्युत ॥३९२॥
पापं भवति धर्म्मोऽपि तवाभक्तैः कृतो हरे । निःशेषधर्म्मकर्त्ता वाप्यभक्तो नरके हरे ।
सदा तिष्ठति भक्तस्ते ब्रह्महापि विमुच्यते ॥"३९३॥

हे केशव ! जो, तुम्हाराभक्त है, वह समस्त धर्म का कर्त्ता है, हे अच्युत ! जो तुम्हारा भक्त नहीं है, वह समस्त पाप कर्त्ता है। हे हरे ! तुम्हारे अभक्त के द्वारा अनुष्ठित धर्म भी पाप में परिणत होता है। हे हरे ! निःशेष धर्मानुष्ठान करके भी यदि वह तुम्हारे भक्ति का आचरण नहीं करता है तो, वह अभक्त जन सर्वदा नरक वास करता है, और भक्तिमान् जन, ब्रह्महत्या करके भी समस्त पापों से मुक्त हो जाता है ॥३९२॥ पद्म पुराण में भी लिखित है—

"मन्निमित्तं कृतं पापमपि धर्म्माय कल्पते ।
मामनादृत्य धर्म्मोऽपि पापं स्यान्मत्प्रभावतः ॥"३९४॥

युक्तञ्चैतत्, (भा० ७।११।११) —"श्रवणं कीर्त्तनञ्चास्य" इत्यादिना, (भा० ११।५।२-३) मुखबाहूरुपादेभ्यः" इत्यादिना, (भा० ११।१८।४३) "सर्व्वेषां मदुपासनम्" इत्यादिना, (पाद्मे) "सर्व्वे विधिनिषेधाः स्युः" इत्यादिना च परम-नित्यत्वादि-प्रतिपादनात्। एषां कीर्त्तनादीनां

मन्निमित्त कृत पाप भी धर्म में परिणत होता है। मेरा अनादर करके कृत धर्म भी मेरा प्रभाव से पाप रूप में परिणत होता है। यह सब वाक्य युक्ति युक्त हैं। कारण,—भा० ७।१२।११-१२ में उक्त है—

"श्रवणं कीर्त्तनञ्च स्य स्मरणं महतां गतेः।
सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्म समर्पणम्।

नृणामयं परोधर्म सर्वेषां समुदाहृतः।
त्रिशल्लक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यति॥"

टीका—अस्य श्रीकृष्णस्य श्रवणादयो नव। इज्या—अर्च्चनम्॥११। एवं त्रिंशल्लक्षणवान्॥"१२॥

श्रीनारद, युधिष्ठिर को कहे थे—महापुरुष मात्र का एकमात्र आश्रय श्रीहरि का श्रवण, कीर्त्तन स्मरण, उनकी सेवा, पूजा, उनको प्रणाम, उनका दास्य, सख्य, उनको आत्मनिवेदन, यह नवविध धर्म आचरण करना मानव मात्र को अवश्य चाहिये। यह मुख्य कर्त्तव्य है, अर्थात्, समस्त मनुष्य के पक्ष में ही श्रीहरि कथा श्रवण कीर्त्तनादि करना अवश्य कर्त्तव्य है। भा० ११।५।२-३ में उक्त है—

"मुखबाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह।
चत्वारो जज्ञिरेवर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक्।
य एषां पुरुषं साक्षादात्म प्रभवमीश्वरम्।
न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद् भ्रष्टाः पतन्त्यधः॥"

टीका—स्वजनकस्य गुरोर्भगवतोऽनादराद् गुरुद्रोहेण दुर्गतिं यान्तीति वक्तुं भगवतः सकाशाद् वर्णाश्रमाणामुत्पत्तिमाह मुखेति। गुणैः सत्त्वेन विप्राः। सत्त्वरजोभ्यां क्षत्रियः। रजस्तमोभ्यां वैश्यः, तमसा शूद्र इति। एषां मध्ये ये अज्ञात्वा न भजन्ति, ये च ज्ञात्वापि अवजानन्ति। आत्मनः प्रभवो जन्म यस्मात् तम्। तदभजने कृतघ्नतामप्याह,—ईश्वरमिति स्थानात् वर्णाश्रमाद् भ्रष्टाः॥

श्रीचमस योगीन्द्र—निमि महाराज को कहे थे—द्वितीय पुरुष गर्भोदशायी श्रीप्रद्युम्न के मुख बाहु, उरु एवं चरण से सत्त्व, रजः, एवं तमोगण के सहित क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र—यह चारवर्ण की उत्पत्ति हुई है, एवं उक्त पुरुष के जघन हृदय, वक्षःस्थल एवं मस्तक से क्रमशः सत्त्वादि गुण के सहित गृहाश्रम, ब्रह्मचर्य्य वानप्रस्थ—एवं सन्न्यास नामक आश्रम चतुष्टय की उत्पत्ति हुई है। श्रीभगवान् श्रीहरि के सहित अभिन्न पुरुष ही यह चार वर्ण एवं आश्रम का जनक हैं। चारवर्णस्थ एवं चार आश्रमस्थ यदि कोई निज जनक श्रीभगवान् का भजन नहीं करता है, तो अवज्ञा ही करता है। ऐसा होने पर पितृ द्रोही पातकी निज उच्चस्थान से भ्रष्ट होकर अधः पतित होता है। भा० ११-१८-४३ में उक्त है—

"ब्रह्मचर्य्यं तपः शौचं सन्तोषो भूत सौहृदम्।
गृहस्थस्याप्यृतौ गन्तुः सर्वेषां मदुपासनम्॥"

टीका–अन्य धर्म्मान् काश्चिद् गृहस्थाप्यतिदिशति। ब्रह्मचर्य्यमिति। तपः स्वधर्म्मः। शौचं--रागादि राहित्यञ्च। तस्य ब्रह्मचर्य्य प्रकारमाह ऋतौ गन्तुरिति।

गृहस्थ का जो अपर धर्म आचरणीय है, उस को कहते हैं-ब्रह्मचर्य्य, तपः शौच, सन्तोष, प्राणिमात्र

त्रयाणामपि सुकराणामभावे परेषां सुतरामेवाभावो भवेदिति सामान्येनैव विष्णुकृत्यरहितत्व-मुक्तम् । जिह्वादीनां करणभूतानामपि कर्त्तृत्वेन निर्देशः पुरुषानिच्छयापि यथाकथञ्चित् कीर्त्तनादिकमादत्ते । 'चरणारविन्दम्' इति विशेषाङ्गनिर्देशः श्रीयमस्य भक्तिख्यापक एव, न तु तन्मात्रस्मरणनियामकः । अत्र अभक्तानामानयनेन भक्तानामनानयनमेव विधीयते,— आनयनस्योत्सर्गसिद्धत्वात्, "वैवस्वतं संयमनं प्रजानाम्" इति श्रुतेः । (भा० ६।१।१६)—

के प्रति सौहार्द्य, एवं ऋतु काल में भार्य्यागमन प्रभृति आचरणीय धर्म हैं, किन्तु समस्त वर्ण एवं समस्त आश्रमों में एकमात्र आचरणीय अनिवार्य्य धर्म है—मदीय उपासना । इस से प्रतिपन्न हुआ है कि सर्ववर्णो एवं आश्रमीयों का अवश्य कर्त्तव्य श्रीभगवदुपासना है ।

पद्म पुराण में तो समस्त विधिनिषेधों के सार रूप में भगवदुपासना ही विहित है—

"स्मर्त्तव्यः सततं विष्णु र्विस्मर्त्तव्यो न जातुचित् ।
सर्वेविधि निषेधाः स्युरेतयो रेव किङ्कराः ॥"

सर्वदा विष्णु का स्मरण करना चाहिये, कभी भी श्रीविष्णु का विस्मरण नहीं होना चाहिये । निखिल विधि—श्रीविष्णु स्मरण के ही किङ्कर हैं, एवं निखिल निषेध भी श्रीविष्णु विस्मरण के ही किङ्कर हैं । अर्थात् राज सम्मान से जिस प्रकार राज किङ्कर वृन्द का सम्मान होता है, उस प्रकार श्रीविष्णु स्मरण से समस्त विधि का सम्मान, होता है, राज सम्मान न करने से जैसे सब किङ्करों का असम्मान होता है । तद्रूप ही श्रीविष्णु स्मरण न करने से समस्त विधियों का लङ्घन होता है । इत्यादि प्रमाणों से भगवद् भक्ति का नित्यत्व एवं अवश्य कर्त्तव्यत्व प्रति पादित हुआ है । अतएव सुख साध्य कीर्त्तन, स्मरण, एवं प्रणाम, यह तीन के मध्य में एक का अनुष्ठान न होने से अवश्य ही अन्याङ्ग भक्ति का अनुष्ठान नहीं होगा । इस अभिप्राय से ही मूल श्लोक में कहा गया है—जिन्होंने विष्णुकृत्य नहीं किया है, उन को मदीय निर्य्यातन भवन में ले आना । अर्थात् यमराजने कहा था "अकृत विष्णु कृत्यम्" अर्थात् श्रीविष्णु स्मरण, कीर्त्तन, नमन, यह तीन के मध्य में जिस का एक भी नहीं है—उस को जानना होगा, कि उस में विष्णु सम्बन्धी कोई कृत्य नहीं हैं । अतएव उनसब असत् व्यक्ति गणका मेरे पास ले आओ । यहाँ ज्ञातव्य यह है कि-मूल श्लोक में करण स्थानीय जिह्वा, चित्त एवं मस्तक को कर्त्तृ स्थानीय रूप में उल्लेख किया गया है । अर्थात् जो जिह्वा के द्वारा श्रीहरि के नाम, गुण कीर्त्तन नहीं करता है, इस प्रकार न कह कर, कहा गया है—जिसकी जिह्वा श्रीहरि के गुण नाम कीर्त्तन नहीं करती है, इस से जिह्वा कर्त्ता रूप में उल्लिखित हुई है । इस से व्यक्त हुआ है कि—श्रीभगवन्नाम उच्चारण कारी व्यक्ति की अनिच्छा से भी जैसे तैसे यदि कीर्त्तन स्मरणादि भक्त्यङ्ग का अनुष्ठान होता है तो, उस के समीप में तुम सब न जाना । मूल श्लोक में उल्लिखित है—"चेतश्च न स्मरति तच्चरणारविन्दम्" अर्थात् जिस का चित्त श्रीहरि चरणारविन्द का स्मरण नहीं करता है, । इस में जिस भक्त्यङ्ग का उल्लेख हुआ है, अर्थात् यमराज ने भक्ति मात्र को सूचित करने के निमित्त ही 'चरणारविन्द' पद का प्रयोग किया है । श्रीभगवान् के किसी भी अङ्ग का स्मरण, अथवा किसी भी भक्त्यङ्ग का अनुष्ठान करने से ही मानव कृतार्थ होता है । यहाँ अभक्त वृन्द को आनयन करने का आदेश से सुस्पष्ट प्रतीत होता है कि भक्त गण को आनयन न करना ही विधि है । आनयन विधि सामान्य विधि है, कारण, धर्मराज यम ही प्रजावृन्द के संयमन कारी हैं । श्रुति में उक्त हैं-- "वैवस्वतं संयमनं प्रजानाम्" भा० ६।१।१६ में उक्त है—

"सकृन्मनः कृष्णपदारविन्दयो,-र्निवेशितं तद्गुणरागि यैरिह ।
न ते यमं पाशभृतश्च तद्भटान्, स्वप्नेऽपि पश्यन्ति हि चीर्णनिष्कृताः ॥" ३९५॥

इत्यत्र 'तद्गुणरागि' इति विशेषणं तु तेषां तद्दृष्टिपथगमनसामर्थ्यस्यापि यद्घातकम्, तादृश तत्स्मरणस्य प्रभाव-विशेषमेव बोधयतीति । ज्ञेयम् । यथैव नारसिंहे,—

"अहममरगणार्च्चितेन धात्रा, यम इति लोक--हिताहिते नियुक्तः ।
हरिगुरुविमुखान् प्रशास्मि मर्त्यान्, हरिचरणप्रणतान् नमस्करोमि ॥" ३९६॥

तथैवामृतसारोद्धारे स्कान्दवचनम्—

"न ब्रह्मा न शिवाग्नीन्द्रा नाहं नान्ये दिवौकसः । शक्तास्तु निग्रहं कर्त्तुं वैष्णवानां महात्मनाम् ।" ३९७।
श्रीयमः स्वदूतान् ॥

१४९ । तथा सकृद्भजनेनैव सर्व्वमप्यायुः सफलमित्युदाहृतमेव श्रीशौनक-वाक्येन

"सकृन्मनः कृष्णपदारविन्दयो-,र्निवेशितं तद्गुणरागि यैरिह ।
न ते यमं पाशभृतश्च तद्भटान्, स्वप्नेऽपि पश्यन्ति हि चीर्णनिष्कृताः ॥" ३९५॥

टीका—भक्तिः स्वल्पापि पुनात्येवेत्याह, सकृदिति । तस्य गुणेषु रागमात्रमस्ति न तु ज्ञानं यस्य, तन्मनः, तावतैव चीर्णकृतं निष्कृतं प्रायश्चित्तं यैः ।

श्रीशुकदेव, श्रीपरीक्षित् को कहे थे—स्वल्प परिमाण में अनुष्ठिता भक्ति भी पातकी व्यक्ति को शुद्ध करती है जो एकवार मात्र श्रीहरि के गुणोंमें रुचिसम्पन्नमन को श्रीकृष्णचरण युगलमें निवेश कर सकते हैं, वे स्वप्न में भी यम दर्शन नहीं करते हैं, अथवा, उनके पाशधारी किङ्कर गण को दर्शन नहीं करते हैं। कारण, स्वल्पानुष्ठित भक्ति योग के प्रभाव से ही निखिल पापों का प्रायश्चित्त विहित हुआ है। उक्त श्लोक में "तद् गुणरागि" विशेषण मन का है, उस प्रकार विशेषण प्रदान का उद्देश्य, भक्त वृन्द के दृष्टि पथ में उपस्थित होने का सामर्थ्य विधातक भगवत् स्मरण है, इस को सूचित करना है। उक्त अभिप्राय से ही श्रीनृसिंह पुराण में लिखित है—

"अहममरगणार्च्चितेन धात्रा, यम इति लोक-हिताहिते नियुक्तः ।
हरिगुरुविमुखान् प्रशास्मि मर्त्यान्, हरिचरणप्रणतान् नमस्करोमि ॥" ३९६॥

मैं देवगण पूजित ब्रह्मा कर्त्तृक "यम" यह नाम से अभिहित होकर लोक मात्र के हित एवं अहित साधन में नियुक्त हूँ। जो सब मनुष्य, श्रीहरि गुरु चरण विमुख हैं, उन सब को शासन करता हूँ, एवं जो लोक श्रीहरि चरणों में प्रणत हैं, उन को नमस्कार करता हूँ ॥३९६॥

उस प्रकार अमृतसारोद्धार में स्कन्द पुराण का वचन भी है—

"न ब्रह्मा न शिवाग्नीन्द्रा नाहं नान्ये दिवौकसः ।
शक्तास्तु निग्रहं कर्त्तुं वैष्णवानां महात्मनाम् ॥" ३९७॥

ब्रह्मा, शिव, अग्नि, इन्द्र, एवं मैं (यम) अन्यान्य देवगण, महात्मा वैष्णव वृन्द को निगृहीत करने में समर्थ नहीं है ।३९७॥

श्रीयम—निज दूतवृन्द को कहे थे ॥१४८॥

१४९। उस प्रकार एकवार भजन मात्र से ही निखिल आयु—सफल होती हैं,—उस का उल्लेख

(भा० २।३।१७) "आयुर्हरति वै पुंसामुद्यन्नस्तञ्च यन्नसौ" इत्यादि-ग्रन्थेन। एवं भक्त्या-भासेनाप्यजामिलादौ पापघ्नत्वं दृश्यते। तथा सर्व्वकर्म्मादि-विध्वंसपूर्व्वक-परमगतिप्राप्तावपि स्वल्पायासेनैव भक्तेः कारणत्वं श्रूयते लघुभागवते—

"वर्त्तमानञ्च यत् पापं यद्भूतं यद्भविष्यति। तत् सर्व्वं निर्दहत्याशु गोविन्दानलकीर्त्तनात् ॥"३९८॥

तथैव च तत्र यथाकथञ्चित् तद्भक्तिसम्बन्धस्य कारणत्वं दृश्यते ब्रह्मवैवर्त्ते—

"स समाराधितो देवो मुक्तिकृत् स्याद्यथा तथा। अनिच्छयापि हुतभुक् संस्पृष्टो दहति द्विजाः ॥"३९९॥

स्कान्दे उमा-महेश्वर-संवादे,—

"दीक्षा-मात्रेण कृष्णस्य नरा मोक्षं लभन्ति वै। किं पुनर्ये सदा भक्त्या पूजयन्त्यच्युतं नराः ॥"४००॥

बृहन्नारदीये—

"अकामादपि ये विष्णोः सकृत् पूजां प्रकुर्व्वते। न तेषां भवबन्धस्तु कदाचिदपि जायते ॥"४०१॥

(भा० २।३।१७) श्रीशौनक वाक्य में है--

"आयुर्हरति वै पुंसामुद्यन्नस्तञ्च यन्नसौ।
तस्यर्त्ते यत् क्षणो नीत उत्तमः श्लोक वार्त्तया ॥

टीका—किञ्च वृथैव क्षीणमायुरिति। असौ सूर्य्यः उद्यन् उद्गच्छन्, अस्तमदर्शनञ्च यन् गच्छन्, यत् येन, क्षणो नीतः, तस्य आयुर्ऋते वर्जयित्वा, वृथैव हरति ॥

र्य्य, उदयास्त के द्वारा पुरुष की आयु को हरण करते हैं, किन्तु जो मानव, श्रीहरि कथा प्रसङ्ग में क्षण काल अतिवाहित करते हैं, उनकी आयुः को हरण नहीं करते हैं।

अजामिल प्रभृति में तो भक्ति के आभास मात्र से भी निखिल पाप विनष्ट होने का दृष्टान्त दृष्ट होता है। स्वल्पायास द्वारा अनुष्ठित भक्ति,समस्त अर्जित पाप कर्म को विनष्ट करके परमगति प्रदान करती है,उस का वर्णन भी लघुभागवत में है।

"वर्त्तमानञ्च यत् पापं यद्भूतं यद्भविष्यति।
तत् सर्व्वं निर्दहत्याशु गोबिन्दानलकीर्त्तनात् ॥"३९८॥

अनलस्थानीय श्रीगोविन्दनाम कीर्त्तन के प्रभाव से वर्त्तमान्, भूत, एवं भविस्यत् कालीन जितने भी पाप हैं, वे समस्त पाप विनष्ट हो जाते हैं। ब्रह्मवैवर्त्त पुराण में उस प्रकार वर्णित है, कि यथा कथञ्चित् भक्ति के सम्बन्ध मात्र से निखिल पाप विनष्ट होते हैं।

"स समाराधितो देवो मुक्तिकृत् स्याद् यथा तथा।
अनिच्छयापि हुतभुक् संस्पृष्टो दहति द्विजाः ॥"३९९॥

हे द्विजगण ! अग्नि, जिस प्रकार अनिच्छा से भी संस्पृष्ट होकर दग्ध करता है, उस प्रकार भगवान् श्रीहरि जिस किसी प्रकार से आराधित होकर मुक्ति प्रदान करते हैं। स्कन्द पुराण के उमामहेश्वर संवाद में उक्त है—

"दीक्षा मात्रेण कृष्णस्य नरा मोक्षं लभन्ति वै।
किं पुन र्ये सदा भक्त्या पूजयन्त्यच्युतं नराः ॥"४००॥

मानवगण, श्रीकृष्ण मन्त्र में दीक्षित होने से मुक्त होते हैं, यह निश्चय है। और जो लोक सर्वदा

पाद्मे देवद्युति-स्तुतौ,—

"सकृदुच्चारयेद्यस्तु नारायणमतन्द्रितः। शुद्धान्तःकरणो भूत्वा निर्व्वाणमधिगच्छति ॥४०२॥

तत्रान्यत्र,—

"सम्पर्काद्यदि वा मोहाद्यस्तु पूजयते हरिम्। सर्व्वपापविनिर्मुक्तः प्रयाति परमं पदम् ॥"४०३॥

इतिहास-समुच्चये श्रीनारद-पुण्डरीक-संवादे च,—

"ये नृशंसा दुराचाराः पापाचाररताः सदा। ते यान्ति परमं धाम नारायणपदाश्रयाः ॥४०४॥
लिप्यन्ते न च पापेन वैष्णवा वीतकल्मषाः। पुनन्ति सकलान् लोकान् सहस्रांशुरिवोदितः ॥४०५॥
जन्मान्तरसहस्रेषु यस्य स्यान्मतिरीदृशी। दासोऽहं वासुदेवस्य सर्व्वान् लोकान् समुद्धरेत् ॥४०६॥
स याति विष्णुसालोक्यं पुरुषो नात्र संशयः। किं पुनस्तद्गतप्राणाः पुरुषाः संयतेन्द्रियाः ॥"४०७॥

भक्ति पूर्वक श्रीकृष्ण की पूजा करते हैं, वे लोक, मुक्त होंगे, इस में कहना ही क्या है ? बृहन्नारदीय में भी लिखित है—

"अकामादपि ये विष्णोः सकृत पूजां प्रकुर्व्वते।
न तेषां भवबन्धस्तु कदाचिदपि जायते ॥"४०१॥

जो लोक, अनिच्छा से श्रीविष्णु की पूजा एकवार मात्र करते हैं, उनको कभी भी भवबन्धन प्राप्त करना नहीं पड़ता है ॥१०४॥

पद्म पुराण की देवद्युति स्तुति में उक्त है—

"सकृदुच्चारयेद्यस्तु नारायणमतन्द्रितः।
शुद्धान्त करणो भूत्वा निर्व्वाणमधिगच्छति ॥"

जो मानव, आलस्य त्यागकर एक बार भी श्रीनारायण नामोच्चारण करता है, वह शुद्ध चित्त होकर मोक्षलाभ का अधिकारी होता है ॥४०२॥

पद्म पुराण के अन्यस्थल में लिखित है—

"सम्पर्काद्यदि वा मोहाद्यस्तु पूजयते हरिम्।
सर्व्वपापविनिर्मुक्तः प्रयाति परमं पदम् ॥"४०३॥

जो मानव, किसी सम्पर्क से अथवा मोह से श्रीहरि की पूजा करता है, वह समस्त पापों से मुक्त होकर परम पद को प्राप्त करता है।

इतिहास समुच्चय के श्रीनारद पुण्डरीक संवाद में लिखित है—

"ये नृशंसा दुराचाराः पापाचार-रताः सदा।
ते यान्ति परमं धाम नारायणपदाश्रयाः ॥४०४॥
लिप्यन्ते न च पापेन वैष्णवा वीतकल्मषाः।
पुनन्ति सकलान् लोकान् सहस्रांशुरिवोदितः ॥४०५॥
जन्मान्तरसहस्रेषु यस्य स्यान्मतिरीदृशी।
दासोऽहं वासुदेवस्य सर्व्वान् लोकान् समुद्धरेत् ॥४०६॥
स याति विष्णुसालोक्यं पुरुषो नात्र संशयः।
किं पुनस्तद्गतप्राणाः पुरुषाः संयतेन्द्रियाः ॥"४०७॥

अतएव—

"सकृदेव प्रपन्नो यस्तवास्मीति च याचते। अभयं सर्व्वथा तस्मै ददाम्येतद्व्रतं मम॥"४०८॥

इति रामायणे श्रीरामचन्द्रवाक्यञ्च—

"सकृदेव प्रपन्नो यस्तवास्मीति च याचते। अभयं सर्व्वथा तस्मै ददाम्येतद्व्रतं हरेः॥४०९॥

इति च गरुड़पुराणम्, तथा चाहु, (भा० १।१।१४)—

(१४९) "आपन्नः संसृतिं घोरां यन्नाम विवशो गृणन्।
ततः सद्यो विमुच्येत यद्बिभेति स्वयं भयम्॥"४१०॥ इति।

स्पष्टम्॥ श्रीशौनकः॥

जो लोक, कुटिल चित्त, दुराचार, एवं सर्वदा पापाचार रत हैं—वे भी यदि श्रीनारायण के चरणों में शरणागत होते हैं, तो, जहाँ जाने से पुनर्वार प्रत्यावर्त्तन नहीं होता है, वे सब उस लोक को जाते हैं। ॥४०४॥ वैष्णव वृन्द, कभी पाप में लिप्त नहीं होते हैं। कारण, श्रीहरि चरण आश्रय के प्रभाव से उन सब के पाप प्रवृत्ति का वीज भी विनष्ट हो जाता है, एवं उदित सहस्रांशु के समान समस्त लोकों को पवित्र करने में सक्षम होते हैं ॥४०५॥

सहस्र सहस्र सौभाग्य के फल से "मैं वासुदेव का दास हूँ" इस प्रकार जिसकी मति हुई है, वह लोकों को उद्धार करता है। एवं स्वयं विष्णु लोक में निवास करने का अधिकारी होता है। और जो लोक श्रीहरि में समर्पित आत्मा होते हैं, एवं संयतेन्द्रिय हैं, वे सब निखिल पापों से मुक्त होकर श्रीहरि चरण समीप में तो गमन करते ही हैं ॥४०६–५०७॥

अतएव रामायण में श्रीरामचन्द्र की उक्ति में प्रकाश है—

"सकृदेव प्रपन्नो यस्तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्व्वथा तस्मै ददाम्येतद्व्रतं मम॥"४०८॥

जो, शरणागत होकर एकवार भी कहे, हे हरे! मैं आपका हूँ, मैं उसको सर्वथा सर्वदा अभय प्रदान करता हूँ।

श्रीगरुड़ पुराण में भी लिखित है—

"सकृदेव प्रपन्नो यस्तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वथा तस्मै ददाम्येतद्व्रतं हरेः॥"४०९॥

जो, शरणागत होकर एकवार ही कहता है कि—हे हरे! "मैं आप का हूँ" श्रीहरि उसको सब प्रकार से सर्वदा अभय प्रदान करते हैं। यही श्रीहरि का व्रत है। श्रीमद् भागवत के १।१।१४ में उक्त है—

(१४९) "आपन्नः संसृतिं घोरां यन्नाम विवशो गृणन्।
ततः सद्यो विमुच्येत यद्बिभेति स्वयं भयम्॥" ४१०॥

टीका—तत् प्रभावमनुवर्णयन्तस्तद् यशः श्रवणौत्सुक्यमाविष्कुर्वन्ति आपन्न इति त्रिभिः, संसृतिं सुघोरामापन्नः प्राप्तः विवशोऽपि गृणन् ततः संसृतेः। अत्र हेतुः तद् यतो नाम्नः, भयमपि स्वयं बिभेति।

श्रीशौनक श्रीसूत को कहे थे—'जो मानव, घोरतर संसार के मध्य में निपतित है, एवं अत्यन्त पराधीन अवस्था को प्राप्त किया है, वह भी यदि श्रीकृष्ण के नामोच्चारण करता है तो, नाम प्रभाव से तत्

१५०। तथा, (भा० ६।१६।४४)-

(१५०) " न हि भगवन्नघटितमिदं, त्वद्दर्शनान्नृणामखिलपापक्षयः ।
यन्नाम-सकृच्छ्रवणात्, पुक्कशोऽपि विमुच्यते साक्षात् ॥"४११॥

स्पष्टम् ॥ चित्रकेतुः श्रीसङ्कर्षणम् ॥

१५१। अतएवोक्तं श्रीविष्णुधर्म्मोत्तरे,-

"जीवितं विष्णुभक्तस्य वरं पञ्चदिनानि वै । न तु कल्पसहस्राणि भक्तिहीनस्य केशवे ॥"४१२॥

अतो यदत्र तृतीये (भा० ३।३१।१२-२१) गर्भस्थस्य जीवस्य भगवतः स्तुतिः श्रूयते, तस्यैव च संसारोऽपि वर्ण्यते, तत्रोच्यते-जात्येकत्वेनैकवद्वर्णनमिति, वस्तुतस्तु कश्चिदेव जीवो

क्षणात् संसार से विमुक्त हो जाता है। कारण, श्रीनाम उच्चारण से निखिल भय के मूलभूत महाकाल भी भीत होते हैं।

प्रकरण प्रवक्ता श्रीशौनक हैं ॥१४९॥

१५०। उस प्रकार ही भा० ६।१६।४४ में लिखित है—

(१५०) " न हि भगवन्नघटितमिदं, त्वद्दर्शनान्नृणामखिलपापक्षयः ।
यन्नाम--सकृच्छ्रवणात्, पुक्कशोऽपि विमुच्यते साक्षात् ॥"४११॥

टीका—एवम्भूतस्य भागवत धर्म्म प्रवर्त्तकस्य तवदर्शनात् सर्वपापक्षयो भवतीति किं चित्रमित्याह-नहीति ॥

चित्र केतु महाराज श्रीसङ्कर्षण देव को कहे थे, हे भगवन्! आप का दर्शन करने से मानव मात्र को निखिल पाप क्षय होते हैं, यह कुछ भी आश्चर्य्य कर नहीं है। कारण, आपके नाम का एकमात्र श्रवण से नीच जाति पुक्कश भी माया बन्धन से साक्षात् विमुक्त हो जाता है।

चित्रकेतु श्रीसङ्कर्षण को कहे थे ॥१५०॥

१५१। अतएव श्रीविष्णु धर्मोत्तर में कथित है—

"जीवितं विष्णुभक्तस्य वरं पञ्चदिनानि वै ।
न तु कल्पसहस्राणि भक्तिहीनस्य केशवे ॥"४१२॥

स्वल्पमात्र काल भी भगवद् भजन करने से समस्त जीवन सफल होता है। जो मानव, श्रीविष्णु का भजन करता है, उस के ५ दिनकी आयु भी धन्य है। किन्तु श्रीकेशव में भक्ति हीन जन के सहस्र कल्प जीवन धारण भी अधन्य है। इस प्रसङ्ग में भागवत के तृतीय स्कन्धोक्त ३।३१।१२-२१ पर्य्यन्त गर्भस्थ जीव के द्वारा जो भगवत् स्तुति है—एवं उसका संसार भी वर्णित है उसका समीचीन समाधान होना आवश्यक है। अर्थात् गर्भस्थित जीव की भगवत् स्तुति श्रुत है--पुनर्वार भगवत् स्तव कारी जीव का संसार दुःख भी वर्णित है। ऐसा होने पर स्वल्पकाल भगवद् भजन करने से ही जीव संसार से मुक्त होता है—इस का प्रचुर प्रमाण प्रदर्शित हुआ है। अथच जननी गर्भ में रहकर जीव, दुःख निवृत्ति हेतु भगवान् का स्तव करता है, पुनर्वार वह जीव भूमिष्ठ होकर श्रीभगवान् को भूल जाता है, एवं संसार वासना से आबद्ध हो जाता है। भागवत के तृतीय स्कन्धोक्त प्रकरण, एवं अन्यान्य पुराण संहिता वचनों का उक्त सिद्धान्त के सहित असामञ्जस्य ही होता है, इस का सुष्ठु समाधान क्या है? अर्थात् पहले कहा गया है—जो व्यक्ति, एक वार मात्र भगवान् को कहता है कि—मैं आपका हूँ। श्रीहरि उसको मायाबन्धन से मुक्त करते हैं,

भाग्यवान् भगवन्तं स्तौति, स च निस्तरत्यपि, न तु सर्व्वस्यापि भगवज्ज्ञानं भवति। तथा च नैरुक्ताः पठन्ति (१३-१६) "नवमे सर्व्वाङ्ग-सम्पूर्णो भवति" इति पठित्वा, "मृतश्चाहं पुनर्जातो जातश्चाहं पुनर्मृतः" इत्यादि-तद्भावना-पाठानन्तरम्,—

"अवाङ्मुखः पीड्यमानो जन्तुभिश्च समन्वितः।
सांख्यं योगं समभ्यसेत् पुरुषं वा पञ्चविंशकम् ॥४१३
ततश्च दशमे मासि प्रजायते" इत्यादि।

सर्व्वास्वप्यवस्थासु भक्तेः समर्थत्वन्तु वर्णितम्। भेदेऽप्येकवद्वर्णनमन्यत्रापि दृश्यते, (भा० ३।११।३५) तृतीये यथा पाद्मकल्पसृष्टिकथनेऽपि श्रीसनकादीनां सृष्टिः कथ्यत इति।

इस कथन का वास्तविक समाधान क्या ? समाधान हेतु कहते हैं—उच्यते—भगवदुन्मुख एवं भगवद् वहिर्मुख भेद से जीव द्विविध होते हैं, यह द्विविध जीव में धर्मगत पार्थक्य होने पर भी जाति गत पार्थक्य नहीं है, इस अभिप्राय से ही उभय विध जीव को जाति साम्य से एकत्व दृष्टि से एक रूप कहा गया है। वास्तविक तथ्य यह है कि—किसी साधु सङ्ग वा साधु कृपा प्राप्त सौभाग्यवान् जीव ही गर्भ यातना से प्रपीड़ित होकर श्रीभगवान् का स्तव करता है। एवं श्रीभगवच्चरणों में प्रपन्न होता है। वह जीव ही माया बन्धन से मुक्त होता है, किन्तु समस्त जीवों की भगवत् स्मृति गर्भ में नहीं होती है, न तो वह श्रीभगवान् का स्तव ही करता है। निरुक्तवादिवृन्द कहते हैं—नवममास में गर्भस्थ शिशु के सर्वाङ्ग सम्पूर्ण होते हैं, इस प्रकार पाठ करके "मृतश्चाहं पुनर्जातो जातश्चाहं पुनर्मृतः" अर्थात् मैं मरकर पुनर्वार जन्मग्रहण किया एवं जन्म ग्रहण कर पुनर्वार मर रहा हूँ। इत्यादि गर्भस्थ जीव की भावना का पाठ करके कहते हैं।

"अवाङ्मुखः पीड्यमाणो जन्तुभिश्च समन्वितः।
सांख्यं योगं समभ्यसेत् पुरुषं वा पञ्चविंशकम् ॥
ततश्च दशमे मासि प्रजायते" ॥४१३॥

अर्थात् जीव, गर्भ में अधोमुख में रहकर क्षुद्र क्षुद्र कीट द्वारा वेष्टित एवं पीड़ित होकर सांख्य योग अभ्यास करता है, अनन्तर दशम मास में जन्म ग्रहण करता है, इत्यादि उक्ति में 'पुरुषं वा' यहाँ 'वा' शब्द का उल्लेख होने के कारण कतिपय जीवों का श्रीभगवद् विषयक ज्ञानोदय होता है—यह ज्ञात होता है। अर्थात् समस्त जीवों की गर्भ में श्रीहरि स्मृति नहीं होता है, भक्ति की सामर्थ्य—तो सर्वावस्था में अव्याहत है।

भगवदुन्मुख एवं भगवद्विमुख रूप से द्विविध जीव का विभाग एवं तज्जन्य क्लेश अङ्गीकार—इत्यादि जीव गत भेद वर्णन विषय में प्रमाण क्या है, जिस से जाति गत ऐक्य रूपेण वर्णन होने पर भी अवस्थान भेद होता है ? उत्तर में कहते हैं—भा० ३।११।३५ में उक्त नियम उक्त है—

"सनकञ्च सनन्दञ्च सनातनमथात्मभूः।
सनत् कुमारञ्चमुनीन् निष्क्रियानूर्द्ध्वरतसः ॥"

टीका—यद्यपि प्रतिकल्पं सनकादि सृष्टिर्नास्ति, तथापि ब्रह्म सर्गत्वादिहोच्यते। वस्तुतस्तु मुख्य सर्गादय एव प्रति कल्पं भवन्ति, सनकादयस्तु ब्राह्म कल्प सृष्टा एवानुवर्त्तन्ते।

पारस्परिक भेद विद्यमान होने पर भी उभय को एक रूप से वर्णन किया जाता है। उसका दृष्टान्त

टीकायाञ्च ब्रह्मकृत--सृष्टिमात्रकथनसाम्येनैकीकृत्योक्तिरियमिति योजितम्, श्रीवाराहा-वतारवच्च, तत्र प्रथम-मन्वन्तरस्यादौ पृथिवीमज्जने ब्रह्मनासिकातोऽवतीर्णः श्रीवराहस्तामुद्धरन् हिरण्याक्षेण संग्रामं कृतवानिति वर्ण्यते। हिरण्याक्षश्च षष्ठमन्वन्तरस्यावसानजातप्राचेतस-दक्ष-कन्याया दितेर्जातः। तस्मात्तथा-वर्णनं तदवतारमात्रत्व-पृथिवीमज्जनमात्रत्वैवयविवक्षयैव घटते, तद्वदत्रापीति। कश्चिदेवान्यो जन्यो जीवः स्तौत्यन्यः संसरतीत्येव मन्तव्यम्। अत्र पूर्व्ववत् परमगतिप्राप्तौ भक्तेः परम्परा-कारणत्वञ्च दृश्यते, बृहन्नारदीये ध्वजारोपणमाहात्म्ये,—

'यतीनां विष्णुभक्तानां परिचर्य्या-परायणैः।
ईक्षिता अपि गच्छन्ति पापिनोऽपि परां गतिम्॥"४१४॥ इति।

उक्त श्लोकस्थ स्वामि पाद कृत टीका में है। अर्थात् भागवत के तृतीय स्कन्ध में पाद्म कल्प सृष्टि प्रसङ्ग में श्रीसनकादि की सृष्टि वर्णित है, वहाँ उन्होंने कहा है—

ब्रह्मकृत सृष्टिमात्र कथनसाम्येनैकी कृत्योक्तिरियमिति।"

अर्थात् ब्रह्मा कर्त्तृक कृत सृष्टिमात्र वर्णनसाम्य हेतु उभय को एक करके कहा गया है। ब्राह्म कल्प में भी सनकादि ऋषि गण की कथा वर्णित है, एवं पाद्म कल्प सृष्टि प्रसङ्ग में भी उन सब की सृष्टि कथा का उल्लेख है। अथच स्वामि पादने कहा है —

"यद्यपि प्रतिकल्पं सनकादि सृष्टिर्नास्ति तथापि ब्राह्मसर्गत्वादिहोच्यते॥"

यद्यपि प्रति कल्प में सनकादि की सृष्टि नहीं है, तथापि ब्राह्म कल्प के अनुसरण से सनकादि की सृष्टि की कथा कही गई है। यहाँ पर श्रीवराह अवतार के समान ही सनकादिक को जानना होगा। श्रीवराह अवतार के प्रसङ्ग में लिखित है कि—प्रथम स्वायम्भुव मन्वन्तर के आदि भाग में पृथिवी रसातल गता होने से ब्रह्मा की नासिका से श्रीवराह देव अवतीर्ण होकर पृथिवी को उद्धार किये थे, एवं हिरण्याक्ष के सहित युद्ध किये थे। यह विवरण भागवत के तृतीय स्कन्ध में है। अथच हिरण्याक्ष षष्ठ चाक्षुष मन्वन्तर के अवसान के समय प्रचेतानन्दन दक्ष कन्या दिति से जन्म ग्रहण किया था। अतएव प्रथम मन्वन्तर में पृथिवी का उद्धार, और षष्ठ मन्वन्तर में हिरण्याक्ष बध हुआ, यह लीलाद्वय का काल गत पार्थक्य होने पर भी एक कालोचित लीला के समान वर्णन हुआ है, उद्देश्य यह है कि—पृथिवी उद्धार एवं हिरण्याक्ष बध नामक लीलाद्वय का सम्पादक—श्रीवराह देव ही हैं। इस प्रकार एकत्व दृष्टि से ही लीला द्वय का काल गत पार्थक्य होने पर भी एक कालीय रूप में ही वर्णन किया है। उस प्रकार यहाँ पर भी प्राप्त साधु सङ्ग सौभाग्यवान् किसी जीव गर्भ में श्रीभगवान् का स्तव करता है, अन्य वहिर्मुख जीव संसार दशा को प्राप्त करता है। यद्यपि जीव द्वय की उन्मुखता एवं वहिर्मुखता हेतु भाव गत पार्थक्य है, किन्तु चित् स्वरूप गत पार्थक्य उभय में नहीं है। अतएव उन्मुख एवं वहिर्मुख जीव का वर्णन ऐकरूप से किया गया है। इस प्रकार वर्णन करके वहिर्मुख जीव के हृदय में भगवद् भजन करने की प्रवृत्ति जाग्रत करना ही मुख्य उद्देश्य है। अतएव परम गति लाभ हेतु साक्षात् रूप से भक्ति ही कारण है, एवं परम्परा रूप से भी परम गति प्राप्ति हेतु भक्ति ही कारण है, इस का वर्णन शास्त्र में है। बृहन्नारदीय पुराणके ध्वजारोपण माहात्म्य में वर्णित है—

"यतीनां विष्णुभक्तानां परिचर्य्या--परायणैः।
ईक्षिता अपि गच्छन्ति पापिनोऽपि परां गतिम्॥"४१४॥

एवं विष्णुधर्म्मे—

"कुलानां शतमागामि समतीतं तथा शतम् । कारयन् भगवद्धाम नयत्यच्युतलोकताम् ॥४१५॥

ये भविष्यन्ति येऽतीता आकल्पात् पुरुषाः कुले ।

तांस्तारयति संस्थाप्य देवस्य प्रतिमां हरेः ।"४१६॥ इति ।

दूतान् प्रति यमाज्ञा चेयम्—

"येनार्च्चा भगवद्भक्त्या वासुदेवस्य कारिता । नवायुतं तत्कुलजं भवतां शासनातिगम् ॥"४१७॥

यथाह (भा० ७।१०।१८) —

(१५१) "त्रिसप्तभिः पिता पूतः पितृभिः सह तेऽनघ ।

यत् साधोऽस्य गृहे जातो भवान् वै कुलपावनः ॥"४१८॥

त्रिसप्तभिः प्राचीन-कल्पगत-तदीय-पूर्व्व-पूर्व्व-जन्मसम्बन्धिभिः पितृभिः सह । अस्मिन् जन्मनि हिरण्यकशिपु-कश्यप-मरीचि-ब्रह्माण एव तत्पितर इति ॥ श्रीनृसिंह, प्रह्लादम् ॥

त्यागी विष्णु भक्त वृन्द के मध्य में परिचर्य्या परायण वैष्णव वृन्द जिस के प्रति दृष्टि करते हैं, वे सब महापापी होने पर भी परागति को प्राप्त करते हैं । इस प्रकार वर्णन विष्णु धर्म में भी दृष्ट होता है—

"कुलानां शतमागामि समतीतं तथा शतम् । कारयन् भगवद्धाम नयत्यच्युतलोकताम् ।।४१५॥

ये भविष्यन्ति येऽतीता आकल्पात् पुरुषाः कुले ।

तांस्तारयति संस्थाप्य देवस्य प्रतिमां हरेः ॥"४१६॥

जो श्रीभगवान् के मन्दिर निर्म्माण करा देते हैं वे, आगामी एवं अतीत शत शत कुल को श्रीहरि लोक प्राप्त कराते हैं । कल्प अर्थात् ब्रह्मा के एक दिवस पर्य्यन्त काल में जो सब व्यक्ति, जन्म ग्रहण करेंगे । एवं जो लोक गत हो गये हैं, श्रीहरि की प्रतिमा संस्थापन करके उन सब को उद्धार करते हैं । इस प्रसङ्ग में दूतगण के प्रति धर्मराज यम का आदेश दृष्ट होता है ।

"येनार्च्चा भगवद्भक्त्या वासुदेवस्य कारिता ।

नवायुतं तत्कुलजं भवतां शासनातिगम् ॥"४१७॥

जो, प्रगाढ़ भक्ति के सहित वासुदेव श्रीकृष्ण की प्रतिमा स्थापन करता है, उस के वंश जात नव अयुत पुरुष—तुम सब के शासन के अतीत हैं, अर्थात् उन सबके प्रति तुम सब का कोई अधिकार नहीं है ।

भा० ७।१०।१८ में श्रीनृसिंह देव श्रीप्रह्लाद को कहे थे—

(१५१) "त्रिसप्तभिः पिता पूतः पितृभिः सह तेऽनघ ।

यत् साधोऽस्य गृहे जातो भवान् वै कुलपावनः ॥"४१८॥

हे निष्पापिन् ! साधो ! तुम्हारे पिता एक विंशति कुलके सहित पवित्र हुये हैं । कारण, कुल पावन तुम—इस हिरण्यकशिपु के घर में जन्म ग्रहण किये हो, यहाँ पर ज्ञातव्य यह है कि—प्रह्लाद के वर्त्तमान जन्म के पूर्व में एक विंशति पुरुष की सम्भावना नहीं है । कारण, प्रह्लाद के पिता हिरण्यकशिपु, पितामह कश्यप, प्रपितामह, मरीचि, वृद्ध प्रपितामह ब्रह्मा है । अतएव श्रीनृसिंह देव के वाक्य असंलग्न हो सकता है । अतएव जानना होगा कि—श्रीनृसिंह देव के नित्य लीला परिकर प्रह्लाद के सहित किसी साधन सिद्ध प्रह्लाद का सायुज्य है । उस साधन सिद्ध प्रह्लाद का ही पूर्व कल्प गत पूर्व पूर्व जन्म सम्बन्धान्वित पितृगण

१५२। तथा शक्त्याभासस्यापि सर्व्वपापक्षयपूर्व्वक-श्रीविष्णुपदप्रापकत्वं यथा बृहन्नारदीये कोकिला-मानिनोर्मदिरोन्मत्तयोर्धृतकुचीरखण्डदण्डयोर्जीर्णभगवन्मन्दिरे नृत्यतोर्ध्वजारोपण-फलप्राप्त्या तादृशत्वं जातम्। तथा व्याधहतस्य पक्षिणः कुक्कुरमुखगतस्य तत्पलायनवृत्त्या भगवन्मन्दिर-परिक्रमण-फलप्राप्त्या तादृशत्वप्राप्तिरिति, क्वचित्तत्र महाभक्तिप्राप्तिश्च, यथा बृहन्नारसिंहपुराणे श्रीप्रह्लादस्य तस्य प्राग्जन्मनि वेश्यया सह विवादेन श्रीनृसिंहचतुर्द्दश्यां दैवादुपवासः सम्पन्नो जागरणञ्चेति तथा चाह (भा० ३।९।१५)—

(१५२) "यस्यावतारगुणकर्म्मविड़म्बनानि, नामानि येऽसुविगमे विवशा गृणन्ति।
तेऽनेकजन्मशमलं सहसैव हित्वा, संयान्त्यपावृतमृतं तमजं प्रपद्ये॥"४१९॥

असुविगमेऽपीति तदानीन्तनमात्रत्वमशुद्धवर्णत्वञ्च व्यञ्जितम्। विवशा इति तदिच्छां

की पवित्रता की वार्त्ता को श्रीनृसिंह देव कहे थे।

श्रीनृसिंह—श्रीप्रह्लाद को कहे थे ॥१५१॥

१५२। इस के पहले परम पद प्राप्ति हेतु जिस प्रकार परम्परा क्रम से श्रीभगवद्भक्ति को ही कारण कहा गया है। उस प्रकार भक्ति के आभास से भी सर्व पाप क्षय पूर्वक श्रीविष्णु पद प्राप्ति होती है। बृहन्नारदीय पुराण में लिखित है—मदिरापानोन्मत्त होकर व्यक्ति द्वय, निज को कोकिल मानकर एक दण्ड में वस्त्रखण्ड बंध कर एवं उस को हाथ में लेकर एक भग्न श्रीविष्णु मन्दिर मे नृत्य किये थे, उस से श्रीविष्णु मन्दिर में ध्वजारोपण का फल उन दोनों को मिल गया। अपर वृत्तान्त है—एक पक्षी, व्याध के शराघात से भूतल में निपतित होने पर एक कुक्कुर उस पर बिद्ध पक्षी को मुख से लेकर पलायन परायण होने पर श्रीविष्णु मन्दिर की परिक्रमा उस से अनायास हो गई थी। किन्तु शराहत पक्षी का श्रीविष्णु मन्दिर परिकमण उस से सम्पन्न होने से परिक्रमण जनित फल लाभ उस पक्षी को हो गया, उस से वह पक्षी श्रीविष्णु लोक गमन किया था। स्थान विशेष में भक्ति के आभास मात्र से भी महाभक्ति का फल लाभोल्लेख दृष्ट होता है। बृहन्नरसिंह पुराण में लिखित है— महाभागवत प्रह्लाद, पूर्व जन्म में वेश्यासक्त था, एक दिन वेश्या के सहित प्रह्लाद की लड़ाई हो गई, उस दिन श्रीनृसिंह चतुर्द्दशी थी, अज्ञात सार से कलह के कारण प्रह्लादका उस दिन उपवास एवं रात्रि जागरण भी हो गया, उसके फल स्वरूप पर जन्म में प्रह्लाद होकर उनका जन्म लाभ हुआ। भक्ति के आभास से ही जो सर्व पाप क्षय होकर श्रीभगवत् प्राप्ति होती है, उस विषय में ३।९।१५ में लिखित है—

(१५२) "यस्यावतारगुणकर्मविड़म्बनानि, नामानि येऽसुविगमे विवशा गृणन्ति।
तेऽनेकजन्मशमलं सहसैव हित्वा, संयान्त्यपावृतमृतं तमजं प्रपद्ये ॥४१९॥

टीका—नामग्रहण मात्रतः, कैवल्यप्रदत्वेनैश्वर्य्यं व्यञ्जयन् नमस्करोति यस्येति। अवतारादीनां विड़म्बनमनुकरणमस्ति येषु। तत्रावतार विड़म्बनानिदेवकीनन्दनेत्यादीनि गुण विड़म्बनानि सर्वज्ञो भक्तवत्सल इत्यादीनि। कर्म विड़म्बनानि-गोवर्द्धनोद्धरणः कंसारातिरित्यादीनि। असु विगमेऽपि विवशा अपि, गृणन्ति केवलमुच्चारयन्ति। शमलं पापम्। अपावृतं निरस्तावरणम्। ऋतं ब्रह्म, प्राप्नुवन्ति।

श्री ब्रह्मा, गर्भोदशायी भगवान् को कहे थे। हे प्रभो! जिसने जन्मभर आप का नाम स्मरण नहीं किया है, अथच केवल प्राणान्त के समय यदि अनिच्छा से भी आप के अनन्तनामो के मध्य में कोई एक

बिनापि केनचित् कारणान्तरेणापीत्यर्थः, "वश कान्तौ" इत्यमरः। तादृशशक्तित्वे हेतुमाह, अवतारेति । अवतारादिसदृशानि तत्तत्तुल्यशक्तीनीत्यर्थः । तत्रावतारविड़म्बनानि नृसिंहेत्यादीनि, गुणविड़म्बनानि भक्तवत्सलेत्यादीनि, कर्मविड़म्बनानि गोवर्द्धनधरेत्यादीनि च ॥ ब्रह्मा श्रीगर्भोदकशायिनम् ॥

१५३। अस्तु तावत् शुद्धभक्त्याभासवार्त्ता, अपराधत्वेन दृश्यमानोऽप्यसौ महाप्रभावो दृश्यते, यथा विष्णुधर्म्मे भगवन्मन्त्रेण कृतनिजरक्षं विप्रं प्रति राक्षस-वाक्यम्--

"त्वामत्तुमागतः क्षिप्तो रक्षया कृतया त्वया। तत्संस्पर्शाच्च मे ब्रह्मन् साध्वेतन्मनसि स्थितम् ॥४२०॥
का सा रक्षा न तां वेद्मि वेद्मि नास्याः परायणम् ।
किन्त्वस्याः सङ्गमासाद्य निर्वेदं प्रापितः परम् ॥" ४२१॥ इति ।

नाम का उच्चारण करता है, तो, वह नामोच्चारण कारी व्यक्ति तत् क्षणात् अनेक जन्म सञ्चित पाप राशि से निर्मुक्त होकर सर्वोपाधिशून्य सच्चिदानन्द स्वरूप श्रीभगवान् को प्राप्त करता है। नामोच्चारण मात्र से ही सकल पाप विनष्ट होकर भगवत् प्राप्ति होती है, उसका कारण है, श्रीभगवदवतारों में जो क्षमता है, उन उन अवतारों के नामों में भी वह क्षमता है। कारण, नाम एवं नामी में किसी प्रकार प्रभेद नहीं है। श्रीभगवदवतार वृन्द जिस प्रकार अविद्या विनष्ट करके निज स्वरूप प्राप्ति कराते हैं। श्रीनाम में भी उसी प्रकार सामर्थ्य हैं। वरञ्च श्रीनामी से श्रीनाम में अत्यधिक क्षमता का प्रकाश है। मूल श्लोक में "अवशः" पद का उल्लेख है, उसका अर्थ है—अनिच्छा से। यह अर्थ समीचीन है। कारण, अमर कोषकार के मत में 'वश्' धातु का अर्थ कान्ति हैं, अर्थात् इच्छा है। उस में भी नाम त्रिविध हैं, (१) जन्मानुरूप नाम--देवकीनन्दन प्रभृति, (२) गुणानुरूप नाम--भक्तवत्सल प्रभृति, (३) कर्मानुरूप नाम—गोवर्द्धनधर प्रभृति ॥ ब्रह्मा श्रीगर्भोदकशायी को कहे थे ॥१५२॥

१५३। विशुद्ध भक्ति के आभास मात्र से सकल पाप विनष्ट होकर भगवच्चरण कमल के सान्निध्य लाभ होता है—यह तो हो ही सकता है। किन्तु अपराध रूप में प्रसिद्ध जो विशुद्ध भक्ति का आभास है, उस का भी महाप्रभाव दृष्ट होता है—विष्णु धर्म में भगवन्मन्त्र के द्वारा निज रक्षा कारी एक ब्राह्मण के प्रति राक्षस की उक्ति में उसका निदर्शन है—

"त्वामत्तुमागतः क्षिप्तो रक्षया कृतया त्वया।
तत्संस्पर्शाच्च मे ब्रह्मन् साध्वेतन्मनसि स्थितम् ॥४२०॥
का सा रक्षा न तां वेद्मि वेद्मि नास्याः परायणम् ।
किन्त्वस्याः सङ्गमासाद्य निर्वेदं प्रापितः परम् ॥"४२१॥

हे ब्रह्मन् ! मैं तुम्हें भक्षण करने आया था। किन्तु तुमने जो रक्षा विधान किया, उस से मैं पागल बन गया हूँ। उस रक्षा का स्पर्श से मेरे हृदय में पवित्र भावोदय हुआ है। वह रक्षा है क्या ? उस का मूलाश्रय भी क्या है ? मैं उस विषय में कुछ नहीं जानता हूँ। तब मैं यही जान रहा हूँ कि उस रक्षा के सङ्ग प्राप्त कर मेरे हृदय में परम निर्वेद उपस्थित हुआ है। यहाँ समझना होगा कि–ब्राह्मण भक्षण में प्रवृत्त होने के कारण, अपराधी राक्षस के हृदय में भी श्रीभगवन्मन्त्र से रक्षिताङ्ग ब्राह्मण के स्पर्श से राक्षस के हृदय में परम निर्वेद उपस्थित हुआ था।

यथा वा विष्णुधर्माद्युदाहृतायाः श्रीभगवद्गृहदीपतैलं पिबन्त्याः कस्याश्चिन्मूषिकाया दैवतो मुखोद्धृतवर्त्तौ दीपे समुज्ज्वलिते सति मुखदाहेन मरणात् राज्ञीत्वं प्राप्य दीपदानादि लक्षण-भक्तिनिष्ठाप्राप्तिरन्ते परमपदप्राप्तिश्च। यथा च ब्रह्माण्डपुराणे जन्माष्टमी-माहात्म्ये कृतजन्माष्टमोकाया दास्या दुःसङ्गेनापि कस्यचित्तत्फलप्राप्तिः। तथा च बृहन्नारदीये तादृश-दुष्टकार्यार्थमपि भगवन्मन्दिरं मार्ज्जयित्वा कश्चिदुत्तमां गतिमवाप, न त्वीदृशत्वं ब्रह्म-ज्ञानस्यापि, यथोक्तं ब्रह्मवैवर्त्ते,—

"विषयस्नेहसंयुक्तो ब्रह्माहमिति यो वदेत्। गर्भवाससहस्रेषु पच्यते पापकृन्नरः॥"४२२॥

अथ श्रीभगवद्वशीकारितायामपि सकृदल्पप्रयासात्मिकाया अपि भक्तेः कारणता दृश्यते; यथा ब्रह्मपुराणे श्रीशिववाक्यम्,—

अथवा विष्णु धर्मादि ग्रन्थोक्त प्रकरण का अनुसन्धान यहाँ करना चाहिये। उक्त ग्रन्थों में लिखित है—श्रीभगवद् गृह में एक मूषिक रहता था। वह प्रतिदिन श्रीमन्दिर के प्रदीपस्थ तैल पान भी करता था, एक दिन दैव योग से उस प्रदीप की वत्ती उस के मुख में लपेट गई, एवं वत्ती के अनुभाग प्रज्वलित होने से वह अत्यन्त अधीर होकर प्राण त्याग किया। इस से उस को श्रीमन्दिर में दीप दान का फल मिल गया एवं पर जन्म में वह राज महिषी बना। उस महिषी जन्म में बहु दीप प्रदानादि लक्षणा भक्ति निष्ठा भी उस की हुई। अनन्तर देहान्त होने पर वह श्रीभगवद्धाममें प्रस्थान किया था। यहाँ पर भी वह मूषिक तैल पान करता था, अतः वह अपराधी रहा, तथापि प्रदीप की वत्ती दाँतों में लपेट जाने के कारण श्रीमूर्त्ति के सम्मुख में प्रदीप मुख में लेकर प्राण त्याग करने के कारण श्रीभगवन्मन्दिर में दीप प्रदान रूप भक्ति के आभास से भी श्रीभगवद्धाम प्राप्ति का दृष्टान्त प्रदर्शित हुआ। उस प्रकार ब्रह्माण्ड पुराण के जन्माष्टमी व्रत माहात्म्य में लिखा है— जन्माष्टमी व्रत कारिणी दासी के दुःसङ्ग से भी किसी एक व्यक्ति की भगवत् प्राप्ति हुई थी। यहाँ—उक्त दासी का दुःसङ्ग अपराध होने पर भी वह दासी जन्माष्टमी व्रताचरण कारिणी रही, अतः उक्त संज्ञा से अभिहिता रही, अतएव उस के सङ्ग प्रभाव से भगवद्धाम प्राप्ति का दृष्टान्त उपस्थापित हुआ। उस प्रकार बृहन्नारदीय में भी दृष्ट होता है—पूर्व वर्णित दुष्ट कार्य्य हेतु एक व्यक्ति श्रीभगवन्मन्दिर मार्ज्जन करके भगवद्धाम में गमन किया था। इस में भी जानना होगा, दुष्ट कार्य्य अपराध है, और उस उद्देश्य से श्रीभगवन्मन्दिर मार्जनभी भक्त्याभास है, उस से भी भगवद्धाम लाभ हुआ था, इस अंश में दृष्टान्त है।

किन्तु ब्रह्म ज्ञान की इस प्रकार सामर्थ्य कुत्रापि दृष्ट नहीं होती है, कारण, ब्रह्म वैवर्त्त पुराण में उक्त है

"विषयस्नेहसंयुक्तो ब्रह्माहमिति यो वदेत्।
गर्भवाससहस्रेषु पच्यते पापकृन्नरः॥"४२२॥

विषयस्नेह युक्त हृदय में यदि कोई व्यक्ति, मुख से 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार कहता है। अर्थात् अन्तर में विषय के प्रति स्नेह परिपूर्ण है, अथच बाहर कहता है कि--'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा होने पर उस पाप से सहस्र जन्म पर्य्यन्त गर्भवास दुःख उस को भोगना पड़ेगा।

अनन्तर स्वल्प प्रयाससाध्य भक्ति में श्रीभगवान् को वशीभूत करने की सामर्थ्य दृष्ट होती है। इस विषय में ब्रह्म पुराण के श्रीशिववाक्य प्रमाण है।

"दृष्टः पश्येदहरहः संश्रितः प्रतिसंश्रयेत् । अर्च्चितश्चार्च्चयेन्नित्यं स देवो द्विजपुङ्गवाः ॥"४२३॥

यथा च विष्णुधर्मे—

"तुलसीदलमात्रेण जलस्य चुलुकेन च । विक्रीणीते स्वमात्मानं भक्तेभ्यो भक्तवत्सलः ॥"४२४॥

तदीदृशं माहात्म्यवृन्दं न प्रशंसामात्रमजामिलादौ प्रसिद्धत्वात् । दर्शितश्च न्यायाः श्रीभगवन्नामकौमुद्यादौ । तथैव नाम्न्यर्थवाद-कल्पनायां दोषोऽपि श्रूयते, "तथार्थवादो हरिनाम्नि" इति हि पाद्मे नामापराधगणने,

"अर्थवादं हरेर्नाम्नि सम्भावयति यो नरः । स पापिष्ठो मनुष्याणां निरये पतति स्फुटम् ॥"४२५॥

इति कात्यायन-संहितायाम्,

"मन्नाम कीर्त्तनफलं विविधं निशम्य, न श्रद्दधाति मनुते यदुतार्थवादम् ॥
यो मानुषस्तमिह दुःखचये क्षिपामि, संसारघोरविविधार्त्तिनिपीड़िताङ्गम् ॥"४२६॥

"दृष्टः पश्येदहरहः संश्रितः प्रतिसंश्रयेत् ।
अर्च्चितश्चार्च्चयेन्नित्यं स देवो द्विजपुङ्गवाः ॥"४२३॥

महादेव बोले—हे द्विज श्रेष्ठगण ! मैंने देखा है, उन श्रीभगवान् को जो देखता है, श्रीभगवान् भी उस को प्रतिदिन देखते हैं । जो व्यक्ति, श्रीभगवान् को आश्रय करता है, श्रीभगवान् भी उस को सम्यक् रूप से आश्रय करते हैं, जो व्यक्ति, श्रीभगवान् की पूजा करता है, श्रीभगवान् भी उस की पूजा करते है । इस से प्रति पादित हुआ कि—स्वल्पायास साध्य भक्ति ही श्रीभगवान् को वशीभूत करती है । विष्णु धर्म में लिखित है—

'तुलसीदलमात्रेण जलस्य चुलुकेन च ।
विक्रीणीते स्वमात्मानं भक्तेभ्यो भक्तवत्सलः ॥"४२४॥

तुलसी दल संयुक्त जल गण्डूष मात्र से ही भक्तवत्सल भगवान् वशीभूत होते हैं । अर्थात् प्रतिदान हेतु उपयुक्त वस्तु को न देखकर स्वयं आत्म विक्रय करते हैं । इस से प्रतिपन्न हुआ कि—अल्पायास साध्य भक्ति के द्वारा श्रीभगवान् वशीभूत होते हैं । यह सब वर्णन विषय—प्रसंशा मात्र नहीं है, कारण, अजामिल प्रभृति में इस का यथार्थ प्रभाव दृष्ट होता है, श्रीभगवन्नाम कौमुदी प्रभृति ग्रन्थ में सविस्तार न्याय समूह उट्टङ्कित हैं । भगवन्नाम में अर्थवाद कल्पना करना बहुविध दोष होते हैं । अर्थात् श्रीनाम माहात्म्य श्रवण करके जो व्यक्ति उस को प्रशंसा वाक्य मानता है, वह विविध दोष युक्त होता है ।

पद्म पुराण के नामापराध गणन प्रसङ्ग में वर्णित है "तथार्थवादो हरिनाम्निकल्पनम्" श्रीहरिनाम महिमा वर्णन को प्रशंसा वाकच मानना एक अपराध है ।

"अर्थवादं हरेर्नाम्नि सम्भावयति यो नरः ।
स पापिष्ठो मनुष्याणां निरये पतति स्फुटम् ॥"४२५॥

जो मनुष्य श्री हरिनाम माहात्म्य को प्रशंसा वाकच मानता है, अर्थात् यह तो प्रशंसा वाकच है, बढ़ा चढ़ाकर कहना है, इस प्रकार मन में सोचता है, वह व्यक्ति निखिल मनुष्यों के मध्य में अत्यन्त पापिष्ठ है, और वह निश्चय ही घोर नरक में निपतित होगा । इस प्रकार कात्यायन संहिता में लिखित है, ब्रह्म संहिता में बौधायन के प्रति श्रीपरमेश्वर की उक्ति है—

इति ब्रह्मसंहितायां बौधायनं प्रति श्रीपरमेश्वरोक्तौ। ततोऽन्तर्भूत-नामानुसन्धानेष्वन्येषु तद्भजनेषु च सुतरामेवार्थवादे दोषोऽवगम्यते। तदेवं यथार्थ एव तन्माहात्म्ये सत्यपि यत्र सम्प्रति तत्तद्भजन-फलोदयो न दृश्यते, कुत्रचिच्छास्त्रे च पुरातनानामप्यन्यथा श्रूयते, तत्र नामार्थवादकल्पना वैष्णवानादरादयो दुरन्ता अपराधा एव प्रतिबन्धकारणं वक्तव्यम्। अतएवोक्तं श्रीशौनकेन (भा० २।३।२४)—

"तदश्मसारं हृदयं बतेदं, यद्गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः।
न विक्रियेताथ यदा विकारो, नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः॥"४२७॥

यथा प्रायेण आधुनिकानाम्, यथा वा (भा० १०।६४।२५)—

"ब्रह्मण्यस्य वदान्यस्य तव दासस्य केशव।

"मन्नाम कीर्त्तनफलं विविधं निशम्य, न श्रद्दधाति मनुते यदुतार्थवादम्।
यो मानुषस्तमिह दुःखचये क्षिपामि, संसारघोरविविधार्त्तिनिपीड़िताङ्गम्॥"४२६॥

जो मनुष्य, मेरा श्रीनाम सङ्कीर्त्तन के विविध फलों को सुनकर विश्वास नहीं करता है, प्रत्युत प्रशंसा वाक्य मानता है, मैं उस को सांसारिक विविध घोर दुःखराशि से निपीड़िताङ्ग करके राशि राशि दुःख जलधि में निक्षेप करता रहता हूँ। अतएव जिस के मध्य में श्रीभगवन्नामादिका अनुसन्धान है, इस प्रकार भजनाङ्ग के विषय में भी यदि कोई प्रशंसा वाक्य मानता है तो दोष जो होगा, उस विषय में कोई सन्देह नहीं है। कारण, भजनीय श्रीभगवान् को एवं भजन—श्रीहरि भक्ति को अनुसन्धान न करके भी यदि भक्तचङ्ग अनुष्ठित होता है, तो भी भगवद् भजन का फल स्वरूप भगवत् प्राप्ति अवश्य होती है, इस का वर्णन शास्त्र में है, अतएव अनुसन्धान पूर्वक श्रीनाम सङ्कीतनादि भक्तचङ्ग का अनुष्ठान करने पर फल लाभ से मानव धन्य होगा, इस विषय में कहना ही क्या है? अतएव भजनानुसन्धानमय भक्तचङ्ग की महिमा को सुनकर जो लोक प्रशंसा वाक्य मानते हैं, उन सब का अधः पतन अवश्यम्भावी है। किन्तु यथार्थ ही श्रीनाम सङ्कीर्त्तनादि भक्तचङ्ग का माहात्म्य है, तथापि स्थल विशेष में भक्तचङ्ग का अनुष्ठान करने पर भी फलोदय दृष्ट नहीं होता है। अर्थात् श्रीभगवच्चरणों में प्रीति नहीं होती है। उस समय जानना होगा कि—प्राक्तन अपराध के कारण ही फलोदय नहीं होता है। शास्त्र में उस प्रकार वर्णन भी है। उस में भी यदि नामार्थवाद की कल्पना होती है, तथवा वैष्णवानादर रूप दुरन्त अपराध होता है, तो भजन फलोदय में वह प्रधान प्रतिबन्धक होता है। यह जानना होगा। अतएव भा० २।३।३४ में श्री शौनक ने कहा भी है—

"तदश्मसारं हृदयं बतेदं, यद्गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः।
न विक्रियेताथ यदा विकारो, नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः॥"४२७॥

टीका—अश्मवत् सारो बलं काठिन्यं यस्य। विक्रिया लक्षण माह—अथेति। गात्ररुहेषु रोमसु हर्ष उद्गमः॥

उस हृदय को पाषाणवत् अति कठोर जानना होगा, श्रीहरिनामादि श्रवण से भी जो हृदय विगलित नहीं होता है॥

इस प्रकार चित्त की अवस्था वर्त्तमान काल में दृष्ट होती है। भा० १०।६४।२५ में उक्त है।

स्मृतिर्नाद्यापि विध्वस्ता भवत्सन्दर्शनार्थिनः ।।"४२८।।

तदुक्तरीत्याध्यवसित-भक्तेरपि नृगस्य (भा० ६।३।२९) "जिह्वा न वक्ति" इत्यादि-यमवाक्य-विरुद्धं यमलोकगमनं प्राप्तवतो विना चार्थवाद-कल्पनामयं भावं श्रुतशास्त्रस्यापि तस्य सत्यां तादृशमाहात्म्यायां भक्तौ श्रीमदम्बरीषादिवत् सेवाग्रहं परित्यज्य दानकर्माग्रहो न स्यात् । तादृशापराधे भक्तिस्तम्भश्च श्रूयते, यथा पाद्मे नामापराधभञ्जनस्तोत्रे,—

"नामैकं यस्य वाचि स्मरणपथगतं श्रोत्रमूलं गतं वा
शुद्धं वाशुद्धवर्णं व्यवहित-रहितं तारयत्येव सत्यम् ।

"ब्रह्मण्यस्य वदान्यस्य तव दासस्य केशव ।
स्मृतिर्नाद्यापि विध्वस्ता भवत्सन्दर्शनार्थिनः ।।"४२८।।

हे केशव ! आप गो ब्राह्मण हितकारी परमोदार दाता हैं । जो आप का दास है, एवं आप का दर्शनार्थी है, उस में आप की स्मृति कभी विनष्टा नहीं होती है । इस का जाज्वल्यमान दृष्टान्त नृग है । उन्होंने कहा भी है—

"स त्वं कथं मम विभोऽक्षिपथः परात्मा
योगेश्वरैः श्रुतिदृशामलहृद्विभाव्यः ।
साक्षादधोक्षज उरुव्यसनान्धबुद्धेः
स्यान्मेऽनुदृश्य इह यस्य भवापवर्गः ।।"

अनन्तरम्— अनु जानीहि मां कृष्ण यान्तं देव गतिं प्रभो ।
यत्र क्वापि सतश्चेतो भूयान्मे त्वत्पदास्पदम् ।।

भा० ६।३।२९ में उक्त है— जिह्वा न वक्ति भगवद्गुणनामधेयं
चेतश्च न स्मरति तच्चरणारविन्दम् ।
कृष्णाय नो नमति यच्छिर एकदापि
तानानयध्वमसतोऽकृतविष्णुकृत्यान् ।।"

टीका— किञ्च जिह्वेत्यादि । यत् येषां जिह्वेत्याद्यन्वयः, न कृतं विष्णुकृत्यं भगवद् व्रतं यैः एकदापीति सर्वत्रान्वयः ।।

अर्थात् एकवार भी जिस की जिह्वा श्रीभगवद् गुण कर्म लाभ का कीर्त्तन नहीं करती है, जिस का चित्त, एकवार भी श्रीकृष्णचरणारविन्द का स्मरण नहीं करता है, जिस का मस्तक, एकवार भी श्रीकृष्ण को प्रणाम नहीं करता है, उस को यमपुरी में ले आने के निमित्त दूतों के प्रति यम राज का आदेश है । किन्तु उक्त समस्त आचरण करने पर भी एवं श्रीनामादि में अर्थवाद कल्पना न करने पर भी व्यक्ति विशेष का यदि यम लोक गमन होता है, तो भी भक्ति की महिमा यथावत् अक्षुण्ण रहती है, कारण, वह भक्त, श्रीअम्बरीषादि के समान सेवाव्रती हो होता है, किन्तु कदाचिदपि काम्यकर्माग्रहशील नहीं होता है । भक्ति के समीप में अपराध होने पर भक्ति स्तम्भित हो जाती है। पद्म पुराण के अपराध भञ्जन स्तोत्र में लिखित है—

"नामैकं यस्य वाचि स्मरणपथगतं श्रोत्रमूलं गतं वा
शुद्धं वाशुद्धवर्णं व्यवहित-रहितं तारयत्येव सत्यम् ।

तच्चेद्देह--द्रविण--जनता--लोभ--पाषण्डमध्ये
निक्षिप्तं स्यान्न फलजनकं शीघ्रमेवात्र विप्र ॥"४२९॥

देहादि-लोभार्थं ये पाषण्डा गुर्ववज्ञादि-दशापराधयुक्तास्तन्मध्ये इत्यर्थः । स्कान्दे प्रह्लाद संहितायां द्वारकामाहात्म्ये, —

"पूजितो भगवान् विष्णुर्जन्मान्तरशतैरपि । प्रसीदति न विश्वात्मा वैष्णवे चावमानिते ॥"४३०॥

स्कान्द एवान्यत्र मार्कण्डेय--भगीरथसंवादे,—

"दृष्ट्वा भागवतं दूरात् सम्मुखे नोपयाति हि । न गृह्णाति हरिस्तस्य पूजां द्वादशवार्षिकीम् ॥४३१॥
दृष्ट्वा भागवतं विप्रं नमस्कारेण नार्च्चयेत् । देहिनस्तस्य पापस्य न च वै क्षमते हरिः ॥"४३२॥

एवं बहून्येवापराधान्तराण्यपि दृश्यन्ते । एवमेव श्रीविष्णुपुराणे शतधनुर्नाम्नो राज्ञो

तच्चेद्देह–द्रविण–जनता–लोभ–पाषण्डमध्ये
निक्षिप्तं स्यान्न फलजनकं शीघ्रमेवात्र विप्र ॥"४२९॥

एक ही श्रीहरिनाम जिस की जिह्वा में स्फुरित होता है, अथवा जिस के स्मरण पदवी को प्राप्त करता है, किंवा श्रवण गोचरीभूत होता है। वह शुद्ध वर्ण से ही अथवा अशुद्ध वर्णोच्चारण से ही उच्चारित होता है। अथवा व्यवहित होकर ही, अथवा व्यवहित रहित होकर ही, उच्चारित होने से उच्चारण कारी को श्रीनाम निश्चय ही पवित्र करता है। किन्तु यदि वह नाम देह पोषण निमित्त, धन लोभ हेतु जनता लोभ हेतु प्रयुक्त होता है, अथवा गुरु अवज्ञा प्रभृति दशनामापराध युक्त व्यक्ति कर्त्तृक उच्चारित होता है, तो, शीघ्र श्रीकृष्ण प्रीति प्रदान नहीं करता है। किन्तु वहिर्मुखता सम्पादन करता है, यदि दैवाद् महत् कृपा अथवा भगवत् कृपा होती है तो बुद्धि निर्म्मल होकर नाम ग्रहण होता है उस से नाम ग्रहण का फल श्रीकृष्ण चरणों में प्रीति होती है। स्कन्द पुराण के प्रह्लाद संहितास्थ द्वारका माहात्म्य में लिखित है—

"पूजितो भगवान् विष्णुर्जन्मान्तरशतैरपि ।
प्रसीदति न विश्वात्मा वैष्णवे चावमानिते ॥"४३०॥

विश्वात्मा भगवान् विष्णु, शत शत जन्म में यदि आराधित होते हैं, तो उस मानव के प्रति विश्वात्मा भगवान् विष्णु प्रसन्न होते हैं, किन्तु वैष्णव को अपमानित करने से उस मानव के प्रति प्रसन्न नहीं होते हैं। स्कन्द पुराण के अन्यस्थान में जो मार्कण्डेय भगीरथ संवाद है, उस में उक्त है—

"दृष्ट्वा भागवतं दूरात् सम्मुखे नोपयाति हि ।
न गृह्णाति हरिस्तस्य पूजां द्वादशवार्षिकीम् ॥४३१॥
दृष्ट्वा भागवतं विप्रं नमस्कारेण नार्च्चयेत् ।
देहिनस्तस्य पापस्य न च वै क्षमते हरिः ॥"४३२॥

भगवत् भक्त को दूर से आते हुये देखकर सम्मुख के ओर जो नहीं जाता है, हरि, उसके द्वारा अनुष्ठित द्वादश वार्षिकी पूजा को अङ्गीकार नहीं करते हैं। भागवत विप्र को देखकर नमस्कार के द्वारा जो उनकी अर्च्चना नहीं करता है, श्रीहरि, उस मनुष्य के पापों को क्षमा नहीं करते हैं। इस प्रकार अनेक अपराधों का वर्णन शास्त्रों में है। इस प्रकार ही श्रीविष्णु पुराण में वर्णित है। शतधनु नामक एक भगवदाराधन तत् पर राजा थे। किन्तु उन्होंने एकदिन वेद एवं वैष्णव निन्दक व्यक्ति के सहित स्वल्प काल सम्भाषण किया था, उस से राजा कुक्कुर हो गये थे। अतएव भा० १।२।१६ में उक्त है—

भगवदाराधनतत्परस्यापि वेद-वैष्णवनिन्दकाल्पसम्भाषयैव कुक्कुरादियोनिप्राप्तिरुक्ता । अतः (भा० ११२।१६) "शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य" इत्यादौ, (ब्र० सू० ४।१।१) "आवृत्तिरसकृदुपदेशात्" इत्यादौ च पुरुषाणां प्रायः सापराधत्वाभिप्रायेणैवावृत्तिविधानम् । सापराधानामावृत्त्यपेक्षा चोक्ता पाद्मे नामापराधभञ्जनस्तोत्रे नामोपलक्ष्य—

"नामापराधयुक्तानां नामान्येव हरन्त्यघम् । अविश्रान्तिप्रयुक्तानि तान्येवार्थकराणि च ॥"४३३॥

"शुश्रूषोः श्रद्धधानस्य वासुदेव कथारुचिः ।
स्यान्महत् सेवया विप्राः पुण्यतीर्थ निषेवणात् ॥

टीका— ननु सत्यमेव कर्म्म निर्म्मलनी हरिकथारतिः, तथापि तस्यां रुचिर्नोत्पद्यते किं कूर्म्मस्तत्राह शुश्रूषोरिति । । पुण्यतीर्थ निषेवणात् निष्पापस्य महत् सेवा स्यात्, तया च तद्धर्म्मश्रद्धा, ततः श्रवणेच्छा, ततो रुचिः स्यादित्यर्थः ।

निष्पाप मानव, तीर्थ भ्रमण करने पर महत् सङ्ग उसका होता है, निष्पाप व्यक्ति के द्वारा ही महत् सेवा होती है, उस से महत् के आचरित धर्म में महत्त्व बोध होता है, अनन्तर उन महत् के मुख से उनके आचरित धर्म के विषय में श्रवणेच्छा होती है। अनन्तर धर्म में रुचि होती है। अतएव निष्पाप होना आवश्यक है, अन्यथा प्रतिकूल आचरण से मानव उत्तम वस्तु लाभ से वञ्चित हो जाता है। ब्रह्मसूत्र ४।१।१ में उक्त है— "आवृत्तिरसकृदुपदेशात्"

मानवगण प्रायशः अपराधी होते हैं, जो अपराधी नहीं हैं, उन के पक्ष में एकवार अनुष्ठान से फलोदय होता है, किन्तु अपराधी के पक्षमें श्रवणादि अङ्गों की आवृत्ति की आवश्यकता है, कारण, असकृत् अनुष्ठान हेतु श्रुति का विधान है। स च एषोऽणिमा, ऐतदात्म्यमिदं सर्वं, तत् सत्यं स आत्मा, तत्त्वमसीत्यादि श्रुति समूह का कथन नौ वार हुआ है। एकवार अनुष्ठित होने पर फल होता है, इस प्रकार शास्त्र वचन के साथ इस का विरोध नहीं है, कारण, उक्त वचन अदृष्ट फल विषयक है, और प्रस्तुत प्रकरण आत्मलाभ रूप प्रत्यक्ष फल विषयक होने के कारण, धान्य को तूष रहित करने के निमित्त जिस प्रकार पुनः पुनः अवघात करना आवश्यक होता है, वैसे ही आत्म साक्षात् कार पर्य्यन्त पुनः पुनः श्रवणादि की आवृत्ति होनी चाहिये भा० १।१।३ में वर्णित है—

"निगम कल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम् ।
पिवत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ॥"

यह श्रीभागवत है, और इसका पान पुनः पुनः निरन्तर ही करें। इस में एक कण भी अपेय नहीं है, मोक्ष होने पर भी भगवत पान का विराम नहीं है, स्वर्गादि सुख की भाँति मुक्त गण इस को परित्याग नहीं करते हैं, किन्तु सर्वदा सेवन करते हैं। आत्माराम गण भी निरन्तर श्रीहरि की उपासना करते रहते हैं। अपराधी व्यक्तियों के पक्ष में पुनः पुनः भक्त्यङ्ग की आवृत्ति करना आवश्यक है। पद्म पुराण के नामापराध भञ्जन स्त्रोत्र में नाम को उद्देश्य करके उक्त है—

"नामापराध युक्तानां नामान्येव हरन्त्यघम् ।
अविश्रान्तिप्रयुक्तानि तान्येवार्थकराणि च ॥"४३३॥

नामापराध युक्त व्यक्ति के पक्ष में नामापराध क्षालन हेतु अपर उपायावलम्बन की आवश्यकता नहीं है, अविश्रान्त श्रीहरिनाम ग्रहण से अपराध विनष्ट होता है, एवं नाम का फलोदय भी होता है। एतज्जन्य ही त्रैलोक्य सम्मोहन तन्त्रादि में अष्टादशाक्षर मन्त्र की आवृत्ति विहित है—

एतदपेक्षयैव त्रैलोक्य-सम्मोहनतन्त्रादावष्टादशाक्षरादेरावृत्तिविधानम्, यथा—

"इदानीं शृणु देवि त्वं केवलस्य मनोर्विधिम् । दशकृत्वो जपेन्मन्त्रमापत्कल्पेन मुच्यते ॥४३४॥
सहस्रजप्तेन तथा मुच्यते महतैनसा । अयुतस्य जपेनैव महापातकनाशनम् ॥"४३५॥

तथा ब्रह्मवैवर्त्ते नामोपलक्ष्य—

"हनन् ब्राह्मणमत्यन्तं कामतो वा सुरां पिबन् ।
कृष्ण कृष्णेत्यहोरात्रं सङ्कीर्त्य शुचितामियात् ॥"४३६॥

अत्रापराधालम्बनत्वेनैव वर्त्तमानानां पापवासनानां सहैवापराधेन नाश इति तात्पर्य्यम् ।

एतादृश-प्रतिबन्धापेक्षयैवोक्तं विष्णुधर्मे—

"रागादिदूषितं चित्तं नास्पदं मधुसूदने । बध्नाति न रतिं हंसः कदाचित् कर्द्दमाम्बुनि ॥४३७॥
न योग्या केशवं स्तोतुं वाग्दुष्टा चानृतादिना । तमसो नाशनायालं नेन्दोलेखा घनावृता ॥"४३८॥

"इदानीं शृणु देवि त्वं केवलस्य मनोर्विधिम् ।
दशकृत्वो जपेन्मन्त्रमापत्कल्पेन मुच्यते ॥४३४॥
सहस्रजप्तेन तथा मुच्यते महतैनसा ।
अयुतस्य जपेनैव महापातकनाशनम् ॥"४३५॥

हे देवि ! मैं अष्टादशाक्षर मन्त्रविधि को कहता हूँ । सुनो । दशवार मन्त्र जप करने से वह आपत से मुक्त होता है । सहस्र मन्त्र जप करने से महापाप से मुक्त होता है अयुत जप करने से महापातक विनष्ट होता है । ब्रह्म वैवर्त्त में नामोपलक्ष्य में वर्णित है—

"हनन् ब्राह्मणमत्यन्तं कामतो वा सुरां पिबन् ।
कृष्ण कृष्णेत्यहोरात्रं सङ्कीर्त्य शुचितामियात् ॥"४३६॥

ब्राह्मण हत्या करके अथवा स्वेच्छा से मदिरापान करके जो पाप होता है—उस की शुद्धि अहोरात्र कृष्ण कृष्ण कीर्त्तन करने से होती है ।

अपराध को अवलम्बन करके ही वर्त्तमान पाप वासना होती है, नाम सङ्कीर्त्तन के द्वारा अपराध के सहित पाप वासना भी विनष्ट हो जाती है, यही उक्त प्रकरण का तात्पर्य्य है ॥

अतएव इस प्रकार प्रतिबन्धक की अपेक्षा करके ही विष्णु धर्म में वर्णित है—

"रागादिदूषितं चित्तं नास्पदं मधुसूदने ।
बध्नाति न रतिं हंसः कदाचित् कर्द्दमाम्बुनि ॥४३७॥
न योग्या केशवं स्तोतुं वाग्दुष्टा चानृतादिना ।
तमसो नाशनायालं नेन्दोर्लेखा घनावृता ॥"४३८॥

विषयासक्ति प्रभृति दोषों से दुष्टचित्त, भगवान् श्रीमधुसूदन में स्थिर नहीं होता है । हंस कभी भी कर्दमयुक्त जल में प्रीत नहीं होता है. मिथ्या के द्वारा जो वाक्य दूषित है, वह कभी भी केशव का स्तव करने में सक्षम नहीं होता है । जिस प्रकार चन्द्र कला यदि मेघ द्वारा आच्छन्न होती है तो अन्धकार विनष्ट नहीं कर सकती है ।

सिद्ध महापुरुष वृन्द के भगवद् भजनानुशीलन, परमानन्द लाभ हेतु होता है, अर्थात् वे सब जितने ही भक्त्यङ्ग का अनुशीलन करते रहते हैं, उतने ही अपूर्व आनन्दास्वादन लाभ करते रहते हैं । असिद्ध

सिद्धानामावृत्तिस्तु प्रतिपदमेव सुखविशेषोदयार्था, असिद्धानामावृत्तिनियमः फलपर्य्याप्ति-पर्य्यन्तः, तदन्तरायेऽपराधावस्थिति वितर्कात्। यतः कौटिल्यम्, अश्रद्धा, भगवन्निष्ठाच्यावक-वस्त्वन्तराभिनिवेशः, भक्तिशैथिल्यम्, स्वभक्त्याद्यादिकृतमानित्वमित्येवमादीनि महत्सङ्गादि-लक्षण-भक्त्यापि निवर्त्तयितुं दुष्कराणि चेत्तर्हि तस्यापराधस्यैव कार्य्याणि तान्येव च प्राचीनस्य तस्य लिङ्गानि। अतएव कुटिलात्मनामुत्तमर्मापि नानोपचारादिकं नाङ्गीकरोति भगवान् यथा दूत्यगतो दुर्य्योधनस्य। आधुनिकानाञ्च श्रुतशास्त्राणामप्यपराधदोषेण श्रीभगवति श्रीगुरौ तद्भक्तादिषु चान्तरानादरादावपि सति बहिस्तदर्च्चनाद्यारम्भः कौटिल्यम्। अतएवाकुटिलमूढ़ानां भजनाभासादिनापि कृतार्थत्वमुक्तम्, कुटिलानान्तु भक्त्यनुवृत्तिरपि न

भक्त वृन्द के निमित्त पुनः पुनः भक्त्यङ्ग अनुशीलन का जो नियम कथित है, वह भक्ति का मुख्य फल रूप श्रीभगवत् स्फूर्त्ति साधक हृदय में होने के निमित्त है। कारण, साधक का जब अनुभव होगा कि— श्रीनामादि भक्त्यङ्ग का अनुष्ठान यथावत् सम्पन्न करने पर भी अभीष्ट देव की स्फूर्त्ति जब साधक हृदय में नहीं होती है, तब जानना होगा कि—श्रीभगवत् स्फूर्त्ति का बाधक अपराध हृदय में विद्यमान है। कारण, उस से (१) कौटिल्य, (२) अश्रद्धा, (३) भगवद् विषयक निष्ठा शैथिल्य कारक भिन्न वस्तु में अभिनिवेश, (४) भजन में शैथिल्य, (६) एवं भजनादि जन्य अभिमान प्रभृति होते हैं। महत् सङ्गादि स्वरूप भक्त्यङ्ग अनुष्ठान के द्वारा भी जब उक्त दोष समूह अपसारित नहीं होते हैं, तब जानना होगा कि– श्रीनामापराध के कार्य्य स्वरूप उक्त दोष समूह को जानना होगा। यदि वर्त्तमान जन्म में उस प्रकार कोई अपराध नहीं हुआ है, अथच उक्त दोष समूह हैं, तब समझना होगा कि पूर्व जन्मार्जित अपराध के कारण ही उक्त कौटिल्यादि दोष समूह की विद्यमानता हृदय में है। अर्थात् साधक जिस समय अनुभव करेगा कि— विविध भजनानुष्ठान यथावत् करने पर भी हृदय की कुटिलता, (१) भक्ति, भक्त, भगवान् में अविश्वास, (२) भजन निष्ठापहारक विषयान्तर में अभिनिवेश (३) भजन विषय में शैथिल्य (४) स्वयं भजन करते रहते हैं—इस प्रकार अभिमान (५) यह पाँच दोषों का अपसारण हृदय से नहीं हो रहा है, तब जानना होगा कि– वर्त्तमान जन्म में अथवा प्राक्तन जन्मान्तर में अनुष्ठित प्रचुर अपराध सञ्चित हैं, ऐसा न होने से ही महत् सङ्ग एवं महत् मुख से श्रीहरि कथा श्रवणादि करने से भी हृदय से उक्त पञ्चदोष विदूरित क्यों नहीं होते हैं? अतएव कुटिल चित्त युक्त व्यक्ति के द्वारा प्रदत्त विविध उपचार भी श्रीहरि अङ्गीकार नहीं करते हैं। उस का दृष्टान्त—महाभारतीय उद्योग पर्व में है, कुरुपाण्डव युद्धारम्भ होने के पहले स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण, दूत होकर सन्धिकार्य्य के निमित्त हस्तिनापुर में उपस्थित होने के समय कुटिलमति दुर्य्योधन स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण को वशीभूत करने के निमित्त राजपथ के उभय पार्श्ववर्त्ती गृह समूह को सुसज्जित करके प्रतिगृह में श्रीकृष्ण नाम सङ्कीर्त्तन प्रभृति भक्त्यङ्ग का अनुष्ठान कराये थे। किन्तु कुटिलता प्रयुक्त यह सब अनुष्ठान होने के कारण, उस को देखना सुनना न पड़े, तज्जन्य श्रीकृष्ण नयन मुद्रित करके एवं कर्ण में अङ्गुलि प्रदान पूर्वक राज सभा में उपस्थित हुये थे। अतएव कपटता पूर्बक भगवत् भजनानुष्ठान करने से श्रीभगवान् प्रसन्न नहीं होते हैं, एवं निज हृदय भी अस्वच्छ रहता है। वर्त्तमान शरीर में अवस्थान कर अपराधानुष्ठान कारी जन वृन्द भक्ति शास्त्र श्रवणादि करने पर एवं बाहर भगवान् एवं श्रीगुरुदेव, तथा भगवद् भक्त के प्रति अर्च्चनादि अनुष्ठान करने से भी चित्त में अनादर प्रभृति दोष विद्यमान होने के कारण, उक्त अनुष्ठान समूह को कौटिल्य जानना होगा। एतज्जन्य अकुटिल मूर्खगण भजनादि के आभास मात्र से भी कृतार्थ होते हैं। इस का वर्णन पहले हुआ है। कुटिल चित्त वृत्ति सम्पन्न

भवतीति स्कान्दे श्रीपराशरवाक्ये दृश्यते,—

"न ह्यपुण्यवतां लोके मूढ़ानां कुटिलात्मनाम् भक्तिर्भवति गोविन्दे कीर्त्तनं स्मरणं तथा ॥"४३९॥ इति ।

एतदपेक्ष्योक्तं विष्णुधर्मे—

"स यं शतेन विघ्नानां सहस्रेण तथा तपः । विघ्नायुतेन गोविन्दे नृणां भक्तिर्निवार्य्यते ॥"४४०॥ इति ।

अतएवाह (भा० ३।१९।३६) —

(१५३) "तं सुखाराध्यमृजुभिरनन्यशरणैर्नृभिः ।
कृतज्ञः को न सेवेत दुराराध्यमसाधुभिः ॥"४४१॥

स्पष्टम् ॥ श्रीसूतः ॥

व्यक्ति वृन्द के द्वारा भक्ति की अनुवृत्ति नहीं हो सकती, स्कन्द पुराण के श्रीपराशर के कथन में प्रकाशित है—

"न ह्यपुण्यवतां लोके मूढ़ानां कुटिलात्मनाम् ।
भक्तिर्भवति गोविन्दे कीर्त्तनं स्मरणं तथा ॥"४३९॥

अपुण्यवान् कुटिल चित्त मूर्ख वृन्द की भक्ति श्रीगोविन्द चरणों में नहीं होती है, एवं कीर्त्तन स्मरण भी नहीं होते हैं । इस प्रकार कौटिल्य को लक्ष्य करके ही विष्णु धर्मोत्तर में लिखित है—

"सत्यं शतेन विघ्नानां सहस्रेण तथा तपः ।
विघ्नायुतेन गोविन्दे नृणां भक्तिर्निवार्य्यते ॥"४४०॥

शत शत विघ्न के द्वारा सतता विनष्ट होती है,सहस्र सहस्र विघ्न से तपस्या नष्ट होती है, एवं अयुत विघ्नों से श्रीगोविन्द के चरणारविन्दों में मनुष्य वृन्द की भक्ति रुद्धा हो जाती है । अतएव श्रीमद्भागवत के ३।१९।३६ में कहा गया है—

(१५३) "तं सुखाराध्यमृजुभिरनन्यशरणैर्नृभिः ।
कृतज्ञः को न सेवेत दुराराध्यमसाधुभिः ॥"४४१॥

क्रमसन्दर्भ—तमिति । ऋजुभिरकुटिलैरतएवानन्यशरणैः, असाधुभिस्ततोऽन्य दृशः, कृतज्ञः शरणागति मात्रे सुखाराध्यता विज्ञः तस्य पुरुषार्थ चतुष्टय दातृत्वात् । तदेवं सति को न सेवेत ? सेवापरित्यागेन तत्तदन्यद्वाञ्छेदित्यर्थः ।

श्रीसुत—श्रीशौनक को कहे थे—सरलता एवं अनन्य भाव से शरणागत मानवों के पक्ष में सुखाराध्य श्रीकृष्ण की सेवा न करके कौन मानव रह सकता है ? किन्तु अपवित्र कुटिलात्मा मनुष्यों के पक्ष में श्रीभगवान् श्रीकृष्ण दुराराध्य हैं । अभिप्राय यह है कि—जब तक हृदय में कुटिलता रहती है, तब तक उस हृदय को असाधु कहते हैं, असाधु हृदय के द्वारा अनुष्ठित भजन से भगवान् सन्तुष्ट नहीं होते हैं । किन्तु सरल हृदय से एवं एकान्त भाव से भगवच्चरणों में शरण ग्रहण करके अल्प भजन करने से भी भगवान् सन्तुष्ट होते हैं । कारण, वह साधु है, एवं उस के द्वारा अनुष्ठित भक्ति के आचरण से भगवान् गोविन्द सन्तुष्ट होते हैं ।

श्रीसूत कहे थे ॥१५३॥

१५४। यथैव भगवद्भक्ता अप्यकुटिलात्मनोऽज्ञाननुगृह्णन्ति, न तु कुटिलात्मनो विज्ञानिति दृश्यते, यथा (भा० ११।५।४-५)—

(१५४) "दूरे हरिकथा केचिद्दूरे चाच्युतकीर्त्तनाः।
स्त्रियः शूद्रादयश्चैव तेऽनुकम्प्या भवादृशाम् ।।४४२।।
विप्रो राजन्य-वैश्यौ वा हरेः प्राप्ताः पदान्तिकम् ।
श्रौतेन जन्मनाथापि मुह्यन्त्याम्नायवादिनः ।।"४४३।।

टीका च—"तत्र येऽज्ञास्ते भवद्विधानामनुग्राह्या इत्याह--दूर इति । ज्ञानलव दुर्विदग्धास्त्वचिकित्स्यत्वादुपेक्ष्या इत्याशयेनाह,— विप्र इति" इत्येषा ।। श्रीचमसो निमिम् ।

१५५ । अथाश्रद्धा— दृष्टे श्रुतेऽपि तन्महिमादौ विपरीत-भावनादिना विश्वासाभावः,

---

१५४। भगवद् भक्त वृन्द अकुटिल स्वभाव मूर्खगण को अनुग्रह करते रहते हैं, किन्तु कुटिलचित्त विज्ञ गण को उस प्रकार अनुग्रह नहीं करते हैं। इसका वर्णन श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थ में सुस्पष्ट रूप में है। (भा० ११।५।४–५)

(१५४) "दूरे हरिकथा केचिद्दूरे चाच्युतकीर्त्तनाः ।
स्त्रियः शूद्रादयश्चैव तेऽनुकम्प्या भवादृशाम् ।।४४२।।
विप्रो राजन्य–वैश्यौ वा हरेः प्राप्ताः पदान्तिकम् ।
श्रौतेन जन्मनाथापि मुह्यन्त्याम्नायवादिनः ।।"४४३।।

टीका-- तत्र ये अज्ञास्ते भवद्विधानामनुग्राह्या इत्याह । दूर इति । दूरे हरिकथा श्रवणं येषां ते । अतएव दूरे चाच्युत कीर्त्तनं येषां ते दूरे अच्युतकीर्त्तनाश्चेति वा । (४) ज्ञानलव दुर्विदग्धास्तु अचिकित्स्यत्वादुपेक्ष्या इत्याशयेनाह विप्र इति। श्रौतेन-उपनयाख्येन उपलक्षणमेतत्। अध्ययनादिनापि हरेः पदान्तिकं तद्भजनोत्तमाधिकारं प्राप्ता अपि मुह्यन्ति, कर्मफलेषु सज्जन्ते कुतः। आम्नायेषु ये वादा, अर्थवादास्ते मोहकतया विद्यन्ते येषां ते। तदुक्तं गीतासु। यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः, वेद वादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिन इत्यादिना ।।

श्रीचमस योगीन्द्र, निमिमहाराज को कहे थे—हे राजन्! जो लोक, अत्यन्त अज्ञ, उन के प्रति महद् गण अनुकम्पा करते हैं। वे सब द्विविध होते हैं,—प्रथम वे हैं—जिनके निकट भक्त वृन्द का आगमन नही होता है, अतः हरिकथा श्रवण सौभाग्य लाभ उन सब को नहीं होता है। द्वितीय वे हैं—जो जन्मान्ध, जन्मतः बधिर एवं उन्मत्त हैं। उभयविध व्यक्ति के प्रति ही महतों का अनुग्रह होता है। किन्तु ज्ञानलब दुर्विदग्ध मानवगण अचिकित्स्य होते हैं। अर्थात् वे सब दुरभिमानरोग ग्रस्त होते हैं, अतएव उक्तरोग निवृत्ति करना दुःसाध्य होने के कारण उन सब को उपेक्षा करते हैं। इस अभिप्राय से कहा गया है—

ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य, शौक्र एवं श्रौत जन्म में भी श्रीहरिके चरण सान्निध्य प्राप्त करनेकी उपयोगिता को प्राप्त करके भी वेद की पुष्पित वाणी से विमुग्ध वे सब होते हैं।

श्रीचमस—निमिमहाराज को कहे थे ।।१५४।।

(१५५) कौटिल्यका वर्णन करने के पश्चात् अश्रद्धा का वर्णन करते हैं। श्रीगुरु, श्रीनाम, श्रीमन्त्र,

यथा दुर्य्योधनस्यैव विश्वरूपदर्शनादावपि । अतएव यथा (भा० १ १।१४) "आपन्नः संसृतिं घोरां यन्नाम विवशो गृणन्" इत्यादि श्रीशौनकस्य (वि० पु० १।१७।४४) "दन्ता गजानां कुलिशाग्र-निष्ठुराः" इति श्रीप्रह्लादस्यानुभवसिद्धम्, न तथा सर्व्वेषाम्। ईदृशमानुषङ्गिकं फलन्तु, शुद्धभक्तैर्भगवन्महिमख्यापनेच्छा यदि स्यात्, तदैवेष्यते, न तु स्वरक्षणाय स्वमहिमदर्शनाय वा, यथैवोक्तम्, (वि० पु० १।१७।४४)—

श्रीविग्रह, श्रीवैष्णव, एवं श्रीभगवान् प्रभृति की महिमा को देखकर एवं सुनकर भी असम्भावना एवं विपरीत भावना प्रभृति के द्वारा विश्वास के अभाव का नाम अश्रद्धा है । जिस प्रकार श्रीकृष्ण के विश्व-रूपादि दर्शन करके भी श्रीकृष्ण के प्रति दुर्य्योधन का परमेश्वर बोध न होना। अर्थात् कृष्ण के प्रति दुर्य्योधन का अविश्वास ही था । दुर्य्योधन श्रीकृष्ण को परमेश्वर नहीं मानते थे, किन्तु मायावी मानते थे। अतएव भा० १।१।१४ में उक्त है—

"आपन्नः संसृतिं घोरां यन्नाम विवशोगृणन् ।
ततः सद्यो विमुच्येत यद्‌बिभेति स्वयं भयम् ।।"

क्रमसन्दर्भ—विवशोऽपि—विशेषेण पराधीनः सन्नपि। यस्य, श्रीकृष्णस्य नाम,--तस्य सर्वावतारित्वादवतार नाम्नामपि तत्रैव पर्य्यवसानात् । अतएव साक्षाच्छ्रीकृष्णादपि तन्नाम प्रवृतिः प्रकाशान्तरेण श्रूयते, श्रीविष्णु पुराणे (४।१५।७) "तत्रत्वखिलानामेव भगवन्नाम्नां कारणान्यभवन्" इति गद्यम् । तादिदश्च वासुदेव-दामोदर--गोविन्द केशवादि नाम ज्ञेयम् ।।

टीका—तत् प्रभावमनुवर्णयन्तस्तद्‌यशः श्रवणौत्सुक्यमाविष्कुर्वन्ति आपन्न इति त्रिभिः, संसृतिं घोरामापन्नः प्राप्तः विवशोऽपि गृणन् ततः संसृतेः । अत्र हेतुः, यद् यतो नाम्नः, भयमपि स्वयं बिभेति ।।

श्रीशौनक कहे थे--हे सूत ! घोरतर संसार दशा प्राप्त मानव, अननुसन्धान से भी जिनके नामोच्चारण एवं श्रवणादि द्वारा तत् क्षणात् संसार दशा से मुक्त हो जाते हैं, कारण, स्वयं भयभी जिनके नाम से भीत होता रहता है । विष्णु पुराण में उक्त है—श्रीप्रह्लाद ने कहा था "दन्ता गजानां कुलिशाग्रनिष्ठुराः" इस का अनुभव श्रीप्रह्लाद को था । इस विषय अपर किसी को विश्वास न होने का कारण है—श्रीभगवन् नामापराध है । इस प्रकार विशुद्ध भक्ति का आनुषङ्गिक फल का प्रकाश सब के समक्ष में नहीं होता है । यदि भक्ति महिमा प्रकाश करने की इच्छा भगवान् की होती है तो, इस प्रकार भक्ति का आनुषङ्गिक फल का प्रकाश होता है । किन्तु आत्मरक्षा हेतु अथवा निज महिमा प्रकाश हेतु कभी भी शुद्ध भक्त वृन्द की इच्छा उस प्रकार भक्ति महिमा प्रकाश करने की होती ही नहीं । तात्पर्य्य यह है कि—

"अन्याभिलाषिताशून्य, ज्ञान कर्मादि अनावृत, एवं आनुकूल्य से कृष्णानुशीलन रूपा विशुद्धा भक्ति का मुख्य फल ही है—श्रीकृष्ण चरणों की प्रेम सेवा प्राप्ति । अन्यान्य फल, आनुषङ्गिक रूप से उपस्थित होते रहते हैं । जैसे संसार वासनाक्षय, मायानिवृत्ति, अखिल विघ्न विनाश, जन प्रियता, सम्मान लाभ, अर्थादि प्राप्ति प्रभृति । किन्तु जानना होगा कि यह सब विशुद्धा भक्ति के मुख्य फल नहीं हैं । किन्तु अनुषङ्गिक फल हैं, अर्थात् आनुषङ्गिक रूप से अविद्या निवृत्ति प्रभृति होती हैं । स्वार्थ साधन के उद्देश्य से अथवा प्रतिष्ठित होने के निमित्त भक्ति के आनुषङ्गिक फललाभ की इच्छा हृदय में होने से शुद्धा भक्ति नहीं होती है । कारण, श्रीकृष्ण सुखैक तात्पर्य्य को छोड़कर अपर कुछ कामना होने से श्रीकृष्ण प्रीति प्राप्ति नहीं होती है, प्रत्युत बहिर्मुखता आ जाती है । भक्ति के आनुषङ्गिक फल का अनुभव श्रीप्रह्लाद ने जिस प्रकार किया था, उसका वर्णन विष्णु पुराण के १।१७।४४ में इस प्रकार है—

"दन्ता गजानां कुलिशाग्रनिष्ठुराः, शीर्णा यदेते न बलं ममैतत् ।
महाविपत् पातविनाशनोऽयं, जनार्द्दनानुस्मरणानुभावः ।।"४४४।। इति ।

श्रीपरीक्षित्प्रभृतिभिस्तु तदपि नेष्टम्, यथा (भा० १।१९।१५) —

(१५५) "द्विजोपसृष्टः कुहकस्तक्षको वा, दशत्वलं गायत विष्णुगाथाः" इति ।

स्पष्टम् ।। राजा ।।

१५६ । अतएवाधुनिकेषु महानुभावलक्षणवत्सु तद्दर्शनेऽपि नाविश्वासः कर्त्तव्य ।

"दन्ता गजानां कुलिशाग्रनिष्ठुराः, शीर्णा यदेते न बलं ममैतत् ।
महाविपत् पातविनाशनोऽयं, जनार्द्दनानुस्मरणानुभावः ।।"४४४।। इति ।

वज्र से भी अतिनिष्ठुर, हस्ति समूह के दन्त सकल जो विशीर्ण हो गये थे, उस में मेरा प्रभाव नहीं है, किन्तु महाविपद् नाशन जनार्दन का निरन्तर स्मरण प्रभाव ही है । किन्तु श्रीपरीक्षित् प्रभृति विशुद्ध महाभागवत गण कभी भी निज भक्ति क प्रभाव से विपत्ति नाश की आकाङ्क्षा नहीं किये हैं, परन्तु भक्ति के फलरूप में श्रीभगवान् को प्राप्त कर उनकी सेवा करने की लालसा का पोषण हृदय में करते रहते हैं । निजकृत पाप अथवा अपराध का फल खण्डन के अभिलाष के विनिमय में दुःख भोग की प्रार्थना ही करते रहते हैं । उदाहरण स्वरूप भा० १।१९।१५ में उक्त है—

(१५५) "द्विजोपसृष्टः कुहकस्तक्षको वा ।
दशत्वलं गायतः विष्णुगाथाः ।।

"सप्तम दिवस में तक्षक दंशन करेगा" निज पुत्र शृङ्गीकृत अभिशाप को शमीक मुनि सुनकर गौर मुख नामक शिष्य के द्वारा महाराज परीक्षित् को शाप वृत्तान्त सूचित किये थे । उसी समय महाराज परीक्षित् गङ्गा तीर में प्रायोपवेशन करके ऋषिवृन्द के समक्ष में कहे थे, - ब्राह्मण प्रेरित कुहक हो अथवा साक्षात् तक्षक हो, मुझ को यथेष्ट दंशन करे, तथापि आप सब श्रीविष्णु चरित्र का गान करें । ज्ञातव्य यह है कि—यद्यपि भक्ति, निखिल अन्तराय विनष्ट करने में समर्था है, तथापि भक्त के सङ्कल्प के अनुसार ही निज सामर्थ्य प्रकाश तथा अप्रकाश करती है । जिन्होंने प्रह्लाद के विघ्न समूह को अपसारित किया है, उन के पक्ष में महाराज परीक्षित् के विघ्न रूप विप्र शाप को विदूरित करना असम्भव नहीं था । किन्तु परीक्षित् महाराज के हृदय में भक्ति के द्वारा तक्षक दंशन रूप विघ्नापसारण करने की इच्छा नहीं रही अतः सप्तम दिवस में तक्षक उनको दंशन किया था । महाराज परीक्षित् ने तो भक्ति की समस्त शक्ति के द्वारा श्रीकृष्ण पाद पद्म सेवालाभ का सङ्कल्प ही किया था । इस प्रकार आचरण करना ही समस्त विशुद्ध भक्तों का कर्त्तव्य है । भक्ति के विनिमय से अथवा भक्ति की किसी प्रकार सामर्थ्य को देह दैहिक सम्बन्धान्वित व्यवहारिक विषय सम्पादन हेतु विनियोग करना एकान्त अकर्त्तव्य है ।

राजा कहे थे ।।१५५।।

१५६ । अतएव महानुभाव लक्षण युक्त आधुनिक भक्त वृन्द में विविध विपत्ति को देखकर भी अविश्वास करना कर्त्तव्य नहीं है । अर्थात् जो, श्रीभगवान् के ऐकान्तिक भक्त होंगे उनको इस प्रकार अन्तराय क्यों होगा ? कारण, श्रीप्रह्लादादि महानुभव गण भक्ति शक्ति के प्रभाव से ही निखिल विपत्ति को पराभूत किये थे, यह भक्त, जब उक्त विपत्ति को विनष्ट नहीं कर सकते हैं, तब यह उत्तम भागवत नहीं है । इस प्रकार अविश्वास करना नहीं चाहिये । अथवा कोई भगवद् भक्त, भक्ति शक्ति के प्रभाव से

कुत्रचिद्भगवदुपासनाविशेषेणैव तादृशमानुषङ्गिकं फलमुदयते, यथा (भा० ४।८।७९)—

(१५६) "यदैकपादेन स पार्थिवात्मज-,स्तस्थौ तदङ्गुष्ठ-निपीड़िता मही।
ननाम तत्रार्द्धमिभेन्द्रधिष्ठिता, तरीव सव्येतरतः पदे पदे ।।४४५।।

अत्र सर्वात्मकतयैव विष्णुसमाधिना तादृक् फलमुदितम्। एतादृश्युपासना चास्य भावि-ज्योतिर्मण्डलात्मक-विश्व-चालन-पदोपयोगितयोदितेति ज्ञेयम् ।। श्रीमैत्रेयः।।

(१५७) अथ भगवन्निष्ठाच्यावक-वस्त्वन्तराभिनिवेशो यथा (भा० ५।८।२६)—

(१५७) "एवमघटमानमनोरथाकुलहृदयो मृगदारकाभासेन स्वारब्धकर्मणा

उपस्थित अन्तराय समूह को विनष्ट कर रहे हैं, यह देखकर समझना नहीं चाहिये कि यह विशुद्ध भागवत् नहीं है। इस प्रकार अविश्वास करना नहीं चाहिये। भक्त विशेष की उपासना के वैशिष्ट्य हेतु अप्रार्थित रूप से ही भक्ति का आनुषङ्गिक पूर्व वर्णित फलों का उदय होता है। ध्रुव का भी वैसा ही हुआ था, जिस समय ध्रुव समाधिस्थ हुये थे, उस समय आप एक पद से खड़े थे, उस समय उनके चरण की अङ्गुली के भार से निपीड़िता होकर पृथिवी, हस्ती पराक्रान्त नौका के समान अवस्थान को प्राप्त कर चुकी थी। इसका वर्णन भा० ४।८।७९ में है—

"यदैकपादेन स पार्थिवात्मज-,स्तस्थौ तदङ्गुष्ठ-निपीड़िता मही।
ननाम तत्रार्द्धमिभेन्द्रधिष्ठिता, तरीव सव्येतरतः पदे पदे ।।"४४५।।

टीका—तस्याङ्गुष्ठेन निपीड़िता आक्रान्तासती मही तत्र तदा अर्द्धं ननाम। समे ऽंशके ऽर्द्धशब्दस्य नपुंसकत्वात् अंशांशिनोऽभेदाच्च एवं सामानाधिकरण्यम् इभेन्द्रेणाधिष्ठिता तरी नौर्यथा पदे पदे सव्यतो दक्षिणतश्च नमति तद्वत् ।।

ध्रुव की अङ्गुष्ठ के भर से मही गजराज के पद के द्वारा आक्रान्ता तरी के समान दक्षिण एवं वाम भाग में अर्द्धेक नत हो गई थी। यहाँ, सर्व व्यापक विष्णु में ध्रुव समाधिस्थ होने के कारण ही अप्रार्थित रूप से भी इस प्रकार फल उपस्थित हुआ था। ध्रुव की यह उपासना भावी ज्योति मण्डलात्मक विश्वपरिचालन पद की उपयोगिता रूप में ही हुई थी। तात्पर्य्य यह है कि ध्रुव, जिस लोक में प्रस्थान किये थे, उस लोक का नाम ध्रुव लोक है, और वह समस्त ज्योतिश्चक्र भ्रमण हेतु अवलम्बनीय मूल स्तम्भ है, जिस प्रकार शस्य चूर्ण करने के निमित्त कृषक मध्यस्थल में पशु बन्धन शङ्कु स्थापन करता है, जिस में पशु बन्धन रज्जु बद्ध रहती है, उसके अवलम्बन से गोलाकार रूप में पशु चतुर्दिक में घूमता रहता है। उस प्रकार ज्योतिश्चक्र, इस ध्रुव लोक को अवलम्बन करके ही पृथिवी के चतुर्द्दिक में भ्रमण करता रहता है। तज्जन्य ही ध्रुव की अङ्गुष्ट के भर से पृथिवी अर्द्ध विनता हो गई थी।।

श्रीमैत्रेय कहे थे ।।१५६।।

१५७। अनन्तर श्रीभगवद् भिन्न अपर वस्तु में अभिनिवेश होने से भगवन्निष्ठा की हानि होती है, उस का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं— भा० ५।८।२६ में वर्णित है—

राजर्षि भरत, प्रगाढ़ अभिनिवेश मृग शावक के प्रति प्राप्त हुये थे। उस से प्रतीत होता था कि— निज प्रारब्ध कर्म फल ही मृगशावक रूप में स्थित है। उस प्रकार अभिनिवेश के फल स्वरूप, योगितापस भरत योगारम्भ से भ्रष्ट तो हुए थे, परन्तु श्रीभगवदाराधना से भी विच्युत हो गये थे। अर्थात् जिस मनके

योगारम्भणतो विभ्रंशितः स योगतापसो भगवदाराधन-लक्षणाच्च" इति ।

स श्रीभरतः । अत्रैवं चिन्त्यम्—भगवद्भक्त्यन्तरायकं सामान्यं प्रारब्धकर्म न भवितु-मर्हति, दुर्बलत्वात् । ततः प्राचीनापराधात्मकमेव तल्लभ्यत इन्द्रद्युम्नादीनामिवेति । श्रीशुकः ।

१५८ । केचित्तु साधारणस्यैव प्रारब्धस्य तादृशेषु भक्तेषु प्राबल्यं तदुत्कण्ठावर्द्धनार्थं स्वयं भगवतैव क्रियत इति मन्यन्ते । सा च वर्णिता मृगदेहं प्राप्तस्य तस्य । यथैव श्रीनारदस्य पूर्वजन्मनि जातरतेरपि कषायरक्षणमाह, (भा० १।६।२२)—

(१५८) "हन्तास्मिन् जन्मनि भवान् मा मां द्रष्टुमिहार्हति ।
अविपक्वकषायाणां दुर्द्दर्शोऽहं कुयोगिनाम् ॥"४४६॥

स्पष्टम् ॥ श्रीभगवान् ॥

द्वारा श्रीभगवदाराधना करते थे, उनका वह मन, मृग शावक की चिन्तामें रत हो गया । यहाँ पर विचार्य्य विषय यह है कि सामान्य प्रारब्ध कर्म श्रीभगवद् भक्ति का अन्तराय नहीं हो सकता है । कारण, आरब्ध कर्म अति दुर्बल है, श्रीभगवद् भक्ति—भगवद् स्वरूप शक्ति की वृत्ति स्वरूप होने के कारण सबला है । माया शक्ति का कार्य्य, प्रारब्ध कर्म, कैसे चित् स्वरूपा भगवद् भक्ति के प्रति प्रभाव विस्तार कर सकता है ? अतएव यहाँपर जानना होगा कि—इन्द्रद्युम्न महाराज, जिस प्रकार श्रीभगवदर्च्चन करते समय समागत अगस्त्य मुनिको समादर प्रदान नहीं किये थे । उस उपराध से उनको हस्ति जन्म लाभ हुआ था । यहाँ पर भी किसी प्राचीन अपराध के फल से ही मृग देह में इस प्रकार अभिनिवेश हुआ, एवं तज्जन्य ही भरत, भगवद् भजन से भी विच्युत हुए थे । श्रीशुक देव कहे थे ॥१५७॥

१५८ । इस विषय में कतिपय व्यक्ति, इस प्रकार सिद्धान्त करते हैं—उत्कण्ठावर्द्धन हेतु श्रीभगवान् जात रति भक्त में साधारण मायामय प्रारब्ध कर्म का प्राबल्य प्रकाश स्वयं ही करते हैं । उस प्रकार उत्कण्ठा का वर्णन, प्राप्त मृगदेह भरत चरित्र में समधिक हुआ है । देवर्षि नारद के पूर्व जन्म में अर्थात् जिस समय नारद, दासी पुत्र रूप में जन्म ग्रहण किये थे, उस समय, श्रीहरि में स्थायि भाव प्राप्त करने के पश्चात् भी श्रीभगवदाविर्भाव दर्शन के अनन्तर पुनर्वार अदर्शन प्राप्त करके दर्शन हेतु अति व्याकुल हुये थे । उस समय आकाश वाणी इस प्रकार हुई थी भा० १।६।२२

(१५८) "हन्तास्मिन् जन्मनि भवान् मा मां द्रष्टुमिहार्हति ।
अविपक्वकषायाणां दुर्द्दर्शोऽहं कुयोगिनाम् ॥" ४४६॥

क्रमसन्दर्भ—हन्तेति, (भा० १।५।२८) "भक्तिः प्रवृत्तात्मरजस्तमोपहा" इत्युक्तत्वात् । कषायोऽत्र सात्त्विको वन वासाद्याग्रहः (भा० ११।२५।२५) "वनं तु सात्त्विको वासो ग्राम्यो राजस उच्यते । तामसं द्यूत सदनं मन्निकेतन्तु निर्गुणम् ॥" इत्युक्तेः । उत्कण्ठा वर्द्धनार्थञ्चेदम् ॥

हे नारद ! तुम, इस जन्म में मुझ को और देख न सकोगे । यह अतीव दुःख की बात है । मेरा स्वभाव यह है कि—जिन की भोग वासना का क्षय नहीं हुआ है, उन सब कुयोगी को मैं दर्शन दान नहीं करता हूँ । तब जो एकवार मात्र तुम्हें दर्शन दिया, वह केवल तुम्हारी दर्शनोत्कण्ठा बर्द्धित करने के निमित्त ही जानना । श्रीभगवान् नारद को कहे थे ॥१५८॥

१५६। तदेवमपराधहेतुक--तदभिनिवेशोदाहरणं गजेन्द्रादीनां विषयावस्थायां कार्य्यम्। अथ भक्तिशैथिल्यम्, येनाध्यात्मिकादि-सुखदुःखनिष्ठैवोल्लसति, भक्तितत्परानान्तु तत्रानादरो भवति, यथा सहस्रनामस्त्रोत्रे,—

"न वासुदेवभक्तानामशुभं विद्यते क्वचित्। जन्म--मृत्यु -जरा--व्याधि--भयञ्चाप्युपजायते॥"४४७॥ इति।

या तु सत्साधकस्य मनुष्यदेह-रिरक्षिषा जायते, साप्युपासनावृद्धिलोभेन, न तु देहमात्र-रिरक्षिषयेति, न तथा च भक्तितात्पर्य्यहानिः। तदेवं विवेकसामर्थ्ययुक्तस्यापि भक्तितात्-पर्य्यव्यतिरेकगम्यं तच्छैथिल्यं मध्ये मध्ये रुच्यमाणया भक्त्या यन्न दूरीक्रियते, तदपराधालम्बन मेवेति गम्यते। अतएवापराधानुमानाप्रवृत्तेर्मूढ़े चासमर्थे चाल्पेन सिद्धिः

१५६। उस प्रकार अपराध हेतु विषय में अभिनिवेश का उदाहरण गजेन्द्र प्रभृति की विषयावस्था में है, अर्थात् अपराध के कारण किस प्रकार भगवद् विमुखता होती है, उसका उदाहरण गजेन्द्र प्रभृति में है। सम्प्रति भक्ति शैथिल्य का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। भक्ति शैथिल्य होने के कारण, आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक सुख दुःखादि में निष्ठा उल्लसित होती रहती है। अर्थात् भक्तिशैथिल्य हेतु निज शरीर में शारीरिक सुख दु खानु सन्धान में चित्ताविष्ट हो जाता है। किन्तु जो लोक भजनानुष्ठान तत् पर हैं, उनके चित्त का आवेश आधिभौतिक वा आधि दैविक अन्तराय में नहीं होता है, किन्तु वे सब उस प्रकार अन्तराय का समादर ही करते हैं। सहस्र नाम स्तोत्र में उक्त है

" न वासुदेवभक्तानामशुभं विद्यते क्वचित्।
जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-भयञ्चाप्युपजायते॥"४४७॥

वासुदेव के भक्तों का अमङ्गल नहीं होता है। जन्म मृत्यु जरा व्याधि से भी वे सब भीत नहीं होते हैं। किन्तु सत् साधक की मनुष्य शरीर रक्षा करने की जो चेष्टा देखी जाती है, वह भगवदुपासना वृद्धि के लोभ से ही होती है, साधक सोचते रहते हैं—दीर्घ दिन मनुष्य जीवन विद्यमान होने से श्रीकृष्ण भजन करके कृत कृत्य हो सकते। इस प्रकार भजन करनेकी लालसा से ही दीर्घकाल मनुष्य देह में अवस्थित रहने की इच्छा होती है। एतज्जन्य उक्त कामना, भक्ति विरुद्ध नहीं होती है। किन्तु भक्ति के अनुकूल ही होती है। किन्तु भक्त गण, केवल देह रक्षा की लालसा से जीवित रहना नहीं चाहते हैं। जहाँ पर देखने में आता है कि—निज हिताहित विचार सामर्थ्य युक्त व्यक्ति का भी भक्ति तात्पर्य्य शून्य भजन शैथिल्य उपस्थित होता है। वहाँपर अनुष्ठित भजन शैथिल्य निवारण हेतु अधिक परिमाण से स्वतन्त्र रूप से यदि भक्तिका अनुष्ठान नहीं होता है तो, एवं भजन शैथिल्य को देखकर भी अनुतप्त नहीं होता है, अथवा आकुल भाव से सिद्ध भक्त किंवा श्रीभगवान् के निकट प्रार्थना नहीं करता है तो, वहाँ जानना होगा कि भक्ति शैथिल्य अपराध के कारण ही हुआ है। तज्जन्य समझने की क्षमता होने पर भी भजन शैथिल्य निवृत्ति हेतु चेष्टा नहीं होती है, वहाँ अनुमान किया जा सकता है कि—अपराध विद्यमान होने के कारण ही अन्तराय निवृत्ति हेतु प्रवृत्ति नहीं होती है। इस प्रकार अवस्थान में साधक यदि मूढ़ वा असमर्थ होता तो, अल्प भक्ति का अनुष्ठान से ही अपराध निवृत्ति होती है, एवं अभीष्ट लाभ भी होता है, कारण, मूढ़ वा असमर्थ व्यक्ति के प्रति दीन दयाल श्रीभगवान् की कृपा अत्यधिक होती है। किन्तु विवेक एवं सामर्थ्य रहते हुये भी अर्थात् जो जानता है कि, यह अपराध है, वा होगा, एवं अपराध होने से भजन व्याघात होगा, यह जानने पर भी यदि अपराध उपस्थित होता है तो उस को अत्यन्त दौरात्म्य ही जानना

समर्थैव। तत्र दीनदयालोः श्रीभगवतः कृपा चाधिका प्रवर्त्तते। किं तु विवेकसामर्थ्ययुक्ते सम्प्रत्यपि योऽपराधापातो भवति, सोऽत्यन्तदौरात्म्यादेव। तद्विपरीते तु नाति-दौरात्म्यादन्त विदुषः समर्थस्य शतधनुषोऽन्तरायोऽनन्तरविहित-भगवदुपासनस्यापि युक्त एव। मूढ़ानां तु मूषिकादीनामपराधेऽपि सिद्धिस्तथैव युक्ता,—दौरात्म्याभावेन भजनस्वरूपप्रभावस्यापराधमति-क्रम्योदयात्। अथ भक्त्यादिकृताभिमानित्वञ्चापराधकृतमेव,—वैष्णवावमानादिलक्षणा-पराधान्तरजनकत्वात्, यथा दक्षस्य प्राक्तन-श्रीशिवापराधेन प्राचेतसत्वावस्थायां श्रीनारदापराधजन्मापि दृश्यते। तदेवं यत् सकृद्भजनादिनैव फलोदय उक्तस्तद्यथावदेव,

---

होगा। और जहाँ देखने में आता है कि—"यह अपराध है" इस प्रकार जानने की क्षमता ही नहीं है, तज्जन्य अपराध हुआ है, वहाँ जानना होगा कि—अत्यन्त दौरात्म्य हेतु अपराध उपस्थित नहीं हुआ है।

अपराध का परिज्ञान है, एवं पूर्वावस्था में भगवदुपासक शतधनु महाराज का जो अपराध श्रीकृष्ण चरणों में दौरात्म्य रूप जो अपराध उपस्थित हुआ है—वह युक्ति युक्त ही है। मूढ़, मदिरा मत्त मानव, मूषिक प्रभृति का अपराध विद्यमान है, तथापि श्रीमन्दिर में ध्वजारोपण, एवं श्रीमन्दिर में दीप प्रदान रूप भक्ति के आभास से भी जो सिद्धि प्राप्ति हुई है, वह पूर्व सिद्धान्तानुसार ही है। यहाँ भक्ति के आभास मात्र से ही जो सिद्धि लाभ हुआ है, उस का कारण है - मूषिक प्रभृति का ज्ञान नहीं है, यह अपराध है, यह अपराध नहीं है। अतएव घृतवर्त्ति हरण करना वा नग्न होकर पुरातन वस्त्रखण्ड को उठाकर जीर्ण मन्दिर में नृत्य करना—अत्यन्त दौरात्म्य के मध्य में परिगणित नहीं हुआ है, अतएव भजन के प्रभाव से ही अपराध अतिक्रम हो जाता है, तथा अपराध अतिक्रम करके सिद्धि लाभ भी होता है। अनन्तर पूर्व वर्णित (१) भक्ति बाधक कौटिल्य, (२) अश्रद्धा (३) भगवन्निष्ठाच्यावक वस्त्वन्तराभिनिवेश (४) भक्ति शैथिल्य (५) स्व भक्त्यादि कृत अभिमानित्व—इन पाँचो के मध्य में क्रमशः चार का वर्णन करके सम्प्रति निज भजन अनुष्ठानादि हेतु उत्थित अभिमान का वर्णन करते हैं।

जहाँपर देखने में आता है कि "मैं श्रेष्ठ भक्त हूँ मैं आचार्य्य हूँ, मेरे समान कोई भी भजन नहीं करता है।" इस प्रकार अभिमानोदय होता है, वहाँ जानना होगा कि—प्राचीन वा आधुनिक अपराध के कारण ही अभिमान का उदय हुआ है। कारण उक्त अपराधोत्थ अभिमान से ही वैष्णव अवज्ञा रूप अपराधान्तर की उत्पत्ति होती है।

जिस प्रकार दक्ष प्रजापति का पूर्व जन्म में शिव निन्दारूप अपराध हुआ। उस के कारण, द्वितीय जन्म में प्रचेतानन्दन दक्ष नाम से अभिहित होकर प्रजापति पदवी प्राप्त किये थे। इस जन्म में आपने श्रीब्रह्मा के आदेश से दश सहस्र प्रजा उत्पादन किये थे। पुत्र गण को परमेश्वर की उपासना करके शक्ति प्राप्त कर प्रजा सृष्टि करने के निमित्त आपने आदेश भी किया। पुत्र गण भी पश्चिम समुद्र के तीर में जाकर श्रीभगवदुपासना में प्रवत्त हो गये। उस समय देवर्षि नारद के संहत प्रसङ्ग होने के कारण उन सब को विषय वैराग्य हो गया। दक्ष प्रजापति यह वृत्तान्त सुनकर देवर्षि के प्रति अत्यन्त कुपित हो गये। एवं "पुनर्वार प्रजासृष्टि नहीं करेंगे" इस प्रकार सङ्कल्प भी किये थे। श्रीब्रह्मा के कथन से पुनर्वार प्रजासृजन करने में प्रवृत्त होकर एक सहस्र पुत्र उत्पन्न किये थे। वे सब भी देवर्षि के सङ्ग से विषय विरक्त हो गये। प्रजापति, संवाद सुनकर क्रोधान्ध हो गये, इसी समय सहसा देवर्षि नारद का आगमन उनके समीप में हुआ, प्रजापति, देवर्षि को तिरस्कार करके 'एकत्र अवस्थान नहीं होगा" कहकर अभिसम्पात किये थे।

यदि प्राचीनोऽर्वाचीनो वापराधो न स्यात् । मरणे तु सर्वथा सकृदेव यथाकथञ्चिदपि भजनमपेक्ष्यते । तत्र हि तस्यैव सकृदपि भगवन्नाम-ग्रहणादिकं जायते, यस्य पूर्वत्र वात्र वा जन्मनि सिद्धेन भगवदाराधनादिना तदानीं स्वीयप्रभावं प्रकटयतानन्तरमेव भगवत्साक्षात् कारो भाव्यते, (गी० ८।६) —

"यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ।।"४४८।।

इति श्रीगीतोपनिषद्भ्यः । ततोऽपराधाभावात् तत्क्षयार्थं न तत्रावृत्त्यपेक्षा, यथाजामिलस्य,

---

श्रीनारद के समीप में दक्ष प्रजापति का इस प्रकार आचरण से अपराध की उत्पत्ति पुनर्वार हुई । इस अपराध का मूल कारण ही पूर्व जन्म कृत शिवनिन्दारूप अपराध है । अतएव प्रचीन वा आधुनिक अपराध निबन्धन अभिनव अपराधोत्पत्ति का भजनोत्थित अभिमान है । अतएव यदि प्राचीन अथवा आधुनिक अपराध सञ्चित नहीं हो तो, एकवार मात्र भजन से ही अर्थात् सकृदुच्चारित श्रीकृष्णनामोच्चारणादि से ही भक्ति फल प्रेमोदय होता है । यह सुनिश्चित सिद्धान्त है ।

मृत्यु के समय में तो यथा कथञ्चित् एकवार मात्र ही भजन की अपेक्षा है, अर्थात् मृत्यु काल में एकवार मात्र जैसे तैसे श्रीहरि के नामादि श्रवण, कीर्त्तन एवं स्मरणादि के मध्य में एकतम भजन करने से ही परम गति होती है । जिस के पूर्व जन्म में अथवा वर्त्तमान जन्म में श्रीभगवदाराधनादि सिद्ध होते हैं, उस में ही मृत्यु समय में भजन शक्ति, निज सामर्थ्य प्रकाश करती है । अतः उस अन्तिम काल में भी श्रीभगवन्नामादि ग्रहण उस व्यक्ति के द्वारा होता है, एवं देह त्याग के पश्चात् श्रीभगवत् साक्षात् कार की सम्भावना भी की जा सकती है, । किन्तु जिस का भजन सिद्ध नहीं हुआ है, उस का प्राण प्रयाण समय में नामोच्चारण होना असम्भव है । इस अभिप्राय से ही श्रीभगवद् गीतापनिषद् के ८।६। में उक्त है—

"यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ।।"४४८।।

टीका—मामेव स्मरन् मां प्राप्नोतीतिवन् मदन्यमपि स्मरन् मदन्य मेव प्राप्नोतीत्याह यं यमिति । तस्य भावेन भावनेन अनुचिन्तनेन भावितो वासितः, तन्मयीभूतः ।।"

हे कौन्तेय ! अन्तिम काल में जिस जिस विषय की चिन्ता करके देह त्याग होता है, सर्वदा तद् भाव भावित व्यक्ति, उस उस विषय को प्राप्त करता है । इस श्लोक में उल्लिखित "सदा तद् भावभावित: पद का तात्पर्य्य यह है कि—सर्वदा जिस जिस भाव में हृदय आविष्ट होता है, अन्तिम काल में उस उस विषय की स्फूर्त्ति होती है । इस से प्रतिपादित हुआ है । किन्तु भजन सिद्ध व्यक्ति के ही अन्तिम समय में श्रीनामादि भजनाङ्ग की स्फूर्त्ति होती है । अतएव जानना होगा कि—अन्तिम काल में भजनाङ्गकी स्फूर्त्ति जिस की होती है, उसका प्राचीन वा आधुनिक किसी प्रकार अपराध नहीं है । अपराध की विद्यमानता में अन्तिम काल में श्रीनामादि स्फूर्त्ति की सम्भावना ही नहीं की जा सकती है । अपराध विद्यमान न होने से पुनः पुनः भजन की अपेक्षा नहीं है, जिस प्रकार अपराध शून्य अजामिल के अन्तिम समय में एकवार मात्र उच्चारित नामाभास से कृतार्थ होने का संवाद सुनने में आता है । किन्तु बहुविध श्रीहरिनामादि श्रवण से भी यमदूत गण का कृतार्थ होने का संवाद कहीं पर सुनने में नहीं आया है । कारण, यमदूत गण में श्रीहरिनाम के प्रति जिस प्रकार प्रीति का अभाव विद्यमान है, उस प्रकार ही श्रीनाम माहात्म्य श्रवण कर

न तथा कृत-तन्नामश्रवणादीनामपि यमदूतानाम्, यथाह (भा० ६।२।३१)—

(१५६) "अथापि मे दुर्भगस्य विबुधोत्तम--दर्शने ।
भवितव्यं मङ्गलेन येनात्मा मे प्रसीदति ॥"४४६॥

"पूर्वेण मङ्गलेन महता पुण्येन" इति टीका च ॥

१६० । व्यतिरेकेणाह (भा० ६।२।३३) —

(१६०) "अन्यथा म्रियमाणस्य नाशुचेर्वृषलीपतेः ।
वैकुण्ठनामग्रहणं जिह्वा वक्तुमिहार्हति ॥"४५०॥

स्पष्टम् ॥ श्रीमानजामिलः ॥

१६१ । यत्तु श्रीभरतस्य मृगशरीरं त्यजतो नामानि गृहीत्वापि शरीरान्तरप्राप्तिस्तत्रापि

प्रशंसा वाक्य मानना भी अपराध विद्यमान है ।

भा० ६।२।३२ में श्रीअजामिल की सिद्धि प्राप्ति कथा वर्णित है, उस का प्रकाश श्रीअजामिल के निज वाक्य से ही हुआ है—

(१५६) "अथापि मे दुर्भगस्य विबुधोत्तमदर्शने ।
भवितव्यं मङ्गलेन येनात्मा मे प्रसीदती ॥"४४६॥

टीका—यद्यप्यहमस्मिन् जन्मनि दुर्भगः पापीयान् तथापि जन्मान्तरे नूनं पुण्यवानित्याह—विबुधोत्तमदर्शन इति निमित्त सप्तमी, तेषां दर्शनार्थं पूर्वेण मङ्गलेन महता पुण्येन भवितव्यं येन दर्शनेन ।

यद्यपि मैं सब प्रकार से सौभाग्य हीन हूँ, तथापि इन महापुरुषों के दर्शन से मेरा मङ्गल अवश्य ही होगा । कारण, मेरा चित्त, प्रसन्न हो गया है, । यहाँपर मङ्गल शब्द का अर्थ स्वामिपाद ने "पूर्व सञ्चित महापुण्य" किया है । यहा महापुण्य शब्द से साधुसङ्ग को ही जानना होगा ॥१५६॥

१६० । श्रीअजामिल ने व्यतिरेक मुख से भी कहा है – भा० ६।२।३३

(१६०) "अन्यथा म्रियमाणस्य नाशुचेर्वृषलीपतेः ।
वैकुण्ठनामग्रहणं जिह्वा वक्तुमिहार्हति ॥"४५०॥

टीका—अन्यथा पूर्व पुण्यं विना । कथम्भूतं वैकुण्ठ नाम ? गृह्यते वशीक्रियते चित्तमनेनेति ग्रहणम् ।

अर्थात् यदि मेरा प्रचुरतर सौभाग्य न होता तो इन महापुरुषों का दर्शन कभी भी नहीं हो सकता मैं अपवित्र दासी पति हूँ, मृत्यु समय में मेरी जिह्वा, श्रीनारायण नाम ग्रहण नहीं कर सकती, यदि मेरा प्रचुरतर सौभाग्योदय नहीं होता, जिह्वा में श्रीहरिनामोच्चारण होना, – परम सौभाग्य का फल है ही, उस में भी अपवित्र दासी संसर्गदोष से दुष्ट चित्त युक्त व्यक्ति के मुख से श्रीनामोच्चारण होना अत्यधिक सौभाग्य सापेक्ष है, तन्मध्ये मृत्यु समय में श्रीनारायण नामोच्चारण और भी अधिकतर सौभाग्य न होने से नहीं होता । अतएव निरपराध व्यक्ति भी महापुरुष की कृपा से अल्प साधन से भी श्रीभगवद्धामलाभ कर सकता है – इस विषय में आदर्श अजामिल चरित्र ही है ।

श्रीमान् अजामिल सुस्पष्ट रूप से कहे थे ॥१६०॥

१६१ । यहाँपर संशय हो सकता है कि—भरत-मृग शरीर त्याग के समय श्रीनारायणादि

साक्षाद्भगवत्-प्राप्तिरेव,—तादृशानां हृदि सदाविर्भावात् । एवमजामिलस्य पूर्वशरीरावस्थितावपि ज्ञेयम् । ततो मरण-समये सकृद्भजनस्यानन्तरमेव कृतार्थत्वप्रापणे व्यभिचारो न स्यात् । अतएवाह,(भा० २।१।६) —

(१६१) "एतावान् सांख्ययोगाभ्यां स्वधर्मपरिनिष्ठया ।
जन्मलाभः परः पुंसामन्ते नारायणस्मृतिः ॥"४५१॥

टीका च —"एतावानेव जन्मनो लाभः फलम् । तमाह,— नारायणस्मृतिरिति । सांख्यादिभिः साध्य इति तेषां स्वातन्त्र्येण लाभत्वं वारयति । अन्ते तु स्मृतिः परो लाभः । न तन्महिमा वक्तुं शक्यत इत्यर्थः" इत्येषा । नामकौमुदीकारैश्चान्तिमप्रत्ययोऽभ्यर्हित इत्युक्तम् । श्रीशुकः ।

१६२ । अतएवाजामिलस्यान्यदापि पुत्रोपचारितं नारायण-नाम गृह्णतः—

नामोच्चारण किये थे। तथापि श्रीभगवद्धाम प्राप्ति न होकर जन्मान्तर में ब्राह्मण देह की प्राप्ति उनकी क्यों हुई ? अर्थात् अन्तिम समय में पुत्र के नामोच्चारणच्छल से नारायण नाम उच्चारण करके अजामिल वैकुण्ठ धाम गमन करके श्रीभगवान् को प्राप्त किया था। किन्तु भरत, मृगशरीर त्याग के समय साक्षात् श्रीनारायणादि नामोच्चारण करके भी वैकुण्ठ में श्रीभगवान् को प्राप्त क्यों नहीं किये ? एवं ब्राह्मण देह में पुनर्जन्म क्यों हुआ ? उत्तर में कहते हैं—श्रीभरत की देहान्तर प्राप्ति होने पर भी उस देह में ही उन्होंने भगवत् साक्षात् कार प्राप्त किया था। कारण, महापुरुषों के हृदय में सर्वदा ही श्रीभगवान् का आविर्भाव होता है। इस प्रकार अजामिल का, श्रीहरि प्रिय पार्षद वर्ग का दर्शन लाभ के पश्चात् पाञ्चभौतिक शरीर जब तक था, तब तक उनकी श्रीभगवत् स्फूर्त्ति होती थी। अतएव मृत्यु समय में एकवार भजन करने के बाद ही साधक कृतार्थ हो सकता है, इस विषय में व्यभिचार नहीं होता है।

अतएव भा० २।१।६ में श्रीशुकने श्रीपरीक्षित् को कहा है—

(१६१) "एतावान् सांख्ययोगाभ्यां स्वधर्मपरिनिष्ठया ।
जन्मलाभः परः पुंसामन्ते नारायणस्मृतिः ॥"४५१॥

हे राजन् ! साङ्ख्य—आत्म अनात्म विवेक—अथवा प्रकृति पुरुष विवेक, एवं अष्टाङ्ग योग और स्वधर्म परिनिष्ठा द्वारा अन्त में श्रीनारायण स्मृति ही मानव जन्म ग्रहण का मुख्य फल है। इस श्लोक की टीका में स्वामिपादने कहा है,—साङ्ख्य प्रभृति साधनों का साध्य नारायण स्मृति है। इन सब साधनों को अपर कुछ फल होने पर भी उस को मुख्य फल नहीं कहा जा सकता है। किन्तु नारायण स्मृति ही उन सब साधनों का साध्य वा मुख्य फल जानना होगा। अन्तिम समय में श्रीनारायण स्मृति ही परम फल लाभ है।। अन्तिम समय में श्रीनारायण स्मृति की महिमा का वर्णन करने में कोई भी समय नहीं हैं। श्रीनाम-कौमुदीकार भी कहे हैं—अन्तिम समय में श्रीनारायण स्मृति, निखिल साध्यों के मध्य में परम श्रेष्ठ है।

प्रवक्ता श्रीशुक हैं—१६१॥

१६२। अतएव अन्य समय में भी पुत्रोपचारित नाम ग्रहण कारी अजामिल के द्वारा प्रथम उच्चारित नाम प्रभाव से ही निखिल पापक्षय होने पर भी मृत्यु समय में जो नाम ग्रहण अजामिल ने किया था, उसकी प्रशंसा की जाती है। प्रथमोच्चारित नाम प्रभाव से ही अजामिल के निखिल पाप विनष्ट हो गये थे, इसका वर्णन भा० ६।२। में सुस्पष्ट रूप से है।

"प्रयाणे चाप्रयाणे च यन्नाम-स्मरणान्नृणाम् । सद्यो नश्यति पापौघो नमस्तस्मै चिदात्मने ॥४५२॥

इति पाद्मे देवद्युतिस्तुत्यनुसारेण, (भा० ५।३।१२,–'ज्वरमरणदशायामपि सकलकश्मल-निरसनानि तव गुणकृतनामधेयानि" इति पञ्चमोक्त-गद्यस्थितापि-शब्देन प्रथमनामग्रहणादेव क्षीणसर्वपापस्यापि मरणे यन्नामग्रहणम्, तत्प्रशंसैव श्रूयते । तत्राप्यावृत्त्या (भा० ६।२।१३)–

(१६२) "अथैनं मापनयत कृताशेषाघनिष्कृतिम् ।
यदसौ भगवन्नाम म्रियमाणः समग्रहीत् ॥"४५३॥

'अशेष'-शब्दोऽत्र वासना-पर्य्यन्तः, 'अघ'-शब्दश्चापराध-पर्य्यन्त इति । अत्र मरणे सर्वेषां दैन्योदयोऽपि श्रीभगवत्कृपातिशयद्वारमिति द्रष्टव्यम् ॥ श्रीविष्णुदूता यमदूतान् ॥

पद्म पुराण में देवद्युति कृत स्तुति के अनुसार स्पष्ट होता है—

"प्रयाणे चाप्रयाणे च यन्नाम-स्मरणान्नृणाम् ।
सद्यो नश्यति पापौघो नमस्तस्मै चिदात्मने ॥"४५२॥

मैं उन चैतन्य स्वरूप श्रीभगवान् को प्रणाम करता हूँ । देहान्त समय में अथवा जीवितावस्था में जिनके नाम स्मरण के प्रभाव से मानव मात्र की निखिल पाप राशि सद्यः विनष्ट हो जाती हैं । भा० पञ्चम स्कन्ध में भी वर्णित है—

"ज्वरमरणदशायामपि सकल कल्मष निरसनानि तव गुण कृत नामधेयानि"

इस में स्थित 'अपि' शब्द से सूचित हुआ है कि प्रथम नाम ग्रहण प्रभाव से ही सर्व पाप क्षय होता है । उस में भी पुनः पुनः श्रीनाम की आवृत्ति के द्वारा ही मृत्यु समय में रसना में श्रीनाम की स्फूर्त्ति होती है । इस विषय में भा० ६।२।१३ में श्रीविष्णु दूत गण— यमदूतों को कहे थे—

(१६२) "अथैनं मापनयत कृताशेषाघ निष्कृतिम् ।
यदसौ भगवन्नाम म्रियमाणः समग्रहीत् ॥"४५३॥

टीका—अथ तस्मादेवैनं मा अपमार्गेण नयत, कृतमशेषाणामघानां निष्कृतं येन । यद् यस्मात् समग्रहीत् सम्पूर्णमुच्चारितवान् । नामैकदेशेनाप्यलमितिभावः । म्रियमाण इत्यनेन पुनः पापान्तरासम्भव उक्तः । न तु तत् कालत्वमेव विवक्षितं तदानीं कृच्छ्रादि विधिवत् नामोच्चारण विधेरप्यसम्भवात् । न च विधि विना काकतालीय नामोच्चारणं न पाप हरमिति प्रमाणमस्ति ।

हे यमदूत गण ! अजामिल को तुम सब निरय में न ले जाना, इसने निखिल पापों का प्रायश्चित्त किया है । कारण,-मृत्यु समय में इसने भगवन्नाम उच्चारण किया है । अर्थात् प्रथमोच्चारित श्रीनारायण नाम प्रभाव से इस के निखिल पाप विध्वंस न होने से मृत्यु समय में श्रीभगवन्नामोच्चारण नहीं हो सकता है । इस श्लोक स्थित 'अशेषाघनिष्कृतिम्" अशेष शब्द से वासना पर्य्यन्त का संग्रह हुआ है । एवं अघ शब्द का उल्लेख होने से अपराध पर्य्यन्त क्षय हुआ है । इस प्रकार अर्थ जानना होगा । इस जातीय मृत्यु में दैन्योदय होता है, एवं उस दैन्योदय होने से ही श्रीभगवान् की अतिशय कृपा प्राप्ति का द्वार उद्घाटित होता है । यहाँपर विशेष रूप से यह समझना होगा । अर्थात् अनवरत श्रीनामोच्चारण के प्रभाव से निखिल पाप एवं अपराधध्वंस होने से ही मृत्यु समय में रसना में श्रीहरिनामोच्चारित होता है, एवं युगपद् हृदय में दीनभाव का भी उदय होता है । उस दीन भाव के तारतम्य के अनुसार श्रीभगवत् कृपा का भी

१६३। तदेवमधिकारिविशेषं प्राप्यैव तत्तत्फलोदयो दृष्टः, यथैव पूर्वमुदाहृतम्, यथा च जातरुचिं प्राप्य (भा० ११।६।४४) --

(१६३) "तव विक्रीड़ितं कृष्ण नृणां परममङ्गलम् ।
कर्णपीयूषमास्वाद्य त्यजन्त्यन्यस्पृहां जनाः ॥"४५४॥

अतएवोक्तम्—

"न क्रोधो न च मात्सर्य्यं न लोभो नाशुभा मतिः। भवन्ति कृतपुण्यानां भक्तानां पुरुषोत्तमे ॥"४५५॥

इति ॥ श्रीमदुद्धवः ॥

१६४। जातप्रेमाणं प्राप्य (भा० १०।१।१३) —

(१६४) "नैषातिदुःसहा क्षुन्मां त्यक्तोदमपि बाधते ।
पिबन्तं त्वन्मुखाम्भोजच्युतं हरिकथामृतम् ॥"४५६॥

तारतम्य प्रकाशित होता है।

श्रीविष्णु दूतगण यम दूत वृन्द को कहे थे ॥१६२॥

१६३। अधिकारि विशेष को प्राप्त कर पूर्व वर्णित फलोदय होता है–इति पूर्व में इसका उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। भा० ११।६।४४ में श्रीमान् उद्धव ने भी जातरुचि भक्त को प्राप्त कर लीलाका विशेष प्रभाव का वर्णन किया है—

(१६३) "तव विक्रीड़ितं कृष्ण नृणां परममङ्गलम्
कर्णपीयूषमास्वाद्य त्यजन्त्यन्यस्पृहां जनाः ॥"४५४॥

क्रमसन्दर्भ—स्वकर्त्तृक त्यागाशक्यत्वं कैमुत्येन दर्शयति तवेति ।

हे कृष्ण ! मानव मात्र को परम मङ्गल दायिनी तुम्हारी विविध लीला कथा जिन के कर्ण कुहर में सुधा रूप में प्रकाशित होती है, उन सब हरिदास वृन्द, लीला कथा श्रवण का आस्वादन प्राप्त कर अन्य समस्त कामना वासना को परित्याग करते हैं। अतएव अन्यत्र भी दृष्ट होता है—

"न क्रोधो न च मात्सर्य्यं न लोभो नाशुभा मतिः।
भवन्ति कृत पुण्यानां भक्तानां पुरुषोत्तमे ॥"४५५॥

पुरुषोत्तम भगवान् में जो मानव भक्तिमान् हैं, उन कृत पुण्य महा पुरुष वृन्द में कभी भी क्रोध नहीं होता है, मात्सर्य्य नहीं होता है, लोभ नहीं होता है, एवं अशुभ कर्म करने की वासना भी नहीं होती है।

श्रीमान् उद्धव कहे थे ॥१६३॥

१६४। संञ्जात प्रेमा भक्त को प्राप्त कर भगवत् कथा रूपा भक्ति का उल्लास किस प्रकार होता है, उसका वर्णन भा० १०।१।१३ में है—

(१६४) "नैषाति दुःसहा क्षुन्मां त्यक्तोदमपि बाधते ।
पिबन्तं त्वन्मुखाम्भोजच्युतं हरिकथामृतम् ॥"४५६॥

क्रमसन्दर्भ—नैषेति श्रीपरीक्षितो गाढ़रागव्यक्तिः। त्यक्तोदमपीत्युदकमपि सम्यक् त्यक्तवन्तमित्यर्थः।
टीका ननु क्षुत्तृड़्भ्यां पीड़ितस्य तव कुतः श्रवणावकाश स्तत्राह नैषेति। त्यक्तोदकस्यापि मम जीवनं

स्पष्टम् ॥ श्रीराजा ॥

१६५। व्याख्याते यथाकथञ्चिद्भजन-सम्यग् भजनावृत्ती। तदेवं भगवदर्पितधर्मादि-साध्यत्वात् तां विनान्येषामकिञ्चित्करत्वात्तस्याः स्वत एव समर्थत्वात् स्वलेशेन स्वाभासादिनापि परमार्थपर्यन्तप्रापकत्वात् सर्वेषां वर्णानां नित्यत्वाच्च साक्षाद्भक्तिरूपं तत्सान्मुख्यमेवात्राभिधेयं वस्त्विति स्थितम्। इदमेव केवलत्वादनन्यतारख्या, (गी० ९।२२-२३)-

"अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्य्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥४५७॥
येऽप्यन्यदेवता--भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥"४५८॥

हरिकथामृत पान निमित्तं तदुपरमे सद्य एव जोवितं नस्यादित्यर्थः।

श्रीपरीक्षित् महाराज श्रीशुक देवको कहे थे—हे प्रभो ! यद्यपि में प्रायोपवेशन करने के पहले जल पान करना भी परित्याग किया हूँ, तथापि दुर्विषह क्षुधा से किसी प्रकार पीड़ा का अनुभव नहीं कर रहा हूँ। उसका मूल कारण ही है—तुम्हारे मुख चन्द्र से विगलित श्रीहरिकथामृत का पान अनवरत कर रहा हूँ। इस से गाढ़ राग व्यक्त हुआ है। भोजन पान परित्याग कर जीवित रहना सम्भव है किन्तु श्रीहरि कथामृत पान को छोड़कर जीवित रहना एकान्त असम्भव है।

राजा परीक्षित् कहे थे ॥१६४॥

१६५। यथा कथञ्चित् भजन एवं सम्यक् भजनका पुनः पुनः अनुशीलन की व्याख्या की गई है। ऐसा होने पर पूर्व वर्णित रीति के अनुसार श्रीमद् भगवत के मत में साक्षाद् भक्ति रूप में भगवत् साम्मुख्य ही अभिधेय वस्तु है। कारण, भगवद् भजन ही श्रीभगवान् में अर्पित धर्मादि का मुख्य साध्यरूप में निर्दिष्ट हुआ है। यदि भगवान् में अर्पित धर्म के द्वारा श्रीभगवत् कथा में रुचि उत्पन्न नहीं होती है, तो उस धर्म को निष्फल कहा गया है। भक्ति व्यतीत कर्म, ज्ञान, योग प्रभृति निखिल साधनों को व्यर्थ कहा गया है। अथच निखिल साधनों का स्वतन्त्र रूप से मुख्य फल प्रकाशक रूप में भक्ति का वर्णन किया गया है। भक्ति लेशमात्र से ही एवं भक्ति के आभाष मात्र से हो परमार्थ वस्तु लाभ होने का विवरण भी लिखित हुआ है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र,—चार वर्ण, एवं ब्रह्मचर्य्य, गार्हस्थ्य, वान प्रस्थ, एवं सन्नयास—आश्रम चतुष्टय का भी अवश्य नित्य कर्त्तव्य रूप में भक्ति का निर्देश किया गया है। अन्य निरपेक्ष विशुद्ध स्वरूप में यह भक्ति ही उल्लिखित है। अतएव इस प्रकार भक्ति का नाम ही अनन्यता है। श्रीभगवद् गीता में उक्त है—(९-२२-२३)

"अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्य्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेम वहाम्यहम् ॥४५७॥
येऽप्यन्यदेवता--भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥"४५८॥

टीका—मदनन्य भक्तानां सुखन्तु न कर्म प्राप्यं, किन्तु मद्दत्तमेव। इत्याह अनन्या इति। नित्यमेव सर्वदाभियुक्तानां पण्डितानामिति तदन्यो नित्यमपण्डिता इति भावः। यद्वा नित्य संयोग स्पृहावतां योग

इत्यव्यवहित-वाक्यद्वयेऽन्वय व्यतिरेकोक्तयानन्यत्वं नाम ह्यन्योपासन-राहित्येन तद् भजनमुच्यते । इत्थमेवाङ्गीकृतम् (गी० ९।३०) "अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्"

ध्यानादि लाभः । क्षेमं तत् पालनञ्च तैरनपेक्षितमप्यहमेव वदामि । अत्र करोमीत्यप्रयुज्य वहामीति प्रयोगात् । तेषां शरीर पोषण भारो मयोवोह्यते । यथा स्व कलत्र पुत्रादि पोषणभारो गृहस्थेनेति भावः । न चान्येषामिव तेषामपि योगक्षमं कर्मप्राप्यमेवेत्यत, आत्मारामस्य सर्वत्रोदासीनस्य परमेश्वरस्य तव किं तद्वहनेनेति वाच्यं । "भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधि नैरास्येन अमुष्मिन् मनः कल्पनमेतदेव नैष्कर्म्यमिति श्रुतेः । मदनन्य भक्तानां निष्कामत्वेन नैष्कर्म्यात् तेषु दृष्टं सुखं मद्दत्तमेव तत्र मम सर्वत्रोदासीनस्यापि स्व भक्त वात्सल्यमेव हेतु ज्ञेयः । न चैवं त्वयि स्वेष्ट देवे स्वनिर्वाह भारं ददानास्तेभक्ताः प्रेमशून्या । इति वाच्यं, तैर्मयि स्वभारस्य सर्वथैवानर्पणान् मयैव स्वेच्छया ग्रहणात्, नच सङ्कल्प मात्रेण विश्व सृष्ट्यादि कर्त्तुर्ममायं भारोज्ञेयः । यद्वा भक्त जनासक्तस्य मम स्व भोग्य कान्ताभारवहनमिव तदीय योगक्षेम वहनमिति सुखप्रदमिति ॥२२॥

ननु च ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये इत्यनेन त्वया स्वीयैवोपासना त्रिविधोक्ता । तत्र बहुशो विश्वतोमुखमिति तृतीयाया उपासनाया ज्ञापनार्थमहं क्रतुरहं यज्ञ इत्यादिनास्वस्य विश्वरूपत्वं दर्शितं । अतः कर्म योगेन कर्माङ्ग भूतेन्द्रादि याजकास्तया प्राधान्येनैव देवतान्तर भक्ता अपि त्वद् भक्त एव कथं तर्हि ते न मुच्यन्ते । यदुक्तं "त्वया गता गतं काम कामा लभन्ते" इति । अन्तवत्तु फलं तेषामिति च तत्राह येऽपीति, सत्यं मामेव यजन्तीति किन्तु अविधि पूर्वकं मत् प्रापकं विधिं विनैव यजन्त्यतः पुनरावर्त्तन्ते ॥२३॥

जो अनन्य होकर मेरा भजन करते हैं, अनवरत चिन्ता करते हैं, एवं मेरा सम्यक् उपासना करते हैं । उन नित्य अभियुक्त मानस भक्त वृन्द के योग (अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति) क्षेम, (प्राप्त वस्तु की रक्षा) का वहन स्वयं करता हूँ । जो अन्य देवता का भजन करते हैं, हे कौन्तेय ! वे सब भी मेरी उपासना अविधि पूर्वक करते हैं । 'अविधि' पद का अथ है – शास्त्रोक्त विधान द्वारा उपासना करने से मोक्ष लाभ होता है, उस उपाय से अनुष्ठान नहीं करते हैं । कारण, रजस्तमोगुणावृत ब्रह्म की उपासना से मुक्ति कभी भी नहीं हो सकती है । अनावृत ब्रह्म स्वरूप मेरा साक्षात् भजन से ही साधक मुक्त हो सकता है । लोक-इस विधि को न जानकर हो उन उन देवताओं का भजन करते हैं । उक्त वाक्य द्वय में अन्वय व्यतिरेक मुख से उल्लिखित अनन्य शब्द के द्वारा अन्य देवता का उपासना रहित होकर भगवद् भजन का उपदेश ही प्रदत्त हुआ है । अर्थात् स्वतन्त्र ईश्वर रूप में अन्य देवता का भजन न करके साक्षात् रूप से भगवद् भजन का नाम ही अनन्यता है । भगवद् गीता के ९--३० में इस प्रकार अनन्यत्व स्वीकृत हुआ है—

"अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः ॥"

टीका—सद् भक्तेष्वासक्तिर्मम स्वाभाविक्येव भवति सा दुराचारेऽपि नापयाति । तमुत्कृष्टमेव करोमित्याह । अपिचेर्दति । सुदुराचारः— परहिंसा, परदार, पर द्रव्यादि ग्रहण परायणोऽपि मां भजते चेत् कीदृक् भजनवानित्यत आह, अनन्यभाक्, मत्तोऽन्य देवतान्तरं मद्भक्तेरन्यत् कर्म ज्ञानादिकं मत् कामनातोऽन्यां राज्यादि कामनां न भजते स साधुः । नन्वेतादृशे कदाचारे दृष्टे सति कथं साधुत्वं तत्राह—मन्तव्यो-मननीयः, साधुत्वेनैव संज्ञेय इति यावत् । मन्तव्यमिति विधिवाक्यं । अन्यथा प्रत्यवायः स्यात् । अत्र ममाज्ञायैव प्रमाणमिति भावः । ननु त्वां भजते इत्येतदंशेन साधुः परदारादि ग्रहणांशेनासाधुश्च स मन्तव्यस्तत्राह एवेति । सर्वेणाप्यंशेन साधुरेव मन्तव्यः कदापि तस्यासाधुत्वं न द्रष्टव्यमिति भावः । सम्यग्

इत्यादौ। तस्याश्च महादुर्बोधत्वं महादुर्लभत्वञ्चोक्तम्, (भा० ६।३।१९) "धर्मन्तु साक्षाद्भगवत् प्रणीतं, न वै विदुर्ऋषयो नापि देवाः" इत्यादौ, (भा० ३।१५।२४)–"येऽभ्यर्थितामपि च नो नृगतिं प्रपन्नाः" इत्यादौ च।

तदेवं तस्याः श्रवणादिरूपायास्तत्साक्षाद्भक्तेः सर्वविघ्ननिवारणपूर्वक-साक्षाद्भगवत्-प्रेमफलदत्वे स्थिते परमदुर्लभत्वे च सत्यन्यकामनया च नाभिधेयत्वम्, तथा चोक्तं चतुर्थे

व्यवसितं निश्चयोयस्य सः। दुस्त्यजेन स्व पापेन नरकं तिर्य्यक् योनो वा यामि। एकान्तिकं श्रीकृष्णजनस्तु नैव जिहासामीति स शोभनमध्यवसायं कृतवानित्यर्थः॥

अनन्य देवता का उपासक सुदुराचार होकर भी यदि मुझ को भजता है, तो, उस को साधु मानना चाहिये। कारण, उसने निश्चय किया है, की भक्ति से ही सर्वानर्थ की निवृत्ति होती है। इस श्लोक में अनन्य देवता का उपासक एवं एकमात्र भगवद् उपासक को ही साधु शब्द से निर्देश किआ गया है। श्रीमद् भागवत में उक्त साक्षात् भगवद् भक्ति का दुर्ज्ञेयत्व एवं महादुर्लभत्व उक्त हुआ है। (भा० ६।३।१९)

"धर्मन्तु साक्षाद् भगवत् प्रणीतं नवै विदुर्ऋषयो नापि देवाः।
न सिद्ध मुख्या असुरा मनुष्याः कुतोनु विद्याधर चारणादयः॥

टीका—ननु विष्णु भक्ताश्चेत् कथमधर्मपक्षपातं कृतवन्तः, तत्राह—धर्म्ममिति। ऋषयो भृग्वादयः"

धर्मराज निज दूतगण को कहे थे—साक्षात् भगवान् कर्तृक प्रवर्त्तित धर्म को, ऋषिगण, देवगण, सिद्ध मुख्यगण, असुरगण, एवं मनुष्यगण नहीं जानते हैं। विद्याधर चारणगण तो जानते ही नहीं, उसको कहना ही क्या है? इस श्लोक में श्रीभगवद् भक्ति का महादुर्ज्ञेयत्व प्रदर्शित हुआ है। भा० ३।१५।२४ में भी उक्त है—

"येऽभ्यर्थितामपि च नो नृगतिं प्रपन्नाः
ज्ञानञ्च तत्त्व विषयं सहधर्म यत्र।
नाराधनं भगवतो वितरन्त्यमुष्य
सम्मोहिता विततया वत मायया ते॥"

टीका—प्रसङ्गात्ताननुशोचति, नोऽस्माभि र्ब्रह्मादिभिरभ्यर्थितां नृगतिं मनुष्य जातिं प्रपन्नाः प्राप्ता. सन्तोऽपि हरे राराधनं न कुर्वन्ति कीदृशीं नृगतिम्? यत्र धर्म सहितं तत्त्वज्ञानं भवति, तदुभय साधकत्वात् तस्याः। तेऽमुष्य भगवतो विस्तृतया मायया ननु सम्मोहिताः। वतेति खेदे। यदि वा एवं सम्बन्धः, न केवलं त एव न व्रजन्ति किन्तु ये भगवदाराधनं न कुर्वन्ति तेऽपि, तेषां मायाविमोहितत्वादिति।

श्रीब्रह्मा, सनकादि ऋषिगण को कहे थे—जिस मानव जन्म में धर्म के सहित तत्त्व ज्ञान लाभ हो सकता है, हम सब के प्रार्थित उस मानव जन्म को प्राप्त कर जो श्रीहरि की आराधना नहीं करते हैं, उन के निमित्त मन में अतिशय खेद उत्पन्न होता है। कारण, वे सब श्रीहरि माया से अत्यन्त विमोहित हैं। इस श्लोक में भगवद् भक्ति का महादुर्लभत्व प्रदर्शित हुआ है। अतएव पूर्व वर्णित सिद्धान्त के अनुसार उक्त श्रवण कीर्त्तनादि रूपा साक्षात् भक्ति की सर्वविघ्न निवारण पूर्वक साक्षाद् भगवान् में प्रेम प्रदान सामर्थ्य है, एवं वह भक्ति दुर्ल्लभ भी है। किन्तु जो लोक भक्ति भिन्न वस्तु कामना से भक्तयङ्ग का अनुष्ठान करते हैं, वह भजन अभिधेय नहीं है, अर्थात् वह भजन शास्त्र का अवश्य कर्त्तव्य रूप में निर्दिष्ट

(भा० ४।२४।५५)

"तं दुराराध्यमाराध्य सतामपि दुरापया।
एकान्तभक्त्या को वाञ्छेत् पादमूलं विना वहिः ॥"४५९॥

इति तन्मात्रकामनायाञ्च भक्तेरेवाकिञ्चनत्वमकामत्वञ्च संज्ञापितम्, (भा० ५।५।२५)—

"मत्तोऽप्यनन्तात् परतः परस्मात्, स्वर्गापवर्गाधिपतेर्न किञ्चित्।
येषां किमु स्यादितरेण तेषा,-मकिञ्चनानां मयि भक्तिभाजाम् ॥"४६०॥

इति श्रीऋषभदेव-वाक्यात्, (भा० २।३।१०) "अकामः सर्वकामो वा" इत्यादेश्च। तथैयमेवैकान्तितेत्यप्युच्यते, (भा० ८।३।२०) "एकान्तिनो यस्य न कञ्चनार्थं, वाञ्छन्ति ये वै भगवत् प्रपन्नाः" इति गजेन्द्रवाक्यात्, (भा० ७।६।५५)—

नहीं हो सकता है। इस अभिप्राय से भा० ४।२४।५५ में कथित है—

"तं दुराराध्यमाराध्य सतामपि दुरापया।
एकान्तभक्त्या को वाञ्छेत् पादमूलं विना वहिः ॥"४५६॥

टीका—अतस्तदर्च्चनं व्यतिरेकेण न किञ्चित् वाञ्छामीत्याह। त्वां त्वाम्। एकान्तभक्त्या आराध्य। वहिः स्वर्गादि सुखम्।

श्रीरुद्र प्रचेतागण को कहे थे! साधु वृन्द के दुष्प्राप्य एकान्त भक्ति से भी दुराराध्य श्रीभगवान् की आराधना करके कौन व्यक्ति स्वर्गादि सुख की कामना कर सकता है? इस श्लोक में भगवद् भक्तिभिन्न अन्य कामना से भगवद् भजन करना जो कर्त्तव्य नहीं है, उस का निर्द्देश किया गया है। भक्ति मात्र कामना से ही विशुद्ध भक्ति का अकिञ्चनत्व एवं अकामत्व प्रकाशित होता है, यह ज्ञापित हुआ है। भा० ५।५।२५ में श्रीऋषभ देवने भी कहा है—

"मत्तोऽप्यनन्तात् परतः परस्मात्, स्वर्गापवर्गाधिपतेर्न किञ्चित्।
येषां किमु स्यादितरेण तेषा,-मकिञ्चनानां मयि भक्तिभाजाम् ॥"४६०॥

टीका—निःस्पृहत्वमाह। मत्तोऽपि येषां न किञ्चित् प्रार्थनीयमस्ति, तेषामितरेण राज्यादिना किमु स्यात्? न किमपि॥

जो लोक, स्वर्ग एवं अपवर्ग के अधिपति, परात्पर अनन्त स्वरूप मुझ से कुछ भी नहीं चाहते हैं, मुझ में एकान्त भक्तिमान् अकिञ्चन भक्त वृन्द के पक्ष में राज्यादि से लाभ क्या हो सकता है? इस श्लोक में विशुद्धा भक्ति का अकिञ्चनत्व प्रदर्शित हुआ है।

"अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्ति योगेन यजेत पुरुषं परम् ॥"

इत्यादि श्लोक में विशुद्ध भक्ति का अकामत्व प्रदर्शित हुआ है। विशुद्ध भक्ति जिस प्रकार अनन्य, अकामा, अकिञ्चना शब्द से अभिहिता है उस प्रकार 'एकान्तिता' शब्द से भी अभिहिता है, अर्थात् यह विशुद्धा भक्ति, स्थल विशेष में अकिञ्चना, अकामा, अनन्या, एकान्तिता नाम से अभिहिता है, तज्जन्य भा० ८।३।२० में गजराजने भी कहा है—

"एकान्तिनो यस्य न कञ्चनार्थं वाञ्छन्ति ये वै भगवत् प्रपन्नाः।
अत्यद्भुतं तच्चरितं सुमङ्गलं गायन्त आनन्द समुद्रमग्नाः ॥"

"एवं प्रलोभ्यमानोऽपि वरैर्लोकप्रलोभनैः ।
एकान्तित्वाद्भगवति नैच्छत्तानसुरोत्तमः ।।"४६१।।

इति श्रीनारदवाक्याच्च । अतएवोक्तं गारुड़े—

"एकान्तेन सदा विष्णौ यस्मादेव परायणाः । तस्मादेकान्तिनः प्रोक्तास्तद्भागवतचेतसः ।।"४६२। इति ।

एषा एवोपदिष्टा श्रीगीतोपनिषत्सु (गी० ११।५४-५५)—

"भक्त्या त्वनन्यया शक्यो अहमेवम्विधोऽर्ज्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुञ्च तत्त्वेन प्रवेष्टुञ्च परन्तप ।।४६३।।
मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्ज्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ।।"४६४।। इति ।

टीका—एतावदप्यहं भक्तिसुखानभिज्ञत्वेन वाञ्छामि यस्य एकान्तभक्ताः कञ्चनार्थं न वाञ्छन्ति, तं परेशमीड़े—स्तौमीत्युत्तरेणान्वयः । तेषां निष्कामत्वे हेतुः, ये वै भगवतः सर्वज्ञान् मुक्तान्, प्रपन्ना सेवितवन्तः ।

श्रीभगवच्चरणों में प्रपन्न भक्तगण, श्रीभगवान् के निकट से कुछ भी कामना नहीं करते हैं । वे सब एकान्त नाम से अभिहित होते हैं । भा० ७।९।५५ में श्रीनारद, श्रीयुधिष्ठिर को कहे थे—

"एवं प्रलोभ्यमानोऽपि वरैर्लोकप्रलोभनैः ।
एकान्तित्वाद्भगवति नैच्छत्तानसुरोत्तम, ।।"४६१।।

टीका—एकान्तित्वान्निरूपाधि भक्तत्वात् ।

हे राजन् ! भगवान् नृसिंह देव कर्त्तृक प्रलोभित होकर भी श्रीमान् प्रह्लाद वर प्राप्ति हेतु इच्छा प्रकाश नहीं किये थे । कारण, प्रह्लाद एकान्त भक्त अवस्था को प्राप्त किये थे । अर्थात् निरुपाधि एकान्त भक्त थे । इस प्रकार निष्काम भक्त ही एकान्त शब्द से अभिहित होते हैं, उसका वर्णन ही इस श्लोक में हुआ । अतएव गरुड़ पुराण में उक्त है,

"एकान्तेन सदा विष्णौ यस्मादेव परायणाः ।
तस्मादेकान्तिनः प्रोक्तास्तद्भागवतचेतसः ।।"४६२।

कारण, श्रीविष्णु में एकान्त भाव से परायण भक्तगण होते हैं । अर्थात् किसी समय में भी श्रीभगवद् भक्ति भिन्न अन्य कुछ भी कामना नहीं करते हैं । तज्जन्य ही भगवद् गत चित्त भागवत गण, 'एकान्ती' संज्ञा से अभिहित होते हैं । श्रीगीता में भी ११।५४-५५ उक्त है—

"भक्त्या त्वनन्यया शक्यो अहमेवम्विधोऽर्ज्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुञ्च तत्त्वेन प्रवेष्टुञ्च परन्तप ।।४६३।।
मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्ज्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ।।"४६४।। इति ।

टीका—तर्हि केन साधनेनैतत् प्राप्यते इत्यत आह भक्त्यात्विति । शक्य अहमिति यद्वयलोपावार्षौ । यदि निर्वाण मोक्षेच्छा भवेत् तदा तत्त्वेन ब्रह्म स्वरूपत्वेन प्रवेष्टुमपि अनन्यया भक्त्यैव शक्यो नान्यथा ।

मत्कर्म श्रवणकीर्त्तनादि, अहमेव परमः साधनत्वेन साध्यत्वेन च यस्य, अतएव साधन-साध्यान्तर-सङ्गविवर्जित इति व्याख्येयम् । इमामेव भक्तिमाह, (भा० ७।७।४८)—

(१६५) "तस्मादर्थाश्च कामाश्च धर्माश्च यदपाश्रयाः ।
भजतानीहयात्मानमनीहं हरिमीश्वरम् ॥"४६५॥

यदपाश्रया यदधीनास्तं हरिमित्यन्वयः । अनीहया कामना-त्यागेन, अनीहं तथैव कामनाशून्यम्, "इच्छाकाङ्क्षा स्पृहेहा तृट्" इत्यमरः ॥ श्रीप्रह्लादोऽसुरबालकान् ॥

१६६ । तथैवोभयोः कामनाशून्यत्वं स्वयमेवाह (भा० ७।१०।५–६)—

(१६६) "आशासानो न वै भृत्यः स्वामिन्याशिषमात्मनः ।
न स्वामी भृत्यतः स्वाम्यमिच्छन् यो राति चाशिषः ॥४६६॥
अहं त्वकामस्त्वद्भक्तस्त्वञ्च स्वाम्यनपाश्रयः ।
नान्यथेहावयोरर्थो राजसेवकयोरिव ॥"४६७॥

ज्ञानिणां गुणीभूतापि भक्तिरन्तिमसमये ज्ञानसन्न्यासानन्तरमुर्वरिता अल्पीयस्यनन्यैव भवेत्तयैव तेषां सायुज्यं भवेदिति ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते, तदनन्तरमित्यत्र प्रतिपादयिष्यामः ।

हे परन्तपः अर्जुन ! मदेकनिष्ठा अनन्याभक्ति के द्वारा ही नराकृति परब्रह्म स्वरूप को जान सकते हैं, अर्थात् परोक्ष अनुभव करने में एवं प्रत्यक्षतः दर्शन करने में समर्थ होते हैं, एवं लौह में दाहिका शक्ति सम्पन्न अग्नि का प्रवेश जिस प्रकार होता है, उस प्रकार तादात्म्य होकर मुझ में प्रवेश भी कर सकते हैं। अन्य किसी उपाय से मुझ को जानने में कोई सक्षम नहीं हैं।

हे पाण्डव ! जो मानव, मन्निमित्त, मन्दिर निर्म्माण, मन्दिर मार्जन, पुष्प वाटी रचना, तुलसी कानन में जल सेचनादि कर्म करते हैं—एवं मुझ को परम पुरुष जानते हैं, कथा श्रवणादि भक्तयङ्ग निरत हैं, भगवद् विमुख जन संसर्ग वर्जित हैं, एवं भूतमात्र के प्रति निर्वैर हैं—वे नराकृति परब्रह्म को प्राप्त करते हैं। अतएव भक्ति भिन्न साधन साध्य सङ्ग शून्य भक्त को ही सङ्ग शब्द से कहा गया है । भा० ७।७।४८ में श्रीप्रह्लादने भी कहा है—

(१६५) "तस्मादर्थाश्च कामाश्च धर्माश्च यदपाश्रयाः ।
भजतानीहयात्मानमनीहं हरिमीश्वरम् ॥"४६५॥

टीका—अर्थादयो यदपाश्रयाः--यदधीनाः ॥

हे असुर बालक वृन्द ! अर्थ, काम, धर्म, जिस निष्काम भक्ति के अधीन हैं, अर्थात् जिस निष्काम भक्ति का अनुष्ठान करने से धर्म, अर्थ, काम अनुगत रूप से स्वतः ही आते हैं, तज्जन्य धर्म अर्थ काम की वासना न करके, निष्काम भाव से परमात्मा श्रीहरि का भजन करो । इच्छा आकाङ्क्षा, स्पृहा तृष्णा यह सब एकार्थ वाची हैं, इस का उल्लेख अमर कोष में है।

१६६ । पूर्व वर्णित सिद्धान्त के अनुसार भक्ति में प्रभु एवं भृत्य—उभय ही कामना शून्य होते हैं। प्रह्लाद भा० ७।१०।५--६ स्वयं ही कहे हैं—

(१६६) "आशासानो न वै भृत्यः स्वामिन्याशिषमात्मनः।

स्पष्टम् ॥ प्रह्लादः श्रीनृसिंहदेवम् ॥

१६७ । एवमेवाह (भा० ७।९।११)—

(१६७) "नैवात्मनः प्रभुरयं निजलाभपूर्णो, मानं जनादविदुषः करुणो वृणीते ।
यद्यज्जनो भगवते विदधीत मानं, तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः ॥"४६८॥

अयं प्रभुरात्मनो मानं पूजां जनान्निजभक्तान्न वृणीते नेच्छति । तत्र हेतुः--निजस्य भक्तस्यैव लाभेन पूर्णः परमसन्तुष्टः । हेत्वन्तरम्—करुणः, पूजार्थं तत्प्रयासादावसहिष्णुः । कथम्भूताज्जनात् ? अविदुषः, पितुरग्रे बालकवत् तस्याग्रे न किञ्चिदपि जानतः । एषा स्वस्य जनैकवर्गत्वेन दैन्योक्तिः । यद्वा, तदावेशेनान्यत किञ्चिदपि न जानत इत्यर्थः । उभयत्र

न स्वामी भृत्यतः स्वाम्यमिच्छन् यो राति चाशिषः ॥४६६॥
अहं त्वकामस्त्वद्भक्तस्त्वञ्च स्वाम्यनपाश्रयः ।
नान्यथेहावयोरर्थो राजसेवकयोरिव ॥"४६७॥

टीका—ननु कामनयापि सेव्यसेवकयोः स्वामिभृत्यभावः प्रसिद्धः, सत्यम् । सोपाधिकोऽसौ नतु तात्त्विक इत्याह । स्वामिन्यात्मन आशिषोऽपेक्षमाणो नैव भृत्यः, हेतुकमात्मनः स्वाम्यमिच्छन् यो भृत्याय ददाति स च नैव स्वामी । आवयोस्तु तात्त्विकोऽसावित्याह— अहन्त्विति । अनपाश्रयः--निरभिसन्धि भृत्य अन्यथा कामाद्यसन्धि नार्थः, प्रयोजनं नास्ति ।

हे नाथ ! जो भृत्य निज प्रिय के समीप से स्वीय सुखादि की आकाङ्क्षा करता है, उस को कभी भी भृत्य कहा नहीं जा सकता है । एवं जो प्रभु निज भृत्य के निकट से स्वीय स्वामित्व की इच्छा से भृत्य को सुखादि दान करते हैं, उनको भी स्वामी नहीं कह सकते हैं । किन्तु मैं आपका निष्काम भक्त हूँ, आप भी निरपेक्ष पूर्ण काम प्रभु हैं । प्रभु एवं दास—सम्बन्ध के मध्य में राजा एवं सेवक का स्वार्थ सापेक्ष स्वामिभृत्य सम्बन्ध है । किन्तु हम दोनों के मध्य में उस प्रकार सम्बन्ध नहीं है । इस में परस्पर निरपेक्ष दास, प्रभु सम्बन्ध का उल्लेख हुआ है ।

प्रह्लाद श्रीनृसिंह देवको कहे थे ॥१६६॥

१६७ । भा० ७।९।११ में प्रह्लाद ने नृसिंह देव को उस प्रकार ही कहे थे—

(१६७) "नैवात्मनः प्रभुरयं निजलाभपूर्णो,
मानं जनादविदुषः करुणो वृणीते ।
यद्यज्जनो भगवते विदधीत मानं,
तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः ॥"३६८॥

टीका—तर्हि किं धनाद्यर्पणेन सम्मानं प्राकृत इव भगवानपेक्षते नेत्याह ! नैवेति । अयं प्रभुरीश्वरः, अविदुषोऽल्पकात् जनात् मानं पूजां आत्मनोऽर्थे न वृणीते नेच्छति । यतो निज लाभेनैव पूर्णः । तर्हि किं पूजां नेच्छत्येव । तत्राह, करुणः, कृपालुः, अतोवृणीते च, तत्र हेतुः, यद् यदिति । यं यं मानम् । यद्वायद् यस्मात्, यद् येन, धनादिना भगवते मानं विदधीत, तदेवात्मने भवति, नान्यत्, यद्वा, मुखे कृतंव तिलकादि श्रीः शोभा प्रतिबिम्बस्य भवति नतु साक्षात् तस्यैव कर्तुं शक्यते तद्वत् ।

यह परम प्रिय प्रभु, निज भक्त वृन्द के निकट से मानाकाङ्क्षी नहीं हैं। कारण, प्रभु निज भक्त को

पक्षेऽपि तच्च तस्य कारुण्यहेतुरिति भावः। तर्हि किं जनस्तस्य मानं न कुरुत एवेत्याशङ्क्याह-यदिति। स च जनो यद् यद् यं यं मानं भगवते विदधीत सम्पादयति, स सर्वोऽप्यात्मार्थमेव, त सम्मानमात्रेणैव स्वसम्माननाभिमाननात् सुखं मन्यमानस्तन्मनं करोत्येवेत्यर्थः। तत्-सम्मानमात्रेण स्वसम्मानश्च तदेकजीवनस्य तज्जन य युक्त एवेति दृष्टान्तमाह,— यथा मुखे या शोभा क्रियते, तन्मात्रमेव प्रतिमुखस्य शोभायै भवति, नान्यदिति॥ श्रीप्रह्लादः श्रीनृसिंहदेवम्॥

१६८। अतएवाह (भा० ७।७।५१--५२) —

(१६८) "नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वासुरात्मजाः।
प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता॥४६९॥
न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद्विडम्बनम्॥"४७०॥

प्राप्त कर ही सन्तुष्ट होते हैं, अर्थात् परम सन्तुष्ट होते हैं, पिता जिस प्रकार पुत्र को पाकर ही सन्तुष्ट होते हैं, किन्तु पुत्र ने प्रणाम किया वा नहीं उनको इसकी अपेक्षा नहीं हैं, मेरे प्रभु भी वैसे हैं। निज भक्त से सम्मान क्यों नहीं चाहते हैं, उस में कारण यह है, आप करुण हैं, पूजा हेतु भक्त जन जो प्रयास करते हैं, चेष्टा वा परिश्रम करते हैं, उस को सहन करने में आप असमर्थ हैं, उन के भक्तगण भी कैसे हैं,—उसका परिचय देते हैं। अविदुष हैं, अर्थात् अज्ञ हैं, पिता के सम्मुख में मुग्ध बालक के समान प्रभु के सामने भक्त भी मुग्ध हैं, कुछ भी नहीं जानते हैं। अज्ञ शब्द से भक्त को परिचित कराने का उद्देश्य यह है-दैन्य प्रकाश करना है, कारण, प्रह्लाद, भक्तगणों के मध्य में श्रेष्ठ हैं। अथवा, 'अविदुष शब्द का अर्थ—भगवान् में भक्त का प्रगाढ़ आवेश हेतु निज प्रभु को छोड़कर भक्तगण अपर कुछ भी नहीं जानते हैं। उभय प्रकार व्याख्या से ही भगवान् में परम कारुण्य प्रकाशित हुआ है। तव क्या भक्तजन प्रभु की पूजा करते ही नहीं? इसका उत्तर देते हैं, भक्त जन गण श्रीभगवान् की पूजा करते हैं, किन्तु यह निज हेतु ही करते हैं, निष्किञ्चन भक्त की अपेक्षा स्वतन्त्र रूप से निज सम्मानादि से नहीं रहती है। वे सब निज प्रभु के सुख को ही निज सुख मान कर उल्लसित होते हैं, एवं श्रीप्रभु को सम्मानित करते हैं, श्रीप्रभु सम्मानित होने से स्वयं सम्मानित होना भक्त जनों का स्वभाव है, इस विषय में दृष्टान्त यह है—मुख में तिलक रचनादि के द्वारा जो शोभा होती है, वह प्रति मुख स्वरूप दर्पणस्थ प्रतिविम्ब की नहीं होती है, किन्तु प्रतिमुख की शोभा से स्वयं की शोभा प्रकाशित होती है। लोक निज शोभा को देखने के निमित्त ही दर्पण के सम्मुखीन होते हैं। अतः प्रभु को सम्मान प्रदान करने से सम्मान प्रदान कारी व्यक्ति स्वयं कृतार्थ होता है।

प्रह्लाद श्रीनृसिंह देव को कहे थे॥१६८॥

१६८। अतएव भक्त प्रवर श्रीप्रह्लाद ने भा० ७।७।५१-५२ में कहा है—

(१६८) 'नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वासुरात्मजा।
प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता॥४६९॥
न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद्विडम्बनम्॥"४७०॥

अमलया निष्कामया, विड़म्बनं नटनमात्रम्, अतः सकामभक्तस्यापि भक्तेर्नटनमात्रत्वं स्वार्थ-साधनमात्रतात्पर्य्येण भक्तयनुकरणमात्रत्वात् । यथा परेषामपि नटानां क्वचित् तदनुकरणन्तथैवेति । तत्र सकामत्वमैहिकं पारलौकिकञ्चेति द्विविधम् । तत् सर्वमेव निषिध्यते श्रीनागपत्नीवचनादौ (भा० १०।१६।३७)–"न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं, न पारमेष्ठंच न महेन्द्रधिष्ण्यम्" इत्यादिना । तस्माद्वैवस्वतमनुपुत्रस्य पृषध्रस्य तु मुमुक्षोरप्येकान्तित्व--व्यपदेशो गौण एव बोद्धव्यः । (भा ७।१०।२) —

"मा मां प्रलोभयोत्पत्त्यासक्तं कामेषु तैर्वरैः ।
तत् सङ्गभीतो निर्विण्णो मुमुक्षुस्त्वामुपाश्रितः ॥"४७१॥

टीका—अमलया—निष्कामया । विड़म्बनं नटनमात्रम् ॥

हे असुर बालक वृन्द ! द्विजत्व, देवत्व, ऋषित्व, उत्तम जीविका, बहु शास्त्र ज्ञान, दान, तपस्या, यज्ञ, शौच, विविध व्रत, मुकुन्द को सन्तुष्ट करने में समर्थ नहीं हैं । श्रीहरि एकमात्र निष्काम भक्ति से ही सन्तुष्ट होते हैं । सकाम भाव से अनुष्ठित समस्त साधन ही विड़म्बन मात्र है, अर्थात् अभिनय मात्र है । अतएव सकाम भक्त का भक्ति आचरण—अभिनय मात्र ही है, कारण, सकामी व्यक्ति गण स्वार्थ साधन हेतु उक्त कार्य्य में प्रवृत्त होते हैं, अतः सेवा रूपा भक्ति का अनुष्ठान-भक्ति का अभिनय में पर्य्यवसित होता । अर्थात् नट जिस प्रकार अभिनय करता है, उद्देश्य जनमनो रञ्जन के द्वारा अर्थलाभ करना है, उस प्रकार कभी ज्ञानी योगीगण के द्वारा भक्तयङ्ग का अनुष्ठान अनु करण मात्र ही है,—सकामी भक्तगण भी तद्रूप उत्तम भक्त का अभिनय ही करते हैं ।

सकाम भाव—ऐहिक पारलौकिक भेद से द्विविध होते हैं । उक्त उभय विध सकाम भाव ही श्रीमद् भागवतस्थनागपत्नी की उक्ति के द्वारा विशुद्ध भक्ति मार्ग में निषिद्ध हुए हैं भा० १०।१६।३७ में उक्त हैं—

"न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं न पारमेष्ठ्यं न रसाधिपत्यम् ।
न योग सिद्धीरपुनर्भवं वा वाञ्छन्ति यत् पाद रजः प्रपन्नाः ॥"

टीका—यत् तव पादरजः प्रपन्नाः प्राप्ताः, पारमेष्ठ्यादि अपि तुच्छं मन्यन्ते ।

जिनकी चरण रज में प्रपन्ना एकान्त भक्त गण, स्वर्गीय सुख भौमाधिपत्य, परमेष्ठि पद प्राप्ति सुख, रसातलाधिपत्य, अष्टादश योग सिद्धि-- एवं अपुनर्भव--अर्थात् मोक्षसुख की भी प्रार्थना नहीं करते हैं । अतएव वैवस्वत मनु पुत्र पृषध्र, यद्यपि मुमुक्षु थे, तथापि उन में जो 'एकान्ती' शब्द का प्रयोग हुआ है, वह गौण प्रयोग ही है । जिस प्रकार किसी भिक्षु को महाराज शब्द से अभिहित करते हैं । उस प्रकार जानना होगा । भा० ७।१०।२ में प्रह्लाद वाक्य में भी उस प्रकार विरुद्ध शब्द का उल्लेख स्पष्ट होता है ।

" मां मां प्रलोभयोत्पत्त्यासक्तं कामेषु तैर्वरैः ।
तत्सङ्गभीतो निर्विण्णो मुमुक्षुस्त्वामुपाश्रितः ॥"४७१॥

टीका—उत्पत्त्या स्वभावेनैव सक्तं माम् । तेषां कामानां सङ्गात् भीतः ।

हे प्रभो ! जन्म से ही विषय भोग वासना में आसक्तचित्त मुझ को भोग सम्पादक वर समूह में पुनर्वार प्रलोभित न करें, मैं विषय सङ्ग से अत्यन्त भीत एवं निर्विन्न होकर मुक्ति हेतु एकान्त भाव से आप के चरणाश्रय किया हूँ । यहाँ प्रह्लाद वाक्य में "मुमुक्षु" पद का प्रयोग हुआ है, उस का इस प्रकरण गत

इत्यत्र श्रीप्रह्लाद-वाक्ये-मुमुक्षा तु कामत्यागेच्छैव, (भा० ७।१०।७)—

"यदि दास्यसि मे कामान् वरांस्त्वं वरदर्षभ ।
कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम् ।।" ४७२।।

इति वक्ष्यमाणात् । (भा० ७।१०।१) "भक्तियोगस्य तत् सर्वमन्तरायतयार्भकः" इति श्रीनारदेन प्रागुक्तत्वाच्च । एवं श्रीमदम्बरीषस्य यज्ञविधानमपि लोकसंग्रहार्थकमेव ज्ञेयम् । तमुद्दिश्याप्येकान्तभक्तिभावेनेत्युक्त-मस्ति । तत्र चैहिकं निष्कामत्वं भक्त्या जीविका-प्रतिष्ठाद्युपार्जनं यत्तदभावमयमपि बोद्धव्यम्, -"विष्णुं यो नोपजीवति" इति गारुड़े शुद्धभक्त-लक्षणात्, (भा० ७ ६।४६)—

अर्थ भोग वासना त्यागेच्छा है । अर्थात् मैंने सर्व प्रकार भोग वासना त्यागेच्छु होकर आप के चरण युगल का आश्रय ग्रहण किया हूँ । यहाँ मुमुक्षु शब्द का इस प्रकार अर्थ ही सुसङ्गत है ।

कारण, प्रह्लाद ने स्वयं ही भा० ७।१०।७ में कहा है—

"यदि दास्यसि मे कामान् वरांस्त्वं वरदर्षभ ।
कामानां हृदसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम् ।।" ४७२।।

टीका—ननु तथापि परमोदारस्य मम सन्तोषार्थं किमपि वृणीस्व, इति चेत्तत आह, यदीति । कामाङ्कुराणां असंरोहम् अनुत्पत्ति भवतः सकाशात् ।

हे वरदराट ! यदि एकान्त ही आप मुझ को अभीष्ट वर देना चाहते हैं तो, मैं आप से यह वर ही प्रार्थना करता हूँ कि—'वर ग्रहण करो' कह कर आप मुझ को प्रलोभित करने पर भी जैसे मेरे हृदय में किसी प्रकार भोग लालसा का उदय ही न हो, भा० ७।१०।१ में श्रीनारद ने भी कहा है—

"भक्ति योगस्य तत् सर्वमन्तरायतयार्भकः ।
मन्यमानो हृषीकेशं स्मयमान उवाच ह ।।"

टीका—तत् सर्वं वर जातम् ।

हे राजन् ! वह बालक प्रह्लाद, कामना वासना को विशुद्ध भक्ति योग के अन्तराय मानकर मन ही मन हँसकर श्रीनृसिंह देव को कहे थे । श्रीनारद के इस वाक्य से भी प्रकाश हुआ कि प्रह्लाद निखिल भोग वासना को विशुद्ध भोग योग के अन्तराय ही मानते थे । इस प्रकार विशुद्ध भक्त श्री अम्बरीष महाराज का यज्ञानुष्ठान भी लोक शिक्षार्थ ही जानना होगा । कारण, श्रीअम्बरीष को लक्ष्य करके श्रीशुक देव ने भा० ६।४।२८ में कहा है—

"तस्मा अदाद्धरिश्चक्रं प्रत्यनीक भयावहम् ।
एकान्त भक्ति भावेन प्रीतो भक्ताभिरक्षणम् ।।"

टीका—नन्वेवम्भूतोऽसौ कथं प्रतिपक्षान् जयेत् तत्राह तस्मा इति ।

भगवान् श्रीहरि अम्बरीष महाराज के भक्ति भाव से प्रीत होकर शत्रुभीतिव, एवं भक्तरक्षण समर्थ सुदर्शन चक्र को महाराज की रक्षा हेतु नियोग किये थे । इस उक्ति से अम्बरीष महाराज की ऐकान्तिकता सुस्पष्ट व्यक्त हुई है । उस के मध्य में—अर्थात् ऐहिक एवं पारलौकिक सकामत्व के मध्य में ऐहिक

"मौन-व्रत-श्रुत-तपोऽध्ययन-स्वधर्म-,व्याख्या--रहोजप-समाधय आपवर्ग्याः ।
प्रायः परं पुरुष ते त्वजितेन्द्रियाणां, वार्त्ता भवन्तुयत न वात्र तु दाम्भिकानाम् ।।"४७३।

इति श्रीप्रह्लाद-वाक्यवत् । मौनादय एवाजितेन्द्रियाणां वार्त्ता जीवनोपाया भवन्ति, दाम्भिकानान्तु वार्त्ता अपि भवन्ति न वा, दम्भस्यानियतफलत्वादित्यर्थः । अतएवोक्तम् (भा० ६।१८।७४) —

"आराधनं भगवत ईहमाना निराशिषः ।
ये तु नेच्छन्त्यपि परं ते स्वार्थकुशलाः स्मृताः ।।"४७४।। इति ।

"परं मोक्षमपि" इति टीका च । तस्मात् साधूक्तम् (भा० ७।७।५१)—"नालं द्विजत्वम्" इत्यादि ।। श्रीप्रह्लादोऽसुरबालकान् ।

निष्कामत्व, भक्ति द्वारा निज जीविका एवं प्रतिष्ठादि अर्ज्जन लालसा शून्य रूप अर्थ को भी जानना होगा। अर्थात् भजन प्रदर्शन पूर्वक जीविका निर्वाह की चेष्टा करना एवं भजन के माध्यम से प्रतिष्ठित होने की चेष्टा करना भी ऐहिक कामना के मध्य में परिगणित है। उस प्रकार वासना शून्य हृदय होने से ही निष्काम संज्ञा होती है, अतएव गरुड़ पुराणमें विशुद्ध भक्त लक्षण उक्त है—"विष्णुं यो नोपजीवति" अर्थात् जो व्यक्ति, श्रीविष्णु को जीविका निर्वाह का उपाय रूप में व्यवहार नहीं करता है, वह विशुद्ध भक्त संज्ञा से अभिहित होता है। भा० ७।९।४६ में प्रह्लाद ने कहा भी है—

"मौन–व्रत-श्रुत-तपोऽध्ययन-स्वधर्म-, व्याख्या–रहोजप-समाधय आपवर्ग्याः ।
प्रायः परं पुरुष ते त्वजितेन्द्रियाणां, वार्त्ता भवन्तुयत न वात्र तु दाम्भिकानाम् ।।"४७३।।

ननु मौनादिभिः मोक्षसाधनैः सुलभैव तेषामपि मुक्तिः, तत्राह मौनेति। हे पुरुष अन्तर्यामिन्! ये मौनादयोदश आपवर्ग्याः, अपवर्ग हेतवः प्रसिद्धाः। रहः, विविक्त वासः, ते तु प्रायशोऽजितेन्द्रियाणाम्--इन्द्रिय भोगार्थं विक्रीणतां वार्त्ता, जीवनोपाया भवन्ति दाम्भिकानान्तु वार्त्ता उत अपि भवन्ति वा, नवा दम्भस्यानियत फलत्वात्।

हे नाथ! मौन प्रभृति दशविध साधन--यद्यपि मोक्षलाभ के हेतु रूप में प्रसिद्ध हैं, तथापि अजितेन्द्रिय अर्थात् इन्द्रिय भोग हेतु जो लोक उक्त दशविध धर्म को विक्रय करते हैं, उन के पक्ष में प्रायशः उक्त दशविध धर्म जीविका निर्वाह हेतु ही होते हैं, अभिमानी व्यक्ति गण के पक्ष में मोक्ष हेतु उक्त दशविध धर्म जीविका निर्वाह के कारण भी नहीं होते है। कारण, दम्भ का फल अनिर्द्दिष्ट होता हैं। अतएव भा० ६।१८।७४ श्लोक में इन्द्र, दिति को कहे थे—

"आराधनं भगवत ईहमाना निराशिषः ।
ये तु नेच्छन्त्यपि परं ते स्वार्थकुशलाः स्मृताः ।।"४७४।। इति ।

टीका—अपि परं मोक्षमपि!

हे मातः! जो लोक, निष्काम भाव से भगवान् की आराधना करते हैं, किन्तु निज आराध्य देव के निकट मोक्ष पर्य्यन्त नहीं चाहते हैं। वे सब ही यथार्थतः स्वार्थ साधन में सुचतुर हैं। अतएव भा० ७।७।५१ में प्रह्लाद ने कहा है—

"नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वासुरात्मजा ।

१६९। ततोऽस्या एव भक्तेः सर्वशास्त्रसारत्वमाह (भा० ७।५।२३-२४) –

(१६९) "श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्च्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥४७५॥
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा ।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम् ॥"४७६॥

श्रवण-कीर्त्तने तदीय-नामादीनाम्, स्मरणञ्च, पादसेवनं परिचर्य्या, अर्चनं विध्युक्तपूजा, वन्दनं नमस्कारः, दास्यं तद्दासोऽस्मीत्यभिमानः, सख्यं बन्धुभावेन तदीयहिताशंसनम्,

---

प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता ॥

भगवत् प्रसन्नता के प्रति एकमात्र हेतु है, अमला भक्ति। द्विजत्व, देवत्व, ऋषित्व, बहुज्ञता, एवं धन सम्पत्ति--भगवत् प्रसन्नता के प्रति हेतु नहीं है। इस श्लोक में उक्त है कि—भगवान् श्रीकृष्ण, अहैतुकी भक्ति से सन्तुष्ट होते हैं ।

प्रह्लाद असुर बालकों को कहे थे ॥१६८॥

१६९। अन्याभिलाषिताशून्या ज्ञानकर्मादि द्वारा अनावृता, आनुकूल्य से श्रीकृष्णानुशीलन रूपा भक्ति ही निखिल शास्त्रोपदेश के मध्य में श्रेष्ठ कर्त्तव्योपदेश है, उसका कथन भा० ७।५।२३--२४ में भक्त-प्रवर प्रह्लाद ने निज पिता हिरण्य कशिपु को कहे थे ।

(१६९) "श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्च्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥४७५॥
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा ।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम् ॥"४७६॥

टीका—पादसेवनं परिचर्य्या। अर्च्चनं--पूजा, दास्यं कर्म्मार्पणम्। सख्यं—तद्विश्वासादि, आत्मनिवेदनं—देह समर्पणम्। यथा विक्रीतस्य गवाश्वादेर्भरण पालनादिचिन्ता न क्रियते, तथा देहं तस्मै समर्प्य तच्चिन्तावर्जनमित्यर्थः। इति नव लक्षणानि यस्याः सा अधीतेन चेद् भगवति विष्णौ भक्तिः क्रियते सा चार्पितैव सती यदि क्रियेत न तु कृता सती पश्चादर्प्येत, तदुत्तममधीतं मन्ये नत्वस्माद् गुरोरधीतं शिक्षितं वा तथाविधं किञ्चिदस्तीति भावः।

हे पितः ! जो श्रीविष्णु का श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्च्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, उनको आत्म निवेदन—यह नव लक्षणा भक्ति का अनुष्ठान आत्म समर्पन करके करता है, उस के द्वारा जो अध्ययन होता है, उसी को मैं उत्तम अध्ययन मानता हूँ। इस श्लोक में श्रवण, कीर्त्तन, एवं स्मरण, यह तीन अङ्ग—श्रीविष्णु के नाम, रूप, गुण, परिकर के सम्बन्ध में ही समझना होगा। पादसेवन शब्द से भक्ति पूर्वक श्रीविष्णु की परिचर्य्या को जानना होगी। अर्च्चन शब्द से विधि विहित श्रीविष्णु की पूजा, वन्दन शब्द से उनको नमस्कार, दास्य शब्द से मैं भगवान् का दास हूँ इस प्रकार अभिमान, सख्य शब्द से बन्धुभाव से श्रीविष्णु सम्बन्धीय हितानुशीलन, आत्म निवेदन शब्द से गो, अश्वविक्रयवत् देहेन्द्रिय समूह को श्रीभगवान् में समर्पण। अर्थात् गो, अश्व प्रभृति को विक्रय करने पर जिस प्रकार क्रेता के व्यवहार में वे सब आते हैं, किन्तु विक्रेता के व्यवहार में नहीं आते हैं, उस प्रकार निज देहेन्द्रिय प्रभृति को श्रीभगवत्

आत्मनिवेदनं गवाश्वादि-स्थानीयस्य स्वदेहादि-संघातस्य तदेकभजनार्थं विक्रयस्थानीयं तस्मिन्नर्पणम्, यत्र तद्भरण-पालनचिन्तापि स्वयं न क्रियते। उदाहृतानि चैतानि प्राचीनैः-

"श्रीविष्णोः श्रवणे परीक्षिदभवद्वैयासकिः कीर्त्तने,
प्रह्लादः स्मरणे तदङ्‌घ्रि भजने लक्ष्मी पृथुः पूजने।
अक्रूरस्त्वभिवन्दने कपिपतिर्दास्येऽथ सख्येऽर्ज्जुनः,
सर्वस्वात्मनिवेदने बलिरभूत कृष्णाप्तिरेषां परम्॥"४७७॥

इति नवलक्षणानि यस्याः सा, भगवति तद्विषयिका श्रद्धा साक्षाद्रूपा, न तु कर्माद्यर्पण-रूपा पारम्परिकी भक्तिरियम्, तत्रापि श्रीविष्णावेवार्पिता तदर्थमेवेदमिति भाविता, न तु धर्म्मार्थादिष्वर्पिता, एवम्भूता चेत् क्रियते, तदा तेन कर्त्रा यदधीतं तदुत्तमं मन्य इत्यर्थः। तथा च श्रीगोपालतापनीश्रुतिः(पू० १८)—"भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधिनैरास्येनामुष्मिन् मनः कल्पनमेतदेव च नैष्कर्म्यम्" इति। अत 'नवलक्षणा' इति समुच्चयो नावश्यकः,

---

सुखार्थ समर्पण करने का नाम ही आत्म निवेदन है।

जिस प्रकार गो अश्वादि विक्रय अथवा दान करने पर उस के भरण पोषण हेतु विक्रेता वा दाता को कोई चिन्ता नहीं रहती है, उस प्रकार "चिन्तां न कुर्य्यात् रक्षायै विक्रीतस्य यथा पशोः" भरण पोषण निमित्त चिन्ता न करना, यह जानना होगा। यह श्रवण कीर्त्तनादि नवाङ्ग भक्ति का उदाहरण प्राचीन महापुरुष गण इस प्रकार से प्रस्तुत करते हैं—

"श्रीविष्णोः श्रवणे परीक्षिदभवद्वैयासकिः कीर्त्तने,
प्रह्लादः स्मरणे तदङ्‌घ्रिभजने लक्ष्मीः पृथुः पूजने।
अक्रूरस्त्वभिवन्दने कपिपतिर्दास्येऽथ सख्येऽर्ज्जुनः,
सर्वस्वात्मनिवेदने बलिरभूत् कृष्णाप्तिरेषां परम्॥"४७७॥ इति।

श्रीविष्णु का श्रवण में श्रीपरीक्षित्, कीर्त्तन में श्रीशुक, स्मरण में श्रीप्रह्लाद, पाद सेवन में श्रीलक्ष्मी पूजन में-श्रीपृथु, नमस्कार में श्रीअक्रूर, दास्य में कपिपति श्रीहनुमान, सख्य में श्रीअर्जुन, आत्म निवेदन में श्रीबलि—इन सब को उत्तम रूप से श्रीकृष्ण प्राप्ति हुई थी। यह श्रवण कीर्त्तनात्मिका नव लक्षणा भक्ति यदि भगवद्विषयिका एवं कर्माद्यर्पण रूपा पारम्परिकी न होकर यदि साक्षात् रूपा होती है, उस में भी श्रीविष्णु में ही अर्पित होता है। अर्थात् श्रीविष्णु सुख हेतु यह श्रवण कीर्त्तनादि का भक्त्यनुष्ठान कर रहा हूँ—इस प्रकार भाविता होती है। किन्तु उक्त नवाङ्ग भक्ति का अनुष्ठान, यदि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष लाभ हेतु नहीं होता है तो, भक्ति का एक अङ्ग अनुष्ठान कर्त्ता का अध्ययन सिद्ध होता है, और उस अध्ययन को ही मैं उत्तम अध्ययन मानता हूँ। श्रीगोपाल तापनी श्रुति में भी उक्त है—

"भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधि नैरास्येनामुष्मिन् मनः कल्पनम्" एतदेव च नैष्कर्म्यम्॥" इति।

यह श्रीकृष्ण भजन अर्थात् आनुकूल्यानुशीलन का नाम ही भक्ति है। वह भजन ऐहिक, पारलौकिक भोग वासना शून्य होकर श्रीकृष्ण में मनः स्थापन रूप है। इसका अपर नाम ही नैष्कर्म्य अर्थात् ब्रह्मभाव है। उक्त श्लोक में नव लक्षणा का अर्थ समुच्चय नहीं है, उस प्रकार अर्थ करने की आवश्यकता नहीं है। अर्थात् एक भक्ति अधिकारी व्यक्ति को उक्त नौ अङ्गों का ही अनुष्ठान करना होगा। इस प्रकार नियम नहीं है। कारण, भक्ति का किसी भी एक अङ्ग का अनुष्ठान होने पर उस से साध्य वस्तु प्रेम लाभ से

एकेनैवाङ्गेन साध्यव्यभिचारश्रवणात्, क्वचिदन्याङ्गमिश्रणन्तु, तथापि भिन्नश्रद्धारुचित्वात्। ततो नवलक्षणा-शब्देन भक्तिसामान्योक्त्या तन्मात्रानुष्ठानं विधीयत इति ज्ञेयम्। नवलक्षणत्वञ्चास्या अन्येषामप्यङ्गानां तदन्तर्भावादुक्तम् ॥ श्रीप्रह्लादः स्वपितरम् ॥

१७०। अथास्या अकिञ्चनाख्याया भक्तेः सर्वोर्द्ध्व भूमिकावस्थितिमधिकारिविशेष-निष्ठत्वञ्च दर्शयितुं प्रक्रियान्तरम्, तत्र परतत्त्वस्य वैमुख्यपरिहाराय यथाकथञ्चित् साम्मुख्यमात्रं कर्त्तव्यत्वेन लभ्यते। तच्च त्रिधा,--(१) निर्विशेषरूपस्य तदीयब्रह्माख्याविर्भावस्य ज्ञानरूपम्, (२) सविशेषरूपस्य च तदीय-भगवदाद्याख्या-विर्भावस्य भक्तिरूपमिति द्वयम्, (३) तृतीयञ्च तस्य द्वयस्यैव द्वारं कर्म्मार्पणरूपमिति। तदेतत्त्रयं पुरुष-योग्यताभेदेन व्यवस्थापयितुं लोके सामान्यतो ज्ञान-कर्म्म-भक्तीनामेवोपायत्वम्, नान्येषामित्यनुवदति (भा० ११।२०।६) —

(१७०) "योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥"४७८॥

कृतार्थ भक्ति आचरण कारी होता है। शास्त्र में इस का वर्णन दृष्ट होता है। अधिकारी विशेष में भक्ति के अङ्ग दो तीन मिश्रित होकर यदि अनुष्ठित होते हैं, तो उसमें आस्वादन वैचित्र्य तो होता ही है। कारण, मानव मात्र में श्रद्धा एवं रुचि में पार्थक्य है, अतएव 'नव लक्षणा भक्ति शब्द से भक्ति सामान्य का ग्रहण ही होती है। अतः भक्तिमात्र का अनुष्ठान ही विहित हुआ है। भक्ति के अनेक अङ्ग होने पर भी "नव लक्षणा" उल्लेख होने के कारण जानना होगा कि अन्यान्य अङ्ग समूह का अन्तर्भाव उक्त नवलक्षण में ही किया गया है। किस अङ्ग भक्ति का किस में अन्तर्भाव हुआ है, उस का विश्लेषण अग्रिम ग्रन्थ में करेंगे।

श्रीप्रह्लाद–निज पिता को कहे थे—।१६९।

१७०। अनन्तर अकिञ्चना भक्ति की सर्वोपरि भूमिका में अवस्थिति, एवं विशेष निष्ठता प्रदर्शन हेतु पृथक् प्रकरण का आरम्भ करते हैं। अर्थात् यह अकिञ्चना भक्ति ही निखिल साधनों के मध्य में श्रेष्ठ है, एवं यह अकिञ्चना भक्तिलाभ, विशेष सौभाग्य व्यतीत नहीं होता है, उस को कहने के निमित्त भिन्न प्रकरण का आरम्भ करते हैं। परतत्त्ववैमुख्य दोष परिहार के निमित्त यथा कथञ्चित् साम्मुख विधान शास्त्र करते हैं। अर्थात् शास्त्र में जितने उपदेश हैं, समस्त उपदेशों का तात् पर्य्य है—जीव, अनादि काल से परतत्त्व वहिर्मुखता दोष से अशेष दुःख ग्रस्त हो रहे हैं। उक्त दोष निवृत्ति हेतु यथा कथञ्चित् रूप से पर तत्त्व साम्मुख्य सम्पादन करना। उक्त साम्मुख्य हेतु भी त्रिविध हैं।

प्रथम—परतत्त्व का निर्विशेष रूप में ब्रह्म नामक आविर्भाव का साम्मुख्य हेतु ज्ञान साधन है। द्वितीय—उक्त परतत्त्व का भगवदाख्य सविशेष रूप से आविर्भाव का साम्मुख्य हेतु भक्ति साधन है। तृतीय—पूर्वोक्त द्विविध साधन के द्वार स्वरूप—कर्म्मार्पण साधन है। यह त्रिविध साधन ही साधक के योग्यता भेद से व्यवस्था करने के निमित्त ज्ञान, कर्म, भक्ति नाम से शास्त्र में उल्लिखित हैं, कारण-अपर कोई भी साधन परतत्त्व का साम्मुख्य सम्पादक नहीं हैं। उसका वर्णन भा० ११।२०।६ में श्रीभगवान् स्वयं ही उद्धव को कहे हैं—

(१७०) "योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।

योगा उपायाः, मया शास्त्रयोनिना, श्रेयांसि मुक्ति-त्रिवर्ग-प्रेमाणि। अनेन भक्ते, कर्म्मत्वञ्च व्यावृत्तम् ॥

१७१। तेष्वधिकारि हेतुनाह द्वाभ्याम् (भा० ११।२०।७-८) –

(१७१) "निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्म्मसु।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्म्मयोगश्च कामिनाम् ॥४७९॥
यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः ॥"४८०॥

इह एषां मध्ये निर्विण्णानामैहिक-पारलौकिक-विषय-प्रतिष्ठासुखेषु विरक्तचित्तानामतएव तत्साधन-भूतेषु लौकिक-वैदिक-कर्म्मसु न्यासिनां तानि त्यक्तवतामित्यर्थः। पदद्वयेन दृढ़जात-

---

ज्ञानं कर्म्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ॥४७८॥

टीका—विषयाभेदेऽप्यधिकारि भेदेन अविरोधं वक्तुं प्रथमं योगत्रयमाह योगा इति। योगा उपायाः, ब्रह्मकर्म देवता काण्डैः प्रोक्ताः। कर्म च निष्कामम्। श्रेयो विवित्सया, मोक्ष साधनेच्छया। अन्य उपायो नास्तीति काम्य कर्मादिकं व्यावर्त्तयति। तथा चोत्तराध्याये स्फुटी करिष्यति य एतानित्यादिना।

हे उद्धव! शास्त्र कर्त्ता मैं मानवों की मुक्ति हेतु त्रिवर्ग एवं प्रेम नामक मङ्गल प्राप्ति के उपाय स्वरूप, ज्ञान, कर्म, एवं भक्ति –यह तीन साधन का वर्णन किया हूँ। किसी भी शास्त्र में उक्त त्रिविध उपाय व्यतीत अपर मङ्गल प्राप्ति का साधन नहीं है। यहाँ कर्म को पृथक् रूप में निर्देश करने के कारण, भक्ति क्रिया रूपा होने पर भी कर्म से वह भिन्न है, उसका स्पष्टीकरण हुआ। श्लोकस्थ योग शब्द का अर्थ- उपाय है, मया—शास्त्रयोनिना। शास्त्र कर्त्ता मेरे द्वारा श्रेयः शब्द का अर्थ – मुक्ति, धर्म, अर्थ, काम रूप त्रिवर्ग, एवं प्रेम है।

१७१। उक्त साधनत्रय के त्रिविध अधिकारी के प्रति हेतु का वर्णन करते हैं अर्थात् जो गुण विद्यमान होने से उक्त तीन प्रकार साधनों का अधिकारी होता है, उसका वर्णन भा० ११।२०।७–८ द्वारा करते हैं—

(१७१) "निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्म्मसु।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्म्मयोगश्च कामिनाम् ॥४७९॥
यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः ॥"४८०॥

टीका—तेषु अधिकारिभेदमाह—निर्विण्णानामिति द्वाभ्याम्। इह एषां मध्ये कर्मसु निर्विण्णानां दुःख बुद्ध्या तत् फलेषु विरक्तानाम् अतएव तत् साधन भूत कर्मन्यासिनां ज्ञान योगः सिद्धिद इत्युत्तरेणान्वयः अनिर्विण्ण चित्तानां, दुःख बुद्धि शून्यानाम्। अतः कामिनां तत् फलेषु अविरक्तानामित्यर्थः ७। यदृच्छया केनापि भाग्योदयेन। तत्र काम्यकर्मसु प्रवर्त्तमानस्य सर्वात्मना विधि प्रतिषेधाधिकार इत्युत्तराध्याये वक्ष्यति। निष्काम कर्माधिकारिणस्तु यथा शक्ति। स च ज्ञान भक्ति योगाधिकारात् प्रागेव। तदधिकृतयोस्तु स्वल्पः। ताभ्यां सिद्धानान्तु न किञ्चिदिति ॥८॥

मुमुक्षुणामित्यभिप्रेतम् । तेषां ज्ञानयोगः सिद्धिद इत्युत्तरेणान्वयः । कामिनां तत्तत्सुखेषु रागिणाम्, अतएव तेषु तत्साधनभूतेषु कर्म्मसु अनिर्विण्णचित्तानां तानि त्यक्तुमसमर्थानां कर्म्मयोगः सिद्धिदस्तत्तत्सङ्कल्पानुरूपः फलदः । अथ (भा० २।७।४६)— ते वै विदन्त्यतितरन्ति च देवमायाम्" इत्यादौ, "तिर्य्यग्जना अपि" इत्यनेन भक्त्यधिकारे कर्म्मादिवज्जात्यादि-कृतनियमातिक्रमात् श्रद्धामात्रं हेतुरित्याह (भा० ११।८।२०) --"यदृच्छया" इति, यदृच्छया केनापि परमस्वतन्त्र-भगवद्भक्त सङ्ग-तत्कृपाजात-मङ्गलोदयेन । यदुक्तम् (भा० १।२।१६)— 'शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य" इत्यादि ॥ श्रीभगवान् ॥

उक्त साधनों के मध्य में जो लोक ऐहिक पारलौकिक विषय प्रतिष्ठा सुख में विरक्त चित्त हैं, अतएव पूर्वोक्त सुख प्राप्ति का साधन रूप लौकिक वैदिक कर्म त्यागी हैं, यह सब साधकों के पक्ष में ज्ञान योग सिद्धि प्रद है, अर्थात् निरूपाधि ज्ञान साधन का मुख्य फल मोक्ष काम होता है । यहाँ, निर्विण्ण एवं न्यासी' पदद्वय का उल्लेख होने के कारण, यह सूचित होता है कि जिस के हृदय में मुक्ति की इच्छा दृढ़ बद्ध है, उस के पक्ष में ही ज्ञान योग सिद्धि प्रद होता है । एवं जिस के हृदय में ऐहिक—पार लौकिक विषय प्रतिष्ठा सुख भोग में आकाङ्क्षा है, अतएव उस सुख भोग प्राप्ति का साधन रूप सकाम कर्म को परित्याग करने में वह असमर्थ है, उस के पक्ष में ही कर्म योग सिद्धि प्रद है । अर्थात् कर्मयोग, उस के सङ्कल्पानुसार फल दायी होता है । अनन्तर कर्म योग में जिस प्रकार जाति प्रभृति नियम विहित है, भक्ति योग में उस प्रकार जाति प्रभृति की अपेक्षा नहीं है । भा० २।७।४६ में उक्त है—

" ते वै विदन्त्यतितरन्ति च देवमायां
स्त्री शूद्र हूण शवरा अपि पाप जीवाः ।
यद्यद्भुत क्रम परायण शीलशिक्षा
स्तिर्य्यग् जना अपि किमु श्रुतधारणा ये ॥"

टीका—किं बहुना सत्सङ्गेन सर्वेऽपि विदन्ति इत्याह— ते वा इति । अद्भुताः क्रमाः पादन्यासा यस्य हरेस्तत् परायणास्तद् भक्ता स्तेषां शीले शिक्षा येषां ते तथा यदि भवन्ति, तर्हि तेऽपि विदन्तीत्यर्थः । श्रुते भगवतो रूपे धारणा मनोनियमनं येषां ते विदन्तीति किमु वक्तव्यम् ॥

श्री ब्रह्मा, श्रीनारद को कहे थे,—स्त्री, शूद्र, हूण, शवर,—यहाँतक कि जिस की उत्पत्ति पाप से हुई है, इस प्रकार वेश्या पुत्र प्रभृति भी साधु सङ्ग के प्रभाव से श्रीभगवान् को अनुभव करके ईश्वर माया को अतिक्रम करने में सक्षम होते हैं । इस से सुव्यक्त हुआ कि भक्ति योग में जाति प्रभृति की अपेक्षा नहीं है । भक्ति अधिकार में एकमात्र श्रद्धा ही हेतु है । उस का वर्णन करते हैं— यदृच्छया' यदृच्छया से अर्थात् किसी परम स्वतन्त्र भगवद् भक्त सङ्ग किंवा उनकी कृपा से सञ्जात सुमङ्गल का उदय होने पर, मेरी कथा प्रभृति में जो लोक श्रद्धा युक्त हैं, अथच विषय में अत्यन्त आसक्त भी नहीं हैं, अत्यन्त निर्विण्ण भी नहीं हैं, इस प्रकार अधिकारी मानव के पक्ष में ही भक्ति योग सिद्धि प्रद होता है । उक्त श्लोकस्थ 'यदृच्छया' पद का अर्थ साधु सङ्ग एवं साधु कृपा रूप अर्थ किया गया है उस का प्रमाण भा० १।२।१६ में है—

"शुश्रूषो श्रद्धधानस्य वासुदेव कथारुचिः ।
स्यान्महत् सेवया विप्राः पुण्यतीर्थ निषेवनात् ।"

हे विप्र वृन्द ! भगवद् वहिर्मुख की श्रीहरिकथा में रुचि, साधु सङ्ग के विना अन्य किसी भी उपाय

१७२। तदेतत् पद्यं स्वयमेवाग्रे व्याख्यास्यते द्वाभ्याम् (भा० ११।२०।२७-२८) —

(१७२) "जातश्रद्धो मत्कथासु निर्विण्णः सर्वकर्म्मसु।
वेद दुःखात्मकान् कामान् परित्यागेऽप्यनीश्वरः ॥४८१॥
ततो भजेत मां प्रीतः श्रद्धालुर्दृढ़निश्चयः।
जुषमाणश्च तान् कामान् दुःखोदर्कांश्च गर्हयन् ॥"४८२॥

कथेत्युपलक्षणम्, मत्कथादिषु, एतदेव केवलं परमं श्रेय इति जातविश्वासः, अतएवान्येषु कर्म्मसु उद्विग्नः, किन्तु वर्त्तमानेषु प्राचीनपुण्यकर्म्मफलभोगेषु एवम्भूत इत्याह,--वेदेति। ततस्तां वेदेत्यादि-व्याख्याताम् (भा० ११।२०।८) "न निर्विण्णो नातिसक्तः" इत्येवलक्षणामवस्थामारभ्यैवेत्यर्थः। मां भजेत मदीयानन्यताख्य-भक्तावधिकारी स्यान्न तु ज्ञानवज्जाते सम्यग्वैराग्य एव। तस्याः स्वतः सर्वशक्तिमत्त्वेनान्यनिरपेक्षत्वादित्यर्थः। अनन्तरञ्च वक्ष्यते (भा० ११।२०।३१)—

"तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह ॥"४८३॥

से नहीं होती है। अतएव कार्य्य व्यपदेश से पवित्र तीर्थ निषेवण से साधुसङ्ग होता है। उस से श्रीहरिकथा श्रवण होता है, उस में विश्वास उत्पन्न होता है। एवं साधु वृन्द की सेवा करने की इच्छा होती है, उस से श्रीवासुदेव की कथा में रुचि उत्पन्न होती है।

प्रवक्ता श्रीभगवान् हैं ॥१७१॥

१७२। भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं ही उसकी व्याख्या श्लोक द्वय के द्वारा किये —हैंभा० ११।२०।२७-२८

(१७२) 'जातश्रद्धो मत्कथासु निर्विण्णः सर्वकर्म्मसु।
वेद दुःखात्मकान् कामान् परित्यागेऽप्यनीश्वरः ॥४८१॥
ततो भजेत मां प्रीतः श्रद्धालुर्दृढ़निश्चयः।
जुषमाणश्च तान् कामान् दुःखोदर्कांश्च गर्हयन् ॥"४८२

टीका—भक्त्यधिकारिणो भक्ति योगमाह जातश्रद्ध इति नवभिः। मत् कथासु जातश्रद्धः, अतएव अन्येषु कर्मसु निर्विण्णः, उद्विग्नो नतु तत् फलेषु विरक्तः। तदाह—वेदेति। यद्यपि वेद, तथापि तत् परित्यागेऽनीश्वरोऽशक्तः(२७)एवम्भूतो यः श्रद्धालुर्भक्त्यैव सर्वं भविष्यतीति दृढ़ निश्चयः सन् ततस्तदनन्तरं मां प्रीत्या भजेत। विषयांस्तु सेवमानोऽपि तेषु प्रीतिं न कुर्य्यादित्याह गर्हयन्निति ॥२८॥

जो मदीय कथादि में अर्थात् मदीय भक्त्यङ्ग साधन में श्रद्धावान् है, भक्ति साधन के द्वारा ही सर्वार्थ सिद्धि होगी, अपर साधनों का प्रयोजन ही क्या है ? इस प्रकार दृढ़ निश्चय युक्त है, एवं भक्ति साधन ही परममङ्गलमय है, अन्य कोई भी साधन नित्य भगवत् सेवक मेरे पक्ष में कल्याण कर नहीं है, इस प्रकार विश्वास जिस के हृदय में हुआ है। अतएव वह व्यक्ति, अवश्य ही अन्य निखिल कर्म्म से उद्विग्न हैं, किन्तु वर्त्तमान एवं प्राचीन कर्म फल भोग में विरक्त नहीं है। इस प्रकार अधिकारी व्यक्ति जानता है कि विषय भोग दुःख का ही कारण है, अथच भोग परित्याग करने में असमर्थ है। पहले कहा गया है भा० ११।२०।८)

(भा० ११।२०।३२) "यत् कर्मभिर्यत्तपसा" इत्यादि। न च कर्म्मनिर्वेदसापेक्षत्वमापतितम्, स तु भक्तेः सर्वोत्तमत्वविश्वासेन स्वत एव प्रवर्त्तते। अतो निर्विण्ण इत्युनुवादमात्रम्। अतएव यद्यपि ज्ञान-कर्म्मणोरपि श्रद्धापेक्षास्त्येव, तां विना वहिरन्तः सम्यक्प्रवृत्त्यनुपपत्तेस्तथाप्यत्र श्रद्धामात्रस्य कारणत्वेन विशेषत-स्तदङ्गीकारः। अत्रापि च तदपेक्षा पूर्ववत् सम्यक्-

---

"यदृच्छया मत् कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्ति योगोऽस्य सिद्धिदः॥"

इस प्रकार अवस्था से आरम्भ कर--अर्थात् जिस अवस्था में विषय भोग वैराग्य भी नहीं है, एवं विशेष आसक्ति भी नहीं है। अथच भगवद् भक्ति के प्रति अङ्ग में श्रद्धाशील है, उस अवस्था से ही मेरा भजन करता है, वह व्यक्ति मेरी अनन्या भक्ति का अधिकारी है। ज्ञान साधन में जिस प्रकार इस जगत् के एवं पर जगत् के निखिल विषय भोग में सम्यक् विरक्त न होने से ब्रह्म जिज्ञासा का अधिकारी नहीं होता है, भक्ति साधन में उस प्रकार वैराग्य की अपेक्षा नहीं है, अर्थात् भक्ति में इस प्रकार सामर्थ्य विद्यमान है कि--वह निज आश्रित जन की निखिल अयोग्यता को विदूरित करके सर्व प्रकार योग्यता सम्पादन कर देती है। तज्जन्य भक्ति साधन के पक्ष में अपर किसी प्रकार योग्यता की अपेक्षा नहीं है। केवल भक्ति में सुदृढ़ श्रद्धा की ही अपेक्षा है।

भा० ११।२०।३१ में श्रीकृष्ण स्वयं कहेंगे—

"तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह॥"४८३॥

टीका—तदेवं व्यवस्थया अधिकारत्रयमुक्तम्। तत्र च भक्तेरन्य निरपेक्षत्वादन्यस्य च तत् सापेक्षत्वाद् भक्तियोग एव श्रेष्ठ इत्युपसंहरति तस्मादिति त्रिभिः। मदात्मनो मयि आत्मा चित्तं यस्य तस्य श्रेयः साधनम्।

उद्धव! मैंने कर्म्म, ज्ञान, एवं भक्ति के त्रिविध अधिकारी का वृत्तान्त कहा। उस में ज्ञान एवं कर्म्म नित्य भक्ति योग के मुखापेक्षी हैं। किन्तु भक्ति योग कर्म एवं ज्ञान के मुखापेक्षी नहीं है। एतज्जन्य भक्ति योग निखिल साधनों से अतिशय श्रेष्ठ है। मुझ में आसक्त चित्त भक्ति युक्त साधक के पक्ष में प्रायशः ज्ञान वा वैराग्य, मङ्गल साधक नहीं होता है। कारण, भा० ११।२०।३२–३३ में आपने कहा है—

"यत् कर्मभि र्यत् तपसा ज्ञान वैराग्यतश्च यत्।
योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि।
सर्वं मद्भक्ति योगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा।
स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथञ्चिद् यदि वाञ्छति।

टीका—तत्र हेतुः। यत् कर्मभिरित्यादि। इतरैरपि तीर्थ यात्रा व्रतादिभिः श्रेयः साधनै र्यद् भाव्यं सत्त्व शुद्धयादि तत् सर्वमञ्जसा अनायासेनैव स्वर्गमपवर्गं मद्धाम वैकुण्ठं लभत एव। वाञ्छा तु नास्तीत्युक्तं-यदि वाञ्छतीति॥

विविध कर्म, तपस्या, ज्ञान, वैराग्य, अष्टाङ्ग योग, दान धर्म, तीर्थयात्रा, व्रत प्रभृति साधनों के द्वारा जो चित्त शुद्धि प्रभृति फल होते हैं, मेरा भक्त, यह सब फल को अनायास प्राप्त कर लेते हैं। अतएव भक्ति योग जो अन्यनिरपेक्ष है उस का सुस्पष्ट उल्लेख हुआ। "निर्विण्णः सर्व कर्म्मसु" निखिल कर्मानुष्ठानों में

प्रवृत्त्यर्थैव। तां विनानन्यताख्या भक्तिस्तथा न प्रवर्त्तते। कदाचित् किञ्चित् प्रवृत्ता च नश्यतीति। अतएव "न निर्विण्णो नातिसक्तः" इत्यस्यानन्तरमपि (भा० ११।२०।९) "मत्कथा-श्रवणादौ वा" इत्यत्र श्रद्धायां जातायामेव कर्म्मपरित्यागो विहितः। भक्तिमात्रन्तु तां विनापि सिध्यति। (स्कान्दे प्रभासखण्डे) 'सकृदपि परीगीतं श्रद्धया हेलया वा' भृगुवर नरमात्रं तारयेत् कृष्णनाम" इत्यादौ, (भा० ३।२५।२५) —

"सतां प्रसङ्गान्मम वीर्य्यसम्विदो, भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।

निर्वेद प्राप्त व्यक्ति जब भक्ति का अधिकारी है, तब भक्ति योग कैसे सब प्रकार से निरपेक्ष हो सकता है? उत्तर में कहते हैं—जिस समय भक्ति में भक्त का सर्वोत्तम विश्वास होगा, उस समय स्वभावतः ही काम्य कर्म्मादि अनुष्ठान में निर्वेद होगा। किन्तु श्लोक में कर्म योग में निर्वेद की कथा जो कही गई है, वह अनुवाद मात्र ही है, अर्थात् भक्ति योग के स्वभाव से प्राप्त निर्वेद की कथा ही सुस्पष्ट रूप से कही गई है। अतएव यद्यपि ज्ञान एवं कर्म में भी श्रद्धा की अपेक्षा विद्यमान है.कारण, किसी भी साधन में श्रद्धा न होने से प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। जिस की श्रद्धा कर्म में नहीं है, उसका सर्वथा आवेश कर्म्मानुष्ठान में नहीं होगा, अथच आवेश के बिना सिद्धि लाभ भी नहीं होता है। अतएव ज्ञान कर्म साधन अनुष्ठान में भी साधक को श्रद्धा की अपेक्षा है। तथापि – भक्ति साधन में केवल श्रद्धा को कारण रूप में निर्देश करने के कारण, भक्ति मार्ग में श्रद्धा को विशेष रूप से अङ्गीकार किया गया है। इस भक्ति मार्ग में भी पहले के समान अन्य साधन के प्रति आदर शून्य होकर एकमात्र भक्ति साधन में सम्यक् प्रवृत्त हेतु श्रद्धा की अपेक्षा है, श्रद्धा के बिना अर्थात् भक्ति में दृढ़ विश्वास न होने पर अनन्य भाव से भक्ति में प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। कर्म साधन में दृढ़ विश्वास शून्य व्यक्ति निरपेक्ष होकर भक्ति में प्रवृत्त होने पर उस के द्वारा भक्ति अनुष्ठान विनष्ट हो जाता है।

अतएव "न निर्विण्णो नातिसक्तः" इस रीति से श्रीकृष्ण भजन करने पर सिद्धि अर्थात् प्रेम भक्ति लाभ हो सकता है। इस प्रकार कहने के पश्चात्—

"तावत् कर्म्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत् कथा श्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥" (११।२०।९)

अर्थात् ज्ञान साधक, तब तक निष्काम भाव से कर्मानुष्ठान करे जब तक ऐहिक पारत्रिक वैषयिक सुख से मन उद्विग्न नहीं होता है। भक्ति साधक को भी तब तक कर्म करना चाहिये, जब तक मदीय कथा उपलक्षित भक्ति के किसी अङ्ग में विश्वास नहीं होता है। इस श्लोक में भक्ति में दृढ़ श्रद्धा का उदय होने के पश्चात् ही काम्य कर्म परित्याग करने का विधान वर्णित है। भक्ति सामान्य में श्रद्धा की अपेक्षा नहीं है, अर्थात् जब तक ज्ञान कर्मादि शून्या अनन्या भक्ति में अधिकार नहीं होता है। किन्तु ज्ञान कर्मादि मिश्रित अन्याभिलाषिता युक्त भक्ति साधन में श्रद्धा के बिना भी समस्त वर्णी आश्रमी, वर्णाश्रम वहिर्भूतजन, यवन, पुक्कश, खश प्रभृति जाति का भी समान अधिकार है। एवं उक्त भक्ति साधन के द्वारा वे सब भक्ति लाभ भी कर सकते हैं। इस अभिप्राय से ही स्कन्द पुराण के प्रभास खण्ड में लिखित है—

"सकृदपि परिगीतं श्रद्धया हेलया वा, भृगुवर नरमात्रं तारयेत् कृष्णनाम॥"

इस प्रकार अनेक वर्णन है। एवं श्रीभागवत के ३।२५।२५ में वर्णित है—

"सतां प्रसङ्गान्मम वीर्य्यसम्विदो, भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।

तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि, श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ॥"४८४। इत्यादौ च, तत्पूर्व्वतोऽपि तस्याः फलदातृत्वश्रवणात् (भा० ६।२।४९)—

"म्रियमाणो हरेर्नाम गृणन् पुत्रोपचारितम्।
अजामिलोऽप्यगाद्धाम किमुत श्रद्धया गृणन् ॥४८५॥

इत्यादौ तथा फलदातृत्वसौष्ठवश्रवणाच्च। सा च श्रद्धा शास्त्राभिधेयावधारणस्यैवाङ्गम्, तद्विश्वासरूपत्वात्। ततो नानुष्ठानाङ्गत्वे प्रविशति। भक्तिश्च फलोत्पादने विधिसापेक्षापि न स्यात्, दाहादि--कर्म्मणि वह्न्यादिवत्, भगवच्छ्रवण-कीर्त्तनादीनां स्वरूपस्थ तादृशशक्तित्वात्। ततस्तस्याः श्रद्धाद्यपेक्षा कुतः स्यात्? अतः श्रद्धां विना क्वचिन्मूढ़ादावपि सिद्धिर्दृश्यते

तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि, श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ॥"४८४॥

टीका—सत् सङ्गस्य भक्त्यङ्गतामुपपादयति सतामिति। वीर्य्यस्य सम्यग् वेदनं यासु ता वीर्य्यसंविदः, हृत्कर्णयो रसायनाः सुखदाः। तासां जोषणात्—सेवनात्, अपवर्गोऽविद्यानिवृत्ति वर्त्मयस्मिन् तस्मिन् हरौ प्रथमं श्रद्धा, ततो रति, ततो भक्तिः का अनुक्रमिष्यति क्रमेण भविष्यतीत्यर्थः ॥

श्रद्धा लाभ के पहले भी सत्सङ्ग से भक्ति का लाभ होता है। भा० ६।२।४१ में उक्त है—

"म्रियमाणो हरेर्नाम गृणन् पुत्रोपचारितम्।
अजामिलोऽप्यगाद्धाम किमुत श्रद्धया गृणन् ॥"४८५॥

मृत्यु दशा में आसीन अजामिल पुत्रोपचारित श्रीहरि नाम ग्रहण करके भी वैकुण्ठ धाम गमन किया था। जो व्यक्ति, श्रद्धा पूर्वक श्रीहरिनाम ग्रहण करेगा, उस के सम्बन्ध में वैकुण्ठ लाभ विषय में क्या सन्देह हो सकता है? पूवपूर्वोल्लिखित श्लोकों के समान यह सब श्लोकों में फल प्रदान का सौष्ठव विद्यमान है।

उक्त श्रद्धा भी शास्त्र के वाच्य वस्तु अव धारण के अङ्ग स्वरूप है। कारण, शास्त्रार्थ विश्वास का नाम ही श्रद्धा है। अर्थात् शास्त्र में जो सब उपदेश हैं, उन उपदेश समूह को हृदय में धारण करने का अङ्ग स्वरूप श्रद्धा है। शास्त्रार्थ में दृढ़ विश्वास को श्रद्धा कहते हैं।

अतः श्रद्धा, अनुष्ठान का अङ्ग नहीं है। भक्ति भी फल साधन विषय में विधि की अपेक्षा नहीं करती है। जिस प्रकार अग्नि द्वारा दाहादि कर्म में व्यक्ति के सङ्कल्प की अपेक्षा नहीं है, अर्थात् अग्नि जिस प्रकार दहन कर्म में अन्यनिरपेक्ष भाव से सम्मुखस्थ वस्तु को दग्ध करता है, उस प्रकार भक्ति भी विधिकी अपेक्षा न करके ज्ञात वा अज्ञात रूप से निखिल अन्तराय को विनष्ट करके निज फल प्रदान करती हैं, कारण, श्रीहरि भक्ति, भगवान् के स्वरूपस्थ तादृश सामर्थ्य विशेष है, अग्नि जिस प्रकार अज्ञात रूप से काष्ठ राशि में निक्षिप्त होकर काष्ठ राशि को भस्मीभूत करता है, यह अग्नि की स्वरूपगत सामर्थ्य है, उस प्रकार ही भक्ति—श्रीहरि की स्वरूप शक्ति है। यह शक्ति किसी जीव की इन्द्रिय वृत्ति में तादात्म्य प्राप्त होकर प्रकाशित होने से उसकी भक्ति संज्ञा होती है। यह स्वरूप शक्ति, जब तक श्रीहरि के स्वरूप में अवस्थित होती है, तब तक उसको स्वरूप शक्ति कहते हैं, किन्तु किसी व्यक्ति में उक्त शक्ति अभिव्यक्त होने पर यह भक्ति नाम से अभिहित होती है, उस भक्ति के श्रवण कीर्त्तनादि विविध अङ्ग हैं। जिस प्रकार शरीरी के चरणादि को अङ्ग कहते हैं, एवं अङ्गुली प्रभृति को उपाङ्ग कहते हैं, उस प्रकार अङ्गी की भक्ति के प्रधान नौ अङ्ग हैं, एवं एकादश्यादि व्रत प्रभृति प्रत्यङ्ग हैं। यह सब अङ्गी से अभिन्न होते हैं,

'श्रद्धया हेलया वा' इत्यादौ। हेला त्वपराधरूपाप्यबुद्धिपूर्वककृता चेद्दौरात्म्याभावे न भक्त्या बाध्यत इत्युक्तमेव। ज्ञानलव दुर्विदग्धादौ तु तद्वैपरीत्येन बाध्यते, यथा मत्सरेण नामादिकं गृह्णति वेणे, क्वचिद्वस्तुशक्तिर्बाधिता दृश्यते,आर्द्रेन्धनादौ वह्निशक्तिरिव, (भा० ११।२१।१७-१८ "श्रद्धयोपहृतं प्रेष्ठं भक्तेन मम वार्य्यपि", "भूर्य्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते" इत्यत्र श्रद्धा--भक्ति- शब्दाभ्यामादर एवोच्यते, स तु भगवत्तोषणलक्षणफलविशेषस्योत्-पत्तावनादर-लक्षण-तद्विघातकापराधस्य निरसनपरः। तस्मात् श्रद्धा न भक्त्यङ्गम्, किन्तु कर्म्मण्यर्थि--समर्थ-विद्वत्तावदनन्यताख्यायांभक्तावधिकारिविशेषणमेवेत्यतएव तद्विशेषणत्वेनैवोक्तम्,

---

जिस प्रकार मानवीय शरीर के अङ्ग प्रत्यङ्ग समूह उस से अभिन्न हैं। अङ्ग वा प्रत्यङ्ग का आश्रय से शरीरी का आश्रय ग्रहण जिस प्रकार होता है। उस प्रकार भक्ति के अङ्ग वा प्रत्यङ्ग का आश्रय से भक्ति का ही आश्रय ग्रहण होता है। अथच वह भक्ति, शक्ति रूप में श्रीहरि के स्वरूप में ही अवस्थिता है। उस भक्ति की अनिर्वचनीया सामर्थ्य है, श्रीहरि की स्वरूप शक्ति की वृत्ति होने के कारण, निखिल मायाशक्ति की वृत्ति समूह को साधक के ज्ञात वा अज्ञात रूप से भक्ति अनुष्ठिता होने पर, ध्वंस कर देती है। इस प्रकार सामर्थ्य पूर्ण भक्ति है। अतएव श्रीहरि भक्ति को श्रद्धादि की अपेक्षा कैसे हो सकती है? तज्जन्य, श्रद्धा के विना भी किसी मूढ़ादिमें भक्ति आविर्भूता होकर सिद्धि दान करती है। इसका वर्णन शास्त्रादि में यथेष्ट है।

उस का ही प्रमाण 'श्रद्धया हेलया वा भृगुवर नरमात्रं तारयेत् कृष्णनाम" है। 'हेला' किन्तु अपराध गोष्ठी भुक्त है। तथापि अबुद्धि पूर्वक अनुष्ठित होने पर भी दौरात्म्य के अभाव निबन्धन वह भक्ति का बाधक नहीं होती है। इस का वर्णन १५३ अनुच्छेद में शुद्ध भक्ति के आभास प्रसङ्ग में हुआ है। अर्थात् बुद्धि पूर्वक अवहेला करने पर अपराध होता है, किन्तु अबुद्धि पूर्वक अवहेला में अपराध नहीं होता है, कारण, उस के चित्त में दुष्ट बुद्धि अर्थात् कौटिल्य नहीं है। किन्तु ज्ञान लब दुर्विदग्ध जन के द्वारा अवहेला अनुष्ठित होने से दुर्निवार अपराध होता है, एवं वह भक्ति का बाधक है। जिस प्रकार मात्सर्य्य के वशवर्त्ती होकर नाम ग्रहण कारी वेण महाराज में भक्ति बाधित हुई थी। आद्रेन्धन में जिस प्रकार वह्नि की शक्ति कुण्ठिता होती है, उस प्रकार क्षुद्र ज्ञानोद्धत व्यक्ति के निकट भक्ति कुण्ठिता हाती है। भा० ११।२७।१७-१८ में उक्त है—

श्रद्धयोपाहृतं प्रेष्ठं भक्तेन मम वार्य्यपि।
भूर्य्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते" ॥

भक्त जन, श्रद्धा पूर्वक मुझ को जल प्रदान करने पर भी मैं प्रीत होता हूँ, किन्तु अभक्त गण, प्रचुर परिमाण जल प्रदान करने पर भी वह सन्तोष का कारण नहीं होता है।

उक्त श्लोक में श्रद्धा एवं भक्ति का उल्लेख है, किन्तु उक्त श्रद्धा एवं भक्ति शब्द का यहाँ आदर अर्थ समझना होगा। अर्थात् आदर पूर्वक मुझ को जल देने पर भी मैं सन्तुष्ट होता हूँ। किन्तु अनादर पूर्वक प्रचुर परिमाण में उत्तम द्रव्य दान करने पर भी मैं सन्तुष्ट नहीं होता हूँ। वह आदर, श्रीभगवान् के सन्तोष लक्षण फल विशेष उत्पत्ति के प्रति अनादर लक्षण सन्तोष विघातक अपराध का निरासक हैं। अर्थात् जिस आचरण से भगवान् सन्तुष्ट होते हैं, उस को आदर करते हैं, जिस से असन्तुष्ट होते हैं, उसको अनादर कहते हैं। भगवत् सन्तोष का विरोधी अनादर रूप अपराध का बाधक ही आदर है। अतएव श्रद्धा भक्ति का अङ्ग नहीं है, अर्थात् कारण नहीं हैं, किन्तु कर्मानुष्ठान में अर्थी, समर्थ एवं विज्ञता के

(भा० ११।२०।८) "यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्" इति, (भा० ११।२०।२७) "जातश्रद्धो मत्कथासु" इति च। अत्र तामारभ्येत्यर्थेन ल्यब्लोपे पञ्चम्यन्तेन तत इति पदेनानवधिकनिर्देशेनात्मारामतावस्थायामपि सा केषाञ्चित् प्रवर्त्तत इति तस्याः साम्राज्यमभिप्रेतम् । अनन्तरञ्च वक्ष्यते (भा० ११।२०।३४)-"न किञ्चित् साधवो धीराः" इति । अतः साम्राज्य-ज्ञापनया तां विना कर्म्मज्ञाने अपि न सिध्यत इति च ज्ञापितम् ।

तदेवमनन्यभक्त्यधिकारे हेतुं श्रद्धामात्रमुक्त्वा स यथा भजेत्तथा शिक्षयति--स श्रद्धालुर्विश्वासवान्, प्रीतो जातायां रुचावासक्तः, दृढ़निश्चयः साधनाध्यवसाय-भङ्गरहितश्च

समान यह श्रद्धा पद भी अनन्यताख्या भक्ति में अधिकारी का विशेषण रूपमें उल्लिखित होता है । तज्जन्य ही भा० ११।२०।८ में

"यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्"

भा० ११।२०।२७ में "जातश्रद्धो मत्कथासु"

उक्त 'श्रद्धापद' का प्रयोग अधिकारी का विशेषण रूप में ही हुआ है । अर्थात् जिस प्रकार 'स्वर्ग कामो अश्वमेधेन यजेत" श्रुति में यद्यपि क्षत्रिय मात्र ही अश्वमेध याग के अधिकारी हैं । तथापि जो व्यक्ति स्वर्गप्रार्थी है, एवं उक्त अश्वमेधयाग करने में अर्थी समर्थ, विज्ञ, जन ही यागकर सकते हैं । किन्तु अर्थी, समर्थ एवं विज्ञ व्यक्ति—अश्वमेध याग करने में अधिकारी हैं, ऐसा तात्पर्य्य नहीं है, क्षत्रिय मात्र ही अधिकारी हैं । किन्तु अनुष्ठान योग्यता, अर्थिता प्रभृति विद्यमान न होने पर याग होना असम्भव है, अतः अर्थी, समर्थ प्रभृति पद अधिकारी के विशेषण रूप में ही प्रयुक्त हुए हैं । उस प्रकार भक्ति में मानव मात्र ही अधिकारी हैं । किन्तु अन्याभिलाषिताशून्य ज्ञान कर्माद्यनावृत आनुकूल्य से कृष्णानुशीलन रूप अनन्यता नामक भक्ति योग में श्रद्धावान् जन ही अधिकारी है । कारण, भक्ति अङ्ग में दृढ़ विश्वास उत्पन्न न होते से अन्य कर्म्मादि साधन एवं धर्म प्रभृति में वीतश्रद्ध न होने पर उत्तम भक्ति अनुष्ठान में आदर वा आवेश होगा ही नहीं । तज्जन्य "श्रद्धापद" अकिञ्चना भक्ति के अधिकारी का विशेषण रूप में प्रयुक्त हुआ है । श्लोकस्थ 'जात श्रद्ध' पद भी 'पुमान्' पद का विशेषण हैं । 'जात श्रद्धो मत्कथासु—इस श्लोक में भी 'जात श्रद्ध' पद, अधिकारी का विशेषण रूप में उल्लेख हुआ है । 'ततोभजेत मां प्रीतः' इस श्लोक में 'ततः' पद भी ल्यब् लोप में पञ्चमी है । अर्थात् "तां श्रद्धामाश्रय" उस श्रद्धा से आरम्भ करके, इस प्रकार अर्थ समझना होगा । यहाँ पर ज्ञातव्य विषय यह है कि– साधन भक्ति के किसी अङ्ग में श्रद्धा का उदय होने पर उत्तमा भक्ति का आरम्भ होगा, किन्तु उस भक्ति का अनुष्ठान समाप्त कब होगा । इस का उल्लेख नहीं है, अतएव आत्माराम अवस्था में भी कतिपय साधक में भक्ति की प्रवृत्ति दृष्ट होती है, अतः भक्ति का साम्राज्य सर्वावस्था में ही अक्षुण्ण है ।"जातश्रद्धो मत् कथासु" श्लोक के बाद भा० ११।२०।३४ में कहेंगे–

"न किञ्चित् साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम ।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम् ॥"

अर्थात् मेरे ऐकान्तिकधीर साधु भक्त वृन्द कुछ भी कामना नहीं करते हैं, यहाँ तक कि मेरे द्वारा प्रदत्त पुनरावृत्ति शून्य कैवल्य मुक्ति को भी नहीं चाहते हैं । इस श्लोक में आत्माराम अवस्था में भी जो भक्ति की प्रवृत्ति है, उसका चित्रण हुआ है । अतएव भक्ति का साम्राज्य सर्वावस्था में है, भक्ति के विना कर्म एवं ज्ञान निज निज फल प्रदान में असमर्थ हैं, यह सूचित हुआ है । ऐसा होने पर पूर्व सिद्धान्त के

सन् । सहसा त्यक्तुमसमर्थत्वात् कामान् जुषमाणश्च गर्हयंश्च । गर्हणे हेतुः— दुःखोदर्कान् शोकादिकृदुत्तरफलानिति । अत्र कामा अपापकरा एव ज्ञेयाः, शास्त्रे कथञ्चिदप्यन्यानु-विधानायोगात् । प्रत्युत,—

"परपत्नीपरद्रव्य-परहिंसासु यो मतिम् । न करोति पुमान् भूप तोष्यते तेन केशवः ॥"४८६॥

इति विष्णुपुराणवाक्यादौ कर्म्मार्पणात् पूर्वमेव तन्निषेधादत्रैव च निष्कामकर्म्मण्यपि यदन्यन्न समाचरेदिति वक्ष्यमाणनिषेधात् । कर्म्मपरित्यागविधानेन सुतरां दुष्कर्म्मपरित्याग-प्रत्यासत्तेः । विष्णुधर्म्मे--

"मर्य्यादाञ्च कृतां तेन यो भिनत्ति न मानवः । न विष्णुभक्तो विज्ञेयः साधुधर्म्मार्चनो हरिः ॥"४८७॥

अनुसार अनन्याभक्ति के अधिकार में श्रद्धा मात्र को उत्तम भक्ति के अधिकारी का विशेषण दिया गया है, अर्थात् उक्त श्रद्धातु व्यक्ति जिस प्रकार भजन करेगा, भगवान् उस प्रकार शिक्षा प्रदान करते हैं। वह श्रद्धालु—अर्थात् विश्वस्त व्यक्ति, "प्रीतः" भक्ति अङ्ग में सञ्जात रुचि अर्थात् आसक्त, 'दृढ़ निश्चयः' साधन एवं अध्यवसाय में भङ्ग रहित होकर सहसा त्याग करने में आसामर्थ्य हेतु विषय भोग भी करता रहता है। अथच उस विषय भोग के प्रति तुच्छ बुद्धि पोषण भी करता रहता है, विषय भोग के प्रति तुच्छ बुद्धि होने के प्रति हेतु है—विषय भोग—फल के समय शोकादि प्रद है, अर्थात् जो जितना विषय भोग करेगा, उतना ही दुःख शोक में अभिभूत होता रहेगा, यह जानकर भोग के प्रति सतत दोष दृष्टि पोषण करते रहते हैं, अथच सहसा विषय भोग परित्याग करने में भी असमर्थ हैं। यहाँ 'काम' अर्थात् विषय भोग शब्द से अपाप जनक भोग को ही जानना होगा। कारण, शास्त्र में किसी प्रकार पाप जनक भोग का विधान नहीं है। प्रत्युत—

"पर पत्नी परद्रव्य परहिंसासु यो मतिं ।
न करोति पुमान् भूप तोष्यते तेन केशवः ॥"४८६॥

जो व्यक्ति, पर पत्नी, पर द्रव्य एवं परहिंसा में रत नहीं होता है, केशव उसके प्रति सन्तुष्ट होते हैं। विष्णु पुराण के वाक्य द्वारा ज्ञात होता है कि—श्रीभगवान् में कर्मार्पण रूपा भक्ति अनुष्ठान के पहले ही पाप जनक विषय भोग निषिद्ध है। एवं श्रीमद् भागवत के ११।२०।१० श्लो में उक्त है—

"न याति स्वर्ग नरकौ यद्यन्यत् न समाचरेत् ।"

अर्थात् स्वधर्म में स्थित होकर निष्काम भाव से यज्ञादि द्वारा श्रीभगवान् की आराधना करने से स्वर्ग को भी नहीं जायेगा एवं नरक को भी नहीं जायेगा, यदि निषिद्ध एवं काम्य कर्म का अनुष्ठान न करे तो, कारण, निषिद्ध कर्म्म करने से नरक जाना पड़ता है, एवं काम्य कर्मानुष्ठान से स्वर्ग गमन होता है। इस प्रकरण में ही काम्य कर्म त्याग का विधान प्रदत्त हुआ है, जिस अनन्या भक्ति में काम्य कर्म परित्याग विहित हुआ है, उस भक्ति अनुष्ठान में दुष्कर्म्म परित्याग तो सुनितरां ही विहित है। विष्णु धर्म में कथित है—

"मर्य्यादाञ्च कृतां तेन यो भिनत्ति स मानवः ।
न विष्णुभक्तो विज्ञेयः साधुधर्म्मार्चनो हरिः ॥"४८७

श्रीभगवान् ने जो कुछ नियम किया है। जो मानव उस नियम को तोड़ता है, उस को कभी भी विष्णु भक्त नहीं कहा जा सकता है। कारण श्रीहरि, पवित्र धर्म द्वारा ही अर्चित होते हैं। अतएव वैष्णव

इति वैष्णवेष्वपि तन्निषेधात् । (भा० ४।२१।३१) "यत्पादसेवाभिरुचिस्तपस्विना,-मशेष--जन्मोपचितं मलं धियः । सद्यः क्षिणोति" इत्यत्र सद्यः-शब्दप्रयोगेन जातमात्ररुचीनाम्,

"यदा नेच्छति पापानि यदा पुण्यानि वाञ्छति । ज्ञेयस्तदा मनुष्येण हृदि तस्य हरिः स्थितः ॥"४८८॥

इति विष्णुधर्म्म-नियमेन च, (भा० ११।५।४२) "विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चिद्-,धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः" इत्यत्रापि कथञ्चिच्छब्दप्रयोगेण लब्धभक्तीनाञ्च स्वतस्तत्प्रवृत्त्ययोगात् । "नाम्नो बलाद्यस्य हि पापबुद्धि,--र्न विद्यते तस्य यमैर्हि शुद्धिः" इति पाद्म-नामापराध-

---

वृन्द के पक्ष में निषिद्धाचरण करना सर्वथा निषिद्ध है। भा० ४।२१।३१ में पृथुमहाराज प्रजागण को कहे भी थे—

"यत् पाद सेवाभिरुचि स्तपस्विनामशेष जन्मोपचितं मलंधियः ।
सद्यः क्षिणोत्यन्वह मेधतीसती यथा पदाङ्गुष्ठ विनिःसृतासरित् ॥"

टीका—किञ्च जीवानां मोक्षद परमेश्वर एव नार्वाग् देवताः तासामपि जीवत्वाविशेषादित्याशयेनाह त्रिभिः, यस्य पादयोः सेवाया अभिरुचिस्तपस्विनां संसार तप्तानां अशेषै र्जन्मभिः संवृद्धं धियोमलं सद्यः क्षपयति, तमेव भजतेति तृतीयेनान्वयः । कथम्भूता ? अहनि अहनि वर्द्धमानासती सात्त्विकी । तत् पाद सम्बन्धस्यैव एष महिमेति दृष्टान्तेनाह, यथेति ।

हे प्रजावृन्द ! जीव गण को मोक्ष प्रदान करने में एकमात्र परमेश्वर ही समर्थ हैं, देव गण, मुक्तिदान कर नहीं सकते हैं, कारण, वे सब भी शक्ति सम्पन्न जीव ही हैं, कोई जीव, किसी जीव को मुक्त नहीं कर सकते हैं ।

भगवान् के चरण युगल की सेवा में रुचि उत्पन्न होने से ही संसार तप्त मानवों के अशेष जन्मार्जित चित्त मालिन्य सद्य विनष्ट हो जाता है, एवं भगवच्चरण सेवा की अभिरुचि प्रतिदिन वर्द्धित होती रहती है। श्रीहरि के चरणाङ्गु से विनिःसृता सरित गङ्गा की सेवा करने से जिस प्रकार क्रमशः पाप वासना विदूरित होती है। उस प्रकार ही श्रीभगवच्चरण सेवा रुचि से सद्य पाप विनष्ट होता है। यहाँ "सद्यः क्षीणोति" वाक्य में सद्यः' शब्द प्रयोग से यह सूचित हुआ है कि--जब श्रीहरि चरण कमल की सेवा करने की रुचि होने से ही पाप प्रवृत्ति विनष्ट हो जाती है। तब भजन में प्रवृत्त होने से भक्ति साधक की पाप प्रवृत्ति नहीं रहती है, यह अर्थ अनायास लभ्य है। विष्णु धर्म में और भी नियम दृष्ट होता है—

"यदा नेच्छति पापानि यदा पुण्यानि वाञ्छति ।
ज्ञेयस्तदा मनुष्येण हृदि तस्य हरिः स्थितः ॥"४८८॥

जब मनुष्य, पाप कर्म करने की इच्छा नहीं करता है, पुण्य कर्म करने की इच्छा करता है, तब जानना होगा कि—उस के हृदय में श्रीहरि, विद्यमान हैं, इस से भा० ११।५।४२ में लिखित—

"विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चिद्, धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः"

श्रीभगवद् भक्त वृन्द के हृदय में यदि कदाचित् किसी प्रकार से विकर्म्म उपस्थित होता है तो अनुतप्त हृदय में चिन्तित भगवान् उस की दुष्प्रवृत्ति को विदूरित कर देते हैं। यहाँ "कथञ्चित्" शब्द प्रयोग से प्रतीति होती है कि—भक्त वृन्द के हृदय में विकर्म्म स्वतन्त्र रूप से उदित नहीं होता है। विषय का समाधान हुआ। पद्म पुराण में लिखित है—

"नाम्नो बलाद्यस्य हि पापबुद्धि, र्न विद्यते तस्य यमैर्हि शुद्धिः"

भञ्जनस्तोत्रादौ हरिभक्तिबलेनापि तत्प्रवृत्तावपराधापाताच्च । (गी० ९।३०) "अपि चेत् सुदुराचारः" इति तु तदनादरदोषपर एव, न तु दुराचारता-विधानपरः, (गी० ९।३१) "क्षिप्रं भवति धर्मात्मा" इत्यनन्तरवाक्ये तु दुराचारतापगमस्य श्रेयस्त्वनिर्द्देशादिति ॥ श्रीभगवान् ।

१७३। नन्वेवं केवलानां कर्म्म-ज्ञान-भक्तीनां व्यवस्थोक्ता। नित्यनैमित्तिकं कर्म्म तु सर्वष्वेवावश्यकम् । तर्हि साङ्कर्य्यं कथं शुद्धे ज्ञान-भक्ती प्रवर्त्तेयाताम्, तदेतदाशङ्क्य तयोः कर्म्माधिकारितां वारयति (भा० ११।२०।९) —

(१७३) "तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता ।
मत्कथा-श्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥"४८९॥

"कर्माणि नित्य--नैमित्तिकादीनि" इति ठीका च । अतएव,—

"श्रुति--स्मृती ममैवाज्ञे यस्तेउल्लङ्घ्य वर्त्तते । आज्ञाच्छेदी मम द्वेषी मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः ।।"४९०॥

नाम उप लक्षित किसी भी भक्ति के अङ्ग के आचरण के बल से यदि पाप प्रवृत्ति होती है, अर्थात् भक्ति समस्त पाप विनष्ट करेगी, इस प्रकार निडर होकर यदि पापाचरण करे तो, इस प्रकार दुष्प्रवृत्ति का क्षय, यम, नियम प्रभृति साधनों के द्वारा, अथवा नरक भोग के द्वारा शुद्धि नहीं होती है । इस प्रकार पद्म पुराण के नामापराध भञ्जन स्तोत्रादि में हरिभक्ति के बल से पाप प्रवृत्ति को अपराध कहा गया है । यहाँ कहा जा सकता है कि श्रीभगवद् गीता के ९।३० में लिखित है—

"अपिचेत् सुदुराचारो भजते" सुदुराचारी को साधु मानना चाहिये ? उत्तर में कहते हैं—उक्त श्लोक में अनन्य भगवद् भजन कारी को अनादर करना अत्यन्त दोषावह है— इस को कहा गया है । किन्तु दुष्ट आचरण करने की व्यवस्था नहीं दी गई है । कारण, उक्त श्लोक के वाद ही कहा गया है—

(गी० ९।३१) "क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।"

अर्थात् दुराचारता की निवृत्ति होने से ही मङ्गल होगा, इस प्रकार निर्देश किया गया है ।

प्रवक्ता श्रीभगवान् हैं ॥१७२॥

१७३ । केवल ज्ञानकर्म की व्यवस्था कही गई है, किन्तु नित्य नैमित्तिक कर्म— कर्मी, ज्ञानी, भक्त— सब के पक्ष में अवश्य करणीय है । ऐसा होने पर ज्ञान एवं भक्ति के सहित कर्म मिश्रित होने से शुद्ध ज्ञान भक्ति कैसे हो सकती है ? इस प्रकार आशङ्का के उत्तर में ज्ञानी एवं भक्त की कर्माधिकारिता निवारण करने के निमित्त भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं —(११।२०।९)

(१७३) "तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता ।
मत्कथा-श्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥"४८९॥

टीका—सावधि कर्मयोगमाह, तावदिति भवति । कर्माणि—नित्यनैमित्तिकानि । यावता-यावत् ।

ज्ञानी तावत् पर्य्यन्त नित्यनैमित्तिक कर्मानुष्ठान करे, यावत् पर्य्यन्त ऐहिक पारलौकिक सुख भोग में निर्वेद उपस्थित नहीं होता है । भक्त भी तब तक नित्यनैमित्तिक कर्म्मानुष्ठान करे, जब तक मदीय कथा श्रवण कीर्त्तनादि में श्रद्धा नहीं होती है । अर्थात् दृढ़ विश्वास भक्ति में नहीं होता है । अतएव कथित है—

"श्रुति-स्मृति ममैवाज्ञे यस्ते उल्लङ्घ्य वर्त्तते ।
आज्ञाच्छेदी मम द्वेषी मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः ।।"४९०॥

इत्युक्तदोषोऽप्यत्र नास्ति, आज्ञाकरणात्, प्रत्युत जातयोरपि निर्वेद-श्रद्धयोस्तत्करण एवाज्ञाभङ्गः स्यात्। यथा च व्याख्यातम् (भा० ११।११।३२)–"आज्ञायैवं गुणान् दोषान्" इत्यस्य टीकायाम्—"भक्ति--दार्ढ्येन निवृत्ताधिकारतया सन्त्यज्य" इति। निवृत्ताधिकारत्वञ्चोक्तं श्रीकरभाजनेन (भा० ११।५।४१) —

"देवर्षि-भूताप्तनृणां पितॄणां न, किङ्करो नायमृणी च राजन्।
सर्व्वात्मना यः शरणं शरण्यं, गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्त्तम्॥"४६१॥

इति तेषां न किङ्करः, किन्तु श्रीभगवत एवेत्यनधिकारित्वम्। कर्त्तं कृत्यम्, कर्त्तं

श्रुति स्मृति मेरी अवज्ञा है, जो उस द्विविध आज्ञा के मध्य में किसी भी एक को लङ्घन करता है। वह मेरी आज्ञाच्छेदी एवं द्वेषी है, अतएव वह मेरा भक्त होने पर भी वैष्णव नहीं है। यह भगवत् कथित दोष भी पूर्वोक्त अधिकारी के पक्ष में प्रयोज्य नहीं हो सकता है। "तावत् कर्म्माणि कुर्वीत" यह आदेश श्रीभगवान् का ही है। प्रत्युत निर्वेद एवं श्रद्धा का उदय जिस में हुआ है, उस के पक्ष में नित्य नैमित्तिक कर्मानुष्ठान करने से ही आज्ञाभङ्ग रूप दोष होता है। भा० ११।११।३२ में उक्त है—

"आज्ञायैव गुणान् दोषान् मयादिष्टानपि स्वकान्।
धर्मान् सन्त्यज्य यः सर्वान् मां भजेत स च सत्तमः॥

टीका—किञ्च मया वेदरूपेण आदिष्टानपि स्वधर्मान् सन्त्यज्य यो मां भजेत सोऽप्येवं पूर्वोक्तवत् सत्तमः। किमज्ञानान्नास्तिक्याद्वा? न। धर्माचरणे सत्त्व शुद्ध्यादीन् गुणान् विपक्षे नरक पातादीन् दोषांश्चाज्ञाय ज्ञात्वापि मद् ध्यान विक्षेपतया मद्भक्त्यैव सर्वं भविष्यतीति दृढ़ निश्चयेनैव धर्म्मान् सन्त्यज्य। यद्वा भक्ति दार्ढ्येन निवृत्ताधिकारतया सन्त्यज्य। अथवा विद्धैकादश्युपवास कृष्णैकादश्यनुपवासानिवेद्य श्राद्धादयो ये भक्तिविरुद्धा धर्मास्तान् सन्त्यज्येत्यर्थः।'

श्रीधर स्वामिपाद ने उक्त श्लोक की टीका में कहा है—

"भक्ति दार्ढ्येन निवृत्ताधिकारतया सन्त्यज्य" अर्थात् नित्यनैमित्तिक कर्म का अनुष्ठान निष्काम भाव से करने से चित्त शुद्धि रूप गुण, एवं न करने से प्रत्यवाय होगा, यह जानकर भी जो व्यक्ति, भक्ति में दृढ़ता हेतु कर्मानुष्ठान में अधिकार नहीं है, यह जानकर नित्य नैमित्तिक कर्म्म समूह को सम्यक् परित्याग करके मेरा भजन करता है, वह सत्तम अर्थात् साधु श्रेष्ठ है।

निवृत्ताधिकारता का कथन भा० ११।५।४१ में श्रीकर भाजन ने किया है।

"देवर्षि-भूताप्तनृणां पितॄणां, न किङ्करो नायमृणी च राजन्।
सर्व्वात्मना यः शरणं शरण्यं, गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्त्तम्॥"४६१॥

टीका—भक्तस्य विधि निषेध निवृत्तेः कृत कृत्यतामाह देवर्षीति आप्ताः पोष्याः, कुटुम्बिनः, इतरे देवादयः, पञ्चयज्ञ देवताः। एषां यथा अभक्तः ऋषी अतएव तेषां किङ्करस्तदर्थं नित्यं पञ्चयज्ञादि कर्त्ता। तथा च स्मृतिः,। हीन जाति परिक्षीणमृणार्थं कर्म्म कारयेदिति। अयन्तु न तथा। कोऽसौ यः सर्वतोभावेन श्रीमुकुन्दं शरणं गतः। कर्त्तं कृत्यं परित्यज्य। यद्वा कर्त्तं भेदं परिहृत्य। कृतीच्छेदन इत्यस्मात्। वासुदेवः सर्वमिति बुद्ध्येत्यर्थः।

हे राजन्! जो व्यक्ति, निखिल कर्त्तव्य परित्याग करके सर्वान्तःकरण से शरणागत पालक श्रीमुकुन्द

भेदमित्यर्थे ततो देवतादीनां स्वातन्त्र्यमिति यावत् । एवमेवोक्तं गारुड़े—

"अयं देवो मुनिर्वन्द्य एष ब्रह्मा बृहस्पतिः । इत्याख्या जायते तावद्यावन्नार्चयते हरिम् ।।"४६२।। इति ।

न च विकर्म्म-प्रायश्चित्तरूपं कर्म्मान्तरं कर्त्तव्यम्, तस्य तच्छरणस्य विकर्म्मप्रवृत्त्यभावात् । कथञ्चिदापतितेऽपि विकर्म्मणि तदनुस्मरणेनैव प्रायश्चित्तस्याप्यानुषङ्गिकसिद्धि रित्यप्युक्त-मनन्तरपद्ये नैव (भा० ११।५।४२) –

"स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य, त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः ।
विकर्म्म यच्चोत्पतितं कथञ्चिद्–,धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः ।।"४६३।। इति ।

त्यक्तोऽन्यत्र देवतान्तरे भावो भगवतीव भक्तिर्येनेति च व्याख्येयम् । अत्र कर्म्मपरित्याग-हेतुत्वेनाभिधानात् श्रद्धाशरणापत्त्योरैकार्थ्यं लभ्यते, तच्च युक्तम् । श्रद्धा हि शास्त्रार्थविश्वासः शास्त्रञ्च तदशरणस्य भयं तच्छरणस्याभयं वदति ततो जातायाः श्रद्धायास्तच्छरणापत्तिरेव

की शरण ग्रहण करता है, वह व्यक्ति, देव, ऋषि, भूत, आत्मीय, स्वजन एवं पितृ वृन्द का किङ्कर नहीं है, एवं किसी के पास ऋणी भी नहीं है । यहाँ श्लोकस्थ 'कर्त्त' पद का अर्थ कृत्य है । कर्त्त शब्द का अर्थ भेद है । अर्थात् श्रीभगवान् से देवता प्रभृति में जो स्वातन्त्र्य बुद्धि, उस को छोड़ कर । अर्थात् स्वतन्त्र रूप से देवतागण के प्रति आराध्य बुद्धि परित्याग करके, जो व्यक्ति, श्रीभगवान् में एकान्त भाव से शरणागत हुआ है, उसको कुछ भी करणीय नहीं है । इस अवस्था का ही निवृत्ताधिकारता समझना होगा । वह व्यक्ति, देव, ऋषि वृन्द का किङ्कर नहीं है कि श्रीभगवान् का ही किङ्कर है । अतएव जो जिस का किङ्कर है, वह उस की सेवा करेगा । दूसरी की सेवा क्यों करेगा ? गरुड़ पुराण में इस प्रकार उल्लेख है ।

'अयं देवो मुनिर्वन्द्य एष ब्रह्मा बृहस्पतिः ।
इत्याख्या जायते तावद्यावन्नार्चयते हरिम् ।।"४६२।।

यह देवता है, यह मुनि है, यह ब्रह्मा है, यह बृहस्पति है, अतएव यह सब मेरे वन्दनीय हैं, इस प्रकार संज्ञा । तब तक होती है, जब तक श्रीहरि की अर्चना नहीं करते हैं । और भी विशेष ज्ञातव्य यह है कि—यदि किसी कारण से विकर्म्म उपस्थित हो तो, उसका प्रायश्चित्त रूप कर्म्मान्तर का अनुष्ठान करना कर्त्तव्य नहीं है । कारण, श्रीहरि चरणों में शरणागत जन की प्रवृत्ति विकर्म्म में हो ही नहीं सकती यदि दैवात् विकर्म्म उपस्थित भी होता है, तो श्रीभगवान् के नियत स्मरण प्रभाव से आनुषङ्गिक रूप में प्रायश्चित्त भी सिद्ध हो जाता है । भा० ११।५।४२ में उक्त है—

"स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य, त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः ।
विकर्म्म यच्चोत्पतितं कथञ्चिद्–,धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः ।।"४६३।।

टीका—विहित कर्म निवृत्तिमुक्त्वा निषेधनिमित्त प्रायश्चित्त निवृत्तिमाह स्वपादमूलमिति । त्यक्तोऽन्यस्मिन् देहादौ देवतान्तरे वा भावो येन । अतएव तस्य विकर्म्मणि प्रवृत्तिर्न सम्भवति । यच्च कथञ्चित् प्रमादादिना उत्पतितं भवेत् तदपि हरिर्धुनोति । ननु यमस्तन्न मन्येत, तत्राह । परेशः । ननु श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे इति भगवद्वचनात् स्वाज्ञा भङ्गं कथं सहेत तत्राह प्रियस्य । नानु नायं पापक्षयार्थं भजते, तत्राह । हृदि सन्निविष्टः । नहि वस्तु शक्ति रर्थितामपेक्षते--इत्यर्थः ।

श्रीकरभाजन कहे थे– जो व्यक्ति, अन्य देवता के प्रति भाव शून्य होकर भक्ति युक्त हृदय से श्रीहरि

लिङ्गमिति । न च देवादि-तर्पणमात्र-तात्पर्य्येणापि पृथक् पृथगाराधनं कर्त्तव्यम्, (भा० ४।३१।१४ "यथा तरोर्मूलनिषेचनेन" इत्यादौ तत्पौनरुक्त्यप्राप्तेः । न च त्यक्तकर्म्मणो मध्ये विघ्नस्थगितायामपि भक्तौ तत्त्यागानुतापो युज्यते, (भा० १।५।१७) "त्यक्त्वा स्वधर्म्मं चरणाम्बुजं हरे-,र्भजन्नपक्कोऽथ पतेत्ततो यदि" इत्याद्युक्तेः । श्रीगीतासु च (१८।६६)—

के चरणार्च्चन करता है, श्रीहरि उसके प्रति अतीव सन्तुष्ट होते हैं, यदि असावधनता के कारण स्वभाव वशतः कदाचित् विकर्म्म उपस्थित हो जाता है, तो उस के मानस में उदित श्रीहरि ही उस के विधर्म को विदूरित कर देते हैं । आदेश लङ्घन कारी के प्रति अधिकार यमराज का ही है ? इस के उत्तर में कहते हैं, 'परेशः' अर्थात् श्रीहरि ही परमेश्वर हैं । परमेश्वर का आदेश सब को शिरोधार्य्य है । कर्म्म त्याग विषय के हेतु रूप में उल्लिखित होने के कारण, श्रद्धा एवं शरणापत्ति की एकार्थता प्रतीत होती है । कारण, "मत् कथा श्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्नजायते" श्लोक में कहा गया है, जब तक श्रीहरि कथा श्रवण कीर्त्तनादि में श्रद्धा का उदय नहीं होता है, तब तक नित्यनैमित्तिक कर्म्म करना चाहिये । अर्थात् श्रद्धोदय होने से नित्य नैमित्तिक कर्म्म त्याग करना चाहिये । यहाँपर भी श्रद्धा को कर्म त्याग के हेतु रूप में उल्लेख किया गया है । "सर्वात्मना यः शरणं शरण्यम्" (भा० ११।११।३२) श्लोक में कथित है, एकान्त भाव से श्रीहरि चरण में शरणागत व्यक्ति के पक्ष में काम्य कर्म त्याग करना चाहिये । अतएव शरणागति एवं श्रद्धा की एक कार्य्यकारिता हेतु श्रद्धा एवं शरणागति का तात्पर्य्य एक ही जानना होगा । श्रद्धा एवं शरणा गति शब्द का एकार्थ होना ही युक्ति युक्त है । कारण, शास्त्रार्थ में दृढ़ विश्वास का नाम श्रद्धा है । शास्त्र भी श्रीभगवान् में शरणागत जन के प्रति अभय एवं अशरणागत व्यक्ति के प्रति भय का उपदेश प्रदान करते हैं । अतएव शास्त्रार्थ में दृढ़ विश्वास उत्पन्न हुआ है अथवा नहीं, उसका चिह्न शरणापत्ति ही है, अर्थात् शरणापत्ति के द्वारा ही श्रद्धा का सुष्ठु परिचय होता है ।

देव वर्ग को सुतृप्त करने के निमित्त पृथक् पृथक् रूप से उन सब की आराधना करनी नहीं चाहिये । अर्थात् कामना शून्य होकर केवल तृप्ति साधन हेतु भी पृथक् पृथक् भाव से देवतान्तर की आराधना करना कर्त्तव्य नहीं है । भा० ४।३१।१४ में उक्त है—

"यथा तरोर्मूल निषेचनेन तृप्यन्ति तत् स्कन्धभुजोपशाखा ।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या ।।

टीका—ननु नाना कर्मभिस्तत्तद् देवता प्रीति निमित्तान्यपि फलानि हरेः प्रीत्याभवन्ति, तत्तद् देवताराधनेन तु न किञ्चिदिति स दृष्टान्तमाह यथेति । मूलात् प्रथम विभागाः, स्कन्धाः तद्विभागाः भुजाः, तेषामपि उपशाखाः, उपलक्षणमेतत्, पत्र पुष्पादयोऽपि तृप्यन्ति । नतु मूलसेकं विना ताः स्व स्व निषेचनेन । प्राणस्योपहारो भोजनं, तस्मादेव इन्द्रियाणां तृप्तिः, न तु तत्तदिन्द्रियेषु पृथक् पृथगन्नलेपनेन । तथा अच्युताराधनमेव सर्वदेवताराधनं, न पृथगित्यर्थः ।

जिस प्रकार वृक्ष के मूल देश में जल सिञ्चन करने से ही उसके स्कन्ध,भुज, उपशाखा प्रभृति की तृप्ति होती है, अथवा पाक स्थली में भोजन प्रदान करने से जिस प्रकार इन्द्रिय वृन्दकी तृप्ति होती है, उस प्रकार श्रीविष्णु की आराधना करने से समस्त देव वृन्द सुतृप्त होते हैं । इस में पुनरुक्ति दोष नहीं है ।

समस्त काम्य कर्मत्याग करने के पश्चात् प्रचुर विघ्न से भक्ति स्थगिता होने पर काम्य कर्म त्याग हेतु अनुताप करना चाहिये । इस प्रकार कथन समीचीन नहीं है । कारण, भा० १।५।१७ में उक्त है—

"त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरे र्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततोयदि ।

"सर्वधर्म्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥"४९४॥

इत्यस्य (भा० ११।५।४१) "देवर्षि-भुताप्तनृणाम्" इत्यादिद्वयेनैकार्थ्यं दृश्यते । अतो भक्त्यारम्भ एव तु स्वरूपत एव कर्म्मत्यागः कर्त्तव्यः । परित्यज्येत्यत्र परि-शब्दस्य हि तथैवार्थः । (गी० १८।६५) "मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु" इत्यादिना चानन्यामेव भक्तिमुपदिदेश । गौतमीये च–

'न जपो नार्च्चनं नैव ध्यानं नापि विधिक्रमः । केवलं सततं कृष्णचरणाम्भोज--भाविनाम् ॥"४९५॥

तथा विष्णुपुराणेऽपि भरतमुद्दिश्य (वि० पु० २।१३।६-१०) —

यज्ञेशाच्युत गोविन्द माधवानन्त केशव । कृष्ण विष्णो हृषीकेशेत्याह राजा स केवलम् ॥४९६॥
नान्यज्जगाद मैत्रेय किञ्चित् स्वप्नान्तरेष्वपि ॥"४९७॥ इति ।

यत्र क्ववाभद्रमभूदमुष्य किं को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः ॥"

स्व धर्म परित्याग पूर्वक श्रीहरि चरण कमल का भजन करते करते भजन अपक्वावस्था में भजन से स्खलित होने पर क्या भक्त का अमङ्गल होना सम्भव है ? इस प्रकार उल्लेख के कारण, कर्म त्याग जन्य अनुताप करना युक्ति युक्त नहीं है । श्रीभगवद् गीता में उक्त है—(१८।६६)

"सर्वधर्म्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥"४९४।

एवं भा० ११।५।४१ "देवर्षि भूताप्तनृणाम्" श्लोकद्वय में एकार्थता दृष्ट होती है । अर्थात् श्रीभगवच्चरणों में शरणागत जन के प्रति सर्व कर्म त्याग का उपदेश, उभय श्लोक में एक प्रकार ही दृष्ट होता है । अतएव भक्ति के प्रारम्भ में ही स्वरूपतः ही काम्य कर्म परित्याग करना कर्त्तव्य है। 'सर्व धर्म्मान् परित्यज्य' इत्यादि श्लोकस्थ 'परि' शब्द का अर्थ—स्वरूपतः कर्म त्याग ही है । (गी० १८।६५) में उक्त है—

"मन्मनाभव मद् भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ॥"

तुम मेरे विषयक सङ्कल्प युक्त भक्त बनो, मेरी पूजा करो, मुझ को नमस्कार करो, इस में भी श्रीभगवान् अनन्य भक्ति का ही उपदेश प्रदान किये हैं ।

गौतमीय में भी दृष्ट होता है—

"न जपो नार्च्चनं नैव ध्यानं नापि विधिक्रमः ।
केवलं सततं कृष्णचरणाम्भोज–भाविनाम् ॥"४९५॥

जो सतत श्रीकृष्ण चरण कमल की चिन्ता करते हैं, उनके पक्ष में जप, अर्च्चन, ध्यान, एवं विधि क्रम की कोई अपेक्षा नहीं है । उस प्रकार विष्णु पुराण में भी भरत को लक्ष्य करके कहा गया है—

"यज्ञेशाच्युत गोविन्द माधवानन्त केशव ।
कृष्ण विष्णो हृषीकेशेत्याह राजा स केवलम् ॥४९६॥
नान्यज्जगाद मैत्रेय किञ्चित् स्वप्नान्तरेष्वपि ॥"४९७॥

हे मैत्रेय ! भरत महाराज, यज्ञेश, अच्युत, गोविन्द, माधव, अनन्त, केशव, कृष्ण, विष्णु, हृषीकेश, केवल यह सब नामों का उच्चारण करते थे, स्वप्न में भी अपर कुछ भी नहीं कहते थे । इस से प्रमाणित

अत्र वचनान्तरस्याप्यनवकाशात् । सुतरामेव तत्तद्वचनमयकर्म्मान्तरपरित्यागोऽङ्गीकृतः । कथञ्चित् क्रियमाणमपि तन्नाम्नैव कृतमित्यवगतेश्च सर्वत्र तदीक्षणाच्छुद्धभक्तित्वमेवाङ्गीकृतम् । यथोक्तं पाद्मे—

"सर्वधर्मोज्झिता विष्णोर्नाम–मात्रैकजल्पकाः । सुखेन यां गतिं यान्ति न तां सर्वेऽपि धार्मिकाः ।"४९८। इति।

तस्मान्मतान्तरेणाप्युपचितः श्रद्धावतोऽनन्यभक्त्यधिकारः कर्माद्यनधिकारश्चेति । किन्तु श्रद्धासद्भाव एव कथं ज्ञायत इति विचार्य्यम् । तत्र च लिङ्गत्वेन पूर्व्वपूर्व्वं शरणापत्तिरुपदिष्टैव । यस्याञ्च शरणापत्तौ वक्ष्यमाणानि "आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः" इत्यादीनि लिङ्गानि । तथा व्यवहार-कार्पण्याद्यभावोऽपि श्रद्धालिङ्गं ज्ञेयम् । शास्त्रं हि तथैवश्रद्धामुत्पादयति, (गी० ९।२२)—

"अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्य्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।।४९९।। इत्यादि ।

हुआ कि, अन्य किसी प्रकार वचनान्तर का अवकाश ही नहीं था । सुतरां उक्त वचन द्वयके द्वारा कर्मान्तर का परित्याग स्वीकृत हुआ है । जब कभी जो कुछ कर्म करते वह कर्म— श्रीभगवन्नामोच्चारण के सहित ही करते । यह सुस्पष्ट रूप से विदित हुआ । सर्वत्र श्रीनाम एवं नामी के प्रति अभेद दृष्टि होने के कारण इस दृष्टान्त के द्वारा विशुद्ध भक्ति धर्म ही स्वीकृत हुआ है । पद्म पुराण में कथित है—

"सर्वधर्मोज्झिता विष्णोर्नाम-मात्रैकजल्पकाः ।
सुखेन यां गतिं यान्ति न तां सर्वेऽपि धार्मिकाः ।।"४९८।।

इस में भी काम्य कर्मादि शून्य भक्ति का संवाद परिवेशित हुआ है— सर्व धर्म त्याग कर जो केवल मात्र श्रीहरिनाम ही उच्चारण करते हैं, वे सब सुख पूर्वक जो गति को प्राप्त करते हैं, समस्त धार्मिक वृन्द उस गति को प्राप्त करने में सक्षम नहीं हैं । अतएव श्रद्धावान् व्यक्ति का ही अनन्या भक्ति में अधिकार है । वचनान्तर के द्वारा परि पुष्ट एवं काम्य कर्मादि में अनधिकार का प्रदर्शन भी हुआ है । सम्प्रति शास्त्र में श्रद्धा है अथवा नहीं । इस को कैसे जानेंगे— सम्प्रति इस विषय में विचार करना आवश्यक है । पहले श्रद्धा का अस्तित्व के सम्बन्ध में यह निर्णय किया गया है कि श्रीभगवच्चरणों में शरणागति होने से ही जानना होगा कि—शास्त्रीय श्रद्धा विद्यमान है । अर्थात् श्रीभगवत् शरणागति ही श्रद्धा का लक्षण है । जिस शरणापत्ति में यह सब लक्षण सुस्पष्ट प्रकाशित होते हैं ।

"आनुकूल्यस्य सङ्कल्प-प्रातिकूल्यविवर्जनम् ।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरणं तथा ।
आत्म निःक्षेप कार्पण्ये षड़् विधा शरणागतिः ।।"

इस लक्षण के द्वारा श्रद्धा का अस्तित्व विषयक ज्ञान होता है । श्रद्धा का अस्तित्व विषय में और भी विशेष लक्षण यह है--कि—समस्त व्यवहारों में जिस का कार्पण्य परिलक्षित नहीं होता है, वह व्यक्ति श्रद्धावान् है । कारण, शास्त्र, उस प्रकार श्रद्धा उत्पादन करते हैं । गीता के ९।२२ में उक्त है

"अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्य्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।।"४९९।।

किञ्च, श्रद्धावतः पुरुषस्य भगवत्सम्बन्धि- द्रव्य-जाति-गुण-क्रियाणां शास्त्रे श्रूयमाणेष्वैहिक-व्यवहारिक-प्रभावेष्वपि न कथञ्चिदनाश्वासो भवति । ततस्तासु प्राकृत-द्रव्यादिस धारणदृष्ट्या दोषविशेषानुसन्धानतो न कदाचिदप्रवृत्तिः स्यात् । ते च तादृश प्रभावाः, (बृहन्नारदीये)—

"अकालमृत्युशमन सर्वव्याधिविनाशनम् । सर्वदुःखो शमन हरिपादोदकं शुभम् ।।"५००।। इत्यादयः ।

केचित्तु तत्र तत्र श्रद्धावन्तोऽपि स्वापराधदोषेण सम्प्राप्त तत्फलं नोदेतीति स्थगितायन्ते यत्तु (गारुड़े) "यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स वाह्याभ्यन्तरः शुचिः" इत्यादौ श्रद्दधाना अपि स्नानादिकमाचरन्ति, तत् खलु श्रीमन्नारद-व्यासादि-सत्परम्पराचारगौरवादेव, अन्यथा

हे अर्जुन ! जो, अन्य चिन्ता विमुख होकर सम्यक् रूप से मेरी उपासना करते हैं, यह सब नित्याभियुक्त व्यक्तियों के योग क्षेम का वहन मैं ही करता हूँ ।।

इस से व्यवहारिक विषय में कार्पण्य का अभाव सूचित हुआ है । और भी देखना होगा कि—जिस की श्रद्धा भगवान् में हुई है, उस में, शास्त्र से ऐहिक पारलौकिक विषयों का श्रवण होने पर भी भगवत् सम्बन्धि द्रव्य, जाति, गुण एवं क्रिया के प्रति कभी भी किसी प्रकार अविश्वास आचरण उपस्थित नहीं होगा । अर्थात् ऐहिक व्यवहारिक मणि, मन्त्र, औषधि का प्रभाव शास्त्र से श्रवण करके भी श्रीभगवत् सम्बन्धि वस्तु श्रीचरण मृत के प्रति अविश्वास उपस्थित नहीं होगा । अतएव प्राकृत द्रव्यादि साधारण दृष्टि से भगवत् सम्बन्धीय पदार्थ में दोष का अनुसन्धान न होने से कभी भी भगवत् सम्बन्धीय वस्तु के प्रति अविश्वास उत्पन्न नहीं होगा । अर्थात् जिस प्रकार प्राकृत अन्नव्यञ्जनादि श्रीभगवान् में अर्पित होने से महाप्रसाद होता है, उस में प्राकृत अंश विनष्ट होता है । अतः चिन्मयत्व प्राप्त विषय में सन्देह का अवकाश न होने से महाप्रसाद ग्रहण विषय में किसी प्रकार अप्रवृत्ति नहीं होगी । उक्त महाप्रसाद एवं श्रीविग्रह प्रभृति का अलोक सामान्य प्रभाव का विवरण शास्त्र में उपलब्ध है ।

बृहन्नारदीय में वर्णित है—

"अकालमृत्युशमनं सर्वव्याधिविनाशनम् ।
सर्वदुःखोपशमनं हरिपादोदकं शुभम् ।।"५००।।

अर्थात् श्रीहरिपादोदक—अकालमृत्यु नाशक, सर्वव्याधि विनाशक, एवं सर्व दुःखोपशमक है । इस प्रकार भूरि भूरि प्रमाण विद्यमान हैं । कतिपय व्यक्ति कहते हैं—अप्राकृत श्रीचरणामृत, श्रीमहाप्रसाद, श्रीविग्रह प्रभृति में श्रद्धा युक्त होकर भी निज कृत अपराध हेतु भक्त्यङ्ग का फलं दय स्थगित होता है । किन्तु "यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स वाह्याभ्यन्तरः शुचिः" अर्थात् जो पुण्डरीकाक्ष का स्मरण करता है, उस के वाह्याभ्यन्तर पवित्र होते हैं, शास्त्रीय इस वाक्यमें विश्वस्त होकर भी वह व्यक्ति शुद्धि हेतु स्नानादि आचरण करता है, उस का कारण है, लोकों की कदर्य्य वृत्ति को निरोध करने के निमित्त सदाचार परम्परा की रक्षा करना, अर्थात् श्रीव्यास, श्रीनारद प्रभृति साधु वृन्दके आचरण का पालन करना कल्याण कर है । महाजन प्रवर्त्तित आचरण को लङ्घन करने से अपराध अवश्य होता है । श्रीनारद प्रभृति महाजन वृन्द लोक समाज की कदर्य्य वृत्ति निरोध हेतु उस प्रकार मर्य्यादा स्थापन किये हैं । इस प्रकार जानना होगा । श्रद्धोदय होने से सिद्धि वा असिद्धि उभय अवस्था में ही स्वर्ण लिप्सु की इच्छा के समान महाजन गण की अनुवृत्ति की चेष्टा निरन्तर रहेगी । जिस प्रकार सुवर्ण लाभ हेतु बारम्बार सुवर्ण को अग्नि दग्ध करना पड़ता है, दग्ध होने से उसका वर्ण उज्ज्वल होता है, एवं स्वर्ण प्राप्ति हेतु अत्यधिक प्रयत्न भी होता

तदतिक्रमेऽप्यपराधः स्यात् । ते च तथा मर्य्यादां लोकस्य कदर्य्यवृत्त्यादि-निरोधायैव स्थापितवन्त इति ज्ञेयम् । किञ्च, जातायां श्रद्धायां सिद्धावसिद्धौ च स्वर्ण सिद्धिलिप्सोरिव सदा तदनुवृत्तिचेष्टैव स्यात् । सिद्धिश्चात्रान्तः करणकामादि-दोषक्षयकारि-परमानन्द-परम-काष्ठागामि-श्रीहरिस्फुरणरूपैव ज्ञेया । तस्यां स्वार्थसाधनानुप्रवृत्तौ च दम्भ-प्रतिष्ठालिप्सादि-मयचेष्टालेशोऽपि न भवन्ति, न सुतरां ज्ञानपूर्व्वकं महदवज्ञादयोऽपराधाश्चापतन्ति, विरोधादेव। अतएव चित्रकेतोः श्रीमहादेवापराधस्तस्य स्वचेष्टान्तरेणाच्छन्नस्वभावस्य भागवतत्वा ज्ञानादेव मन्तव्यः । यदि वा श्रद्धावतोऽपि प्रारब्धादि वशेन विषय-सम्बन्धाभ्यासो भवति, तथापि तद्बाधया विषय-सम्बन्ध-समयेऽपि दैन्यात्मिका भक्तिरेवोच्छलिता स्यात् यथोक्तम् (भा० ११।२०।२८) "जुषमाणश्च तान् कामान् दुःखोदर्कांश्च गर्हयन्" इत्यत्र, (भा० ११।१४।१८)

है । उस प्रकार जिस की सिद्धि हुई है, उसकी सिद्धि का वैशिष्ट्य सम्पादन हेतु एवं जिस की सिद्धि नहीं हुई है, उस को भी सिद्धि लाभ हेतु महाजन गण की अनुकूल वृत्ति का अनुष्ठान निरन्तर करना पड़ता है। यहाँ सिद्धि शब्द का अर्थ है—अन्तः करण की कामादि दोष क्षय कारी परमानन्द की परमकाष्ठा प्राप्त अनवरत श्रीहरि स्फूर्त्ति ।

उक्त अनवरत श्रीहरि स्फूर्त्ति अवस्था में—निज प्रयोजन साधन की अनुकूल प्रवृत्ति में भी कपटता प्रतिष्ठादि मय चेष्टा का लेशमात्र उदय नहीं होता है । अतएव बुद्धि पूर्वक महत् की अवज्ञा प्रभृति अपराध का भी उद्गम नहीं होता है । कारण, श्रीहरिस्फूर्त्ति एवं महत् अवमानन दोनों ही विरुद्ध है, अर्थात् श्रीहरि की स्मृति होने पर श्रीहरि स्वरूप महत् प्रभृति की अवज्ञा प्रभृत्ति हो ही नहीं सकती । किन्तु जो प्रथम जीवन से ही स्वेच्छा चारी हैं । मन मुखी होकर चलना पसन्द करते हैं, महाजन प्रवर्त्तित पथ का अनुसरण नहीं करते हैं, केवल स्वेच्छाचारितमय आचरण ही करते हैं, उन के पक्ष में अपराध उद्गम की बहुल सम्भावना हैं । किन्तु जो लोक साधन की प्रथमावस्था से ही सर्वावस्था में महाजन गण प्रवर्त्तित पथ के अनुवर्त्ती होकर चलते हैं । उनके पक्ष में प्रकृति विरोध के कारण महदमर्य्यादाजनित दोष उपस्थित नहीं हो सकता है । अतएव चित्र केतु का श्रीमहादेव के चरणों में अपराध जो हुआ था, उस का कारण ही है, स्वाधीन चेष्टान्तर के द्वारा महाजनानुगत भक्त स्वभाव आच्छन्न होने के कारण भगवद् भक्त तत्त्व सम्बन्धमें अज्ञान तज्जन्य ही महदवमानन रूप अपराध हुआ था ।

यद्यपि श्रद्धावान् जन का निज प्रारब्ध प्रभृति कर्म्म के कारण, विषय सम्बन्ध का अनुशीलन होता है, तथापि भगवद् भक्ति बाधा निबन्धन जब मन का सम्बन्ध विषय के सहित हो ही जाता है, तब भक्त में दैन्यात्मिका भक्ति उच्छलिता हो उठती है,कारण, प्रारब्ध कर्म वशता हेतु मन के सहित द्वन्द्व युद्ध करके जयलाभ करने में अक्षम होने पर भक्त अतिशय क्षिण्ण होकर निज प्रेष्ठ प्रभु के श्रीचरणों में आर्त्तिपूर्ण निवेदन ही करता रहता है । हे नाथ ! मैं निज सामर्थ्य से मन के सहित संघर्ष कर के उस को आप के चरणों मे उन्मुख करने में अक्षम हूँ, एकमात्र आप की कृपा ही अवलम्बन है, इस प्रकार विज्ञापन भक्त के द्वारा होता है ।

भा० ११।२०।२८ श्रीभगवान् कहे हैं—यह सब विषय भोग भी करते हैं, किन्तु विषय भोग का फल को दुःख मय जानकर मन मन में धिक्कार भी देते हैं—

"जुषमाणश्च तान् कामान् दुःखोदर्कांश्च गर्हयन् "

"बाध्यमानोऽपि मद्भक्तः" इत्यादौ च, (गी० ९।३०) "अपि चेत् सुदुराचारः" इत्याद्युक्तस्यानन्यभाक्त्वेन लक्षिता तु या श्रद्धा सा खलु (गी० १७।१) "ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः" इत्यादिवल्लोकपरम्पराप्राप्ता, न तु शास्त्रार्थावधारणजाता। शास्त्रीयश्रद्धायान्तु जातायां सुदुराचारत्वायोगः स्यात्, (विष्णुपुराणे("परपत्नी-परद्रव्य" इत्यादिविष्णुतोषणशास्त्रविरोधात्,(विष्णुधर्मे) "मर्यादाञ्च कृतां तेन" इत्यादिना तद्भक्तत्वविरोधाच्च। न तु सा दुराचारता तद्भक्तिमहिमश्रद्धा-कृतैव, अपि-शब्देन दुराचारत्वस्य हेयत्वव्यञ्जनात्, तथा (गी० ९।३१) –"क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति" इत्युत्तराप्रतिपत्तेः, "नाम्नो बलाद्यस्य हि पापबुद्धिः" इत्यादि-नामापराधाच्च। ततः सा श्रद्धा न शास्त्रीय-

---

यहाँ धिक्कार शब्द से मानसिक क्लेश भोग करते हैं। जानना होगा। भा० ११।१४।१८ में कहा गया है—"बाध्यमानोऽपि मद्भक्तः" मेरा भक्त विषय के द्वारा आकृष्यमाण होकर भी उस के द्वारा बाधित नहीं होता है। गीता के ९।३० में उक्त है—"अपि चेत् सुदुराचारः" इस में भक्त को जो अनन्य उपासक कहा गया है। वह श्रद्धा, गीतोक्त "ये शास्त्रविधि मुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः" श्रद्धा के समान ही है, अर्थात् यह श्रद्धा लोक परम्परा प्राप्त श्रद्धा है, किन्तु शास्त्रीय श्रद्धा नहीं है, कारण, लोक रीति से उत्पन्न श्रद्धा में सुदुराचार होना सम्भव है, किन्तु शास्त्रीय श्रद्धा में सुदुराचारत्व आ ही नहीं सकता है। कारण, शास्त्रीय श्रद्धा जिस के हृदय उदित है, उसकी प्रवृत्ति कभी भी शास्त्र विरुद्ध दुराचार में होगी ही नहीं। कारण, विष्णु पुराणोक्त"

परपत्नी परद्रव्य परहिंसासु यो मतिं।
न करोति पुमान् भूप तुष्यते तेन केशव ॥

जो व्यक्ति पर पत्नी, परद्रव्य, एवं परहिंसा में मति नहीं देता है, उस के द्वारा ही श्रीविष्णु सन्तुष्ट होते हैं। इस प्रकार विष्णु तोषण शास्त्र के सहित उक्त आचरण का विरोध उपस्थित होगा। विशेष कर—विष्णु धर्मोत्तर में उक्त है—

"मर्य्यादाञ्च कृतां तेन यो भिनत्ति स मानवः।
न विष्णु भक्तो विज्ञेयः साधुधर्म्मार्चनो हरिः ॥"

जो व्यक्ति, भगवत् कृत मर्य्यादा को अर्थात् नियम को लङ्घन करता है, वह व्यक्ति विष्णुभक्त रूप से ख्यात नहीं हो सकता है। कारण, पवित्र धर्माचरण से ही श्रीभगवान् सन्तुष्ट होते हैं। इस प्रमाण से निर्णीत हुआ कि—भक्त के पक्ष में श्रीविष्णु के द्वारा प्रवर्त्तित नियम लङ्घन करना निषिद्ध है। उक्त दुराचारता का उद्भव भगवद् भक्ति के प्रति विश्वास से नहीं हुआ है। कारण, 'अपि चेत्" शब्द के द्वारा दुराचारत्व को हेय कहा गया है, तत् परवर्त्ती श्लोक में कहा गया है—

"क्षिप्रं भवन्ति धर्मात्मा शश्वच्छान्ति निगच्छति।"

इस से प्रतीत होता है कि धर्म जीवन प्राप्त करना एवं दुराचारत्व से निवृत्त होना वाञ्छनीय है, अतएव दुराचारत्व का हेयत्व ही प्रतिपादित हुआ है। भक्ति महिमा बोध से यदि उस प्रकार दुराचारत्व की उत्पत्ति होती तो "नाम्नो बलाद् यस्य हि पापबुद्धिः" भक्ति के आचरण के बल से पाप में प्रवृत्त होने से उसका उद्धार नहीं है, इस प्रकार भीति प्रदर्शक वाक्य का लङ्घन कभी भी नहीं होता, अर्थात् किसी

भक्त्यधिकारिणो विशेषणत्वे प्रवेशनीया, किन्तु भक्तिप्रशंसायामेव। तादृश्यापि श्रद्धया भक्तेः सत्त्वहेतुत्वम्, न तु देवतान्तरयजनवत् (गी० १७.१) "ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य" इत्यादावेवोक्तमन्यादृशत्वमिति। अस्याः श्रद्धाया पूर्णतावस्था तु ब्रह्मवैवर्त्ते—

"किं सत्यमनृतञ्चेह विचारः सम्प्रवर्त्तते। विचारेऽपि कृते राजन्नसत्यपरिवर्ज्जनम्।
सिद्धं भवति पूर्णा स्यात्तदा श्रद्धा महाफला।।५०१।। इति।

तदेवंलक्षणेषु श्रद्धोत्पत्तिलक्षणेषु सत्सु विधीयते, (भा० ११।२०।८)—"यदृच्छया मत्-कथादौ जातश्रद्धस्तु यः" इत्यादि, (भा० ११।२०।९) "मत्कथाश्रवणादौ वा" इत्यादि च।

भी भक्त्यङ्ग के अवलम्बन से पाप में प्रवृत्त होने से अपराध होता है। अतएव वह लोक परम्परा प्राप्त श्रद्धा, शास्त्रीय भक्ति में जो अधिकारी है, उसका विशेषण नहीं हो सकता है। किन्तु भक्ति प्रशंसा में वह ग्रहणीय है। अर्थात् लोक परम्परा प्राप्त श्रद्धा होने से ही मानव शास्त्रीय भक्ति में अधिकारी होगा, इस प्रकार अर्थ नहीं है। किन्तु उस प्रकार श्रद्धायुक्त व्यक्ति यदि भक्ति का अनुष्ठान करता है, एवं यदि वह अनुष्ठान साधुधर्म प्राप्ति करने का हेतु होता है तो, शास्त्रार्थ में दृढ़ विश्वास से उत्पन्न श्रद्धा विद्यमान होने से वह श्रद्धा ही साधुत्व के प्रति हेतु होगी—इस विषय में अधिक कहने का प्रयोजन ही क्या है। किन्तु देवतान्तर के अर्च्चन के समान जो मानव शास्त्रविधि को लङ्घन करके श्रद्धा युक्त हृदय से अर्च्चना करता है, उस से जिस प्रकार अर्च्चन कारी को सिद्धि अर्थात् चित्त शुद्धि नहीं होती है, एवं उपशमात्मक सुख तथा परागति मुक्ति भी नहीं होती है। उस प्रकार भगवद् भजन में यदि लौकिक श्रद्धा है, एवं उस के द्वारा श्रीभगवान् की उपासना करता है, अन्य देवता की उपासना नहीं करता है, तो उस से भी चित्त शुद्धि हो सकती है, यह है—"अपिचेत् सुदुराचार" श्लोक का तात्पर्य्यार्थ। इस प्रकार श्रद्धा की परिपूर्ण अवस्था का वर्णन ब्रह्म वैवर्त्त पुराण में इस प्रकार है—

"किं सत्यमनृतञ्चेह विचारः सम्प्रवर्त्तते।
विचारेऽपि कृते राजन्नसत्यपरिवर्ज्जनम्।
सिद्धं भवति पूर्णा स्यात्तदा श्रद्धा महाफला।।"५०१।।

पहले भक्ति अङ्ग का माहात्म्य सत्य है, अथवा मिथ्या है, इस प्रकार विचार उपस्थित होता है, जिस प्रकार श्रीचरणामृत के विषय में कहा गया है—

"अकालमृत्यु हरणं सर्वव्याधिविनाशनम्" श्रीचरणामृत, अकालमृत्यु हरण कारी है, एवं समस्त रोग निवारक है, इस प्रकार माहात्म्य श्रवण करके प्रथमतः मन में एक आन्दोलन उपस्थित होता है, यह कथन सत्य है, किंवा मिथ्या है? नीरोगता हेतु औषधि सेवन जब करना पड़ता है, तब सुस्थिर होता है कि—यह प्रशंसा वचन मात्र है। इस प्रकार मानसिक स्थिति होने के पश्चात् मन में एक युक्ति उपस्थित होती है। वह यह है। यदि व्यवहारिक मणि, मन्त्र, एवं औषधि की चिन्तातीत, युक्त्यतीत सामर्थ्य है, तब अप्राकृत भगवत् सम्बन्धि वस्तु श्रीचरणामृत में इस प्रकार चिन्तातीत अलोक सामान्य सामर्थ्य होना क्या असम्भव है? इस प्रकार विचार के द्वारा श्रीचरणामृत के प्रति अविश्वासांश विदूरित हो जाता है, एवं विश्वासांश निश्चित होता है। यह विश्वास सुदृढ़ होकर श्रद्धानाम से अभिहित होता है, यह श्रद्धा महाफल दायिनी होकर पूर्णता प्राप्त करती है। संशय निरसन पूर्वक उक्त रीति से श्रद्धोत्पत्ति होने पर ही "यदृच्छया मत् कथादौ जात श्रद्धस्तु यः पुमान्" इत्यादि एवं मत् कथा श्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते,

अत एवमनधिकार्य्यधिकारि-विषयत्वविवक्षयैव श्रीभगवन्नारदयोर्वाक्ये व्यवतिष्ठेते, (गी० ३।२६)

"न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत् सर्वकर्म्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन् ॥"५०२॥ इति,

(भा० १।५।१५)—

"जुगुप्सितं धर्म्मकृतेऽनुशासतः स्वभावरक्तस्य महान् व्यतिक्रमः ।
यद्वाक्यतो धर्म्म इतीतरः स्थितो, न मन्यते तस्य निवारणं जनः ॥"५०३॥ इति च ।

"तावत् कर्माणि कुर्वीत" इत्यादि श्लोकों के द्वारा काम्य कर्म परित्याग विहित हुआ है । अतएव कर्मत्याग के अधिकारी अनधिकारी विषय की विवेचना करके ही श्रीभगवान् एवं श्रीनारद के वाक्य की व्यवस्था करनी चाहिये । श्रीभगवद् गीता के ३।२६ में कथित है—

"न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन् ॥"५०२॥

जो लोक, काम्य कर्म एवं काम्य कर्म के फल में आसक्त हैं, विद्वान् व्यक्ति को चाहिये कि वे उनसब को विचलित न करें, अर्थात् कर्म्म त्याग की प्रवृत्ति को उत्पादन न करें, किन्तु स्वयं उक्त कर्म्माचरण करके कर्म में प्रवृत्ति उत्पादन करावें, इस प्रकार कर्म करने की जो विधि भगवद् वाक्य में दृष्ट होती है, वह विशुद्धा भक्ति में श्रद्धा हीनता दोष दुष्ट अनधिकारी व्यक्ति के पक्ष में प्रयोज्य है । श्रीभागवत १।५।१५ में उक्त है—

"जुगुप्सितं धर्म्मकृतेऽनुशासतः स्वभावरक्तस्य महान् व्यतिक्रमः ।
यद्वाक्यतो धर्म्म इतीतरः स्थितो, न मन्यते तस्य निवारणं जनः ॥"५०३॥

क्रमसन्दर्भ—तदेवं श्रीहरि यशो गौणीकृत्य भारतादिषु कृतं जुगुप्सितं काम्य कर्मादि वर्णन प्राचुर्यं लोकानां तदेक निष्ठत्वाय जातमित्याह,— जुगुप्सितमिति । स्वभावरक्तस्यानादि विषय वासनया स्वभावत एव कामनापरस्य पुरुषस्य धर्म कृते भगवद्धर्म पर्य्यन्तस्य निष्कामस्य धर्मस्य कृते भगवद्धर्ममेव तत्र पर्य्यवसायितुमनु निरन्तरमेव निन्द्यं काम्यं कर्म शासत उपदिशतः, न तु वेदे प्रवर्त्तनार्थं तत् प्ररोचनया यत् किञ्चिदनूद्य मुहुरपवदतः कस्यचिदन्यस्यापि महान् व्यतिक्रमो वेद-तात्पर्य्य ज्ञानेनान्यायः स्यात् । भवतः स्यात् इति तु कथं ब्रवानीति भावः । ननु वेदेऽपि तादृक् काम्य कर्म कथनस्य निरन्तरता दृश्यते ? तत्राह,— यद् वाक्यत इति । यस्य तद् विधस्य वाक्यतो दुरूहवेदार्थ निर्णायकाद् वाक्याद् वचन मात्रात्, किमुत ब्रह्म लोक प्रसिद्ध शतकोटि विस्तर पुराणेतिहासतः, स्वेच्छया येन संगृहीतात्तद् वाक्यादितरोजनस्तदेव कर्त्तव्यमिति परामृशन् स्थितो यत्र निश्चलः स्यात्, तस्य तद् विधस्य निवारणमन्यथा वक्तृतया चिन्तनं तव स्वल्पतम वाक्येनान्यस्य प्रचुरतमवाक्येनापि न मन्येत । यद् यस्मात्तव शिष्याणामपि जैमिन्यादीनामन्या प्रति पत्तिर्दृश्यते, तस्मात् प्रवृत्तं निवृत्तञ्चधर्म्मं परित्यज्य "निवृत्ततर्षैरुपगीयमानात्" इत्यादिरीत्या सर्वेषां सर्वापच्छमकं काम्यञ्च यद्भगवद् यशस्तदेव वर्ण्यतामिति भावः, अतो "न बुद्धि भेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् । जोषयेत् सर्व कर्म्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्" इति श्रीगीता वाक्यं तु ज्ञानाद्यु पदेष्टृ विषयमेव, नतु भगवद् धर्म महिमज्ञत्वतादृशविषयम्" तदुक्तं श्रीमदजितेन, "स्वयं निःश्रेयसं विद्वान् न वक्त्यज्ञाय कर्म हि । न राति रोगिणोऽपथ्यं वाञ्छतोऽपिभिषक्तमः । इति तादृशोपदेशे सर्वेषामेव परम-विश्वासास्पदत्वादिति भावः ।

एवमजितवाक्यञ्च तदधिकारिविषयमेव (भा० ६।९।५०)—

"स्वयं निःश्रेयसं विद्वान् न वक्त्यज्ञाय कर्म्म हि ।
न राति रोगिणोऽपथ्य वाञ्छतोऽपि भिषक्तमः ।"५०४॥ इति ।

अत्र यद्यप्यधिकारितायां श्रद्धैव हेतुः, सा चाज्ञस्य न सम्भवतीति नैतत् तद्विषयं स्यात्, तथापि कथमपि प्राचीन संस्कारवितर्केण तदधिकारित्वनिर्णयान्न दोष इति ज्ञेयम् । अन्यथोपदेष्टुरेव दोषः स्यात्, "अश्रद्दधाने विमुखेऽप्यशृण्वति यश्चोपदेशः" इति वक्ष्यमाणापराधश्रवणात् । अथ प्रकृतमनुसरामः ॥

देवर्षि नारद ने श्रीकृष्णद्वैपायन को कहा—हे मुनिवर ! श्रीहरि के यशोवर्णन व्यतीत महाभारत प्रभृति में आपने जो धर्मादि का वर्णन किया है, उस से मानवों को हित नहीं होगा । प्रत्युत विरुद्ध ही होगा । कारण, स्वभावतः निन्दित काम्य कर्मादि में अनुरक्त पुरुष के प्रति धर्मानुष्ठान के निमित्त अनुशासन करना आप के पक्ष में अतीत अन्याय हुआ है । कारण, जिस निन्दित काम्य कर्म में मानव की रुचि स्वाभाविकी है, तज्जन्य उपदेश करना क्या अन्याय नहीं है ? विशेष कर जिस के उपदेश वाक्य से प्राकृत व्यक्ति 'यही मुख्य धर्म है' इस प्रकार निश्चय कर लेता है, उस उपदेश वाक्य में विज्ञ व्यक्ति यदि दोष प्रदर्शन करता है तो, उस निषेध वाक्य को अपर व्यक्ति नहीं मानेगा । कारण, वे सब कहेंगे कि, काम्य कर्म्मानुष्ठान हेतु श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास ने उपदेश दिया है । उस पर दूसरे का उपदेश मान्य नहीं हो सकता । इस प्रकार आप के उपदेश से अत्यधिक अन्याय हुआ है । उस का अनुभव स्वयं ही कर सकते हैं । आप सर्व श्रेष्ठ महर्षि न होते तो, आप के उस प्रकार उपदेश से जगत् का अकल्याण नहीं होता । भा० ६।९।५० में श्रीभगवान् अजित के उपदेश वाक्य प्रयोग, भी कर्म्मपरित्याग करने का अधिकारी को लक्ष्य करके हुआ है ।

"स्वयं निः श्रेयसं विद्वान् न वक्त्यज्ञाय कर्महि ।
न राति रोगिणो ऽपथ्यं वाञ्छतोऽपि निषक्तमः ।।५०४।।

टीका—कर्म प्रवृत्ति मार्गं न वक्ति हि । अपथ्यं यथा न राति ददाति, भिषक् तमः, सद्वैद्यः ।

जो विज्ञ व्यक्ति, स्वयं ही अनुभव करते हैं कि काम्य कर्म्मासक्ति ही जीव का अनर्थ का मूल कारण है, एवं कर्म्मासक्ति त्याग ही शान्ति का निदान है । यह जानकर कभी भी अज्ञ जन को काम्य कर्मानुष्ठान करने के निमित्त विज्ञजन उपदेश नहीं करते हैं । जिस प्रकार उत्तम चिकित्सक—कभी भी रोगी के इच्छानुरूप अपथ्य दान नहीं करते हैं । यहाँपर अनन्य भक्ति अनुष्ठान में अधिकारी होने के निमित्त श्रद्धा ही एकमात्र हेतु है । एवं वह श्रद्धा भी भक्ति माहात्म्य अनभिज्ञ व्यक्ति में होना असम्भव है । अतएव अज्ञ व्यक्ति के प्रति इस प्रकार कर्म त्याग करने का उपदेश हो ही नहीं सकता है । तथापि, भक्ति तत्त्वानभिज्ञ व्यक्ति का पूर्व जन्मार्जित भक्ति संस्कार है, इस प्रकार अनुमान करके ही कर्म्मत्याग करने का उपदेश देना दोषावह नहीं है । श्रीमान् अजित, जो उपदेश प्रदान किये हैं—उस में उक्त है—

"स्वयं निश्श्रेयसं विद्वान् न व्यक्त्यज्ञाय कर्म्म हि ॥

अर्थात् अज्ञ व्यक्ति को कर्मत्याग हेतु उपदेश विज्ञ व्यक्ति न करे । जब तक भक्ति में दृढ़ श्रद्धा नहीं होती है, तब तक काम्य कर्मानुष्ठान करना अनुचित है, इस प्रकार उपदेश न करे । अतएव अधिकारी अनधिकारी विवेचना करके ही कर्म आचरणीय अनाचरणीय है, इस प्रकार उपदेश करना कर्त्तव्य है ।

१७४। तदेवं योगत्रयं तदधिकारहेतुंश्चोक्त्वा कर्मणोऽपि यथा भगवत्साम्मुख्यरूपत्वं स्यात्तथाह, (भा० ११।२०।१०-११) —

(१७४) "स्वधर्म्मस्थो यजन् यज्ञैरनाशीःकाम उद्धव।
न याति स्वर्ग-नरकौ यद्यन्यन्न समाचरेत् ।।५०५।।
अस्मिँल्लोके वर्त्तमानः स्वधर्म्मस्थोऽनघः शुचिः।
ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति मद्भक्तिञ्च यदृच्छया ।।"५०६।।

टीका च—"अनाशीः कामोऽफलकामः, अन्यन्निषिद्धम्, नरकयानं हि द्विधैव भवति,—विहिनातिक्रमाद्वा निषिद्धाचरणाद्वा। अतः स्वधर्मस्थत्वान्निषिद्धवर्ज्जनाच्च नरकं न याति, अफलकामत्वान्न स्वर्गमपीत्यर्थः। किन्तु अस्मिँल्लोके अस्मिन्नेव देहे अनघो निषिद्धपरित्यागी

इस प्रकार रीति को अवलम्बन करने से गीता एवं श्रीमद् भागवत वचन का सामञ्जस्य हो सकता है। अन्यथा, उपदेश कारी का दोष होगा, कारण—अश्रद्धालु जन को उपदेश करने से उपदेश कारी का दोष होता है। "अश्रद्दधाने विमुखेऽप्यशृण्वति यश्चोपदेशः"

अश्रद्धालु, विमुख, अश्रवण कारी व्यक्ति को उपदेश देने से अपराध होता है। शास्त्र में यह लिखित है। अनन्तर प्रकरण प्राप्त विचार्य्य विषय का अनुसरण करते हैं।।१७३।।

१७४। कर्म, ज्ञान, एवं भक्ति योग रूप साधन का विवरण कह कर, उक्त साधनों के अधिकारी कौन कौन होते हैं, उस को कहने के पश्चात् काम्य कर्माचरण भी किस प्रकार भगवत् साम्मुख्य का उपयोगी हो सकता है, उस का विवरण, भा० ११।२०।१०-११ के द्वारा प्रस्तुत करते हैं—

(१७४) "स्वधर्म्मस्थो यजन् यज्ञैरनाशीःकाम उद्धव।
न याति स्वर्ग-नरकौ यद्यन्यन्न समाचरेत् ।।५०५।।
अस्मिँल्लोके वर्त्तमानः स्वधर्म्मस्थोऽनघः शुचिः।
ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति मद्भक्तिञ्च यदृच्छया ।।"५०६।।

उद्धव को श्रीभगवान् कहे हैं—हे उद्धव! स्वधर्म में अर्थात् निज निज वर्ण एवं आश्रमोचित धर्म पालन पूर्वक निष्काम भाव से यज्ञ के द्वारा यज्ञेश्वर मेरी आराधना करने से स्वर्ग वा नरक गमन नहीं होगा, यदि निषिद्ध आचरण एवं शास्त्र विहित धर्म का अतिक्रम नहीं करता तो, वर्त्तमान शरीर में रहकर निष्पाप भाव से धर्मानुष्ठान करते करते विशुद्ध ज्ञान लाभ होता है। एवं यदृच्छाक्रम से अर्थात् साधुसङ्ग से मुझ में भक्ति लाभ भी कर सकता है। उस श्लोक में श्रीधर स्वामिपाद कृत टीका की व्याख्या इस प्रकार है— अनाशीः कामः, फलाकाङ्क्षारहितः, अन्यत् निषिद्धाचरणम्।

अर्थात् निषिद्धाचरण न करके निष्काम भाव से यज्ञ के द्वारा यज्ञेश्वर मेरी आराधना करने पर स्वर्ग एवं नरक में गमन नहीं होगा। कारण, मनुष्य दो प्रकार से नरक गमन करते हैं, एक प्रकार निषिद्ध आचरण करके अपर प्रकार शास्त्र विहित कर्मानुष्ठान न करके। अतएव स्वधर्म आचरण में प्रवृत्त, एवं निषिद्ध त्यागी होने के कारण, नरक गमन नहीं होता है। एवं कामना शून्य होने के कारण, स्वर्गगमन भी नहीं होता है। किन्तु वर्त्तमान शरीर में ही निषिद्ध परित्यागी होने के कारण शुचि अर्थात् पवित्र है, भोगादि में आसक्ति शून्य है। इस प्रकार व्यक्ति विशुद्ध ज्ञान प्राप्त करने का अधिकारी है।

अतः शुचिर्निवृत्तरागादिमलः, यदृच्छयेति केवलज्ञानादपि भक्तेर्दुर्लभतां द्योतयति" इत्येषा। अत्राफलकामत्वं केवलेश्वराज्ञाबुद्धया कुर्वाणत्वम्। अत्र ज्ञानिसङ्गे सति तन्मात्रत्वमेव भगवदर्पणं भवेत्। भक्तसङ्गे तु तत्सन्तोषमयत्वम्। अतो यदृच्छयेति पूर्ववद्भक्तसङ्ग-तत्-कृपालक्षणं भाग्यं बोधितम्। यदुक्तम् (भा० २।३।११) "एतावानेव यजतामिह निःश्रेयसोदयः' इत्यादि॥ श्रीभगवान्॥

१७५। तदेवं कर्मार्पणकेवलज्ञानकेवलभक्त्योऽधिकारिभेदेनव्यवस्थापिताः ततः स्वाधिकारानुसारेणैव स्थातव्यमित्याह (भा० ११।२०।२६)—

केवल ज्ञान से भी भक्ति की दुर्लभता को कहते हैं, उस प्रकार अधिकारी का यदि साधुसङ्ग लाभ होता है, तो मेरे (श्रीकृष्ण) चरणों में भक्ति हो सकती है। यहाँपर ज्ञातव्य यह है कि—कामना शून्य होकर कर्म्म करने का अर्थ है—केवल ईश्वराज्ञा बुद्धि से कर्म्मानुष्ठान करना, अर्थात् अपर किसी प्रकार उद्देश्य से प्रेरित न होकर केवल मात्र परमेश्वर के आदेश बुद्धि से कर्मानुष्ठान करने का नाम ही निष्काम कर्म है। यदि उस प्रकार अधिकारी को ज्ञानी महत् का सङ्ग होता है तो भगवदाज्ञाबुद्धि से कर्म्माचरण करने पर भी उक्त कर्म ईश्वर को अर्पण करना पड़ता है। और यदि भक्त महत् का सङ्ग हो जाता है तो, भगवत् सन्तोषार्थ कर्मानुष्ठान ही निष्काम कर्म होता है। यहाँ मूल श्लोक में "यदृच्छया" पद का उल्लेख है। उस का अर्थ है—' यदृच्छया मत् कथादौ" १७१ अनुच्छेद में लिखित भा० ११।२० अध्याय के श्लोक की व्याख्या में उक्त भक्तसङ्ग एवं तत् कृपा जनित भाग्य को ही जानना होगा। अर्थात् पूर्वोक्त कर्माधिकारी व्यक्ति का यदि ज्ञानी महत् का सङ्गलाभ होता है तो विशुद्ध ज्ञान लाभ से वह धन्य होगा, और भक्त महत् का सङ्ग लाभ होने से श्रीकृष्ण स्वरूप मुझमें भक्ति प्राप्तकर कृतार्थ हो सकता है। कारण, भक्त महत् के सङ्ग व्यतीत अपर किसी भी उपाय से भक्ति लाभ करने में कोई सक्षम नहीं होता है। इस अभिप्राय से ही भा० २।३।११ में श्रीशुक देवने कहा है—

"एतावानेव यजतामिह निःश्रेयसोदयः।
भगवत्यचलोभावो यद्भागवत सङ्गतः॥"

हे राजन्! जो, इन्द्रादि देवगण की आराधना यज्ञ के द्वारा करते हैं, उन उन देवता की आराधना के द्वारा यदि भगवद् भक्त सङ्ग लाभ होता है तो उक्त भक्त महत् सङ्ग से ही श्रीभगवान् के श्रीचरणों में अचला भक्ति का उदय होता है। यही काम्य कर्मानुष्ठानकारी का परम मङ्गल है।

श्रीभगवान् कहे थे॥१७४॥

१७५। अतएव निज अधिकार के अनुसार ही रहना चाहिये। कारण, भा० ११।२०।२६ में श्रीभगवान् उद्धव को कहे हैं—

(१७५) "स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्त्तितः।
विपर्य्ययस्तु दोषः स्यादुभयोरेष निश्चयः॥"५०७॥

टीका—"ननु तैरेव कर्मभिः केचिद् गुणदोष भाजः, केचिन्नेति कुतो वैषम्यम्। नह्यग्निना केचित् तप्यन्ते केचिन्नेति सम्भवति। तत्राह स्वे स्वे इति। अधिकार भेदेन कल्पितौ गुण दोषौ न वस्तु निष्ठाविति भावः।" क्रमसन्दर्भ। 'तत्र व्यवहारिकयो र्गुणदोषयो र्विधानार्थमधिकारिमात्रस्य पूर्वानुवादेनैव गुण दोषौ लक्ष्यति—स्वे स्वे इति। अधिकारे कामित्व निष्कामित्व वैराग्य श्रद्धाभिर्यथायोग्यतया विक्रियमाणे योग विशेषे। उभयोर्व्यवहारिक पारमार्थिकाधिकारिणोः, किन्तु पूर्वत्र गुणत्वं कल्पितमुत्तरत्र तु सिद्धमेवेति

(१७५) "स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्त्तितः ।
विपर्य्ययस्तु दोषः स्यादुभयोरेष निश्चयः ॥" ५०७॥ इति ।

स्पष्टम् ॥ श्रीभगवान् ॥

१७६ । तत्र साम्मुख्यद्वारभूतस्य कर्मणः साक्षात् साम्मुख्यरूपज्ञान-भक्त्युदयपर्य्यन्तत्वात् स्वयमेव ताभ्यां न्यक्कारः । अत्र साक्षात् साम्मुख्ये च निर्विशेषसाम्मुख्यं ज्ञानम् । सविशेषस्यापि तत्त्वस्य भगवत्त्वं परमात्मत्वञ्चेति मुख्यमाविर्भावद्वयमिति सविशेष-साम्मुख्य-रूपाया भक्तेस्तु मुख्यं भेदद्वयं भगवन्निष्ठत्वं परमात्मनिष्ठत्वञ्चेति । तदेतद्द्वयं श्रीगीतासूक्तम्, तत्र (गी० ८।३) "अक्षरं ब्रह्म परमम्" इत्यक्षर--शब्देन पूर्वोक्तं ब्रह्म, तत्साम्मुख्य रूपं ज्ञानात्मकमुपासनञ्चोत्तरोक्तं यथा (गी० ८।११) "यदक्षरं वेदविदो वदन्ति" इत्यादि, तथा

भावः । अत्र ज्ञान कर्म्मणोर्भक्त्यंश विना सिद्ध्यभावेन तन्मिश्रतयैव विहितत्वान्न तेन तत्र तत्र निष्ठाच्युतिः, किन्तु सर्वनिरपेक्षतया सर्वसाधिकायां भक्तावेव तत्तदंशमिश्रत्वे कृते निष्ठा च्युतिः स्यादितिगम्यते । तदेवं शक्त्यंश सहाया कर्म निष्ठा कर्मठे गुण स्तथा तत् सहाया ज्ञान निष्ठा ज्ञानिनि ततोऽपि गुणः । निष्किञ्चन भक्ति निष्ठा तु भक्तेः सर्वोत्कृष्टो गुणः, किमुत तत् साध्या प्रेमलक्षणा भक्तिरिति पूर्ववदेव प्राप्तम् । एवमेतद् विपर्य्ययो न्यूनेऽधिके वाधिकारे प्रवेशो दोषः । न्यूने पूर्व हानेः, अधिके परासिद्धेश्चेत्यर्थः ॥"

निज निज अधिकार में निश्चल भाव से अवस्थान करना ही गुण है । अधिकार विरुद्ध आचरण ही दोष है ।

श्रीभगवान् कहे थे ॥१७५॥

१७६ । जब तक भगवत् साम्मुख्य रूप ज्ञान वा भक्ति का उदय नहीं होता है, तब तक ही साधक को परतत्त्व साम्मुख्य के द्वारभूत काम्य कर्मानुष्ठान करना चाहिये, अर्थात् ज्ञान भक्ति अधिकार में प्रविष्ट होने के पूर्व पर्य्यन्त ही साधक काम्य कर्म करने में अधिकारी है । ज्ञान एवं भक्ति का उदय होने से स्वयं ही काम्य कर्म में तुच्छ बुद्धि हो जाती है, कारण, निष्काम भाव से श्रीभगवान् में अर्पित कर्म, ज्ञान एवं भक्ति में प्रवेश का द्वारस्वरूप है । साक्षात् साम्मुख्य के विषय में परतत्त्व का निर्विशेष साम्मुख्य ज्ञान, एक प्रकार है, और सविशेष परतत्त्व का साम्मुख्य भगवत्त्व एवं परमात्मत्व रूप में होता है, अर्थात् भगवत् लक्षण एवं परमात्म लक्षण भेद से परतत्त्व का मुख्य आविर्भाव दो प्रकार हैं । भक्ति के द्वारा सविशेष परतत्त्व का साम्मुख्य होता है, सविशेष परतत्त्व की मुख्य साम्मुख्य रूप भक्ति भी भगवन्निष्ठत्व एवं परमात्म निष्ठत्व भेद से द्विविध हैं । ब्रह्म, परमात्म एवं भगवद् भेद से परतत्त्व के त्रिविध आविर्भाव का संवाद श्रीभगवद् गीता के ८।३ में सुस्पष्ट रूप में है ।

"अक्षरं परमं ब्रह्म स्वभावोऽध्यात्म उच्यते ।

टीका—"न क्षरतीत्यक्षरं, नित्यं यत् परमं तद् ब्रह्म, एतद्वैतदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्तीति श्रुतेः । स्वभावः समात्मनां देहाध्यासवशाद् भावयति जनयति इति स्वभावो जीवः, यद्वास्वं भावयति परमात्मानं प्रापयति इति । स्वभावः शुद्ध जीवः, अध्यात्ममुच्यते । अध्यात्म शब्द वाच्य इत्यर्थः ॥"

अक्षर तत्त्व अर्थात् नित्य विनाश रहित एवं अवस्थान्तर शून्य तत्त्व ही पर ब्रह्म है । यहाँ अक्षर शब्द से ब्रह्म को कहा गया है । उस ब्रह्म का साम्मुख्य रूप में ज्ञानोपासना की कथा भी कही गई है । (गी० ८।११)—

"यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।

परमात्मानमपि (गी०८।४)-"पुरुषश्चाधिदैवतम्" इति, "अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृताम्बर' इति च, विराड्‌व्यष्टिरूपाधिष्ठानद्वयभेदेन भिन्नप्रायमुक्त्वा भक्तिरीतिद्वयी तयोरेकप्राया दर्शिता। तत्र (गी० ८।८ "अभ्यासयोगयुक्तेन" इत्यादिनैका, (गी० ८।९) "कविं पुराण-मनुशासितारम्" इत्यादिनान्या। तथा मच्छब्दोक्तश्रीकृष्णाख्य भगवद्भक्तिप्रकारश्चायम् (गी० ८।१४) —

यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्तेवेदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ।।"

टीका — ननु भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य इत्येतावन्मात्रोक्त्या योगेन ज्ञायते। तस्मात् तत्र योगे प्रकारः कः, किं जप्यं किं वा ध्येयं किंवा प्राप्यं — इत्यपि सङ्क्षेपेण ब्रूहीत्य पेक्षायामाह — यदितित्रिभिः। यदेवाक्षरं ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म वाचकं वेदज्ञा वदन्ति यदेव ओमित्येवाक्षरवाच्यं ब्रह्म यतयो विशन्ति। तत् पदं पद्यते गम्यते इति पदं प्राप्यं सम्यक्तया गृह्यते अनेनेति संग्रह स्तदुप यस्तेन सह प्रवक्ष्ये श्रृणु ।।

वेदवित् पण्डित गण जिस को ब्रह्म कहते हैं, वीतराग यतिगण जिस में प्रविष्ट होते हैं, जिस को प्राप्त करने के निमित्त ब्रह्मचारी वृन्द ब्रह्मचर्याचरण करते हैं, उस प्राप्य वस्तु का वर्णन उपाय के सहित करता हूँ। इस श्लोक से आरम्भकर ब्रह्म का उल्लेख किया गया है। उस प्रकार परमात्म तत्त्व का संवाद गी० ८।४ "पुरुषश्चाधिदैवतम्" एवं "अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृताम्बर"

के द्वारा विराट् एवं व्यष्टिरूप अधिष्ठान भेद से भिन्न रूप में द्विविध उल्लेख करके, अर्थात् विराट् रूप में पुरुष परमात्मा को अधिदैवत को कहकर एवं व्यष्टि रूप में अधिष्ठान रूप में अधियज्ञ को कहकर द्विविध परमात्म रूप का निर्देश किया गया है। उक्त द्विविध परमात्मस्वरूप की उपासना रूपा भक्ति की रीति दो प्रकार होने पर भी एक रूप में वर्णन किया गया है। उस के मध्य में गी० ८।८ में उक्त है—

"अभ्यासयोग युक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ।।"

हे अर्ज्जुन! अभ्यास योग से अनन्यगामी चित्त के द्वारा अलौकिक परमपुरुष की चिन्ता निरन्तर करते करते उन परम पुरुष को प्राप्त करते हैं। परमात्मस्वरूप प्राप्ति हेतु उपासना रूपाभक्ति का यह एक प्रकार है, गीता ८।९ में वर्णित है— "कविं पुराणमनुशासितारम् "

इश श्लोक में व्यष्टि अन्तर्यामी पुरुषाख्य परमात्म स्वरूप की उपासनारूपा भक्ति का द्वितीय प्रकार प्रदर्शित हुआ है। यहाँ ज्ञातव्य यह है कि—एक ही परमात्मस्वरूप की अभिव्यक्ति, अवस्था भेद से त्रिविध होती हैं। एक, मायान्तर्यामी—महत्तत्त्व— स्रष्टा,, इनका अपर नाम— कारणार्णव शायी महाविष्णु है।

द्वितीय—समष्टि अन्तर्यामी— इनका अपर नाम गर्भोदशायी समष्टि जीवरूप ब्रह्माण्डान्तर्यामी है।

तृतीय व्यष्टि जीवान्तर्यामी है, इनका अपरनाम, क्षीरोदशायी श्रीविष्णु है, तन्मध्य में समष्टि जीवान्तर्यामी परमात्मरूप की उपासना रूप भक्ति का प्रकार भेद "अभ्यास योग युक्तेन" श्लोक में वर्णित है। द्वितीय,— व्यष्टि जीवान्तर्यामी पुरुष की उपासना रूपाभक्ति का भेद "कविं पुराणमनुशासितारं" श्लोक में वर्णित है। श्रीविष्णु के पुरुषाख्य रूपमय का वृत्तान्त श्रीविष्णु पुराण में इस प्रकार है—

"विष्णोस्तु त्रीणिरूपाणि पुरुषाख्यान्यतोविदुः।
एकन्तु महतः स्रष्टृ द्वितीयं त्वण्डसंस्थितं।
तृतीयं सर्वभूतस्थं तानि ज्ञात्वा विमुच्यते ।।"

"अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ।।"५०८।। इति ।

तदेतत् साम्मुख्यत्रयं श्रीकपिलदेवेनाप्युक्तम् (भा० ३।३२।२६) –

"ज्ञानमात्रं परं ब्रह्म परमात्मेश्वरः पुमान् ।
दृश्यादिभिः पृथग्भावैर्भगवानेक ईयते ।।"५०९।। इति ।

दृशिर्ज्ञानम् । पृथक् परस्परमन्यादृशो भावो भावना येषु तथाविधैर्ज्ञानादिभिरेक एव परिपूर्ण-स्वरूपगुणः परब्रह्मेयते परमात्मेयते भगवांश्चेयते । तत्र ज्ञानेन परब्रह्मतया ज्ञायते,

---

श्रीविष्णु के पुरुषाख्य रूपत्रय का वृत्तान्त सब लोक जानते हैं । प्रथम—महत् स्रष्टा प्रथम पुरुष महाविष्णु हैं । प्रति ब्रह्माण्ड में अवस्थित अर्थात् प्रति ब्रह्माण्डान्तर्यामी गर्भोदशायी द्वितीय पुरुष हैं । सर्व जीवान्तर्य्यामी क्षीरोदशायी श्रीविष्णु तृतीय पुरुष हैं । इन तीन पुरुषों का तत्त्व को जो जानते हैं । वे माया बन्धन से मुक्त हो जाते हैं ।

उक्त पुरुष द्वय की उपासना रूपा भक्ति का वृत्तान्त जिस प्रकार गीता में है । उस प्रकार उसी प्रकरण में "अधियज्ञोऽहमेवात्र" श्लोकादि के द्वारा श्रीकृष्णाख्य भगवान् की उपासना हेतु भक्ति का प्रकार भी निम्नोक्त रीति से लिखित है, (गी० ८।१४)

"अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ।।"५०८।।

टीका—तदेवं आर्त्तइत्यादिना कर्म मिश्रां जरामरण मोक्षाय इत्यनेनापि कर्ममिश्रां कविं पुराण-मित्यादिभिः, योगमिश्राञ्च सपरिकरां प्रधानीभूतां भक्तिमुक्त्वा सर्व श्रेष्ठां निर्गुणां केवलां भक्तिमाह-अनन्य चेता इति । न विद्यते अन्यस्मिन् कर्मणि ज्ञाने योगे वा अनुष्ठेयत्वेन तथा देवतान्तरेव आराध्यत्वेन तथा स्वर्गापवर्गादावपि प्राप्यत्वेन चेतो यस्य । सततं सदेति, काल देश पात्रशुद्ध्याद्यपक्षेतयैव नित्यशः प्रतिदिन मेव यो मां स्मरति तस्य तेन भक्तेनाहं सुलभः, सुखेन लभ्यः । योग ज्ञानाभ्यासादि दुःख मिश्रणाभाव्यादिति-भ.वः । नित्ययुक्तस्य नित्यमद्‌युंगाकाङ्क्षिणः, आशंसायां भूतवच्चेति, भाविन्यपि योगे आशसितेक्त प्रत्ययः । योगिनो भक्ति योगवतः । यद्वा योग सम्बन्धः दास्य सख्यादि तद्वतः ।

जो अनन्य चेता होकर अर्थात् मुझ को छोड़ कर अन्यत्र सङ्कल्प न रखकर नित्य मेरा स्मरण करता रहता है,हे अर्जुन ! मैं उस नित्य अभियुक्तमनाः भक्ति साधक योगि पुरुष के पक्ष में अति सुख लभ्य हूँ । इस प्रकार भक्ति योग का वर्णन भगवान् श्रीकृष्ण को लक्ष्य करके ही किया गया है । ऐसा होने पर पूर्व वर्णित ब्रह्म, परमात्मा, एवं भगवान् भेद से तीन प्रकार परतत्त्व आविर्भाव के साम्मुख्य का विवरण श्रीमद् भागवत् के तृतीय स्कन्ध में भगवान्, कपिलदेव ने कहा है । (भा० ३।३२।२६)

"ज्ञानमात्रं परं ब्रह्म परमात्मेश्वरः पुमान् ।
दृश्यादिभिः पृथग्भावैर्भगवानेक ईयते ।।"५०९।।

टीका—'समेष्वर्थेष्वित्युक्तं, तदेव साम्यं दर्शयति । ज्ञानमात्रमेव परं ब्रह्मादि शब्दैः प्रसिद्धं, दृश्यादिभिः दृश्य द्रष्टृ करण रूपेण, पृथक् प्रतीयते, ज्ञानमात्रत्वेन समेष्वित्यर्थः ।।"

भगवान् श्रीकपिल देवने कहा, मातः ! एक ही परिपूर्ण स्वरूप एवं परिपूर्ण गुण भगवान् । ज्ञान,

भक्तिविशेषेण परमात्मतया, पूर्णया भक्त्या भगवत्तयेति ज्ञेयम् । परब्रह्मणः स्वरूपलक्षणं ज्ञानमात्रमिति परमात्मनः ईश्वरः पुमानिति भगवतो भगवानित्येव विवृतञ्चैतत् साम्मुख्य त्रयं भगवत्-परमात्मसन्दर्भयोः—ब्रह्मणः (भा० १०।१४।६) "अथापि भूमन्" इत्यादिना, परमात्मनः

भक्ति विशेष एवं पूर्णा भक्ति योगरूप उपासना भेद से पर ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवद्रूप में ज्ञानी, भक्ति योगी, एवं विशुद्ध भक्ति साधक के निकट प्रकाशित होते हैं। उस पर ब्रह्म का स्वरूप लक्षण, ज्ञानमात्र है, अर्थात् चिन्मात्र सत्ता स्वरूप है। जिस में शक्ति एवं शक्ति वैचित्री की अभिव्यक्ति नहीं है, इस प्रकार निर्विशेष ज्ञान ही ब्रह्म का स्वरूप है। परमात्मा—ईश्वर एवं पुरुष नाम से अभिहित हैं। भगवान्—षड् विधैश्वर्य्य परिपूर्ण हैं, एक ही अखण्ड ज्ञान स्वरूप भगवान्—स्वरूप एवं गुण से परिपूर्ण होकर भी उपासक के उपासना भेद से शक्ति शक्तिमत्त्व भेद रहित निर्विशेष ब्रह्म रूप में, किञ्चित् अभिव्यक्त विशेष परमात्मा परमेश्वर रूप में एवं परिपूर्ण अभिव्यक्त विशेष भगवान् रूप में प्रकाशित होते हैं। वस्तु में शक्ति एवं वैचित्री विद्यमान होने पर भी ग्रहण करने की सामर्थ्य न होने से वस्तु की सत्त्वा ही गृहीत होती है, ग्रहण सामर्थ्य होने पर परिपूर्ण भगवत्तत्त्व का साक्षात्कार होता है। ब्रह्म, परमात्मा, भगवान्—यह त्रिविध आविर्भाव का एवं उक्त त्रिविध आविर्भाव के साम्मुख्य रूप ज्ञान, भक्ति विशेष, एवं पूर्णभक्ति रूप उपासनात्रय का विचार भगवत् एवं परमात्मसन्दर्भ में विस्तृत रूपसे किया गया है। ब्रह्म स्वरूपाविर्भाव का विवरण भा० १०।१४।६ में इस प्रकार है—

"तथापि भूमन् महिमागुणस्यते विबोद्धुमर्हत्यमलान्तरात्मभिः ।
अविक्रियात् स्वानुभवादरूपतोह्यनन्यबोध्यात्मतया न चान्यथा ।"

टीका— एवं तावत् सगुणनिर्गुणयोरुभयोरपि ज्ञानं दुर्घटमिति त्वत् कथा श्रवणादिनैव त्वत् प्राप्ति र्नान्यथेत्युक्तम् । इदानीं यद्यप्युभयोरविशेषेण दुर्ज्ञेयत्वमुक्तं तथापि गुणातीतस्य ज्ञानं कथञ्चिद् भवेत् न तु सगुणस्य, तव अचिन्तानन्त गुणत्वादिति श्लोक द्वयेन स्तौति तथापीति ।

हे भूमन् ! अपरिच्छिन्न गुणस्य ते महिमा अमलैरन्तरात्मभिः प्रत्याहृतेन्द्रियैर्विबोद्धुं बोधगोचरी-भवितुम् अर्हति योग्योभवति। अथवा, विबोद्धु ज्ञातुमर्हति, अह्यते शक्यते इत्यर्थः। यद्वा महिमेति, महिमान कश्चिद्बोद्धुमर्हतीत्यर्थ.। कथम् ? स्वानुभवात् आत्माकारान्तः करण साक्षात्कारात् । नन्वन्तः करण मपि सविकारमेव विषयी करोतीति कथमात्माकारता तस्येत्यत आह अविक्रियादिति । विक्रिया विशेषाकार स्वद्रहितात् विशेष परित्याग एवात्माकारतेत्यर्थः । नन्वन्तः करण साक्षात् कार विषयत्वे अनात्मत्वप्रसङ्गः स्यादत आह—अरूपत इति । रूपं विषयः, अविषयात् वृत्ति विषयत्वमेवात्मनो न फल-विषयत्वम् । अतो नायं दोष इति भावः। कथं तर्हि स्फूर्त्तिः, अनन्य बोध्यात्मतया स्व प्रकाशत्वेनैव नत्वन्यथा इदं तदिति, विषयत्वेनेत्यर्थः । अथवा, मा सर्वतोऽन्तरङ्गा लक्ष्मीरपि अगुणस्य ते महि महिमानम् अमलै-रन्तर्वृत्तिभिरिन्द्रियैरपि तया यादृग् वस्तुतस्तेन रूपेण विबोद्धुं किमर्हति नार्हत्येवेत्यर्थः। कथं तर्हि अर्हति तदाह—स्वानुभवादित्यादिना । उक्तार्थमेवैतत् ॥

ब्रह्मा ने कहा—हे प्रभो ! आप के सगुणनिर्गुण उभय स्वरूप का ही अनुभव दुर्घट होने पर भी आप के कथा श्रवणादि द्वारा आप की उपलब्ध हो सकती है, अन्य किसी प्रकार से नहीं उस में भी यद्यपि सगुण एवं निर्गुण-उभय स्वरूप का अनुभव ही दुर्घट है, तथापि आप का निर्गुण स्वरूप का ज्ञान कथञ्चित हो सकता है। किन्तु अचिन्त्य अनन्त गुण गण मण्डित होने के कारण आप का सगुण स्वरूप का अनुभव होना सर्वथा असम्भव ही है । हे भूमन् ! आप का निर्गुण ब्रह्म स्वरूप का बोध--प्रत्याहृतेन्द्रिय

(भा० २।२।८) "केचित् स्वदेहान्त-हृदयावकाशे, प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम्" इत्यादिना, भगवतः (भा० १।७।४) 'भक्तियोगेन मनसि' इत्यादिना च। तथा च यद्यपि साम्मुख्यत्वेनाविशिष्टं

साधक के पक्ष में सुलभ है। कैसे बोध हो सकता है, उस को कहते हैं– स्वानुभवात्—आत्माकार से आकारित अन्तः करण साक्षात् कार से उक्त बोध होता है। प्रश्न हो सकता कि—अन्तः करण सविकार वस्तु को ग्रहण करती है, अतः कैसे अन्तः करण का आत्माकाराकारित होना सम्भव होगा ? उत्तर में कहते हैं—अविक्रियात्—अर्थात् अन्तः करण की विकार शून्यता ही आत्मा कारता है। इस में जिज्ञासा हो सकती कि—निर्विषय आत्मा कैसे अन्तः करण का विषय होगा ? यदि वह अन्तः करण का विषय होता तो, आत्मा का अनात्मत्व अर्थात् जड़त्व प्रसङ्ग होगा। कारण, जो जो इन्द्रिय ग्राह्य है, वही जड़ है, इस प्रकार संशय निरसन निबन्धन कहते हैं– "अरूपतः" अर्थात् आत्मा कभी भी अन्तः करण का विषय नहीं होता है। कारण, वृत्ति विषयत्वमेवात्मनो न फल विषयत्वम्" अर्थात् आत्म घट पटादि के समान इन्द्रिय विषय नहीं होता है, आत्म वृत्ति के द्वारा ही आत्मा प्रकाशित होता है। जिस प्रकार अग्नि, सूर्य्य, में उभय धर्म विद्यमान हैं। एक—अन्य निरपेक्ष रूप से स्वयं प्रकाश सामर्थ्य, द्वितीय– अन्य को प्रकाशित करने की सामर्थ्य। उस प्रकार स्व प्रकाश आत्मा भी अन्तः करणादि इन्द्रिय की अपेक्षा शून्य होकर स्वयं स्व प्रकाश स्वभाव द्वारा विषयाकार अन्तः करण में स्वयं प्रकाशित होता है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि—अन्तः करण में आत्मा की स्फूर्त्ति कैसे सम्भव होगी ? उत्तर में कहते हैं—"अनन्य-बोध्यात्मतया" अर्थात् अणु चैतन्य स्वरूप जीवात्मा की स्फूर्त्ति होने से कैसे विभु चैतन्य ब्रह्म स्वरूप की उपलब्धि हो सकती है ? उत्तर में कहते हैं—

यद्यपि ब्रह्म स्वरूप विभु चैतन्य है, और जीव स्वरूप--अणु चैतन्य है, तथापि चैतन्यांश में उभय साम्यता हेतु अभेद रूप में जीव चैतन्य एवं विभु चैतन्य की स्फूर्त्ति होती है। यहाँ ज्ञातव्य यह है कि—जीव चैतन्य एवं विभु चैतन्य की अभेद रूप में स्फूर्त्ति लाभ की कामना से साधन में प्रवृत्त होने पर भक्ति योग द्वारा आराधित श्रीभगवत् प्रसाद से ही अणु चैतन्य जीव स्वरूप के सहित विभु चैतन्य ब्रह्म स्वरूप की अभेद रूप में उस अवस्था में स्फूर्त्ति होती है। सारकथा यह है कि—अभेद स्फूर्त्ति का मूल निदान श्रीभगवत् कृपा है। कारण, अनुग्राहक तत्त्व श्रीभगवत्तत्त्व है, एवं अनुगृहीत तत्त्व ब्रह्म तत्त्व है। श्रीमत्स्य देव का कथन भा० ८।२४।३८ में सुस्पष्ट है।

परमात्म तत्त्व की अभिव्यक्ति का प्रकार भा० २।२।८ में श्रीशुकदेव के कथन में सुव्यक्त है।

"केचित् स्वदेहान्त हृदयावकाशे, प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम्।
चतुर्भुजं कञ्जरथाङ्ग शङ्खगदाधरं धारणया स्मरन्ति॥"

हे राजन् ! कोई कोई सौभाग्यवान् व्यक्ति, निज देह के मध्य में जो हृदय है, उस में जो आकाश अवकाश है,उस अवकाश में अङ्गुष्ठ एवं तर्जनी को विस्तार करने से जो परिमाण होता है उस परिमाण में अन्तर्यामी पुरुष निवास करते हैं। यह पुरुष चतुर्भुज हैं, एवं हस्त चतुष्टय में पद्म, चक्र, शङ्ख, गदा धृत हैं, इस रीति से उन पुरुष का स्मरण करते हैं। भगवत् स्वरूप का आविर्भाव प्रकार का कथन भा० १।७।४-५ में श्रीसूत ने किया है—

"भक्ति योगेन मनसि सम्यक् प्रणिहितेऽमले।
अपश्यत् पुरुषं पूर्णं मायाञ्च तदपाश्रयाम्।
यया सम्मोहित जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकम्
परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत् कृतञ्चाभिपद्यते॥"

ज्ञानादित्रयमपि तद्वैमुख्यप्रतियोगि भवेत्, तथापि (भा० १०।१४।५) "श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो, क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये । तेषाम्" इत्यादौ भक्तिं विना केवलं ज्ञानस्याकिञ्चित्करत्वात् अत्रापि च (भा० १२।२०।३१) "तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य" इत्यादौ भक्तेस्तन्निरपेक्षत्वात्, (भा० ११।२०।३२) "यत् कर्मभिर्यत्तपसा" इत्यादौ आनुषङ्गिक-सर्व-

---

टीका – प्रणिहिते निश्चले । अत्र हेतुः, भक्तियोगेन अमले । पूर्वं प्रथमं पुरुषं ईश्वरं अपश्यत् । पूर्णमिति वा पाठ.' तदुपाश्रयात् ईश्वराश्रयां तदधीनां मायाञ्चापश्यत् । (४) ईशमाया कृताञ्च जीवानां संसृतिमपश्यदित्याह । यया मायया सम्मोहितः, स्वरूपावरणेन विक्षिप्तः, परोऽपि गुणत्रयाद्व्यतिरिक्तोऽपि यत् कृतं त्रिगुणत्वाभिमानकृतम् अनर्थं कर्त्तृत्वादिकञ्च प्राप्नोति ।।५।।

हे शौनक ! महर्षि श्रीकृष्ण द्वैपायन भक्ति योग द्वारा समाहित निर्म्मलचित्त से परमपुरुष श्रीकृष्ण का एवं उनके पृष्ठ देशवर्त्तिनी अपकृष्ट आश्रया माया का दर्शन किये थे, जिस माया द्वारा विमोहित होकर आत्मा (जीव) स्वरूप में मायातीत चैतन्य होकर भी अपने को त्रिगुणात्मक अभिमान करता है, एवं तज्जन्य विविध अनर्थ भोग भी करता रहता है । यहाँ प्रेम भक्ति विभावित हृदय में जो श्रीभगवान् का आविर्भाव होता है, उसका दृष्टान्त प्रस्तुत हुआ है । यहाँपर यद्यपि ज्ञान, कर्म्म, एवं भक्ति को परतत्त्व साम्मुख्य के प्रति अविशेष हेतु रूप में कहा गया है, अर्थात् कर्म ज्ञान भक्ति यह त्रिविध उपासना ही परतत्त्व वैमुख्य के प्रतियोगी हैं । अतः भगवद् विमुखता का विरुद्ध रूप में उक्त उपासनात्रय को प्रस्तुत किया गया है । तथापि भा० १०।१४।५ में श्रीब्रह्मा श्रीकृष्ण को, कहे थे ।

"श्रेयः सृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो, क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये ।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद् यथा स्थूल तुषावधातिनाम् ।।"

हे प्रभो ! जो निखिल अभ्युदय एवं मोक्षरूप मङ्गल समूह की जननी भक्ति का अनादर तुच्छ बुद्धि से करके केवल ज्ञानलाभ हेतु आसन, यम, नियम, प्रत्याहार साधनों में यत्नपरायण होकर क्लेश करते रहते हैं, उनके यह सब क्लेश केवल क्लेश ही होते हैं । किन्तु वस्तु का अनुभव कराने में सक्षम नहीं होते हैं । जिस प्रकार बलवान् व्यक्ति, स्वल्प परिमाण धान्य को देखकर भूरि भूरि तूष का अवघातन करता है, उस से तण्डुल लाभ तो होता ही नहीं किन्तु हस्त वेदना ही सार होता है, उस प्रकार तुच्छ बुद्धि से भक्ति का अनादर करके केवल ज्ञान लाभ हेतु प्रयत्न करने से फल लाभ के परिवर्त्त में क्लेश ही सार होता है । इस श्लोक से भक्ति के विना ज्ञान का अकिञ्चित् करत्व प्रदर्शित हुआ है

भा० ११।२०।३१ में वर्णित श्लोक के अनुसार श्रीभगवद् भक्ति का ज्ञान वैराग्य की अपेक्षा शून्यत्व प्रदर्शित हुआ है—

"तस्माद् मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः ।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह ।।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र उद्धव को कहे थे—हे उद्धव ! मद् गतचित्त मुझ में भक्ति युक्त योगी साधक के पक्ष में ज्ञान वा वैराग्य प्रायशः मङ्गलकर नहीं होता है । भा० ११।२०।३२ में भी उक्त है—

"यत् कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञान वैराग्यतश्च यत्,
योगेन दान धर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि ।।'
सर्वं, मद् भक्तियोगेन मद् भक्ति लभतेऽञ्जसा ।
स्वर्गापवर्गं मद्धामकथञ्चिद्यदि वाञ्छति ।।"

फलत्वाच्च ज्ञानमपि न्यक्कृतम् । ततोऽवशिष्टायां सविशेषोपासनारूपायां भक्तौ च श्रीविष्णु-रूपमबहुमन्यमानाः केचिन्निराकारेश्वरस्यान्याकारेश्वरस्य चोपासनां यां मन्यन्ते, सापि न्यक्कृतास्ति । यतो हिरण्यकशिपोरपि (भा० ७।२।२२) "नित्य आत्माव्ययः शुद्धः" इत्यादि तद्वाक्येन (भा० ७।२।३६) "यदृच्छयेशः सृजतीदमव्ययः" इत्यादि-तदुदाहृतेतिहास-वाक्येन तेन कृत ब्रह्मस्तवेन च ब्रह्मज्ञानं निराकारेश्वरज्ञानमन्याकारेश्वरज्ञानञ्च तस्यास्तीति वर्ण्यते ।

हे उद्धव ! निखिल कर्म तपस्या, ज्ञान, वैराग्य, अष्टाङ्ग योग, दानधर्म एवं तीर्थ यात्रादि व्रताचरण से जो फल लाभ होता है, मेरा भक्त, मदीय भक्ति योग के प्रभाव से उक्त समस्त फल को प्राप्त करता है, अर्थात् चित्त शुद्धि प्रभृति को अनायास प्राप्त करता है । यहाँतक कि—भक्ति के आनुकूल्य से स्वर्ग, मोक्ष, वैकुण्ठादि धाम वास की इच्छा होने पर प्राप्त कर सकता है । इस से स्वरूपावबोधरूप ज्ञान का भी अनादर प्रदर्शित हुआ है । अनन्तर अवशिष्ट सविशेष परमात्म स्वरूप की उपासना रूपा भक्ति में भी दृष्ट होता है कि – कतिपय व्यक्ति, श्रीविष्णु के बहु रूप को स्वीकार न करके निराकार ईश्वर की उपासना को अथवा अन्याकार ईश्वर की उपासना को बहु मान प्रदान करते हैं, इस प्रकार मत भी उपरोक्त प्रमाण से अनादृत हुआ है । अर्थात् श्रीविष्णु रूपका सच्चिदानन्द घनत्व एवं विभुत्व को स्वीकार न करके अथवा अन्यविध आकार परमेश्वर की अर्थात् ब्रह्मा प्रभृति की उपासना को ही मानते हैं, वह भी श्रीमद् भागवतीय सिद्धान्त के द्वारा निराकृत हुआ है । भा० ७।२।२२ में हिरण्य कशिपु असुर होकर भी—

"नित्य आत्माव्ययः शुद्धः सर्वगः सर्ववित् परः ।
धत्तेऽसावात्मनोलिङ्गं मायया विसृजन् गुणान् ॥"

ईश्वर को नित्य, आत्मा, अव्यय, शुद्ध स्वरूप कहा है । भा० ७।२।३९ में इतिहास कथन प्रसङ्ग में हिरण्य कशिपु ने कहा भी है —

"य इच्छयेश सृजतीदमव्ययो य एव रक्षत्यवलुम्पते च यः ।
तस्याबलाः क्रीड़नमाहुरीशितुश्चराचरं निग्रह संग्रहे प्रभुः ॥"

परमेश्वर ही सर्वमय कर्त्ता हैं । अनन्तर हिरण्य कशिपु ने भा० ७।३।२६–३४—पर्य्यन्त श्लोकों के द्वारा जब ब्रह्मा का स्तव ईश्वर रूप में किया था, उस में भी ब्रह्मज्ञान, निराकार, ईश्वर ज्ञान एवं अन्यविध ईश्वर ज्ञान प्रकाशित हुआ है । अथच एतादृश ज्ञान सम्पन्न होकर भी, एवं उपासना सामर्थ्य युक्त होकर भी श्रीविष्णु के प्रति हिरण्य कशिपु की साधारण देवता दृष्टि थी, अतएव उक्त ज्ञान एवं उपासना को शास्त्र बारम्बार निन्दा करते हैं । तात्पर्य्य यह है कि देवतान्तर का उपासक सर्व सद् गुण मण्डित होने पर भी यदि श्रीविष्णु में परमाराध्य बुद्धि स्थापन नहीं करता है । तो वह असुर संज्ञा से अभिहित होता है । इस से श्रीविष्णु का ही परमोपास्यत्व श्रीविष्णु भक्ति का सर्व साधन श्रेष्ठत्व प्रतिपादित हुआ है ।

एवं श्रीमद् भागवत में अहंग्रह उपासना भी धिक्कृत हुई है । अर्थात् "मैं ही वही परमेश्वर हूँ" इस बुद्धि से जीव के सहित ईश्वर का अभेद अभिमान से जो उपासना होती है, वह भी श्रीमद् भागवत में तिरस्कृत हुई है । काशीराज पौण्ड्रक ने जब श्रीकृष्ण को संवाद भेजा था कि—"मैं ही वासुदेव हूँ । तुम अपना वासुदेव अभिमान त्याग दो" यादवगण दूत से यह वाक्य सुनकर बहुल उपहास किये थे । यहाँपर भी जो लोक अहंग्रह उपासना में आग्रहशील हैं, विशुद्ध भक्ति निष्ठ व्यक्ति गण उन को उपहास करते हैं । कारण, अहंग्रह उपासना का फल स्वरूप मोक्ष को विशुद्ध भक्त गण हेय दृष्टि से देखते हैं । श्रीमद् भागवत

श्रीविष्णौ देवतासामान्यदृष्टेर्निन्द्यते च स इति। तथान्यत्राहंग्रहोपासना च न्यक्कृता, पौण्ड्रकवासुदेव दौ यदुभिरिव शुद्धभक्तैरुपहास्यत्वात् (भा० ३।२९।१३) "सालोक्य-सार्ष्टि-सारूप्य-" इत्यादिषु तत्फलस्य हेयतया निर्द्देशात्, तदुक्तं श्रीहनुमता—"को मूढ़ो दासतां प्राप्य प्राभवं पदमिच्छति" इति। तदेतत् सर्व्वमभिप्रेत्य निष्किञ्चनां भक्तिमेव तादृशभक्त-प्रशंसाद्वारेण सर्व्वोद्र्ध्वमुपदिशति (भा० ११।२०।३४)—

(१७६) "न किञ्चित् साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम्॥"५१०॥

टीका च—"धीरा धीमन्तः, यतो ममैकान्तिनो मय्येव प्रीतियुक्ताः, अतो मया दत्तमपि न गृह्णन्ति, किं पुनर्वक्तव्यं न वाञ्छन्तीत्यर्थः। अपुनर्भवमात्यन्तिकमपि कैवल्यम्" इत्येषा। ईदृशानामेकान्तिनामेव परममहिमा गारुड़े—

"ब्राह्मणानां सहस्रेभ्यः सत्रयाजी विशिष्यते। सत्रयाजिसहस्रेभ्यः सर्ववेदान्तपारगः॥५११॥
सर्व्ववेदान्तवित्कोट्या विष्णुभक्तो विशिष्यते। वैष्णवानां सहस्रेभ्य एकान्त्येको विशिष्यते॥"५१२॥

के ३।२९।१३ में उक्त–सालोक्य, सार्ष्टि, सारूप्य, सामीप्य, एवं एकत्व लक्षण पञ्चविधा मुक्ति को भक्तगण आदर प्रदान नहीं करते हैं, इस का सुव्यक्त उल्लेख भी श्रीमद् भागवत में है। श्रीहनूमान् भी कहे हैं—

"को मूढ़दासतां प्राप्यप्राभवंपदमिच्छति।"

ऐसा कौन मूढ़ व्यक्ति है, जो दासत्व प्राप्त कर भी प्रभुत्व अर्थात् ब्रह्मत्व लाभेच्छु है? इस अभिप्राय से ही निष्काम भक्त की प्रशंसा के द्वारा निष्किञ्चन भक्ति का ही सर्व श्रेष्ठ रूप में उपदेश प्रदान किया गया है। भा० ११।२०।३४

(१७६) "न किञ्चित् साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम्॥"५१०॥

श्रीकृष्ण ने कहा–मेरे भक्त वृन्द अत्यन्त धीर हैं, अर्थात् धीमान् हैं। कारण, वे सब एकान्ती हैं, अर्थात् मुझ में अतीव प्रीति युक्त हैं। अतएव मैं उनसब को प्रदान करने से भी कैवल्य—अपुनर्भव-मोक्ष-सुख ग्रहण नहीं करते हैं। वे सब उसकी वाञ्छा ही नहीं करते हैं।

एतादृश भक्तवृन्द की परममहिमा का वर्णन गरुड़ पुराण में इस प्रकार है--

"ब्राह्मणानां सहस्रेभ्यः सत्रयाजी विशिष्यते।
सत्रयाजिसहस्रेभ्यः सर्ववेदान्तपारगः॥५११॥

सर्व्ववेदान्तवित्कोट्या विष्णुभक्तो विशिष्यते।
वैष्णवानां सहस्रेभ्य एकान्त्येको विशिष्यते॥"५१२॥

सहस्र सहस्र ब्राह्मण वृन्द से सत्रयागकारी एक ब्राह्मण श्रेष्ठ है, सत्रयाजी सहस्र ब्राह्मण से भी एक वेदान्त पारग ब्राह्मण श्रेष्ठ है। सर्व वेदान्त विज्ञ कोटि ब्राह्मण से भी एक विष्णु भक्त श्रेष्ठ है, वैष्णव सहस्र से भी एक एकान्ती भक्त श्रेष्ठ है॥१७६॥

१७७। कारण, यह भक्ति, स्वरूपानन्द से भी परमानन्द स्वरूपा है, अतएव स्वभावतः ही परमानन्द

॥ १७७ । यस्मादेवं सर्व्वानन्दातिक्रमलिङ्गेन परमानन्दस्वरूपासौ भक्तिस्तस्मात् तत्र स्वभावत एव प्रवृत्तिर्गुणस्तथाभूतामपि तन्माधुरीं स्वदोषेणानुभवितुमसमर्थानां तु केवलविधि-निषेध-सम्भवगुण-दोष-दृष्टैयैव प्रवृत्तिरपि पूर्व्वापेक्षया दोष एव । यथोक्तमेतत्पूर्व्वाध्याये (भा० ११।१९।३६) "शमो मन्निष्ठता बुद्धेः" इत्यादौ साक्षाद्भक्तेरपि विधानाविधानयोर्गुण-दोषताम् (भा० ११।१९।४५)–"किं वर्णितेन बहुना" इत्यन्तेन ग्रन्थेन प्रतिपाद्य "गुणदोषदृशिर्दोषो

लक्षणा भक्ति में प्रवृत्त होना ही गुण है, अर्थात् रूप ग्रहण हेतु चक्षु जिस प्रकार, प्रेरणा के विना स्वभावतः ही प्रवृत्त होता है, पिपासु व्यक्ति, आदेश की अपेक्षा न करके जिस प्रकार जल पान में प्रवृत्त होता है, उसी प्रकार एतादृश परमानन्द स्वरूपा भक्तिमें विधि की अपेक्षा न करके स्वाभाविक प्रवृत्ति ही गुण है । किन्तु निज अपराधादि दोष से पूर्वोक्त लक्षणाक्रान्त भक्ति में अनिर्वचनीय माधुरी विद्यमान होने पर भी वात पित्तादि दोष से मिश्री का मिष्टत्व ग्रहण में अक्षमता के समान भक्ति माधुर्य्य ग्रहण में असमर्थ भक्त वृन्द की, केवल विधि निषेध से उत्थित गुण दोष दृष्टि से परमानन्द लक्षणा भक्ति में प्रवृत्ति, भक्ति में स्वाभाविक प्रवृत्त व्यक्ति गण से निकृष्ट है, अर्थात् दोष युक्त है । पिपासा प्रेरित होकर जलपान करने पर जिस प्रकार आस्वादन होता है, अनुरोध से जलपान में प्रवृत्त व्यक्ति का तद्रूप आस्वादन नहीं होता है, एवं जल पान में आवेश उत्पन्न भी नहीं होता है । उस प्रकार भक्ति माधुर्य्य अनुभव करके जो भक्ति में स्वभावतः ही प्रवृत्त होते हैं, भजन करके यह सब जिस प्रकार आनन्दानुभव करते हैं, भक्ति में उन सब का जिस प्रकार आवेश होता है, केवल मात्र श्रीकृष्ण भजन करने से गुण है, न करने से दोष है । इस रीति से जो लोक भक्ति में प्रवृत्त होते हैं, यह सब श्रीकृष्ण भजन में उस प्रकार आस्वादन प्राप्त नहीं करते हैं, न तो उन सब का भजन में आवेश ही होता है । तज्जन्य यह प्रवृत्ति, स्वाभाविक प्रवृत्ति से दोष दुष्ट है । भावार्थ यह है कि—भक्ति-वैधी, रागानुगा भेद से द्विविध हैं, शास्त्र शासन से प्रवृत्त भक्ति को वैधी कहते हैं, और भगवद् भजन में स्वाभाविक रुचि लाभ द्वारा प्रवृत्त को रागानुगा कहते हैं । रागानुगा भक्ति की प्रशंसा सर्वत्र शास्त्र में उद् घोषित है । इस प्रकार रुचि का नाम ही लोभ है । इस प्रकार रुचि उत्पन्न होने का मूल कारण ही है—रुचि मान साधु का सङ्ग । अर्थात् जिस व्यक्ति का उस प्रकार रुचिमान साधु का सङ्ग है, उस में ही श्रीकृष्ण के नाम, रूप, गुण, परिकर, एवं लीला माधुरी श्रवण करके दास्यादि एक तर भाव से भजन करते करते रुचि का उदय होता है । कारण, भा० ११।१९।३६ में श्रीकृष्ण उद्धव को कहे हैं—

'शमो मन्निष्ठता बुद्धे र्दम इन्द्रियसंयमः ।
तितिक्षा दुःख सम्मर्षो जिह्वोपस्थजयोधृतिः ।।"

टीका—मुमुक्षो रुपादेयान् शमादीन् हेयांश्च दुःखादीन् महाजन प्रसिद्धे को विलक्षणानाह—शम इत्यादिना यावत् समाप्ति । एतेनैव तत्तद्विपरीतं अशमादयोऽप्युन्नेयाः । शमो मन्निष्ठताबुद्धे र्न तु शान्तिमात्रम् । दम-इन्द्रियसंयमो न चौरादि दमनम् । तितिक्षा विहित दुःखस्य सम्मर्षः, सहनं न तु भारादेः । जिह्वोपस्थयोर्जयो वेगधारणं धृतिः, न तु अनुद्वेगमात्रम् ॥

सर्व प्रकार से श्रीकृष्ण में मनोवृत्ति परिनिष्ठित होने का नाम ही शम, अर्थात् शान्ति है । इस से सुस्पष्ट हुआ है कि—साक्षात् भक्ति का अनुष्ठान ही गुण है, एवं साक्षाद् भक्ति का अननुष्ठान ही दोष है । भा०-११।१९।४५ प्रकरण शेष करते हुये आपने कहा है—

"किं वर्णितेन बहुना लक्षणं गुण दोषयोः ।
गुण दोष दृशिर्दोषो गुण स्तूभय वर्जितः ।।"

गुणस्तूभयवर्जितः" इति लब्ध-तन्माधुर्य्यानुभवानां तद्विधि--निषेधकृत-गुणदोषौ नस्त एवेत्याह (भा० ११।२०।३६)—

(१७७) "न मय्येकान्तभक्तानां गुणदोषोद्भवा गुणाः ।
साधूनां समचित्तानां बुद्धेः परमुपेयुषाम् ।।"५१३।।

टीका च—"गुणदोषैर्विहित-प्रतिषिद्धैरुद्भवो येषां ते गुणाः पुण्यपापादयः" इत्येषा ।। श्रीभगवान् ।।

१७८ । इयमकिञ्चनाख्या भक्तिरेव जीवानां स्वभावत उचिता । स्वाभाविक-तदाश्रया हि जीवाः (श्वे० ६।९) "स कारणं करणाधिपाधिपः" इति श्रुतेः । अंशत्वेऽपि वहिरङ्गत्व-

---

टीका --उपसंहरति—एत इति । साधु मोक्षोपयोगितया । एतच्चसर्वं गुण दोषयोर्विवेकाय उद्धवेन दृष्टमिति तयोः संक्षेपतो लक्षणमाह । किं बहुना वर्णितेन गुणदोषयोर्लक्षणमेतावदेव । तदाह गुणदोषयो र्दृशिर्दर्शनं दोषः, गुणस्तु तदुभय दर्शनविवर्जितः स्वभाव एवेति ।

इस श्लोक में कहा गया है कि,— जिन्होंने श्रीभगवन्माधुर्य्यानु भव किया है, उन में विधि एवं निषेध से उद्भूत गुण दोष होने की सम्भावना नहीं है, कारण – भा० ११।२०।३६ में कहा है—

(१७७) "न मय्येकान्तभक्तानां गुणदोषोद्भवा गुणाः ।
साधुनां समचित्तानां बुद्धेः परमुपेयुषाम् ।।"५१३।।

टीका—अनेन प्रकारेण । सिद्धानां न गुण दोषा इति विरोध परिहार मुपसंहरति— न मयाति । गुण दोषै विहित प्रतिषिद्धैरुद्भवोयेषां ते गुणा पुण्य पापादयः । साधूनां निरस्त रागादीनामतःसमचित्तानामत एव बुद्धेपरमीश्वरं प्राप्तानाम् ।

अर्थात् जो लोक, मुझ में एकान्त भक्तिमान् हैं, उनके गुण दोष से उद्भूत अर्थात् विधि निषेध से उद्भूत गुण दोष नहीं हैं, उनके गुण—स्वरूप धर्म निष्ठ हैं । यहाँ का तात्पर्य्य यह है कि, जो लोक भजन माधुर्य्य अनुभव करके भजन में प्रवृत्त होते हैं, उनको, प्रेरक रूप में विधि निषेध की आवश्यकता नहीं है, कारण, वे सब रुचि प्रेरित होकर ही समस्त भजनाङ्ग का अनुष्ठान करते रहते हैं । अतएव इस श्लोक की टीका में स्वामिपाद ने कहा है—"गुण दोष शब्द से विहित निषिद्ध आचरण से जिन में पापोद्गम नहीं होता है, अर्थात् पुण्य पापादि कुछ भी नहीं होते हैं, कारण वे सब मुझ श्रीकृष्ण में एकान्त भक्त अर्थात् प्रीति युक्त भक्त हैं । श्रीभगवान् कहे थे—।।१७७।।

१७८। यह अकिञ्चना संज्ञा प्राप्ता भक्ति का स्वभावतः अनुष्ठान करना मानव मात्र का एकान्त कर्त्तव्य है । कारण, स्वाभाविक भक्ति ही जीवकी एकान्त आश्रयणीया है,जीव श्रीभगवान् का नित्य सेवक है, एवं श्रीभगवान् ही जीव का नित्य सेव्य हैं । अतएव नित्य सेवक जीव की नित्य सेव्य भगवत् में भक्ति स्वाभाविकी है । श्वेताश्वतर उपनिषद् में उक्त है—

"स कारणं करणाधिपाधिपः" श्रीभगवान् ही सर्व कारणों के कारण हैं, एवं निखिल करण इन्द्रियादि के अधिपति हैं, जीव का भी आप अधीश्वर अर्थात् परमाराध्य हैं । जीव भगवान् के अंश होने पर भी उस को विभिन्नांश होने के कारण वहिरङ्ग स्वीकार किया गया है, उस में भी सूर्य्य मण्डल के वहिर्देश में अवस्थित सूर्य्य रश्मि के परमाणु के समान जीव सर्वदा ही भगवदाश्रित है । रश्मि परमाणु वृन्द जिस

स्वीकारात् तदाश्रयत्वं सूर्य्यमण्डलवहिरातपपरमाणूनामिव । अतएव पाद्मोत्तरखण्डे प्रणव-व्याख्याने—

"अकारश्चाप्युकारश्च मकारश्च ततः परम् वेदत्रयात्मकं प्रोक्तं प्रणवं ब्रह्मणः पदम् ।।५१४।।
अकारेणोच्यते विष्णुः श्रीरुकारेण चोच्यते । मकारस्तु तयोर्दासः पञ्चविंशः प्रकीर्त्तितः ।।"५१५।।

अन्ते च—"भगवच्छेषरूपोऽसौ मकाराख्यः सचेतनः" इति, तथा—

"अवधारणवाच्येव उकारः कैश्चिदिष्यते । श्रीश्च तत्पक्षपातित्वादकारेणैव चोच्यते ।
भास्करस्य प्रभा यद्वत्तस्य नित्यानपायिनी ।।"५१६।।

अतएव श्रीवैष्णवानां प्रणव एव महावाक्यमिति स्थितम् । तथाष्टाक्षर-व्याख्याने—

प्रकार सूर्य्याश्रय भिन्न स्वतन्त्रसत्ता में अवस्थित हो नहीं सकते हैं, उस प्रकार मूलाश्रयतत्त्व श्रीभगवान् की सत्ता के अधीन सत्तारूप में ही जीव की विद्यमानता है । अतएव पद्म पुराण के उत्तर खण्ड के प्रणव व्याख्यान में लिखित है—

"अकारश्चाप्युकारश्च मकारश्च ततः परम् ।
वेदत्रयात्मकं प्रोक्तं प्रणवं ब्रह्मणः पदम् ।।५१४।।
अकारेणोच्यते विष्णुः श्रीरुकारेण चोच्यते ।
मकारस्तु तयोर्दासः पञ्चविंशः प्रकीर्त्तितः ।।"५१५।।

प्रणव—ब्रह्म का ही अधिष्ठान है, अर्थात् प्रणव को अवलम्बन करके ही ब्रह्म स्वरूप की अभिव्यक्ति होती रहती है । यह प्रणव ही साम, ऋक् यजुः यह तीन वेदों का आत्मा स्वरूप है । प्रणव में अकार, उकार, एवं मकार—अक्षर त्रय हैं, उस के मध्य में अकार का अर्थ श्रीविष्णु हैं, उकार का अर्थ–लक्ष्मी, एवं मकार का अर्थ,—यह श्रीलक्ष्मीनारायण का नित्य सेवक जीव है । यह जीव, भगवान् का अंश एवं अणु चैतन्य स्वरूप है । अन्त में भी उक्त है—

"भगवच्छेषरूपोऽसौ मकाराख्यः सचेतनः" ।

उस प्रकार ही कथित है— "अवधारणवाच्येव उकारःकैश्चिदिष्यते ।
श्रीश्च तत्पक्षपातित्वादकारेणैव चोच्यते ।
भास्करस्य प्रभा यद्वत्तस्य नित्यानपायिनी ।।"५१६।।

कतिपय व्यक्ति—प्रणवस्थ उकार को अवधारण वाची कहते हैं । एवं लक्ष्मी को भी नारायण पक्षपाती हेतु अकार शब्द के द्वारा उल्लेख करते हैं, अर्थात् लक्ष्मी जब श्रीनारायण की स्वरूपशक्ति हैं, तब शक्ति शक्तिमान् में अभेद हेतु अकार शब्द से उल्लिखित श्रीविष्णु अर्थ से ही श्रीलक्ष्मी का भी बोध होता है, स्वतन्त्र रूप से उकार के द्वारा लक्ष्मी की निर्देश करने का प्रयोजन नहीं है । जिस प्रकार अग्नि की दाहिका शक्ति अग्नि से भिन्न होकर अवस्थिता नहीं होती है । उस प्रकार श्रीनारायण की भी स्वरूप शक्ति श्रीलक्ष्मी की स्थिति भिन्न रूप से नहीं होती है । इस अभिप्राय से ही दृष्टान्त उपन्यास हुआ है,

"भास्करस्य प्रभा यद्वत् तस्य नित्यानपायिनी ।

सूर्य्य की ज्योतिः जिस प्रकार सूर्य्य को छोड़ कर स्वतन्त्र रूप से नहीं रहती है, सूर्य्य के सहित ज्योतिः का समवाय सम्बन्ध है । अर्थात् नित्य सम्बन्ध है, उस प्रकार लक्ष्मी श्रीनारायण को छोड़कर स्वतन्त्र रूप से रह नहीं सकती है । अतएव श्रीवैष्णव वृन्द के मत में प्रणव ही महावाक्य है । जिस प्रकार

'श्रीमते विष्णवे तस्मै दास्यं सर्व्वं करोम्यहम् । देशकालाद्यवस्थासु सर्व्वासु कमलापतेः ॥५१७॥
इति स्वरूपसंसिद्धं मुख्यं दास्यमवाप्नुयाम् । एवं विदित्वा मन्त्रार्थं तद्वृत्तिं सम्यगाचरेत् ॥५१८॥
दासभूतमिदं तस्य जगत् स्थावरजङ्गमम् । श्रीमन्नारायणः स्वामी जगतां प्रभुरीश्वरः ॥५१९॥

तदेतदाहुः (भा० १०।८७।२०)—

(१७८) "स्वकृतपुरेष्वमीष्वबहिरन्तरसंवरणं
तव पुरुषं वदन्त्यखिलशक्तिधृतोऽंशकृतम् ।
इति नृगतिं विविच्य कवयो निगमावपनं
भवत उपासतेऽङ्घ्रिमभवं भुवि विश्वसिताः ॥"५२०॥

स्वेन त्वया कृतेषु पुरेषु देहेषु वर्त्तमानं तव पुरुषं जनं तवैवांशरूपेण त्वदीयस्वरूपेण कृतं नित्यसिद्धं वदन्ति । तत्र 'अखिलशक्तिधृतस्तव' इत्युक्त्वा तदखिलशक्तिगणान्तःपाति-

---

प्रणव की व्याख्या हुई है उस प्रकार अष्टाक्षर मन्त्र (ओं नमोनारायणाय) की व्याख्या में भी जीव स्वरूप को भगवद् दास कहा गया है ।

"श्रीमते विष्णवे तस्मै दास्यं सर्व्वं करोम्यहम् ।
देशकालाद्यवस्थासु सर्व्वासु कमलापतेः ॥५१७॥
इति स्वरूपसंसिद्धं मुख्यं दास्यमवाप्नुयाम् ।
एवं विदित्वा मन्त्रार्थं तद्वृत्तिं सम्यगाचरेत् ॥५१८॥
दासभूतमिदं तस्य जगत् स्थावरजङ्गमम् ।
श्रीमन्नारायणः स्वामी जगतां प्रभुरीश्वरः ॥"५१९॥

उन श्रीविष्णु को सेवा द्वारा सुखी करने के निमित्त मैं सर्व प्रकार दास्य कर रहा हूँ । सर्व देश, सर्व काल एवं सर्व अवस्था में मैं उन कमलापति श्रीनारायण की सेवा दास अभिमान से करूँगा । इस प्रकार आवेश से जीव, स्वरूप निष्ठ मुख्य दासत्व प्राप्त कर सकता है । इस प्रकार मन्त्रार्थ का अनुभव सम्यक् प्रकार से करके दासोचित्त धर्म का आचरण करे । सर्वदा ही मन में चिन्तन करे कि—स्थावर जङ्गमात्मक यह विश्व श्रीनारायण का ही दास स्वरूप है । निखिल जगत् के स्वामी श्रीमन् नारायण हैं, आप जगत् रक्षक समर्थ परमेश्वर हैं, एवं आप निखिल जगत् के परमाराध्य हैं । इस प्रकार अष्टाक्षर श्रीनारायण मन्त्र व्याख्या में जीव का, श्रीनारायण का नित्य दासत्व निर्दिष्ट हुआ है ।

श्रीमद् भागवत के १०।८७।२० में श्रुति वृन्द का कथन है—

(१७८) "स्वकृतपुरेष्वमीष्वबहिरन्तरसंवरणं
तव पुरुषं वदन्त्यखिलशक्तिधृतोऽंशकृतम् ।
इति नृगतिं विविच्य कवयो निगमावपनं
भवत उपासतेऽङ्घ्रिमभवं भुवि विश्वसिताः ॥"५२०॥

हे प्रभो ! निज निज कर्मोपार्जित मनुष्यादि विविध शरीर में भोक्तारूप में अवस्थित पुरुष जीव को, सर्वशक्ति का समाश्रय परिपूर्ण स्वरूप आप का अंश कृत कह कर अर्थात् खण्डित अंश के समान अंश एवं कृत के समान कृत—यह कहकर ऋषि गण वर्णन जिस प्रकार एक परिपूर्ण वस्तु के एक प्रदेश को व्यवहारिक लोक अंश कहते हैं, उस प्रकार जीव को आप का अंश एवं कृत कहते हैं, वस्तुतः उस प्रकार

जीवाख्यतटस्थशक्तिविशिष्टस्यैव तवांशः, न तु स्वरूपशक्तिविशिष्टस्य केवलस्वरूपस्येत्यायातम्। ततो मूलमण्डलस्थानीय-त्वदाश्रयकरश्मिपरमाणुस्थानीया जीव इति भावः। अंशत्वे हेतुः,–अवहिरन्तरसंवरणम्, वहिरन्तश्च यस्य संवरणं नास्ति, किन्तु तैस्तैरुपाधिभिः संवरणमेवास्तीत्यर्थः। अतः संवरण-हीनस्य तवायमंश एवेति भावः। इति एतत् प्रकारां नुर्जीवस्य गतिं स्वभावत एव त्वदाश्रयकस्त्वदेकजीवनश्चासौ जीव इति एवं विविच्य ज्ञात्वा कवयः

नहीं है। कारण, अच्छेद्य एवं अजन्य आपका स्वरूप है, उस का खण्डन, अंश, जन्यत्व होना सम्भव नहीं है, तब अणु सामर्थ्य एवं अणु ज्ञान स्वरूप हेतु जीव को अंश कहते हैं. इस में प्रश्न हो सकता कि—कार्य्य कारण युक्त मैं हूँ, मेरा विभुत्व होना कैसे सम्भव होगा ? उत्तर में कहती हैं,– हे नाथ ! आप कार्य्य कारण धर्म संवृत नहीं हैं, कारण, आप में कार्य्य कारण धर्म की सत्त्वा नहीं है। कविगण, इस प्रकार तत्त्व निर्देश के द्वारा वेदोक्त निखिल कर्मार्पण का स्थान आप को ही निर्देश करते हैं, आप को फलार्पण करने से क्षेत्र में बीज वपन के द्वारा फलोत्पत्ति के समान मुक्ति फल उत्पन्न होता है। अतएव आपके भय निवर्त्तक चरणों में विश्वस्त हृदय महापुरुषवृन्द अर्च्चन वन्दनादि द्वारा आप के अभय चरणों की सेवा करते हैं। मर्त्यलोक में बहु सौभाग्य से मानव देह धारी जीव गण के पक्ष में आप के अभय चरण युगल की सेवा करना परम कर्त्तव्य है। श्लोक व्याख्या। किन्तु स्वरूप शक्ति विशिष्ट श्रीभगवान् के विशुद्ध स्वरूप का अंश जीव नहीं है, यही "अखिल शक्ति धृतः" पद का तात्पर्य्यार्थ है। अतएव जीव समूह सूर्य्य के मूल–मण्डल स्थानीय आपका आश्रित रश्मि परमाणु स्थानीय हैं। तात् पर्य्य यह है कि—जीव, स्वरूप में चैतन्य होकर भी आवेश में अपने को त्रिगुण मय मानता है, अर्थात् मैं सुखी, दुःखी, मैं मुग्ध–रस प्रकार जड़ीय अभिमान करने के कारण, जीव को तटस्था शक्ति कही गई है। जीव, कभी भी स्वरूप शक्ति नहीं है, कारण, जो स्वरूप शक्ति है, वह सर्वदा स्वरूप में उन्मुख होकर रहती है, एवं स्वरूप में क्रिया शील होकर रहती है। एवं उस शक्ति के द्वारा भगवान् माया को पराभूत करके निज स्वरूपानन्दानुभव में निमग्न रहते हैं। जीव, उस स्वरूप शक्ति के अनुग्रह से ही मायाभिभव कर सकता है। एवं भगवत् स्वरूपानन्दास्वादन करने में सक्षम होता है। इस अभिप्राय से ही श्रीमद् भागवत में उक्त हैं—

"मायां व्युदस्य चिच्छक्त्या कैवल्ये स्थित आत्मनि"

भगवान् चिच्छक्ति द्वारा माया को विदूरित करके निज स्वरूपानन्द में नित्य विद्यमान है। गीता में भी कथित है —

"तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

हे अर्जुन ! जो एकान्त भाव से मेरे चरणों में शरणागण हैं, मैं अनुग्रह करने के निमित्त निरुपाधि ज्ञान रूप दीप द्वारा उस के अज्ञान जनित अन्धकार को विनष्ट करता रहता हूँ। जीव, यदि स्वरूप शक्ति के मध्य में अन्तर्भुक्त होता है तो मायाकृत आवरण उस के पक्ष में होना असम्भव ही होगा। जीवस्वयं यदि ज्ञान शक्ति होता है तो श्रीभगवान् ज्ञान शक्ति के द्वारा जीवगत मायान्धकार नाश कैसे कर सकते हैं ? इस अभिप्राय से ही कहते हैं— सूर्य्य मण्डल के बाहर अवस्थित रश्मि परमाणु समूह, सूर्य्य रश्मि के ही अंश हैं, यह परमाणु समूह का परमाश्रय सूर्य्य मण्डल है। स्वतन्त्र रूप से रश्मि परमाणु की कोई सत्ता नहीं है। अथच उक्त रश्मिपरमाणु समूह, स्वरूप में अणु तेजः स्वरूप होकर भी चिदानन्द भास्कर श्रीभगवान् के अंश हैं, एवं श्रीभगवदाश्रित हैं। सूर्य्य के बाहर अवस्थित रश्मि परमाणु जिस प्रकार छाया

पण्डिता विश्वसिताः श्रद्दधाना भवत एवाङ्घ्रिमुपासते । विश्वासे हेतुः—निगमावपनं सकल-वेदवीजोज्जीवनैकाश्रयक्षेत्रं शास्त्रयोनिमित्यर्थः । अतो नित्य-त्वदाश्रयैकजीवनानामपि तेषां त्वद्वैमुख्येन यत् संसारदुःखं भवति, तदपि साम्मुख्येन स्वयमेव पलायत इत्याहुः,—अभवमिति, न विद्यते भवः संसारो यत्रेति । अथवा भजनीयस्य नित्यत्वेन भक्तेरप्यनश्वरत्वं प्रतिपादयन्ति-अभवं जन्मरहितमङ्घ्रिमिति । तस्मादकिञ्चनाख्या भक्तिरेव सर्वोद्ध्र्वमभिधेया ॥ श्रुतयः श्रीभगवन्तम् ॥

१७८ । अथ तस्या एव प्रकारान्तरेण स्थापनाय प्रकरणान्तरं यावत्तल्लक्षणप्रकरणम् । तदेवं परमदुर्लभस्वरूपं परमदुर्लभफलञ्चाकिञ्चनाख्य-साक्षाद्भक्तिरूपं साम्मुख्यं कथं स्यादिति वक्तुं साम्मुख्यमात्रस्य निदानमुपलक्षयति, (भा० १०।५१।५३)—

द्वारा आवृत होता है, उसी प्रकार श्रीभगवान् से वहिर्मुख जीव भी माया द्वारा अभिभूत होता है । जीव जो भगवान् का अंश है, उस विषय में हेतु गर्भ विशेषण रूप में 'अवहिसंवरणं'' पदोल्लेख किया गया है । अर्थात् जिस के बाहर भीतर कोई आवरण नहीं है, किन्तु उपाधि द्वारा संवृत हैं । यहाँ उपाधि शब्द का अर्थ—शक्ति है, कारण, भगवान् का विशेषण,''अखिल शक्ति धर'' पद है । इस से प्रति पादित होता है कि भगवान् कभी भी निःशक्तिक— अथवा निर्द्धर्मिक नहीं हैं । उन में अनन्त शक्ति हैं, यह शक्ति समह—अन्तरङ्गा वहिरङ्गा एवं तटस्था भेद से त्रिविध हैं । उस के मध्य में जीव, उनकी तटस्था शक्ति है, इस रीति से कवि, पण्डित जीव के स्वरूप को जान कर श्रद्धायुक्त हृदय में आप के चरणों की उपासना करते रहते हैं । जो विश्वास उन सब का है, उस के प्रति हेतु गर्भ विशेषण उल्लेख करते हैं—''निगमावपनं'' अर्थात् समस्त वेदों के वीज उज्जीवन का आश्रय क्षेत्र हैं, अर्थात् समस्त वेद वीजोद्गमन का मुख्य आश्रय क्षेत्र हैं । अर्थात् शास्त्र योनि हैं । अतएव नित्य एकमात्र आप के आश्रय जीवन होकर भी, अर्थात् आप के आश्रय के विना जिस जीव का जीवत्व स्वतन्त्र रूप से रक्षित हो ही नहीं सकता, यह सब जीव आप के वैमुख्य दोष हेतु संसार दुःख ग्रस्त हैं । यह संसार दुःख भी आप के चरणों की उपासना का प्रभाव से स्वयं पलायन करता है । श्रुतियों ने श्रीभगवान् के श्रीचरणों के विशेषण रूप में ''अभवन्'' पद का उल्लेख किया है । जिस चरणों का आश्रय ग्रहण करने से संसारभय नहीं रहता है । इस प्रकार आपके श्रीचरण युगल हैं । अथवा भजनीय पदार्थ श्रीभगवान् के श्रीचरण युगल हैं, जो नित्य हैं, साधक वृन्द के हितार्थ ब्रह्म की रूप कल्पना के समान नहीं हैं, इस को प्रकाश करने के निमित्त—भक्ति का अनश्वरत्व प्रति पादन करते हैं । ''अभवम्'' जन्म रहित आप के श्रीचरण हैं । अतएव श्रुति वाक्य के द्वारा अकिञ्चन संज्ञक भक्ति ही सर्व श्रेष्ठ अभिधेय है—यह प्रतिपादित हुआ ।

श्रुति वृन्द श्रीभगवान् को कही थीं ॥१७८॥

१७९ । अनन्तर उस विशुद्धा अहैतुकी निर्गुणा भक्ति को प्रकारान्तर से स्थापन करने के निमित्त अन्य एक प्रकरण आरम्भ करते हैं । यह प्रकरण विशुद्ध भक्ति का लक्षण वर्णन पर्य्यन्त होगा । ऐसा होने पर अर्थात् परम दुर्ल्लभ स्वरूप, परम दुर्ल्लभ फल अकिञ्चनाख्या भक्ति ही यदि साक्षात् भगवत् साम्मुख्य रूप होती है, तो उस प्रकार भक्ति लाभ का उपाय क्या है ? इस के उत्तर में परतत्त्व साम्मुख्य मात्र का मूल निदान को कहते हैं । भा० १०।५१।५३ में उक्त है—

(१७९) "भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवे,-ज्जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः ।
सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सद्गतौ, परावरेशे त्वयि जायते मतिः ॥"५२१॥

यदा भ्रमतः संसरतो जनस्य भवापवर्गो भवेत्, संप्राप्तकालः स्यात्, तदा सत्सङ्गमो भवेत् । अत्र च यदा सत्सङ्गमो भवेत्तदा भवापवर्गो भवेदिति वक्तव्ये वैपरीत्येन निर्द्देशस्तत्र सत्सङ्गमस्य शीघ्रतयावश्यकतया च हेतुत्वविवक्षया । अतएवातिशयोक्तिनामालङ्कारस्य चतुर्थो भेदोऽयमित्यालङ्कारिकाः, तदुक्तं तद्विवृतौ—"चतुर्थी सा कारणस्य गदितुं शीघ्र-

---

(१७९) "भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवे,-ज्जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः ।
सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सद्गतौ, परावरेशे त्वयि जायते मतिः ॥५२१॥

टीका—तदेवमष्टभिः श्लोकैरीशवहिर्मुखानां संसारं प्रपञ्चय भक्त्या तन्निवृत्ति क्रममाहभवापवर्ग इति । भो अच्युत ! भ्रमतः संसरतो जनस्य यदा त्वदनुग्रहेण भवस्य बन्धस्य अपवर्गोऽन्तो भवेत्, प्राप्तकालः स्यात्, तदा सतां सङ्गमो भवेत् । यदा च सत् सङ्गमो भवेत्, तदा सर्वसङ्ग निवृत्त्या कार्य्य कारण नियन्तरित्वयि भक्तिर्भवति ततो मुच्यत इत्यर्थः ॥

श्रीमुचुकन्द महाराज श्रीभगवान् को कहे थे—हे नाथ ! संसार चक्र में भ्रमण शील जीव का जब भवापवर्ग होता है, अर्थात् संसार क्षय काल उपस्थित होता है, तब साधु समागम होता है । तात्पर्य्य यह है कि—अनादि वहिर्मुख जीव में ऐसा कोई साधन सम्पत्ति नहीं है, जिस से उसकी संसार निवृत्ति हो, जीव-सम्पत्ति द्वय से सर्वदा धनी है । यह सम्पत्ति स्थावर अस्थावर भेद से द्विविध हैं, भगवद् वहिर्मुखता स्थावर सम्पत्ति है, जो अनादि काल से भगवद् वहिर्मुख जीव में अचञ्चल भाव से विद्यमान है, उस वहिर्मुखता दोष मूलक पाप पुण्य रूप सम्पत्ति के द्वारा क्षय एवं सञ्चय होता रहता है, भोग से क्षय, एवं आचरण से सञ्चय होता है । उक्त सम्पत्ति के द्वारा संसार निवृत्ति नहीं होती है, अतः जीव अनादि काल से भगवद् वहिर्मुख होकर संसार में भ्रमण करता रहता है । कारण निर्णय करते हैं—संसार क्षय के अति ऐकान्तिक कारण, सत्सङ्ग ही है । किन्तु "भवापवर्गो भ्रमतो यदाभवेत् जनस्य तर्ह्यच्युतसत् समागमः ॥ श्लोक में कहा गया है—पहले संसार क्षय एवं पश्चात् सत् सङ्गम होता है ! उत्तर में कहते हैं—सत्सङ्ग ही संसार क्षय प्राप्ति का एकमात्र अव्यभिचारि कारण है, उस को दर्शाने के निमित्त ही विपरीत क्रमसे अर्थात् पहले संसारक्षय को कह कर पश्चात् सत् सङ्गम का वृत्तान्त कहा गया है । इस श्लोक में साधुसङ्ग को संसार बन्धन मोचन का मूल कारण कहा गया है। अतएव आलङ्कारिकगण इस को चतुर्थ प्रकार अतिशयोक्ति अलङ्कार कहते हैं, चतुथ प्रकार अतिशयोक्ति अलङ्कार का लक्षण इस प्रकार है—

"चतुर्थी सा कारणस्य गदितुं शीघ्रकारिताम् ।
या हि कार्य्यस्य पूर्व्वोक्तिः ॥"

अर्थात् कारण की शीघ्रकारिता कथन हेतु जहाँपर कारण उल्लेख करने के पूर्व में कार्य्य का उल्लेख किया जाता है—उसको चतुर्थ प्रकार अतिशयोक्ति अलङ्कार कहते हैं । प्रस्तुत श्लोक में वर्णित यद्यपि संसार क्षय प्राप्ति का मूल कारण साधुसङ्ग है, एवं संसार क्षय,—उसका कार्य्य है, तथापि साधुसङ्ग इतन सत्वर संसार क्षय कर देता है, जिस से अनुसन्धान का अवसर ही नहीं मिलता है कि—पहले संसार क्षय हुआ, अथवा पहले साधुसङ्ग हुआ । इस अभिप्राय से ही पूर्व में संसार क्षय की कथा का उल्लेख करके अनन्तर साधुसङ्ग को कहा गया है । यहाँ ज्ञातव्य यह है कि—संसार क्षय करना साधुसङ्ग का मुख्य कार्य्य

कारिताम् । या हि कार्य्यस्य पूर्व्वोक्तिः" इति । तथोक्तं नल-कूवर-मणिग्रीवौ प्रति श्रीभगवता (भा० १०।१०।४१)—

"साधूनां समचित्तानां सुतरां मत्कृतात्मनाम् ।
दर्शनान्नो भवेद्बन्धः पुंसोऽक्ष्णोः सवितुर्यथा ॥" ५२२॥ इति ।

तत्र हेतुः—यर्हि यदा सत्सङ्गस्तदैव परावरेशे त्वयि मति र्भवति । तद्वै मुख्यकरानादि-सिद्धतज्ज्ञानसंसर्गाभावान्ते तत्साम्मुख्यकरं तज्ज्ञानं जायत इत्यर्थः । अतएवोक्तं श्रीविदुरेण

नहीं है, किन्तु आनुषङ्गिक कार्य्य अवान्तर कार्य्य है । किन्तु साधुसङ्ग का मुख्य कार्य्य श्रीहरिचरणोंमें प्रीति उत्पन्न कराना है । पाककार्य्य हेतु चुल्ली प्रज्वालित करने से जिस प्रकार शीत भय निवृत्ति एवं वस्तु प्रकाश प्रभृति कार्य्य आनुषङ्गिक रूप से होते रहते हैं, उस प्रकार ही जानना होगा ।

पहले साधुसङ्ग की कथा लिखित होने पर उस का मुख्य कार्य्य संसार निवृत्ति होती । वस्तुतः जड़ीय वस्तु के सहित मानसिक सम्बन्ध स्थापन को संसार कहते हैं, उक्त सम्बन्ध का ध्वंस को संसार क्षय कहते हैं, संसार क्षय—अन्धकार तुल्य है, एवं साधुसङ्ग सूर्य्य तुल्य है । सूर्य्योदय के आभास से ही जिस प्रकार अन्धकार अपसारित होता है, उस प्रकार सूर्य्य स्थानीय साधुसङ्गाभास से ही अन्धकार स्थानीय संसार क्षय होता है, उक्त अलङ्कार प्रयोग का हेतु है—जब सत्सङ्ग होगा तभी उसका मुख्य कार्य्य रूप श्रीहरिचरणों में प्रीति का उदय होगा । इस अभिप्राय से ही श्लोक में कहा गया है—

"सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सद् गतौ, परावरेशेत्वयि जायते रतिः ।"

अर्थात् जिस समय सत्सङ्ग होगा उसी समय परावरेश आप में रति का आविर्भाव होगा । इस से सूचित होता है कि—भगवद् विमुखता रूप अनादि सिद्ध भगवद्विषयक ज्ञान का प्रागभाव ध्वंस होकर भगवत् साम्मुख्य रूप भगवद्विषयक ज्ञान आविर्भूत होता है । अभाव द्विविध हैं, अन्योन्याभाव एवं संसर्गाभाव । संसर्गाभाव भी त्रिविध हैं, प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, एवं अत्यन्ताभाव । ध्वंसाभाव एवं अत्यन्ताभाव नित्य है, प्रागभाव, अनादि काल सिद्ध होने पर भी विनाशी है । तज्जन्य भगवत्तत्त्व ज्ञान का अभाव जीव में अनादि काल से विद्यमान होने पर भी साधुसङ्ग रूप कारण के द्वारा उक्त वैमुख्य दोष विनष्ट होता है । विनष्ट होने के पश्चात् पुनर्वार वैमुख्य दोषोद्गम नहीं होता है । उस प्रकार ही भा० १०।१०.४१ में नल कूवर मणिग्रीव के प्रति श्रीभगवान् ने कहा है—

"साधूनां समचित्तानां सुतरां मत्कृतात्मनाम् ।
दर्शनान्नो भवेद्बन्धः पुंसोऽक्ष्णोः सवितुर्यथा ॥"५२२॥

टीका—युक्तमेवैतदित्याह—साधूनां स्वधर्मं वर्त्तिनां समचित्तानां आत्मविदां सुतरां मत्कृतात्मनां मय्यर्पितचित्तानाम् । तेषां कृपातिरेकात् सुतरामित्युक्तम् । सवितुर्दर्शनाद् अक्ष्णोर्यथा बन्धो न भवेत् तद्वत् ।

मुझ में अर्पित चित्त, स्वर्गापवर्गनरक में तुल्य दृष्टि सम्पन्न साधुवृन्द का दर्शन से सूर्य्योदय होने से जिस प्रकार नेत्र का अन्धकार जनित बन्धन विनष्ट होता है । उस प्रकार जीव का भवबन्धन विनष्ट होता है । अर्थात् जिस समय साधुसङ्ग होता है, उस समय ही भगवद् वैमुख्य दोष निवृत्ति होकर भगवत साम्मुख्य होता है, एवं परमेश्वर में रति का आविर्भाव होता है । भगवद् वैमुख्य कर भगवद् ज्ञानाभाव, अर्थात् अनादि परम्परासिद्ध भगवत्तत्त्व ज्ञान का प्रागभाव, साधुसङ्ग के द्वारा विदूरित होने से ही भगवत्तत्त्व ज्ञान अर्थात् भगवत् साम्मुख्य होता है । अतएव श्रीविदुर ने भा० ३।५।३ में कहा है ।

(भा० ३।५।३) –

"जनस्य कृष्णाद्विमुखस्य दैवा,–दधर्म्मशीलस्य सुदुःखितस्य ।
अनुग्रहायेह चरन्ति नूनं, भूतानि भव्यानि जनार्द्दनस्य ॥"५२३॥

अत्र दैवात् प्राचीनकर्म्मणो हेतोस्तदावेशादधर्म्मशीलस्य भगवद्धर्म्मरहितस्येत्यर्थः । मूलपद्ये 'यर्हि तदैव' इति निर्द्देशान्न कालविलम्बेन । तत्र चैवकारान्नान्यदा कदाचिदपीत्यर्थः । तेन तन्मतौ हेतुः,--सत्गतौ, यत्र यत्र सन्तः सङ्गच्छन्ते, तत्र तत्र गतिः स्फुरणं यस्य तस्मिंस्त्वयीति । तथा चेतिहास-समुच्चये—

यत्र रागादिरहिता वासुदेवपरायणाः । तत्र सन्निहितो विष्णुर्नृपते नात्र संशयः ॥"५२४॥ इति ।

सतां गतावित्यत्र व्याख्यानेऽपि असतां त्वसौ न गतिः, अतस्तद्द्वारैवान्येषां तल्लाभो

"जनस्य कृष्णाद्विमुखस्य दवा,—दधर्म्मशीलस्य सुदुःखितस्य ।
अनुग्रहायेह चरन्ति नूनं, भूतानि भव्यानि जनार्द्दनस्य ॥"५२३॥

टीका—दैवात् प्राचीनात् कर्म्मणो निमित्तभूतात् कृष्णाद्विमुखस्य, अतः अधर्मशीलस्य, अतः सुदुःखितस्यानुग्रहाय भव्यानि मङ्गलानि भूतानि चरन्ति । भवन्त परोपकार स्वभावा एव इत्यर्थः ।

हे प्रभो ! प्राक्तन कर्महेतु कृष्णवहिर्मुख जीव अधर्म शील होता है, अतः आप सब श्रीकृष्ण के मङ्गलमय भक्त वृन्द, उस प्रकार जीव को अनुग्रह करने के निमित्त इस संसार में विचरण करते रहते हैं । यहाँ, अधर्म शील शब्द से भगवद्धर्म शून्य अर्थ को ही जानना होगा । अर्थात् भगवद् भक्ति शून्य जीव के हृदय में भक्ति भाव उद्बुद्ध करने के निमित्त आप के समान भगवद् भक्त जन इस जगत् में विचरण करते रहते हैं । साधु कृपा से ही भगवद् वहिर्मुख जन श्रीभगवान् में उन्मुखता को प्राप्त करता है, इस श्लोक के द्वारा वह प्रमाणित हुआ ।

मूल श्लोक में अर्थात् "भवापवर्गोभ्रमतो यदा भवेत्" श्लोक में "यर्हि तदैव" इस प्रकार उल्लेख होने के कारण,—अर्थात् जिस समय सत्सङ्ग होगा, उस समय ही श्रीहरि चरणों में उन्मुखता होगी, इस प्रकार निर्द्देश होने के कारण, सत्सङ्ग समकाल में ही जो श्रीहरि चरणों में उन्मुखता होती है । काल विलम्ब नहीं होता है, यह सूचित हुआ । उस में भी 'तदैव" एव कार का प्रयोग होने से अन्य किसी भी समय में चित्त की भगवदुन्मुखता नहीं हो सकती है, यह प्रदर्शित हुआ । सत्सङ्ग से श्रीभगवदुन्मुखता क्यों होती है । उस के प्रति हेतु गर्भ विशेषण प्रयुक्त हुआ है—'सद्गतौ' अर्थात् जहाँ जहाँ साधुगण एकत्र होते हैं, वहीं श्रीभगवान् की स्फूर्त्ति होती है, एवं जहाँ साधुगण, मिलित नहीं होते हैं, वहाँ श्रीभगवान् की स्फूर्त्ति नहीं होती है, इस को सूचित करने के निमित्त श्रीभगवान् के विशेषण रूप में सद्गतौ' पदोल्लेख किया गया है, इतिहास समुच्चय में लिखित है—

'यत्र रागादिरहिता वासुदेवपरायणाः ।
तत्र सन्निहितो विष्णुर्नृपते नात्र संशयः ॥"५२४॥

हे राजन् ! जहाँपर रागद्वेष शून्य वासुदेव परायण भक्त गण गमन करते हैं । वहाँ श्रीविष्णु भी गमन करते हैं । इस में सन्देह नहीं है । कतिपय व्यक्ति– 'सद्गति' पद में षष्ठी तत् पुरुष समास करके साधु वृन्द के जो प्राप्य, इस प्रकार अर्थ करते हैं, इस पक्ष में भगवान् साधु गण की ही गति हैं, असाधु की

युक्त इति पूर्ववदेव । पिङ्गलाया अपि सत्सङ्गो (भा० ११।८।३४) —"विदेहानां पुरे ह्यस्मिन्नहमेकैव मूढ़धीः" इत्यत्र व्यक्तोऽस्ति । टीका च— "सत्सङ्गतौ सत्यामप्यहो मम मोह इत्याह–विदेहानामिति" इत्येषा । तदेवं यत्र नोपलभ्यते सत्सङ्गस्तत्राप्याधुनिकः प्राक्तनो वा पारम्परिको वानुमेय एव । अत्र कृत श्रीनारदादि-दर्शनादेरपि देवादेः श्रीनल-कूबरादिवत्तादृशत्वप्राप्तिर्न श्रूयत इत्यत एवं विवेचनीयम्,–यद्यप्यपराधसद्भावो वर्त्तते पुरुषे, तदा तद्दोषेण सत्सु निरादराणां साधारण-पुण्यादि दृष्टीनाञ्च तद्दोषशान्त्यर्थं सत्सङ्गस्य भगवत्साम्मुख्यकारणत्वेऽपि तत्कृपासाहाय्यमपेक्ष्यते, निरपराधत्वे सति सत् सङ्गेनैव जात-परमोत्तमदृष्टीनां तु तेषां मनो ऽवधानाभावेऽपि सत्सङ्गमात्रं तद्कारणमिति । अतः सापराधानेवाधिकृत्योक्तमजानजदेवैः (भा० ३।५।४४)—

"तान् वै ह्यसद्वृत्तिभिरक्षिभिर्ये, पराकृतान्तर्मनसः परेशः ।
अथो न पश्यन्त्युरुगाय नूनं, ये ते पदन्यासविलासलक्ष्म्याः ॥"५२५॥ इति ।

गति नहीं हैं, इस प्रकार अर्थ ध्वनित होता है । अतएव साधुसङ्ग द्वारा ही वहिर्मुख जीव श्रीभगवान् को प्राप्त कर सकता है, तद् भिन्न उपाय से भगवद् प्राप्ति नहीं हो सकती है, इस प्रकार अर्थ होता है । यहाँपर कह सकते हैं कि भा० ११।८।३४ में वर्णित है — "विदेहानां पुरे ह्यस्मिन्नहमेकैव मूढ़धीः"

विदेहनगरवासिनी पिङ्गला नाम्नी वेश्या का अनुराग श्रीकृष्ण में हुआ था । किन्तु सत्सङ्ग का वर्णन नहीं है, अतः कैसे कहा जा सकता है कि— श्रीभगवदुन्मुखता के प्रति सत्सङ्ग ही कारण है ? समाधान हेतु कहते हैं पिङ्गला का भी सत्सङ्ग हुआ था । भा० ११।८।३४ "विदेहानां पुरे ह्यस्मिन्नहमेकैव मूढ़धीः" इस श्लोक की टीका में स्वामिपादने लिखा है "सत्सङ्गतौ सत्यामप्यहो मम मोहः" अर्थात् सत्सङ्ग होने पर भी पिङ्गला का मोह हुआ था । "अहो ! मैं मूढ़ बुद्धि हूँ" अतएव पिङ्गला का सत्सङ्ग नहीं था, अथच श्रीकृष्णानुराग हुआ था, इस प्रकार सन्देह का अवसर नहीं है । सत्सङ्ग ही जब कारण है,— तब जहाँ सत्सङ्ग दृष्ट नहीं होता है, अथच, भगवदुन्मुखता है, वहाँ जन्मान्तरीय, वा वर्त्तमान जन्म में हो, अज्ञात रूप से साधु सङ्ग सम्पन्न हुआ है, किंवा परम्परा क्रम से साधुसङ्ग हुआ है, इस प्रकार अनुमान करना चाहिये । उक्त कार्य्य कारण भाव में सुमहान् संशय हो सकता है । यदि सत्सङ्ग ही भगवत्स्मृति के प्रति कारण है तो, इन्द्रादि देवगण–श्रीनारद प्रभृति महापुरुष वृन्द के दर्शन लाभ करके भी श्रीभगवान् में भक्ति लाभ करने में सक्षम नहीं हैं ? अथच नल कूवर मणिग्रीव, देवर्षि की कृपासे श्रीकृष्ण दर्शन करने में सक्षम हुये थे । एवं भक्ति लाभ भी किये थे । यहाँ का समाधान यह है—यदि अपराध रूप प्रत्यवाय हो तो, साधु वृन्द के प्रति आदर बुद्धि नहीं होती है, महापुरुष के प्रति साधारण पुण्यवान् जन दृष्टि होती है । इससे महत् का अनादर एवं साधारण पुण्यात्मा बुद्धि होने से उभय विध अपराध होता है । अतएव साधु सङ्ग— भगवदुन्मुखता सम्पादन करने में अक्षम होता है, उक्त दोष निवृत्ति हेतु एवं भगवदुन्मुखता सम्पादन हेतु उन महापुरुष वृन्द का सङ्ग, एवं उन महापुरुषों की कृपा अपेक्षणीय है । और यदि कोई अपराध न हो तो, साधुसङ्ग मात्र से ही जिन की महापुरुषों के प्रति परम उत्तम दृष्टि हुई है, उनके मन का अवधान महापुरुषों के प्रति न होने से भी सत्सङ्ग मात्र से श्रीभगवान् में उन्मुख भाव उदित होता है । अतएव अपराधी जनको लक्ष्य करके अजानज देववृन्दने भा० ३।५।४५ में कहा है—

"तान् वै ह्यसद्वृत्तिभिरक्षिभिर्ये, पराकृतान्तर्मनसः परेशः ।

ते तव पदन्यासविलासलक्ष्म्याः सम्बन्धिनो ये भक्ता इत्यर्थः। ते तान् नूनं प्रायो न पश्यन्ति, न कृपादृष्टिविषयीकुर्व्वन्तीत्यर्थः। कान्? ये असद्वृत्तिभिः सापराधचेष्टैरक्षिभिरिन्द्रियैः पराकृतान्तर्मनसो दूरीकृतान्तर्मुखचित्तवृत्तयो वहिर्मुखा इत्येवं व्याख्यानमप्यत्रानुसन्धेयम्। अत्र साधारणासद्वृत्तित्वं न गृह्यते, सर्व्वस्य तत्कृपायाः प्राक् तथाभूतत्वात् 'जनस्य कृष्णाद्विमुखस्य दैवात्' इत्यादिकमविषयं स्यादिति। तस्मादनपराधासद्वृत्तौ तेषां कृपा प्रवर्त्तत एव। कथञ्चिदवधानाभावेन तदप्रवृत्तावपि सङ्गमात्रेणैव तेषां सन्मतिः स्यात्।

अथो न पश्यन्त्युरुगाय नूनं, ये ते पदन्यासविलासलक्ष्म्याः ॥''५२५॥

टीका—ननु यदि हृदिस्थस्यापि पदाब्जं केषाञ्चित् सुदूरं तर्हि अन्येषामपि तथैवस्यात् अविशेषादित्याशङ्क्याहुः—तानिति। असद्वृत्तिभिर्वहिर्मुखैः अक्षिभिरिन्द्रियैः परं हृतं दूरमपहृतम् अन्तःस्थं मनोयेषां ते अथो अतएव ते नूनं तान् न पश्यन्ति। वै प्रसिद्धम्। कुतः पुनस्तेषां तत् सङ्गः स्यात्। कान्? ते तव पदन्यासो गमनं तस्य विलासो विभ्रमस्तस्य लक्ष्मीः शोभा तस्या ये। त्वल्लीला कथनादिभिः शोभमानांस्त्वद्भक्तानित्यर्थः। पथ इति लक्ष्मा इति च पाठे त्वत्पदन्यास विलासोलक्ष्मो येषाम् तान् पथः, त्वन्मार्गभूतान् सतः, मार्गान् वा श्रवणादीन् न पश्यन्तीत्यर्थः। यद्वा ये एवम्भूत भागवतास्ते तानुन्मत्तान् नूनं नैव पश्यन्तीत्यन्वयः। सत्सङ्गाभावेन हरिकथा श्रवणाभावात् हृदिस्थितमपि तेषां सुदूरमिति भावः॥

हे नाथ! जो लोक, विषयाभिमुख इन्द्रिय वृत्ति समूह के द्वारा सतत हृदय में अन्तर्य्यामि रूप में विद्यमान आप से विमुख होकर अर्थात् सतत विषयोन्मुख एवं आप से पराङ्मुख होकर रहते हैं वे सब अपराधी होते हैं एवं भगवद् वहिर्मुख होते हैं। उन सब को आप के श्रीचरण कमल युगल के अनवरत विलास हेतु अनिर्वचनीय शोभा युक्त महापुरुष वृन्द कभी भी अवलोकन नहीं करते हैं। अतएव सत्सङ्ग के अभाव से वे सब आप के चरित्र श्रवण कीर्त्तनादि करने के सौभाग्य से वञ्चित होते हैं, अतएव उन सब को उद्धार प्राप्त करने की कोई सम्भावना ही नहीं है। अभिप्राय यह है कि—जिन महापुरुषों के हृदय में श्रीभगवच्चरण कमलों की स्मृति विलसित है, वे सब महापुरुष वृन्द अपराधी भगवद् वहिर्मुख जन के प्रति कृपादृष्टि नहीं करते हैं। यह कथन साधारण जनगण को लक्ष्य करके नहीं हुआ है, कारण, जब तक मनुष्य के प्रति महत् की कृपादृष्टि निपतित नहीं होती है तब तक मनुष्य स्वाभाविक देहेन्द्रिय वृत्ति में अभ्यस्त रहते हैं, यह उन सब के पक्ष में दोषावह नहीं है, किन्तु महापुरुषों की कृपालाभ के पश्चात् ही भगवद् उन्मुखता एवं विषय वितृष्णा होती है। किन्तु यहाँपर भा० ३।५।३ में उक्त विदुर के कथन के सहित उक्त कथन का विरोध उपस्थित होता है—

''जनस्य कृष्णाद्विमुखस्य दैवादधर्मशीलस्य सुदुःखितस्य।
अनुग्रहायेह चरन्ति नूनं भूतानि भव्यानि जनार्दनस्य॥

टीका—दैवात् प्राचीनात् कर्मणो निमित्तभूतात् कृष्णाद्विमुखस्य, अतः अधर्म शीलस्य, अतः सुदुःखितस्यानुग्रहाय भव्यानि मङ्गलानि भूतानि चरन्ति। भवतः परोपकार स्वभावा एव इत्यर्थः।

विदुर महाशय ने मैत्रेय को कहा—भगवद् वहिर्मुख जनगण को अनुग्रह करने के निमित्त ही महापुरुष गण विचरण करते हैं, किन्तु ३।५।४५ के कथित है—भगवद् वहिर्मुख जनगण के प्रति महापुरुषवृन्द अनुग्रह नहीं करते हैं। उभय वाक्य में विरोध सुस्पष्ट है। अतः समाधान करते हैं—यदि कोई व्यक्ति, अपराध शून्य होकर भगवद् वहिर्मुखता दोष युक्त होता है तो, साधु सङ्ग मात्र से ही उसकी भगवदुन्मुखता

यत्र तु सापराधेऽपि स्वैरतयैव कृपां कुर्व्वन्ति, तस्यैव तन्मतिः स्यान्नान्यस्य, नलकूवरवत् साधारण-देवतावच्चेति । यथा श्रीभरतस्य रहूगणे यथा चोपरिचरवसोर्वृत्तं विष्णुधर्म्मे । स हि देवसाहाय्यायैव दैत्यान् हत्वा विरज्य च भगवदनुध्यानाय पातालञ्च प्रविष्टवान् । तञ्च निवृत्तमपि हन्तुं लब्धच्छिद्रा दैत्याः समागत्य तत्प्रभावेणोद्यतशस्त्रा एवातिष्ठन् । ततश्च

होती है, और यदि भगवद् वहिर्मुख एवं भगवदपराधी होता है तो महत् सङ्ग प्राप्त होने पर भी भगवद् वहिर्मुखता दोष विनष्ट होकर भगवदुन्मुखता नहीं होती है। किन्तु यदि कदाचित् महत् की कृपादृष्टि निपतित हो तो अपराधादि दोष विदूरित होकर श्रीभगवदुन्मुख हो सकता है।

अतएव यदि अपराध न हो, तो महापुरुष वृन्द की कृपा अवश्य ही होगी, निरपराधस्थल में किसी प्रकार अवधान न होने से भी अर्थात् 'यह महापुरुष हैं' इस प्रकार अनुसन्धान न होने से भी एवं महापुरुष के मन में 'यह दुर्गत है. इसका उद्धार होना चाहिये। इस प्रकार सङ्कल्प न होने पर भी महत् सङ्ग मात्र से ही भगवच्चरणों में मति होती है। किन्तु कदाचित् महद् गण अपराधी को भी कृपा करते हैं, यह महत् की स्वाभाविक करुणा है, उस से श्रीभगवच्चरणों में सुनिश्चित मति होती है। अतएव महत् कृपा व्यतीत अपराधी जन की मति श्रीभगवच्चरणों में नहीं होती है। उक्त उभय प्रकार का ही दृष्टान्त स्थल-नल कूवर मणिग्रीव एवं साधारण देवतावृन्द हैं। नलकूवर-पतित पावनी श्रीहरिप्रिय गङ्गा में स्वबधूवृन्द के सहित काम क्रीड़ा में प्रवृत्त हुआ था, इस से श्रीहरि सम्बन्धि वस्तु श्रीगङ्गा का अवमानय रूप प्रथम अपराध, द्वितीय देवर्षि नारद की अवहेलना जनित द्वितीय अपराध विद्यमान हुये थे। किन्तु देवर्षि अपराध के और दृष्टि न देकर स्वभाविक करुणा से प्रेरित होकर उस के प्रति कृपा किये थे। इस से पूर्व स्मृति लाभ, श्री-वृन्दावन वास गोपाल कृष्ण का दर्शन एवं श्रीकृष्ण चरणों में अचला भक्ति प्राप्त कर कृतार्थ हुये थे। महद् मर्य्यादा लङ्घन कारी इन्द्रादि देवगण, देवर्षि को बारम्बार दर्शन करने पर भी श्रीहरि चरणों में भक्ति लाभ करने में अक्षम थे। किन्तु स्वार्थ सिद्धि हेतु समय समय पर श्रीभगवान् का स्तव करते हैं। उस में भी भगवान् यदि उनके प्रतिकूल आचरण कर बैठते हैं तो देवगण अवज्ञा सूचक भाषा के द्वारा श्रीभगवान् की अवज्ञा भी करते रहते हैं।

भा० १०।२५ अध्याय में इसका विवरण है—इन्द्र याग भङ्ग होने पर इन्द्र क्रुद्ध होकर कहे थे—

"वाचालं बालिशं स्तब्ध मज्ञं पण्डित मानिनम्।
कृष्णंमर्त्यमुपाश्रित्य गोपा में चक्रुरप्रियम्॥"

इस प्रकार दुरुक्ति का प्रयोग स्वार्थ हानि को देखकर हुई थी, एवं श्रीभगवदवज्ञा सुस्पष्ट रूपसे हुई। रहू गण के प्रति श्रीभरत की कृपा स्वभावतः ही हुई थी। इस प्रकार विष्णु धर्मोत्तर में उपरिचर वसु का चरित्र वर्णित है। उस में अपराधी जन के प्रति कृपा का निदर्शन दृष्ट होता है। उपरिचर वसु, देववृन्द के साहाय्यार्थ दैत्य कुल को विनष्ट कर निर्विण्ण होकर भगवद् भजन करने के अभिलाष से पाताल में प्रवेश किये थे। इस विवरण को दैत्यगण जान गये थे, अवसर प्राप्त कर प्रतिहिंसा की वृत्ति से प्रेरित होकर दैत्यगण पाताल में प्रविष्ट होकर उपरिचर वसु का मस्तक च्छेदन करने के निमित्त असि उद्यत किये थे, किन्तु भगवत् भक्ति के प्रभाव से उद्यत अस्त्र उत्तोलित होकर ही रहा, उपरिचर वसु का अङ्गस्पर्श करने में दैत्य वृन्द सक्षम नहीं हुये।

विफल उद्यम होकर दैत्य वृन्द, शुक्राचार्य के निकट निवेदन किये थे। अनन्तर आचार्य्य के उपदेशानुसार दैत्यगण, पाताल में पाषण्ड धर्म का प्रचार प्रारम्भ किये थे। पाषण्ड धर्म प्रचार कराने का

व्यर्थोद्यमाः पुनः शुक्रोपदेशेन तं प्रति पाषण्डमार्गमुपदिशन्तोऽपि जातया तत्कृपया भगवद्भक्ता बभुवुरिति । अत उक्तं विष्णुधर्म्मे एव—

"अनेकजन्मसंसारचिते पापसमुच्चये । नाक्षीणे जायते पुंसां गोविन्दाभिमुखी मतिः ॥५२६॥ इति ।

ननु (भा० ७।९।४४) "नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्ष एको, न न्यस्त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये" इत्येवं श्रीप्रह्लादस्य सर्व्वस्मिन्नपि संसारिणि कृपा जाता, तर्हि कथं न सर्वमुक्तिः स्यात् ? उच्यते—जीवानामनन्तत्वान्न ते सर्व्वे मनसि तस्यारूढ़ास्ततो यावन्तो दृष्टश्रुतास्तच्चेतस्यारूढ़ास्तावतां तत्प्रसादादुभविष्यत्येव मोक्षः, नेतानित्येतच्छब्दप्रयोगात् । ये चान्ये, तेषामपि तत्कीर्त्तन-स्मरणमात्रेणैव कृतार्थतावरं स्वयमेव कृपया दत्तवान् श्रीनृसिंहदेवः

आचार्य का उद्देश्य यह था कि— जब तक हृदय में भगवत् चिन्ता रहती है, तब तक उस को विनष्ट नहीं किया जा सकता है, किन्तु यदि किसी प्रकार श्रीभगवान् के प्रति अनादर बुद्धि आ जाती है तो, उसको विनष्ट करना सहज होता है । दैत्यगण चतुर्द्दिक में निरीश्वर वाद का प्रचार करने लगे थे, वे सब समझे थे कि—इस से उपरिचर वसु का ध्यान भङ्ग होगा, उस से उस को हत्या हम कर सकेंगे । कोलाहल से उपरिचर वसु का मन चञ्चल हुआ, वसु ने पाषण्ड वाद को सुना, जो दैत्यों के द्वारा प्रचार हो रहा था, सुन कर एवं दैत्यगणों की दुर्गति को देखकर वसु का हृदय करुणा से विगलित हो उठा । उपरिचर वसु ने चिन्ता की—अहो दैत्यों की कैसी दुर्गति हुई है ? मुझ को मारने के निमित्त सर्वेश्वर सर्वनियन्ता, सर्व कारण श्रीभगवान् की सत्ता को विलुप्त करने के निमित्त यह सब प्रवृत्त हुए हैं । हे परम करुण प्रभो ! दैत्यगण की दुर्गति को विनष्ट करके निज पादाब्ज भक्तिसे इन सबको कृतार्थ करो । उपरिचर वसुकी करुण प्रार्थना से दैत्यगण भगवद्भक्त हो गये थे । इस से प्रतिपन्न हुआ कि—दुर्गत अपराधी जन के प्रति भी यदि भगवत् कृपा होती है तो उस व्यक्ति की दुर्गति विनष्ट होती है, एवं अपराध दोष की भी शान्ति होकर श्रीभगवत् पदारविन्द में भक्ति होती है

इस अभिप्राय को व्यक्त करने के निमित्त विष्णु धर्म के कथित है—

"अनेकजन्मसंसारचिते पापसमूच्चये ।
नाक्षीणे जायते पुंसां गोविन्दाभिमुखी मतिः ॥"५२६॥

अर्थात् अनेक जन्म पर्य्यन्त संसार वासना द्वारा सञ्चित पाप राशि का क्षय न होने से मानववृन्द की मति श्रीगोविन्द चरणों में उन्मुख नहीं होती है ।

यहाँ पर संशय हो सकता है कि भा० ७।९।४४ में श्रीप्रह्लाद ने कहा है—

"नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्ष एको,
नान्यस्त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये ॥"

हे नाथ ! मैं इस संसार चक्र में भ्रमण शील सुदुःखित जीवगण को परित्याग करके एकाकी मुक्त होना नहीं चाहता हूँ । यह सब निराश्रय संसारी जीव, हैं, आप कृपालु हैं, आप को छोड़कर यह सब जीवों का आश्रय कोई नहीं हैं । प्रह्लाद भक्तोत्तम थे, संसारी जीवों के प्रति उनकी सहज कृपा होने पर भी सब जीव मुक्त क्यों नहीं हुये ? उत्तर में कहते हैं—जीव अनन्त परिमाण में हैं, समस्त जीवों की कथा श्रीप्रह्लाद के हृदय में उदित नहीं हुई थी, किन्तु समीपवर्त्ती जितने जीवों को देखे थे, अथवा सुने थे उनके प्रति हृदय में

(भा० ७।१०।१४) —

"य एतत् कीर्त्तयेन्मह्यं त्वया गीतमिदं नरः।
त्वाञ्च माञ्च स्मरन् काले कर्म्मबन्धात् प्रमुच्यते ॥"५२७॥ इति।

यस्त्वां कीर्त्तयेदपि, किं पुनस्त्वं यान् कृपया स्मरसीति भावः। तस्मात् साधूक्तम्— "भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवेत्" इति ॥ मुचुकुन्दः श्रीभगवन्तम् ॥

१८०। ततः सत्सङ्गस्यैव तत्र निदानत्वं सिद्धम्, तच्च युक्तम्। अनादिसिद्ध-तदज्ञानमय-तद्वैमुख्यवतामन्यथा हि तदसम्भवः। तदुक्तम् (महा-भा० वन-प० ३१२।११७)—

"तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना, नासावृषिर्यस्य मतं न भिन्नम्।
धर्म्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां, महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥"५२८॥ इति।

में करुणा जगी थी, एवं यह सब जीवों के दुःख से कातर होकर श्रीनृसिंह चरणों में प्रार्थना किये थे। अतएव उन सब जीवों का उद्धार ही हुआ था। मूल श्लोक में भी "नैतान् विहाय" कहा गया है। अर्थात् यह सब जीव को उद्धार करें। यहाँ 'एतत्' शब्द का प्रयोग हुआ है। इस से समीपवर्ती जीवों की कथा व्यक्त होती है। किन्तु समस्त जीवों के दुःख से कातर होकर प्रह्लाद उन सब को मुक्त करने निमित्त प्रार्थना नहीं किये थे।

किन्तु जिस के विषय में श्रीप्रह्लाद ने प्रार्थना नहीं की उन सब का मङ्गल प्रह्लाद कृत स्त्रोत्र का स्मरण एवं कीर्त्तन से ही होगा। भा० ७ १०।१४। में श्रीनृसिंह देवने भी कहा है—

"य एतत कीर्त्तयेन्मह्यं त्वया गीतमिदं नरः।
त्वाञ्च माञ्च स्मरन् काले कर्म्मबन्धात् प्रमुच्यते ॥"५२७॥

टीका—किञ्च य इति। त्वाञ्च माञ्च इदं मच्चरितञ्च स्मरन् एतत् स्त्रोत्रं यः कीर्त्तयेत्। सोऽपि कर्मबन्धाद्विमुच्यते कुतस्तव बन्ध शङ्केत्यर्थः ॥

हे प्रह्लाद ! मेरी सन्तुष्टि हेतु तुमने जो स्तव किया। इस का कीर्त्तन जो करेगा, एवं तुम को एवं मुझ को स्मरण करता हुआ उक्त स्तव का कीर्त्तन करेगा, वह कर्म बन्ध से मुक्त होकर मोक्ष लाभ करेगा, अर्थात् मेरे चरणों में पराभक्ति लाभ करेगा। अतएव परदुःख को देखकर तुम जो दुःखी हुये, एवं प्रार्थना किये थे, सब दुःखी लोक मुक्त हो जायें, इस विषय में सन्देह ही क्या ? अतएव मुचुकुन्द महाराज ने श्री कृष्ण की स्तुति के अवसर पर जो कहा—"भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवेत्" अर्थात् जीव का संसार क्षय उपस्थित होने के समय साधुसङ्ग होता है—यह अत्युत्तमकथन है।

मुचुकन्द श्रीभगवान् को कहे थे ॥१७९॥

१८०। अतएव भगवत् वहिर्मुख जीव की भगवत् उन्मुखता के प्रति सत्सङ्ग ही एक मात्र कारण है। विचार पूर्वक यह सुसिद्ध हुआ। वह युक्ति युक्त भी है। कारण, अनादि काल से भगवद् विषयक अज्ञान रूप भगवद् वैमुख्य विशिष्ट जीव वृन्द की अपर किसी भी उपाय से भगवदुन्मुखता नहीं हो सकती है। तज्जन्य ऋषि ने कहा है—

"तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना, नासावृषिर्यस्य मतं न भिन्नम्।
धर्म्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां, महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥"५२८॥

तर्क की प्रतिष्ठा नहीं है, एक व्यक्ति विचार पूर्वक वस्तु स्थापन करने पर अपर व्यक्ति उस को

तथैव श्रीप्रह्लादवाक्यम् (भा०७।५।३०-३२)—"मतिर्न कृष्णे परतः स्वतो वा, मिथोऽभिपद्येत गृहव्रतानाम्" इत्युपक्रम्य—

"नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं, स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः ।
महीयसां पादरजोऽभिषेकं, निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत् ॥"५२९॥ इति ।

तथा तद्विमुख-कर्म्मादिभिस्तत्साम्मुख्य-प्रतिपत्तेश्चात्यन्तायोगः (कठ० १।२।१४) "अन्यत्र धर्म्मादन्यत्राधर्म्मादन्यत्रास्मात् कृताकृतात् । अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च" इति श्रुत्यादेः, (बृ०

खण्डन करके निज मत स्थापन करता है। इस रीति से तर्कका स्थायित्व नहीं हो सकता है। एवं ऋषि गण के मध्य में भी ऐकमत्य है ही नहीं। धर्म का यथार्थ स्वरूप महानुभव गण के हृदय गुहा में निहित है, अतएव जिस साधन पथ को अवलम्बन करके महापुरुष वृन्द निज अभीष्ट लाभ किये हैं, उन महाजन गण कर्त्तृक प्रवर्त्तितपन्था ही अभीष्ट वस्तु लाभ का अभ्रान्त उपाय है। उस प्रकार ही भक्त प्रवर श्रीप्रह्लाद महाशय ने भी कहा है--भा० ७।५।३०-३२

"मतिर्न कृष्णे परतः स्वतो वा, मिथोऽभिपद्येत गृहव्रतानाम् ।
अदान्तगोभिर्विशतां तमिस्रां पुनः पुनश्चर्वित चर्वणानाम् ॥

टीका—"आस्तामियं वार्त्ता। त्वादृशानां विषयासक्तानां अत्रानधिकारादित्याशयेनाह मतिरिति। परतो गुरोः स्वतो वा मिथो वा अन्योन्यतः नाभिपद्येत न संपद्येत। एषां गृहव्रतानां, गृह एव व्रतं संकल्प इति कर्त्तव्यता चिन्ता येषाम्। अतएव, अदान्तै रनुपरतै र्गोभिरिन्द्रियै र्हेतुभूतैस्तमिस्रं संसारं विशताम्। तत्र चर्वितस्यैवचर्वणं येषाम् ॥"

श्रीकृष्ण में मति, दूसरे के द्वारा नहीं होती है, स्वयं भी नहीं होती है, और परस्पर समालोचना द्वारा भी नहीं होती है। गृह सुख अर्थात् स्त्री पुत्र प्रभृति भरण पोषण करना ही जिस का एकमात्र लक्ष्य वा व्रत है, वे सब इन्द्रियावेग से अज्ञानमय नरक के और द्रुत गति से धावित होते रहते हैं, वे सब चिर काल से विषय भोग करते आ रहे हैं, एवं पुनर्वार उसी का चर्व्वित चर्वण करने में समुत्सुक भी हैं। यह सब जीव, जब तक निष्किञ्चन महापुरुष वृन्द की चरण रजः के द्वारा स्वयं को अभिषिक्त करने की प्रार्थना नहीं कहते हैं, तब तक उनकी मति, श्रीकृष्ण चरण कमल को स्पर्श नहीं कर सकती है। इस से महापुरुषों का सङ्ग वा उनकी कृपा ही जो भगवदुन्मुखता के प्रति कारण है—यह सिद्ध हुआ। इस प्रकार उपक्रम करके ही कहा गया है—

"नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं, स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः ।
महीयसां पादरजोऽभिषेकं, निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत् ॥"५२९॥

टीका—ननु चैकोदेवः सर्व भूतेषु गूढ़ः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। इत्यादि श्रुति प्रतिपादितं विष्णुं कथं न विदुः, कुतो वा तेषां तमिस्र प्रवेश, तत्राह—नैषामिति। निष्किञ्चनानां, निरस्त विषयाभिमानानां, महत्तमानां पादरजसाभिषेकं यावन्न वृणीत, तावत् श्रुति वाक्यतो ज्ञातेऽपि एषां मतिरुरुक्रमाङ्घ्रिन स्पृशति, न प्राप्नोति। असम्भावनाविभि विहन्येत इत्यर्थः। अनर्थस्य संसारस्यापगमो यदर्थः, यस्या अङ्घ्रिस्पर्शिन्या मतेरर्थः प्रयोजनम्। महदनुग्रहाभावान्न तत्त्व निश्चयो नापिमोक्षस्तेषामित्यर्थः।

अतएव उस प्रकार भगवत् वहिर्मुख जड़ीय कर्मादि द्वारा भी श्रीभगवत् उन्मुखता लाभ करना

४।४।२२) "तमेतमात्मानं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन" इति श्रुत्यादिकन्तु तत्साम्मुख्येनैव प्रयुक्तानि कर्म्माण्यभिदधाति। तर्हि तदेव साम्मुख्यं कथं स्यादिति पुनरपि हेतुरेव प्रष्टव्यः स्यात्। अथ भगवत् कृपैव तत्साम्मुख्ये प्राथमिकं कारणमिति च गौणम्। सा हि संसारदुरन्तानन्त-सन्तापसन्तप्तेष्वपि तद्विमुखेषु स्वतन्त्रा न प्रवर्त्तते, तदसम्भवात्। कृपारूपश्चेतोविकारो हि परदुःखस्य स्वचेतसि स्पर्शे सत्येव जायते। तस्य तु सदा परमानन्दैकरसत्वेनापहत-कल्मषत्वेन च श्रुतौ जीवविलक्षणत्वसाधनात् तेजोमालिन-

---

सर्वथा असम्भव है। कारण श्रुति कहती है—"अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात् कृताकृतात्। अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च" वह परतत्त्व वस्तुलाभ धर्म से भी नहीं होता है, अधर्म से भी वस्तु लाभ नहीं होता है, क्रियमाण कर्म से अथवा करिष्यमाण कर्म से भी लाभ करना असम्भव है। अर्थात् श्रीभगवान्, धर्म, अधर्म, कृत कर्म्म, क्रियमाण कर्म एवं करिष्यमाण कर्मका अविषय हैं, श्रीभगवान्, एकमात्र भक्ति गम्य हैं। बृहदारण्यक श्रुति भी इस प्रकार है—

"तमेतमात्मानं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन"

ब्राह्मण वृन्द, उन चैतन्य स्वरूप निर्विषय आत्मा को वेदानुकूल वचन के द्वारा जानने के इच्छुक हैं। आत्मा को यज्ञ द्वारा, दान द्वारा, तपस्या द्वारा, अनशन द्वारा प्राप्त करने के इच्छुक वे नहीं हैं। अतएव उक्त समस्त आचरण यदि भगवत् साम्मुख्य लाभ हेतु विनियुक्त होते, हैं, तो उक्त साधन समूह के द्वारा आत्मा को अवगत हो सकते हैं।

जब तक सत्सङ्ग नहीं होगा, तब तक अनुष्ठित साधन समूह भगवदुन्मुखता सम्पादन में सक्षम नहीं होते हैं, किन्तु साधुसङ्ग लाभ के पश्चात् भी जब भगवत् प्राप्ति नहीं होती है, तब भगवत् प्राप्ति का उपाय की जिज्ञासा कहाँ की जायगी? जिज्ञासा उत्पन्न होने पर अभ्रान्त प्रमाण रूप वेद वचन को मानना कर्त्तव्य है। अभीष्ट वस्तु प्राप्ति के अनुकूल में वेद वचन के अनुशीलन करने पर वेद विहित दान तपस्या प्रभृति भगवत् प्राप्ति हेतु सहायक होते हैं। साधुसङ्ग व्यतीत भगवत् प्राप्ति हेतु यथार्थ आकाङ्क्षा भी नहीं होती है। एवं साधनानुष्ठान जनित गर्व उत्पन्न होकर निविड़ भगवत् वहिर्मुखता हो जाती है।

ऐसा होने पर पुनर्वार भगवत् साम्मुख्य का हेतु जिज्ञास्य हो जाता है, अर्थात् कैसे भगवत् साम्मुख्य होगा? उत्तर में कहते हैं—भगवत् कृपा ही भगवत् साम्मुख्य का मूल कारण है, यदि यह निश्चय होता है, तो असम्भव ही होगा। कारण, भगवदुन्मुखता के प्रति भगवत् कृपा गौण कारण है। कारण, भगवत् कृपा सांसारिक दुरन्त अनन्त सन्ताप से सन्तप्त अत्यन्त भगवद् वहिर्मुख व्यक्ति के प्रति स्वतन्त्र भाव से प्रवृत्त नहीं होती है। कारण, भगवद् वहिर्मुख जन के प्रति भगवत् कृपा होना असम्भव है। हृदय विकार विशेष को कृपा कहते हैं, दूसरे का दुःख से हृदय विभोर होने पर जो चित्त द्रव होता है उस से कृपा का आविर्भाव होता है। अर्थात् अपर का दुःख यदि हृदय को स्पर्श नहीं करता है तो, पर दुःख कातरता रूप कृपा का उद्भव कैसे हो सकता है?

श्रीभगवान् को श्रुति प्रति पादन करती है—भगवान्-परमानन्दैक स्वरूप, अपहत पाप्मा एवं जीव स्वरूप से विलक्षण स्वरूप हैं। जीव जिस प्रकार दुःखादि एवं पापादि से मलिन वा लिप्त होता है, भगवान् उस प्राकृत दुःख वा पापादि से लिप्त नहीं होते हैं एवं मलिन भी नहीं होते हैं। तेज स्वरूप सूर्य्य को जिस प्रकार अन्धकार स्पर्श करने में अक्षम है। उस प्रकार अखण्ड आनन्द स्वरूप श्रीभगवान् के चित्त में अन्धकार

स्तिमिरायोगवत्तच्चेतस्यापि तमोमयदुःखस्पर्शनासम्भवेन तत्र तस्या जन्मासम्भवः। अतएव सर्व्वदा विराजमानेऽपि कर्त्तु मकर्त्तु मन्यथाकर्त्तु समर्थे तस्मिंस्तद्विमुखानां न संसारसन्ताप-शान्तिः। अतः सत्कृपैवावशिष्यते। सन्तोऽपि तदानीं यद्यपि संसारदुःखैर्न स्पृश्यन्त एव, तथापि लब्धजागराः स्वप्नदुःखवत्त्वे कदाचित् स्मरेयुरपीत्यत स्तेषां सांसारिकेऽपि कृपा भवति, यथा श्रीनारदस्य नलकूवरमणिग्रीवयोः। तस्मात् प्रस्तुतेऽपि सांसारिकदुःखस्य

स्वरूप दुःख का स्पर्श होना असम्भव है। अतएव श्रीभगवान् के हृदय में सांसारिक जीव के प्रति कृपा का उदय होना असम्भव है। अतएव प्रभु भगवान्—कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथा कर्त्तुं समर्थ भगवान् अर्थात् करने में न करने में अन्यथा करने में समर्थ भगवान् जीव के हृदय में सर्वदा अन्तर्यामी रूप में विद्यमान होने पर भी भगवद् वहिर्मुख जन निकर की संसार दुःख निवृत्ति नहीं होती है। यदि भगवान् का हृदय सांसारिक जीव के दुःख से दुःखी होता तो समर्थ एवं कृपा स्वभाव भगवान् अवश्य ही जीव के दुःख को विदूरित कर देते। अतएव श्रीभगवत् कृपा भगवदुन्मखता हेतु कारण नहीं है। अतएव साधु कृपा ही भगवद् उन्मुखता के प्रति प्राथमिक कारण है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि—साधु कृपा से भगवदुन्मुखता होती है, किन्तु साधु के हृदय में परमानन्द कन्द श्रीभगवान् नित्य विराज मान हैं, सुतरां साधु हृदय को सांसारिक जीव का दुःख, स्पर्श कैसे करेगा? अर्थात् जड़ीय वस्तु के सहित रचित मानस सम्बन्ध जनित जो सुख दुःख उपस्थित होते हैं—वे जिन के हृदय में आनन्दमय श्रीभगवान् की चरण नख चन्द्रिका के किरण द्वारा निखिल सन्ताप विदूरित हो गये हैं, सांसारिक जीव का दुःख उनके हृदय को कैसे स्पर्श करेगा? चन्द्रोदय होने से जिस प्रकार सूर्य्य सन्ताप स्पर्श नहीं होता, उस प्रकार जिन के हृदय गगन निरन्तर श्रीहरि चरण नख ज्योत्स्ना से सुशीतल है, उनके हृदय में कैसे संसार ताप उपस्थित होगा? उत्तर में कहते हैं,—सत्य है, यद्यपि साधु के हृदय में सांसारिक दुःख प्रविष्ट नहीं हो सकता है। तथापि जिस का जागरण निद्रा से हुआ है, उस के हृदय में स्वाप्निक दुःखानुभव रहता है, जाग्रत अवस्था में स्वाप्निक दुःख का अनुभव होता है, उस प्रकार, जो लोक महत् कृपा से संसार दुःख से मुक्त होकर भगवदनुभवानन्द में विभोर हैं, उन के हृदय में विगत सांसारिक दुःख का स्मरण समय समय पर होता है। उस से ही भगवद् वहिर्मुख जीवों के प्रति हृदय विगलित होकर कृपा होती है। जिस प्रकार भा० १०।६ नल कुवर मणिग्रीव के प्रति महर्षि नारद की कृपा वर्णित है। महापुरुष वृन्द की कृपा के प्रति सांसारिक दुःखानुभव की कारणता नहीं है, इसका कथन पूर्व में हुआ है। तथापि जिस प्रकार जल मग्न व्यक्ति, तीर में दैवात् उपस्थित होकर स्वास्थ्य लाभ करने पर भी अपर को तरङ्गवती नदी में निमज्जित होते देख कर स्वीय दुःखानुभव के द्वारा करुणा का उद्रेक होता है, एवं जल मग्न व्यक्ति को उद्धार करने के निमित्त सक्रिय प्रचेष्ट भी होती है। उस प्रकार संसार दुःख से उत्तीर्ण होकर भगवदनुभवानन्द में विभोर होने पर भी सांसारिक जन के दुःख को देखकर महत् का कोमल चित्त विगलित होता है, एवं उस को उद्धार भी करते हैं। उस का ही दृष्टान्त है श्रीपाद देवर्षि नारद की नलकुवर मणिग्रीव के प्रति अहैतुकी करुणा। अतएव कृपा के प्रति सांसारिक दुःखानुभव की कारणता प्रस्तुत दृष्टान्त में नहीं है। किन्तु परमेश्वर की कृपा,—"श्रीभगवान् ही मेरा एक मात्र आश्रय है" इस प्रकार दैन्यात्मिका भक्ति के सम्बन्ध में ही होती है। अर्थात् जब तक भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों में ऐकान्तिक भाव से शरणागत होकर "श्रीकृष्ण को छोड़कर मेरा अन्य आश्रय नहीं है" इस प्रकार दीन भाव का उदय नहीं होता है, तब तक श्रीकृष्ण कृपा का उदय नहीं होगा। जिस प्रकार गजेन्द्र प्रभृति के प्रति दैन्योदय होने के कारण ही कृपा हुई है। किन्तु नारकी प्रभृति के प्रति भगवत् कृपा नहीं होती है। कारण, नारकी प्रभृति विलिष्ट जीवों में गजेन्द्र प्रभृति के समान ऐकान्तिकी भगवत् शरणा गति

तद्धेतुत्वाभावात् परमेश्वरकृपा तु, स एवात्र मम शरणमित्यादिदैन्यात्मकभक्तिसम्बन्धेनैव जायते, यथा गजेन्द्रादौ, व्यतिरेके नारकयादौ । भक्तिर्हि भक्तकोटिप्रविष्ट-तदार्द्रीभावयितृ-तच्छक्तिविशेष इति विवृतं विवरिष्यते च । दैन्य-सम्बन्धेन च साधिकमुच्छलिता भवतीति तत्र तदाधिक्यम् । तस्माद् या कृपा तस्य सत्सु वर्त्तते,सा सत्सङ्गवाहनैव वा सत्कृपावाहनैव वा सती जीवान्तरे संक्रमते, न स्वतन्त्रेति स्थितम् । तथैव चाहुः (भा० १०।२।३१) —

(१८०) "स्वयं समुत्तीर्य्य सुदुस्तरं द्युमन्, भवार्णवं भीममदभ्रसौहृदाः ।
भवत्पदाम्भोरुहनावमत्र ते, निधाय याताः सदनुग्रहो भवान् ।।"५३०।।

नहीं है । भगवद् गीता में भी इस प्रकार अभिप्राय सुव्यक्त हुआ है—

"तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत !
तत् प्रसादात् परां शान्ति स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ।।"

हे अर्ज्जुन ! सर्व भाव से उन सर्व नियामक परमेश्वर की शरण ग्रहण करो । निष्किञ्चन भाव से शरण ग्रहण करने पर परमेश्वर के हृदय में कृपोद्रेक होगा एवं उस करुणा से पराशान्ति एवं शाश्वत स्थान लाभ करोगे ।

इस से सुस्पष्ट प्रतीत होता है कि—शरणा गति के द्वारा ही श्रीभगवत् कृपा को प्राप्त कर सकते हैं । भक्त के प्रति श्रीभगवान् की जो कृपा होती है. उसका कारण ही है—भक्ति । "भक्तिर्हि भक्त कोटि प्रविष्ट तदार्द्री भावयितृ तच्छक्ति विशेषः " भक्ति, श्रीभगवान् की एक विशेष शक्ति है । यह शक्ति जब तक श्रीभगवत् स्वरूप में अवस्थान करती है, तब उस को शक्ति कहते हैं । वह शक्ति भक्त हृदय रूप आधार के साद्गुण्यसे एक अनिर्वचनीय क्षमता मण्डित होती है । जो श्रीभगवान् के हृदयको भक्तके प्रति विशेष रूप से विगलित कर देती है । इसका वर्णन पहले हुआ है, एवं प्रीति सन्दर्भ में भी इस का विशेष वर्णन होगा ।

यह विशेष शक्ति— दैन्य सम्बन्ध में अत्यधिक उच्छलिता होती है । जहाँ जितने परिमाण में दैन्याधिक्य प्रकट होता है । वहाँ उतने परिमाण में भक्ति का अधिक्य प्रकट होता है । दैन्य ही भक्ति का परिमापक है । दैन्य के द्वारा ही भक्ति के न्यूनाधिक्य का परिचय लाभ होता है । अतएव श्रीभगवान् की जो कृपा साधु वृन्द में विद्यमान है, वह भगवत् कृपा ही सत् सङ्ग वाहना होकर ही हो अथवा सत् कृपा वाहना होकर ही हो, भगवद् वहिर्मुख जीव गण में संक्रमित होती रहती है । किन्तु स्वतन्त्र रूप से भगवत् कृपा वहिर्मुख जीव के प्रति सङ्गता नहीं होती है । उस प्रकार ही भा० १०।२।३१ में ब्रह्मादि देवगण कंस कारागार में श्री देवकी देवी के हृदय गगन में श्रीकृष्ण नवजलधर को लक्ष्य करके कहे थे—

(१८०) "स्वयं समुत्तीर्य्य सुदुस्तरं द्युमन्, भवार्णवं भीममदभ्रसौहृदाः ।
भवत्पदाम्भोरुहनावमत्र ते, निधाय याताः सदनुग्रहो भवान् ।।"५३०।।

टीका—ननु तेन पोतेन पूर्वेचेत् पारं गतास्तर्हीदानीन्तनानां का गतिस्तत्राहुः । स्वयमिति । अयमर्थः । हे द्युमन् ! स्व प्रकाश ! त्वत्पादपोतसान्निध्यमात्रेण भवाम्बुधौ वत्सपदमात्रेजाते अतस्तन्निरपेक्षं स्वयमेवान्येषां भीमं दुस्तरमपि भवार्णवं समुत्तीर्य्य भवत् पदाम्भोरुहरूपां नावमत्रैव निधाय भक्तिमार्गसम्प्रदायं प्रवर्त्त्येत्यर्थः । पारं याताः । तत् किम् ? यतोऽदभ्रसौहृदाः- सर्व भूतेषु अति प्रीति युक्ताः । अतस्ते अन्येषां

हे द्युमन् ! स्वप्रकाश ! भवत्पदाम्भोरुह-लक्षणा या नौर्भवार्णवतरणोपायस्तामत्र भवार्णवपारे निधाय उत्तरोत्तारजनेषु प्रकाशयेत्यर्थः । ननु कथं तां न स्वयं प्रकाशयामि, कथमिव तेषामपेक्षा ? तत्राह,–सद्भिरेव द्वारभूतैरन्याननुगृह्णाति यः स सदनुग्रहो भवानिति, यद्वा, सन्त एवानुग्रहो यस्य सः । तवानुग्रहो यः प्रापञ्चिके चरति, स तदाकारतयैव चरति, नान्य-रूपतयेत्यर्थः । यथोक्तं रुद्रगीते (भा० ४।२४।५८) —

"अथानघाङ्घ्रे स्तव कीर्त्तितीर्थयो-,रन्तर्बहिःस्नानविधूतपाप्मनाम् ।
भुतेष्वनुक्रोशसुसत्त्वशीलिनां, स्यात् सङ्गमोऽनुग्रह एष नस्तव ॥"५३१॥ इति ।

सत्स्वनुग्रहो यस्येति व्याख्यानेऽपि तद्विमुखेष्वसत्सु तवानुग्रहो नास्तीति प्राप्तेः सद्द्वारैव तत्प्रकाशनमुचितमित्येवायाति, तदेवम्—

तरणाय निधायेति । कथं तत् पाद पोतश्रयण मात्रेण तीर्णा अत उक्तम् भवान् सदनुग्रहः । सतो भक्तानुगृह्णातीति ।

हे द्युमन् ! स्व प्रकाश, आप की चरण कमल लक्षणा जो तरणी, संसार सागरोत्तीर्ण होने का उपाय है, उस को संसार सागर के पार में रख कर ही अर्थात् जो सब जीव, भविष्य में आयेंगे, उन सब के निकट आप के चरण कमल की साधन भक्ति रूपी तरणी को प्रकाश कर, अर्थात् साधन भक्ति सम्प्रदाय को जगत् में प्रवर्त्तन करके माया उत्तीर्ण होकर निज अभीष्ट भगवत् धाम में गमन करते हैं, प्रश्न हो सकता कि—श्रीभगवान् स्वयं निज चरण कमल की साधन भक्ति का प्रचार क्यों नहीं करते हैं ? एवं साधु वृन्द की अपेक्षा क्यों करते हैं ? अर्थात् साधन भक्ति का प्रचार जगत् में वे सब ही करेंगे, इस प्रकार अपेक्षा क्यों करते हैं ? उत्तर में कहा है—"सदनुग्रहो भवान्" अर्थात् साधु गण को निमित्त करके अन्य जीव वृन्द को अनुग्रह करते हैं, अतः भगवान् का अपर नाम सदनुग्रह है । अथवा साधु गण ही जिनका अनुग्रह हैं, अर्थात् साधुगण ही भगवान् की कृपा की मूर्त्ति हैं। साधुसङ्ग ही श्रीभगवत् कृपा है । श्रीभगवान् के जो अनुग्रह जगत् जीवों के प्रति प्रकाशित होता है, वह साधु सङ्ग के आकार में ही प्रकटित होता है, अपर किसी प्रकार से प्रापञ्चिक जीव के प्रति आप की कृपा प्रकटित नहीं होती ।

अतएव (भा० ४।२४।५८) रुद्रगीत में उक्त है—

"अथानघाङ्घ्रे स्तव कीर्त्तितीर्थयो-,रन्तर्बहिःस्नानविधूतपाप्मनाम् ।
भूतेष्वनुक्रोशसुसत्त्वशीलिनां, स्यात् सङ्गमोऽनुग्रह एष नस्तव ॥"५३१॥

टीका—अत अतो हेतोः। अनघौ अघहरौ, अङ्घ्री यस्य तस्य । तव कीर्त्तिर्यशः तीर्थं गङ्गा, तयोः क्रमेण अन्तर्बहिः स्नानाभ्यां विधूतं पाप्मा येषाम्, अतएव भूतेषु अनुक्रोशः कृपा सुसत्त्वञ्च रागादिरहितं चित्तं शीलञ्च आर्जवादि विद्यते येषां तेषां सङ्गमोऽस्माकं स्यात् एष एव नः त्वदनुग्रहः ।

हे नाथ ! आप के चरण युगल सर्व पाप हारी हैं, आप की कीर्त्ति ही तीर्थ है, उस में स्नान कर जिन्होंने अन्तर बाहर के निखिल पापों को विधौत किया है । अतएव प्राणि मात्र के प्रति कृपा एवं सारल्य प्रभृति गुणों से जो सब विभूषित हैं, उन के सङ्ग ही आप का अनुग्रह है । अर्थात् आप का भक्त सङ्ग ही आप का अनुग्रह है । कतिपय व्यक्ति "स्वयं समुत्तीर्य्य" श्लोकस्थ "सदनुग्रहोभवान्" पद का अर्थ करते हैं—"सत्सु अनुग्रहोयस्य" अर्थात् साधु वृन्द में अनुग्रह है, जिस का । इस प्रकार व्याख्या करने पर भी अर्थ

"जायमानं हि पुरुषं पश्येद् यं मधुसूदनः। सात्त्विकः स तु विज्ञेयो भवेन्मोक्षार्थनिश्चितः॥"५३२॥

इति मोक्षधर्म्मवचनमपि सत्सङ्गानन्तरजन्मपरमेव बोद्धव्यम्॥ देवाः श्रीभगवन्तम्॥

१८१। ततः सत्सङ्गहेतुश्च सतां स्वैरचारितैव, नान्यः, यथाह (भा० ११।२।२४) —

(१८१) "त एकदा निमेः सत्रमुपाजग्मुर्यदृच्छया" इति।

ते नवयोगेश्वरा यदृच्छया स्वैरतया, न तु हेत्वन्तरप्रयुक्ततयेत्यर्थः, "यदृच्छा स्वैरिता" इत्यमरः। सत्सु परमेश्वरप्रयोक्तृत्वञ्च सदिच्छानुसारेणैव, तदुक्तम्, (भा० १०।१४।२) —

होताहै—साधु गण ही अनुग्रह हैं। किन्तु भगवद् विमुख असाधु गण के प्रति आप का अनुग्रह नहीं होता है, साधुगण के द्वारा ही भगवत् कृपा का प्रकाश होना उचित है। इस प्रकार तात्पर्य्य प्रकाशित होता है। मोक्षधर्म में भी उक्त है—

"जायमानं हि पुरुषं पश्येद् यं मधुसूदनः।
सात्त्विकः स तु विज्ञेयो भवेन्मोक्षार्थनिश्चितः॥"५३२॥

भगवान् मधुसूदन—देहधारी जिस को देखते हैं, समझना होगा कि वह सात्त्विक व्यक्ति निश्चय ही मुक्त होगा। इस में भी कथित है—सत्सङ्ग प्राप्त करने के बाद जो जन्म ग्रहण करते हैं, उस जन्म को लक्ष्य करके ही इस प्रकार कहा गया है। देव गण श्रीभगवान् को कहे थे॥१८०॥

१८१। अतएव सत्सङ्ग ही भगवद् वहिर्मुख जीव की भगवदुन्मुखता के प्रति अव्यभिचारी कारण है, यह निश्चित हुआ है। किन्तु सत्सङ्ग के प्रति हेतु क्या है? उत्तर में कहते हैं—साधुवृन्द की स्वैरता ही सत्सङ्ग के प्रति कारण है। अर्थात् साधुगण निजेच्छा प्रेरित होकर ही वहिर्मुख जीव के सहित मिलित होते हैं। अपर कुछ भी कारण नहीं है। अपर कारण प्रयुक्त होने से उस से भक्ति लाभ की सम्भावना नहीं है। भा० ११।२।२४ में उक्त है—

(१८१) "त एकदा निमेः सत्रमुपाजग्मुर्यदृच्छया॥"

टीका—महात्मनो निमेः। वितायमानं—अनुष्ठियमानम्। अजनाभे भारतवर्षे।

यह सब महापुरुष वृन्द किसी एक समय में यदृच्छा क्रम से निमिमहाराज के यज्ञ स्थल में आगमन किये थे। वे नव योगेश्वर यदृच्छा क्रम से ही निमिमहाराज के सत्र में आये थे। यहाँ 'यदृच्छा' पद से स्वैरिता अर्थ को जानना होगा। अन्य किसी प्रकार हेतु प्रेरित होकर नहीं आये थे। 'यदृच्छा शब्द का अर्थ अमर कोष कार के मत में 'स्वैरिता' है। साधु वृन्द के प्रति परमेश्वर का प्रेरण कर्त्तृत्व, साधुगण की इच्छा से ही होता है। अर्थात् परमेश्वर कर्त्तृक प्रयोजित होकर साधुगण वहिर्मुख जीव के निकट आते हैं, इस प्रकार अर्थ समीचीन नहीं है। कारण, भक्तेच्छा वशवर्त्ती होकर ही भगवान् समस्त कार्य्य करते हैं। तद् व्यतीत स्वतन्त्रभाव से श्रीभगवान् में किसी प्रकार इच्छा का उद्गम नहीं होता है। अतएव भा० १०।१४।२ में उक्त है—

"अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि
नेशे महि त्ववसितुं मनसान्तरेण साक्षात् तवैव किमुतात्मसुखानुभूतेः॥"

टीका—ननु नौमीति प्रतिज्ञाय किं स्वरूपानुवादमात्रं क्रियते। अत आह—अस्यापीति। भो देव! अस्यापि तुलभत्वेन प्रकाशितस्यापि तव वपुषोऽवतारस्य महि—महिमानम्, अवसितुं ज्ञातुं, कोऽपि, को ब्रह्मा, अहमपि, नेशे न शक्नोमि। यद्वा कश्चिदपि नेशे, न समर्थ आसीत्, सुलभत्वाय विशेषण द्वयम्।

"स्वेच्छामयस्य" इति, (भा० ९।४।६३) "अहं भक्तपराधीन" इति च ॥ श्रीनारदः ॥

१८२। तथा च (भा० ६।१४।१४) —

(१८२) "तस्यैकदा तु भवनमङ्गिरा भगवानृषिः।
लोकाननुचरन्नेतानुपागच्छद्यदृच्छया ॥"५३३॥

तस्य चित्रकेतोः, अत्रापि तदैव तस्य साम्मुख्यं जातम्, कालान्तरे तु प्रादुर्भूतमिति मन्तव्यम्। अतएव तद्विलापसमये श्रीमताङ्गिरसैव (भा० ६।१५।१६) "ब्रह्मण्यो भगवद्भक्तो नावसीदितुमर्हति" इत्युक्तम् ॥ श्रीशुकः ॥

१८३। सतां कृपा च दुरवस्थादर्शनमात्रोद्भवा, न स्वोपासनाद्यपेक्षा, यथा श्रीनारदस्य

मदनुग्रहस्य, मम अनुग्रहो यस्मात् तत्, मदनुग्रहं, तस्य, किञ्च स्वेच्छामयस्य स्वीयानां भक्तानां यथा यथा इच्छा तथा तथा भवतः। तर्हि किं ज्ञातुं न शक्यते-अत आह, नतु भूतमयस्य। अचिन्त्य शुद्ध सत्त्वात्मकस्य यदा अस्यैव तदा कथं पुनः साक्षात् तव केवलस्य आत्मसुखानुभूतेरेव स्वसुखानुभवमात्रस्यावतारिणो गुणातीतस्य, महिमानम्—आन्तरेण, निरुद्धेनापि मनसा को वा ज्ञातुं समर्थो भवेत्। अथवा, भूतमयस्य अपितु विराट् रूपस्य तव तन्नियम्यस्य वपुषो महिमानमेवावसितुं कोऽपि नेशे तदा साक्षात् तवैवासाधारणस्य नियम्यनियन्तृभेद रहितस्योक्त लक्षणस्यास्य महिमानमवसितुं कोऽपि नेश इति किमुवक्तव्यमित्यर्थः।

यहाँ पर 'स्वेच्छामयस्य' पद का प्रयोग उन अर्थ में ही हुआ है। अर्थात् भक्त वृन्द की जैसी इच्छा होती है, तदनुसार आप प्रकाशित होते हैं। भा० ९।४।६३ में भी श्रीभगवान् कहे हैं—

"अहं भक्त पराधीनोह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्त हृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः ॥"

अर्थात् मैं सब प्रकार से भक्त पराधीन हूँ, इस उक्ति से सुस्पष्ट प्रकाश हुआ है कि श्रीभगवान् की इच्छा, भक्त की इच्छा के अधीन ही है।

श्रीनारद कहे थे ॥१८१॥

१८२। भा० ६।१४।१४ में भी लिखित है—

(१८२) "तस्यैकदा तु भवनमङ्गिरा भगवानृषिः।
लोकाननुचरन्नेतानुपागच्छद्यदृच्छया ॥"५३३॥

श्रीशुकदेव परीक्षित् को कहे थे—एक समय भगवान् अङ्गिराऋषि इस लोक में विचरण करते करते यदृच्छाक्रम से चित्रकेतु महाराज के भवन में आये थे। यहाँ पर भी जिस समय श्रीअङ्गिरा ऋषि चित्रकेतु महाराज के भवन में आये थे, उस समय में ही उनका भगवत् साम्मुख्य हुआ था। कालान्तर में अर्थात् पुत्र की मृत्यु के पश्चात् श्रीपाद नारद के सङ्ग से वही उद्दीप्त अर्थात् प्रादुर्भूत हुआ था। यह जानना होगा। अतएव पुत्र की मृत्यु के पश्चात् जब चित्रकेतु महाराज विलाप कर रहे थे तब श्रीअङ्गिरा ऋषि कहे थे—

"ब्रह्मण्यो भगवद्भक्तो नावसीदितुमर्हति"

ब्राह्मण हितकारी भगवद् भक्त आप हैं, आप के पक्ष में अवसन्न होना उचित नहीं है। आप के पक्ष में पुत्रशोकाकुल होना अत्यन्त अनुचित है।

श्रीशुकदेव कहे थे ॥१८२॥

१८३। दुर्गत जनों की दुर्गति को देखकर ही सज्जनवृन्द की कृपा होती है, इस में निज उपासनादि

नलकूवर-मणिग्रीवयोः । तदाह भा० ११।२।६) —

(१८३) "भजन्ति ये यथा देवान् देवा अपि तथैव तान् ।
छायेव कर्म्मसचिवाः साधवो दीनवत्सलाः ॥"५३४॥

स्पष्टम् ॥ श्रीमानानकदुन्दुभिः ॥

१८४ । सत्सङ्गस्यैव परमसंस्कारहेतुत्वात्तदर्थं न पुरुषस्य संस्कार-हेत्वन्तरमपेक्ष्यञ्च, यत आह, (भा० १०।८४।११)—

(१८४) "न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः ।
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः ॥"५३५॥ इति ।

ते कथं नाद्रियन्ते, गौणत्वादित्याह—'ते पुनन्ति' इति ॥ श्रीभगवान् मुनिवर्गम् ॥

१८५ । तदेवं सत्सङ्गमात्रस्य तत्साम्मुख्यमात्रे निदानत्वमुक्तम् । एतदेव व्यतिरेकेणाह

की किसी प्रकार अपेक्षा नहीं रहती है । जिस प्रकार नल कुवर मणिग्रीव के प्रति देवर्षि नारद की कृपा हुई । इस में नल कूवर मणिग्रीव के द्वारा देवर्षि नारद जी की सेवा का कुछ भी प्रसङ्ग नहीं है । किन्तु अवज्ञा करने का ही संवाद सुनने में आता है । भा० ११।२।६ में उक्त है—

(१८३) "भजन्ति ये यथा देवान् देवा अपि तथैव तान् ।
छायेव कर्म्मसचिवाः साधवो दीनवत्सलाः ॥"५३४॥

टीका—किञ्च सुखं कुर्वन्तोऽपि देवा भजनानुसारेण कुर्वन्ति न तथा साधव इत्याह भजन्तीति । छायेव—यथा पुरुषो यावत् करोति, तावदेव तस्य छायादि तथा । कर्मसचिवाः — कर्मसहायाः ॥

श्रीवसुदेव श्रीनारद को कहे थे—जो देववृन्द का भजन जिस भाव से करते हैं, देववृन्द भी उसका भजन, छाया के समान करते रहते हैं । साधुगण किन्तु दीनवत्सल हैं, अर्थात् दीन जनके दुःख से दुःखित होते हैं । श्रीमान् आनक दुन्दुभि कहे थे ॥१८३॥

१८४ । सत्सङ्ग ही परम संस्कार स्वरूप है, अतः चित्त संस्कार के निमित्त मानव के पक्ष में हेत्वन्तर की अपेक्षा नहीं है । अर्थात् निज अभीष्ट भिन्न अपर वस्तु में आवेश जन्य जो चित्त मालिन्य होता है, उक्त मालिन्य दोषापसारण एकमात्र सत् सङ्ग से ही होता है । अतः चित्त शुद्धि के निमित्त अपर कुछ अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं है । वस्तुतः सत्सङ्ग के द्वारा जिस प्रकार अन्यावेश विदूरित होता है, उस प्रकार अपर साधन के द्वारा नहीं होता है, एवं निज अभीष्ट में वस्तु चित्त का आवेश उत्पन्न भी नहीं होता है । कारण—भा० १०।८४।११ में उक्त है,—

(१८४) "न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः ।
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः ॥"५३५॥ इति ।

श्रीकृष्ण श्रीअक्रूर को कहे थे—जलमय तीर्थ मृण्मय एवं प्रस्तर मय देवता वृन्द निरपराध से सेवित होने पर बहु काल के पश्चात् चित्त शोधन करते हैं । किन्तु भगवान् के भक्त वृन्द-दर्शन मात्र से ही प्रवित्र करते हैं । यहाँ जल मय तीर्थ एवं मृण्मय एवं प्रस्तर मय देवता वर्ग का समादर क्यों नहीं करगें ? उत्तर में कहते हैं—तीर्थ एवं देवता वृन्द दीर्घ काल में प्रवित्र करते हैं, अतः यह गौण हेतु है । साधुसङ्ग सत्वर

(भा० ५।१२।११-१२)—

(१८५) "ज्ञानं विशुद्धं परमार्थमेक,—मनन्तरं त्वबहिर्ब्रह्म सत्यम् ।
प्रत्यक् प्रशान्तं भगवच्छब्दसंज्ञं, यद्वासुदेवं कवयो वदन्ति ॥५३६॥
रहूगणैतत्तपसा न याति, न चेज्यया निर्व्वपणाद्‌गृहाद्वा ।
न छन्दसा नैव जलाग्निसूर्य्यै-,र्विना महत् पादरजोऽभिषेकम् ॥"५३७।

टीका च—"तर्हि किं सत्यम् ? तत्राह—ज्ञानं सत्यम् । व्यवहारिकसत्यत्वं व्यावर्त्तयति परमार्थम् । वृत्तिज्ञानव्यवच्छेदार्थानि षड् विशेषणानि,— विशुद्धम्, तत्तु आविद्यकम्, एकम्, तत्तु नानारूपम्, अनन्तरं त्वबहिर्वाह्याभ्यन्तरशून्यम्, तत्तु विपरीतम्, ब्रह्म परिपूर्णम्, तत्तु

ही चित्त को पवित्र करते हैं—अतः यह मुख्य हेतु है ॥१८४॥

१८५ । पूर्वोक्त रीति से भगवत् साम्मुख्य के विषय में सत् सङ्ग मात्र का कारणत्व निर्दिष्ट हुआ है । सत्सङ्ग के विना अपर किसी भी कारणों से भगवत् साम्मुख्य हो ही नहीं सकता, इस का प्रदर्शन भा० ५।१२।११-१२ के द्वारा व्यतिरेक मुख से करते हैं ।

(१८५) "ज्ञानं विशुद्धं परमार्थमेक--,मनन्तरं त्वबहिर्ब्रह्म सत्यम् ।
प्रत्यक् प्रशान्तं भगवच्छब्दसंज्ञं, यद्वासुदेवं कवयो वदन्ति ॥५३६॥
रहूगणैतत्तपसा न याति, न चेज्यया निर्व्वपणाद्‌गृहाद्वा ।
न छन्दसा नैव जलाग्निसूर्य्यै,—र्विना महत्पादरजोऽभिषेकम् ॥"५३७॥

भरत रहूगण को कहे थे—ज्ञान ही सत्य वस्तु है । व्यवहारिक ज्ञान की सत्यता निवृत्ति हेतु कहते हैं—वह ज्ञान पारमार्थिक है, अर्थात् पारमार्थिक सत्य है, काल रूप में ही वह ज्ञान अविकृत रूप में विद्यमान है । उक्त ज्ञान का इन्द्रिय वृत्तित्व निरास हेतु छं विशेषण द्वारा ज्ञान का वर्णन करते हैं । (१) वृत्ति ज्ञान अविद्या कल्पित है, किन्तु पारमार्थिक ज्ञान स्वयं प्रकाश है । पारमार्थिक ज्ञान एक प्रकार है—एकम् । (२) अर्थात् उसका प्रकार भेद नहीं है । व्यवहारिक ज्ञान नील पीतादि प्रकार भेद से विविध हैं । पारमार्थिक ज्ञान अनन्तर ऐवं अवहिः (३) अर्थात् वाह्याभ्यन्तर भेद शून्य है । व्यवहारिक ज्ञान किन्तु उसका विपरीत अर्थात् वाह्य आभ्यन्तर भेद युक्त है । पारमार्थिक ज्ञान ब्रह्म (४) अर्थात् परिपूर्ण है, जो ज्ञान प्राप्त करने से किसी विषय में अज्ञान नहीं रहता है । व्यवहारिक ज्ञान--परिच्छिन्न अर्थात् सीमाबद्ध है । एक वस्तु का ज्ञान होने पर अपर वस्तु का अज्ञान रह ही जाता है । पारमार्थिक ज्ञान प्रत्यक् (५) अर्थात् स्वयं प्रकाश अन्य निरपेक्ष स्वयं प्रकाश वा निर्विषय है । व्यवहारिक ज्ञान—किसी एक विषय को अवलम्बन कर उत्पन्न होता है । पारमार्थिक ज्ञान प्रशान्त है (६) अर्थात् निर्विकार है, व्यवहारिक ज्ञान सविकार है । यह षट् विशेषणों के द्वारा इन्द्रिय वृत्ति ज्ञान से पारमार्थिक ज्ञान का पार्थक्य प्रदर्शित हुआ एवं स्वरूप एवं ज्ञान का भी सत्यत्व प्रदर्शित हुआ । वह ज्ञान किस प्रकार है— उस को कहते हैं—षड् विध ऐश्वर्य्यादि गुणशाली होने के कारण भगवत् संज्ञा से अभिहित है । उक्त स्वरूप ज्ञान षड़ैश्वर्य्य पूर्ण होने के कारण भगवान् है । उक्त षड् विध ऐश्वर्य्य शाली ज्ञानी को कविगण वासुदेव कहते हैं । उस वासुदेव की प्राप्ति भी महत् सेवा भिन्न अपर किसी भी उपायों से नहीं होती है । हे रहू गण ! यह वासुदेव विषयक ज्ञान की तपस्या, वैदिक कर्म, प्रचुरतर अन्नादि दान, परोपकार, अग्नि जल प्रभृति उपासना के द्वारा लभ्य नहीं है । यह है टीका का अभिप्राय । यहाँ ज्ञातव्य यह है कि-ज्ञान पद का विशेषण रूप से ब्रह्म पद का उल्लेख

परिच्छिन्नम्, प्रत्यक्, तत्तु विषयाकारम्, प्रशान्तं निर्विकारम्, तत्तु सविकारम्, तदेवंस्वरूपं ज्ञानं सत्यमित्युक्तम् । कीदृशं तत् ? ऐश्वर्य्यादि-षड़् गुणत्वेन भगवच्छब्दः संज्ञा यस्य, यच्च ज्ञानं वासुदेवं वदन्ति । तत्प्राप्तिश्च महत्सेवां विना न भवतीत्याह—हे रहूगण ! एतज्ज्ञानं तपसा पुरुषो न याति, इज्यया वैदिककर्मणा, निर्वपणात् अन्नादिसंविभागेन, गृहाद्वा तन्निमित्तापरोपकारेण, छन्दसा वेदाभ्यासेन, जलाग्न्यादिभिरुपासितैः" इत्येषा । अत्र ब्रह्मत्ववादिना जीवस्वरूपं सूक्ष्मत्वादिधर्म्मकं ज्ञानमपि निरस्तं वेदितव्यम् । श्रीब्राह्मणोरहूगणम्

१८६ । तदेवं सत्सङ्ग एव तत्साम्मुख्यद्वारमित्युक्तम् । ते च सन्तस्तत्सम्मुखा एवात्र गृह्यन्ते, न तु वैदिकाचारमात्रपराः, अनुपयोगित्वात् । तत्र यादृशः सत्सङ्गस्तादृशमेव साम्मुख्यं भवतीति वक्तुं तेषु सत्सु ये महान्तस्तेषां द्वैविध्यमाह सार्द्धेन (भा० ५।५।२-३) —

(१८६) "महान्तस्ते समचित्ताः प्रशान्ता, विमन्यवः सुहृदः साधवो ये ।।
ये वा मयीशे कृतसौहृदार्था, जनेषु देहम्भरवार्त्तिकेषु ।।
गृहेषु जायात्मज-रातिमत्सु, न प्रीतियुक्ता यावदर्थाश्च लोके ।।" ५३८।

ये समचित्ता निर्व्विशेषब्रह्मनिष्ठास्ते महान्तस्तेषां शीलमाह—प्रशान्ता इत्यादि,

---

होने के कारण, जीव स्वरूप का ज्ञान निषिद्ध हुआ है । कारण, जीव स्वरूप, अणु है, एवं जिस ज्ञान में सूक्ष्मत्वादि धर्म है उस ज्ञान का भी निरास किया गया है । अर्थात् जीव स्वरूप ज्ञान, अथवा, अणुत्व धर्म युक्त ज्ञान परम प्रयोजन धर्म नहीं है । इस श्लोक में महत् कृपा व्यतीत अपर किसी भी उपायों से भगवदुन्मुखता नहीं हो सकती है, उसका वर्णन हुआ है ।

श्रीब्राह्मण—रहूगण को कहे थे ।।१८५।।

१८६ । उक्त रीति से सत्सङ्ग को ही भगवत् साम्मुख्य का द्वार निर्णीत हुआ है । जो सब साधु सङ्ग से वहिर्म्मुख जीव, भगवत् साम्मुख्य लाभ कर सकता है, यह सब साधु सतत भगवदुन्मुख न होने से भगवद् वहिर्मुख जीव को भगवदुन्मुख करने में सक्षम नहीं होंगे । केवल मात्र वेद विधि के अनुसार सदाचार परायण साधु सङ्ग भगवदुन्मुखता सम्पादन करने में अनुपयोगी है । उस में भी जिस का जिस जातीय साधु सङ्ग होगा, उस का उस जातीय भगवत् साम्मुख्य भी होगा । अतएव जो साधु शास्त्रीय महापुरुष लक्षणाक्रान्त है, अर्थात् जिन के हृदय में अनवरत श्रीभगवत् स्फूर्त्ति होती रहती है, उन लौकिक रीति के महापुरुष व्यतीत शास्त्रीय लक्षणाक्रान्त महापुरुष के सङ्ग से ही भगवदुन्मुखता होती है । उस प्रकार महापुरुष वृन्द द्विविध होते हैं, स लक्षण उसका वर्णन भा० ५।५।२--३ के सार्द्ध श्लोक के द्वारा करते हैं ।

(१८६) " महान्तस्ते समचित्ताः प्रशान्ता, विमन्यवः सुहृदः साधवो ये ।
ये वा मयीशे कृतसौहृदार्था, जनेषु देहम्भरवार्त्तिकेषु ।
गृहेषु जायात्मजरातिमत्सु, न प्रीतियुक्ता यावदर्थाश्च लोके ।।" ५३८।।

भगवान् ऋषभदेव,—निज पुत्र वृन्द को उपदेश देते हुए कहे थे—हे पुत्र गण । महत् सेवा ही

महद्विशेषमाह—ये वेति। वा-शब्दः पक्षान्तरे। उत्तरपक्षत्वादस्यैव श्रैष्ठ्यम्। मयि कृतं सिद्धं यत् सौहृदं प्रेम तदेवार्थः परमपुरुषार्थो येषां तथाभूता ये ते महान्त इति पूर्व्वेणान्वयः। यतो मयि सौहृदार्था-स्तत एव देहम्भरवार्त्तिकेषु विषयवार्त्तानिष्ठेषु जनेषु तथा गेहेषु जायात्मजः बन्धुवर्गयुक्तेषु न प्रीतियुक्ताः, किन्तु यावदर्था यावानर्थः श्रीभगवद्भजनानुरूपं प्रयोजनं तावानेवार्थो धनं येषां तथाभूता इत्यर्थः। उभयोर्महत्त्वञ्च महाज्ञानित्वान्महाभागवतत्वाच्च, न तु द्वयोः साम्याभिप्रायेण (भा० ६।१४।५)—"मुक्तानामपि सिद्धानां नारायण-परायणः" इत्याद्युक्तेः। अत्र ज्ञानमार्गे ब्रह्मानुभविनो महान्तः, भक्तिमार्गे लब्धभगवत्प्रेमाणो महान्त इति लक्षणसामान्यमिति ज्ञेयम्॥ श्रीऋषभदेवः स्वपुत्रान्॥

१८७। अत्र चैवं विवेचनीयम्,-तत्तन्मार्गे सिद्धा महान्तो द्विविधा दर्शिताः। अत्र च

विविध मुक्ति का द्वार स्वरूप है। और स्त्री सङ्गी का सङ्ग, नरक का द्वार स्वरूप है। उक्त महापुरुष वृन्द द्विविध होते हैं। एक ज्ञानी महापुरुष, अपर भक्त महापुरुष। उस के मध्य में ज्ञानी महापुरुष का लक्षण है—विद्या विनय सम्पन्न ब्राह्मण, गो, हस्ती, कुक्कुर, श्वपाक, प्रभृति में निर्विशेष ब्रह्म सत्ता की उपलब्धि करने के कारण, समचित्त एवं हेय उपादेय बुद्धि रहित होना। द्वितीय लक्षण, रागद्वेष अभिनिवेश शून्य होने के कारण प्रशान्त, अतएव कहीं पर द्वेष बुद्धि न होने से विमन्यु, सर्वभूत हित कारी होने से सुहृद् एवं सदाचार सम्पन्न हेतु साधु है।

द्वितीय,— भक्ति साधक महापुरुष का लक्षण यह है— मुझ में सिद्ध सौहार्द्द रूप प्रेम विद्यमान है, एवं यह प्रेम ही परम पुरुषार्थ का मूल प्रयोजन है। यह सब मुझ में प्रेम को छोड़कर अपर किसी में प्रयोजन बुद्धि नहीं रखते हैं। अतएव वे विषय वार्त्तानिष्ठ जन समाज में एवं स्त्री पुत्र बन्धु वर्गयुक्त गृह में प्रीति पोषण नहीं करते हैं। किन्तु श्रीभगवद् भजन हेतु जितने परिमाण में विषय ग्रहण आवश्यक है, उतने परिमाण में विषय ग्रहण करते हैं। निज ऐन्द्रियक सुख हेतु वा दैहिक सुख भोग हेतु विषय ग्रहण नहीं करते हैं। उक्त उभयविध महापुरुषों के मध्य में अर्थात् ज्ञानी महत् एवं भक्त महत्के मध्य में 'पूर्व विधि से परविधि बलवान्' इस न्याय से ज्ञानी महत् से भी भक्तमहत् श्रेष्ठ हैं। उभय विध विभाग के द्वारा महत् की व्याख्या करने का तात्पर्य्य यह है कि— मूल श्लोक में 'ये वा मयीशे" प्रयोग 'वा' शब्द का उल्लेख पूर्वक पक्षान्तर की सूचना की गई है।

ज्ञानी एवं भक्त, उभयविध साधकों को महत् कहने का तात्पर्य्य यह है कि—महाज्ञानी होने के कारण ज्ञान साधक का महत्व है, एवं महाभागवत होने के कारण भक्ति साधक का महत्त्व है। किन्तु ज्ञानी साधक एवं भक्त साधक का समान धर्म होने के कारण महत्त्व का निर्द्देश नहीं हुआ है। ज्ञान मार्ग में ब्रह्मानुभवी व्यक्ति महत् शब्द वाच्य है, अर्थात् जो निर्विशेष ब्रह्मानुभव किये हैं, वे ज्ञान मार्ग में महापुरुष हैं, उनके सङ्ग से वहिर्मुख जीव की उन्मुखता निर्विशेष स्वरूप में होती है। और भक्ति मार्ग में भगवत् प्रेमवान् भक्त ही महत् पद वाच्य है। उन के सङ्ग से वहिर्मुख जीव की उन्मुखता श्रीभगवान् में होती है। जिन्होंने प्रेम लाभ नहीं किया है। उन भक्त के सङ्ग से भगवद् वहिर्मुख जीव की भगवच्चरणों में उन्मुखता नहीं हो सकती है। इस अंश में ज्ञानी एवं भक्त महापुरुषों के मध्य में लक्षण साम्य विद्यमान है। यह समझना होगा।

श्रीऋषभदेव—निज पुत्र वर्ग को कहे थे॥१८६॥

ज्ञानिसिद्धाः, (भा० ११।१३।३६)—देहञ्च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा, सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत् स्वरूपम्" इत्यादौ वर्णिताः। अथ भक्तसिद्धा स्त्रिविधाः,—प्राप्तभगवत्पार्षददेहाः, निर्धूतकषायाः, मूर्च्छितकषायाश्च । यथा श्रीनारदादयः, श्रीशुकदेवादयः, प्राग्जन्मगत-नारदादयश्च, (भा० १।६।२९)—

"प्रयुज्यमाने मयि तां शुद्धां भागवतीं तनुम् ।
प्रारब्धकर्म्मनिर्व्वाणो न्यपतत् पाञ्चभौतिकः ।।"५३९।।

१८७। साधु सङ्ग प्रसङ्ग में यहाँ इस प्रकार विवेचन करना आवश्यक है। पूर्वोक्त ज्ञान मार्ग एवं भक्ति मार्ग यह द्विविध मार्ग में द्विविध महत् का वृत्तान्त वर्णित हुआ है। उस के मध्य में ज्ञानि सिद्ध का वर्णन भा० ११।१३।३६ में इस प्रकार है—

"देहञ्च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा, सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत् स्वरूपम् ।
दैवादपेतमुतदैववशादुपेतं वासोयथाप रकृतं मदिरा मदान्धः ।।"

टीका—एतदेवोपपादयति देहमिति। आसनादुत्थितं, उत्थाय तत्रैवस्थितं ततः क्वचिदपेतं निर्गतं पुनस्तत्रैवोपेतं वा देहमपि नानु सन्धत्ते। कुतोऽन्यत्। यतोयेन देहेन स्वरूपमध्यगमत् ज्ञातवान् तं देहम्। यतः कारणादिति वा। परिकृतं परिहितं वासो गतंस्थितं वा यथा न वेत्ति तद्वत्।

ज्ञान मार्ग में सिद्धि प्राप्त महापुरुष वृन्द—जिस देह के द्वारा स्वरूपानन्द का अनुभव किये हैं, वह नश्वर देह, आसन से उत्थित वा आसन में ही अवस्थित है—यह सब कुछ भी नहीं जानते हैं। अथवा आसन से अन्यत्र गत किंवा पुनर्वार आसन में ही अवस्थित है, इस का अनुसन्धान करने में वे असमर्थ हैं। इत्यादि रीति से ज्ञान मार्गस्थ सिद्ध महापुरुष का लक्षण वर्णित हुआ है। अनन्तर भक्ति मार्ग में महापुरुष का लक्षण वर्णन करते हैं। भक्ति मार्ग में सिद्ध महापुरुष, त्रिविध हैं। प्रथम - प्राप्त भगवत् पार्षद देह, द्वितीय—निर्धूतकषाय, तृतीय— मूर्च्छित कषाय। उस में जो भक्ति सिद्ध महापुरुष मायिक पाञ्चभौतिक देह त्यागकर श्रीभगवान् के निकट अवस्थान करने के उपयोगी सच्चिदानन्द मय पार्षद देह लाभ किये हैं, वह उत्तम भागवत वृन्द के मध्य में श्रेष्ठ हैं। जो पाञ्चभौतिक देह में अवस्थित हैं, किन्तु प्रापञ्चिक किसी प्रकार वासना हृदय में विद्यमान नहीं है, वह निर्धूतकषाय हैं। यह उत्तम भागवत वृन्द के मध्य में मध्यम हैं। और जिस भक्ति सिद्ध महापुरुष के हृदय में सूक्ष्म रूप में सात्त्विक कषाय (वासना-संस्कार) विद्यमान है, किन्तु भक्ति के प्रभाव से मूर्च्छित होकर ही है। यथा समय भगवान् उनको वासना भोग कराकर निज समीप में स्थान प्रदान करेंगे, वे उत्तम भागवत वृन्द के मध्य में कनिष्ठ हैं। उस के मध्य में प्राप्त भगवत् पार्षद देह का दृष्टान्त—देवर्षिनारद हैं, निर्धूत कषाय—उत्तम भागवत का दृष्टान्त श्रीशुकदेव प्रभृति हैं। मूर्च्छित कषाय—उत्तम भागवतका दृष्टान्त—दासी पुत्र रूप श्रीनारद प्रभृति हैं। भा० १।६।२९ में वर्णित है—

"प्रयुज्यमाने मयि तां शुद्धां भागवतीं तनुम् ।
प्रारब्धकर्म्मनिर्व्वाणो न्यपतत् पाञ्चभौतिकः ।।"५३९।।

टीका—प्रयुज्यमाने इत्यस्यायमर्थः-हित्वावद्यमिमं लोकं गन्ता मज्जनतामसि, इति। भागवतो भगवत् पार्षद रूपा शुद्धा सत्त्वमयी तनूः, तां प्रतिश्रुतां तनूं प्रति भगवता मयिप्रयुज्यमाने नीयमाने। आरब्धं यत् कर्म तन्निर्वाणं समाप्तं यस्य, आरब्ध कर्मणो निर्वाणमेव निर्वाणं यस्येति वा। पञ्चभूतात्मको देहोन्यपतत्। अनेन पार्षदतनूनामकर्म्मारब्धत्वं नित्यत्वं शुद्धत्वञ्च सूचितं भवति।

इत्यादौ, (भा० १२।१२।६९) 'स्वसुखनिभृतचेतास्तद्व्युदस्तान्यभावोह, प्यजितरुचिरलीलाकृष्टसारः' इत्यादौ, (भा० १।६।२२)—

"हन्तास्मिन् जन्मनि भवान् मा मा द्रष्टुमिहार्हति ।
अविपक्वकषायाणां दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम् ।।" ५४०।।

इत्यादौ च प्रसिद्धेः, श्रीनारदस्य पूर्व्वजन्मनि स्थितकषायस्य प्रेम वर्णितं स्वयमेव (भा० १।६।१८)

देवर्षि नारद श्रीकृष्ण द्वैपायन को कहे थे— भगवान् कर्त्तृक प्रदत्त विशुद्ध सत्त्वस्वरूप पार्षद देह में मेरा प्रवेश होने से प्रारब्ध कर्म की परि समाप्ति जिस देह में हुई, मेरा वह पाञ्चभौतिक देह निपतित हुआ। इस से प्राप्त भागवत पार्षद देह उत्तम भागवत का दृष्टान्त प्रस्तुत हुआ। भा० १२।१२।६९ में श्रीसूत शौनकादि को कहे थे—

"स्वसुखनिभृतचेतास्तद्व्युदस्तान्यभावोऽ,
प्यजितरुचिरलीलाकृष्टसार स्तदीयम् ।
व्यतनुत कृपया यस्तत्त्वदीपं पुराणं
तमखिलवृजिनघ्नं व्याससूनुं नतोऽस्मि ।।"

टीका—श्रीगुरुं नमस्करोति। स्व सुखेनैव निभृतं पूर्णं चेतोयस्य। तेनैव व्युदस्तोऽन्यस्मिन् भावोयस्य तथाभूतोऽपि अजितस्य रुचिराभिर्लीलाभिराकृष्टः सारः स्व सुखगतं स्थैर्य्यं यस्य सा। तत्त्वदीपं परमार्थ प्रकाशकं श्रीभागवतं योव्यतनुत तं नतोऽस्मीति ।।

जो निज सुखानुभव से पूर्ण मानस थे—अर्थात् आत्माराम थे। एवं स्वरूपानन्द अनुभव जनित आस्वादन से विषयान्तर में वासना शून्य थे, अर्थात् पूर्ण काम थे। वे इस प्रकार आत्माराम आप्तकाम होकर भी श्रीकृष्ण के मधुर लोला माधुर्य्य से आकृष्ट होने के कारण निखिल जीवों के प्रति करुणा करके निखिल साध्य साधन सम्बन्ध तत्त्व का उज्ज्वल प्रकाशक श्रीमद् भागवत महापुराण को विस्तार किये थे। उन निखिल बहिर्मुखता दोषापहारी व्यासनन्दन को मैं प्रणाम करता हूँ। इस श्लोक से श्रीशुकदेव जो निर्धूत कषाय उत्तम भागवत थे, उसका दृष्टान्त प्रस्तुत हुआ। भा० १।६।२२ में वर्णित है—

"हन्तास्मिन् जन्मनि भवान् मा मां द्रष्टुमिहार्हति ।
अविपक्वकषायाणां दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम् ।।" ५४०।।

टीका—हन्तेति सानुकम्प सम्बोधने। मा इति। मां द्रष्टुं अर्हति मार्हति। यतोऽविपक्वा अदग्धाः कषाया मलाः कामादयो येषां तेषां कुयोगिनाम्— अनिष्पन्नयोगानाम् ।

दासी पुत्र नारद एकबार श्रीभगवत दर्शन लाभ करके भी निज अपक्व कषाय दोष से खो गये थे। एवं पुनर्वार दर्शन लालसा से व्यग्र होकर जब विलाप करने लगे थे, तब नभोवाणी से श्रीभगवान् कहे थे- नारद ! बड़ी दुःख की वात है कि,—तुम इस जन्म में पुनर्वार मुझ को देख नहीं सकोगे। कारण, जिस की भोगवासना परिपक्व नहीं हुई है, वह सब कुयोगियों के पक्ष में मैं सुदुर्द्दर्श हूँ। यहाँ समझना पड़ेगा कि— देवर्षि नारद के हृदयमें अन्य कुछ भोग वासना नहीं थीं, किन्तु तृणचर पशुवृन्द के सहित वन में रहना सुखप्रद एवं शान्तिद है, इस प्रकार भोग लालसा थी, यह सात्त्विक होने पर भी भगवान् उनको अविपक्व कषाय कुयोगी कहे थे। इस से उत्तम भागवत के मध्य में "मूर्च्छित कषाय" भागवत, का दृष्टान्त प्रस्तुत हुआ।

"प्रेमातिभरनिर्भिन्नपुलकाङ्गोऽतिनिर्वृतः ।
आनन्दसंप्लवे लीनो नापश्यमुभयं मुने ।।"५४१।।

श्रीभरत एवात्रोदाहरणीयः । तस्य च भूतपिपालयिषारूपः प्रारब्धालम्बनः सात्त्विक--कषायो निगूढ़ आसीत्, प्रेमा च वर्णित इति । तदेवं समानप्रेम्णि त्रिविधे पूर्व्वपूर्व्वाधिक्यं ज्ञेयम् । क्वचित् स्थितेऽपि प्राकृतदेहादित्वे यदि प्रेम्णः परिमाणतः स्वरूपतो वाधिक्यं दृश्यते, तदा प्रेमाधिक्येनैवाधिक्यं ज्ञेयम् । तच्च भजनीयस्य भगवतोऽंशांशित्वभेदेन भजतश्च दास्य-सख्यादिभेदेन स्वरूपाधिक्यं प्रेमाङ्कुरप्रेमादिभेदेन परिमाणाधिक्यं च प्रीतिसन्दर्भे विवृत्य दर्शयिष्यामः । साक्षात्कारमात्रस्यापि यद्यपि पुरुषप्रयोजनत्वम्, तथापि तस्मिन्नपि

उक्त त्रिविध भक्ति सिद्ध भागवत के मध्य में जिस किसी के सङ्ग से ही भगवद् वहिर्मुख जीव की भगवदुन्मुखता हो सकती है । महर्षि नारद के पूर्व जन्म में यद्यपि सात्त्विक कषाय विद्यमान था, तथापि श्रीभगवान् में उनकी प्रीति भी थी । अतएव भगवत् साक्षात् कार में जो भक्त जिस परिमाण में श्रीभगवान् के प्रियताधर्म प्रभृति अनुभव करते हैं, उस परिमाण में भगवत् साक्षात् कार का उत्कर्ष प्रकाश होता है । भा० १।६।१८ में देवर्षि नारद की भगवत् प्रीति वर्णित है--

"प्रेमातिभरनिर्भिन्नपुलकाङ्गोऽतिनिर्वृतः ।
आनन्दसंप्लवे लीनो नापश्यमुभयं मुने ।।"५४१।।

टीका—प्रेम्नोऽति भरेण निर्भिन्न पुलकानि अङ्गानि यस्य । आनन्दानां संप्लवे महाप्लवे परमानन्दे । उभयम्, आत्मानं परञ्च ।

अतिशय भगवत् प्रेमोद्रेक होने से नारद के अङ्ग पुलकायित हो गया था, एवं आनन्द सागर में निमग्न हो जाने के कारण नारद-देह दैहिक समस्त विषयों को भूल ही गये थे ।

इस विषय में श्रीभरत--चरित्र भी उदाहरण हो सकता है, कारण, प्राणी प्रति पालन कर्त्तव्य रूप प्रारब्धावलम्बन से सात्त्विक कषाय निगूढ़ रूपमें भरत का था, जिससे दयार्द्र चित्त होकर मृगशिशु की सेवा में आत्मनियोग करने में बाध्य हुये थे । उस के साथ भगवत् प्रीति भी समधिक थी । कारण, निरन्तर भगवन्नाम ग्रहण, भरत करते थे । अतएव उक्त त्रिविध सिद्ध भक्त मे भगवत् प्रेमांश में समानता होने पर भी पूर्व पूर्व भक्त में प्रेमाधिक्य सुस्पष्ट रूप से है । अर्थात् मूच्छित कषाय की अपेक्षा निरपेक्ष भक्त में प्रेमाधिक्य है, एवं तदपेक्षा प्राप्त पार्षद देह में प्रेमाधिक्य है । स्थल विशेष में प्राकृत देहादि वर्त्तमान होने से भी यदि भगवत् प्रीति का परिमाण एवं स्वरूप आधिक्य दृष्ट होता है तो, प्रेम के आधिक्य से ही भक्त का श्रेष्ठत्व जानना होगा । अतएव भजनीय के भेद से एवं दास सख्यादि भाव भेद से भी प्रेम का आधिक्य होता है, इस प्रकार प्रेमाङ्कुरादि भेद सभी प्रेमगत परिमाण का आधिक्य होता है । इस विषयका वर्णन प्रीति सन्दर्भ में होगा ।

निरुपाधि प्रीत्यास्पद स्वभाव श्रीभगवान् के प्रियत्व धर्म्म का अनुभव के विना भगवत् साक्षात् कार भी असाक्षात् कार में पर्य्यवसित होता है । प्रियता भगवान् के स्वरूप गत धर्म है, समस्त धर्म के मध्य में भगवान् प्रियत्व धर्म ही मुख्य धर्म है । जब तक प्रियत्व धर्म का अनुभव नहीं होता है, तब तक जानना होगा कि श्रीभगवदनुभव ही नहीं हो रहा है । जिस प्रकार पित्त दुष्ट जिह्वा में मिष्ट द्रव्य का आस्वादन

साक्षात्कारे यावान् यावान् श्रीभगवतः प्रियत्वधर्म्मानुभवस्तावांस्तावानुत्कर्षः। निरुपाधि-प्रीत्यास्पदतास्वभावस्य प्रियत्वधर्म्मानुभवं विना तु साक्षात्कारोऽप्यसाक्षात्कार एव। माधुर्य्यं विना दुष्टजिह्वया खण्डस्येव। अतएवोक्तं श्रीऋषभदेवेन (भा० ५।५।६) "प्रीतिर्न यावन्मयि वासुदेवे, न मुच्यते देहयोगेन तावत्" इति। ततःप्रेमतारतम्येनैव भक्त--महत्तारतम्यं मुख्यम्। अतएव 'मयीशे कृतसौहृदार्थाः इत्येव तल्लक्षणत्वेनोक्तम्। यत्र तु प्रेमाधिक्यं साक्षात्कारः कषायादि–राहित्यादिकमप्यस्ति, स परमो मुख्यः। तत्रैकैकाङ्गवैकल्ये न्यूनन्यून इति ज्ञेयम्। तदेवम् (भा० ५।५।७) --"ये वा मयीशे" इत्यादिना ये उक्तास्ते तु प्राप्तपार्षददेहा न भवन्ति, तथा विषय-वैराग्येऽपि गूढ़ं संस्कारवन्तोऽपि सम्भवन्ति। ततस्तद्विवेचनाय प्रकरणान्तरमुत्थाप्यते। यथा राजोवाच, (भा० ११।२।४४) —

"अथ भागवतं ब्रूत यद्धर्म्मो यादृशो नृणाम्।
यथाचरति यद्ब्रूते यैर्लिङ्गैर्भगवत्प्रियः।।"५४२।।

नहीं होता है, खण्ड का स्वरूप गत धर्म है। मधुरता के आस्वादन के विना खण्डका साक्षात्कार असाक्षात्कार में ही पर्य्यवसित होता है। अतएव भा० ५।५।६ में श्रीऋषभ देवने कहा है—

"प्रीतिर्न यावन्मयि वासुदेवे, न मुच्यते देहयोगेन तावत्।।"

जब तक वासुदेव स्वरूप मुझ में प्रीति नहीं होती है, तब तक देह के सहित जीव का सम्बन्ध विनष्ट नहीं होता है, अर्थात् जीवाशय रूप लिङ्ग शरीर विनष्ट नहीं होगा। अर्थात् जन्म मरण प्रवाह विनष्ट नहीं होता है। अतएव प्रेम तारतम्य से ही भक्तमहत् का मुख्य तारतम्य है। अतएव भा० ५।५।३ में भगवान् ऋषभ देवने कहा है—

"ये वामयीशे कृत सौहृदार्था जनेषु देहम्भर वार्त्तिकेषु।
गृहेषु जायात्मजरातिमत् सु न प्रीति युक्ता यावदर्थाश्च लोके।।"

अर्थात् जो लोक मुझ में प्रीति युक्त हैं वे ही महद् भक्त नाम से अभिहित हैं। किन्तु जिस व्यक्ति में प्रेमाधिक्य है एवं भगवत् साक्षात् कार तथा कषायादि शून्यता भी है वही भक्त ही परम श्रेष्ठहै। उसमें भी एक एक अङ्ग की बिफलता से न्यून न्यूनता की जानना होगा। अर्थात् किसी का भगवत् प्रेमाधिक्य है। किन्तु भगवत् साक्षात् कार नहीं है एवं कषायादि राहित्य भी नहीं है। वह भक्त न्यून है। और किसी में कषायादि नहीं है, किन्तु भगवद् साक्षात् कार है,प्रेमाधिक्य नहीं है, वह भक्त पूर्वोक्त न्यून भक्त से श्रेष्ठ है। इस प्रकार से ही न्यून न्यूनता को जानना होगा। अतएव महत् के निर्णय विषय में समाधान यह है कि—श्रीभगवान् में प्रीति युक्त भक्त वृन्द के मध्य में जिन्होंने भगवत् पार्षद देह लाभ नहीं किया है—, अथच विषय वितृष्णा भी समधिक है किन्तु हृदय में किसी प्रकार भोग वासना संस्कार की विद्यमानता की सम्भावना भी है। इस प्रकार लक्षणा क्रान्त भक्तमहत् को ही श्रीऋषभ देवने भा० ५।५।२ में 'ये वा मयीशे' श्लोक के द्वारा भक्त महत् कहा है। अतः उक्त भक्त लक्षण की विवेचना हेतु स्वतन्त्र प्रकरण की अवतारणा की जा रही है। भा० ११।२।४४ में निमिमहाराज ने श्रीहवि योगीन्द्र के निकट प्रश्न किया था—

"अथ भागवतं ब्रूत यद्धर्म्मो यादृशो नृणाम्।
यथाचरति यद्ब्रूते यैर्लिङ्गैर्भगवत् प्रियः।।"५४२।।

अथ अनन्तरं भागवतं ब्रूत। तज्ज्ञानार्थं स च नृणां मध्ये यद्धर्म्मो यत्स्वभावस्तं स्वभावं ब्रूत, यथा च स आचरत्यनुतिष्ठति तदनुष्ठानं ब्रूत, यद्ब्रूते तद्वचनञ्च ब्रूत, इति मानस–कायिक-वाचिक लिङ्गपृच्छा। ननु पूर्व्वम् (भा० ११।२।३९) "शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणेः" इत्यादिना ग्रन्थेन तत्तल्लिङ्गं श्रीकविनैवोक्तम्? सत्यम्, तथापि पुनस्तदनुवादेन तेषु लिङ्गेषु यैर्लिङ्गैः स भगवत् प्रियो यादृश उत्तम-मध्यमतादिभेद-विविक्तो, भवति, तानि लिङ्गानि विविच्य ब्रूतेत्यर्थः॥

१८८। तत्रोत्तरम्, श्रीहविरुवाच (भा० ११।२।४५)

(१८८) "सर्व्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥"५४३॥

तत्र तत्तदनुभावद्वारावगम्येन मानसलिङ्गेन महाभागवतं लक्षयति,–सर्व्वभूतेष्विति

टीका—भागवतस्य भवन्तीत्युक्ते तस्य लक्षणं पृच्छति अथेति। यद्धर्मो यस्मिन् धर्मे परिनिष्ठितः। यादृशो यत् स्वभावः। यथा चरति, वर्त्तते ब्रूते वा। यैश्च लिङ्गैर्भगवतः प्रियो भवति।

निमि महाराज ने कहा,—आप सबने भागवद् धर्म का वर्णन किया है। सम्प्रति भगवद् भक्त लक्षण जानने के इच्छुक हूँ—कृपया वर्णन करें, भगवद् भक्त का लक्षण इस प्रकार वर्णन करें जिस से मैं जान सकूँ कि यह श्रीभगवान् के भक्त हैं। अर्थात् भगवद् भक्त का स्वभाव वर्णन करें। भगवद् भक्त जिस प्रकार आचरण करते हैं—अर्थात् अनुष्ठान करते हैं, उन के कायिक वाचिक मानसिक अनुष्ठान का विषय वर्णन करें, तृतीयतः भक्त जो कुछ कहते हैं—उस का वर्णन करें! इस प्रकार प्रश्न होने से ज्ञातव्य विषय का तात्पर्य्य यह होता है कि—भगवद् भक्त की कायिक वाचिक मानसिक क्रिया को जानना। किन्तु भा० ११।२।३९ में जो कहा गया है—

"शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्ग पाणे र्जन्मानि कर्म्माणि च यानि लोके।
गीतानि नामानि तदर्थ कानि गायन् विलज्जो विचरेदसङ्गः॥"

इस से उक्त प्रश्न का विषय सुपरिस्फुट हुआ है, ऐसा होने पर पुनर्वार विशेष रूप से भक्त परिचय प्राप्त करने की आवश्यकता ही क्या है? श्रीकवि योगीन्द्र ने उस प्रकार भक्त चरित्र का वर्णन भी किया है। यह सत्य है कि--भगवद भक्त का परिचय साङ्गोपाङ्ग रूप से उक्त श्लोक द्वारा हुआ है। तथापि पूर्व वर्णित विषय का ही अनुवाद करके भक्त गत वैशिष्ट्य को जानना चाहते हैं। अर्थात् उत्तम मध्यम, कनिष्ठ भक्त किस लक्षण से होते हैं—उस विषय का वर्णन सलक्षण करें, यही है प्रश्न कर्त्ता का अभिप्राय।॥१८७॥

१८८। उक्त प्रश्न के उत्तर प्रदान करने के निमित्त श्रीहवि नामक द्वितीय योगीन्द्र ने कहा, भा० ११।२।४५

(१८८) "सर्व भूतेषु यः पश्येद् भगवद् भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥"५४३॥

टीका—यद्धर्मो इत्यस्योत्तरमाह त्रयेण। सर्वभूतेष्विति। आत्मनः स्वस्य सर्व भूतेषु ब्रह्म भावेन समन्वयं पश्येत्। तथा ब्रह्म रूपे आत्मनि अधिष्ठाने भूतानि च यः पश्येत्। यद्वा, आततत्वात् प्रमातृत्वादात्मा हि परमो हरि रिति तच्छक्तेरात्मनो हरेः सर्वभूतेषु मशकादिष्वपि नियन्तृत्वेन वर्त्तमानस्य भगवद् भावं

(भा० ११।२।४०) "एवं व्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या, जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः" इति श्रीकविवाक्योक्त-रीत्या यश्चित्त-द्रव-हास-रोदनाद्यनुभावकानुरागवशत्वात् (भा० ११।२।४१) "खं वायुमग्निम्" इत्यादि तदुक्तप्रकारेणैव चेतनाचेतनेषु सर्व्वभूतेषु आत्मनो भगवद्भाव-

---

निरतिशयैश्वर्य्यमेव यः पश्येत् । न तु तस्य तारतम्यम् । तथा आत्मनि हरावेव भूतानि च यः पश्येत् । कथम्भूते ? भगवति अप्रच्युतैश्वर्य्य रूपे । न पुन जड़मालिन्य भूताश्रयत्वेन जाड्यापि प्रसक्त्या ऐश्वर्य्यादि प्रच्युतिं पश्येत् । स सर्वत्र परिपूर्णं भगवत्तत्त्वं पश्यन् भागवतोत्तम इत्यर्थः ।

भक्त वृन्द के अनुभाव रूप मानसिक चित्रण के द्वारा भक्त परिचय प्रदान करने के निमित्त कहते हैं-सर्व भूतेषु यः पश्येत् भगवद् भाव मात्मनः ।। इस के पहले भा० ११।२।४० में कहा गया है—"एवं व्रतः स्व प्रियनाम कीर्त्या" इस के अनुसार चित्तद्रव, हास्य, रोदन, प्रभृति जो अनुराग का अनुभाव लिखित हुआ है, उस अनुराग के वशवर्त्ती होकर आकाश, वायु, अग्नि, सलिल, एवं पृथिवी को निज अभीष्ट श्रीगोविन्द रूप में दर्शन करते हैं, वे ही भागवतोत्तम हैं । उस प्रकार ही जो चेतन अचेतन समस्त भूतों में निज अभीष्ट भगवान् का आविर्भाव का अनुभव करते हैं, अर्थात् जो जिस भगवत् स्वरूप में प्रेमवान् हैं, उस भगवत् स्वरूप को, चेतन अचेतन सर्वभूतों में विद्यमान है, इस प्रकार अनुभव करते हैं—वे ही उत्तम भागवत हैं । यहाँ ज्ञातव्य यह है कि- भा० ११।२।४१ में कहा गया है—'खं वायुमग्निम्" चेतन अचेतन समस्त भूतों को अभीष्ट श्रीभगवान् रूप में ही दर्शन करते हैं, अर्थात् स्थावर जङ्गम प्रभृति की पृथक् मूर्त्ति नहीं देखते हैं, किन्तु निज अभीष्ट देव को ही देखते हैं, वे ही उत्तम भागवत हैं । इस में समस्त वस्तु को कर्म्म रूप में निर्देश किया गया है । किन्तु "सर्व भूतेषु यः पश्येत्" इस श्लोक में चेतन अचेतन वस्तु समूह को अधिकरण रूप में उल्लेख किया गया है । अर्थात् सर्व भूताधिकरण में निज अभीष्ट श्रीभगवान् का दर्शन करते हैं, वे भागवतोत्तम हैं । प्रस्तुत स्थल में स्थावर जङ्गम की मूर्त्ति का दर्शन करते हैं, किन्तु प्रत्येक के मध्य में निज सभीष्ट श्रीभगवान् हैं इस रीति से श्रीभगवत् सत्ता की उपलब्धि सर्वत्र करते हैं ।

उक्त प्रकार द्वय के द्वारा उत्तम भागवत के मानसिक अनुभवगत पार्थक्य का प्रदर्शन हुआ है । तात्पर्य्य यह है कि—निज अभीष्ट श्रीगोविन्द में जब अनुराग की प्रगाढ़ता प्रकटित होती है, उस समय स्थावर जङ्गम की मूर्त्ति का दर्शन नहीं होता है । साक्षात् निजअभीष्ट श्रीभगवान् का ही दर्शन भागवतगण करते हैं । किन्तु जिस समय अनुराग कुछ तरल होता है, उस समय स्थावर जङ्गम की मूर्त्ति को तो देखते हैं, किन्तु प्रत्येक के मध्य में निज अभीष्ट श्रीभगवान् की ही सत्त्वा की उपलब्धि करते हैं । यही है उत्तम भागवत के मानसिक अनुभाव की द्विविध अवस्था । तृतीय अवस्था यह है—

जिस समय परिपूर्ण भक्ति का प्रकाश हृदय में होता है, उस समय चेतन अचेतन भूत समूह को निज चित्त में स्फूर्त्ति प्राप्त अभीष्ट श्रीभगवान् के आश्रित रूप में ही अनुभव भागवत गण करते हैं । अर्थात् समस्त वस्तु ही श्रीभगवान् को आश्रय करके हैं । जगत् में कोई भी अभक्त नहीं हैं, ऐसे कोन होंगे, जो भजन योग्य मनुष्य देह प्राप्त करके भी अहैतुक कारुण्यादि गुण गणार्णव श्रीभगवान् का भजन न करके रहेंगे । इस अभिप्राय से ही श्रीशुकदेव ने भा० ११।२ में कहा है ।

"को नु राजन्निन्द्रियवान् मुकुन्द चरणाम्बुजम् ।
न भजेत् सर्वतोमृत्युरुपास्य ममरोत्तमैः ।।"

हे राजन् ! इन्द्रियवान् कौन व्यक्ति ऐसा होगा जो आत्माराम परमहंस कर्त्तृक आराध्य पदारविन्द श्रीमुकुन्द का भजन न करके रह सकता है ? कारण, उनका भजन न करने से मृत्यु से निस्तार नहीं होता

मात्माभीष्टो यो भगवदाविर्भावस्तमेवेत्यर्थः, पश्येदनुभवति, अतस्तानि च भूतानि आत्मनि स्वचित्ते तथा स्फुरति यो भगवान् तस्मिन्नेव तदाश्रितत्वेनैवानुभवति, एष भागवतोत्तमो भवति ! इत्थमेव श्रीव्रजदेवीभिरुक्तम् (भा० १०।३५।९) "वनलतास्तरव आत्मनि विष्णुं, व्यञ्जयन्त इव पुष्पफलाढ्याः" इत्यादि, यद्वा, आत्मनो यो भगवति भावः प्रेमा तमेव चेतनाचेतनेषु भूतेषु पश्यति। शेषं पूर्ववत् । अतएव भक्तरूप-तदधिष्ठान बुद्धिजातभक्त्या तानि नमस्करोतीति "खं वायुम्" इत्यादौ पूर्वमुक्तमिति भावः। तथैव चोक्तं ताभिरेव (भा० १०।२१।१५) "नद्य स्तदा तदुपधार्य्यमुकुन्दगीत,-मावर्त्तललितमनोभवभग्नवेगाः" इत्यादि, यद्वा, श्रीपट्टमहिषीभिरपि (भा० १०।९०।१५) "कुररि विलपसि त्वम्" इत्यादि । अत्र न-

---

है। अतएव मृत्यु भय से निष्कृति लाभ हेतु श्रीमुकुन्द के चरण कमल का भजन करना अवश्य कर्त्तव्य है। इस रीति से प्रतीत होता है कि—उत्तम भागवत वृन्द सब को श्रीविष्णु के पदाश्रित रूप में ही अनुभव करते हैं। वे निज हृदयस्थ भाव का अनुभव एवं निजाभीष्ट श्रीभगवदाविर्भाव का अनुभव सर्वत्र करते हैं—इस का दृष्टान्त भा० १०।३५।९ में वर्णित श्रीव्रजदेवीवृन्द की भक्ति के द्वारा प्रस्तुत करते हैं।

'वनलतास्तरव आत्मनि विष्णुं व्यञ्जयन्त इव पुष्पफलाढ्याः॥"

सखि गण ! देखो, वनस्थ लता एवं तरु वृन्द निज हृदय में श्रीकृष्ण को विष्णु रूप में अर्थात् सर्व हृदयान्तर्य्यामि रूप में प्राप्त कर रहे हैं। लता एवं तरुवृन्द पुष्प एवं फल से परिपूर्ण हैं। जिस प्रकार विष्णु भक्त गण हृदय में निज प्रभु श्रीविष्णु को प्राप्त कर भाव कुसुम एवं प्रेमफल से हृदय पूर्ण होने के कारण प्रेमाश्रु वर्षण करते हैं। लतातरु वृन्द को भी हृद्गत भावचेष्टा बाहर प्रकट हो रही है। इस से प्रतिपन्न हुआ है कि—उत्तम भागवत वृन्द—चेतन अचेतन समस्त भूतों में निजाभीष्ट भगवान् का आविर्भाव अनुभव करते हैं। उक्त श्लोक के चतुर्थ प्रकार अर्थ को कहते हैं—श्रीभगवान् में जिस जातीय निज भाव है,-चेतन अचेतन सर्वभूत में भगवद् भक्त उस भाव की सत्ता उपलब्धि करते हैं। भा० ११।२।४१ "खं वायुमग्निम्' में जो विवरण कहा गया है—अर्थात् चेतनाचेतन सर्वभूत में भगवदधिष्ठान की जो कथा कही गई है। इस में भगवदधिष्ठान बुद्धि से भक्ति का उदय होने के कारण सब को प्रणाम करते हैं। श्रीभगवान् में निज जिस जातीय भाव है, उस भाव की ही सत्ता की उपलब्धि सर्वभूत में करते हैं—भा० १०।२१।१५ में व्रज देवी की उक्ति—उसका दृष्टान्त है—

"नद्यस्तदा तदुपधार्य्य मुकुन्दगीत,–मावर्त्तलक्षितमनोभवभग्नवेगाः"।

पुर्वानुराग प्रसङ्ग में व्रज देवी गण सखी को कही थीं—देखो ! श्रीकालिन्दी, मानसी गङ्गा प्रभृति नदी गण—मुकुन्द की वेणु ध्वनि सुनकर हृदय में मन्मथोदय होने के कारण निज पति के प्रति गमनरुद्ध होने से वह भाव जलावर्त्त रूप में प्रकटित हो रहा है। इस से सुस्पष्ट प्रतीत होता है कि—नदी वृन्द ने मुकुन्द के प्रति कान्ताभाव को प्राप्त किया है। अथवा भा० १०।९०।१५ में श्रीपट्टमहिषी वृन्द की उक्ति यह है।

'कुररि विलपसि त्वम्"

हे कुररि ! तुम विलाप कर रही हो ? इस रात में तुम्हें नींद नहीं आती है ? तुम क्यों नहीं सो रही हो ? पट्टमहिषी वृन्द द्वारकास्थ भवन में श्रीमुकुन्द के साहचर्य्य प्राप्त कर के भी अनुराग की चरम कक्षा में उपनीत होकर प्रेमवैचित्त्य नामक अनुभावाक्रान्त हृदय से उस प्रकार कही थीं। इस में चेतनाचेतन सर्वभूत में निज भाव की सजातीयता का अनुभव सुस्पष्ट आङ्कुत हुआ है। "सर्व भूतेषु यः पश्येत्"

ब्रह्मज्ञानमभिधीयते, भागवतैस्तज्ज्ञानस्य तत्फलस्य च हेयत्वेन जीव-भगवद्विभागाभावेन च भागवतत्वविरोधात्, (भा० ३।२९।१२) "अहैतुक्यव्यवहिता" इत्यादिकात्यन्तिक भक्ति-लक्षणानुसारेण सुतरामुत्तमत्वविरोधाच्च। न च निराकारेश्वरज्ञानम् (भा० ११।२।५५) "प्रणय-रशनया धृताङ्घ्रिपद्मः" इत्युपसंहारगत-लक्षणपरमकाष्ठाविरोधादेवेति विवेचनीयम् ॥

१८९। अथ मानसलिङ्गविशेषेणैव मध्यमभागवतं लक्षयति (भा० ११।२।४६) —

(१८९) "ईश्वरे तदधीनेषु वालिशेषु द्विषत्सु च।
प्रेम-मैत्री-कृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः ॥"५४४॥

परमेश्वरे प्रेम करोति, तस्मिन् भक्तियुक्तो भवतीत्यर्थः, तथा तदधीनेषु भक्तेषु च मैत्रीं

इत्यादि श्लोक में सर्वभूत में भगवद् भक्त गण निजाभीष्ट भगवान् की सत्ता की जो उपलब्धि करते हैं, उस में ब्रह्म ज्ञानी को लक्ष्य नहीं किया गया है। कारण, भगवद् भक्त गण--अभेद ब्रह्म ज्ञान एवं उस की फल रूप मुक्ति में तुच्छ बुद्धि ही करते हैं। विशेषतः जीव एवं भगवान् में धर्मगत जो पार्थक्य ब्रह्म ज्ञान में नहीं रहता है, वह ब्रह्म ज्ञान ही भगवद्धर्म्म का अत्यन्त विरोधी है। भा० ३।२९।१२ में उक्त "अहैतुक्य व्यवहिता" इत्यादि श्लोक में कथित ऐकान्तिक भक्ति लक्षण के सहित ब्रह्म ज्ञान का विरोध उपस्थित होने के कारण ब्रह्म ज्ञान को कभी भी भक्ति नहीं कही जा सकती है। कारण, उत्तमा भक्ति लक्षण में उक्त है--

जो भक्ति, अव्यवहिता है, अर्थात् ज्ञान कर्मादि के सहित अमिश्रिता है एवं अहैतुकी शब्द से धर्म, अर्थ, काम मोक्ष कामना शून्या है, वह भक्ति, श्रीभगवान् में प्रयोजिता होने से सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य, एवं एकत्व यह पञ्चविधा भक्ति के प्रति तुच्छ बुद्धि हो जाती है। वस्तुतः जीव एवं ईश्वर में विभाग विद्यमान न होने से भक्ति की रक्षा हो ही नहीं सकती है। अतएव ज्ञानी को लक्ष्य करके भा० ११।२।४५ श्लोक की व्याख्या सङ्गत नहीं होगी। यदि कोई निराकार ईश्वर ज्ञान पर उस श्लोक की व्याख्या करते हैं तो वह असङ्गत होगी। कारण, भागवद्धर्म लक्षण के (भा० ११।२।५५) वाक्य उपसंहार में उल्लेख है। "प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः" अर्थात् जिन्होंने प्रणयरशना के द्वारा श्रीहरि के चरण कमल को हृदय में धारण किये हैं, वे ही भागवत् भक्त वृन्द के मध्य में उत्तम हैं। अतएव साक्षात् चरण कमल का उल्लेख होने के कारण, भागवत् धर्म लक्षण की व्याख्या निराकार पर करने से सर्वथा वह व्याख्या असमीचीन ही होगी। अथच यह लक्षण उत्तम भागवत वृन्द के मध्य में सर्वश्रेष्ठ लक्षण है। यह विषय विशेष रूप से विवेचनीय है ॥१८८॥

१८९। अनन्तर मानस लक्षण विशेष के द्वारा मध्यम भागवत का परिचय प्रदान करते हैं भा० ११।२।४६

(१८९) "ईश्वरे तदधीनेषु वालिशेषु द्विषत्सु च।
प्रेम--मैत्री--कृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः ॥"५४४।

टीका– प्रेम च मैत्री च कृपा च उपेक्षा च ता ईश्वरादिषु चतुर्षु यः करोति स मध्यमो भागवतः। एवम्भूतस्य भेदस्य दर्शनात्।

जो परमेश्वर में प्रेमवान् हैं, अर्थात् उन में भक्ति युक्त होते हैं। एवं ईश्वराधीन भक्त वृन्द में मैत्री अर्थात् उन के साथ बन्धुता स्थापन करते हैं, वालिश अर्थात् जो भगवान् में भक्ति करना नहीं जानते हैं, अथच श्रीभगवान् को एवं भक्त जन को द्वेष भी नहीं करते हैं, इस प्रकार उदासीन जन समूह को कृपा

बन्धुभावम्,बालिशेषु तद्भक्तिमजानत्सु उदासीनेषु कृपाम, यथोक्तं श्रीप्रह्लादेन (भा० ७।९।४३) "शोचे ततो विमुखचेतस इन्द्रियार्थ,--मायासुखाय भरमुद्वहतो विमूढ़ान्" इत्यात्मनो द्विषत्सु उपेक्षा तदीयद्वेषे चित्ताक्षोभेणौदासीन्यमित्यर्थः, तेष्वपि बालिशत्वेन कृपांशसद्भावात्-यथैव श्रीप्रह्लादो हिरण्यकशिपौ । भगवतो भागवतस्य वा द्विषत्सु तु सत्यपि चित्तक्षोभे तत्रानभिनिवेशमित्यर्थः । अस्य बालिशेषु कृपाया एव स्फुरणम्, द्विषत्सूपेक्षाया एव, न तु प्रागृवत् सर्व्वत्र तस्य तत्प्रेमृणो वा स्फुरणम्, ततो मध्यमत्वम् ।

अथोत्तमस्यापि तदधीनदर्शनेन तत्स्फुरणानन्दादयो विशेषत एव । ततश्च तस्मिन्नधिकैव मैत्री यद्भवति, तन्नो निषिध्यते, किन्तु सर्व्वत्र तद्भावावश्यकता विधीयते । परमोत्तमोत्तमेऽपि तथा दृष्टम् (भा० ४।२४।५८) —

करते हैं । अज्ञजन गण के प्रति जो प्रचुरतर कृपा करते हैं, उस का विवरण भा० ७।९।४३ में है ।

"शोचे ततोविमुख चेतस इन्द्रियार्थ ।
मायासुखाय भरमुद्वहतो विमूढ़ान् ॥"

श्रीप्रह्लाद श्रीनृसिंह देव को कहे थे - हे नाथ ! जो लोक आप की कथासुधा का आस्वादन में विमुख हैं, अथच मायामय इन्द्रिय तृप्ति हेतु गुरुतर भार वहन कर रहे हैं मैं यह सब विमूढ़ मनुष्यों के निमित्त शोक कर रहा हूँ । इस से सूचित हुआ है कि, जो लोक श्रीभगवान् में भक्ति करना नहीं जानते हैं, भक्त, उनके प्रति भी कृपा करते हैं । चतुर्थ लक्षण – अर्थात् मध्यम भागवत का लक्षण यह है । जो लोक द्वेष करते हैं, उस को अपेक्षा करते हैं, अर्थात् उस के द्वारा अनुष्ठित विद्वेष से चित्त क्षुब्ध न होकर उदासीन ही रहता है । किन्तु अज्ञ बुद्धि से द्वेष कारी व्यक्ति को कृपा ही करते हैं । उसका उदाहरण—प्रह्लाद के आचरण में है, प्रह्लाद के प्रति दारुण विद्वेषी हिरण्य कशिपु के प्रति प्रह्लाद की करुणा हुई थी । इस का उल्लेख भा० ७।१० में है । यदि कोई कभी श्रीभगवान् के भक्त गण को विद्वेष करता है तो, भक्त का चित्त उस से क्षुब्ध होने पर भी विद्वेष कारी के प्रति चित्त का अभिनिवेश नहीं रहता है । यह मध्यम भागवत का लक्षण है, जिस में अज्ञजन के प्रति कृपा ही स्फुरित होती है, एवं स्वयं के प्रति विद्वेष कारी के प्रति उपेक्षा ही रहती है । किन्तु उत्तम भागवत के समान सर्वत्र श्रीभगवान् की अथवा भगवद् विषयक प्रेम की स्फूर्त्ति नहीं होती है । अतः यह मध्यम भागवत हैं । उत्तम भागवत भी भगवद् भक्त को देख कर भगवत् स्फूर्त्ति हेतु आनन्द विभोर होते रहते हैं । अतएव भगवद् भक्त वृन्द के प्रति उत्तम भागवत का जो बन्धुभाव होता है, उसका निषेध नहीं हुआ है । अर्थात् उत्तम भागवत की सर्वत्र भगवद् दृष्टि होने पर भी भगवद् भक्त जन में बन्धु भाव भी विशेष रूप से प्रकाशित होता है, किन्तु सर्वत्र भगवद् भाव की सत्ता स्फूर्त्ति की आवश्यकता विहित हुई है । अर्थात् किसी भी अवस्था में उत्तम भागवत में भगवत् स्फूर्त्ति का व्याघात नहीं होता है । किन्तु उत्तम भागवत में भक्त जन के प्रति बन्धु भाव ही दृष्ट होता है । यहाँपर ज्ञातव्य यह है कि पूर्व में उत्तम भागवत को तीन अवस्था वर्णित हुई हैं । उस में प्राप्त पार्षद देह, उत्तम भागवत वृन्द के मध्य में उत्तम है । निर्धूतकषाय—उत्तम भागवत गण के मध्य में मध्यम, हैं, एवं मूर्च्छित कषाय—उत्तम भागवत वृन्द के मध्य में कनिष्ठ हैं । निखिल भागवत वृन्द के मध्य में श्रीमहादेव सर्वोत्तम हैं । भा० ४।२४।५७ के रुद्रगीत में उक्त है—

"क्षणार्द्धेनापि तुलये न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥"५४५॥ इति।

(भा० ४।२४।३०) "अथ भागवता यूयं प्रियाः स्थ भगवान् यथा" इति च श्रीरुद्रगीतात्, (भा० १।७।११)

"हरेर्गुणाक्षिप्तमतिर्भगवान् बादरायणिः।
अध्यगान्महदाख्यानं नित्यं विष्णुजनप्रियः ॥"५४६॥

इति श्रीसूतवाक्याच्च। एवं (भा० १०।१।३५) "भोजानां कुलपांसनः" इत्यादौ तत्र बादरायणि—प्रभृतीनां द्वेषोऽपि दृश्यते, किन्तु मध्यमानां तत्रानभिनिवेश एव

"क्षणार्द्धेनापि तुलये न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत् सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥"५४५॥

हे प्रभु! जो आप में गाढ़ आसक्त हैं, उस प्रकार भगवद् भक्त के क्षणार्धकाल सङ्ग के सहित स्वर्गीय सुख एवं मोक्ष सुख की तुलना की सम्भावना ही नहीं की जा सकती है। अर्थात् भगवद् भक्ति प्रिय भक्त के क्षणार्धकाल सङ्ग से जो निविड़ आस्वादन प्राप्त होता है, स्वर्गीय भोग विलास किंवा निर्विशेष ब्रह्मानन्दानुभव से उस जातीय एवं उस परिमाण निविड़ आनन्दास्वादन नहीं होता है। भक्त सङ्ग सुख के सहित जब मोक्षसुख की ही तुलना नहीं होती है, तब मरण धर्म शील मानव वृन्द के राज्यादि सुख के सहित भक्त सङ्ग जनित सुख की तुलना हो ही नहीं सकती है, इस को कहना ही क्या है? भा० ४।२४।३० में प्रचेतागण के निकट स्वयं रुद्र ने ही कहा है—

"अथ भागवता यूयं प्रियाः स्थ भगवान् यथा।
न मद् भागवतानाञ्च प्रेयानन्योऽस्ति कर्हिचित् ॥

हे प्रचेता गण! भगवान् मेरा जिस प्रकार प्रिय हैं, भगवद् भक्ति निष्ठ आप सब भी उस प्रकार प्रिय हैं। भक्ति निष्ठ भक्त वृन्द का भी मुझ को छोड़कर अधिक प्रिय कोई नहीं हैं।

उत्तम भागवत वृन्द में उक्त जन के प्रति जो बन्धु भाव विद्यमान है, उस का विवरण प्रस्तुत प्रकरण से प्राप्त हुआ। भा० १।७।११ में भी श्रीसूतने कहा है—

"हरेर्गुणाक्षिप्तमतिर्भगवान् बादरायणिः।
अध्यगान्महदाख्यानं नित्यं विष्णुजनप्रियः ॥"५४६॥

टीका—ननु भक्तिं कुर्वन्तु नाम, एतच्छास्त्राभ्यासे शुकस्य किं कारणमित्यत आह, हरेरिति। अध्यगाद् अधीतवान्। विष्णुजनाः प्रिया यस्येति। व्याख्यानादि प्रसङ्गेन तत् सङ्गति काम इति भावः। एतेन तस्य पुत्रो महायोगीत्यादिना शुकस्य व्याख्यानेन प्रवृत्तिः कथमिति यत् पृष्टं तस्योत्तरमुक्तम्।

भगवान् बादरायणि शुकदेव श्रीहरि के गुण श्रवण से आक्षिप्त मति होकर बृहदाख्यायिकामय श्रीमद् भागवत श्रीकृष्णद्वैपायन के निकट से अध्ययन किये थे। कारण—शुकदेव सर्वदा विष्णु जन प्रिय थे। अर्थात् श्रीहरि भक्त ही उन के अत्यन्त प्रिय थे। अथवा निखिल हरिभक्त वृन्द के मध्य में शुकदेव अत्यन्त प्रिय थे। इस से भी उत्तम भागवत, भक्त जन के प्रति बन्धुभाव स्थापन करते हैं, यह वृत्तान्त ज्ञात होता है। एवं "भोजानां कुल पांसनः" भा० १०।१।३५ के वृत्तान्त के अनुसार ज्ञात होता है। कि—श्रीशुक

स्फुरति। तेषान्तु तत्रापि तद्विधशास्तृत्वेन निज श्रीष्टदेवपरिस्फूर्त्तिर्न व्याहन्यत एवेति विशेषः। तद्दृष्टचैव च श्रीमदुद्धवादीनामपि दुर्य्योधनादौ नमस्कारः (भा० ४।३।२३)–'सत्त्वं विशुद्धं वसुदेव-शब्दितं, यदीयते तत्र पुमानपावृतः" इत्यादि श्रीशिववाक्यवत्। उक्तञ्च लक्ष्मणाहरणे (भा० १०।६८।१७) "सोऽभिवन्द्याम्बिकापुत्रम्" इत्यादौ दुर्य्योधनं चेति। यत्र पक्षे च स्वकीय-भावस्यैव सर्व्वत्र परिस्फूर्त्तेः श्रीभगवदादि-द्विषत्स्वपि सा पर्य्यवस्यति, तत्र च नायुक्तता, यतस्ते निजप्राणकोटिनिर्मञ्छनीय-तच्चरणपङ्कजपरागलेशास्तेषां दुर्व्यवहारदृष्ट्या क्षुभ्यन्ति। स्वीय-भावानुसारेण त्वेवं मन्यन्ते–अहो ईदृशश्चेतनो वा कः स्याद् यः पुनरस्मिन् सर्वानन्द-कन्दकदम्बे निरुपाधि-परमप्रेमास्पदे सकललोकप्रसादक-सद्गुणमणिभूषिते सर्वहित–

प्रभृति महाभागवत वृन्द—भक्त भगवद् विद्वेषि वृन्द के प्रति विद्वेष भी करते थे। किन्तु, मध्यम भागवत में भक्त भगवद् विद्वेषि वृन्द के प्रति अनभिनिवेश स्फूर्त्ति होती है। किन्तु उत्तम भागवत गण की भक्त भगवद् द्वेषिगण में भी शासन कर्त्तारूप में निजेष्ट देव की स्फूर्त्ति होती ही है। अर्थात् जो लोक भक्त एवं भगवान् को विद्वेष करते हैं, उनके द्वेष आचरण को देखकर उत्तम भागवत वृन्द के मन में निजेष्ट देव भगवान् की स्मृति ही जगती है। उस प्रकार स्फूर्त्ति इस प्रकार से होती है—उक्त विद्वेषिगण के शास्ता, प्राणप्रिय श्रीगोविन्द व्यतीत अपर कोई भी नहीं हैं। मध्यम भागवत से उत्तम भागवत की मनोगत दृष्टि से ही भगवद् विद्वेषी दुर्य्योधन प्रभृति को प्रणाम श्रीउद्धव प्रभृति करते थे। यहाँ समझना होगा कि—भा० ४।३।१३ में वर्णित "सत्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितं" यदीयते तत्र पुमानपावृतः॥ श्रीशिव—शिवानी को कहे थे—विशुद्ध सत्त्व का नाम ही वसुदेव है। उस विशुद्ध सत्त्व में ही प्रकाशमान तत्त्व का नाम वासुदेव है, मैं उन वासुदेव को अन्तर्मनाः होकर निरन्तर प्रणाम करता हूँ। देह दृष्टि से अथवा देहाभिमानी दृष्टि से किसी को प्रणाम नहीं करता हूँ। किन्तु प्रति हृदय में अन्तर्य्यामी रूप में विराजित श्रीवासुदेव ही मेरा प्रणम्य हैं। "गुहाशयायैव न देहमानिने" इस प्रकार श्रीशिवोक्ति के समान ही उत्तम भागवत श्रीउद्धव प्रभृति भी दुर्य्योधनादि के प्रति नमस्कारादि व्यवहार करते थे। भा० १०।६८।१७ के लक्ष्मणाहरण प्रसङ्ग में उक्त है— "सोऽभिवन्दयाम्बिकापुत्रम्"

लक्ष्मणाहरण प्रसङ्गमें समाधान हेतु श्रीबलराम का आगमन कौरव गणके निकट हुआ था, इस समय श्रीबलराम उद्धव के द्वारा निज आगमन संवाद सूचित किये थे। उद्धव भी प्रथमतः अम्बिका पुत्र धृतराष्ट्र को तत् पश्चात् द्रोणाचार्य्य को, बाह्लिक प्रभृति को एवं अनन्तर दुर्य्योधन को विधिवत् प्रणाम करके श्रीबलराम की आगमन वार्त्ता निवेदन किये थे। इस से विदित होता है कि भगवद् विद्वेषी जन को भी उत्तम भागवत प्रणाम करते हैं। उक्त श्लोक की पक्षान्तर व्याख्या में भी समाधान समानरूप से ही होता है। उत्तम भागवत वृन्द सर्वत्र चेतनाचेतन में निजाभीष्ट भाव की सत्ता उपलब्धि करते हैं जो लोक, भक्त एव भगवान् के प्रति द्वेष करते हैं, उन में भी स्वीय अभीष्ट भाव की स्फूर्त्ति ही होती है। कारण, उत्तम भागवत वृन्द के हृदय प्राणकोटि निर्म्मञ्छनीय हरिचरण पङ्कज लेशके द्वारा सतत परिभावित हैं, तज्जन्य विरोधी व्यक्तियों की दुर्व्यवहार दृष्टि से वे अत्यन्त क्षुब्ध दिखाई देते हैं। महाभागवत वृन्द किन्तु इस प्रकार भावते रहते हैं—इस जगत् में ऐसा कौन चेतन व्यक्ति है—जो सर्वानन्दकन्द कदम्ब, निरुपाधि परम प्रेमास्पद, सकल लोक सुखद, एवं सद् गुण मणि भूषित हैं, जिन की लीला सुधा निखिल सद्गुण मण्डित सर्वजन हित कारिणी है, उन लीला पुरुषोत्तम में वा उन के प्रियजन में प्रीति न करके रह सकते हैं।

पर्य्यवसायिचर्य्यामृते श्रीपुरुषोत्तमे तत्-प्रियजने वा प्रीतिं न कुर्वीत, तद्द्वेषकारणं तु सुतरामेवात्रास्मद्बुद्धिपद्धतिमतीतम् । तस्माद्ब्रह्मादि-स्थावर-पर्यन्ता अदुष्टा दुष्टाश्च तस्मिन् वाढ़ं रज्यन्त एवेति । तदुक्तं श्रीशुकेन, (भा० ११।२।१-२)—

"गोविन्दभुजगुप्तायां द्वारवत्यां कुरूद्वह ।
अवात्सीन्नारदोऽभीक्ष्णं कृष्णोपासनलालसः ॥५४७॥
को नु राजन्निन्द्रियवान् मुकुन्दचरणाम्बुजम् ।
न भजेत् सर्वतोमृत्युरुपास्यममरोत्तमैः ॥"५४८ ॥इति ॥

१९० । अथ भगवद्धर्माचरणरूपेण कायिकेन किञ्चिन्मानसेन च लिङ्गेन कनिष्ठं लक्षयति (भा० ११।२।४७)

(१९०) "अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते ।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः ॥"५४९॥

कारण, प्रीति योग्य सद् गुण गणार्णव श्रीभगवान् में प्रीति न करके उन को भी विद्वेष कोई कर सकते हैं ? इस का कारण अनुसन्धान करना हमारे पक्ष में असम्भव है। अर्थात् उसको जानना हमारी बुद्धि पद्धति के अतीत है । अतएव ब्रह्मा प्रभृति से आरम्भकर स्थावर पर्य्यन्त दुष्ट— अदुष्ट समस्त ही पूर्वोक्त सर्व सद् गुण गणालङ्कृत श्रीभगवान् में निविड़भाव से अनुरक्त हैं। भा० ११।२।१-२ में श्रीशुकने भी कहा है-

"गोविन्दभुजगुप्तायां द्वारवत्यां कुरूद्वह ।
अवात्सीन्नारदोऽभीक्ष्णं कृष्णोपासनलालसः ॥"५४७॥
को नु राजन्निन्द्रियवान् मुकुन्दचरणाम्बुजम् ।
न भजेत् सर्वतोमृत्युरुपास्यममरोत्तमैः ॥"५४८॥

टीका—अभीक्ष्णं प्रस्थापितोऽपि पुनः पुनरवात्सीदित्यर्थः । ननु नारदस्य दक्षादि शापान्नैकत्र वासः सम्भवतीत्याशङ्क्याह गोविन्द भुजगुप्तायामिति । न तस्यां शापादेः प्रभाव इत्यर्थः । कृष्णोपासनं लालसा औत्कण्ठं यस्य सः । (१) यद् भजने मुक्तानामपि ईदृशोत्सुक्यं तं को नाम नभजेदित्याह कोन्विति । इन्द्रियवानिति । इन्द्रियवत्त्वमात्रमेव यत्राधिकारि विशेषणमित्यर्थः । सर्वतः सर्वेष्वपि लोकेषु मृत्युर्यस्य सः ॥'

हे राजन् ! श्रीगोविन्द के भुज चतुष्टय के द्वारा सुरक्षिता द्वारका में देवर्षि नारद श्रीकृष्ण दर्शन लालसा से वारम्बार वास करते थे। हे राजन् ! इन्द्रिय शक्ति सम्पन्न कौन मानव मुकुन्द चरण कमल का भजन न करके रह सकते हैं ? कारण, आत्माराम गण स्वरूपानन्द से पूर्णकाम होकर भी उन के चरणों में भक्ति करते हैं। विशेष कर जो भी अनुष्ठान क्यों न करें, कोई भी मृत्यु से छुटकारा प्राप्त नहीं कर सकते हैं एक मात्र श्रीगोविन्द चरणाम्बुज की उपासना से ही मृत्यु भय निवृत्ति होती है। इस रीति से उत्तम भागवत वृन्द का मनोभाव सुव्यक्त हुआ। अर्थात् वे सब चेतनाचेतन सर्वत्र ही जो स्वकीय भाव का अनुभव करते हैं, उसका प्रदर्शन हुआ ॥१८९॥

१९० । अनन्तर भागवद् धर्म आचरण रूप कायिक एवं किञ्चित् मानसिक चिह्नके द्वारा भी कनिष्ठ भागवत का परिचय प्रदान करते हैं। भा० ११।२।४७

अर्चायां प्रतिमायामेव, न तद्भक्तेषु अन्येषु च सुतरां न, भगवत् प्रेमाभावाद्भक्त-माहात्म्यज्ञानाभावात् सर्वादरलक्षण-भक्तगुणानुदयाच्च। स प्राकृतः प्रकृतिप्रारम्भः-अधुनैव प्रारब्धभक्तिरित्यर्थः। इयञ्च श्रद्धा न शास्त्रार्थावधारणजाता, (भा० १०।८४।१३) "यस्यात्म-बुद्धिः कुणपे त्रिधातुके, स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः। यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचि-ज्जनेष्वभिज्ञेषु" इत्यादि-शास्त्राज्ञानात्। तस्माल्लोक-परम्पराप्राप्तैवेति पूर्ववत्। अतश्चाजात-प्रेमा शास्त्रीयश्रद्धायुक्तः साधकस्तु मुख्यः कनिष्ठो ज्ञेयः॥

१६१। अथ टीका—"पुनरष्टभिः श्लोकैरभ्यर्हितत्वादुत्तमस्यैव लक्षणान्याह-गृहीत्वापि"

---

(१६०) "अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः॥"५४६॥

टीका—अर्च्चायां प्रतिमायां पूजामीहते करोति, न तद् भक्तेषु अन्येषु च सुतरां न करोति। प्राकृतः प्रकृत प्रारम्भः अधुनैव प्रारब्धभक्तिः, शनैरुत्तमो भविष्यतीत्यर्थः॥

जो श्रीहरि को सन्तुष्ट करने के निमित्त श्रद्धा पूर्वक अर्च्चना विग्रह प्रतिमाकी पूजा करते हैं, किन्तु भागवद् भक्त गण की अथवा साधारण जीव मात्र की पूजा अथवा उनको आदर प्रदान नहीं करते हैं, उन को प्राकृत भक्त कहते हैं, प्राकृत शब्द का अर्थ है—प्रकृति प्रारम्भ। अर्थात् प्रथम प्रवृत्त स्वभाव है। इस प्रकार अर्थ टीकाकार श्रीधर स्वामिपादानुमोदित है। श्रीजीव गोस्वामी के मत में प्राकृत शब्द का अर्थ "अधुनैव प्रारब्ध भक्तिः" अर्थात् सम्प्रति भक्ति का प्रारम्भ हुआ है। यहाँ प्राकृत शब्द का अर्थ मायामय नहीं है। यहाँ श्रद्धा की बात कही गई है, वह श्रद्धा, शास्त्रतात्पर्य्य निर्द्धारण हेतु नहीं है। यदि शास्त्र तात्पर्य्य बोध से वह श्रद्धा होती तो भा० १०।८४।१३में भगवान् श्रीकृष्ण कहे हैं—

"यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके, स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः।
यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचि,-ज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः॥

टीका—अतः साधून् विहाय अन्यत्रात्मत्वादि बुद्ध्या सज्जमानोऽति मन्द इत्याह यस्येति। आत्मबुद्धि—अहमिति बुद्धिः। त्रयो धातवो वातपित्तश्लेष्माणः प्रकृतयो यस्य तस्मिन् कुणपे शरीरे। स्वधीः-स्वीया इति बुद्धिः। भौमेभूविकारे इज्यधी देवता बुद्धिः। यद् यस्य सलिले तीर्थ बुद्धि स्तीर्थमिति बुद्धिः। अभिज्ञेषु तत्त्ववित्सु यस्य ता बुद्धयो न सन्ति स एव गोष्वपि खरो दारुणोऽत्यविवेकी। यद्वा गवां तृणादिभारवाहः खरो गर्दभः" इति॥

जो त्रिधातुमय शरीर में आत्मबुद्धि, स्त्री पुत्रादि में निज जन बुद्धि, मृत्तिका विकार प्रतिमादि में पूज्य बुद्धि, सलिल में तीर्थ बुद्धि करते हैं, किन्तु कभी भी भगवत्तत्त्वाभिज्ञ भक्तजन में पूज्य बुद्धि नहीं करते हैं, वे ही गो, अथवा गोखर होता है। यदि कनिष्ठ भागवत की शास्त्रार्थ के प्रति श्रद्धा होती तो कभी भी भक्त जन के प्रति पूज्य बुद्धि न करके रह नहीं सकते। अतएव यह कनिष्ठ भागवत की जो श्रद्धा है, वह लोक परम्परा प्राप्त श्रद्धा है, अर्थात् यह लौकिकी श्रद्धा है। अतएव जिस साधक का श्रीभगवान् में प्रेम नहीं हुआ है, अथच शास्त्रीय श्रद्धा युक्त है, उस साधक को मुख्य कनिष्ठ भागवत जानना होगा।।१६०॥

१६१। श्रीधर स्वामिपाद कृत टीका में लिखित है—

उत्तम भागवत ही सब से श्रेष्ठ पूज्य हैं। अतः पुनर्वार आठश्लोकों के द्वारा उन के परिचायक लक्षण

इत्येषा । तथाहि (भा० ११।२।४८)

(१९१) "गृहीत्वापीन्द्रियैरर्थान् यो न द्वेष्टि न हृष्यति ।
विष्णोर्मायामिदं पश्यन् स वै भागवतोत्तमः ॥"५५०॥

पूर्व्वोक्तप्रकारेण तदाविष्टचित्तो न गृह्णाति तावदिन्द्रियैरर्थान् गृहीत्वापीत्यपि-शब्दार्थः । इदं विश्वम्, मायां बहिरङ्गशक्तिविलासत्वाद्धेयमित्यर्थः । अत्रापि कायिक-मानसयोः साङ्कर्य्यम् ॥

१९२ । अथ केवलमानसलिङ्गैराह यावत् प्रकरणम् (भा० ११।२।४९) –

(१९२) "देहेन्द्रियप्राणमनोधियां यो, जन्माप्ययक्षुद्भयतर्षकृच्छ्रैः ।
संसारधर्म्मैरविमुह्यमानः, स्मृत्या हरेर्भागवतप्रधानः ॥"५५१॥

यो हरेः स्मृत्या देहादीनां संसारधर्म्मैर्जन्माप्ययादिभिर्विमुह्यमानो न भवति, स भागवत-प्रधानः, उक्तञ्च श्रीगीतासु (७।२८)–

समूह का वर्णन करते हैं—भा० ११।२।४८ में उक्त है—

(१९१) "गृहीत्वापीन्द्रियैरर्थान् यो न द्वेष्टि न हृष्यति ।
विष्णोर्मायामिदं पश्यन् स वै भागवतोत्तमः ॥"५५०॥

टीका--पुनरष्टभिः श्लोकैरभ्यर्हितत्वात् उत्तम भागवतस्यैव लक्षणान्याह गृहीत्वापीति । श्रीवासुदेवाविष्ट चेता न गृह्णाति, तावदिन्द्रियैरर्थान् गृहीत्वापीति—अपिशब्दार्थः । इदं विश्वम् ॥

जो इन्द्रिय समूह द्वारा विषय ग्रहण करके भी द्वेष वा आकाङ्क्षा नहीं करते हैं, वे ही श्रेष्ठ भागवत हैं। द्वेष एवं आकाङ्क्षा न करने का कारण यह है कि—दृष्ट श्रुत इन्द्रिय ग्राह्य वस्तु मात्र ही श्रीविष्णु माया द्वारा रचित है, अतएव इस में हेय उपादेय कुछ भी नहीं है। जिस प्रकार एक उपादान द्वारा निर्म्मित विभिन्न वस्तु समूह उपादान गत पार्थक्य नहीं है, उस प्रकार माया द्वारा रचित विश्व में हेय उपादेय बुद्धि करने की सम्भावना नहीं है। कारण—सभी मायामय हैं।

पूर्व वर्णित रीति से उत्तम भागवत के चित्त का आवेश श्रीभगवान् में होने के कारण, इन्द्रिय समूह के द्वारा विषय ग्रहण करके भी उस में उत्तम भागवत आविष्ट नहीं होते हैं। यह विश्व वहिरङ्गा माया शक्ति का विलास स्वरूप होने के कारण—अत्यन्त हेय है। इस लक्षण में भी कायिक एवं मानसिक चेष्टा का साङ्कर्य्य है। इन्द्रिय द्वारा विषय ग्रहण करना---कायिक चेष्टा है। एवं विश्व मायामय है-यह भावना मानस भाव है ॥१९१॥

१९२। अनन्तर केवल मानसिक चिह्न द्वारा महाभागवत का परिचय प्रदान करते हैं—प्रकरण समाप्ति पर्य्यन्त महाभागवत के लक्षण का वर्णन होगा। भा० ११।२।४९

(१९२) "देहेन्द्रियप्राणमनोधियां यो, जन्माप्ययक्षुद्भयतर्षकृच्छ्रैः ।
संसारधर्म्मैरविमुह्यमानः, स्मृत्या हरेर्भागवतप्रधानः ॥"५५१॥

टीका – देहादीनां संसारधर्मै र्जन्माप्ययादिभिर्यो हरेः स्मृत्या अविमुह्यमानः, स भागवत प्रधानः । तत्र देहस्य जन्माप्ययौ । प्राणस्य क्षुत् पिपासे । मनसो भयम् । बुद्धेस्तर्षस्तृष्णा । इन्द्रियाणां कृच्छ्रं श्रमरतैः ।

"येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्म्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढ़व्रताः ॥"५५२॥

१९३ । तथा (भा० ११।२।५०) —

(१९३) "न कामकर्म्मवीजानां यस्य चेतसि सम्भवः ।
वासुदेवैकनिलयः स वै भागवतोत्तमः ॥"५५३॥

वीजानि वासनाः, वासुदेवैकनिलयो वासुदेवमात्राश्रयः ॥

१९४ । तथा (भा० ११।२।५१) —

(१९४) "न यस्य जन्म-कर्म्मभ्यां न वर्णाश्रम-जातिभिः ।
सज्जतेऽस्मिन्नहंभावो देहे वै स हरेः प्रियः ॥"५५४॥

देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि धर्म, जन्म, मृत्यु, क्षुधा, भय, तृष्णा, परिश्रम प्रभृति संसार धर्म द्वारा जो श्रीहरि स्मृति के प्रभाव से विमुग्ध नहीं होते हैं, वे ही भागवत श्रेष्ठ हैं ।

भगवद् गीता के ७।२८ में भी कथित है—

"येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्म्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढ़व्रताः ॥"५५२॥ इति ॥

जिस पुण्यकर्म्मा मानवों के सर्व प्रकार पाप विदूरित हुये हैं, वे जन्म मृत्यु क्षुधा, भय, शीत, ग्रीष्म, मान, अपमान, जय, पराजय, सुख दुःख प्रभृति द्वन्द्वधर्म से निर्म्मुक्त होकर गाढ़ संकल्प द्वारा मेरा भजन करते हैं । इस से विदित होता है कि—श्रीहरिस्मृति के प्रभाव से भक्त द्वन्द्व धर्म से मुक्त होकर श्रीभगवान् का भजन करते रहते हैं ॥१९२॥

१९३ । उस प्रकार भा० ११।२।५० में लिखित है—

(१९३) "न कामकर्म्मवीजानां यस्य चेतसि सम्भवः ।
वासुदेवैकनिलयः स वै भागवतोत्तमः ॥"५५३॥

टीका—कामश्च कर्म्माणि च वीजानि च वासना स्तेषाम् । वासुदेव एव एक निलय आश्रयो यस्य सः । एतेन गृहीत्वापीत्यादि श्लोकत्रयेण द्वेषहर्षमोह कामादि रहितश्चरतीति यथा चरतीत्येतस्योत्तर मुक्तम् ।

जो एकमात्र वासुदेव को आश्रय किये हैं, अतः हृदय में काम संस्कार, धर्म, एवं वीज 'वासना' प्रभृति का उद्‌गम नहीं होता है, वे ही भागवतोत्तम हैं, इस में संशय नहीं है ॥१९३॥

१९४ । उसी प्रकार भा० ११।२।५१ में उक्त है—

(१९४) "न यस्य जन्म-कर्म्मभ्यां न वर्णाश्रम-जातिभिः ।
सज्जतेऽस्मिन्नहंभावो देहे वै स हरेः प्रियः ॥"५५४॥

टीका—यै लिङ्गैर्भगवत् प्रियः, इत्यस्योत्तरमाह न यस्येति । जन्म सत् कुलम् । कर्म तप आदि । जातयोऽनुलोम प्रतिलोमजा मूर्द्धाभिषिक्तादयः । अस्मिन् देहे । अहङ्काररहितैः सत् कुल कर्म्मादि लिङ्गैर्हरेः प्रियो भवतीत्यर्थः ।

जन्म—सकुल, कर्म—तपस्यादि, वर्ण—ब्राह्मणादि, आश्रम—सन्न्यासादि जाति—अनुलोमज, प्रति

जन्म सत्कुलम्, कर्म्म तपआदि, जातयोऽनुलोमजा मूर्द्धाभिषिक्तादयः, एताभिर्यस्यास्मिन् देहेऽहंभावो न सज्जते, किन्तु भगवत्सेवौपयिके साध्ये एव देहे सज्जत इत्यर्थः, स हरेः प्रियो भागवतोत्तम इति पूर्वेणान्वयः, प्रकरणार्थत्वात् । हरेः प्रिय इति भागवतमात्रत्वाच्च भागवतत्वादेव ॥

१९५ । तथा (भा० ११।२।५२) —

(१९५) "न यस्य स्वः पर इति वित्तेष्वात्मनि वा भिदा ।
सर्व्वभूतसुहृच्छान्तः स वै भागवतोत्तमः ॥"५५५॥

वित्तेषु ममतास्पदमात्रेषु स्वीयं परकीयमिति, आत्मनि स्वः पर इति । अत्र वित्तवदात्मनि च स्वपक्षपातमात्रं निषिध्यते, न व्यक्तिभेदः ॥

१९६ । किञ्च, (भा० ११।२।५२) —

(१९६) "त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठ,-स्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात् ।
न चलति भगवत्पदारविन्दा--,ल्लवनिमिषार्द्धमपि स वैष्णवाग्रयः ॥"५५६॥

लोमज, मूर्द्धाभिषिक्त प्रभृति, इन सब के द्वारा जिस को उस देह में अहम्भाव नहीं होता है । अर्थात् मैं कुलीन, मैं तपस्वी, मैं ब्राह्मण, मैं सन्न्यासी इस प्रकार मायिक अभिमान, मायिक देह में नहीं होता है, किन्तु भागवत देह में ही आसक्त होता है । वह व्यक्ति ही श्रीहरि का प्रिय है, अर्थात् भागवतोत्तम है । पूर्व श्लोक के सहित इस श्लोक का अन्वय करना चाहिये । कारण, उत्तम भागवत लक्षण का परिचय प्रदान करना प्रस्तुत प्रकरण का उद्देश्य है । विशेष कर जब तक उत्तम भागवत नहीं होता है । तब तक श्रीहरि का प्रिय होने की सम्भावना नहीं है ॥१९४॥

१९५ । उस प्रकार भा० ११।२।५२ में वर्णित है—

(१९५) "न यस्य स्वः पर इति वित्तेष्वात्मनि वा भिदा ।
सर्व्वभूतसुहृच्छान्तः स वै भागवतोत्तमः ॥"५५५॥

टीका—वित्तेषु स्वीयं परकीयमिति । आत्मनि स्वः पर इति ।

जिस की वित्त सम्पत्ति में स्वीय परकीय इस प्रकार भेद बुद्धि नहीं है । शरीर में भी स्वपर भेद ज्ञान नहीं है, अर्थात् यह मेरा, वह दूसरे का है, इस प्रकार बुद्धि नहीं है । अतएव पक्षपातित्व दोष शून्य है । यहाँ पक्ष पातित्व दोष निरास हुआ है । किन्तु व्यक्ति गत भेद का निरास नहीं हुआ है । इस प्रकार भेद दृष्टि शून्य होकर जो व्यक्ति सर्वभूत सुहृत् एवं शान्त होता है, वही भागवतोत्तम है ॥१९५॥

१९६ । और भी भा० ११।२।५३ में कहा है—

(१९६) "त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठ--,स्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात् ।
न चलति भगवत्पदारविन्दा,--ल्लवनिमिषार्द्धमपि स वैष्णवाग्रयः ॥"५५६॥

टीका—किञ्च त्रिभुवन विभव हेतवेऽपि त्रैलोक्य राज्यार्थमपि लवार्द्धमपि निमिषार्द्धमपि भगवत् पदारविन्द भजनात् यो न चलति स वैष्णवाग्रयः ।

अचलनत्वे हेतुः—त्रिभुवनेति । तत्र हेतुः–अजिते हरावेव आत्मा येषां तैर्ब्रह्म प्रभृतिभिः सुरादिभिरपि विमृग्याद्दुर्लभादित्यर्थः ॥

१९७ । अपि च विषयाभिसन्धिना चलनं कामेनातिसन्तापे सति भवेत्, स तु भगवत्-सेवानिर्वृतौ न सम्भवतीत्याह, (भा० ११।२।५४) —

(१९७) "भगवत उरुविक्रमाङ्घ्रिशाखा-,नखमणिचन्द्रिकया निरस्ततापे ।
हृदि कथमुपसीदतां पुनः स, प्रभवति चन्द्र इवोदितेऽर्कतापः ॥"५५७।

उरुविक्रमौ च तावङ्घ्री च तयोः शाखा अङ्गुलयः, चन्द्रिका तापहारिणी दीप्तिः, तापः कामादिसन्तापः ॥

ननु लवार्द्धमात्र भजनोपरमे चेत् तावान् लाभो भवेत् तत् कुतो न चलेत् । तत्राह । अकुण्ठस्मृतिः । भगवत् पदतोऽन्यत् सारं नास्तीत्येवं रूपा अकुण्ठा अनपगता स्मृतिर्यस्य सः । भगवत् पदारविन्दात् अन्यत् सारं नास्तीति कुतः ? अत आह । अजिते हरावेव आत्मा येषां तथाभूतैः सुरादिभिरपि दुर्ल्लभात् किन्तु केवलं विमृग्यात् तदपेक्षया सर्वस्य तुच्छत्वं स्मरन् यो न चलतीत्यर्थः ॥

अपर लक्षण का वर्णन करते हैं---जो त्रिभुवन विभव प्राप्ति हेतु भी लव निमेषार्द्ध काल भी भगवत् पदारविन्द भजन से विचलित नहीं होता है । जिस की श्रीहरि स्मृति क्षण काल के निमित्त भी विलुप्त नहीं होती है, वह वैष्णव श्रेष्ठ है । कारण, जिन्होंने त्रिभुवन के आधिपत्य को प्राप्त किया है, ऐसे जो ब्रह्मादि हैं । वे भी जिन के चरण कमल को अन्वेषण ही करते रहते हैं । साधु कृपा से जिस ने श्रीहरि चरण स्मृति सौभाग्य को प्राप्त किया है । कुछ त्रिभुवन विभव हेतु कैसे वह ब्रह्मादि दुर्ल्लभ श्रीहरि चरण स्मृति से वह अपने को विचलित करेगा । यह कुछ आश्चर्य्य की बात नहीं है ।

इस अवस्था का नाम ध्रुवानुस्मृति है । अर्थात् निष्ठा भक्ति है । इस अवस्था में लय, विक्षेप, कषाय, रसास्वाद एवं अप्रतिपत्ति यह पाँच अनर्थ—श्रीहरि चरण स्मरण कारी के मन को स्पर्श नहीं कर सकते हैं । गङ्गा प्रवाहवत् निष्ठाभक्ति प्राप्त हृदय विशुद्ध सत्त्व में प्रविष्ट होता है । अतएव रजस्तमो गुण सञ्जात काम लोभ प्रभृति राजस तामसभाव भी उस हृदय को स्पर्श करने में असमर्थ हैं । अर्थात् जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति- यह तीन अवस्था में हरिस्मृति अक्षुण्ण रहती है । इस अवस्था में उपनीत साधक को वैष्णवाग्रय को महाभागवत कहते हैं । तात्पर्य्य यह है कि—विषय वासना से चित्त आकृष्ट होने से विषयाभिसन्धि हेतु श्रीहरि चरण स्मृति से चित्त विचलित होता है । यह श्रीहरिस्मृति परायण चित्त से विलक्षण होता है । किन्तु भगवत् चरणारविन्द सेवा सुखानुभव होने से विषयानुसन्धान करने की सम्भावना ही नहीं रहती है ॥१९६॥

१९७ । उक्त अभिप्राय से ही कहते हैं—भा० ११।२।५४

(१९७) "भगवत उरुविक्रमाङ्घ्रिशाखा,-नखमणिचन्द्रिकया निरस्ततापे ।
प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः, स भवति भागवतप्रधान उक्तः ॥"५५८॥

टीका—"अपि च विषयाभि सन्धिना चलनं कामेनातिसन्तापे सति भवेत्,—सतु भगवत् सेवानिवृतौ न सम्भवतीत्याह भगवत इति । उरुविक्रमौ च' तावङ्घ्रि च तयोः शाखा अङ्गुलयस्तासु नखानि च तानि मणयश्च तेषां चन्द्रिका शीतला दीप्तिस्तया निरस्तः कामादितापो यस्मिंस्तस्मिन् उपसीदतां भजतां हृदि कथं

१९८ । तथा (भा० ११।२।५५) —

(१९८) "विसृजति हृदयं न यस्य साक्षा,-द्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः ।
प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः, स भवति भागवतप्रधान उक्तः ॥" ५५८॥

टीका च—"उक्तसमस्तलक्षणसारमाह,-विसृजतीति । हरिरेव स्वयं साक्षाद्यस्य हृदयं न विसृजति, न विमुञ्चति । अवशेनाप्यभिहितमात्रोऽप्यघौघं नाशयति यः सः । तत् किं न विसृजति, यतः प्रणय-रसनया धृतं हृदये बद्धमङ्घ्रि पद्मं यस्य स भागवतप्रधान उक्तो भवति" इत्येषा । अत्र कामादीनामसम्भवे हेतुः-साक्षादिति पदम्, तदुत्तरकालत्वात् साक्षात्कारस्य । तथा 'हरिरवशाभिहितोऽपि' इत्यादिना य एतादृशप्रणयवांस्तेनानेन तु सर्व्वदा परमावेशेनैव

पुनः सन्तापः प्रभवति । चन्द्रे उदिते सति अर्कस्यताप इव । न यस्य स्वः पर इत्यादिना श्लोकत्रयेण यादृश इत्यस्योत्तर मुक्तं वेदितव्यम् । यद् ब्रूते इत्यस्य च हरिनामानीति ज्ञातव्यम् ॥"

श्रीभगवान् के प्रचुर पराक्रम शाली चरण युगल की शाखास्थानीय अङ्गुली समूह की च्छटा से कामादि सन्ताप निरस्त जिस के हृदय में हुआ है । उस के हृदय में वासना का उद्गम कैसे हो सकता है ? जिस प्रकार चन्द्रोदय होने से सूर्य्यसन्ताप नहीं रहता है, उस प्रकार हृदय गगन में श्रीहरिचरण चन्द्रिका का उदय होने से उस हृदय में कैसे कामादि जनित सन्ताप का उद्गम हो सकता है ॥१९७॥

१९८ । पूर्वोक्त उत्तम भागवत के लक्षण समूह का सार निष्कर्ष रूप एक लक्षण कहते हैं । अर्थात् जिस लक्षण के द्वारा उत्तम भागवत का परिचय उत्तम रूप से होता है, उस को कहते हैं । भा० ११।२।५५

(१९८) "विसृजति हृदयं न यस्य साक्षा-,द्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः ।
प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः, स भवति भागवतप्रधान उक्तः ॥" ५५८॥

टीका—उक्त समस्त लक्षण सारमाह विसृजतीति हरिरेव स्वयं साक्षात् यस्य हृदयं न विसृजति न मुञ्चति । कथम्भूतः ? अवशेनापि अभिहित मात्रोऽपि अघोघं नाशयति यः सः । तत् किं न विसृजति ? यतः प्रणयरसनया धृतं हृदयं निबद्धम् अङ्घ्रिपद्मं यस्य स भागवत प्रधान उक्तो भवति ।

पूर्व वर्णित लक्षण समूह का सार रूप उत्तम भागवत का असाधारण लक्षण कहते हैं । जिस के हृदय को साक्षात् श्रीहरि ही परित्याग नहीं करते हैं । अर्थात श्रीहरि, अनवरत जिस के हृदय में स्फूर्त्ति प्राप्त होते रहते हैं । कभी भी उसका हृदय को परित्याग नहीं करते हैं । जो हरि, अवश से—अर्थात् अननुसन्धान से भी कीर्त्तित होने पर पाप राशि को विनष्ट करते हैं । क्यों नहीं त्याग करते हैं ? कारण, प्रेमरज्जु से हृदय में चरण कमल बद्ध है । अतएव कैसे भक्त हृदय को छोड़ कर श्रीहरि जा सकते हैं ? इस इस प्रकार लक्षणाक्रान्त भक्त ही भागवतोत्तम होते हैं । शास्त्र में वर्णित है । यह है स्वामि पाद कृत टीका की व्याख्या । यहाँपर कामादि वासना एवं उसका संस्कार हृदय में न रहने के हेतु कथन निमित्त 'साक्षात्' पद का उल्लेख श्लोक में हुआ है । कारण, जब तक जिस हृदय में काम एवं कामवीज विद्यमान होगा तब तक उस हृदय में साक्षाद् रूप में प्रकाशित नहीं होते हैं । निष्ठा भक्ति का उदय होने पर रजस्तमोगुण से उत्थित लय विक्षेपादि एवं काम क्रोध लोभ प्रभृति हृदय को स्पर्श करने में सक्षम नहीं होते हैं । अतएव ज्ञान मार्ग में जिस प्रकार सम्पूर्ण लय विक्षेपादि विदूरित होने से ही ब्रह्म स्वरूप का अनुभव होता है, किन्तु भक्ति मार्ग में लय विक्षेपादि सम्यक विनष्ट न होने पर भी हृदय में श्रीभगवद् स्फूर्त्ति होती है । ज्ञान

कीर्त्यमानः सुतरामेव 'अघौघनाशः' स्यादित्यभिहितम् । उक्तञ्च (भा० २।१।११) एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतोभयम्" इत्यादि । ततः उभयथैव तेषामघसंस्कारो न स्थातुमिष्ट इति ध्वनितम् । अनेन वाचिकलिङ्गमपि निर्दिश्य 'यद्ब्रूते' इत्यस्योत्तरमुक्तम् । प्रकरणेऽस्मिन् "गृहीत्वापि" इत्यादीनामुत्तमभागवतलक्षणपद्यानाममीषामपृथक् पृथक् च वाक्यत्वं ज्ञेयम्, तथाभूत-भगवद्वशीकारवति भागवतोत्तमे तत्तल्लक्षणानामप्यन्तर्भावात्, क्वचिद्द्वित्रादिलक्षणमात्र-दर्शनाच्च । तत्रापृथग्वाक्यतायामेकैकवाक्यगतेनैकैकेनैव लक्षणेनायमेव "सर्व्वभूतेषु" इत्याद्युक्तो महाभागवतो लक्ष्यते । तत्तद्धर्म्महेतुत्वेन तु 'विसृजति' इत्यादिना सर्वलक्षणसारोपन्यासः । या च तत्रापि 'स्मृत्या हरेः' इत्यादिना हेतुत्वेन स्मृतिरुक्ता,

---

ज्ञान मार्ग से भक्ति मार्ग का यही वैशिष्ट्य है । जो श्रीहरि नाम, अवश अवस्था में उच्चारित होकर पाप राशि को विनष्ट करते हैं, प्रीति पूर्वक एवं आवेश के सहित वह उच्चारित होने से तब पाप विनष्ट होगा । इस में आश्चर्य्य क्या है ? इस अभिप्राय से ही भा० २।१।११ में उक्त है—

"एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतोभयम् ।
योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्त्तनम् ।।"

टीका – साधकानां सिद्धानाञ्च नातः परमन्यत् श्रेयोऽस्तीत्याह, एतदिति । इच्छतां कामिनां-तत्तत् फल साधनमेतदेव, निर्विद्यमानानां मुमुक्षूणां मोक्ष साधनमेतदेव योगिनां ज्ञानिनां फलञ्चैतदेव, निर्णीतं नात्र प्रमाणं वक्तव्यमित्यर्थः ।।

श्रीशुकदेवने कहा—हे राजन् ! मुमुक्षु, विषय भोगेच्छु एवं विमुक्त आत्माराम सब के सम्बन्ध में ही एकमात्र श्रीहरिनाम ही अकुतोभय रूप में निर्दिष्ट है । अतएव उभय प्रकार से ही उत्तम भागवत वृन्द में पापाचरण करने का संस्कार नहीं रह सकता । अर्थात् श्रीहरि, सर्वदा हृदय में अवस्थान करते हैं, उस में भी पाप संस्कार नहीं रह सकता । और अनवरत यदि वह भक्त श्रीहरिनाम ग्रहण करते हैं, तो, उस से पाप संस्कार रह ही नहीं सकता है । यह ध्वनित हुआ ।

इस लक्षण के द्वारा—वाचिक लक्षण निर्देश करके अर्थात् "यद्ब्रूते" भगवद् भक्त क्या कहते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर भी इस श्लोक से हुआ है । अर्थात् हरिभक्त सर्वदा श्रीहरि कथा कहते हैं—यह उत्तर दिया गया है ।

इस प्रकार से उत्तम भागवत के लक्षण वर्णन हेतु जो सब उल्लिखित हुये हैं । अर्थात् इन्द्रिय के द्वारा विषय ग्रहण करके भी उस में हेय उपादेय दृष्टि शून्य होने के कारण, किसी भी विषय में द्वेष वा आकाङ्क्षा नहीं होती है । इस लक्षण से प्रारम्भकर अष्ट श्लोकों के द्वारा भागवत का लक्षण प्रकाश हुआ है । उस के मध्य में श्लोक समूह में उक्त भागवत लक्षण का भिन्नाभिन्नत्व है । इस प्रकार जानना होगा । श्रीभगवान् की वशीभूत करने में समर्थ उत्तम भागवत में पूर्वोक्त लक्षण समूह अन्तर्भूत होने के कारण एवं किसी भागवत में दो वा तीन लक्षण दृष्ट होने से महा भागवत लक्षणमें उक्त समस्त लक्षणों का प्रकाश एकत्र होने पर भी वह परम भागवत स्वीकृत होगा । एवं दो वा तीन लक्षण दृष्ट होने से वह परम भागवत नहीं होगा— इस प्रकार सिद्धान्त सङ्गत नहीं होगा । उस के मध्य में—अपृथक् वाक्य में एक एक पृथक् वाक्य गत एक एक लक्षण द्वारा ही—'जो सर्व भूत में निज अभीष्ट श्रीभगवान् की सत्ता उपलब्धि करते हैं," इत्यादि पूर्वोक्त लक्षण के द्वारा महा भागवत लक्षित होते हैं । किन्तु पूर्वोक्त महाभागवत के लक्षण

तस्या एव विवरणमिदमन्तिमवाक्यमिति ज्ञेयम् । तत्रैकेनैव वाक्येन कृतेऽपि भागवतोत्तम-लक्षणे स्पष्टीकरणार्थमेवान्यद्वाक्यमिति समर्थनीयम् । अतएव पृथक् पृथक् भागवतोत्तम इत्याद्यनुवादोऽपि सङ्गच्छते पृथग् वाक्यतायान्तु यत्र साक्षाद्भगवत् सम्बन्धो न श्रूयते तत्र भागवतपदबलेनैव प्रकरणबलेनैव वा ज्ञेयः । पूर्व्वोत्तरपद्यस्थ-स्मृत्येत्यादि पदं वा योजनीयम् । तथात्र पक्षे चापेक्षिकमेवान्यत्र भागवतोत्तमत्वम् । तत्रोत्तरोत्तरश्रैष्ठ्यक्रमोऽयम्—'अर्च्चायामेव' इति, 'न यस्य जन्म-कर्म्मभ्याम्' इति, 'न यस्य स्वः परः' इति, 'गृहीत्वापीन्द्रियैः' इति, 'देहेन्द्रियप्राण' इति । अस्य संस्कारोऽस्ति, किन्तु तेन विमोहो न स्यादिति मूर्च्छितसंस्कारोऽयं जातनवीनप्रेमाङ्कुरः स्यात् । तथा 'न कामकर्म्मवीजानाम्, इत्यस्यैव विवरणम्--'त्रिभुवन-

---

का सार वर्णन "विसृजति हृदयं" श्लोक के द्वारा हुआ है । अर्थात् जिस के हृदय में अनवरत श्रीभगवत् स्फूर्त्ति होती रहती है, वही महाभागवत है । इस आठ श्लोकों के मध्य में "स्मृत्या हरे र्भागवत प्रधानम्" इस श्लोक का जो अर्थ किया गया है- "हृदय में अनवरत भगवत् स्मृति विद्यमान होने के कारण संसार धर्म से मुग्ध नहीं होता है" इस प्रकार अर्थ का भी मुख्य रूप से पर्य्यवसान अन्तिम वाक्य में ही हुआ है । अर्थात् "जिस के हृदय का साक्षात् श्रीहरि परित्याग नहीं करते हैं" इस लक्षण में ही पूर्वोक्त श्लोक का तात्पर्य्य पर्य्यवसित हुआ है । यह एक वाक्य के द्वारा है "अर्थात् हरि जिस हृदय को परित्याग नहीं करते हैं, वही श्रेष्ठ भागवत है" श्रेष्ठ भागवत का लक्षण पर्य्याप्त होता, अत्यधिक लक्षण करने का प्रयोजन ही क्या है ? उत्तर में कहते हैं—यद्यपि उक्त एक लक्षण से ही इष्ट सिद्धि होती, तथापि सुस्पष्ट करने के निमित्त ही अपरापर लक्षणों का प्रणयन हुआ है । अतएव पृथक् पृथक् लक्षणों के द्वारा भागवतोत्तम का परिचय प्रदान किया गया है । इस प्रकार अर्थ सुसङ्गत हो सकता है । किन्तु पृथक् पृथक् वाक्य में जहाँ साक्षात् भगवत् सम्बन्ध श्रुत नहीं है, वहाँ भागवत पदोल्लेख के द्वारा हो, अथवा प्रकरण बल से ही हो भगवद् भक्त लक्षण को जानना होगा । अथवा, पूर्वोत्तर लक्षण समूह में "भगवत् स्मृति द्वारा" पद की योजना कर लेनी चाहिये । पक्षान्तर में पृथक् पृथक् रूप से भागवत लक्षण निर्णय हो तो, उस में आपेक्षिक उत्तमत्व जानना होगा । इस पक्ष में उत्तरोत्तर श्रेष्ठत्व का क्रम निम्नोक्त रीति से जानना चाहिये ।

प्रथमतः "अर्च्चायामेव हरये" इस कनिष्ठ भागवत लक्षण से "न यस्य जन्म कर्म्मभ्यां" अर्थात् जिस की आसक्ति मायिक देह में जन्म, कर्म, वर्ण आश्रम, प्रभृति के द्वारा नहीं हुई है, वह उत्तम भागवत है—इस लक्षण का श्रेष्ठत्व है । इस लक्षण से "न यस्य स्वः परः" अर्थात् जिस के देह एवं गृह में स्व-पर बोध नहीं है, वह उत्तम भागवत है—लक्षणाक्रान्त भक्त का श्रेष्ठत्व है । इस से "गृहीत्वापीन्द्रियैरर्थान्" अर्थात् इन्द्रिय समूह के द्वारा विषय ग्रहण करके भी जो सर्वत्र विष्णु माया वैभव दृष्टि से कहीं हेय-उपादेय ज्ञान नहीं करता है, वह उत्तम भागवत है—इस लक्षण का श्रेष्ठत्व है । इस प्रकार लाक्षणिक भक्त से "देहेन्द्रिय प्राण मनोधियाम्" अर्थात् देह इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि, धर्म, जन्म, नाश, क्षुधा, भय, तृष्णा परिश्रम, जो यह सब धर्म के द्वारा मुग्ध वा विभ्रान्त नहीं होता है,—वह उत्तम भागवत है । यह लाक्षणिक भक्त—पूर्वापेक्षा श्रेष्ठ है । इस लाक्षणिक भक्त के सम्बन्ध में जानना होगा कि—इस भक्त के हृदय में संस्कार है—किन्तु उस से भक्त मुग्ध नहीं होता है, इस को मूर्च्छित संस्कार कहते हैं । अर्थात् भजन के प्रभाव से संस्कार मूर्च्छित होकर है । इस में नवीन प्रेमाङ्कुर उत्पन्न हुआ है । अन्य लक्षण—"न काम कर्म बीजानां" अर्थात् जिस के हृदयमें काम, कर्म बीज,वासना वा संस्कार नहीं है । वह उत्तम भागवत है ।

विभवहेतवेऽपि' इति। इयमेव नैष्ठिकी भक्तिर्ध्यानाख्या ध्रुवानुस्मृतिरित्युच्यते। अस्य प्रेमाङ्कुरोऽप्यनाच्छाद्यतयैव जातोऽस्ति। अन्यथा तादृशस्मरण-सातत्याभावः स्यात्। अयं हि निर्धूतकषायो निरूढ़प्रेमाङ्कुर इति लभ्यते। तत ऊद्ध्वं साक्षात् प्रेमजन्मतः 'ईश्वरे तदधीनेषु' इति। अस्य मैत्र्यादिकं त्रयमपि भक्तिहेतुकमेवेति, न कषायस्थितिरवगन्तव्या। निर्धूतकषायमहाप्रेमसूचकस्य 'सर्व्वभूतेषु' इत्यस्य तु विवरणम्—'विसृजति' इति।

"तापादिपञ्चसंस्कारी नवेज्याकर्म्मकारकः। अर्थपञ्चकविद्विप्रो महाभागवतः स्मृतः॥"५५६॥

इति पाद्मोत्तरखण्डोक्तं महत्त्वन्तु अर्च्चनमार्गपराणां मध्य एव ज्ञेयम्, असिद्धप्रीतित्वात्। अत्र तापादि-पञ्चसंस्कारित्वम्, "तापः पुण्ड्रं तथा नाम" इत्यादिना तत्रैव दर्शितम्।

है। इस श्लोक का ही विशेष विवरण, "त्रिभुवन विभव हेतवेऽप्यकुण्ठ स्मृति" अर्थात् त्रिभुवनस्थ वैभव प्राप्त करने का अवसर उपस्थित होने पर भी लव निमेषार्द्ध काल पर्य्यन्त जो श्रीहरि चरण विस्मृत नहीं होता है—वह उत्तम भागवत है, इस प्रकार कहा गया है। इस प्रकार ध्यानाख्या भक्ति का नाम ही नैष्ठिकी भक्ति वा ध्रुवानुस्मृति है। इस प्रकार लक्षणाक्रान्त भक्त में प्रेमाङ्कुर अनावृत है। ऐसा न होने से सतत उस प्रकार स्मरण की सम्भावना नहीं हो सकती है। इस प्रकार लक्षणाक्रान्त भक्त को ही निर्धूत कषाय वा सञ्जात प्रेमाङ्कुर जानना होगा। इस के बाद—साक्षात् प्रेमाङ्कुर का आविर्भाव हेतु जो उत्तम भागवत है—उस का विवरण "सर्व भूतेषु यः पश्येत्" इस लक्षण में व्यक्त हुआ है। 'ईश्वर तदधीनेषु' इत्यादि लक्षण में कहा गया है, जो ईश्वर में भक्ति युक्त है, भगवद् भक्त में जिस की बन्धुता है, जो अज्ञ जन के प्रति कृपा एवं विद्वेष कारी जन को उपेक्षा करता है—वह मध्यम भागवत है।

इस लक्षण में वर्णित—भक्तजन के सहित मित्रता, अभक्त जन की प्रति दया, एवं निज विद्वेषी व्यक्ति के प्रति उपेक्षा करता है—यह तीन ही भगवद् भक्ति से उत्थित हैं, एवं समझना होगा कि—इस के हृदय में कषाय नहीं है, अर्थात् भोग वासना का संस्कार नहीं है। समस्त भूतों में निज अभीष्ट भगवान् की सत्ता का अनुभव करना, एवं समस्त भूतों को भगवदाश्रित रूप में अनुभव करना निर्द्धूत कषायत्व का एवं महाप्रेम का परिचायक है। अर्थात् भक्त जिस समय सर्वभूत में निजाभीष्ट भगवान् की सत्ता को उपलब्धि करता है, उस समय जानना होगा कि उस के हृदय में भोग संस्कार नहीं है। एवं श्रीभगवान् में उसका प्रेमाविर्भाव हुआ है। इस लक्षण का विशेष विवरण—"विसृजति हृदयं" अर्थात् जिस के हृदय को साक्षात् हरि परित्याग नहीं करते हैं--- इस श्लोक में है। अर्थात् जिस समय निरन्तर हृदय में साक्षात् श्रीहरि की स्फूर्त्ति होगी, उस समय ही जानना होगा कि उस हृदय में प्रेम का आविर्भाव हुआ है। एवं सर्वभूत में भगवत् स्फूर्त्ति लाभ की योग्यता भी हुई है।

पद्म पुराण के उत्तर खण्ड में जो महाभागवत का लक्षण वर्णित है---वह अर्च्चन अङ्ग भक्ति साधक भक्त वृन्द के मध्य में उक्त लक्षणाकान्त भक्त का श्रेष्ठत्व प्रति पादक है। कारण---उस में भगवत् प्रीति का संवाद है ही नहीं। वह लक्षण यह है---

"तापादिपञ्चसंस्कारी नवेज्याकर्म्मकारकः।
अर्थपञ्चकविद्विप्रो महाभागवतः स्मृतः॥"५५६॥

अर्थात् जो तापादि पञ्च संस्कारयुक्त एवं नव यागकारी तथा अर्थ पञ्चकको जानते हैं--वह महाभागवत हैं। उस के मध्य में पद्म पुराण में ही लिखित है—ताप शब्द का अर्थ—मुद्राधारण, पुण्ड्र शब्द से ऊद्ध्वं

नवेज्याकर्म्मकारकत्वञ्चानेन वचनेन दृश्यते,—

"अर्च्चनं मन्त्रपठनं योगो यागो हि वन्दनम् । नामसंङ्कीर्त्तनं सेवा तच्चिह्नै रङ्कनं तथा ।।५६०।।
तदीयाराधनञ्चेज्या नवधा भिद्यते शुभे । नवकर्म्मविधानेज्या विप्राणां सततं स्मृता ।।"५६१।।

अर्थपञ्चकविस्त्वञ्च,—उपास्यः श्रीभगवान्, तत्परमं पदम्, तद्द्रव्यम् तन्मन्त्रः, जीवात्मा चेति पञ्चतत्त्व ज्ञातृत्वम् तच्च श्रीहयशीर्षेविवृतं सक्षिप्य लिख्यते,—

"एक एवेश्वरः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः । पुण्डरीकविशालाक्षः कृष्णच्छुरित मूर्द्धजः ।।५६२।।
वैकुण्ठाधिपतिर्द्दिव्या लीलया चित्स्वरूपया । स्वर्णकान्त्या विशालाख्या स्वभावाद्गाढ़माश्रितः ।।५६३।।
नित्यः सर्व्वगतः पूर्णो व्यापकः सर्व्वकारणम् । वेदगुह्यो गभीरात्मा नानाशक्त्युदयो नव ।।"५६४।। इत्यादि ।
"स्थानतत्त्वमतो वक्ष्ये प्रकृतेः परमव्ययम् । शुद्धसत्त्वमयं सूर्य्यचन्दकोटिसमप्रभम् ।।५६५।।
चिन्तामणिमयं साक्षात् सच्चिदानन्दलक्षणम् । आधारं सर्व्वभूतानां सर्व्वप्रलयवर्जितम् ।।"५६६।। इत्यादि
"द्रव्यतत्त्वं शृणु ब्रह्मण प्रवक्ष्यामि समासतः । सर्व्वभोगप्रदा यत्र पादपाःकल्पपादपाः ।।५६७।।
भवन्ति तादृशा वल्लचस्तद्भवञ्चापि तादृशम् । गन्धरूपं स्वादुरूप द्रव्यं पुष्पादिकञ्च यत् ।।५६८।।
हेयांशानामभावाच्च रसरूपं भवेद्धि तत् । त्वग्वीजञ्चैव हेयांशं कठिनांशञ्च यद्भवेत् ।।५६९।।
सर्वं तद्भौतिकं विद्धि न ह्यभूतमयश्च तत् । रसस्य योगतो ब्रह्मन् भौतिक स्वादुवद्भवेत् ।।५७०।।

पुण्ड्, नाम-शब्द से हरिदास प्रभृति नाम करण को जाना होगा। "नवेज्याकर्म्मकारकत्व" अर्थात् नवम प्रकार यज्ञ का कर्त्तृत्व का उल्लेख निम्नोक्त वचन द्वारा ज्ञात होता है।

"अर्च्चनं मन्त्रपठनं योगो यागो हि वन्दनम् ।
नामसङ्कीर्त्तनं सेवा तच्चिह्नै रङ्कनं तथा ।।५६०।।
तदीयाराधनञ्चेज्या नवधा भिद्यते शुभे ।
नवकर्म्मविधानेज्या विप्राणां सततं स्मृता ।।"५६१।।

अर्च्चन, मन्त्र पाठ, योग, (चित्त वृत्ति निरोध) याग (नित्य होम) वन्दन—(नमस्कार) नाम कीर्त्तन, श्रीविष्णु वैष्णव सेवा, भगवत् चरण चिह्नादि के द्वारा निज देह अङ्कन, एवं भगवद् भक्त की सेवा है। इस प्रकार आचरण करना ब्राह्मण वृन्द का एवं वैष्णव वृन्द का कर्त्तव्य है। अर्थ पञ्चक को जानना आवश्यक है – उपास्य श्रीभगवान् हैं, उनका धाम तत्त्व ज्ञान, श्रीधाम का द्रव्य, तरुलता, पशु पक्षी प्रभृति का स्वरूप ज्ञान, श्रीभगवन्मन्त्र का अर्थ ज्ञान, एवं जीव स्वरूप को जानना आवश्यक है। इस पाँच तत्त्व का ज्ञातृत्व एवं पञ्च तत्त्व का अर्थ विस्तार श्रीहयशीर्षपञ्चरात्र में है—उस का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है।—

"एक एवेश्वरः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः । पुण्डरीकविशालाक्षः कृष्णच्छुरित मूर्द्धजः ।।५६२।।
वैकुण्ठाधिपतिर्द्दिव्या लीलया चित्स्वरूपया । स्वर्णकान्त्या विशालाख्या स्वभावाद्गाढ़माश्रितः ।५६३।
नित्यः सर्व्वगतः पूर्णो व्यापकः सर्व्वकारणम् । वेदगुह्यो गभीरात्मा नानाशक्त्युदयो नव ।।"५६४।।
"स्थानतत्त्वमतो वक्ष्ये प्रकृतेः परमव्ययम् । शुद्धसत्त्वमयं सूर्य्यचन्द्रकोटिसमप्रभम् ।।५६५।।
चिन्तामणिमयं साक्षात् सच्चिदानन्दलक्षणम् । आधारं सर्व्वभूतानां सर्व्वप्रलयवर्जितम् ।।"५६६।।
"द्रव्यतत्त्वं शृणु ब्रह्मन् प्रवक्ष्यामि समासतः । सर्व्वभोगप्रदा यत्र पादपाः कल्पपादपाः ।।५६७।।
भवन्ति तादृशा वल्लचस्तद्भवञ्चापि तादृशम् । गन्धरूपं स्वादुरूपं द्रव्यं पुष्पादिकञ्च यत् ।।५६८।।
हेयांशानामभावाच्च रसरूपं भवेद्धि तत् । त्वग्वीजञ्चैव हेयांशं कठिनांशञ्च यद्भवेत् ।।५६९।।

तस्मात् साध्यो रसो ब्रह्मन् रसः स्याद्व्यापकः परः । रसवद्भौतिकं द्रव्यमत्र स्याद्रसरूपकम् ॥"५७१॥
"वाच्यत्वं वाचकत्वञ्च देव-तन्मन्त्रयोरिह । अभेदेनोच्यते ब्रह्मन् तत्त्वविद्भिर्विचारितः ॥५७२॥ इत्यादि ।
"मरुत्सागरसंयोगे तरङ्गात् कणिका यथा । जायन्ते तत्स्वरूपाश्च तदुपाधिसमावृताः ॥५७३॥
आश्लेषादुभयोस्तद्वदात्मानश्च सहस्रशः । सञ्जाताः सर्वतो ब्रह्मन् मूर्त्तामूर्त्तस्वरूपतः ॥"५७४॥ इत्यादि

सर्वं तद्भौतिकं विद्धि न ह्यभूतमयञ्च तत् । रसस्य योगतो ब्रह्मन् भौतिकं स्वादुवद्भवेत् ॥५७०॥
तस्मात् साध्यो रसो ब्रह्मन् रसः स्याद्व्यापकः परः । रसवद्भौतिकं द्रव्यमत्र स्याद्रसरूपकम् ॥५७१॥
"वाच्यत्वं वाचकत्वञ्च देव–तन्मन्त्रयोरिह । अभेदेनोच्यते ब्रह्मन् तत्त्वविद्भिर्विचारितः ॥"५७२॥
"मरुत्सागरसंयोगे तरङ्गात् कणिका यथा । जायन्ते तत् स्वरूपाश्च तदुपाधिसमावृताः ॥५७३॥
आश्लेषादुभयोस्तद्वदात्मानश्च सहस्रशः । सञ्जाताः सर्वतो ब्रह्मन् मूर्त्तामूर्त्तस्वरूपतः ॥"५७४॥

श्रीकृष्ण ही एक मात्र परमेश्वर हैं। सच्चिदानन्दविग्रह हैं, कमलदलवत् विशाल नेत्र कृष्णवर्ण सुकुञ्चित केश कलाप, द्वारा सुशोभित, विस्मय धाम की स्वामिनी चैतन्य स्वरूपिणी स्वर्ण कान्ति विशाल लोचनालीलाशक्ति द्वारा गाढ़ आलिङ्गित, नित्य, सर्वगत, पूर्णव्यापक, सर्व कारण, वेद गुह्य, गम्भीरात्मा विविधशक्ति का समाश्रय हैं, एवं पुरातन होने पर भी प्रतिक्षण में अभिनव इत्यादि लक्षणों से निज अभीष्ट आराध्य भगवान् श्रीकृष्ण तत्त्व का विस्तृत परिचय उल्लेख किया गया है। सम्प्रति स्थानतत्त्व का वर्णन करते हैं। यह धाम, प्रकृति एवं कारण समुद्र के परपार में अवस्थित है। यह धाम, अव्यय, शुद्ध सत्त्वमय कोटि चन्द्र सूर्य्य सम कान्ति शाली चिन्तामणिमय भूमि, साक्षात् सत् चित् आनन्द स्वरूप, सर्वभूतों के आधार स्वरूप, एवं नित्य नैमित्तिक प्रभृति सर्व प्रलयवर्ज्जित है।

अधुना द्रव्य तत्त्व का वर्णन संक्षेप से करते हैं—धाम के प्रत्येक वृक्ष सर्व भोग प्रद हैं, लता समूह--कल्पलता सर्वभोग दायिनी, हैं, एवं उक्त तरुलता में जो सब फल, पुष्प, पत्र हैं, सब ही सच्चिदानन्द स्वरूप एवं सुगन्धि एवं आस्वाद्य स्वरूप हैं, हेयांश वर्जित होने के कारण रस रूप हैं। जिस में त्वक्, वीज, कठिनांश प्रभृति हेयांश विद्यमान हैं, वे ही पाञ्चभौतिक अर्थात् पञ्चभूत के विकार स्वरूप होते हैं, किन्तु श्रीभगवद्धाम जो सब पदार्थ हैं, वे सब अभौतिक हैं। रस युक्त होने के कारण, भौतिक आस्वादन के समान प्रतीत होते हैं। अतएव यह रस भूरि साधन लभ्य है। यह रस ही पर ब्रह्म है, रस विशिष्ट भौतिक द्रव्य, इस जगत् में रस रूप में विख्यात होता है। मन्त्र एवं उस के प्रति पाद्य देवता के मध्य में मन्त्र वाचक है, एवं देवता, उसका वाच्य है। वाच्य वाचक परस्पर भेद शून्य होने के कारण, तत्त्वज्ञ मुनिवृन्द इस में विचार करते हैं। अर्थात् मन्त्र एवं मन्त्र प्रतिपाद्य देवता में कोई भी भेद नहीं है, जो मन्त्र हैं, वही श्रीकृष्ण हैं, इस प्रकार अभेद भावना से उपासना न करने पर अभीष्ट वस्तु का आस्वादन नहीं होता है। समीर एवं सागर के संयोग से जिस प्रकार तरङ्ग उपस्थित होती है, उस तरङ्ग से ही भूरि भूरि जल कणिका उत्पन्न होती हैं, उस प्रकार चैतन्य सिन्धु में उपाधि संयोग से भगवत् स्वरूप भूत सहस्र सहस्र आत्मा की अभिव्यक्ति होती हैं। वहाँपर आश्रय स्वरूप परतत्त्व--मूर्त्त एवं अमूर्त्त- द्विविध रूप में नित्य अभिव्यक्त हैं। किन्तु श्रीभगवदाविर्भाव प्रभृति में निज निज उपासना शास्त्र की रीति के अनुसार कुछ विशेष है। अर्थात् मूर्त्त भगवत् स्वरूप समूह अनादि सिद्ध सच्चिदानन्द विग्रह हैं। उक्त श्रीविग्रह के कर चरणादि स्वरूप से भिन्न नहीं हैं। "आनन्द मात्र पाणि पाद मुखोदरादिः, सर्वत्र च स्वगत भेद विवर्ज्जितात्मा" श्रीभगवान् के हस्त पद मुख उदर प्रभृति आनन्द रस की ही अभिव्यक्ति हैं। आनन्द रस व्यतीत अपर कुछ भी नहीं है, निज चिच्छक्ति रूपा योगमाया की वैचित्र्यी से आनन्द रस वस्तु कर चरणादि विशिष्ट श्रीविग्रह रूप में अभिव्यक्त होते हैं। मनुष्य देह में अवयव प्रभृति में स्वगत भेद विद्यमान

किन्तु श्रीभगवदाविर्भावादिषु स्वस्वोपासनाशास्त्रानुसारेणापरोऽपि विशेषः कश्चिज् ज्ञेयः। जीवनिरूपणञ्चेदम् (भा० १०।८७।३१)—"न घटत उद्भवः" इत्यनुसारेणोपाधि-सहितमेव कृतम्। निरुपाधिकन्तु (वि० पु० ६।७।६१) —

"विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथापरा। अविद्याकर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते॥"५७५॥

इति श्रीविष्णुपुराणानुसारेण, तथा, (गी० ७।५)—

"अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्य्यते जगत्॥"५७६॥ इति,

(गी० १५।७)–"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" इति च श्रीगीतानुसारेण, तथा-

---

है, एक एक इन्द्रिय एक एक कार्य्य करने में सक्षम है।

किन्तु श्रीभगवान् के कर चरणादि में उस प्रकार स्वगत भेद नहीं है। कारण, अङ्गानि यस्य सकलेन्द्रिय वृत्तिमन्ति" अर्थात् भगवान् के प्रत्येक अङ्ग ही समस्त इन्द्रिय की शक्ति से परिपूर्ण है, भगवान् नेत्र से देखते भी हैं, सुनते भी हैं, कारण, विशुद्ध अनुभव वस्तु ही मूर्त्त श्रीभगवान् हैं। अतएव प्रत्येक अङ्ग ही प्रत्येक विषय का अनुभव करने में समर्थ है। केवल आनन्द वस्तु एवं मूर्त्त श्रीभगवान् में किसी प्रकार भेद विद्यमान न होने पर भी आस्वादन में जो पार्थक्य की उपलब्धि होती है- उस को विशेष कहते हैं, विशेष का लक्षण है। " स्वरूपाभिन्नत्वे सति, स्वरूप गत भेद निर्वाहको विशेषः" अर्थात् स्वरूप से भिन्न न होकर स्वरूप गत भेद निर्वाहक को विशेष करते हैं। श्रीकर चरणादि स्वरूप से भिन्न न होकर भी जिस के द्वारा भेदवत् प्रतीत होता है—उस का नाम ही विशेष है। निज निज उपासना शास्त्र के अनुसार उल्लिखित भगवत् स्वरूप के सम्बन्ध में अपर कुछ विशेष है। हयशीर्ष पञ्च रात्र में जीव स्वरूप के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है—वह उपाधि को लक्ष्य करके ही सम्भव होता है, भा० १०.८०।३१ में भी उक्त है - न घटत उद्भवः" अतएव जहाँ जहाँ जीवोत्पत्ति की कथा कही गई है, वहाँ समझना होगा कि--उपाधि के सहित ही जीव का निर्देश हुआ है। अर्थात् उपाधि की उत्पत्ति है। एवं उपाधि का ध्वंश भी है, किन्तु जीव स्वरूप की उत्पत्ति नहीं है, न तो उस का ध्वंस ही है। निरुपाधि जीव के सम्बन्ध में विष्णु पुराण में उक्त है—

"विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथापरा।
अविद्याकर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते॥"५७५॥

श्रीविष्णु की तीन शक्ति हैं, उस में से स्वरूप शक्ति का नाम--'परा है, जीव शक्ति का नाम--'अपरा' है, माया शक्ति का कार्य्य--अविद्या एवं कर्म है। श्रीभगवद् गीता ७।५ में भी उक्त है—

"अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्य्यते जगत्॥"५७६॥

श्रीकृष्ण अर्जुन को कहे थे—हे अर्जुन! मेरी यह योग्या माया शक्ति से श्रेष्ठा जीव स्वरूपा शक्ति की कथा सुनो, जो जीव शक्ति—इस जगत् में व्याप्त होकर है।

श्रीभगवद् गीता के १५।७ में और भी कथित

"ममैवांशो जीवलोके जीवभूत सनातनः"

"यत्तटस्थन्तु चिद्रूपं स्वसम्वेद्याद्विनिर्गतम्। रञ्जितं गुणरागेण स जीव इति कथ्यते ।।"५७७।।

इति श्रीनारदपञ्चरात्रानुसारेण ज्ञेयम् ।। हविर्योगेश्वरो निमिम् ।।

१९९ । तदेवमुपदिष्टा भागवतसत्सु मूच्छित-कषायादयो महद्भेदाः । भागवत-सन्मात्रभेदाश्च तत्सन्मात्रभेदेषु 'अर्चायामेव हरये' इत्यादिना तत्तद्गुणाविर्भाव-तारतम्यात् लब्ध-तारतम्याः कनिचिद्दर्शिताः । अथ साधन तारतम्येनापि तेषां तारतम्यमाह पञ्चभिः । तत्रावरं मिश्र-भक्तिसाधकमाह त्रिभिः, (भा० ११।११।२९--३१)--

(१९९) "कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्व्वदेहिनाम् ।
सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्व्वोपकारकः ।।५७८।।
कामैरहतधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिञ्चनः ।
अनीहो मितभुक् शान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः ।।"५७९।।

इस लोक में जीव मेरा ही सनातन अंश है। अर्थात् मैं जीव का नित्य अंशी हूँ, जीव मेरा नित्य अंश है। श्रीनारद पञ्चरात्र में भी लिखित है—

"यत्तटस्थन्तु चिद्रूपं स्वसम्वेद्याद्विनिर्गतम् ।
रञ्जितं गुणरागेण स जीव इति कथ्यते ।।"५७७।।

जीव को जो तटस्था शक्ति स्वरूप कहा गया है, उसका उद्देश्य यह है—जीव स्वरूपतः चेतन होने पर भी निज उपास्य श्रीभगवान् से विमुख है, एवं सत्त्व, रजः, तमोगुण से अनुरञ्जित है। इस से सुस्पष्ट बोध होता है कि—जीव, श्रीभगवान् का ही नित्य अंश एवं तटस्थाशक्ति है। अतएव उस जीव की उत्पत्ति नहीं हो सकती है, न तो नाश हो सकता उपाधि का नाश एवं उस की उत्पत्ति होती है। जो इस पाँच अर्थ को जानते हैं, एवं जो तापादि पञ्च संस्कार युक्त हैं, तथा नौ प्रकार यज्ञ कर्म कारी हैं, वे महाभागवत हैं। यह महाभागवत लक्षण–अपेक्षिक है । अर्थात् अर्च्चनाङ्ग भक्ति साधक के मध्य में यह श्रेष्ठ हैं, किन्तु लाक्षणिक महाभागवत नहीं हैं।

श्रीहवि योगेश्वर निमिमहाराज को कहे थे ।।१९८।।

१९९। भगवद् भक्त साधु वृन्द के मध्य में मूच्छित कषाय, निर्द्धूत कषाय, प्राप्त भगवत् पार्षद देह इन त्रिविध महतों का भेद प्रदर्शित हुआ है। भगवद् भक्त साधु मात्र का भेद भी उपदिष्ट हुआ है। उस में "अर्चायामेव हरय' इस प्रकार के द्वारा भक्त वृन्द के हृदय में भक्ति आविर्भाव के तारतम्य के अनुसार साधु भक्त का तारतम्य का कुछ प्रदर्शन भी हुआ है। सम्प्रति कर्म्मी, ज्ञानी, योगी एवं भक्त साधु वृन्द के मध्य में गुणों की तरतमता के अनुसार साधु लक्षणों की तरतमता का वर्णन भा० ११।११।२९-३१ अध्याय में पाँच श्लोकों के द्वारा श्रीउद्धव के निकट श्रीकृष्ण किये हैं। उस के मध्यमें कनिष्ठ कर्मज्ञान मिश्र साधकों का परिचय प्रदान तीन श्लोकों के द्वारा करते हैं—११।११।२९--३१।

(१९९) "कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्व्वदेहिनाम् ।
सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्व्वोपकारकः ।।५७८।।
कामैरहतधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिञ्चनः ।
अनीहो मितभुक् शान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः ।।५७९।।

अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमान् जितषड़्गुणः ।
अमानी मानदः कल्यो मैत्रः कारुणिकः कविः ॥"५८०॥

टीका च—"कृपालुः परदुःखासहिष्णुः, सर्वदेहिनां केषाञ्चिदपि अकृतद्रोहः, तितिक्षुः क्षमावान्, सत्यं सारः स्थिरं बलं वा यस्य सः, अनवद्यात्मा असूयादिरहितः, सुखदुःखयो समः, यथाशक्ति सर्वेषामुपकारकः, कामैरक्षुभितचित्तः, दान्तः संयतबाह्येन्द्रियः, मृदुरकठिन-चित्तः, शुचिः सदाचारः, अकिञ्चनोऽपरिग्रहः, अनीहो दृष्टक्रियाशून्यः, मितभुक् लघ्वाहारः, शान्तो नियतान्तः-करणः, स्थिरः स्वधर्मे, मच्छरणो मदेकाश्रयः, मुनिर्मननशीलः, अप्रमत्तः सावधानः, गभीरात्मा निर्विकारः, धृतिमान् विपद्यप्यकृपणः, जितषड़्गुणः 'शोकमोहौ जरा मृत्युः क्षुत्पिपासे षड़ूर्मयः'-एते जिता येन सः, अमानी न मानाकाङ्क्षी, अन्येभ्यो मानदः, कल्यः परबोधने दक्षः, मैत्रः अवञ्चकः, कारुणिकः करुणयैव प्रवर्त्तमानः, न तु दृष्टलोभेन, कविः सम्यग् ज्ञानी" इत्येषा । अत्र मच्छरण इति विशेष्यम् । उत्तरत्र 'स च सत्तमः' इति च-कारेण तु पूर्वोक्तो यथा सत्तमस्तथायमपि सत्तम इति व्यतिरेकमेवम्भूतो मच्छरणः सत्तम इत्याक्षिप्यते ॥

अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमान् जितषड़्गुणः ।
अमानी मानदः कल्यो मैत्रः कारुणिकः कविः ॥"५८०॥

श्रीधरस्वामि पाद कृत टीका की व्याख्या— (१) कृपालु—परदुःख असहिष्णु, प्राणि मात्र के सम्बन्ध में अकृतद्रोह, अर्थात् अनिष्ट करने पर अनिष्ट कारी के प्रति भी अनिष्ट आचरण न करना । (२) तितिक्षु—क्षमावान् । (३) सत्यसार—सत्य ही सार अर्थात् बल है जिस का (४) अनवद्यात्मा—असूयादि दोष रहित । (५) सम—सुख एवं दुःख में समान, अर्थात् सुख में स्पृहा शून्य, दुःख उपस्थित होने पर भी उद्वेग रहित (६) उपकारक—यथाशक्ति सब के हितकारी । (७) विषय भोग के द्वारा अक्षुब्धचित्त । (८) दान्त—संयत वाह्येन्द्रिय । (९) मृदु—अकठिन चित्त । (१०) अकिञ्चन—परिग्रह शून्य (११) अनीह—दृष्ट क्रियाशून्य, (१२) मितभुक्—लघु भोजन कारी (१३) शान्त—संयत अन्तः करण । (१४ स्थिर—निज धर्म में अचञ्चल (१५) मच्छरण—एकमात्र मुझ को आश्रय करके स्थित (१६) मुनि—मननशील (१७) अप्रमत्त—सावधान । (१८) गम्भीरात्मा—निर्विकार (१९) धृतिमान्—विपद् काल में भी कातरता शून्य (२०) जितसड़्गुण—जिस ने शोक, मोह, जरा, मृत्यु, क्षुधा, पिपासा, संसार सागर की इन छै तरङ्गों को जय किया है । (२१) अमानी—अन्य के निकट से जो मानाकाङ्क्षा नहीं करता है । (२२) मानद—जो दूसरे को सम्मान प्रदान करता है । (२३) कल्य—जो दूसरे को प्रबोध प्रदान करने में निपुण (२४) मैत्र—जो दूसरे को वञ्चना नहीं करता है (२५) कारुणिक—पर दुःख से कातर होकर जो समस्त कार्य्यों में प्रवृत्त होता है, किन्तु दृष्ट वस्तु लाभ हेतु किसी कार्य्य में प्रवृत्त नहीं होता है । (२६) कवि—सम्यक् ज्ञानी । यह है स्वामिपाद कृत टीका की व्याख्या ।

यहाँ पर ज्ञातव्य यह है कि—श्रीभगवत चरणों में शरणा गति का लक्षण "मच्छरणः" यह पद विशेष्य है, एवं अन्य पद समूह विशेषण हैं । कारण, श्रीभगवच्चरणों में आश्रय ग्रहण व्यतीत समस्त सद् गुण मायिक हैं, अर्थात् मायामय सात्त्विक हैं, यदि कोई श्रीभगवच्चरणों में आश्रय ग्रहण न करके

२०० । मध्यममिश्रसाक्षाद्भक्तिसाधकमाह (भा० ११।११।३२)—

(२००) "आज्ञायैवं गुणान् दोषान् मयादिष्टानपि स्वकान् ।
धर्मान् सन्त्यज्य यः सर्वान् मां भजेत् स च सत्तमः ।।"५८१।।

परोपकारी सत्यवादी प्रभृति गुण सम्पन्न होते हैं तो यह सब गुण भगवद् वहिर्मुखता दोष दुष्ट होने के कारण दोष के अन्तर्भुक्त होते हैं । इस के बाद भा० ११।११।३२ श्लोक में कहा गया है—

"आज्ञायैवं गुणान् दोषान् मयादिष्टानपि स्वकान् ।
धर्मान् सन्त्यज्य यः सर्वान् मां भजेत् स च सत्तमः ।।

टीका—किञ्चमया वेद रूपेण आदिष्टानपि स्वधर्मान् सन्त्यज्य यो मां भजेत सोऽप्येवं पूर्वोक्तवत् सत्तमः । किमज्ञानान्नास्तिक्याद्वा । न । धर्माचरणे सत्त्वशुद्ध्यादीन् गुणान् विपक्षे नरक पातादीन् दोषांश्चा-ज्ञाय ज्ञात्वापि मद्ध्यान विक्षेपतया मद् भक्त्यैव सर्वं भविष्यतीति दृढ़ निश्चयेनैव धर्मान् सन्त्यज्यो यद्वा भक्ति दार्ढ्येन निवृत्ताधिकार तया सन्त्यज्य अथवा विद्धैकादश्युपवास कृष्णैकादश्यनुपवासादिरूप श्राद्धादयो ये भक्ति विरुद्धा धर्मास्तान् सन्तज्येत्यर्थः ।।

इस श्लोक के साधु लक्षण में "स च सत्तमः" कहा गया है । अर्थात् पूर्व वर्णित लक्षणाकान्त साधु, जिस प्रकार सत्तम है, अर्थात् साधुओं के मध्य में श्रेष्ठ है, इसी प्रकार यह व्यक्ति भी सत्तम है । इस में सुस्पष्ट बोध होता है कि—श्रीभगवान् के श्रीचरणों में शरणागति लक्षणाक्रान्त साधु का ही मुख्य साधुत्व है । समस्त सद् गुण हीन होकर भी यदि भगवान् में एकान्त शरणागत होता है । तो उस को साधु जानना होगा ।।१९९।।

२०० । मध्यम मिश्र साक्षात् भक्ति साधक का परिचय प्रदान,एक श्लोकके द्वारा करते हैं-११।११।३२

(२००) "आज्ञायैवं गुणान् दोषान् मयादिष्टानपि स्वकान् ।
धर्मान् सन्त्यज्य यः सर्वान् मां भजेत् स च सत्तमः ।।"५८१।।

श्रीधरस्वामि पाद कृत टीका का अर्थ यह है—मैंने वेद रूप में जो सब स्वधर्मोपदेश प्रदान किया है । उन सब को सम्यक् रूप से परित्याग करके जो मेरा भजन करता है, वह भी पूर्वोक्त साधु लक्षण के समान सत्तम है । किन्तु अज्ञान वा नास्तिक्य वशतः यदि धर्म त्याग करता है तो उस को साधु नहीं कहा जा सकता है । जो सम्यक् रूप से जानता है कि—धर्माचरण से चित्त शुद्धि प्रभृति गुण हैं, एवं धर्माचरण करने से अकरण हेतु प्रत्यवाय है । यह सब जान कर भी मेरा ध्यान विघातक समझकर भक्ति से ही चित्त शुद्धि होती है, सद् गुणों का आविर्भाव भी होता है, इस प्रकार निश्चय करके समस्त परित्याग पूर्वक मेरा भजन करता है वह सत्तम है, अर्थात् साधुओं के मध्य में वह श्रेष्ठ साधु है । तात् पर्य्य यह है कि— जब तक भक्ति में सुदृढ़ विश्वास नहीं होता है, तब तक काम्य कर्म करना चाहिये ।

जब श्रीभगवान् में भक्ति करने से ही स्वार्थ सिद्धि होती है, इस प्रकार दृढ़ विश्वास होता है, तब काम्य कर्म करने की आवश्यकता नहीं है । भा० ११ स्कन्धमें उक्त है—

"तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता ।
मत् कथा श्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ।।

जब तक ऐहिक पारलौकिक सुख भोग में वितृष्णा नहीं होती है, तब तक कर्म्म करना कर्त्तव्य है । यह विधि ज्ञानी के पक्ष में है । भक्त के पक्ष में—जब तक भगवत् कथा श्रवणादि में दृढ़ विश्वास उत्पन्न नहीं

टीका च—"मया वेदरूपेण आदिष्टानपि स्वधर्मान् सन्त्यज्य यो मां भजेत्, सोऽप्येवं पूर्वोक्तवत् सत्तमः। किमज्ञानात् नास्तिक्याद्वा ? न, धर्माचरणे सत्त्वशुद्ध्यादीन् गुणान् विपक्षे दोषांश्चाज्ञाय ज्ञात्वापि मद्ध्यानविक्षेपकतया मद्भक्त्यैव सर्वं भविष्यतीति दृढ़निश्चयेनैव धर्मान् सन्त्यज्य, यद्वा, भक्तिदाढर्येन निवृत्ताधिकारितया सन्त्यज्य" इत्येषा। यथा हयशीर्ष-पञ्चरात्रोक्त-नारायणव्यूहस्तवे—

"ये त्यक्तलोकधर्मार्था विष्णुभक्तिवशं गताः। ध्यायन्ति परमात्मानं तेभ्योऽपीह नमो नमः॥"५८२।

अत्र त्वेवं व्याख्या—यदि च स्वात्मनि तत्तद्गुणयोगाभावस्तथापि एवं पूर्वोक्तप्रकारेण गुणान् कृपालुत्वादीन् दोषांस्तद्विपरीतांश्चाज्ञाय हेयोपादेयत्वेन निश्चित्यापि यो मया तेषु गुणेषु मध्ये तत्रादिष्टानपि स्वकान् नित्यनैमित्तिक-लक्षणान् सर्वानेव वर्णाश्रमविहितान् धर्मान् तदुपलक्षणं ज्ञानमपि मदनन्यभक्तिविघातकतया सन्त्यज्य मां भजेत्, स च सत्तमः। च-कारात् पूर्वोक्तोऽपि सत्तम इत्युत्तरस्य तत्तद्गुणाभावेऽपि पूर्वसाम्यं बोधयति। ततो यस्तु तत्तद्गुणान् लब्ध्वा धर्मज्ञानपरित्यागेन मां भजति केवलम्, स तु परमसत्तम एवेति व्यक्त्यानन्यभक्तस्य पूर्वत आधिक्यं दर्शितम्।

होता है, तब तक ही काम्य कर्म्मानुष्ठान करना कर्त्तव्य है। हयशीर्ष पञ्चरात्र के नारायण व्यूहस्तव में लिखित है---

"ये त्यक्तलोकधर्मार्था विष्णुभक्तिवशं गताः।
ध्यायन्ति परमात्मानं तेभ्योऽपीह नमो नमः॥"६८२॥

जो विष्णु भक्ति से वशीभूत होकर अर्थात् भक्ति भिन्न अपर कुछ आचरण करने की सामर्थ्य नहीं है, अतएव लोक वेद धर्म को परित्याग करके परमाश्रयतत्त्व श्रीभगवान् का ध्यान करते हैं—उनके चरणों में मेरा पुनः पुनः नमस्कार है। इस प्रमाण से प्रतिपन्न होता है कि—भक्ति के प्रति दृढ़ता के कारण लोक धर्म्म को परित्याग करने से दोषावह नहीं होता है।

"आज्ञायैव गुणान् दोषान्" इस श्लोक की व्याख्या निम्नोक्त रूप जानना होगा। यद्यपि भक्त में पूर्व वर्णित गुणों का योग नहीं है, तथापि, पूर्व में जिस प्रकार कहा गया है— उस प्रकार कृपालुत्व प्रभृति गुण हैं, एवं उस का विपरीत निर्दयत्व प्रभृति दोष हैं। हेय एवं उपादेय रूप से दोष गुण को जानकर भी जो व्यक्ति, मेरे द्वारा कथित नित्यनैमित्तिक लक्षण वर्णाश्रम विहित धर्म समूह हैं, यह सब धर्म एवं मुक्ति साधक ज्ञान को भी अर्थात् जीव एवं ईश्वर में अभेद भावना को भी मेरी अनन्य भक्ति का विघातक को सम्पूर्ण रूप से परित्याग करके मेरा भजन करता है, यहाँ 'च' कार का उल्लेख होने के कारण पूर्वोक्त साधु भी सत्तमः है। और यह व्यक्ति, कृपालुता प्रभृति उक्त गुण शून्य होने पर भी— ज्ञान कर्मादि द्वारा अनावृत अन्याभिलाषिताशून्य आनुकूल्य से कृष्णानुशीलन रूपा विशुद्धा भक्ति का अनुष्ठान करता है, उस व्यक्ति में पूर्वोक्त गुण समूह विद्यमान न होने पर भी वह सत्तम है। अतएव जो, पूर्व वर्णित कृपालुत्व प्रभृति गुण प्राप्त न करके भी काम्य कर्म एवं ज्ञान को परित्याग करके केवल मेरा भजन करता है, वह किन्तु परम सत्तम है। अर्थात् जो भक्त अन्य देवता का भजन स्वतन्त्र ईश्वर बुद्धि से नहीं करता है, केवल मेरा भजन

अत्र (गी० १२।१३) "अद्वेष्टा सर्व्वभूतानाम्" इत्यादि श्रीगीताद्वादशाध्याय-प्रकरणमप्यनुसन्धेयम्। सत्तम इत्यनेन तदवरत्रापि सत्तरत्वं सत्तमत्वमप्यस्तीति दर्शितम्। अस्तु तावत् सदाचारस्य तद्भक्तस्य सत्त्वम्, अनन्यदेवता-भक्तत्वमात्रेण दुराचारस्यापि सत्वान्यपर्य्याय-साधुत्वं विधीयते, (गी० ९।३०) "अपि चेत् सुदुराचारः" इत्यादौ च। अत्र च साधुसङ्गप्रस्तावे यत्तादृशं लक्षणं नोत्थापितम्, तत् खलु तादृशसङ्गस्य भक्त्युन्मुखेऽनुपयुक्तताभिप्रायेण। यथोक्तं श्रीप्रह्लादेन (भा० ७।७।३०) "सङ्गेन साधुभक्तानाम्" इति। साधुरत्र सदाचारः। तदेवमीश्वर-

---

ही करता है, वह पूर्व वर्णित गुण सम्पन्न साधु से श्रेष्ठ है। अर्थात् समस्त साधु लक्षणाक्रान्त व्यक्ति से अनन्य भजन कारी व्यक्तिका श्रेष्ठत्व है। यह जानना होगा।

यहाँपर भगवद् गीता के १२।१३ में वर्णित "अद्वेष्टा सर्व्वभूतानाम्" इत्यादि प्रकरण का अनुसन्धान करना कर्त्तव्य है। उक्त श्लोक में जब सत्तम पद का उल्लेख है, अर्थात् साधु वृन्द के मध्य में वह सर्व श्रेष्ठ है, इस प्रकार कहा गया है, तब उस के कनिष्ठ भक्त में सत्तरत्व एवं सत्तमत्व भी है। अनेक के मध्य से एक का उत्कर्ष कहने के निमित्त तमट् प्रत्यय का प्रयोग होता है, एवं उभय के मध्य से एक का उत्कर्ष प्रदर्शन आवश्य होने पर तर प्रत्यय का प्रयोग होता है। अर्थात् 'सत्तम' कहने से सत्तर, सत्त्व का बोध आनुषङ्गिक रूप से होता ही है। अर्थात् उस में भी साधु धर्म है। यह समझना होगा। सदाचार सम्पन्न भगवद् भक्त का साधुत्व तो हो ही सकता है। किन्तु यदि कोई भक्त अन्य देवता का भजन न करके एक मात्र श्रीकृष्ण का ही भजन करता है, तो उस को दुराचारी का प्रतियोगी साधु कहा जाता है। अर्थात् जो केवल भगवद् भक्ति ही करता है। किन्तु स्वतन्त्र रूप से अन्य किसी देवता का भजन नहीं करता है, केवल मात्र एक गुण से हो उस को श्रीभगवान् साधु कहते हैं। भगवद् गीता के ९।३० में कथित है—

"अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितोहि सः॥"

जो अन्य देवता का भजन न करके केवलमात्र मेरा भजन करता है, उस को भी साधु मानना चाहिये। कारण, उस का निश्चय अतीव मनोरम है। अर्थात् श्रीकृष्ण भजन से ही समस्त कर्त्तव्य सम्पन्न होता है। इस प्रकार सुदृढ़ धारणा ही समस्त पातकों से उद्धार कर विशुद्ध भक्ति में प्रवेश कराने में सक्षम है। इस से प्रतीत होता है कि अनन्य भाव से श्रीकृष्ण भजन कारी व्यक्ति दुराचारी होने पर भी साधु शब्द से अभिहित होता है। यहाँ प्रश्न हो सकता है—साधु सङ्ग प्रस्ताव में इस प्रकार दुराचार विशिष्ट को साधु क्यों नहीं कहा गया है? उत्तर में कहते हैं—साधु सङ्ग प्रस्ताव में दुराचारी साधु का नामोल्लेख न होने का कारण है, तादृश दुराचार विशिष्ट साधु सङ्ग से भगवद् भक्ति नहीं हो सकती है। अर्थात् उस प्रकार साधु सङ्ग में भगवद् भक्ति में उन्मुखता सम्पादन करने की सामर्थ्य नहीं है। भा० ७।७।३० में श्रीप्रह्लाद ने भी कहा है—

"गुरुशुश्रूषया भक्त्या सर्वलाभार्पणेन च।
सङ्गेन साधुभक्तानामीश्वराराधनेन च।

टीका—तत्रैवान्तरङ्गान् धर्म्मानाह। गुरोः शुश्रूषया भक्त्या प्रेम्ना सर्वेषां श्रद्धानामर्पणेन।

हे भ्रातृवृन्द! गुरु सेवा भक्ति द्वारा, भगवान् सर्वलाभार्पण के द्वारा अर्थात् जो कुछ लाभ हो, परम प्रिय श्रीहरि को अर्पण करके, एवं सदाचार सम्पन्न भक्त के सङ्ग से तथा, ईश्वराराधन प्रभाव से श्रीभगवत् चरणों में प्रीति लाभ कर सकते हैं। यहाँ पर भक्त का विशेषण रूप में साधु पद का उल्लेख किया गया

बुद्धया विधिमार्गभक्तयो स्तारतम्यमुक्तम् । तत्रैवोत्तरस्यानन्यत्वेन श्रेष्ठत्वं दर्शितम् । तत्रैवार्चनमार्गे त्रिविधत्वं लभ्यते पद्मोत्तरखण्डात्, तत्र महत्त्वम् "तापादिपञ्चसंस्कारी" इत्यादौ, मध्यत्वमम्—

"तापः पुण्ड्रं तथा नाम मन्त्रो योगश्च पञ्चमः ।
अमी हि पञ्चसंस्काराः परमैकान्ति-हेतवः ॥"५८३॥ इत्यत्र ।

कनिष्ठत्वम्—

"शङ्खचक्राद्यूद्र्ध्वपुण्ड्रधारणाद्यात्मलक्षणम् । तन्नमस्करणञ्चैव वैष्णवत्वमिहोच्यते ॥"५८४॥ इत्यत्र ।

२०१ । अत्र शुद्धदास्य-सख्यादि-भावमात्रेण योऽनन्यः, स तु सर्वोत्तम इत्याह, (भा० ११।११।३३)

है । उस से जानना चाहिये कि—सदाचार सम्पन्न भक्त सङ्ग ही भगवद् उन्मुखता के प्रति हेतु है । यहाँपर साधु शब्द का अर्थ—सदाचार है ।

पूर्व वर्णित साधु लक्षण में ईश्वर बुद्धि से विधिमार्ग में भजनशील द्विविध भक्त के मध्य में तारतम्य का उल्लेख किया गया है । अर्थात् जो ईश्वर बुद्धि से शास्त्र शासन से प्रवृत्त होकर भगवद् भजन करता है । किन्तु काम्य कर्म ज्ञानादि का भी अनुष्ठान करता है—उस भक्त से अर्थात् कर्मज्ञानादि मिश्रा भक्ति साधक से ज्ञान कर्मादि अनावृत भक्ति साधक का श्रेष्ठत्व प्रदर्शित हुआ है । अर्च्चन मार्ग में प्रवृत्त साधक के त्रिविध विवरण पद्म पुराण के उत्तर खण्ड में लिखित हैं । उस में कनिष्ठ भक्त के मध्य में उत्तम भक्त का लक्षण है—

"तापादि पञ्चसंस्कारी नवेज्या कर्मकारकः ।
अर्थ पञ्चकविद् विप्रो महाभागवतः स्मृतः ॥

अर्थात् "तापादि पञ्च संस्कारी, नवेज्या कर्म कारक, अर्थ पञ्चक विद्विप्र" महाभागवत संज्ञा से अभिहित हैं । अर्थात् उक्त लक्षण युक्त भक्त, कनिष्ठ लक्षणाक्रान्त भक्त से उत्तम हैं । एवं मध्यम भागवत लक्षण में उक्त है—

"तापः पुण्ड्रं तथा नाम मन्त्रो योगश्च पञ्चमः ।
अमी हि पञ्चसंस्काराः परमैकान्त-हेतवः ॥"५८३॥

ताप, पुण्ड्र, नाम, मन्त्र, याग—इन पाँच संस्कारों से युक्त भक्त कनिष्ठ भक्त से श्रेष्ठ है—अर्थात् मध्यम भक्त है । कनिष्ठ भक्त के लक्षण में कथित है—

"शङ्ख चक्राद्युद्र्ध्व पुण्ड्र धारणाद्यात्मलक्षणम् ।
तन्नमस्करणञ्चैव वैष्णवत्वमिहोच्यते ॥"५८४॥

शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म, ऊद्र्ध्व पुण्ड्रादि वैष्णव चिह्न धारण कारी एवं भगवान् को प्रणाम कारी व्यक्ति कनिष्ठ भागवत है ॥२००॥

२०१ । उक्त भक्त लक्षण के मध्य में जो विशुद्ध दास्य, सख्य, वात्सल्य, मधुर भाव के मध्य में किसी एक मात्र भावित होकर प्रेष्ठ श्रीहरि सेवा परायण है—वह सर्वोत्तम है । सारार्थ यह है कि—भावावेश से जो व्यक्ति इष्ट सेवा व्यतीत अपर का महत्त्वानुसन्धान करने में अक्षम है—उस की अनन्यता ही स्थायी एवं मधुर है । और जो विचार प्रवणता से श्रीभगवान् की भक्ति में अनन्य भाव से रत है उस की अनन्यता दुर्बल है । भा० ११।११।३३ में उक्त है ।

(२०१) "ज्ञात्वाज्ञात्वाथ ये वै मां यावान् यश्चास्मि यादृशः ।
भजन्त्यनन्यभावेन ते मे भक्ततमा मताः ।।"५८५।।

यावान् देशकालाद्यपरिच्छिन्नः, यश्च सर्वात्मा, यादृशः सच्चिदानन्दरूपः, तं मां ज्ञात्वा अज्ञात्वा वा ये केवलमनन्यभावेन श्रीवृजेश्वरनन्दनत्वाद्यालम्बनो यः स्वाभीप्सितो दास्यादीनामेकतरो भावः, तेनैव भजन्ति न कदाचिदन्येनेत्यर्थः, ते तु मे मया भक्ततमा मताः अतएव चतुर्थे श्रीयोगेश्वरैरपि प्रार्थितम् (भा० ४।७।३८)—

"प्रेयान् न तेऽन्योऽस्त्यमुतस्त्वयि प्रभो, विश्वात्मनीक्षेन्न पृथग् य आत्मनः ।
तथापि भृत्येशतयोपधावता,-मनन्यवृत्यानुगृहाण वत्सल ।।"५८६।। इति ।

श्रीगीतासु हि (७।२)—

"ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।

---

(२०१) 'ज्ञात्वाज्ञात्वाथ ये वै मां यावान् यश्चास्मि यादृश ।
भजन्त्यनन्यभावेन ते मे भक्ततमा मता ।" ५८५।।

देश कालादि द्वारा अपरिच्छिन्न सच्चिदानन्द रूप मैं हूँ। मुझ को उस प्रकार जानकर वा न जानकर केवल अनन्यभाव से श्रीव्रजेश्वरनन्दनादि रूप आलम्बन में दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर भाव के मध्य में निज अभीप्सित एक भाव के द्वारा जो मेरा भजन करते रहते हैं, मैं उन सब को भक्ततम मानता हूँ। जब तक दास्यादि किसी एक भाव के सहित मेरा भजन नहीं करता है, तब तक भाव हीन भजन से मेरा चित्त विगलित नहीं होता है। भाव की गाढ़ता एवं न्यूनता के अनुसार ही मेरा आस्वादन की गाढ़ता एवं न्यूनता का प्रकाश होता है। उस के मध्य में मुझ के उक्त रूप में न जानकर केवल मात्र प्रियत्व के कारण प्रिय, आत्मा, सुत, सखा, गुरु, सुहृद् प्रभृति लौकिक भाव को द्वारा मेरा भजन करता है, वह सर्व श्रेष्ठ भजन कारी है। ऐश्वर्य्य ज्ञान मिश्रित भाव से केवल सम्बन्ध युक्त भाव का गुरुत्व अत्यधिक हैं। अतएव भा० ४।७।३८ में श्रीयोगेश्वर वृन्द श्रीहरि का स्तव करते करते कहे थे।

"प्रेयान् न तेऽन्योऽस्त्यमुतस्त्वयि प्रभो, विश्वात्मनीक्षेन्न पृथग् य आत्मनः ।
तथापि भृत्येशतयोपधावता-,मनन्यवृत्यानुगृहाण वत्सल ।।"५८६।।

टीका—योगेश्वरास्त्व भेदेन भजतामनुग्रहभावत्वं मन्यमानाः स्तुवन्ति—प्रेयानिति द्वाभ्याम् । विश्वात्मनि, परब्रह्मणि त्वयि य आत्मनः पृथक्त्वं नेक्षेत, अमुतः अमुस्मात् अन्यस्ते प्रेष्ठो नास्ति। आत्मनो जीवान् पृथङ् नेक्षेतेति वा। हे वत्सल ! भक्त प्रिय ! अनन्यवृत्त्या अव्यभिचारिण्या भक्त्या भजतोऽनु गृहाणेत्यर्थः ।।"

हे प्रभो, जो भक्त, स्वामी भृत्य भाव से आप का भजन करता है, विश्वात्मा परब्रह्म आप को अपने से पृथक् नहीं देखता है। अर्थात् आप को पर बुद्धि से विदूरित करके आप का भजन नहीं करता है, किन्तु निज प्रभु बुद्धि से निज बुद्धि से अपृथक् निज जन मानता है, उस भक्त को छोड़कर अन्य कोई आप का प्रिय नहीं है। हे वत्सल ! हे भक्त प्रिय ! अव्यभिचारिणी भक्ति के द्वारा जो लोक आप का भजन करते रहते हैं, आप उन सब के प्रति अनुग्रह करते हैं।

श्रीभगवद् गीता में भी लिखित हैं (७।२)

यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥"५८७॥

इत्युक्त्वाह, (गी० ७।४-७)–

"भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥५८८॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्य्यते जगत् ॥५८९॥
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥५९०॥
मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥"५९१॥ इति ।

प्रधानाख्य--जीवाख्य-निजशक्तिद्वारा जगत्कारणत्वं तच्छक्तिमयत्वेन जगतस्तदनन्यत्वं

"ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥"५८७॥

हे अर्जुन ! मैं तुम्हें अनुभव के सहित शास्त्रोक्त अशेष ज्ञान कहूँगा । जिस शास्त्रोक्त तत्त्वज्ञान को जानने पर अपर कुछ भी ज्ञातव्य अवशेष नहीं रहेगा । श्रीभगवान् कृष्ण, अर्जुन को उस के बाद यह कहे थे

गीता (७।४--७) "भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥५८८॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्य्यते जगत् ॥५८९॥
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥५९०॥
मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥"५९१॥

हे अर्जुन ! पृथिवी, जल, अनल, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहङ्कार, यह आठ प्रकृति मुझ से भिन्न हैं, अर्थात् मेरी वहिरङ्गा माया शक्ति की विभूति रूप हैं । इस प्रकृति का अपर नाम अपरा है । इस से आपेक्षिक श्रेष्ठ प्रकृति का वृत्तान्त सुनो उस प्रकृति का नाम—जीव है । इस भोक्ता जीव शक्ति के द्वारा यह भोग्य प्रकृति का कार्य्य ब्रह्माण्ड परिव्याप्त है । यह उभय विध प्रकृति के मध्य में भूमि प्रभृति अष्ट प्रकार से विभक्ता प्रकृति जड़ रूपा होने के कारण निकृष्टा है । जीव रूपा प्रकृति– चैतन्य मयी होने के कारण श्रेष्ठ है । स्थावर जङ्गमात्मक निखिल प्राणी ही मुझ से समुत्पन्न हैं । मैं निखिल जगत् के उत्पत्ति प्रलय के हेतु हूँ । हे धनञ्जय ! मुझ को छोड़कर इस जगत् के अपर कोई निरपेक्ष कारण नहीं हैं । सूत्र के द्वारा ग्रथित मणिगण के समान यह जगत् मुझ में ग्रथित है । जिस प्रकार सूत्र की सत्ता से ही मणिगण की सत्ता है, उस प्रकार मेरी सत्ता से ही जगत् की सत्ता है ।

यह सब श्लोकों के द्वारा श्रीभगवान्—प्रधानाख्य एवं जीवाख्य निज शक्ति द्वारा जगत् कारण हैं,

स्वस्य तु ततः परत्वं तदाश्रयत्वञ्च वदन् निजज्ञानमुपदिष्टवान्' प्रसङ्गेन जीवस्वरूपज्ञानञ्च। स चैवम्भूतो ज्ञानी मत्स्वरूप-महिमानुसन्धानकृत्त्वा ज्ञानिभक्तादीनतिक्रम्य मत्प्रियो भवतीत्यप्यन्तेऽभिहितवान्॥ (गी० ७।१६-१८) —

"चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्ज्जुन।
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥५६२॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥५६४॥
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥"५६४॥ इति।

ततश्चायमर्थः—यस्त्वयि विश्वात्मनि आत्मनो जीवान् ईक्षेत् त्वच्छक्तित्वादनन्यत्वेन जानाति, न तु पृथक् स्वतन्त्रत्वेन ईक्षेत, अमुतोऽमुष्माद् यद्यपि ते प्रेयान् नास्ति, तथापि हे

एवं यह जगत् श्रीभगवान् की शक्ति का कार्य्य होने के कारण, भगवान से अभिन्न है, भगवान्—जगत् से भिन्न हैं, एवं उनको अवलम्बन कर ही जगत् है,जगत् की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, इन सब तत्त्वों को कहकर निज स्वरूप ज्ञान का उपदेश प्रदान किये हैं। प्रसङ्ग क्रम से जीव स्वरूप का वर्णन भी किये हैं। इस रीति से ज्ञानवान् भक्त मेरी स्वरूप महिमा का अनुसन्धान करता है, अतः निखिल भक्तों से ज्ञानिभक्त ही मेरा प्रिय है।

इस प्रकार गीता शास्त्र के सप्तम अध्याय (१६-१८) में श्रीभगवान् अर्जुन को कहे हैं—

"चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्ज्जुन।
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥५६२॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥५६३॥
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥"५६४॥

हे अर्जुन! आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी एवं ज्ञानी—यह चतुर्विध मानव मेरा भजन करते रहते हैं। किन्तु चतुर्विध भजन कारी व्यक्ति यदि साधु सङ्ग रूप सौभाग्य लाभ करते हैं तभी मेरा भजन करते हैं, तद्व्यतीत क्षुद्र देवता प्रभृति का ही भजन करते रहते हैं। एवं संसार दशा को भी प्राप्त करते हैं। उक्त चतुर्विध भजन कारी के मध्य में ज्ञानी नित्य युक्त एवं एक भक्ति हेतु श्रेष्ठ है। कारण, ज्ञानी का ही मैं एकान्त प्रिय हूँ. एवं ज्ञानी भी मेरा प्रिय है। यह चतुर्विध मदीय भजन कारी ही उदार हैं। अर्थात् मुक्ति पथ का अधिकारी होने के कारण महत हैं। किन्तु ज्ञानी मेरा स्वरूप है। कारण वह ज्ञानी भक्त, मुझ में आविष्ट चित होने के कारण सर्वोत्कृष्ट गति रूप मुझ को आश्रय किया है। अतएव चतुर्थ स्कन्धोक्त "प्रेयान् न तेऽन्यः" योगेश्वर गण कृत स्तोत्र की व्याख्या निम्नोक्त रीति से ही सुसङ्गत है। हे प्रभो! जो विश्वात्मा स्वरूप आप के सहित निखिल जीव वर्ग को आप की शक्ति जान कर अपृथक् रूप से देखता है। अर्थात् शक्ति, शक्तिमान कोई भेद नहीं है—इस प्रकार जानता है। कारण, अग्नि के सहित उस की

वत्सल, हे भृत्यप्रिय, भृत्येश-भावेन ये भजन्ति, तेषां या अनन्या वृत्तिरव्यभिचारिणी निजा भक्तिस्तयैव अनुगृहाण। प्रस्तुतत्वे-नास्मान् ज्ञानिभक्तानिति लभ्यत इति। अथ मूलपद्ये 'ज्ञात्वाज्ञात्वा' इत्यत्राज्ञानज्ञानयोर्हेयोपादेयत्वं निषिद्धम्। भक्ततमा इत्यत्र पूर्ववाक्यस्थ-सत्पद निर्द्देशमतिक्रम्य विशेषतो भक्तपदनिर्द्देशाद्भक्तेः स्वरूपाधिक्यमत्रैव विवक्षितम्। ते मे मता इत्यत्र मम तु विशिष्टा सम्मतिरत्रैवेति सूचितम्, ईदृशानुक्तचरत्वात्। अतएव प्रकरण-प्राप्तमेकवचननिर्द्देशमप्यतिक्रम्य गौरवेणैव 'ये ते' इति बहुवचनं निर्द्दिष्टम्। ततः किमुत तद्भावसिद्धप्रेमाण इति भावः। एषां भावभजनविवृतिरग्रे रागानुगाकथने ज्ञेया ॥श्रीभगवान्।

२०२। त एते वैष्णवसन्तो महत्त्वेन सन्मात्रत्वेन च विभिद्य निर्द्दिष्टाः। सन्मात्रभेद-तारतम्यञ्चात्र यदविविक्तं तद्भक्तिभेदनिरूपणे पुरतो विवेचनीयम्। अन्ये तु स्वगोष्ठ्य-

---

स्फुलिङ्ग राशि का जिस प्रकार पार्थक्य नहीं होता है। इस प्रकार ही परमेश्वर से जीव की पृथक् सत्ता का दर्शन नहीं करता है। आप के इस प्रकार भक्त से यद्यपि अन्य कोई प्रिय नहीं हैं, तथापि हे वत्सल ! हे भृत्य प्रिय ! जो भृत्य प्रभु भाव से आप का भजन करते हैं, आप के प्रति उनकी जो अनन्य वृत्ति अर्थात् अव्यभिचारिणी– असाधारणी भक्ति है, उस प्रकार भक्ति प्रदान हम सब को करके हमें अनुग्रह आप करें। अर्थात् प्रस्तुत विषय हेतु ज्ञानि भक्त हम सब को उस प्रभु भृत्यभावमयी भक्ति प्रदान कर कृपा करें। इस प्रकार व्याख्या करने का कारण यह है कि—यह प्रकरण– योगेश्वर वृन्द कृतस्तव है। सुतरां ज्ञानि भक्त की अपने प्रति भृत्य प्रभु भाव से अनुग्रह प्रार्थना रूप व्याख्या हो समीचीन है। अतएव मूल पद्य में 'ज्ञात्वा एवं अज्ञात्वा' अर्थात् जानकर एवं न जानकर जो मेरा भजन करता है—इस प्रकार उल्लेख होने के कारण, जो, जानकर भजन करता है, उस का उपादेयत्व, एवं जो, न जानकर भजन करता है, उसका अनुपादेयत्व है अर्थात् हेयत्व है, अथवा, जो न जानकर भजन करता है—उसका उपादेयत्व, एवं जो जान कर भजन करता है। उस का हेयत्व है—इस प्रकार व्याख्या समीचीन नहीं है। कारण, "आज्ञायवं" इस पूर्वोक्त श्लोक में जिस प्रकार 'सत्तम' सत् पद का उल्लेख हुआ है, किन्तु यहाँ पर सत् पद का उल्लेख न करके 'भक्ततमाः" पद का उल्लेख किया गया है। अतएव भक्त पदोल्लेख के कारण भक्ति का स्वरूप गत आधिक्य का प्रकाश–भक्त में होता है– प्रवक्ता भगवान् का यही कथनाभिप्राय है। विशेषतः—"ते मे भक्त तमा मताः" अर्थात् मैं उन सब को भक्ततम जानता हूँ। इस प्रकार उल्लेख हेतु वे सब ही श्रीभगवान् के ऐकान्तिक भक्त हैं, यह सूचित हुआ है। इस के पहले इस प्रकार किसी श्लोक का कथन नहीं हुआ है। अतएव साधु लक्षण प्रकरण में प्रत्येक पद में एक वचन का ही प्रयोग हुआ है। किन्तु यहाँ पर उस क्रम का लङ्घन करके गौरव प्रकटन निबन्धन "ये ते मताः" अर्थात् जो यह जान कर वा न जानकर भजन करते हैं, वे हो मेरा विशेष गौरव के पात्र हैं। इस प्रकार बहु वचन निर्द्देश किया गया है।

अतएव इस प्रकार भाव युक्त साधक भक्त ही यदि श्रीभगवान् के गौरव पात्र होते हैं तो, जो दास्यादि भाव से भजन करके भगवान् में प्रेमलाभ करने में समर्थ हुये हैं, वे सर्वाधिक गौरव के पात्र तो हैं ही। यह दास्यादि भाव से भजन का विस्तार रागानुगा भक्ति वर्णन प्रसङ्ग रूप अग्रिम ग्रन्थ में होगा।

प्रकरण प्रवक्ता श्रीभगवान् हैं ॥२०१॥

२०२। पूर्व प्रकरण में इन सब का वर्णन वैष्णव साधु महत् रूप में एवं साधु मात्र रूप में भेद करके किया गया है। उस के मध्य में साधु मात्र भेद तार तम्य का वर्णन यहाँ पर नहीं हुआ है। उसका वर्णन भक्तिभेद निरुपण नामक अग्रिम ग्रन्थ में विस्तृत रूप से होगा। किन्तु अपर जिन को वैष्णव शब्द से

पेक्षया वैष्णवाः। तत्र कर्मिषु तदपेक्षया, यथा स्कान्दे मार्कण्डेयभगीरथसंवादे—

"धर्मार्थं जीवितं येषां सन्तानार्थञ्च मैथुनम्। पचनं विप्रसुखार्थं ज्ञेयास्ते वैष्णवा नराः॥"५६५॥ इति।

तत्र श्रीविष्ण्वाज्ञाबुद्धैयव तत्तत् क्रियत इति वैष्णव-पदेन गम्यते। श्रीविष्णुपुराणे च (भा० ३।७।२०)—

"न चलति निजवर्णधर्म्मतो यः, सममतिरात्मसुहृद्विपक्षपक्षे।
न हरति न च हन्ति किञ्चिदुच्चैः, स्थिरमनसं तमवेहि विष्णुभक्तम्॥५६६॥ इति।

तदर्पणे तु सुतरामेव वैष्णवत्वम्। यथा पाद्मे पाताल-खण्डे वैशाख-माहात्म्ये—

"जीवितं यस्य धर्म्मार्थे धर्म्मो हर्य्यर्थ एव च। अहोरात्राणि पुण्यार्थं तं मन्ये वैष्णवं जनम्॥"५६७॥

तथैव शैवेषु तदपेक्षया, यथा बृहन्नारदीये—

अभिहित किया गया है,— अर्थात् श्रीविष्णु मन्त्र में दीक्षित नहीं हैं, किन्तु श्रीशिवमन्त्र में दीक्षित हैं, अथच उनको वैष्णव शब्द से निर्देश किया गया है, उस प्रकार कथन निज गोष्ठी की अपेक्षा से ही हुआ है। अर्थात् शैव, शाक्त, सम्प्रदाय में वैष्णव भावापन्न साधक को वैष्णव शब्द से उल्लेख किया गया है। उस में भी काम्य कर्म परायण व्यक्ति वृन्दके मध्यमें कर्म्मानुष्ठान की सात्त्विकता को देखकर स्कन्द पुराण के मार्कण्डेय भगीरथ संवाद में जिस प्रकार उल्लेख है—

"धर्मार्थं जीवितं येषां सन्तानार्थञ्च मैथुनम्। पचनं विप्रसुखार्थं ज्ञेयास्ते वैष्णवा नराः॥"५६५।

जो धर्माचरण हेतु जीवन धारण करते हैं, सन्तानार्थ ही मैथुन करते हैं, एवं उत्तम ब्राह्मण के निमित्त ही पाक करते हैं। उन सब मनुष्य को वैष्णव जानना चाहिये। स्कन्द पुराण में--श्रीविष्णु की आज्ञा बुद्धि से जो पूर्वोक्त क्रिया समूह निष्पन्न करते रहते हैं, उन को वैष्णव कहा गया है। किन्तु उस प्रकार श्रीविष्णु आज्ञा बुद्धि शून्य होकर पूर्वोक्त क्रिया समूह को निष्पन्न करने पर वे वैष्णव नाम से अभिहित नहीं होंगे। अर्थात् श्रीविष्णु अनुसन्धान हीन क्रिया अनुष्ठान के द्वारा विष्णु बहिर्मुखता दोष निबन्धन अवैष्णव संज्ञा होती है, एवं साधारण क्रियानुष्ठान में भी यदि श्रीविष्णु अनुसन्धान विद्यमान होता है। तो अनुष्ठान कारी को वैष्णव कहा जा सकता है।

श्रीविष्णु पुराण में कथित है—

"न चलति निजवर्णधर्म्मतो यः, सममतिरात्मसुहृद्विपक्षपक्षे।
न हरति न च हन्ति किञ्चिदुच्चैः, स्थिरमनसं तमवेहि विष्णुभक्तम्॥"५६६॥

जो, निज वर्ण धर्म से विचलित नहीं होता है, निज सुहृद पक्ष में एवं शत्रु पक्ष में जो सममति है, परद्रव्यापहरण नहीं करता है, वा, पर को व्यथा प्रदान नहीं करता है, एवं स्थिर चित्त हैं, उस को विष्णु भक्त जाने।

जो, समस्त कर्म्म, श्रीविष्णु को समर्पण करता है, उस को तो सुतरां वैष्णव कहना ही पड़ेगा। जैसे पद्म पुराण के पाताल खण्ड के वैशाख माहात्म्य में वर्णित है—

"जीवित यस्य धर्म्मार्थे धर्म्मो हर्य्यर्थ एव च।
अहोरात्राणि पुण्यार्थं तं मन्ये वैष्णवं जनम्॥"५६७॥

धर्माचरण हेतु ही जिस का जीवन धारण है, एवं हरि के निमित्त ही जिस का धर्मानुष्ठान है,

'शिवे च परमेशाने विष्णौ च परमात्मनि । समबुद्धचा प्रवर्त्तन्ते ते वै भागवतोत्तमाः ॥"५६८॥ इति ।

शैवगोष्ठीषु भागवतोत्तमत्वं तत्रैव प्रसिद्धमिति तथोक्तम् । वैष्णवतन्त्रे तु तन्निन्दैव—

"यस्तु नारायणं देवं ब्रह्मरुद्रादिदैवतैः । समत्वेनैव वीक्षेत स पाषण्डी भवेद्ध्रुवम् ॥"५६६॥ इति ।

तदेवं तेषां बहुभेदेषु सत्सु तेषामेव प्रभाव-तारतम्येन कृपातारतम्येन भक्तिवासना-भेद-तारतम्येन सत्सङ्गात् कालशैघ्रच-स्वरूपवैशिष्टचाभ्यां भक्तिरुदयते । एवं ज्ञानिसङ्गाच्च ज्ञानं ज्ञेयम् । तत्र यद्यप्यकिञ्चना भक्तिरभिधेयेति तत्कारणत्वेन मद्भक्तसङ्ग एवाभिधेये सति भक्तोऽपि स एव लक्षितव्यः, तथापि तत्तत्परीक्षार्थमेव तत्तदनुवादः क्रियते । तत्र प्रथमं तावत् तत्तत्सङ्गाज्जातेन तत्तच्छ्रद्धा-तत्तत्परम्परा-कथारुच्यादिना जात-भगवत्साम्मुख्यस्य तत्तदनुसङ्गेनैव तत्तद्भजनीये भगवदाविर्भावविशेषे तद्भजन मार्गविशेषे च रुचिर्जायते ।

पुण्याचरण हेतु ही जो दिन रात्र अति वाहित करता है । उसको वैष्णव समझना चाहिये ।

इस रीति से शैव गणों के मध्य में भी विष्णुके प्रति भक्ति की सत्ता है । अतः वैष्णव शब्द से उल्लेख बृहन्नारदीय पुराण मैं है ।

"शिवे च परमेशाने विष्णौ च परमात्मनि । समबुद्धचा प्रवर्त्तन्ते ते वै भागवतोत्तमाः ॥"५६८॥

जो परमेश्वर शिव में एवं परमात्मा विष्णु में भी समबुद्धि से प्रवृत्त होते हैं, वे भागवतोत्तम हैं । इस प्रकार शैव गोष्ठी के मध्य में भी बृहन्नारदीय पुराण में भागवतोत्तम का प्रसिद्ध वर्णन है । किन्तु, वैष्णव शास्त्र में शिव एवं विष्णु में अभेदभावना की निन्दा वर्णित है ।

"यस्तु नारायणं देवं ब्रह्मरुद्रादिदैवतैः ।
समत्वेनैव वीक्षेत स पाषण्डी भवेद्ध्रुवम् ।"५६६॥

जो,ब्रह्मा महादेव प्रभृति देवतावर्ग के सहित नारायण को समदृष्टि से देखेगा, वह निश्चय ही पाषण्डी होगा । उक्त रीति से वैष्णव साधु के मध्य में विविध भेद विद्यमान होने पर भी उन की प्रभावतरतमता के अनुसार एवं कृपा की तरतमता के अनुसार तथा भक्ति वासना का भेद तारतम्य हेतु सत् सङ्ग से अति सत्वर एवं विलम्ब में, तथा स्वरूप वैचित्री के द्वारा भक्ति का उदय होता है । अर्थात् यदि साधु में प्रभावातिशय्य हो, एवं करुणा प्राचुर्य्य हो तब स्वल्प काल सङ्ग में ही श्रीभगवान् के प्रति भक्ति का उदय होता है । और यदि साधु में प्रभाव कम हो, एवं करुणा का परिमाण भी कम हो, उस प्रकार साधु के सङ्ग से भक्ति का उदय विलम्ब में होता है । उस साधु की श्रीभगवान् के प्रति जिस प्रकार भक्ति है, उस भगवत् स्वरूप का वैशिष्ट्य एवं अवैशिष्ट्य के द्वारा भी भक्ति उदय की तरतमता होती है । इस प्रकार ज्ञानि साधु सङ्ग से भी ज्ञानोदय की तरतमता को समझना होगा ।

उस के मध्य में यद्यपि निखिल शास्त्रों का उपदेश—अकिञ्चना अर्थात् अपेक्षाशून्या भक्तिआचरण करने के निमित्त ही है । एवं महत् सङ्ग ही उक्त अकिञ्चना भक्ति प्राप्ति का एकमात्र कारण है । शास्त्रों का यह निर्णय है । अतएव अकिञ्चना भक्ति ही जब शास्त्र का अभिधेय है तब, उस प्रकार भक्त एवं उस प्रकार भक्ति का परिचय प्रदान, लक्षण के द्वारा करना कर्त्तव्य है । तथापि उक्त भक्त एवं भक्ति इन दोनों की परीक्षा हेतु अर्थात् तदुभय के सहित परिचय कराने के निमित्त उन उन का अनुवाद होगा । अर्थात् पुनरुल्लेख किया जायेगा ।

ततश्च विशेषबुभुत्सायां सत्यां तेष्वेकतोऽनेकतो वा श्रीगुरुत्वेनाश्रितात् श्रवणं क्रियते। तच्चोपक्रमोपसंहारादिभिरर्थावधारणम् । पुनश्चासम्भावनाविपरीत-भावनाविशेषवता स्वयं तद्विचाररूपं मननमपि क्रियते । ततो भगवतः सर्व्वस्मिन्नेवाविर्भावे तथाविधोऽसौ सदा सर्व्वत्र विराजत इत्येवंरूपा श्रद्धा जायते । तत्र कस्मिंस्त्वनया प्रथमजातया रुच्या सह निजाभीष्ट-दानसामर्थ्याद्यतिशयवत्तानिर्द्धारणरूपत्वेन सैव श्रद्धा समुल्लसति । तत्र यद्यप्येकत्रैवातिशयिता-पर्य्यवसानं सम्भवति, न तु सर्व्वत्र, तथापि केषाञ्चित् ततो विशिष्टस्याज्ञानादन्यत्रापि तथाबुद्धिरूपा श्रद्धा सम्भवति । एवं भजनमार्गविशेषश्च व्याख्यातव्यः । तदेवं सिद्धे ज्ञाने विज्ञानार्थं निदिध्यासनलक्षण-तत्तदुपासनमार्गभेदोऽनुष्ठीयते । इत्येवं विचारप्रधानानां मार्गो दर्शितः । रुचिप्रधानानान्तु न तादृग्-विचारापेक्षा जायते, किन्तु साधुसङ्ग-लीलाकथा-श्रवण-रुचि-श्रद्धा-श्रवणाद्यावृत्तिरूप एवासौ मार्गः, यथा (भा० १।२।१६) "शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य'

प्रथमतः उन उन भगवत् स्वरूप में श्रद्धा, भजनाङ्ग में श्रद्धा, एवं साधु परम्पराक्रम से भगवत् कथा में रुचि प्रभृति का उदय होने से भगवत् साम्मुख्य होता है। एवं आनुषाङ्गिक रूप से भजनीय श्रीभगवदाविर्भाव विशेष में एवं उन भगवदाविर्भाव विशेष के आविर्भाव विशेष में भी रुचि उत्पन्न होती है। अनन्तर सम्बन्ध अभिधेय प्रयोजन तत्त्व विशेष को विशेष रूप से जानने की इच्छा का उद्गम होने पर, पूर्व वर्णित महानुभव वृन्द के मध्य में एक व्यक्ति से हो, अथवा अनेक व्यक्ति से हो श्रवण गुरु रूप में आश्रय ग्रहण कर, सम्बन्ध अभिधेय प्रयोजन तत्त्व का विचार श्रवण करे। उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता फल, अर्थवाद, एवं उपपत्ति अर्थात् युक्ति के द्वारा यथार्थ तात्पर्य्य निर्णय करने का नाम श्रवण है। पुनर्वार अर्थात् श्रवण के पश्चात् असम्भावना, विपरीत भावना निवृत्ति हेतु जिस विषय का श्रवण होगा, उस विषय का विचार रूप मनन भी करे। तत् पश्चात् श्रीभगवान् के समस्त आविर्भाव ही अर्थात् श्रीराम, नृसिंह, वामनादि रूप में—श्रीभगवान् सदा सर्वत्र विद्यमान् हैं, इस प्रकार श्रद्धा अर्थात् विश्वास उत्पन्न होता है। अनन्तर साधु के समीप से श्रवणादि करते करते अनन्त भगवत् स्वरूप में निश्चला श्रद्धा का उदय होने पर भी किसी एक विशेष भगवत् स्वरूप में प्रथम साधु सङ्ग के बाद में जो रुचि हुई थी, उस रुचि के सहित निज अभीष्ट प्रदान करने में अतिशय समर्थ किसी एक विशेष आविर्भाव में मानसिक आकर्षण होता है। उस समय जो श्रद्धा, साधारण रूप से समस्त भगवत स्वरूप में उदय हुई थी, किसी एक विशिष्ट भगवत् स्वरूप में—स्वीय अभीष्ट प्रदान समर्थ—श्रीराम हों श्रीनृसिंह हों अथवा श्रीकृष्ण हों—हैं, इस प्रकार निर्द्धारण के पश्चात् पूर्व वर्णित साधारणी श्रद्धा सम्यक् रूप से उल्लसित वा उच्छलित होती है। उस विषय में एक विचार यह है कि—अनन्त भगवत् स्वरूप के मध्य में किसी एक विशिष्ट भगवत् स्वरूप में ही सर्व प्रकार से श्रेष्ठता का पर्य्यवसान होना सम्भवपर है। समस्त भगवत् स्वरूपो में सर्व प्रकार श्रेष्ठता विद्यमान होना सम्भव पर नहीं है। तथापि कोई कोई साधक भक्त को अपना अभीष्ट प्रदान करने में समर्थ रूप में निर्दिष्ट भगवत् स्वरूप से अपर सर्वोत्कृष्ट उत्कर्षशाली भगवान् को छोड़कर अल्प शक्ति प्रकाशक भगवत् स्वरूप में—यह सर्वार्थ प्रदान में समर्थ—इस प्रकार श्रद्धा का उदय होता है। सर्वोत्कर्ष मण्डित भगवत् स्वरूप विषयक अज्ञता ही उस विषय में कारण है।

अतएव जिस प्रकार भजनीय तत्त्व का निर्द्देश किया गया है, उस प्रकार भजन पद्धति का निर्देश करना भी अवश्य कर्त्तव्य है। पूर्व वर्णित प्रकार से शास्त्रार्थ विचार से भी वस्तु परिचय होने पर, उस

इत्यादिना पूर्व्वं दर्शितः, (भा० ३।२५।१५) "सतां प्रसङ्गान्मम वीर्य्यसंविदः" इत्यादौ च द्रष्टव्यः। प्रीतिलक्षण-भक्तीच्छुनास्तु रुचिप्रधान एव मार्गः श्रेयान्, नाजात-रुचीनामिव विचारप्रधानः, यथोक्तं श्रीप्रह्लादेन (भा० ७।९।४९--५०) –

"नैते गुणा न गुणिनो महदादयो ये, सर्व्वे मनः प्रभृतयः सह-देवमर्त्याः।
आद्यन्तवन्त उरुगाय विदन्ति हि त्वा,–मेवं विविच्य सुधियो विरमन्ति शब्दात् ॥६००॥
तत्तेऽर्हत्तम नमः स्तुतिकर्म्मपूजाः, कर्म्मस्मृतिश्चरणयोः श्रवणं कथायाम्।
संसेवया त्वयि विनेति षड़ङ्गया किं, भक्तिं जनः परमहंसगतौ लभेत ॥"६०१॥ इति।

तत्त्व वस्तु अनुभव हेतु निदिध्यासन नामक उस स्वरूप की उपासना पद्धति विषयक भेद भी अनुष्ठित होता है। विचार प्रधान साधक वृन्द की इस प्रकार साधन पद्धति प्रदर्शित हुई। रुचि प्रधान साधक गण को विचार प्रधान साधक वृन्द के समान विचार की अपेक्षा नहीं है। किन्तु साधुसङ्ग लीला कथा श्रवण में रुचि, एवं श्रद्धा तथा पुनः पुनः श्रवणादि रूप भजन पद्धति अनुष्ठित होती रहती है। जिस प्रकार भा० १। २।१६ में उक्त है--"शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य" अर्थात् पुण्य तीर्थ निषेवण से साधुसङ्ग प्राप्त करने की सम्भावना होती है, एवं साधु सङ्ग से श्रीहरि कथा का श्रवण सौभाग्य होता है, श्रीहरि कथा श्रवण करते करते साधु एवं श्रीहरि कथा में श्रद्धा का उदय हो सकता है। इस के वाद भा० ३।२५।२५ में कहा गया है—

"सतां प्रसङ्गात् मम वीर्य्य सम्विदः" साधु के प्रकृष्ट सङ्ग से श्रीहरि कथा श्रवण प्रसङ्ग होता है। आसक्ति पूर्वक उस कथा का श्रवण करते करते श्रद्धा, भावभक्ति, एवं प्रेम भक्ति का उदय होता है। प्रीति लक्षणा भक्ति प्राप्त करने के निमित्त जिस की इच्छा है, उस के पक्ष में रुचि प्रधान भक्ति ही श्रेष्ठ एवं अनुकूल है। किन्तु अजात रुचि साधक वृन्द के समान विचार प्रधान मार्ग अनुकूल नहीं है। इस अभिप्राय से ही भागवत ७।९।४९–५० में श्रीप्रह्लाद ने कहा है—

"नैते गुणा न गुणिनो महदादयो ये, सर्व्वे मनः प्रभृतयः सह-देवमर्त्याः।
आद्यन्तवन्त उरुगाय विदन्ति हि त्वा,-मेवं विविच्य सुधियो विरमन्ति शब्दात् ॥६००॥
तत्तेऽर्हत्तम नमःस्तुतिकर्म्मपूजाः, कर्म्मस्मृतिश्चरणयोः श्रवणं कथायाम्॥
संसेवया त्वयि विनेति षड़ङ्गया किं, भक्तिं जनः परमहंसगतौ लभेत ॥"६०१ ॥ इति।

हे प्रभो ! भक्ति के द्वारा ही आप को जाना जा सकता है। किन्तु शास्त्राध्ययन बुद्धि कौशल प्रभृति द्वारा आप को जाना नहीं जा सकता है। भक्ति हीन जन, सर्वदा सर्वभूत में अवस्थित होने पर भी आप को जानने में अक्षम है। सत्त्व, रजः तमोगुण—गुणाधिष्ठात्री देवी, गुणी गण--ब्रह्मादि, महदादि, मनः प्रभृति, एवं देवता, मनुष्य, यह सब जड़ोपाधि विशिष्ट होने पर आदि एवं अन्त विशिष्ट हैं। अतएव निरुपाधि आप को कैसे जान सकते हैं ? तज्जन्य पण्डित वृन्द विचार पूर्वक अध्ययनादि व्यापार से विरत होते हैं। श्रुति भी कहती है—

"किमर्था वयमध्येष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे।
नानुध्यायेद् बहून् शब्दात् वाचो विग्लापनं हि तत् ॥"

अध्ययन करके क्या होगा। किस के निमित्त हम अध्ययन करेंगे ? किस उद्देश्य से हम सब यज्ञादि कर्म्मानुष्ठान करेंगे ? भूरि भूरि ग्रन्थानुशीलन न करे, इस प्रकार अध्ययन केवल वाणी को ग्लानि दायक है। हे पूज्यतम ! आप के चरणों में प्रणाम है। आप की स्तुति, आप की परिचर्य्या, आप की लीला का

कर्म परिचर्य्या, कर्मस्मृतिर्लीला-स्मरणम्, चरणयोरिति सर्वत्रान्वितं भक्तिव्यञ्जकम्, तदेतदुभयस्मिन्नपि तत्तद्भजनविधि–शिक्षागुरुः प्राक्तनः श्रवणगुरुरेव भवति, तथाविधस्य प्राप्तत्वात्। प्राक्तनानां बहुत्वेऽपि प्रायस्तेष्वेवान्यतरोऽभिरुचितः। पूर्वस्मादेव हेतोः श्रीमन्त्र-गुरुस्त्वेक एव, निषे स्यमानत्वाद्बहूनाम्।

अथात्र प्रमाणानि—तत्र तदाविर्भावविशेषे रुचिः (भा० ११।३।४८) "महापुरुषमभ्यर्च्चेन्-मूर्त्याभिमतयात्मनः" इत्यादौ श्रीमदाविर्होत्रादिनाभिप्रेता भजनविशेषरुचिश्च (भा० ११।२७।७)

"वैदिकस्तान्त्रिको मिश्र इति मे त्रिविधो मखः।
त्रयाणामीप्सितेनैव विधिना मां समर्च्चयेत्॥"६०२॥

स्मरण, आप की कथा का श्रवण, आप की यह षड़ङ्ग भक्ति के विना किस उपाय से मानव परम हंस वृन्द के एक मात्र प्राप्य आप के प्रति प्रेम भक्ति को प्राप्त कर सकते हैं? अतएव हे नाथ! मुझ को आप के भक्त वृन्द की सेवा करने का अधिकार प्रदान कर कृतार्थ करो। इन दोनों प्रकार भजन मार्ग की भजन शिक्षा के गुरु, पूर्वाश्रित श्रवण गुरु ही होते हैं। कारण, उन शिक्षा गुरु के निकट से ही भजन विधि की शिक्षा करे। इस प्रकार आचरण की विधि भा० ११।३।२२ अध्याय में इस प्रकार है—

"तत्र भागवतान् धर्म्मान् शिक्षेद् गुर्वात्मदैवतः।
अमाययानुवृत्त्या यैस्तुष्येदात्मात्मदो हरिः॥"

टीका--गुरुरेवात्मा दैवतञ्च यस्य सः। अनुवृत्त्या सेवया। यै धर्म्मैः। वस्तुत आत्मा आत्मप्रदश्चोपसकानाम्। यथा बलि प्रभृतीनाम्॥

पूर्वोक्त श्रवण गुरु यद्यपि बहु हो सकते हैं, तथा उन शिक्षा गुरु वृन्द के मध्य में निज अभिमत एक व्यक्ति को भजन शिक्षा गुरु रूप में वरण करना कर्त्तव्य है। पूर्वोल्लिखित कारण से ही भजन शिक्षा गुरु एवं श्रीमन्त्र गुरु एक व्यक्ति ही होता है। कारण, अनेक मन्त्र गुरु करण करना शास्त्र विहित नहीं है।

पूर्वोल्लिखित विषय समूहों के प्रमाण समूह का प्रदर्शन करते हैं। उस के मध्य में प्रथमतः अनन्त भगवदाविर्भाव के मध्यमें किसी एक आविर्भाव विशेष के प्रति रुचि करने का विधान भा० ११।३।३८ में है--

"लब्धानुग्रह आचार्य्यात् तेन सन्दर्शितागमः।
महापुरुषमभ्यर्च्चेत् मूर्त्याभिमतयात्मनः॥"

टीका—तमेव विधिमाह लब्धानुग्रह इत्यादिना। तेन आचार्य्येण सन्दर्शितः आगमोऽर्च्चन प्रकारो यस्य सः॥

निज अभिमत किसी भगवन् मूर्त्ति विशेष के द्वारा महापुरुष का अर्च्चन करे। यह सब विधि श्रीमदाविर्होत्र प्रभृतियों की सम्मता हैं। भजन विशेष में रुचि की कथा तो भगवान् श्रीकृष्णने निज मुख से ही कही है। भा० ११।२७।७)

"वैदिकस्तान्त्रिको मिश्र इति मे त्रिविधो मखः।
त्रयाणामीप्सितेनैव विधिना मां समर्च्चयेत्॥"६०२॥

टीका—वैदिक एव मन्त्रो वैदिकान्येवाङ्गानि च यस्मिन् पुरुष सूक्तादौ स वैदिकः। एवं तान्त्रिकोऽपि मिश्रोऽष्टाक्षरादिः मख पूजा॥"

वैदिक, तान्त्रिक, एवं उभयमिश्र भेद से मेरा यज्ञ वा मेरी उपासना तीन प्रकार हैं। यह त्रिविध

इत्यादौ श्रीभगवताभिप्रेता । अतः श्रवणगुरुमाह (भा० ११।३।२१) –

(२०२) "तस्माद्गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम् ।
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम् ॥"६०३॥

शाब्दे ब्रह्मणि वेदे तात्पर्य्यविचारेण, परे ब्रह्मणि भगवदादिरूपाविर्भावे तु अपरोक्षानुभवेन निष्णातं तथैव निष्ठां प्राप्तम् । यथोक्तं पुरञ्जनोपाख्यानाद्युपसंहारे श्रीनारदेन (भा० ४।२९।५२)

"स वै प्रियतमश्चात्मा यतो न भयमण्वपि ।
इति वेद स वै विद्वान् यो विद्वान् स गुरुर्हरिः ॥"६०४॥ इति ।

श्रीप्रबुद्धो निमिम् ॥

२०३ । अत्र ब्रह्मवैवर्त्ते विशेषः—

"वक्ता सरागो नीरागो द्विविधः परिकीर्त्तितः । सरागो लोलुपः कामी तदुक्तं हृन्न संस्पृशेत् ॥६०५॥
उपदेशं करोत्येव न परीक्षां करोति च । अपरीक्ष्योपदिष्टं यत् लोकनाशाय तद्भवेत् ।"६०६॥

पद्धति के मध्य में भक्ति साधक भक्त की जो पद्धति अभिमत होगी, वह भक्त उस भजन पद्धति के अनुसार ही मेरी उपासना करे । यह पद्धति श्रीभगवदभिप्रेत है । अनन्तर श्रवण गुरु का लक्षण कहते हैं—

(भा० ११।२।२१) (१०२) "तस्माद्गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम् ।
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम् ।।"६०३॥

जो, शब्द ब्रह्म वेदादि शास्त्र तात्पर्य्य विचार विषय में अनुरूप निष्ठा प्राप्त हैं, एवं व्याख्या युक्ति में भी सुनिपुण हैं, अथच सर्व प्रकार अपेक्षा शून्य हैं, एवं अपरोक्षानुभवसम्पन्न हैं, तथा उपासना रत भी हैं, उन को, सम्बन्ध, साध्य, एवं साधन तत्त्व जानने के निमित्त श्रवण गुरु रूप में वरण करना कर्त्तव्य है । शब्द ब्रह्म में निष्णात शब्द का अर्थ है वेद शास्त्र का तात्पर्य्य निर्णय में निष्णात, परे ब्रह्मणि निष्णात-- शब्द का अर्थ है—भगवदादि रूपाविर्भाव विषयमें सम्यक् ज्ञानवान् होना, एवं अपरोक्षानुभव सम्पन्न होना आवश्यक है, उस प्रकार ही उपासना में निष्ठा प्राप्त करना भी आवश्यक है । जिस प्रकार पुरञ्जनोपाख्यान के उपसंहार में देवर्षि श्रीनारद ने (भा० ४।२९।५१) में कहा है—

"स वै प्रियतमश्चात्मा यतो न भयमण्वपि ।
इति वेद स वै विद्वान् यो विद्वान् स गुरुर्हरिः ॥"६०४॥

टीका— न च तद् भजने ऽन्यभजन इव दुःखंभयञ्चेत्याह स इति । इति यो वेद स एव विद्वान, स गुरुः, स एव हरिश्च ॥

वह आत्मा ही प्रियतम है, जिस के ज्ञान से किसी प्रकार विन्दुमात्र भी भय की सम्भावना नहीं है, इस प्रकार तत्त्व ज्ञान जिस के हृदय में यथायथ रूप से उदित हुआ है, वही विद्वान् है, वही गुरु वही श्रीहरि हैं । श्रीप्रबुद्ध निमिमहाराज को कहे थे ॥२०२॥

२०३ । इस विषय का ब्रह्म वैवर्त्त पुराण में विशद वर्णन है—

"वक्ता सरागो नीरागो द्विविधः परिकीर्त्तितः ।
सरागो लोलुपः कामी तदुक्तं हृन्न संस्पृशेत् ॥६०५॥

किञ्च,—

"कुलं शीलमथाचारमविचार्य्य गुरुं गुरुम्। भजेत श्रवणाद्यर्थी सरसं सार-सागरम्॥"६०७॥

सरसत्वादिकं व्यञ्जितं तत्रैवान्यत्र—

"कामक्रोधादियुक्तोऽपि कृपणोऽपि विषादवान्। श्रुत्वा विकाशमायाति स वक्ता परमो गुरुः॥"६०८॥

एवम्भूतगुरोरभावाद्युक्तिभेदबुभुत्सया बहूनप्याश्रयन्ते केचित्, यथा (भा० ११।९।३१) —

(२०३) "न ह्येकस्माद्गुरोर्ज्ञानं सुस्थिरं स्यात् सुपुष्कलम्।
ब्रह्मैतदद्वितीयं वै गीयते बहुधर्षिभिः॥"६०९॥

स्पष्टम्॥ श्रीदत्तात्रेयो यदुम्॥

उपदेशं करोत्येव न परीक्षां करोति च।
अपरीक्ष्योपदिष्टं यत् लोकनाशाय तद्भवेत्॥"६०६॥

वक्ता सराग एवं नीराग भेद से द्विविध हैं, तन्मध्ये लोलुप, कामी, वक्ता सराग है, उस के द्वारा उपदिष्ट विषय, श्रोताका हृदय स्पर्शी नहीं होता है। जो केवल उपदेश ही करता है, किन्तु उस का उपदिष्ट विषय को शिष्य ग्रहण कर रहा है वा नहीं. इस की परीक्षा नहीं करता है, परीक्षा न करके केवल उपदेश करने पर वह उपदेश लोक नाश का हेतु बन जाता है।

अनन्तर नीराग वक्ता का वर्णन करते हैं—नीराग वक्ता को सरस एवं सार ग्राही होना आवश्यक है। नीराग वक्ता के कुल, शील, एवं आचरण विषय में विचार न करके श्रवणार्थी होकर उन को गुरु रूप में वरण करे।

"कुलं शीलमथाचारमविचार्य्य गुरुं गुरुम्।
भजेत श्रवणाद्यर्थी सरसं सार--सागरम्॥"६०७॥

ब्रह्म वैवर्त्त पुराण के अन्यस्थल में लिखित है—

"कामक्रोधादियुक्तोऽपि कृपणोऽपि विषादवान्।
श्रुत्वा विकाशमायाति स वक्ता परमो गुरुः॥"६०८॥ इति।

जिस वक्ता का उपदेश श्रवण कर काम क्रोधादि युक्त, कृपण एवं विपन्न व्यक्ति भी हृदय में उल्लास को प्राप्त करता है, वह वक्ता ही श्रेष्ठ गुरु होने का उपयुक्त है। एतादृश लक्षण सद् गुरु का अभाव होने पर युक्ति एवं व्याख्या प्रभृति जानने के निमित्त कतिपय व्यक्ति अनेक गुरु करन करते हैं। यहाँपर गुरु शब्द से श्रवण गुरु को जानना होगा। कारण, भजन दीक्षा गुरु का बहुत्व अभीष्ट साधक नहीं होता है। भा० ११।९।३१ में उक्त है—

(२०३) "न ह्येकस्माद्गुरोर्ज्ञानं सुस्थिरं स्यात् सुपुष्कलम्।
ब्रह्मैतदद्वितीयं वै गीयते बहुधर्षिभिः॥"६०९॥

टीका—ननु किं बहुभिर्गुरुभिः? नहि श्वेतकेतु भृगु प्रमुखैर्बहवो गुरव आश्रितास्तत्राहन--ह्येकस्मादिति। बहुधा सप्रश्च निष्प्रपञ्च यदाविभिः। अयं भावः। नैते परमार्थोपदेशका गुरवः, किन्तु अन्वय व्यतिरेकाभ्यामात्मन्यसम्भावनादि मात्र निवर्त्तकास्तेषां बहुत्व युक्त मेवेति। ज्ञान प्रदं गुरुमेकमेव वक्ष्यति मदभिज्ञं गुरुं शान्तमुपासीतेति। उक्तश्च तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तममिति।

एक गुरु से पारमार्थिक ज्ञान सुस्थिर एवं पूर्ण नहीं होता है। कारण, एक ही अद्वितीय ब्रह्म को

२०४। तत्र रुचिप्रधानानां श्रवणादिकम् (भा० १।५।२६)—

"तत्रान्वहं कृष्णकथाः प्रगायता--,मनुग्रहेणाशृणवं मनोहराः।
ताः श्रद्धया मेऽनुपदं विशृण्वतः, प्रियश्रवस्यङ्ग ममाभवद्रतिः॥"६१०॥

इत्याद्युक्तप्रकारम्। विचारप्रधानानां श्रवणं यथा चतुःश्लोक्यादीनाम्। मननं यथा (भा० २।२।३४)-"भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येन" इत्यादौ। अथ तज्जाता श्रीभगवति श्रद्धा यथा (भा० ४।२१।१७–३०)

(२०४) "अस्ति यज्ञपतिर्नाम केषाञ्चिदर्हसत्तमाः।
इहामुत्र च लक्ष्यन्ते ज्योत्स्नावत्यः क्वचिद्भुवः॥६११॥
मनोरुत्तानपादस्य ध्रुवस्यापि महीपतेः।
प्रियव्रतस्य राजर्षेरङ्गस्यास्मत्पितुः पितुः॥६१२॥

समझाने के निमित्त ऋषि वृन्द भिन्न भिन्न प्रकार की युक्ति की अवतारणा किये हैं।
श्रीदत्तात्रेय यदु को कहे थे॥२०३॥

२०४। उस के मध्य में रुचि प्रधान भक्ति साधक वृन्द के श्रवणादि का वर्णन भा० १।५।२६ में श्रीदेवर्षि नारद ने किया है—

"तत्रान्वहं कृष्णकथाः प्रगायता,--मनुग्रहेणाशृणवं मनोहराः।
ताः श्रद्धया मेऽनुपदं विशृण्वतः,--प्रियश्रवस्यङ्ग ममाभवद्रतिः॥"६१०॥

टीका—अशृणवं--श्रुतवानस्मि। मे श्रद्धया ममैव स्वतः सिद्धया नत्वनेन बलाज्जनितया, अतो ममेत्यस्यापौनरुक्त्यम्, अनुपदं—प्रतिपदम्। प्रियं श्रवो यशो यस्य तस्मिन्।

मैं ऋषि वृन्द के आश्रम में रहकर उनके अनुग्रह से प्रतिदिन मुनिगण जो मनोहर श्रीकृष्ण कथा कीर्त्तन करते थे, उसका श्रवण करता था। श्रद्धा पूर्वक वर्णित श्रीकृष्ण कथा का प्रत्येक अक्षर मनोयोग के सहित श्रवण करते करते प्रियश्रवा श्रीहरि में मेरी प्रीति हुई। उस प्रकार श्रवण ही रुचि प्रधान साधन वृन्द का अनुकूल है। विचार प्रधान साधक वृन्द का अनुकूल चतुः श्लोकी प्रभृति तत्त्व विचार पर अंशी ही है। उनके पक्ष में मनन प्रकार भा० २।२।३४ में उक्त है—

"भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया॥"
तदध्यवस्यत् कूटस्थो रतिरात्मन् यतो भवेत्॥"

इस प्रकार मनन ही उनका अनुकूल है। अर्थात् भगवान् ब्रह्मा निर्विकार चित्त से सम्पूर्ण वेद का अनुशीलन निज प्रज्ञाबल से तीनवार करके सार समझे थे कि—वेद का मुख्य उपदेश यह है—जिस से श्रीहरि में प्रीति का उदय हो, अर्थात् ब्रह्मा-समस्त वेदों का मुख्य उपदेश यह है जिस प्रकार साधन करने से श्रीहरि में प्रीति का उदय हो, उस साधन का अनुष्ठान करना ही कर्त्तव्य है। यह समझे थे। अनन्तर तज्जातीय विचार द्वारा श्रीभगवान् में जिस प्रकार श्रद्धा का उदय होता है—उस का विवरण श्रीपृथु-महाराज की उक्ति में सुस्पष्ट रूप से वर्णित है। भा० ४।२१।२७--३०

(२०४) "अस्ति यज्ञपतिर्नाम केषाञ्चिदर्हसत्तमाः।
इहामुत्र च लक्ष्यन्ते ज्योत्स्नावत्यः क्वचिद्भुवः॥६११॥

ईदृशानामथान्येषामजस्य च भवस्य च ।
प्रह्लादस्य बलेश्चापि कृत्यमस्ति गदाभृता ॥६१३॥

दौहित्र्यादीनृते मृत्योः शोच्यान् धर्मविमोहितान् ।
वर्गस्वर्गापवर्गाणां प्रायेणैकात्म्यहेतुना ॥"६१४॥

हे अर्हत्तमाः ! यज्ञपतिर्नाम सर्वकर्मफलदातृत्वेन श्रुतिप्रतिपादितः परमेश्वरः केषाञ्चित् श्रुत्यर्थतत्त्वज्ञानां मते तावदस्ति, तथापि विप्रतिपत्तेर्न तत्सिद्धिरित्याशङ्क्य तत्र जगद्वैचित्र्यान्यथानुपपत्ति-प्रमाणमभ्युपोद्बलकमित्याह,--इह प्रत्यक्षेणामुत्र शास्त्रेण तद्वदित्यनुमानेन च ज्योत्स्नावत्यः कान्तिमत्यो भुवो भोगभूमयो देहाश्च क्वचिदेवोपलभ्यन्ते न सर्वत्रेति । अयं भावः,–न वा जड़स्य तत् कर्मणस्तत्तत्फलदातृत्वं घटते,(ब्र० सू० ३।२।३८) "फलमत उपपत्तेः" इति न्यायात् । न चार्वाग्देवतानां स्वातन्त्र्यम्, अन्तर्य्यामिश्रुतेः । न च कर्मसाम्ये फलतारतम्यं क्वचिच्च तदसिद्धिः सम्भवति । अतः स्वतन्त्रेण परमेश्वरेण भाव्यम् ।

मनोरुत्तानपादस्य ध्रुवस्यापि महीपतेः ।
प्रियव्रतस्य राजर्षेरङ्गस्यास्मत् पितुः पितुः ॥६१२॥
ईदृशानामथान्येषामजस्य च भवस्य च ।
प्रह्लादस्य बलेश्चापि कृत्यमस्ति गदाभृता ॥६१३॥
दौहित्र्यादीनृते मृत्योः शोच्यान् धर्मविमोहितान् ।
वर्गस्वर्गापवर्गाणां प्रायेणैकात्म्यहेतुना ।"६१४॥

पृथुमहाराज प्रजावर्ग को कहे थे । अर्हत्तमवृन्द ! अर्थात् पूजनीयतम वृन्द ! कतिपय विज्ञवृन्द के मत में श्रुति तात्पर्य्य प्रतिपादित रूप में सर्व कर्म फल दाता यज्ञपति नामक परमेश्वर हैं । उन परमेश्वर के अस्तित्व सम्बन्ध में मुनिगण के मध्य में मत भेद विद्यमान हेतु परमेश्वर का अस्तित्व सिद्ध होना असम्भव है । इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं—ईश्वर की सत्ता न होने से जगत् की विचित्रता का सम्भव नहीं होता तज्जन्य अर्थापत्ति प्रमाण से ईश्वर का अस्तित्व सप्रमाणित करने के निमित्त कहते हैं—इस जगत् में प्रत्यक्षसिद्ध एवं शास्त्रीय प्रमाण द्वारा एवं अनुमान द्वारा ज्ञात होता है कि—इस जगत् के समान परलोक में भी ज्योत्स्नावती अर्थात् कान्तिमती भोगभूमि एवं देह है । किन्तु वह सर्वत्र दृष्ट एवं श्रुत नहीं है । जगत् की विचित्रता का सम्पादन—करने में, न करने में, अन्यथा करने में समर्थ रूपी ईश्वर व्यतीत अपर के द्वारा होना असम्भव है । अर्थात् ईश्वर शक्ति भिन्न विचित्रता स्वयं सिद्ध नहीं हो सकती । कहने का अभिप्राय यह है कि—जड़, जड़ीय कर्म्मानुष्ठान का अनुरूप फल प्रदान करने में सक्षम नहीं है । अतएव ब्रह्म सूत्र के ३।२।३९ में उक्त है "फलमत उपपत्तेः" परमेश्वर सेही फल प्राप्ति सम्भव है । आधुनिक देव वृन्द का किसी प्रकार स्वातन्त्र्य नहीं है । कारण, अन्तर्य्यामी की प्रेरणा से ही वे कर्मक्षम हैं, कर्मगत साम्य विद्यमान होने पर फलगत तारतम्य होना सम्भव नहीं है । देखने में आता है, कर्म किया गया है, किन्तु फललाभ में वञ्चित होना पड़ता है । अतएव परमस्वतन्त्र परमेश्वर विद्यमान हैं ।

सूत्रस्थ श्रीभागवत भाष्य—"अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः ।
तीव्रेण भक्ति योगेन यजेत पुरुषं परम् ॥ भा० २।३।१०

अत्र विद्वदनुभवोऽपि प्रमाणमित्याह—मनोरिति त्रिभिः । अस्मत्पितुः पितुः पितामहस्याङ्गस्य प्रह्लाद-बली तदानीं शास्त्रादेव ज्ञात्वा गणितौ । गदाभृता परमेश्वरेण कृत्यमस्ति, हृदये वहिरपि आविर्भूय तेषां मुहुः कृत्यसम्पादनांशेन यत् कृत्य करणीयं तत् तेषामस्तीत्यर्थः । तेषामेव तेन सह कृत्यमस्ति, नान्येषामित्यर्थो वा । तदन्यांस्तु निन्दितत्वेनाह,—मृत्योर्दौहित्यादीन् वेणप्रभृतीन् धर्मविमोहितान् । गदाभृच्छब्देन तन्नाम्ना प्रसिद्धात् श्रीविष्णोरन्यत्र परमेश्वरत्वं वारयति श्रुतियुक्तिविद्वदनुभवेषु । तं गदाभृतं विशिनष्टि,—वर्गेति । वर्गोऽत्र त्रिवर्गः, स्वर्गो धर्मस्य फलम्, अपवर्गो मोक्षः, तेषामैकात्म्येनैकरूप्येण सर्वान्तर्गतेन हेतुना, तत्रापि प्रायेण प्रचुरेण हेतुना । तदुक्तं स्कान्दे—

"बन्धको भवपाशेन भवपाशाच्च मोचकः । कैवल्यदः परं ब्रह्म विष्णुरेव सनातनः ।।"६१५।। इति ।

२०५ । अथ भजनश्रद्धा यथा (भा० ४।२१।३१-३२)—

(२०५) यत्पादसेवाभिरुचिस्तपस्विना,-मशेषजन्मोपचितं मलं धियः ।

तपस्विनो दानपरा यशस्विनो मनस्विनो मन्त्रविदः सुमङ्गलाः ।
क्षेमं न विन्दन्ति विना यदर्पणं तस्मै सुभद्र श्रवसे नमोनमः ।। भा० १।४।१७

यहाँपर विद्वदनुभव को प्रमाण रूप में कहते हैं ।

स्वायम्भुव मनु उनके पुत्र, उत्तान पाद तत् पुत्र--ध्रुव, राजर्षि प्रियव्रत, मेरा पितामह—अङ्ग एवं इस प्रकार अन्यान्य महानुभव वृन्द के सम्बन्ध में एवं ब्रह्मा, शङ्कर, प्रह्लाद, बलि के सम्बन्ध में गदाधर श्रीहरि के अनेक कृत्य हैं । अर्थात् उन के हृदय में एवं बाहर आविर्भूत होकर पुनः पुनः उनके प्रयोजनीय कृत्य सम्पादन किये हैं । उन सब महानुभव वृन्द की प्रयोजन सिद्धि के निमित्त जिस प्रकार परमेश्वर भगवान् के कृत्य हैं, उस प्रकार श्रीभगवान् के सम्बन्ध में उक्त महानुभव वृन्द के भी अनेक कृत्य हैं किन्तु दूसरे के सम्बन्ध में इस प्रकार नहीं है । इस प्रकार अर्थ भी किया जा सकता है । यहाँपर बलि एवं प्रह्लाद का जो उल्लेख किया गया है, यद्यपि वे दोनों स्वयम्भुव मन्वन्तर में नहीं थे, किन्तु षष्ठ चाक्षुष मन्वन्तर में आविर्भूत हुए थे । तब जो पृथमहाराज ने उन दोनों का उल्लेख किया है—वह शास्त्र श्रवण करके ही किया है । अन्यान्य मृत्यु के दौहित्र धर्मविमोहित वेणराज प्रभृति का उल्लेख निन्दित रूप में किया है, अतः वे शोकार्ह हैं, अर्थात् जो ईश्वर का अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते हैं, उन सब के समान हत भाग्य जन निकर के निमित्त महानुभव वृन्द अत्यन्त शोक करते हैं । गदाधर शब्दोल्लेख के द्वारा सूचित किया गया है कि गदाधर श्रीविष्णु व्यतीत उस नाम से प्रसिद्ध व्यक्तियों में परमेश्वरत्व नहीं है, यह श्रुति युक्ति एवं महानुभव वृन्द के अनुभव सिद्ध है । श्रीगदाधर का विशेष रूप से परिचय प्रदान करते हुये कहते हैं—काम, मोक्ष, धर्मफल, स्वर्ग, ज्ञान साध्य मोक्ष, इन सब के फल प्रदाता एवं सर्वान्तर्गत हेतु रूप में जिन का वृत्तान्त प्रचुर रूप से शास्त्र में वर्णित है । स्कन्द पुराण में उक्त है—

"बन्धको भवपाशेन भवपाशाच्च मोचकः । कैवल्यदः परं ब्रह्म विष्णुरेव सनातनः ।।"६१५।।

भव पाश से बन्धन करने में समक्ष, एवं भवपाश से मुक्त करने में समर्थ, तथा कैवल्य प्रदान करने में एक मात्र समर्थ—परम ब्रह्म सनातन श्रीविष्णु ही हैं ।।२०४।।

२०५ । अनन्तर विचार प्रधान भक्ति साधक वृन्द की भजन श्रद्धा का प्रकार को कहते हैं—भा४।२१।३१-३२ ।

सद्यः क्षिणोत्यन्वहमेधती सती, यथा पदाङ्गुष्ठविनिःसृता सरित् ॥६१६॥
विनिर्धूताशेषमनोमलः पुमा-,नसङ्गविज्ञानविशेषवीर्य्यवान् ।
यदङ्घ्रिमूले कृतकेतनः पुन-,र्न संसृतिं क्लेशवहां प्रपद्यते ॥"६१७॥

तपस्विनां संसारतप्तानाम्, तत्पादसम्बद्धस्यैवैष महिमा इति दृष्टान्तेनाह,--यथेति । असङ्गस्ततोऽन्यत्रानासक्तिस्तेन विज्ञानविशेषो भगवतो नानाविर्भावत्वात्तेषां मध्ये कस्याप्याविर्भावस्य साक्षात्कार-स्तदेव वीर्य्यं विद्यते यस्य सः । यस्याङ्घ्रिमूले कृताशयः सन् ॥ श्रीपृथुराजः सभ्यान् ॥

२०६ ॥ अथ श्रवणगुरु-भजनशिक्षागुर्वोः प्रायिकमेकत्वमिति तथैवाह, (भा० ११।३।२२) -

(२०६) "तत्र भागवतान् धर्मान् शिक्षेद्गुर्वात्मदैवतः ।
अमाययानुवृत्त्या यैस्तुष्येदात्मात्मदो हरिः ॥"६१८॥

---

(२०५) "यत्पादसेवाभिरुचिस्तपस्विना-,मशेषजन्मोपचितं मलं धियः ।
सद्यः क्षिणोत्यन्वहमेधती सती, यथा पदाङ्गुष्ठविनिःसृता सरित् ॥६१६॥
विनिर्धूताशेषमनोमलः पुमा--,नसङ्गविज्ञानविशेषवीर्य्यवान् ।
यदङ्घ्रिमूले कृतकेतनः पुनः, र्न संसृतिं क्लेशवहां प्रपद्यते ॥"६१७॥

श्रीपृथुमहाराज सभ्यवर्ग को कहे थे जिन की सेवा करने की अभिरुचि,—संसार तापतप्त तपस्वि गण के अशेष जन्म साधित चित्त मालिन्य को सद्यो विनष्ट कर देती है । श्रीहरि चरण के सहित मानस सम्बन्ध स्थापन की ही यह महिमा है । अनन्तर प्रतिदिन वह अभिरुचि—क्रमश, वर्द्धिता होकर श्रीहरिचरण निःसृता श्रीगङ्गा जिस प्रकार समस्त पापों को विनष्ट कर देती है--उस प्रकार चित्त के अशेष मालिन्य विदूरित कर देती है । चित्त के अशेष मालिन्य विदूरित करके अन्यत्र अनासक्ति रूप वैराग्य, अनुभव, एवं अनन्त भगवदाविर्भाव के मध्य में किसी एक भगवत् स्वरूप के सहित साक्षात् कार कराती है । श्रीहरि चरणों का आश्रय ग्रहण करने पर पुनर्वार दुःख मयी संसार दशा प्राप्त नहीं होती है । अर्थात् जन्म मरण प्रभृति दुःख राशि से निर्म्मुक्त आश्रय ग्रहण कारी होता है । विचार प्रधान साधक, आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति एवं परमानन्द प्राप्ति रूप पुरुषार्थ के प्रति दृष्टि देकर ही भजन में श्रद्धालु होता है । किन्तु रुचि प्रधान भक्ति साधक की प्रवृत्ति, फलोन्मुखी नहीं होती है, रुचि प्रेरित होकर ही भगवत् प्रीति हेतु भजन में श्रद्धालु होती है । विचार प्रधान साधक एवं रुचि प्रधान भक्ति साधक के मध्य में यह भेद है ।

श्रीपृथुराज-सभ्यवृन्द को कहे थे ॥२०५॥

२०६ । अनन्तर श्रवण गुरु एवं भजन शिक्षा गुरु का प्रायशः एकत्व ही दृष्ट होता है । अर्थात् जो श्रवण गुरु हैं, वही भजन शिक्षा गुरु होते हैं, इस उद्देश्यसे भा० ११।२।२२ में कथित है—

(२०६) "तत्र भागवतान् धर्मान् शिक्षेद्गुर्वात्मदैवतः ।
अमाययानुवृत्त्या यैस्तुष्येदात्मात्मदो हरिः ॥"६१८॥

टीका—गुरुरेवात्मा दैवतञ्च यस्य सः अनुवृत्त्या सेवया । यैः धर्म्मैः । वस्तुत आत्मा आत्मप्रदश्चोपासकानाम् । यथा बलि प्रभृतीनाम् ।

भा० ११।३।२१ में उक्त है—"तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेयः उत्तमम् ।

(भा० ११।३।२१) "तस्माद्गुरुं प्रपद्येत" इति पूर्व्वोक्तेस्तत्र श्रवणगुरौ गुरुरेवात्मा जीवनं दैवतं निजेष्टदैवततयाभिमतश्च यस्य तथाभूतः सन् । अमायया निर्दम्भया, अनुवृत्त्या तदनुगत्या शिक्षेत् । यैर्धर्मैरात्मा परमात्मा, भक्तेभ्य आत्मप्रदः श्रीबलिप्रभृतिभ्य इव । अस्य शिक्षा-गुरोर्बहुत्वमपि प्राग्वज्ज्ञेयम् ॥ श्रीप्रबुद्धो निमिम् ॥

२०७ । मन्त्रगुरु स्त्वेक एवेत्याह, (भा० ११।३।४८) —

(२०७) "लब्धानुग्रह आचार्य्यात्तेन सन्दर्शितागमः ।
महापुरुषमभ्यर्च्चेन्मूर्त्त्याभिमतयात्मनः ॥"६१९॥

अनुग्रहो मन्त्रदीक्षारूपः, आगमो मन्त्रविधिशास्त्रम्, अस्यैकत्वमेकवचनेन बोध्यते ।

"बोधः कलुषितस्तेन दौरात्म्यं प्रकटीकृतम् । गुरुर्येन परित्यक्तस्तेन त्यक्तः पुरा हरिः ॥"६२०॥

शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम् ॥"

इस प्रकार लक्षण सम्पन्न शिक्षा गुरु के निकट से भागवत धर्म शिक्षा करे। शिक्षा ग्रहण करने की योग्यता का वर्णन करते हैं । श्रीगुरु ही एकमात्र प्रिय एवं परमाराध्य हैं, इस प्रकार बुद्धि सम्पन्न होकर निष्कपट भाव से श्रीगुरु सेवा करतः भागवत धर्म शिक्षा करे। जिस से श्रीभगवान् सन्तुष्ट होकर आत्मदान पर्य्यन्त करते हैं । अर्थात् उस भागवत धर्म की ही शिक्षा करे, जिस से अन्तर में एवं बाहर श्रीहरि की स्फूर्त्ति होती है ।

गुरु ही आत्मा--जीवन है जिस का—इस प्रकार बुद्धि सम्पन्न होकर एवं दैवत – निज इष्ट देव रूप में गुरु को अङ्गीकार करके ही धर्म शिक्षा करे। तथा— अमायया—दम्भ शून्य होकर— अर्थात् शरीर सम्बन्ध में अहं बुद्धि हीन होकर एवं अनुवृत्त्या--श्रीगुरुदेव के आनुगत्य से ही शिक्षा ग्रहण करे । जिस भागवत धर्माचरण से आत्मा, परमात्मा भक्त को आत्मदान करते हैं, जैसे श्रीबलि प्रभृति को आत्मदान किये थे । इस प्रकार गुरु का अनेकत्व को पूर्व प्रकरण के समान ही जानना होगा ।

श्रीप्रबुद्ध निमिमहाराज को कहे थे ॥२०६॥

२०७ । किन्तु मन्त्र प्रदाता गुरु एक ही होते हैं—मन्त्र गुरु का बहुत्व विधान नहीं है । अर्थात् मन्त्र गुरु अनेक नहीं होते हैं । एक ही होते हैं । भा० ११।३।४८ में उक्त है—

(२०७) "लब्धानुग्रह आचार्य्यात्तेन सन्दर्शितागमः ।
महापुरुषमभ्यर्च्चे मूर्त्त्याभिमतयात्मनः ॥"६१९॥

टीका—तमेव विधिमाह—लब्धानुग्रह इत्यादिना । तेन आचार्य्येण सन्दर्शितः, आगमोऽर्च्चन प्रकारो यस्य सः ॥"

श्रीगुरु देव के निकट से मन्त्र दीक्षा रूप अनुग्रह प्राप्तकर गुरुदेव कर्त्तृक प्रदर्शित आगमविधि शास्त्र के अनुसार अर्थात् जिस मन्त्र से जो दीक्षित है, उस मन्त्र में जिस प्रकार अर्च्चन विधि शास्त्र में वर्णित है, उस विधि के अनुसार अनन्त भगवदाविर्भाव के मध्य में जो अवतार साधक का अभिमत है, उस मूर्त्ति द्वारा श्रीभगवान् का अर्च्चन करे । यहाँ 'आचार्य्यात्' एक वचन प्रयोग होने के कारण मन्त्र गुरु का एकत्व विहित हुआ है । अनुग्रह शब्द से—मन्त्रदीक्षा को जानना होगा, आगम—शब्द से मन्त्र विधि शास्त्र को जानना होगा । तज्जन्य ब्रह्मवैवर्त्त प्रभृति में वर्णित है ।

इति ब्रह्मवैवर्त्तादौ तत्त्यागनिषेधात् । तदपरितोषेणैवान्यो गुरुः क्रियते । । ततोऽनेकगुरु-करणे पूर्वत्याग एव सिद्धिः । एतच्चापवादवचनद्वारापि श्रीनारदपञ्चरात्रे बोधितम्,—

"अवैष्णवोपदिष्टेन मन्त्रेण निरयं व्रजेत् । पुनश्च विधिना सम्यग् ग्राहयेद्वैष्णवाद्गुरोः ।।"६२१।। इति ।

श्रीमदाविर्होत्रो निमिम् ।।

२०८ । तत्र श्रवणगुरुसंसर्गेणैव शास्त्रीयज्ञानोत्पत्तिः स्यान्नान्यथेत्याह (भा० ११।१०।१२)

(२०८) "आचार्य्योऽरणिराद्यः स्यादन्तेवास्युत्तरारणिः ।
तत्सन्धानं प्रवचनं विद्या सन्धिः सुखावहः ।।"६२२।।

आद्योऽधरः, तत्सन्धानं तयोर्मध्यमं मन्थनकाष्ठम्, प्रवचनमुपदेशः, विद्या शास्त्रोक्तं ज्ञानन्तु सन्धौ भवोऽग्निरिव, तथा च श्रुतिः (तै० १।३।५)–"आचार्य्यः पूर्वरूपम्" इत्यादि, अतएव (मु० १।२।१२)–"तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्" इति, (छा० ६।१४।२) "आचार्य्यवान् पुरुषो वेद" इति, (कठ० १।२।६) "नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ" इति ।। श्रीभगवान् ।।

'बोधः कलुषितस्तेन दौरात्म्यं प्रकटीकृतम् ।
गुरुर्येन परित्यक्तस्तेन त्यक्तः पुरा हरिः ।।"६२०।।

जिस ने दौरात्म्य प्रकाश किया है, उस का बोध कलुषित हो गया है । जिस ने गुरु को परित्याग किया है, उसको श्रीहरि ने पहले ही परित्याग किया है । इस प्रमाणसे दीक्षा गुरु त्याग करना निषिद्ध है । श्रीगुरुचरण आश्रय करने के पश्चात् असन्तोष के कारण यदि अन्य गुरु करण होता है तो, सुतरां पूर्व गुरु त्याग ही हो जाता है । अपवाद वचन के द्वारा नारद पञ्चरात्रमें इस विषय को समझाया गया है ।

"अवैष्णवोपदिष्टेन मन्त्रेण निरयं व्रजेत् ।
पुनश्च विधिना सम्यग् ग्राहयेद्वैष्णवाद्गुरोः ।।" ६२१।।

प्रथम अवैष्णव गुरु के समीप से दीक्षा ग्रहण करने पर अनिवार्य्य नरक गमन होता है, अतएव विधि पूर्वक पुनर्वार वैष्णव गुरु के निकट दीक्षित होना आवश्यक है ।।

श्रीमदाविर्होत्र निमिमहाराज को कहे थे ।।२०७।।

२०८ । श्रवण गुरु, शिक्षा गुरु, एवं दीक्षा गुरु के मध्य में श्रवण गुरु के सन्निधान से ही शास्त्रीय ज्ञान लाभ होता है । अपर किसी प्रकार से शास्त्रीय ज्ञान अर्थात् शास्त्र विहित साध्य साधन प्रयोजन तत्त्व का ज्ञान लाभ नहीं होता है । भगवान् उद्धव को । भा० ११।१०।१२ में कहे हैं—

(२०८) "आचार्य्योऽरणिराद्यः स्यादन्तेवास्युत्तरारणिः ।
तत्सन्धानं प्रवचनं विद्या सन्धिः सुखावहः ।।"६२२।।

आचार्य्य—श्रवण गुरु, आद्य—निम्नस्थ काष्ठ, अन्तेवासी,--शिष्य- ऊपर का काष्ठ श्रीगुरु देव का उपदेश—मध्यम काष्ठ--अर्थात् मन्थन काष्ठ । उस से--शास्त्रीय ज्ञान, किन्तु "सन्धिभव अग्निस्थानीय है । श्रुति भी कहती है । "आचार्य्यः पूर्व रूपम्" अर्थात् आचार्य्य पूर्व काष्ठ हैं । अतएव श्रुति और भी कहती है- "तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्" पारमार्थिक तत्त्व वस्तु को जानने के निमित्त जिज्ञासु शिष्य गुरु चरण

२०९। शिक्षागुरोरप्यावश्यकत्वम हुः (भा० १०।८७।३३)—

(२०९) "विजितहृषीकवायुभिरदान्तमनस्तुरगं, य इह यतन्ति यन्तुमतिलोलमुपायखिदः।
व्यसनशतान्विताः समवहाय गुरोश्चरणं, वणिज इवाज सन्त्यकृतकर्णधरा जलधौ ॥६२३।

ये गुरोश्चरणं समवहायातिलोलुपमदान्तमदमितं मन एव तुरगं विजितैरिन्द्रियैः प्राणैश्च कृत्वा यन्तुं भगवदन्तर्मुखीकर्त्तुं प्रयतन्ते, ते उपायखिदस्तेषु तेषूपायेषु खिद्यन्ते, अतो व्यसन-शतान्विता भवन्ति, अतएव इह संसारे तिष्ठन्त्येव। हे अज! अकृतकर्णधरा अस्वीकृतनाविका जलधौ यथा तद्वत्। श्रीगुरुप्रदर्शित भगवद्भजनप्रकारेण भगवद्धर्मज्ञाने सति तत्कृपया व्यसनानभिभुतौ सत्यां शीघ्रमेव मनो निश्चलं भवतीति भावः। अतो ब्रह्मवैवर्त्ते—

"गुरुभक्त्या स मिलति स्मरणात् सेव्यते बुधैः। मिलितोऽपि न लभ्यते जीवैरहमिकापरैः॥"६२४॥

श्रुतिश्च (श्लो० ६।२३) —

आश्रय करे। श्रुति में और भी दृष्ट होता है। ":आचार्य्यवान् पुरुषोवेद"। जिस ने गुरु चरणाश्रय किया है, वही परम तत्त्व जानते हैं। श्रीगुरुचरणाश्रय न करने पर परतत्त्व का परिज्ञान नहीं होता है। कठोपनिषद् में लिखित है—

"नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ"

हे प्रिय! यह पारमार्थिक मति को तर्क के द्वारा प्राप्त नहीं कर सकते। अन्य--अर्थात् श्रवण गुरु के मुख से श्रवण करके ही सुन्दर ज्ञान लाभ किया जा सकता है। श्रीभगवान् कहे थे ॥२०८॥

२०९। शिक्षा गुरु का आश्रय ग्रहण करना अत्यावश्यक है। भा० १०।८७।३३ में श्रुतियों का कथन यह है— (२०९) "विजितहृषीकवायुभिरदान्तमनस्तुरगं, य इह यतन्ति यन्तुमतिलोलमुपायखिदः।
व्यसनशतान्विताः समवहाय गुरोश्चरणं, वणिज इवाज सन्त्यकृतकर्णधरा जलधौ।"६२३।

जो, श्रीगुरु चरण आश्रय ग्रहण न करके निज साधन रूप पुरुष कार के द्वारा अति लोलुप, अदान्त (अदमित) मनोरूप अश्वको विजित--इन्द्रिय एवं प्राण वायु द्वारा संयत करने में अर्थात् अन्तर्मुख करने में प्रयत्नवान् होते हैं। वे उपायों को अवलम्बन कर खेद प्राप्त करते हैं, अतएव उन सब का जीवन दुःखमय होता है। वे इस संसार में रह जाते हैं। कारण, मन को भगवदुन्मुख करने में अक्षम होने से संसार बन्धन से मुक्त होना भी असम्भव होता है। हे अज! कर्णधार विहीन तरी समुद्र में अवस्थित होने पर जिस प्रकार अवस्था प्राप्त होती है। श्रीगुरु चरण आश्रय विहीन साधक भी संसार सागर में निपतित होकर उस प्रकार विषय अवस्था को प्राप्त करता है। श्रीगुरु चरण द्वारा प्रदर्शित भगवद् भजन प्रकार से भगवद् धर्म ज्ञान होने पर भगवत् कृपा से दुःख समूह से अभिभूत न होकर आशु मनको संयत कर सकता है। अर्थात् गुरु--चरणाश्रय से शीघ्र मन निश्चल होता है। श्रुति कृत स्त्रोत्र का यही सारार्थ है। अतएव ब्रह्म वैवर्त्त में लिखित है—

"गुरुभक्त्या स मिलति स्मरणात् सेव्यते बुधैः।
मिलितोऽपि न लभ्यते जीवैरहमिकापरैः॥"६२४।

गुरु भक्ति द्वारा श्रीभगवान् की कथा का स्मरण होता है, एवं स्मरण से भगवान् को प्राप्त किया जा सकता है। विज्ञव्यक्तिगण श्रीगुरु चरण की ही सेवा करते रहते हैं। "मैं उत्तम जानता हूँ" इस प्रकार

"यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥" ६२५॥ इति । श्रुतयः ।

२१० । अतः श्रीमन्त्रगुरोरावश्यकत्वं सुतरामेव । तदेतत् परमार्थगुर्वाश्रयो व्यवहारिक-गुर्वादिपरित्यागेनापि कर्त्तव्य इत्याशयेनाह, (भा० ५।५।१८)—

(२१०) "गुरुर्न स स्यात् स्वजनो न स स्यात्, पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात् ।
दैवं न तत् स्यान्न पतिश्च स स्यात्, न मोचयेद्यः समुपेतमृत्युम् ॥" ६२६॥

समुपेतः संप्राप्तो मृत्युः संसारो येन तम्, अत उक्तं श्रीनारदेन, (भा० १।५।१५)—"जुगुप्सितं धर्मकृतेऽनुशासतः, स्वभावरक्तस्य महान् व्यतिक्रमः" इत्यादि । तस्मात् तावदेव तेषां गुर्वादि-व्यवहारो यावन्मृत्युमोचकं श्रीगुरुचरणं नाश्रयत इत्यर्थः ॥ श्रीऋषभदेवः स्वपुत्रान् ॥

अहङ्कारी जीव भगवान् को प्राप्त करने में अक्षम हैं । श्रुति भी कहती है ।

"यस्य देवे पराभक्ति र्यथादेवेतथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥"२३५॥

जिस की परा भक्ति परमेश्वर में है, एवं उस प्रकार पराभक्ति श्रीगुरु देव में भी है, उस के हृदय में ही शास्त्र कथित श्रीभगवत् सम्बन्धी साध्यसाधन पुरुषार्थ तत्त्व समूह स्फुरित होते हैं । जिस की भक्ति, श्रीगुरु चरणों में नहीं है, उस के हृदय में शास्त्र कथित तत्त्व समूह प्रकाशित नहीं होते हैं ।

श्रुतिगण कही थीं ॥२०९॥

२१० । यदि श्रवणगुरु एवं भजन शिक्षा गुरुके पदाश्रय करना एकान्त कर्त्तव्य है, तब श्रीमन्त्र गुरु के श्रीचरणाश्रय करना जो अवश्य कर्त्तव्य है, इस विषय में संशयका अवकाश ही क्या है ? अतएव व्यवहारिक गुरु को परित्याग करके पारमार्थिक श्रीगुरुचरणाश्रय करना अवश्य कर्त्तव्य है—इस अभिप्राय को व्यक्त कर रहे हैं—भा० ५।५।१८ श्लोक के द्वारा ।

(२१०) " गुरुर्न स स्यात् स्वजनो न स स्यात्, पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात् ।
दैवं न तत् स्यान्न पतिश्च स स्यात्, न मोचयेद्यः समुपेतमृत्युम् ॥"६२६॥

टीका—समुपेतः सम्प्राप्तो मृत्युः संसारो येन तं, ततोभक्ति मार्गोपदेशेन यो न मोचयेत् । स गुर्वादि र्न भवेदित्यर्थः । यद्वा यस्तं मोचयितुं न शक्नुयात्, स तस्य गुर्वादि र्न स्यादिति निषेधः । ततश्च पिता न स स्यादिति पुत्रोत्पत्तौ यत्न न कार्य्य इत्यर्थः । दैवं देवता नस्यादिति पूजा न ग्राह्या इत्यर्थः । एव मन्यदपिद्रष्टव्यम् ।

जो संसार दशा प्राप्त व्यक्तिको संसार बन्धन से मुक्त करने में सक्षम नहीं है,वह कभी भी गुरु नहीं हो सकता है, एवं स्व जन भी, वह पिता भी पिता नहीं है, जननी भी जननी पद वाच्य नहीं है, देवता भी देवता नहीं है, पति भी पति नहीं है । अतएव श्रीनारद ने भी भा० १।५।१५ में व्यास को कहा है ।

'जुगुप्सितं धर्मकृतेऽनुशासतः, स्वभावरक्तस्य महान् व्यतिक्रमः ।
यद्वाक्यतो धर्म इतीतरः स्थितो न मन्यते तस्य निवारणं जनः ।"

स्वभावतः ही काम्यकर्म में अनुरक्त मानव को काम्य कर्मानुष्ठान हेतु अनुशासन करना आप के पक्ष में निन्दनीय है । कारण, आप भगवत्तत्त्वाभिज्ञ हैं, आप के पक्ष में यह आचरण अतीव निन्दनीय है, अतएव

२११। अन्यदा स्वगुरौ कर्मिभिरपि भगवद्दृष्टिः कर्त्तव्येत्याह, (भा० ११।१७।२७)—

(२११) "आचार्य्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित् ।
न मर्त्यबुद्धयासूयेत सर्वदेवमयो गुरुः ॥"६२७॥

ब्रह्मचारिधर्मान्तः पठितमिदम् ॥ श्रीभगवान् ॥

२१२। ततः सुतरामेव परमार्थिभिस्तादृशे गुराविद्याह, (भा० १।१५।२६-२७)—

(२१२) "यस्य साक्षाद्भगवति ज्ञानदीपप्रदे गुरौ ।
मर्त्यासद्धीः श्रुतं तस्य सर्वं कुञ्जरशौचवत् ॥"६२८॥
"एष वै भगवान् साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वरः ।
योगेश्वरैर्विमृग्याङ्घ्रिर्लोकोऽयं मन्यते नरम् ॥"६२९॥

पिता प्रभृति के सहित तब तक ही गुर्वादि व्यवहार करना कर्त्तव्य है, जब तक संसार बन्धन मोचक श्रीगुरु चरण आश्रय नहीं होता है।

श्रीऋषभदेव—निज पुत्र वृन्द को कहे थे ॥२१०॥

२११। अन्य प्रकार से अर्थात् निज उद्देश्य सिद्धि हेतु काम्य कर्म परायण व्यक्ति को निज गुरु में भगवद् दृष्टि करना चाहिये। इस अभिप्राय को व्यक्त करते हुये भगवान् श्रीकृष्ण—उद्धव को भा० ११।१७। २७ में कहे हैं—

(२११) "आचार्य्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित् ।
न मर्त्यबुद्धयासूयेत सर्वदेवमयो गुरुः ॥" ६२७॥

मुझ को ही, आचार्य्य गुरु जानना चाहिये। कभी भी उनको अवमानन न करे। मनुष्य दृष्टि से उन के प्रति असूया, अर्थात् दोषारोपण भी न करे। गुरु सर्व देवता स्वरूप हैं। अभिप्राय यह है कि-श्रीभगवान् जीव शिक्षा हेतु मनुष्याकार में मनुष्य समाज में अवस्थित होकर पारमार्थिक तत्त्वोपदेश प्रदान कर स्वयं आचरण करके आचरण शिक्षा प्रदान करते हैं। अतएव मनुष्यवत् दृष्ट होने पर भी मनुष्य बुद्धि से अवज्ञा करने से नरक पात अवश्यम्भावी है। यह श्लोक ब्रह्मचारि धर्मवर्णन प्रसङ्ग में उक्त होने के कारण, काम्य कर्म परायण व्यक्ति गण के पक्ष में पारमार्थिक तत्त्वोपदेष्टा श्रीगुरु चरण के भगवद् दृष्टि करना कर्त्तव्य है।

श्रीभगवान् कहे थे ॥२११॥

२१२। अतएव पारमार्थिक गुरु के प्रति भगवद् बुद्धि करना परम कर्त्तव्य है—भा० १।१५।२६-२७ में श्रीनारद युधिष्ठिर को कहे थे—

(२१२) 'यस्य साक्षाद्भगवति ज्ञानदीपप्रदे गुरौ ।
मर्त्यासद्धीः श्रुतं तस्य सर्वं कुञ्जरशौचवत् ॥"६२८॥
"एष वै भगवान् साक्षात् प्रधान पुरुषेश्वरः ।
योगेश्वरैर्विमृग्याङ्घ्रिर्लोकोऽयं मन्यते नरम् ॥"६२९॥

टीका—ननु कथं गुरौ भक्त्या सत्त्वस्य जयः स्यात्, तस्यापि मनुष्यत्वेन तदवस्थत्वात्। तत्राह यस्येति। मर्त्यासद्धीः, मनुष्य इति दुर्बुद्धिः। तस्य शास्त्र श्रवणं कुञ्जर शौचवत् व्यर्थम् ।२६। ननु गुरोः पितृ पुत्रादयस्ते तं नरमेव मन्यन्ते। अत आह। एष गुरुः साक्षात् भगवानेव भवेत्, लोकस्य नरोऽसाविति

एष श्रीकृष्णलक्षणोऽपि, ततः प्राकृतदृष्टिर्न भगवत्तत्त्वग्रहणे प्रमाणमिति भावः ॥ श्रीनारदो युधिष्ठिरम् ॥

२१३। शुद्धभक्तास्त्वेके श्रीगुरोः श्रीशिवस्य च श्रीभगवता सहाभेददृष्टिं तत्प्रियतमत्वेनैव मन्यन्ते, यथा (भा० ४।३०।३८) –

(२१३) "वयन्तु साक्षाद्भगवन् भवस्य, प्रियस्य सख्युः क्षणसङ्गमेन ।

बुद्धि भ्रान्तिरित्यर्थः। यद्वा नहि तत् पुत्रादेर्मनुष्यबुद्धचा प्रतीयमानोऽपि गुरुर्भगवान् न भवेत्। यथैव श्रीकृष्ण इत्यर्थः ॥२७॥

साक्षात् भगवान् ज्ञान दीपप्रद श्रीगुरुदेव में जिस की मनुष्य रूप दुर्बुद्धि है, उस के शास्त्र श्रवण प्रभृति अनुष्ठान हस्तिस्नान के समान व्यर्थ होते हैं। यह श्रीगुरु देव साक्षात् भगवान् ही हैं। अर्थात् श्रीभगवान् ही श्रीगुरु रूप में आविर्भूत होकर जीव को श्रीभगवद् भजन तत्त्वोपदेश प्रदान करते हैं। उन श्रीगुरुदेव में मनुष्य बुद्धि—भ्रान्ति प्रसूत है। साक्षात् प्रकृति पुरुष नियन्ता श्रीभगवान् ही जीव वृन्द को सत् शिक्षा प्रदान हेतु आविर्भूत होते हैं। योगेश्वरगण, जिन के चरणारविन्द का अन्वेषण करते रहते हैं। उन श्रीगुरु देव को मायामुग्ध मानव, साधारण मनुष्य मानता है। इस से प्रतिपन्न हुआ है कि—सत् शिक्षा प्रदान करना श्रीभगवान् का ही कार्य्य है अतः साक्षात् भगवान् शिक्षावतार श्रीगुरु रूप में मनुष्य रूप में अवस्थान करते रहते हैं। अतएव भगवत्तत्त्व के प्रति प्राकृत दृष्टि करना कर्त्तव्य नहीं है।

श्रीनारद युधिष्ठिर को कहे थे ॥२१२॥

२१३। शुद्ध भक्त वृन्द किन्तु श्रीगुरु एवं श्रीशिव की श्रीभगवान् के सहित अभिन्नता को भगवत प्रियतम दृष्टि से मानते हैं। अर्थात् शास्त्र से श्रीगुरु देव के सहित श्रीभगवान् की जो अभिन्नता का वर्णन है, एवं श्रीशिव के सहित श्रीभगवान् की जो अभिन्नता वर्णित है, अर्थात् अभेद दृष्टि करने की जो विधि है—उस विषय में शुद्ध भक्त गण-श्रीगुरु एवं श्रीशिव श्रीभगवान् के अत्यन्त प्रिय हैं, अतः अभेद भावना करते हैं। वस्तुत अभेद नहीं है। इस प्रकार भगवत् प्रियतम रूप से अभेद मान कर उपासना रत व्यक्ति अति विरल है, तज्जन्य ही मूल में 'एके' शब्द का प्रयोग किया गया है। श्रीधर स्वामिपाद ने भा० १०।२।३९ "त्वय्यम्बुजाक्षामलसत्त्वधाम्नि समाधिनावेशितचेतसैके ॥"

श्लोक की टीका में लिखा है—"एके मुख्या विवेकिनः ॥"

अतएव ज्ञातव्य यह है कि - तत्त्वतः श्रीगुरु एवं भगवान् अभिन्न होने पर भी सम्बन्ध में श्रीभगवान् एवं श्रीगुरु देव में सेव्य सेवक भाव है। श्रीभगवान् एवं श्रीगुरु देव में सेव्य सेवक भाव सम्बन्ध मानकर जो उपासना करते हैं, उन सब को शुद्ध भक्त कहते हैं, केवल तत्त्व दृष्टि से जो लोक अभेद भावना द्वारा उपासना करते हैं, उनके पक्ष में सम्बन्धानुगा रागानुभक्ति में यह अनुष्ठान सर्वथा प्रतिकूल पड़ता है। अतएव गुरु एवं भगवान् में शिव एवं भगवान् में अभेद दृष्टि करने के निमित्त यद्यपि शास्त्र का उपदेश है—तथापि श्रीगुरु एवं शिव को श्रीभगवान् के प्रिय बुद्धि से देखना एवं तदुचित पूजनादि सम्मान करना ही शुद्ध भक्त वृन्द का अभिमत है।

अर्थात् श्रीगुरुदेव तत्त्वतः श्रीभगवान् होने पर भी श्रीभगवत् प्रिय रूप में ही श्रीगुरुदेव एवं श्रीशिव शुद्ध भक्त गण के पक्ष में उपास्य हैं।

विशुद्ध भक्त गण, श्रीशिव को एवं श्रीगुरुदेव को श्रीभगवान् के सहित प्रियतमत्व रूप से ही जो अभेद दृष्टि से देखते हैं—इसका प्रमाण भा० ४।३०।३८ में लिखित है—

सुदुश्चिकित्स्यस्य भवस्य मृत्यो,-र्भिषक्तमं त्वाद्य गतिं गताः स्मः ॥"६३०॥

टीका च—"तव यः प्रियः सखा तस्य भवस्य, अत्यन्तमचिकित्स्यस्य भवस्य जन्मनो मृत्योश्च भिषक्तमं सद्वैद्यं त्वां गतिं प्राप्ताः" इत्येषा। श्रीशिवो ह्येषां वक्तॄणां गुरुः॥ श्रीप्रचेतसः श्रीमदष्टभुजं पुरुषम्॥

२१४। तदेवं रुच्यादिः श्रीगुर्वाश्रयान्तः उपासनापूर्वाङ्गरूपः साम्मुख्यभेदो बहुविधो दर्शितः। अथ साक्षादुपासनालक्षणस्तद्भेदोऽपि बहुविधो दर्श्यते। तत्र साम्मुख्यं द्विविधम्--निर्विशेषमयं सविशेषमयञ्च। तत्र पूर्वं ज्ञानम्, उत्तरन्तु द्विविधम्—अहंग्रहोपासनारूपं भक्ति-

---

(११३) "वयन्तु साक्षाद्भगवन् भवस्य, प्रियस्य सख्युः क्षणसङ्गमेन।
सुदुश्चिकित्स्यस्य भवस्य मृत्यो,-र्भिषक्तमं त्वाद्यग तिं गताः स्मः॥"६३०॥

टीका—सत्सङ्ग फलमस्माभिरेवानुभूतमित्याहुः वयन्त्विति। तव यः प्रियः सखा, तस्य भवस्य। अत्यन्तमचिकित्स्यस्य भवस्य जन्मनो मृत्योश्च भिषक्तमं सद्वैद्यं त्वां गतिं प्राप्ताः।

क्रमसन्दर्भ—शुद्ध भक्तास्त्वेके प्रचेतोमार्कण्डेयादयः। श्रीगुरोः श्रीशिवस्य च श्रीभगवता सहाभेद दृष्टि तत् प्रियतमत्वेनैव मन्यन्ते। तत्र न वयं भीतत्वेन सत्सङ्गं प्रार्थयामहे, किन्तु परमपुरुषार्थ बुद्धचैव, क्षणिकेनैव सच्छिरोमणि सङ्गलाभेन सर्वाभयापवर्गस्य तव लब्धत्वादित्याह--वयन्त्विति। तु शब्दोऽन्यतो वैशिष्ट्य द्योतनाय। प्रियस्य सख्युरिति गुर्वीश्वरयोर्भवेश्वरयोश्चाभेदोपदेशोऽपीत्थमेव तैः शुद्धभक्तै मंतम्। श्रीशिवोह्येषां वक्तॄणां गुरुः॥

विशुद्ध भक्त गण श्रीशिव को एवं श्रीगुरुदेव को श्रीभगवान् के सहित प्रियतमत्व रूप में ही देखते हैं, उस का प्रमाण निबन्धन यह श्लोक उट्टङ्कित हुआ। अष्टभुज पुरुष को लक्ष्य करके प्रचेतागण कहे थे—हे प्रभो! हम सब आप के प्रियसखा जो महादेव हैं, उनके क्षण काल सङ्ग प्रभाव से,-जो भवरोग अत्यन्त दुश्चिकित्स्य है, उस संसार का साक्षात् भिषक् तम—अर्थात् सद् वैद्य स्वरूप आप को प्राप्त करने में सक्षम हुए हैं। यावत् काल पर्य्यन्त जीव, आप को प्राप्त नहीं करता है, तावत् काल पर्य्यन्त इस विषम संसार व्याधि से वह किसी भी उपाय से मुक्त नहीं हो सकता है, आप भी इस प्रकार सद् वैद्य हैं- आप का दर्शन मात्र से ही संसार व्याधि स्वयं हि निवृत्त हो जाती है। आप को भी आप के प्रिय जन सङ्ग व्यतीत किसी भी उपाय प्राप्त नहीं किया जा सकता है। प्रस्तुत श्लोक में "वयन्तु" 'तु' शब्द का प्रयोग होने के कारण, अन्य सब प्रकाश से वैशिष्ट्य प्रकाश हेतु श्लोकोक्त "प्रियस्य सख्युरिति" प्रिय सखा का, इस प्रकार प्रयोग किया गया है। शिव एवं भगवान् में, गुरु एवं भगवान् में यद्यपि अभेद मनन शास्त्र विहित है। तथापि, श्रीशिव एवं गुरुदेव को श्रीभगवान् के प्रिय मानना ही प्रसिद्ध शुद्ध भक्त वृन्द का अभिमत है। शिव, प्रचेता गण के गुरु हैं, इस श्लोक में उसका उल्लेख हुआ है। वह श्रीगुरु भी श्रीभगवान् के सखा हैं, इसका उल्लेख वक्ता प्रचेतागण की उक्ति में सुस्पष्ट रूप से हुआ है।

श्रीप्रचेतागण श्रीमदष्टभुज पुरुषो को कहे थे ॥२१३॥

२१४। उक्त रीति से भक्ति अङ्ग के प्रथम सोपान—भक्तघङ्ग में रुचि से आरम्भ करके श्रीगुरु-चरणाश्रय पर्य्यन्त उपासना के पूर्वाङ्ग रूप बहु प्रकार भगवत् साम्मुख्य भेद प्रदर्शित हुये हैं। सम्प्रति साक्षात् उपासनारूप साम्मुख्य के जो विविध भेद हैं, उस का प्रदर्शन किया जा रहा है। उस के मध्य में भगवत् साम्मुख्य, आपाततः द्विविध हैं, एक निर्विशेषमय द्वितीय सविशेषमय। उस के मध्य में अभेद

रूपञ्च । अथ ज्ञानस्य लक्षणम् (भा० ११।१९।२७)—

(२१४) "ज्ञानञ्चैकात्म्यदर्शनम्" इति ।

अभेदोपासनं ज्ञानमित्यर्थः ।। श्रीभगवान् ।।

२१५ । तत्साधनप्रकारश्चैवं बहुविधस्तत्र तत्रोक्तः । स च ज्ञानमेवोच्यते । तत्र श्रवणं श्रीपृथुसनत्कुमार-संवादादौ द्रष्टव्यम् । तदनुसारेण मननञ्च ज्ञेयम् । प्रथमतः श्रोतॄणां हि विवेकस्तावानेव, यावता जड़ातिरिक्तं चिन्मात्रं वस्तूपस्थितं भवति । तस्मिंश्चिन्मात्रेऽपि वस्तुनि ये विशेषाः स्वरूपभूतशक्तिसिद्धा भगवत्तादिरूपा वर्त्तन्ते, तांस्ते विवेक्तुं न क्षमन्ते, यथा रजनीखण्डिनि ज्योतिषि ज्योतिर्मात्रत्वेऽपि ये मण्डलान्तर्बहिश्च दिव्यविमानादि-परस्पर-

---

भावनात्मक ज्ञान को निर्विशेषमय साम्मुख्य है । द्वितीय सविशेषमय साम्मुख्य द्विविध हैं— एक अहंग्रहोपासनारूप, अपर भक्ति रूप । ज्ञान साधन का लक्षण, भा० ११।१९।२७ में उक्त है—

(२१४) "धर्म्मो मद् भक्ति कृत्प्रोक्तो ज्ञानञ्चैकात्म्यदर्शनम् ।
गुणेष्वसङ्गो वैराग्यमैश्वर्य्यञ्चाणिमादयः ॥"

टीका—स्वाभिप्रेतान् धर्मादीन् व्याचष्टे धर्मोमद्भक्तिकृत् । यतः स एव प्रोक्तः, प्रकृष्ट उक्त शास्त्रेषु ।

क्रमसन्दर्भ—अथ भक्ति सङ्गाद् धर्मस्य वैशिष्ट्यं चोक्तम् । धर्म इति भगवदर्पणेन भक्ति परिकरी कृतत्वेन च भक्तित्वमुच्यते । यद्वा, मद्भक्ति कृदेवधर्मः प्रकर्षेणोक्तो नान्यः, ततः स एव मुख्य वृत्या धर्म शब्देन वाच्य इत्यर्थः । एवमेवभक्तावपि धर्मशब्दः (२४ श्लोक) 'एवं धर्म्मैः'' इतीति भावः । ऐकात्म्यं सर्वेषां परम स्वरूप मद्रूपेणैकरूपत्वम् । अभेदोपासनं ज्ञानमित्यर्थः । यद्वा, एक एव सर्वेषामात्मा योऽहं स्वयं भगवान्, स एकात्मा, स्वार्थेष्यञ्— ऐकात्म्यम् । तद् दर्शनमेव ज्ञानं प्रोक्तमिति पूर्ववत् ।

मुझ में भक्ति करने का नाम प्रकृष्ट धर्म है, यही शास्त्र में घोषित है । अभेद उपासना को ज्ञान कहते हैं । श्रीभगवान् कहे थे ।।२१४।।

२१५। उस ज्ञान साधन के विविध प्रकार का उल्लेख श्रीमद् भागवत के स्थान स्थान में हैं। उन सब प्रकार को ज्ञान नाम से उल्लेख किया जाता है । उस ज्ञानादि श्रवण एवं ज्ञानादि साधन का प्रकार-- श्रीपृथु सनत् कुमार संवाद प्रभृति में द्रष्टव्य है । एवं श्रवण के प्रकारानुसार प्रथमतः ज्ञान साधक श्रोतावृन्द को उतना विवेक का प्रयोजन है, जिस से चित्त में जड़ातिरिक्त चैतन्य मात्र वस्तु ही उपस्थित हो, वह वस्तु, यद्यपि जड़ सम्बन्ध रहित केवल चैतन्य स्वरूप है, तथापि उस में स्वरूप भूत शक्ति सिद्ध भगवत्ता प्रभृति रूप जो विशेष हैं, अभेद उपासक ज्ञानी साधक उस को अवगत होने में अक्षम है । जिस प्रकार रजनी गत दोष खण्डन कारी ज्योतिः स्वरूप सूर्य्य, केवल ज्योतिर्म्मय होने से भी उस मण्डल के भीतर एवं बाहर अलौकिक सप्ताश्वरथ प्रभृति एवं परस्पर पृथकीभूत रश्मि एवं रश्मि परमाणु रूप विशेष है । किन्तु नेत्र यह सब ग्रहण करने में असमर्थ है । किन्तु देववृन्द सकल विशेष को ही ग्रहण कर सकते हैं । उस प्रकार केवल चैतन्य स्वरूप वस्तु में भी स्वरूप भूत जो सब विशेष हैं, निर्भेद अनुसन्धानात्मक ज्ञान साधन के द्वारा यह सब विशेष गृहीत नहीं होते हैं । अतएव ज्ञानिगण, स्वरूपगत अनन्त धर्मविद्यमान होने पर भी ज्ञान नेत्र के द्वारा उसको ग्रहण करने में अक्षम हैं । अतः निर्विशेष चिन्मात्र स्वरूप का ही अनुभव करते हैं । भक्त गण, भक्ति नेत्र के द्वारा वह सब ऐश्वर्य्य माधुर्य्य प्रभृति स्वरूपगत अनन्त धर्म ग्रहण कर

पृथग्भूत-रश्मिपरमाणुरूपा विशेषास्तांश्चर्म-चक्षुषो न क्षमन्त इत्यन्वयः, तद्वत् । पूर्ववच्च यदि महत्कृपाविशेषेण दिव्यदृष्टिता भवति, तदा विशेषोपलब्धिश्च भवेत्, न चेन्निर्विशेष-चिन्मात्रब्रह्मानुभवेन तल्लीन एव भवति । तथैव निदिध्यासनमपि तेषाम्, तद्यथा (भा० २।२।१५-१६)

(२१५) "स्थिरं सुखञ्च सनमास्थितो यति,-र्यदा जिहासुरिममङ्ग लोकम् ।
काले च देशे च मनो न सज्जयेत्, प्राणान् नियच्छेन्मनसा जितासुः ॥६३१॥
मनः स्वबुद्ध्यामलया नियम्य, क्षेत्रज्ञ एतां निलयेत्तमात्मनि ।
आत्मानमात्मन्यवरुध्य धीरो, लब्धोपशान्तिर्विरमेत कृत्यात् ॥६३२॥

एतां बुद्धिं क्षेत्रज्ञे बुद्ध्यादिद्रष्टरि निलयेत् प्रविलापयेत् । तञ्च क्षेत्रज्ञं स्वरूपभूतया बुद्ध्या आत्मनि तद्द्रष्टृत्वादि-रहिते शुद्धे जीवे । तञ्च शुद्धमात्मानमात्मनि ब्रह्मणि, अवरुध्य

एक अनिर्वचनीय आनन्दोच्छ्वास से मत्त हो जाते हैं । वह सब ज्ञान साधक वृन्द भी यदि महत् कृपा भाव मयी दृष्टि प्राप्त करें तो वे भी स्वरूपगत विशेष की उपलब्धि कर सकते हैं । यदि महत् कृपा लाभ न हो तो निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्मानुभव में अर्थात् ब्रह्म स्वरूप में ही लीन होकर रहते हैं । ज्ञानि वृन्द की निदिध्यासन रूप उपासना का वर्णन भा० २।२।१५-१६ इस प्रकार है—

(२१५) "स्थिरं सुखञ्चासनमास्थितो यति,--र्यदा जिहासुरिममङ्ग लोकम् ।
काले च देशे च मनो न सज्जयेत्, प्राणान् नियच्छेन्मनसा जितासुः ॥६३१॥
मनः स्वबुद्ध्यामलया नियम्य, क्षेत्रज्ञ एतां निलयेत्तमात्मनि ।
आत्मानमात्मन्यवरुध्य धीरो, लब्धोपशान्तिर्विरमेत कृत्यात् ॥"६३२॥

टीका—एवं तावदासन्न मृत्योः पुंसः कृत्यमुक्तम् । इदानीं तस्यैव स्वयं देहं त्यक्तु मिच्छनः कृत्यमाह-स्थिरमिति सार्द्धश्चतुर्भिः । अङ्ग ! हे राजन् ! एवम्भूतो यति र्यदा इमं लोकं देहं जिज्ञासुः हातु मिच्छति, तदा देशे पुण्य क्षेत्रे, काले च उत्तरायणादौ, मनो न सज्जयेत् न प्रापयेत् । न देश कालौ योगिनः सिद्धि हेतुः किन्तु योग एवेति, दृढ़निश्चयो भूत्वा स्थिरं सुखकरञ्चासनमास्थितः प्राणान् नियच्छेदित्यर्थः (१५) तद् गृहीत विषयं मनोबुध्या निश्चयरूपया नियम्य तन्मात्रं कृत्वा, एतां बुद्धिं क्षेत्रज्ञे बुद्ध्यादि द्रष्टरि निलयेत् प्रविलापयेत् । तञ्च क्षेत्रज्ञम्, आत्मनि शुद्धे । तञ्च शुद्धमात्मानम्, आत्मैवाहमिति आत्मनि ब्रह्मणि अवरुध्य एकी कृत्य, लब्धोपशान्तिः प्राप्त निवृत्तिः सन् कृत्याद् विरमेत् । ततः परं प्राप्याभावात् ॥१६॥

सम्प्राप्त आसन्न मृत्यु मानव यदि देहत्याग करने के इच्छुक होता है, तो उस के पक्ष में कर्त्तव्य क्या है— उसको कहते हैं—हे राजन् ! पूर्व वर्णित लक्षणाक्रान्त योगी यदि यह शरीर त्याग करने के इच्छुक होता है, तो, पुण्य क्षेत्र एवं उत्तरायण प्रभृति काल में आसक्ति न रखे । कारण, देश वा काल योगी के पक्ष में सिद्धि लाभ का हेतु नहीं है । किन्तु योग ही सिद्धि लाभ का हेतु है । इस प्रकार दृढ़ निश्चय होकर स्थिर एवं सुखकर आसन में अवस्थान करतः प्राण संयम करे । तत् पश्चात् अमला निज बुद्धि के द्वारा मन को संयत रखकर इस अमला बुद्धि को बुद्धि प्रभृति के द्रष्टा क्षेत्रज्ञ विलीन करे । इस क्षेत्रज्ञ को स्वरूप भूत बुद्धि द्वारा "बुद्ध्यादि द्रष्टृत्व प्रभृति धर्म रहित शुद्ध जीव में लीन करे । उस शुद्ध आत्मा को भी ब्रह्म स्वरूप में अवरुद्ध करे । अवरोध शब्द का अर्थ है— ब्रह्म के सहित शुद्ध जीवात्मा को

तदेकत्वेन विचिन्त्य, लब्धोपशान्तिः प्राप्तनिर्वृतिः सन् कृत्याद्विरमेत्,-तस्य ततः परं प्राप्याभावात् ।। श्रीशुकः ।।

२१६। तदेवं ज्ञानमुक्तम् । इदमेव (गी० ८।३) "स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते" इत्यनेन श्रीगीतासूक्तम् । स्वस्य शुद्धस्यात्मनो भावो भावना, आत्मन्यधिकृत्य वर्त्तमानत्वादध्यात्म-शब्देनोच्यत इत्यर्थः । अथाहंग्रहोपासनम्-तच्छक्ति विशिष्ट ईश्वर एवाहमिति चिन्तनम् । अस्य फलं स्वस्मिंस्तच्छक्त्याद्याविर्भावः । यथा विष्णु-पुराणे नागपाशादि-यन्त्रितः श्रीप्रह्लादस्तादृशमात्मानं स्मरन् नागपाशादिकमुत्सारितवान् । अत्रान्तिमफलञ्च कीटपेशस्कृन्न्यायेन सारूप्य-साष्टर्चादिकञ्च ज्ञेयम् ।

अथ भक्तिः, तस्यास्तटस्थलक्षणं स्वरूपलक्षणञ्च, यथा गरुड़पुराणे,--

"विष्णुभक्तिं प्रवक्ष्यामि यया सर्वमवाप्यते । यथा भक्त्या हरिस्तुष्येत्तथा नान्येन केनचित् ।।"६३३।।

अभेद रूप में भावना करना । अनन्तर निवृति लाभ करके साधन कृत्य से विरत होना चाहिये । कारण, उस ज्ञानी का निर्विशेष ब्रह्म स्वरूप अनुभव के पश्चात् अधिक कुछ प्राप्य नहीं रह जाता है । अभेदानु-सन्धानात्मक ज्ञान साधक की ऐकात्म्य दृष्टि पर्य्यन्त ही चरम फल है ।

प्रकरण प्रवक्ता श्रीशुक हैं—।।२१५।।

२१६। उस रीति से ज्ञान मार्ग वर्णित हुआ । गीता शास्त्र में (८।३) "स्वाभावोऽध्यात्ममुच्यते" उक्त रीति से ज्ञान को ही अध्यात्म कहा गया है । स्वभाव एवं अध्यात्म शब्द का तात्पर्य्य यह है--"स्वस्य शुद्धस्य आत्मनो भावो भावना इति स्वभावः" स्व शब्द का अर्थ शुद्ध आत्मा, भाव शब्द का अर्थ--भावना, अर्थात् शुद्ध त्वं पदार्थ जीवस्वरूप की जो भावना, उसका नाम-- स्वभाव है । अध्यात्म—आत्मानमधिकृत्य वर्त्तमानत्वात् अध्यात्मं, अर्थात् आत्मा को अधिकार करके जो होता है, उस का नाम अध्यात्म है । अनन्तर अहंग्रह उपासना का वर्णन करते हैं—

"तच्छक्ति विशिष्ट ईश्वर एवाहं, इति चिन्तनं" अर्थात् शक्ति विशिष्ट ईश्वर ही मैं हूँ—इस प्रकार चिन्ता का नाम ही अहं ग्रह उपासना है । इस प्रकार चिन्ता से चिन्तन कारी में ईश्वरीय शक्ति विशेष का आविर्भाव होता है ।

जिस प्रकार विष्णु पुराण में लिखित है—नागपाशादि के द्वारा आबद्ध श्रीप्रह्लाद—"विभुता प्रभृति शक्ति विशिष्ट ईश्वर ही मैं हूँ" इस प्रकार स्मरण करते करते नागपाशादि बन्धन विमोचन किये थे । अर्थात् प्रह्लाद में इस प्रकार शक्ति का आविर्भाव हुआ था कि जिस से नागपाशादि के द्वारा प्रह्लाद को बन्धन करने में कोई भी समर्थ नहीं हुए । इस प्रकार अहंग्रह उपासना का अन्तिम फल यह है कि---कीट के गह्वर में आनीत कीट जिस प्रकार संरम्भ भय से भीत होकर भयद कीट के स्वरूप को प्राप्त कर लेता है, अर्थात् भयदाता कीट में मिलित न होकर अपन को भयद कीट के स्वरूप में रूपायित कर लेता है, उस प्रकार अहंग्रह उपासना में "विविध शक्ति विशिष्ट मैं ही ईश्वर हूँ" इस प्रकार भावना करते करते ईश्वर के समान रूप का ऐश्वर्य्य लाभकर मुक्त हो जाता है । अर्थात् सारूप्य ईश्वर के समान रूप---अथवा समान ऐश्वर्य्य प्राप्ति रूप मुक्ति को प्राप्त कर लेता है, उक्त भक्ति के स्वरूप लक्षण एवं तटस्थ लक्षण का वर्णन गरुड़ पुरण में जिस प्रकार लिखित है उसका उट्टङ्कन करते हैं—

"विष्णुभक्तिं प्रवक्ष्यामि यया सर्वमवाप्यते ।

इत्युक्त्वाह -

"भज इत्येष वै धातुः सेवायां परिकीर्त्तितः।
तस्मात् सेवा बुधैः प्रोक्ता भक्तिः साधनभूयसी ॥"६३४॥ इति ।

अत्र 'यया सर्वमवाप्यते' इति तटस्थलक्षणम् । तत्र च (भा० २।३।१०)—"अकामः सर्वकामो वा" इत्यादि-सिद्धत्वादव्याप्त्यभावः,यथा भक्त्येत्याद्युक्तत्वादहंग्रहोपासनायामतिव्याप्त्यभावः बुद्धैः प्रोक्तत्वादसम्भवाभावश्च । सेवा-शब्देन स्वरूपलक्षणम्, सा च कायिक-वाचिक-मानसात्मिका त्रिविधैवानुगतिरुच्यते । अतएव भयद्वेषादीनामहंग्रहोपासनायाश्च व्यावृत्तिः ।

यथा भक्त्या हरिस्तुष्येत्तथा नान्येन केनचित् ॥"६३३॥

में उस विष्णु भक्ति का वृत्तान्त कहूँगा, जिस भक्ति के द्वारा सब कुछ प्राप्त कर सकते हैं। भक्ति द्वारा श्रीहरि, जिस प्रकार सन्तुष्ट होते हैं, अपर किसी के द्वारा भी उस प्रकार सन्तुष्ट नहीं होते हैं। इस प्रकार कहने के बाद उन्होंने कहा—

"भज इत्येष वै धातुः सेवायां परिकीर्त्तितः।
तस्मात् सेवा बुधैः प्रोक्ता भक्तिः साधनभूयसी ॥"६३४॥

'भज' धातु का अर्थ है सेवा । अतएव पण्डित गण, निखिल साधन वृन्द के मध्य में सेवा को ही श्रेष्ठा भक्ति कहते हैं। भक्ति के द्वारा सब कुछ लाभ कर सकते हैं, यह लाभ ही भक्ति का तटस्थ लक्षण है। वस्तु का असाधारण कार्य्य ही उस का तटस्थ लक्षण होता है। अर्थात् जो कार्य्य—उसका ही है, अन्य किसी का नहीं है, वह उसका तटस्थ नाम से अभिहित होता है। भगवान् में भक्ति करने से जो सर्वार्थ सिद्धि होती है, उसका विवरण भा० २।३।१० में

"अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्ति योगेन यजेत पुरुषं परम् ॥"

लिखित है। अर्थात् श्रीविष्णु प्रीति काम किंवा देहेन्द्रिय सुखार्थ उक्त अनुक्त सर्वकाम, अथवा मोक्ष काम--जो भी हो—तीव्र भक्ति योग के द्वारा परम पुरुष श्रीभगवान् की उपासना करनी चाहिये। इस से अव्याप्ति दोष की निवृत्ति हुई है। 'स्वलक्ष्यलक्षणाप्रवेशः—अव्याप्तिः।" अर्थात् भक्ति द्वारा सर्वलभ्य है-- यह तटस्थलक्षण है, उस का अप्रवेश सर्व प्राप्ति के मध्य में कहीं भी नहीं हुआ। उक्त लक्षण में अतिव्याप्ति दोष का परिहार करते हुये कहते हैं—"भक्त्या हरिस्तुष्येत्" इस से कर्म ज्ञानादि साधन में भक्ति लक्षण का प्रवेश नहीं हुआ। अर्थात् अलक्ष्य में भक्ति लक्षण का गमन नहीं हुआ। भक्ति द्वारा श्रीभगवान् जिस प्रकार सन्तुष्ट होते हैं, उस प्रकार अन्य किसी भी साधन से सन्तुष्ट नहीं होते हैं। इस से ज्ञान कर्म प्रभृति साधन में भक्ति लक्षण का अप्रवेश निबन्धन अति व्याप्ति दोष विदूरित हुआ। "सेवा बुधैः प्रोक्ता" पण्डित गण उसी को सेवा कहते हैं, इस प्रकार उल्लेख होने के कारण, भक्ति द्वारा जो सर्वार्थ सिद्धि होती है— इस विषय में असम्भावना का अवसर नहीं रहा। कारण, पण्डित गण की उक्ति अव्यभिचारिणी है।

'सेवा' ही भक्ति का स्वरूप लक्षण है। वह सेवा—कायिक, वाचिक, मानसिक भेद से त्रिविध भगवदनुगति रूप हैं, अतएव भय द्वेष प्रभृति में एवं अहंग्रह उपासना प्रभृति में भक्ति लक्षण का प्रवेश नहीं हुआ। अर्थात् अव्याप्ति नहीं हुई। कारण, जिस में श्रीकृष्णानुकूल्य से अनुगति नहीं है, अर्थात् जिस प्रकार आचरण करने से श्रीकृष्ण को सन्तोष होता है, उस प्रकार कायिक, वाचिक, मानसिक श्रीकृष्णानु-

साधनभूयसी साधनेषु श्रेष्ठेत्यर्थः। तदेव लक्षणद्वयं प्रकारान्तरेणाह, (भा० ११।२।३४) –

(२१६) "ये वै भगवता प्रोक्ता उपाया ह्यात्मलब्धये।
अञ्जः पुंसामविदुषां विद्धि भागवतान् हि तान्॥"६३५॥

अविदुषां पुंसां तन्माहात्म्यमविद्वद्भिरपि कर्त्तृभिः। आत्मनः–'ब्रह्म परमात्मा भगवान्' इत्याविर्भाव-भेदवतः स्वस्य धर्मभूतस्य अञ्जोऽनायासेनैव लब्धये लाभाय ये उपायाः साधनानि स्वयं भगवता (भा० ११।१४।३) —

"कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेदसंज्ञिता।
मयादौ ब्रह्मणे प्रोक्ता धर्म्मो यस्यां मदात्मकः॥"६३६॥

इत्यनुसारेण प्रोक्ताः, तान् उपायान् भागवतान् धर्मान् विद्धि। हि प्रसिद्धौ। तत्र साक्षाद्-भक्तेरपि भागवतधर्म्माख्यत्वम् (भा० ६।३।१२) "एतावानेव लोकेऽस्मिन्" इत्यादौ परम-

---

शीलन न होने के कारण, भय, द्वेष, एवं अहंग्रह उपासना भक्ति लक्षण का प्रवेश नहीं हुआ। लक्षणस्थ 'साधनभूयसी' शब्द का अर्थ है—साधन वृन्द के मध्य में श्रेष्ठा है।

उक्त भक्ति के स्वरूप लक्षण तटस्थ लक्षण का वर्णन भा० ११।२।३४ में श्रीकवि योगीन्द्र ने प्रकारान्तर से कहा है—

(२१६) "ये वै भगवता प्रोक्ता उपाया ह्यात्मलब्धये।
अञ्जः पुंसामविदुषां विद्धि भागवतान् हि तान्॥"६३५॥

अर्थात् जो भक्तिमाहात्म्य के विषय में अनभिज्ञ हैं। उनको भी ब्रह्म, परमात्मा, भगवान्–यह त्रिविध आविर्भाव विशिष्ट आत्मा—अर्थात् भगवान् स्वयं को अञ्जः--अनायास सुख पूर्वक प्राप्त करने के निमित्त स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण जो उपाय का अर्थात् साधन का वर्णन किये हैं– उस साधन का नाम ही भागवत धर्म है।

श्रीभगवान् श्रीकृष्ण—वर्ण एवं आश्रमोचित धर्म समूह का जगत् में प्रकाश मनु प्रभृति के द्वारा किये हैं। किन्तु विशुद्धा भक्ति वा भागवत धर्मकाप्रकाश मनु प्रभृति के द्वारा असम्भव होने से कारण निजमुख से जिसका उद्घोष किये हैं, उसका नाम भागवत धर्म है। उसका विवरण भा० ११।१४।३ में इस प्रकार है-

"कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेदसंज्ञिता।
मयादौ ब्रह्मणे प्रोक्ता धर्म्मो यस्यां मदात्मकः॥"६३६॥

स्वयं श्रीकृष्ण, उद्धव को कहे थे—हे उद्धव! प्रलय काल में जगत् में भक्ति ग्राहक लोक विद्यमान न होने पर वेद प्रतिपाद्य यह भक्ति धर्म नष्ट प्राय हो गया था। अर्थात् मनुष्य समाज में इस का प्रचार नहीं था। मैंने सृष्टि के प्रारम्भ में अर्थात् जिस समय ब्रह्मा रूप मानव का सृजन हुआ उस समय ह्लादिनी शक्ति की सारभूता भक्ति वा भागवत धर्मका वर्णन ब्रह्मा के निकट में किया था। इससे विदित होता है कि-श्रीभगवान् श्रीकृष्ण, निज मुख से जिस उपायों का उपदेश--आदेश वा वर्णन किये हैं, उस का नाम ही भागवत धर्म है। उक्त श्लोकस्थित 'हि' शब्द का अर्थ 'प्रसिद्ध' है। अर्थात् यह कथा वेद, पुराण, मनुष्य लोक से एवं देव समाज में प्रसिद्ध ही है। प्रश्न हो सकता है कि—साक्षात् भक्ति को ही धर्म शब्द से क्यों कहा गया है? उत्तर में कहते हैं—साक्षात् भक्ति ही साक्षात् धर्म से अभिहित है। उस को भागवत धर्म

धर्म्मत्वख्यापनया दर्शितम् । अत्रात्मलब्धये प्रोक्ता इति तटस्थलक्षणम् । अन्येन तदलाभाद-व्यभिचारि । आत्मलब्धये उपाया इति तु स्वरूपलक्षणम् । तल्लाभोपायो हि तदनुगतिरेव ॥ श्रीकविर्निमिम् ॥

२१७। सा भक्तिस्त्रिविधा,--आरोपसिद्धा, सङ्गसिद्धा, स्वरूपसिद्धा च। तत्रारोपसिद्धा स्वतो भक्तित्वाभावेऽपि भगवदर्पणादिना भक्तित्वं प्राप्ता कर्मादिरूपा। सङ्गसिद्धा स्वतो भक्तित्वाभावेऽपि तत्परिकरतया संस्थापनेन (भा० ११।३।२२) "तत्र भागवतान् धर्मान् शिक्षेद्गुर्वात्मदैवतः" इत्यादि-प्रकरणेषु, (भा० ११।३ २३) "सर्वतो मनसोऽसङ्गम्" इत्यादिना लब्ध-तदन्तःपाता ज्ञान-कर्म तदङ्गरूपा । स्वरूपसिद्धा चाज्ञानादिनापि तत्प्रादुर्भावे भक्तित्वाव्यभिचारिणी साक्षात्तदनुगत्यात्मा तदीयश्रवणकीर्त्तनादिरूपा। (भा० ७।५।२३) "श्रवणं

भी कहते हैं—भा० ६।३।२२ में धर्मराज ने कहा है—

"एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्मः परः स्मृतः ।
भक्तियोगो भगवति तन्नाम ग्रहणादिभिः ॥

इस जगत् में श्रीहरि के नाम श्रवण कीर्त्तनादि के द्वारा श्रीभगवान् में जो भक्ति योग है, यही मानव मात्र का परम धर्म है। इस भागवत धर्म लक्षण में भगवत् प्राप्ति भागवद् धर्म का असाधारण कार्य्य होने के कारण—तटस्थ लक्षण है। भगवान् को प्राप्त करने के निमित्त जो उपाय कथित हैं–यह सब उपाय अर्थात् श्रवण कीर्त्तनादि भागवत धर्म वा भक्ति के स्वरूप लक्षण हैं। भगवत् प्राप्ति का उपाय भी भगवदनुगति है—अर्थात् अनुकूल अनुशीलन है।

श्रीकवि योगीन्द्र निमिमहाराज को कहे थे ।।२१६।।

२१७। यह भक्ति त्रिविध हैं, आरोप सिद्धा, सङ्ग सिद्धा, एवं स्वरूप सिद्धा। उस के मध्यमें स्वरूपतः भक्तित्व न होने पर अर्थात् आनुकूल्य कृष्णानुशीलन न होने पर, निज उद्देश्य सिद्धि हेतु भगवत् सन्तोषार्थ कर्मार्पण के द्वारा जो भक्ति होती है—वह आरोप सिद्धा भक्ति है। अर्थात् भगवान् में आरोपित होता है, तज्जन्य कर्मादि में भक्तित्व होता है। स्वरूपतः भक्तित्व न होने पर भी अर्थात् आनुकूल्य से कृष्णानुशीलन न होने पर भी भक्ति परिकर रूप में संस्थापन द्वारा जिस का भक्तित्व सिद्ध होता है—उस का नाम सङ्ग सिद्धा है। जिस प्रकार भा० ११।३।२२ में उक्त है—

"तत्र भागवतान् धर्मान् शिक्षेद् गुर्वात्मदैवतः। इत्यादि।

प्रकरण में भा० ११।३।३२ उक्त है—"सर्वतो मनसोऽसङ्गम्"–अर्थात् विशुद्ध भागवत धर्म वर्णन में प्रवृत्त होकर उस के सहायक रूप में ज्ञान कर्म्मादि को भक्तयङ्ग रूप में उल्लेख किया है। स्वरूपसिद्धा भक्ति का लक्षण यह है–अज्ञानादि के द्वारा भी उसका प्रादुर्भाव होने पर भक्तित्व में अव्यभिचारिणी साक्षात् भगवदानुकूल्यजीवना भगवत् सम्बन्धि श्रवण कीर्त्तनादि रूपा। जिस प्रकार भा० ७।४।२३ में प्रह्लाद ने कहा है—"श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पाद सेवनं, अर्च्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्। अर्थात् श्रीविष्णु के श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, आदर विशेष के सहित विष्णु की परिचर्य्या, अर्च्चन, नमस्कार, दास्य, सख्य, विष्णु में आत्मसमर्पण—यह नवविधा भक्ति स्वरूप सिद्धा हैं। अर्थात् अव्यवधान से साक्षाद्रूप में श्रीविष्णु के सम्बन्ध में कायिक, वाचिक, मानस चेष्टा का नाम स्वरूपसिद्धा भक्ति है।

कीर्त्तनं विष्णोः" इत्यादौ विष्णोः श्रवणं विष्णोः कीर्त्तनमिति विशिष्टस्यैव विवक्षितत्वात् तेषामपि नारोपसिद्धत्वम्, प्रत्युत मूढ़प्रोन्मत्तादिषु तदनुकर्त्तृष्वपि कथञ्चित् सम्बन्धेन फल-प्रापकत्वात् स्वरूपसिद्धत्वम् । यथा—श्रीप्रह्लादस्य पूर्वजन्मनि श्रीनृसिंहचतुर्द्दश्युपवासः, यथा कुक्कुरमुखगतस्य श्येनस्य भगवन्मन्दिरपरिक्रमः । एवमन्यदृष्टचादिना मूढ़ादिभिः कृतस्य वन्दनस्यापि ज्ञेयम् । तदेवं त्रिविधापि सा पुनरकैतवा सकैतवा चेति द्विविधा ज्ञेया । तत्रारोपसङ्गसिद्धयोर्यस्या भक्तेः सम्बन्धेन भक्तिपदप्राप्त्या सामर्थ्यम्, तन्मात्रापेक्षत्वं चेदकैतवत्वम्, स्वीयान्यदीयफलापेक्षत्वं चेत् सकैतवत्वम् । स्वरूप-सिद्धायाश्च यस्य भगवतः सम्बन्धेन तादृशं माहात्म्यं तन्मात्रापेक्ष-परिकरत्वञ्चेदकैतवत्वम्, प्रयोजनान्तरापेक्षया कर्म-ज्ञानपरिकरत्वञ्चेत् सकैतवत्वम् । इयमेवाकैतवाकिञ्चनाख्यत्वेन पूर्वमुक्ता (भा० १।१।२) "धर्मः

श्रवण कीर्त्तनादि भक्त्यङ्ग के सहित श्रीविष्णु का साक्षात् सम्बन्ध होने के कारण, एवं कर्म ज्ञान प्रभृति से यह सब क्रिया का वैशिष्ट्य हेतु यह श्रवण कीर्त्तनादि–"आरोपसिद्धा भक्ति लक्षण से पार्थक्य-मण्डित है । कारण, आरोपसिद्धा भक्ति में साक्षात् ही श्रीभगवान् के सहित किसी प्रकार सम्बन्ध न रख कर ही अनुष्ठित कर्म्मादि श्रीभगवान् में अर्पित होते हैं । स्वरूप सिद्धा भक्ति का वैशिष्ट्य यह है कि-अबुद्धि पूर्वक भी यदि यह अनुष्ठित होती है । तो भक्ति फल प्राप्ति विषय में अन्यथा होने की सम्भावना नहीं है । तज्जन्य स्वरूपसिद्धा भक्ति को आरोपसिद्धा भक्ति के लक्षण में अन्तर्भुक्त नहीं किया जा सकते हैं । स्वरूप सिद्धा भक्ति का प्रभाव ही इस प्रकार है कि भक्ति का अनुकरण कारी मूढ़ प्रोन्मत्त प्रभृति में भी किसी प्रकार भक्ति सम्बन्ध होने पर यह फल प्राप्ति कराने में सक्षम है । जिस प्रकार पूर्व जन्म में प्रह्लाद के द्वारा अनुष्ठित श्रीनृसिंह चतुर्दशी का उपवास । पूर्व जन्म में प्रह्लाद एक ब्राह्मण युवक था, चरित्र अत्यन्त कलुषित होने के कारण वेश्यासक्त हो गया था । एक दिन वेश्या के सहित मनोमालिन्य होने के कारण उपवास रहना पड़ा । दैवात् उस दिन श्रीनृसिंह चतुर्दशी की उपवास तिथि थी । ब्राह्मण युवक का कुछ भी अनुसन्धान नहीं था । अनुसन्धान न होने पर भी भक्ति स्वभाव एवं प्रभाव से श्रीनृसिंह चतुर्दशी व्रत का फल लाभ हुआ । एवं पर जन्म में श्रीनृसिंह देव का परम भक्त वह हो गया । उस भक्ति से नित्यसिद्ध प्रह्लाद के भाव के सहित किसी प्रकार पार्थक्य न होने से पर जन्म में नित्यसिद्ध प्रह्लाद के सहित सायुज्य लाभ भी हुआ था ।

द्वितीय दृष्टान्त यह है । कुकुर मुख गत श्येनपक्षी की भगवन्मन्दिर परिक्रमा । एक श्येन पक्षी को कुकुर आक्रमणोद्यत होने पर—श्येन पक्षी भीत होकर पलायन करने लगी, उस से उस की भगवन्मन्दिर परिक्रमा हो गई । इस परिक्रमा के फल से उसकी वैकुण्ठ प्राप्ति हुई । इस प्रकार अन्य दृष्ट प्रभृति द्वारा भी यदि मूढ़ प्रभृति भगवद् वन्दन करते हैं तो उस नमस्कार के फल से भगवत् प्राप्ति होती है ।

उक्त आरोपसिद्धा, सङ्गसिद्धा, आरोपसिद्धा—यह त्रिविध भक्ति—अकैतव एवं सकैतव भेद द्विविध हैं । उस के मध्य में आरोपसिद्धा एवं सङ्गसिद्धा, जिस भक्ति के सम्बन्ध से भक्ति संज्ञा से अभिहिता होती है, केवल उस भक्ति मात्र की ही अपेक्षा होती है, भक्ति भिन्न अन्य फल प्राप्ति की आकाङ्क्षा नहीं होती है तो, वह आरोपसिद्धा एवं सङ्गसिद्धा भक्ति अकैतवा होती है । और यदि स्वकीय वा अन्यदीय फलापेक्षा होती है तो वह आरोपसिद्धा एवं सङ्गसिद्धा भक्ति-सकैतवा होती है । इति पूर्व में इस अकैतवा भक्ति को ही अकिञ्चना भक्ति कही गई है । भा० १।१।२ में कथित "धर्म्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमः" श्लोक में भक्ति

प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमः" इत्येव वास्य तदुभयविधत्वे प्रमाणं ज्ञेयम्। तथोक्तम्, (भा० ७।७।५२) "प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद्विडम्बनम्" इति।

अथारोपसिद्धा। एतदर्थमेव (भा० ११।५।१२ १२।१२।५३) "नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाव-वर्जितम्" इत्यादौ सकाम-निष्कामयोर्द्वयोरपि कर्म्मणोर्निन्दा, भगवद्वैमुख्याविशेषात्। तत्र यादृच्छिक-चेष्टाया अपि भगवदर्पितत्वे भगवद्धर्मत्वं भवति, किमुत वैदिककर्मण इति वक्तुं तस्या अपि तद्रूपत्वमाह, (भा० ११।२।३६) —

(२१७) "कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा, बुद्ध्यात्मना वानुसृतस्वभावात्।
करोति यद्यत् सकलं परस्मै, नारायणायेति समर्पयेत्तत्॥"६३७॥

पूर्व्वं हि (भा० ११।२।३१) "धर्म्मान् भागवतान् ब्रूत" इति प्रश्नानन्तरं (भा० ११।२।३४) "ये वै भगवता प्रोक्ताः" इत्यादिना मुख्यत्वेन साक्षात् तल्लब्धये उपायभूताः श्रवण-कीर्त्तनादयो

का सकैतवत्व एवं अकैतवत्व निर्णय हुआ है। सारार्थ यह है कि—भक्ति भिन्न धर्म अर्थ, काम, एवं मोक्ष के मध्य में किसी एक की कामना विद्यमान होने से वह भक्ति सकैतवा होती है। और धर्मार्थ काम मोक्ष के मध्य में किसी की कामना न हो, एकमात्र श्रीभगवत् सन्तोषार्थ अनुष्ठिता भक्ति अकैतवा है।

स्वरूप सिद्धा भक्ति के सहित श्रीभगवान् का साक्षात् सम्बन्ध विद्यमान होने के कारण स्वरूपसिद्धा भक्ति की परम सामर्थ्य है। यदि केवल भगवान् की ही अपेक्षा होती वह स्वरूप सिद्धा भक्ति अकैतवा होती है। उस भक्ति का नाम ही अकिञ्चना भक्ति है। भा० ७।७।५४ में लिखित है—

"न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च।
प्रीयते ऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम्॥

दान, तपस्या, यज्ञ, शौच, एवं निखिल व्रत प्रभृति साधन समूह अभिनय मात्र ही है। कारण, श्रीहरि एकमात्र अमला अर्थात् निष्कामा भक्ति के द्वारा ही सन्तुष्ट होते हैं।

सम्प्रति आरोपसिद्धा भक्ति का प्रसङ्ग उत्थापित हो रहा है, इस अभिप्राय से ही भा० ११।५।१२, १२।१२।५३ में कहा गया है—"नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितम्"—अर्थात् भगवद् विमुखता की निवृत्ति न होने के कारण, सकाम निष्काम— उभय विध कर्म ही निन्दित हैं। जो जितने ही सत् कर्म का अनुष्ठान क्यों न करें, हृदय में यदि भगवत अनुसन्धान नहीं होता है तो, यह सब कार्य्य असत् होते हैं। उस में भी दैहिक एवं व्यवहारिक चेष्टा, जो लौकिक रूप से निर्दिष्ट है, उस का अर्पण भगवान् को करने से भी यदि भागवद् धर्म होता है तो, वैदिक कर्म का अर्पण भगवान् को करने पर सुतरां ही भागवद् धर्म होगा। यह दर्शाने के निमित्त दैहिक एवं व्यवहारिक चेष्टा का भी भागवद्धर्मता का वर्णन करते हैं। भा० ११।२।३६

(२१७) "कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा, बुद्ध्यात्मना वानुसृतस्वभावात्।
करोति यद्यत् सकलं परस्मै, नारायणायेति समर्पयेत्तत्॥"६३७॥

श्रीकवि योगीन्द्र कहे थे—हे राजन्! काय, वाक्य, मन एवं इन्द्रिय द्वारा, बुद्धि एवं चित्त के द्वारा अथवा निजदैहिक एवं व्यवहारिक जो कुछ कार्य्य करते रहते हो, समस्त कार्य्य—'परम पुरुष नारायणाय-नमः' कहकर समर्पण करो।

भागवतधर्म्मा लक्षिताः, ते चात्रैव (भा० ११।२।३९) "शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणेः" इत्यादि। कतिचिद्दर्शिताः। उत्तराध्याये च (भा० ११।३।२२) —"तत्र भागवतान् धर्म्मान् शिक्षेद्-गुर्वात्मदैवतः" इत्युपक्रमवाक्यानन्तरम् (भा० ११।३।३३) "इति भागवतान् धर्म्मान् शिक्षन् भक्त्या तदुत्थया" इत्युपसंहार-वाक्यस्य प्राग्भागवतधर्म्मत्वेनान्यसङ्गादि त्यागादिकमपि वक्ष्यते (भा० ११।३।२३) "सर्वतो मनसोऽसङ्गम्" इत्यादिना। तस्मात् लौकिक-कर्म्माद्यर्पणमिदं यथाकथञ्चित् तद्धर्म्मसिद्ध्यर्थमेवोच्यते। अर्थश्चायं टीकायाम्—"आत्मना चित्तेनाहङ्कारेण वा अनुसृतो यः स्वभावस्तस्मात्। अयमर्थः—न केवलं विधितः कृतमेवेति नियमः, स्वभावानुसारि लौकिकमपीति। श्रीगीतासु च (९।२७)—

'यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्॥'६३८॥

इस के पूर्व में "धर्मान् भागवतान् ब्रूतः" अर्थात् भागवत धर्म्म का वर्णन करो, इस प्रकार निमि महाराज कृत प्रश्नोतर में श्रीकवियोगीन्द्र कहे थे—"ये वै भगवता प्रोक्ताः" अर्थात् निज प्राप्ति हेतु श्रीभगवान् जो सब उपाय कहे थे, उन सब उपायों का नाम भागवद् धर्म है। इस से मुख्य रूप से साक्षात् भगवत् प्राप्ति के उपाय स्वरूप श्रवण कीर्त्तनादि भागवद् धर्म समूह को लक्ष्य किया गया है। यह सब भागवद् धर्म के मध्य में भी "शृण्वन् सुभद्राणिरथाङ्गपाणेः" इत्यादि श्लोक में भगवान् के जन्म कर्म एवं नाम श्रवण कीर्त्तन करते करते वाह्यलोकापेक्षा शून्य होकर विचरण करे। इस प्रकार भागवत धर्म के कतिपय अङ्ग का वर्णन किया गया है। अनन्तर उस के ही तृतीयाध्याय भा० ११।३।२२ में "तत्र भागवतान् धर्मान् शिक्षेद् गुर्वात्मदैवतः" अर्थात् श्रीगुरु चरण के समीप में भागवत धर्म समूह की शिक्षा करे। इस प्रकार उपक्रम वाक्य के पश्चाद् कहा गया है—

"इति भागवतान् धर्मान् शिक्षन् भक्त्या तदुत्थया"

अर्थात् इस प्रकार श्रीगुरुचरण के समीप से भागवद् धर्म शिक्षा करके भजन करते करते भाव भक्ति लाभ करोगे एवं भाव भक्ति के प्रभाव से माया उत्तीर्ण हो सकोगे। इस प्रकार उपसंहार वाक्य के पूर्व में भागवत धर्म के सहायक रूप में अन्य सङ्ग त्याग प्रभृति उपदेश भी भा० ११।३।२३ 'सर्वतोमनसोऽसङ्गम्" द्वारा करेंगे। अतएव लौकिक कर्म्मादि का अर्पण भगवान् में करने से जैसे तैसे भागवद् धर्म सिद्ध होता है-यह कहा गया है। अर्थात् वस्तुतः भगवान् में कर्मार्पण करने से ही भागवद् धर्म नहीं हो सकता है, किन्तु अर्पण समय में यथा कथञ्चित् भगवान् का स्मरण होने के कारण ही भागवद् धर्म कहा गया है, यह गौण भागवद् धर्म है। "कायेन वाचा" श्लोक की टीका में श्रीधर स्वामिपादने कहा है—"आत्मना" अर्थात् चित्त अथवा अहङ्कार द्वारा जो कुछ किया जाता है, अनुसृत जो स्वभाव है, उस स्वभाव के द्वारा जो कर्म्म किया जाता है, उस को भी श्रीभगवान् को अर्पण करे। यहाँ का तात्पर्य्य यह है कि—केवल शास्त्र विधि के द्वारा कृत कर्म्म का अर्पण श्रीनारायण को करे, यह नियम नहीं है। स्वभावानुसार कृत लौकिक कर्म को भी अर्पण करे। श्रीमद् भगवद् गीता में भी लिखित है—९।२७—

"यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्॥६३८॥

हे अर्जुन! तुम जो कुछ करते हो, जो भोजन करते हो, होम दान, तप, करते हो, यह सब मुझ को

इतः पूर्व्वं प्राणबुद्धिदेहधर्म्माधिकारत इत्यादिकमन्त्रश्च तथा। अत्र स्वाभाविककर्म्मणोऽर्पणे दुष्कर्म्मणो द्विविधा गतिः, ज्ञानेच्छूनामविशेषेण, भक्तीच्छूनान्तु अनेन दुर्वासन दुःखदर्शनेन स करुणामयः करुणां करोत्विति वा, (वि० पु० १।२०।१९)—

"या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी। त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्नापसर्पतु॥"६३९॥

इति विष्णुपुराणोक्त प्रकारेण,—

"युवतीनां यथा यूनि यूनाञ्च युवती यथा। मनोऽभिरमते तद्वन्मनो मे रमतां त्वयि॥"६४०॥

इति पाद्मोक्तप्रकारेण च मम सुकर्म्मणि दुष्कर्म्मणि च यद्रागसामान्यं तत् सर्वतोभावेन भगवद्विषयमेव भवत्विति वा समाधेयम्। कामिनान्तु सर्वथैव सर्वदुष्कर्म्मार्पणम् (भा० ११।३।४६ "वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे" इत्यत्र पुनर्वैदिकमेवेश्वरेऽर्पितं कुर्वाण इत्युक्तम्॥ श्रीकविर्निमिम्॥

समर्पण करो। इस से लौकिक कर्मार्पण भी विहित हुआ है। पूजा प्रकरण में कथित है—"इतः पूर्वं प्राण बुद्धि देह धर्माधिकारतः" इत्यादि मन्त्र में भी लौकिक वैदिक उभय विध कर्मार्पण ही विहित हुआ है। उभय विध कर्मार्पण के मध्य में स्वाभाविक कर्म्मार्पण विषय में दुष्कर्म्म की दो प्रकार गति होती हैं। ज्ञानेच्छु साधक के पक्ष से दुष्कर्म सुकर्म्म—उभय विध कर्मार्पण द्वारा फलांश में पार्थक्य नहीं होता है। कारण, ज्ञानिगण मानते हैं—"नाहं कर्त्ता, नाहं भोक्ता" अर्थात् मैं कर्म भी नहीं करता हूँ। कर्म फल भी भोग नहीं करता हूँ। देहेन्द्रिय कर्माचरण करते हैं, एवं वे ही कर्म फल भोग करते हैं। मैं देहेन्द्रिय से भिन्न नित्यसिद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव अनुचैतन्य स्वरूप हूँ। इस प्रकार भावना से ही वे सब कर्मार्पण करते हैं। किन्तु भक्तीच्छु साधक के पक्ष में उस से भिन्न रीति है—भक्त गण जानते हैं—

मेरी यह दुर्वासना एवं दुःख को देखकर -करुणामय प्रभु मेरे प्रति करुणा करेंगे। आप स्वयं कृपा करके दुर्वासना जनित क्लेश विदूरित नहीं कर देते हैं तो, मेरी कुछ भी सामर्थ्य नहीं है, मैं निज शक्ति से दुर्वासना निवृत्ति कर सकूँ" इस प्रकार दैन्य परि पूरित अन्तः करण से श्रीभगवच्चरणों में विज्ञापन ही भक्तों का कर्मार्पण है। अथवा, श्रीविष्णु पुराण में कथित है—

"या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्नापसर्पतु॥"६३९॥

अविवेकी जनों की विषय में जो निश्चला प्रीति है, हे नाथ! मैं आप का नियत स्मरण कर कहता हूँ, मेरे हृदय से आप के प्रति उस प्रकार निश्चला-अनपायिनी प्रीति जैसे कभी भी विदूरित न हो, अथवा पद्मपुराणोक्त प्रकार के अनुसार विज्ञापन होता है।

"युवतीनां यथा यूनि यूनाञ्च युवती यथा।
मनोऽभिरमते तद्वन्मनो मे रमतां त्वयि॥"६४०॥

अनेक युवती वृन्द का मन, एक युवक में अथवा बहु युवकों का मन, एक युवती में जिस प्रकार अभिरमित होता है। हे नाथ! मेरा मन जैसे सर्वदा उस प्रकार आप में अभिरमित हो। इस प्रकार ही मेरी आसक्ति सुकर्म में वा दुष्कर्म्म में यत् किञ्चित् है। वह आसक्ति सर्वतो भावेन श्रीभगवान् में हो। इस प्रकार समाधान करना कर्त्तव्य है। सकाम मानव के पक्ष में तो सब प्रकार से ही सब दुष्कर्म्म समर्पण करना चाहिये। भा० ११।३।४६ में उक्त है—"वेदोक्तमेव कुर्वाणोनिःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे" अर्थात्

२१८। अथ वैदिक-कर्म्मार्पणस्य प्रशंसामाहुः (भा० ८।५ ४७)—

(२१८) "क्लेशभूर्य्यल्पसाराणि कर्माणि विफलानि वा।
देहिनां विषयार्त्तानां न तथैवार्पितं त्वयि ॥६४१॥

विषयार्त्तानां कर्म्माणि क्वचित् क्लेशो भूरि येषु तथाप्यल्पं फलं येषु तथाभूतानि भवन्ति, क्वचित् कृष्यादिवत् विफलानि वा भवन्ति। त्वय्यर्पितं कर्म्म तु न तथा, किन्तु क्लेशं विना यथाकथञ्चित् कृतस्य कामनयाप्यर्पणे तत्कामस्यावश्यकप्राप्तिः सा च सर्वत उत्कृष्टा भवति। तथा तन्मात्रफलेन च पर्य्याप्तिर्न भवति, संसारविध्वंसादि--फलत्वादित्यर्थः। तदुक्तम् (भा० ११।२।३५) —

फलाकाङ्क्षा शून्य होकर वेद विहित कर्म का समर्पण ही श्रीभगवान् को करे। यहाँ केवल ईश्वर में वैदिक कर्मार्पण ही विहित हुआ है। श्रीकवि—निमिमहाराज को कहे थे ॥२१७॥

२१८। अनन्तर देववृन्द—श्रीअजित भगवान् को स्तव करते हुए वैदिक कर्मार्पण की प्रशंसा कर कहे थे—भा० ८।५।४७

(२१८) "क्लेशभूर्य्यल्पसाराणि कर्माणि विफलानि वा।
देहिनां विषयार्त्तानां न तथैवार्पितं त्वयि ॥"६४१॥

टीका— न च वहिर्मुखानामिव त्वद् भक्तानामस्माकंत्वय्यर्पितानि पूर्वं पुण्यानि विपरीत फलानि भवितु मर्हन्तीवत्याह। क्लेशो भूरि येषु अल्पं सारं फलं येषु तानि तानि यथा विफलान्येव सकामानां कर्म्माणि त्वय्यर्पितन्तु नैव तथा।

"नावमः कर्म कल्पोऽपि विफलायेश्वरार्पितः।
कल्पते पुरुषस्यैष स ह्यात्मा दयितोहितः॥
यथा हि स्कन्ध शाखानां तरोर्मूलावसेचनम्।
एवमाराधनं विष्णोः सर्वेषामात्मनश्च हि॥"

टीका—तत्रावैफल्यमुपपादयति। अवमः अल्पोऽपि कर्म कल्पः, कर्म्माभासोऽपि ईश्वरार्पितश्चेत् विफलाय श्रमाय न कल्पते, हि यस्मात् स एष ईश्वरः पुरुषस्य आत्मा, अतएव दयितोहितश्च। न ह्यात्मनि दयिते हिते चार्पितं कर्म निष्फलं स्यात्। अनल्पफलत्वमाह—

यथाहि मूलावसेचनं स्कन्धानां शाखानाञ्च भवति॥

विषय भोग हेतु आर्त्त देहाभिमानी जीव समूह के कर्म समूह प्रचुरतर क्लेशसाध्य अथच अति अल्प हैं। कभी तो कृषि कार्य्य के समान विफल भी होते हैं। किन्तु हे नाथ! जो कर्म्म आप को अर्पित होता है। वह कर्म उस प्रकार क्लेश कर वा विफल नहीं होता है। किन्तु क्लेश स्वीकार न करके यथा कथञ्चित् कर्मार्पण फल लाभ की कामना न करके भी यदि किया जाता है तो, उस से कामित फल प्राप्ति अवश्य ही होगी, एवं वह सर्वोत्कृष्ट होगी। कारण, कामित फल प्राप्ति में ही कर्मार्पण का पर्य्यवसान नहीं होता है। अर्थात् वही यथेष्ट लाभ नहीं है। कारण, निखिल साधनों का मुख्य फल है— भगवद् वहिर्मुख जीव का संसार बन्धन ध्वंस होना। यदि साधन करके संसार बन्धन ध्वंस नहीं होता है। तो संसार बन्धन जनित क्लेश भोग अनिवार्य्य होगा। श्रीभगवान् में साक्षाद् भक्ति व्यतीत कर्मार्पणादि रूपा भक्ति के द्वारा माया बन्धन से मुक्त होने की सम्भावना है ही नहीं। अतएव भा० ११।२।३५ में उक्त है—

"यानास्थाय नरो राजन् न प्रमाद्येत कर्हिचित् ।
धावन् निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह ॥"६४२॥

इति, (भा० ५।१९।२६) "सत्यं दिशत्यर्थितमर्थितो नृणाम्" इत्यादि च,—यथैव नाभिः श्रीऋषभदेवरूपं भगवन्तं पुत्रत्वेनापि लेभे । श्रीगीतासु च (२।४०)—

"नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्म्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥"६४३॥ इति ।

"यानास्थाय नरो राजन् न प्रमाद्येत कर्हिचित् ।
धावन् निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह ॥"६४२॥

टीका--अञ्जः पदेनोक्तं सुकरत्वं विवृणोति यानिति । यान् आस्थाय--आश्रित्य, योगादिष्वव न प्रमाद्येत--विघ्नैर्न विहन्येत । किञ्च निमील्य नेत्रे धावन्नपि इह एषु भागवतधर्मेषु न स्खलेत् । निमीलनं नाम अज्ञानं । यथाहुः,—श्रुति स्मृति उभे नेत्रे विप्राणां परिकीर्त्तिते । एकेन विकलः काणो द्वाभ्यामन्ध प्रकीर्त्तित इति । अज्ञात्वापीति । यथा पदन्यास स्थानमतिक्रम्य शीघ्रं परतः पदन्यासेन गतिर्धावनं, तद्वत्रापि किञ्चित् किञ्चिदतिक्रम्य अतिशीघ्रानुष्ठानं धावनम् तथानुतिष्ठन्नपि न स्खलेत् न प्रत्यवायी स्यात् । तथा न पतेत्, फलात् न भ्रश्येत् । ब्राह्मणादीना मुक्तानपिधर्मान् कांश्चिदकुर्वाणो भागवतान् धर्मान् श्रवण कीर्त्तनादीन् कुर्वाणस्तत्फलं प्राप्नुयादित्यर्थः ॥

भागवत धर्म में विश्वास स्थापन करने से मनुष्य मात्र किसी भी विघ्न से अभिभूत नहीं होते । भागवद्धर्म मार्ग में क्रम उल्लङ्घन करके एवं श्रुति ज्ञान स्मृति ज्ञान रूप नयन युगल को आवृत करके चलने पर भी स्खलन वा पतन नहीं होता है । कामना द्वारा भजन करने पर काम्य विषय लाभ तो होता ही है, जिस विषय में कामना करनी भी नहीं आती है, उस प्रेम सम्पत्ति को भी प्राप्त करता है । इस विषय में भा० ५।१९।२७ में उक्त है—

"सत्यं दिशत्यर्थितमर्थितो नृणाम् ।
नैवार्थदो यत् पुनरर्थितोयतः ।
स्वयं विधत्ते भजतामनिच्छता
मिच्छापिधानं निजपादपल्लवम् ।"

परम करुण श्रीभगवान्, सकाम मानवगण कर्त्तृक प्रार्थित होकर, सत्य ही प्रार्थित विषय प्रदान करते हैं । किन्तु काम्य विषय दान करके श्रीभगवान् मन मन में सोचते रहते हैं—यह है अतिमूर्ख, भूरि कार्य्य करके तुच्छ फल ग्रहण किया है, कारण, मन, मुझ को अर्पण करके भी मन. संयोग रूप वैषयिक सुखाभिलाषी हुआ, जो भी हो, मैं तो विज्ञ हूँ । अर्थात् फल का परिणाम जानता हूँ । अतएव पुनर्वार प्रार्थी इस को न होना पड़े—इस प्रकार ही वस्तु प्रदान करना कर्त्तव्य है । यह सोचकर प्रभु जिस विवर से विषय भोग वासना का उद्गम होता है, उस हृदय विवर में निज पद पल्लवस्थापन करेंगे, जिस से विषय वासना के प्रति तुच्छ बुद्धि होगी । इस प्रकार निज चरण माधुर्य्यास्वादन प्रदान कर परम करुण प्रभु सकाम भक्त को भी कृतार्थ करते हैं । तात्पर्य्य यह है कि—कामना प्रेरित होकर भगवद् भजन करने पर भी प्रभु वाञ्छातिरिक्त फल दान कर कृतार्थ करते हैं । जैसे नाभि महाराज—भजन प्रभाव से श्रीऋषभदेव नामक श्रीभगवान् को पुत्र रूप में प्राप्त किये थे । श्रीगीता में भी उक्त है—(२।४०)

देवाः श्रीमदजितम् ॥

२१९--२२१। तदेव कर्म्मार्पणमुपपादयति त्रिभिः (भा० १।५।३२)—

(२१९) "एतत् संसूचितं ब्रह्मंस्तापत्रयचिकित्सितम्।
यदीश्वरे भगवति कर्म ब्रह्मणि भावितम् ॥"६४४॥

ब्रह्मन् हे वेदव्यास ! एतत् तापत्रयस्य चिकित्सितं चिकित्सा तैश्चातुर्म्मास्यवासिभिः परमहंसैः सूचितम्। किन्तत् ? भगवति कर्म्म यत् समर्पितं भवति। तत्र कर्म्मसमर्पणमेवेत्यर्थः। कथम्भूते ? स्वयं भगवति पूर्णस्वरूपैश्वर्य्यादिमत्तया सर्वांशिन्येव, केनचिदंशेन जीवादि-नियन्तृतया ईश्वरे परमात्म-शब्दवाच्ये, स्वरूपभूतविशेषेण विना केवलचिन्मात्रतया प्रतिपाद्यत्वेन ब्रह्मणि तच्छब्दवाच्ये। ननु उत्पत्त्यैव तत्तत्सङ्कल्पेन विहितत्वात् संसारहेतोः कर्म्मणः कथं तापत्रयनिवर्त्तकत्वम् ? उच्यते— सामग्रीभेदेन घटत इति, यथा (भा० १।५।३३)

(२२०) "आमयो यश्च भूतानां जायते येन सुव्रत।
तदेव ह्यामयं द्रव्यं न पुनाति चिकित्सितम् ॥"६४५॥

"नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्प मप्यस्य धर्मस्य त्रायतेमहतोभयात् ॥"६४३॥

निष्काम भक्ति योग प्रारम्भ होने पर विनष्ट नहीं होता है एवं निष्काम भक्ति योग में विघ्न की सम्भावना भी नहीं है। भागवत धर्म का स्वल्प मात्र अनुष्ठान महाभय रूप संसार से परित्राण करता है। देवतागण श्रीमद् अजित को कहे थे ॥२१८॥

२१९-२२१। कर्मार्पण प्रकार का प्रतिपादन तीन श्लोकों के द्वारा करते हैं। भा० १।५।३२

(२१९) "एतत् संसूचितं ब्रह्मंस्तापत्रयचिकित्सितम्।
यदीश्वरे भगवति कर्म ब्रह्मणि भावितम् ॥"६४४॥

ब्रह्मन् ! हे वेदव्यास ! आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक–तापत्रय की सुचिकित्साको चातुर्म्मास्य वासी परम हंसगण सूचित किये थे। उस को कहते हैं— श्रीभगवान् में जो कर्म अर्पित होता है, वह कर्म समर्पण ही भवरोग की सुचिकित्सा है। भगवान् किस प्रकार हैं, उस वृत्तान्त को कहते हैं। स्वयं भगवान् है। स्वरूप भूत ऐश्वर्य्य प्रभृति द्वारा परिपूर्ण होने के कारण जो सब के अंशी हैं। उन भगवान् को कर्मार्पण करना कर्त्तव्य है। जो श्री भगवान् अंश के द्वारा जीव प्रकृति नियन्ता होने के कारण ईश्वर हैं, अर्थात् परमात्म शब्द वाच्य है। स्वरूप भूत विशेष की अभिव्यक्ति न होने के कारण चिन्मात्र सत्ता रूप में प्रति पादित होते हैं, अतः ब्रह्म संज्ञा से अभिहित होते हैं। उन स्वयं भगवान् को कर्मार्पण करने से भवरोग की सुचिकित्सा होती है। इस अभिप्राय से ही मूल श्लोक में ईश्वर, भगवान्, एवं ब्रह्म, पदत्रय का उल्लेख किया गया है।

प्रश्न हो सकता है कि– देह दैहिक सुख संकल्प से ही काम्य कर्म्म की उत्पत्ति होती है। सङ्कल्प व्यतीत काम्य कर्म्म करने की प्रवृत्ति ही नहीं होती है। वही संसार के हेतु है। अतः संसार के हेतु रूप काम्य कर्म कैसे तापत्रय निवृत्ति के प्रति हेतु हो सकता है ? उत्तर में कहते हैं– सामग्री भेद से सम्भव पर हो सकता है। भा० १।५।३३ में उक्त है—

य आमयो रोगो येन घृतादिना जायते, तदेव केवलमामयकारणं द्रव्यं तमामयं न निवर्त्तयति, किन्तु चिकित्सितं द्रव्यान्तरैर्भावितं तत् निवर्त्तयत्येव। (भा० १।५।३४)—

(२२१) "एवं नृणां क्रियायोगाः सर्वे संसृतिहेतवः।
त एवात्मविनाशाय कल्पन्ते कल्पिताः परे ॥"६४६॥

परे भगवति कल्पिताः कामनयाप्यर्पिताः सन्तः संसारध्वंसपर्य्यन्तफलत्वात् आत्मविनाशाय धर्म्मनिवृत्तये कल्पन्ते ॥ श्रीनारदो श्रीवेदव्यासम् ॥

२२२। किञ्च, कर्म्मफलं वस्तुतो भगवदाश्रयमेव, तत्तु दुर्बुद्धेरात्मसात्कुर्वतो युक्त्यैव तुच्छफल-प्राप्तिः संसारश्च, सुधियस्तु तत्सात्कुर्वत स्तद्वैपरीत्यमित्याह गद्याभ्याम् (भा० ५।७।६) —

(२२२) "संप्रचरत्सु नानायोगेषु विरचिताङ्गक्रियेष्वपूर्वं यत्तत् क्रियाफलं धर्म्माख्यं

---

(२२०) "आमयो यश्च भूतानां जायते येन सुव्रत।
तदेव ह्यामयं द्रव्यं न पुनाति चिकित्सितम् ॥"६४५॥

श्रीदेवर्षि नारद—श्रीकृष्णद्वैपाय व्यासन देव को कहे थे। घृतादि सेवन से व्याधि की उत्पत्ति होती है, व्याधि के कारण घृतादि द्रव्य व्याधि से निवृत्त करने में सक्षम नहीं हैं। किन्तु घृतादि द्रव्य यदि चिकित् सित होता है, अर्थात् द्रव्यान्तर के द्वारा शोधित होता है तो वह व्याधि के कारण घृतादि द्रव्य ही व्याधि को विनष्ट करने में सक्षम हैं। इस प्रकार ही भा० १।५।३४ में उक्त है—

(२२१) "एवं नृणां क्रियायोगाः सर्वे संसृतिहेतवः।
त एवात्मविनाशाय कल्पन्ते कल्पिताः परे ॥"६४६

हे कृष्णद्वैपायन ! इस प्रकार मानव वृन्द कर्त्तृक अनुष्ठित जो सर्वक्रिया योग संसार के हेतु हैं, यह सब क्रियायोग यदि कामना से भी भगवान् में अर्पित होता है तो, संसार ध्वंस पर्य्यन्त फल प्रद होने के कारण—आत्मविनाश हेतु अर्थात् धर्म निवृत्ति के निमित्त हो होता है।

श्रीनारद श्रीवेदव्यास को कहे थे ॥२१९-२२१॥

२२२। और भी विशेष ज्ञातव्य यह है कि—कर्म्म फल वस्तुत भगवदाश्रित ही है। कर्म्म फल के प्रति जीव का कोई अधिकार नहीं है। श्रीभगवद् गीता में उसका वर्णन है—"कर्म्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन"। हे अर्ज्जुन ! तुम्हारा अधिकार कर्म में ही है, फल में अधिकार नहीं है। उस कर्म फल को दुर्बुद्धि परायण मानव, आत्मसात् करके स्वयं भोग करता है, अतः तुच्छ फल भोग एवं दुरन्त सन्ताप युक्त ससार भोग होता है। जिस का जिस में अधिकार नहीं है, उस वस्तु को भोग करने से अथवा उस को भोग करने का सङ्कल्प करने पर दुर्भोग उपस्थित हाना स्वाभाविक है। सुधीवृन्द किन्तु साक्षात् श्रीभगवान् को समर्पण करके ही कर्म्म करते हैं, अतः कर्म फल का वैपरीत्य--अर्थात् परमा शान्ति प्राप्त करते हैं एवं संसार बन्धन से भी मुक्त हो जाते हैं। इस अभिप्राय का वर्णन श्रीशुक देवने भा० ५।७।६ के गद्यद्वय के द्वारा किया है—

(२२२) "संप्रचरत्सु नानायोगेषु विरचिताङ्गक्रियेष्वपूर्वं यत्तत् क्रियाफलं धर्म्माख्यं परे ब्रह्मणि यज्ञपुरुषे सर्वदेवतालिङ्गानां मन्त्राणामर्थनियामकतया साक्षात् कर्त्तरि परदेवतायां भगवति वासुदेव एव

परे ब्रह्मणि यज्ञपुरुषे सर्वदेवतालिङ्गानां मन्त्राणामर्थनियामकतया साक्षात् कर्त्तरि परदेवतायां भगवति वासुदेव एव भावयमान आत्मनैपुण्य-मृदितकषायो हविःष्वध्वर्यु भिर्गृह्यमाणेष स यजमानो यज्ञभाजो देवांस्तान् पुरुषावयवेष्वभ्यध्यायत् । इति ।

टीका च—"सम्प्रचरत्सु प्रवर्त्तमानेषु नानायोगेषु विरचिता अनुष्ठिता अङ्गक्रिया येषु तेषु यत् अपूर्व्वं तद्वासुदेव एव भावयमानः सञ्चिन्तयन् स यजमानो यज्ञभागभाजो ये देवाः सूर्य्यादयस्तान् पुरुषस्य वासुदेवस्य अवयवेषु चक्षुरादिषु अभ्यध्यायत्, न तु तत् पृथकृत्वेनेत्यन्वयः । अपूर्व्वे पक्षद्वयं मीमांसकानाम् । तदिदानीमेव सूक्ष्मत्वेनोत्पन्नं फलमेवापूर्वं कालान्तरे फलोत्पादिका कर्मशक्तिर्वेति । तदुक्तम्—

"यागादेव फलं तद्धि शक्तिद्वारेण सिध्यति । सूक्ष्मशक्त्यात्मकं वापि फलमेवोपजायते ॥"६४७॥ इति ।

तदेतदाह—क्रियाफलं धर्म्माख्यमिति च । ननु यद्यङ्गं देवता कर्म प्रधानमिति मतम्, तर्हि कर्त्तृ निष्ठमपूर्वं स्यात्, तदुक्तम्—

"कर्मभ्यः प्रागयोग्यस्य कर्मणः पुरुषस्य वा । योग्यता शास्त्रगम्या या परा सापूर्वमिष्यते ॥"६४८॥ इति ।

भावयमान आत्मनैपुण्य-मृदितकषायो हविःष्वध्वर्यु भिर्गृह्यमाणेषु स यजमानो यज्ञभाजो देवांस्तान् पुरुषावयवेष्वभ्यध्यायत् । इति ।

श्रीधर स्वामिपाद कृत टीका का अर्थ यह है – भरत—जो सब यज्ञ प्रवर्त्तन किये थे, एवं यह सब यज्ञ की अङ्ग क्रिया का ध्यान करते थे, उस से जो अपूर्व्व उत्पन्न होता, अर्थात् फलोत्पन्न होता था—उस की भावना श्रीवासुदेव में ही करते थे । यजमान भरत,—यज्ञ के भागग्राही जो सूर्य्य प्रभृति देवता होते हैं, उन देवता समूह का भी ध्यान परमपुरुष वासुदेव के चक्षु प्रभृति अवयव में ही करते थे । श्रीवासुदेव से पृथक् रूप में सूर्य्यादि देववृन्द की भावना नहीं करते थे । कर्म मीमांसक के मत में अपूर्व अर्थात् कर्म फल पक्ष द्वय के अवलम्बन से प्रकाशित होता है । अपूर्व का वृत्तान्त कहते हैं । सूक्ष्म रूप में उत्पन्न कर्म फल ही अपूर्व है, अथवा कालान्तर में फलोत्पादिका कर्म शक्ति ही अपूर्व है । तज्जन्य कथित है—यज्ञ से जो फल उत्पन्न होता है, वह फलोत्पत्ति भी कर्म शक्ति के द्वारा ही सिद्ध होती है । अथवा सूक्ष्म शक्त्यात्मक फल ही उत्पन्न होता है—सप्रमाण उसका वर्णन करते हैं ।

"यागादेव फलं तद्धि शक्तिद्वारेण सिध्यति ।
सूक्ष्मशक्त्यात्मकं वापि फलमेवोपजायते ॥"६४७॥ इति ।

वर्णित है—क्रिया जनित फल का ही अपर नाम धर्म है । प्रश्न होता है कि,—यदि कर्म का अङ्ग देवता हो एवं कर्म प्रधान हो तो, अपूर्व अर्थात् फल,—कर्त्तृ निष्ठ हो जाता है । उस के विषय में कथित है-

"कर्मभ्यः प्रागयोग्यस्य कर्मणः पुरुषस्य वा ।
योग्यता शास्त्रगम्या या परा सापूर्वमिष्यते ॥"६४८॥

यहाँ विचार यह है कि – यज्ञ में देवता का ही प्राधान्य है,— किन्तु कर्म्म—देवताराधन के निमित्त ही अनुष्ठित होता है । ऐसा होने पर देवता आराधन के उद्देश्य में प्रवृत्त कर्म का तात्पर्य्य देवता प्रसन्नता में ही है, अत फल भी देवताश्रय होना आवश्यक है । कर्मानुष्ठान के पहले अयोग अर्थात् प्रोक्षणादि अपूर्व का ही व्रीहि प्रभृति का आश्रयत्व है । अतएव कैसे भरत, अपूर्व अर्थात् क्रिया फल की भावना वासुदेवाश्रय

अथ देवताप्रधानं कर्म तु देवताराधनार्थम्। तदा देवताप्रसादरूपत्वादपूर्वस्य देवताश्रयत्वमेवयुक्तम्। कर्मभ्यः प्रागयोग्यस्य प्रोक्षणाद्यपूर्वस्येव वीह्य द्याश्रयत्वम्। कुतो वासुदेवाश्रयमपूर्वं भावयति ? उच्यते—यदि कर्त्तृ निष्ठमपूर्वं स्यात्, तर्हि वासुदेवस्यान्तर्यामिणः प्रवर्त्तकत्वेन मुख्यकर्त्तृत्वात् तदाश्रयमेवापूर्वम्, न तु तत्प्रयोज्ययजमानाश्रयम्—'शास्त्रफलं प्रयोक्तरि' इति न्यायात्, अन्यथा ऋत्विजामप्यपूर्वाश्रयत्वप्रसङ्गात्। तदेतदाह--साक्षात् कर्त्तरीति। देवताश्रयत्वेऽपि वासुदेवाश्रयत्वमेवेत्याह---परदेवतायामिति। परदेवतात्वे हेतुः--सर्वदेवता--लिङ्गानां तत्तद्देवताप्रकाशकानां मन्त्राणां ये अर्था इन्द्रादि देवतास्तेषां नियामकतया तस्यैव प्रसादनीयत्वात् फलदातृत्वाच्च युक्तमेवापूर्वाश्रयत्वमित्यर्थः। एवं भावनमेवात्मनो नैपुण्यं कौशलं तेन मृदिताः क्षीणाः कषाया रागादयो यस्य। अध्वर्युभिरिति बहुवचनं नाना--कर्माभिप्रायेण" इत्येषा। अत्र श्रीविष्णोरङ्गित्वे प्राप्ते यज्ञाङ्गत्वेन तद्भजनञ्च दोष इति

रूप में करते थे ? उत्तर में कहते हैं—यदि क्रिया फल कर्त्तृ निष्ठ होता है, तो वासुदेव ही अन्तर्य्यामी रूप में कर्म्म का प्रवर्त्तक हैं, अर्थात् कर्म करने की प्रवृत्ति प्रदान करते हैं, अतः वासुदेव ही मुख्य कर्त्ता हैं, अतएव वासुदेवाश्रय क्रिया फल है किन्तु वासुदेव कर्त्तृक प्रयोज्य यजमान क्रिया फल का आश्रय नहीं हो सकता है। "शास्त्र फलं प्रयोक्तरि" अर्थात् शास्त्रका फल प्रयोक्ता में उपपन्न होता है। अर्थात् प्रयोजक कर्त्तानिष्ठ होता है।

ऐसा न होने पर क्रिया फल पुरोहित निष्ठ भी होने लगेगा। कारण, यह सब भी यज्ञादि कर्म्म करते रहते हैं। सुतरां यज्ञ जनित फल भागी यह सब क्यों नहीं होंगे ? इस अभिप्राय से ही मूल गद्य में लिखित है—"कर्त्तरि" अर्थात् साक्षात् कर्त्ता श्रीभगवान् में ही कर्म फल की भावना करते थे। वासुदेव सर्व नियन्ता होने के कारण ही साक्षात् कर्त्ता हैं। मीमांसक गण कहते हैं – क्रियाफल कर्त्तृ निष्ठ एवं देवता निष्ठ है। एतदुभय पक्ष के मध्य में कर्त्तृ निष्ठ क्रिया फल विचार में मुख्य कर्त्ता श्रीवासुदेव रूप में ही क्रिया फल का निर्णय हुआ है। "देवतानिष्ठ क्रिया फल" पक्ष में विचार प्रस्तुत करते हैं। देवतानिष्ठ क्रियाफल' पक्ष के विचार में भी क्रिया फल वासुदेव निष्ठ ही होता है। इस अभिप्राय से ही मूल गद्य में 'परदेवतायां' पदोल्लेख है। श्रीवासु देव ही परदेवता हैं। वासुदेव ही जो परदेवता हैं—इस में हेतु निर्द्देश करते हैं। "सर्व देवतालिङ्गानां मन्त्राणामर्थ नियामकतया" अर्थात् श्रीवासुदेव ही समस्त देवता का प्रकाशक है, इन्द्रादि देवतावृन्द का नियामक श्रीवासुदेव ही हैं, अतः उनकी प्रसन्नता सम्पादन कहना परम कर्त्तव्य हैं। अर्थात् सर्व देवता नियामक श्रीवासुदेव प्रसन्न होने से नियम्य इन्द्रादि देवगण स्वतः ही प्रसन्न होते हैं, अतएव श्रीवासुदेव को प्रसन्न करना कर्त्तव्य है। जब श्रीवासुदेव ही सर्वदेवता का नियामक हैं, तब "देवताश्रय अपूर्व" मीमांसक के द्वितीय मत में भी क्रिया फल श्रीवासुदेव निष्ठ ही होता है। कारण, नियामक तत्त्व की प्रसन्नता से नियम्य तत्त्व की प्रसन्नता स्वाभाविकी है। विशेषतः श्रीवासुदेव ही निखिल कर्म फल प्रदाता है। तज्जन्य कर्म्म जन्य फल वा अपूर्व, इस प्रकार भावना करना ही कर्म कर्त्ता का कर्मानुष्ठान नैपुण्य है। कारण, इस प्रकार वासुदेव में कर्म फल भावना करके कर्मानुष्ठान करने पर हृदय से रागद्वेष अनभिनिवेश प्रभृति दोष विदूरित होते हैं। मूल गद्य में "अध्वर्युभिः" पद में बहु वचन का प्रयोग—विभिन्न कर्म्मानुष्ठान का सूचक है। यहाँ पर स्वामि पादने श्रीविष्णु को अङ्गी रूप में निर्द्देश किया है। अतएव यज्ञाङ्ग रूप में श्रीवासुदेव का भजन करना अतीव दोषावह है। इस विषय में पद्मपुराण

लभ्यते । अत्र पाद्मोत्तरखण्डे यथा—

"उद्दिश्य देवता एव जुहोति च ददाति च । स पाषण्डीति विज्ञेयः स्वतन्त्रो वापि कर्मसु ॥"६४९॥ इति ।

पाषण्डित्वमत्र वैष्णवमार्गाद्भ्रष्टत्वमित्यर्थः, श्रीगीतासु च (९।२३--२४)

"येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥६५०॥
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्चयवन्ति ते ॥"६५१॥ इति ।

अतो वास्तवविचारे सर्व एव वेदमार्गाः श्रीभगवत्येव पर्य्यवस्यन्तीति अभिप्रेत्योक्तं श्रीमदक्रूरेण (भा० १०.४०।९-१०)—

"सर्व एव यजन्ति त्वां सर्वदेवमयेश्वरम् ।
येऽप्यन्य देवताभक्ता यद्यप्यन्यधियः प्रभो ॥६५२॥
यथाद्रिप्रभवा नद्यः पर्जन्यापूरिता विभो ।

के उत्तर खण्ड में लिखित है—

"उद्दिश्य देवता एव जुहोति च ददाति च ।
स पाषण्डीति विज्ञेयः स्वतन्त्रो वापि कर्म्मसु ॥"६४९।

जो व्यक्ति देवता को उद्देश्य करके आहुति प्रदान करता है, अथवा दान करता है, उस को पाषण्डी जानना चाहिये । अथवा जो व्यक्ति, कर्मानुष्ठान में अपने को स्वाधीन मानता है, वह पाषण्डी है । यहाँ पाषण्डी शब्द का अर्थ है—वैष्णव मार्ग से भ्रष्ट होना है । श्रीभगवद् गीता में भी उक्त है-(९।२३--२४)

"येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥६५०॥
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥"६५१॥ इति ।

जो अन्य देवता के भक्त होकर श्रद्धा पूर्वक उन उन देवता की आराधना करते हैं, हे कौन्तेय ! वे मेरी आराधना ही करते हैं, किन्तु अविधि पूर्वक करते हैं । अन्य देवता की आराधक कैसे मेरी आराधना करता है, उसको कहते हैं—"अहं हि सर्व यज्ञानां" मैं ही समस्त यज्ञों का भोक्ता हूँ, एवं प्रभु हूँ-अर्थात् नियामक एवं फल दाता हूँ । जो तत्वतः मुझ को नहीं जानते हैं, वे ही वैष्णव मार्ग से भ्रष्ट हैं । वस्तुतः शास्त्र विचार से प्रतिपन्न होता है कि समस्त शास्त्रों का पर्य्यवसान श्रीभगवान् में ही है । श्रीभगवद् गीता में उक्त है—"वेदैश्च सर्वैरहमेववेद्यः" हे अर्जुन ! समस्त वेदों में मैं ही वेद्य हूँ । यह सब प्रमाणों सुस्पष्ट प्रतिपन्न होता है कि—स्व रूपैश्वर्य्य माधुर्य्य पूर्ण भगवान् श्रीकृष्ण को समझाने के निमित्त ही समस्त वेद प्रवृत्त हुए हैं । इस अभिप्राय से ही भा० १०।४०।९--१० में श्रीअक्रूरने भी कहा है—

"सर्व एव यजन्ति त्वां सर्वदेवमयेश्वरम् ।
येऽप्यन्य देवताभक्ता यद्यप्यन्यधियः प्रभो ॥६५२॥
यथाद्रिप्रभवा नद्यः पर्जन्यापूरिता विभो ।

विशन्ति सर्वतः सिन्धुं तद्वत्त्वां गतयोऽन्ततः ॥६५३॥

गतयो मार्गाः, अन्ततो विचारपर्य्यवसानेन ॥

२२३। अथ द्वितीयं गद्यम् (भा० ५।७।७) —

(२२३) "एवं कर्म्मविशुद्धया विशुद्धसत्त्वस्यान्तर्हृदयाकाश-शरीरे ब्रह्मणि भगवति वासुदेवे महापुरुषरूपोपलक्षणे श्रीवत्सकौस्तुभ-वनमालारिदरगदादिभिरुपलक्षिते निजपुरुष-हृल्लिखितेनात्मनि पुरुषरूपेण विरोचमान उच्चैस्तरां भक्तिरनुदिनमेधमानरयाजायत" इति।

एवं पूर्व्वोक्तप्रकारेण कर्म्मविशुद्धया विशुद्धसत्त्वस्य भक्तिः सश्रद्ध-श्रवण-कीर्त्तनादिलक्षणा अजायतेत्यन्वयः क्वचिद्भगवति वासुदेवे पूर्णस्वरूपभगाभ्यां सर्वनिवासेन च तन्नाम्ना प्रसिद्धे

विशन्ति सर्वतः सिन्धुं तद्वत्त्वां गतयोऽन्ततः ॥"६५३॥

हे प्रभो ! सकल व्यक्ति ही आप की उपासना करते रहते हैं। जो, अन्य देवता के भक्त हैं, यद्यपि वे सब अन्य देवता में आसक्त चित्त हैं, तथापि आप की ही पूजा करते हैं। कारणः आप सर्वदेवमयेश्वर हैं। जिस प्रकार पर्वत से उद्भूत नदी समूह मेघ जल से पूर्ण होकर विभिन्न पथ के द्वारा समूद्र में प्रविष्ट होती हैं, उस प्रकार समस्त वेद, विचार पूर्वक आप में पर्य्यवसित होते हैं। अर्थात् आप को ही प्रतिपादन करने में प्रवृत्त हुए हैं। गतयः—शब्द का अर्थ मार्ग समूह हैं। अन्ततः—शब्द का अर्थ—विचार पर्य्यवसान के द्वारा ॥२२२॥

२२३। भा० ५।७।७ के पूर्वोक्त द्वितीयगद्य यह है।

(२२३) 'एवं कर्म्म विशुद्धया विशुद्ध सत्त्वस्य भक्तिः सश्रद्ध श्रवणकीर्त्तनादि लक्षणा अजायतेत्यन्वयः क्वचिद् भगवति वासुदेवे पूर्णस्वरूपभगाभ्यां सर्वनिवासेन च तन्नाम्ना प्रसिद्धे अन्तर्हृदये य आकाशः स एव शरीरं स्वस्यैवाविर्भाव विशेषाधिष्ठानं यस्य तस्मिन्नन्तर्यामिणि परमात्माख्ये, ब्रह्मणि निर्विशेषतया विर्भावात् तदाख्ये च भगवतो निराकारत्वं वारयति, महापुरुषस्य यद्रूपं शास्त्रे श्रूयते, तद्रूपं लक्ष्यते दृश्यते तत्र तस्मिन्। किञ्च, श्रीवत्सादिभिरपिचिह्निते। एधमानरया वर्द्धमान प्रकर्षा।

टीका—एवम्भूतया कर्म्मविशुद्धया विशुद्धसत्त्वस्य भक्तिरजायतेत्यनुषङ्गः। क्व? अन्तर्हृदये य आकाशः स एव शरीरमभिव्यक्तिस्थानं यस्य तस्मिन् ब्रह्मणि। कीदृशे? महापुरुषस्य उपलक्षणमाकारो यस्य तस्मिन्। किञ्च श्रीवत्सादिभिरुपलक्षिते निजपुरुषाणां नारदादीनां हृदि लिखितवन्निश्चलतया स्थितेन उक्तेन पुरुषरूपेण आत्मनि स्व मनसि विरोचमाने! कीदृशी भक्तिः? अत्यन्तातिशयेन एधमानो रयो वेग प्रकर्षो यस्याः ॥

पूर्व वर्णित रीति से श्रीभगवान् में अर्पित होने के कारण, जो कर्म्म—विशुद्ध होता है। अर्थात् जिस प्रकार पहले कहा गया है, कि—जिस धृतादि द्रव्य से व्याधि उत्पन्न होती है, उस घृतादि द्रव्य को द्रव्यान्तर की भावना के द्वारा शोधित करके सेवन करने से व्याधिविदूरित होती है। उस प्रकार जो कर्म्म जीव को संसार में आवद्ध करता है, उस कर्म्म श्रीभगवान् में अर्पित होने पर विशुद्ध होता है, एवं उस से चित्त शुद्ध होता है। उस विशुद्ध चित्त मानव के हृदय में श्रद्धा युक्त श्रवण कीर्त्तनादि लक्षणा भक्ति का आविर्भाव भगवान् वासुदेव में होता है। जो स्वरूप, गुण से सर्वथा परिपूर्ण होने के कारण, एवं निखिल पाप-नरक निरसन कारी होने के कारण वासुदेव नाम से विख्यात हैं। जो, अन्तर्हृदय में जो आकाश

अन्तर्हृदये य आकाशः स एव शरीरं स्वस्यैवाविर्भावविशेषाधिष्ठानं यस्य तस्मिन्नन्तर्यामिणि परमात्माख्ये, ब्रह्मणि निर्विशेषतयाविर्भावात् तदाख्ये च भगवतो निराकारत्वं वारयति, महापुरुषस्य यद्रूपं शास्त्रे श्रूयते, तदुपलक्ष्यते दृश्यते यत्र तस्मिन् । किञ्च, श्रीवत्सादिभिरपि चिह्निते । एधमानरया वर्द्धमानप्रकर्षा ।। श्रीशुकः ।।

२२४ । तदेतत् कर्मार्पणं द्विविधम्,–भगवत्प्रीणनरूपं तस्मिंस्तत्त्यागरूपञ्चेति, यथोक्तं कौर्म्ये—

"प्रीणातु भगवानीशः कर्मणानेन शाश्वतः । करोति सततं बुद्धया ब्रह्मार्पणमिदं परम् ।।६५४।।
यद्वा फलानां सन्न्यासं प्रकुर्य्यात् परमेश्वरे । कर्मणामेतदप्याहुर्ब्रह्मार्पणमनुत्तमम् ।।६५५।। इति ।

अत्र निमित्तानि च त्रीणि,–कामना, नैष्कर्म्यम्, भक्तिमात्रञ्चेति । निष्कामत्वन्तु केवलं न सम्भवति,– "यद् यद्धि कुरुते जन्तुस्तत्तत् कामस्य चेष्टितम्" इत्युक्तेः । अत्र च कामना-

---

विद्यमान है, वह आकाश ही जिन श्रीभगवान् के आविर्भाव विशेष का शरीर है, अर्थात् अधिष्ठान स्वरूप है। उस परमात्म संज्ञक अन्तर्य्यामि स्वरूप में एवं निर्विशेष रूप में आविर्भूत होने के कारण, जिन की चिन्मात्रसत्ता ब्रह्म नाम से विख्यात है, उन वासुदेव स्वरूप में कर्म्म फल समर्पण के द्वारा अधिकतर भक्ति का आविर्भाव होता है। श्रीभगवान् का निराकारत्व निवारक विशेषण--"महापुरुषोपलक्षणे" है, अर्थात शास्त्र में महापुरुष का जो लक्षण वर्णित है, वह रूप जिस भगवत् स्वरूप में दृष्ट होता है, उस रूप का विशेष परिचय प्रदान करते हैं। श्रीवत्स, कौस्तुभ, शङ्ख, चक्र, गदा प्रभृति के द्वारा उपलक्षित अर्थात् चिह्नित हैं। और भी एक विशेषण है—"हृल्लिखितेन आत्मणि पुरुषरूपेण विरोचमाने" अर्थात् निज भक्त जन के हृदय में अङ्कित पुरुष रूप में सुशोभित हैं। उक्त गद्य का निष्कर्ष यह है - विशुद्ध कर्मानुष्ठान के द्वारा विशुद्ध चित्त भक्त के हृदय में श्रीभगवान् की श्रद्धा युक्त श्रवण कीर्त्तनादि लक्षणा भक्ति प्रत्यह वेगवती होकर प्रकाशिता होती है। जो श्रीभगवान् निर्विशेष स्वरूप में आविर्भूत होकर ब्रह्म संज्ञा प्राप्त करते हैं, एवं जीव—प्रकृति के नियामक रूप में परमात्म संज्ञा प्राप्त करते हैं, जो भक्त हृदय में उत्कीर्ण चित्त के समान शोभित होते हैं, जो श्रीभगवान् श्रीवत्स, कौस्तुभ चक्र, शङ्ख, गदा प्रभृति भूषण एवं चिह्न से चिह्नित हैं, उन वासुदेव संज्ञक भगवान् में भक्ति होती है।

प्रवक्ता श्रीशुक हैं—।।२२३।।

२२४। पूर्वोक्त कर्म्मार्पण द्विविध हैं। (१) भगवत् प्रीणन रूप, एवं (२) भगवत् अर्पणरूप। कूर्म्म पुराण में उक्त है—

"प्रीणातु भगवानीशः कर्मणानेन शाश्वतः। करोति सततं बुद्धया ब्रह्मार्पणमिदं परम् ।।६५४।।
यद्वा फलानां सन्न्यासं प्रकुर्य्यात् परमेश्वरे। कर्मणामेतदप्याहुर्ब्रह्मार्पणमनुत्तमम् ।।" ६५५।। इति ।

अर्थात् परमेश्वर भगवान् इस कर्म्म के द्वारा सन्तुष्ट हों, इस बुद्धि से जो कर्म्म करता है, वह श्रेष्ठ कर्म्मार्पण है।

अथवा, जो परमेश्वर में समस्त कर्म्म फल अर्पण करता है, यह कर्म्मफल समर्पण श्रेष्ठ ब्रह्मार्पण है। उस कर्म्मार्पण के त्रिविध हेतु हैं। प्रथम—कामनासिद्धि, द्वितीय– नैष्कर्म्य, तृतीय—भक्तिमात्र। केवल निष्काम भाव सम्भव नहीं है। कारण–"यत् यद्धिकुरुते जन्तुस्तत्तत् कामस्य चेष्टितम्" जन्तु अर्थात् जीव समूह जो कुछ करते रहते हैं—यह सभी कामना की चेष्टा के फल हैं। पूर्वोक्त तीन प्रकार निमित्त के मध्य

नैष्कर्म्म्ययो: प्राय: कर्म्मत्याग:, प्रीणनन्तु तदाभास एव, स्वार्थपरत्वात् । भक्तौ पुन: प्रीणनमेव, भक्तेस्तदेक जीवनत्वात् । कामनाप्राप्तिर्यथा (भा० ८।५।४७)—"क्लेशभूर्य्यल्पसाराणि" इत्यादि । यथा चाङ्गस्य राज्ञ: पुरुषार्थके यज्ञे, नैष्कर्म्म्यप्राप्तिश्च (भा० ११।३।४६) —"वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे । नैष्कर्म्म्यां लभते सिद्धिम्" इत्यत्र । अथ भक्तिप्राप्तिश्च "एवं कर्म्म-विशुद्धया" इत्यादि-गद्ये दर्शितैव, (भा० १।५।३५)—

"यदत्र क्रियते कर्म्म भगवत्परितोषणम् ।
ज्ञानं यत्तदधीनं हि भक्तियोगसमन्वितम् ॥"६५६॥

इत्यत्र च । भक्तियोगसहचरत्वात् ज्ञानमत्र भगवज्ज्ञानम् । परमभक्तास्तु भगवत्परितोषणं प्रीणनमेव-प्रार्थयन्ते (भा० ४।३०।३९-४०)—

(२२४) "यन्नः स्वधीतं गुरवः प्रसादिता, विप्राश्च वृद्धाश्च सदानुवृत्त्या ।

में कामना एवं नैष्कर्म्म्य प्रायश: ही कर्म्मत्याग रूप है, भगवत् प्रीणन इस में आभास मात्र ही है । कारण कामना एवं नैष्कर्म्म्य के मध्य में स्वार्थ परता है, किन्तु भक्ति का पूर्णतात्पर्य्य भगवत् प्रीणन में ही है । कारण, भगवत् सन्तोष ही भक्ति का एकमात्र जीवन है । कामना प्राप्ति तात् पर्य्य में अनुष्ठित कर्म्म समूह के द्वारा फल प्राप्ति प्रायश: विपरीत रूप में होते है । भा० ८।५।४७ में उक्त है—"क्लेशभूर्य्यल्पसाराणि कर्म्माणि विफलानि वा" इस के अनुसार काम्य कर्म्मानुष्ठान द्वारा क्लेश प्रचुर सार अल्प होता है, अर्थात् फल अल्प होता है, अथवा, क्लेश मात्र ही होता है । फल लाभ होता ही नहीं । अथवा, पुत्र प्राप्ति कामना से अङ्ग महाराज द्वारा अनुष्ठित यज्ञ का फल से वेण नामक असत् पुत्रोत्पन्न हुआ था, उस से उत्पन्न उद्वेग तो हुआ ही था, विशेष कर मृत्यु भी हुई थी । इस प्रकार सकाम कर्म्मानुष्ठान के द्वारा प्रायश: फल वैपरीत्य ही होता है । नैष्कर्म्म्य निमित्त कर्म का विवरण भा० ११।३ ४६ में है—

"वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे ।
नैष्कर्म्म्यां लभते सिद्धिम् । रोचनार्था फल श्रुति: ॥"

निष्काम भाव से जो कर्म अनुष्ठान करके ईश्वर को समर्पण करता है—वह नैष्कर्म्म्यसिद्धि लाभ करता है । अनन्तर निष्काम भाव से श्रीभगवान् को कर्म अर्पण करके कर्म्म अनुष्ठान करने के कारण, जिस प्रकार भक्ति लाभ होता है, एवं कर्म्म विशुद्धि का विवरण भा० ५।७।७ में कथित हुआ है । भा० १।५।३५ में कथित है—

"यदत्र क्रियते कर्म्म भगवत् परितोषणम् ।
ज्ञान यत्तदधीनं हि भक्तियोगसमन्वितम् ॥"६५६॥

टीका—ननु च ज्ञानेनाज्ञानप्राप्तकर्म्मनाश:, तच्च ज्ञानं भक्ति योगाद् भवति कथं कर्मणा कर्म्मनाश: स्यात् । तत्राह यदत्रेति ॥

अर्थात् भगवत् सन्तोषार्थ जो कर्म अनुष्ठित होता है । उस से भक्ति योग समन्वित भगवत् ज्ञान लाभ होता है । यहाँपर ज्ञान शब्द से भगवद् विषयक ज्ञान को जानना होगा । कारण जो ज्ञान भक्ति योग के सहित मिलित है । वह ब्रह्म विषयक ज्ञान नहीं हो सकता है । अतएव यह ज्ञान भगवद् विषयक है । परम भक्त वृन्द-किन्तु, भगवत् सन्तोष रूप प्रीणन की ही प्रार्थना करते हैं । जिस प्रकार भा० ४।३०।३९-४० में उक्त है—

आर्य्या नताः सुहृदो भ्रातरश्च, सर्वाणि भूतान्यनसूययैव ॥६५७॥
यन्नः सुतप्तं तप एतदीश, निरन्धसां कालमदभ्रमप्सु ।
सर्वं तदेतत् पुरुषस्य भूम्नो, वृणीमहे ते परितोषणाय ॥"६५८॥

अदभ्रं बहुकालं ते तव परितोषणाय भवत्विति वृणीमहे ॥ प्रचेतसः श्रीमदष्टभुजं पुरुषम् ॥ २२५ । तदेवमारोपसिद्धा दर्शिता । अथ सङ्गसिद्धोदाहरणप्राप्ता मिश्रा भक्तिर्दर्श्यते । स्वरूप-सिद्धासङ्गेन ह्यन्येषामपि भक्तित्वं दर्शितम् (भा० ११।३।२२) "तत्र भागवतान् धर्म्मान्" इत्यादि-श्रीप्रबुद्धवाक्य-प्रकरणे सर्व्वासङ्ग-दयामैत्र्यादीनामपि भागवतधर्म्मत्वाभिधानात् । तत्र कर्म्ममिश्रा त्रिविधा सम्भवति,--सकामा, कैवल्यकामा, भक्तिमात्रकामा च । यद्यपि काम-कैवल्ये अपि,—

"या वै साधनसम्पत्तिः पुरुषार्थचतुष्टये । तया विना तदाप्नोति नरो नारायणाश्रयः ॥६५९॥

---

(२२४) "यन्नः स्वधीतं गुरवः प्रसादिता, विप्राश्च वृद्धाश्च सदानुवृत्त्या ।
आर्य्या नताः सुहृदो भ्रातरश्च, सर्वाणि भूतान्यनसूययैव ॥६५७॥
यन्नः सुतप्तं तप एतदीश, निरन्धसां कालमदभ्रमप्सु ।
सर्वं तदेतत् पुरुषस्य भूम्नो, वृणीमहे ते परितोषणाय ॥"६५८॥

हे प्रभो ! हम सबने उत्तम रूप से जो वेदाध्ययन किया, अनुकूल वृत्ति से गुरु, विप्र, एवं वृद्ध ब्राह्मण वृन्द को सन्तुष्ट किया है । मान्य व्यक्ति, सुहृद् जन एवं भ्रातृ वर्ग को जो नमस्कार किया गया है । समस्त प्राणियों के प्रति असूया वर्जन करके सुदीर्घ काल जल के मध्य मे जो तपस्या की है, यह समस्त कर्म आप के सन्तोष के निमित्त हों । हे प्रभो ! आप, परम पुरुष हैं, आप का सन्तोष ही हम सब का प्रार्थनीय है । इस की प्रार्थना ही हम सब करते हैं ।

प्रचेतावृन्द श्रीमदष्टभुज पुरुष को कहे थे ॥२२४॥

२२५ । पूर्व वर्णित रीति से आरोप सिद्धा भक्ति का वर्णन हुआ । अनन्तर सङ्गसिद्धा के उदाहरण मे उपस्थित मिश्राभक्ति का प्रदर्शन करते हैं । स्वरूप सिद्धा भक्ति के सहित कर्म ज्ञानादि का भी भक्तित्व प्रदर्शित हुआ है । अर्थात् यद्यपि कर्म्मज्ञानादि का साधन भक्ति से भिन्न है, तथापि भक्ति के सहित अनुष्ठित होने से उस का भी भक्तित्व सिद्ध होता है। इसका प्रदर्शन भी हुआ है । भा० ११।३।२२ में लिखित है—

"तत्र भागवतान् धर्म्मान् शिक्षेत्" अर्थात् श्रीगुरु चरण के समीप से ही भागवत धर्म की शिक्षा करे, इस प्रकार उपक्रम करके उक्त है—"सर्वतो मनसोऽसङ्गं" अर्थात् सर्वत्र मनकी अनासक्ति की शिक्षा करे। उस के मध्य में सर्वभूत में दया मित्रता प्रभृति का भी भागवत धर्मत्व कथित हुआ है । यद्यपि मनकी अनासक्ति का भूतदया प्रभृति में साक्षाद् भक्ति धर्मत्व नहीं है । अर्थात् जिस साधन के सहित श्रीभगवान् का साक्षात् सम्बन्ध नहीं है । अथच उस से भगवद् भक्ति की सहायता होती है । उस को भी भक्ति शब्द से कहा गया है । जिस प्रकार श्रीहरि कथा श्रवणमें श्रवणेन्द्रिय का साक्षात् सम्बन्ध होता है । कीर्त्तन में भी जिह्वा का साक्षात् सम्बन्ध होता है, तज्जन्य उसे भक्ति कहते हैं । उस प्रकार भूत दया प्रभृति में साक्षाद्रूप से भगवान् का सम्बन्ध न होने के कारण वह भक्ति संज्ञा से अभिहित नहीं होती है । उस के मध्य में कर्म मिश्राभक्ति तीन प्रकार हैं । सकामा, कैवल्य कामा, एवं भक्ति कामा । यद्यपि काम एवं कैवल्य, भक्ति द्वारा ही लभ्य हो सकता है, कारण उक्त है—

इत्युक्तेः केवलयैव भक्त्या सम्भवतः, तथापि तत्तद्वासनानुसारेण तत्र तत्र रुचिर्जायत इत्येवं तत्तदर्थं तन्मिश्रता तु जायत इत्यवगन्तव्यम्। ततः सकामा प्रायः कर्म्ममिश्रैव। तत्र कर्म्म-शब्देन धर्म्म एव गृह्यते। तल्लक्षणञ्च यमदूतैः सामान्यत उक्तम् (भा० ६।१।४०) "वेदप्रणिहितो धर्म्मः" इति, वेदोऽत्र त्रैगुण्य-विषयः, (२।४५) "त्रैगुण्यविषया वेदाः" इति श्रीगीतोक्तेः, तत्प्रवर्त्तनमात्रत्वेन सिद्धः, न तु भक्तिवद-ज्ञानेनापीत्यर्थः। श्रीगीतास्वेवान्यत्र तस्य कर्म्म-संज्ञितत्वञ्चोक्तम् (गी० ८।३)—"भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्म्मसंज्ञितः" इति विसर्गो देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागः, तदुपलक्षितः सर्वोऽपि धर्म्मः कर्म्मसंज्ञित इत्यर्थः। स च भूतानां प्राणिनां ये भावा वासनास्तेषामुद्भवकर इति विशेषणाद्भगवद्भक्तित्वं वृत्तः। अथ भक्तिः सञ्ज्ञाय धर्म्मस्य वैशिष्टचञ्चैकादशे श्रीभगवतोक्तम् (भा० ११।१९।२७) "धर्म्मो मद्भक्तिकृत् प्रोक्तः" इति। भगवदर्पणेन भक्तिपरिकरीकृतत्वेन च भक्तिकृत्त्वमुच्यते। तदेवमीदृशेन कर्म्मणा मिश्रा सकामा भक्तिर्यथा (भा० ३।२२।६—७)—

"या वै साधन सम्पत्तिः पुरुषार्थ चतुष्टये।
तया विना तदाप्नोति नरो नारायणाश्रयः।।६५६।

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष,—यह चतुर्विध पुरुषार्थ प्राप्ति हेतु जिस साधन सम्पति की वार्त्ता शास्त्र में कीर्त्तित है, जो मानव एकान्त भाव से श्रीनारायण पदाश्रय करता है। वह उन सब साधन अनुष्ठान न करके भी अनायास उस चतुर्वर्ग फल को प्राप्त करने में सक्षम होता है, तथापि उस उस वासना के अनुसार यदि काम्य कर्म एवं ज्ञान साधन में रुचि उत्पन्न हुई हो तो, इस प्रकार धर्मादि पुरुषार्थ चतुष्टय प्राप्ति के निमित्त कर्म्मादि मिश्रा भक्ति का अनुष्ठान होता है। अतएव सकामा भक्ति प्रायशः कर्म्म मिश्रा ही होती है। जहाँ पर कर्म शब्द का अर्थ धर्म होता है, वहाँ धर्म का लक्षण यम दूत गण की उक्ति से जानना होगा। भा० ६।१।४० में उन्होंने कहा है—"वेद प्रणिहितोधर्म्मः" जो वेद विहित है—वही धर्म है। यहाँ वेद शब्द से त्रैगुण्य विषयक वेद को जानना होगा। कारण गीता २।४५ में उक्त है—"त्रैगुण्य विषया वेदाः" अर्थात् त्रिगुण प्रतिपादक वेद है। इस वेद की आदेश विधि से जो सिद्ध होता है, वही धर्म है। किन्तु, भक्ति के समान अज्ञान से प्रवर्त्तित होने से वह धर्म नहीं होगा। अर्थात् उस को नहीं कहा जा सकता है। भक्ति मार्ग में प्रविष्ट होने के निमित्त रुचि प्रधान कारण हैं, किन्तु बोध प्रधान कारण नहीं है। अज्ञान से भी यदि भक्ति अनुष्ठित होती है तो अनुष्ठान कारी फल लाभ से वञ्चित नहीं होगा। किन्तु धर्म उस प्रकार नहीं है। वेद विधि बांधित होकर अनुष्ठित होने से ही फल लाभ होगा। अन्यथा अनुष्ठान फल प्रदान में असमर्थ होगा। भगवद् गीता के ८।३। में कर्म को धर्म शब्द से कहा गया है। "भूतभावोद्भव करो विसर्गः कर्म संज्ञितः" अर्थात् देवता को उद्देश्य करके द्रव्य त्याग करने का नाम हो विसर्ग है, एवं इस विसर्ग का नाम ही कर्म है। देवता के उद्देश्य में द्रव्य त्याग, एवं "भूतभावोद्भवकर." अर्थात् प्राणि मात्र की वासना का उदगम कारी अर्थात् जिस से वासना का उद्गम होता है, वह कभी भी भगवद् भक्ति नाम से अभिहित हो ही नहीं सकता है। कारण, भगवद् भक्ति का स्वभाव ही है—अन्य समस्त भोग वासना को विनष्ट करके भगवद् विषय मे निविड़ आकाङ्क्षा उत्पन्न करना। धर्म की भक्ति संज्ञा प्राप्ति हेतु वैशिष्टच का कथन श्रीभगवान् भागवत के ११।१९।२७ में किये हैं। "धर्मोमद्भक्तिकृत् प्रोक्तः" अर्थात् मुझ में भक्ति करने का नाम धर्म्म है। श्रीभगवान् में कर्मार्पण के द्वारा भक्ति परिकर करने से उस धर्म को भक्ति कहते

(२२५) "प्रजाः सृजेति भगवान् कर्द्दमो ब्रह्मणोदितः ।
सरस्वत्यां तपस्तेपे सहस्राणां समा दश ॥६६०॥
ततः समाधियुक्तेन क्रियायोगेन कर्द्दमः ।
संप्रपेदे हरिं भक्त्या प्रपन्नवरदाशुषम् ॥"६६१॥

अत्र तद्दर्शनजात--भगवदश्रुपातलिङ्गेन निष्कामस्याप्यस्य ब्रह्मादेशगौरवेणैव कामना ज्ञेया ॥ श्रीमैत्रेयो विदुरम् ॥

२२६ । अथ कैवल्यकामा, क्वचित् कर्म्मज्ञानमिश्रा क्वचिज्ज्ञानमिश्रा च तत्र ज्ञानम् (भा० ११।१९।२७) "ज्ञानञ्चैकात्म्यदर्शनम्" इति दर्शितम् । तदीयश्रवणादीनां वैराग्ययोग--सांख्यानाञ्च तदङ्गत्वात्तदन्तः-पातः । अथ कर्म्मज्ञानमिश्रा यथा (भा० ३।२७।२१-:२३) —

(२२६) "अनिमित्तनिमित्तेन स्वधर्म्मेणामलात्मना ।

हैं । ऐसा होने पर कर्म मिश्रा कामा भक्ति की कथा भा० ३।२१।६-७ में वर्णित है ।

(२२५) "प्रजाः सृजेति भगवान् कर्द्दमो ब्रह्मणोदितः ॥
सरस्वत्यां तपस्तेपे सहस्राणां समा दश ॥६६०॥
ततः समाधियुक्तेन क्रियायोगेन कर्द्दमः ।
संप्रपेदे हरिं भक्त्या प्रपन्नवरदाशुषम् ॥"६६१॥

टीका—सहस्राणां समादश—दश सहस्राणि संवत्सराणीत्यर्थः ततस्तस्मिन् तपसि । क्रिया योगेण--पूजा प्रकारेण । सम्प्रपेदे—सिषेवे प्रपन्नेभ्यो भक्तेभ्यो वर दातारम् ॥

ब्रह्मा भगवान् कर्द्दम को कहे थे । तुम प्रजा सृजन करो । इस प्रकार आदिष्ट होकर सरस्वती नदी में दश सहस्र वत्सर, आप तपस्ता किये थे । अनन्तर एकाग्रचित्त से विधि पूर्वक पूजन प्रकार के द्वारा भक्ति पूर्वक प्रपन्न वरद श्रीहरि की सेवा किये थे । इस प्रसङ्ग के अग्रिम ग्रन्थ भा० ३।२१।३८ में वर्णित है—

"यस्मिन् भगवतो नेत्रान्न्यपतन् हर्ष विन्दवः ।
कृपया सम्परीतस्य प्रपन्नेऽर्पितया भृशम् ॥"

जहाँ शरणागत कर्दम ऋषि को देखकर श्रीभगवान् के नेत्र से अश्रुबिन्दु निपतित हुए थे । इस प्रकार उल्लेख से सुस्पष्ट प्रतीत होता हैं कि—कर्दम ऋषि पहले निष्काम भक्त ही थे । किन्तु निज पिता, गुरु, भक्त प्रवर श्रीब्रह्मा की आदेश मर्य्यादा रक्षा हेतु सकाम भाव से भगवदाराधना किये थे । ऐसा न होने से सकाम भक्त दर्शन से श्रीभगवान् के नेत्र युगल से अश्रुपात नहीं होता ।

मैत्रेय विदुर को कहे थे ॥२२५॥

२२६ । अनन्तर कैवल्य कामा भक्ति का प्रदर्शन करते हैं । यह कैवल्य कामा भक्ति, नहीं कर्म ज्ञान मिश्रा कहीं ज्ञान मिश्रा होती है । उस के मध्य में ज्ञान शब्द का अर्थ ऐकात्म्य दर्शन है, जीवात्मा एवं परमात्मा का स्वरूपतः अभेद दर्शन ज्ञान । भा० १२।१९।२७ "ज्ञानञ्चैकात्म्य दर्शनम्" में इस का उल्लेख है । इस का वर्णन पहले हुआ है । उस ज्ञानाङ्ग श्रवण मननादि एवं वैराग्य, योग, सांख्य,-ज्ञान के अङ्ग होने के कारण यह सब भक्ति के मध्य में परिगणित नहीं होते हैं । उभय विध कैवल्य कामा भक्ति के मध्य में कर्म ज्ञान मिश्रा भक्ति का दृष्टान्त भा० ३।२७।२१--२३ में है ।

तीव्रया मयि भक्त्या च श्रुतसम्भृतया चिरम् ॥६६२॥
ज्ञानेन दृष्टतत्त्वेन वैराग्येण बलीयसा ।
तपोयुक्तेन योगेन तीव्रेणात्मसमाधिना ॥६६३॥
प्रकृतिः पुरुषस्येह दह्यमाना त्वहर्निशम् ।
तिरोभवित्री शनकैरग्नेर्योनिरिवारणिः ॥"६६४॥

निमित्तं फलम्, तत्र निमित्तं प्रवर्त्तकं यस्मिन् तेन निष्कामेण, अमलात्मना निर्म्मलेन मनसा, ज्ञानेन शास्त्रोत्थेन, योगो जीवात्मपरमात्मनोर्ध्यानम्—"योगः सन्नहनोपाय-ध्यान--सङ्गतियुक्तिषु" इति नानार्थ-वर्गात् ध्यानमेव ध्यातृ-ध्येय-विवेकरहितं समाधिः । अत्र (भा० १०।८१।१९) "सर्वासामेव सिद्धीनां मूलं तच्चरणार्चनम्" इत्युक्त्या भक्तेरेवाङ्गित्वेऽपि अङ्गवन्निर्द्देशस्तेषां तत्र साधनान्तर-सामान्यदृष्टि-रित्यभिप्रायेण । अतएव तेषां मोक्षमात्रमेव फलमिति ॥ श्रीकपिलदेवः ॥

---

(२२६) 'अनिमित्तनिमित्तेन स्वधर्म्मेणामलात्मना ।
तीव्रया मयि भक्त्या च श्रुतसम्भृतया चिरम् ॥६६२॥
ज्ञानेन दृष्टतत्त्वेन वैराग्येण बलीयसा ।
तपोयुक्तेन योगेन तीव्रेणात्मसमाधिना ॥६६३॥
प्रकृतिः पुरुषस्येह दह्यमाना त्वहर्निशम् ।
तिरोभवित्री शनकैरग्नेर्योनिरिवारणिः ॥"६६०॥

श्रीभगवान् कपिल देव निज जननी को कहे थे—हे मातः ! केवल प्रकृति सम्बन्ध ही जीव का बन्धन का कारण है। किन्तु गुण बुद्धि से उस प्रकृति कार्य्य में आसक्ति निवृत्ति होने पर जीव की मुक्ति हो सकती है। तब जो आचरण परायण व्यक्ति की आसक्ति प्रकृति कार्य्य में परिलक्षित होती है। वह साधन वैकल्य से ही होती है। इस अभिप्राय से ही साधनाति शय का वर्णन करतः भय निवृत्ति का उपाय को कहते हैं। फलाभि सन्धि रहित का नाम ही अनिमित्त है। उस अनिमित्त ही जिस कार्य्य में प्रवृत्ति के हेतु है—उस का नाम—अनिमित्त निमित्त है। इस प्रकार धर्म्म में धर्म्मानुष्ठान के द्वारा, अर्थात् फलाभि सन्धि शून्य स्वधर्म में निर्म्मल चित्त के द्वारा, एवं कथा श्रवण के द्वारा परिपुष्टा मुझ में तीव्र भक्ति द्वारा, एवं तत्वदर्शी शास्त्रोत्थ ज्ञानद्वय द्वारा, एवं जीवात्मापरमात्मा का ध्यानरूप योग द्वारा एवं बलीयान् वैराग्य द्वारा, एवं जो तीव्रध्यान ही ध्यातृ ध्येय विवेकशून्य होने से समाधि संज्ञा प्राप्त होता है, उस समाधि द्वारा, जो प्रकृति अहर्निश प्रचुरतर भाव से अभिभूयमान होने से भी क्रम पूर्वक अग्नि का उद्भवस्थल काष्ठ के समान, अर्थात् अग्नि अतिशय प्रबल होने पर अग्नि को निर्वापित करने के निमित्त जिस प्रकार मानव अग्नि प्रज्वलन का कारण काष्ठ को अग्निसे विदूरित करता है। उस प्रकार मायाभी निज अंश अविद्या के सहित उस साधक जन से तिरोहिता होती है। यहाँ ज्ञातव्य यह है कि—भा० १०।८१।१९ में उक्त "सर्वासामेव सिद्धानां मूलं तच्चरणार्च्चनम्" श्रीविष्णु के चरणार्च्चन ही समस्त प्रकार सिद्धिलाभ का मूल हेतु है, इस प्रकार उल्लेख होने कारण भक्ति ही निखिल साधनों की अङ्गिनी है, कर्म, योग, ज्ञान प्रभृति उस के अङ्ग हैं। तथापि यहाँपर भक्ति को कर्म ज्ञान योग प्रभृति का अङ्ग रूप में निर्देश किया गया है—उस का कारण

२२७। अथ ज्ञानमिश्रामाह (भा० ११।१८।२१)—

(२२७) "विविक्तक्षेमशरणो मद्भाव-विमलाशयः।
आत्मानं चिन्तयेदेकमभेदेन मया मुनिः ॥"६६५॥

भावो भावना ॥ श्रीभगवान् ॥

२२८। तदेवं कैवल्यकामायां ज्ञानमिश्रोक्ता। अथ भक्तिमात्रकामायां कर्म्ममिश्रा यथा (भा० ११।१९।२०)–

"श्रद्धामृतकथायां मे शश्वन्मदनुकीर्त्तनम्।
परिनिष्ठा च पूजायां स्तुतिभिः स्तवनं मम ॥"६६६॥ इत्यादि,

(भा० ११।१९।२३–२४) —

(२२८) "मदर्थेऽर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च।
इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद्व्रतं तपः ॥६६७॥

है—उक्त साधक वृन्द की साधारण दृष्टि, कर्म योग ज्ञानादि के सहित भक्ति में है। इस अभिप्राय से ही भक्ति को ज्ञान योग कर्मादि का अङ्ग रूप में निर्देश किया गया है। अतएव उन सब साधकों को मोक्षलाभ ही होता है, किन्तु श्रीभगवान् के श्रीचरण युगल में प्रेमलाभ नहीं होता है ॥२२६॥

२२७। अनन्तर कैवल्य कामा के मध्य में द्वितीय प्रकार ज्ञान मिश्रा भक्ति का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। भा० ११।१८।२१ में उक्त है—

(२२७) "विविक्तक्षेमशरणो मद्भाव--विमलाशयः।
आत्मानं चिन्तयेदेकमभेदेन मया मुनिः ॥"६६५॥

टीका—विविक्तं विजनं, क्षेमं, निर्भयं, शरणं स्थानं यस्य स, मयिभावेन विमल आशयोयस्य सः ॥

मुनि, विजन एवं निर्भय स्थान में अवस्थान करतः मदीय भावना से निर्म्मलान्तः करण होकर मेरे सहित अभिन्न रूप में एकमात्र मेरी चिन्ता करे। भावः—शब्द का अर्थ है भावना।

श्रीभगवान् कहे थे ॥२२७॥

२२८। कैवल्य कामा भक्ति के मध्य में ज्ञानमिश्रा भक्ति का वर्णन किया गया है। अनन्तर भक्तिमात्र काम्या भक्ति के मध्य में कर्म्म मिश्रा भक्ति का दृष्टान्त का उल्लेख करते हैं। भा० ११।१९।२० में वर्णित है-

"श्रद्धामृतकथायां मे शश्वन्मदनुकीर्त्तनम्।
परिनिष्ठा च पूजायां स्तुतिभिः स्तवनं मम ॥"६६६॥

टीका—श्रद्धा--श्रवणादरः। शश्वदिति सर्वत्रानुषज्जते। मदनुकीर्त्तनं श्रवणानन्तरं मत्कथा व्याख्यामित्यर्थ।

मेरी अमृतमयी कथा में श्रद्धा, अर्थात् श्रवणादर, निरन्तर मेरा कीर्त्तन, मेरी पूजा में सर्वतोभावेन निष्ठा, स्तुति समूह के द्वारा मेरा स्तव करना। भा० ११।१९।२३--२४ में उक्त है—

(२२८) "मदर्थेऽर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च।
इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद्व्रतं तपः ॥६६७॥

एवं धर्म्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम् ।
मयि सञ्जायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यते ॥"६६८॥ इत्यन्तम् ।

मदर्थे मद्‌भजनार्थं तद्विरोधिनोऽर्थस्य परित्यागः, भोगस्य तत्साधनस्य चन्दनादेः' सुखस्य पुत्रोपलालनादेः, इष्टादि वैदिकं यत् कर्म्म, तदपि मदर्थं कृतं भक्तेः कारणमित्यर्थः । धर्म्मै-र्भागवताभिधैः, एवं काय-वाङ्मनोभिस्तदर्थमात्रचेष्टावत्त्वेनानुष्ठितैर्भगवद्धर्म्मैरात्मनिवेदिनाम् (भा० ५।१८।१२) "यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना" इत्यादि-न्यायेनास्य भक्तिमात्र कामस्यान्यः कोऽर्थः साधनरूपः साध्यरूपो वा-वशिष्यते ? सर्व्वोऽसावनादृतोऽपि तदाश्रितोऽपि भवतीत्यर्थः ॥ श्रीभगवान् ॥

२२९ । कर्म्म-ज्ञानमिश्रा यथा (भा० ३।२९।१५–१०)–

(२२९) "निषेवितानिमित्तेन स्वधर्म्मेण महीयसा ।
क्रियायोगेन शस्तेन नातिहिंस्रेण नित्यशः ॥६६९॥

एवं धर्म्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम् ।
मयि सञ्जायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यते ॥६६८॥

देश कालोचित मेरी परिचर्य्या का आदर, अष्टाङ्ग प्रणाम मेरी पूजा से मेरे भक्त की पूजा का अधिक महत्त्व, कारण भक्त की पूजा करने से मेरा अतिशय सन्तोष होता है । दृश्यमान सर्वभूत में मेरी सत्ता है । इस दृष्टि से आदर प्रदान करना, मेरा भजन हेतु कायिक चेष्टा, लौकिक वाक्य के द्वारा भी मेरा गुण वर्णन, सङ्कल्पात्मक मन को मुझ को अर्पण करे मुझ को छोड़कर अन्यत्र अभिलाष वर्जन करे । मेरा भजन के आनुकूल्य हेतु भक्ति विरोधी विषयों को परित्याग करे, भोग साधन चन्दनादि परित्याग करे । पुत्र लालन पालनादि सुख परित्याग करे, मेरे उद्देश्य में कर्म्मानुष्ठान करे । कारण, मदीय सुखार्थ अनुष्ठित वैदिक कर्म भक्ति लाभ का कारण होता है । विष्णु वैष्णव सन्तोषार्थ दान करे । ब्राह्मण वैष्णव को घृत पक्वान्न प्रदान करे । भगवन्नाम का मन्त्र जप करके मुझ को समर्पण करे । मुझको प्राप्त करने के निमित्त एकादशी प्रभृति में उपवास करना ही भक्त की तपस्या है । हे उद्धव ! इस रीति से अनुष्ठित भागवत धर्म के द्वारा मुझ को आत्मसमर्पण कारी मनुष्य वृन्द की भक्ति वृद्धि होती है । अर्थात् इस प्रकार अनुष्ठित साधन भक्ति के द्वारा प्रेम भक्ति मिलती है । इस प्रकार काय वाक्य मन के द्वारा केवल भगवत् सन्तोषार्थ चेष्टा करके अनुष्ठित भागवत धर्म के द्वारा जिन्होंने भगवान् को आत्मसमर्पण किया है । एवं भजन के विनिमय में अन्य कुछ नहीं चाहा है । उनकी साधन रूप अथवा साध्य रूप किसी प्रकार प्रयोजन प्राप्ति अवशिष्ट नहीं रह जाती है । समस्त प्रयोजन बिना प्रयत्न से स्वयं ही सिद्ध होते हैं । यदि भक्ति मात्र कामी भक्त, धर्मार्थ काम मोक्ष प्रभृति को अनादर करता है, तथापि उक्त समस्त पुरुषार्थ उक्त भक्त के अनुगत होकर रहते हैं । कारण, भा० ५।१८।१२ में कथित है —

"यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्रसमासतेसुराः ॥"

श्रीभगवान् में जिसकी अकिञ्चनाभक्ति है, गरुड़ प्रभृति श्रीभगवान् के प्रिय पार्षद वृन्द समस्त गुणों के सहित उस भक्त में आसक्त होते हैं । श्रीभगवान् कहे थे ॥२२८॥

२२९ । भा० ३।२९।१५--१९ में कर्म ज्ञान मिश्रा भक्ति का वर्णन है—

मद्धिष्ण्यदर्शन-स्पर्श-पूजा-स्तुत्यभिवन्दनैः ।
भूतेषु मद्भावनया सत्त्वेनासङ्गमेन च ॥६७०॥
महतां बहुमानेन दीनानामनुकम्पया ।
मैत्र्या चैवात्मतुल्येषु यमेन नियमेन च ॥६७१॥
आध्यात्मिकानुश्रवणान्नामसङ्कीर्त्तनाच्च मे ।
आर्जवेनार्य्यसङ्गेन निरहंक्रियया तथा ॥६७२॥
मद्धर्म्मणो गुणैरेतैः परिसंशुद्ध आशयः ।
पुरुषस्याञ्जसाभ्येति श्रुतमात्रगुणं हि माम् ॥"६७३॥

निषेवितेन सम्यगनुष्ठितेन, अनिमित्तेन च निष्कामेण, स्वधर्म्मेण नित्य-नैमित्तिकेन, महीयसा श्रद्धादियुक्तेन, क्रियायोगेन पञ्चरात्राद्युक्त-वैष्णवानुष्ठानेन, शस्तेन उत्तमदेश-कालादिमता निष्कामेण च, नातिहिंस्रेण अतिहिंसारहितेन, 'अति'--शब्दः-प्राणादिपीड़ा-परित्यागफलपत्रादि-जीवावयवस्वीकारार्थः, मद्धिष्ण्यं मदर्चादि, भूतेष्वन्तर्य्यामित्वेन मद्भावनया, सत्त्वेन धैर्य्येण, असङ्गमेन वैराग्येण च अहिंसास्तेयब्रह्मचर्य्यापरिग्रहा यमाः, शौच-सन्तोष-तपः-स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः, आध्यात्मिक—मात्मानात्मविवेकशास्त्रम्, निरहंक्रियया गर्व्वराहित्येन, मद्धर्म्मणो मद्धर्मानुष्ठातुः पुरुषस्याशयश्चित्तम्, श्रुतमात्रगुणं

(२२९) "निषेवितानिमित्तेन स्वधर्म्मेण महीयसा ।
क्रियायोगेन शस्तेन नातिहिंस्रेण नित्यशः ॥६६९॥
मद्धिष्ण्यदर्शन—स्पर्श--पूजा--स्तुत्यभिवन्दनैः ।
भूतेषु मद्भावनया सत्त्वेनासङ्गमेन च ॥६७०॥
महतां बहुमानेन दीनानामनुकम्पया ।
मैत्र्या चैवात्मतुल्येषु यमेन नियमेन च ॥६७१॥
आध्यात्मिकानुश्रवणान्नामसङ्कीर्त्तनाच्च मे ।
आर्जवेनार्य्यसङ्गेन निरहंक्रियया तथा ॥६७२॥
मद्धर्म्मणो गुणैरेतैः परिसंशुद्ध आशयः ।
पुरुषस्याञ्जसाभ्येति श्रुतमात्रगुणं हि माम् ॥"६७३॥

श्रीभगवान् कपिल देव निज जननी को कहे थे—हे मातः ! सम्यक् रूप से अनुष्ठित, श्रद्धादि युक्त स्वधर्म निष्ठा द्वारा, एवं पञ्च रात्रादि शास्त्र में वर्णित वैष्णवानुष्ठान क्रियायोग के द्वारा अर्थात् अर्च्चन के द्वारा, उत्तम देश कालादि को जान कर निष्काम भाव से धर्माचरण के द्वारा नाति हिंस्रेण, अतिहिंसा रहित होकर, अर्थात् प्राणादि पीड़ा वर्जन पूर्वक विहित पत्र पुष्पादि ग्रहण पूर्वक स्वधर्माचरण द्वारा, प्रत्यह श्रीविग्रह दर्शन, स्पर्श, पूजा, स्तुति एवं नमस्कार के द्वारा, सर्वत्र मैं विद्यमान हूँ, इस प्रकार भावना द्वारा एवं सत्य, अर्थात् धैर्य्य द्वारा, असङ्ग—वैराग्य द्वारा, महापुरुष वृन्द को सम्मान प्रदान कर, दीन जन को कृपा करके, आत्म तुल्य व्यक्ति के प्रति बन्धु भावस्थापन कर, शौच, सन्तोष, तपस्या, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान--यह पञ्चविध नियम द्वारा, अहिंसा, अचौर्य्य, ब्रह्मचर्य्य, अपरिग्रह यह चतुर्विध यम द्वारा, एवं

मामञ्जसाऽभ्येति, (भा० ३।२९।११) "मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि" इत्याद्युक्तलक्षणां ध्रुवानुस्मृतिं प्राप्नोतीत्यर्थः। अत्राध्यात्मिकश्रवणादिना ज्ञान ङ्गेन ज्ञानमिश्रात्वमपि ।। श्रीकपिलदेवः ।।

२३०। अथ ज्ञानमिश्रा (भा० ६।१६।६२) –

(२३०) "दृष्टश्रुताभिर्मात्राभिर्निर्मुक्तः स्वेन तेजसा।
ज्ञान-विज्ञान-संतृप्तो मद्भक्तः पुरुषो भवेत् ।।"६७४।।

दृष्टेति ऐहिकामुष्मिकविषयैः, स्वेन तेजसा विवेकबलेन ।। श्रीसङ्कर्षणश्चित्रकेतुम् ।।

२३१। अथ केवलस्वरूपसिद्धोदाह्रियते। तत्र सकामा कैवल्यकामा चोपासक-सङ्कल्प-गुणैस्तत्तद्-गुणत्वेनोपचर्य्यते। ततः सकामा द्विविधाः,–तामसी राजसी च, पूर्व्वा यथा (भा० ३।२९।८)—

मेरा नाम सङ्कीर्त्तन, सारल्य, साधुसङ्ग, निरहङ्कार—यह सब के द्वारा, मदीय धर्मानुष्ठान कारी व्यक्ति का चित्त विशुद्ध होता है। अर्थात् अन्य सर्व प्रकार आवेश शून्य होकर एकमात्र मुझ में गाढ़ आवेश प्राप्त कर मेरा गुण श्रवण मात्र से अतिशय सुख पूर्वक आशु मुझ को प्राप्त करता है। भा० ३।२९।११ में उक्त है–

"मद्गुण श्रुति मात्रेण मयि सर्व गुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथागङ्गाम्भसोऽम्बुधौ ।।"

हे मातः! मदीय गुण श्रवण मात्र से ही मांसमयी दृष्टि के अगोचर में अवस्थित मुझ में, सिन्धु में गङ्गा प्रवाह की निर्बाध गति के तुल्य अविच्छिन्न मनो गति का नाम ही ध्रुवानुस्मृति है, उस ध्रुवानुस्मृति को प्राप्त करता है। यहाँ भक्ति योग के सहित जिस प्रकार स्वधर्मानुष्ठान का उल्लेख होने के कारण, यह भक्ति कर्म मिश्रा हुई है, उस प्रकार ही आध्यात्मिक श्रवणादि की कथा का उल्लेख होने से यह भक्ति ज्ञान मिश्रा भी है।   श्रीकपिलदेव--स्वीय जननी को कहे थे ।।२२९।।

२३०। अनन्तर ज्ञान मिश्रा भक्ति का वर्णन करते हैं—भा० ६।१६।६२ में उक्त है—

(२३०) "दृष्टश्रुताभिर्मात्राभिर्निमुक्तः स्वेन तेजसा।
ज्ञानविज्ञान संतृप्तो मद्भक्तः पुरुषो भवेत् ।।"६७४।।

अनन्तर ज्ञान मिश्रा कैवल्य कामा भक्ति का दृष्टान्त उपस्थापित करते हैं—चित्र केतु महाराज के प्रति श्रीसङ्कर्षण देव कहे थे—हे राजन्! पुरुष निज विवेक द्वारा ऐहिक, आमुष्मिक विषय द्वारा निर्म्मुक्त होकर शास्त्रोत्थज्ञान द्वारा एवं अपरोक्ष अनुभव द्वारा संतृप्त होकर मेरे प्रति भक्तिमान् होता है।

श्रीसङ्कर्षण चित्रकेतु को कहे थे ।।२३०।।

२३१। सम्प्रति केवल स्वरूप सिद्धा भक्ति का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। उस के मध्य में उपासक के सङ्कल्प के अनुसार सकामा एवं कैवल्य कामा के धर्म रूप में उपचार होता है। अर्थात् केवल स्वरूप सिद्ध भक्ति सकामा वा कैवल्य कामा नहीं है। किन्तु उपासक के हृदय में अन्य कामना विद्यमान होने पर उस उपासक के हृदय में कामना होने के कारण, भक्ति सकामा होती है, एवं मोक्ष कामना होने पर स्वरूप सिद्धा भक्ति भी कैवल्य कामा नाम से अभिहिता होती है। अतएव सकामा भक्ति– तामसी एवं राजसी भेद से द्विविध हैं। उस के मध्य में तामसी भक्ति का लक्षण भगवान् कपिल देवने भा० ३।२९।८ में निज जननी को कहा है—

(२३१) "अभिसन्धाय यो हिंसां दम्भं मात्सर्य्यमेव वा।
संरम्भी भिन्नदृग्भावं मयि कुर्य्यात् स तामसः ॥"६७५॥

अभिसन्धाय सङ्कल्प्य, संरम्भी सक्रोधः, भिन्नदृक् स्वस्मिन्निव सर्व्वत्र यत् सुखं दुःखं च तत्तदवेत्ता निरनुकम्प इत्यर्थः ॥

२३२। उत्तरा यथा (भा० ३।२९।९) —

(२३२) "विषयानभिसन्धाय यश ऐश्वर्य्यमेव वा।
अर्चादावर्चयेद्यो मां पृथग् भावः स राजसः ॥"६७६॥

पृथक् मत्तोऽन्यत्र विषयादिष्वेव भावः स्पृहा यस्य, न तु मयीति राजसत्वहेतुता दर्शिता ॥

२३३। अथ कैवल्यकामा सात्त्विक्येव, सा यथा (भा० ३।२९।१०) —

(२३३) "कर्म्मनिर्हारमुद्दिश्य परस्मिन् वा तदर्पणम्।
यजेद्यष्टव्यमिति वा पृथग्भावः स सात्त्विकः ॥"६७७॥

---

(२३१) "अभिसन्धाय जो हिंसां दम्भं मात्सर्य्यमेव वा।
संरम्भी भिन्न दृग्भावं मयि कुर्य्यात् स तामसः ॥"६७५॥

जो, हिंसा, गर्व, परश्रीकातरता प्रभृति सङ्कल्प करके कोपन स्वभाव एवं भेद दृष्टि से अर्थात् निज सुख दुःख जिस प्रकार प्रिय एवं अप्रिय है, उस प्रकार सर्वत्र दृष्टि शून्य 'सर्वभूत में दया शून्य' होकर जो मुझ में भक्ति करता है, वह तामस है, अतएव उसकी भक्ति तामसी है। द्वितीय राजसी भक्ति का उदाहरण भी श्रीकपिल देवने प्रस्तुत किया है। जो विषय, यश, अथवा ऐश्वर्य्य लाभेच्छु होकर प्रतिमा प्रभृति में मेरा अर्च्चन करता है, वह राजस है। कारण, मुझ को छोड़कर अन्य विषय में चित्त का आवेश है, किन्तु मुझ में चित्त का आवेश नहीं है, राजसत्वके प्रति यही हेतु है ॥२३१॥

२३२। अनन्तर कैवल्य कामा भक्ति,—किन्तु सात्त्विकी है, उस का वर्णन श्रीकपिल देवने स्वीय जननी के समक्ष में किया है। (भा० ३।२९।९

(२३२) "विषयानभिसन्धाय यश ऐश्वर्य्य मेव वा।
अर्चादावर्चयेद् यो मां पृथग् भावः स राजसः ॥"६७६॥

हे मातः। जो कर्म परिहार अर्थात् मोक्षलाभ हेतु अथवा ईश्वर में कर्म्मार्पण करता है, किंवा यज्ञादि कर्म समूह नित्य विधि प्राप्त होने के कारण, अवश्य ही ईश्वर की पूजा करनी चाहिये, इस बुद्धि से परमेश्वर की पूजा करता है, किन्तु भक्ति तत्त्व ज्ञान द्वारा परमेश्वर की पूजा नहीं करता है। अतएव वह व्यक्ति, पूर्व वर्णित राजस भक्त के समान पृथक् भाव होने के कारण, अर्थात् भक्त मोक्ष को ही पुरुषार्थ रूप में भावना करता है, तज्जन्य मोक्षार्थी भक्त सात्त्विक नाम से अभिहित होता है ॥३२३॥

२३३। अनन्तर कैवल्य कामा सात्त्विकी भक्ति का वर्णन करते हैं—भा० ३।२९।१० में है।

(२३३) "कर्म निर्हार मुद्दिश्य परस्मिन् वा तदर्पणम्।
यजेद् यष्टव्यमिति वा पृथग् भावः स सात्त्विकः ॥"६७७॥

श्रीकपिलदेव निज जननी को कहे थे,— मातः! जो कर्म परिहार अर्थात् मोक्षलाभ हेतु अथवा

कर्म्मनिर्हारं मोक्षमुद्दिश्य परस्मिन् परमेश्वरे यो वा कर्मार्पणं कुरुते, यो वा यष्टव्यं सर्व्वेषां नित्यविधिप्राप्तत्वेनावश्यमेव तत्पूजनं कर्त्तव्यमिति बुद्धया, न तु भक्तितत्त्वज्ञानेन यो यजेत्, परमेश्वरं पूजयति, अतएव पूर्व्ववत् पृथग्भावो भक्तेः पृथङ्मोक्षमेव पुरुषार्थत्वेन भावयन् स सात्त्विक उच्यते । उत्तरस्या अपि तात्पर्य्यं कर्म्मनिर्हार एव भवेदिति । उक्तञ्च (भा० ११।२५।२६) "सात्त्विकः कारकोऽसङ्गी" इति, (भा० ११।२५।२४) "कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानम्" इति, (भा० ११।२५।२९) "सात्त्विकं सुखमात्मोत्थम्" इति च तत्साधन-साध्ययोः सगुणत्वम् । अत्रत्योदाहरणं यजेदित्युत्तरार्द्धमेव ॥

परमेश्वर में कर्म्मार्पण करता है, किंवा यज्ञादि कर्म्म समूह नित्य विधि विहित हेतु अवश्य ही परमेश्वर की पूजा करनी चाहिये—इस बुद्धि से परमेश्वर की पूजा करता है, किन्तु भक्ति तत्त्व ज्ञान से पूजा नहीं करता है । अतएव वह पूर्व वर्णित राजस भक्त के समान पृथग् भाव होने के कारण, अर्थात् भक्ति से मोक्ष को श्रेष्ठ पुरुषार्थ मान कर धर्माचरण करता है, वह मोक्षार्थी भक्त, सात्त्विक नाम से अभिहित होता है । उत्तर पक्ष का, अर्थात् नित्य विधि प्राप्त मानकर जो परमेश्वर का अर्च्चन करता है—उसका भी तात्पर्य्य कर्म्म परिहार में ही पर्य्यवसान होता है । इस अभिप्राय से ही भा० ११।२५।२६ में उक्त है—

"सात्त्विकः कारकोऽसङ्गी रागान्धो राजसः स्मृतः ।
तामसः स्मृति विभ्रष्टो निर्गुणो मदपाश्रयः ॥
सात्त्विकयाध्यात्मिकी श्रद्धा कर्म श्रद्धा तु राजसी ।
तामस्यधर्म्मे या श्रद्धा मत् सेवायान्तु निर्गुणः ॥"

श्रीभगवान् कृष्ण कहे थे,—हे उद्धव ! जो कर्त्ता अनासक्त है, वह सात्त्विक है, अर्थात् जिस की आसक्ति कर्म फल में नहीं है, वह अधिकारी सात्त्विक होता है । और जो अधिकारी फल प्राप्ति हेतु अत्यन्त अभिनिविष्ट है, वह राजस है । जो अनुसन्धान शून्य है, वह तामस है । जो एकान्त भाव से मेरी शरणागत है, वह निर्गुण है, कारण, उसका किसी प्रकार अहङ्कार नहीं है । आत्म--अनात्म विचार में जो श्रद्धा है,—वह सात्त्विकी है, कर्म्म श्रद्धा का नाम राजसी है, अधर्म में धर्म्म मानकर जो श्रद्धा है, वह तामसी है, मेरी सेवा में जो श्रद्धा है—वह निर्गुण है । भा० ११।२५।२४ में और भी कहे हैं—

"कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानं रजोवैकल्पितञ्च यत् ।
प्राकृतं तामसं ज्ञानं मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम् ॥

टीका--इदानीं सगुण निर्गुण भेदेन ज्ञानादीनां चातुर्विध्यमाह । कैवल्यं देहादि व्यतिरिक्तात्म विषयं वैकल्पिकं देहादि विषयम् । यत् तद्रजं राजसम् । प्राकृतं बालमूकादि ज्ञान तुल्यम् । मन्निष्ठं परमेश्वर विषयम् । भा० ११।२५।२७ में भी आपने कहा है ।

"सात्त्विकं सुखमात्मोत्थं विषयोत्थन्तु राजसम् ।
तामसं मोह दैन्योत्थं निर्गुणं मदपाश्रयम् ॥"

टीका—आत्मोत्थं सुखम् । मदपाश्रयमित्यपि त्वं तत् पदार्थ विषयत्वेन ज्ञानवदेव द्रष्टव्यम् ॥

कैवल्य सात्त्विक ज्ञान है, इस से प्रतिपन्न होता है कि मोक्ष कामना सात्त्विकी है । इस से सुस्पष्ट प्रतीति होती है कि—इस विषय में साध्य साधन—उभय ही सात्त्विक होने के कारण कैवल्य कामा भक्ति भी सगुणा भक्ति के मध्य में पर्य्यवसित है । भा० ३।२९।१० में उक्त—

२३४। अथ यस्या एवोत्कर्षज्ञानार्थमेते भक्तिभेदा निरूपिताः, सा भक्तिमात्रकामत्वान्निष्काम निर्गुणा केवला स्वरूपसिद्धा निरूप्यते। इयमेवाकिञ्चनाख्यत्वेन सर्व्वोद्ध्र्वं पूर्व्वमप्यभिहिता तामाह, (भा० ३।२९।११-१४)—

(२३४) "मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्व्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ ॥६७८॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ॥६७९॥
सालोक्य-सार्ष्टि-सामीप्य-सारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥६८०॥
स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः।
येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते ॥"६८१॥

मद्गुणश्रुतिमात्रेण, न तु तत्रोद्देश्यान्तरसिद्धयभिप्रायेण। प्राकृतगुणमयकरणानां सर्व्वेषां गुहा करणागोचरपदवी तस्यां शेते गुह्यतया निश्चलतया च तिष्ठति यस्तस्मिन् मयि

"कर्मनिर्हार मुद्दिश्य परस्मिन् वा तदर्पणम्।
यजेद् यष्टव्यमिति वा पृथग् भावः स सात्त्विकः ॥"६७७॥

'यजेद् यष्टव्यमिति वा' यह उद्धरार्द्ध ही इस विषय का उदाहरण है ॥२३३॥

२३४। अनन्तर जिस का उत्कर्ष बोध हेतु भक्ति का विविध भेद निरूपित हुए हैं। उस भक्ति की कामना एकमात्र भक्ति विषय में ही होने के कारण, वह निष्कामा, निर्गुणा, केवला, स्वरूप सिद्धा, प्रभृति नामों से अभिहिता होती है। इस स्वरूप सिद्धा भक्ति का सर्व प्रथम 'अकिञ्चना" शब्द से सर्व श्रेष्ठ रूप में उल्लेख किया गया है। उस अकिञ्चना भक्ति का लक्षण भगवान् श्रीकपिलदेव ने जननी को भा० ३।२९।११--१४। में कहा है।

(२३४) ' मद्गुणश्रुणिमात्रेण मयि सर्व्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ ॥६७८॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ॥६७९॥
सालोक्य-सार्ष्टि--सामीप्य--सारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥६८०॥
स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः।
येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते ॥"६८१॥

जननि! निर्गुण भक्ति योग का वर्णन करता हूँ, श्रवण करें। भक्ति की जिस अवस्था में किसी प्रकार उद्देश्य सिद्धि का अभिप्राय शून्य होकर मेरा गुण में— अर्थात् मेरी गुण कथा का श्रवण मात्र से ही सर्व गुहाशय मुझ में, गङ्गा प्रवाह की सिन्धु में निर्बाध गति के समान, अविच्छिन्ना मानसगति प्रवाहित होती है, उस अवस्थापन्न भक्ति का नाम निर्गुणा है। यहाँपर 'गुहाशय' शब्द का अर्थ है—प्राकृत गुणमय

अविच्छिन्ना विषयान्तरेण विच्छेत्तुमशक्या या मनोगतिः सा। अविच्छिन्नत्वे दृष्टान्तः,यथेति। गतिरिति पूर्व्वस्मादाकृष्यते, छान्दसत्वात्, लक्षणं स्वरूपम्। ननु तस्या गुणश्रुतेः का वार्त्ता, उद्देश्यान्तराभावेन मनोगतित्वाभावेन च द्विधापि निर्देष्टुमशक्यत्वात् ? तत्राह,-अहैतुकी फलानुसन्धानरहिता, अव्यवहिता स्वरूपसिद्धत्वेन साक्षाद्रूपा, न त्वारोपादिसिद्धत्वेन व्यवधानात्मिका। तादृशी या भक्तिः, श्रोत्रादिना सेवनमात्रम्, सा च तस्य स्वरूपमित्यर्थः! 'मात्र'-पदेनाविच्छिन्नेत्यनेन च मनोगतेरहैतुकीत्वादिसिद्धेः पृथग्योजनार्हत्वात्,(भा० ११।२३।२६) "सात्त्विकः कारकोऽसङ्गी" इत्यादिषु "निर्गुणो मदपाश्रयः" इत्यादिभिस्तदाश्रयक्रियादीनां निर्गुणत्वस्थापनात्, (भा० ११।१३।४०)—

"मां भजन्ति गुणाः सर्वे निर्गुणं निरपेक्षकम्।
सुहृदं सर्वभूतानां साम्यासङ्गादयो गुणाः॥"६८२॥

इत्यत्र तद्गुणानामप्यप्राकृतत्वश्रवणात्। अहैतुकीत्वमेव विशेषतो दर्शयति -जना मदीयाः सालोक्यादिकमपि, उत अपि दीयमानमपि न गृह्णन्ति, मत्सेवनं विनेति गृह्णन्ति चेत्,

---

इन्द्रिय वृन्द का अगोचर जो स्थान है, उस स्थान में गोपनीय रूप में एवं निश्चल रूप में जो अवस्थान करते हैं, वह गुहाशय हैं। अविच्छिन्ना' शब्द का अर्थ है—किसी भी विषयान्तर के द्वारा जो भगवद् विषयिणी मनोवृत्ति विच्छिन्ना नहीं होती है। निर्गुण भक्ति योग का यही लक्षण अर्थात् स्वरूप है।

यहाँ संशय हो सकता है कि– जिस में कुछ भी उद्देश्य नहीं है, एवं जो भगवान् मन के अविषय है, उन भगवान् के गुणों का निर्द्देश करना असम्भव ही है। अतएव श्रीभगवान् के गुण श्रवण कैसे हो सकता है ? उत्तर में कहते हैं—जो भक्ति अहैतुकी है, अर्थात् फलानुसन्धान रहिता है, अव्यवहिता भी है, अर्थात् स्वरूप सिद्धा भक्ति साक्षात् रूपा है, किन्तु आरोप सिद्धा भक्ति के समान ज्ञान कर्म्मादि व्यवधान युक्ता नहीं है। कथा श्रवण रूपा उस प्रकार भक्ति श्रवणादि इन्द्रियों के द्वारा सेविता होती है, वही निर्गुण भक्ति योग का स्वरूप है। मूल श्लोक में लिखित है—"मद् गुण श्रुति मात्रेण" यहाँ मात्र पद का उल्लेख है। एवं "मनोगतिरविच्छिन्ना" यहाँ 'अविच्छिन्ना पद का उल्लेख होने के कारण, मनोगति के अहैतुकी प्रभृति धर्म स्वतः सिद्ध होने से पृथक् रूप से 'अहैतुकी', 'अव्यवहिता' प्रभृति पदों का प्रयोग निष्प्रयोजन होने पर भी सुस्पष्ट रूप से लक्षण को समझाने के निमित्त उक्त पद द्वय का प्रयोग किया गया है। भा० ११।२५।२६ में उक्त है–"सात्त्विकः कारकोऽसङ्गी, एवं निर्गुणोमदपाश्रयः" इत्यादि श्लोकों के द्वारा भगवदाश्रित क्रिया प्रभृति का निर्गुणत्व स्थापन करने के कारण, एवं

"मां भजन्ति गुणाः सर्वे निर्गुण निरपेक्षकम्।
सुहृदं सर्वभूतानां साम्यासङ्गादयोगुणाः॥"६८२॥

सर्वभूतों का सुहृद्, सर्व निरपेक्ष प्राकृत गुणातीत मुझ को साम्य एवं असङ्ग प्रभृति अप्राकृत गुण समूह सेवन करते हैं, इत्यादि श्लोक में भगवद् गुणों का अप्राकृतत्व प्रदर्शन करके निर्गुणा भक्ति जो अहैतुकी है, अर्थात् फलाभिसन्धि शुन्य है—इस का वर्णन विशेष रूप से करते हैं– हे मातः! जो मेरे हैं, वे (सालोक्य) समान लोक में निवास करने का अधिकार, 'सार्ष्टि' श्रीभगवान् के समान् ऐश्वर्य्य प्राप्ति। एकत्व, ब्रह्म वा ईश्वर सायुज्य प्राप्ति यह पञ्चविध मुक्ति के मध्य में एकत्व—अर्थात् ईश्वर सायुज्य वा

तर्हि मत्सेवनार्थमेव गृह्णन्ति, न तु तदर्थमेवेत्यर्थः। सार्ष्टिः समानैश्वर्य्यम्, एकत्वं भगवत्-सायुज्यं ब्रह्मसायुज्यञ्च, अनयोस्तल्लीलात्मकत्वेन तत्सेवनार्थत्वाभावादग्रहणावश्यकत्वमेवेति भावः। तस्मात् स एव निर्गुणभक्तियोगाख्य आत्यन्तिकः, स एव चात्यन्तिम-फलतया भवनीत्यपवर्ग इत्यर्थः, (भा० ३।१५।४८) "नात्यन्तिकं विगणयन्ति" इत्यादेः, आत्यन्तिक-प्रलयतया तत्प्रसिद्धेश्च। ननु गुणत्रयात्ययपूर्वक-भगवत्साक्षात्कार एवापवर्ग इति चेत्, तस्यापि तादृशधर्मत्वं स्वतः सिद्धमेवेत्याह—येनेति येन, कदाचिदप्यपरित्याज्येन, मम भावाय

ब्रह्म सायुज्य मुक्ति में ब्रह्म में लीन होना ही तात्पर्य्य होने कारण— भगवत् सेवा में वह मुक्ति अनुकूल नहीं होती है। तज्जन्य सेवा पुरुषार्थिवृन्द सायुज्य मुक्ति का ग्रहण कभी भी नहीं करते हैं। अतएव पहले वर्णित के अनुसार जिस का लक्षण प्रकाशित हुआ है। वह भक्ति योग ही आत्यन्तिक पुरुषार्थ है, शास्त्र में उस का वर्णन भी बहुशः हुआ है। भा० ३।१५।४८ में उक्त है—

"नात्यन्तिकं विगणयन्त्यपि ते प्रसादं।
किम्वान्यदर्पितभयं भ्रुव उन्नयैस्ते।
येऽङ्ग त्वदङ्घ्रिशरणा भवतः कथायाः।
कीर्त्तन्यतीर्थ यशसः कुशला रसज्ञाः॥"

हे प्रभो! आप का यशः परम रमणीय एवं अतिशय पवित्र है, अतएव कीर्त्तनार्ह एवं तीर्थ स्वरूप हैं। जो सब निपुण व्यक्ति, आप के कथा रसज्ञ हैं, वे मोक्ष नामक आप का आत्यन्तिक अनुग्रह को भी हितकर नहीं मानते हैं। अन्य इन्द्रादि पद की तो कथा ही क्या है? कारण, इन्द्रादि पद आप के भ्रूभङ्ग जनित भय सङ्कुल हैं, आप की कथा से भक्त गण निरतिशय आनन्द लाभ करते हैं, अतः भय सङ्कुल इन्द्रादि पद की अपेक्षा उन सब को नहीं है। इत्य दि श्लोकों के द्वारा दर्शाया गया है कि—भक्तिमें मोक्ष सुख तिरस्कार कारी ही भक्ति सुख है। विशेष कर "यदैवमेतेन विवेक हेतिना" श्लोक के द्वारा मोक्ष सुख को आत्यन्तिक प्रलय कहा गया है, अतएव जो प्रलयपद वाच्य है, उस में क्या अधिक सुख सम्भव है? कतिपय व्यक्ति कहते हैं—सत्वादि गुण त्रय विनाश पूर्वक भगवत् साक्षात् कार का नाम ही अपवर्ग है। उस का समाधान हेतु कहते हैं—भगवत् प्रीति लक्षण भक्ति योग में सत्वादि गुणत्रय का विनाश होकर भगवत् साक्षात् कार स्वतः सिद्ध ही है। अर्थात् जहाँ श्रीभगवान् में प्रीति लक्षणा भक्ति का आविर्भाव होता है, वहाँ सत्वादि गुण त्रय का विनाश होकर भगवत् साक्षात् कार होता ही है। इस अभिप्राय से ही कहते हैं—"येनाति व्रज्य त्रिगुणात्" अर्थात् जो भक्ति योग कभी भी परित्याज्य नहीं है। इस प्रकार भक्ति योग के प्रभाव से मेरा भाव अर्थात् साक्षात् कार हेतु योग्यता को प्राप्त करता है। (भा० ५।१९।१८--१९) "यथावर्ण विधानमपवर्गश्च भवति, योऽसौ भगवति" उक्त अभि प्राय से ही कहा गया है, भारत वर्ष के वर्ण समुचित धर्म का पालन यथा विधि करने से अपवर्ग होता है, जो अपवर्ग—भगवान् वासुदेव में अनन्य निमित्त भक्ति योग है। उक्त भक्ति योग—अपवर्ग नाम से ख्यात होने का कारण यह है—"अनन्य निमित्त भक्ति योग लक्षणो नाना गति निमित्ताविद्या ग्रन्थि रन्धन द्वारेण" जिस अविद्या ग्रन्थि के द्वारा जीव विभिन्न देह में भ्रमण करता रहता है, उस अज्ञान मय अहमिका ग्रन्थि का छेदन भक्ति योग से ही होता है। इस अभिप्राय से ही अनन्य निमित्त अर्थात् अहैतुकी भक्ति योग का नाम अपवर्ग दिया गया है। किन्तु यथा विहित वर्ण धर्म आचरण करने से ही श्रीभगवान् में अहैतुकी भक्ति का उदय नहीं होता है।

विद्यमानतायै साक्षात्कारायेत्यर्थः, उपपद्यते समर्थो भवति, यथोक्तं पञ्चमे (भा० ५।१९।१८ १९) "यथावर्णविधानमपवर्गश्च भवति, योऽसौ भगवति" इत्यादिकम्, "अनन्यनिमित्त-भक्तियोग-लक्षणो नानागतिनिमित्ताविद्याग्रन्थिरन्धनद्वारेण" इत्यन्तम् ।

अतो निर्गुणापि बहुधैवावगन्तव्या, एवमेवोक्तमेतत्प्रकरणारम्भे (भा० ३।२९।७)—

"भक्तियोगो बहुविधो मार्गैर्भाविनि भाव्यते ।
स्वभावगुणमार्गेण पुंसां भावो विभिद्यते ।।"६८३।। इति ।

मार्गैः प्रकारविशेषैः, अतः स्वस्य भक्तियोगस्यैव मार्गेण वृत्तिभेदेन श्रवणादिना भावयाभिमानस्य तद्भेदेन दास्यादिना गुणानां तमआदीनाञ्च तद्भेदेन हिंसादिना पुंसां भावोऽभिप्रायो विभिद्यत इत्यर्थः । अत्र मुक्ताफलटीका च—"अयमात्यन्तिकः, ततः परं प्रकारान्तराभावात्, अस्यैव भक्तियोग इत्याख्यान्वर्थेन, भक्तिशब्दस्यात्रैव मुख्यत्वात् । इतरेषु फल एवानुरागः, न तु विष्णौ, फलालाभेन भक्तित्यागात्" इत्येषा । श्रीगोपालतापनीश्रुतौ च (१।१८)–

यावत् पर्य्यन्त भगवद् भक्त का सङ्गलाभ नहीं होता है, । भगवद् भक्त सङ्ग ही एकमात्र अहैतुकी भक्ति लाभ का कारण है । अतएव निर्गुणा भगवद् भक्ति योग भी प्रकार भेद से विविध हैं । इस विषय का वर्णन श्रीकपिल देव ने किया है । भा० ३।२९।७ में

"भक्तियोगो बहुविधो मार्गैर्भाविनि भाव्यते ।
स्वभावगुणमार्गेण पुंसां भावो विभिद्यते ।।"६८३।।

हे भाविनि ! विशेष विशेष मार्ग के द्वारा भक्ति योग बहु विध प्रकार से प्रकाशित होता है । अतएव स्वभाव, स्वरूप एवं गुण वृत्ति भेद से मानव के अभिप्राय में विभिन्न प्रकार हो जाते हैं । अर्थात् मानव के गुणानुरूप फल सङ्कल्प भेद होने के कारण भक्तिमें भी भेद उपस्थित होता है । अतएव भक्ति योग का मार्ग अर्थात् श्रवण कीर्त्तनादि वृत्ति भेद से अभिमान एवं दास्य सख्य प्रभृति अभिमान गत भेद से, एवं तमः, रजः, सत्त्वगुण प्रभृति के धर्म हिंसा प्रभृति के द्वारा मानव का भाव अर्थात् अभिमत विविध प्रकार के होते रहते हैं । यहाँ पर वोपदेव कृत मुक्ताफल टीका में लिखित है ":अयमात्यन्तिकः, ततः परं प्रकारान्तराभावात् । अस्यैव भक्ति योग इत्याख्यान्वर्थेन, भक्तिशब्दस्यात्रैव मुख्यत्वात् । इतरेषु फल एवानुरागः, न तु विष्णौ फलालाभेन भक्तित्यागात्" इत्येषा ।

अर्थात् यह भक्ति योग ही आत्यन्तिक पुरुषार्थ है । कारण, इस भक्ति योग के बाद और प्रकार गत भेद नहीं है । कारण, सत्त्व, रजः तमः—यह तीन गुणों के अतीत भक्ति योग के वृत्तिगत भेद हो ही नहीं सकता । गुणमय भक्ति योग में फल लाभ में अनुराग होता है । किन्तु श्रीविष्णु में अनुराग नहीं होता है । कारण, फल लाभ करने में अक्षम होने पर भक्ति को वर्जन कर देता है ।

श्रीगोपाल तापनी श्रुति में भी लिखित है—"भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधिनैरास्येनामुष्मिन् मनः कल्पनमेतदेव च नैष्कर्म्म्यम् " यह श्रीकृष्णभजन ही भक्ति है, यह भजन भी ऐहिक पारलौकिक सुख भोग में लालसा शून्य होकर श्रीकृष्ण में ही सङ्कल्प स्थापन करना है । इस का ही अपर नाम नैष्कर्म्म्य है । शतपथ श्रुति में उक्त है—"स होवाच,—याज्ञवल्क्य स्तत् पुमानात्महिताय प्रेम्णा हरिं भजेत् ।।" मानव आत्म कल्याणार्थ प्रीति लाभ हेतु श्रीहरि का भजन करे । अर्थात् श्रीहरि में प्रीति मात्र कामना

"भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधिनैरास्येनामुष्मिन् मनःकल्पनमेतदेव च नैष्कर्म्यम्" इति, शतपथश्रुतौ—"स होवाच याज्ञवल्क्यस्तत् पुमानात्महिताय प्रेम्णा हरिं भजेत्" इति, प्रेम्णा प्रीतिमात्रकामनया यदात्महितं तस्मै इत्यर्थः ॥ श्रीकपिलदेवः ॥

२३५। तदेवं बहुधा साधितैषा अकिञ्चना आत्यन्तिकीत्यादिसंज्ञा भक्तिर्द्विविधा–वैधी, रागानुगा चेति। तत्र वैधी शास्त्रोक्तविधिना प्रवर्त्तिता, स च विधिर्द्विविधः, तत्र प्रथमः प्रवृत्तिहेतुः, तदनुक्रम-कर्त्तव्याकर्त्तव्यानां ज्ञानहेतुश्च। प्रथमस्तूदाहृतः, (भा० १।२।१४)—

"तस्मादेकेन मनसा भगवान् सात्वतां पतिः।
श्रोतव्यः कीर्त्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्च नित्यदा॥"६८४॥

इत्यादिना। द्वितीयश्चार्चनव्रतादिगतः, तमाह, (भा० ११।२७।५३)—

(२३५) "मामेव नैरपेक्ष्येण भक्तियोगेन विन्दति।
भक्तियोगं स लभते एवं यः पूजयेत माम्॥"६८५॥

करने से जो निज हित साधित होता है। तज्जन्य ही श्रीहरि का भजन करे।

श्रीकपिल देव कहे थे॥२३४॥

२३५। अकिञ्चना, आत्यन्तिकी प्रभृति नामों से अभिहिता भक्ति का विचार अनेक प्रकारों से करके स्थिर सिद्धान्त किया गया है। उक्त भक्ति,—वैधी रागानुगा भेद से द्विविधा हैं। तन्मध्ये रुचिविहीन केवल मात्र शास्त्रोक्त विधि के अनुसार जो अनुष्ठित होती है, उसका नाम वैधी भक्ति है। उक्त शास्त्रोत्थ विधि भी दो प्रकार हैं। जिस में भजन अनुष्ठान के अनुक्रम से कर्त्तव्य एवं अकर्त्तव्य का बोध का हेतु विधि है। अर्थात्, शास्त्रीय विधि के अनुसार भजन करने की प्रवृत्ति का उद्गम होने पर, उस अनुष्ठेय भजनाङ्ग के मध्य में किस अङ्ग का अनुष्ठान पहले करना होगा।, किस का अनुष्ठान बाद में करना होगा, एवं उसका प्रकार भी किस प्रकार है, इस प्रकार बोध हेतु विधि की अपेक्षा है। उस के मध्य में प्रथम प्रवृत्ति हेतु विधि का उदाहरण भा० १।२।१४ में है—

"तस्मादेकेन मनसा भगवान् सात्वतां पतिः।
श्रोतव्यः कीर्त्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्च नित्यदा॥"६८४॥

श्रीसूत कहे थे—हे शौनक ! धर्म्मानुष्ठान का मुख्य फल श्रीहरि सन्तोष है। श्रीहरि सन्तोष के बिना समस्त साधनानुष्ठान विफल होते हैं। अतएव परम्परा रूप से श्रीहरि सन्तोष का पथ को अवलम्बन न करके जिसे भक्ति योग के द्वारा श्रीहरि सन्तुष्ट होते हैं, उस भक्ति योग को अवलम्बन करना एकान्त कर्त्तव्य है। उस भक्ति योग का अनुष्ठेय प्रकार यह है। श्रीभगवन्निष्ठ सङ्कल्प से भक्त जन प्रिय श्रीभगवान् कथा का नित्य श्रवण करना, कीर्त्तन करना, एवं उनका ध्यान करना, एवं पूजा करना अवश्य कर्त्तव्य है। इस प्रकार श्लोकों के द्वारा अवश्य कर्त्तव्य विधि का उल्लेख हुआ है। द्वितीय प्रकार में—भजन की क्रम परिपाटी बोध के हेतुरूप विषय—अर्चन एवं व्रतादि भजनाङ्ग पर है। उस का वर्णन भा० ११।२७।५७ में है—

(२३५) "मामेव नैरपेक्ष्येण भक्तियोगेन विन्दति।
भक्तियोगं स लभते एवं यः पूजयेत माम्॥"६८५॥

नैरपेक्ष्य—शब्द से अहैतुक को जानना होगा, अहैतुक भक्ति योग—कैसे होगा ? उत्तर में कहते हैं।

नैरपेक्ष्येण अहैतुकेन। अहैतुक-भक्तियोग एव कथं स्यात् ? तत्राह—भक्तियोगमिति। एवं (भा० ११।२७।८-९) —

"यदा स्वनिगमेनोक्तं द्विजत्वं प्राप्य पुरुषः।
यथा यजेत मां भक्त्या श्रद्धया तन्निबोध मे ॥६८६॥
अर्च्चायां स्थण्डिलेऽग्नौ वा सूर्य्ये वाप्सु हृदि द्विजे।
द्रव्येण भक्तियुक्तोऽर्च्चेत् स्वगुरुं माममायया ॥" ६८७॥

इत्याद्युक्त--विधिना ॥ श्रीभगवान् ॥

२३६। एवमेकादशी--जन्माष्टम्यादिगतोऽपि ज्ञेयः। अथ वैधीभेदाः शरणापत्ति-श्रीगुर्वादिसत्सेवा-श्रवणकीर्त्तनादयः। एते च प्रत्येकमपि द्वित्रादयः समुदित्यापि कारणानि

पूर्वोक्त प्रकार से जो मेरी पूजा करता है, वह अहैतुक भक्ति योग प्राप्त करता है। उस विधि का वर्णन भी भा० ११।२७।८-९ में किया है।

"यदा स्वनिगमेनोक्तं द्विजत्वं प्राप्य पुरुषः।
यथा यजेत मां भक्त्या श्रद्धया तन्निबोध मे ॥६८६॥
अर्चायां स्थण्डिलेऽग्नौ वा सूर्य्ये वाप्सु हृदि द्विजे।
द्रव्येण भक्तियुक्तोऽर्चेत् स्वगुरुं माममायया ।" ६८७॥

टीका– यदा त्रैवर्णिकोयजेत तदा विशेष माह। यदागर्भाष्टमेवाद्दश द्वादशाब्दादि काले स्वनिगमेन स्वाधिकार प्रवृत्तेन वेदेनोक्तं द्विजत्वमुपनयनम्। (८) अर्चायां—प्रतिमादौ।(९)

जिस समय त्रैवर्णिक मानव—अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य– निज अधिकार के अनुरूप शास्त्रोक्त विधि से द्विजत्व अर्थात् उपनयन संस्कार प्राप्त कर विश्वास पूर्वक भक्ति युक्त हृदय में जिस प्रकार मेरा अर्च्चन करेगा, उसकी रीति को कहता हूँ: अवहित चित्त से श्रवण करो, अर्च्चा विग्रह में स्थण्डिल में अग्नि में सूर्य्य, जल, हृदय, द्विज, निज गुरु में निष्कपट भाव से भक्ति युक्त अन्तः करण से पूजोपयोगि विहित द्रव्य के द्वारा मेरी पूजा करे। इत्यादि प्रकरणोक्त विधि के द्वारा जो मानव मेरी पूजा करता है। वह अहैतुकी भक्ति योग को प्राप्त कर सकता है।

प्रकरण प्रवक्ता श्रीभगवान् हैं॥२३५॥

२३६। जिस प्रकार अर्च्चन विषयक विधि का कथन हुआ है, उस प्रकार एकादशी, जन्माष्टमी प्रभृति भी विहित है। अर्थात् श्रीभगवदर्च्चन जिस प्रकार कर्त्तव्य है, उस प्रकार एकादशी जन्माष्टमी प्रभृति श्रीभगवद् व्रतादि भी अवश्य पालनीय है।

अनन्तर वैधी के भेद निरूपण करते हैं। श्रीभगवत् शरणापत्ति, श्रीगुरु प्रभृति साधु वृन्द की सेवा एवं श्रवण कीर्त्तन प्रभृति को जानना होगा। यह शरणापत्ति प्रभृति भक्त्यङ्ग समूह—एकक-अथवा दो वा तीन अङ्ग एकत्र मिलित होकर भाव प्राप्ति के प्रति कारण होते हैं। इस का वर्णन शास्त्र में है। उक्त भक्त्यङ्ग समूह के मध्य में प्रथमउक्त शरणापत्ति का लक्षण वर्णन करते हैं। काम क्रोध लोभ, मोह, मद, मात्सर्य्य—यह षड् वर्ग रिपुकृत संसार भय से बाध्यमान मानव अनन्योपाय होकर श्रीभगवच्चरणार विन्द में शरण ग्रहण करता है। भक्ति में जिस की कामना है वे भी काम क्रोधादि कृत भगवद् वैमुख्य दोष के द्वारा बाधित होकर श्रीभगवच्चरणों में शरण ग्रहण करते हैं। अर्थात् साधारण

भवन्ति, तथा श्रवणात् । तत्र प्रथमतः शरणापत्तिः,–षड्‌वर्गाद्यरिकृत-संसारभयबाध्यमान एव हि शरणं प्रविशत्यनन्यगतिः । भक्तिमात्रकामोऽपि तत्कृत-भगवद्वैमुख्यबाध्यमानः । अनन्यगतित्वञ्च द्विधा दर्श्यते,--आश्रयान्तरस्याभाव-कथनेन, नातिप्रज्ञया कथञ्चिदाश्रितस्यान्यस्य त्याजनेन च । पूर्वेण यथा (भा० १०।३।२७) —

"मर्त्यो मृत्युव्यालभीतः पलायन्, लोकान् सर्वान् निर्भयं नाध्यगच्छत् ।
त्वत्पादाब्जं प्राप्य यदृच्छयाद्य, स्वस्थः शेते मृत्युरस्मादपैति ।।" ५८८ ।। इति ।

उत्तरेण यथा (भा० ११।१२।१४--१५) —

"तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम् ।
प्रवृत्तञ्च निवृत्तञ्च श्रोतव्यं श्रुतमेव च ।।६८६।।
मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम् ।
याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभयः ।।" ६६०।। इति ।

व्यक्ति, संसार भय से भीत होकर श्रीभगवान् की शरण ग्रहण करता है, और भक्ति कामी व्यक्ति श्रीभगवद् विमुखता निवारण हेतु उन के चरणों में शरण ग्रहण करते हैं । इस प्रकार शरण ग्रहण कारी को अनन्य गति कहते हैं । यह अनन्य गति—दो प्रकार हैं । उस के मध्य में श्रीहरि भिन्न आश्रयान्तर का अभाव कथन के द्वारा प्रथम प्रकार है । अतिशय ज्ञानाभाव के कारण—अर्थात् श्रीहरि ही एकमात्र आश्रय तत्त्व हैं, और सब आश्रित तत्त्व हैं । यह न जानकर अन्य देवता का आश्रय ग्रहण के पश्चात् शास्त्रादि श्रवण जनित ज्ञान से हो, अथवा महत् के उपदेश से ही हो, आश्रित देवतान्तर को परित्याग करके श्रीभगवान् का आश्रय ग्रहण करना द्वितीय अनन्य गति है । उस के मध्य में पूर्व अनन्य गति अर्थात् अन्य आश्रय का अभाव कथन के द्वारा शरणा गति का दृष्टान्त भा० १०।३।२७ में है—

"मर्त्यो मृत्युव्यालभीतः पलायन्, लोकान् सर्वान् निर्भयं नाध्यगच्छत् ।
त्वत्पादाब्जं प्राप्य यदृच्छयाद्य, स्वस्थः शेते मृत्युरस्मादपैति ।।" ६८८ ।

टीका—क्षेमधामत्वमेवाह मर्त्य इति । लोकान् प्रति यदृच्छया केनापि भाग्योदयेन । हे आद्य ।

श्रीदेवकी देवी स्तव करके श्रीकृष्ण को कंस कारागार में बोली थीं । हे आद्य ! मरण धर्म परायण मानव मृत्यु रूप काल सर्पभय से भीत होकर सर्वत्र पलायन करके कहीं पर निर्भय स्थान प्राप्त नहीं किया, कारण, आब्रह्म स्तम्ब पर्य्यन्त समस्त लोक ही काल कवलित हैं । सुतरां कहीं पर मृत्यु भय निवारित नहीं होता है । किसी अनिर्वचनीय भाग्योदय के कारण महत् सङ्ग वा महत् कृपा से सौभाग्योदय होने से तुम्हारे चरणारविन्द में आश्रय प्राप्तकर निश्चिन्त होकर शयन करता है एवं मृत्यु उस मानव को देखकर पलायन करती है । आश्रयान्तर त्याग पूर्वक श्रीकृष्ण को आश्रय रूप में ग्रहण करने का प्रमाण अर्थात् अनन्यगति के द्वितीय कल्प का प्रमाण भा० ११।१२।१४--१५ में है—

"तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम् ।
प्रवृत्तञ्च निवृत्तञ्च श्रोतव्यं श्रुतमेव च ।।६८६।।
मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम् ।
याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभयः ।।" ६६०।।

"चोदनां श्रुतिम्, प्रतिचोदनां स्मृतिम्" इति टीका च। श्रीगीतासु च (१८।६६) "सर्व-धर्मान् परित्यज्य" इत्यादि। तस्याः शरणापत्तेर्लक्षणं वैष्णवतन्त्रे–

"आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यविवर्जनम्। रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरणं तथा ॥६६१॥
आत्मनिक्षेप--कार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः ॥"६६२॥ इति।

अङ्गाङ्गि-भेदेन षड्विधा, तत्र गोप्तृत्वे वरणमेवाङ्गि,–शरणागति--शब्देनैकार्थ्यात्, अन्यानि त्वङ्गानि, तत्परिकरत्वात्, आनुकूल्य-प्रातिकूल्ये तद्भक्तादीनाम्, शरणागतस्य भावस्य वा, रक्षिष्यतीति विश्वासः (भा० ३।१६।३७) –"क्षेमं विधास्यति स नो भगवांस्त्र्यधीशः" इत्यादि

टीका—यस्मादेवम्भूतो मद् भजनप्रभावस्तस्मात् त्वं चोदनां श्रुतिं प्रति चोदनां स्मृतिञ्च, यद्वा, विधिञ्च निषेधञ्च उत्सृज्य मां शरणं याहि मयैव अकुतोभयः स्याः भव ॥१४–१५॥

श्रीकृष्ण उद्धव को कहे थे—हे उद्धव! श्रौत विधि एवं स्मार्त्तविधि अथवा, विधिनिषेध, प्रवृत्ति निवृत्ति, एवं श्रोतव्य—श्रुत विषय परित्याग पूर्वक सर्वदेहिवृन्द का आत्मा एकमात्र मेरी सर्वान्तः करण से तुम शरण लो। मेरेद्वारा तुम अकुतोभय हो जाओगे। अर्थात् भय शून्य हो जाओगे। श्रीमद् भगवद् गीता के १८।३६ में भी उक्त है—

"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

हे अर्जुन! तुम समस्त धर्मो को परित्याग करके अर्थात् समस्त धर्मानुष्ठान के प्रति आवेश को छोड़कर एवं मात्र मेरी शरण लो। मैं तुम को निखिल अन्तराय से रक्षा करूँगा। ज्ञातिबध हेतु शोक मत करो। उस शरणापत्ति के लक्षण, वैष्णव तन्त्र में उक्त है।

"आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यविवर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरणं तथा ॥६६१॥
आत्मनिक्षेप-कार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः ॥"६६२॥

इन षट् लक्षणों के मध्य में गोप्तृत्व में वरण अर्थात् श्रीभगवान् को रक्षक रूप में वरण करना, भगवान् ही रक्षा करेंगे। इस प्रकार निर्भरता ही शरणा गति का अङ्गी है, एवं अपर पाँच अङ्ग हैं। शरणा गति शब्द के सहित 'गोप्तृत्वेवरणं' गोप्तारूप में वरण, की एकार्थता है, अतः यह अङ्गी है। और अन्य पञ्चाङ्ग उस के परिकर होने के कारण अङ्ग स्थानीय हैं। आनुकूल्य का ग्रहण, अर्थात् जो करने से श्रीभगवान् सन्तुष्ट होते हैं, काय, वाक्य मन के द्वारा उस प्रकार आचरण करना, अथवा शरणागत भाव के जो जो प्रतिकूल हैं, उस को काय वाक्य मन के द्वारा परित्याग करना। 'रक्षिष्यतीति विश्वासः' अर्थात् वही रक्षा कर्त्ता हैं, मेरी रक्षा करेंगे, इस प्रकार दृढ़ विश्वास करना। "क्षेमं विधास्यति स नो भगवांस्त्र्यधीशः" निर्गुण माया नियन्ता भगवान् मङ्गल विधान करेंगे- इस प्रकार विश्वास करना। आत्मनिक्षेप—अर्थात् श्रीभगवान् में आत्मसमर्पण करना। इस का प्रकार गौतमीय तन्त्र में लिखित है—'केनापि देवेन हृदिस्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि। मेरे हृदय में अवस्थित किसी देवता के द्वारा में जिस प्रकार नियुक्त हो रहा हूँ। इस प्रकार ही कार्य्य कर रहा हूँ। इस विषय में मेरा कुछ भी स्वातन्त्र्य नहीं है। इस प्रकार भावना का नाम आत्मनिक्षेप वा आत्मसमर्पण है। उस का संक्षेप यह है—

(१) श्रीभगवद् भजनानुकूल्य करने का सङ्कल्प, अर्थात भगवद् भजन ही कर्त्तव्य है—इस प्रकार नियम करना। (२) भगवद् भजन के प्रतिकूल आचरण न करना। (३) श्रीभगवान् मेरी रक्षा करेंगे–

प्रकारः, आत्मनिक्षेपः—"केनापि देवेन हृदि स्थितेन, यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि" इति गौतमीयतन्त्रोक्त-प्रकारः, यथोक्तं पाद्मोत्तरखण्डे चाष्टाक्षरस्य नमः-शब्द-व्याख्याने,—

"अहङ्कृतिर्मकारः स्यान्नकारस्तन्निषेधकः। तस्मात्तु मनसा क्षेत्रि-स्वातन्त्र्यं प्रतिषिध्यते ॥६९३॥
भगवत्परतन्त्रोऽसौ तदायत्तात्मजीवनः। तस्मात् स्वसामर्थ्यविधिं त्यजेत् सर्वमशेषतः। ६९४॥
ईश्वरस्य तु सामर्थ्यान्नालभ्यं तस्य विद्यते। तस्मिन् न्यस्तभरः शेते तत्कर्मैव समाचरेत् ॥६९५॥ इति।

अतएव ब्रह्मवैवर्त्ते—

"अहङ्कारनिवृत्तानां केशवो न हि दूरगः। अहङ्कारयुतानां हि मध्ये पर्वतराशयः॥" ६९६॥ इति।

अतएव तृतीये ब्रह्मस्तवे स्वातन्त्र्याभिमानिनः संसारः श्रूयते, (भा० ३।९।९) —

"यावत् पृथक्त्वमिदमात्मन इन्द्रियार्थ-
मायाबलं भगवतो जन ईश पश्येत्।
तावन्न संसृतिरसौ प्रतिसंक्रमेत
व्यर्थापि दुःखनिवहं वहती क्रियार्था ॥६९७॥ इति।

इस प्रकार सुदृढ़ विश्वास (४) रक्षक रूप में उन को स्वीकार करना वा उन के निकट प्रार्थना करना। (५) श्रीभगवान् में आत्म समर्पण' (६) कार्पण्य दैन्य—प्रकटन—अर्थात् हे भगवन्! 'मेरी रक्षा करो, कहकर कातरता प्रकटन। पाद्मोत्तर पुराण के अष्टाक्षर मन्त्र व्याख्यान प्रसङ्ग में लिखित है—

"अहङ्कृतिर्मकारः स्यान्नकारस्तन्निषेधकः।
तस्मात्तु मनसा क्षेत्रि-स्वातन्त्र्यं प्रतिषिध्यते ॥६९३॥
भगवत्परतन्त्रोऽसौ तदायत्तात्मजीवनः।
तस्मात् स्वसामर्थ्यविधिं त्यजेत् सर्वमशेषतः ॥६९४॥
ईश्वरस्य तु सामर्थ्यान्नालभ्यं तस्य विद्यते।
तस्मिन् न्यस्तभरः शेते तत्कर्मैव समाचरेत् ॥"६९५॥

"नमस्' जो 'मकार' है उस का अर्थ है—अहङ्कार. 'नकार' का अर्थ है उस का निषेध। अर्थात् अहङ्कार शून्यता। अतएव 'नमस्' शब्द के द्वारा जीव का स्वातन्त्र्य निषिद्ध हुआ है। जीव--नित्य ही परतन्त्र है, जीव का जीवन, सर्वदा ही भगवान् के अधीन है। अतएव अशेष प्रकार से निज समस्त सामर्थ्य विधि को परित्याग करे। अर्थात् मैं ही सब कुछ करूँगा, मेरी सामर्थ्य सब कुछ करने की ही—इस प्रकार चिन्ता न करे। ईश्वर की सामर्थ्य से जीव का कुछ अलभ्य नहीं रह जाता है। श्रीभगवान् में निर्भरता रखकर चले एवं श्रीभगवान् का ही कर्म्म करे। अतएव ब्रह्मवैवर्त्त में उक्त है—

"अहङ्कारनिवृत्तानां केशवो न हि दूरगः।
अहङ्कारयुतानां हि मध्ये पर्वतराशयः॥"६९६

अहङ्कार शून्य व्यक्ति वृन्द के पक्ष में केशव दूर गामी नहीं हैं। अहङ्कार युक्त व्यक्ति वृन्द के मध्य में राशि राशि पर्वत विद्यमान हैं। अर्थात् श्रीहरि उन से बहुदूर में विद्यमान हैं। श्रीहरि सान्निध्य लाभ करना उन के पक्ष में बहु काल साध्य है। अतएव भा० ३।९।९ के ब्रह्मस्तव में स्वातन्त्र्याभिमानी का संसार वर्णित है।

"यावत् पृथक्त्वमिदमात्मन इन्द्रियार्थ--
मायाबलं भगवतो जन ईश पश्येत्।

कार्पण्यम् (पद्यावली ६६),--"परमकारुणिको न भवत्परः, परमशोच्यतमो न च मत् परः" इत्यादि--प्रकारम्, गोप्तृत्वे वरणञ्च, यथा नारसिंहे—

त्वां प्रपन्नोऽस्मि शरणं देवदेवं जनार्द्दनम् । इति यः शरणं प्राप्तस्तं क्लेशादुद्धराम्यहम् ॥"६९८॥

इति-प्रकारम्, तदपि त्रिप्रकारं कायिकत्वादि-भेदेन, यथोक्तं ब्रह्मपुराणे—

"कर्मणा मनसा वाचा येऽच्युतं शरणं गताः । न समर्थो यमस्तेषां ते मुक्तिफलभागिनः ॥"६९९॥ इति ।

व्याख्यातं श्रीहरिभक्तिविलासे (११।६७७)—

"तवास्मीति वदन् वाचा तथैव मनसा विदन् । तत्स्थानमाश्रितस्तन्वा मोदते शरणागतः ॥७००॥ इति ।

तावन्न संसृतिरसौ प्रतिसंक्रमेत
व्यर्थापि दुःखनिवहं वहती क्रियार्था ॥"६९७॥

टीका—ननु एवम्भूतायाः संसृतेरपरमार्थत्वात् किमर्थं विबाधः क्रियते ? तत्राह । यावदिति । आत्मन इदं पृथक्त्वं देहादि भावम् भगवत स्तव इन्द्रियार्थ रूपा या माया तया बलम्—आधिक्यं यस्य तत् । न प्रति संक्रमेत् नोपरमेत । दुःख समूहं प्रापयन्ती । क्रिय.र्थामर्थः फलं यस्याम् ।

हे भगवन् ! जब तक ऐन्द्रियक भोग विषय में माया ने जो निज सामर्थ्य प्रकाश कर रखा है, जो मानव, मायाकृत उस देहादि धर्म को श्रीभगवान् से पृथक् मानता है, अर्थात् इस में निज स्वतन्त्रता है, इस प्रकार अभिमान करता है, उस के सम्बन्ध में संसार वृथा होने पर भी निवृत्त नहीं होता है, वह संसार निवृत्ति हेतु जो कुछ करता रहता है—उस के द्वारा वह भूरि भूरि दुःख भोग ही करता है । कार्पण्य शब्द से कातरता वा दैन्य निवेदन को जानना होगा । पद्यावली ६६ में कार्पण्य प्रकटन प्रकार का उल्लेख है— "परम कारुणिको न भवत् परः, परम शोच्यतमो न च मत्परः ॥"

हे नाथ ! आप के समान परम कारुणिक कोई भी नहीं हैं, और मुझ से—अधिक शोच्यतम भी कोई नहीं है । इत्यादि प्रकार निज हृदय की कातरता प्रकटन का नाम कार्पण्य है । गोप्तृत्वेवरणञ्च-श्रीभगवान् को रक्षक रूप में वरण करना नरसिंह पुराण में उक्त है—

"त्वां प्रपन्नोऽस्मि शरणं देवदेवं जनार्द्दनम् ।
इति यः शरणं प्राप्तस्तं क्लेशादुद्धराम्यहम् ॥"६९८॥

जो वाक्य से भी प्रकाश करता है—"हे देव देव जनार्द्दन ! मैंने आप की शरण ग्रहण किया" इस प्रकार से जो मेरी शरण ग्रहण करता है । मैं उस को क्लेश से उद्धार करता हूँ । इस प्रकार भाव प्रकाश का नाम गोप्तृत्वे वरणम्--अर्थात् रक्षक रूप में वरण करना है । यह 'गोप्तृत्वेवरणम्' कायिक, वाचिक, मानस भेद से तीन प्रकार हैं । ब्रह्म वैवर्त्त पुराण में लिखित है—

"कर्मणा मनसा वाचा येऽच्युतं शरणं गताः ।
न समर्थो यमस्तेषां ते मुक्तिफलभागिनः ॥"६९९॥

जिन्होंने काय, वाक्य एवं मन के द्वारा श्रीहरि की शरण ली है । उनके प्रति दण्ड धारण करने में यम भी सक्षम नहीं हैं, एवं वे मुक्ति प्राप्त करने के अधिकारी हैं ।

श्रीहरिभक्ति विलास के ११।६७७ में शरणागति की व्याख्या हुई है ।

"तवास्मीति वदन् वाचा तथैव मनसा विदन् ।
तत्स्थानमाश्रितस्तन्वा मोदते शरणागतः ॥"७००॥

तदेवं यस्य सर्व्वाङ्गसम्पन्ना शरणापत्तिस्तस्य झटित्येव सम्पूर्णफला, अन्येषान्तु यथासम्पत्ति यथाक्रमञ्चेति ज्ञेयम् । तामेतां शरणापत्तिं श्लाघते, (भा० ११।१९।९) –

(२३६) "तापत्रयेणाभिहतस्य घोरे, सन्तप्यमानस्य भवाध्वनीश ।
पश्यामि नान्यच्छरणं तवाङ्घ्रि-,द्वन्द्वातपत्रादमृताभिवर्षात् ॥"७०१॥

शरणागतानां सर्व्वदुःखदुरीकरणं निजमाधुरीणां सर्व्वतोवर्षञ्चात्राभिहितम् । उद्धवः श्रीभगवन्तम् ॥

२३७ । तदेवं शरणापत्तिर्विवृता । अस्याश्च पूर्व्वत्वम्–तां विना तदीयत्वासिद्धेः । तत्र यद्यपि शरणापत्त्यैव सर्व्वं सिध्यति—

"शरणं तं प्रपन्ना ये ध्यानयोगविवर्ज्जिताः ते वै मृत्युमतिक्रम्य यान्ति तद्वैष्णवं पदम् ॥"७०२॥

"हे नाथ ! मैं तुम्हारा हूँ" इस प्रकार उक्ति–वाक्य के द्वारा, मन में भी उसी प्रकार भावना करना, शरीर के द्वारा निज अभीष्ट प्रिय के स्थान को आश्रय करने से शरणागत जन सुखी हो सकता है । ऐसा होने पर पूर्वोक्त प्रकार से जिस की शरणागति परिपूर्णाङ्ग होती है । उस को फल लाभ अतिसत्वर ही होता है । और जिस की सर्वाङ्ग पूर्ण शरणागति नहीं हुई है,अंश विशेष में त्रुटि रह गई है । उस की शरणागति की तरतमता के अनुसार फल प्राप्ति की तरतमता भी होती है । इस प्रकार समझना होगा ।

श्रीमद्भागवत के ११।१९।९ में श्रीभगवान् के निकट श्रीउद्धव ने इस प्रकार शरणागति की प्रशंसा की है—

(२३६) "तापत्रयेणाभिहतस्य घोरे, सन्तप्यमानस्य भवाध्वनीश ।
पश्यामि नान्यच्छरणं तवाङ्घ्रि,-द्वन्द्वातपत्रादमृताभिवर्षात् ॥"७०१॥

टीका—महद्विमृग्यत्वमभिनयेनाह । तापत्रयेणेति । तापत्रयेणाभितो हतस्य अतःसन्तप्यमानस्य अङ्घ्रिद्वन्द्वमेवातपत्रं तस्मात् ।

हे ईश ! इस संसार पथ में त्रितापसन्तप्त मानव के पक्ष में अमृत वर्षण कारी तुम्हारे चरण युगल रूप आतपत्र (छत्र) को छोड़कर और कोई रक्षक नहीं है । शरणागत जन के समस्त दुःख विदूरित करना एवं शरणागत जन को सर्वतो भावेन अमृत वर्षण द्वारा अभिषिक्त करना ही तुम्हारे चरण युगल का अवदान है । अतः अमृताभिवर्षुक का उल्लेख श्रीचरणों का विशेषण रूप में हुआ है ।

उद्धव श्रीभगवान् को कहे थे ॥२३६॥

२३७ । पूर्वोक्त प्रकार से शरणापत्ति का वर्णन विस्तृत रूप से हुआ । सर्व प्रथम शरणापत्ति का ही प्रयोजन है, कारण, शरणापत्ति के बिना तदीयत्व की सिद्धि नहीं होती है । अर्थात् जो श्रीभगवान् का होना चाहता है—उस के पक्ष में भगवत् शरणापत्ति परम आवश्यक है । यद्यपि शरणापत्ति के द्वारा ही समस्त भजन निष्पन्न होते हैं—इस का वर्णन गरुड़ पुराण में हैं—

"शरणं तं प्रपन्ना ये ध्यानयोगविवर्ज्जिताः ।
ते वै मृत्युमतिक्रम्य यान्ति तद्वैष्णवं परम् ॥"७०२॥

जिन्होंने श्रीभगवान् की शरण ग्रहण किया है, उन के द्वारा ध्यान योग के बिना भी मृत्यु ग्रस्त संसार का अतिक्रम हो जाता है । एवं विष्णु पद लाभ भी होता है । इस में कोई संशय नहीं है । तथापि—भजनानुष्ठान का आस्वादन वैशिष्ट्य लाभ हेतु यदि समर्थ हो तो, श्रीभगवत् प्रति पादक शास्त्रोपदेष्टा

इति गारुड़ात्,तथापि वैशिष्ट्यलिप्सुः शक्तश्चेत्ततो भगवच्छास्त्रोपदेष्टॄणां भगवन्मन्त्रोपदेष्टॄणां वा श्रीगुरुचरणानां नित्यमेव विशेषतः सेवां कुर्य्यात् । तत्प्रसादो हि स्व-स्व-नानाप्रतीकार-दुस्त्यजानर्थ-हानौ परमभगवत्प्रसादसिद्धौ च मूलम् । पूर्व्वत्र यथा सप्तमे श्रीनारदवाक्यम् (भा० ७।१५।२२--२५) —

असङ्कल्पाज्जयेत् कामं क्रोधं कामविवर्जनात् ।
अर्थानर्थेक्षया लोभं भयं तत्त्वावमर्शनात् ।।७०३।।
आन्विक्षिक्या शोक-मोहौ दम्भं महदुपासया ।
योगान्तरायान् मौनेन हिंसां कामाद्यनीहया ।।७०४।।
कृपया भूतजं दुःखं दैवं जह्यात् समाधिना ।
आत्मजं योगवीर्य्येण निद्रां सत्त्वनिषेवया ।।७०५।।
रजस्तमश्च सत्त्वेन सत्त्वञ्चोपशमेन च ।
एतत् सर्वं गुरौ भक्त्या पुरुषो ह्यञ्जसा जयेत् ।।"७०६।।

अथवा भगवन्मन्त्रोपदेष्टा श्रीगुरु चरण की विशेष सेवा नित्य करे । कारण, श्रीगुरु कृपा से ही विभिन्न प्रतीकार के उपायों के द्वारा जो सब अनर्थ निवृत्त नहीं होते हैं, वह सब अनर्थ अनायास निवृत्त हो जाते हैं । एवं श्रीभगवान् के परम अनुग्रह लाभ का भी एक मात्र उपाय, श्रीगुरु कृपा ही है । शास्त्रोपदेष्टा गुरु की अनुकम्पा से जो सर्वानर्थ विदूरित होते हैं, उस का वर्णन भा० ७।१५।२२--२५ में हैं—

"असङ्कल्पाज्जयेत् कामं क्रोधं कामविवर्जनात् ।
अर्थानर्थेक्षया लोभं भयं तत्त्वावमर्शनात् ।।७०३।।
आन्विक्षिक्या शोक--मोहौ दम्भं महदुपासया ।
योगान्तरायान् मौनेन हिंसां कामाद्यनीहया ।।७०४।।
कृपया भूतजं दुःखं दैवं जह्यात् समाधिना ।
आत्मजं योगवीर्य्येण निद्रां सत्त्वनिषेवया ।।७०५।।
रजस्तमश्च सत्त्वेन सत्त्वञ्चोपशमेन च ।
एतत् सर्वं गुरौ भक्त्या पुरुषो ह्यञ्जसा जयेत् ।।"७०६।।

टीका—इदानीं कामादि जयोपायानाह असंकल्पादिति चतुर्भिः । जयेदिति यथापेक्षमन्वेति । अर्थेऽनर्थ दर्शनेन । तत्त्वावमर्षणात् अद्वैतानुसन्धानेन ।२२। आन्वीक्षिक्या आत्मानात्मविवेकेन । महतां सात्त्विकानां सेवया । योगस्यान्तरायान् लोकवार्त्तादीन् ।।२३।। येभ्यो भूतेभ्यो भयं जायते तेष्वेव कृपया हिताचरणेन दैवं दैवोपसर्ग निमित्तं वृथा मनः पीड़ादि । तदुक्तं याज्ञवल्क्येन, विमला विफलारम्भः संसीदत्यनिमित्तत इति । आत्मजं--देहजं योग वीर्य्येण प्राणायामादि बलेन सत्त्व निषेवया सात्त्विकाहारादिना ।।२४ २५ ।

श्रीयुधिष्ठिर महाराज के प्रति देवर्षि नारद कहे थे—हे राजन् ! सङ्कल्प परित्याग के द्वारा कामजय करे । काम त्याग के द्वारा क्रोध को, विदूरित करे । अर्थ में अनर्थ दृष्टि के द्वारा लोभ को जय करे । दुःख के हेतु है, इस बुद्धि से अथवा सर्वथा अद्वैत अनुसन्धान द्वारा, किंवा लोभनीय वस्तु में भविष्यत् काल में अनर्थ दृष्टि रखकर लोभ को विदूरित करे । आन्वीक्षिकी विद्या द्वारा अर्थात् आत्मानात्म जड़ चेतन विचार

उत्तरत्र वामनकल्पे ब्रह्मवाक्यम्—

'यो मन्त्रः स गुरुः साक्षाद् यो गुरुः स हरिः स्वयम् । गुरुर्यस्य भवेत्तुष्टस्तस्य तुष्टो हरिः स्वयम् ।।"७०७।।

अन्यत्र—

"हरौ रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन । तस्मात् सर्वप्रयत्नेन गुरुमेव प्रसादयेत् ।।७०८।। इति ।

अतएव सेवामात्रन्तु नित्यमेव, यथा-चान्यत्र परमेश्वरवाक्यम्—

"प्रथमन्तु गुरुं पूज्य ततश्चैव ममार्चनम् । कुर्वन् सिद्धिमवाप्नोति ह्यन्यथा निष्फलं भवेत् ।।"७०९।। इति ।

अतएव नारदपञ्चरात्रे—

"वैष्णवं ज्ञानवक्तारं यो विद्याद्विष्णुवद्गुरुम् । पूजयेद्वाङ् मनः कायैः स शास्त्रज्ञः स वैष्णवः ।।७१०।।

के द्वारा शोक मोह को अतिक्रम करे । महापुरुष की सेवा के द्वारा दम्भ को जय करे । मौनावलम्बन के द्वारा साधन का अन्तराय लोकवार्त्तादि को जय करे । विषय भोगादि के प्रति चेष्टा को परित्याग करके हिंसा को जय करे । जिस प्राणी से दुःख उपस्थित होता है, उस के प्रति कृपा करके दुःख जय करे । श्रीभगवान् में चित्त की एकाग्रता रूप समाधि द्वारा दैव दुःख को विदूरित करे । प्राणायामादि योग बल से दैहिक दुःख विदूरित करे । सात्त्विक भोजनादि के द्वारा निद्राजय करे । सत्त्व गुण के द्वारा रजस्तमो गुण को जय करे । उपशमात्मक सत्त्व गुण के द्वारा विक्षेपात्मक सत्त्व गुण को जय करे । श्रीगुरुचरणों में अचला भक्ति के प्रभाव से उल्लिखित अन्तराय समूह को मानव, सुख पूर्वक विदूरित कर सकता है । श्रीभगवान् की परमानुग्रह प्राप्ति का परम उपाय एकमात्र श्रीगुरुचरण कृपा ही है । मन्त्रोपदेष्टा गुरु सेवा के विषय में वामन कल्प में श्रीब्रह्माने कहा है—

"यो मन्त्रः स गुरुः साक्षाद् यो गुरुः स हरिः स्वयम् ।
गुरुर्यस्य भवेत्तुष्टस्तस्य तुष्टो हरिः स्वयम् ।।"७०७।।

मन्त्र ही साक्षात् श्रीगुरु हैं, जो गुरु वही स्वयं श्रीहरि हैं, जिस के प्रति श्रीगुरु सन्तुष्ट होते हैं, स्वयं श्रीहरि--उस के प्रति सन्तुष्ट होते हैं । अन्यत्र भी वर्णित है—

"हरौ रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन गुरुमेव प्रसादयेत् ।।"७०८।।

श्रीहरि रुष्ट होने पर श्रीगुरुदेव रक्षा कर सकते हैं । किन्तु श्रीगुरुदेव रुष्ट होने से कोई भी रक्षा करने से समर्थ नहीं हैं । अतएव कायिक् वाचिक, मानसिक प्रयत्न के द्वारा श्रीगुरु चरण की सेवा करनी चाहिये । एकमात्र श्रीगुरु चरण की सेवा के द्वारा साधक पूर्णता एवं प्रकृष्ट शान्ति को प्राप्त कर सकता है । अन्यत्र श्रीपरमेश्वर जो कुछ कहे हैं—उस में भी सुस्पष्ट है कि—श्रीगुरु चरण की सेवा के द्वारा ही जीव सर्वार्थ लाभ कर सकता है—

"प्रथमन्तु गुरुं पूज्य ततश्चैव ममार्चनम् ।
कुर्वन् सिद्धिमवाप्नोति ह्यन्यथा निष्फलं भवेत् ।।"७०९।।

प्रथमतः श्रीगुरुदेव की पूजा करके, अनन्तर मेरी पूजा करने से ही साधक सिद्धि लाभ कर सकता है । ऐसा न करने पर अर्च्चन निष्फल होता है । अतएव नारद पञ्चरात्र में उक्त है—

"वैष्णवं ज्ञानवक्तारं यो विद्याद्विष्णुवद्गुरुम् ।
पूजयेद्वाङ्मनःकायैः स शास्त्रज्ञः स वैष्णवः ।।७१०।।

श्लोकपादस्य वक्तापि यः पूज्यः स सदैव हि ।
किं पुनर्भगवद्विष्णोः स्वरूपं वितनोति यः ॥''७११॥ इत्यादि ।

पाद्मे देवद्युति--स्तुतौ–

''भक्तिर्यथा हरौ मेऽस्ति तद्वरिष्ठा गुरौ यदि । ममास्ति तेन सत्येन सन्दर्शयतु मे हरिः ॥''७१२॥ इति ।

तस्मादन्यद्भगवद्भजनमपि नापेक्षते, यथोक्तमागमे पुरश्चरणफलप्रसङ्गे–

''यथा सिद्धरसस्पर्शात् ताम्रं भवति काञ्चनम् । सन्निधानाद्गुरोरेवं शिष्यो विष्णुमयो भवेत् ॥''७१३॥

तदेतदाह (भा० १०।८०।३४)—

(२३७) ''नाहमिज्या--प्रजातिभ्यां तपसोपशमेन वा ।
तुष्येयं सर्वभूतात्मा गुरुशुश्रूषया यथा ॥''७१४॥

टीका च–ज्ञानप्रदाद् गुरोरधिकः सेव्यो नास्तीत्युक्तम् । अतएव तद्भजनादधिको धर्मश्च

श्लोकपादस्य वक्तापि यः पूज्यः स सदैव हि ।
किं पुनर्भगवद्विष्णोः स्वरूपं वितनोति यः ॥''७११॥

जो ज्ञानोपदेष्टा वैष्णव गुरु को विष्णु तुल्य जानता है, एवं कायवाक्य मन से श्रीगुरु देव की पूजा करता है । वही शास्त्रज्ञ एवं वैष्णव है । जो भागवतीय श्लोक के एकपाद का भी उपदेश करते हैं, वह जो सर्वथा पूज्य हैं, इस में संशय क्या है ?

पद्म पुराण की देवद्युति स्तुति में वर्णित है—

''भक्तिर्यथा हरौ मेऽस्ति तद्वरिष्ठा गुरौ यदि ।
ममास्ति तेन सत्येन सन्दर्शयतु मे हरिः ॥''७१२॥

श्रीहरि में मेरी जिस प्रकार निष्ठा है श्रीगुरुदेव में यदि उस से अधिक परिमाण में निष्ठा हो तो उस सत्य से श्रीहरि मुझ को दर्शन दान करें । अतएव श्रीगुरुचरणों में एकान्त अनुरागी की उक्ति से प्रतीत होता है कि श्रीगुरुचरणानुरागी के पक्ष में अन्य भगवद् भजन की अपेक्षा नहीं है ।

जिस प्रकार आगम में पुरश्चरण फल प्रसङ्ग में उक्त है—

''यथा सिद्ध रसस्पर्शात् ताम्रं भवति काञ्चनम् ।
सन्निधानाद्गुरोरेवं शिष्यो विष्णुमयो भवेत् ॥''७१३॥

जिस प्रकार सिद्धरस–पारद– स्पर्श से ताम्र सुवर्ण होता है । उस प्रकार श्रीगुरु के सन्निधान में स्थित शिष्य भी विष्णुमय होता है ।

उस विषय का वर्णन भा० १०।८७।३४ में इस प्रकार है—

(२३७) ''नाहमिज्या--प्रजातिभ्यां तपसोपशमेन वा ।
तुष्येयं सर्वभूतात्मा गुरुशुश्रूषया यथा ॥''७१४॥

श्रीकृष्ण भी श्रीदाम विप्र को कहे थे—मैं इज्या—गृहस्थधर्म प्रजाति—प्रकृष्ट जन्म उपनयन, अर्थात् ब्रह्मचारिधर्म, तपस्या–अर्थात् वनस्थ धर्म, उपशम--सन्न्यासधर्म, अथवा यतिधर्म द्वारा परमेश्वर मैं उस प्रकार सन्तुष्ट नहीं होता हूँ, जिस प्रकार सर्व भूतात्मा होकर भी मैं गुरु सेवा से सन्तुष्ट होता हूँ । स्वामिपाद कृत टीका का मर्म्मार्थ यह है-ज्ञान प्रद श्रीगुरुदेव से अधिक सेव्य और नहीं है । इसका वर्णन पहले हुआ है। अतएव श्रीगुरुचरण के सेवा से अधिक धर्म नहीं है । उक्त टीका का सारार्थ यह है । ज्ञान प्रद गुरु से अधिक सेव्य नहीं है—यहाँ ज्ञान शब्द से द्विविध अर्थ बोध होते हैं, एक ब्रह्म ज्ञान निष्ठ, अपर भगवन्निष्ठ

नास्तीत्याह,--नाहमिति । इज्या गृहस्थधर्मः, प्रजातिः प्रकृष्टं जन्मोपनयनम्, तेन ब्रह्मचारि-धर्म उपलक्ष्यते, ताभ्याम्, तथा तपसा वनस्थधर्मेण, उपशमेन यतिधर्मेण वा । अहं परमेश्वर-स्तथा न तुष्येयम्, यथा सर्वभूतात्मापि गुरुशुश्रूषया ।" इत्येषा । अत्र ज्ञानं ब्रह्मनिष्ठं भगवन्निष्ठञ्चेति द्विविधम् । अत्र पूर्वत्र तथैव व्याख्या, उत्तरत्र त्वेवम्,-इज्या पूजा, प्रजाति-र्वैष्णवदीक्षा, तपः समाधिः, उपशमो भगवन्निष्ठेति ।। श्रीभगवान् श्रीदामविप्रम् ।।

२३८ । श्रीगुर्वाज्ञया तत्सेवनाविरोधेन चान्येषामपि वैष्णवानां सेवनं श्रेयः । अन्यथा दोषः स्यात्, यथा श्रीनारदोक्तौ—

"गुरौ सन्निहिते यस्तु पूजयेदन्यमग्रतः । स दुर्गतिमवाप्नोति पूजनं तस्य निष्फलम् ।।"७१५।। इति ।

यः प्रथमं (भा० ११।३।२१) "शाब्दे परे च निष्णातम्" इत्याद्युक्त-लक्षणं गुरुं नाश्रितवान्, तादृशगुरोश्च मत्सरादितो महाभागवत-सत्कारादावनुमतिं न लभते, स प्रथमत एव त्यक्तशास्त्रो न विचार्य्यते । उभयसङ्कटपातो हि तस्मिन् भवत्येव । एवमादिकाभिप्रायेणैव—

"यो वक्ति न्यायरहितमन्यायेन शृणोति यः । तावुभौ नरकं घोरं व्रजतः कालमक्षयम् ।।"७१६।।

ज्ञान, उस के मध्य में श्रीधर स्वामि पादने ब्रह्म निष्ठ ज्ञान को लक्ष्य करके उस प्रकार व्याख्या की है । भगवनिष्ठ ज्ञान की व्याख्या को निम्नोक्त रूप से जानना होगा । इज्या-पूजा, प्रजाति--वैष्णव दीक्षा, तपस्या—समाधि, उपशम—भगवन्निष्ठा ।

श्रीभगवान् श्रीदाम विप्र को कहे थे ।।२३७।।

२३८ । श्री गुरुदेव की आज्ञा से एवं श्रीगुरु देव की सेवा के अविरोध से ही अन्य वैष्णव वृन्द की सेवा करना मङ्गलकर है । उस प्रकार आचरण न करने से दोष होता है । इस विषय में देवर्षि नारद की उक्ति इस प्रकार है—

"गुरौ सन्निहिते यस्तु पूजयेदन्यमग्रतः । स दुर्गतिमवाप्नोति पूजनं तस्य निष्फलम् ।।"७१५।।

श्रीगुरुदेव निकट में विद्यमान होने पर जो पहले अपर व्यक्ति की पूजा करता है, वह दुर्गति को प्राप्त करता है, एवं उस के द्वारा अनुष्ठित श्रीहरि की पूजा निष्फल होती है ।

जो व्यक्ति, प्रथमतः शब्द ब्रह्म वेद में विचार निपुण, एवं परब्रह्म भगवदनुभव में निपुण—भा० ११।३।२१ "शाब्दे परे च निष्णातम्" इस प्रकार लक्षणाक्रान्त सद् गुरु चरणाश्रय ग्रहण जिस ने नहीं किया है, सुतरां वह अशास्त्रीय असत् गुरुचरणाश्रय ग्रहण किया है । उक्त लक्षण हीन गुरु अर्थात् अशास्त्रीय गुरु शास्त्रज्ञ महत् व्यक्ति के प्रति स्वाभाविक द्वेष करता है, अतएव वह गुरु परश्रीकातरता--मात्सर्य्यादि दोषाक्रान्त होने के कारण शिष्य को महाभागवत की सेवानुकूल्य करने में अनुमति प्रदान नहीं करता है । अतः शिष्य नहीं जान सकता कि शास्त्रीय महाभागवत वृन्द की सेवा करना परम कर्त्तव्य है । इस प्रकार शिष्य के सम्बन्ध में विचार शास्त्र नहीं करेगा । कारण, जो व्यक्ति, पहले शास्त्र विधि लङ्घन पूर्वक लौकिक गुरु चरणाश्रय किया है—उस के पक्ष में इस प्रकार सङ्कट उपस्थित होना स्वाभाविक ही है । एक ओर गुरुचरण की आज्ञा लङ्घन, एक सङ्कट, दूसरी ओर महदनादर वा महत् सेवा न करने से सङ्कट । इस प्रकार अभिप्राय को सुस्पष्ट करने के निमित्त नारद पञ्चरात्र में उक्त है—

"यो वक्ति न्यायरहितमन्यायेन शृणोति यः ।
तावुभौ नरकं घोरं व्रजतः कालमक्षयम् ।।"७१६।।

इति श्रीनारदपञ्चरात्रे । अतएव दूरत एवाराध्यस्तादृशो गुरुः, वैष्णवविद्वेषी चेत् परित्याज्य एव-

'गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्य्याकार्य्यमजानतः। उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते ॥''७१७॥

इति स्मरणात्, तस्य वैष्णवभावराहित्येनावैष्णवतया "अवैष्णवोपदिष्टेन" इत्यादिवचन-विषयत्वाच्च । यथोक्त-लक्षणस्य श्रीगुरोरविद्यमानतायान्तु तस्यैव महाभागवतस्यैकस्य नित्य सेवनं परमं श्रेयः । स च श्रीगुरुवत् समवासनः स्वस्मिन् कृपालुचित्तश्च ग्राह्यः-

"यस्य यत्सङ्गतिः पुंसो मणिवत् स्यात् स तद्गुणः । स्वकुलदर्ध्यैव ततो धीमान् स्वयूथ्यानेव संश्रयेत् ।'७१८

इति श्रीहरिभक्तिसुधोदयदृष्ट्या, कृपां विना तस्मिन् चित्तारत्या च ।

अथ सर्वस्यैव भागवतचिह्नधारिमात्रस्य तु यथायोग्यं सेवाविधानम् तत्र महाभागवतसेवा द्विविधा-प्रसङ्गरूपा, परिचर्य्यारूपा च । तत्र प्रसङ्गरूपा यथा (भा० ११।१२।१--२) -

---

जो नीति विरुद्ध कहता है, एवं जो नीति रहित कथा सुनता है, उभय ही अक्षय काल पर्य्यन्त घोर नरक में निवास करते हैं । अतएव तादृश अन्याय वक्ता अर्थात अशास्त्रीय उपदेष्टा गुरु की आराधना दूर से ही करनी चाहिये । अर्थात् अन्याय वक्ता गुरु के निकट उपस्थित होकर उपदेशादि ग्रहण न करे । दूर से प्रणाम वन्दनादि द्वारा सम्मान करे। यदि गुरु, वैष्णव विद्वेषी हो तो, उस को परित्याग ही करे । कारण,-उक्त है— "गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्य्याकार्य्यमजानतः।
उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते ॥''७१७।

अवलिप्त--कुकार्य्यरत विषयासक्त कार्य्याकार्य्य में कर्त्तव्याकर्त्तव्य में अनभिज्ञ, उत्पथ प्रतिपन्न--शास्त्र गर्हित पथावलम्बी गुरु को परित्याग ही करे । गुरु वैष्णव भावापन्न न होने से अवैष्णव होता है, अतएव अवैष्णवता निबन्धन "अवैष्णवोपदिष्टेन मन्त्रेण निरयं व्रजेद् ।
तस्माच्च विधिना सम्यग् ग्राहयेद् वैष्णवाद् गुरोः ॥

अवैष्णव के निकट मन्त्र ग्रहण करने से नरक गमन होता है, अतएव शास्त्र विधि के अनुसार पुनर्वार वैष्णव गुरु के निकट से मन्त्र ग्रहण करे। इत्यादि प्रमाण के द्वारा वैष्णव द्वेषी गुरु को परित्याग करना चाहिये । यथा कथित लक्षणयुक्त अर्थात् शास्त्रीय लक्षणाक्रान्त गुरु विद्यमान न होने पर किसी परम भागवत की नित्य सेवा परम कल्याण दायिनी है । किन्तु उक्त महाभागवत में श्रीगुरु देवकी समान वासना एवं साधक के प्रति कृपालुचित्त गुण विद्यमान होना आवश्यक है । कारण, श्रीहरि भक्ति सुधोदय में लिखित है—

"यस्य यत्सङ्गति, पुंसो मणिवत् स्यात् स तद्गुणः ।
स्वकुलर्द्ध्यैव ततो धीमान् स्वयूथ्यानेव संश्रयेत् ॥''७१८॥

जिस का जिस जिस जातीय व्यक्ति का सङ्ग होता है । मणि के समान वह सङ्गकारी व्यक्ति, उस के गुणों से निज को रञ्जित कर लेता है। अतएव बुद्धिमान् व्यक्ति, निज निज कुल वृद्धि हेतु निज यूथस्थित वैष्णव को ही अवलम्बन करे । साधक के प्रति महाभागवत की कृपा एवं चित्त की प्रीति व्यतीत सत्वर सिद्धि लाभ की सम्भावना नहीं हो सकती है । अनन्तर समस्त भागवत चिह्नधारी व्यक्ति को ही यथा योग्य सेवा करनी चाहिये । इस का वर्णन करते हैं । उस के मध्य में महाभागवत की सेवा प्रसङ्ग रूपा एवं परिचर्य्या रूपा भेद से द्विविधा हैं। प्रथम प्रसङ्ग रूपा सेवा का वर्णन भा० ११।१२।१--२ में

(२३८) "न रोधयति मां योगो न साङ्ख्यं धर्म्म एव च।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्त्तं न दक्षिणा ॥७१९॥
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः।
यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम् ॥"७२०॥

पूर्वाध्याये (भा० ११।१२।४७)—
"इष्टापूर्त्तेन मामेवं यो यजेत समाहितः।
लभते मयि सद्भक्तिं मत्स्मृतिः साधुसेवया ॥"७२१॥

इत्यनेन साधुसेवया भक्तिनिष्ठा-जनने साधनान्तर-सव्यपेक्षत्वमिवोक्तम्। तत्रेष्ट-शब्देन

इस प्रकार है—

(२३८) "न रोधयति मां योगोन सांख्यं धर्म एव च।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्त्तं न दक्षिणा ॥७१९।
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः।
यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम् ॥"७२०॥

टीका— न रोधयति। न वशीकरोति। योग—आसन प्राणायामादिः। सांख्यं सत्त्वानां विवेकः। धर्मः, सामान्यतोऽहिंसादिः" स्वाध्यायो वेदजपः। तपः कृच्छादि, त्यागः—सन्यासः। इष्टापूर्त्तम् इष्ट पूर्त्तञ्च। तत्रेष्टम् अग्निहोत्रादि। पूर्त्तं कूपारामादि निर्म्माणम्। दक्षिणाशब्देन सामान्यतो दानं लक्ष्यते।(१) व्रतानि—एकादश्युपवासादीनि। यज्ञो देव पूजा। छन्दांसि—रहस्यमन्त्राः, अवरुन्धे—वशी करोति।(२)

उद्धव के प्रति श्रीभगवान् कहे थे—आसन प्राणायामादि योग, तत्त्व विवेक, अहिंसादि धर्म, वेद पाठ, तपस्या, सन्न्यास, अग्निहोत्रादि यज्ञ, वापी कूपतड़ागादि निर्म्माण, एकादश्यादि व्रत, यज्ञ, छन्द, तीर्थ, नियम, यम,—यह सब मुझ को उस प्रकार वशीभूत कर नहीं सकते हैं, जिस प्रकार सर्वासक्ति विनाशक सत् सङ्ग मुझ को वशी भूत करता है। पूर्वाध्याय के अन्तिम भा० ११। १४७ में उक्त है—

"इष्टापूर्त्तेन मामेवं यो यजेत समाहितः।
लभते मयि सद्भक्तिं मत्स्मृतिः साधुसेवया ॥"७२१।

टीका—भक्ताय। भक्ते फलमाह। इष्टापूर्त्तेनेति। सद् भक्तिं—दृढ़ां भक्तिम्। अस्या भक्तेरन्तरङ्ग साधनमाह। इत्थं मत्स्मृतिः साधु सेवया भवति। यद्वा स्मृतिर्ज्ञानम्। ततश्च दृढ़भक्ति मतः पुंसः साधु सेवया यज्ज्ञानं भवतीत्यर्थः।

जो संयत चित्त से इष्ट पूर्त्त द्वारा मेरी पूजा करता है, वह मुझ में सद् भक्ति प्राप्त करता है। साधु सेवा के द्वारा मेरी स्मृति लाभ होती है। इस में साधु सेवा द्वारा अन्तरङ्ग भक्त के प्रति निष्ठा उत्पन्न होने का विधान करने के समय अन्य साधन की अपेक्षा की कथा भी कही गई है। अर्थात् केवल साधु सेवा के द्वारा ही भगवत् स्मृति नहीं होती है, इस के सहित--इष्टापूर्त्त की सहायता का भी उल्लेख है। यहाँपर प्रयुक्त इष्ट शब्द के द्वारा श्रीमद् भागवतीय सप्तम स्कन्ध के पञ्चदशोऽध्याय में कथित रीति का अनुस्मरण करना कर्त्तव्य है। अतएव उस के अनुसार इष्ट शब्द से अग्निहोत्र, दर्श पौर्णमास्य, चातुर्मास्य याग, वैश्व देव बलि हरण रूप अर्थ को जानना होगा। 'पूर्त्त' शब्द से देवालय, फलोद्यान, कूप, वापी, तड़ाग, जल पानसत्र को समझना पड़ेगा। एवं यहाँपर अर्थात्---'नेष्टा पूर्त्तं न दक्षिणा' यह भा० ११।१२।४३ में उक्त

सप्तम-स्कन्धोक्त-रीत्याग्निहोत्र-दर्शपौर्णमास-चातुर्म्मास्ययाग-पशुयाग-वैश्वदेवबलिहरणान्युच्यन्ते। पूर्त्त-शब्देन सुरालयाराम-कूपवापीतड़ाग-प्रपान्नसत्राण्युच्यन्ते। अत्र तु इष्टम् (भा० ११।१२।३) "हविषाग्नौ यजेत मा१" इत्यादावग्नि-होत्राद्युपलक्षितम्, पूर्त्तम् (भा० ११।११।३८) "उद्यानोपवनाक्रीड़-" इत्याद्युपलक्षितं ज्ञेयम्। एवं पूर्वोक्तप्रकारेणेष्टापूर्त्तेन यो मां यजेत्, स मत्-स्मृतिस्तत्र साधुसेवया सतां प्रसङ्गेन सद्भक्ति-मन्तरङ्ग-भक्तिनिष्ठां प्राप्नोतीत्यर्थः। तत्राग्नि-होत्रादीनां भक्तौ प्रवेशोऽन्यन्तर्यामिरूप-भगवदधिष्ठानत्वेनाग्न्यादि-सन्तर्पणात्। कूपारामादीनाञ्च तत्परिचर्य्यार्थं क्रियमाणत्वात्तत्र प्रवेशः। तदेवं सत्सङ्गस्य सव्यपेक्षत्वमुक्तम्, पुनश्च तत्रैव तस्य स्वातन्त्र्येण यथेष्टफलदातृत्वं सर्वापेक्षया। परमसामर्थ्यञ्च वक्तुं परम-गुह्यत्वमुपदिष्टम् (भा० ११।११।४९।—

"अथैतत् परमं गुह्यं श्रृण्वतो यदुनन्दन।
सुगोप्यमपि वक्ष्यामि त्वं मे भृत्यः सुहृत् सखा॥"७२२॥

एतादृशमहिमत्वेनानुक्तत्वात्तदेतत् परमगुह्यत्वमाह, (भा० ११।१२।१) "न रोधयति"

'इष्ट' शब्द का अर्थ—"हविषाग्नौ यजेत मां" अग्नि में घृताहुति के द्वारा मेरी पूजा करे। यह अग्नि होत्रादि शब्दोपलक्षित यज्ञ रूप अर्थ को जानना होगा। एवं 'पूर्त्त' शब्द से "उद्यानोपवनाक्रीड़ापुर मन्दिर कर्म्मणि" भा० ११।११।३८ में उक्त भगवत् सेवोपयोगी पुष्प प्रधान, फल प्रधान, श्रीविग्रह का विहार स्थान, पुर 'चक्रवेष्टन' मन्दिरादि कर्म उपलक्षित अनुष्ठान को जानना चाहिये। इस प्रकार इष्ट एवं पूर्त्त द्वारा जो मेरी पूजा करता है, वह मेरी स्मृति को प्राप्त करता है। उस के मध्य में अग्निहोत्र प्रभृति याग के द्वारा भक्ति में प्रविष्ट होने कारण—अन्तर्यामी भगवान् के अधिष्ठान रूप अग्नि प्रभृति में समर्पण करना है। यदि अग्नि प्रभृति में श्रीभगवान् अधिष्ठित हैं, इस प्रकार बुद्धि न करके केवल घृत के द्वारा आहुति प्रदान करने से भगवद् भक्ति में प्रवेश नहीं हो सकता है। और यदि भगवत् परिचर्य्या के उद्देश्य से कूप आराम प्रभृति का निर्म्माण होता है तो, 'पूर्त्त' कर्म के द्वारा ही भगवद् भक्ति में प्रवेश होगा। तद्भिन्न पुण्यादि उद्देश्य से कूपारामादि कर्मानुष्ठान से भगवत् भक्ति प्राप्ति नहीं हो सकती है। ऐसा होने पर पूर्व वर्णित प्रकारानुसार सत् सङ्ग का सर्व साधन सापेक्षत्व वर्णित हुआ पुनर्वार साधु सङ्ग का स्वतन्त्र रूप से यथेष्ट फल दातृत्व एवं सर्व साधन की अपेक्षा से परम सामर्थ्य युक्तत्व कहने के निमित्त परम गोपनीय विषय को कहते हैं—भा० ११।११।४९ में उक्त है—

"अथैतत् परमं गुह्यं शृण्वतो यदुनन्दन।
सुगोप्यमपि वक्ष्यामि त्वं मे भृत्यः सुहृत् सखा॥"१२२॥ इति।

टीका—इदानीं साङ्ख्य योगादीनि साधनान्तर सापेक्षाणि सव्यभिचाराणि च सत् सङ्गस्तु स्वतन्त्र एव समर्थः फलाव्यभिचारी चेति वर्णयितुमाह अथेति। एतद्वक्ष्यमाणं परमं गुह्यम् अतः श्रृण्वित्यर्थः॥

श्रीकृष्ण उद्धव को कहे हैं—हे यदुनन्दन उद्धव! अनन्तर परम गोपनीय वृत्तान्त का वर्णन तुम्हारे निकट करता हूँ। श्रवण करो, कारण, तुम मेरा भृत्य हो, सुहृत एवं सखा हो, भा० ११।१२ में इस प्रकार साधु सङ्ग की महिमा का कथन नहीं हुआ है। किन्तु सम्प्रति भा० ११।१२ -१-२ श्लोक द्वारा परम गोपनीय तत्त्व का वर्णन करता हूँ। अर्थात् साधु सङ्ग जो अति सु गोप्य है, उसका वर्णन कर रहा हूँ।

इति । त्यागः सन्न्यासः, दक्षिणा दानमात्रम्, यज्ञो देवपूजा, छन्दांसि रहस्यमन्त्राः, यथा सत् सङ्गो मामवरुन्धे वशीकरोति, तथा योगो न वशीकरोति, न च साङ्ख्यमित्यादिकोऽन्वयः । ततस्तेऽपि किञ्चिद्वशीकुर्वन्तीत्यर्थ-लब्धेर्भगवत्परा एव ज्ञेयाः, न च साधारणाः । अतएव च "वृतान्येकादश्यादीनि" इति टीकाकाराः । न चैतावता तेषां नित्यानां वैष्णववृतादीनाम-कर्त्तव्यत्वं प्राप्तमेकस्य फलातिशयसामर्थ्य-प्रशंसयेतरस्य नित्यत्वनिराकरणायोगात् । यथा कर्म्माधिकारिणः (भा० ७।१४।१७) —

"न ह्यग्निमुखतोऽयं वै भगवान् सर्वयज्ञभुक् ।
इज्येत हविषा राजन् यथा विप्रमुखे हुतैः ॥"७२३॥

"न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टा पूर्त्तं न दक्षिणा ॥(१)
व्रतानि यज्ञश्चन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः ।
यथावरुन्धे सत् सङ्गः सर्व सङ्गापहो हि माम् ॥(२)

टीका—न रोधयति न वशीकरोति । योग आसन प्राणायामादिः साङ्ख्यं तत्त्वानां विवेकः । धर्मः सामान्यतोऽहिंसादिः । स्वाध्यायो वेदजपः । तपः कृच्छ्रादि । त्यागः सन्न्यासः । इष्टापूर्त्तम्--इष्टञ्च पूर्त्तञ्च । तत्रेष्टम्, अग्नि होत्रादि, पूर्त्तं कूपारामादि निर्म्माणम् । दक्षिणा शब्देन सामान्यतो दानं लक्ष्यते (१)

व्रतानि एकादश्युपवासादीनि । यज्ञो देव पूजा । छन्दांसि रहस्यमन्त्राः । अवरुन्धे वशीकरोति । (२)

त्याग--सन्न्यास, दक्षिणा--सत्पात्र में दान,यज्ञ—देवपूजा, छन्द---रहस्य मन्त्र, सत्सङ्ग, जिस प्रकार मुझ को वशीभूत करता है, योग प्रभृतिउस प्रकार वशीभूत करने में सक्षम नहीं हैं । अधिक कहना क्या है, आत्मानात्म विवेक रूप साङ्ख्य प्रभृति भी मुझ को वशीभूत करने में समर्थ नहीं है । उक्त श्लोकद्वय का अन्वय इस प्रकार ही जानना होगा । यहाँ ज्ञातव्य यह है कि—"उस प्रकार वशीभूत करने में सक्षम नहीं हैं" इस प्रकार उल्लेख होने के कारण—तात्पर्य्य यह निकलता है कि–उक्त साधन समूह किञ्चित् वशीभूत करने में सक्षम हैं । अर्थात् जो साधन भगवद् उद्देश्य में अनुष्ठित होते हैं, वह सब साधनों में भगवद् वशीकरण शक्ति किञ्चित् परिमाण में है, किन्तु तद्भिन्न साधारण योगादि साधन भगवान् को वशीभूत नहीं कर सकते हैं । इस अभिप्राय से ही श्रीधर स्वामि पाद ने व्रत शब्द का अर्थ—एकादशी प्रभृति किया है ।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि—यदि एकादशी प्रभृति वृत में साधुसङ्ग के समान भगवद् वशी कारिणी शक्ति नहीं है, तो एकादशी प्रभृति वृतानुष्ठान की आवश्यकता ही क्या है । उत्तर में कहते हैं---"एकादशी प्रभृति वृत सत् सङ्ग के समान् वशीभूत करने में सक्षम नहीं हैं ।" इस प्रकार उल्लेख होने के कारण, एकादशी प्रभृति नित्य वैष्णव वृतों की अकर्त्तव्यता नहीं आती है । कारण, एकादश्यादि वृत न करने से वैष्णवता की रक्षा नहीं होती है । जिस का अनुष्ठान न करने से प्रत्यवाय होता है, वही नित्य है । एकादशी प्रभृति व्रत न करने से प्रत्यवाय होता है । यहाँ साधुसङ्ग की प्रशंसा एवं शक्ति का आधिक्य प्रदर्शित हुआ है । भक्ति के किसी एक अङ्ग की प्रशंसा करने पर अन्य अङ्ग का नित्यत्व का निषेध नहीं होता है । जिस प्रकार कर्माधिकारी वृन्द के प्रसङ्ग में (भा० ७।१४।१७ में) कहा गया है—

"न ह्यग्निमुखतोऽयं वै भगवान् सर्वयज्ञभुक् ।
इज्येत हविषा राजन् यथा विप्रमुखे हुतैः ॥"७२३॥

इति श्रुत्वापि पूर्वोक्तम् (भा० ७।१४।१६) "अग्निहोत्रादिना यजेत्" इति विधिं न परित्यक्तुं शक्नुवन्ति, तद्वत्। भक्त्यधिकारिणश्च यथा (भा० ११।१९।२१) "मद्भक्तपूजाभ्यधिका" इति श्रुत्वापि दीक्षानन्तरं नित्यतया प्राप्तां भगवत्पूजां त्यक्तुं न शक्नुवन्ति, तद्वदिति। अतएव स्कान्दे—

"षड्भिर्मासोपवासैस्तु यत् फलं परिकीर्त्तितम्। विष्णोर्नैवेद्यसिक्थेन तत् फलं भुञ्जतां कलौ ॥"७२४॥

इत्यपि न बाधकम्। एकादश्यादौ हि नित्यत्वेऽप्यानुषङ्गिकमेव महाफलदत्वं तत्र तत्र मतम्। अतएव नित्यत्वरक्षणार्थमपि तादृशं वैष्णवं व्रतमवश्यमेव कर्त्तव्यमित्यागतम्। नित्यवैष्णव-व्रतत्वादिकञ्चैकादश्यादेरर्चनप्रसङ्गे किञ्चित् दर्शयिष्यामः। अतएव पूर्वाध्याये टीकाकारैरपि (भा० ११।११।३२) "आज्ञायैवं गुणान् दोषान्" इत्यत्र "विद्धैकादशी-कृष्णैकादश्युपवासानुप-

---

टीका— न पुनरति निर्बन्धो यज्ञार्थं कार्य्यं इत्याह नहीति। विप्रमुखे हुतैरन्नादिभि र्यथा इज्येत पूज्येत न तथा अग्निमुखतो हविषा इज्येत।

हे राजन्! सर्व यज्ञ भुक् श्रीभगवान् ब्राह्मण मुखमें आहुति प्राप्त कर जिस प्रकार सन्तुष्ट होते हैं, घृत के द्वारा अग्नि में आहुति प्रदान करने पर उस प्रकार सन्तुष्ट नहीं होते हैं।

ब्राह्मण के मुख में आहुति दान की महिमा को सुनकर भी जिस प्रकार कर्म्माधिकारिवृन्द, इस के पहले उक्त है। (भा० ७।१४।१६)

"यर्ह्यात्मनोऽधिकाराद्याः सर्वाः स्युर्यज्ञसम्पदः।
वैतानिकेन विधिना अग्निहोत्रादिना यजेत् ॥"

अग्निहोत्रादि के द्वारा यजन करे, इस विधि का त्याग नहीं करते हैं। यहाँपर भी उस प्रकार भक्ति अधिकारी वैष्णव, सत्सङ्ग महिमा को सुनकर नित्य विधि एकादशी प्रभृति व्रत को परित्याग करने में सक्षम नहीं होते हैं। भक्ति में अधिकारी के पक्ष में जिस प्रकार भा० ११।१९।२१ में उक्त "मद्भक्त पूजाभ्यधिका" अर्थात् मेरी पूजा से मेरा भक्त की पूजा अधिक है, इस प्रकार भक्त पूजा की महिमा को सुनकर भी दीक्षा ग्रहण के पश्चात् विधि रूप में वर्णित भगवत् पूजा की परित्याग करने में साधक सक्षम नहीं होता है। यहाँपर भी उस प्रकार ही जानना होगा। अतएव स्कन्द पुराण में वर्णित है—

"षड्भिर्मासोपवासैस्तु यत् फलं परिकीर्त्तितम्।
विष्णोर्नैवेद्यसिक्थेन तत् फलं भुञ्जतां कलौ ॥"७२४॥

छै मास उपवास करने का जो फल शास्त्र में उक्त है, विष्णु नैवेद्य भोजन करने से कलिकाल में वही फल होता है। इत्यादि प्रशंसा वाक्य के द्वारा भी एकादशी प्रभृति नित्य व्रत बाधित नहीं होते हैं। कारण, कतिपय व्यक्ति मानते हैं, एकादशी प्रभृति व्रत की महाफल प्रदान सामर्थ्य जब सुनने में आती है, तब वह सब व्रत का नित्यत्व होना कैसे सम्भव होगा? कारण, फल श्रुति होने कारण, एकादशी व्रत का काम्यत्व ही होता है। उस के उत्तर में कहते हैं—यह सब व्रत नित्य होने पर भी आनुषङ्गिक रूप से महा फल प्रदान सामर्थ्य का भी उल्लेख हुआ है। अर्थात् नित्य कर्म्म का अनुष्ठान करने पर प्रत्यवाय नाश होता है। एकादशी प्रभृति व्रतानुष्ठान करने पर केवल प्रत्यवाय नाश ही नहीं होता है। किन्तु आनुषङ्गिक रूप से महाफल लाभ भी होता है। अतएव एकादश्यादि व्रत की नित्यत्व रक्षा हेतु यह सब वैष्णव व्रतानुष्ठान करना अवश्य कर्त्तव्य है। यह सिद्धान्त समीचीन है। एकादश्यादि वैष्णव व्रत का नित्यत्व के सम्बन्ध

वासानिवेद्यश्राद्धादयो ये भक्ति-विरुद्धा धर्मास्तान् संत्यज्येत्यर्थः' इत्युक्तम् । प्रथमे च श्रीभीष्मयुधिष्ठिरसंवादे (भा० १।९।६७) "भगवद्धर्मान्" इत्यत्र "हरितोषकान् द्वादश्यादिनियम-रूपान्" इति, (३।१।१९) "व्रतानि चेरे हरितोषणानि" इत्यत्र तृतीये च "एकादश्यादीनि" इति व्याख्यातम् । अतएव भगवन्महाप्रसादैकव्रतस्य श्रीमदम्बरीषस्य सच्छिरोमणेराचार-दर्शनात् तदेव निश्चीयत इति ॥

२३९ । अथ प्रस्तुतमनुसरामः । वशीकरणमत्र द्विविधम्—मुख्यं गौणञ्च । तत्र मुख्येन प्रेम लभ्यते, (भा ५।६।१८) "अस्त्वेवमङ्ग भजतां भगवान् मुकुन्दो, मुक्तिं ददाति कर्हिचित्

में विवेचन अर्च्चन वर्णन प्रसङ्ग में करेंगे । अतएव भा० ११।११।३२ ।

आज्ञायैव गुणान् सर्वान् मयादिष्टानपि स्वकान् ।
धर्मान् सन्त्यज्य यः सर्वान् मां भजेत सः सत्तमः ॥"

श्लोक की टीका में स्वामि पादने लिखा है—"विद्धैकादश्युपवास कृष्णैकादश्युपवासानिवेद्य श्राद्धादयो ये भक्ति विरुद्धा धर्मा स्तान् सन्त्यज्येत्त्यर्थः ।"

विद्धैकादशी व्रत करना, कृष्णपक्ष की एकादशी में व्रत न करना, श्रीभगवान् में अनर्पित वस्तु के द्वारा श्राद्धादि करना,— प्रभृति जो भक्ति विरुद्ध धर्म है, उस को सम्यग् रूप से परित्याग करके जो मेरा भजन करता है, वह सत्तम है । भा० १।९।२७ भीष्म युधिष्ठिर संवाद में उक्त है—

"दान धर्मान् राजधर्मान् मोक्षधर्मान् विभागशः ।
स्त्रीधर्मान् भगवद्धर्मान् समास व्यास योगतः ॥"(२७)

टीका—पुनस्तत्रैव विशेषमाह दानेति । मोक्षधर्मान् शमदमादीन् भगवद्धर्मान् हरितोषकान् द्वादश्यादि नियमरूपान् । समास व्यासौ सङ्क्षेप विस्तारौ तावेव योगावुपायौ ततस्ताभ्याम् ॥

श्रीहरि सन्तोष हेतु द्वादशी व्रत नियम प्रभृति भागवत धर्म है । यह स्वामि पादने लिखा है । भा० ३।१।१९ में लिखित है—

"गां पर्य्यटन् मेध्य विविक्त वृत्तिः, सदाप्लुतोऽधः शयनोऽवधूतः ।
अलक्षितः स्वैरवधूत वेशो व्रतानि चेरे हरितोषणानि ॥"

इस की टीका में स्वामिपादने लिखा है—'हरितोषणानि व्रतानि चेरे—अचरत् । यहाँपर हरितोषण रूप व्रत को व्याख्या करके श्रीधर स्वामिपादने 'एकादशी व्रत पर' व्याख्या की है । अतएव श्रीभगवान् के महाप्रसाद आस्वादन करना ही जिस का एकान्त व्रतहै, उन महानुभव श्रीअम्बरीष महाराज का आचरण प्रदर्शन हेतु एकादशी प्रभृति व्रत की अवश्य कर्त्तव्यता निश्चित हो रही है । अर्थात् जो अम्बरीष महाराज "श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते" अर्थात् महाराज अम्बरीष, श्रीतुलसी के सहित भगवदर्पित नैवेद्य भोजन में निज रसना को अर्पण किये थे । श्रीअम्बरीष नियमित रूप से श्रीएकादशी व्रतानुष्ठान करते थे । अतएव शास्त्र से एवं सदाचार से श्रीएकादश्यादि व्रत का नित्यत्व उपलब्ध होता है । अर्थात् एकादशी प्रभृति वैष्णव व्रत करना अवश्य कर्त्तव्य है ॥२३८॥

२३९ । अनन्तर प्रकरण प्राप्त विषय का वर्णन करते हैं । भगवद् वशीकरण, मुख्य गौण भेद से द्विविध हैं । उस के मध्य में मुख्य वशीकरण में प्रेम लाभ होता है । भा० ५।६।१८ में उक्त है—

"अस्त्वेवमङ्ग भजतां भगवान् मुकुन्दो, मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम्"

स्म न भक्तियोगम्" इति न्यायेन। अतएव गौणेनान्यत् फलम्। अत्र मुख्यं श्रीगोप्यादौ, गौणं वाणादौ। उत्तरत्र वशीकरणत्वञ्च फलदानोन्मुखीकरणतयोपचर्य्यते। तदेतद् वशीकरणे दृष्टान्तानाह, (भा० ११।१२।३--६) —

(२३९) "सत्सङ्गेन हि दैतेया यातुधाना मृगाः खगाः।
गन्धर्वाप्सरसो नागाः सिद्धाश्चारणगुह्यकाः ॥७२५॥
विद्याधरा मनुष्येषु वैश्याः शूद्राः स्त्रियोऽन्त्यजाः।
रजस्तमःप्रकृतयस्तस्मिंस्तस्मिन् युगे युगे ॥७२६॥
बहवो मत्पदं प्राप्तास्त्वाष्ट्र--कायाधवादयः।
वृषपर्वा बलिर्वाणो मयश्चाथ विभीषणः ॥७२७॥
सुग्रीवो हनुमानृक्षो गजो गृध्रो वणिक्पथः।
व्याधः कुब्जा व्रजे गोप्यो यज्ञपत्न्यस्तथापरे ॥"७२८॥

दैतेयास्तदुपलक्षितासुर-दानवाश्च, यातुधाना राक्षसाः, तज्जातिषु दिग्दर्शनम्—त्वाष्ट्रेत्यादि,

---

श्रीशुक—परीक्षित् महाराज को कहे थे—हे राजन्! भगवान् मुकुन्द, भजन कारी भक्त को मुक्ति दान करतेहैं, किन्तु यथा योग्य न होनेसे अर्थात् अन्यावेश शून्य न होने से प्रेम प्रदान नहीं करते हैं। इत्यादि नियम से साधारण भजन से प्रेमलाभ नहीं होता है। अतएव गौण वशी करण से अन्य फल स्वर्ग मोक्ष प्रभृति फल लाभ होता है। मुख्य वशीकरण मन्त्र से प्रेम लाभ होता है। मुख्य वशी करण मन्त्र ही साधु सङ्ग है। यहाँ मुख्य वशीकरण—श्रीगोपी प्रभृति में है, एवं गौण वशी करण—वाण–बलि प्रभृति में है। फल प्रदान हेतु श्रीभगवान् को उन्मुख करना गौण वशीकरण का कार्य्य है। अर्थात् सत्सङ्ग व्यतीत स्थल विशेष में अन्य साधना का भगवद् वशीकरणत्व का उल्लेख है–वह वशीकरण निबन्धन उन्मुखता सम्पादक होने के कारण उपचार है, मुख्य नहीं है। उक्त उभयविध वशीकरण विषय में दृष्टान्त उपस्थित करते हैं। (भा० ११।१२।३–६)

(२३९) "सत्सङ्गेन हि दैतेया यातुधाना मृगाः खगाः।
गन्धर्वाप्सरसो नागाः सिद्धाश्चारणगुह्यकाः ॥७२५॥
विद्याधरा मनुष्येषु वैश्याः शूद्राः स्त्रियोऽन्त्यजाः।
रजस्तमः प्रकृतयस्तस्मिंस्तस्मिन् युगे युगे ॥७२६॥
बहवो मत्पदं प्राप्तास्त्वाष्ट्र–कायाधवादयः।
वृषपर्वा बलिर्वाणो मयश्चाथ विभीषणः ॥७२७॥
सुग्रीवो हनुमानृक्षो गजो गृध्रो वणिक्पथः।
व्याधः कुब्जा व्रजे गोप्यो यज्ञपत्न्यस्तथापरे ॥"७२८॥

श्रीकृष्ण, उद्धव को कहे थे—हे उद्धव! सत्सङ्ग के प्रभाव से दितिनन्दन दैत्यवृन्द एवं तदुपलक्षित देव-दानव वृन्द, यातु धान, राक्षस, उस का दिक् दर्शन—त्वाष्ट्र--वृत्र, मृग, खग, गन्धर्व, अप्सरा, नाग, सिद्ध, चारण, गुह्यक, विद्याधर, मनुष्य के मध्य में वैश्य, शूद्र, स्त्री, अन्त्यज प्रभृति राजस, तामस स्वभाव सम्पन्न व्यक्ति गण उस उस युग में मुझ को प्राप्त किये हैं।

वृष पर्वा, बलि, वाण, मय, विभीषण, सुग्रीव, हनुमान्, ऋक्ष 'जाम्बवान्' गजराज, गृध्र (जटायु)

त्वाष्ट्रो वृत्रासुरः, वृत्रासुरस्य प्रागजन्मनि श्रीनारदाङ्गिरसोः सङ्गः श्रीसङ्कर्षणसङ्गश्च प्रसिद्धः कायाधवः कयाधुपुत्रः प्रह्लादः, अस्य गर्भे श्रीनारदसङ्गः, आदि-शब्दगृहीतान् पूर्वोक्त-जाति-क्रमेण कतिचिद्गणयति,–वृषेति, वृषपर्वा दानवः, अयं हि जातमात्रमातृपरित्यक्तो मुनिपालितो विष्णुभक्तो बभुवेति पुराणान्तर-प्रसिद्धिः, बलेः श्रीप्रह्लादसङ्गः श्रीवामनसङ्गश्च,-तदनन्तरमेव भक्त्युद्बोधदर्शनात्। बाणस्य बलि-महेश-भगवत्सङ्गः,–अस्य भुजकर्त्तनानन्तरं ज्ञातविष्णुमहिम्नो महाभागवत-महेशप्राप्तिरिव स्वप्राप्ति-रित्युच्यते, मयो दानवः,-अस्य सभा-निर्म्माणादौ पाण्डवसङ्गो भगवत्सङ्गश्च, अन्ते तत्प्राप्तिस्तु ज्ञेया, विभीषणो यातुधानः,-अस्य हनुमत्सङ्गो भगवत्सङ्गश्च, सुग्रीवाद्या गजान्ता मृगाः, तत्र ऋक्षो जाम्बवान्,-अस्य

व्याध--(धर्मव्याध) कुब्जा, व्रजीय गोपीवृन्द, यज्ञस्थल में यज्ञ पत्नी गण, इन सबने मुझ को प्राप्त किया है। उस के मध्य में वृत्रासुर के पूर्व जन्म में अर्थात् महाराज चित्रकेतु अवस्था में—श्रीनारद—अङ्गिरा का सङ्ग लाभ हुआ था। अनन्तर श्रीसङ्कर्षणदेव का सङ्ग लाभ भी हुआ। श्रीमद् भागवत में यह प्रसङ्ग सुप्रसिद्ध है। कायाधव—कयाधु पुत्र प्रह्लाद, गर्भ में अवस्थित होने के समय श्रीनारद मुनि का सङ्ग लाभ प्रह्लाद की माता को हुआ था।

मूल श्लोक में "त्वाष्ट्र कायाधवादयः" बहु वचन का उल्लेख है। यहाँ आदि शब्द से उक्त जातिक्रम से—अर्थात् दैतेययातुधान खग मृग प्रभृति के मध्य में कतिपय नामोल्लेख करते हैं। उसके मध्य में वृषपर्वा एक दानव है, यह दानव, जन्म मात्र से ही जननी कर्त्तृक परित्यक्त होकर अनन्तर मुनि कर्त्तृक प्रति पालित होकर विष्णु भक्ति परायण हुआ। पुराणान्तर में यह वृत्तान्त प्रसिद्ध है। श्रीप्रह्लाद एवं वामन देव का सङ्ग लाभ—बलि महाराज को हुआ था। कारण, उन दोनों के सङ्ग प्रभाव से ही बलिमहाराज में भक्ति का उदय हुआ था। वामन महाराज को श्रीबलि, महादेव एवं भगवत सङ्ग लाभ हुआ था, इनके भुजच्छेदन के पश्चात् श्रीविष्णु महिमा ज्ञान भी हुआ था। एवं महाभागवत चूड़ामणि श्रीमहादेव की प्राप्ति को श्रीकृष्ण प्राप्ति मानकर उल्लेख है। मय नामक एक दानव है, सभानिर्म्माणादि कार्य्य के समय इन को पाण्डव सङ्ग एवं भगवत् सङ्ग भी हुआ था। एवं देहावसान के पश्चात् भगवत् प्राप्ति भी हुई थी। जानना होगा। विभीषण, राक्षस होकर भी श्रीहनुमान् का सङ्ग एवं श्रीरामचन्द्र का सङ्ग प्राप्ति किया था। एवं राम चन्द्र का परम भक्त भी हुआ था। सुग्रीव से आरम्भ कर गज पर्य्यन्त सभी मृग अर्थात् पशु जाति के हैं। उस के मध्य में ऋक्ष—जाम्बवान् है, इन को श्रीराम चन्द्र का सङ्ग लाभ हुआ था। गज शब्द से गजराज को जानना होगा। पूर्व जन्म में इन को सत्सङ्ग प्राप्त था। पूर्व जन्म में यह पाण्ड्यदेशीय नृपति थे, एवं विष्णु व्रत परायण होकर कालातिपात करते थे। एक समय कुलाचल पर्वताश्रम में मौन व्रत धारण पूर्वक भगवदाराधना कर रहे थे, उस समय सशिष्य अगस्त्य मुनि का आगमन उस आश्रम में हुआ था। महाराज मुनि को देखकर भी मौनव्रती होकर ही रहे थे। किसी प्रकार आदर अभ्यर्थना नहीं किये थे, यह देखकर मुनि क्षुब्ध होकर शाप प्रदान कियथे। उस अभिसम्पात से उनको गज देह लाभ हुआ, प्रतीत होता है कि—इन्द्रद्युम्न शरीर में ही सत्सङ्ग हुआ था, अन्तिम समय में गजराज शरीर में भी भगवत् सङ्ग लाभ हुआ था, यह विवरण सुस्पष्ट है। गृध्र—जटायु नामक पक्षी है, श्रीगरुड़, दशरथ प्रभृति का सङ्ग लाभ इन को था, सीतादर्शन श्रीभगवद् दर्शन लाभ भी था। गन्धर्व प्रभृति का प्रसङ्ग यहाँ पर न होने के कारण, अर्थात् अति प्रसिद्ध न होने के कारण, मनुष्य के मध्य में वैश्यादि का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—बणिक पथ—तुलाधार, महा भारत में जाजली मुनि एवं गन्धर्व के प्रसङ्ग में इस की

भगवत्सङ्गः, गजो गजेन्द्रः,—अस्य पूर्वजन्मनि सत्सङ्ग उन्नेयः, उत्तरजन्मान्ते भगवत्सङ्गश्च गृध्रो जटायुनामा खगः,-अस्य श्रीगरुड़-दशरथादिसङ्गः श्रीसीतादर्शनं श्रीभगवद्दर्शनञ्च। गन्धर्वादींस्त्वनतिप्रसिद्धत्वेनानुदाहृत्य मनुष्येषु वैश्यादीनुदाहरति,—वणिक्पथस्तुलाधारः, अस्य भारते जाजलिमुनिगन्धर्व प्रसङ्गे प्रोक्तमहिम्नः सत्सङ्गोऽन्वेषणीयः, व्याधो धर्म्मव्याधः शूद्रोऽन्त्यजोऽपि।

अत्रादिवाराह-कथेयम्—क्वचित् प्राचीन-कलियुगे वसुनाम्ना वैष्णवेन राज्ञा प्राग्जन्मनि मृगभ्रान्त्या निहतो ब्राह्मणो ब्रह्मराक्षसतां प्राप्तस्तस्य राज्ञः प्रापञ्चिक-विष्णुलोकगमन समये तच्छरीरं प्रविष्टः, पुनश्च तस्य तद्भोगान्ते राजतां प्राप्तस्य देहात् तत्कर्त्तृक-ब्रह्मपाराख्य-स्तवपाठतेजसा निर्गतस्तत्कृतधर्म्मव्याधसञ्ज्ञो हिंसातिशयविमुखः पर्य्यवसाने दृष्टनीलाद्रि-नाथस्तञ्च स्तुतवान्, प्राप्त-तदालिङ्गनस्तत्सायुज्यमवापेति।

कुब्जाया भगवत्सङ्गः पूर्वजन्मनि च नारदसङ्ग इति माथुरहरिवंशप्रसिद्धम्, गोप्योऽत्र साधारण्यः, श्रीकृष्णव्रजे तदानीं विवाहादिना समागताः,-आसां तन्नित्यप्रेयसीवृन्दसङ्गः श्रीकृष्णदर्शनादिरूपो भगवत्सङ्गश्च, यज्ञपत्नीनां श्रीकृष्णगुणकथकलोकसङ्गस्तत्सङ्गश्च। अपरे दैतेयादयोऽन्ये च ॥

प्रचुरतर महिमा वर्णित है। अतएव इस को भी सत्सङ्ग प्राप्त था, यह समझना चाहिये।

व्याध--धर्मव्याध नाम से प्रसिद्ध है,आदि वराह पुराण में इस का प्रसङ्ग वर्णित है। यह धर्म व्याध-शूद्र एवं अन्त्यज था। किसी प्राचीन कलियुग में वसु नामक वैष्णव नृपति ने मृग भ्रम से एक ब्राह्मण को मारा था, वह ब्राह्मण ब्रह्म राक्षस हो गया। वैष्णव नृपति का जब विष्णु लोक गमन हुआ, तब वह ब्रह्म राक्षस वैष्णव नृपति वसु के शरीर में प्रविष्ट हो गया। वैष्णव महाराज जब वैकुण्ठ लोक के सुख भोग करके पुनर्वार राज देह प्राप्त किये थे, उस समय उन्होंने देखा कि—उन के देह में ब्रह्म राक्षस प्रविष्ट होकर है। ब्रह्म राक्षस को देह से निष्क्रान्त करने के निमित्त ब्रह्मपाराख्य स्तव पाठ आरम्भ किया। उस स्तव पाठ के प्रभाव से ब्रह्म राक्षस राजा के शरीर से निर्गत हो गया। उस समय राजा ने उस ब्रह्म राक्षस को धर्म व्याध नाम प्रदान किया। उस समय से धर्म व्याध अतिशय हिंसा से विमुख होकर जगन्नाथ का दर्शन एवं स्तव किया। स्तव से सन्तुष्ट होकर जगन्नाथ धर्म व्याध को आलिङ्गन दान कर सायुज्य मुक्ति प्रदान किये थे।

कुब्जा का भगवत् सङ्ग हुआ था। एवं पूर्व जन्म में श्रीनारद सङ्ग लाभ का वर्णन माथुर हरिवंश में प्रसिद्ध है। इस प्रसङ्ग में गोपी शब्द से साधारण गोपी को जानना होगा। किन्तु नित्यसिद्धा गोपिका का प्रसङ्ग सम्भव नहीं है। कारण, वे सब श्रीकृष्ण वल्लभारूप में नित्यविराजित हैं। यह सब श्रीकृष्ण व्रज में विवाहादि द्वारा आनीता हुई थीं। इन सब को श्रीकृष्ण के नित्य प्रेयसी वृन्द का सङ्ग, एवं श्रीकृष्ण प्रदर्शनादि रूप भगवत् सङ्ग प्राप्त था। यज्ञ पत्नी वृन्द को कृष्ण गुण वर्णन कारिणी तैल विक्रय कारिणी वृन्द का सङ्ग लाभ था, एवं श्रीकृष्ण दर्शनादि रूपसङ्ग भी था। मूल श्लोकस्थ 'अपरे' अपर शब्द से दितिनन्दन प्रभृति को जानना होगा ॥२६६॥

२४०। तेषां सत्सङ्गव्यतिरिक्त-साधनान्तराभावमाह (भा० ११।१२।७) —

(२४०) "ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासित-महत्तमाः।
अव्रतातप्ततपसः मत् सङ्गान्मामुपागताः॥"७२६॥

नाधीताः श्रुतिगणा यैः, तदर्थश्च नोपासिता महत्तमा यैः, किञ्च, अकृतव्रता अकृत-तपस्काश्च, पूर्ववदध्ययनादिकं भगवत्प्रीणनमेव ग्राह्यम्। अत्र केषां वृत्रादीनां प्राग्जन्मादौ साधनान्तरं यत्, तदपि सत्सङ्गानुषङ्गसिद्धमित्यभिप्रेत्य सत्सङ्गस्यैव तत्तत् फलमुक्तम्। धर्मव्याधादीनान्तु केवलस्यैव तस्येति ज्ञेयम्। 'मत्सङ्ग'–शब्देनात्र मम सङ्गो मदीयादीनाञ्च सङ्ग इत्यभिधास्यते, उभयत्रापि मत्सम्बन्धित्वादित्यभिप्रायेण। तत्र स्वस्यापि सत्त्वात्

२४०। पूर्वोक्त दैत्य प्रभृतियों का सत्सङ्ग व्यतीत अपर कोई साधन नहीं था। भा० ११।१२।७ में स्वयं श्रीकृष्ण कहे हैं।

(२४०) 'ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासित–महत्तमाः।
अव्रतातप्ततपसः मत् सङ्गान्मामुदागताः॥"७२६॥

टीका—तेषां सत्सङ्ग व्यतिरिक्त साधनान्तराभावनात इति। न अधीताः श्रुति गणा यैः। तदर्थञ्च नोपासीता महत्तमा यैस्ते तथा। किञ्च अव्रतातप्त तपसः। न व्रतानि येषां,न तप्तानि तपांसि, यैस्ते च तथा। सत्सङ्गादिति। सद्भि सङ्गो नाम मयैव सङ्ग इत्यभिप्रेत्योक्तम्। यद्वा स्वसङ्गस्यापि सत्सङ्गत्वं विवक्ष्यते। स्वस्यापि सत्त्वात्। यद्वा मदीयसङ्गादित्यर्थः।

हे उद्धव। पूर्वोक्त दैत्य प्रभृति ने वेदादि शास्त्राध्ययन नहीं किया एवं किसी महापुरुष की सेवा भी नहीं की, तपस्या भी नहीं की, केवल मेरा एवं भक्त सङ्ग के प्रभाव से मुझ को प्राप्त किया। यहाँ अध्ययन प्रभृति साधनों का जो उल्लेख है,—उस को पुर्व कथित इष्टापूर्त्त प्रभृति साधन के समान श्रीभगवत् सन्तोषार्थ अनुष्ठित रूप से जानना होगा। यहाँपर वृत्र प्रभृति के पूर्व जन्म में जो अन्य साधन का उल्लेख दृष्ट होता है। उस को भी जानना होगा कि—आनुषङ्गिक सत्सङ्ग के द्वारा ही वह सिद्ध है। इस अभिप्राय से ही सत्सङ्ग के द्वारा उस उस फल प्राप्ति का उल्लेख किया गया है। धर्म्मव्याध प्रभृति को किन्तु केवल सत्सङ्ग प्रभाव से ही भगवत् प्राप्ति हुई। यहाँपर "मत् सङ्ग शब्द का अर्थ भगवान् का सङ्ग एवं भक्त का सङ्ग है—उभय सङ्ग को ही कहा गया है। श्रीकृष्ण का अभिप्राय यह है कि—सत्सङ्ग एवं भगवत् सङ्ग उभय सङ्ग में ही श्रीभगवत् सम्बन्ध है। इस अभिप्राय से ही कहीं पर सत् सङ्ग का उल्लेख, कहीं पर भगवत् सङ्ग का उल्लेख किया गया है। तन्मध्य में भगवान् में भी सत्त्व अर्थात् साधुत्व है, अतः सत्सङ्ग प्रकरण में निज सङ्ग को भी अन्तर्भुक्त किया गया है। पूर्व में कहा गया है। कि—, भागवत सङ्ग प्रभाव से ही श्रीभगवान् की कृपा होती है, वह श्रीभगवत् चरणों में उन्मुखता प्राप्त करने का हेतु है, तज्जन्य ही कहा गया है। अर्थात् भागवत सङ्ग के विना स्वतन्त्र रूप से श्रीभगवान् की कृपाका उदय हो ही नहीं सकता है। कहने का तात्पर्य्य यह है कि—अनादि वहिर्म्मुख जीव के प्रति श्रीभगवत् कृपा का उद्गम होना असम्भव है। कारण, भगवान् के हृदय में प्रेमवान् भक्त भिन्न अपर किसी का स्थान नहीं है। अतएव पर दुःख कातरता लक्षण भगवत् कृपा उद्गम की सम्भावना की नहीं जा सकती है। तब भक्त कृपा से भगवद् वहिर्मुख जीव जब श्रीभगवान् के और उन्मुख होता है, तब उस के प्रति श्रीभगवत कृपा का उदय होता है। यहाँपर उस भागवत सङ्ग को ही विशेष साधन रूप से उल्लेख किया

सत्सङ्गप्रकरणे स्वसङ्गोऽप्यन्तर्भावितः। यत्तु पुरा भागवतसङ्गेनैव भगवत्कृपा भवतीत्युक्तम्, तत्तु तत्साम्मुख्यजन्मन्येव। अत्र तु स एव भागवतसङ्गः साधनविशेषत्वेनोच्यत इति न दोषः। यदि वात्र कुत्रचित् साम्मुख्यजन्मकारणमपि भगवत्सङ्गो भवेत्, तदाप्येवमाचक्ष्महे- सच्छब्दार्थ-मवतारमङ्गीकृत्य यत् कदाचित् सर्वत्र कृपां वितनोति भगवान् तच्च सत् सम्बन्धेनैवेत्यतो नाभ्युपगमहानिरिति॥

२४१। अथ मुख्यं वशीकरणमसम्भावित-साधनान्तरेण सत्सङ्गमात्रेण श्रीगोप्यादीनां दर्शयति, (भा० ११।१२।८) —

(२४१) "केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो नगा मृगाः।
येऽन्ये मूढ़धियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसा॥" ७३०॥

गया है। अतएव प्रकरण अर्थात् उद्देश्य गत भेद विद्यमान होने के कारण सिद्धान्तांश में दोष की सम्भावना नहीं है।

कदाचित् बहिर्मुख जन का भगवत् साम्मुख्य के प्रति कारण—भगवत् सङ्ग होता है। अर्थात् भगवत् सङ्ग प्रभाव से ही श्रीभगवच्चरणों में उन्मुखता होती है। उस का समाधान निबन्धन इस प्रकार कहेंगे। श्रीभगवान् साधुवृन्द के निमित्त अर्थात् साधु वृन्द के रक्षणावेक्षण प्रेमास्वादन हेतु अवतीर्ण होकर कदाचित् जो सर्वत्र कृपा विस्तार करते हैं, वह भी साधु वृन्द के सम्बन्ध द्वारा ही होता है। अर्थात् साधु वृन्द के निमित्त अवतीर्ण होकर भगवदुन्मुख- एवं भगवद् बहिर्मुख उभय विध जीव के प्रति कृपा विस्तार करते हैं। अतएव साधु वृन्द के निमित्त ही जब श्रीभगवान् का अवतार है, तब कहना पड़ेगा कि भगवत् कृपा के मूल कारण ही साधु वृन्द हैं। अतएव साधु सङ्ग ही भगवत् प्राप्ति का उपाय है, इस प्रकार कहने से 'अभ्युपगम' सिद्धान्त की हानि नहीं होती है। अस्वीकृत विषय को स्वीकार करके जो निज पक्ष पोषण किया जाता है। उस को 'अभ्युपगम सिद्धान्त' कहते हैं॥२४०॥

२४१। अनन्तर मुख्य वशीकरण का वर्णन करते हैं—जो सत्सङ्ग व्यतीत अपर किसी भी साधनों से सम्भव नहीं है। गोपीवृन्द के द्वारा उस विषय का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं। अर्थात् गोपीवृन्द के साधु सङ्ग व्यतीत अपर कुछ भी साधन नहीं था, एक मात्र साधुसङ्ग के प्रभाव से ही उन्होंने श्रीकृष्ण को अनायास ही प्राप्त किया था, इस का वर्णन भा० ११।१२।८ में करते हैं।

(२४१) "केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो नगा मृगाः।
येऽन्ये मूढ़धियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसा॥" ७३०॥

टीका—तत्र वृत्रादीनां भवतु नाम कथञ्चित साधनान्तरं गोपी प्रभृतीनान्तु नान्यदस्तीत्याह, केवलेनेति। सत्सङ्गलब्धेन केवलेनैव भावेन—प्रीत्या। नगा—यमलार्जुनादयः नागाः—कालियादयः। यद्वा, तदानीन्तनानां सर्व तरु गुल्मादीनामपि भगवति भावोऽस्तीति गम्यते। तदुक्तं भगवतैव। अहो अमीदेववरामरार्चितं पादाम्बुजं ते सुमनः फलार्हणम्। नमन्त्युपादाय शिखाभिरात्मनस्तमोपहत्यै तरुजन्म यत्कृतमित्यादि। सिद्धाः कृतार्थाः सन्त ईयुः प्रापुः।

श्रीकृष्ण, उद्धव को कहे थे,—व्रज में गोपीगण, धेनुगण, वृक्षगण, मृगगण, एवं अपर मूढ़ बुद्धि सर्प गण, एकमात्र मदीय सङ्ग जनित भाव अर्थात् प्रीति लक्षण भक्ति द्वारा कृतार्थ होकर सुख पूर्वक मुझ को

भावेन प्रकरणप्राप्तमत्सङ्गमात्र जन्मना प्रीत्या, भावोऽत्र वशीकारमुख्यत्वे चिह्नम् (भा० ६।४।६६) "वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा" इत्यादेः, (भा० ११।१४।२१) "भक्त्याहमेकया ग्राह्यः" इत्यादेश्च । गावोऽपि गोपीवदागन्तुक्य एव ज्ञेयाः, नगा यमलार्जुनादयः, मृगा अपि पूर्व्ववत्, नागाः कालियादयः, यमलार्जुन-कालिययोः प्राप्तिस्तदानीन्तन-तत्क्षणिक-भगवत्प्राप्त्यावश्यम्भावि-नित्य-प्राप्तिमपेक्ष्योक्ता, सिद्धाः पूर्ववद् द्विविधात् सत्सङ्गात्, स तु तेषां भावो योगादिभिरप्राप्य एवेति, (भा० ११।१२।२) "यथावरुन्धे' इत्यत्र यथा-शब्दार्थस्य पराकाष्ठा ।।

प्राप्त किये थे । 'भावेन' मूलस्थ भाव शब्द के द्वारा प्रकरण प्राप्त श्रीकृष्ण सङ्ग जनित जो प्रीति- उस प्रीति से मुझ को प्राप्त किये हैं । यहाँ पर भाव ही वशीकरण मुख्यत्व के प्रति हेतु है । कारण, "मत् सङ्गान्मामुपागताः" अर्थात् मेरा सङ्ग प्रभाव से ही मुझ को प्राप्त किये हैं, इस प्रकार उल्लेख होने के कारण, भावोत्पत्ति के प्रति अपर किसी साधन का निर्द्देश नहीं किया जा सकता है । अतएव भाव ही श्रीकृष्ण वशीकरण के मुख्य हेतु है । कारण, भा० ६।४।६६ भगवान् दुर्वासा को कहे हैं—

"वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत् पतिं यथा ।।"

हे मुनिवर ! सती रमणीवृन्द सत् पति को जिस प्रकार वशीभूत करती हैं, उस प्रकार ही साधुभक्त गण भक्ति के द्वारा मुझ को वशीभूत करते हैं । भा० ११।१४।२१ में उक्त है—

"भक्त्याहमेकया ग्राह्यः" हे उद्धव ! मैं एक मात्र अव्यभिचारिणी भक्ति के द्वारा ही वशीभूत होता हूँ । यह सब प्रमाणों से प्रतिपन्न होता है कि—श्रीभगवान् श्रीकृष्ण एकमात्र भक्ति से ही वशीभूत होते हैं । यहाँ 'धेनु' शब्द से गोपी वृन्द के समान ग्रामान्तर से समागता धेनु को ही जानना होगा । कारण, श्रीगोविन्द की जिस प्रकार नित्यसिद्धा गोपी वृन्द हैं, उस प्रकार ही नित्यसिद्धा धेनु वृन्द भी हैं, एवं उन सब की नित्य प्रीति श्रीकृष्ण में ही है । उन सब के पक्ष में श्रीकृष्ण के सङ्ग प्रभाव से प्रेमोदय होना सिद्धान्त विरुद्ध है । नग शब्द से अर्थात् वृक्ष शब्द से यमलार्ज्जुन प्रभृति को ग्रहण करना चाहिये । कारण, वृन्दावनस्थ वृक्ष समूह नित्यसिद्ध हैं, एवं उनके नित्य प्रेम श्रीकृष्ण में ही है । यहाँ पर उक्त 'मृग' शब्द से भी देशान्तर से समागत पशु वृन्द को जानना होगा । कारण, वृन्दावनीय पशु वृन्द श्रीकृष्ण में नित्य प्रेमवन्त हैं । नित्य सिद्ध नाग, अर्थात् कालीय प्रभृति हैं । यहाँ यमलार्ज्जुन एवं कालीय नाग की भगवत् प्राप्ति हुई थी, इस विवरण से यह जानना होगा कि—जिस समय उन्होंने श्रीकृष्ण को प्राप्त किया था । वह क्षणिक होने पर भी नित्य रूप से श्रीकृष्ण को प्राप्त करेंगे—इस को सूचित करने के निमित्त उन दोनों का अर्थात् यमलार्ज्जुन कालिय का उल्लेख किया गया है । अभिप्राय यह है कि—यमलार्ज्जुन एवं कालिय नाग ने श्रीकृष्ण की प्रकट लीला के समय श्रीकृष्ण को दर्शन एवं स्पर्शन किया था । उस से ही उन्होंने सिद्धि लाभ, अर्थात् श्रीकृष्ण में प्रेमलाभ किया था, उस प्रेम लाभ के फल से ही देहान्तर के द्वारा नित्य लीला में प्रवेश किया था, एवं नित्य ही श्रीकृष्ण सङ्ग से एवं सेवालाभ से अपने को धन्य किया था । मूल श्लोकोक्त 'सिद्ध' पद का अर्थ है—प्रेम प्राप्ति । यह प्रेम प्राप्ति, श्रीभगवत् सङ्ग एवं साधु सङ्ग—इन दोनों प्रकार सङ्ग से ही हुई थी—यह समझना होगा । अर्थात् किसी ने श्रीभगवत् सङ्ग से प्रेम प्राप्त किया था, और किसी ने साधुसङ्ग से प्रेम लाभ किया था । उन सब सिद्ध एवं सिद्धा वृन्द को जो श्रीकृष्ण में प्रेम लाभ हुआ था, वह किसी साधन से नहीं हो सकता है । भा० ११।१२।२ में कथित "यथावरुन्धे सत्सङ्गः" श्लोकस्थ 'यथा' शब्दके द्वारा उस को दर्शाया गया है । यहाँ यथा शब्दार्थ की परा काष्ठा भाव प्राप्ति में ही

२४२। तामेव व्यनक्ति, (भा० ११।१२।६) —

(२४२) "यं न योगेन सांख्येन दान-व्रत-तपोऽध्वरैः।
व्याख्या-स्वाध्याय-सन्न्यासैः प्राप्नुयाद्यत्नवानपि॥"७३१॥

यं भावम्, अत्रापि योगादयो भगवत्परा एव, योगादिभिर्यत्नवानपीत्यनेन तत्प्राप्त्यर्थं प्रयुज्यमानत्वावगमात्। एष्वपि श्रीगोपीनामेव परमकाष्ठा--प्राप्तिं दर्शयितुम् (भा० ११।११।४६) "अथैतत् परमं गुह्यं शृण्वतो यदुनन्दन" इत्येतत्-पूर्वोक्त-परमगुह्यत्वस्य परमकाष्ठां दर्शयितुं (भा० ११।१२।१०) "रामेण सार्द्धम्" इत्यादिप्रकरणमनुसन्धेयम्॥ श्रीभगवान्॥

है। अर्थात् साधु सङ्ग से आनुषङ्गिक भाव से अन्य फल प्राप्ति होने पर भी मुख्य फल श्रीभगवान् में प्रेम लाभ है॥२४१॥

२४२। भाव प्राप्ति में ही जो निखिल फलों की पराकाष्ठा है। अथच एकमात्र साधुसङ्ग व्यतीत अन्य किसी भी साधन से भाव प्राप्त करना सम्भव नहीं है, उस का वर्णन सुस्पष्ट रूप से भा० ११।१२।९ में करते हैं।

(२४२) "यं न योगेन सांख्येन दान-व्रत-तपोऽध्वरैः।
व्याख्या--स्वाध्याय--सन्न्यासैः प्राप्नुयाद्यत्नवानपि॥"७३१॥

टीका—प्राप्ते र्दुर्ल्लभतामाह। यमिति। योगादिभिः कृतप्रयत्नोऽपि यं न प्राप्नुयात् तं मामीयुरिति पूर्वेणान्वयः। अत्र च प्रथमं या गोप्यः पश्चादयो वा श्रीकृष्णेन सह सङ्गतास्ते सन्त स्तत् सङ्गोऽन्येषां सत्सङ्गस्तेन च तेषां भक्तिरिति ज्ञातव्यम्॥

श्रीकृष्ण, उद्धव को कहे थे—साधु सङ्ग सिद्धा गोपी प्रभृति ने मुझ में जिस भाव को प्राप्त किया, वह भाव, योग, सांख्य, (आत्मानात्म विवेक) दान, व्रत, तपस्या, यज्ञ, शास्त्र व्याख्या, शास्त्र अध्ययन, सन्न्यास प्रभृति भूरि भूरि साधनों के द्वारा एवं विविध प्रयत्न के द्वारा लाभ नहीं होता है।

श्लोकस्थ 'यं' शब्द से भाव को जानना होगा। "न रोधयति मां योगः" जिस प्रकार योगादि का भगवत् परत्व अर्थ किया गया है। उस प्रकार ही यहाँपर योगादिका भगवत् परत्व ही जानना होगा। कारण, "यत्नवान् अपि" अर्थात् भाव प्राप्ति हेतु यत्नवान् होने पर भी, इस प्रकार उल्लेख होने के कारण श्रीभगवत् प्राप्ति हेतु यह सब साधन भी अनुष्ठित होते हैं, इसका बोध सुस्पष्ट रूपसे होता है। साधु सङ्ग के प्रभाव से जिन्होंने श्रीभगवान् में भाव लाभ किया है, उन के मध्य में श्रीगोपीवृन्द ने ही श्रीकृष्ण भाव की परा काष्ठा को प्राप्त किया है। उस को दर्शाने के निमित्त (भा० ११।११।४९) "अथैतत् परमं गुह्यं श्रृण्वतो यदुनन्दन" इत्यादि श्लोक में उक्त परम भाव की परा काष्ठा प्रदर्शन हेतु भा० ११।१२।१० के "रामेण सार्द्धं मथुरां प्रणीते" इत्यादि प्रकरण का अनुसन्धान करना कर्त्तव्य है।

"रामेण सार्द्धं मथुरां प्रणीते श्वाफल्किना मय्यनुरक्तचित्ता।
विगाढ़ भावेन न मे वियोगतीव्राधयोऽन्यं ददृशुः सुखाय॥
तास्ताः क्षपाः प्रेष्ठतमेन नीता मयैव वृन्दावनगोचरेण।
क्षणार्द्धवत् ताः पुनरङ्ग तासां हीना मया कल्पसमा बभूवुः॥"

टीका—गोपीनां भावं प्रपञ्चयति रामेणेति चतुर्भिः। श्वाफल्किना अक्रूरेण, मयि प्रणीते सति मे मत्तोऽन्यं सुखाय न ददृशुः। कुतः? वियोगेन तीव्रो दुःसह आधिर्यासां ताः। अत्रहेतुः। मयि विगाढ़े

२४३ । एष च सत्सङ्गो ज्ञानं विनापि कृतोऽर्थद एव स्यादित्याह, (भा० ३।२३।५५) —

(२४३) "सङ्गो यः संसृतेर्हेतुरसत्सु विहितोऽधिया ।
स एव साधुषु कृतो निःसङ्गत्वाय कल्पते ॥"७३२॥

अधिया अज्ञानेन, यत्तु पूर्व्वं श्रीनारदादौ मुन्यन्तरसाधारणदृष्टिर्निन्दिता, तदिहास्निग्धे ज्ञानलव-दुर्विदग्धे च ज्ञेयम् ॥ श्रीदेवहूतिः ॥

२४४ । तदेवं महाभागवत-प्रसङ्गफलमुक्तम् । तत्परिचर्य्या-फलमाह, (भा० ३।४।१९)—

अतिदृढ़ेन भावेन प्रेम्णा अनुरक्तानि स सक्तानि चित्तानि यासां ताः । (१०) तीव्राधित्वं व्यनक्ति तास्ता इति । मयासह या एव क्षताराात्रयः, क्षणार्द्धवन्नीतास्ता एव पुनर्मया हीनास्तासां कल्पसमा बभूवुः । कथम्भूताः, तास्ताः, वाचामगोचरा इत्यर्थः ।

श्रीकृष्ण कहे थे—हे उद्धव ! जिस समय अक्रूर, मुझ को बलराम के सहित मथुरा ले आए थे, उस समय, मुझ में अनुरक्त चित्त गोपीगण, मेरा विच्छेद रूप दुःसह दुःखसे कातर होकर मुझ को न पाकर दृढ़ प्रेम हेतु किसी प्रकार सुखी नहीं हुई ।

वृन्दावन में प्रेष्ठतम स्वरूप मैंने जिस असंख्य रात्रियों को उन सब के सङ्ग में अति वाहित किया था, वे सुदीर्घ होने पर भी क्षण काल के समान प्रतीत हुई थीं, किन्तु मेरा वियोग होने पर क्षण काल भी उन सब को कल्प काल के समान प्रतीत होने लगा । ८००० युग में ब्रह्मा का एकदिन होता है, उस एकदिन का नाम ही कल्प है । महाभाव का स्वभाव यह है—जिस अवस्था में क्षण काल प्रिय वियोग भी कल्प काल के समान बोध होता है । एवं प्रिय दर्शन में कल्प काल भी क्षण कालवत् बोध होता है । यही महाभाव की पराकाष्ठा है । श्रीभगवान् कहे थे ॥२४२॥

२४३ । साधु सङ्ग इस प्रकार शक्ति सम्पन्न है—कि--ज्ञान पूर्वक सत्सङ्ग न करने पर भी अर्थात् अननुसन्धान से भी सत्सङ्ग होने पर सत्सङ्ग फल प्रदान करने में सक्षम है । कारण, वस्तु शक्ति को बुद्धि की अपेक्षा नहीं है । इस अभिप्राय से ही भा० ३।२२।५५ में जननी देवहूति ने कही है—

(२४३) "सङ्गो यः संसृतेर्हेतुरसत्सु विहितोऽधिया ।
स एव साधुषु कृतो निःसङ्गत्वाय कल्पते ॥"७३३॥

टीका—प्रसङ्गः कथमभयायास्तु, तत्राह सङ्ग इति । अधिया--अज्ञानेन ।

शास्त्र में कथित है—असत्सङ्ग ही संसार का हेतु है । वह सङ्ग यदि साधु के सहित होता हैं, और वह यदि अज्ञान पूर्वक भी होता है । तो भी वह आसक्ति छेदन के हेतु होता है । यहाँ प्रश्न हो सकता है कि—पूर्व ग्रन्थ में कहा गया है कि—श्रीनारद प्रभृति भक्ति सिद्ध महापुरुष बृन्द के प्रति यदि साधारण मुनि बुद्धि होती है तो, उस से भगवदुन्मुखता नहीं होती है । तब कैसे कहा जा सकता है । कि—"यह महापुरुष हैं । इस प्रकार बुद्धि शून्य होकर भी यदि साधु सङ्ग करने पर कैसे भगवदुन्मुखता हो सकती है ? उत्तर में कहते हैं—ज्ञान लव दुर्विदग्ध व्यक्ति के पक्ष में एवं रुक्षस्वभाव वहिर्मुख व्यक्ति के पक्ष में ही उस प्रकार सिद्धान्त प्रयोज्य है । किन्तु जो स्निग्ध हृदय एवं मुर्खाभिमानी है, उस के पक्ष में अज्ञान से भी साधुसङ्ग होने पर भी फलद वह होता है ।

श्रीदेवहूति भगवान् कपिल को कही थीं ॥२४३॥

२४४ । पूर्वोक्त प्रकार से महाभागवत प्रसङ्ग रूप सेवा का फल वर्णन हुआ । सम्प्रति महाभागवत

(२४४) "यत्सेवया भगवतः कूटस्थस्य मधुद्विषः ।
रतिरासो भवेत्तीव्रः पादयोर्व्यसनार्द्दनः ॥" ७३३॥

येषां युष्माकं महाभागवतानां सेवया परिचर्य्यया कूटस्थस्य नित्यस्य भगवतः पादयो रतिरासः प्रेमोत्सवो भवेत् । तीव्र इति विशेषणं प्रसङ्गमात्रात् परिचर्य्यायां विशिष्टं फलं द्योतयति । आनुषङ्गिकं फलमाह,—व्यसनार्द्दन इति, व्यसनं संसारः, यत एवोक्तम् (भा० ११।१९।२१) "मद्भक्त-पूजाभ्यधिका" इति, मम पूजातोऽप्यभि सर्व्वतोभावेनाधिका अधिकमत्प्रीतिकरीत्यर्थः । एवं पाद्मोत्तरखण्डे—

"आराधनानां सर्व्वेषां विष्णोराराधनं परम् । तस्मात् परतरं देवि तदीयानां समर्चनम् ॥" ७३४॥ इति विदुरः श्रीमैत्रेयम् ॥

२४५ । व्यतिरेकेणाह, (भा० १०।८४।१३)—

(२४५) "यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके, स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः ।
यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचि-,ज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः ॥" ७३५।

परिचर्य्या का फल वर्णन करते हैं—भा० ३।७।१९ में उक्त है—

(२४४) "यत् सेवया भगवतः कूटस्थस्य मधुद्विषः ।
रतिरासो भवत् तीव्रः पादयोर्व्यसनार्दनः ॥७३३॥

अन्वय । यत् सेवया—येषां साधूनां सेवया, कूटस्थस्य—नित्यस्य भगवतो मधुद्विषोः पादयोः व्यसनार्दनः, तीव्रः,—रतिरासोभवेत् ।

टीका—मधुद्विषः पादयो रतिरासः प्रेमोत्सवः तीव्रो दुर्वारः स्वाभाविकः । व्यासनं—संसारम् अर्द्दयति—नाशयतीति तथा ।

श्रीविदुर, श्रीमैत्रेय को कहे थे महाभागवत की परिचर्य्या के द्वारा अविकृत नित्य स्वरूप भगवान् मधुसूदन के चरण युगल में तीव्र प्रेमोत्सव होता है । यहाँ 'तीव्र' शब्दोल्लेख होने के कारण, महाभागवत वृन्द की प्रसङ्ग मात्र सेवा से भी परिचर्य्या रूप सेवा से फल वैशिष्ट्य सूचित हुआ है । उस परिचर्य्यारूप सेवा का आनुसङ्गिक फल "व्यसनार्दन" अर्थात् संसार नाश है । कारण, भा० ११।१९।२१ में श्रीभगवान् कहे हैं—मेरी पूजा से भी मेरे भक्त जन की पूजा सर्वतो भावेन अधिका है, अर्थात् यह पूजा मेरी अत्यन्त प्रीति दायिनी है । इस प्रकार ही पद्म पुराण के उत्तर खण्ड में उक्त है—

"आराधनानां सर्वेषां विष्णोराराधनं परम् ।
तस्मात् परतरं देवि ! तदीयानां समर्च्चनम् ॥" ७३४॥

अर्थात् हे देवि ! निखिल देव देवी की आराधना के मध्य में श्रीविष्णु की आराधना ही श्रेष्ठ है, और श्रीविष्णु की आराधना से भी श्रीविष्णु भक्त की आराधना श्रेष्ठ है ।

विदुर श्रीमैत्रेय को कहे थे ।२४४॥

२४५ । भा० १०।८४।१३ में उक्त श्लोक द्वारा व्यतिरेक मुख से कहते हैं अर्थात् महाभागवत की सेवा न करने से जो महान् दोष उपस्थित होता है—उस को कहते हैं—

(२४५) "यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके, स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः ।

जड़त्वात् कुणपे स्वयं मृततुल्ये शरीरे, चिद्योगेऽपि त्रिभिर्वातपित्तादिभिर्धातुभिर्दूषित इत्यर्थः । भौमे देवताप्रतिमादौ, यत् यस्य अभिज्ञेषु तत्त्ववित्सु ता बुद्धयो न सन्ति, तत्रात्म बुद्धिः परमप्रीत्यास्पदत्वम् । स एव गोखरो गोनिकृष्ट उच्यते, यद्वा, सिन्धुसौवीरप्रसिद्धो वन्यगर्द्दभजाति-विशेषो म्लेच्छजातिविशेषो वा सः, न त्वन्यः प्रसिद्धः । विवेकित्वाभिमानितायां सत्यामप्यविवेकित्वात् । ततोऽपि निकृष्टत्वं तस्येति । भौम इज्यधीरिति साधारण देवताविषयकमेव, पूर्व्वं तथैवोपक्रान्तत्वात् (भा० ११ २.४७) "अर्चायामेव हरये" इत्यादि-विरोधाच्च । तदेवं (भा० ४।३१।१४) "यथा तरोर्मूलनिषेचनेन" इत्यादिवाक्यमत्र नावतारयितव्यम् ॥ श्रीभगवान् मुनिवृन्दम् ॥

यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचि,--ज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः ॥"७३५॥

श्रीभगवान् कुरुक्षेत्र में मिलित मुनिवृन्द को कहे थे—हे मुनिवृन्द ! शरीर जड़ वा अचेतन होने के कारण कुणप है, अर्थात् स्वयं मृत तुल्य है । यद्यपि शरीर में चैतन्य का संयोग है, तथापि बात पित्त कफ - त्रिधातु दोष दुष्ट शरीर में जो आत्म बुद्धि करता है । जिस की, स्त्री पुत्र प्रभृति में निज बुद्धि है, मृण्मय साधारण देवता प्रतिमादि में आराध्य बुद्धि है, साधारण जलादि में तीर्थ बुद्धि है, किन्तु कभी भी भगवत्तत्त्वाभिज्ञ भक्त में उस प्रकार परम प्रीत्यास्पद बुद्धि, वा निज जनता बुद्धि अथवा पूज्य बुद्धि, वा तीर्थ बुद्धि नहीं है, अर्थात् भगवद् भक्त ही एकमात्र प्रीत्यास्पद है, भगवद् भक्त के समान आत्यन्तिक हित कारी अपर कोई नहीं हैं, भगवद् भक्त के समान पूज्य श्रीभगवान् भी नहीं हैं । भगवद् भक्त के तुल्य पवित्र कारक कोई भी तीर्थ नहीं हैं, इस प्रकार बुद्धि जिस मानव में नहीं है, वही मानव, गोखर है, अर्थात् गो जाति के मध्य में अति निष्कृष्ट जन्तु है । किंवा सिन्धु सौवीरदेश में वन्य गर्दभ जाति विशेष अथवा म्लेच्छ जाति विशेष है । प्रसिद्ध गो जाति, गो जाति नहीं है । किन्तु भगवद् भक्त में जिस की आराध्य बुद्धि नहीं है, वह आकृति में मनुष्य होने पर भी स्वभाव में गो जाति से भी अति हीन है । मैं उत्तम समझता हूँ । इस प्रकार अभिमान के कारण, वस्तु विचार में वह अविवेकी है, कारण, भगवद् भक्त तत्त्व अतिमहत् एवं निगूढ़ है, अथच भगवद् भक्त की कृपा व्यतीत किसी भी साधन से भगवत तत्त्वानुभव होने की सम्भावना नहीं है । यह भगवद् भक्त तत्त्व ज्ञान हीन जन ही यथार्थतः मूर्ख एवं अविवेकी पशु से भी हेय है । मूल में कथित है । "भौम इज्यधीः" अर्थात् मृण्मय देवता में जो पूज्य बुद्धि करता है, वह, पशु तुल्य हेय है । यहाँ देवता शब्द से साधारण देवता को जानना होगा । किन्तु श्रीविष्णु विषयक नहीं । कारण, पूर्व प्रकरण का वृत्तान्त इस प्रकार ही है । भा० ११।२।४० में कनिष्ठ भागवत लक्षण में उक्त है--

"अर्च्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते " अर्थात् जो श्रीहरि सन्तोषार्थ प्रतिमा में श्रद्धा पूर्वक पूजन करता है, वह कनिष्ठ भागवत है । ऐसा होने पर श्रीविष्णु प्रतिमा पूजन को जब कनिष्ठ भागवत कहा गया गया है, तब यहाँपर मृण्मयी श्रीविष्णु प्रतिमा पूजक को गो, गर्द्दभ कहने से पूर्वापर विरुद्ध होता है । अतएव भा० ४।३१।१४ में उक्त है—"यथा तरोर्मूल निषेचनेन तृप्यन्ति तत् स्कन्धभुजोपशाखा ।

प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां, तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या ॥

अर्थात् वृक्ष के मूल देश में जल सिञ्चन करने से जिस प्रकार स्कन्ध भुज उपशाखा प्रभृति की तृप्ति होती है, उस प्रकार ही श्रीविष्णु की पूजा करने से समस्त देवता सन्तुष्ट होते हैं । यह वाक्य यहाँपर उल्लेख योग्य नहीं है । यह विषय भिन्न है ।

श्रीभगवान् मुनिवृन्द को कहे थे ॥२४५॥

१४६ । अथ महाभागवतसेवासिद्धलक्षणम् (भा० ४।९।१२)—

(२४६) "ते न स्मरन्त्यतितरां प्रियमीश मर्त्यं
ये चान्वदः सुत-सुहृद्गृह-वित्त-दाराः ।
ये त्वब्जनाभ भवदीयपदारविन्द-
सौगन्ध्यलुब्धहृदयेषु कृतप्रसङ्गाः ॥"७३६॥

परमप्रियमपि मर्त्यं वपुः, ये चादो वपुरनु लक्षीकृत्य सुतादयो वर्त्तन्ते, तानपि न स्मरन्ति । के त इत्यपेक्षायामाह,—ये त्विति ॥ ध्रुवः श्रीध्रुवप्रियम् ॥

२४७ । वैष्णवमात्राणाञ्च यथायोग्यमाराधनं यथेतिहास-समुच्चये—

तस्माद् विष्णुप्रसादाय वैष्णवान् परितोषयेत् । प्रसादसुमुखो विष्णुस्तेनैव स्यान्न संशयः ॥"७३७॥ इति,

व्यतिरेकेणापि पाद्मोत्तरखण्डे—

"अर्चयित्वा तु गोविन्दं तदीयान् नार्च्चयेत्तु यः । न स भागवतो ज्ञेयः केवलं दाम्भिकः स्मृतः ॥"७३८। इति

---

२४६ । अनन्तर भा० ४।९।१२ के द्वारा महाभागवत सेवा से सिद्ध व्यक्ति का दृष्टान्त उपस्थित करते हैं—

(२४५) " ते न स्मरन्त्यतितरां प्रियमीश मर्त्यं
ये चान्वदः सुत-सुहृद्गृह-वित्त-दाराः ।
ये त्वब्जनाभ भवदीयपदारविन्द-
सौगन्ध्यलुब्धहृदयेषु कृतप्रसक्ताः ॥"७३६॥

टीका—कथामृत पानस्य मादकत्वमाह । ते अतितरां प्रियमपि मर्त्यं देहं न स्मरन्ति, तन्नानुसन्दधते । ये च सुतादयः अदः मर्त्यमनु सम्बन्धाः, तानपि, के ते न स्मरन्ति ? ये कृत प्रसङ्गाः । केषु ? भवदीय पदारविन्द सौगन्ध्ये लुब्धं हृदयं येषां तेषु । तु शब्दनान्येषां केवलयोगादिनिष्ठानां देहाद्यभिमानानिवृत्तिं दर्शयति ।

श्रीध्रुव,—पद्म पलाश लोचन श्रीहरि को कहे थे । हे कमल नाभ । जो आप के चरणारविन्द सौगन्ध्य प्राप्त हेतु लुब्ध चित्त हैं, वे सब महा भागवत गण के प्रसङ्ग जिन्होंने किया है, वे अत्यन्त प्रिय निज मर्त्यदेहको एवं देह सम्बन्ध से जो सब प्रिय हैं, इस प्रकार पुत्र सुहृद गृहवित्त स्त्री प्रभृति का स्मरण कभी भी नहीं करते हैं ।

ध्रुव श्रीध्रुवप्रिय को कहे थे ॥२४६॥

२४७ । इतिहास समुच्चय नामक ग्रन्थ में वैष्णवमात्र की ही आराधना का वृत्तान्त वर्णित है—

"तस्माद् विष्णुप्रसादाय वैष्णवान् परितोषयेत् ।
प्रसादसुमुखो विष्णुस्तेनैव स्यान्न संशयः ॥"७३७॥

अतएव श्रीविष्णु की प्रसन्नता हेतु वैष्णव वृन्द को सन्तुष्ट करना कर्त्तव्य है । भगवान् श्रीविष्णु, वैष्णव सन्तोष के द्वारा ही प्रसन्न होते हैं । इस में कुछ भी सन्देह नहीं है । अतएव निषेध के द्वारा पाद्मोत्तर खण्ड में लिखित है ।

"अर्च्चयित्वा तु गोविन्दं तदीयान् नार्च्चयेत्तु यः ।
न स भागवतो ज्ञेयः केवलं दाम्भिकः स्मृतः ॥"७३८॥

जो, श्रीगोविन्द देव की अर्च्चना करके उनके भक्त वृन्द की अर्च्चना नहीं करता है, वह भगवद् भक्त

तत्र (भा० ४।२१।१२) —

"सर्व्वत्रास्खलितादेशः सप्तद्वीपैकदण्डधृक् ।
अन्यत्र ब्राह्मणकुलादन्यत्राच्युतगोत्रतः ॥"७३९॥

इति श्रीपृथुचरितानुसारेण यत्किञ्चिज्जातावप्युत्तमत्वमेव मन्तव्यम्, (भा० ७।११।३५) —

"यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकम् ।
यदन्यत्रापि दृश्येत तत्तेनैव विनिर्दिशेत् ॥"७४०॥

नारदोक्तिदृष्टान्तेन वा, यथोक्तं पाद्मे —

"किमत्र बहुनोक्तेन ब्राह्मणा येऽप्यवैष्णवाः । न द्रष्टव्या न स्प्रष्टव्या न वक्तव्याः कदाचन ॥"७४१॥

नहीं हो सकता है । उस को दाम्भिक, अभिमानी व्यक्ति जानना, चाहिये । भा० ४।२१।१२ में उक्त है—

"सर्व्वत्रास्खलितादेशः सप्तद्वीपैकदण्डधृक् ।
अन्यत्र ब्राह्मणकुलादन्यत्राच्युतगोत्रतः ॥"७३९॥

टीका—अस्खलितः अप्रतिहतः, आदेश आज्ञा यस्य, सप्तद्वीपेषु एक एव दण्डं धारयतीति तथा, किं सर्वत्र ? नेत्याह । ब्राह्मण कुलं व्यतिरेकेण, अच्युतो गोत्रप्रवर्त्तक तुल्यो येषां वैष्णवानां तद्व्यतिरेकेण च ।

आदिराज पृथु—सप्तद्वीपाधीश्वर होकर सब के प्रति शासन दण्ड धारण किये थे । उन का आदेश लङ्घन किसी ने भी नहीं किया था । किन्तु पृथुमहाराज, कभी भी ब्राह्मण वृन्द के प्रति एवं अच्युत गोत्र श्रीभगवद् भक्त के प्रति दण्ड विधान नहीं किये थे । पृथु महाराज के चरित्र के अनुसार जानना होगा कि-भगवद् भक्त जिस किसी जाति के क्यों न हों, उनको उत्तम जाति मानना चाहिये । भा० ७।११।३५ में लिखित है—

"यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकम् ।
यदन्यत्रापि दृश्येत तत्तेनैव विनिर्दिशेत् ॥"७४०॥

टीका—शमादिभिरेव ब्राह्मणादि व्यवहारो मुख्यः, न जाति मात्रादित्याह । यस्येति । यद् यदि अन्यत्र वर्णान्तरेष्वपि दृश्येत, तद्वर्णान्तरं तेनैव लक्षण निमित्तेनेव वर्णेन विनिर्द्दिशेत् न तु जाति निमित्तेनेत्यर्थः ।

देवर्षि नारद श्रीयुधिष्ठिर महाराज को कहे थे—वर्णादि परिचायक लक्षण जिस का जो कहा गया है । अन्य वर्ण में भी यदि उसका प्रकाश होता है तो, उस जाति वा वर्ण का निरूपण उस लक्षण के द्वारा ही करना चाहिये । अर्थात् अति हीन जाति में यदि उत्तम जाति का उत्तम वर्णोचित लक्षण दृष्ट होता है तो, उस को उस लक्षण के अनुसार ही अभिहित करना कर्त्तव्य है । यदि उत्तम जाति वा वर्ण में हीन जाति वा वर्ण के अनुरूप लक्षण प्रकाशित होता है, उस उत्तम जाति वा वर्ण को हीन जाति गत लक्षण के द्वारा निरूपण करना चाहिये । अर्थात् उत्तम में हीन लक्षण दृष्ट हीन से उत्तम को हीन कहना कर्त्तव्य है, और हीन में उत्तम लक्षण प्रकाशित होने पर उस को उत्तम कहना कर्त्तव्य है । यहाँ गुण का प्राधान्य है, जन्म का नहीं । श्रीनारद कथित प्रमाण के द्वारा प्रतिपन्न होता है कि—हीन जाति में वैष्णवोचित लक्षण प्रकाश होन से उस की हीन जाति न मानकर वैष्णवोचित सम्मान प्रदान करना कर्त्तव्य है ।

श्रीनारदोक्ति प्रमाण के द्वारा भी उक्त सिद्धान्त प्रतिपादित होता है । पद्म पुराण में लिखित है —

"किमत्र बहुनोक्तेन ब्राह्मणा येऽप्यवैष्णवाः ।
न द्रष्टव्या न स्प्रष्टव्या न वक्तव्याः कदाचन ॥"७४१॥

तत्र माघ माहात्म्ये च—

"श्वपाकमिव नेक्षेत लोके विप्रमवैष्णवम्। वैष्णवो वर्णवाह्योऽपि पुनाति भुवनत्रयम्॥७४२॥
न शूद्रा भगवद्भक्तास्ते तु भागवता नराः। सर्व्ववर्णेषु ते शूद्रा ये न भक्ता जनार्द्दने॥"७४३॥

इतिहाससमुच्चये—

"स्मृतः सम्भाषितो वापि पूजितो वा द्विजोत्तम। पुनाति भगवद्भक्तश्चाण्डालोऽपि यदृच्छया।" ७४४

अन्यथा दोषश्रवणञ्च, तत्रैव—

"शूद्रं वा भगवद्भक्तं निषादं श्वपचं तथा। वीक्षते जातिसामान्यात् स याति नरकं ध्रुवम्॥"७४५॥

भक्तिवैशिष्ट्येच तु वैशिष्ट्यमपि दृश्यते, यथा गारुड़े—

"मद्भक्तजन वात्सल्यं पूजायाञ्चानुमोदनम्। मत्कथा श्रवणे प्रीतिः स्वर-नेत्रादि-विक्रिया॥७४६॥

बहु भाषण की आवश्यकता ही क्या है? अवैष्णव ब्राह्मण गण को देखना पूछना एवं उन सब के सहित वार्त्तालाप करना कर्तव्य नहीं हैं। पद्म पुराण के माघमाहात्म्य वर्णन प्रसङ्ग में लिखित है—

"श्वपाकमिव नेक्षेत लोके विप्रमवैष्णवम्।
वैष्णवो वर्णव ह्योऽपि पुनाति भुवनत्रयम्॥७४२॥
न शूद्रा भगवद्भक्तास्ते तु भागवता नराः।
सर्व्ववर्णेषु ते शूद्रा ये न भक्ता जनार्द्दने॥"७४३॥

वैष्णव, अवर्णिक होने पर भी भक्ति के द्वारा त्रिभुवन को पवित्र करने में सक्षम है, किन्तु ब्राह्मण वंश में उत्पन्न रोकर भी यदि विष्णु भक्त नहीं होता है तो, उस को अति हीन जाति श्वपाक के समान भी देखना नहीं चाहिये। जो ऐकान्तिक भगवद् भक्त हैं, वे शूद्र नहीं हैं, अर्थात् जाति वर्ण के अतीत है। कारण, जाति एवं वर्ण, मायिक गुणमय है, किन्तु भगवत् भक्ति निर्गुण है, जिस में भगवद् भक्ति है, उस को जाति वर्ण के अन्तर्भूत मानना अपराध है। इस अभिप्राय से ही मूल श्लोक में कहा गया है— ते तु भागवता नराः "वे सब मनुष्य भागवत हैं। अर्थात भागवत सज्ञा से अभिहित हैं। श्रीभगवान् के निजजन हैं। समस्त वर्णों के मध्य में वे ही शूद्र हैं, जो भक्ति हीन जीवन धारण करते हैं। इतिहास समुच्चय में भी लिखित है—

"स्मृतः सम्भाषितो वापि पूजितो वा द्विजोत्तम।
पुनाति भगवद्भक्तश्चाण्डालोऽपि यदृच्छया॥"७४४॥

चण्डाल जाति में उत्पन्न होकर भी यदि श्रीभगवान् में भक्तिमान् होता है तो, उसका स्मरण करने से उस के सहित सम्भाषण करने से अथवा उसकी पूजा करने से, हे द्विजोत्तम! हृदय में श्रीहरिस्मृति उद्‌बुद्ध होकर जीवन पवित्र होता है। यदि हीन कुल में उत्पन्न होने के कारण, वैष्णव की अवज्ञा जाति बुद्धि से की जाती है तो- इतिहास समुच्चय ग्रन्थ में दोष का वर्णन हुआ है।

"शूद्रं वा भगवद्भक्तं निषादं श्वपचं तथा।
वीक्षते जातिसामान्यात् स जाति नरकं ध्रुवम्॥"७४५॥

जो साधारण जाति दृष्टि से शूद्र, व्याध, किंवा श्वपच जाति में समुत्पन्न भगवद् भक्त को हीन जाति बुद्धि से देखता है, उसका नरक गमन सुनिश्चित है, इस में संशय ही हो नहीं। जहाँ भक्ति का वैशिष्ट्य है, उसका सम्मान को भी वैशिष्ट्य दृष्ट होता है। इस का वर्णन गरुड़ पुराण में है—

"मद्भक्तजन वात्सल्यं पूजायाञ्चानुमोदनम्।
मत्कथा श्रवणे प्रीतिः स्वर--नेत्रादि-विक्रिया॥७४६॥

"विष्णोश्च कारणं नृत्यं तदर्थे दम्भवर्जनम्। स्वयमभ्यर्चनं चैव यो विष्णुं नोपजीवति ॥७४७॥
भक्तिरष्टविधा ह्येषा यस्मिन् म्लेच्छेऽपि वर्त्तते। स विप्रेन्द्रो मुनिश्रेष्ठः स ज्ञानी स च पण्डितः॥
तस्मै देयं ततो ग्राह्यं स च पूज्यो यथा हरिः॥"७४८॥ इति

अतएवाह भगवान्—

"न मे भक्तश्चतुर्व्वेदी मद्भक्तः श्वपचः प्रियः।
तस्मै देयं ततो ग्राह्यं स च पूज्यो यथा ह्यहम्॥"७४९। इति।

अतएव ज्ञातभक्ति महिम्ना सता दुर्व्वाससापि श्रीमदम्बरीषस्य पादग्रहणमप्याचरितम्, किन्तु अम्बरीषस्यानभीष्टमेव तदिति तत्रैव व्यक्तत्वात्, श्रीभगवता श्रीमदुद्धवादिभिश्च

विष्णोश्च कारणं नृत्यं तदर्थ दम्भवर्जनम्।
स्वयमभ्यर्चनं चैव यो विष्णुं नोपजीवति ॥७४७॥
भक्तिरष्टविधा ह्येषा यस्मिन् म्लेच्छेऽपि वर्त्तते।
स विप्रेन्द्रो मुनिश्रेष्ठः स ज्ञानी स च पण्डितः॥
तस्मै देयं ततो ग्राह्यं स च पूज्यो यथा हरिः॥"७४८।

(१) मेरा भक्त जन में वात्सल्य, (२) मेरी पूजा का अनुमोदन, (३) मेरी कथा श्रवण में प्रीति, (४) कथा श्रवण कीर्त्तनादि से स्वर, नेत्र, मुख प्रभृति में प्रेमज विकृति (५) श्रीविष्णु सन्तोषार्थ नृत्य, (६) श्रीविष्णु सन्तोषार्थ निरभिमान (७) स्वयं सब की पूजा करना (८) श्रीविष्णु विग्रह को जीविका रूप में अवलम्बन न करना,—यह अष्टविधा भक्ति, यदि किसी म्लेच्छ में भी देखी जाति हैं, तो वह म्लेच्छ होने पर भी ब्राह्मण कुल के मध्य में इन्द्र तुल्य, गृहस्थ होकर भी मुनि वृन्द में श्रेष्ठ एवं मूर्ख होकर पण्डित है। उस को दान देना चाहिये, उस से ग्रहण करना चाहिये, एवं श्री हरि जिस प्रकार श्रेष्ठ हैं, वह म्लेच्छ भी उस प्रकार पूज्य है। अतएव भगवान् कहे थे—

"न मे भक्तश्चतुर्व्वेदी मद्भक्तः श्वपचः प्रियः।
तस्मै देयं ततो ग्राह्यं स च पूज्यो यथा ह्यहम्॥"७४९।

चतुर्वेदाभ्यासी ब्राह्मण, यदि मेरा भक्त नहीं होता है तो, वह मेरा प्रिय नहीं है। किन्तु चण्डाल यदि मेरा भक्त होता है तो, वह मेरा प्रिय है। उस को सत् पात्र मानकर दान करे एवं उस के निकट से ग्रहण भी करना चाहिये। अर्थात् भक्ति सम्बन्ध के बिना कोई भी मेरा प्रिय नहीं हो सकता हैं। मैं जिस प्रकार पूज्य हूँ, उस प्रकार मेरा भक्त श्वपच भी पूज्य है।

अतएव दुर्वासा ऋषि भक्ति महिमा को अवगत होकर श्रीमान् अम्बरीष के चरण ग्रहण करने का अभिलाषी हुये थे। किन्तु महाराज अम्बरीष के पक्ष में वह आचरण अनभीष्ट था। कारण, श्रीभगवान् कदापि ब्राह्मण की अमर्य्यादा को सहन नहीं करते हैं, अतः भक्त स्वभावसुलभ ब्राह्मण मर्य्यादा कारित्व गुण मण्डित महाराज अम्बरीष निज चरण ग्रहण करने नहीं दिये थे। श्रीभगवान् भक्त श्रेष्ठ श्रीउद्धव प्रभृति के द्वारा ब्राह्मणों के चरण वन्दन कराये थे। अन्यान्य वैष्णव वृन्द को अवैष्णव ब्राह्मण के द्वारा भी निज चरणों में प्रणाम करना नहीं चाहिये। अर्थात् दुर्वासा अम्बरीष महाराज के चरण स्पर्श करने के निमित्त उद्यत हुये थे। ९।५।२ में उक्त है—

"तस्य सोद्यममावीक्ष्य पादस्पर्शविलज्जितः।
अस्तावीत् तद् धरेरस्त्रं कृपया पीड़ितो भृशम्॥"

ब्राह्मणमात्रस्य वन्दनाच्च, इतरवैष्णवैस्तु तत् सर्वथा न मन्तव्यम्, (भा० १०।६३।४१)—

"विप्रं कृतागसमपि नैव द्रुह्यत मामकाः।
घ्नन्तं बहु शपन्तं वा नमस्कुरुत नित्यशः॥" ७५०॥

इति भगवदादेशभङ्गप्रसङ्गाच्च। "श्वपाकमिव नेक्षेत' इत्यादिकन्तु तद्दर्शनासक्तिनिषेधपरत्वेन समाधेयम्, दृश्यते च युधिष्ठिरद्रौपद्यादीनामश्वत्थाम्नि तथा व्यवहारः। वैष्णवपूजकैस्तु वैष्णवानामाचारोऽपि न विचारणीयः, (गी० ९।३०) "अपि चेत् सुदुराचारः" इत्यादेः। यथोक्तं गारुड़े—

"विष्णुभक्तिसमायुक्तो मिथ्याचारोऽप्यनाश्रमी। पुनाति सकलान् लोकान् सहस्रांशुरिवोदितः॥" ७५१॥

इस प्रकार आदर्श से प्रेरित होकर मैं वैष्णव हूँ, ब्राह्मणों से श्रेष्ठ हूँ इस प्रकार अभिमानी होकर कदापि ब्राह्मणों का असम्मान वा अनादर न करे। ब्राह्मण के प्रति सर्वदा पूज्य बुद्धि रखनी चाहिये। कारण, भगवान् स्वयं ही कहे हैं— "अविद्यो वा सविद्यो वा ब्राह्मणो मामकीतनुः" मूर्ख हो वा पण्डित ही हो ब्राह्मण मेरा शरीर है। भा० १०।६४।४१ में भगवान् यादवगण को कहे थे—

"विप्रं कृतागसमपि नैव द्रुह्यत मामकाः।
घ्नन्तं बहु शपन्तं वा नमस्कुरुत नित्यशः॥" ७५०॥

ब्राह्मण यदि अपराध भी करते हैं, तथापि मदीय जन ब्राह्मणों के प्रति द्रोह आचरण न करे। ब्राह्मण, आघात करने पर भी एवं अभिशम्पात करने पर भी उन सब को नित्य प्रणाम करे। इस प्रकार श्रीभगवदादेश लङ्घन करने से दोष होता है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि—पहले कहा गया है कि-- अवैष्णव ब्राह्मण को नीच जाति श्वपाक के समान भी न देखे। प्रस्तुत स्थल में कहते हैं कि—ब्राह्मण जैसा भी क्यों न हों, उनको नमस्कार करना चाहिये। विरुद्ध वाक्य द्वय का समाधान क्या है? उत्तर में कहते हैं। तद् दर्शनासक्ति निषेध परत्वेन समाधेयम्" अर्थात् अवैष्णव ब्राह्मण के दर्शन में आसक्ति नहीं करनी चाहिये। इस प्रकार समाधान कर लेना चाहिये। तात्पर्य्य यह है कि—ब्राह्मण, अवैष्णव होने पर, उनको दूर से प्रणाम करे।

किन्तु उन सहित इस प्रकार प्रसङ्ग के देखने में भी आता है कि—वैष्णव द्रोही अश्वत्थामा के प्रति परम भागवत श्रीयुधिष्ठिर द्रौपदी का प्रणामादि व्यवहार। वैष्णवों की पूजा करना ही जिनका स्वभाव है, उन के पक्ष में वैष्णवों का आचरण पर विचार करना उचित नहीं है। कारण, भगवान् (गी० ९।३०) में कहे हैं— "अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्"

जो एकान्त भाव से श्रीहरि का भजन करता है, एवं अन्य देव देवी का भजन स्वतन्त्र ईश्वर बुद्धि से नहीं करता है, वह एकनिष्ठ भजन शील भक्त यदि इस के पहले दुष्कर्म्मनिरत एवं असदाचार परायण था, ऐसा होने पर भी उसको साधु मानने का आदेश श्रीभगवान् का है। किन्तु सतता के सहित एकनिष्ठ भजन परायण न होने से उस के पक्ष में 'अपिचेत् सुदुराचारः" उपदेश प्रयोज्य नहीं होगा। कारण, भक्तत्व एवं सुदुराचारत्व का सामानाधिकरण्य असम्भव ही है। दुराचारत्व की निवृत्ति होने से ही भजन में प्रवृत्ति होती है, भजन में प्रवृत्ति होने से स्वतन्त्र वर्णित शरणागत अवस्था उपस्थित होती है, उस से स्वेच्छाचारिता नहीं रहती है। स्वेच्छा चारिता का ही फल है, सुदुराचारत्व। गरुड़ पुराण में लिखित है-

"विष्णुभक्तिसमायुक्तो मिथ्याचारोऽप्यनाश्रमी।

तदेतदुदाहृतमेव, (भा० ३।३३।७) "अहो वत श्वपचोऽतो गरीयान्, यज्जिह्वाग्रे वर्त्तते नाम तुभ्यम्" इत्यादौ,–अत्र श्वपच-शब्दो यौगिकार्थ-पुरस्कारेणैव वर्त्तते। ततो दुर्जातित्वेन दुराचारत्वेनापि नावमन्तव्यस्तद्भक्तजनः, स्वावमन्तृत्वेन तु सुतराम्। अतएवोक्तं गारुड़े–

"रुक्षाक्षरन्तु शृण्वन् वै तथा भागवतेरितम्।
प्रणामपूर्वं तं क्षान्त्या यो वदेद् वैष्णवो हि सः॥"७५२॥

तदेवं महदादिसेवा दर्शिता। अस्याश्च श्रवणादितः पूर्वत्वम्,--(भा० ५।५।२) "महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्ते-,स्तमोद्वारं योषितां सङ्गिसङ्गम्" इत्युक्तेः। तेभ्यो महद्भ्यस्त्वन्यदपि किमपि

पुनाति सकलान् लोकान् सहस्रांशुरिवोदितः॥"७५१॥ इति।

मिथ्याचार परायण अनाश्रमी होकर भी जो श्रीविष्णु में भक्तिमान् होता है, वह समस्त लोकों को पवित्र करने में समर्थ है। सहस्रांशु सूर्य्य जिस प्रकार अन्धकार बिदूरित करके वस्तु प्रकाश करते हैं, उस प्रकार विष्णु भक्त को भी जानना चाहिये। इस विषय का उदाहरण पूर्व ग्रन्थ में प्रस्तुत किया गया है। भा० ३।३३।७ में उक्त है॥

अहोवत श्वपचोऽतो गरीयान्।
यज्जिह्वाग्रे वर्त्तते नामतुभ्यम्।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्य्या।
ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति येते॥

जननी देवहूति कपिल को बोली थीं—कपिल! तुम्हारे सुख हेतु जिस की जिह्वा के अग्रभाग में तुम्हारा नाम रहता है,वह यदि श्वपच भी होता है तो,तुम्हारे सुख हेतु तुम्हारा नामग्रहण करने के कारण-- वह श्रीगुरु देव के तुल्य पूज्य होता है। यह अतीव आश्चर्य्य एवं आनन्द का संवाद है, जो तुम्हारे नाम को कर्ण से रसना से एवं मन से श्रवण, कीर्त्तन,-स्मरण रूप से ग्रहण करते हैं, वे तपस्या न करने पर भी तपस्या हो गई है, यज्ञ न करने पर भी यज्ञ समूह में आहूति दान सम्पन्न हुआ है। तीर्थ भ्रमण न करने पर भी समस्त तीर्थ स्नान भ्रमण सम्पन्न हुआ है। अनार्य्य वंश में जन्म ग्रहण करके भी सब के निकट वे पूज्य हुये हैं। वेद वेदान्त अध्ययन न करने पर भी समस्त अध्ययन पूर्ण हुआ है। यहाँ 'श्वपच' शब्द का प्रयोग यौगिकार्थ में हुआ है। अर्थात् 'श्व' शब्द का अर्थ—कुक्कुर है, 'पच' शब्द का अर्थ है पाक करना। जो भोजन हेतु कुक्कुर मांस पाक करता है, इस प्रकार श्वपच भी श्रीहरिभक्त होने पर उस को अवज्ञा करना दोषावह है। अतः दुर्जातित्व दुराचारत्व का अनुसन्धान करके भक्त का अनादर करना नहीं चाहिये। भक्ति मार्ग में प्रविष्ट व्यक्ति की स्थिति जब वैसी है तब स्वयं को यदि कोई अपमान करता है, तो भी विष्णु भक्त को प्रत्याचरण से अपमान करना निषिद्ध ही है, उस को तो सुतरां ही जानना होगा। अतएव गरुड़ पुराण में लिखित है—

"रुक्षाक्षरन्तु शृण्वन् वै तथा भागवतेरितम्।
प्रणाम पूर्वं तं क्षान्त्या यो वदेद् वैष्णवो हि सः॥"७५२॥

किसी भगवद् भक्त के मुख से उच्चारित रुक्ष वाक्य को सुनकर जो उन को प्रणाम पूर्वक क्षमा गुण सम्पन्न होकर उन रुक्षभाषी वैष्णव के सहित मधुर भाषा से आलाप करता है, वही वैष्णव है।

पूर्व कथित प्रकार से महापुरुष प्रभृति की सेवा का वर्णन हुआ। श्रवण कीर्त्तनादि भक्त्यङ्ग साधन के पूर्व में महापुरुष प्रभृति की सेवा का जो कथन हुआ है, उस का उद्देश्य यह है कि भा० ५।५।२ में

परममङ्गलायनं जायते, यथा (भा० ११।२६।२८--३१) –

(२४७) "तेषु नित्यं महाभाग महाभागेषु मत्कथाः ।
सम्भवन्ति हि ता नृणां जुषतां प्रपुनन्त्यघम् ।।७५३।।
ता ये शृण्वन्ति गायन्ति ह्यनुमोदन्ति चादृताः ।
मत्पराः श्रद्दधानाश्च भक्तिं विन्दन्ति ते मयि ।।७५४।।
भक्तिं लब्धवतः साधोः किमन्यदवशिष्यते ।
मय्यनन्तगुणे ब्रह्मण्यानन्दानुभवात्मनि ।।७५५।।
यथोपश्रयमाणस्य भगवन्तं विभावसुम् ।
शीतं भयं तमोऽप्येति साधून् संसेवतस्तथा ।।"७५६।।

तेषु (भा० ११।२६।२७) "सन्तोऽनपेक्षा मच्चित्ताः" इत्याद्युक्त-लक्षणेषु, भक्तिं प्रेम ।

श्रीभगवान् ऋषभदेव निज पुत्र भरत को कहे थे—

"महत् सेवां द्वारमाहुर्विमुक्ते स्तमोद्वारं योषितां सङ्गिसङ्गम् ।।"

हे भरत ! महापुरुष की सेवा विमुक्ति का द्वार स्वरूप है। और योषित् सङ्गि गण के सङ्ग अर्थात् स्त्रैण पुरुष का सङ्ग–नरक का द्वार है, इस प्रकार उल्लेख होने के कारण, महापुरुष की सेवा से ही परम कल्याण साधित होता है। विशेष कर उन सब महापुरुष से अपर किसी एक अनिर्वचनीय परम मङ्गल भी होता है। भा० ११।२६।२८--३१ में उक्त है—

(२४७) "तेषु नित्यं महाभाग महाभागेषु मत्कथाः ।
सम्भवन्ति हि ता नृणां जुषतां प्रपुनन्त्यघम् ।।७५३।।
ता ये शृण्वन्ति गायन्ति ह्यनुमोदन्ति चादृताः ।
मत्पराः श्रद्दधानाश्च भक्तिं विन्दन्ति ते मयि ।।७५४।।
भक्तिं लब्धवतः साधोः किमन्यदवशिष्यते ।
मय्यनन्तगुणे ब्रह्मण्यानन्दानुभवात्मनि ।।७५५।।
यथोपश्रयमाणस्य भगवन्तं विभावसुम् ।
शीतं भयं तमोऽप्येति साधून् संसेवतस्तथा ।।"७५६।।

टीका— न च तेषु उपदेशापेक्षा अपितु केवलं तत् सन्निधिरेव तारयतीत्याह तेष्विति सप्तभिः ।२८। श्रवणादिभिरेव मत् पराः । श्रद्दधानाश्च सन्तो भक्तिं विन्दन्ति ।२९–३०। विभावसुमग्निं सेवमानस्य अप्येति नश्यति, यथा तथा कर्म जाड्यमागामि संसार भयं तन्मूलमज्ञानञ्च नश्यतीत्यर्थः ।।३१।

भगवान् श्रीकृष्ण—श्रीउद्धव को कहे थे - हे महाभाग ! उक्त लक्षणाक्रान्त महापुरुष वृन्द के सहित नित्य मेरी कथा होती रहती है। जो सब भाग्यवान् जीव उन महापुरुष वृन्दके मुखोच्चारित मेरी कथामृत का आस्वादन करते हैं, वे समस्त पापों से एवं अपराधों से मुक्त होकर पवित्रता को प्राप्त करते हैं। उन सब महतों के मुख से विगलित मेरे कथामृत का श्रवण जो आदर के सहित करते हैं, गान करते हैं, अथवा अनुमोदन कर रहे हैं, वह सब मुझ में एकमात्र निष्ठा एवं श्रद्धा युक्त भक्त गण मुझ में पराभक्ति को प्राप्त करते हैं। अनन्त गुण आनन्द एवं अनुभव स्वरूप परम ब्रह्म स्वरूप मुझ में जिसने भक्ति लाभ किया है, उस को कौन अवशेष रह जाता है ? जिस प्रकार विभावसु अग्नि को आश्रय करने से आनुषङ्गिक रूप

अतएवोक्तं श्रीरुद्रेण (भा० ४।२४।५७) —

"क्षणार्द्धेनापि तुलये न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्त्यानां किमुताशिषः ।।"७५७।।

श्रीशौनकेनापि (भा० १।१८।१३) – "तुलयाम लवेनापि न स्वर्गम्" इत्यादि पूर्ववत् । तत्रानुषङ्गिकं फलं सदृष्टान्तमाह,-यथेति । विभावसुमग्निम्, उपास्यबुद्धचा श्रयमाणस्य होमाद्यर्थं ज्वालयत इत्यर्थः । तस्य यथा शीतादिकमप्येति, भयं दुष्टजीवादिकृतम् । तथा साधून् सेवमानस्य कर्म्मादि जाड्यम्, आगामि-संसारभयं तन्मूलमज्ञानञ्च नश्यतीत्यर्थः ।। श्रीभगवान् ।।

से शीत भय विनष्ट होते हैं, मुख्य रूप से पाकादि कार्य्य निर्वाह भी होता है, उस प्रकार साधु महापुरुष वृन्द की सेवा जो करता है उस को आनुषङ्गिक रूप से अज्ञान, भय, जन्म मृत्यु निवृत्ति एवं धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष प्रभृति फललाभ होता है, एवं मुख्य रूप से मेरे चरणों में प्रेम भक्ति रूप फल लाभ भी होता है । यहाँ साधुशब्द से भा० ११।२६।२७ में उक्त लक्षणाक्रान्त को जानना होगा ।

"सन्तोऽनपेक्षा मच्चित्ताः प्रशान्ताः समदर्शिनः ।
निर्म्ममा निरहङ्कारा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः ।।"

साधु लक्षण कथन प्रसङ्ग में श्रीभगवान् उद्धव को कहे थे – जो मुझ को छोड़कर अपर किसी की अपेक्षा नहीं करता है, जिस का चित्त मुझ में ही आसक्त है किसी प्रकार वासना के द्वारा जिस के चित्त विक्षिप्त नहीं होता है समस्त भूतों में मेरी सत्ता की उपलब्धि करता है । मुझ को छोड़कर सर्वत्र ममता शून्य है, मायामय ब्राह्मणत्व, पाण्डित्य प्रभृति अभिमान हृदय में नहीं रहते हैं, सुख दुःख, शीत ग्रीष्म, मानापमान में तुल्यभाव है । मायिक किसी भी वस्तुमें चित्तका आवेश नहीं रहता है । यह सब ही साधु हैं, एवं यह सब साधु प्रसङ्ग से ही नित्य मेरी कथा का श्रवण सौभाग्योदय होता है । इस प्रकार साधु मुख क्षरित मदीय कथा श्रवण से ही सर्वासक्ति विनष्ट होकर एकमात्र मुझ में ही प्रगाढ़ आवेशोत्पन्न होता है ।

भा० ४४।२४।५७ में श्रीरुद्र ने भी कहा है—

"क्षणार्द्धेनापि तुलये न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्त्यानां किमुताशिषः ।।"७५७।।

टीका त्वत् पाद मूले प्रविष्टस्य कृतान्त भयाभावः, कियानयं लाभः, यत स्त्वद् भक्त सङ्ग एव सकल पुरुषार्थ श्रेणि शिरसि नरीनर्त्तीत्याह । भगवतस्तव सङ्गिनां सङ्गस्य क्षणार्द्धेनापि स्वर्गं न तुलये समं न गणयामि । न च अपुनर्भवम्— मोक्षम् । मर्त्यानामाशिषो राज्याद्याः किमुत ?

श्रीरुद्र प्रचेतावृन्द को कहे थे—हे प्रचेतागण ! जिस की निविड़ आसक्ति श्रीभगवान् में है, इस प्रकार भगवद् भक्त के क्षणार्द्धकाल सङ्ग से मानव को जो आनन्दास्वादन प्राप्त होता है, उस आनन्दा स्वादन के सहित स्वर्गीय एवं मोक्ष सुख की तुलना नहीं हो सकती है । तद्व्यतीत तुच्छ भौम सुख प्रभृति को तो तुलना हो ही नहीं सकती है । भा० १।१८।१३ में श्रीशौनक ने भी उस प्रकार ही कहा है । "तुलयाम लवेनापि न स्वर्गम्" साधु सङ्ग का अनुषङ्गिक फल का वर्णन स दृष्टान्त करते हैं – यथा । उपास्य बुद्धि से होमादि कार्य्य निर्वाह हेतु प्रज्वलित वह्नि, जिस प्रकार आनुषङ्गिक भाव से शीत, दुष्ट जीवादि से भय प्रभृति को विदूरित करता है, उस प्रकार ही साधुवृन्द की सेवा जो करता है, उस का कर्मादि अनुष्ठान

२४८। अथ क्रमप्राप्तं श्रवणम्। तच्च नाम-रूप-गुण-लीलामय-शब्दानां श्रोत्रस्पर्शः। तत्र नामश्रवणं यथा (भा० ६।१६।४४) —

(२४८) "न हि भगवन्नघटितमिदं, त्वद्दर्शनान्नृणामखिलपापक्षयः।
यन्नामसकृच्छ्रवणात्, पुक्कशोऽपि विमुच्यते संसारात् ॥"७५८॥

तादृशस्यापि सकृच्छ्रवणेऽपि मुक्तिफलप्राप्तेरुत्तमस्य तच्छ्रवणे तु परमभक्तिरेव फलमित्यभिप्रेतम् ॥ चित्रकेतुः श्रीसङ्कर्षणम् ॥

२४९। अथ रूप-श्रवणम् (भा० ३।०।५) —

(२४९) "ये तु त्वदीयचरणाम्बुजकोषगन्धं
जिघ्रन्ति कर्णविवरैः श्रुतिवातनीतम्।
भक्त्या गृहीतचरणः परया च तेषां
नापैषि नाथ हृदयाम्बुरुहात् स्वपुंसाम् ॥"७५९॥

तु-शब्दो (भा० ३।९।४) "योऽनादृतो नरकभाग्भिरसत् प्रसङ्गैः" इति पूर्व्वोक्त-निन्दितानां

निबन्धन चित्त मालिन्य, आगामी संसार भय, अर्थात् संसार जाल में आबद्ध होना पड़ेगा, इस प्रकार भय एवं संसार का मूल — भगवत् वहिर्मुखता रूप अज्ञान विनष्ट होता है। श्रीभगवान् कहे थे ॥२४७॥

२४८। अनन्तर क्रम प्राप्त श्रवणादि भक्ति का विचार करते हैं। नाम, रूप, गुण लीलामय शब्द समूह का श्रवणेन्द्रिय गोचर होना ही श्रवण है। नाम श्रवण का उदाहरण भा० ६।१६।४४ में है—

(२४८) "न हि भगवन्नघटितमिदं, त्वद्दर्शनान्नृणामखिलापापक्षयः।
यन्नामसकृच्छ्रवणात्, पुक्कशोऽपि विमुच्यते संसारात् ॥"७५८॥

टीका—एवम्भूतस्य भागवतधर्म्म प्रवर्तकस्य तवदर्शनात् सर्वपापक्षयो भवतीति किंचित्रमित्याह महीति।

चित्र केतु महाराज, श्रीसङ्कर्षण देव को कहे थे। हे भगवन्! आप के दर्शन से मानव वृन्द के अखिल पाप विनष्ट होते हैं, यह असम्भव नहीं है। कारण, आप के नाम का श्रवण एकवार मात्र होने से अति हीन जाति पुक्कश भी संसार से मुक्त हो जाता है। एकवार मात्र श्रीहरिनाम श्रवण से अतिनीच जाति पुक्कश भी यदि मुक्त होता है तो, उत्तम जाति वा उत्तम चित्त सम्पन्न मानव, नाम श्रवण करके आप के चरणों में अवश्य भक्ति लाभ करेगा। उक्त कथन का यह अभिप्राय है।

चित्रकेतु श्रीसङ्कर्षण को कहे थे ॥२४८॥

२४९। अनन्तर रूप श्रवण का उदाहरण भा० ३।९।५ के द्वारा प्रस्तुत करते हैं।

(२४९) "ये तु त्वदीयचरणाम्बुजकोषगन्धं,
जिघ्रन्ति कर्णविवरैः श्रुतिवातनीतम्।
भक्त्या गृहीतचरणः परया च तेषां,
नापैषि नाथ हृदयाम्बुरुहात् स्व पुंसाम् ॥"७५९॥

टीका—आदरेण तु त्वां भजन्तः कृतार्था इत्याह—ये त्विति। श्रुतिर्वेदः, स एव वातस्तेन नीतं

भगवद्रूपानादरवतां प्रतियोग्यर्थनिर्द्देशे निर्द्दिष्टः । अनेन येऽत्र एतद्विरोधिनो भवन्ति, त एव पूर्व्वोक्ता असत्प्रसङ्गा इति गम्यते । चरण-मात्रनिर्द्देशो भक्त्यतिशयेन । गन्धं वर्णाकारादि-माधुर्य्यं कर्णविवरैर्जिघ्रन्ति, नासाविवरैः परमामोदमिव तैरास्वादयन्तीत्यर्थः । श्रुतिर्वेद-स्तदनुगामि-शब्दान्तरञ्च, सैव वातस्तेन प्रापितम् । ततः परया च भक्त्या प्रेमलक्षणया गृहीत-चरणस्त्वं नापयातुं शक्नोषि ॥ ब्रह्मा श्रीगर्भोदशायिनम् ॥

२५० । अथ गुण-श्रवणम् (भा० १२।३।१४--१५)—

(२५०) "कथा इमास्ते कथिता महात्मनां, वितायं लोकेषु यशः परेयुषाम् ।
विज्ञान-वैराग्यविवक्षया विभो, वचो विभूतीर्न तु पारमार्थ्यम् ॥७६०॥

प्रापितम् । नापैषि—नापयासि । ये त्वत् कथा श्रवणमत्यादरेण कुर्वन्ति तेषां हृदि नित्यं प्रकाशस इत्यर्थः ।

ब्रह्मा श्रीगर्भोदकशायी को कहे थे—हे प्रभो ! आदर पूर्वक तुम्हारा भजन करने से ही भजन कारी कृतार्थ हो जाता है । जो तुम्हारे चरण पङ्कज के सौरभ का आघ्राण वेद रूप समीरण के द्वारा प्राप्त कर कर्ण विवर द्वारा करते हैं, अर्थात् अतिशय आदर पूर्वक तुम्हारी कथा श्रवण करते हैं, एवं परम भक्ति के सहित तुम्हारे चरण कमल को सर्व पुरुषार्थ सार मानकर ग्रहण करते हैं, वे तुम्हारे निज जन होते हैं । हे नाथ ! तुम, उनके हृदय कमल को कभी भी परित्याग नहीं करते । अर्थात् नित्य ही उन के हृदय में विद्यमान रहते हो । मूल श्लोक में 'ये तु' 'तु' शब्द का उल्लेख होने के कारण, इस प्रकार अर्थ प्रकाश होता है । पूर्व श्लोक में उक्त है—(भा० ३।९।४) "योऽनादृतो नरक भाग्भिरसत् प्रसङ्गैः"

अर्थात् जो असत् प्रसङ्ग अर्थात् निरीश्वर कुतर्क निष्ठ है, वह तुम्हारी परमानन्दमय परम पुरुषार्थ-सार सर्वार्थ रूप इस मूर्त्ति को आदर नहीं करता है । अर्थात् इस मूर्त्ति को मायामय कहकर अनादर करता है । उस अवज्ञा के फल से वह निश्चय ही नरक गमन करेगा, इसमें अनुमात्र भी संशय नहीं है । उल्लिखित श्रीमूर्त्ति की अवज्ञा कारी व्यक्ति की जो निंदा की गई है । उस के प्रतियोगी अर्थ में 'तु' शब्द का प्रयोग हुआ है । इस से सुस्पष्ट होता है कि-जो श्रीमूर्त्ति की अवज्ञा करते हैं, 'असत् प्रसङ्ग' वे ही असत् सङ्गी हैं । उक्त श्लोक में "गृहीत चरणः" शब्द का प्रयोग हुआ है । वह भक्ति का आतिशय्य प्रकटन निबन्धन प्रयुक्त हुआ है । अर्थात् केवल चरण धारण नहीं है, किन्तु प्रेम भक्ति के द्वारा जिन्होंने तुम्हारी मूर्त्ति को हृदय में धारण किया है । "चरणाम्बुजकोषगन्धं" यहाँ 'गन्ध' शब्द प्रयोग का तात्पर्य्य यह है कि—जिस प्रकार परम सुगन्धि वस्तु का आस्वादन नासा विवर के द्वारा किया जाता है, उस प्रकार महाभागवत गण, कर्ण विवर के द्वारा तुम्हारे वर्ण आकारादि माधुर्य्य का आस्वादन करते रहते हैं । मूल श्लोक में उक्त है—

'श्रुति वातनीतं' अर्थात् वेद एवं वेदानुगत शब्द समूह ही समीरण हैं, उस समीरण के द्वारा कर्ण विवर प्राप्त हैं । अतएव परम भागवत वृन्द कर्त्तृक प्रेम लक्षणा भक्ति द्वारा ग्रहीत चरण होकर तुम उनके हृदय से विदूरित होने में सक्षम नहीं हो, अर्थात् अविचल रूप से विराजित होते हो ।

ब्रह्मा - श्रीगर्भोदशायि को कहे थे ॥२४९॥

२५० । अनन्तर गुण श्रवण का दृष्टान्त भा० १२।३।१४–१५ के द्वारा प्रस्तुत करते हैं—

(२५०) "कथा इमास्ते कथिता महात्मनां, वितायं लोकेषु यशः परेयुषाम् ।
विज्ञान-वैराग्यविवक्षया विभो, वचो विभूतीर्न तु पारमार्थ्यम् ॥७६०॥

यस्तूत्तमश्लोक-गुणानुवादः, संगीयतेऽभीक्षणममङ्गलघ्नः।
तमेव नित्यं शृणुयादभीक्ष्णं, कृष्णेऽमलां भक्तिमभीप्समानः॥"७६१॥

टीका च—"राजवंशानुकीर्त्तनस्य तात्पर्य्यमाह,—कथा इमा इति। विज्ञानं विषयासारताज्ञानम्, ततो वैराग्यम्, तयोर्विवक्षया। परेयुषां मृतानां वचो विभूतीर्वाग्विलासमात्ररूपाः, पारमार्थ्यं परमार्थयुक्तं कथनं न भवतीत्यर्थः। कस्तर्हि पुरुषाणामुपादेयः परमार्थः? तमाह,—यस्त्विति। नित्यं प्रत्यहं तत्राप्यभीक्षणम्" इत्येषा। अत्र यत् क्वचित् श्रीराम-लक्ष्मणादयोऽपि तेषां राज्ञां मध्ये वैराग्यार्थं छत्रिन्यायेन पठ्यन्ते, तन्निरस्यते। अतो यद्यपि (भा० १।१।३) "निगमकल्पतरोः" इत्याद्यनुसारेण सर्व्वस्यैव प्रसङ्गस्य रसरूपत्वम्, तथापि

यस्तूत्तमश्लोक गुणानुवादः, संगीयतेऽभीक्षणममङ्गलघ्नः।
तमेव नित्यं शृणुयादभीक्ष्णं, कृष्णेऽमलां भक्तिमभीप्समान॥"७६१॥

श्रीशुक—श्रीपरीक्षित् महाराज को कहे थे—राजन्! मैं ने राजवंश का चरित्र वर्णन किया है, उसका तात्पर्य्य यह है कि—जो सब महापुरुष इस जगत् में यश विस्तार करके शरीर त्याग किये हैं। उन के जीवन चरित्र श्रवण करने से विषयों की असारता ज्ञान होता है। एवं उस से विषय वैराग्योदय होगा, इस अभिप्राय से ही चरित्र वर्णन मैंने किया। अर्थात् जो सब राजन्य वृन्द एकच्छत्राधिपत्य प्राप्त किये थे, वे भी विषयासक्ति हेतु अशान्ति प्राप्त कर विषय भोगोपकरण प्रिय देह को भी परित्याग कर मृत्यु को वरण किये हैं। यह सब सुनकर मानव की विषयासक्ति निवृत्ति होगी इस उद्देश्य से ही राजवंश का चरित्र वर्णन किया है। यह सब वाक् विलास मात्र ही है, किन्तु परमार्थ युक्त वाक्य नहीं हैं। इस में जिज्ञासा हो सकती है कि—परमार्थ वस्तु क्या है? उत्तर में कहते हैं—जो श्रीकृष्ण में अमलाभक्ति लाभेच्छु है, उस के पक्ष में प्रत्यह एवं प्रतिक्षण उत्तमः श्लोक श्रीकृष्ण के गुणानुवाद श्रवण करना ही कर्त्तव्य है। जिस से प्रतिक्षण निखिल अमङ्गल विनष्ट होते हैं। यही पारमार्थिक वस्तु है। अर्थात् श्रीहरि कथा, कीर्त्तन एवं श्रवण करना ही मानव वृन्द के पक्ष में परमोपादेय परमार्थ वस्तु है।

इस प्रसङ्ग में ज्ञातव्य विषय यह है कि—राज वंश वर्णन प्रसङ्ग के मध्य में श्रीराम लक्ष्मण प्रभृति भगवत् चरित कथा भी वर्णित है। किन्तु यह भगवत् चरित्र जो अपारमार्थिक नहीं है, उसका निरसन हुआ है। अर्थात् स्थान विशेष में राजन्य वृन्द के मध्य में वैराग्य हेतु छत्रिन्याय के अवलम्बन से जो श्रीरामादि चरित्र वर्णित हुआ है, उसका निरास हुआ। 'छत्री' न्याय यह है। छत्रधारी गमन कर रहा है, कहने से छत्र हीन व्यक्ति का एवं छत्र धारि व्यक्ति का गमन प्रतीत होता है। यहाँपर श्रीरामादि भगवान् की कथा भी राज वंश कीर्त्तन के समय हुई है। वैराग्य शिक्षा हेतु राजवंश वर्णन एवं श्रीरामादि भगवत् चरित्र वर्णन छत्रिन्याय से एकार्थ बोधक है, किन्तु इस प्रकार समझना नहीं चाहिये। कारण, वैराग्य शिक्षा हेतु राजवंश वर्णन हुआ है, एवं श्रीकृष्ण में निर्म्मल भक्ति लाभ हेतु श्रीरामादि भगवदवतार के गुणानुवाद श्रवण है। इस प्रकार समझना होगा।

अतएव यद्यपि भा० १।१।३ श्लोक में उक्त है—

'निगम कल्पतरोर्गलितं फलं शुक मुखादमृतद्रवसंयुतम्।
पिबत भागवतं रसमालयं मुहरहोरसिका भुविभावुकाः॥"

श्रीमद् भागवत—वेद रूप कल्पतरु के रस मय फल है। अतः श्रीमद् भागवत के समस्त प्रसङ्ग ही

क्वचित् साक्षाद्भक्तिमयशान्तादिरसरूपत्वं क्वचित्तदुपकरण-शान्तादिरसरूपत्वञ्च समर्थनीयम् । अस्ति हि तत्र तत्र भक्तिरसेष्वपि तारतम्यमिति । गुणाः कारुण्यादयः । तद्गुणकीर्त्तेः स्वभाव एवासाविति श्रीगीतास्वपि दृष्टम् (गी० ११।३६)–"स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या, जगत् प्रहृष्यत्यनुरज्यते च" इत्यादौ । अत्र महाभागवतानामपि-भगवत इव गुणश्रवणं मतम्, (भा० १।१६।६)—

"तत् कथ्यतां महाभाग यदि कृष्णकथाश्रयम् ।
अथवास्य पदाम्भोज–मकरन्दलिहां सताम् ॥"७६२॥

इति शौनकोक्तेः । यद्यप्यत्र गुण-शब्देन रूप-लीलयोरपि सौष्ठवं गृह्यते, तथापि तत् प्राधान्यनिर्द्देशात् पृथग् ग्रहणम् । एवमुत्तरत्रापि । भक्तिं प्रेमाणम्, अमलां कैवल्यादीच्छा-रहिताम् ॥ श्रीशुकः ॥

रस रूप है, तथापि किसी प्रसङ्ग में साक्षात् भक्तिमय शान्त दास्य प्रभृति रसमयत्व वर्णित है, एवं किसी प्रसङ्ग में शान्त दास्यादि, भक्ति रस के उपकरण रूप में वर्णित हैं । इस रीति से श्रीमद् भागवत के वर्णित समस्त विषय का ही रसरूपत्व है—इस प्रकार सिद्धान्त को जानना कर्त्तव्य है । शान्तादि रस के मध्य में भी तारतम्य है । मूल श्लोक में लिखित—'गुणानुवादः' है, गुणानुवाद श्रवण करना चाहिये । यहाँ हरिगुण शब्द का अर्थ है कारुण्यादि । भगवद् गुण कीर्त्तन का स्वभाव ही यह है कि जो गुण कीर्त्तन वा श्रवण करता है, उसका हृदय आनन्द से उल्लसित हो उठता है, एवं श्रीभगवान् के प्रति अनुराग उत्पन्न होता है । श्रीगीता में वर्णित है—(गी० ११।३६)

"स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत् प्रहृष्यत्यनुरज्यते च" ॥

हे हृषीकेश ! तुम्हारे गुण कीर्त्तन द्वारा जगत् वासी जन निकर आनन्दित होते हैं, एवं तुम्हारे प्रति अनुरक्त होते हैं । यह युक्तियुक्त ही है ।

जिस प्रकार भगवान् के गुण श्रवण परम मङ्गल कर है, उस प्रकार महाभागवत वृन्द के गुण कीर्त्तन भी श्रीभगवान् में प्रीत्युत्पादक है, एवं उस से विषय वैराग्योदय भी होता है । इस अभिप्राय से ही भा० १।१६।६ में श्रीशौनक श्रीसूत को कहे थे—

"तत् कथ्यतां महाभाग यदि कृष्ण कथा श्रयम् ।
अथवास्य पदाम्भोज–मकरन्दलिहां सताम् ॥"७६२॥

टीका—अस्य विष्णोः पदाम्भोजयोर्यो मकरन्दस्तं लिहन्ति आस्वादयन्ति ये तेषां सतां महतां वा कथाश्रयमिति समासान्निष्कृष्यानुषङ्गः" तर्हि कथ्यताम् ।

हे महाभाग ! यदि कृष्ण कथाश्रय प्रसङ्ग हो, अथवा उस में यदि श्रीविष्णु के पाद पद्म मकरन्द आस्वादनकारिभक्त वृन्द की कथा हो तो, उस का वर्णन आप करे । यद्यपि "यस्तुत्तम श्लोकगुणानुवादः श्लोक में गुणवाद विहित है । उपलक्षण में रूप एवं लीला कथा का सौष्ठव भी गृहीत होता है, तथापि गुण कीर्त्तन का निर्द्देश प्रधान रूप से होने के कारण, पृथक् रूप से गुण शब्द का ग्रहण हुआ है । इस प्रकार जहाँ पर एक भक्ति के अङ्ग का वर्णन है, वहाँ अन्य भक्ति के अङ्ग को समझ लेना चाहिये । अभिप्राय यह है कि-जिस प्रकार भगवत् गुण कीर्त्तन की महिमा है, उस प्रकार ही नाम, रूप, लीला, कीर्त्तन की भी

२५१। किञ्च, (भा० ५।१२।१४)

(२५१) "यत्रोत्तमश्लोकगुणानुवादः, प्रस्तूयते ग्राम्यकथाविघातः।
निषेव्यमाणोऽनुदिनं मुमुक्षो-,र्मतिं सतीं यच्छति वासुदेवे ॥"७६३॥

मुमुक्षोरपि, किं पुनर्भक्तिमात्रेच्छोः, सतीं मुमुक्षाद्यन्यकामनारहिताम् तदन्या तु व्यभिचारिणीति भावः॥ श्रीब्राह्मणो रहूगणम्॥

२५२। व्यतिरेकेण च (भा० १०।१।४)—

(२५२) "निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद्-,भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात्।
क उत्तमश्लोकगुणानुवादात्, पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात्॥"७६४॥

निवृत्तेत्यादि-विशेषणत्रयेण मुक्त-मुमुक्षु-विषयिजनानां ग्रहणम्। पशुघ्नो व्याधः, तस्य हि—

महिमा है, यह जानना चाहिये। मूल श्लोक में उक्त है—"कृष्णेऽमलां भक्तिमभीप्समानः। यहाँ अमला शब्द का अर्थ है—अर्थ मोक्ष प्रभृति बाञ्छारहिता एवं भक्तिशब्द का अर्थ है—प्रेम भक्ति। अर्थात् जो श्रीकृष्ण चरणों में मोक्ष प्रभृति कामना शून्य होकर प्रेमभक्ति लाभेच्छु है, उसके पक्ष में निरन्तर निखिल अमङ्गल विनाशक श्रीहरि गुणानुवाद श्रवण कीर्त्तन करना चाहिये। श्रीशुक कहे थे ॥२५०॥

२५१। भा० ५।१२।१३ में और भी कथित है—

(२५१) "यत्रोत्तमश्लोकगुणानुवादः, प्रस्तूयते, ग्राम्यकथाविघातः।
निषेव्यमाणोऽनुदिनं मुमुक्षो--,र्मतिं सतीं यच्छति वासुदेवे॥"७६३॥

टीका—महत् सेवायास्तत् प्राप्त्युपायतामाह यत्र—येषु महत्सु। ग्राम्य कथानां विघातो यस्मात्॥

श्रीभरत, सौवीर देशाधिपति रहूगण को कहे थे—हे राजन्! जहाँपर उत्तम श्लोक श्रीभगवान् के भक्त वात्सल्य गुणादिका नियत कीर्त्तन होता है, वहाँ पर ग्राम्य कथा हो ही नहीं सकती। जो प्रतिदिन प्रीति एवं आदर के सहित हरिगुणानुवाद श्रवण करते हैं, वे यदि मुक्ति कामी भी होते हैं, तो भी हरि गुण श्रवण के प्रभाव से भगवान् वासुदेव में मुक्ति इच्छा प्रभृति कामना शून्य मति लाभ करते हैं। अर्थात् हरि गुण श्रवण का इस प्रकार प्रभाव है कि—यदि कोई व्यक्ति धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, यह चतुर्वर्ग कामना के मध्य में किसी एक कामना लेकर भी श्रीहरि गुणानुवाद श्रवण करता है, तो श्रीहरि गुण श्रवण प्रभाव से चित्त से समस्त कामना वासना विदूरित हो जाती है, एवं श्रीहरि चरणों में प्रेम भक्ति लाभ होती है।

मुक्ति कामी व्यक्ति को भी जब हरिगुणानुवाद श्रवण उत्तम मति, (सती मति) प्रदान करता है, तब केवल भक्ति कामना से यदि हरिगुणानुवाद श्रवण कोई करता है, उस की सती मति होगी, इस विषय में कहना ही क्या है? मुमुक्षादि अन्य कामना रहित मति को सती मति कहते हैं। उस से अन्य मति को अर्थात् मुमुक्षादि युक्त मति व्यभिचारिणी मति कहते हैं। यही भावार्थ है।

श्रीब्राह्मण रहूगण को कहे थे ॥२५१॥

२५२। व्यतिरेक मुख से अर्थात् निषेध मुख से भी कहते हैं—भा० १०।१।४ में उक्त हैं—

(२५२) "निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद्,-भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात्।
क उत्तमश्लोकगुणानुवादात्, पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात्॥"७६४॥

टीका—अत्र लोके त्रिविधा जनाः मुक्ता मुमुक्षवो विषयिणश्च। तेषां मध्ये अत्र न कस्याप्यलं प्रत्यय इत्याह—निवृत्ततर्षैरिति। गततृष्णैर्मुक्तैरित्यर्थः। मुमुक्षूणामयमेवोपाय इत्याह भवौषधादिति। विषयिणां

"राजपुत्र चिरं जीव मा जीव मुनिपुत्रक। जीव वा मर वा साधो व्याध मा जीव मा मर ॥"७६५॥

इति न्यायेन विषयसुखेऽपि तात्पर्य्यं नास्ति। न च तदभिज्ञत्वमस्ति, विशेषतस्तु कथारसज्ञाने परम-गूढ़त्वात् सामर्थ्यं नास्त्येव, यद्वा, दैत्यस्वभावस्य यस्य निन्दामात्र-तात्पर्य्यम्, स एव हिंसकत्वेन पशुघ्न-शब्देनोच्यते। पशुघ्नो व्याधः, सोऽपि मृगादीनां सौन्दर्य्यादिकं गुणमगणयन्नेव हिंसामात्रतत्पर इति। ततो रसग्रहणाभावाद् युक्तमुक्तम्--विना पशुघ्नादिति।

परमो विषयोऽयमेवेत्याह श्रोत्रमनोभिरामादिति अपगता शुग् यस्मात् तमात्मानं हन्तीत्यपशुघ्नस्तस्मात् पशुघातिन इति वा ।

व्यतिरेक अर्थात् निषेध मुख से भी श्रीहरिगुणानुवाद श्रवण की प्रशंसा करते हुए महाराज परीक्षित् कहे थे। हे प्रभो ! इस जगत् में मुक्त, मुमुक्षु एवं विषयी भेद से त्रिविध व्यक्ति होते हैं। उस के मध्य में हरिकथा श्रवण में किसी को भी अलं बुद्धि नहीं होती है, अर्थात् विरक्ति नहीं होती है। किन्तु आदर पूर्वक श्रवण ही करते हैं। कारण मुक्त गण सर्वदा ही उत्तम श्लोक भगवान् का गुणानुवाद कीर्त्तन करते रहते हैं। एवं भव रोग की औषध स्वरूप है, अतएव मुमुक्षु गण, श्रीभगवद्गुणानुवाद से विरत नहीं होते हैं। मन एवं कर्ण का आनन्द दायक है, सुतरां श्रीभगवान् के गुणानुवाद से विषयी गण भी विरत नहीं होते हैं। केवल मात्र पशु धाती व्यक्ति विरत होता है। मूल श्लोक में उत्तम श्लोक गुणानुवाद के तीन विशेषण हैं। निवृत्ततर्षैरुपगीयमानात्— भवौषधात्— श्रोत्रमनोऽतिरामात्। निवृत्ततर्ष विशेषण के द्वारा मुक्त पुरुष का संग्रह हुआ है, भवौषध—विशेषण के द्वारा मुमुक्षु व्यक्ति का संग्रह हुआ है, एवं श्रोत्रमनोभिराम—विशेषण के द्वारा विषयि जन गण का संग्रह हुआ है। पशुघ्न-शब्द का अर्थ व्याध है। मुक्त गण—श्रीहरि के वात्सल्य गुणादि का कीर्त्तन करते हैं, भवभयभीत मुमुक्षु गण भवौषध मान कर श्रीहरि कीर्त्तन करते हैं, श्रवण मन के आनन्द दायक श्रीगुण कीर्त्तन होने के कारण, विषयी गण उसका कीर्त्तन करते हैं, किन्तु इस प्रकार गुण सम्पन्न श्रीहरि कीर्त्तन से पशुघ्न व्याध को छोड़कर अपर कोई व्यक्ति विरत नहीं होता है, कारण, व्याध का ऐहिक वा पार लौकिक सुख नहीं है। इस अभिप्राय से ही महापुरुष गण कहते हैं—

"राजपुत्र चिरं जीव मा जीव ऋषि पुत्रक।
जीव वा मर वा साधो व्याध मा जीव मा मर ॥"७६५॥

राज पुत्र ! तुम चिर काल जीवित रहो, कारण, तुम्हारा इह काल ही है, परकाल नहीं है। जब तक जीवित रहोगे तब तक ही राज्य सुख भोग होगा। मरने के वाद दुःख मय जन्म ग्रहण करना पड़ेगा। हे मुनि पुत्र ! तुम जीवित न रहो, कारण, तुम्हारा इहकाल नहीं है, किन्तु परकाल है, जब तक जीवित रहोगे तब तक यज्ञादि कर्म्मानुष्ठान हेतु कष्ट प्राप्त करोगे। मृत्यु होने से पुण्यार्जित सुख भोग करोगे। साधु को देखकर कहा—हे साधो ! तुम जीवित रहो, वा मरो, अर्थात् जीवित अवस्था में भी परमानन्द है, एवं मृत्यु के वाद भी परमानन्द ही है। जब तक जीवित रहोगे, तब तक दुःखमय जड़ीय विषय में मन की आसक्ति न होने से निरन्तर श्रीहरि चरण कमल सेवा रस में निमग्न रहोगे, देहान्त में भी सेवा परमानन्द में विभोर हो जाओगे। अतएव तुम्हारे पक्ष में जीवित रहना वा मरणा दोनों ही समान है।

व्याध ! तुम, न तो जीवित ही रहो, न तो मरो, कारण, तुम्हारे पक्ष में इस जगत् एवं पर जगत् है ही नहीं। जब तक जीवित रहोगे तब तक वैषयिक सुख भोग नहीं होगा। परलोक में हिंसा जनित पाप फल भोग अनिवार्य है। कारण, हिंसा विद्ध हृदय में हरि कथा माधुर्य्यास्वादन नहीं होता है। श्रीहरि कथा माधुर्य्य अति निगूढ़ है, उस को ग्रहण करने की सामर्थ्य हिंसा परायण व्याध हृदय में है ही नहीं।

उभयथापि तद्वहिर्मुखेभ्यो गालिप्रदान एव तात्पर्य्यम्, यथा तृतीये श्रीमैत्रेयस्य (भा० ३।१५।५०

"को नाम लोके पुरुषार्थसारवित्, पुराकथानां भगवत्कथा-सुधाम्।
आपीय कर्णाञ्जलिभिर्भवापहा,--महो विरज्येत विना नरेतरम्॥"७६६॥ इति।

राजा श्रीशुकम्॥

२५३। अथ लीला-श्रवणम् (भा० १।३।१२)—

(२५३) "ज्ञानं यदाप्रतिनिवृत्तगुणोर्मिचक्र-
मात्मप्रसाद उत यत्र गुणेष्वसङ्गः।
कैवल्यसम्मतपथस्त्वथ भक्तियोगः
को निर्वृतो हरिकथासु रतिं न कुर्य्यात्॥"७६७॥

पुण्य के बिना श्रीहरि कथा श्रवणेच्छा नहीं होती है, अर्थात् पवित्र हृदय में श्रीहरिकथा श्रवणेच्छा उद्गत होती है। अतएव हिंसाविद्ध व्याध के पक्ष में श्रीहरि कथा हो ही नहीं सकती है। अथवा पशुघ्न शब्द से परनिन्दा मात्र को जानना होगा। दैत्यस्वभाव मनुष्य ही अपर के हृदय में व्यथा दान करता है। अतः उस में हिंसक का धर्म विद्यमान होने के कारण, पशुघ्न शब्द से उस को उल्लेख किया है। कारण, निन्दा से जिस प्रकार हृदय व्यथित होता है, उस प्रकार शस्त्राघात से भी व्यथित नहीं होता है। अतएव उस प्रकार हृदय में श्रीहरि कथा माधुर्य्यास्वादन करने की सामर्थ्य न होने के कारण, 'विना पशुघ्नात्' पशुघ्न भिन्न हरिकथा श्रवण से कौन विरत होगा। यह कथन युक्ति युक्त ही है। श्रीहरि कथा विमुख जनगण को तिरस्कार करने के निमित्त ही उक्त श्लोक में उस प्रकार शब्द विन्यास हुआ है।

भा० ३।१३।५० में श्रीमैत्रेय भी उसी प्रकार कहे हैं।

"को नाम लोके पुरुषार्थसारवित्, पुराकथानां भगवत् कथासुधाम्।
आपीय कर्णाञ्जलिभिर्भवापहा,—महो विरज्येत विना नरेतरम्।"७६६॥

टीका—अतः को नाम पुरा कथानां पूर्व वृत्तान्तानां मध्ये कथञ्चिदापीय विरज्येत विरमेत्। नरेतरं पशुं विना।

मैत्रेय विदुर को कहे थे—विदुर! जो भक्ति को ही सर्व पुरुषार्थ का महाफल मानता है, वही व्यक्ति सारज्ञ है, और जो भक्ति को पुरुषार्थ का साधन मानता है, किन्तु फल -नहीं मानता है, वही पशु है। इति पूर्व में तुम्हारे निकट जो सब चरित्र का वर्णन मैंने किया है, वह सब पुरावृत्त के मध्य में संसार ध्वंशिनी भगवत् कथा सुधा को कर्णाञ्जलि द्वारा पान करके नरेतर पशु भिन्न कौन व्यक्ति विरत होगा? ऐसा होने पर जो, सुधाधारावत् श्रीहरि कथा से विरत होता है, वही व्यक्ति पशु है। श्रीमैत्रेय की उक्ति से श्रीहरि कथा विरत व्यक्ति को पशु के मध्य में परिगणित किया गया है।

राजा, श्रीशुक को कहे थे॥२५२॥

२५३। अनन्तर लीला श्रवण का माहात्म्य वर्णन करते हैं। भा० २।३।१२ में उक्त है—

(२५३) "ज्ञानं यदाप्रतिनिवृत्तगुणोर्मिचक्रमात्मप्रसाद उत यत्र गुणेष्वसङ्गः।
कैवल्यसम्मतपथस्त्वथ भक्तियोगः को निर्वृतो हरिकथासु रतिं न कुर्य्यात्॥"७६७॥

टीका—भागवत सङ्गत इत्यनेन सूचितां हरिकथारतिं स्तौति ज्ञान मिति। यत् यासु कथासु ज्ञानं भवति। कीदृशम्? आ सर्वतः प्रति निवृत्तमुपरतं गुणोर्म्मीणां रागादीनां चक्रं समूहो यस्मात् तत्। उत

यत् यासु कथासु ज्ञानं भवति। कीदृशम् ? आ सर्व्वतः प्रतिनिवृत्तमुपरतं गुणोर्मीणां रागादीनां चक्रं समूहो यस्मात्, यतो यत्र यासु कथासु तद्धेतुरात्मप्रसादश्च तत्प्रसाद-हेतुर्विषयानासक्तिश्च, किं बहुना, तत्फलं यत् कैवल्यं तदपि (गी० १८।५४)—"ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा" इत्याद्युक्तानुसारेण, सम्मतः पन्थाः प्रातिद्वारं यत्र स प्रेमाख्यो भक्तियोगोऽपि, यासु श्रुतमात्रासु तत्तदनपेक्ष्यैव भवति, तासु हरिकथासु तच्चरितेषु कः श्रवणसुखेन निर्वृतः सन् अन्यत्रानिर्वृतो वा रतिं रागं न कुर्य्यात्॥ श्रीशुकः॥

२५४। किं बहुना, एतदर्थमेवास्य महापुराणस्याविर्भाव इति (भा० १।५।८) "भवतानुदित

अनन्तरं तद्धेतु रात्मप्रसादश्च। यत्र यासु। मनः प्रसाद हेतुः, गुणेषु विषयेषु असङ्गो वैराग्यश्च। उभयत्रेति पाठे इहामुत्र च गुणेष्वसङ्गः। कैवल्यमित्येव सम्मतः पन्था यो भक्ति योग,। निर्वृत, श्रवण सुखेन, अन्यत्रानिर्वृते इति वा। तासु हरिकथासु को न रतिं कुर्य्यात्।

श्रीशुक, परीक्षित् को कहे थे—हे राजन्! भागवत सङ्गसे जिस हरि कथा में प्रीति का उदय होता है, उस श्रीहरि कथा की महिमा सुनो। श्रीहरि कथा श्रवण से ज्ञानोदय होता है। वह ज्ञान किस प्रकार है? आ प्रतिनिवृत्त गुणोर्म्मिचक्रम्" अर्थात् जिस ज्ञान में राग प्रभृति तरङ्ग समूह की सम्यक् रूप से निवृत्ति हो जाती है, पुनर्वार उद्गम होने की सम्भावना नहीं रहती है। जिस श्रीहरि कथा श्रवण द्वारा आत्म प्रसादलाभ होता है, आत्म प्रसाद होने से विषय अनासक्ति हो जाती है। अधिक कहना ही क्या है? "ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा" (गी० १८।५४) श्लोक में कैवल्य को प्रेम भक्ति लाभ का द्वार कहा गया है। अर्थात् आत्माराम आप्तकाम अवस्था प्राप्त न होने से श्रीभगवान् में प्रेम भक्ति प्राप्ति नहीं होती है, उस कैवल्य को भी भक्त गण अननुसन्धान से प्राप्त करते हैं। अनन्तर श्रीहरि चरणों प्रेम भक्ति का उदय होता है, इस प्रकार श्रीहरि कथा, अर्थात् भगवत् चरित्र--श्रवण सुख से सुखी होकर, अथवा अन्यत्र विरत होकर एक मात्र श्रीहरि कथा में कौन व्यक्ति रति अर्थात् राग न करके रह सकता है? श्रीशुक कहे थे ॥२५३।

२५४। अधिक और क्या कहें,—श्रीहरि लीला कथा श्रवण माहात्म्य वर्णन करने के निमित्त ही श्रीमहापुराण श्रीमद् भागवत का आविर्भाव हुआ है। भा० १।५।८ में उक्त है—

"भवतानुदितं प्राय यशो भागवतोऽमलम्।
येनैवासौ न तुष्येत मन्येतद्द् दर्शनं खिलम्॥"

टीका—अनुदित प्रायम्-- अनुक्त प्रायम्। विमलं भगवद् यशो विना येनैव धर्म्मादि ज्ञानेन असौ भगवान् न तुष्येत तदेव दर्शनं ज्ञानं खिलं न्यूनं मन्ये।

महामुनि श्रीकृष्ण द्वैपायन को श्रीनारद कहे थे—प्रधान रूप श्रीभगवान् का विमल यशः कीर्त्तन आपने नहीं किया है, तज्जन्य आप निज चित्त में प्रसन्नता प्राप्त करने में अक्षम हैं। इस के पश्चात् उन्होंने कहा है। (भा० १।५।१३) में उक्त है—

"अथोमहाभाग भवानमोघदृक्शुचिश्रवाः सत्यरतोधृतव्रतः।
उरुक्रमस्याखिल बन्ध मुक्तये समाधिनानुस्मर तद्विचेचिष्टतम्॥"

टीका तदेवं भक्ति शून्यानि ज्ञान वाक् चातुर्य्यं कर्म्म कौशलानि व्यर्थान्येव यतः, अतो हरेश्चरितमेवानुवर्णयेत्याह, अथो--इ त। अथो अतः कारणात् अमोघा यथार्था दृक् धीर्यस्य। शुचि शुद्धं श्रवो यशोयस्य,सत्येरतः। धृतानि व्रतानि येन। स भवान् एवं महागुणस्तावत् अत उरुक्रमस्य विविधं चेष्टितं लीलां

प्रायं यशो भगवतोऽमलम्" इत्यादौ, (भा० १।५।१३) "समाधिनानुस्मर तद्विचेष्टितम्" इत्यादौ च वर्णितम् । सा च लीला द्विविधा,—सृष्ट्यादिरूपा लीलावतारविनोदरूपा च । तयोरुत्तरा तु प्रशस्ततरेत्याशयेनाह, (भा० २।६।४६)—

(२५४) "प्राधान्यतो यानृष आमनन्ति, लीलावतारान् पुरुषस्य भूम्नः ।
आपीयतां कर्णकषायशोषा,--ननुक्रमिष्ये त इमान् सुपेशान् ।।"७६८।।

यद्यपि पूर्व्वम् (भा० २।६।४२) "आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य" इत्यादि-ग्रन्थेन पुरुषं कालादि-तच्छक्तिम्, मनआदि-तत्कार्य्यम्, ब्रह्मादि-तद्गुणावतारान्, दक्षादि-तद्विभूतीश्चोक्तवानस्मि, तेन च सृष्ट्यादि-लीलाः, तथापि यान्, हे ऋषे ! पुरुषस्य भूम्नो लीलावतारान् प्राधान्येन आमनन्ति, तानेव इमान् मम हृदयाधिरूढ़ान् कर्णकषायशोषान् तदितरश्रवणरागहन्तॄन् । किञ्च, सुपेशान् परममनोहराननुक्रमिष्ये, तदनुक्रमेण आ सम्यक् प्रीयताम् ।। श्रीब्रह्मा नारदम् ।।

२५५ । एवं (भा० १०।८७।२१) "दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय" इत्यादौ वेदस्तुतावपि

समाधिना चित्तैकाग्र्येण अखिलस्य बन्धस्यमुक्तये त्वमनुस्मर, स्मृत्वा वर्णयेत्यर्थ । एतच्च वाक्यान्तरमिति मध्यमपुरुष प्रयोगो नानुपपन्नः ।

एकाग्र चित्त से श्रीभगवान् की लीला का स्मरण कर वर्णन करो । उक्त श्रीभगवान् की लीला द्विविध हैं । एक—जगत् सृष्ट्यादि रूपा, अपर लीलावतार विनोद रूपा । इन दोनों के मध्य में लीलावतार विनोद रूपा लीला ही अत्यन्त प्रशस्ता है. इस अभिप्राय से ही भा० २ ६।४६ में उक्त है ।

(२५४) "प्राधान्यतो यानृष आमनन्ति, लीलावतारान् पुरुषस्य भूम्नः ।
आपीयतां कर्णकषायशोषा---,ननुक्रमिष्ये त इमान् सुपेशान् ।।"७६८।।

टीका – शुद्ध सत्त्वावतारान् वक्तुमाह प्राधान्यत इति । असत् कथा श्रवणं ये कर्णयोः कषाया मलास्तान् शोषयन्तीति तथा तान् । सुपेशान् सुन्दरान् । हे ऋषे ! ते तुभ्यम्, अनुक्रमिष्ये तदनुक्रमेणामृतं त्वया आपीयतामित्यर्थः । यद्वा आपीयतामिति शत्रन्तम्, आपीयतां कर्ण कषायशोषानित्यर्थः ।

ब्रह्मा नारद को कहे थे—यद्यपि इस के पहले भा० २।६।४२ में "आद्योऽवतारः पुरुष" परस्य" पुरुष एवं कालादि एवं श्रीभगवान के कार्य्यादि, शक्तिमनः प्रभृति, शक्ति के कार्य्यादि, ब्रह्मादि, श्रीभगवान् के गुणावतार, दक्ष प्रभृति उन श्रीभगवान् की विभूति प्रभृति कथा का वर्णन मैंने किया है । अर्थात् श्रीभगवान् की सृष्ट्यादि लीला का कथन पहले ही हुआ है । तथापि हे ऋषि वर ! उन परम पुरुष के जो सब लीला वतार हैं, वेद एवं वेदानुगत शास्त्र जिन की प्रशंसा प्रधान रूप से करते रहते हैं, उन सब लीलावतार की कथा—जो मेरे हृदय में आविर्भूत है, वह कर्ण शोधन कारी हैं, अर्थात् उन सब लीलावतार की कथा श्रवण करने से अन्य कथा श्रवण करने की लालसा विदूरित हो जाती है । एवं जो लीलावतार चरित्र परम मनोहर है, उस का वर्णन क्रम पूर्वक कर रहा हूँ । तुम सम्यक् रूप से कथा मृत पान करो ।

श्रीब्रह्मा नारद को कहे थे ।।२५४।।

२५५ । इस प्रकार (भा० १०।८७।२१) में लीलावतार की कथा श्रवण, कीर्त्तन प्रशंसा वेद स्तुति में है ।

तच्छ्लाघा द्रष्टव्या, अतएव प्रथमे (भा० १।२।३४) "भावयत्येषः" इत्यादौ "लीलावतारानुरतः" इति तद्विशेषणं दत्तम् । तथा च श्रीभगवद्गीतासु (४।९)—

"जन्म कर्म्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ।।"७६९।। इति ।

"दुरवगमात्म तत्त्व निगमायतवात्ततनो,
श्चरितमहामृताब्धि परिवर्त्त परि श्रमणाः ।
न परि लषन्ति केचिदपवर्गमीश्वर ते,
चरण सरोज हंस कुल सङ्ग विसृष्ट गृहाः ।।"

टीका—भक्ति रल्प साधनमिति वचनमनुचितमिव मन्वानो भक्तिं गुरू करोति— दुरवगमेति । भो ईश्वर ! दुरवगमं दुर्बोधं यदात्मतत्त्वं तस्य निगमाय ज्ञापनाय तवात्ततनोराविष्कृतमूर्त्तेश्चरितमहामृताब्धि परिवर्त्त परिश्रमणाः । परिवर्जनार्थः । श्रमणं श्रमः । गत श्रमा इत्यर्थः । अपवर्गमपि केचिन्न परिलषन्ति, नेच्छन्ति, कुतोऽन्यदिन्द्रपदादि । केचिदिति एवम्भूता भक्ति रसिका विरला इति दर्शयन्ति । न केवलमन्यन्नेच्छन्ति, किन्तु तेनैव सुखेन पूर्णाः सन्तः पूर्व सिद्धं गृहादि सुखमप्यपेक्षन्ते—इत्याह, ते चरण सरोज हंस कुलसङ्ग विसृष्ट गृहा इति । तव चरण सरोजे हंसा इव रममाणा ये भक्तास्तेषां कुलं तेन सङ्गस्तेन विसृष्टा गृहा यैस्ते तथा । अनेन श्रवण कीर्त्तने दर्शिते । श्रुतिश्च मुक्तेरप्याधिक्यं भक्तेर्दर्शयति । यथाह, यं सर्वे देवा नमन्ति मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्चेति । व्याख्यातश्च सर्वज्ञ भाष्यकृद्भिः— अपि लीलया विग्रह कृत्वा भजन्त इति ।।

वेद गण भगवान् को स्तव करके कहे थे । हे प्रभो ! भक्ति तत्त्वानभिज्ञ कतिपय व्यक्ति भक्ति साधन को महत्त्व नहीं देते हैं । वह उनकी अनभिज्ञता का परिचायक है । भक्ति साधन ही निखिल साधन शिरोमणि है, उस को कहते हैं, हे ईश्वर ! तुम्हारे तत्त्व अतीव दुर्बोध्य है, साधन शक्ति के द्वारा उस को जानने में कोई भी सक्षम नहीं हैं । तुम, स्वयं ही निज तत्त्व को अनुभव कराने के निमित्त इस जगत् में निज मूर्त्ति को प्रकट करके जो सब मधुर लीला करते रहते हो सब लीला ही महा आनन्द सुधासिन्धु हैं । जो सत्सङ्ग वा सत्कृपा प्राप्त कर अपने को धन्य किये हैं, वे इस लीलासिन्धु में अवगाहन करके आत्म तत्त्व ज्ञान प्राप्त करने के परिश्रम से अपने के मुक्त कर सकते हैं । अर्थात् जो तुम्हारी लीला कथा सुधा सागर में अव गाहन कर सकते हैं, उन सब को तुम्हारे स्वरूप तत्त्व ज्ञान लाभ हेतु स्वतन्त्र रूप से कुछ परिश्रम नहीं करना पड़ता है । लीलारस आस्वादन के द्वारा ही तुम्हारे स्वरूप तत्त्व की उप लब्धि अनायास कर सकते हैं । वे इस प्रकार अपूर्व पारमार्थिक आस्वादन प्राप्त करते हैं, जिस से जन्ममृत्यु दुःख परिहार रूप मुक्ति को आदर नहीं करते हैं । किन्तु इस प्रकार व्यक्ति की संख्या स्वल्प है । जो मोक्ष सुखाभिलाष को परित्याग करते हैं वे जो इन्द्रादि पद की आकाङ्क्षा स्वतः ही नहीं करते हैं । ऐसा नहीं, किन्तु उस लीला सुधारसास्वादन में विभोर होकर पूर्व सिद्ध गृहादि सुख का भी अनुसन्धान नहीं करते हैं । कारण तुम्हारे चरण कमल के हंस के समान सतत प्राप्ति युक्त भक्त कुल के सङ्ग में अवस्थित होकर गृह सुखापेक्षा को परित्याग करते हैं ।

श्रुति में भी लीला कथा श्रवण कीर्त्तन रूप भक्ति का प्राधान्य वर्णित है । 'यं सर्वे देवा नमन्ति मुमुक्षवो ब्रह्मवादिश्च ।" इस की व्याख्या में सर्वज्ञ भाष्य कर्त्ता श्रीशङ्कराचार्य्य ने भी कहा है—"मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भजन्ते ।।" निर्वाणमुक्त व्यक्ति गण भी स्वेच्छा से भजनोपयोगी देह धारण करके

एषा खलु मर्त्त्यशरीरमपि पार्षदभावेन जितमृत्युकं विदधाति, यथाह (भा० ३।१४।५-६)—

(२५५) "साधु वीर त्वया पृष्टमवतारकथां हरेः।
यत्त्वं पृच्छसि मर्त्त्यानां मृत्युपाश-विशातनीम् ॥७७०॥
यथोत्तानपदः पुत्रो मुनिना गीतयार्भकः।
मृत्योः कृत्वैव मूर्द्ध्न्यङ्घ्रिमारुरोह हरेः पदम् ॥"७७१॥

मुनिना श्रीनारदेन, अतस्तेन भगवदवतारकथापि तं प्रति श्राविताऽस्तीति गम्यते। तेन शरीरेणैव मृत्युजयः, पार्षदत्वञ्चोक्तम् (भा० ४।१०।२६)—

श्रीभगवान् का भजन करते हैं। इस से प्रतिपन्न होता है कि मुक्ति सुख से भी भगवल्लीलाकथा श्रवण कीर्त्तन रूप भक्ति में सुखाधिक्य है। अतएव भा० १।२।३४ में श्रीसूत ने कहा है—

"भावयत्येष सत्त्वेन लोकान् वै लोकभावन। लीलावतारानुरतो देवतिर्य्यङ्नरादिषु॥"

टीका—इदानीं सूत जानासीति प्रश्नस्योत्तरमाह, भावयति-पालयति। एतत् तु सर्वावतार साधारण प्रयोजनं, विशेषतः श्रीकृष्णावतारस्य कुन्तीस्तुतौ वक्ष्यते। लोकभावनः—लोककर्त्ता। देवादिषु ये लीलावतारास्तेषु। अनुरतः—अनुरक्तः।

हे शौनक! लोक कर्त्ता श्रीभगवान् देव तिर्य्यङ् एवं मानवों के मध्य में अनुरक्त होकर सत्त्व गुण के द्वारा सकल लोक को पालन करते है।" इस श्लोक में "लीलावतारानुरतः" पद, श्रीभगवान् के विशेषण रूप में व्यवहृत हुआ है। अर्थात् लीला—भगवान् की अतीवान्तरङ्ग वस्तु है, उस का प्रकाश अनुरत पदके द्वारा हुआ है। श्रीभगवद् गीता (४।९) में भी उक्त है—

"जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥"

हे अर्जुन! मेरा जन्म एवं कर्म—उभय ही अलौकिक हैं, अर्थात् माया विकार सम्बन्ध रहित स्वरूपानुबन्धी है, अर्थात् चिच्छक्ति का विलास रूप है। जो भाग्यवान् जीव मेरा जन्म एवं कर्म को अलौकिक स्वरूपानुबन्धी रूप से जानता है, वह माया विकार जनित देह त्याग करके पुनर्वार जन्म ग्रहण नहीं करता है। केवल यही नहीं, प्रत्युत मुझ को प्राप्त करता है। यह भगवल्लीला कथा, मरण धर्म शील शरीर को भी पार्षद भाव से मृत्युञ्जयत्व प्रदान करती है। भा० ३।१४।५-६ में उक्त है—

(२५५) "साधु वीर त्वया पृष्टमवतारकथां हरेः।
यत्त्वं पृच्छसि मर्त्त्यानां मृत्युपाश-विशातनीम् ॥७७०॥
यथोत्तानपदः पुत्रो मुनिना गीतयार्भकः।
मृत्योः कृत्वैव मूर्द्ध्न्यङ्घ्रिमारुरोह हरेः पदम् ॥"७७१॥

टीका—साधुत्वे हेतुः—यद् यस्मात् त्वं हरेरवतार कथां पृच्छसीति। मृत्योः पाशं विशातयति मोचयतीति तथा।(५)तदेव दर्शयति। यया कथया। उत्तानपदः पुत्रो ध्रुवः। मुनिना नारदेन। अर्भकएव। यदा ध्रुवाय सुनन्दादिभि विमानमानीतं तदास्य देह भागोऽपेक्षितः स्यात् इति मत्वा मृत्यावासन्नेऽपि देहं न तत्याज, किन्तु सोपान इव तस्य मृत्योर्मूर्द्ध्नि पदं दत्त्वा विमानमारुह्य विष्णुपदमारुढः, वक्ष्यति हि— परीत्याभ्यर्च्चर्य। धिष्णचाग्र्यं कृतस्वस्त्ययनो द्विजैः। इयेष तदधिष्ठातुं विभ्रद्रूपं हिरण्मयमिति॥ ६)

श्रीमैत्रेय श्रीविदुर को कहे थे—हे वीर! तुमने उत्तम प्रश्न किया है। कारण, श्रीहरि के अवतार

"परीत्याभ्यर्च्च्य धिष्ण्याग्र्यं कृतस्वस्त्ययनो द्विजैः।
इयेष तदधिष्ठातुं बिभ्रद्रूप हिरण्मयम् ॥"७७२॥ इति। श्रीमैत्रेयः॥

२५६। तदेवं नामादिश्रवणमुक्तम्। अत्र तत्परिकरश्रवणमपि ज्ञेयम्, (भा० ३।१३।४)-

"श्रुतस्य पुंसां सुचिरश्रमस्य, नन्वञ्जसा सूरिभिरीड़ितोऽर्थः।
तत्तद्गुणानुश्रवणं मुकुन्द,-पादारविन्दं हृदयेषु येषाम् ॥"७७३॥ इत्यादौ।

तत्र यद्यप्येकतरेणापि व्युत्क्रमेणापि सिद्धिर्भवत्येव, तथापि प्रथमं नाम्नः श्रवणमन्तः करणशुद्ध्यर्थ-मपेक्ष्यम्, शुद्धे चान्तः करणे रूपश्रवणेन तदुदययोग्यता भवति, सम्यगुदिते च रूपे गुणानां स्फुरणं सम्पद्यते। ततस्तेषु नाम-रूप-गुणेषु तत्परिकरेषु च सम्यक् स्फुरितेष्वेव

विषयक प्रश्न किया है। जो लीलावतार कथा, मरण धर्मात्मक मानव वृन्दको मृत्यु पाश से विशेष रूप से मुक्त कर देती है। मुनि नारद कर्त्तृक गीत जिस लीला कथा के द्वारा उत्तानपाद के पुत्र बालक ध्रुव मृत्यु के मस्तक में पद स्थापन कर श्रीहरि धाम में आरोहण किये थे। इस से बोध होता है कि—देवर्षि नारद श्रीध्रुव को लीलावतार कथा श्रवण कराये थे। ध्रुब, उस प्रापञ्चिक शरीर के द्वारा ही मृत्यु को जय किये, एवं पार्षद देह लाभ किये थे। उसका वर्णन भा० ४।१२।१६ में उक्त है—

"परीत्याभ्यर्च्च्य धिष्ण्याग्र्यं कृतस्वस्त्ययनो द्विजैः।
इयेष तदधिष्ठातुं बिभ्रद्रूपं हिरण्मयम् ॥"७७२॥

ध्रुव, वैकुण्ठ से समागत रथ की पूजा एवं परिक्रमा करके, ब्राह्मण वृन्द कर्त्तृक कृतमाङ्गलिक अनुष्ठान से विभूषित होकर प्रकृति विकार देह में ही सच्चिदानन्दमयत्व को प्राप्त करके उस रथ में आरोहण करने की इच्छा किये थे। इस श्लोक में प्राकृत देह का त्याग न करके ही ध्रुव की पार्षद देह प्राप्ति की कथा वर्णित है। श्रीमैत्रेय कहे थे॥२५५॥

२५६। उक्त रीति से नामादि श्रवण भी वर्णित हुआ। इस नामादि श्रवण प्रसङ्ग में श्रीभगवान् के परिकर का भी श्रवण विहित है। अर्थात् जिस प्रकार श्रीभगवान् के नाम रूप गुणादि का श्रवण करना अवश्य कर्त्तव्य है, उस प्रकार ही उन के नित्य सिद्ध परिकर वृन्द की कथा श्रवण करना भी अवश्य कर्त्तव्य है। भा० ३।१३।४ में उक्त है—

"श्रुतस्य पुंसां सुचिरश्रमस्य, नन्वञ्जसा सुरिभिरीड़ितोऽर्थः।
तत्तद्गुणानुश्रवणं मुकुन्द,--पादारविन्दं हृदयेषु येषाम् ॥"७७३॥

टीका—अतस्तस्य चरितं श्रोतव्यमित्याह। सुचिरं श्रमो यस्मिन् तस्य पुंसां श्रुतस्य अञ्जसा मुख्यत्वेन अयमेवार्थ ईड़ितस्तुतः। ननु मुकुन्द पादारविन्दं येषां हृदयेष्वस्ति तेषां तेषां भागवतानां गुणानुश्रवणमिति यत्॥

विदुर मैत्रेय को कहे थे—हे प्रभो! महानुभव गण मानव मात्र के पक्ष में दीर्घकाल भूरि परिश्रम साध्य आत्म अनात्म प्रभृति श्रवण का सार, उद्देश्य रूप में यही निर्द्देश किये हैं। वे कहते हैं,—जिनके हृदय में अनवरत मुकुन्द पादारविन्द की स्फूर्त्ति होती रहती है, उन सब महाभागवत वृन्द के गुणानुवाद श्रवण ही मुख्य एवं सुख साध्य फल है। उस के मध्य में अर्थात् नामादि श्रवण के मध्य में यद्यपि श्रवण कीर्त्तनादि साधनाङ्ग के मध्य में एक वा ततोऽधिक अङ्ग का ही साधन हो तो, उस से सिद्धि होती है। अर्थात् भक्ति फल प्रेम लाभ अवश्य ही होगा। तथापि अन्तः करण शुद्धि हेतु प्रथमतः नाम श्रवण ही अवश्य

लीलानां स्फुरणं सुष्ठु भवतीत्यभिप्रेत्य साधनक्रमो लिखितः । एवं कीर्त्तन-स्मरणयोर्ज्ञेयम् । इदञ्च श्रवणं श्रीमन्महन्मुखरितं चेन्महामाहात्म्यम्, जातरुचीनां परमसुखदञ्च । तच्च द्विविधम्,— महदाविर्भावितं महत्कीर्त्त्यमानञ्चेति । तत्र श्रीभागवतमुपलक्ष्य पूर्व्वं यथा भा० १।३।४०) —

(२५६) "इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम् ।
उत्तमश्लोकचरितं चकार भगवानृषिः ॥"७७४॥

अत्र तन्माहात्म्यसूचनार्थमेव तत्कर्त्तृकत्ववचनम् ॥ श्रीसूतः ॥

२५७ । यथा वा (भा० १।१।३) "निगमकल्पतरोर्गलितं फलं, शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्"

अपेक्षणीय है । कारण, श्रीनाम श्रवण से जिस प्रकार अन्तः करण शुद्ध होता है, उस प्रकार अपर भक्तयङ्ग अनुष्ठान से नहीं होता है । विशेषतः चित्त शुद्धि न होने से रूप श्रवण द्वारा रूप की उदय योग्यता हो ही नहीं सकती है ।

जिस प्रकार दर्पण निर्म्मल होने से रूप प्रति फलन की योग्यता होती है, उस प्रकार चित्त निर्म्मल होने से अर्थात् भगवद् भिन्न विषयान्तर में आवेश शून्य होने पर भगवद् रूपोदय की योग्यता होती है । अतएव कहा गया है—"शुद्धे चान्तः करणे रूप श्रवणेन तदुदय योग्यता भवति" सम्यक् रूप से भगवद् रूपोदय हृदय में होने से श्रीभगवान् के भक्त वात्सल्यादि गुण की स्फूर्त्ति योग्यता सम्पन्न होती है, तत् पश्चात् नाम रूप, गुण, एवं परिकर वृन्द की सम्यक् स्फूर्त्ति होने से ही हृदय में लीला स्फुरण की सम्यक् योग्यता होती है । इस अभिप्राय से ही साधन क्रम लिखित हुआ है ।

इस रीति से ही कीर्त्तन एवं स्मरण के सम्बन्धमें क्रम को जानना चाहिये । यह श्रवण भी महापुरुष के मुख से विगलित होने से महामाहात्म्य प्रकाशित होता है । एवं जात रुचि भक्त वृन्द के पक्ष में परम सुख प्रद होता है । उक्त महन्मुखरित श्रवण भी द्विविध हैं, महत् कर्त्तृक आविर्भावित एवं महत् कर्त्तृक कीर्त्यमान हैं । उस के मध्य में श्रीमद् भागवत को लक्ष्य करके महदाविर्भावितत्व का वर्णन भा० १।३।४० में उक्त हैं—

(२५६) "इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम् ।
उत्तमश्लोकचरितं चकार भगवानृषिः ॥"७७४॥

टीका—सूत, किमेतत् शास्त्रम् अपूर्वं कथयसि ? तत्राह, इदमिति । ब्रह्म सम्मितं सर्व्ववेदतुल्यम् । उत्तमः श्लोकस्य चरितं यस्मिन् तत् ऋषि र्व्यासः ।

श्रीसूत, शौनकादि ऋषि गण को कहे थे—हे शौनक ! यह श्रीमद् भागवत पुराण, सर्व्ववेद तुल्य है, इस में प्रतिपद में श्रीहरिचरित वर्णित है ।

कवि कुलाग्रणी श्रीकृष्ण द्वैपायन कलिहत जीवों के कलाण्यार्थ यह श्रीमद् भागवत पुराण प्रकाश किये हैं । इस श्लोक में श्रीमद् भागवत माहात्म्य सूचित करने के निमित्त ही श्रीकृष्ण द्वैपायन का कर्त्तृत्व वर्णित हुआ है ।　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　प्रवक्ता श्रीसूत हैं— २५६॥

२५७ । अथवा भा० १।१।३ मे उक्त है—

"निगम कल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम् ।
पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहोरसिकाभुविभावुकाः ॥

इत्यादौ, अत्र श्रीशुकमुखादमृतद्रवसंयुतत्वेन परमसुखदत्वमुक्तम्। एतदुपलक्षणत्वेन श्रीलीला-शुकाद्याविर्भावित-कर्णामृतादिग्रन्था अपि क्रोड़ीकर्त्तव्याः। अथ महत्कीर्त्यमानं यथा (भा० ४।२०।२५)

(२५७) "स उत्तमश्लोक-महन्मुखच्युतो, भवत्पदाम्भोज-सुधाकणानिलः।
स्मृतिं पुनर्विस्मृततत्त्ववर्त्मनां, कुयोगिनां नो वितरत्यलं वरैः॥"७७५॥

टीका—इदानीन्तु न केवलं सर्वशास्त्रेभ्यः श्रेष्ठत्वादस्य श्रवणं विधीयते, अपितु सर्वशास्त्र फलरूपमिदम् भागवतं नाम, । तत् तु वैकुण्ठ गतं नारदेन आनीतं मह्यं दत्तं, मया च शुकस्य मुखे निहितं तच्च तन्मुखाद् भुवि गलितं शिष्य प्रशिष्यादि रूप पल्लवपरम्परया शनैरखण्डमेवावतीर्णं न तूच्च निपातेन स्फुरित मित्यर्थः। एतच्च भविष्यदपि भूतवन्निर्दिष्टम्। अनागताख्यानेनैव अस्य प्रवृत्तेः। अतएवामृत रूपेण द्रवेण संयुतम्। लोके हि शुक मुख भ्रष्टं फलममृतमिव स्वादु भवतीति प्रसिद्धम्। अत्र शुको शास्त्रस्य मुनिः। अमृतं परमानन्दः स एव द्रवो रसः। रसो वै स रसं ह्येवायं लब्धानन्दी भवतीति प्रसिद्धम्। अत्र शुकः शास्त्रस्य मुनिः। अतः, हे रसिका, रसज्ञाः, तत्रापि भावुकाः, हे रसविशेष भावना चतुराः। अहो भुवि गलितमित्यलभ्यलाभोक्तिः इदं भागवतं नाम फलं मुहुः पिबत। ननु त्वगष्ठ्यादिकं विहाय फलाद् रसः पीयते, कथं फलं पातव्यम्? तत्राह—रसं रसरूपम्। अतस्त्वगष्ठ्यादेर्हेयांशस्याभावात् फलमेव कृत्स्नं पिबत। अत्र च रसतादात्म्य विवक्षया रसवत्त्वस्याविवक्षितत्वात् अगुणवचनेऽपि रस शब्दे मतुपः प्राप्त्यभावात् तेन विनैव रसं फलमिति सामानाधिकरण्यम्। अत्र फलमित्युक्तेः पानासम्भवो हेयांश प्रसक्तिश्च भवेदिति तन्निवृत्त्यर्थं रसमित्युक्तम्। रसमित्युक्तेऽपि गलितस्य रसस्य पातुमशक्य त्वात् फलमिति द्रष्टव्यम्। न च भागवतामृतपानं मोक्षेऽपि त्याज्यमित्याह, आलयं लयो मोक्षः। अभिविधावाकारः, लयमभिव्याप्य, नहीदं स्वर्गादिसुखवन्मुक्तैरपेक्ष्यते किन्तु सेव्यत एव। वक्ष्यति हि—आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे। कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणोहरिः, इत्यादि।

श्रीमद् भागवत वेद रूप कल्पतरु का फल स्वरूप है, श्रीशुक मुनि के मुख से शिष्यानुशिष्यरूप परम्परा क्रम से धीरे धीरे अखण्ड रूपसे मर्त्यलोक में अवतीर्ण है, अतएव, अमृत रूप द्रवसंयुत है। श्रीमद् भागवत—"रसो वै सः" श्रुति प्रसिद्ध पारमार्थिक रस स्वरूप है। अथच साधारण फल में जिस प्रकार त्याज्य अष्ठि वल्कल रहते हैं, श्रीमद् भागवत फल में उस प्रकार त्यज्यांश कुछ भी नहीं है। हे भावुक! हे रसिक गण! मर्त्य लोक में अवस्थित होकर मोक्ष कालावधि रस रूप फल को वारम्बार पान करो। इस श्लोक में श्रीशुक मुख से विगलित होने के कारण रसिक भक्त वृन्द के पक्ष में श्रीमद् भागवत—श्रवण कीर्त्तनादि में परम सुख प्रदत्व कथित हुआ है। श्रीमद् भागवत के उपलक्षण में श्रीलीला शुक प्रभृति के द्वारा आविर्भावित श्रीकृष्ण कर्णामृत प्रभृति ग्रन्थ भी महाशक्ति पूर्ण हैं, इस प्रकार जानना होगा। ज्ञातव्य यह है कि—जिनके हृदय में अनवरत श्रीहरिस्फूर्त्ति विद्यमान है, वही महत् हैं, एवं उनके द्वारा आविर्भावित एवं कीर्त्यमान ग्रन्थ का आस्वादन से प्रचुर माधुर्य्य एवं शक्ति की उपलब्धि की जा सकती है। अनन्तर श्रीमद् भागवत जो महत् कीर्त्यमान है, उसका वर्णन भा० ४।२०।२५ के द्वारा करते हैं।

(२५७) "स उत्तमश्लोक--महन्मुखच्युतो, भवत्पदाम्भोज-सुधाकणानिलः।
स्मृतिं पुनर्विस्मृततत्त्ववर्त्मनां, कुयोगिनां नो वितरत्यलं वरैः॥"७७५॥

टीका—ननु तर्हि कैवल्याभावे रागद्वेषाद्याकुलानां भक्ति सुखमपि न स्यादित्याशङ्क्याह--स इति। भवत् पदाम्भोज सुधायाः कणालेशः, तत् सम्बन्धी योऽनिलः स एव, पूरादपि यत् किञ्चिद् यशः श्रवणमात्र

(भा० ४।२०।२४) "न कामये नाथ तदपि" इत्यादि-पूर्व्वोक्तानुसारात् स्वसुखातिशयेन कैवल्य-सुखतिरस्कारी महतां मुखाद्विगलितो भवत्पदाम्भोज-माधुर्य्यलेशस्यापि सम्बन्धी शब्दात्मको-ऽनिलो विस्मृतपरमतत्त्वात्मक-त्वदीयज्ञानानामस्माकं त्वदीयां स्मृतिमपि यच्छति । तस्मात् तथाविधस्य तस्य परमसाध्य-साधनात्मकत्वा-दलमन्यैर्वरैरित्यर्थः ॥ पृथुः श्रीविष्णुम् ॥

२५८-२५९ । तदेवं महामाहात्म्यं महासुखप्रदत्वञ्चोक्तम् । तदेतदुभयमप्यन्यत्राह द्वाभ्याम् (भा० ४।२९।४१) —

(२५८) "तस्मिन्महन्मुखरिता मधुभिच्चरित्र,-पीयूषशेषसरितः परितः स्रवन्ति ।
ता ये पिबन्त्यवितृषो नृप गाढ़कर्णै--,स्तान्न स्पृशन्त्यशनतृड़्भयशोकमोहाः ॥"७७६॥

मित्यर्थः । विस्मृतं तत्त्ववर्त्मयै कुयोगिभि स्तेषामपि पुन स्मृतिमात्म ज्ञान वितरति । अतो न खलु भक्तानां रागादि सम्भवः । अतो नोऽस्माकं सारग्राहिणाम् अन्यैर्वरैरलम् । भक्तावेव मोक्षादि सर्वसुखान्तर्भावादिति भावः ।

जिस समय श्रीविष्णु पृथु महाराज को वर प्रदानेच्छु हुये थे, उस समय आदिराज पृथुने श्रीविष्णु को कहा,—हे प्रभो ! जिस में आप के चरण कमल के माधुर्य्यास्वादनलेश भी नहीं है, इस प्रकार वर प्राप्त करने का अभिलाषी मैं नहीं हूँ । मैंने आप को जो कैवल्यपति शब्द से सम्बोधन किया है, उस से आप इस प्रकार धारणा न करें कि मैं आप से कैवल्य की आकाङ्क्षा कर रहा हूँ । यह भी मेरे निकट में अति तुच्छ ही प्रतिभात होता है । कारण, इस में आप के श्रीचरण युगल के माधुर्य्यास्वादन की सम्भावना नहीं है । इस माधुर्य्यास्वादन का आतिशय्य इतना अधिक है कि यह कैवल्य सुख को भी तिरस्कार करता है । परम तत्त्वरूप आप के विमल ज्ञान विस्मृत होकर हम सब थे, किन्तु महत् मुख से विगलित आप के चरण पद्म के लेशमात्र माधुर्य्य का ही शब्दात्मक समीरण से ही आप के चरणों की स्मृति हमारे हृदय में जाग्रत् हो गई है । अतएव महत् के मुख से निगलित भगवत् लीला कथा परमसाध्य एवं परम साधनस्वरूप है । सुतरां हे प्रभो ! इस को छोड़ कर अन्यवरों से कोई प्रयोजन नहीं है । भा० ४।२०।२४ के श्लोक उक्ताभिप्राय सुव्यक्त हुआ है ।

"न कामये नाथ तदप्यहं क्वचिन्नयत्रयुष्मच्चरणाम्बुजासवः ।
महत्तमान्तर्हृदयान्मुखच्युतोविधत्स्व कर्णायुतमेष मे वरः ॥

टीका – कैवल्यपते, इति सम्बोधनात् कैवल्यंवरिष्यतीति माशङ्कीरित्याह नेति । महत्तमानामन्त--र्हृदयान्मुख द्वारा निर्गतो भवत् पदाम्भोज मकरन्दो यशः श्रवणादि सुखं यत्र नास्ति तादृशं चेत् कैवल्यं, तर्हि तत् क्वचित् कदाचिदपि न कामये । तर्हि किं कामयसे ? तदाह--यशः श्रवणाय कर्णानामयुतं विधत्स्व । ननु को ऽप्येवं न कृतवान्, किमन्यच्चिन्तयेत्याह ममतु एष एव वर इति ।

पृथु श्रीविष्णु को कहे थे ॥२५७॥

२५८--२५९ । अतएव पूर्व वर्णित, महत् आविर्भावित एवं महत् कर्त्तृक कीर्त्यमान भगवत् प्रसङ्ग का महामाहात्म्य एवं महासुखप्रदत्व प्रदर्शित हुआ । श्रीमद् भागवत में महदाविर्भावितत्व एवं महत् कीर्त्यमानत्व एतदुभय ही विद्यमान हैं । भा० ४।२९।४०--४१ श्लोकों के द्वारा उसका प्रदर्शन करते —हैं

(२५८) "तस्मिन्महन्मुखरिता मधुभिच्चरित्र,-पीयूषशेषसरितः परितः स्रवन्ति ।
ता ये पिबन्त्यवितृषो नृप गाढ़कर्णै--,स्तान्न स्पृशन्त्यशनतृड़्भयशोकमोहाः ॥"७७६॥

तस्मिन् साधुसङ्गे, महद्‌भिर्मुखरिताः कीर्त्तिताः, शेषः सारः, अवितृषोऽलंबुद्धिशून्याः, गाढ़त्वं सावधानत्वम्, अशनं क्षुत्, (भा० ४।२९।४२) —

(२५९) "एतैरुपद्रुतो नित्यं जीवलोकः स्वभावजैः ।
न करोति हरेर्नूनं कथामृतनिधौ रतिम् ।।"७७७।।

यैरेतैरशनादिभिरुपद्रुतः सन् कथामृतनिधौ रतिं न करोति, तानेतान्महत् कीर्त्यमानानि भगवद्यशांसि स्व-माहात्म्येन दूरीकृत्य स्वसुखमनुभावयन्तीति पद्यद्वययोजनार्थः ।। श्रीनारदः प्राचीनवर्हिषम् ।।

२६० । तत्रापि श्रवणे श्रीभागवत-श्रवणन्तु परमश्रेष्ठम्, तस्य तादृशप्रभावमय-शब्दात्मकत्वात् परमरसमयत्वाच्च, तत्र पूर्व्वस्माद्यथा (भा० १।१।२) —

टीका — ननु साधु सङ्गं विना स्वयमेव हरिकथा चिन्तनादिना भक्तिर्भवेदेदेत्याशङ्क्याह—द्वाभ्याम् । तस्मिन् स्थाने महद्भिर्मुखरिताः कीर्त्तिताः । मधुभिदश्चरित्रमेव पीयूषं, तदेव शिष्यत इति शेषो यासु, असारांशरहिताः शुद्धामृतवाहिन्य इत्यर्थः । अवितृषः, अहंबुद्धि शून्याः सन्तः, गाढ़ैः सावधानैः कर्णैर्यताः सरितः पिबन्ति सेवन्ते, अशन शब्देन क्षुल्लक्ष्यते, अशनादयस्तान् न स्पृशन्ति भक्ति रहितान् न बाधन्त इत्यर्थ ।।

श्रीनारद, प्राचीन वर्हिः को कहे थे—हे राजन् ! कतिपय व्यक्ति मानते हैं कि—साधुसङ्ग व्यतीत स्वयं ही श्रीहरि कथा चिन्तनादि द्वारा श्रीभगवान् में प्रेम भक्ति का उदय होता है, यह अत्यन्त असम्भव है । श्रीहरि लीला कथा सुधाभिन्न अन्य प्रसङ्ग जिस में नहीं है, इस प्रकार श्रीहरि कथा सुधा जिस साधु समाज में प्रवाहित होती है, वहाँ उपवेशन करके जो अवहित कर्ण के द्वारा अलं प्रवृत्ति शून्य होकर श्रीहरि नाम सुधा पान करते हैं, उन सब को क्षुधा पिपासा भय शोक मोह स्पर्श करने में समर्थ नहीं हैं । तस्मिन् शब्द से साधु सङ्ग में, महद्भिर्मुखरिताः—शब्द से कीर्त्तिताः, शेषः शब्द से सारः, अवितृषः शब्द से अलंबुद्धि शून्य, गाढ़ शब्द से सावधान होकर, अशन शब्द से क्षुधा को जानना होगा ।

भा० ४।२९।४१ में भी उक्त है—

(२५९) "एतैरुपद्रुतो नित्यं जीवलोकः स्वभावजैः ।
न करोति हरेर्नूनं कथामृतनिधौ रतिम् ।।"७७७।।

टीका—सत्सङ्ग मन्तरेण स्वयमेव कथा चिन्तनादावालस्यादिना रसावेशाभावाच्च क्षुत् पिपासाद्यभिभूतस्य भक्ति र्न सम्भवतीत्य ह एतैरिति ।

देहाभिमानी के पक्ष में स्वभावजात जो क्षुधा, तृष्णा, भय, शोक, मोह प्रभृति हैं, उस के द्वारा उत्पीड़ित होकर जो श्रीभगवान् की कथा सुधा में प्रीति नहीं करता है, वह यदि महत् द्वारा कीर्त्यमान श्रीभगवद् यशोगाथा का श्रवण करता है तो उस से क्षुधा तृष्णा प्रभृति का आवेश प्रथमतः विदूरित होता है, अनन्तर श्रवण कारी के हृदय में भगवन्माधुर्य्यास्वादन होता है । भगवत् कथा श्रवण का यही माहात्म्य है, उक्त श्लोक द्वय का यही तात्पर्य्य है ।

श्रीनारद प्राचीन बर्हिः को कहे थे ।।२५८–२५९।।

२६० । श्रीभगवत् कथा श्रवण के मध्य में भी श्रीभागवत श्रवण ही परम श्रेष्ठ है । कारण, श्रीमद्

(२६०) "श्रीमद्भागवते महामुनि-कृते किंवा परैरीश्वरः ।
सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात् ॥"७७८॥

महामुनिः सर्व्वमहन्महनीयचरणपङ्कजः श्रीभगवान् । अत्र किंवा परैरित्यादिना शब्द-स्वाभाविक-माहात्म्यं दर्शितम् ॥ श्रीव्यासः ॥

२६१ । उत्तरस्माद् यथा (भा० १२।१३।१५)—

(२६१) "सर्व्ववेदान्तसारं हि श्रीभागवतमिष्यते ।
तद्रसामृततृप्तस्य नान्यत्र स्याद्रतिः क्वचित् ॥"७७९॥

तद्रस एवामृतं तेन तृप्तस्य ॥ श्रीसूतः ॥

२६२ । अत्रैवं विवेचनीयम्,—श्रीभगवन्नामादेः श्रवणं तावत् परमश्रेयः, तत्रापि महदाविर्भावित-प्रबन्धादेः, तत्र महत्कीर्त्यमानस्य, ततोऽपि श्रीभागवतस्य तत्रापि च महद्-

---

भागवत के शब्द समूह महाप्रभावमय एवं परम रसमय हैं। तन्मध्ये श्रीमद् भागवत के शब्द समूह जो परम प्रभावमय हैं उसका उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—भा० १।१।२ में उक्त है—

(२६०) "श्रीमद्भागवते महामुनि-कृते किंवा परैरीश्वरः ।
सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात् ॥"७७८।

टीका—कर्त्तृतोऽपि श्रैष्ठ्यमाह—महामुनिः श्रीनारायणः, तेन प्रथमं संक्षेपतः कृते । देवताकाण्ड विषयगत श्रैष्ठ्यमाह किं वेति । परैः शास्त्रैः, तदुक्तसाधनैर्वा ईश्वरो हृदि किं वा सद्य एवावरुध्यते । ननु इदमेव तर्हि किमिति सर्वे न शृण्वन्ति ? तत्र ह कृतिभिरिति । श्रवणेच्छा तु पुण्यैर्विना नोत्पद्यत इत्यर्थः । तस्मादत्र काण्डत्रयार्थस्यापि यथावत् प्रतिपादनादिदमेव सर्वशास्त्रेभ्यः श्रेष्ठम् । अतो नित्यमेतदेव श्रोतव्यमिति भावः ।

जिन के श्रीचरण पङ्कज युगल की आराधना महापुरुष वृन्द करते रहते हैं, उन महामुनि भगवान् श्रीनारायण के द्वारा यह श्रीमद् भागवत आविर्भावित है। इस में इस प्रकार प्रभावमय शब्द एवं परम आस्वादन है, जिस से श्रवण समकाल में ही सद्यः हृदय में परमेश्वर अवरुद्ध होते हैं। अपर शास्त्र श्रवण वा साधन के द्वारा क्या सद्यः, हृदय में परमेश्वर अवरुद्ध होते हैं ? इस प्रकार भक्ति द्वारा श्रीमद् भागवतीय शब्द का स्वाभाविक माहात्म्य प्रदर्शित हुआ। प्रवक्ता श्रीव्यास हैं ॥२६०।

२६१ । श्रीमद् भागवत के ११।१३।१४ में उक्त है—

(२६१) "सर्व्ववेदान्तसारं हि श्रीभागवतमिष्यते ।
तद्रसामृततृप्तस्य नान्यत्र स्याद्रतिः क्वचित् ॥"७७९।

टीका—तद्रस एवामृतं तेन तृप्तस्य निर्वृतस्य ।

श्रीसूत, शौनकादि ऋषिवृन्द को कहे थे--'सर्व वेदान्तसारं हि श्रीभागवतमिष्यते' यह श्रीमद् भागवत, सर्व वेदान्त सार है। श्रीमद् भागवत सुधा से जो परितृप्त हैं, उन की प्रीति अन्यशास्त्र वा साधन में नहीं होती है। इस प्रकार उक्ति के द्वारा श्रीमद् भागवतास्वादन की गाढ़ता प्रदर्शित हुई है।

प्रवक्ता श्रीसूत हैं। २६१।

२६२ । यहाँपर इस प्रकार विवेचना करनी चाहिये । प्रथमतः श्रीभगवत् नाम, रूप, गुण, लीला

कीर्त्यमानस्येति । अत्र (भा० ११।३।४०) "मूर्त्त्याभिमतयात्मनः" इतिवत् निजाभीष्ट-नामादि-श्रवणन्तु मुहुरावर्त्तयितव्यम्, तत्रापि सवासन-महानुभावमुखात् । सर्व्वस्य श्रीकृष्णनामादि श्रवणन्तु परमभाग्यादेव सम्पद्यते, तस्य पूर्णभगवत्त्वादिति एवं कीर्त्तनादिष्वप्यनुसन्धेयम् । तत्र यत् स्वयं सम्प्रति कीर्त्यते तदपि श्रीशुकदेवादि-महत्कीर्त्तितचरत्वेनानु-सन्धाय कीर्त्तनीयमिति ।

तदेवं श्रवणं दर्शितम्, अस्य च कीर्त्तनादितः पूर्व्वत्वम्, तद्विना तत्तदज्ञानात् । विशेषतश्च यदि साक्षादेव महत्कृतस्य कोर्त्तनस्य श्रवणभाग्यं न सम्पद्यते तदैव स्वयं पृथक् कीर्त्तनीयमिति,

---

एवं परिकर का श्रवण ही परम श्रेयस्कर है । उस के मध्य में महत् कर्त्तृक आविर्भावित प्रबन्ध प्रभृति का श्रवण, अत्यधिक मङ्गल जनक है । यदि महदाविर्भावित प्रबन्धादि महत् कर्त्तृक कीर्त्यमान होते हैं तो उस का माहात्म्य अधिक है, उस में भी श्रीमद् भागवत का माहात्म्य अधिक है । श्रीमद् भागवत, महत कर्त्तृक कीर्त्तित होने पर और भी अधिक मङ्गल प्रद हैं । यहाँ श्रीभगवन्नाम रूप प्रभृति का श्रवण सम्पर्क में विशेष जानना आवश्यक है । भा० ११।३।४० में उक्त है--

"लब्धानुग्रह आचार्य्यात् तेन सन्दर्शितागमः ।
महापुरुषमभ्यर्च्चेत् मूर्त्त्याभिमतयात्मनः ॥

टीका--तदेव विधिमाह लब्धानुग्रह इत्यादिना । तेन आचार्य्येन सन्दर्शितः आगमो अर्च्चन प्रकारो यस्य सः ॥

श्रीगुरुदेव के समीप से दीक्षा रूप कृपा प्राप्त करने के पश्चात्--श्रीगुरुदेव, महापुरुष श्रीभगवान् की अर्च्चना करने की पद्धति का जिस प्रकार उपदेश देते हैं, उस रीति से अर्च्चन करना चाहिये । जिस मूर्त्ति की अर्च्चना की जायेगी, वह निजाभिमत मूर्त्ति होनी चाहिये । कारण, उस से मन प्राण का आकर्षण समधिक होता है । श्री भगवन्नामादि के सम्बन्ध में भी इस प्रकार ही जानना होगा । अर्थात् निज अभीष्ट देव के नाम रूप प्रभृति की वारम्बार आवृत्ति करना कर्त्तव्य है । उस नामादि का श्रवण यदि स्वजातीय वासना विशिष्ट महानुभव के मुख्य से होता है तो अधिक आस्वादन प्रद होता है । किन्तु समस्त प्रकार साधक के पक्ष में श्रीकृष्णनाम रूप गुणादि श्रवण ही श्रेष्ठतम है । अथच यह श्रीकृष्ण नामादि श्रवण भी परम सौभाग्य सापेक्ष्य है । इस अभिप्राय से ही भा० १।१ २ श्लोक में अर्थात् धर्मः प्रोज्झित कैतवः" श्लोक में श्रवण कारी का विशेषण 'कृतिभिः' दिया गया है । अर्थात् जिस का साधुसङ्ग रूप सौभाग्य है, उस की ही रुचि श्रीकृष्ण नामादि श्रवण कीर्त्तनादि में होती है । कारण, श्रीकृष्ण--पूर्ण भगवान् हैं । पूर्ण भगवान् में समस्त भगवान् की सत्ता विद्यमान है । श्रीकृष्ण नाम रूपादि श्रवण करने से समस्त भगवान् के ही नाम रूपादि का श्रवण सम्पन्न होता है । इस प्रकार कीर्त्तनाङ्ग भक्ति के सम्बन्ध में भी जानना होगा । तन्मध्ये सम्प्रति स्वयं के द्वारा जो कीर्त्तन होता है, उस का कीर्त्तन, श्रीशुक देव प्रभृति महानुभवगण ने पहले किया है । इस प्रकार अनुसन्धान करके ही कीर्त्तन करना कर्त्तव्य है । इस रीति से श्रवणाङ्ग का वर्णन हुआ । यह श्रवणाङ्ग भक्ति कीर्त्तनादि भक्त्यङ्ग के पूर्व में उल्लेख करने का तात्पर्य्य यह है कि--श्रीगुरुमुख से जिस का श्रवण नहीं हुआ है, उस विषय में सम्यक् बोध हो ही नहीं सकता । अथच रस का अविरोधी सिद्धान्त का ज्ञान सम्यक् रूप से न होने से एवं स्वतन्त्र रूप से कीर्त्तनादि का अनुष्ठान होने पर रसाभास विरुद्धार्थ प्रभृति दोष होने की सम्भावना होती है । विशेषतः यदि साक्षात् सम्बन्ध में किसी महत् कर्त्तृक कीर्त्तित

तत्प्राधान्यात् । अतएवोक्तम् (भा० १।५।११) "तद्वाग्विसर्गो जनताघविप्लवः" इत्यादौ, टीकाकृद्भिः "यत् यानि नामानि वक्तरि सति शृण्वन्ति, श्रोतरि सति गृणन्ति, अन्यदा तु स्वयमेव गायन्ति" इति। अथातः कीर्त्तनम्, तत्र पूर्व्ववन्नामादिक्रमो ज्ञेयः। नाम्नो यथा (भा० ६।२।१०)—

(२६२) "सर्व्वेषामप्यघवतामिदमेव सुनिष्कृतम् ।
नामव्याहरणं विष्णोर्यतस्तद्विषया मतिः"॥७८०॥

टीका च—"सुनिष्कृतं श्रेष्ठं प्रायश्चित्तमिदमेव। तत्र हेतुः—यतो नामव्याहरणात् तद्विषया नामोच्चारकपुरुषविषया मदीयोऽयं मया सर्वतो रक्षणीय इति विष्णोर्मतिर्भवति" इत्येषा। अतः स्वाभाविक-तदीयावेशहेतुत्वेन तदीयस्वरूपभूतत्वात् परमभागवतानां तदेक-

---

श्रीकृष्ण नाम किंवा श्रीमद् भागवतादि शास्त्र श्रवण करने का सौभाग्य उपस्थित नहीं होता है। तो स्वयं ही पृथक् कीर्त्तन करना चाहिये। कारण, महत् कीर्त्तित श्रीमद् भागवत एवं श्रीकृष्ण नामादि श्रवण का ही प्राधान्य है। भा० १।५।११ में तज्जन्य ही कथित है—

"तद्वाग्विसर्गो जनताघविप्लवः,
यस्मिन् प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि।
नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानि यत्
शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः॥"

टीका—विनापि पद चातुर्य्यं भगवद् यशः प्रधानं वाचः पवित्रमित्याह तद्वाग् विसर्ग इति। सचासौ वाग् विसर्गश्च वाचः प्रयोगः। जनानां समूहो जनता तस्या अघं विप्लावयति नाशयतीति तथा। यस्मिन् वाग् विसर्गेऽबद्धवत्यपि अपशब्दादि युक्तेऽपि प्रतिश्लोकम् अनन्तस्य यशसा अङ्कितानि नामानि भवन्ति। तत्र हेतुः, यत् यानि नामानि साधवो महान्तः वक्तरि सति शृण्वन्ति, श्रोतरि सति गृणन्ति। अन्यदातु स्वयमेव गायन्ति, कीर्त्तयन्तीति।

सद्वक्ता उपस्थित होने पर स्वयं श्रोता होकर श्रवण करे। एवं सद्वक्ता उपस्थित न होने पर एवं श्रोता उपस्थित होने से स्वयं वक्ता होकर श्रीभगवन्नामानि कीर्त्तन करे। और यदि श्रोता एवं वक्ता का अभाव हो तो स्वयं ही श्रीहरिनाम गान करे। अनन्तर कीर्त्तनाङ्ग का वर्णन करते हैं। उस के मध्य में श्रवणाङ्ग भक्ति के समान कीर्त्तनाङ्ग का क्रम भी जानना होगा। भा० ६।२।१० में नाम कीर्त्तनमाहात्म्य वर्णित है—

(२६२) "सर्व्वेषामप्यघवतामिदमेव सुनिष्कृतम्।
नामव्याहरणं विष्णोर्यतस्तद्विषया मतिः॥"७८०॥

श्लोकोक्त स्वामिपाद कृत टीका का तात्पर्य्य यह है—श्रीविष्णु का नाम कीर्त्तन पातक उपपातक अति पातक महापातक प्रभृति सर्वविध पापों का श्रीनाम सङ्कीर्त्तन ही परम पवित्र प्रायश्चित्त है। कारण, श्रीहरिनाम उच्चारण कारी पुरुष के प्रति 'यह व्यक्ति मेरा ही है, सर्व प्रकार से रक्षा करना मेरा ही कर्त्तव्य हैं' इस प्रकार मति श्रीविष्णु की होती है। अभिप्राय यह है कि—शास्त्रान्तर में उल्लिखित प्रायश्चित्त के द्वारा पाप परिहार होता है, किन्तु हृदय शोधन वा श्रीविष्णु स्मृति हृदय में उद्‌बुद्ध नहीं

देशश्रवणमपि प्रीतिकरम् यथा पाद्मोत्तरखण्डे श्रीरामाष्टोत्तरशतनामस्तोत्रे श्रीशिववाक्यम्-

"रकारादीनि नामानि शृण्वतो देवि जायते। प्रीतिर्मे मनसो नित्यं रामनाम-विशङ्कया॥"७८१॥ इति।

तदेवं सति पापक्षयमात्रं लक्षणं कियदिति भावः॥ श्रीविष्णुदूता यमदूतान्॥

२६३। फलन्तिवदमेव यदाह (भा० ११।२।४०) –

(२६३) "एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।

हसत्यथो रोदिति रौति गाय,-त्युन्मादवन्नृत्यति लोकवाह्यः॥"७८२॥

एवं (भा० ११।२।३९) "शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणेः" इत्याद्युक्तप्रकारं व्रतं वृत्तं यस्य तथाभूतोऽपि स्वप्रियाणि स्वाभीष्टानि यानि नामानि तेषां कीर्त्तनेन जातानुरागस्तत एव

होती है। अन्य प्रायश्चित्तानुष्ठान करने से 'मैं निष्पाप हूँ। इस प्रकार अभिमान हृदय में होता है। श्रीहरिनाम कीर्त्तन प्रायश्चित्त का महत्त्व यह है कि– जो श्रीहरि नाम कीर्त्तन करता है, उस के हृदय में श्रीविष्णु का अनुसन्धान न होने पर भी अर्थात् मैं श्रीविष्णु का नाम ग्रहण कर रहा हूँ,

इस प्रकार मानसिक अनुसन्धान न होने पर भी नामोच्चारण कारी व्यक्ति की कथा का स्मरण श्रीविष्णु ही करते हैं। यह जब मेरा नाम कर रहा है तब यह मेरा ही दास है, दास की रक्षा करना मेरा ही कर्त्तव्य है। यहाँ ज्ञातव्य यह है कि—भगवद् विस्मृति ही निखिल दोष का आकार है, श्रीभगवत् स्मृति का उदय हृदय में होने के कारण यही श्रेष्ठ प्रायश्चित्त है। यह श्रीनाम सङ्कीर्त्तन ही श्रीभगवान् की स्वरूप भूत वस्तु है। कारण, श्रीनाम सङ्कीर्त्तन से भगवान् में स्वाभाविक आवेशोदय होता है। नाम के एक देश श्रवण से भी परम भागवत वृन्द में प्रीत्युदय होता है। पाद्मोत्तर खण्ड के श्रीरामाष्टोत्तरशत नामस्तोत्र में श्रीशिव वाक्य यह है—

"रकारादीनि नामाणि श्रृण्वतो देवि जायते।
प्रीतिर्मे मनसो नित्यं रामनाम विशङ्कया॥"७८१॥

हे देवि! रकारादि नाम श्रवण करने से राम, नाम सम्भ्रम से मेरा नित्य ही मानसिक आनन्दोदय होता है। अतएव शास्त्र में श्रीनाम का इस प्रकार माहात्म्य वर्णित है। केवल मात्र पाप नाश कारित्व रूप कार्य्य श्रीनाम के पक्ष में अतितुच्छ है।

श्रीविष्णु दूतगण यमदूत वृन्द को कहे थे॥२६२॥

२६३। भगवन्नाम सङ्कीर्त्तन का मुख्य फल है—अभीष्ट श्रीभगवान् के चरणों में परम प्रेम लाभ। (भा० ११।२।४०) में उक्त है—

(२६३) "एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या, जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय,--त्युन्मादवन्नृत्यति लोकवाह्यः॥"७८२॥

श्रीकवि योगीन्द्र निमिमहाराज को कहे थे—हे राजन्! जो रथाङ्ग पाणि श्रीभगवान् के सुमङ्गल जन्म कर्म्म एवं नाम का श्रवण कीर्त्तन,--लोक लज्जारहित होकर करता है, वह लोकापेक्षा शून्य होकर विचरण करता है। यद्यपि भा० ११।२।२९ में उक्त "श्रृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणेः" यह पूर्वोक्त प्रकार से नियम धारण ही मानव जीवन का अवश्य कर्त्तव्य रूप में निर्दिष्ट हुआ है। तथापि "स्वप्रियनाम कीर्त्या अर्थात् निजाभीष्ट परम प्रिय जो नाम समूह हैं, अथवा उन नाम समूह के मध्य में जो सब नाम निज दास्यादि भाव पोषक है, उन सब नाम कीर्त्तन के द्वारा ही निज अभीष्ट देव के चरणों में अनुराग अर्थात्

चित्तद्रवाद् द्रुतचित्तः, तत्रोचित-भाववैचित्रीभिर्हसतीत्यादि। अत्र तृतीयाश्रुत्या नामकीर्त्तनस्यैव साधकतमत्वं लब्धम् । तदेवम् 'एवव्रतः' इत्यत्रापि-शब्दोऽप्यध्याहृतः । अतएव (भा० ११।२।४२) "भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिः" इत्याद्युत्तरपद्ये टीकाचूर्णिका-"नन्वियमारूढ़-योगिनामपि बहुजन्मभिर्दुर्लभा गतिः कथं नामकीर्त्तनमात्रे-णैकस्मिन् जन्मनि भवेदित्याशङ्क्य सदृष्टान्तमाह,–भक्तिरिति" इत्येषा । इत्थमुत्थापितश्च श्रीभगवन्नाम-कौमुद्यां सहस्रनाम-भाष्ये च पुराणान्तर-वचनम्—

"नक्तं दिवा च गतभीर्जितनिद्र एको, निर्विण्ण ईक्षितपथो मितभुक् प्रशान्तः ।
यद्यच्युते भगवति स मनो न सज्जे,--न्नामानि तद्रतिकराणि पठेदलज्जः ।।"७८३।। इति ।

अत्र गतभीरित्यादयो गुणा नामैकतत्परता-सम्पादनार्थाः, न तु कीर्त्तनाङ्गभूताः । भक्ति

भाव प्रेमोदय दाता है, प्रेमोदय होने से उत्कण्ठारूप अग्नि द्वारा जाम्बुनद रूप चित्त विगलित हो जाता है। उस विगलित चित्त का अनुभाव अर्थात् कार्य्य—कभी हास्य, उच्चशब्द, गान, एवं उन्मत्त के समान नृत्य होता है। यह सब प्रेम के अनुभव का कार्य्य होते हैं। इस श्लोक में "लोक वाह्यः" पद प्रयोग के द्वारा सूचित हुआ है कि—वह प्रेमवान् भक्त, लोक से अनुमोदन प्राप्त करने के निमित्त अथवा प्रशंसालाभ हेतु नृत्य, रोदन, गान, हास्य नहीं करता है। कारण, वह लौकिक निन्दा प्रशंसा के वहिर्जगत में अर्थात् निज स्वरूप में आविष्ट है। उक्त श्लोक में "स्वप्रियनामकीर्त्या" पद प्रयोग के द्वारा व्यक्त हुआ है कि—भगवत् प्रेम प्राप्ति हेतु शास्त्र में अनेक प्रकार साधनों का उल्लेख होने पर भी श्रीनाम सङ्कीर्त्तन ही समस्त साधनों के मध्य में मुख्यतम उपाय है । उक्त श्लोक में "एवंव्रतः' पद के पश्चात् 'अपि' शब्द का उल्लेख नहीं है, किन्तु उसका अध्याहार करना आवश्यक है। अर्थात् इस प्रकार नियम होने पर भी श्रीहरिनाम सङ्कीर्त्तन ही भगवत् प्रेम प्राप्ति का मुख्य प्रापक है।

अतएव भा० ११।२।४१ भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिः" इस श्लोक की टीका के आक्षेप वाक्य में लिखित है— "नन्वियमारूढ़योगिनामपि बहु जन्मनि दुर्लभा गतिः कथं नाम सङ्कीर्त्तन मात्रेण एकस्मिन् जन्मनि भवेदित्याशङ्क्यसदृष्टान्तमाह-भक्तिरिति ।

आरूढ़ योगी महापुरुष वृन्द के पक्ष में जो अवस्था दुष्प्राप्य है, वह अवस्था श्रीहरिनाम सङ्कीर्त्तन के द्वारा एक जन्म में ही कैसे सम्भव होगी ? उस के उत्तर में स दृष्टान्त कहते हैं—'भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिः" जिस प्रकार भोजन में प्रवृत्त मानव का प्रतिग्रास से उदर भरण, मनः सन्तोष, क्षुधा निवृत्ति युगपत् होती है, उस प्रकार ही श्रीभगवत् चरणों में शरणागत जनका भजनानुरूप भगवत् अनुभव, भगवत् प्रीति, एवं विषय वैराग्य एक साथ ही उपस्थित होते हैं। इस रीति से ही श्रीभगवन्नाम कौमुदी में सहस्र नाम भाष्योक्त पुराणान्तर का वचन उद्धृत हुआ है।

"नक्तं दिवा च गतभीर्जितनिद्र एको, निर्विण्ण ईक्षितपथो मितभुक् प्रशान्तः ।
यद्यच्युते भगवति स मनो न सज्जे,–न्नामानि तद्रतिकराणि पठेदलज्जः ।।"७८३।।

दिन अथवा रात्रि—उभय काल में ही निर्भय, जितनिद्र, निःसङ्ग निर्विण्ण, आध्यात्मिक दृष्टि युक्त, मितभुक्, एवं प्रशान्त होकर भी अच्युताख्य श्रीभगवान् में मानसिक आसक्ति नहीं होती है तो, उच्चैःस्वर से श्रीहरिनाम ग्रहण करना चाहिये। उक्त श्लोक में "गतभीः" प्रभृति गुण समूह का जो उल्लेख दृष्ट होता है, वह सब श्रीनाम सङ्कीर्त्तन के अङ्ग वा हेतु नहीं हैं, किन्तु श्रीनाम ग्रहण में तत् परता सम्पादक हैं।

मात्रस्य निरपेक्षत्वम्, तस्य तु सुतरां तादृशत्वमिति, यथा विष्णुधर्म्मे सर्व्वपातकातिपातक-महापातककारि-द्वितीय-क्षत्रबन्धूपाख्याने "ब्राह्मण उवाच—

यद्येतदखिलं कर्त्तुं न शक्नोषि ब्रवीमि ते। स्वल्पमन्यन्मयोक्तं भो करिष्यति भवान् यदि ॥७८४॥

क्षत्रबन्धुरुवाच,—

अशक्यमुक्तं भवता चञ्चलत्वाद्धि चेतसः। वाक्शरीरविनिष्पाद्यं यच्छक्यं तदुदीरयः ॥७८५॥

ब्राह्मण उवाच—

उत्तिष्ठता प्रस्वपता प्रस्थितेन गमिष्यता। गोविन्देति सदा वाच्यं क्षुत्तृट्प्रस्खलितादिषु ॥"७८६॥

इति ॥ श्रीकविर्विदेहम् ॥

२६४। अन्यत्र च (भा० ६।२।११)—

(२६४) "न निष्कृतैरुदितैर्ब्रह्मवादिभिः,-स्तथा विशुध्यत्यघवान् व्रतादिभिः।
यथा हरेर्नामपदैरुदाहृतै-,स्तदुत्तमश्लोकगुणोपलम्भकम् ॥"७८७॥

अर्थात् वह सब गुण विद्यमान होने से ही नाम ग्रहण का अधिकारी होगा। ऐसा नहीं है। कारण, भक्ति मात्र ही निरपेक्ष है, अर्थात् अन्य अपेक्षाशून्य है। अतएव सर्व साधन शिरोमणि श्रीनाम सङ्कीर्त्तन जो अन्य अपेक्षा शून्य ही है, इस विषय में कहना ही क्या है? श्रीविष्णु धर्मोत्तर ग्रन्थ में सर्व पातक अतिपातक, महापातक कारी द्वितीय क्षत्रबन्धु के उपाख्यान में उक्त है—

"यद्येतदखिलं कर्त्तुं न शक्नोषि ब्रवीमि ते।
स्वल्पमन्यन्मयोक्तं भो करिष्यति भवान् यदि ॥७८४॥

ब्राह्मण बोले—हे राजन्! मैंने जो कुछ साधन कहा, उस को करने में यदि अक्षम हो तो मैं अन्य अल्प साधन का उल्लेख करता हूँ। यदि आप उस का अनुष्ठान करें। उत्तर में क्षत्र बन्धु ने कहा—

"अशक्यमुक्तं भवता चञ्चलत्वाद्धि चेतसः।
वाक्शरीरविनिष्पाद्यं यच्छक्यं तदुदीरय ॥७८५॥

आप ने जिन साधनों का उल्लेख किया है, चित्त चाञ्चल्य हेतु उन सब का अनुष्ठान करना मेरे पक्ष में अशक्य प्रतीत है यदि वाक्य एवं मनः के द्वारा निष्पाद्य कोई साधन हो तो में उसका अनुष्ठान कर सकता हूँ। उसका वर्णन ही आप करे। ब्राह्मण बोले थे—

"उत्तिष्ठता प्रस्वपता प्रस्थितेन गमिष्यता।
गोविन्देति सदा वाच्यं क्षुत्तृट्प्रस्खलितादिषु ॥"७८६॥

हे राजन्! उठते, सोते, चलते, कहीं जाते, भूक, पियास में, गिरने में, सब समय "गोविन्द" "गोविन्द" इस प्रकार कीर्त्तन करें॥ कथन का तात्पर्य्य यह है कि श्रीहरिनाम कीर्त्तन में देश काल पात्र अथवा अवस्था विशेष की अपेक्षा नहीं है।

श्रीकवि—विदेह को कहे थे ॥२६३॥

२६४। अन्यत्र भी वर्णित है—(भा० ६।२।११)

(२६४) "न निष्कृतैरुदितैर्ब्रह्मवादिभि,--स्तथा विशुध्यत्यघवान् व्रतादिभिः।
यथा हरेर्नामपदैरुदाहृते,--स्तदुत्तमश्लोकगुणोपलम्भकम् ॥"७८७॥

टीका—श्रेष्ठत्वमेवोप पादयन्ति नेति द्वाभ्याम्। ब्रह्मवादिभिर्मन्वादिभिरुक्तै र्व्रतादिभि निष्कृतैस्तथा

न च पापविशोधन-मात्रेणापक्षीयते तन्नामपदोदाहरणम्, किन्तु गुणानामप्युपलम्भकमनुभवहेतु र्भवति ।। श्रीविष्णुदूता यमदूतान् ।।

२६५ । अतएव प्रथमस्कन्धान्तस्थितानां राज्ञः श्रेयोविविदिषावाक्यानामनन्तरं द्वितीय-स्कन्धारम्भे सर्व्वोत्तममुत्तरं वक्तुम् (भा० २।१।८--१०)—

"इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम् ।
अधीतवान् द्वापरादौ पितुर्द्वैपायनादहम् ।।७८८।।
परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्य उत्तमश्लोक-लीलया ।
गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान् ।।७८९।।
तदहं तेऽभिधास्यामि महापौरुषिको भवान्
यस्य श्रद्दधतामाशु स्यान्मुकुन्दे मतिः सती ।।"७९०।।

इति श्रीभागवतस्य परममहिमानमुक्त्वा तदनन्तरं श्रीभागवतमुपक्रममाण एव तस्य

न शुध्यति, उदाहृतैरुच्चारितै र्यथानामपदै रित्यनेन नमामीत्यादि क्रियायोगोऽपि नापेक्षित इति दर्शितम् । किञ्च तन्नामपदोच्चारणम् उत्तमः श्लोकस्य गुणानाञ्चोपलम्भक ज्ञापकं भवति नतु कृच्छ्र चान्द्रायणादिवत् पाप निवृत्ति मात्रोपक्षीणमित्यर्थः ।

ब्रह्म विद् व्यक्ति वृन्द जो सब प्रायश्चित्त का वर्णन किये हैं, वह सब प्रायश्चित्त के द्वारा पापीयान् जन उस प्रकार विशुद्ध नहीं होता है, श्रीहरि के नामपदोल्लेख से जिस प्रकार शुद्ध होता है । श्रीहरि-नामोच्चारण से केवल पाप विनष्ट ही नहीं होता है । किन्तु श्रीभगवद् गुण का अनुभव भी होता है ।
श्रीविष्णु दूतगण - यमदूत वृन्द को कहे थे ।।२६४।।

२६५ । अतएव श्रीभागवत के प्रथम स्कन्ध में परीक्षित् महाराज के जीव के श्रेयः सम्पादक प्रश्न मूलक जो सब वाक्य हैं, उस के पश्चात् द्वितीय स्कन्ध के प्रारम्भ में उक्त प्रश्न के उत्तर प्रदान के समय श्रीशुक, श्रीमद् भागवत की परम महिमा का उल्लेख करके श्रीमद् भागवत प्रसङ्ग के प्रारम्भ में ही श्रीभगवान् के नाम कीर्त्तन का उपदेश प्रदान किये हैं । कारण, श्रीहरिनाम कीर्त्तन ही श्रीभगवान् के प्रति उन्मुखता सम्पादक है । भा० २।१।८--१० में उक्त है—

"इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम् ।
अधीतवान् द्वापरादौ पितुर्द्वैपायनादहम् ।।७८८।।
परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्य उत्तमश्लोक--लीलया ।
गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान् ।।७८९।।
तदहं तेऽभिधास्यामि महापौरुषिको भवान् ।
यस्य श्रद्दधतामाशु स्यान्मुकुन्दे मतिः सती ।।"७९०।।

टीका—किमिदमपूर्वं कथयसि ? सत्यम् । अतः पूर्वमेवेदमित्याह । इदं भगवता प्रोक्तं तन्नामैक प्रधानं पुराणं ब्रह्म सम्मितं सर्ववेद तुल्यम्, यद्वा ब्रह्म सम्यङ्मितं येन । कुतस्त्वया प्राप्तम् ? अत आह, अधीतवानिति । द्वैपायनात् पितुः । कदा ? द्वापरादौ द्वापर आदिर्यस्य कालस्य तस्मिन् द्वापरान्ते—इत्यर्थः । शन्तनुसमकाले व्यासावतार प्रसिद्धेः । (८)सिद्धस्य तव कुतोऽध्ययने प्रवृत्तिः ? तत्राह—परिनिष्ठितोऽपीति ।

नानाङ्गवतः श्रीमन्मुख्यतया तन्नामकीर्त्तनमेवोपदिशति । तत्रापि सर्व्वेषामेव परमसाध्यत्वेन चोपदिशति, (भा० २।१।११)—

(२६५) "एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतोभयम् ।
योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्त्तनम् ॥"७६१॥

टीका च—"साधकानां सिद्धानाञ्च नातः परमन्यत् श्रेयोऽस्तीत्याह,-एतदिति । इच्छतां कामिनां तत्तत्फलसाधनमेतदेव, निर्विद्यमानानां मुमुक्षूणां मोक्षसाधनमेतदेव, योगिनां ज्ञानिनां फलञ्चैतदेव निर्णीतम्, नात्र प्रमाणं वक्तव्यमित्यर्थः" इत्येषा । नामकीर्त्तनञ्चेदमुच्चैरेव प्रशस्तम्, (भा० १।६।२७)—"नामान्यनन्तस्य हतत्रपः पठम्" इत्यादौ । अत्र पाद्मोक्ता दशापराधाः परित्याज्याः, यथा सनत्कुमारवाक्यम्—

गृहीत चेता—आकृष्ट चित्तः ॥६॥

श्रीमद् भागवतीय द्वितीयस्कन्धोक्त श्रीमद् भागवत माहात्म्य सूचक श्लोकार्थ है—हे राजन् ! श्रीभगवत् प्रोक्त भगवन्नाम साधन प्रधान श्रीमद् भागवत पुराण ब्रह्म सम्मित अर्थात् सर्व वेद तुल्य है । अथवा जिस श्रीमद् भागवत के श्रवण कीर्त्तन द्वारा ब्रह्मानुभव लाभ होता है । मदीय जनक श्रीकृष्ण-द्वैपायन के निकट से, द्वापर है, जिस के आदि में अर्थात् द्वापर के अन्त में उस पुराण का अध्ययन मैंने किया । हे राजन् ! प्रश्न होना सम्भव है कि—आत्माराम आप्तकाम व्यक्ति को अध्ययन से क्या प्रयोजन है ? अर्थात् सिद्ध महापुरुष की प्रवृत्ति अध्ययन में कैसे हो सकती है ? उत्तर में कहते हैं—यद्यपि मैं निर्गुण ब्रह्म में सब प्रकार से निष्ठा प्राप्त था, तथापि उत्तम श्लोक श्रीकृष्ण की लीला कथा द्वारा आकृष्ट चित्त--गृहीत चित्त--होकर ब्रह्म निष्ठा में स्थित होना असम्भव होने के कारण मैंने श्रीमद् भागवत महापुराण का अध्ययन किया । मैं आप के निकट में उस श्रीमद्भागवत का ही वर्णन करूँगा । कारण, आप विष्णुजन हैं । जिस श्रीमद् भागवत में श्रद्धा स्थापन करने पर मुकुन्द के चरणों में अहैतुकी प्रीति प्राप्ति होती है । इस रीति से श्रीमद् भागवत की परम महिमा वर्णन करने के पश्चात् श्रीमद् भागवत कथा प्रारम्भ के समय श्रीभक्ति साधन के विविध अङ्ग विद्यमान होने पर भी श्रीनाम सङ्कीर्त्तन का ही उपदेश प्रदान किये थे । कारण, समस्त साधनों के मध्य में श्रीनाम सङ्कीर्त्तन ही श्रीभगवदुन्मखता सम्पादक है । श्रीमद् भागवत में भी सर्व साधारण के पक्ष में परम साधन रूप से एवं परम साधन रूप में श्रीनाम--सङ्कीर्त्तन को ही कहे हैं । भा० २।१।११ ।

(२६५) "एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतोभयम् ।
योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्त्तनम् ॥"७६१॥

श्रीधर स्वामिपाद कृत टीका की व्याख्या यह है—साधकों का एवं सिद्धमहापुरुषों का, इस से अधिक श्रेष्ठ साधन द्वितीय नहीं है । इस अभिप्राय को व्यक्त करने के निमित्त कहते हैं, हे राजन् । जो सकाम हैं, वह सब कामनारत व्यक्तियों का यह नाम सङ्कीर्त्तन ही उस काम्य फल लाभ हेतु अव्यभिचारी साधन है । निर्विद्यमान, अर्थात् मुमुक्ष व्यक्ति का भी श्रीनाम सङ्कीर्त्तन मुख्य साधन है । योगि वृन्द का भी योग फल लाभ हेतु मुख्य साधन यह श्रीनाम सङ्कीर्त्तन ही है, इस विषय में प्रमाणोल्लेख की कोई आवश्यकता नहीं है, कारण—यह निर्णीत है, अर्थात् इस निश्चित विषय में संशय का अवसर ही नहीं है । यह नाम सङ्कीर्त्तन उच्चैः स्वरसे करना ही प्रशस्त है । भा० १।६।२७ में उक्त है—"नामान्यनन्तस्यहतत्रपः

"सर्वापराधकृदपि मुच्यते हरिसंश्रयात् । हरेरप्यपराधान् यः कुर्य्याद्द्विपदपांसनः ॥७९२॥
नामाश्रयः कदाचित् स्यात्तरत्येव स नामतः । नाम्नोऽपि सर्वसुहृदो ह्यपराधात् पतत्यधः ॥"७९३॥ इति ।

अपराधाश्चैते—

"सतां निन्दा नाम्नः परममपराधं वितनुते, यतः ख्यातिं यातं कथमु सहते तद्विगरिहाम् ।
शिवस्य श्रीविष्णोर्य इह गुण--नामादि--सकलं, धिया भिन्नं पश्येत् स खलु हरिनामाहितकरः ॥७९४॥
गुरोरवज्ञा श्रुतिशास्त्रनिन्दनं, तथार्थवादो हरिनाम्नि कल्पनम् ।
नाम्नो बलाद्यस्य हि पापबुद्धि,--र्न विद्यते तस्य यमैर्हि शुद्धिः ॥७९५॥
धर्म-व्रत-त्याग-हुतादि-सर्व,-शुभक्रियासाम्यमपि प्रमादः ।
अश्रद्दधाने विमुखेऽप्यशृण्वति, यश्चोपदेशः शिवनामापराधः ॥७९६॥
श्रुत्वापि नाममाहात्म्यं यः प्रीतिरहितोऽधमः । अहंममादि-परमो नाम्नि सोऽप्यपराधकृत् ॥"७९७॥

पठन्" अनन्त श्रीभगवान का नाम—लोकलज्जा रहित होकर पाठ करे। इस से उच्चैः स्वर से नाम कीर्त्तन विहित हुआ है। श्रीहरिनाम सङ्कीर्त्तन प्रसङ्ग में पद्म पुराणोक्त दशापराध को परित्याग करना कर्त्तव्य है। सनत् कुमार कहे थे—

"सर्वापराधकृदपि मुच्यते हरिसंश्रयात् ।
हरेरप्यपराधान् यः कुर्य्याद्द्विपदपांसनः ॥७९२॥
नामाश्रयः कदाचित् स्यात्तरत्येव स नामतः ।
नाम्नोऽपि सर्वसुहृदो ह्यपराधात् पतत्यधः ॥"७९३॥

सब प्रकार अपराधी व्यक्ति श्रीहरिचरणाश्रय करके मुक्ति लाभ करता है। मनुष्य के मध्य में कुल कज्जल स्थानीय जीव ही श्रीहरि चरणों में अपराधाचरण करता है। वह यदि कदाचित् नामाश्रय ग्रहण करता है तो, नामाश्रय के प्रभाव से वह अपराध से मुक्त हो जाता है। किन्तु सर्व जन सुहृत् श्रीनाम के निकट अपराधाचरण करने से वह अधः पतित होता है। दश अपराध का वर्णन करते हैं—

"सतां निन्दा नाम्नः परममपराधं वितनुते,
यतः ख्यातिं यातं कथमु सहते तद्विगरिहाम् ।
शिवस्य श्रीविष्णोर्य इह--गुण-नामादि-सकलं,
धिया भिन्नं पश्येत् स खलु हरिनामाहितकरः ॥७९४॥
गुरोरवज्ञा श्रुतिशास्त्रनिन्दनं, तथार्थवादो हरिनाम्नि कल्पनम् ।
नाम्नो बलाद्यस्य हि पापबुद्धि,–र्न विद्यते तस्य यमैर्हि शुद्धिः ॥७९५॥
धर्म–व्रत–त्याग–हुतादि सर्व, -शुभक्रियासाम्यमपि प्रमादः ।
अश्रद्दधाने विमुखेऽप्यशृण्वति, यश्चोपदेशः शिवनामापराधः ॥७९६॥
श्रुत्वापि नाममाहात्म्यं यः प्रीतिरहितोऽधमः ।
अहंममादि--परमो नाम्नि सोऽप्यपराधकृत् ॥"७९७॥

सज्जन वृन्द की निन्दा श्रीनाम के निकट परम अपराध विस्तार करती है—यह प्रथम अपराध है। सत की निन्दा से श्रीनाम के समीप में अपराध कैसे हो सकता है? उत्तर में कहते हैं। साधु वृन्द से ही श्रीहरिनाम ख्याति प्राप्त करते हैं, अतएव साधु की निन्दा को श्री हरिनाम कैसे सहन कर सकते हैं। यहाँ सत् शब्द से ध्रुव प्रह्लाद की निन्दा ही साधु निन्दा है, एवं उन के समान साधु की निन्दा ही साधु निन्दा रूप अपराध है—इस प्रकार धारणा ठीक नहीं है। कारण, श्रीहरि भक्त ही यथार्थ साधु है, कारण, उस

अत्र 'सर्वापराधकृदपि' इत्यादौ श्रीविष्णुयामल-वाक्यमप्यनुसन्धेयम्—

"मम नामानि लोकेऽस्मिन् श्रद्धया यस्तु कीर्त्तयेत् । तस्यापराधकोटीस्तु क्षमाम्येव न संशयः ।।"७६८।।

'सतां निन्दा' इत्यनेन हिंसादीनां वचनागोचरत्वं दर्शितम् । निन्दादयस्तु यथा स्कान्दे श्रीमार्कण्डेय-भगीरथसंवादे—

"निन्दां कुर्वन्ति ये मूढ़ा वैष्णवानां महात्मनाम् । पतन्ति पितृभिः सार्द्धं महारौरवसंज्ञिते ।।७६६।।

प्रकार साधु वृन्द की शरीरादि में अहन्ता नहीं होती है, वे श्रीभगवान् के दास होते हैं, एवं समर्पितात्मा होते हैं, तथा जगज्जीवों के हितकारी होते हैं, कारण, प्रभु, भूत दया से ही सन्तुष्ट होते हैं । अतएव भक्ति के सम्पर्क से हो साधु संज्ञा होती है । दश प्रकार नाम पराध के मध्य में द्वितीय नामापराध यह है— श्रीशिव के गुण नामादि को जो श्रीविष्णु से स्वतन्त्र अर्थात् श्रीशिव के निज शक्ति सिद्ध मानते हैं, वे श्रीहरिनाम के निकट अपराधी हैं । श्रीगुरु देवकी अवज्ञा अर्थात् आदेश पालन न करना एवं मनुष्य बुद्धि से व्यवहार करना तृतीय अपराध हैं । वेद एवं वेदानुगत शास्त्र निन्दा—यह चतुर्थ नामापराध है । श्रीहरि नाम में अर्थ वाद कल्पना करना अर्थात् यह स्तुति मात्र है । इस प्रकार मानना पञ्चम अपराध हैं । श्रीहरि नाम माहात्म्य को गौण करने के निमित्त अर्थान्तर चिन्ता करना, अर्थात् प्रकारान्तर में अर्थ कल्पना करना षष्ठ अपराध हैं । नाम के बल से पाप कर्म में प्रवृत्त होना, अर्थात् जितने पापाचरण क्यों न हों हरिनाम करने से पवित्र हो जायेंगे, इस प्रकार धारणा करना सप्तम अपराध है । यहाँ नाम शब्दसे भक्ति को समझना होगा । अर्थात् जिस किसी प्रकार भक्त्यङ्ग के अनुष्ठान के बल से पाप आचरण में प्रवृत्त होना, नामापराध है । श्रीहरिनाम के बल से पापाचरण में प्रवृत्त होने पर यमनियमादि साधन के द्वारा अथवा यम दण्ड भोग करने से भी अपराध से निष्कृति नहीं होती है । धर्म, व्रत, त्याग, होम, प्रभृति शुभ कर्म्म समूह के सहित नाम माहात्म्य को साम्य मानना, अर्थात् शुभ कर्माचरण से जो फल होता है, नाम साधन से भी वही फल होता है, इस प्रकार मानना अष्टम अपराध है । श्रद्धा हीन व्यक्ति को, वहिर्मुख व्यक्ति को एवं जो श्रीहरि नाम श्रवणेच्छु नहीं है, इस प्रकार व्यक्ति समूह को नामोपदेश करना नवम अपराध है। नाम माहात्म्य श्रवण करके भी उस में श्रद्धालु न होना, केवल अहङ्कारान्वित होना मैं मेरा इस प्रकार बुद्धि में प्रतिष्ठित होना दशम अपराध हैं ।

श्रुत्वापि नाममाहात्म्यं यः प्रीतिरहितोऽधमः ।
अहंममादि--परमो नाम्नि सोऽप्यपराधकृत् ।।"७६७।।

यहाँपर पूर्व वर्णित "सर्वापराधकृदपि" सनत् कुमारोक्त श्लोकार्थ प्रसङ्ग में श्रीविष्णु यामल वाक्य का अनुसन्धान करना कर्त्तव्य है। वह यह है—

"मम नामानि लोकेऽस्मिन् श्रद्धया यस्तु कीर्त्तयेत् ।
तस्यापराधकोटीस्तु क्षमाम्येव न संशयः ।।"७६८।।

इस जगत् में जो मेरा नाम कीर्त्तन श्रद्धा पूर्वक करता है, मैं उस के कोटि कोटि अपराधों को क्षमा करता हूँ । इस में अणुमात्र भी सन्देह नहीं है, जब सत् की निन्दा ही इस प्रकार दोषा वह है, तब साधु हिंसा करना जो कितना दोषावह है—वह वाक्यका अगोचर है । अर्थात् उस को प्रकाश करने के निमित्त भाषा सक्षम नहीं है, कतिपय व्यक्ति मानते हैं कि—साधुकी निन्दा करना दोषावह है, किन्तु हिंसा प्रभृति करने से दोष नहीं होता है । इस प्रकार युक्ति का समाधान हेतु स्कन्द पुराणोक्त श्रीमार्कण्डेय भगीरथ प्रसङ्ग का उल्लेख करते हैं—

हन्ति निन्दति वै द्वेष्टि वैष्णवान् नाभिनन्दति ।
क्रुध्यते याति नो हर्षं दर्शने पतनानि षट ॥"८००॥ इति ।

तन्निन्दाश्रवणेऽपि दोष उक्तः (भा० १०।७४।४०)—

"निन्दां भगवतः शृण्वन् तत्परस्य जनस्य वा ।
ततो नापैति यः सोऽपि यात्यधः सुकृताच्च्युतः ॥"८०१॥ इति ।

ततोऽपगमश्चासमर्थस्यैव, समर्थेन तु निन्दकजिह्वा छेत्तव्या, तत्राप्यसमर्थेन स्वप्राण-परित्यागोऽपि कर्त्तव्यः, यथोक्तं देव्या, (भा० ४।४।१७)—

"कर्णौ पिधाय निरियाद्यदकल्प ईशे
धर्मावितर्य्यशृणिभिर्नृभिरस्यमाने ।
जिह्वां प्रसह्य रुषतीमसतां प्रभुश्चे-
च्छिन्द्यादसूनपि ततो विसृजेत् स धर्मः ॥"८०२॥ इति ।

'शिवस्य श्रीविष्णोः' इत्यत्रैवमनुसन्धेयम्, श्रूयतेऽपि (गी० १०।४१)

"निन्दां कुर्वन्ति ये मूढ़ा वैष्णवानां महात्मनाम् ।
पतन्ति पितृभिः सार्द्धं महारौरवसंज्ञिते ॥७९९॥
हन्ति निन्दति वै द्वेष्टि वैष्णवान् नाभिनन्दति ।
क्रुध्यते याति नो हर्षं दर्शने पतनानि षट् ॥"८००॥

जो मूढ़, माहात्म्य वैष्णव वृन्द की करता है, वह पितृ कुल के सहित महारौरव नामक नरक में पतित होता है। जो वैष्णव हत्या करता है, वैष्णव निन्दा करता है, द्वेष करता है, एवं वैष्णव दर्शन करके आनन्दित नहीं होता है, अभिनन्दन नहीं करता है, उनके प्रति क्रुद्ध होता है, यह छै प्रकार दुर्जन हो अधः पतित होते हैं। स्वयं निन्दा करना यह तो दोषावह है ही, किन्तु दूसरे की निन्दा श्रवण करना भी निन्दा करने के समान ही दोषावह है। उस सम्बन्ध में भा० १०।७४।४० के श्लोका उल्लेख करते हैं—

"निन्दां भगवतः शृण्वन् तत्परस्य जनस्य वा ।
ततो नापैति यः सोऽपि यात्यधः सुकृताच्च्युतः ॥"८०१॥

श्रीभगवान् एवं भगवान् के जनों की निन्दा को सुनकर जो उस स्थान से चला नहीं जाता है, वह पूर्व सञ्चित सुकृत से वञ्चित होकर अधः पतित होता है। स्थान त्याग करने की विधि किन्तु असमर्थ व्यक्ति के पक्ष में है, समर्थ व्यक्ति के पक्ष में निन्दाकारी की जिह्वा की च्छेदन करना ही विहित है। उस में भी असमर्थ होने पर निज प्राण त्याग करना कर्त्तव्य है। भा० ४।४।१७ में उक्त है—

"कर्णौ पिधाय निरियाद्यदकल्प ईशे धर्मावितर्य्यशृणिभिर्नृभिरस्यमाने ।
जिह्वां प्रसह्य रुषतीमसतां प्रभुश्चे--च्छिन्द्यादसूनपि ततो विसृजेत् स धर्मः ॥"८०२॥

यदि निरङ्कुश मानव, धर्मरक्षक महापुरुष की निन्दा करते हैं। तो समर्थ होने पर निन्दक व्यक्ति की हत्या करे अथवा उस की जिह्वा च्छेदन करे। असमर्थ होने पर निज कर्ण द्वय में हस्तार्पण करके उस स्थानसे चले जाय। अथवा निज प्राण त्याग करे। इस प्रकार प्रायश्चित्त करना ही साधु निन्दा श्रवण कारी कर्त्तव्य है। इस के पहले लिखित है--श्रीविष्णु से श्रीशिव के नाम रूप प्रभृति को पृथक् मानना

"यद् यद्विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽंशसम्भवम् ॥"८०३॥ इति ।

(भा० १०।६८।३७) "ब्रह्मा भवोऽहमपि यस्य कलाः कलायाः" इति, (भा० ३।२८।२२) "यत्पाद-निःसृतसरित् प्रवरोदकेन, तीर्थेन मूद्ध्र्न्यधिकृतेन शिवः शिवोऽभूत्" इति, (भा० २।६।३२)—

"सृजामि तन्नियुक्तोऽहं हरो हरति तद्वशः ।
विश्वं पुरुषरूपेण परिपाति त्रिशक्तिधृक् ॥"८०४॥ इति,

तथा माध्वभाष्यदर्शितानि वचनानि, यथा ब्रह्माण्डे—

"रुजं द्रावयते यस्मात् रुद्रस्तस्माज्जनार्द्दनः । ईशनादेव चेशानो महादेवो महत्त्वतः ॥८०५॥

श्रीनामापराध है । इस विषय की सम्प्रति आलोचना करते हैं । श्रीभगवद् गीता के १०।४१। में उक्त है—

"यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽंशसम्भवम् ॥८०३॥

हे अर्जुन ! जो सब पदार्थ विभूति युक्त एवं प्रभाव सम्पन्न होते हैं । उन सब को मेरा प्रभाव के अंशसम्भूत जानना । भा० १०।६८।३७ में उक्त हैं— "ब्रह्मा भवोऽहमपि यस्य कलाः कलायाः"

श्रीबलदेव, दुर्योधन प्रभृति को कहे थे—ब्रह्मा, महादेव, लक्ष्मी एवं मैं जिन के अंश के अंश स्वरूप होकर जिन की चरण रज को मस्तक में वहन करता हूँ। यह सब दुष्ट मति कौरव गण कहते हैं कि यह श्रीकृष्ण, नृपासन प्राप्त करने में अयोग्य हैं । भा० ३।२७।२२ में भी उक्त है—

"यत्पादनिःसृत–सरित्प्रवरोदकेन,
तीर्थेन मूद्ध्र्न्यधिकृतेन शिवः शिवोऽभूत ॥

भगवान् कपिल देव जननी को कहे थे—मातः ! जिन के श्रीचरण प्रक्षालन से आविर्भूता श्रीगङ्गा का संसारोद्धारक जल को मस्तक में धारण करके शिव हुए थे । अर्थात् परम सुख लाभ किये थे ।

भा० २।६।३२ में भी लिखित है—

"सृजामि तन्नियुक्तोऽहं हरो हरति तद्वशः ।
विश्वं पुरुषरूपेण परिपाति त्रिशक्तिधृक् ॥"८०४॥

श्रीब्रह्मा, देवर्षि नारद को कहे थे—वत्स ! मुझ को जो परमेश्वर मान रहे हो, यह अत्यन्त मूर्खता है, कारण, मैं श्रीविष्णु कर्त्तृक नियुक्त होकर सृष्टि करता हूँ। महेश श्रीविष्णु के अधीन होकर संहार कार्य्य करते हैं । सृजन, पालन, एवं संहार रूप त्रिविध शक्ति समन्वित श्रीविष्णु पुरुष रूप धारण करके ही विश्वपालन करते रहते हैं । यह सब प्रमाणों से सुस्पष्ट बोध होता है कि—श्रीविष्णु के सहित श्रीशिव की समता करना समीचीन नहीं है । कारण पूर्वोक्त प्रमाण समूह के द्वारा पतिपन्न हुआ है कि—श्रीशिव-श्रीविष्णु के अधीन हैं । विशेषतः भागवत के द्वादश स्कन्ध में (भा० १२।१३।१६) लिखित है—"वैष्णवानां यथा शम्भुः अर्थात् वैष्णव वृन्द के मध्य में जिस प्रकार शम्भु श्रेष्ठ है, उस प्रकार पुराण समह के मध्य में श्रीमद् भागवत ही श्रेष्ठ प्रमाण है । श्रीशिव एवं श्रीब्रह्मा प्रभृति के नाम जो निज निज शक्ति सिद्ध नहीं हैं सम्प्रति माध्वभाष्योद्धृत प्रमाणों के द्वारा उस को दर्शाते हैं ।

"रुजं द्रावयते यस्माद् रुद्रस्तस्माज्जनार्द्दनः ।
ईशनादेव चेशानो महादेवो महत्त्वतः ॥८०५॥

पिबन्ति ये नरा नाकं मुक्ताः संसारसागरात् । तदाधारो यतो विष्णुः पिनाकीति ततः स्मृतः ॥८०६॥
शिवः सुखात्मकत्वेन सर्वसंरोधनाद्धरः । कृत्त्यात्मकमिमं देहं यतो वस्ते प्रवर्त्तयन् ॥८०७॥
कृत्तिवासास्ततो देवो विरिञ्चिश्च विरेचनात् । बृंहणाद्ब्रह्मनामासौ ऐश्वर्य्यादिन्द्र उच्यते ॥८०८॥
एवं नानाविधैः शब्दैरेक एव त्रिविक्रमः । वेदेषु च पुराणेषु गीयते पुरुषोत्तमः ॥"८०९॥ इति ।

वामने—

"न तु नारायणादीनां नाम्नामन्यत्र संशयः । अन्यनाम्नां गतिर्विष्णुरेक एव प्रकीर्त्तितः ॥८१०॥ इति ।

स्कान्दे—

"ऋते नारायणादीनि नामानि पुरुषोत्तमः । अदादन्यत्र भगवान् राजेवर्त्ते स्वकं पुरम् ॥"८११॥ इति,

ब्राह्मे—

"चतुर्मुखः शतानन्दो ब्रह्मणः पद्मभूरिति । उग्रो भस्मधरो नग्नः कपालीति शिवस्य च ।
विशेषनामानि ददौ स्वकीयान्यपि केशवः ॥"८१२॥ इति ।

पिबन्ति ये नरा नाकं मुक्ताः संसारसागरात् ।
तदाधारो यतो विष्णुः पिनाकीति ततः स्मृतः ॥८०६॥
शिवः सुखात्मकत्वेन सर्वसंरोधनाद्धरः ।
कृत्त्वात्मकमिमं देहं यतो वस्ते प्रवर्त्तयन् ॥८०७॥
कृत्तिवासास्ततो देवो विरिञ्चिश्च विरेचनात् ।
बृंहणाद्ब्रह्मनामासौ ऐश्वर्य्यादिन्द्र उच्यते ॥८०८॥
एवं नानाविधैः शब्दैरेक एव त्रिविक्रमः ।
वेदेषु च पुराणेषु गीयते पुरुषोत्तमः ॥"८०९॥

क्लेश अपनोदन करते हैं—अतः जनार्दन का एकनाम रुद्र है । सब के नियन्ता होने के कारण श्री विष्णु ईशान नाम से विख्यात हैं । सब से महान् होने के कारण श्रीविष्णु महादेव नाम से ख्यात हैं । संसार सागर से मुक्त होकर जो लोक अखण्ड स्वर्ग सुख भोग करते हैं, श्रीविष्णु उन सब मानवों का आधार होने के कारण आप का नाम, पिनाकी है । सुख स्वरूप हेतु श्रीविष्णु शिव हैं, एवं सर्व संहारकारी होने के कारण श्रीविष्णु हर नाम से कथित हैं । कृत्य अर्थात् कर्म्मात्मक इस शरीर में निवास करने के कारण, श्रीविष्णु का एकनाम कृत्तिवास है । प्रकृति में जीव शक्ति का आधान करने के कारण श्रीविष्णु का नाम विरिञ्चि है । सर्वत्र व्याप्त होकर रहने के कारण श्रीविष्णु का नाम ब्रह्मा है । ऐश्वर्य्य पूर्णता हेतु इन्द्र हैं । इस प्रकार विविध शब्द के द्वारा त्रिविक्रम पुरुषोत्तम श्रीविष्णु ही वेद एवं पुराणों में विभिन्न नामों से ख्यात हैं । तात्पर्य्य यह है कि,—निखिल नामों की मुक्त प्रग्रह वृत्ति एकमात्र श्रीविष्णु में ही है । वामन पुराण में लिखित है—

" न तु नारायणादीनां नाम्नामन्यत्र संशयः ।
अन्यनाम्ना गतिर्विष्णुरेक एव प्रकीर्त्तितः ॥८१०॥

नारायण प्रभृति नामों का अन्यत्र होना संशय नहीं है । ऐसा नहीं । अन्य किसी का नाम नारायण प्रभृति नहीं हैं । कारण, अन्य लिखित नामों का एकमात्र परमाश्रय रूप में श्रीविष्णु ही कीर्त्तित हैं । स्कन्द पुराणमें उल्लेख है—

"ऋते नारायणादीनि नामानि पुरुषोत्तमः ।
अदादन्यत्र भगवान् राजेवर्त्ते स्वकं पुरम् ॥८११॥

तदेवं श्रीविष्णोः सर्वात्मकत्वेन प्रसिद्धत्वात् तस्मात् सकाशात् शिवस्य गुणनामादिकं भिन्नं शक्त्यन्तर-सिद्धमिति यो धियापि पश्येदित्यर्थः। द्वयोरभेदतात्पर्येण षष्ठ्यन्तत्वे सति श्रीविष्णोश्चेत्यपेक्ष्य 'च'-शब्दः क्रियते, तत्प्राधान्यविवक्षयैव 'श्री'-शब्दश्च तत्रैव दत्तः। अतएव 'शिवनामापराधः' इति 'शिव'-शब्देन मुख्यतया श्रीविष्णुरेव प्रतिपादित इत्यभिप्रेतम्। सहस्रनामादौ ज 'स्थाणु'-'शिवादि'-शब्दास्तथैव।

अथ 'श्रुतिशास्त्रनिन्दनम्', यथा पाषण्डमार्गेण दत्तात्रेयर्षभदेवोपासकानां पाषण्डिनाम्, 'तदार्थवादः' स्तुतिमात्रमिदमिति मननम्, 'कल्पनं' तन्माहात्म्यगौणताकरणाय गत्यन्तर-चिन्तनम्, यथोक्तं कौर्मे व्यासगीतायाम्—

"देवद्रोहाद्गुरुद्रोहः कोटि-कोटि-गुणाधिकः। ज्ञानापवादो नास्तिक्यं तस्मात् कोटिगुणाधिकम्॥"८१३

जिस प्रकार राजा निज पुर को छोड़ कर अन्य समस्त राज्य शासन करने की क्षमता अपर को देते हैं, उस प्रकार भगवान् पुरुषोत्तम निज नारायण प्रभृति नाम व्यतीत अन्य समस्त नाम ब्रह्म प्रभृति देवता को प्रदान किये हैं। उस के मध्य में कतिपय नाम भगवान् विष्णु,—ब्रह्मा एवं शिव को प्रदान किये हैं, किन्तु उन सब नामों के द्वारा विष्णु परिचित नहीं होते हैं। ब्रह्म पुराण में लिखित है—

"चतुर्मुखः शतानन्दो ब्रह्मणः पद्मभूरितिः।
उग्रो भस्मधरो नग्नः कपालीति शिवस्य च।
विशेषनामानि ददौ स्वकीयान्यपि केशवः॥"८१२॥

चतुर्म्मुख, शतानन्द, एवं पद्म भू यह स्वीय नाम केशव ब्रह्मा को दान किये हैं। उग्र, भस्मधर, नग्न एवं कपाली यह स्वीय नाम केशव—शिव को प्रदान किये हैं।

इस रीति से श्रीविष्णु ही सब के आत्मा रूप में प्रसिद्ध हैं। अतएव श्रीविष्णु से श्रीशिव के गुण नामादि भिन्न हैं, एवं स्वतन्त्र शक्ति के द्वारा सिद्ध हैं, इस प्रकार जिस की धारणा है। वह नामापराधी है। उक्त स्थल में अभेद तात्पर्य्य से यदि षष्ठी विभक्ति का प्रयोग होता तो "श्रीविष्णोः" शब्द के उत्तर में 'च' शब्द का प्रयोग अवश्य ही होता। विशेष कर श्रीविष्णु का प्राधान्य करने के निमित्त ही विष्णु शब्द के पूर्व में श्रीशब्द का प्रयोग हुआ है। किन्तु 'शिव' शब्द के पूर्व में 'श्री' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। अतएव "शिवनामापराधः" उल्लेख होने के कारण "शिव" शब्द से श्रीविष्णु का ही बोध होता है। कारण, श्रीहरिनामापराध प्रसङ्ग में शिव नामापराध अर्थात् महादेव वाची शिव शब्द का उल्लेख अप्रासङ्गिक है। सहस्र नामादि में स्थानु शिवादि शब्द श्रीविष्णु प्रति पादक रूप में उल्लेख हुये हैं।

अनन्तर "श्रुति शास्त्र निन्दनम्"—अर्थात् वेद एवं तदनुगत शास्त्र निन्दा अपराध जनक है—इस का वर्णन करते हैं। कारण, वेद साक्षात् नारायण हैं। सुतरां वेद निन्दा से श्रीनारायण की निन्दा स्वतः ही होती है। श्रुतिशास्त्र निन्दाकारी का दृष्टान्त यह है—दत्तात्रेय एवं ऋषभ देव की उपासना में रत व्यक्ति गण—पाषण्डी नाम से अभिहित हैं। "तथार्थवादः" श्रीहरिनाम में अर्थ कल्पना। नाम माहात्म्य श्रवण करके भी यह प्रशंसा वाक्य मात्र है, इस प्रकार धारणा करना 'अर्थवाद' नामक पञ्चम अपराध है। "कल्पनं" शब्द का अर्थ है। नाम माहात्म्य को सङ्कुचित करने के निमित्त उपायान्तर का उद्भावन करना है। अर्थात् नाम माहात्म्य को गौण करना है। यह षष्ठ अपराध है। कूर्म्म पुराण की व्यास गीता में उक्त है—

यत्तु श्रीविष्णुपार्षदेभ्यः श्रुतनाममाहात्म्यस्याप्यजामिलस्य (भा० ६।२।२९) "सोऽहं व्यक्तं पतिष्यामि नरके भृशदारुणे" इत्येतद्वाक्यम्, तत् खलु स्वदौरात्म्यमात्रदृष्टया, नाम-माहात्म्यदृष्ट्या त्वग्रे वक्ष्यते, (भा० ६।२।३२-३३) —"तथापि मे दुर्भगस्य" इत्यादि-द्वयम्,

'नाम्नो बलात्' इति यद्यपि भवेन्नाम्नो बलेनापि कृतस्य पापस्य तेन नाम्ना क्षयः, तथापि येन नाम्नो बलेन परमपुरुषार्थस्वरूपं सच्चिदानन्दसान्द्रं साक्षाच्छ्रीभगवच्चरणारविन्दं साधयितुं प्रवृत्तस्तेनैव परमघृणास्पदं पापविषयं साधयतीति परमदौरात्म्यम् । ततः कदर्थयत्येव तन्नाम चेति तत्पापकोटि-महत्तमस्यापराधस्यापातो वाढ़मेव । ततो यमैर्बहुभिर्यमनियमादिभिः कृतप्रायश्चित्तस्य क्रमेण प्राप्ताधिकारै-रनेकैरपि दण्डधरैर्वा

"देवद्रोहाद्गुरुद्रोहः कोटि–कोटि–गुणाधिकः।
ज्ञानापवादो नास्तिक्यं तस्मात् कोटिगुणाधिकम्।।"८१३।।

देवद्रोह से गुरुद्रोह कोटि कोटि गुण अधिक है, ज्ञानापवाद अर्थात् शास्त्र का यथार्थ तात् पर्य्य का अपलाप करना ही नास्तिकता है। यह कार्य्य गुरुद्रोह से भी कोटि कोटि गुण अधिक है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि--भा० ६।२।२९में उक्त है। श्रीविष्णु पार्षद से नाम माहात्म्य श्रवण करने के वाद अजामिल ने कहा, 'सोऽहं व्यक्तं पतिष्यामि नूने भृशदारुणे" मैंने जो सब गुरु तर पापाचरण किया है, उस पाप के फल से ही मुझ को भीषण यन्त्रणामय नरकमें जाना पड़ेगा। इस से प्रतीति होती है कि —नाम माहात्म्य श्रवण करने के बाद भी अजामिल का विश्वास नाम में नहीं हुआ था, इस से वह नामापराधी है। उत्तर में कहते हैं। यह नहीं हैं। कारण, यहाँपर--नाम माहात्म्य श्रवण करने के पश्चात् अजामिल को आत्मनिरीक्षण करने का अवसर उपस्थित हुआ था। उस से अजामिल निजकृत आचरण द्वारा जो दौरात्म्य का प्रकाश हुआ था। तज्जन्य ही उसने उस प्रकार अनुताप किया था। किन्तु अजामिल नाम माहात्म्य में अविश्वस्त होकर अनुताप नहीं किया था। कारण भा० ६।२।२२--३३ में अजामिल ने स्वयं ही कहा है—

"अथापि में दुर्भगस्य विबुधोत्तम दर्शने
भवितव्यं मङ्गलेन येनात्मा में प्रसीदति।
अन्यथा म्रियमाणस्य नाशुचे वृषलीपतेः
वैकुण्ठ नाम ग्रहणं जिह्वा वक्तुमिहार्हति।।"

यद्यपि मैं सब प्रकार से ही भाग्य हीन हूँ, तथापि उन देव श्रेष्ठ गण के दर्शन से मेरा मङ्गल अवश्य ही होगा। कारण, मैं चित्त प्रसन्नता को अनुभव कर रहा हूँ। अन्यथा कदर्य्य शील शूद्राणी वेश्या सङ्गी म्रियमाण मेरी जिह्वा मृत्यु के समय वैकुण्ठ पति का नाम ग्रहण कभी कर सकती ?

"नाम्नो बलात्" नाम के बल से पाप में प्रवृत्ति--सप्तम अपराध हैं। यद्यपि नाम बल से कृत पाप का क्षय उस नाम ग्रहण से ही होता है। तथापि जिस नाम के बल से परम पुरुषार्थ स्वरूप सचिचदानन्द विग्रह साक्षात् श्रीभगवच्चरणार विन्द लाभ होता है। उस नाम के द्वारा परम घृणास्पद पाप क्षालन करने की इच्छा जिस की होती है, उस का दौरात्म्य की अवधि नहीं है। कारण, इस प्रकार आचरण से श्रीहरि नाम अप्रसन्न होते हैं। अतएव पाप विनाशन निबन्धन श्रीनाम की विनियोग करने से श्रीहरि नाम की कदर्थना ही होती है। अतएव अनेक यम नियमादि द्वारा प्रायश्चित्त करने पर भी अथवा अधिकार प्राप्त दण्ड धर गण कर्त्तृक दण्डित होने पर भी उस का जो शोधन होता ही नहीं, वह युक्ति युक्त है। किन्तु

कृतदण्डस्य तस्य शुद्धचभावो युक्त एव,—'नामापराधयुक्तानाम्' इत्यादि वक्ष्यमाणानुसारेण-पुनरपि सन्तत-नामकीर्त्तन-मात्रस्य तत्र प्रायश्चित्तत्वात्'सर्वापराधकृदपि' इत्याद्युक्त्यनुसारेण नामापराधयुक्तस्य भगवद्भक्तिमतोऽप्यधःपातलक्षणभोगनियमाच्च। तत इन्द्रस्याश्वमेधाख्य-भगवद्यजन-बलेन वृत्रहत्या-प्रवृत्तिस्तु लोकोपद्रवशान्ति तदीयासुरभावखण्डनेच्छूनामृषीणा-मङ्गीकृतत्वान्न दोष इति मन्तव्यम्।

अथ 'धर्मव्रतत्यागः' इति धर्मादिभिः साम्यमननमपि प्रमादोऽपराधो भवतीत्यर्थः। अतएव च-

"वेदाक्षराणि यावन्ति पठितानि द्विजातिभिः। तावन्ति हरिनामानि कीर्त्तितानि न संशयः॥"८१४॥

इत्यतिदेशेनापि नाम्न एव माहात्म्यमायाति। उक्तं हि—"मधुर-मधुरमेतन्मङ्गलं मङ्गलानां, सकलनिगमवल्लीसत्फलम्" इति, तथा श्रीविष्णुधर्म्मे—

"ऋग्वेदो हि यजुर्वेदः सामवेदोऽप्यथर्वणः। अधीतास्तेन येनोक्तं हरिरित्यक्षरद्वयम्॥"८१५॥

स्कान्दे पार्व्वत्युक्तौ च—

उसका एक मात्र प्रायचित्त है, अर्थात् नामापराध ग्रस्त व्यक्ति के पक्ष में पुनर्वार अनवरत नाम सङ्कीर्त्तन। इस का वर्णन अग्रिम ग्रन्थ में होगा। पुराण वचन में दृष्ट होता है—

"सर्वापराधकृदपि मुच्यते हरि संश्रयः॥'
हरेरप्यपराधान् यः कुर्य्याद् द्विपद पांसनः।
नामाश्रयः कदाचित् स्यात् तरत्येव स नामतः॥"

इस प्रमाण के अनुसार भगवद् भक्तिमान् को भी नामापराध से अधः पात रूप भोग नियम को प्राप्त करना पड़ता है। अतएव अश्वमेध नामक भगवदर्च्चन के बल से देव राज इन्द्र की जो प्रवृत्ति वृत्रासुर को बध करने में हुई थी—उस के प्रति ऋषि वृन्द का आदेश ही कारण है, ऋषि वृन्द भी देवराज इन्द्र के हृदय में उस प्रकार प्रवृत्ति का उदय कराये थे, उस का कारण यह है—लोकों के प्रति जो उपद्रव हो रहा था, उस की शान्ति विधान करना, एवं वृत्र का असुरभावापनोदन करने की इच्छा। अतएव यहाँपर देवराज की 'नामबल से' पाप प्रवृत्ति नहीं हुई।

अन्य शुभ कर्म के सहित नाम की समता को मानना अष्टम अपराध है। यहाँ पर मूल में जो प्रमाद शब्द का प्रयोग हुआ है, उस का अर्थ है—अपराध। अतएव अन्यत्र उल्लिखित है—

"वेदाक्षराणि यावन्ति पठितानि द्विजातिभिः।
तावन्ति हरिनामानि कीर्त्तितानि न संशयः॥"८१४॥

ब्राह्मण वृन्द जितने वेदाक्षर का पाठ करते हैं उतने ही श्रीहरिनाम ग्रहण होता है। इस में कोई संशय नहीं है। इस प्रकार अतिदेश के द्वारा भी नाम माहात्म्य प्रकाशित होता है। स्कन्द पुराण में उक्त है—

"मधुर मधुरमेतन्मङ्गलं मङ्गलानां सकल निगमवल्लीसत्फलम्॥"

श्रीकृष्ण नाम मधुरों से भी मधुर है, एवं निखिल मङ्गलों का मङ्गल स्वरूप है। समस्त वेद रूप कल्पलता का नित्य एवं स्वप्रकाश फल स्वरूप है। उस प्रकार श्रीविष्णु धर्म में भी उक्त है—

"ऋग्वेदो हि यजुर्वेदः सामवेदोऽप्यथर्वणः। अधीतास्तेन येनोक्तं हरिरित्यक्षरद्वयम्॥"८१५॥

जिन्होंने 'हरि' यह अक्षरद्वय का उच्चारण किया है, उन के द्वारा साम, ऋक् यजुः एवं अथर्व यह

"मा ऋचो मा यजुस्तात मा साम पठ किञ्चन । गोविन्देति हरेर्नाम गेयं गायस्व नित्यशः ॥"८१६॥

पाद्मे श्रीरामाष्टोत्तरशतनामस्तोत्रे—"विष्णोरेकैकनामापि सर्व्ववेदाधिकं मतम्" इति ।

अथ 'अश्रद्दधाने' इत्यादिनोपदेष्टुरपराधं दर्शयित्वोपदेश्यस्याह,--'श्रुत्वेति,--इतोऽहं-ममादिपरमोऽहन्ताममताद्येक-तात्पर्य्येण तस्मिन्ननादरवानित्यर्थः । "नामैकं यस्य वाचि स्मरणपथगतम्" इत्यादौ देह द्रविणादि-निमित्तक-'पाषण्ड'-शब्देन च दशापराधा लक्ष्यन्ते,-पाषण्डमयत्वात्तेषाम् । तथा तद्विधानामेवापराधान्तरमुक्तं पाद्मवैशाख-माहात्म्ये—

वेद चतुष्टय उच्चारित हुए हैं । स्कन्द पुराण में पार्वती की उक्ति में दृष्ट होता है—

'मा ऋचो मा यजुस्तात मा साम पठ किञ्चन ।
गोविन्देति हरेर्नाम गेयं गायस्व नित्यशः ॥"८१६॥

हे वत्स ! ऋक्, यजु, एवं साम वेद का पाठ तुम न करो, नित्य 'गोविन्द' यह नाम गान करो । पद्म पुराण के श्रीरामाष्टोत्तर शत नाम स्तोत्र में भी दृष्ट होता है—"विष्णोरेकैकनामापि सर्व्ववेदाधिकं मतम् । श्रीविष्णु के एक एक नाम ही सर्व वेदाध्ययन से अधिक है ।

अनन्तर 'अश्रद्दधाने" श्रद्धा हीन जन को जो उपदेश करता है, वह नामापराधी होता है । यह नवम नामापराध है ॥ इस के पश्चात् जो जिस को उपदेश करता है, वह भी अपराधी होता है— इस का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं ।

"श्रुत्वापि नाम माहात्म्यं यः प्रीति रहितोऽधमः ।
अहं ममादि परमो नाम्नि सोऽप्यपराधकृत् ॥"

जो अधम जन, श्रीनाम माहात्म्य श्रवण करके भी उल्लसित नहीं होता है, वह निश्चय ही अहन्ता ममता में आसक्त है । तज्जन्य श्रीहरि नाम के प्रति अनादर प्रकाश करता है । कारण उक्त है—

"नामैकं यस्य वाचि स्मरण पथगतं श्रोत्रमूलं गतं वा ।
शुद्धं वा शुद्धवर्णं व्यवहित रहितं त रयत्येव सत्यम् ॥"

एक श्रीकृष्ण नाम जिस की वाणी से उच्चारित होता है, अथवा स्मरण पदवी में उदित होता है, किंवा श्रोत्र मूल में प्रविष्ट होता है, वह श्रीनाम शुद्ध हो, अथवा अशुद्ध ही हो, यदि व्यवधान रहित होता है, अर्थात् जिस प्रकार 'मरा' शब्द में म, रा के मध्य स्थल में व्यवधान नहीं है, अतः 'मरा' उच्चारण से राम नाम का उच्चारण होता है । किंवा व्यवहित—अथवा रहित भी होता है—जिस प्रकार 'नारायण' नामोच्चारण के समय 'नारा' उच्चारण के बाद—अपर वाक्योच्चारण करके अनन्तर 'यण' अंश का उच्चारण करता है । तथापि 'नारायण' नामोच्चारण का फल लाभ होता है । अथवा 'रहित' होने पर भी नामोच्चारण का फल होता है । जैसे 'नारायण' में 'नारा' उच्चारण के पश्चात् 'यण' का उच्चारण नहीं किया, तथापि नारायण नामोच्चारण का फल होता है । किन्तु यह 'नाम' यदि देह द्रविण, अर्थ, जन समूह, लोभ एवं पाषण्ड के मध्य में निक्षिप्त होता है, अर्थात् उक्त देह द्रविणादि सम्पादन हेतु प्रयुक्त होता है तो—श्रीनाम सत्वर फल प्रदान नहीं करते हैं । अर्थात् श्रीनाम का मुख्य जो फल—श्रीकृष्णचरणों से ममत्व लाभ करना है—

वह श्रीनाम का मुख्य फल है, उसका प्रकाश आशु नहीं होता है । यहाँ पाषण्ड शब्द से दश नामापराध को ही जानना होगा । कारण उक्त दशविध नामापराध ही पाषण्ड मय अर्थात् पाप मय हैं । यहाँपर पाप

"अवमन्य प्रयान्ति ये भगवत्कीर्त्तनं नराः । ते यान्ति नरकं घोरं तेन पापेन कर्मणा ॥"८१७॥

इत्येतेषाञ्चापराधानामनन्यप्रायश्चित्तत्वमेवोक्तं तत्रैव—

"नामापराधयुक्तानां नामान्येव हरन्त्यघम् । अविश्रान्तिप्रयुक्तानि तान्येवार्थकराणि च ॥"८१८॥

अत्र सत्प्रभृतिष्वपराधे तु तत्सन्तोषणार्थमेव सन्तत-नामकीर्त्तनादिकं समुचितम्,—अम्बरीषचरितादौ तदेकक्षम्यत्वेनापराधानां दर्शनात् । उक्तञ्च नामकौमुद्याम्—"महदपराधस्य भोग एव निवर्त्तकस्तदनुग्रहो वा" इति, तस्माद्गत्यन्तराभावात् साधूक्तम् (भा० २।१।११) एतन्निर्विद्यमानानाम्" इति ॥ श्रीशुकः ॥

२६६ एवं श्रीनारदेनोक्तं बृहन्नारदीये —

"महिम्नामपि यन्नाम्नः पारं गन्तुमनीश्वराः । मनवोऽपि मुनीन्द्राश्च कथं तं क्षुल्लधीर्भजे ॥"८१९॥

एवं पाषण्ड के मध्य में जो पार्थक्य हैं—उस का विचार यह है—शास्त्राज्ञा उल्लङ्घन—शास्त्र निषिद्ध आचरण करने का नाम पाप है । और श्रीभगवान् एवं उनके सम्बन्धान्वित वस्तु की अमर्य्यादा करने का नाम अपराध है । शरीरी मानवों के पक्ष में अपर एक अपराध का विवरण पद्म पुराण के वैशाख माहात्म्य में है—

"अवमन्य प्रयान्ति ये भगवत्कीर्त्तनं नराः ।
ते यान्ति नरकं घोरं तेन पापेन कर्मणा ॥"८१७॥

जो लोक भगवत् कीर्त्तन को अवमानन करके चले जाते हैं, इस प्रकार पापाचरण हेतु वे नरक में प्रवेश करते हैं । यह सब अपराधों का अपर कोई भी प्रायश्चित्त नहीं है । पद्म पुराण में लिखित है—

"नामापराधयुक्तानां नामान्येव हरन्त्यघम् ।
अविश्रान्तिप्रयुक्तानि तान्येवार्थकराणि च ॥"८१८॥

जो नामापराधी है, उस के पक्ष में श्रीनाम ग्रहण ही एकमात्र महा प्रायश्चित्त है । कारण, अविश्रान्त प्रयुक्त श्रीनाम ही समस्त अपराध विनष्ट करता है । सुतरां यह समस्त प्रयोजन साधक है । इस प्रसङ्ग में ज्ञातव्य यह है कि—यदि महत् के निकट अपराध उपस्थित होता है तो, उन के सन्तोष हेतु सतत श्रीहरिनाम कीर्त्तन करना कर्त्तव्य है । कारण अम्बरीष महाराज के चरित्र में दृष्ट होता है, कि—भगवान् वैकुण्ठ नाथके चरणमें क्षमा प्रार्थना करने पर भी भगवान् दुर्वासा को महाराज अम्बरीषके निकट क्षमा प्रार्थना करने के निमित्त प्रेषण किये थे ।

भगवन्नाम कौमुदी में लिखित है "महदपराधस्य भोग एव निवर्त्तक स्तदनुग्रहो वा" महत् के निकट अपराध होने पर, तज्जन्य दुःख फल भोग से ही उसकी निवृत्ति होती है । अथवा उस महत् के अनुग्रह से निवृत्ति होती है । एतदुभय व्यवस्था के मध्य में पर विधि ही बलवान है । अतएव पतित, दुर्गत, पापी, अपराधी, विषयी, मुमुक्षु मुक्त, भक्त प्रभृति व्यक्ति के पक्ष में एक नामाश्रय व्यतीत अपर कोई उपाय नहीं है । भा० २।१।११ में उक्त है

"एतन्निर्विद्य मानानामिच्छतामकुतोऽभयम्"
योगिनां नृपनिर्णीतं हरेर्नामानु कीर्त्तनम् ॥

इस में श्रीहरिनाम कीर्त्तन को ही जो एकमात्र अभय साधन कहा गया है, वह अतीव सुन्दर है ।

प्रवक्ता श्रीशुक हैं—२६५॥

अथ श्रीरूप-कीर्त्तनम्, (भा० ११।३०।३) —

(२६६) "प्रत्याक्रष्टुं नयनमबला." इत्यादौ ।

"यच्छ्रीर्वाचां जनयति रतिं कीर्त्यमाना कवीनाम्" इति ।

यस्य श्रीकृष्णरूपस्य शोभासम्पत्तिः कीर्त्यमाना सती कवीनां तत्कीर्त्तकानां वाचां तत्कीर्त्तनेष्वेव रागं जनयति । अथोक्तं श्रीचतुःसनेन (भा० ३।१५।४९) —"कामं भवः स्ववृजिनैर्निरयेषु नः स्तात्" इत्यादौ, "वाचस्तु नस्तुलसिवद्यति तेऽङ्घ्रिशोभाः इति ॥ राजा श्रीशुकम् ॥

२६६। बृहन्नारदीय पुराण में देवर्षि नारद ने भी कहा है—

"महिम्नामपि यन्नाम्न पारं गन्तुमनीश्वराः ।
मनवोऽपि मुनीन्द्राश्च कथं तं क्षुल्लधी भंजे ।"८।१॥

मनुगण एवं मुनीन्द्र वृन्द जिस नाम महिमा सागर के परपार में जाने में असमर्थ हैं, क्षुद्र बुद्धि मैं कैसे उस श्रीकृष्ण का भजन कर सकता हूँ? अनन्तर श्रीरूप कीर्त्तन का वर्णन करते हैं—भा० ११।३०।३ में उक्त है—

(२६६) "प्रत्याक्रष्टुं नयनमबलायत्र लग्नं न शेकुः ।
कर्णाविष्टं न सरति ततो यत् सतामात्मलग्नम् ।
यच्छ्रीर्वाचां जनयति रतिं किं नु मानं कवीनाम् ॥"

टीका—तत् प्रपञ्चयति प्रत्याक्रष्टुमिति । यस्मिन् रूपे लग्नं नयनं प्रत्याक्रष्टुं परावर्त्तयितुमबला न शेकुः । यच्च कर्णाविष्टं—कर्णरन्ध्रेण प्रविष्टं सत् सतामात्मनि मनसि लग्नं लिखितमिव तिष्ठति ततो न सरति न निर्गच्छति । यस्य श्रीः शोभा सङ्कीर्त्यमाना कवीनां वाचां रतिमुल्लासविशेषं जनयति । तेषां मानं जगत् पूज्यतां तनयतीति किं नु वक्तव्यम् ॥

श्रीकृष्ण के रूप में नयन संलग्न होने से अबलागण नयन प्रत्यावर्त्तन करने में अक्षम हैं, जिस श्रीकृष्ण रूप की कथा कर्ण रन्ध्र द्वारा साधु वृन्द के मन में प्रविष्ट होने से चित्रवत् अङ्कित हो रहती है, हृदय से निष्कासित नहीं होती है, जिस श्रीकृष्ण रूप की शोभा सम्पत्ति साधु वृन्द के द्वारा कीर्त्तित होने से, कीर्त्तन कारी वृन्द की अर्थात् वाक्य की, श्रीकृष्ण रूपादि कीर्त्तन में राग— अर्थात् आकुल पिपासा उत्पन्न होती है।

भा० ३।१५।४९ में श्रीचतुःसन ने भी कहा हैं—

"कामं भवः स्व वृजिनैर्निरयेषु नःस्ताच्चेतोऽलिवद्यदि नु तेपदयो रमेत ।
वाचश्च नस्तुलसिवद् यदि तेऽङ्घ्रिशोभाः पूर्येत ते गुणगणैर्यदि कर्णरन्ध्रः ॥

टीका—इदानीं स्वापराधं द्योतयन्त्यो भक्तिं प्रार्थयन्ते काममिति । ये भवतः कथाया रसज्ञाः । कथम्भूतस्य? रमणीयत्वेन च पावनत्वेन च कीर्त्तयन्तं कीर्त्तनार्हं तीर्थञ्च यशोयस्य,तस्य । हे भगवन्! इतः पूर्वं अस्माकं वृजिनं नाभवत्, इदानीन्तु सर्वाण्यपि जातानि, यतस्त्वद् भक्तौ प्राप्तौ, अतः तैः स्व वृजिनैः निरयेषु कामं, नोऽस्माकं भवो जन्मस्यात्, नु वितर्के । यदि तु नश्चेतस्ते पदयो रमेत, अलिर्यथा कण्टकै राविध्यमाणोऽपि पुष्पेषु रमते, तद्वद् विघ्नमविगणय्य यदि रमेत तर्हि । अङ्घ्रिभ्यां शोभा यासाम् । यथा च तुलसी स्वगुण नैरपेक्ष्येण त्वदङ्घ्रि सम्बन्धेनैव शोभते, तथा यदि नो वाचः शोभेरन् । यदि च ते, गुण गणैः पूर्येत । कर्णरन्ध्र इत्यल्पस्य पूरणमिव याचकरीत्या प्रार्थयन्ते । अयन्तु गूढोऽभिप्रायः

२६७। अथ गुणकीर्त्तनम् (भा० १।५।२२)—

(२६७) "इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा, स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्ध-दत्तयोः।
अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो, यदुत्तमश्लोक-गुणानुवर्णनम् ॥"८२०॥

श्रुतं वेदाध्ययनम्, स्विष्टं यागादि, सूक्तं मन्त्रादिजपः, बुद्धं शास्त्रीयबोधः, दत्तं दानम्, एतेषां भगवदर्पितानां सतामेवाविच्युतोऽर्थो नित्यं फलम्। किं तत्? उत्तमश्लोकस्य गुणानुवर्णनं यत्। जातायामपि गुणानुवर्णन-साध्यायां परमपुरुषार्थरूपायां रतौ गुणानुवर्णनस्य प्रत्युत नित्यनित्योल्लासादविच्युतत्वमुक्तम्। तस्मादविच्युतत्वेन रतिमेवास्य फलं सूचयति। श्रीनारदः श्रीव्यासम् ॥

२६८। अथ लीला-कीर्त्तनम् (भा० २।८।३)—

(२६८) "शृण्वतः श्रद्धया नित्यं गृणतश्च स्वचेष्टितम्।
कालेन नातिदीर्घेण भगवान् विशते हृदि ॥"८२१॥

कर्णरन्ध्रस्याकाशत्वात् गुणगणानाञ्चामूर्त्तत्वात् न कदाचिदपि पूरणम्, अतो नित्यमेव श्रवणं फलिष्यतीति।

हे नाथ! निजकृत अपराधनिबन्धन नरक में हमारे जन्म यथेष्ट हो, उस से हम सब किञ्चिन्मात्र भीत नहीं हैं। भ्रमर जिस प्रकार कण्टकबिद्ध होकर भी कुसुम में अनुरागी होता है, उस प्रकार आप का भजन में विविध विघ्न प्राप्त करके भी यदि हमारे चित्त भ्रमर के समान आप के चरण नलिन युगल में सतत निरत रहे, तुलसी जिस प्रकार निज गुण की अपेक्षा न करके अर्थात् स्वयं श्रीकृष्ण वल्लभा होकर भी आप के चरण सम्बन्ध से ही शोभा शालिनी होती है, उस प्रकार हमारे वाक्य समूह भी यदि आप के चरण सम्बन्ध द्वारा शोभित हो, आप की गुणराशि के द्वारा यदि हमारे कर्णरन्ध्र पूर्ण हों, अभिप्राय यह है कि—कर्ण आकाश स्वरूप है, आप के गुण समूह भी अमूर्त्त हैं। अतएव गुण श्रवण से कर्ण की पूर्त्ति किसी प्रकार से कभी भी नहीं हो सकती है। इस से नित्य ही श्रवण सिद्ध होगा। इस अभिप्राय से ही कर्ण रन्ध्र पूर्त्ति की प्रार्थना उन्होंने की है। राजा श्रीशुक को कहे थे ॥२६६॥

२६७। अनन्तर गुण कीर्त्तन का वर्णन करते हैं—श्रीभागवत के १।५।२२ में वर्णित है—

(२६७) "इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा, स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्ध-दत्तयोः।
अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो, यदुत्तमश्लोक-गुणानुवर्णनम् ॥"८२०॥

देवर्षि नारद, श्रीकृष्ण द्वैपायन को कहे थे। हे मुनीन्द्र भगवदर्पित तपस्या, वेद अध्ययन, यज्ञादि अनुष्ठान, मन्त्रादि जप, शास्त्रीय ज्ञान, एवं सत् पात्र में दान का नित्य मुख्य फल,— उत्तम श्लोक श्रीकृष्ण के गुण समूह का कीर्त्तन। गुण कीर्त्तन करते करते परम पुरुषार्थ रूप रति का उदय होने पर गुणानुवर्णन में नव नवायमान उल्लास प्रकाशित होता है, यही अविच्युत परम पुरुषार्थ है। अतएव अविच्युत विशेषण के द्वारा भगवद् गुणानुवाद को निखिल साधनों का मुख्य फल कहा गया है।

श्रीनारद श्रीव्यास को कहे थे ॥२६७॥

२६८। अनन्तर लीला कीर्त्तन का वर्णन करते हैं—भा० २।८।३ में कथित है—

(२६८) "शृण्वतः श्रद्धया नित्यं गृणतश्च स्वचेष्टितम्।
कालेन नातिदीर्घेण भगवान् विशते हृदि ॥"८२१॥

नातिदीर्घेणण स्वल्पेनैव, विशते स्फुरति ।। श्रीपरीक्षित् ।।

२६६ । तथा (भा० १२।१२।४९-५०)—

(२६९) "मृषा गिरस्ता ह्यसतीरसत्कथा, न कथ्यते यद्भगवानधोक्षजः ।
तदेव सत्यं तदु हैव मङ्गलं, तदेव पुण्यं भगवद्गुणोदयम् ।।"८२२।।

इत्यादि, "यदुत्तमश्लोकयशोऽनुगीयते" इत्यन्तम् ।

असतीरसत्यः, असतां भगवतस्तद्भक्तेभ्यश्चान्येषां कथा यासु ताः, यद्यासु गीर्षु न कथ्यते, उत्तमश्लोकस्य यशोऽनुगीयत इति तु यत् तत् तदीयलीलामयानुगानमेव सत्यमित्यादि । कथं सत्यत्वं मङ्गलत्वञ्च ? तत्राह—भववद्गुणानामुदयो गायकहृदि स्फूर्त्तिर्यस्मात्तत्, तदीयरतिप्रदमित्यर्थः । स्कान्दे—

"यत्र यत्र महीपाल वैष्णवी वर्त्तते कथा । तत्र तत्र हरिर्याति गौर्यथा सुतवत्सला ।।"८२३।।

महाराज परीक्षित् श्रीशुकदेव को कहे थे—हे प्रभो ! श्रद्धा पूर्वक नित्य श्रीभगवान् के लीला कीर्त्तन श्रवण कारी के हृदय में भगवान् श्रीहरि अत्यल्प काल में ही श्रीहृदय में स्फुरित होते हैं ।

टीका---सोऽपि श्रद्धया शृण्वतो नात्रश्यक इत्याह-शृण्वत इति । स्व प्रयत्नं विनापि भगवान् स्वयमेव हृदि विशति ।।

श्लोकस्थ नाति दीर्घ शब्द का अल्प काल में ही, 'विशते' का अर्थ हैं—स्फुरति-स्फूर्त्ति प्राप्त होते हैं । श्रीपरीक्षित् कहे थे ।।२६८।।

२६९ । उस प्रकार भा० १२।१२।४९-५० में उक्त है—

(२६९) "मृषा गिरस्ता ह्यसतीरसत्कथा, न कथ्यते यद्भगवानधोक्षजः ।
तदेव सत्यं तदु हैव मङ्गलं, तदेव पुण्यं भगवद्गुणोदयम् ।।८२२।।

टीका—हरि सङ्कीर्त्तनमेव महाफलं तद्व्यतिरिक्तं सर्वं मिथ्यालापमात्रमिति प्रपञ्चयति मृषागिरः चतुर्भिः । मृषागिरो मिथ्यावाचः । असती रसत्यः । असतां कथा यासु ताः । यद् यासु उत्तम श्लोकस्य यशोऽनुगीयते इति यत् तदेव सत्यं हि मङ्गलम् । उह इति-हर्षे । भगवद् गुणानामभ्युदयो यस्मात् तत् । नवं नवं यथा भवति तथा रुचिरं रुचि प्रदम् । महानुत्सवो यस्मात् ।।४९।५०।

श्रीसूत, शौनकादि ऋषि वृन्द को कहे थे—श्रीभगवान् एवं उनके भक्त व्यतीत अन्य कथा असती है—अर्थात् मिथ्यालाप तुल्य है । एवं उस प्रकार कथा से सुख लाभ नहीं होता है, कारण, उस कथा से भगवान् अधोक्षज कीर्त्तित नहीं होते हैं, वही कथा सत्य है, एवं मङ्गल स्वरूप है, जिस कथा में भगवान् की लीला कथा है, वह सत्य एवं मङ्गल रूप क्यों है ? उत्तर में कहते हैं, जिस लीला कथा का कीर्त्तन करने से, गायक के हृदय में वात्सलादि गुण की स्फूर्त्ति होती है । अर्थात् भगवत् चरण युगल में प्रीति होती है । स्कन्द पुराण में भी उक्त है—

"यत्र यत्र महीपाल वैष्णवी वर्त्तते कथा ।
तत्र तत्र हरिर्याति गौर्यथा सुतवत्सला ।।"८२३।।

हे महाराज ! जहाँ जहाँ श्रीविष्णु वा उनके भक्त वृन्द की कथा कीर्त्तित होती है, सुत वत्सला धेनु जिस प्रकार वत्स के पश्चात् धावित होती है, श्रीहरि भी उस प्रकार वहाँ वहाँ धावित होते हैं ।

विष्णु धर्म एवं स्कन्द पुराण में भगवदुक्ति यह है—

विष्णुधर्म्मे स्कान्दे च श्रीभगवदुक्तौ—

"मत्कथावाचकं नित्यं मत्कथाश्रवणे रतम् । मत्कथाप्रीतिमनसं नाहं त्यक्ष्यामि तं नरम् ।।"८२४।। इति ।

अत्र च 'अनुगोयते' इत्यनेन सुकण्ठता चेद्गानमेव कर्त्तव्यम्, तच्च प्रशस्तमित्यायातम् । एवं नामादीनामपि, उक्तञ्च (भा० ११।२।३९) --"गीतानि नामानि तदर्थकानि, गायन् बिलज्जो विचरेदसङ्गः" इति, अन्यत्र च (भा० १०।६९।४५)—

"यानीह विश्वविलयोद्भववृत्तिहेतुः, कर्माण्यनन्यविषयाणि हरिश्चकार ।
यस्त्वङ्ग गायति शृणोत्यनुमोदते वा, भक्तिर्भवेद्भगवति ह्यपवर्गमार्गे ।।"८२५।।

गानशक्त्यभावे स्वस्मादुत्कृष्टतरस्य प्राप्तौ वा तच्छृणोति, तदासक्त्यभावे तदनुमोदतेऽपीत्यर्थः । श्रीविष्णुधर्म्मे श्रीविष्णूक्तौ--

"रागेणाकृष्यते चेतो गान्धर्वाभिमुखं यदि । मयि बुद्धिं समास्थाय गायेथा मम सत्कथाः ।।"८२६।।

"मत्कथावाचकं नित्यं मत्कथाश्रवणे रतम् ।
मत्कथाप्रीतिमनसं नाहं त्यक्ष्यामि तं नरम् ।।"८२४।।

जो मेरी कथा का कीर्त्तन करता है, जो मेरी कथा में प्रीति युक्त है, एवं मेरी कथा में सन्तुष्ट चित्त है, मैं उस मनुष्य को कभी भी परि त्याग नहीं करता हूँ। "यदुत्तमः श्लोक यशोऽनुगीयते" यहाँ 'अनुगीयते' पद के द्वारा सूचित हुआ है कि—यदि सुकण्ठ हो तो गान ही करना चाहिये । गान ही श्रवण कीर्त्तन से प्रशस्त है । इस प्रकार रीति का अनुसरण नामादि भक्तिअङ्ग अनुशीलन में भी करना चाहिये ।

भा० ११।२।३९ में कथित है--"गीतानि नामानि तदर्थ कानि, गायन् विलज्जो विचरेदसङ्गः ।।'

कवि योगीन्द्र निमि महाराज को कहे थे—जो श्रीहरि नाम गान करता है, अथवा अपभ्रंश भाषानिबद्ध शब्द का गान करते हैं, वह व्यक्ति क्रमशः लोकापेक्षा एवं विषयासक्ति को परित्याग कर विचरण करता है । भा० १०।६९।४५ में उक्त है—

"यानीह विश्वविलयोद्भववृत्तिहेतुः, कर्माण्यनन्यविषयाणि हरिश्चकार ।
यस्त्वङ्ग गायति शृणोत्यनुमोदते वा, भक्तिर्भवेद्भगवति ह्यपवर्गमार्गे ।।"८२५।।

श्रीशुकमुनि महाराज परीक्षित् को कहे थे—हे राजन् ! विश्वसृष्टिस्थिति नाश हेतु भगवान् श्रीहरि जो सब अलोक सामान्य कार्य्य किये हैं, जो व्यक्ति, उस कर्म्म समूह का गान करता है, श्रवण करता है एवं अनुमोदन करता है, वह मुक्ति प्रद श्रीभगवान् के चरणों में भक्ति प्राप्त करता है । गान करने की सामर्थ्य न होने पर, उत्कृष्ट योग्य व्यक्ति प्राप्त होने पर उन से गान श्रवण करना चाहिये, सङ्गीत में आसक्ति न होने पर, उस को अनुमोदन करना चाहिये । ऐसा होने पर भक्ति लाभ होगा, श्रीविष्णु धर्म ग्रन्थ की श्रीभगवदुक्ति में प्रकाशित है—

"रागेणाकृष्यते चेतो गान्धर्वाभिमुखं यदि ।
मयि बुद्धिं समास्थाय गायेथा मम सत्कथाः ।।"८२६।।

गान विद्या में अभिमुखचित्त यदि भैरवादि राग में आकृष्ट होता है तो मुझ में मन एकाग्र करके मेरी लीला कथा गान करे, किन्तु निज गर्व प्रकटन हेतु गान न करे । पद्म पुराण के कार्त्तिक माहात्म्य में श्रीभगवदुक्ति यह है ।

पाद्मे च कार्त्तिक-माहात्म्ये श्रीभगवदुक्तौ—

"नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च । मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ॥८२७॥
तेषां पूजादिकं गन्धधूपाद्यैः क्रियते नरैः । तेन प्रीतिं परां यामि न तथा मम पूजनात् ॥"८२८॥

ते च प्राणिमात्राणामेव परमोपकर्त्तारः, किमुत स्वेषाम्, यथोक्तं नारसिंहे श्रीप्रह्लादेन—

"ते सन्तः सर्व्वभूतानां निरुपाधिकबान्धवाः । ये नृसिंह भवन्नाम गायन्त्युच्चैर्मुदान्विताः ॥"८२९॥

अत्र च बहुभिर्मिलित्वा कीर्त्तनं सङ्कीर्त्तनमित्युच्यते । तत्तु चमत्कारविशेषपोषात् पूर्वतोऽप्यधिकमिति ज्ञेयम् । अत्र च नामसङ्कीर्त्तने यथोपदिष्टं कलियुगपावनावतारेण श्रीभगवता-

"तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना । अमानिना मानदेन कीर्त्तनीयः सदा हरिः ॥"८३०॥

श्रीसूतः ॥

२७० । इयञ्च कीर्त्तनाख्या भक्तिर्भगवतो द्रव्य-जाति-गुण-क्रियाभिर्दीनजनैकविषयापार

"नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च ।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ॥८२७॥
तेषां पूजादिकं गन्ध धूपाद्यैः क्रियते नरैः ।
तेन प्रीतिं परां यामि न तथा मम पूजनात् ॥८२८॥

हे नारद ! मैं वैकुण्ठ में निवास नहीं करता हूँ, अथवा योगि वृन्द के हृदय में भी नहीं रहता हूँ, मेरे भक्त गण जहाँपर मेरी कथा का गान करते हैं, मैं वहीं रहता हूँ । उन सब भक्त को जो गन्ध पुष्प धूपादि द्वारा पूजा करते हैं, मैं उन सब के प्रति जितना सन्तुष्ट होता हूँ, उतना मेरी पूजा में सन्तुष्ट नहीं होता हूँ । जो लोक मेरी लीला का गान करते हैं, वे प्राणी मात्र को उपकृत करते हैं, कारण, उच्चैःस्वर से गान करने से दूरस्थ प्राणी भी सुनते हैं, एवं जो सुनने में अक्षम हैं, इस प्रकार तृण लता प्रभृति में नाम की प्रतिध्वनि होने से उन का कल्याण होता है । अपना कल्याण तो अर्थात् ही होता है । नरसिंह पुराण में श्रीप्रह्लाद ने कहा है— "ते सन्तः सर्वभूतानां निरुपाधिक बान्धवाः ।
ये नृसिंह भवन्नाम गायन्त्युच्चै र्मुदान्विताः ॥८२९॥

हे नृसिंह ! वे वह सब साधु-प्राणि वृन्द के निरुपाधि बान्धव हैं, जो उच्चैः स्वर से परमानन्द से आप का नाम कीर्त्तन करते हैं । बहु जन मिलित होकर जो गान अनुष्ठित होता है— उस को कीर्त्तन कहते हैं, यह सङ्कीर्त्तन चमत् कार विशेष का पोषक होने के कारण गान से भी अधिक माहात्म्य पूर्ण एवं माधुर्य्य मण्डित है । इस नाम सङ्कीर्त्तन के विषय में कलियुग पावनावतार श्रीभगवान् श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु जो उपदेश प्रदान किये हैं, वह यह है—

"तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना । अमानिना मानदेन कीर्त्तनीय सदा हरिः ॥८३०॥

तृण से सुनीच होकर अर्थात् निरभिमानी विनीत होकर--किसी भी अवस्था में अहन्ता मस्तकोत्तलन न करे, इस प्रकार सत्य आचरण परायण होकर, एवं वृक्ष से भी सहिष्णु तथा परोपकारी होकर निजमाना काङ्क्षा शून्य होकर अपर को सम्मान दान कर सर्वदा श्रीहरि कीर्त्तन करना कर्त्तव्य है । अर्थात् श्रीहरि नाम कीर्त्तन कारी के पक्ष में सत्य निरभिमानी, सहिष्णु परोपकारी, योग्य होकर मानाकाङ्क्षा रहित-- एवं अपर को मान दान कारी होना परम आवश्यक है ।   प्रवक्ता श्रीसूत हैं ॥२६९॥

२७० । यह कीर्त्तनाङ्ग भक्ति,— द्रव्य, जाति, गुण एवं क्रिया द्वारा जो सब प्रकारों से दीन हैं,

करुणामयीति श्रुतिपुराणादि-विश्रुतिः । कलौ च दीनत्वं यथा ब्रह्मवैवर्त्ते—

"अतः कलौ तपोयोग-विद्यायज्ञादिकाः क्रियाः । साङ्गा भवन्ति न कृताः कुशलैरपि देहिभिः ॥"८३१॥

अतएव कलौ स्वभावत एवातिदीनेषु लोकेष्वाविर्भूयताननायासेनैव तत्तद्युगगत-महासाधनानां सर्वमेव फलं ददाना सा कृतार्थयति । यत एव तयैव कलौ भगवतो विशेषतश्च सन्तोषो भवति,—

"तथा चैवोत्तमं लोके तपः श्रीहरिकीर्त्तनम् । कलौ युगे विशेषेण विष्णुप्रीत्यै समाचरेत् ॥"८३२॥

इति स्कान्दचातुर्मास्य-माहात्म्यवचनानुसारेण । तदेवमाह (भा० १२।३।५२) —

(२७०) "कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः ।
द्वापरे परिचर्य्यायां कलौ तद्धरिकीर्त्तनात् ॥"८३३॥

यद् यत् कृतादिषु तेन तेन साधनेन स्यात्, तत् सर्व्वं कलौ हरिकीर्त्तनाद्भवतीति । अन्यत्र

अर्थात् अयोग्य हैं, उन के प्रति श्रीभगवान् की अपार करुणामयी है । अर्थात् द्रव्य जाति गुण क्रिया प्रभृति की योग्यता जिस में नहीं है, इस प्रकार व्यक्ति के प्रति भी श्रीभगवान् की करुणा सम्पादन कारिणी यह भक्ति है । यह विषय--श्रुति पुराणादि में सु प्रसिद्ध है । अथच कलियुग में मानव मात्र का दीनत्व स्वाभाविक है । ब्रह्म वैवर्त्त पुराण में लिखित है—

"अतः कलौ तपोयोग-विद्यायज्ञादिकाः क्रियाः ।
साङ्गा भवन्ति न कृताः कुशलैरपि देहिभिः ॥"८३१॥

अतएव कलियुग में तपस्या, योग, विद्या एवं यज्ञ प्रभृति — क्रिया कर्म सुनिपुण मानव गण कर्त्तृक अनुष्ठित होने पर भी पूर्णाङ्ग नहीं होते हैं । अतएव कलियुग के मानव गण स्वभावतः ही अतिशय दीन हैं । यह सब दीन जन के मध्य में श्रीकीर्त्तनाङ्ग भक्ति, आविर्भूत होकर सत्यादि युग के जो सब महासाधन उल्लिखित हैं, वह सब साधनों का महाफल को अनायास प्रदान करके श्रीनाम सङ्कीर्त्तन कारी व्यक्ति की कृतार्थ करती है । कारण—कीर्त्तनाङ्ग भक्ति के द्वारा ही श्रीभगवान् परम सन्तुष्ट होते हैं, अतएव सत्यादि-युगगत निखिल साधनों का फल लाभ, एकमात्र श्रीहरि नाम सङ्कीर्त्तन के द्वारा ही होता है । कारण, श्रीभगवत् सन्तोष ही निखिल सन्तोष का मूल हेतु है । स्कन्द पुराण के चातुर्म्मास्य माहात्म्य प्रकरण में लिखित है —

'तथा चैवोत्तमं लोके तपः श्रीहरि कीर्त्तनम् ।
कलौ युगे विशेषेण विष्णु प्रीत्यै समाचरेत् ॥"८३२॥

इस जगत में श्रीभगवत् सङ्कीर्त्तन ही सर्व श्रेष्ठ तपस्या है, विशेषतः इस कलियुग में श्रीहरि के प्रीति निमित्त ही कीर्त्तन करना कर्त्तव्य है । भा० १२।३।५२ में उस विषय का कथन हुआ है —

(२७०) "कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः ।
द्वापरे परिचर्य्यायां कलौ तद्धरिकीर्त्तनात् ॥"८३३॥

टीका—ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्च्चना यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संङ्कीर्त्य केशवमिति ।

श्रीशुक,—श्रीपरीक्षित् को कहे थे—सत्य युग में विष्णु ध्यान करके त्रेता युग में यज्ञानुष्ठान करके एवं द्वापर युगमें परिचर्य्या करके जो फल लाभ होता है, कलियुग में श्रीहरि सङ्कीर्त्तन के द्वारा ही मानवगण उस फल को प्राप्त कर सकते हैं । युगोचित उन उन साधनों के द्वारा जो जो फल होते हैं, उन सब फल लाभ--कलि में श्रीहरि नाम सङ्कीर्त्तन से ही होते हैं । विष्णु पुराण के ६।२।२७ में भी लिखित है—

च वि० पु० ६।२।१७)—

"ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्च्चयन् । यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम् ।"८३४।

इति ॥ श्रीशुकः ॥

२७१ । अतएव (भा० ११।५।३६) —

(२७१) "कलिं सभाजयन्त्यार्य्या गुणज्ञाः सारभागिनः ।
यत्र सङ्कीर्त्तनेनैव सर्वः स्वार्थोऽभिलभ्यते ॥"८३५॥

गुणज्ञाः कीर्त्तनप्रचाररूपं तद्गुणं जानन्तः, अतएव तद्दोषाग्रहणात् सारभागिनः सारमात्र-ग्रहणाः कलिं सभाजयन्ति । गुणमेव दर्शयति,--यत्र प्रचारितेन सङ्कीर्त्तनेनैव साधनान्तर-निरपेक्षेण तेनेत्यर्थः । सर्वः ध्यानादिभिः कृतादिषु साधनसहस्रैः साध्यः ॥

२७२ । कीर्त्तनस्यैव महिमानमाह (भा० ११।५।३७) —

(२७२) "न ह्यतः परमो लाभो देहिनां भ्राम्यतामिह ।
यतो विन्देत परमां शान्तिं नश्यति संसृतिः ॥"८३६॥

"ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्च्चयन् ।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम् ॥"८३४॥

सत्य युग में ध्यान करके, त्रेतायुग में यज्ञ करके एवं द्वापर युग में भगवदर्च्चन करके साधक गण जो फल लाभ करते हैं, कलियुग में श्रीकेशव के नामादि सङ्कीर्त्तन के द्वारा वे सब फल लाभ होते हैं ।
प्रवक्ता श्रीशुक है—२७०॥

२७१ । अतएव भा० ११।५।३६ में उक्त है—

(२७१) "कलिं सभाजयन्त्यार्य्या गुणज्ञाः सारभागिनः ।
यत्र सङ्कीर्त्तनेनैव सर्वः स्वार्थोऽभिलभ्यते ॥"८३५॥

टीका—एतेषु चतुर्युगेषु कलिरेव श्रेष्ठ इत्याह कलिमिति । गुणज्ञाः कलेर्गुणं जानन्ति ये ते । ननु दोषाणां बहुत्वात् कथं सभाजयन्ति तत्राह । सारभागिनो गुणांशग्राहिणः । कोऽसौ गुणस्तमाह--यत्रेति तदुक्तम् । ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्च्चयन् । यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ सङ्कीर्त्य केशवमिति ।

निमि महाराज को करभाजन योगीन्द्र कहे थे—हे राजन् ! जो कलियुग के श्रीकृष्ण सङ्कीर्त्तन प्रचार रूप धर्म को जानते हैं, वह सब गुणज्ञ ऋषिगण कलियुग के अन्य समूह को ग्रहण नहीं करते हैं, कीर्त्तन प्रचार रूप सार ग्रहण करके कलियुग का आदर करते हैं । उस कलियुग का गुण वर्णन करते हैं--- जिस कलियुग में प्रचारित अन्य साधन निरपेक्ष सङ्कीर्त्तन के द्वारा ही सत्यादि युग में अनुष्ठित ध्यान प्रभृति साधनों से जो फल लाभ होते हैं, अनायास वह सब फल मिल जाते हैं ॥२७१॥

२७२ । कीर्त्तन की महिमा का वर्णन करते हैं । भा० ११।५।३७

(२७२) "न ह्यतः परमो लाभो देहिनां भ्राम्यतामिह ।
यतो विन्देत परमां शान्ति नश्यति संसृतिः ॥८३६॥

टीका—तस्मात् कलौ अतोऽस्मात् सङ्कीर्त्तनात् परमो लाभो नास्ति । यतः सङ्कीर्त्तनात् ।

हे राजन् ! श्रीहरि नाम सङ्कीर्त्तन व्यतीत संसार पथ के पथिक जीव को अपर कोई भी परम लाभ

अतः कीर्त्तनात्, यतो यस्मात् कीर्त्तनात्, परमां शान्ति (भा० ११।१६।३६) "शमो मन्निष्ठता बुद्धेः" इति भगवद्वाक्यानुसारेण ध्यानादिभिरप्यसाध्यां सर्वोत्कृष्टां भगवन्निष्ठां प्राप्नोत्यनुषङ्गेण संसारश्च नश्यति। अतएव ध्याननिष्ठा अपि कृतादि-प्रजा एतादृशीं भगवन्निष्ठां न प्राप्तवत्यः "महाभागवता नित्यं कलौ कुर्वन्ति कीर्त्तनम्" इति स्कान्दाद्यनुसारेण तादृशनिष्ठा--कारणं कीर्त्तनं--माहात्म्यञ्च दीनैक--कृपातिशयशालिना भगवता तदानीं तत्तत्-सामर्थ्यावसरे यस्मान्न प्रकाशितम्, तस्माद्ध्यानादि-समर्थास्ताः प्रजा जिह्वौष्ठस्पन्दनमात्रस्य नातिसाधनत्वं भवेदिति मत्वा तन्न श्रद्धितवत्यश्च ॥

२७३। ततः कलिप्रजानां परमभगवन्निष्ठतां श्रुत्वा तदर्थं कलावेव केवलं निजजन्म प्रार्थयन्त इत्याह, (भा० ११।५।३८) —

(२७३) "कृतादिषु प्रजा राजन् कलाविच्छन्ति सम्भवम्।
कलौ खलु भविष्यन्ति नारायणपरायणाः॥"८३७॥

तत्परायणत्वमत्र तदीयप्रेमातिशयवत्त्वम्। एतदेव "परमां शान्तिम्" इत्यनेन कार्य्यद्वारा

नहीं हैं। श्रीभगवान् उद्धव को कहे थे—"शमो मन्निष्ठता बुद्धेः" मुझ में निष्ठा प्राप्त बुद्धि का नाम ही शम है, अर्थात् शान्ति है। जिस शान्ति अर्थात् भगवन्निष्ठा को ध्यानादि साधनों से प्राप्त करना सम्भव नहीं है। श्रीहरि कीर्त्तन के द्वारा ही उस को अनायास प्राप्त कर सकते हैं। एवं आनुषङ्गिक भाव से संसार क्षयभी होता है, यह सङ्कीर्त्तन, केवल कलियुग में ही प्रचारित होता है, अतः ध्याननिष्ठ सत्य युगीय प्रजागण, कलियुग के प्रजागण के समान भगवन्निष्ठ को प्राप्त करने में सक्षम नहीं हैं। महाभागवत गण कलियुग में नित्य ही श्रीभगवन्नाम कीर्त्तन करते हैं। "महाभागवता नित्यं कलौ कुर्वन्ति कीर्त्तनम्" स्कन्द पुराण के कथनानुसार प्रतीत होता है कि—भगवच्चरणों में तादृशी परमोत्कृष्ट निष्ठा लाभ का कारण, श्रीनाम सङ्कीर्त्तन माहात्म्य को, दीन जन के प्रति परम कृपाशाली भगवान्,—ध्यान यज्ञ प्रभृति अति कठोर साधन शक्ति सम्पन्न सत्यादि युग में प्रकाश नहीं किये हैं। तज्जन्य ध्यानादि करने की सामर्थ्य विशिष्ट उस उस युग के प्रजागण, केवल मात्र जिह्वा एवं ओष्ठ स्पन्दन मात्र से जो साधन निष्पन्न होता है, उस उस श्रीहरि कीर्त्तन को श्रेष्ठ नहीं मानते हैं। तज्जन्य ही कीर्त्तन रूप साधन में इष्ट लाभ हेतु श्रद्धालु नहीं हो सकते हैं। वस्तुतः केवल ओष्ठ धर स्पन्दन मात्र साध्य कीर्त्तनाङ्ग भक्ति को बहु अभ्यास साध्य ध्यानादि अनुष्ठान समर्थ व्यक्ति गण महत्त्व प्रदान करने में असमर्थ हैं ॥२७२॥

७२३। अतएव कलियुगोत्पन्न प्रजावृन्द की श्रीभगवन्निष्ठा को सुनकर उस प्रकार निष्ठा लाभ हेतु सत्य युग के प्रजावृन्द केवल कलियुग में जन्म प्रार्थना करते हैं। भा० ११।५।३८ में उक्त है—

(२७३) "कृतादिषु प्रजा राजन् कलाविच्छन्ति सम्भवम्।
कलौ खलु भविष्यन्ति नारायणपरायणाः॥"८३७॥

श्रीकर भाजन निमि महाराज को कहे थे—हे राजन्! सत्यादि युग के प्रजावृन्द कलियुग में जन्म प्रार्थना करते हैं, कारण, कलियुग के प्रजागण—नारायण परायण होंगे। मूल श्लोक में 'भविष्यति' भविष्यत् काल की क्रिया प्रयुक्त हुई है। इस से बोध होता है कि—निमि महाराज के सहित नव योगीन्द्र का यह प्रसङ्ग त्रेता युग में हुआ था। कारण उक्त प्रसङ्ग में लिखित है—"सीतापति र्जयति लोकमलघ्न

व्यञ्जितम्। (भा० ६।१४।५) "मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः। सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा' इत्यत्र यद्वत्। अत्र कलिसङ्गेन कीर्त्तनस्य गुणोत्कर्ष इति न वक्तव्यम्, भक्तिमात्रे कालदेश-नियमस्य निषिद्धत्वाद्विशेषतो नामोपलक्ष्य च विष्णुधर्मे क्षत्रबन्धूपाख्याने—

"न देशनियमस्तत्र न कालनियमस्तथा। नोच्छिष्टादौ निषेधश्च हरेर्नामनि लुब्धक।।" ८३८।। इति।

स्कान्दे पाद्मवैशाख-माहात्म्ये विष्णुधर्मे च--"चक्रायुधस्य नामानि सदा सर्वत्र कीर्त्तयेत्" इति, स्कान्द एव च—

"न देशकालावस्थात्मशुद्ध्यादिकमपेक्षते।। किन्तु स्वतन्त्रमेवैतन्नामकामित--कामदम्।।" ८३९।।

विष्णुधर्मे च—

"कलौ कृतयुगं तस्य कलिस्तस्य कृते युगे। यस्य चेतसि गोविन्दो हृदये यस्य नाच्युतः।।" ८४०।।

कीर्त्तिः" (भा० ११।४।२१) इस में 'जयति' क्रिया के द्वारा वर्त्तमान काल सूचित हुआ है। अतएव उस से उक्त प्रसङ्ग का समय निर्णय में त्रेतायुग ही आता है। मूल श्लोक में "नारायणपरायणाः" शब्द से श्रीनारायण विषयक प्रेमवान्" इस प्रकार अर्थ जानना होगा। कारण, श्रीनारायण में प्रेम होना ही परम शान्ति है। कार्य्य के द्वारा यह प्रकाशित हुआ है। अर्थात् भा० ११।५।३६ श्लोक में जो 'परमाशान्ति' की कथा कही गई है, वह नारायण निष्ठता का ही परिचायक है। श्रीमद् भागवत के ६।१४।५ में नारायण परायण जन को परम शान्त कहा गया है।

"मुक्तानामपि सिद्धानां नारायण परायणः।
सुदुर्ल्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने।।

कोटि कोटि जीवन्मुक्त महापुरुष वृन्द के मध्य में एक व्यक्ति मुक्त होता है। कोटि कोटि सिद्ध महा पुरुषों के मध्य में प्रशान्तात्मा नारायण परायण भक्त सुदुर्ल्लभ है। अतएव नारायण परायण व्यक्ति जो प्रशान्त चित्त होता है, उक्त प्रमाण से यह सुस्थिर हुआ। कलियुग में ही श्रीहरिनाम सङ्कीर्त्तन गुणोत्कर्ष मण्डित होता है, इस प्रकार धारण करनी नहीं चाहिये। कारण, भक्ति मात्र में काल देश का नियम नहीं है। विशेष कर ही नाम को उपलक्ष्य करके विष्णु धर्म के क्षत्रबन्धुपाख्यान में उक्त है।

"न देशनियमस्तत्र न कालनियमस्तथा।
नोच्छिष्टादौ निषेधश्च हरेर्नामनि लुब्धक।।" ८३८।।

हे लुब्धक! व्याध! श्रीहरिनाम ग्रहण में देश का नियम नहीं है, काल का नियम नहीं है। यहाँतक कि उच्छिष्ट प्रभृति अवस्था में भी नाम ग्रहण करने में निषेध नहीं है।

स्कन्द पुराण के वैशाख माहात्म्य में एवं विष्णु धर्म में लिखित है—

"चक्रायुधस्य नामानि सदा सर्वत्र कीर्त्तयेत्"

चक्रायुध श्रीहरि का नाम कीर्त्तन सर्वदेश एवं सर्व काल में करना कर्त्तव्य है। स्कन्द पुराण में लिखित है—

'न देशकालावस्थात्मशुद्ध्यादिकमपेक्षते।
किन्तु स्वतन्त्रमेवैतन्नामकामित--कामदम्।।" ८३९।।

श्रीहरि नाम ग्रहण में देश काल अथवा अवस्था वा चित्त शुद्ध की अपेक्षा नहीं है। श्रीहरि नाम परम स्वतन्त्र है, एवं कामित को अभीष्ट प्रदान कारी है। विष्णु धर्म में भी उक्त है—

"कलौ कृतयुगं तस्य कलिस्तस्य कृते युगे।

न च कलावन्यसाधनासमर्थत्वादेव तेनाल्पेनापि महत् फलं भवति, न तु तस्य गरीयस्त्वेनेति मन्तव्यम् । (वि० पु० ६।८।५५)--

"यस्मिन् न्यस्तमतिर्न याति नरकं स्वर्गोऽपि यच्चिन्तने ।
विघ्नो यत्र निवेशितात्ममनसां ब्राह्मोऽपि लोकोऽल्पकः ।
मुक्तिं चेतसि यः स्थितोऽमलधियां पुंसां ददात्यव्ययः ।
किं चित्रं यदघं प्रयाति विलयं तत्राच्युते कीर्त्तिते ॥"८४१॥

इति समाधिपर्य्यन्तादपि स्मरणात् कैमुत्येन कीर्त्तनस्यैव गरीयस्त्वं श्रीविष्णुपुराणे दर्शितम् । अतएवोक्तम् (भा० २।१।११)-"एतन्निर्विद्यमानानाम्" इत्यादि, तथा च—

"अघच्छित् स्मरणं विष्णोर्बह्वायासेन साध्यते । ओष्ठस्पन्दनमात्रेण कीर्त्तनन्तु ततो वरम् ॥"८४२॥

यस्य चेतसि गोविन्दो हृदये यस्य नाच्युतः ॥"८४०॥

जिस के हृदय में श्रीगोविन्द विद्यमान हैं, उस के पक्ष में कलियुग ही सत्य युग है । एवं जिस के चित्तमें श्रीअच्युताख्य गोविन्द की स्मृति नहीं है । उसके पक्षमें सत्ययुग भी कलियुग है । इस प्रकार कथन समीचीन नहीं है कि—कलियुग में जीवों की अन्य साधन सामर्थ्य है ही नहीं, तज्जन्य अल्प साधन के द्वारा महाफल होता है, किन्तु श्रीहरि नाम साधन का किसी प्रकार गुरुत्व नहीं है । कारण, विष्णु पुराण के ६।८।५५ में लिखित है ।

"यस्मिन् न्यस्तमतिर्न याति नरकं स्वर्गोऽपि यच्चिन्तने ।
विघ्नो यत्र निवेशितात्ममनसां ब्राह्मोऽपि लोकोऽल्पकः ।
मुक्तिं चेतसि यः स्थितोऽमलधियां पुंसां ददात्यव्ययः ।
किं चित्रं यदघं प्रयाति विलयं तत्राच्युते कीर्त्तिते ॥"८४१॥

श्रीकृष्ण को मन अर्पण करने से नरक में जाना नहीं पड़ता है । जिन की चिन्ता करने से स्वर्ग सुख भी विघ्न रूप से अनुभूत होता है । जिस में मनोनिवेश करने से सत्य लोक भी तुच्छ प्रतीत होता है । निर्म्मल चित्त मानव के हृदय में अवस्थित होकर जो अव्यय श्रीहरि मुक्ति प्रदान करते हैं, उन अच्युताख्य श्रीकृष्ण का कीर्त्तन करने से जो पाप विनष्ट होगा—इस में आश्चर्य्य होने का क्या है ? इस श्लोक में स्मरण की समाधि अवस्था में भी श्रीकृष्ण स्मरण का वर्णन हुआ है, अतः कैमुतिक न्याय से नाम कीर्त्तन का ही श्रेष्ठत्व दर्शित हुआ है । अतएव भा० २।१।११ में विहित है—

"एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतोभयम् ।
योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्त्तनम् ॥

इस श्लोक द्वारा श्रीशुक मुनिने विषयी मुक्त मुमुक्षु-महापुरुष वृन्द के पक्ष में श्रीहरिनाम कीर्त्तन को ही अकुतोभय रूप से निर्देश किया है । वैष्णव चिन्तामणि नामक ग्रन्थ में लिखित है—

"अघच्छित् स्मरणं विष्णोर्बह्वायासेन साध्यते ।
ओष्ठस्पन्दनमात्रेण कीर्त्तनन्तु ततो वरम् ॥"८४२॥

अघारि श्रीविष्णु का स्मरण बहु आयास साध्य है, अर्थात् विविध विषयों से चित्त संहरण करके श्रीविष्णु में स्थापन करना पड़ता है । किन्तु ओष्ठ स्पन्दन मात्र साध्य श्रीनाम कीर्त्तन, स्मरण से भी श्रेष्ठ प्रभाव शाली है । अन्यत्र भी उक्त है—

इति वैष्णवचिन्तामणौ,

"येन जन्मशतैः पूर्वं वासुदेवः समर्च्चितः । तन्मुखे हरिनामानि सदा तिष्ठन्ति भारत ॥"८४३॥

इत्यन्यत्र, "सर्वापराधकृदपि" इत्यादि-नामापराधभञ्जनस्तोत्रे च । तस्मात् सर्व्वत्रैव युगे श्रीमत्कीर्त्तनस्य समानमेव सामर्थ्यम् । कलौ च श्रीभगवता कृपया तद्ग्राह्यत इत्यपेक्ष्यैव तत्र तत्प्रशंसेति स्थितम् । अतएव, यदन्यापि भक्तिः कलौ कर्त्तव्या, तदा तत्संयोगेनैवेत्युक्तम् (भा० ११।५।३२) —"यज्ञैः सङ्कीर्त्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः" इति । अत्र च स्वतन्त्रमेव नामकीर्त्तनमत्यन्तप्रशस्तम् ।

"हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम् । कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥"८४४॥

इत्यादौ, तस्मात् साधूक्तम् (भा० ११।४।३६) -"कलिं सभाजयन्त्यार्य्या गुणज्ञाः" इत्यादित्रयम् । श्रीकरभाजनो निमिम् ॥

"येन जन्मशतैः पूर्वं वासुदेवः समर्च्चितः ।
तन्मुखे हरिनामानि सदा तिष्ठन्ति भारत ॥"८४३॥

जिसने पूर्वशत शत जन्म में श्रीवासुदेवार्च्चन किया है । उस के ही मुख में सर्वदा श्रीहरिनाम समूह विद्यमान होते हैं । श्रीहरि चरणों में आश्रय ग्रहण करने से सर्व विध अपराध कारी व्यक्ति भी मुक्त होता है । "सर्वापराधकृदपि" नामापराधस्तोत्र में श्रीहरि नाम कीर्त्तन की महिमा वर्णित है । अतएव समस्त युगों में ही श्रीहरिनाम सङ्कीर्त्तन की समान सामर्थ्य है । यह जानना होगा । तब जो कलियुग में कीर्त्तन की अत्यधिक प्रशंसा की गई है—उस का कारण है – अन्यान्य युग में श्रीभगवान् ध्यानादि का प्रचार स्वयं आचरण करके जिस प्रकार करते हैं, उस प्रकार श्रीहरि नाम सङ्कीर्त्तन की शिक्षा प्रदान स्वयं आचरण करके नहीं करते हैं । किन्तु कलियुग में श्रीभगवान् जीव दुर्गति को देखकर स्वयं श्रीनाम सङ्कीर्त्तन करके जीव वृन्द को शिक्षा प्रदान करते हैं । इस को अपेक्षा से ही कलियुगमें श्रीहरिनाम सङ्कीर्त्तन भूयसी प्रशंसा की गई है । अतएव कलियुग में यदि अन्य भक्त्यङ्ग का अनुष्ठान करना कर्त्तव्य हो तो—श्रीहरिनाम के सहित ही अर्थात् नाम सङ्कीर्त्तन को परित्याग न करके ही अन्य भक्त्यङ्ग का अनुष्ठान करना चाहिये । अतएव भा० ११।५।३२ में उक्त है—

"यज्ञैः सङ्कीर्त्तन प्रायैर्यजन्तिहि सुमेधसः ॥'

सुमेधा व्यक्ति गण, सङ्कीर्त्तन प्रधान यज्ञ के द्वारा कलियुग में श्रीभगवान् की आराधना करते रहते हैं । इस कीर्त्तनाङ्ग भक्ति में श्रीहरिनाम सङ्कीर्त्तन ही स्वतन्त्र रूपसे अत्यन्त प्रशस्त है । अर्थात् श्रीनारदीय पुराण में उक्त है—

"हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम् ।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥८४४॥

सत्य युग में ध्यानानुष्ठान से जो फल होता है, कलियुग में श्रीहरिनाम सङ्कीर्त्तन से ही वह फल होता है । यह छोड़ कर अन्य उपाय नहीं है । एवं त्रेता युग में यज्ञ के द्वारा जो फल लाभ होता है, कलि युग में श्रीनाम सङ्कीर्त्तन के द्वारा वह फल लाभ होता है, एतद्व्यतीत अन्य उपाय नहीं है । द्वापर युग में श्रीभगवत् परिचर्य्या के द्वारा जो फल होता है, कलियुग में एकमात्र श्रीहरिनाम ग्रहण से ही वह फल लाभ होता है, इस को छोड़कर उपायान्तर नहीं है । सुतरां भा० ११।५।३६ में उक्त है—

२७४। तदेवं कलौ नामकीर्त्तन प्रचारप्रभावेनैव परमभगवत्परायणत्वसिद्धिर्दर्शिता। तत्र पाषण्ड-प्रवेशेन नामापराधिनो ये, तेषान्तु तद्बहिर्मुखत्वमेव स्यादिति व्यतिरेकेण तद्-द्रढ़यति (भा० १२।३।४३-४४)—

(२७४) "कलौ न राजन् जगतां परं गुरुं, त्रिलोकनाथानत-पादपङ्कजम्।
प्रायेण मर्त्या भगवन्तमच्युतं, यक्ष्यन्ति पाषण्डविभिन्नचेतसः ॥८४५॥
यन्नामधेयं म्रियमाण आतुरः, पतन् स्खलन् वा विवशो गृणन् पुमान्।
विमुक्तकर्मार्गल उत्तमां गतिं, प्राप्नोति यक्ष्यन्ति न तं कलौ जनाः ॥"८४६।

स्पष्टम् ॥श्रीशुकः ॥

"कलिं सभाजयन्त्यार्य्या गुणज्ञाः सार भागिनः।
यत्र सङ्कीर्त्तनेनैव सर्वः स्वार्थोऽभिलभ्यते ॥"

टीका—एतेषु चतुर्युगेषु कलिरेव श्रेष्ठ इत्याह कलिमिति। गुणज्ञाः, कलेर्गुणं जानन्ति ये ते। ननु दोषाणां बहुत्वात् कथं समाजयन्ति तत्राह यत्रेति तदुक्तम्। "ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्च्चयन्। यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ सङ्कीर्त्य केशवमिति।"

'नह्यतः परमो लाभो देहिनां भ्राम्यतामिह।
यतोविन्देत परमां शान्तिं नश्यति संसृतिः ॥" (३७)

टीका—तस्मात् कलौ अतोऽस्मात् सङ्कीर्त्तनात् परमो लाभो नास्ति। यतः सङ्कीर्त्तनात् ॥
कीर्त्तन सम्बन्ध में तीन श्लोकों के द्वारा जो कुछ कहा गया है, वह उत्तम है।
श्रीकर भाजन निमिमहाराज को कहे थे ॥२७३॥

२७४। भा० ११।५।३८ में उक्त है—

"कृतादिषु प्रजा राजन् कलाविच्छन्ति सम्भवम्।
कलौ खलु भविष्यन्ति नारायण परायणः ॥"

श्रीचमस योगीन्द्र की उक्ति के अनुसार कलियुग में नारायण परायण मान का संवाद ज्ञात होता है। वह भी कलि में श्री भगवन्नाम सङ्कीर्त्तन के प्रभाव से ही सम्भव है। अर्थात् सर्वत्र श्रीहरिनाम सङ्कीर्तन प्रचार होने के कारण ही, जीवगण नारायण परायण हुये हैं। उस के मध्य में पाषण्ड भावाक्रान्त होने के कारण अधिकांश मनुष्य नामापराधी होते हैं, एवं श्रीभगवान् का भजन नहीं करते हैं। किन्तु जो लोक निरपराधी होते हैं, वे श्रीभगवान् का भजन करते हैं। इस रीति से उक्त विरुद्ध भावाक्रान्त श्लोक द्वय की सङ्गति होती है। पाषण्ड भावाक्रान्त होने से ही नामापराध होता है। एवं नामापराध होने से ही भगवद् वहिर्मुखता होती है, व्यतिरेकमुख से उसका वर्णन भा० १२।३।४३-४३ में है।

(२७४) "कलौ न राजन् जगतां परं गुरुं, त्रिलोकनाथानत- पादपङ्कजम्।
प्रायेण मर्त्या भगवन्तमच्युतं, यक्ष्यन्ति पाषण्डविभिन्नचेतसः ॥८४५॥
यन्नामधेयं म्रियमाण आतुरः पतन् स्खलन् वा विवशो गृणन् पुमान्।
विमुक्तकर्मार्गल उत्तमां गतिं, प्राप्नोति यक्ष्यन्ति न तं कलौ जनाः ॥"८४६॥

श्रीशुक-श्रीपरीक्षित् को कहे थे—हे राजन्! त्रिलोक के प्रभु गण, जिन के चरणों में सतत नत

२७५। तदेवं कीर्त्तनं व्याख्यातम्। तत्रास्मिन् कीर्त्तने निजदैन्य-निजाभीष्टविज्ञप्ति-स्तवपाठावप्यन्तर्भाव्यौ। तथा तत्र श्रीभागवतस्थित-नामादिकीर्त्तनन्तु पूर्ववदन्यदीय-नामादि-कीर्त्तनादधिकं ज्ञेयम्, कलौ तु प्रशस्तं तत् (भा० १।३।४३)—

"कृष्णे स्वधामोपगते धर्मज्ञानादिभिः सह।
कलौ नष्टदृशामेष पुराणार्कोऽधुनोदितः॥"८४७॥ इति।

अथ शरणापत्त्यादिभिः शुद्धान्तःकरणश्चेत् (भा० २।१।११)—"एतन्निर्विद्यमानानामिच्छताम-कुतोभयम्" इत्याद्युक्त्वान्नामकीर्त्तनापरित्यागेन स्मरणं कुर्य्यात्, तच्च मनसानुसन्धानम्, यदेव नामादि-सम्बन्धित्वेन बहुविधं भवति। तत्र स्मरण-सामान्यम् (भा० ११।१३।१४)—

होते हैं। पाषण्ड भाव से विभिन्न चित्त कलियुग के मनुष्यगण जगत् प्रभु अच्युत रूप भगवान् की पूजा नहीं करेंगे। म्रियमाण, एवं आतुर अवस्था में गिरते गिरते, स्खलन अवस्था में जिन का नाम ग्रहण करने से मानव निखिल कर्म बन्धन से मुक्त हो जाता है, कलियुग के मानववृन्द उन श्रीहरि की पूजा नहीं करते हैं। श्रीशुक कहे थे॥२७४॥

२७५। उक्त रीति से कीर्त्तनाङ्ग भक्ति का वर्णन हुआ। इस कीर्त्तनाङ्ग भक्ति में निज दैन्य मिश्रित निजाभीष्ट विज्ञप्ति एवं स्तव पाठ भी अन्तर्भुक्त है। उस के मध्य में भी श्रीमद् भागवतोक्त श्रीभगवान् के नाम, रूप, गुण एवं लीला प्रभृति का कीर्त्तन अन्य पुराण में वर्णित नाम रूपादि से प्रशस्त है। इस प्रकार जानना होगा। किन्तु कलिकाल में श्रीमद् भागवत कीर्त्तन ही समस्त श्रवण कीर्त्तन से श्रेष्ठ है। कारण, यह श्रीमद् भागवत—श्रीकृष्ण के प्रतिनिधि रूप में कलिकलुष हत जीव गण के साध्य साधन तत्त्व निरूपण के निमित्त इस कलियुग में आविर्भूत हुए हैं। भा० १।३।४५ में उक्त है—

"कृष्णे स्वधामोपगते धर्मज्ञानादिभिः सह।
कलौ नष्टदृशामेष पुराणार्कोऽधुनोदितः॥"८४७॥

श्रीसूत—शौनकादि ऋषि गण को कहे थे—श्रीकृष्ण, धर्म ज्ञान वैराग्य एवं ऐश्वर्य्य के सहित निज धाम में प्रविष्ट होने पर कलियुग में नष्ट दृष्टि मानव को साध्य साधन तत्त्व दर्शाने के निमित्त यह श्रीमद् भागवत शास्त्र सूर्य्य रूप में उदित हुये हैं।

अनन्तर शरणापत्ति प्रभृति के द्वारा अन्तः करण शुद्ध यदि होता है तो, भा० २।१।११ में वर्णित—"एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतोऽभयम्" विषयी, मुमुक्षु, मुक्त महापुरुष वृन्द के पक्ष में एकमात्र अकुतोभय श्रीहरिनाम सङ्कीर्त्तन ही है। इस प्रमाण के अनुसार श्रीनाम सङ्कीर्त्तन को परित्याग न करके स्मरण करना कर्त्तव्य है, मनसा भगवद्विषयक अनुसन्धान का नाम स्मरण है। यह स्मरण—नाम, रूप, गुण, लीला, परिकर भेद से पञ्चविध हैं। उक्त स्मरण भी साधक की मानस अवस्था के भेद से—स्मरण, धारणा, ध्यान, ध्रुवानुस्मृति एवं समाधि—पञ्चविध हैं, यह स्मरणाङ्ग भक्ति—समष्टि गत रूप पञ्चविंशति प्रकार हैं। वह भक्ति सगुणा निर्गुणा भेद से द्विविध हैं, उस के मध्य में सगुणा भक्ति, तामसी, राजसी, सात्त्विकी भेद से त्रिविध हैं। एवं उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ भेदसे उक्त भक्ति प्रत्येक त्रिविध हैं। अर्थात् उत्तमा तामसी, मध्यमा तामसी, कनिष्ठा तामसी—इस रीति से प्रत्येक तीन प्रकार होने से सगुणा भक्ति नव विध होती हैं। एवं निर्गुणा भक्ति—एक प्रकार है। इस प्रकार स्मरणाङ्ग भक्ति के बहु प्रकार भेद हैं। उस में से स्मरण सामान्य का वर्णन भा० ११।१३।१४ में है—

(२७५) "एतावान् योग आदिष्टो मच्छिष्यैः सनकादिभिः।
सर्वतो मन आकृष्य मय्यद्धावेश्यते यथा ॥" ८४८॥

यथा यथावत्, मय्यावेश्यत इत्येतावानित्यर्थः। तथा च स्कान्दे ब्रह्मोक्तौ-"आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य्य च पुनः पुनः" इत्यादि॥ श्रीभगवान्॥

२७६। तत्र नाम-स्मरणम्—

"हरेर्नाम परं जप्यं ध्येयं गेयं निरन्तरम्। कीर्त्तनीयञ्च बहुधा निर्वृतीर्बहुधेच्छता॥" ८४९॥

इति जाबालिसंहिताद्यनुसारेण ज्ञेयम्। नाम स्मरणन्तु शुद्धान्तः करणतामपेक्षते। तत् कीर्त्तनाद्वावरमिति मूले तु नोदाहरण-स्पष्टता। रूप-स्मरणमाह, (भा० १२।१२।५५)—

(२७६) "अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः, क्षिणोत्यभद्राणि च शं तनोति।
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं, ज्ञानञ्च विज्ञान-विरागयुक्तम्॥" ८५०॥

---

(२७५) "एतावान् योग आदिष्टो मच्छिष्यैः सनकादिभिः।
सर्वतो मन आकृष्य मय्यद्धावेश्यते यथा॥" ८४८॥

टीका—विषयैः सुग्रथितस्य मनसस्तद्वियोगेन ईश्वरनिष्ठत्वमसम्भावितं मन्यमानं प्रति तन्निरूपणाय इतिहासमुपक्षिपति एतावानिति। यथा यथावन्मय्यावेश्यते एतावानित्यर्थः॥

भगवान् श्रीकृष्ण उद्धव को कहे थे। हे उद्धव! मेरे शिष्य सनकादि ऋषिगण इस प्रकार योग का प्रवर्त्तन किये हैं। समस्त विषयों से मनको आकर्षण करके जिस से सब प्रकार से मुझ में ही मन का आवेश हो। स्कन्द पुराण में ब्रह्मोक्ति है—

"आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य्यं च पुनः पुनः।
इदमेव सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा॥"

श्रीब्रह्मा, श्रीनारद को कहे थे—हे वत्स! समस्त शास्त्र को आलोड़न करके एवं पुनः पुनः विचार करके यही सनिष्पन्न हुआ है कि—भगवान् नारायण ही एक मात्र ध्येय हैं। श्रीभगवान् कहे थे—॥२७५॥

२७६। नाम स्मरण का वर्णन करते हैं—

'हरेर्नाम परं जप्यं ध्येयं गेयं निरन्तरम्।
कीर्त्तनीयञ्च बहुधा निर्वृतीर्बहुधेच्छता॥८४९॥

जो बहु प्रकार से आनन्द लाभेच्छु है, उस को एकमात्र श्रीहरि नाम का जप, ध्यान, गान एवं कीर्त्तन करना चाहिये। तात्पर्य्य यह है कि श्रीहरि नाम जप करने से जो आनन्द लाभ होता है, उस से अन्य प्रकार आस्वादन ध्यान करने से होता है। एवं गान से अन्य प्रकार आस्वादन होता है, और कीर्त्तन करने से अन्य प्रकार ही आस्वादन होता है। एक ही श्रीहरि नाम से विभिन्न प्रकार आस्वादन होते हैं। नाम, रूप, गुण, लीला परिकर प्रभृति के कीर्त्तन स्मरणादि से भी पृथक् पृथक् आस्वादन होते हैं। जाबालिसंहिता के अनुसार नाम स्मरण विधि को जानना कर्त्तव्य है। किन्तु नाम स्मरण में चित्त शुद्धि की अपेक्षा है। अर्थात् चित्त शुद्ध न होने से नाम स्मरण की योग्यता नहीं होती है। अतएव कीर्त्तनाङ्ग से स्मरणाङ्ग न्यून शक्ति सम्पन्न है, कारण, जिस को दूसरी की अपेक्षा रहती है, वह दुर्बल है। स्मरण, चित्त शुद्धि की अपेक्षा करता है, अतः वह दुर्बल है, कीर्त्तन में चित्त शुद्धि की अपेक्षा नहीं है, अतः वह सरल है। मूल में किन्तु इस विषयका स्पष्टीकरण नहीं है।

परमात्मनि श्रीकृष्णे प्रेमलक्षणां भक्तिमिति मुख्यं फलमन्यानि त्वानुषङ्गिकाणि ॥ श्रीसूतः ।

२७७ । किञ्च, (भा० १०।८०।११)—

(२७७) "स्मरतः पादकमलमात्मानमपि यच्छति ।
किं न्वर्थकामान् भजतो नात्यभीष्टान् जगद्गुरुः ॥"८५१॥

स्मरतः स्मरते, साक्षात् प्रादुर्भूय आत्मानं स्मर्त्तुर्वशीकरोतीत्यर्थः । अर्थकामानिति बहुवचनं मोक्षमप्यन्तर्भावयति लिङ्गसमवाय-न्यायेन । यस्मादेवं तन्माहात्म्यम्, तस्मादेव गारुड़ेऽपीदमुक्तम् —

"एकस्मिन्नप्यतिक्रान्ते मुहूर्त्ते ध्यानवर्जिते । दस्युभिर्मुषितेनेव युक्तमाक्रन्दितं भृशम् ॥"८५२॥ इति ।

श्रीदामविप्र-भार्य्या तम् ॥

सम्प्रति रूप स्मरण का वर्णन करते हैं—भा० १२।१२।५५ में उक्त है—

(२७६) "अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः क्षिणोत्यभद्राणि च शं तनोति ।
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं, ज्ञानञ्च विज्ञान-विरागयुक्तम् ।"

टीका—ततः किमतआह—अविस्मृतिरिति क्षिणोति—नाशयति ।

श्रीसूत—शौनक प्रभृति को कहे थे—श्रीकृष्ण पदारविन्द की स्मृति अर्थात् स्मरण--निखिल अमङ्गल को विनष्ट करता है । मङ्गल विस्तार करता है, चित्त शुद्ध करता है, एवं भगवच्चरणों में भक्ति प्रदान करता है । एवं विज्ञान विराग युक्त ज्ञान प्रदान करता है । यहाँ पर ज्ञातव्य यह है कि– प्रेम लक्षणा भक्ति लाभ ही भगवच्चरणारविन्द सेवा का मुख्य फल है—अपर--अमङ्गल नाश चित्त शुद्धि प्रभृति आनुषङ्गिक फल हैं ।

श्रीसूत कहे थे ॥२७६॥

२७७ । भा० १०।८०।११ में और भी लिखित है--

(२७७) "स्मरतः पादकमलमात्मानमपि यच्छति ।
किं न्वर्थकामान् भजतो नात्यभीष्टान् जगद्गुरुः ॥"८५१॥

श्रीदाम पत्नी श्रीदाम विप्र को कही थी– जगद् गुरु श्रीकृष्ण, निज चरण स्मरण कारी व्यक्ति के निकट आविर्भूत होकर आत्मदान करते हैं, अर्थात् वशीभूत होते हैं । आत्मदान शब्द से स्फूर्त्ति प्राप्त होते हैं, इस प्रकार अर्थ जानना होगा । मूल श्लोक में अर्थ कामान्-बहु वचन का प्रयोग है-उससे जानना होगा । कि—अर्थ एवं काम्य वस्तु दान तो करते ही हैं, मुक्ति प्रदान भी करते हैं । इस प्रकार अर्थ लिङ्ग समवाय न्यायानुसरण से होता है । समान लिङ्ग द्वारा जहाँ अनुक्त समानलिङ्ग गृहीत होता है, वहाँ लिङ्ग समवाय न्याय का प्रयोग होता है । यहाँ अर्थ एवं काम शब्द---पुंलिङ्ग है । एवं मोक्ष शब्द भी पुंलिङ्ग है, अतः अर्थ एवं काम शब्द से मोक्ष भी गृहीत हुआ ।

नाम स्मरण का माहात्म्य इस प्रकार होने के कारण ही गरुड़ पुराण में कथित है—

"एकस्मिन्नप्यतिक्रान्ते मुहूर्त्ते ध्यानवर्जिते ।
दस्युभिर्मुषितेनेव युक्तमाक्रन्दितुं भृशम् ॥"८५२॥

श्रीहरि ध्यान शून्य होकर एक मुहूर्त्तकाल भी गत होने से दस्यु गण कर्तृक महाधन हृत होने से लोक जिस प्रकार आर्त्तस्वर से कांदते हैं उस प्रकार ही कांदना चाहिये ।

श्रीदामविप्र की भार्य्या श्रीदाम विप्र को कही थी ॥२७७॥

२७८। अथ पूर्ववत् क्रमसोपान-रीत्या सुखलभ्यं गुण-परिकर-सेवा-लीला स्मरणञ्चानुसन्धेयम्। तदिदं स्मरणं पञ्चविधम्,—यत्किञ्चिदनुसन्धानं स्मरणम्, सर्वतश्चित्तमाकृष्य सामान्याकारेण मनोधारणं धारणा, विशेषतो रूपादिचिन्तनं ध्यानम्, अमृतधारावदनवच्छिन्नं तद्ध्रुवानुस्मृतिः, ध्येयमात्र-स्फुरणं समाधिरिति। तत्र स्मरणम्—

"येन केनाप्युपायेन स्मृतो नारायणोऽव्ययः।
अपि पातकयुक्तस्य प्रसन्नः स्यान्न संशयः ॥८५३॥" इति बृहन्नारदीयादौ,

धारणा (भा० ११।१४।२७)—

"विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते ॥"८५४॥ इत्यादौ,

"भगवच्चरणद्वन्द्व-ध्यानं निर्द्वन्द्वमीरितम्। पापिनोऽपि प्रसङ्गेन विहितं सुहितं परम् ॥"८५५॥

ध्यानम्—

२७८। अनन्तर पूर्ववत् क्रम सोपान रीति से अर्थात् नाम स्मरण के पश्चात् रूप स्मरण, इस के पश्चात् गुण स्मरण, इस प्रकार क्रम परिपाटी से सुख लभ्य श्रीहरि के गुण, परिकर, सेवा एवं लीला प्रभृति का स्मरण करना कर्त्तव्य है। यह स्मरण पञ्चविध हैं। यथा कथञ्चित् रूप से श्रीहरि के नाम रूपादि का अनुसन्धान करने का नाम स्मरण है। (१) समस्त विषयों से चित्त आकर्षण पूर्वक साधारण रूप से श्रीहरि के नामादि में चित्त धारण करने का नाम धारणा है। (२) विशेष रूप से नाम रूपादि चिन्ता का नाम ध्यान है। (३) अमृत धारावत् अविच्छिन्न भाव से स्मरण का नाम 'ध्रुवानुस्मृति है। (४) ध्यातृ ध्यान स्फूर्ति शून्य होकर केवल मात्र ध्येय आकार में चित्त वृत्ति का अवस्थान का नाम समाधि है। (५) तन्मध्ये स्मरण का उदाहरण यह है—बृहन्नारदीय में उक्त है—

'येन केनाप्युपायेन स्मृतो नारायणोऽव्ययः।
अपि पातकयुक्तस्य प्रसन्नः स्यान्न संशयः ॥"८५३॥

जिस किसी उपाय से नारायण का स्मरण करने से निखिल पाप युक्त हृदय भी प्रसन्न होता है। इस में संशय नहीं है। भा० ११।१४।२७ में धारणा का वर्णन है—

"विषयान् ध्यायत श्चित्तं विषयेषु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते ॥"८५४॥

टीका—किञ्च ज्ञानं नाम चित्तस्य मदाकारपरिणामः। स च मां भजतः स्वभावत एव भवति न च यत्नान्तरमपेक्षते—इति सदृष्टान्तमाह—विषयानिति।

विविध विषय ध्यान कारी मानव का चित्त विषय में जिस प्रकार निमग्न होता है, उस प्रकार जो व्यक्ति मेरा ध्यान करता है। उस का चित्त भी मुझ में निमज्जित हो जाता है। जल में निमग्न व्यक्ति जिस प्रकार चारों ओर जल को ही देखता है। उस प्रकार मुझ में निमग्न चित्त व्यक्ति भी सब ओर मुझ को ही देखता है।

श्रीनरसिंह पुराण प्रभृति में ध्यान की महिमा वर्णित है—

"भगवच्चरणद्वन्द्व--ध्यानं निर्द्वन्द्वमीरितम्।
पापिनोऽपि प्रसङ्गेन विहितं सुहितं परम् ॥८५५॥

इति नारसिंहादौ। तत्र निर्द्वन्द्वं शीतोष्णादिमय-दुःखपरम्परातीतम्, ईरितं शास्त्रविहितम्, तच्च पापिनोऽपि प्रसङ्गेनापि परमुत्कृष्टं सुहितं विहितं तत्रैवेत्यर्थः। ध्रुवानुस्मृतिश्च (भा० ३।२९।११) "मद्गुणश्रुतिमात्रेण" इत्यादौ, (भा० ११।२।५३) "त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठ-स्मृतिः" इत्यादौ च। एषैव श्रीरामानुजभगवत्पादैः प्रथमसूत्रे दर्शितास्ति। समाधिमाह (भा० १२।१२।६)—

(२७८) "तयोरागमनं साक्षादीशयोर्जगदात्मनोः।
न वेद रुद्धधीवृत्तिरात्मानं विश्वमेव च॥"८५६॥

तयोः—रुद्र-तत्पत्न्योः, भगवदंश-तच्छक्तित्वात् जगदात्मनोरतत्प्रवर्त्तकयोरपि। तत्र हेतुः-

---

भगवच्चरणारविन्द युगल ध्यान ही निर्द्वन्द्व है। अर्थात् शीत, ग्रीष्म, सुख, दुःख, क्षुधा पिपासा प्रभृति का अतीत है। भगवच्चरण युगल का ध्यान करने से क्षुधा, पिपासा, जरा, मृत्यु, शीत, ग्रीष्म जनित किसी प्रकार उद्वेग उपस्थित नहीं होता है। पापी व्यक्ति भी यदि प्रसङ्ग क्रम से भगवच्चरणार विन्द का ध्यान करता है तो, उस का परमहित साधित होता है। निखिल शास्त्र की यही व्यवस्था है। ध्रुवानुस्मृति का प्रसङ्ग भा० ३।२९।११ में है—

"मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्व गुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ।

श्रीकपिल देव निज जननी को कहे थे-हे मातः! निर्गुण भक्ति लक्षण को करता हूँ। मदीय प्रसङ्ग श्रवण मात्र से ही गङ्गा जल की निर्बाधगति सिन्धु की ओर जिस प्रकार होती है, उस प्रकार मुझ में अविच्छिन्ना अर्थात् लयविक्षेपादि द्वारा अप्रतिहता मनोवृत्तिका नाम ही निर्गुण भक्तियोग वा ध्रुवानुस्मृति किंवा निष्ठाभक्ति है। भा० ११।२।५३ "त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठस्मृतिः" श्लोक में भी ध्रुवानुस्मृति का उल्लेख है। उक्त श्लोक का सारार्थ यह है कि--लव निमेषमात्र भगवद् विस्मृति से त्रिभुवन विभव प्राप्त होने का अवसर होता है, इस प्रकार सुन कर भी जो संयत चित्त देव गण कर्त्तृक अन्वेषणीय चरण ध्यान से विचलित नहीं होता है, वही वैष्णव श्रेष्ठ है।

श्रीरामानुज भगवद् पाद ने ब्रह्म सूत्र १।१।१ अथातो ब्रह्म जिज्ञासा सूत्र व्याख्या में ध्रुवानुस्मृति का उल्लेख किया है।

सम्प्रति समाधिका वर्णन करते हैं—भा० १२।१०।६ में उक्त है—

(२७८) "तयोरागमनं साक्षादीशयोर्जगदात्मनोः।
न वेद रुद्धधीवृत्तिरात्मानं विश्वमेव च।"८५६॥

क्रमसन्दर्भ—समाधिमाह तयोरिति। तयो रुद्रतत् पत्न्योः, भगवदंश तच्छक्तित्वाज्जगदात्मनोरतत् प्रवर्त्तकयोरपि। तत्र हेतुः—रुद्धधीवृत्तिर्भगवदाविष्ट चित्तः। (भा० १०।१०।६) "भक्ति पराम् इति पूर्वोक्तेः। तस्मादसंप्रज्ञातनाम्नो ब्रह्मसमाधितोभिन्न एवासौ॥

मार्कण्डेय ऋषि तपस्या रत थे, इस समय श्रीशङ्कर शङ्करी के सहित वृषारोहण पूर्वक वहाँ होकर जा रहे थे, शङ्करी मार्कण्डेय को देखकर शङ्कर को बोली थीं, इस बालक को देखकर हृदय स्नेहार्द्र हो रहा है, इस के पास चलें इस को सिद्धि देनी होगी। उत्तर में श्रीशङ्कर कहे थे—यह मार्कण्डेय--- श्रीभगवान् में समाधिस्थ है, निकट में जाने से भी उस के नयनोन्मीलन नहीं होगा। देवी के आग्रह से

रुद्धधीवृत्तिर्भगवदाविष्टचित्तः,-(भा० १२।१०।६) "भक्ति परां भगवति लब्धवान्" इति पूर्वोक्तेः। तस्मादसंप्रज्ञात-नाम्नो ब्रह्मसमाधितो भिन्न एवासौ ॥ श्रीसूतः ॥

२७९। क्वचिल्लीलादियुक्ते च तस्मिन्नन्यास्फूर्त्तिः समाधिः स्यात्, यथाह (भा० १।५।१३)

(२७९) "उरुक्रमस्याखिलबन्धमुक्तये, समाधिनानुस्मर तद्विचेष्टितम्" इति।

स्पष्टम्। एतद्रूपो दासादि-भक्तानाम्। पूर्वस्तु प्रायः शान्तभक्तानाम्, (भा० १२।१२।६९) स्वसुखनिभृतचेतास्तद्व्युदस्तान्यभावो-,ऽप्यजितरुचिरलीलाकृष्टसारः" इत्याद्युक्तिभ्यः ॥ श्रीनारदः श्रीव्यासम् ॥

२८०। अथ रुचिः शक्तिश्च चेत्तदपरित्यागेन पादसेवा च कर्त्तव्या। सेवास्मरणसिद्ध्यर्थञ्च सा कैश्चित् क्रियते। तथा च विष्णुरहस्ये परमेश्वर-वाक्यम्—

"न मे ध्यानरताः सम्यग् योगिनः परितुष्टये। तथा भवन्ति देवर्षे क्रियायोगरता यथा।
क्रियाक्रमेण योगोऽपि ध्यानिनः संप्रवर्त्तते ॥"८५७॥ इति।

शङ्कर मार्कण्डेय के समीप में उपस्थित होकर बुलाने लगे, किन्तु मार्कण्डेय ने नेत्रों को नहीं खोला, एवं पुकार भी नहीं सुना। उस समय सपत्नी रुद्र का आगमन को मार्कण्डेय जानने में सक्षम नहीं थे। यद्यपि श्रीरुद्र एव रुद्र पत्नी श्रीभगवान् की अंशशक्ति हैं, अतः जगदात्मा एवं नियामक है। तथापि उनका आगमन अवगत न होने का कारण "रुद्ध धी वृत्तिः" है, अर्थात् मार्कण्डेय श्रीभगवान् में अविष्ट चित्त होने के कारण अन्य अनुसन्धान रहित थे। यहाँपर असम्प्रज्ञात नामक ब्रह्म समाधि से इस समाधि का पार्थक्य जानना होगा। कारण इस श्लोक के पूर्व श्लोक में १२।१०।६ में उक्त है—"भक्ति परां भगवति लब्धवान् पुरुषेऽव्यये।" अर्थात् मार्कण्डेय, अव्यय पुरुष श्रीभगवान् में पराभक्ति प्राप्त किये थे। अतएव यहाँपर जानना होगा। कि—श्रीमान् मार्कण्डेय श्रीभगवान् में प्रेमसमाधि प्राप्त किये थे।

प्रवक्ता श्रीसूत हैं—२७८॥

२७९। किसी किसी अधिकारी व्यक्ति में लीलादि युक्त श्रीभगवान् में अन्य अस्फूर्त्ति लक्षण अर्थात् श्रीभगवान् एवं उनकी लीला भिन्न अपर कुछ स्फूर्त्ति रहित समाधि होती है। भा० १।५।१३ में लिखित है—

(२७९) "उरुक्रमस्याखिलबन्धमुक्तये, समाधिनानुस्मर तद्विचेष्टितम्"

देवर्षि नारद वेद व्यास को कहे थे—हे मुनिवर! प्रेम समाधि के द्वारा अखिल बन्ध मुक्ति हेतु श्रीभगवान् की विविध लीला का नियत स्मरण करो। दास सखा प्रभृति भक्त वृन्द की समाधि पूर्व वर्णित लीलायुक्त श्रीभगवान् में होती है। शान्त भक्त वृन्द की लीला शून्य भगवान् में जो समाधि होती है, उस का वर्णन १२।१२।६९ में इस प्रकार है—

"स्वसुख निभृत चेतास्तद् व्युदस्तान्य भावोऽप्यजित रुचिर लीलाकृष्टसारः"

श्रीशुक—आत्माराम थे। आत्मारामता के कारण पूर्ण काम भी थे, तथापि श्रीकृष्ण की मनोहर लीला कथा से आकृष्ट होकर ब्रह्म समाधि में मन स्थिर करने के अक्षम होकर श्रीकृष्ण की मनोहर लीला वर्णन प्रधान श्रीमद् भागवत कथा का प्रचार समस्त मुनि समाज में किये थे।

श्रीनारद—श्रीव्यास को कहे थे ॥२७९॥

२८०। अनन्तर यदि रुचि एवं सामर्थ्य हो तो श्रीनाम कीर्त्तन एवं स्मरण परित्याग न करके ही

योगोऽत्र समाधिः, पादसेवायां पाद-शब्दो भक्तेचव निर्दिष्टः । ततः सेवायाः सादरत्वं विधीयते । सेवा च काल-देशाद्युचिता परिचर्य्यादिपर्य्याया, सा यथा (भा० ४।२१।३१) —

(२८०) "यत् पादसेवाभिरुचिस्तपस्विना-,मशेष-जन्मोपचितं मलं धियः ।
सद्यः क्षिणोत्यन्वहमेधती सती, यथा पदाङ्गुष्ठविनिःसृता सरित् ॥"८५८॥

तपस्विनां संसारतप्तानां मलं तत्तद्वासनाम् । त्वत्पादस्यैवैष महिमेति दृष्टान्तेनाह,—यथेति ॥ पृथुः श्रीविष्णुम् ॥

२८१ । तथा (भा० १०।५१।५५)—

(२८१) "न कामयेऽन्यं तव पादसेवना,-दकिञ्चनप्रार्थ्यतमाद्वरं विभो ।
आराध्य कस्त्वां ह्यपवर्गदं हरे, वृणीत आर्य्यो वरमात्मबन्धनम् ।"८५९।

चरण सेवन करना भी कर्त्तव्य है । कतिपय व्यक्ति स्मरण सिद्धि के निमित्त ही सेवा करते हैं । अतएव विष्णु रहस्य में परमेश्वर का कथन यह है—

"न मे ध्यानरताः सम्यग् योगिनः परितुष्टये ।
तथा भवन्ति देवर्षे क्रिया योगरता यथा ।
क्रियाक्रमेण योगोऽपि ध्यानिनः सम्प्रवर्त्तते ॥"८५७॥

हे देवर्षे ! ध्यानरत योगिगण —मुझ को उस प्रकार सन्तुष्ट करने में सक्षम नहीं हैं, जिस प्रकार प्रेम समाधि युक्त भक्ति क्रिया से मैं जिस प्रकार सन्तुष्ट होता हूँ । यहाँ 'योग' शब्द का अथ है— समाधि । क्रियारूप भक्ति का अनुष्ठान करते करते ध्यान कारी का योग होता है, अर्थात् समाधि होती है । 'पाद सेवा" में प्रयुक्त पाद शब्द द्वारा भक्ति निर्दिष्ट हुई है । अर्थात् केवल चरण सेवा ही करनी होगी श्रीमुख प्रभृति अङ्ग समूह की सेवा नहीं— इस प्रकार अर्थ नहीं है । सर्वाङ्ग की परिचर्य्या हि विहित है । यहाँ "आदर" अर्थ में पाद शब्द का प्रयोग हुआ है । अर्थात् अतिशय आदर एवं मर्य्यादा के सहित श्रीचरण की सेवा करनी चाहिये । काल, देशोचित परिचर्य्या को ही सेवा कहते हैं - सेवा का ही अपर नाम-- परिचर्य्या है । उस सेवा का वर्णन भा० ४।२१।३१ में है--

(२८०) "यत्पादसेवाभिरुचिस्तपस्विना,-मशेष-जन्मोपचितं मलं धियः ।
सद्यः क्षिणोत्यन्वहमेधती सती, यथा पदाङ्गुष्ठविनिःसृता सरित् ॥"८५८॥

पृथु महाराज—श्रीविष्णु को कहे थे - हे नाथ ! आप के चरणारविन्द की सेवा करने का अभिलाष मात्र होने से ही अर्थात् सेवा में रुचि का उदय होने से ही संसार तापसंतप्त मानव वृन्द के अनेक जन्म द्वारा सञ्चित चित्त मालिन्य—अ त सत्वर विनष्ट हो जाता है, जितनी परिमाण में भगवत् चरण सेवा करने की रुचि होती है, उतनी परिमाण में संसार वासना विनष्ट होती है । यही आप के चरणारविन्द की अतुलनीय महिमा है । दृष्टान्त के द्वारा उस को प्रकाश करते हैं— जिस प्रकार आप के चरणाङ्गुष्ठ से नि सृता सरित् श्रीगङ्गा त्रिभुवन को पवित्र करती है ।

पृथु—श्रीविष्णु को कहे थे ॥२८०॥

२८१ । भा० १०।५१।५५ में भी उस प्रकार वर्णित है—

(२८१) "न कामयेऽन्यं तव पादसेवना,--दकिञ्चनप्रार्थ्यतमाद्वरं विभो ।

अकिञ्चना मोक्षपर्य्यन्त-कामनारहिताः । तत्र हेतुः—त्वामाराध्य कस्त्वामपवर्गदं सन्तं वृणीत, अपवर्गदतयाविर्भवन्तं समाश्रयेतेत्यर्थः । वरमित्यव्ययमीषत्प्रिये, वरमात्मनो बन्धनमेव वृणीत ॥

२८२ । अनन्तरञ्चास्य (भा० १०।५१।५६)—

(२८२) "तस्माद्विसृज्याशिषः" इत्यादि-वाक्ये "निरञ्जनम्" इत्यादि ।

अत्र सेव्यपादत्वेनैव प्राप्तस्य तस्य पुरुषोत्तमस्य सच्चिदानन्दघनत्वमेवाभिप्रेतम् ॥ मुचुकुन्दः श्रीभगवन्तम् ॥

२८३ । अत्र पादसेवायां श्रीमूर्त्तिदर्शन-स्पर्श-परिक्रमानुव्रजन-भगवन्मन्दिर-गङ्गा-पुरुषोत्तम-द्वारका-मथुरादि-तदीयतीर्थस्थान गमनादयोऽप्यन्तर्भाव्यास्तत्परिकरप्रायत्वात् । यावज्जीवं

आराध्य कस्त्वां ह्यपवर्गदं हरे, वृणीत आर्य्यो वरमात्मबन्धनम् ॥"८५६॥

श्रीमुचुकुन्द महाराज श्रीभगवान् को कहे थे— हे प्रभो ! जिन्होंने मोक्ष पर्य्यन्त समस्त कामना को परित्याग किया है, उन सब के द्वारा प्रार्थित– आप के चरणारविन्द की सेवा को छोड़ कर मैं कुछ भी वर प्रार्थना नहीं करता हूँ । हे हरे ! आप की आराधना करके कौन व्यक्ति आप से मुक्ति वर ग्रहण करेगा ? आप की आराधना करके बन्धन ग्रहण ही आधारक गण करते हैं, तथापि मुक्ति ग्रहण नहीं करते हैं । श्लोक में 'वरमात्मबन्धनम्" निखिल 'वर' शब्द का अर्थ वरणीय,--प्रार्थनीय नहीं है, कारण, श्लोक के पूर्व चरण में 'वरं' शब्द का एकबार प्रयोग हुआ है । अतएव द्वितीय 'वर' शब्द अव्यय है, एवं ईषत् प्रिय अर्थ में प्रयुक्त है । अर्थ यह है कि -- जिस आत्मबन्धन से मुक्त होकर आप के चरणार विन्द की सेवा करने का सौभाग्य लाभ नहीं होता है, उस मुक्ति की कामना आर्य्यगण नहीं करते हैं । इस प्रकार अर्थ न करने से परवर्त्ती श्लोक की सङ्गति नहीं होगी।।२८१।।

१८२ । इस के बाद—भा० १०।५१।५६ में मुचुकुन्द महाराज ने कहा है—

(२८२) "तस्माद्विसृज्याशिषईशसर्वतो रजस्तमः सत्त्व गुणानुबन्धनाः ।
निरञ्जनं निर्गुणमद्वयं परं त्वां ज्ञप्ति मात्रं पुरुषं व्रजाम्यहम् ॥"

टीका----रजस्तमः सत्त्व गुणैरनुबध्यन्ते इति तथा ता आशिष ऐश्वर्य्यादि शत्रु मारणादि धर्म्मादि रूपा विसृज्य परं पुरुषम्, ईश्वरं ज्ञप्तिमात्रं ज्ञानघनम् । कुतः---निरञ्जनम् । तत् कुतः--निर्गुणम्, तदपि कुतः ? अद्वयम् । अतएव अक्षरं त्वां शरणं व्रजामीति ॥

मैं सब प्रकार कामना को परित्याग करके निरञ्जन निर्गुण परम पुरुष आप की शरण ग्रहण कर रहा हूँ । इस से सुस्पष्ट बोध होता है कि---मुचुकुन्द महाराज ने मुक्ति कामना नहीं की है । यहाँ ज्ञातव्य यह है कि---जिन के चरणार विन्द ही मुख्य सेव्य है, इस रूप में निज गुहा में आविर्भूत पुरुषोत्तम सच्चिदानन्द घन स्वरूप है । ऐसा न होने से मुक्ति पर्य्यन्त कामना को परित्याग करके उनके श्रीचरणार विन्द की सेवा प्रार्थना क्यों करेंगे ?

श्रीमुचुकुन्द---श्रीभगवान् को कहे थे ।।२८२।।

२८३ । पाद सेवा रूप भक्त्यङ्ग के मध्य में श्रीमूर्त्ति दर्शन, श्रीमूर्त्ति स्पर्शन, श्रीमूर्त्ति की परिक्रमा, श्रीमूर्त्ति की अनुव्रज्या (पश्चात् पश्चात् गमन) भगवन्मन्दिर गमन, गङ्गा, पुरुषोत्तम क्षेत्र, द्वारका, मथुरा प्रभृति श्रीकृष्ण सम्बन्धान्वित जो सब तीर्थ हैं उन में स्नान, एवं गमन प्रभृति भक्त्यङ्ग अन्तर्भुक्त है ।

तन्मन्दिरादि-निवासस्तु शरणापत्तावन्तर्भवति। गङ्गादीनां तत्स्थ प्राणिवृन्दानाञ्च परम-भागवतत्वमेवेति, पक्षे तु तत्सेवादिकं महत्सेवायामेव पर्य्यवस्यति। ततो गङ्गादिष्वपि भक्तिनिदानत्वं भवेत्। अतएव (भा० १।२।१६)—

"शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य वासुदेव-कथारुचिः।
स्यान्महत्सेवया विप्राः पुण्यतीर्थनिषेवणात्॥"८६०॥

इत्यत्र पुण्यतीर्थ-शब्दोक्तस्य गङ्गादेः पृथक्कारणत्वं व्याख्येयम्। यथा तृतीये (भा० ३।२८।२२) "यत्पादनिःसृत-सरित्प्रवरोदकेन, तीर्थेन मूर्द्ध्न्यधिकृतेन शिवः शिवोऽभूत्" इति। शिवत्वं नाम ह्यत्र परमसुखप्राप्तिरिति टीकाकृन्मतम्। तादृशसुखत्वञ्च भक्तावेव पर्य्यवसितम्,—तत ऊर्द्ध्वं सुखान्तराभावात्। ब्राह्मे पुरुषोत्तममुद्दिश्य—

कारण, यह सब भक्तयङ्ग पाद सेवा के ही प्राय परिकर हैं। जब तक जीवित रहना है, तब तक श्रीभगवन् मन्दिर में ही निवास करे। यह श्रीभगवन्मन्दिर में निवास रूप भक्तयङ्ग शरणापत्ति में अन्तर्भुक्त है, अतएव उस का उल्लेख पृथक् रूप से नहीं हुआ। श्रीगङ्गा, श्रीपुरुषोत्तम क्षेत्र प्रभृति श्रीभगवान् के तीर्थ समूह एवं उस उस स्थानों में जो सब प्राणी रहते हैं। वे भी परम भागवत हैं। इस पक्ष में उन सब की सेवा महत् सेवा में ही पर्य्यवसित है। कारण, वे सब परम भागवत हैं अतः गङ्गा प्रभृति में भक्ति लाभ का कारणत्व है अतएव भा० १।२।१६ में उक्त है।

"शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य वासुदेव–कथारुचिः।
स्यान्महत्सेवया विप्राः पुण्यतीर्थनिषेवणात्॥"८६०॥

व्यवहारिक कार्य्य सम्पादन हेतु पवित्र तीर्थ में गमन करने से दर्शन, स्पर्श, एवं सम्भाषण रूप साधु सङ्ग की सम्भावना होती है। उस साधु सङ्ग से साधु मुखरित कथा श्रवण करने की इच्छा का उद्गम होता। अनन्तर श्रीवासुदेव की कथामें रुचि होती है। उस से महत् की सेवा करने का सौभाग्योदय होता है। एवं उस महत् सेवा से उनकी कथा में विश्वास उत्पन्न होता है। उस श्लोक में लिखित "पुण्यतीर्थ निषेवणात्" अर्थात् पवित्र तीर्थ निषेवण से—पवित्र तीर्थ गङ्गा प्रभृति को सूचित किया गया है। अर्थात् साधु सङ्ग जिस प्रकार भक्ति लाभ का कारण है, उस प्रकार गङ्गा प्रभृति भगवत् सम्बन्धान्वित तीर्थ भी भगवद् भक्ति लाभ के स्वतन्त्र कारण हैं। इस प्रकार व्याख्या करनी चाहिये। अर्थात् श्रीगङ्गा प्रभृति श्रीकृष्ण सम्बन्धीय तीर्थ समूह में साधु सङ्ग लाभ की सम्भावना रूप हेतुत्व विद्यमान है। तज्जन्य उन सब का भक्ति लाभ के प्रति पृथक् कारणत्व निर्द्देश किया गया है। भा० ३।२८।२२ में उक्त है—

"यत् पादनिःसृत-सरित्प्रवरोदकेन, तीर्थेन मूर्द्ध्न्यधिकृतेन शिवः शिवोऽभूत्"

जिन के श्रीचरण से निःसृत नदी श्रेष्ठ परम पवित्र श्रीगङ्गा जल मस्तक में धारण करके श्रीशिव शिव हुये हैं। यहाँ शिव शब्द से टीकाकार श्रीधर स्वामि पाद के मत में परम सुख प्राप्ति रूप अर्थ बोध ही होता है। यह परम सुख प्राप्ति भी भक्ति में ही पर्य्यवसित हुआ है। कारण, भक्ति व्यतीत अधिक अपर कोई सुख नहीं है।

श्रीगङ्गा प्रभृति तीर्थ जो परम भागवत एवं भगवद् भक्ति का उद्बोधक है, उस का उल्लेख, ब्रह्म पुराण में पुरुषोत्तम को लक्ष्य करके है।

"अहो क्षेत्रस्य माहात्म्यं समन्ताद्दशयोजनम् । दिविष्ठा यत्र पश्यन्ति सर्व्वानेव चतुर्भुजान् ॥"८६१॥

स्कान्दे—

"संवत्सरं वा षण्मासान्मासं मासार्द्धमेव वा। द्वारकावासिनः सर्वे नरा नार्य्यश्चतुर्भुजाः ॥"८६२॥

पाद्मपातालखण्डे—

"अहो मधुपुरी धन्या वैकुण्ठाच्च गरीयसी। दिनमेकं निवासेन हरौ भक्तिः प्रजायते ॥"८६३॥

आदिवाराहे तामुद्दिश्य—"जन्मभूमिः प्रिया मम" इति। एषु च स्वोपासनास्थानमधिकं सेव्यम् । श्रीकृष्णस्य पूर्णभगवत्त्वात् तत्स्थानन्तु सर्वेषामेव पूर्णपुरुषार्थदं भवेत् । अतएवादिवाराहे—

"मथुराञ्च परित्यज्य योऽन्यत्र कुरुते रतिम् । मूढ़ो भ्रमति संसारे मोहितो मम मायया ॥"८६४॥ इति।

तदेवं तुलसीसेवा च सत्सेवायामन्तर्भाव्या,—परमभगवत्प्रियत्व त्तस्याः, यथा अगस्त्य-संहितायां गारुड़-संहितायाञ्च—

"अहो क्षेत्रस्य माहात्म्यं समन्ताद्दशयोजनम् ।
दिविष्ठा यत्र पश्यन्ति सर्व्वानेव चतुर्भुजान् ॥"८६१॥

अहो ! श्रीक्षेत्र का कैसा अपूर्व माहात्म्य है ? चतुर्द्दिक में दश योजन पर्य्यन्त क्षेत्र वासी प्राणीवृन्द को देवगण, चतुर्बाहु रूप में दर्शन करते हैं। स्कन्द पुराण में भी उक्त है—

"संवत्सरं वा षण्मासान्मासं मासार्द्धमेव वा ।
द्वारकावासिनः सर्वे नरा नार्य्यश्चतुर्भुजाः ।।"८६२॥

श्रीद्वारका वासी को लक्ष्य करके कहा गया है—एक वत्सर हो, वा छैमास हों, वा एक मास हो, अथवा मासार्द्ध काल ही हो, जो द्वारका में वास करते हैं, वे सब नर नारीगण चतुर्भुज होते हैं।

पद्म पुराण के पाताल खण्ड में मथुरामण्डल के सम्बन्ध में लिखित है—

"अहो मधुपुरी धन्या वैकुण्ठाच्च गरीयसी।
दिनमेकं निवासेन हरौ भक्तिः प्रजायते ।।"८६३॥

अहो ! कैसा अद्भुत है ? वैकुण्ठ से भी मथुरा मण्डल धन्य वादार्ह है। कारण, इस मथुरा मण्डल में मात्र एकदिन वास करने से ही श्रीभगवत् चरणों में भक्ति का उदय होता है। आदि वाराह में मथुरा को उद्देश्य करके कहा गया है—"जन्मभूमिप्रियामम" मेरी जन्म भूमि मथुरा अतिशय प्रिय है। यह सब पवित्र तीर्थ के मध्य में निज उपासना स्थल अधिक सेव्य है। अर्थात् वैष्णव के पक्ष में विष्णु क्षेत्र, शैव के पक्ष में शिव क्षेत्र, एवं शाक्त के पक्ष में शक्ति क्षेत्र, श्रेष्ठ है। श्रीकृष्ण ही पूर्ण भगवान् होने के कारण, उनका स्थान अर्थात् मथुरा मण्डल, सकल साधक के पक्ष में ही पूर्ण पुरुषार्थ प्रद है। अतएव आदि वाराह पुराण में लिखित है—

"मथुराञ्च परित्यज्य योऽन्यत्र कुरुते रतिम् ।
मूढ़ो भ्रमति संसारे मोहितो मम मायया ।।"८६४॥

जो मथुरा को परित्याग करके अन्य स्थान बास हेतु आग्रह युक्त होता है, वह यथार्थ पारमार्थिक ज्ञान विमूढ़ है, एवं मेरी माया द्वारा विमोहित होकर संसार में भ्रमण करता रहता है।

अतएव पूर्व वर्णित श्रीतुलसी सेवा भी सत् सेवा में अर्थात् साधु सेवा में अन्तर्भुक्त है। कारण, तुलसी स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण की परम प्रिया हैं। अगस्त्य संहिता एवं गरुड़ संहिता में उक्त है—

"विष्णोस्त्रैलोक्यनाथस्य रामस्य जनकात्मजा। प्रिया तथैव तुलसी सर्वलोकैकपावनी ॥"८६५॥

स्कान्दे—

"रतिं बध्नाति नान्यत्र तुलसीकाननं विना। देवदेवो जगत्स्वामी कलिकाले विशेषतः ॥८६६॥
निरीक्षिता नरैर्यैस्तु तुलसीवनवाटिका। रोपिता यैस्तु विधिना संप्राप्त परमं पदम् ॥"८६७॥

स्कान्द एव तुलसीस्तवे—"तुलसीनाममात्रेण प्रीणात्यसुरदर्पहा" इति। तदेवं पादसेवा व्याख्याता, प्रसङ्गसङ्गत्या गङ्गादि-सेवा च।

अथार्च्चनम्, तच्चागमोक्तावाहनादिक्रमकम्, तन्मार्गे श्रद्धा चेदाश्रितमन्त्रगुरुस्तं विशेषतः पृच्छेत्, तथोदाहृतम् (भा० ११।३।४८) "लब्धानुग्रह आचार्य्यात्तेन सन्दर्शितागमः" इत्यादिना। यद्यपि श्रीभागवतमते पञ्चरात्रादिवदर्च्चनमार्गस्यावश्यकत्वं नास्ति, तद्विनापि

"विष्णोस्त्रैलोक्यनाथस्य रामस्य जनकात्मजा।
प्रिया तथैव तुलसी सर्वलोकैकपावनी ॥"८६५॥

त्रिलोक नाथ विष्णु श्रीराम चन्द्र की जनकात्मजा जिस प्रकार प्रिया हैं, समस्त लोकों को पवित्र कारिणी तुलसी उस प्रकार प्रिया हैं। स्कन्द पुराण में वर्णित है—

"रतिं बध्नाति नान्यत्र तुलसीकाननं विना।
देवदेवो जगत् स्वामी कलिकाले विशेषतः ॥८६६॥
निरीक्षिता नरैर्यैस्तु तुलसीवनवाटिका।
रोपिता यैस्तु विधिना संप्राप्तं परमं पदम् ॥"८६७॥

देवाराध्य जगत् स्वामी तुलसी कानन को छोड़कर अन्यत्र प्रीति विधान नहीं करते हैं। किन्तु कलिकाल में तुलसी कानन के प्रति श्रीविष्णु की विशेष प्रीति है। जो सब मानव तुलसीवन वाटिका का दर्शन करते हैं, एवं जो विधि पूर्वक तुलसी रोपण करते हैं, वे परम पद स्वरूप वैकुण्ठारोहण करते हैं। स्कन्द पुराण के तुलसी स्तव में लिखित है— "तुलसी नाम मात्रेण प्रीणात्यसुरदर्पहा"

असुरदर्प दलन कारी श्रीहरि तुलसी नाम मात्र से ही परम सन्तुष्ट होते हैं। पूर्व वर्णित रीति से पाद सेवा का वर्णन हुआ, प्रसङ्ग क्रम से गङ्गादि सेवा का वर्णन भी हुआ। सम्प्रति अर्च्चनाङ्ग भक्ति का वर्णन करते हैं। आगमोक्त नियमानुसार आवहनादि पूर्वाङ्ग निर्वाह पूर्वक उपचार समूह का श्रीभगवान् में अर्पण करने का नाम ही अर्च्चन है। अर्च्चनाङ्ग में यदि श्रद्धा होतो मन्त्र गुरु के श्रीचरणाश्रय पूर्वक उनके निकट से विशेष रूप से जान लेना आवश्यक है। भा० ११।३।४८ में उस विषय में वर्णित है—

"लब्धानुग्रह आचार्य्यात् तेन सन्दर्शितागमः"

आविर्होत्र योगीन्द्र, निमिमहाराज को कहे थे। आचार्य्य-श्रीदीक्षा गुरु के निकट से मन्त्रदीक्षा ग्रहण करके उन के द्वारा प्रदर्शित शास्त्र विधि के अनुसार निजेष्ट देवता की पूजा करे।" यद्यपि श्रीभागवत मत में पञ्चरात्रादि वत् अर्च्चन मार्ग की अवश्य कर्त्तव्यता नहीं है, कारण अर्च्चनाङ्ग भक्ति साधन के विना भी शरणागति प्रभृति भक्ति के किसी एक अङ्ग अनुष्ठान से ही पुरुषार्थ स्वरूप श्रीभगवान् में प्रेम लाभ कर सकते हैं, तथापि श्रीनारद प्रभृति पूर्व महाजन वृन्द के कथानु सरण कारी साधक वृन्द के पक्ष में दीक्षा विधान के द्वारा श्रीगुरु चरण सम्पादित श्रीभगवान् के सहित दास्यादि किसी एक सम्बन्ध विशेष स्थापन की इच्छा हेतु दीक्षा ग्रहण करके किसी एक सम्बन्ध स्थापन की इच्छा हो तो, दीक्षा ग्रहण करने के

शरणापत्त्यादीनामेकतरेणापि पुरुषार्थ-सिद्धेरभिहितत्वात्, तथापि श्रीनारदादिवर्त्मानुसरद्भिः श्रीभगवता सह सम्बन्धविशेषं दीक्षाविधानेन श्रीगुरुचरणसम्पादितं चिकीर्षद्भिः कृतायां दीक्षायामर्च्चनमवश्यं क्रियेतैव,—

"दिव्यं ज्ञानं यतो दद्यात् कुर्य्यात् पापस्य संक्षयम् । तस्माद्दीक्षेति सा प्रोक्ता देशिकैस्तत्त्वकोविदैः ।८६८।
अतो गुरुं प्रणम्यैव सर्वस्वं विनिवेद्य च । गृह्णीयाद् वैष्णवं मन्त्रं दीक्षापूर्वं विधानतः ।"८६९।

इत्यागमात् । दिव्यं ज्ञानं ह्यत्र श्रीमति मन्त्रे भगवत्स्वरूपज्ञानम्, तेन भगवता सम्बन्ध विशेषज्ञानञ्च, यथा पाद्मोत्तरखण्डादावष्टाक्षरादिक मधिकृत्य विवृतमस्ति । ये ते सम्पत्तिमन्तो

बाद ही अर्च्चन करना अवश्य कर्त्तव्य है। तात्पर्य्य यह है कि—श्रीमद् भागवत के मत में श्रीमद् भागवत श्रवण, कीर्त्तन, पाद सेवा प्रभृति भक्तिचङ्ग आचरण की अवश्य कर्त्तव्यता निर्दिष्ट है, उस प्रकार ही अर्चनाङ्ग भक्ति को अवश्य कर्त्तव्यता निर्दिष्ट है, किन्तु उक्त श्रवणादि भक्तचङ्ग का आचरण न करने से जिस प्रकार प्रत्यवाय होता है, उस प्रकार अर्च्चनाङ्ग भक्तचङ्ग का अनुष्ठान न करने से प्रत्यवाय होगा। इस प्रकार कथित नहीं है। कारण, अर्च्चनाङ्ग भक्ति के विना भी श्रवण कीर्त्तनादि किसी एक अङ्ग के साधन द्वारा प्रेम लाभ हो सकता है। इस प्रकार भूयोभूयः उल्लेख है। तथापि पूर्व पूर्व महाजन श्रीनारद प्रभृति जिस प्रकार श्रीगुरुचरण के समीप से दीक्षा ग्रहण पूर्वक निजेष्ट देवकी अर्च्चना भी किये हैं। उन सब महापुरुष वृन्द के आचरण का अनुसरण जो लोक करते हैं, उनके पक्ष में श्रीगुरु चरणाश्रय ग्रहण करके भगवन्मन्त्र में दीक्षा ग्रहण करना अवश्य कर्त्तव्य है। कारण, दीक्षा ग्रहण व्यतीत श्रीभगवान् के सहित दास्यादि विशेष सम्बन्ध का उद्बोधन नहीं होता है। अथ च उक्त सम्बन्ध का स्फुरण सम्पादन श्रीगुरु चरण ही करते हैं। श्रीगुरु चरणाश्रय पूर्बक दीक्षा ग्रहण न करके शरणागति प्रभृति भक्तचङ्ग साधन के द्वारा भगवान् मेरा आराध्य हैं, मैं उनका आराधक हूँ—इस प्रकार सामान्य सम्बन्ध का उद्बोधन होने पर भी दास्यादि विशेष सम्बन्ध का उद्बोधन नहीं होता है, मानव का जन्म दो प्रकार से सम्पन्न होता है, एक व्यवहारिक, अपर पारमार्थिक विन्दु से जो जन्म होता है, वह व्यवहारिक जन्म है, एवं नाद अर्थात् भगवन्मन्त्र से जो जन्म होता है, वह पारमार्थिक है, पिता, पितामह क्रम से कश्यप, शाण्डिल्य, भरद्वाज प्रभृति के सहित जिस प्रकार सम्बन्ध होता है, एवं तज्जन्य एक आवेश भी होता है, उस प्रकार गुरु परम गुरु क्रम से श्रीभगवान् के सहित नित्य सम्बन्ध विशेष का उद्बोधक दीक्षा ग्रहण के द्वारा ही होता है, जो श्रीभगवान् के सहित दास्यादि विशेष सम्बन्ध स्थापन करने के इच्छुक हैं, उन को दीक्षा ग्रहण करना अवश्य चाहिये। एवं दीक्षा ग्रहण करना जिस प्रकार अवश्य कर्त्तव्य है, उसी प्रकार दीक्षा ग्रहण के पश्चात् श्रीभगवदर्च्चन करना भी अवश्य कर्त्तव्य है। आगम शास्त्र में लिखित है—

"दिव्यं ज्ञानं यतो दद्यात् कुर्य्यात् पापस्य संक्षयम् ।
तस्माद्दीक्षेति सा प्रोक्ता देशिकैस्तत्त्वकोविदैः ।।८६८।।
अतो गुरुं प्रणम्यैव सर्वस्वं विनिवेद्य च ।
गृह्णीयाद् वैष्णवं मन्त्रं दीक्षापूर्वं विधानतः ।।"८६९।।

जिस से दिव्य ज्ञान लाभ होता है, एवं निखिल पापक्षय सम्यक् रूप से होते हैं, तत्त्व ज्ञ पण्डितगण उस को दीक्षा कहते हैं। अतएव श्रीगुरुदेव को प्रणाम करके एवं श्रीगुरुदेव को सर्बस्व निवेदन करके यथा विधि वैष्णवमन्त्र ग्रहण करे। यहाँ दिव्य ज्ञान शब्द से मन्त्र में भगवत् स्वरूप ज्ञान, एवं मन्त्र देवता श्रीभगवान् के सहित सम्बन्ध विशेष ज्ञान रूप अर्थ को जानना होगा। पद्म पुराण के उत्तर खण्ड प्रभृति

गृहस्थास्तेषान्त्वर्च्चनमार्ग एव, यथोक्तं श्रीवसुदेवं प्रति मुनिभिः भा० १०।८४।३७) —

"अयं स्वस्त्ययनः पन्था द्विजातेर्गृहमेधिनः।
यच्छ्रद्धयाप्तवित्तेन शुक्लेनेज्येत पुरुषः॥"८७०॥ इति।

तदकृत्वा हि निष्किञ्चनवत् केवलस्मरणादि-निष्ठत्वे वित्तशाठ्यप्रतिपत्तिः स्यात्। परद्वारा तत्सम्पादनं व्यवहारनिष्ठत्वस्यालसत्वस्य वा प्रतिपादकम्, ततोऽश्रद्धामयत्वाद्धीनमेव तत्। ततश्च (भा० ११।३।३८)"योऽमायया सन्ततयानुवृत्त्या" इत्याद्युपदेशाद्भ्रश्येत्। किञ्च, गृहस्थानां परिचर्य्यामार्गे द्रव्यसाध्यतयार्च्चनमार्गादविशेषेण प्राप्तेऽप्यर्चनमार्गस्यैव प्राधान्यमत्यन्त-विधिसापेक्षत्वात्तेषाम्। तथा गार्हस्थ्यधर्मस्य देवतायागस्य शाखा--पल्लवादिसेकस्थानीयस्य मूलसेकरूपं तदर्च्चनमित्यपि तदकरणे महान् दोषः, अतः स्कान्दे श्रीप्रह्लाद-वाक्यम्—

में अष्टाक्षर मन्त्र विषय में जो वर्णित है,—उस में भी दिव्य ज्ञान शब्द से पूर्वोक्त अर्थ ही प्रकाशित हुआ है। विशेषतः सम्पत्तिमान् गृहस्थ के पक्ष में अर्च्चन मार्ग ही मुख्य है। भा० १०।८४।३७ में श्रीवसुदेव के प्रति मुनि वृन्द ने कहा है—

"अयं स्वस्त्ययनः पन्था द्विजातेर्गृहमेधिनः।
यच्छ्रद्धयाप्तवित्तेन शुक्लेनेज्येत पूरुषः॥"८७०॥

हे वसुदेव! जिस का जन्म दोबार हुआ है, इस प्रकार गृहस्थ के पक्ष में पवित्र भाव से उपार्जित अर्थ के द्वारा निष्काम भाव से परमपुरुष श्रीभगवदर्च्चन करना ही मङ्गल मय पन्था है। सम्पत्तिमान् गृहस्थ श्रीभगवदर्च्चन न करके केवल निष्किञ्चन के समान स्मरण निष्ठ होने पर वित्त शाठ्य दोष उपस्थित होता है। स्वयं अर्च्चन न करके अपर के द्वारा अर्च्चन कराने से व्यवहार निष्ठत्व एवं आलस्यत्व का प्रतिपादन होता है। अर्थात् स्वयं आलस्य परायण एवं व्यवहारिक कार्य्यासक्त है, इस का प्रकाश होता है। अतएव फलतः उस व्यक्ति की श्रद्धा अर्च्चन मार्ग में नहीं है, इस का बोध होता है, अपर व्यक्ति के द्वारा अर्च्चन कार्य्य सम्पादन कराना अत्यन्त हीनता का परिचायक है। अतएव भा० ११।३।३८ में उक्त है—

"यो-मायया सन्ततयानु वृत्त्या" अकपट भाव से इष्ट के अनुकूलवृत्ति अवलम्बन द्वारा विस्तृत रूप से अर्च्चन करने का जो भगवदुपदेश है—उस से वह स्पष्ट होता है।

परिचर्य्या मार्ग जिस प्रकार द्रव्य साध्य है, उस प्रकार अर्च्चन मार्ग भी द्रव्य साध्य है। अतः परिचर्य्यामार्ग से अर्च्चन मार्ग का पार्थक्य न होने पर गृहस्थ के पक्ष में अर्च्चन मार्ग का प्राधान्य है। कारण, गृहस्थ के पक्ष में अत्यन्त विधि की अपेक्षा है। तात् पर्य्य यह है कि—देहादि सम्बन्ध प्रधान गृहस्थ होने के कारण, विविध कदर्य्य शील होकर उच्छृङ्खल भावापन्न होने की सम्भावना गृहस्थ जीवन में है। अतएव विधि द्वारा नियन्त्रित न होने से उच्छृङ्खल भावापन्न होने की आशङ्का है। विधि के अधीन होने से स्वेच्छा चारिता का अवसर उपस्थित नहीं होता है। अर्च्चन न करके पान भोजन ग्रहण नहीं करेंगे इस प्रकार नियम करना आवश्यक है। विशेषतः गृहस्थाश्रमी के पक्ष में देवता के उद्देश्य में द्रव्य त्याग रूप याग करना भी आवश्यक है। शाखा पल्लव में जल सिञ्चन के समान विभिन्न देवार्च्चन है। एवं मूल में जल सेक स्थानीय निजेष्ट देवार्च्चन है। अतएव, गृहस्थ वैष्णव के पक्ष में वृक्षमूल में जल सिञ्चन से जिस प्रकार शाखा पलवादि की तृप्ति स्वतः होती है। उस प्रकार सर्व देवता के मूल स्थानीय श्रीविष्णु का अर्च्चन करने से, शाखा पल्लवस्थानीय अन्य देव वृन्द का अर्च्चन रूप याग भी सु सम्पन्न

"केशवार्च्चा गृहे यस्य न तिष्ठति महीपते । तस्यान्नं नैव भोक्तव्यमभक्ष्येण समं स्मृतम् ॥"८७१॥ इति दीक्षितानान्तु सर्वेषां तदकरणे नरकपातः श्रूयते, यथा विष्णुधर्मोत्तरे—

"एककालं द्विकालं वा त्रिकालं पूजयेद्धरिम् । अपूज्य भोजनं कुर्वन्नरकाणि व्रजेन्नरः ॥" ८७२॥ इत्यादि अशक्तमयोग्यं प्रति चाग्नेये—

"पूजितं पूज्यमानं वा यः पश्येद्भक्तितो हरिम् । श्रद्धया मोदयेद्यस्तु सोऽपि योगफलं लभेत् ॥"८७३॥ इति

योगोऽत्र पञ्चरात्राद्युक्तः क्रियायोगः । क्वचिदत्र मानसपूजा च विहितास्ति, तथा च पाद्मोत्तरखण्डे-"साधारणं हि सर्वेषां मानसेज्या नृणां प्रिय" इति । किञ्च, अस्मिन्नर्चनमार्गेऽवश्यं विधिरपेक्षणीयस्ततः पूर्वं दीक्षा कर्त्तव्या । अथ शास्त्रीयं विधानञ्च शिक्षणीयम् । दीक्षा यथागमे—

"द्विजानामनुपनीतानां स्वकर्म्माध्ययनादिषु । यथाधिकारो नास्तीह स्याच्चोपनयनादनु ॥८७४॥
तथात्रादीक्षितानान्तु मन्त्रदेवार्च्चनादिषु । नाधिकारोऽस्त्यतः कुर्य्यादात्मानं शिवसंस्तुतम् ॥"८७५॥

होता है । देवता के उद्देश्य में द्रव्य त्याग न करके केवल स्त्री पुत्र के भोग विलास सम्पादन हेतु अर्थ व्यय करने से--महापातक होता है । अतएव गृहस्थ के पक्ष में भगवदर्च्चन करना महान् दोष होता है । अतएव स्कन्द पुराण में श्रीप्रह्लाद वाक्य यह है--

"केशवार्च्चा गृहे यस्य न तिष्ठति महीपते ।
तस्यान्नं नैव भोक्तव्यमभक्ष्येण समं स्मृतम् ॥"८७१॥

जिस के घर में श्रीकेशव की अर्च्चना श्रीमूर्त्ति पूजा नहीं है, उसका अन्न--अभक्ष्य मान कर भोजन न करे, विशेषतः जो श्रीविष्णु मन्त्र में दीक्षित नहीं है, वह गृहस्थ हो वा उदासीन हो, किंवा ब्रह्मचारी अथवा वान प्रस्थो हो—निजेष्ट देव की पूजा न करने से सब के पक्ष में अविशेष रूप से नरकपात होता है, यह वृत्तान्त शास्त्र में वर्णित है । विष्णु धर्मोत्तर में लिखित है,—विष्णु मन्त्र में दीक्षित मानव, एककाल, द्विकाल, अथवा त्रिकाल श्रीहरि की पूजा करे । श्रीहरि की पूजा न करके भोजन करने से विविध नरक में गमन करना पड़ता है । अग्नि पुराण में लिखित है—जो पूजा करने में अक्षम वा अयोग्य है, वह यदि पूजित वा पूज्यमान श्रीहरि का दर्शन करता है, अथवा श्रद्धा युक्त होकर अनुमोदन करता है, तो पूजा फल को प्राप्त करता है ।

"एककालं द्विकालं वा त्रिकालं पूजयेद्धरिम् ।
अपूज्य भोजनं कुर्वन्नरकाणि व्रजेन्नरः ॥"८७२॥
"पूजितं पूज्यमानं वा यः पश्येद्भक्तितो हरिम् ।
श्रद्धया मोदयेद्यस्तु सोऽपि योगफलं लभेत् ॥८७३॥

यहाँ पर "योग" शब्द का अर्थ श्रीनारद पञ्चरात्रोक्त क्रियायोग है । किसी किसी स्थान में मानस पूजा की भी व्यवस्था है । पाद्मोत्तरखण्ड में लिखित है—'साधारणं हि सर्वेषां मानसेज्या नृणां प्रिये'

मानव मात्र के पक्ष में साधारण भाव से मानस पूजा ही प्रिय है । इस अर्च्चन मार्ग में अवश्य ही विधि के अपेक्षा है । अतएव प्रथमतः दीक्षा ग्रहण करना अवश्य कर्त्तव्य है । अनन्तर श्रीगुरु चरण के समीप से शास्त्रीय अर्च्चन विधि की शिक्षा करनी चाहिये, इस अर्च्चन मार्ग में स्वेच्छानुसार अर्थात् मनमुखी रूप से कुछ भी करना निषिद्ध है ।

शास्त्रीयविधानञ्च यथा विष्णुरहस्ये—

"अविज्ञाय विधानोक्तां हरिपूजाविधिक्रियाम् । कुर्वन् भक्त्या समाप्नोति शतभागं विधानतः ॥"८७६॥

भक्त्या परमादरेणैव शतभागं प्राप्नोत्यन्यथा तावन्तमपि नेत्यर्थः । विधौ तु वैष्णव-सम्प्रदायानुसार एव प्रमाणम्, यतो विष्णुरहस्ये—

"अर्च्चयन्ति सदा विष्णुं मनोवाक्कायकर्म्मभिः । तेषां हि वचनं ग्राह्यं ते हि विष्णुसमा मताः ॥"८७७

कौर्मे—

"संपृष्ट्वा वैष्णवान् विप्रान् विष्णुशास्त्रविशारदान् । चीर्णव्रतान् सदाचारान् तदुक्तं यत्नतश्चरेत् ॥"८७८।

वैष्णवतन्त्रे—

"येषां गुरौ च जप्ये च विष्णौ च परमात्मनि । नास्ति भक्तिः सदा तेषां वचनं परिवर्ज्जयेत् ॥"८७९॥ इति ।

दीक्षा ग्रहण की अवश्य कर्त्तव्यता के सम्बन्ध में आगम में उक्त है ।

"द्विजानामनुपनीतानां स्वकर्म्माध्ययनादिषु ।
यथाधिकारो नास्तीह स्याच्चोपनयनादनु ॥८७४॥
तथात्रादीक्षितानान्तु मन्त्रदेवार्च्चनादिषु ।
नाधिकारोऽस्त्यतः कुर्य्यादात्मानं शिवसंस्तुतम् ॥"८७५॥

अनुपनीत द्विज के पक्ष में जिस प्रकार वेद एवं वेदानुगत शास्त्राध्ययन अधिकार नहीं है, उपनयन संस्कार के पश्चात् अध्ययनाधिकार होता है, उसी प्रकार, अदीक्षित मानव के पक्ष में मन्त्र देवतार्च्चन का अधिकार नहीं है, अतएव अपने को शिवसंस्तुत करे । अर्थात् मन्त्रदीक्षा ग्रहण अवश्य करे । यही दीक्षा ग्रहण की अवश्य कर्त्तव्यता है । विष्णु रहस्य में शास्त्रीय विधान वर्णित है—

"अविज्ञाय विधानोक्तां हरिपूजाविधिक्रियाम् ।
कुर्वन् भक्त्या समाप्नोति शतभागं विधानतः ॥"८७६॥

जो व्यक्ति श्रीगुरुचरण के समीप से अर्च्चन विधि को न जानकर श्रीहरि पूजाविधि क्रिया का अनुष्ठान भक्ति पूर्वक करता है, वह, विधि पूर्वक पूजा करने से जो फल होता है, उस के शतभाग का एक भाग फल प्राप्त करता है । भक्ति एवं आदर पूर्वक पूजा करने से ऐसा होता है, अन्यथा अर्थात् परमादर से पूजा न करने से शतभाग का एक भाग भी फल लाभ नहीं होगा । अर्च्चन विधि के विषय में वैष्णव सम्प्रदाय के अनुसार प्रचलित विधि को जानना होगा । अर्थात् शास्त्र में बहु प्रकार विधि वर्णित होने पर भी वैष्णव गण जिस रीति से अर्च्चन करते रहते हैं, उस विधि से ही अर्च्चन करना कर्त्तव्य है । कारण, विष्णु रहस्य में लिखित है—

"अर्च्चयन्ति सदा विष्णुं मनोवाक्कायकर्म्मभिः ।
तेषां हि वचनं ग्राह्यं ते हि विष्णुसमा मताः ॥"८७८।

जो कायिक, वाचिक, मानसिक रूप से सर्वदा श्रीविष्णु की अर्च्चना करते हैं, उनका वचन ही ग्राह्य है, कारण वे विष्णुसम होते हैं । कूर्म्म पुराण में भी लिखित हैं—

"संपृष्ट्वा वैष्णवान् विप्रान् विष्णुशास्त्र विशारदान् ।
चीर्णव्रतान् सदाचारान् तदुक्तं यत्नतश्चरेत् ॥"८७८॥

विष्णु भक्ति शास्त्र विशारद वैष्णव ब्राह्मण वृन्द को जिज्ञासा करके, जो सदाचार परायण होकर व्रतादि आचरण करते हैं, उन के वाक्य को यत्न पूर्वक सुनकर आचरण करे । वैष्णव तन्त्र में भी लिखित

तथाह (भा० ९।४।२१)–

(२८३) "एवं सदा" इत्यादौ, "तन्निष्ठविप्राभिहितः शशास ह" इति।
अम्बरीष इति प्रकरणलब्धम्॥ श्रीशुकः॥

२८४। ननु भगवन्नामात्मका एव मन्त्राः। तत्र विशेषेण नमः-शब्दाद्यलङ्कृताः श्रीभगवता श्रीमदृषिभि-श्चाहितशक्तिविशेषाः, श्रीभगवता सममात्मसम्बन्धविशेष-प्रतिपादकाश्च। तत्र केवलानि श्रीभगवन्नामान्यपि निरपेक्षाण्येव परमपुरुषार्थफलपर्य्यन्तदान समर्थानि। ततो मन्त्रेषु नामतोऽप्यधिक-सामर्थ्येऽलब्धे कथं दीक्षाद्यपेक्षा? उच्यते—यद्यपि स्वरूपतो नास्ति, तथापि प्रायः स्वभावतो देहादि-सम्बन्धेन कदर्य्यशीलानां विक्षिप्तचित्तानां जनानां तत्तत्सङ्कोचीकरणाय श्रीमदृषिप्रभृतिभिरत्रार्च्चनमार्गे क्वचित् क्वचित् काचित्

है— "येषां गुरौ च जप्ये च विष्णौ च परमात्मनि।
नास्ति भक्तिः सदा तेषां वचनं परिवर्ज्जयेत्॥"८७१॥

जिस की भक्ति श्रीगुरु में जप्य मन्त्र में एवं परमात्मा श्रीविष्णु में भक्ति नहीं है, उस के वचन को सर्वथा परित्याग करे। उक्त विष्णु रहस्य के वाक्य में लिखित है—"अर्च्चयन्ति सदा विष्णु" यहाँ 'सदा' शब्द का अर्थ--सर्वदा अर्थात् निरवच्छिन्न रूपसे अहोरात्र अर्च्चन परायण का कथन ग्राह्य है,इस प्रकार नहीं है, किन्तु जो व्यक्ति, अर्च्चन निष्ठ हैं, इस प्रकार भक्त का वाक्य पालन करे। इस अभिप्राय से ही यहाँ 'सदा' शब्द का प्रयोग हुआ है। कारण - भा० ९।४।२१ के अम्बरीष चरित्र में उक्त है—

(२८३) "एवं सदा कर्म्मकलापमात्मनः परेऽधि: यज्ञेभगवत्यधोक्षजे।
सर्वात्मभावं विदधन्महीमिमां तन्निष्ठविप्राभिहितः शशास ह॥"

टीका—सर्वत्रात्मेति भावो भावना यस्मिन् तम् आत्मनः स्वस्य कर्म्मणां कलापं समूह भगवति विदधत् समर्पयन् तन्निष्ठे भागवते विप्रैरभिहितः शिक्षितः सन् महीं शशास पालयामास। अनेनाधिकृत-धर्म्मोऽपि यथावद् दर्शितः। "एवं सदा" "तन्निष्ठ विप्राभिहितः शशास ह"

अर्थात् भक्ति निष्ठ ब्राह्मण वृन्द कर्त्तृक उपदिष्ट होकर पृथिवी शासन, अम्बरीष किये थे। अतएव "सदा" शब्द का अर्थ—अर्च्चन निष्ठा को जानना चाहिये। प्रवक्ता श्रीशुक हैं—॥२८३॥

२८४। यहाँपर प्रश्न हो सकता है कि—मन्त्र समूह—भगवन्नामात्मक ही हैं। किन्तु विशेष रूप से उस में नमः प्रभृति शब्द प्रयुक्त हैं। जैसे "श्रीकृष्णाय नमः" श्रीभगवान् एवं ऋषि गण मन्त्र में विशेष शक्ति अर्पण किये हैं। एवं श्रीभगवान् के सहित दास्य, सख्य प्रभृति सम्बन्ध विशेष प्रति पादक मन्त्र समूह होते हैं। उस के मध्य में जो भगवन्नाम समूह हैं, यह सब नमः, स्वाहा स्वधा, प्रभृति शब्द युक्त न होकर भी, एवं श्रीभगवान् एवं महानुभव ऋषि वृन्द कर्त्तृक अर्पित शक्ति विशेष की अपेक्षा न करके ही परम पुरुषार्थ—श्रीभगवच्चरणार विन्द में प्रेम दान करने में समर्थ हैं। अतएव नाम से मन्त्र में अधिक सामर्थ्य विद्यमान होने पर भी मन्त्र—दीक्षा विधि की अपक्षा क्यों करता है?

नाम को दीक्षा विधि की अपेक्षा नहीं है। एवं नाममें अधिकारी के विषय में भेद नहीं है। उत्तरमें ग्रन्थ कार कहते हैं—यद्यपि स्वरूप सामर्थ्य विचार में दीक्षा पूर्वक ग्रहण करने की विधि मन्त्रमें नहीं है। तथापि देहादि सम्बन्ध में प्रायशः स्वाभाविक कदर्य्य शील विक्षिप्त चित्त मानव वृन्द के पक्ष में—कदर्य्य स्वभाव एवं चित्त विक्षेप को सङ्कोच करने के निमित्त महानुभव ऋषिवृन्द अर्च्चन मार्ग में किसी किसी मन्त्र में

काचिन्मर्य्यादा स्थापितास्ति। ततस्तदुल्लङ्घने शास्त्रं प्रायश्चित्तमुद्भावयति। तत उभयमपि नासमञ्जमिति तत्र तत्तदपेक्षा नास्ति, यथा श्रीरामचन्द्रमुद्दिश्य रामार्च्चनचन्द्रिकायाम्—

"वैष्णवेष्वपि मन्त्रेषु राममन्त्राः फलाधिकाः। गाणपत्यादि-मन्त्रेभ्यः कोटिकोटिगुणाधिकाः ॥८८०॥
विनैव दीक्षां विप्रेन्द्र पुरश्चर्य्यां विनैव हि। विनैव न्यासविधिना जपमात्रेण सिद्धिदाः ॥"८८१॥ इति।

एवं साध्यत्वादि-परीक्षानपेक्षा च क्वचित् श्रूयते, यथोक्तं मन्त्रदेवप्रकाशिकायाम्—

"सौरमन्त्राश्च येऽपि स्युर्वैष्णवा नारसिंहकाः। साध्य-सिद्ध-सुसिद्धारि-विचार-परिवर्जिताः ॥"८८२॥ इति।

तन्त्रान्तरे—

"नृसिंहार्क--वराहाणां प्रसादप्रवणस्य च। वैदिकस्य च मन्त्रस्य सिद्धादीन्नैव शोधयेत् ॥"८८३॥

सनत्कुमारसंहितायाम्—

"साध्यः सिद्धः सुसिद्धश्च अरिश्चैव च नारद। गोपालेषु न बोद्धव्यः स्वप्रकाशो यतः स्मृतः ॥"७८४॥

मर्य्यादा स्थापन किये हैं, अतएव उक्त मर्य्यादा लङ्घन करने से-शास्त्र—प्रायश्चित्त करने का विधान प्रदान करते हैं, अतएव मन्त्र स्वरूप विचार में दीक्षा ग्रहण की आवश्यकता नहीं है। अथच ऋषि गण दीक्षा ग्रहण करने की अवश्य कर्त्तव्यता का निर्देश किये हैं। अतएव उभय ही सामञ्जस्य पूर्ण है, अर्थात् स्वरूपत मन्त्र दीक्षा ग्रहण की आवश्यकता न होने पर भी, ऋषि गण कर्त्तृक विहित मर्य्यादारक्षण हेतु दीक्षा ग्रहण परम आवश्यक है। मन्त्र में दीक्षा ग्रहण की आवश्यकता नहीं है—इस का कथन श्रीरामचन्द्र को उद्देश्य करके श्रीरामार्च्चन चन्द्रिका में लिखित है,

"वैष्णवेष्वपि मन्त्रेषु राममन्त्राः फलाधिकाः।
गाणपत्यादि मन्त्रेभ्यः कोटिकोटिगुणाधिकाः ॥८८०॥
विनैव दीक्षां विप्रेन्द्र पुरश्चर्य्यां विनैव हि।
विनैव न्यासविधिना जपमात्रेण सिद्धिदाः ॥"८८१॥

वैष्णव मन्त्र के मन्त्र में भी राम मन्त्र अधिक फल प्रद है। गाणपत्य प्रभृति मन्त्र से कोटि कोटि गुण फल दायी है। हे विप्रेन्द्र! दीक्षा ग्रहण के बिना भी एवं पुरश्चर्य्या विधि के बिना, न्यास विधि के बिना, यह मन्त्र जप मात्र से सिद्धि प्रदान करता है। इस प्रकार इस मन्त्र में दीक्षा ग्रहण की अपेक्षा नहीं है। कतिपय मन्त्र में साध्य सिद्ध प्रभृति परीक्षा की प्रयोजनीयता भी नहीं है। यह भी सुनने में आता है। मन्त्रदेवप्रकाशि का में लिखित है—

"सौरमन्त्राश्च येऽपि स्युर्वैष्णवा नारसिंहकाः।
साध्य-सिद्ध-सुसिद्धारि--विचार--परिवर्जिताः ॥"८८२॥

सूर्य्य विषयक जो सब मन्त्र एवं वैष्णव मन्त्र समूह, नरसिंह सम्बन्धीय मन्त्र,—यह सब मन्त्रों में साध्य, सिद्ध, सुसिद्ध, एवं अरि का विचार नहीं है। तन्त्रान्तर में भी लिखित है—

"नृसिंहार्क–वराहाणां प्रसाद प्रवणस्य च।
वैदिकस्य च मन्त्रस्य सिद्धादीन्नैव शोधयेत् ॥"८८३॥

नृसिंह, सूर्य्य, वराह देव के मन्त्र एवं स्वयं प्रकाश प्रणव, तथा वेदोक्त मन्त्र समूह में सिद्ध प्रभृति का विचार करना निषिद्ध है। सनत् कुमार संहिता में उक्त है—

"साध्यः सिद्धः सुसिद्धश्च अरिश्चैव च नारद।
गोपालेषु न बोद्धव्यः स्वप्रकाशो यतः स्मृतः ॥"८८४॥

अन्यत्र-

"सर्वेषु वर्णेषु तथाश्रमेषु, नारीषु नानाह्वय-जन्म-भेषु ।
दाता फलानामभिवाञ्छितानां, द्रागेव गोपालक-मन्त्र एषः ।।"८८५।। इत्यादि ।

मर्य्यादा यथा ब्रह्मयामले-

"श्रुति-स्मृति-पुराणादि--पञ्चरात्रविधिं विना । ऐकान्तिकी हरेर्भक्ति-रुत्पातायैव कल्पते ।"८८६।। इति ।

इत्थमेवाभिप्रेतं श्रीपृथिव्या चतुर्थे (भा० ४।१८।३-५)-

"अस्मिँल्लोकेऽथवामुष्मिन् मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ।
दृष्टा योगाः प्रयुक्ताश्च पुंसां श्रेयःप्रसिद्धये ।।८८७।।
तानातिष्ठति यः सम्यगुपायान् पूर्वदर्शितान् ।
अवरः श्रद्धयोपेत उपेयान् विन्दतेऽञ्जसा ।।८८८।।
ताननादृत्य योऽविद्वानर्थानारभते स्वयम् ।
तस्य व्यभिचरन्त्यर्था आरब्धाश्च पुनः पुनः ।।"८८९।। इति ।

गोपाल मन्त्र में साध्य, सुसिद्ध, सिद्ध, एवं अरि विचार नहीं है, कारण यह मन्त्र स्व प्रकाश है । अन्यत्र भी दृष्ट होता है—

"सर्वेषु वर्णेषु तथाश्रमेषु, नारीषु नानाह्वय जन्म भेषु ।
दाता फलानामभिवाञ्छितानां द्रागेव गोपालक मन्त्र एषः ।।"८८५।।

समस्त वर्ण, आश्रम, एवं नारी में विभिन्न प्रकार जन्म नक्षत्र में अभीप्सित फल प्रद श्रीगोपाल मन्त्र है । अर्थात् जपान्त में फल प्रद नहीं है, जप समाप्ति के पूर्व में फल प्रद न करते हैं । यह है --जिस जिस मन्त्र में दीक्षादि की अपेक्षा नहीं है—उस का विवरण । ऋषि वृन्द ने जो मर्य्यादा का स्थापन किया है, उसका वर्णन ब्रह्म यामल में उस प्रकार है—

"श्रुति स्मृति पुराणादि पञ्चरात्रविधिं विना ।
ऐकान्तिकी हरेर्भक्तिरुत्पातायैव कल्पते ।।"८८६।।

श्रुति स्मृति पुराण प्रभृति एवं पञ्चरात्र की विधि को परित्याग करके ऐकान्तिकी श्रीहरि भक्ति-विघ्न उत्पादन करती है । भा० ४।१८।३--५ में इस विषय को अवलम्बन करके श्रीपृथिवी देवी पृथुमहाराज को कही थीं—

"अस्मिँल्लोकेऽथवामुष्मिन् मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ।
दृष्टा योगः प्रयुक्ताश्च पुंसां श्रेयः प्रसिद्धये ।।८८७।।
तानातिष्ठति यः सम्यगुपायान् पूर्वदर्शितान् ।
अवरः श्रद्धयोपेत उपेयान् विन्दतेऽञ्जसा ।।८८८।।
ताननादृत्य योऽविद्वानर्थानारभते स्वयम् ।
तस्य व्यभिचरन्त्यर्था आरब्धाश्च पुनः पुनः ।।"८८९।।

हे राजन् ! तत्त्वदर्शी मुनिवृन्द मानव मात्र के कल्याण हेतु इस लोक के निमित्त कृष्यादि विविधोपाय एवं परलोक के निमित्त अग्नि होत्र प्रभृति उपायों का उल्लेख किये हैं । एवं स्वयं भी अनुष्ठान कहे हैं । जो मानव, श्रद्धालु होकर महाजन गण कर्त्तृक दर्शित उपाय समूह का सम्यक् अनुष्ठान करता है, वह अक्लेश से फल प्राप्त कर धन्य होता है । और जो मूर्ख ऋषि गण प्रदर्शित उपायों को अनादर करके

अतएवोक्तं पाद्मे श्रीनारायण-नारद-संवादे–

"मद्भक्तो यो मदर्च्चाश्च करोति विधिवदृषे। तस्यान्तरायाः स्वप्नेऽपि न भवन्त्यभयो हि सः॥"८९०॥ इति

तदेतदर्च्चनं द्विविधम्,–केवलम्, कर्म्ममिश्रञ्च। तयोः पूर्वं निरपेक्षाणां श्रद्धावतां दर्शितमाविर्होत्रेण (भा० ११।३।४७)–"य आशु हृदयग्रन्थिम्" इत्यादौ, उक्तञ्च श्रीनारदेन (भा० ४।२९।४७)–

"यदा यस्यानुगृह्णाति भगवानात्मभावितः।
स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम्॥"८९१॥ इति,

अत्र श्रीमदगस्त्यसंहिता च–

"यथा विधि निषेधौ च मुक्तं नैवोपसर्पतः। तथा न स्पृशतो रामोपासकं विधिपूर्वकम्॥"८९२॥ इति।

स्वयं बुद्धि बल से कार्य्यानुष्ठान करता है, उस के समस्त उद्देश्य विफल होते हैं एवं बारं बार अनुष्ठित कर्म भी विघ्न सङ्कुल हो जाता है। अतएव पद्म पुराण के श्रीनारायण नारद संवाद में उक्त है—

"मद्भक्तो यो मदर्च्चांश्च करोति विधिवदृषे।
तस्यान्तरायाः स्वप्नेऽपि न भवन्त्यभयो हि सः॥"८९०।

हे ऋषि! जो व्यक्ति, भक्तिमान् होकर विधि पूर्वक मेरी मूर्त्ति की पूजा करता है—स्वप्न में भी उसका विघ्न उपस्थित नहीं होता है। कारण, वह भक्त, सर्व प्रकार से निर्भय है।

इस से प्रतिपन्न हुआ है कि—ऋषिगण–यथा विधि श्रीगुरु पादाश्रय करके दीक्षा ग्रहण करना आवश्यक है इस प्रकार व्यवस्था प्रदान किये हैं। दीक्षा गुरु के चरणाश्रय रूप महतों का आचरण लङ्घन करके निज बुद्धि पूर्वक जो अर्च्चनादि साधनानुष्ठ न करने से फल लाभ तो होगा ही नहीं अपरन्तु विविध विघ्न सङ्कुल जीवन होगा।

पूर्वोक्त अर्च्चन द्विविध हैं। केवल एवं कर्म्ममिश्र। उस के मध्य में जो निरपेक्ष एवं श्रीभगवद् भक्ति में विश्वासी है, उस के सम्बन्ध में भा० ११।३।४७ में आविर्होत्र ने कहा—

"य आशु हृदयग्रन्थिं निर्जिहीर्षुः परात्मनः।
विधिनोपचरेद् देवं तन्त्रोक्तेन च केशवम्॥

जो व्यक्ति, आशु देहादि भिन्न जीवात्मा की हृदय ग्रन्थि, अर्थात् अहङ्कार बन्धन को छेदन करने की इच्छा करता है, वह वैदिक विधि के सहित तन्त्रोक्त विधि के अनुसार निज अभीष्ट केशव की अर्च्चना करे। उक्त क्रमानुसार से ही अर्च्चन करना कर्त्तव्य है। ४।२९।४७ में श्रीनारद ने कहा है—

"यदा यस्यानुगृह्णाति भगवानात्मभावितः।
स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम्॥"८९१।

निज हृदय में चिन्तित भगवान् जिस के प्रति अनुग्रह करते हैं, वह लोक एवं वेद में परिनिष्ठित बुद्धि को परित्याग करता है, वेद विधि एवं लोकापेक्षा परित्याग विषय में अगस्त्य संहिता में लिखित है–

"यथा विधि निषेधौ च मुक्तं नैवोपसर्पतः।
तथा न स्पृशतो रामोपासकं विधिपूर्वकम्॥"८९२।

विधि एवं निषेध जिस प्रकार मुक्त पुरुष के निकट उपस्थित नहीं हो सकते हैं, उस प्रकार जो व्यक्ति, विधि पूर्वक श्रीराम चन्द्र की उपासना करता है, उस को कर्म्मकाण्ड के विधि निषेध भी स्पर्श

उत्तरं व्यवहारचेष्टातिशयवत्ता-यादृच्छिक-भक्त्यनुष्ठानवत्तादि-लक्षणलक्षित-श्रद्धानां तथा तद्वैपरीत्यलक्षितश्रद्धानामपि प्रतिष्ठितानां तद्भक्ति वार्त्तानभिज्ञबुद्धिषु साधारणवैदिक-कर्म्मानुष्ठानलोपोऽपि मा भूदिति लोकसंग्रहपराणां गृहस्थानां दर्शितम् । यथा (भा० ११।२७।६-११)—

(२८४) "न ह्यन्तोऽनन्तपारस्य" इत्यादौ,

"सन्ध्योपास्त्यादि-कर्म्माणि वेदेनाचोदितानि मे ।
पूजां तैः कल्पयेत् सम्यक् सङ्कल्पः कर्म्मपावनीम् ॥"८८३। इति ।

स्पष्टम् ॥ श्रीभगवान् ॥

कर नहीं सकते हैं। जिन की अतिशय व्यवहारिक चेष्टा है, अथच, यादृच्छिक— अर्थात् पिता पितामह क्रम से श्रीशालग्रामादि का अर्च्चन जिस प्रकार उन्होंने देखा है, उस प्रकार श्रद्धा से ही जो अर्च्चन करते हैं। यह सब श्रद्धावान् जन, एवं जिन में वास्तविक ही श्रीमूर्त्ति अर्च्चन में यथार्थ दृढ़ विश्वास हुआ है, इस प्रकार भक्ति अङ्ग में शास्त्रीय श्रद्धा युक्त लब्ध प्रतिष्ठ एवं भगवत् वार्त्ता में अभिज्ञ मानव समाज में वैदिक कर्मानुष्ठान भी लोप न हो जाय, इस रीति से लोक दर्शन शिक्षा प्रवर्त्तक अर्थात् लोक संग्रहपर गृहस्थ भक्त वृन्द भी कर्म्ममिश्र अर्च्चन में अधिकारी है। सारार्थ यह है कि—जिस की दृढ़ श्रद्धा भक्ति में नहीं है, केवल लोक परम्परा क्रम से अर्च्चनादि करता रहता है। एवं जो भक्ति में शास्त्र श्रद्धा लाभ किये हैं, एवं जिनका आचरण का साधारण लोक भी करते हैं, इस प्रकार लब्ध प्रतिष्ठ साधारण गृहस्थ भक्त भी लोक संग्रह करने के निमित्त अर्थात् जो लोक भक्ति की महिमा नहीं जानते हैं—इस प्रकार जन समाज में भक्ति आचरण विलुप्त न हो इस प्रकार अभिप्राय जिस के हृदय में है, उन के पक्ष में भी कर्म मिश्र अर्च्चनाङ्ग भक्ति का अनुष्ठान कर्त्तव्य है। श्रीभगवान् उद्धव को भा० ११।२६-६-११ में कहे हैं।

(२८४) "न ह्यन्तोऽनन्तपारस्य"

"सन्ध्योपास्त्यादि-कर्म्माणि वेदेनाचोदितानि मे ।
पूजां तैः कल्पयेत् सम्यक् सङ्कल्पः कर्म्मपावनीम् ॥"८८३।

हे उद्धव ! यह पूजाविधि अनन्त है। शास्त्रीय विधि अनुष्ठान की भी अवधि नहीं हैं। मैं तुम्हारे निकट आनुपूर्विक वर्णन करता हूँ। वह पूजा विधि त्रिविध हैं, वैदिक, तान्त्रिक, एवं वैदिक तान्त्रिक मिश्रिता उस के मध्य में जिस अर्च्चन में मन्त्र एवं पूजा के अङ्ग समूह वैदिक हैं—उसका नाम वैदिक अर्च्चन है। इस प्रकार तान्त्रिक अर्च्चन में भी जानना होगा। मिश्र—अष्टाक्षरादि है। इस तीनों के मध्य में जो जिसका अभीप्सित है, उस विधि के अनुसार वह पूजा करे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, यह त्रैवर्णिक के पक्ष में पूजा करने का विधान यह है—गर्भ से आरम्भकर अष्टम, एकादश, द्वादश वर्ष में निज अधिकारी चित्त वेदोक्त द्विज होकर अर्थात् उपनयन संस्कार प्राप्त कर श्रद्धापूर्वक मेरा अर्च्चन करे। प्रतिमा, स्थण्डिल, अग्नि, सूर्य्य, जल, अथवा निज हृदय में भक्ति युक्त होकर द्रव्य द्वारा निष्कपट भाव से निज गुरु रूपी मेरी पूजा करे। निज देह शुद्धि हेतु दन्त धावन पूर्वक वैदिक तान्त्रिक मिश्र मन्त्र के द्वारा एवं मृत्तिका ग्रहणादि के द्वारा स्नान करे। अनन्तर सन्ध्या उपासनादि कर्म्म जो वेद विहित है, वह सब कर्म्माङ्ग अनुष्ठान पूर्वक मेरी पूजा करे। किन्तु उस अर्च्चन कार्य्य में मदीय सन्तोषार्थ रूप सङ्कल्प करे। अर्थात् श्रीविष्णु प्रीति काम होकर अर्च्चन करे। इस प्रकार अनुष्ठान करने से ही कर्म द्वारा कर्म बन्धन विनष्ट होगा। कर्म मिश्र अर्च्चन अङ्ग की व्यवस्था भी इस प्रकार ही जाननी होगी।

२८५। श्रीनारदपञ्चरात्रे चैवमेव श्रीनारायणवाक्यं श्राद्धकथनारम्भे—

"नाचरेद् यस्तु सिद्धोऽपि लौकिकं धर्म्ममग्रतः। उपप्लवाच्च धर्म्मस्य ग्लानिर्भवति नारद ॥८६४॥
विवेकज्ञै रतः सर्वैर्लोकाचारो यथा स्थितः। आदेहपाताद्यत्नेन रक्षणीयः प्रयत्नतः ॥"८६५॥ इति।

एतेषाञ्च द्विविधा कर्म्म-व्यवस्था,-श्रीनारदपञ्चरात्रादौ अन्तर्यामि-श्रीभगवद्दृष्टयैव सर्वाराधनं विहितम्, विष्णुयामलादौ तु—

"विष्णुपादोदकेनैव पितॄणां तर्पण-क्रिया। विष्णोर्निवेदितान्नेन यष्टव्यं देवतान्तरम् ॥"८६६॥

इत्यादिप्रकारेण विहितमिति। ये तु तत्र श्रीभगवत्पीठावरणपूजायां गणेश-दुर्गाद्या वर्त्तन्ते, ते हि विष्वक्सेनादिवत् भगवतो नित्यवैकुण्ठसेवकाः। ततश्च ते गणेश-दुर्गाद्याः, येऽपरे मायाशक्त्यात्मका गणेश-दुर्गाद्यास्ते तु न भवन्ति,-(भा० २।९।१०) "न यत्र माया किमुतापरे" इति द्वितीयोक्तेः। ततो भगवत् स्वरूपभुतशक्त्यात्मका एव ते, यत एव च श्रीकृष्णस्वरूपभूते श्रीमदष्टादशाक्षरादिमन्त्रगणेऽपि दुर्गा-नाम्नी भगवद्भक्त्यात्मक-स्वरूपभूत शक्तिवृत्तिविशेषस्य

श्रीभगवान् उद्धव को कहे थे— २८४।

२८५। श्रीनारद पञ्चरात्र ग्रन्थ के श्राद्ध कथन के आरम्भ में श्रीनारायण वाक्य भी उक्त प्रकार ही है।

"नाचरेद् यस्तु सिद्धोऽपि लौकिकं धर्म्ममग्रतः।
उपप्लवाच्च धर्मस्य ग्लानिर्भवति नारद ॥८६४।
विवेकज्ञै रतः सर्वैर्लोकाचारो यथा स्थितः।
आदेहपाताद्यत्नेन रक्षणीयः प्रयत्नतः ॥"८६५॥

जो सिद्ध महापुरुष होकर भी प्रथम लौकिक धर्म का आचरण नहीं करता है,विविध प्रकार उपद्रव हेतु उस की धर्म्म ग्लानि होती है। जो विवेकी हैं, अर्थात् सत् असत् विचार शील हैं, उनके पक्ष में आदेहपात पर्य्यन्त जिस प्रकार लोकाचार है, प्रयत्न पूर्वक उस की रक्षा करनी चाहिये। कर्म्म मिश्र अर्चन कारी गण की कर्म्म व्यवस्था द्विविध हैं। प्रथम अन्तर्य्यामि भगवद् दृष्टि से ही सब की आराधना कर्त्तव्य है। श्रीनारद पञ्चरात्रादि में इस प्रकार व्यवस्था है। किन्तु विष्णु यामलादि में लिखित है—

"विष्णु पादोदकेनैव पितॄणां तर्पण क्रिया।
विष्णोर्निवेदितान्नेन यष्टव्यं देवतान्तरम् ॥८६६।

श्रीविष्णु के पादोदक के द्वारा ही पितृ लोक प्रभृति का तर्पण करना कर्त्तव्य है। एवं श्रीविष्णु निवेदितान्न के द्वारा देवता वृन्द की आराधना करना कर्त्तव्य है। इस प्रकार विधान है।

श्रीभगवत् पीठ की आवरण पूजा में गणेश दुर्गादि जो देववृन्द हैं, यह सब विष्वक् सेनादि के समान् श्रीभगवान् के नित्य वैकुण्ठ सेवक हैं। अतएव नाम साम्य से गणेश दुर्गादि माया शक्ति सम्भूत नहीं हो सकते हैं। कारण, भा० २।९।१० वैकुण्ठ स्वरूप वर्णन प्रसङ्ग में कथित है—"न यत्र माया किमुता परे हरे" श्रीवैकुण्ठ में माया का अधिकार नहीं है। एवं माया शक्ति का कार्य्य–सत्व, रजः, तमोगुण भी नहीं है। अतएव श्रीशिव दुर्गा प्रभृति देव वृन्द भी वहाँ पर नहीं हैं। इस प्रकार उल्लेख होने के कारण, मायामय श्रीशिव दुर्गादि की श्रीवैकुण्ठ में स्थिति सर्वथा असम्भव है। अथच श्रीभगवान् के पीठ देवता रूप शिव दुर्गादि भी हैं। अतएव उक्त श्रीशिव दुर्गादि देवतागण श्रीभगवान् के स्वरूप शक्ति स्वरूप हैं। कारण, श्रीकृष्ण के स्वरूप से अभिन्न श्रीमत् अष्टादशाक्षरादि मन्त्र समूह में भी भगवद् भक्ति की जीवन स्वरूप

अधिष्ठातृत्वं श्रुति-तन्त्रादिष्वपि दृश्यते, यथा नारदपञ्चरात्रे श्रुतिविद्यासंवादे—

"भक्तिर्भजनसम्पत्तिर्भजते प्रकृतिः प्रियम्। ज्ञायतेऽत्यन्तदुःखेन सेयं प्रकृतिरात्मनः।
दुर्गेति गीयते सद्भिरखण्डरसवल्लभा॥" ८९७॥

अतएव श्रीभगवदभेदेनोक्तं गौतमीयकल्पे—"यः कृष्णः सैव दुर्गा स्याद् या दुर्गा कृष्ण एव सः" इति, "त्वमेव परमेशानि अस्याधिष्ठातृदेवता" इत्यादिकन्तु विराट्पुरुष-महापुरुषयोरिव केषाञ्चिदभेदोपासना-विवक्षयैवोक्तम्। सा हि मायांशरूपा तदधीने प्राकृतेऽस्मिन् लोके मन्त्र-रक्षा-लक्षणसेवार्थं नियुक्ता चिच्छक्त्यात्मकदुर्गाया दासीयते, न तु सेवाधिष्ठात्री। मायातीत-वैकुण्ठावरणकथने यथोक्तं पाद्मोत्तरखण्डे—

"सत्याच्युतानन्त-दुर्गाविष्वक्सेन-गजाननाः। शङ्ख--पद्मनिधी लोकाश्चतुर्थावरणं स्मृतम्॥८९८॥
ऐन्द्रकाग्नेययाम्यानि नैर्ऋतं वारुणं तथा। वायव्यं सौम्यमैशानं सप्तमं मुनिभिः स्मृतम्॥८९९॥

शक्ति वृत्ति विशेष दुर्गानामिका अधिष्ठात्री शक्ति है। श्रुति तन्त्र प्रभृति में यह वृत्तान्त सुप्रसिद्ध है। नारद पञ्चरात्र के श्रुति विद्या संवाद में उक्त है—

"भक्तिर्भजनसम्पत्तिर्भजते प्रकृतिः प्रियम्। ज्ञायतेऽत्यन्तदुःखेन सेयं प्रकृतिरात्मनः।
दुर्गेति गीयते सद्भिरखण्डरसवल्लभा॥" ८९७॥

भजन ही 'सेवा' जिस की सम्पत्ति है, इस प्रकार श्रीभगवान् की प्रकृति रूपा भक्ति, निज प्राणबन्धु श्रीकृष्ण का भजन करती है। इस प्रकार भगवत् शक्ति भक्ति देवी को अत्यन्त दुःख से जान सकते हैं। इस अभिप्राय से ही अखण्ड रस वल्लभा उस भक्ति देवी को महापुरुषगण दुर्गा नाम से कहते हैं। अतएव गौतमीय कल्प में इस भक्ति स्वरूपिणी दुर्गा को श्रीभगवान् के सहित अभेद रूप से कहा गया है।

"यः कृष्णः सैव दुर्गा स्याद् या दुर्गा कृष्ण एव सः."

जो कृष्ण हैं, वही दुर्गा हैं, जो दुर्गा हैं, वही कृष्ण हैं। अन्यत्र भी कथित है—"त्वमेव परमेशानि अस्याधिष्ठात्री देवता" अर्थात् अयि परमेशानि! तुम्हीं इस मन्त्र की अधिष्ठात्री देवता हो। यहाँपर प्रसिद्ध दुर्गा को सम्बोधन करके कहा गया है। यद्यपि यह असम्भव है--तथापि—विराट पुरुष एवं महापुरुष को जिस प्रकार स्थल विशेष में अभेद रूप से कहा जाता है, उस प्रकार ही जो लोक प्राकृत दुर्गा, एवं अप्राकृत दुर्गा की उपासना अभिन्न रूप से करते हैं, उन के मतावलम्बन से ही उस प्रकार कहा गया है। कारण, मायाधीन इस प्राकृत लोक में मन्त्र रक्षा रूप सेवा हेतु मायांशभूता दुर्गा अधिष्ठिता हैं। अर्थात् जो लोक श्रीकृष्ण मन्त्र में दीक्षित होकर जपादि अथवा मन्त्र देवता की पूजा नहीं करता है, उस के द्वारा भगवन् मन्त्र का अनादर होता है, यह सब मन्त्र रक्षा हेतु श्रीकृष्ण स्वरूप जगत् में जो स्वरूप शक्ति स्वरूप श्रीदुर्गा हैं, उन के द्वारा नियुक्ता होकर सेविका के तुल्य सेवा करती रहती है, किन्तु मायामयी दुर्गा, साक्षात् सेवा करने की अधिष्ठात्री रूपा नहीं हैं। पद्म पुराण के उत्तर खण्ड में मायातीत वैकुण्ठ के आवरण वर्णन प्रसङ्ग में वर्णित है—

"सत्याच्युतानन्त–दुर्गाविष्वक्सेन–गजाननाः।
शङ्ख--पद्मनिधी लोकाश्चतुर्थावरणं स्मृतम्॥८९८॥
ऐन्द्रकाग्नेययाम्यानि नैर्ऋतं वारुणं तथा।
वायव्यं सौम्यमैशानं सप्तमं मुनिभिः स्मृतम्॥८९९॥

साध्या मरुद्गणाश्चैव विश्वेदेवास्तथैव च। नित्याः सर्वे परे धाम्नि ये चान्ये च दिवौकसः ॥६००॥

ते वै प्राकृतनाकेऽस्मिन्न नित्यास्त्रिदशेश्वराः। ते ह नाकं महिमानः सचन्त इति वै श्रुतिः ॥६०१॥ इति

किञ्च, भगवदंशरूपा एव ते, यथोक्तं त्रैलोक्यसम्मोहनतन्त्रे अष्टादशाक्षर-षडङ्गादि-देवताभेद-कथनारम्भे—

"सर्वत्र देवदेवोऽसौ गोपवेशधरो हरिः। केवलं रूपभेदेन नामभेदः प्रकीर्त्तितः ॥"६०२॥ इति।

अतो नाममात्रसाधारण्येनानन्यभक्तैर्न भेतव्यम्, किन्तु भागवतनित्यवैकुण्ठसेवकत्वाद्विष्वक्सेनादिवत् सत्कार्य्या एव ते,(भा० १०।८४।१३)-"यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके" इत्यादौ, "अर्च्चयित्वा तु गोविन्दं तदीयान्नार्च्चयेत्तु यः" इत्यादि-पाद्मोत्तरखण्ड-वचनेन तदसत्कारे दोषश्रवणात्, अतस्तानेवोद्दिश्याह (भा० ११।२७।२९)—

साध्या मरुद्गणाश्चैव विश्वेदेवास्तथैव च।
नित्याः सर्वे परे धाम्नि ये चान्ये च दिवौकसः ॥६००॥

ते वै प्राकृतनाकेऽस्मिन्ननित्यास्त्रिदशेश्वराः।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त इति वै श्रुतिः ॥"६०१॥

सत्य, अच्युत, अनन्त, दुर्गा, विष्वक् सेन, गणेश, शङ्खनिधि एवं पद्म निधि यह सब लोक चतुर्थ आवरण के हैं। सप्तम आवरण के समस्तदिकों में यह सब दिकप लवृन्द यथाक्रम से अवस्थित हैं, पूर्व, अग्नि, दक्षिण, नैऋत, पश्चिम, वायु, उत्तर, एवं ईशान प्रभृति दिक् में इन्द्र अग्नि, यम, नैऋति, वायु, सोम, एवं ईशान प्रभृति, देव वृन्द हैं। परव्योम वैकुण्ठ के साध्यगण, मरुद्गण, विश्वेदेवगण, एवं अन्यान्य जितने देववृन्द हैं, यह सब अप्राकृत नित्य हैं। प्राकृत जगत् के स्वर्ग में जो देवगण हैं, वे किन्तु नित्य नहीं हैं। ब्रह्मा के एकदिन पर्य्यन्त ही इन की आयु है। कारण, श्रुति में भी उक्त है—"ते ह नाकं महिमानः सचन्तः ॥" श्रीभगवद्धाम में जो रहते हैं, वे श्रीभगवान् के अंशभूत हैं, त्रैलोक्य सम्मोहन तन्त्र में अष्टादशाक्षर मन्त्र के षड़ङ्ग देवतागण के नाम भेद कथन प्रसङ्ग में लिखित है—

"सर्वत्र देववेवोऽसौ गोपवेशधरो हरिः।
केवलं रूपभेदेन नामभेदः प्रकीर्त्तितः ॥"६०२॥

गोपवेशधारी देवादि देव, समस्त देव वृन्द के मध्य में अवस्थित हैं। केवल रूप भेद से नाम भेद कल्पित है। अर्थात् साधारण देवता के तुल्य नाम भेद होने के कारण, अनन्य भक्त वृन्द के पक्ष में विभीषिका का कोई कारण नहीं है। किन्तु भगवान् के नित्य वैकुण्ठ सेवक होने के कारण, विष्वक् सेनादि के समान उन सब को सम्मान करना ही चाहिये। भा० १०।८४।१३ में उक्त है—'यस्य त्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके" प्रभास तीर्थ में समागत मुनिवृन्द को लक्ष्य करके श्रीकृष्ण कहे थे, जिस की वात पित्त श्लेष्मा यह त्रिधातुमय कुत्सित् देह में आत्म बुद्धि है, स्त्री पुत्र प्रभृति में निज जन बुद्धि है, भूमि बिकार स्वरूप साधारण प्रतिमा प्रभृति में पूज्य बुद्धि है, साधारण जल में तीर्थ बुद्धि है, किन्तु कभी भी भगवत् तत्त्वाभिज्ञ जन के प्रति पूज्य बुद्धि नहीं है, इस जगत् में वही चतुष्पद के मध्य में गधा है। इस प्रकार पाद्मोत्तर खण्ड के वचनमें दृष्ट होता है"अर्च्चयित्वा तु गोविन्दं तदीयान्नार्च्चयेत्तु यः" श्रीकृष्णकी अर्च्चना करके उनके भक्त जनकी अर्च्चना जो नहीं करता, उस का श्रीगोविन्दार्च्चन व्यर्थ होता है। इस प्रकार श्रीकृष्ण की अर्च्चना करके भी यदि उनके परिकरों का अर्च्चन नहीं करता है तो दोष होता है, अतएव श्रीकृष्णार्च्चन के सहित

(२८५) "दुर्गां विनायकं व्यासं विष्वक्सेनं गुरून् सुरान् ।
स्वे स्वे स्थाने त्वभिमुखान् पूजयेत् प्रोक्षणादिभिः ॥"६०३॥

पाद्मोत्तरखण्ड एव च—

तस्मादवैदिकानाञ्च देवानामर्च्चनं त्यजेत् । स्वतन्त्रपूजनं यच्च वैदिकानामपि त्यजेत् ॥६०४॥
अर्च्चयित्वा जगद्वन्द्यं देवं नारायणं हरिम् । तदावरण-संस्थानं देवस्य परितोऽर्च्चयेत् ॥६०५॥
हरेर्भुक्तावशेषेण बलिं तेभ्यो विनिक्षिपेत् । होमञ्चैव प्रकुर्वीत तच्छेषेणैव वैष्णवः ॥"६०६॥ इत्यादि ।

श्रीभगवान् ॥

२८६ । भूतादिपूजा तु तत्पूजाङ्गत्वे विहितापि न कर्त्तव्या,—तदावरण-देवतात्वाभावात् ।

यह सब देव वृन्द की अर्च्चन करना अवश्य कर्त्तव्य है । अतएव भगवत् पीठस्थ देवता गण को लक्ष्य करके भा० ११।२७।२९ में उक्त है—

(२८५) "दुर्गां विनायकं व्यासं विष्वक्सेनं गुरून् सुरान् ।
स्वे स्वे स्थाने त्वभिमुखान् पूजयेत् प्रोक्षणादिभिः ॥"६०३॥

दुर्गा, गणेश, व्यास, विष्वक् सेन, श्रीगुरुदेव एवं अन्य देव वृन्द का अर्च्चन, भगवान् के वाम, दक्षिणादि जिस जिस दिक् में जिन की स्थिति है, उस उस स्थान में उन को रखकर पाद्यादि के द्वारा करे । एवं अर्च्चन के समय चिन्तन करना पड़ेगा । कि उक्त देवतावृन्द श्रीभगवान् के ओर मुख करके उपविष्ट हैं । पाद्मोत्तर खण्ड में लिखित है—

"तस्मादवैदिकानाञ्च देवानामर्च्चनं त्यजेत् ।
स्वतन्त्रपूजनं यच्च वैदिकानामपि त्यजेत् ॥६०४॥
अर्च्चयित्वा जगद्वन्द्यं देवं नारायणं हरिम् ।
तदावरण--संस्थानं देवस्य परितोऽर्च्चयेत् ॥६०५॥
हरेर्भुक्तावशेषेण बलिं तेभ्यो विनिक्षिपेत् ।
होमञ्चैव प्रकुर्वीत तच्छेषेणैव वैष्णवः ॥"६०६॥

अतएव वेद में अप्रसिद्ध देव गण का अर्च्चन न करे । अर्थात् जो सब देवता अवैदिक हैं, शुद्ध भक्त गण कभी भी उनकी पूजा न करे । वेद प्रसिद्ध देव गण को भी स्वतन्त्र अर्थात् पृथक् ईश्वर बुद्धि से अर्च्चना न करे । अर्थात् पञ्चदेवोपासना की दुर्गा पूजा में दुर्गा प्रधान आराध्य हैं, एवं अन्यान्य देव गण, तथा श्रीविष्णु आवरण में पूजित होते हैं, गणेश पूजन में गणेश प्रधान रूप में पूज्य हैं, एवं विष्णु प्रभृति आवरण देवतारूप में पूजित होते हैं । इस प्रकार स्वतन्त्र भाव से स्वतन्त्र रूप से देवतान्तर की पूजा विशुद्ध भक्ति का अत्यन्त विघातक है । किन्तु जिस पूजा में श्रीविष्णु प्रधान हैं, वहाँ अन्यान्य देव वृन्द की पूजा करने से विशुद्ध भक्ति का बाधक नहीं होता है, प्रत्युत पूजा न करने से ही श्रीविष्णु अप्रसन्न होते हैं । उस का क्रम प्रदर्शन करते हैं— जगदाराध्य भगवान् श्रीनारायण श्रीहरि की पूजा करके, उनके आवरण में संस्थित देव वृन्द की उन के चतुर्दिक में क्रम पूर्वक पूजा करे । श्रीहरि के भुक्तावशेष अर्थात् श्रीभगवत् प्रसाद अर्पण उन सब को करे, एवं उक्त भगवत् प्रसाद द्वारा वैष्णव होम भी करे ।

श्रीभगवान् कहे थे ॥२८५॥

२८६ । श्रीकृष्ण पूजा के अङ्ग रूप में भूतादि पूजा विहित होने पर भी शुद्ध वैष्णव के पक्ष में

निषिद्धश्च तत्रैव—

"यक्षाणाञ्च पिशाचानां मद्य-मांसभुजां तथा। दिवौकसानां भजनं सुरापानसमं स्मृतम् ॥"६०७॥

अतएवावश्यक पूज्यानामन्येषां तत्स्वीकृतैरपि मद्यादिभिः पूजा निषिद्धा, यथा सङ्कर्षणादीनाम्।

अथ पीठपूजायां येऽप्यधर्म्माद्या वर्त्तन्ते, गुणत्रयञ्च, तानि तु पाद्मोत्तरखण्डे स्पष्टान्यपि न सन्ति, तथा स्वायम्भुवागमेऽपि, तस्मान्नादरणीयानि। केचित्तु नारदपञ्चरात्रदृष्ट्या तान्यन्यथैव व्याचक्षते, यथोक्तं तत्रैव—"अधर्माद्यचतुष्कन्तु अश्रेयसि नियोजनम्" इत्यधार्मिकादिषु तत्तदन्तर्यामिशक्तिरधर्माद्यमित्यर्थः। तथा पीठपूजायां भगवद्वामे श्रीगुरु-पादुका-पूजनमेवं सङ्गच्छते, यथा—य एव भगवानत्र व्यष्टिरूपतया भक्तावतारत्वेन श्रीगुरुरूपो

वह कर्त्तव्य नहीं है। कारण, उक्त भूत, प्रेत, पिशाचादि श्रीभगवान् के आवरण देवता नहीं हो सकते हैं। पद्म पुराण के उत्तर खण्ड में उसका निषेध वचन विद्यमान है—

"यक्षाणाञ्च पिशाचानां मद्य--मांस--भुजां तथा।
दिवौकसानां भजनं सुरापानसमं स्मृतम् ॥"६०७॥

मद्य मांस भोजी यक्ष, रक्ष पिशाच एवं प्राकृत स्वर्गीय देववृन्द की पूजा सुरापान तुल्य गर्हित है। अतएव आवश्यक पूज्य अन्यान्य देववृन्द के मद्यादि अभिमत होने पर भी मद्यादि के द्वारा उनकी पूजा न करे। इस प्रकार श्रीबलदेव सङ्कर्षण प्रभृति के अभिलषित वारुणी मदिरा होने पर भी उस के द्वारा उनकी पूजा करना साधकों के पक्ष में कर्त्तव्य नहीं है। अनन्तर पीठ पूजा में जो अधर्म, धर्म एवं सत्त्व, रजः तमः--गुण त्रय हैं, किन्तु पद्म पुराण के उत्तर खण्ड में उसका विवरण है ही नहीं, उस प्रकार स्वायम्भुव गम ग्रन्थ में उस विषय का उल्लेख नहीं है। अतएव वह सब अधर्म प्रभृति का आदर पीठावरण देवतारूप में नहीं करना चाहिये। किन्तु कतिपय व्यक्ति नारद पञ्चरात्र के अनुसार अधर्म प्रभृति का अर्थ,—अन्य प्रकार करते हैं। नारद पञ्चरात्र में लिखित है—"अधर्माद्यचतुष्कन्तु अश्रेयसि नियोजनम्" अर्थात् अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य अनैश्वर्य्य यह चार को अमङ्गल अर्थ में प्रयोग करते हैं। अर्थात् अधार्मिक प्रभृति में जो अन्तर्य्यामी शक्ति है, उस उद्देश्य से अधर्म प्रभृति शब्द का उल्लेख किया गया है। पीठ पूजा में भगवान् के वाम प्रदेश में श्रीगुरु पादुका की पूजा सङ्गता है। जो यह भगवान् इस जगत् में व्यष्टि रूप से भक्तावतार रूप में श्रीगुरु स्वरूप में विद्यमान हैं, वह भगवान् ही श्रीभगवान् के योगपीठ में समष्टि रूप में श्रीभगवान् के वाम प्रदेश में साक्षात् अवतार रूप में भी श्रीगुरुस्वरूप में विद्यमान हैं। उस प्रकार श्रीरामादि की उपासना में मैन्द द्विविदादि आवरण देवता हैं, ये श्रीरामचन्द्र के नित्य धाम में नित्य एवं शुद्ध रूप में ही हैं। जिस प्रकार अक्रूराघमर्षण में अर्थात् यमुना जल में श्रीअक्रूर जब स्नान कर रहे थे—उस समय जल के मध्य में अनन्तशय्या में शयित श्रीविष्णु को अक्रूर देखे थे। उन के निकट में प्रह्लाद प्रभृति को भी देखे थे। उस का वर्णन भा० १०।३९।५४ में है। जो श्री प्रह्लाद पृथुमहाराज कर्त्तृक पृथिवी दोहन के समय में वत्स रूप धारण किये थे। उस समय किन्तु प्रह्लाद का जन्म ही नहीं हुआ। कारण स्वायम्भुव मन्वन्तर पृथु महाराज पृथिवी दोहन किये थे, और चाक्षुष मन्वन्तर में हिरण्य कशिपु से श्रीप्रह्लाद का जन्म हुआ था। सुतरां समझना होगा कि श्रीभगवान् के नित्य पार्षद प्रह्लाद नामक एक व्यक्ति है। उन्होंने ही चाक्षुष मन्वन्तर में श्रीनृसिंह देव को आविर्भाव कराये थे, एवं स्वायम्भुव मन्वन्तर में वत्स होकर पृथिवी

वर्त्तते, स एव तत्र समष्टिरूपतया स्ववामप्रदेशे साक्षादवतारत्वेनापि तद्रूपो वर्त्तत इति। तथा ये चात्र श्रीरामाद्युपासनायां मैन्द-द्विविदादय आवरणदेवतास्ते तु तदीयनित्यधामगता नित्याः शुद्धाश्च ज्ञेयाः। यथाक्रूराघमर्षणे तेन श्रीप्रह्लादादयो दृष्टाः। य एव श्रीप्रह्लादः पृथ्वीदोहनेऽपि वत्सोऽभूत्,—तदानीं तज्जन्माभावात् चाक्षुषमन्वन्तर एव हिरण्यकशिपोर्जातत्वात्। अन्ये तु स्व-स्व-धाम्नि नित्यप्राकट्यस्यैव श्रीरामादेः प्रपञ्चप्राकट्यावसरं प्राप्य तत्साहाय्यार्थं नित्यपार्षद-मैन्द-द्विविदादि-शक्त्यावेशिनो जीवाः सुग्रीवादि-भागवतद्वेषि-बालि प्रभृति-सम्बन्धादुत्तरकाले भगवद्द्वेषिनरकासुरादिसङ्गाच्च दुष्टभावा भवन्तीत्यवधेयम्,-प्रपञ्चलोकमिश्रत्वेनैव प्राकट्यसम्भवात्। अथ श्रीकृष्णगोकुलोपासनायामपि यत् श्रीरुक्मिण्यादीनामावरणत्वम्, तत्तु तच्छक्तिविशेषरूपाणां तासां विमलादीनामिवान्तर्धानगतत्वेनैव, न तु तल्लीलागतप्राकट्येनेति ज्ञेयम्। अतएव ध्याने ता नोक्ताः। केचित्तु

दोहन कार्य्य की सहायता किये थे। अतएव सिद्धान्त यह है कि श्रीरामचन्द्र प्रभृति नित्य निज निज धाम में नित्य परिकरों के सहित अवस्थान करते हैं। जिस समय प्रपञ्च में प्रकटित होते हैं, उस समय सहायता करने के निमित्त मैन्द द्विविद प्रभृति की शक्ति से आविष्ट साधारण जीव भी प्रकट होता है। वे नित्य सिद्ध मैन्द द्विविद से पृथक् होते हैं। अर्थात् नित्य सिद्ध पार्षद नहीं हैं। लौह में अग्नि शक्ति तादात्म्य के समान किसी किसी जीव में उक्त पार्षद वृन्द की शक्ति तादात्म्यापन्न होती है। तज्जन्य उक्त जीव समूह उस उस पार्षद के नाम से अभिहित होते हैं। एवं वे नित्य पार्षद के समान ही इष्ट देवता के अनुकूल आचरण करते हैं। किन्तु शक्त्यावेश विशिष्ट जीव समूह नित्य लीला के परिकर न होने से असत् सङ्ग दोष से अन्य प्रकार स्वभाव विशिष्ट भी होते हैं। सुतरां श्रीरामचन्द्र की प्रकट लीला के परिकर मैन्द द्विविद प्रभृति सुग्रीवादि भगवद् भक्त विद्वेषी बालि प्रभृति के सङ्ग दोष से, एवं उत्तर काल में अर्थात् श्रीरामलीला अप्रकट के पश्चात् भगवद् विद्वेषी नरकासुर प्रभृति के सङ्ग दोष से दुष्ट स्वभाव विशिष्ट हुये थे। यह जानना होगा। कारण, श्रीभगवान् लोक लोचनगोचरीभूत होकर जब विहार करते हैं— तब प्रपञ्च लोक के सहित नित्य सिद्ध परिकर का एक प्रकार मिश्रण भाव होता है।

अनन्तर श्रीकृष्ण की गोकुलोपासना में भी जो श्रीरुक्मिणी प्रभृति का आवरणत्व सुनने में आता है, वह भगवान् की शक्ति विशेष रूप विमला प्रभृति जिस प्रकार अन्तर्हित होकर अवस्थित हैं, श्रीरुक्मिणी प्रभृति की भी चिन्ता शुद्ध भक्तगण उस प्रकार हो करते हैं। जिस प्रकार शुद्ध भक्त गण-शङ्ख चक्र गदा प्रभृति चिह्न समूह का धारण, श्रीकृष्ण के चरण स्थित चिह्न रूप में हो धारण करते रहते हैं, अर्थात् व्रज विहारी श्रीकृष्ण के हस्त में शङ्ख चक्र गदा पद्म नहीं हैं, किन्तु प्रिय आयुध धारण की व्यवस्था जो व्यवस्था है, वह श्रीकृष्ण के चरण तल में जो शङ्खचक्रादि चिह्न हैं उस के चिन्तन से सार्थक होता है। कतिपय व्यक्ति—श्रीरुक्मिण्यादि के नाम समूह को श्रीराधादि नामान्तर रूप से ही मानते हैं।

श्रीकृष्ण के चरण तल स्थित शङ्ख चक्रादि चिह्न धारण भावना के द्वारा कैसे सम्भव होगा? उस को दृष्टान्त के द्वारा परिस्फुट करते हैं। जिस प्रकार मन्दिर के द्वार के उभय पार्श्व में गङ्गा यमुना पूजित होती हैं, किन्तु सन्देह हो सकता है कि—वृन्दावन में तो गङ्गा की स्थिति नहीं है? कैसे द्वार देश में गङ्गा की पूजा हो सकती है? उस का समाधान यह है। श्रीगोवर्द्धन में अवस्थित मनसगङ्गा को ही गङ्गा मानकर पूजा करते हैं। उस प्रकार पूजा के अङ्ग रूप में विष्वक सेनादि का जो उल्लेख है, वहाँ

रुक्मिण्यादि-नामानि श्रीराधादि-नामान्तरत्वेनैव मन्यन्ते। यथा ते शङ्ख-चक्र-गदा-मुद्रादि-धारणं श्रीकृष्णचरणचिह्नत्वेनैव स्वीकुर्वन्ति, यथा च द्वारान्त.पार्श्वयोर्गङ्गा-यमुनयोः पूज्यमानयोर्गङ्गा श्रीगोवर्द्धने प्रसिद्धा मानसगङ्गेति मन्यन्ते, तथा च विष्वक्सेनादयो भद्रसेनादय इति,-श्रीकृष्णपीठपूजायां श्वेतद्वीप-क्षीरसमुद्रपूजा च गोलोकाख्यस्य तद्धाम्नोऽपि श्वेतद्वीपेति-नामत्वात्, कामधेनुकोटिनिसृत-दुग्धपूरविशेषस्य च तत्र स्थितत्वात्, यथोक्तं ब्रह्मसंहितायां (५।६८) तद्वर्णनान्ते—

"स यत्र क्षीराब्धिः स्रवति सुरभीभ्यश्च सुमहान्, निमेषार्द्धाख्यो वा व्रजति न हि यत्रापि समयः।
भजे श्वेतद्वीपं तमहमिह गोलोकमिति यं, विदन्तस्ते सन्तः क्षितिविरलचाराः कतिपये॥"९०८॥ इति।

एवमन्यत्रापि ज्ञेयम्। तथा सोम-सूर्य्याग्निमण्डलान्यप्राकृतान्यतिशैत्यतापगुणपरित्यागेनैव वर्त्तन्ते। तत्र सर्व्वकल्याणगुणवस्तूनामेवाभिधानाय प्राकृतनिषेधात्, यथा नृसिंहतापन्याम् (पू० ५।१०)—"तद्वा एतत् परं धाम मन्त्रराजाध्यापकस्य, यत्र न दुःखादि, यत्र न सूर्य्यो

व्रजोपासक वृन्द -भद्रसेनादि की पूजा करते हैं। श्रीकृष्ण की पीठ पूजा में श्वेतद्वीप क्षीर समुद्र पूजा का जो विधान है, उस में—श्रीकृष्ण के गोलोक धाम का नाम ही श्वेत द्वीप है। क्षीर समुद्र शब्द से जानना होगा कि—श्रीवृन्दावन में कोटि कोटि कामधेनु श्रीकृष्ण के मुखारबिन्द का दर्शन करके एवं वेणुध्वनि श्रवण करके जो दुग्ध धारा क्षरण करती रहती है, उस से उस को क्षीर समुद्र जानना होगा।

ब्रह्म संहिता के ५।६८ में श्रीगोलोक वर्णन के अनन्तर वर्णित है—

"स यत्र क्षीराब्धिः स्रवति सुरभीभ्यश्च सुमहान्,।
निमेषार्द्धाख्यो वा व्रजति न हि यत्रापि समयः।
भजे श्वेतद्वीपं तमहमिह गोलोकमिति यं,
विदन्तस्ते सन्तः क्षितिविरलचाराः कतिपये॥"९०८॥

गोलोक में सुरभिवृन्द से सुमहान् क्षीर सागर प्रवाहित होता है, जहाँ निमेषार्द्ध काल भी अतीत नहीं होता है। अर्थात् जहाँ काल, अप्राकृत एवं निश्चल है। मैं उस श्वेतद्वीप का भजन करता हूँ। जिस को साधुगण गोलोक शब्द से जानते हैं। इस प्रकार साधुगण जगत् में विरल होते हैं। श्रीगोलोक में चन्द्र सूर्य्य एवं अग्नि मण्डल हैं, यह सब अप्राकृत हैं। एवं अति शैत्य तथा सन्ताप गुण को परित्याग करके नाति शीतोष्ण रूप में विद्यमान हैं। चन्द्र सूर्य्य प्रभृति को जो अप्राकृत कहा गया है,—उस से सूचित होता है कि—सकल कल्याण गुण विशिष्ट वस्तु ही श्रीगोलोक में है। नृसिंह तापनी में लिखित है—मन्त्र राज के अधीश्वर का वही परम धाम है, जहाँ दुःखादि नहीं है, जहाँ सूर्य्य उदित नहीं होते हैं, जहाँ वायु प्रवाहित नहीं होता है, चन्द्रमा ज्योत्स्ना विच्छुरित नहीं करता है, जहाँ नक्षत्र प्रकाशित नहीं होता है, जहाँ अग्नि बहन कार्य्य नहीं करता है, जहाँ मृत्यु का प्रवेश नहीं है, एवं जहाँ कोई भी दोष नहीं हैं। यह सब कहने का तात्पर्य्य यह है कि—श्रीभगवद्धाम में प्राकृत चन्द्र सूर्य्य नहीं है, एवं प्राकृत चन्द्र सूर्य्य के समान अतिशैत्य एवं सन्ताप भी नहीं हैं। इस रीति से कर्म मिश्र अर्च्चन निषेध की सङ्गति करने के निमित्त श्रीकृष्ण के परिकर वर्ग का वर्णन हुआ है।

अनन्तर शुद्ध भक्त वृन्द के पक्ष में भूत शुद्ध्यादि का प्रकार का वर्णन यथामति करते है—

भाति, यत्र न वायुर्वाति, यत्र न चन्द्रमास्तपति, न यत्र नक्षत्राणि भान्ति, यत्र नाग्निर्दहति, यत्र न मृत्युः प्रविशति, यत्र न दोषः" इत्यादि। तदेवं कर्म्ममिश्रत्वादि–निरसनप्रसङ्गसङ्गत्या तत्परिकरा व्याख्याताः।

अथ तेषां शुद्धभक्तानां भूतशुद्धयादिकं यथामति व्याख्यायते। तत्र भूतशुद्धिर्निजाभिलषित-भगवत्सेवौपयिक-तत्पार्षददेह-भावनापर्य्यन्तैव तत्सेवैकपुरुषार्थिभिः कार्य्या, निजानुकूल्यात्। एवं यत्र यत्रात्मनो निजाभीष्ट-देवतारूपत्वेन चिन्तनं विधीयते, तत्र तत्रैव पार्षदत्वे ग्रहणं भाव्यम्, अहंग्रहो-पासनायाः शुद्धभक्तैर्द्विष्टत्वात्। ऐक्यञ्च तत्र साधारण्यप्रायमेव,-तदीयचिच्छक्ति-वृत्तिविशुद्धसत्त्वांशविग्रहत्वात् पार्षदानाम्। अथ केशवादिन्यासादीनां यत्राधमाङ्गविषयत्वम्, तत्र तत्तन्मूर्त्तिं ध्यात्वा तत्तन्मन्त्रांश्च जप्त्वैव तत्तदङ्गस्पर्शमात्रं कुर्य्यात्, न तु तत्तन्मन्त्र-देवतास्तत्र तत्र न्यस्ता ध्यायेत्,–भक्तानां तदनौचित्यात्।

अथ मुख्यं ध्यानं श्रीभगवद्धामगतमेव, हृदयकमलगतन्तु योगिमतम्--"स्मरेद् वृन्दावने रम्ये" इत्याद्युक्तत्वात्। अतएव मानसपूजा च तत्रैव चिन्तनीया। कामगायत्रीध्यानञ्च यत्

निजाभिलषित भगवत् सेवा के उपयोगी भगवत् पार्षददेह की भावना ही भूतशुद्धि है, अर्थात् मैं श्रीकृष्ण का हूँ, दास, सखा, पिता माता, कान्ता यह सब भावों के मध्य में भगवत् सेवा के उपयुक्त किसी एक पार्षद देह की भावना करने से ही शुद्ध भक्त वृन्द के पक्ष में भूत शुद्धि होती है। कारण, जो लोक, श्रीभगवान् की सेवा को ही मुख्य पुरुषार्थ जानते हैं, उन के पक्ष में इस प्रकार भाव ही निज भाव के अनुकूल होता है। इस प्रकार जहाँ जहाँ निजेष्ट देव के सहित अभेद रूप से चिन्तन करने का विधान है, वहाँ पर भी निजाभीष्ट देव के पार्षदत्व भावना करनी चाहिये। कारण, भक्त गण, अहंग्रह उपासना के प्रति विद्वेष करते हैं। जहाँ पर श्रीभगवान् के सहित भक्त की एकता की कथा कही गई है, वहाँ समझना पड़ेगा। कि-साधारण रूप से जीव चैतन्य के सहित विभु चैतन्य का चैतन्यांश में जिस प्रकार साम्य सिद्धान्त किया गया है, वहाँपर भी वैसा ही समझना होगा। कारण, भगवत् पार्षद वृन्द के देह, अर्थात् विग्रह, प्राकृत---पाञ्चभौतिक नहीं है। किन्तु भगवान् की चिच्छक्ति की वृत्ति रूप विशुद्ध सत्त्व का ही अंश है। अधमाङ्ग में केशवादि न्यास करने का उल्लेख जहाँपर है, वहाँ पर भी उक्त मूर्त्ति का ध्यान करके एवं उस मन्त्र का जप करके उस उस अङ्ग को स्पर्श करना चाहिये। किन्तु उस उस देवता की स्थिति की चिन्ता करना अत्यन्त अनुचित है।

श्रीभगवान् का मुख्य ध्यान उन के धाम में ही करना चाहिये। हृदय कमल में ध्यान करना योगि गण सम्मत है, किन्तु भक्त गण सम्मत नहीं है। कारण –तन्त्र में लिखित है "स्मरेद् वृन्दावने रम्ये"

अर्थात् मनोहर वृन्दावन में ही श्रीकृष्ण का स्मरण करे। इस प्रकार उल्लेख है। अतएव मानस पूजा भी श्रीवृन्दावन में चिन्तन करके ही करे। काम गायत्री का ध्यान सूर्य्य मण्डल में करने का जो विधान है, वह भी श्रीवृन्दावन में ही करे। कारण, ब्र० सं० ५।४८ में उक्त है--"गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतो गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि।।" अर्थात् यद्यपि भगवान् निखिल गोलोक वासी का आत्म स्वरूप हैं, तथापि श्रीराधा प्रभृति के सहित गोलोक में ही निवास करते हैं। यहाँ पर एव कार का प्रयोग है। उस से विदित होता हैं—श्रीकृष्ण गोलोक में ही निवास करते है, तद्भिन्न अन्यत्र निवास नहीं करते हैं। उस सूर्य्य मण्डल में श्रीवृन्दावन नाथ श्रीकृष्ण साक्षात् रूप से अवस्थान नहीं करते हैं। किन्तु

सूर्य्यमण्डले श्रूयते, तत्तत्रैव चिन्त्यम् (ब्र० सं० ५।४८)—"गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतः" इत्यत्र एव-कारात्। तत्र श्रीवृन्दावननाथः साक्षान्न तिष्ठति, किन्तु तेजोमयप्रतिमाकारेणवेति। अथ बहिरुपचारैरन्तपूजायां वेण्वादिपूजा, तदङ्गज्योति-र्विलीनाङ्गस्य स्वस्याङ्गे निविष्टस्य तस्य तन्मुखादावेव भाव्या, न तु स्व-मुखादौ। तथा वेण्वादि-तद्भूषणमुद्रा-दर्शनम्,—स्वमुखादौ तथा वेण्वादि यत् क्रियते, तत्र तस्मै तदीय-तत्तत्प्रियवस्तूनां दर्शनार्थमेव, न तु स्वस्यैवाङ्गे तानि भावयेत इति पूर्वहेतोरेव। तथा मानसादि पूजायां भूतपूर्व-तत्परिकर लीलासंवलितत्वमपि न कल्पनामयम्, किन्तु यथार्थमेव, यतस्तस्य प्राकट्यसमये लीलास्तत्-परिकराश्च ये प्रादुर्बभूवुस्ते तादृशाश्चाप्रकटमपि नित्यं तदीये धाम्नि संख्यातीता एव वर्त्तन्ते।

तेजोमय प्रतिमा रूप में ही अवस्थित हैं।

वाह्य उपचार के द्वारा अन्तः पूजा में निज अङ्ग में जो वेणु प्रभृति की पूजा का विधान है, उस में श्रीकृष्ण की अङ्ग ज्योति में निजाङ्ग विलीन होने के कारण, साधक के निज अङ्ग में निविष्ट श्रीभगवान् के मुखादि में ही वेणु प्रभृति की चिन्ता करनी चाहिये। किन्तु कभी भी निज मुखादि में वेणु वनमाला प्रभृति की चिन्ता न करे। वेणु वनमाला, श्रीवत्स, कौस्तुभ एवं विल्व यह पञ्चमुद्रा श्रीभगवान् को प्रदर्शन करने की जो विधि है, वह निज मुखादि में करे। किन्तु इस प्रकार चिन्तन करना होगा कि—यह वस्तु श्रीभगवान् के अत्यन्त प्रिय हैं, इस को देखकर भगवान् सन्तुष्ट होते हैं। किन्तु निजाङ्ग में उक्त मुद्रासमूह की भावना न करे। कारण, निजाङ्ग में चिन्ता करने से अहंग्रह उपासना के मध्य में पर्य्यवसित होता है। उस प्रकार मानस पूजा प्रभृति में पूर्व में अर्थात् श्रीभगवान् की प्रकट समय में जो सब लीला हुई थीं एवं वह सब लीला में जो सब लीला परिकर थे, उन के सहित ही ध्यान करे। अर्थात् श्रीभगवान् लोक लोचन गोचरी भूत होकर जो जो परिकर के सहित जो जो लीला किये थे, उस उस लीला एवं उस उस लीला के परिकर अप्रकट लीला में भी विद्यमान हैं, वह साधक के कल्पना मय नहीं है, पारमार्थिक सत्य रूप में ही सब स्थित हैं, अर्थात् यथार्थ ही है, कारण, श्रीभगवान् के प्रकट अवतार के समय में जो सब लीला एवं जो सब लीला परिकर आविर्भूत हुए थे, उस समय में भी मानव नेत्र के अगोचर होकर भी उस धाम में ही उस प्रकार असंख्य लीला एवं तदुचित परिकर विद्यमान हैं। किन्तु असुर वृन्द— अप्रकट धाम में चेतन रूप में नहीं रहते हैं, अर्थात् प्रकट समय में जिस प्रकार कंस, पूतना प्रभृति प्रतिकूल आचरण के द्वारा लीला के सहायक होते हैं, श्रीभगवान् के अप्रकट में उसी धाम में वह सब असुर यन्त्र मय प्रतिमा कार में अवस्थित होते हैं। एवं जिस समय श्रीभगवान् की कौतुक रस आस्वादनेच्छा होती है, उस समय चित्राङ्कित असुर गण क्रियाशील होते हैं। भा० १०।१४।६१ में उक्त है "एवं विहारैः" श्रीराम कृष्ण, कौमार वयसोचित विहार के द्वारा कुमार वयस सम्बरण किये थे। उस कुमार वयस में निलायन अर्थात् छिपा चोरी खेल, एवं बाल्य वयसोचित अन्यान्य लीला किये थे। कभी तो अन्य अवतार की लीला का अनुकरण भी करते थे। श्रीरघुनाथ लीला के सेतु बन्ध, लङ्का गमन, लक्ष्मण शक्तिशेल प्रभृति एवं अन्यान्य अवतार के क्षीर सागर मन्थन प्रभृति का अनुकरण करते थे। कौतूहल के वशवर्त्ती होकर विभिन्न प्रकाश के लीलानुकरण अनुष्ठित होता है—उस का सयुक्तिक वर्णन भगवत सन्दर्भ में हुआ है। यहाँ पर ज्ञातव्य यह है कि - कौतुक वशतः जिस समय श्रीभगवान् की किसी लीला का आस्वादन करने की इच्छा होती है, उस समय श्रीभगवान् में एवं उनके परिकर वर्ग में इस प्रकार एक आवेश उपस्थित होता है कि—जिस से श्रीभगवान् एवं उनके परिकर वृन्द उस उस भाव में विभोर होकर उस उस लीला का अनुकरण

असुरास्तु न तत्र चेतनाः, किन्तु यन्त्रमय-तत्प्रतिमानिभा ज्ञेयाः, (भा० १०।१४।६१)--"एवं विहारैः" इत्यादौ "निलायनैः सेतुबन्धै-र्मर्कटोत्प्लवनादिभिः" इतिवत्तत्तल्लीलानां नानाप्रकाशैः कौतुकेनानुक्रियमाणत्वात् श्रीभगवत्सन्दर्भादौ हि तथा सन्ध्यायं दर्शितमस्ति ।

अथ मानसपूजामाहात्म्यम्, यथा नारदपञ्चरात्रे श्रीनारायणवाक्यम्—"अयं यो मानसो योगो जरा-व्याधिभयापहः" इत्यादौ,

"यश्चैतत् परया भक्त्या सकृत् कुर्य्यान्महामते । क्रमोदितेन विधिना तस्य तुष्याम्यहं मुने ।।"९०९।।

एषा क्वचित् स्वतन्त्रापि भवति,—मनोमय्या मूर्त्तेरष्टमतया स्वातन्त्र्येण विधानात् (भा० ११।३।५०) "अर्च्चादौ हृदये वापि यथालब्धोपचारकैः" इत्याविर्होत्रवचनेन वा'-शब्दात् ।

अथ पूजास्थानानि विचार्य्यन्ते, तानि च विविधानि । तत्र शालग्रामादिकं

करते रहते हैं । श्रीभगवान् अप्रकट धाम में भी जो सब असुर प्रतिमा हैं, श्रीभगवान् में जिस समय कौतुक रस का उदय होता है, उस समय तदुचित लीला का अभिनय करते हैं । स युक्तिक इस का वर्णन श्रीभगवत् सन्दर्भादि में है ।

अनन्तर मानस पूजा का माहात्म्य वर्णन करते हैं—नारद पञ्चरात्र के श्रीनारायण वाक्य इस प्रकार है—"अयं यो मानसो योगो जरा व्याधिभयापहः" मानस पूजानुष्ठान के द्वारा जरा व्याधि, भय प्रभृति विनष्ट होते हैं ।

"यश्चैतत् परया भक्त्या सकृत् कुर्य्यान्महामते ।
क्रमोदितेन विधिना तस्य तुष्याम्यहं मुने ।।"९०९।। इति ।

हे महामते ! जो व्यक्ति परमाभक्ति के सहित उल्लिखित विधि क्रम के अनुसार मानस अर्चन एक बार मात्र भी करता है, मैं उस के प्रति सन्तुष्ट होता हूँ । यह मानस पूजा किसी किसी अधिकारी में स्वतन्त्र रूप से भी होती है । कारण, शैली दारुमयी प्रभृति अष्टविधा प्रतिमा के मध्य में मनोमयी प्रतिमा को अष्टमी प्रतिमा कही गई है । श्रीमद् भागवत के ११।३।४१ श्लोक में लिखित है—"अर्च्चादौ हृदये वापि यथालब्धोपचारकैः ।" आविर्होत्र योगीन्द्र निमिमहाराज को कहे हैं—प्रतिमा प्रभृति में अथवा यथालब्ध उपचार के द्वारा निजाभीष्ट देव का अर्च्चन करे । इत्यादि श्लोक में विकल्प वाची "वा" शब्द प्रयोग के द्वारा हृदय में पूजा की स्वतन्त्रता कही गई है । इस मानस पूजा का अधिकारी प्रतिष्ठान पुर के एक ब्राह्मण थे, उन्होंने मनोमयी प्रतिमा की पूजा मानसोपचार से करके वैकुण्ठ लाभ किया था । इस का वर्णन भक्तिरसामृतसिन्धु ग्रन्थ में एवं प्रह्लाद चरित्र की क्रम सन्दर्भ टीका में है ।

सम्प्रति पूजास्थानों का विचार करते हैं, उक्त पूजास्थान अनेक प्रकार हैं । उस के मध्य में श्रीशालग्राम, यन्त्र एवं मन्त्र में उन उन भगवान् के आकार एवं अधिष्ठान हैं, इस प्रकार चिन्तन करना चाहिये । कारण, श्रीभगवान् का जो आकार हैं, शालग्रामादि में वह दृष्ट नहीं होता है । कारण, आकार गत वैलक्षण्य है । आकार में वैलक्षण्य होने से भी भगवदाकार की चिन्ता करे । कारण, शास्त्र में वर्णित है—जहाँ श्रीशालग्राम शिला हैं, वही श्रीभगवान्का अधिष्ठान है ।

'शालग्रामशिला यत्र तत्र सन्निहितो हरिः" उस के मध्य में श्रीभगवान् जिस भक्त का अभीष्ट देव हैं, उन श्रीभगवान् के आकार के अधिष्ठान रूप में चिन्तन करना ही सिद्धि प्रद है । अर्थात् शालग्राम शिला में

तत्तद्भगवदाकाराधिष्ठानमिति चिन्त्यम्,–आकारवैलक्षण्यात्, "शालग्रामशिला यत्र तत्र सन्निहितो हरिः" इत्याद्युक्तेः। तत्र च स्वेष्टाकारस्यैव भगवतोऽधिष्ठानं सुष्ठु सिद्धिकरम्,–तस्मिन्नेवायत्नतस्तदीयप्राकट्यात्, (भा० ११।३।४८) मूर्त्त्याभिमतयात्मनः" इत्युक्तेः। श्रीकृष्णादीनान्तु मथुरादिक्षेत्रं महाधिष्ठानम्, (भा० १०।१।२८) ---'मथुरा भगवान् यत्र नित्यं सन्निहितो हरिः" इत्याद्युक्तेः, तथा तत्तन्मन्त्रध्येयवैभवत्वेन मथुरा-वृन्दावनादीनां श्रीगोपाल-तापन्यादौ प्रख्यातत्वात्। मथुरादिक्षेत्राण्येवान्यत्राधिष्ठाने ध्यानेन प्रकाश्य तेषु भगवांश्चिन्त्यते। अथ श्रीमत्-प्रतिमायान्तु तदाकारैकरूपतयैव चिन्तयन्ति,–आकारैक्यात्, "शिलाबुद्धिः कृता किंवा प्रतिमायां हरेर्मया" इति भावनान्तरे दोषश्रवणाच्च। एवमेव श्रीभगवता (भा० ११।२७।१३) "चलाचलेति द्विविधा प्रतिष्ठा जीवमन्दिरम्" इत्युक्तम्, 'प्रतिष्ठा'–प्रतिमा

जिस प्रकार श्रीभगवान् के आकार का चिन्तन करना पड़ता है, उस प्रकार अभीष्ट प्रतिमा में चिन्तन की अपेक्षा नहीं है। साक्षात् भगवान् स्वाभाविक रूप में वहाँ प्रकटित होते हैं। तज्जन्य भा० ११।३।४८ में उक्त है—"मूर्त्त्याभिमतयात्मनः" अर्थात् निजाभीष्ट भगवान् की मूर्त्ति के द्वारा महापुरुष की अर्च्चना करे। इस प्रकार कहा गया है। श्रीकृष्ण, श्रीरामचन्द्र, प्रभृति भगवत् स्वरूप के मथुरा, द्वारका अयोध्या प्रभृति क्षेत्र ही महान् अधिष्ठान हैं। कारण भा० १०।१।२८ में उक्त है—"मथुरा भगवान् यत्र नित्यं सन्निहितो हरिः॥" मथुरा में भगवान् श्रीहरि, नित्य सन्निहित हैं। श्रीकृष्ण, गोपाल प्रभृति मन्त्र का ध्येय वैभव रूप में मथुरा वृन्दावन प्रभृति का विशेष उल्लेख श्रीगोपाल तापनी प्रभृति ग्रन्थ में दृष्ट होता है। विशेषतः साधक, अन्यत्र अवस्थित होने पर भी उस स्थान में स्थापित श्रीभगवन्मूर्त्ति का अधिष्ठान रूप में ध्यान के द्वारा मथुरा प्रभृति क्षेत्र को प्रकाश करके उस में ही श्रीभगवान् की चिन्ता करते रहते हैं। अर्थात् यदि देशान्तर में भी श्रीकृष्ण मूर्त्ति प्रभृति स्थापित होती हैं तो, भावना के द्वारा श्रीविग्रह को साक्षात् श्रीकृष्ण, एवं उस स्थान को श्रीवृन्दावन चिन्तन करके सेवा करनी चाहिये।

श्रीमती प्रतिमा में किन्तु श्रीकृष्ण प्रभृति अभीष्ट देवता के रूप सहित सर्वथा अभेद चिन्तन ही महात्मा गण करते हैं, अर्थात् निजाभीष्ट देव के सहित श्रीविग्रह का विन्दु मात्र भी भेद चिन्तन नहीं करते हैं। कारण, आकृति के सहित किसी प्रकार भेद नहीं है। निजाभीष्ट देव के सहित श्रीविग्रह का भेद स्वीकार किञ्चिन्मात्र करने पर भी व्यवहारिक पार मार्थिक बहुल दोष होते हैं। शास्त्र में लिखित है—'शिलाबुद्धिः कृता किंवा प्रतिमायां हरेर्मया॥" दशरथ महाराज मृग भ्रमसे अन्ध मुनि के पुत्र को वाणाघात से विनष्ट करके जब पिता अन्ध मुनि के निकट ले आये थे, उस समय अन्धमुनि विलाप करके कहे थे—"शिलाबुद्धिः कृता किंवा प्रतिमायां हरेर्मया॥" अर्थात् मैंने कभी श्रीहरि प्रतिमा में शिला बुद्धि की है, जिस अपराध से मुझ को यह पुत्र शोक प्राप्त हुआ। ? इस प्रकार सुस्पष्ट प्रतीति होती है कि--श्रीमूर्त्ति में निज अभीष्ट देवता से पार्थक्य बुद्धि करने से व्यवहारिक अकल्याण उपस्थित होता है। इस प्रकार ही भा० ११।२७।१३ में भगवान् कहे हैं—"चलाचलेति द्विविधा प्रतिष्ठा जीव मन्दिरम्।' चल एवं अचल द्विविधा प्रतिमा ही जीव मन्दिर हैं। यहाँ प्रतिष्ठा शब्द का अर्थ प्रतिमा है। जीव शब्द का अर्थ है,—जीवों के जीवन प्रद परमात्मा जो मैं हूँ,—मेरा मन्दिर है। अर्थात् मेरे अङ्ग प्रत्यङ्ग के सहित अभिन्न आकार का आस्पद अर्थात् स्थान है। अर्थात् मेरा अङ्ग प्रत्यङ्ग के सहित श्रीमूर्त्ति का कुछ भी भेद नहीं है। अथवा, प्रतिष्ठा शब्द का यह अर्थ जानना होगा कि—श्रीमूर्त्ति प्रतिष्ठा रूप कर्म के द्वारा पूर्वोल्लिखित अर्थात् चल

जीवस्य जीवयितुः परमात्मनो मम मन्दिरं मदङ्गप्रत्यङ्गैरेकाकारतास्पदमित्यर्थः, यद्वा, प्रतिष्ठा लक्षणेन कर्म्मणा पूर्व्वोक्ता प्रतिमा मम तदास्पदं भवतीत्यर्थः । तथा च हयशीर्षपञ्चरात्रेषु- 'विष्णो सन्निहितो भव' इति सान्निध्यकरणमन्त्रविशेषानन्तरं मन्त्रान्तरम्—

"यच्च ते परमं तत्त्वं यच्च ज्ञानमयं वपुः । तत् सर्व्वमेकतो लीनमस्मिन् देहे विबुध्यताम् ।।"६१०।। इति।

अथवा जीवमन्दिरम्—सर्व्वजीवानां परमाश्रयः साक्षाद्भगवानेव प्रतिष्ठेत्यर्थः । परमोपासकाश्च साक्षात्-परमेश्वरत्वेनैव तां पश्यन्ति, भेदस्फूर्त्तेर्भक्तिविच्छेदकत्वात्तथैव ह्युचितम् । इत्थमेवोक्त श्रीभगवता (भा० ११।२७।३२)—

"वस्त्रोपवीताभरण—पत्र-स्रग् गन्धलेपनैः ।
अलङ्कुर्वीत सप्रेम मद्भक्तो मां यथोचितम् ।।"६११।।

इत्यत्र मामिति सप्रेमेति च । अतएव विष्णुधर्म्मे तामधिकृत्य अम्बरीषं प्रति श्रीविष्णुवाक्यम्--

"तस्यां चित्तं समावेश्य त्यज चान्यान् व्यपाश्रयान् । पूजिता सैव ते भक्त्या ध्याता चैवोपकारिणी ।६१२।
गच्छंस्तिष्ठन् स्वपन् भुञ्जंस्तामेवाग्रे च पृष्ठतः । उपर्य्यधस्तथा पार्श्वे चिन्तयंस्तामथात्मनः ।।"६१३।।

एवं अचल उभयविध प्रतिमा श्रीमूर्त्ति, मदीय अङ्ग प्रत्यङ्ग के सहित अभेदास्पद होती हैं । हयशीर्ष पञ्चरात्र में श्रीमूर्त्ति प्रतिष्ठा प्रसङ्ग में उल्लिखित प्रमाण भी यह है—"विष्णो सन्निहितो भव' हे श्रीविष्णो ! यह श्रीमूर्त्ति में सन्निहितो हों । इस प्रकार श्रीमूर्त्ति में श्रीविष्णु सान्निध्य आपादक मन्त्र विशेष के पश्चात् जो मन्त्र है, वह यह है—

"यच्च ते परमं तत्त्वं यच्च ज्ञानमयं वपुः ।
तत् सर्वमेकतो लीनमस्मिन् देहे विबुध्यताम् ।।"६१०।।

अर्थात् हे प्रभो ! तुम्हारे जो परम तत्त्व एवं तुम्हारे जो ज्ञानमय विग्रह है, तत् समुदय एकत्र इस विग्रह में लीन हैं, इस को अनुभव करो । अथवा जीव मन्दिर शब्द से समस्त जीवों का परमाश्रय साक्षात् भगवान् ही प्रतिष्ठा अर्थात् प्रतिमा 'श्रीमूर्त्ति है ' परम उपासक वृन्द श्रीमूर्त्ति को साक्षात् परमेश्वर रूप में ही देखते हैं । किञ्चिन्मात्र भेद स्फूर्त्ति होने से भक्ति का बिच्छेद हो जाता है, अतः सर्वथा अभेद बुद्धि से ही सेवा, पूजा प्रभृति करना कर्त्तव्य है । इस अभिप्राय से ही श्रीभगवान् भा० ११।२७।३२ में उद्धव को कहे हैं—

"वस्त्रोपवीताभरण--पत्र-स्रग् गन्धलेपनैः ।
अलङ्कुर्वीत सप्रेम मद्भक्तो मां यथोचितम् ।।"६११।।

हे उद्धव ! मेरा भक्त, मुझ को प्रीति के सहित वस्त्र, उपवीत, आभरण, पत्र, माल्य, गन्ध एवं चन्दनादि द्वारा सुशोभित करे । इस श्लोक में 'मां' मुझ को, "स प्रेम" प्रीति के सहित--पद द्वय प्रयोग के द्वारा यह प्रतीत होता है कि— यह श्रीकृष्ण के सहित श्रीमूर्त्ति का किसी प्रकार भी पार्थक्य होता तो 'मां' न कह कर एवं 'स प्रेम' न कह कर श्रीमूर्त्ति को बिधिपूर्वक— इस प्रकार कहते । अतएव विष्णु धर्म में श्रीमूर्त्ति को लक्ष्य करके श्रीअम्बरीष के प्रति श्रीविष्णु का कथन है—

"तस्यां चित्तं समावेश्य त्यज चान्यान् व्यपाश्रयान् ।
पूजिता सैव ते भक्त्या ध्याता चैवोपकारिणी ।।"६१२।।
गच्छंस्तिष्ठन् स्वपन् भुञ्जंस्तामेवाग्रे च पृष्ठतः ।
उपर्य्यधस्तथा पार्श्वे चिन्तयंस्तामथात्मनः ।।"६१३।।

अतएव तत्पूजायामावाहनादिकमित्थं व्याख्यातमागमे—

':आवाहनञ्चादरेण सम्मुखीकरणं प्रभोः। भक्त्या निवेशनं तस्य संस्थापनमुदाहृतम् ॥६१४॥

तवास्मीति तदीयत्वदर्शनं सन्निधापनम्। क्रियासमाप्तिपर्य्यन्त—स्थापनं संनिरोधनम्।

सकलीकरणं प्रोक्तं तत्सर्वाङ्गप्रकाशनम्॥"६१५॥ इति।

अत्र शूद्रादिपूजिताच्चा पूजा-निषेधवचनमवैष्णव-शूद्रादिपरमेव,—

'न शूद्रा भगवद्भक्तास्ते तु भागवता नराः। सर्ववर्णेषु ते शूद्रा ये न भक्ता जनार्द्दने ॥६१६॥

इत्युक्तेः। अथ सप्तमे (भा० ७।१४।३४) -"पात्रम्" इत्यादौ श्रीनारदोक्तौ अधिष्ठान-विचारे श्रीमदर्च्चातोऽपि यः पुरुषमात्रातिशयस्तत्रापि ज्ञानिनः, स च कैवल्यकामो भक्तचाश्रयः,—

उस श्रीभगवद्मूर्त्ति में चित आविष्ट करके अन्यावेश को परित्याग करे। भक्ति पूर्वक पूजा करने से एवं ध्यान करने से वह श्रीमूर्त्ति ही तुम्हारे पक्ष में उपकारिणी होगी। तुम, चलते चलते, खड़े होते होते, स्वप्न में भोजन में श्रीमूर्त्ति को ही निज सम्मुख में पश्चाद् भाग में ऊपर में अधोदेश में चिन्ता करते करते तत् स्फूर्त्तिमयता को प्राप्त करोगे।

अतएव श्रीमूर्त्ति पूजा विषय में आवाहनादि का प्रकार को निम्नोक्त रीति से जानना चाहिये। आगम में लिखित है—

"आराहनञ्चादरेण सम्मुखीकरणं प्रभोः।
भक्त्या निवेशनं तस्य संस्थापनमुदाहृतम् ॥६१४॥
तवास्मीति तदोयत्वदर्शनं सन्निधापनम्।
क्रियासमाप्तिपर्य्यन्त--स्थापनं संनिरोधनम्।
सकलीकरणं प्रोक्तं तत्सर्वाङ्गप्रकाशनम् ॥"६१५॥

आदर पूर्वक सम्मुखी करण का नाम आवाहन। भक्ति पूर्वक उपवेशन कराने का नाम—संस्थापन, 'तवास्मि' अर्थात् मैं तुम्हारा हूँ, इस प्रकार तदीयत्व ज्ञापन का नाम सन्निधापन, पूजासमाप्ति पर्य्यन्त स्थापन का नाम संनिरोधन, श्रीभगवान् के सर्वाङ्ग प्रकाश का नाम सकलीकरण है।

अनन्तर शूद्रादि पूजित श्रीमूर्त्ति की पूजा करना निषिद्ध है। इस प्रकार शास्त्रोक्ति का समाधान करते हैं—उक्त प्रकार शास्त्रीय विधान अवैष्णव शूद्रादि पर है। कारण उक्त है—

"न शूद्रा भगवद्भक्तास्ते तु भागवता नराः।
सर्ववर्णेषु ते शूद्रा ये न भक्ता जनार्द्दने ॥"६१६॥

जो भगवद् भक्त हैं, वे शूद्र नहीं हैं, वे भागवत हैं जो जनार्दन में भक्ति शून्य हैं वे ही सब वर्णों के शूद्र हैं, अर्थात् यह सब ब्राह्मण क्षत्रियादि होने से भी शूद्र के मध्य में परिगणित हैं। भा० ७।१४।३४ में लिखित —सत् पात्र का विचार है—देवर्षि नारद, महाराज युधिष्ठिर के निकट सम्प्रदान हेतु सत् पात्र का निर्वचन में कहे हैं—श्रीमूर्त्ति पूजा से भी पुरुष मात्र की पूजा श्रेष्ठ है। उस में भी ज्ञानवान् व्यक्ति का श्रेष्ठत्व है, ज्ञानी से भी मोक्ष कामी भक्तचाश्रय व्यक्ति श्रेष्ठ है, अर्थात् जो लोक मुक्ति लाभ हेतु श्रीहरिभजन करता है, इस प्रकार दान पात्र के मध्य में वहश्रेष्ठ पात्र है। उस प्रकरण में अर्थात् भा० ७।१५।२ में उक्त है—'ज्ञान निष्ठाय देयानि" जो ज्ञान निष्ठ है, उस को सत् पात्र जानकर उस को श्राद्ध

तस्मिन् प्रकरणे (भा० ७।१५।२) "ज्ञाननिष्ठाय देयानि" इत्युपसंहारे ज्ञानिन एव दानपात्रत्वेन परमोत्कर्षोक्तेः। अन्यत्र तु "न मेऽभक्तश्चतुर्वेदी", (भा० १०।६।२१) "नायं सुखापो भगवान्" इत्यादौ, (भा० ६।१४।५) "मुक्तानामपि सिद्धानाम्" इत्यादौ च, भक्तस्यैव ततोऽप्युत्कर्षः, किमुत तदुपास्यायाः श्रीमदर्च्चायाः। अतएव तामुद्दिश्योक्तम्—"नानुव्रजति यो मोहात्" इत्यादि। तथापि 'पात्रम्' इत्यादीनामर्थोऽपि क्रमेण दर्श्यते, (भा० ७।१४।३४–३५)—

(२८६) "पात्रं त्वत्र निरुक्तं वै कविभिः पात्रवित्तमैः।
हरिरेवैक उर्वीश यन्मयं वै चराचरम् ॥६१७॥
देवर्ष्यर्हत्सु वै सत्सु तत्र ब्रह्मात्मजादिषु।
राजन् यदग्रपूजायां मतः पात्रतयाच्युतः॥" ६१८॥

तत्र राजसूये॥

पात्र प्रदान करना चाहिये। इस प्रकार उपसंहार वाक्य में ज्ञानी को ही श्रेष्ठ पात्र कहा गया है। अन्यत्र उक्त है—"न मे भक्तश्चतुर्वेदी" चतुर्वेद में निष्णात व्यक्ति भी यदि मेरा भक्त नहीं होता है तो वह दान पात्र नहीं हो सकता है। भा० १०।६।२१ में उक्त है—"नायं सुखापो भगवान्" यह यशोदा नन्दन भगवान् देहिगण के पक्ष में सुखाप नहीं हैं, ज्ञानीवृन्द के सुखाप नहीं हैं, आत्मा राम गण के पक्ष में सुखाप नहीं हैं, यहाँ तक कि श्रीनारायण में भक्तिमान् व्यक्ति के पक्ष में भी सुखाप नहीं हैं, एवं ऐश्वर्य्य ज्ञानी भक्तगण के पक्ष में भी सुखाप नहीं हैं, किन्तु यह गोपिकासुत भगवान् श्रीकृष्ण—यशोदानन्दन भगवान् में भक्तिमान् व्यक्ति के पक्ष में सुखाप हैं। भा० ६।१४।५ में उक्त है—"मुक्तानामपिसिद्धानाम्" कोटि कोटि जीवन्मुक्त महापुरुष वृन्द के मध्य में एक व्यक्ति सिद्ध हो सकता है। कोटि कोटि सिद्ध महापुरुषों के मध्य में श्रीनारायण सेवा निष्ठ निष्काम भक्त सुदुर्लभ है। इत्यादि प्रमाण से विदित होता है कि ज्ञानी से भी भक्त का श्रेष्ठत्व है। अतएव उस निष्काम भक्त के द्वारा उपास्य श्री मूर्त्ति का उत्कर्ष सुतरां कैमुत्यन्याय से सुसिद्ध है। अतएव श्रीमूर्त्ति को उद्देश्य करके रथयात्रा प्रसङ्ग में कथित है—"नानुव्रजति यो मोहात्" श्रीभगवान् पुरुषोत्तम जिस समय रथारोहण पूर्वक यात्रा करते हैं, उस समय, मूढ़ता वशतः अर्थात् श्रीमूर्त्ति में साक्षात् भगवद् बुद्धि न होने के कारण—उन का पश्चाद् गमन नहीं करता है। वह व्यक्ति—ज्ञानाग्नि द्वारा दग्ध कर्म्मा होने पर भी ब्रह्म राक्षस होता है। इस से प्रमाणित हुआ है कि—ज्ञान निष्ठ व्यक्ति भी श्रीमूर्त्ति की सेवा का आदर भाव न करने से अपराधी होकर अधः पतित होता है। अतएव ज्ञान निष्ठ की पूजा से भी श्रीमूर्त्ति की पूजा करना श्रेष्ठ कार्य्य है। अर्थ क्रम से वर्णन भा० ७।१४।३४–३५ में इस प्रकार है-

(२८६) "पात्रं त्वत्र निरुक्तं वै कविभिः पात्रवित्तमैः।
हरिरेवैक उर्वीश यन्मयं वै चराचरम् ॥६१७॥
देवर्ष्यर्हत्सु वै सत्सु तत्र ब्रह्मात्मजादिषु।
राजन् यदग्रपूजायां मतः पात्रतयाच्युतः॥" ६१८॥

राजसूय यज्ञ में पात्रज्ञ पण्डित गण—श्रीहरि को ही एकमात्र मुख्यपात्र निर्देश किये थे। कारण, यह चराचर विश्व श्रीहरिमय हैं। श्रीहरि को अर्पण करने से सब को अर्पण करना सुसम्पन्न होता है। कारण, श्रीहरि भिन्न स्थावर जङ्गम प्रभृति की पृथक् सत्ता नहीं है। समस्त सत्ता ही श्रीहरि की सत्ता के अवलम्बन से अवस्थित हैं। हे महाराज ! आप का राजसूय यज्ञ में, देवगण, ऋषिगण, पूजनीय तपः सिद्ध

२८७ । (भा० ७।१४।३६) —"जीवराशिभिराकीर्णः" इत्यादि । सर्व्वेषां जीवानामात्मनश्च तर्पणरूपा सैव भवतीत्यर्थः ॥

२८८ । (भा० ७।१४।३७) --"पुराण्यनेन" इत्यादि । जीवेन जीवयित्रा जीवान्तर्यामि--रूपेणेत्यर्थः ॥

२८९ । (भा० ७।१४।३८)--"तेष्वेव भगवान्" इत्यादि । तस्मात्तारतम्यवर्त्तनात् पुरुषः प्रायो मनुष्यः पात्रम् । तत्र ज्ञान्यादिकं विशिष्टमिति भगवद्वर्त्तनस्यातिशयात् । तत्राप्यात्मा यावान् यथा ज्ञानादिपरिमाणादिकस्तथासौ पात्रमित्यर्थः ॥

२९० । एवं स्थितेऽपि कालेनोपासकदोषोत्पत्तौ सत्यां वेददृष्ट्या विशिष्टमधिष्ठानान्तरं प्रकाशितमित्याह, (भा० ७।१४।३९) —

(२९०) "दृष्ट्वा तेषां मिथो नृणामवज्ञानात्मतां नृप ।
त्रेतादिषु हरेरर्च्चा क्रियायै कविभिः कृता ॥"९१९॥

मिथोऽवज्ञानमसन्मानस्तस्मिन्नात्मा बुद्धिर्येषां तेषां भावं दृष्ट्वा क्रियायै पूजाद्यर्थमर्च्चा

महापुरुषवृन्द, ब्रह्म पुत्र सनकादि ऋषिगण, जो निखिल ऋषि वृन्द के आदि आचार्य्य हैं, वे सब यहाँ उपस्थित होने पर भी अच्युत श्रीकृष्ण ही मुख्य दान पात्र रूप में निर्णीत हैं ॥२८६॥

२८७ । भा० ७।१४।३६ में उक्त है—"जीवराशिभिराकीर्णः ।"

महान् जीव कोश रूप व्याप्त ब्रह्माण्ड का मूल श्रीकृष्ण ही हैं । अतएव उनकी पूजा ही समस्त जीवात्मा को तृप्ति दायिनी है ॥२८७॥

२८८ । भा० ७।१४।३७ में उक्त है "पुराण्यनेन" मनुष्य, तिर्य्यक्, ऋषि, देवता प्रभृति जितने पुर हैं अर्थात् शरीर समूह हैं, यह सब शरीरों की सृष्टि कर्त्ता श्रीअच्युत ही हैं । एवं समस्त सृष्ट देह समूह में परम पुरुष श्रीअच्युत ही जीवान्तर्य्यामी रूप में शयन करके हैं ॥२८८॥

२८९ । भा० ७।१४।३८ में उक्त है—"तेष्वेव भगवान्" यह सब शरीरों में श्रीभगवान् न्यूनाधिक भाव से प्रकाशित होकर विद्यमान् हैं । तिर्य्यगादि शरीर से पुरुष अर्थात् मनुष्य में अधिक रूप से प्रकाशित है । अतएव पुरुष अर्थात् मनुष्य ही दान पात्र है । मनुष्य के मध्य में भी जिस मनुष्य में जितने परिमाण में ज्ञान तपो योग के द्वारा श्रीभगवान् का प्रकाशाधिक्य होता है, उतने परिमाण में दान पात्र का श्रेष्ठत्व है ॥२८९॥

२९० । सत् पात्र स्थिति इस प्रकार होने पर भी समय विशेष में उपासक दोषाक्रान्त होने पर--अर्थात् उक्त उपासक में कालान्तर में दोषोत्पत्ति की सम्भावना है, अत वेद दृष्टि से अपर एक विशिष्ट अधिष्ठान का प्रकाश करते हैं--भा० ७।१४।३९ में उक्त है—

(२९०) "दृष्ट्वा तेषां मिथो नृणामवज्ञानात्मतां नृप ।
त्रेतादिषु हरेरर्च्चा क्रियायै कविभिः कृता ॥"९१९॥

मनुष्यो के मध्य में परस्पर को असम्मान करने की बुद्धि जिन की है, उनकी उस प्रकार प्रवृत्ति को देखकर पूजा प्रभृति का अनुष्ठान कराने के निमित्त त्रेतादि युग में श्रीहरि की अर्च्चा अर्थात् प्रतिमा की

कृता, तत्परिचर्य्यामार्गदर्शनाय सा प्रकाशितेत्यर्थः। एतेन तादृशदोषयुक्तेष्वपि कार्य्य-साधकत्वात् श्रीमदर्च्चाया आधिक्यमेव व्यञ्जितम्। "प्रतिमा स्वल्पबुद्धीनाम्" इत्यत्र चाल्पबुद्धीनामपीत्यर्थः,—नृसिंहपुराणादौ ब्रह्माम्बरीषादीनामपि तत्पूजाश्रवणात्।

२९१। (भा० ७।१४।४०) —"ततोऽर्च्चायाम्" इत्यादि। तत एवं प्रभावात्, केचिदित्यधिष्ठान-वैशिष्टेचन पूर्व्वतोऽप्युत्तमसाधनतत्परा इत्यर्थः। नन्ववज्ञावत् द्वेषेऽपि सिद्धिः स्यादित्याशङ्क्यातिप्रसङ्गवारणेच्छया प्रस्तुत-पुरुषरूपाधिष्ठानादर-रक्षेच्छया च तं वारयति, 'उपास्तापि' इति॥

२९२। अथ पुरुषेषु पूर्व्वोक्तविशेषं जात्यादिना विवृणोति (भा० ७।१४।४१) —"पुरुषेष्वपि" इत्यादि। यो धत्ते तं सुपात्रं विदुः॥

व्यवस्था की गई है। इस प्रकार करने का उद्देश्य है—श्रीहरि की परिचर्य्या को प्रदर्शन कराना। इस से यह प्रतिपादित हुआ है, कि पूर्वोक्त दोष युक्त पात्र को दान करने पर भी जब दान का फल लाभ होता है, तब सर्व दोष विवर्जित श्रीहरि प्रतिमा को अर्पण अर्थात् उन की पूजा करने से फलाधिक्य होना अवश्यम्भावी है। प्रतिमा पूजन करके भी जो पुरुषद्वेषी है, अर्थात् मानवादि को द्वेष करता है, उस के पक्ष में श्रीविग्रह पूजा फलप्रद नहीं होती है। "प्रतिमा स्वल्प बुद्धीनाम्" अर्थात् यदि प्राणीमात्र को विद्वेष न करके प्रतिमा की पूजा करे तो अल्प बुद्धि मानव के पक्ष में भी वह पूजा फलप्रद होती है। यहाँ कतिपय व्यक्ति कहते हैं—जो अल्प बुद्धि हैं, वे ही प्रतिमा पूजा करते हैं, अतएव विज्ञ होने पर प्रतिमा पूजा न करे। इस प्रकार 'प्रतिमा स्वल्प बुद्धीनाम्" इस का अर्थ करना अत्यन्त असङ्गत है। कारण, नृसिंह पुराण प्रभृति में सुस्पष्ट लिखित है कि—श्रीब्रह्मा एवं श्रीअम्बरीष महाराज प्रभृति ने भी श्रीमूर्त्ति पूजा की है॥२९०॥

२९१। अतएव ७।१४।४० में उक्त है

'ततोऽर्च्चायां हरिं केचित् सश्रद्धया सपर्य्यया।
उपासते उपास्तापि नार्थदा पुरुषद्विषम्॥

अर्थात् श्रीहरि प्रतिमा का अत्यन्त प्रभाव निबन्धन श्रीहरि के निखिल अधिष्ठान से श्रीमूर्त्ति अधिष्ठान का ही वैशिष्ट्य है, अतएव उत्तम साधक वृन्द श्रीहरि प्रतिमा की पूजा परिचर्य्या द्वारा उपासना करते रहते हैं। किन्तु पारस्परिक अवज्ञा एवं विद्वेष परायण होकर भी श्रीहरि प्रतिमा की पूजा करने से सिद्धि हो सकती है, यह जो कहा गया है—उस का अभिप्राय यह है कि—मानवादि समस्त शरीरी ही श्रीभगवान् के अधिष्ठान हैं, यदि मानवादि के प्रति अनादर द्वेष प्रभृति करके श्रीमूर्त्ति पूजा करे तो श्रीमूर्त्ति की सेवा पूजादि करने पर भी वह सेवा सिद्धि दायिनी नहीं होगी॥२९१॥

२९२। अनन्तर मनुष्यों के मध्य में जाति प्रभृति के द्वारा पूर्व वर्णित विशेषत्व का विस्तार करते हैं। (२९२) भा० ७।१४।४१ में उक्त है—

"पुरुषेष्वपि राजेन्द्र सुपात्रं ब्राह्मणं विदुः।
तपसा विद्ययातुष्ट्याधत्ते वेदं हरेस्तनुम्॥"

हे महाराज! जो ब्राह्मण तपस्या विद्या एवं सन्तोष के द्वारा श्रीहरि के मूर्त्ति स्वरूप वेद को धारण किये हैं। वही ब्राह्मण श्रेष्ठ पात्र हैं॥२९२॥

२९३। पूर्व्वोक्तं ब्राह्मणरूपं पात्रमेव स्तौति (भा० ७।१४।४२) —"नन्वस्य" इत्यादिना। जगदात्मनो जगति लोकसंग्रहधर्म्मादिप्रवर्त्तनेन तन्नियन्तुरित्यर्थः। दैवतं पूज्यत्वेन दर्शितम्। श्रीनारदो युधिष्ठिरम् ॥

२९४। अथ तदनन्तराध्यायस्यादावेव तेषु सर्व्वोत्कृष्टमाह द्वाभ्याम् (भा० ७।१५।१-२)—

(२९४) "कर्म्मनिष्ठा द्विजाः केचित् तपोनिष्ठा नृपापरे।
स्वाध्यायेऽन्ये प्रवचने केचन ज्ञानयोगयोः ॥९२०॥
ज्ञाननिष्ठाय देयानि कव्यान्यानन्त्यमिच्छता।
दैवे च तदभावे स्यादितरेभ्यो यथार्हतः ॥"९२१॥

अनेन यथात्र मुमुक्षुप्रभृतीनां ज्ञानिपूजैव मुख्या, पुरुषान्तरपूजा तु तदभाव एव, तथा प्रेमभक्ति-कामानां प्रेमभक्तपूजा ज्ञेया। ततः प्रेमभक्तानामपि यच्चित्तस्य परमाश्रयरूपम्, तदभिव्यक्तेः सुतरामेवार्च्चाया आधिक्यमपि। एवं तदाश्रयरूपस्य विलक्षणप्रकाशस्थानत्वादेव

२९३। पूर्वोक्त ब्राह्मण रूप सुपात्र का स्तव करते हैं—(भा० ७।१४।४२)

"नन्वस्य ब्राह्मणाराजन् कृष्णस्य जगदात्मनः।
पुनन्तः पद रजसा त्रिलोकीं दैवतं महत् ॥"

हे महाराज! इस जगत् में जो लोकसंग्रहकर धर्म प्रभृति का प्रवर्त्तन करते हैं, अतः जगत् का नियामक हैं। उन श्रीकृष्ण के निज जन ब्राह्मण गण अपनी पद धूल द्वारा त्रिभुवन को पवित्र करते रहते हैं। कारण, वे परम देवता एवं परम पूज्य हैं। सुतरां वह ब्राह्मण वृन्द ही श्रेष्ठ दान पात्र हैं।

श्रीनारद युधिष्ठिर को कहे थे ॥२९३॥

२९४। इस के बाद अध्याय के प्रथम दो श्लोकों के द्वारा सर्वोत्कृष्ट पात्र का निर्द्धारण किये हैं— भा० ७।१५।१-२ में उक्त है—

(२९४) "कर्म निष्ठा द्विजाः केचित् तपोनिष्ठा नृपापरे।
स्वाध्यायेऽन्ये प्रवचने केचन ज्ञानयोगयोः ॥९२०॥
ज्ञाननिष्ठाय देयानि कव्यान्यानन्त्यमिच्छता।
दैवे च तदभावे स्यादितरेभ्यो यथार्हतः ॥"९२१॥

महाराज! उन ब्राह्मणों के मध्य में कोई कर्मनिष्ठ, कोई तपोनिष्ठ कोई स्वाध्यायनिष्ठ, कोई व्याख्या निष्ठ, एवं ज्ञान योग निष्ठ हैं। उस के मध्य में अनन्त फल प्राप्ति हेतु पितृ लोक के उद्देश्य में देय पदार्थ प्रदान—ज्ञान निष्ठ को करना चाहिये। एवं देवता के उद्देश्य में देय हवि भी ज्ञान निष्ठ को अर्पण करना कर्त्तव्य है। यदि उस प्रकार ज्ञान निष्ठ सत् पात्र का अभाव हो तो ज्ञान विकाश के तारतम्य के अनुसार दान पात्र का निर्णय करना चाहिये। इस प्रसङ्ग से यह बोध होता है कि—जिस प्रकार मुमुक्षु प्रभृति के पक्ष में ज्ञानी पूजा ही मुख्य है, ज्ञानी पात्र का अभाव होने पर ज्ञान विकाश के तारतम्यानुसार पुरुषान्तर की पूजा विहित है, उस प्रकार प्रेम भक्ति लाभेच्छु व्यक्ति के पक्ष में प्रेम भक्ति की पूजा ही श्रेष्ठ है। अतएव प्रेमवान् भक्त वृन्द के चित्त का परमाश्रय जो मूर्त्ति हैं, उस श्रीमूर्त्ति की पूजा ही प्रेमवान् भक्त की पूजा से सुतरां अधिक महत्त्व पूर्ण है। कारण, श्रीमूर्त्ति में श्रीभगवान् का साक्षात् आविर्भाव है।

श्रीविष्णोर्व्यापकत्वेऽपि शालग्रामादिषु निर्द्धारणम्, तच्च पुरुषवन्नान्तर्य्यामिदृष्टचपेक्षम्, किन्तु स्वभावनिर्द्देशपरमेव,–तन्निवासक्षेत्रादीनां महातीर्थत्वापादनादिना कीटादीनामपि कृतार्थत्व-कथनात् । तथा च स्कान्दे—

"शालग्रामशिला यत्र तत्तीर्थं योजनत्रयम् । तत्र दानं जपो होमः सर्वं कोटिगुणं भवेत् ।।"६२२।।

पाद्मे—

"शालग्रामसमीपे तु क्रोशमात्रं समन्ततः । कीकटोऽपि मृतो याति वैकुण्ठभुवनं नरः ।।"६२३।। इति ।

तस्मादर्च्चाया आधिक्यमेव हि स्थितम् ।। श्रीनारदो युधिष्ठिरम् ।।

२९५ । अथाधिष्ठानान्तराणि चैवम्, यथा (भा० ११।११।४२--४६) –

(२९५) "सूर्य्योऽग्निर्ब्राह्मणो गावो वैष्णवः खं मरुज्जलम् ।
भूरात्मा सर्व्वभूतानि भद्र पूजापदानि मे ।।६२४।।

इस प्रकार प्रेमवान् भक्तवृन्द के चित्त का परमाश्रय रूप श्रीभगवान् का प्रचुरतर प्रकाश स्थान होने के कारण श्रीविष्णु यद्यपि सर्व व्यापक हैं, तथापि श्रीशालग्राम प्रभृति में श्रीभगवान् का आविर्भाव स्थान निर्दिष्ट है । मनुष्य के मध्य में जिस प्रकार श्रीभगवान् अन्तर्य्यामी रूप में विद्यमान हैं, मनुष्य प्रभृति की उस दृष्टि से ही करनी पड़ती है । शालग्राम प्रभृति में किन्तु उस प्रकार अन्तर्य्यामी दृष्टि से पूजा करना निषिद्ध है । कारण, श्रीविष्णु विश्वव्यापी होकर भी श्रीविग्रह प्रभृति में साक्षात् रूप में विद्यमान रहते हैं, यही उनका स्वभाव है । कारण, श्रीभगवान् के निवास क्षेत्र प्रभृति का महातीर्थत्व प्रतिपादन करके उस क्षेत्र वासी कीट प्रभृति भी जो कृतार्थ है, इस का निर्द्देश किया गया है । श्रीभगवान् के परिपूर्ण साक्षात् आविर्भाव स्थान श्रीशालग्राम प्रभृति के सम्बन्ध में भी शास्त्र में माहात्म्य वर्णित है । स्कन्द पुराण में लिखित है—

"शालग्रामशिला यत्र तत्तीर्थं योजनत्रयम् ।
तत्र दानं जपो होमः सर्वं कोटिगुणं भवेत् ।।"६२२।।

जहाँ पर श्रीशालग्राम शीला विद्यमान हैं, वहाँ तीन योजन पर्य्यन्तस्थः । परम पवित्र तीर्थ हैं, उस तीन योजन स्थान के मध्य के जिस किसी स्थान में दान, जप, होम प्रभृति जो कुछ अनुष्ठित होते हैं-सभी कोटि गुण फल प्रद होते हैं । पद्म पुराण में भी उक्त है—

"शालग्रामसमीपे तु क्रोशमात्रं समन्ततः ।
कीकटोऽपि मृतो याति वैकुण्ठभुवनं नरः ।।"६२३।।

शालग्राम के समीपस्थ चतुर्द्दिक् में एक क्रोश पर्य्यन्त में गया प्रभृति प्रदेश में उत्पन्न मनुष्य प्राण त्याग करके वैकुण्ठ गमन करता है । अतएव श्रीमूर्त्ति पूजा का जो श्रेष्ठत्व है—उसका निर्णय हुआ ।

श्रीनारद युधिष्ठिर को कहे थे ।।२९४।।

२९५ । अनन्तर पूर्वोक्त पात्र भिन्न एकादश संख्यक पूजाधिष्ठान का वर्णन करते हैं—भा० ११।११। ४२-४६ में उक्त है—

(२९५) "सूर्य्योऽग्नि ब्राह्मणो गावो वैष्णवः खं मरुज्जलम् ।
भूरात्मा सर्वभूतानि भद्र पूजापदानि मे ।।६२४।।

सूर्य्ये तु विद्यया त्रय्या हविषाग्नौ यजेत माम् ।
आतिथ्येन तु विप्राग्र्ये च गोष्वङ्ग यवसादिना ॥६२५॥
वैष्णवे बन्धुसत्कृत्या हृदि खे ध्याननिष्ठया ।
वायौ मुख्यधिया तोये द्रव्यैस्तोयपुरस्कृतैः ॥६२६॥
स्थण्डिले मन्त्रहृदयैर्भोगैरात्मानमात्मनि ।
क्षेत्रज्ञं सर्व्वभूतेषु समत्वेन यजेत माम् ॥६२७॥
धिष्ण्येष्वित्येषु मद्रूपं शङ्ख--चक्र--गदाम्बुजैः ।
युक्तं चतुर्भुजं शान्तं ध्यायन्नर्चेत् समाहितः ॥"६२८॥

टीका च—"इदानीमेकादशपूजाधिष्ठानान्याह,--सूर्य्य इति । हे भद्र ! अधिष्ठानभेदेन पूजासाधनभेदमाह--सूर्य्य इति त्रिभिः । त्रय्या विद्यया सूक्तैरुपस्थानादिना, अङ्ग ! हे उद्धव ! मुख्यधिया प्राणदृष्ट्या, तोये तोयादिभिर्द्रव्यैस्तर्पणादिना, स्थण्डिले भुवि, मन्त्रहृदयै रहस्य--

---

सूर्य्ये तु विद्यया त्रय्या हविषाग्नौ यजेत माम् ।
आतिथ्येन तु विप्राग्र्ये च गोष्वङ्ग यवसादिना ।६२५॥
वैष्णवे बन्धुसत्कृत्या हृदि खे ध्याननिष्ठया ।
वायौ मुख्यधिया तोये द्रव्यैस्तोयपुरस्कृतैः ॥६२६॥
स्थण्डिले मन्त्रहृदयैर्भोगैरात्मानमात्मनि ।
क्षेत्रज्ञं सर्व्वभूतेषु समत्वेन यजेत माम् ॥६२७॥
धिष्ण्येष्वित्येषु मद्रूपं शङ्ख-चक्र-गदाम्बुजैः ।
युक्तं चतुर्भुजं शान्तं ध्यायन्नर्चेत् समाहितः ॥"६२८॥

श्रीकृष्ण, उद्धव को कहे थे,—हे भद्र ! अर्थात् मङ्गल मूर्त्ति ! सम्प्रति अधिष्ठान भेद से पूजा का साधन भेद को कहता हूँ । उस में से एकादश प्रकार अधिष्ठान का नाम प्रथम सुनो ।

(१) सूर्य्य, (२) अग्नि, (३) ब्राह्मण, (४) गो (५) वैष्णव, (६) आकाश, (७)वायु, (८) जल, (९) भूमि, (१०) आत्मा, (११) सर्वभूत, यह एकादश मुझ को पूजन करने के स्थान हैं ।

सूर्य्य अधिष्ठान में त्रैविद्य द्वारा अर्थात् कर्ममयी उपासना के द्वारा, मेरी पूजा करे । अग्नि में घृत के द्वारा, ब्राह्मण में आतिथ्य विधान के द्वारा, धेनु में तृण जलादि के द्वारा, वैष्णव में बन्धु भाव से सत्कार के द्वारा, हृदय रूप आकाश में ध्यान निष्ठा द्वारा, वायु में मुख्य बुद्धि अर्थात् प्राण दृष्टि द्वारा, जल में जलादि उपचार रूप तर्पण के द्वारा, स्थण्डिल में (भूमि में) रहस्य मन्त्रन्यास के द्वारा, आत्मा में परमात्माश्रित रूप चिन्तन द्वारा, एवं सर्वभूत में आत्मा रूप में अवस्थित मुझ को समत्व दृष्टि से अर्च्चन करे । पूर्वोल्लिखित समस्त अधिष्ठानों में मेरा शङ्ख चक्र गदापद्म युक्त चतुर्भुज प्रशान्त रूप का ध्यान करके पूजा करे । यहाँपर सर्वत्र चतुर्भुज रूप में श्रीभगवान् का स्मरण करने की व्यवस्था विद्यमान होने पर भी उपासना के द्विविध भेद दृष्ट होते हैं । प्रथम, मन्दिर लेपनादि द्वारा जिस प्रकार मन्दिर के अधिष्ठाता श्रीविग्रह की उपासना की जाती है, उस प्रकार ही अन्तर्य्यामी परमात्म दृष्टि से किसी देह की परिचर्य्या करने से, उस देह के अन्तर्य्यामी की ही सेवा होती है । जिस प्रकार वैष्णव का समादर सद्बन्धु

मन्त्रन्यासैः, सर्व्वाधिष्ठानेषु ध्येयमाह,--धिष्ण्येष्वित्येष्विति । 'इति' अनेन प्रकारेण, एषु धिष्ण्येषु" इत्येषा । अत्र सर्व्वत्र चतुर्भुजस्यैवानु-सन्धाने सत्यपि द्विधा गतिः—एकाधिष्ठान-परिचर्य्ययैवाधिष्ठातुरुपासना-लक्षणा, मन्दिरलेपनादिना तदधिष्ठातृ-प्रतिष्ठाया इव, यथा 'वैष्णवे बन्धुसत्कृत्या', गोष्वङ्ग यवसादिना' इत्यादि, यतो बन्धुसत्कारो वैष्णव-विषयकः, ईश्वरे तु प्रभुभाव उपदिश्यते, (भा० ११।२।४६) --"ईश्वरे तदधीनेषु" इत्यादौ, तथा गो-सम्प्रदानकमेव यवसादिभोजनदानं युज्यते, न तु श्रीचतुर्भुज-सम्प्रदानकम् अभक्ष्यत्वात्, (भा० ११।११।४१)—

"यद्यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः ।
तत्तन्निवेदयेन्मह्यं तदानन्त्याय कल्पते ॥"६२६॥

इति तत्रैव पूर्व्वमुक्तम् । अन्या तु साक्षादधिष्ठातुरुपासनालक्षणा यथा—'हृदि खे ध्याननिष्ठया' तोये द्रव्यैस्तोयपुरस्कृतैः' इत्यादि । अत्राग्न्यादौ तदन्तर्यामिरूपस्यैव चिन्तनं कार्य्यम्, न जातु

भाव से, एवं धेनु को तृण जलादि अर्पण के द्वारा परिचर्य्या होती है । वैष्णव में सद् बन्धु बुद्धि के द्वारा अर्च्चन का अर्थ है—यह वैष्णव—विष्णु दास हैं, अतएव मेरा परम बान्धव हैं, इस बुद्धि से उनका उपकार करे । किन्तु ईश्वर बुद्धि से बन्धुभाव हो ही नहीं सकता । कारण, परमेश्वर के प्रति प्रभु भाव रखने का ही उपदेश शास्त्र में है । कारण, भा० ११।२।४६ में उक्त है—"ईश्वरे तदधीनेषु" ईश्वर में प्रेम, एवं भगवद् भक्त जन में बन्धुभाव स्थापन करने का उपदेश है । धेनु वृन्द को तृण जलादि प्रदान करे । यहाँ गो दृष्टि से ही तृण जलादि प्रदान करने का उपदेश है । कारण, गो दृष्टि से तृण जलादि द्वारा सेवा करने की उपयोगिता है, किन्तु चतुर्भुज श्रीविष्णु दृष्टि से तृण जलादि द्वारा सेवा करने की उपयोगिता नहीं है । कारण, तृण जलादि श्रीविष्णु के भोजनीय नहीं हैं । भा० ११।११।४१ में उक्त है—

"यद्यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः ।
तत्तन्निवेदयेन्मह्यं तदानन्त्याय कल्पते ॥"६२६॥

हे उद्धव ! इस जगत् में जो जो मेरा प्रियतम हैं, एवं भक्त के प्रियतम हैं, उस उस वस्तु अर्पण मुझ को करने से अनन्त फल होते हैं । इस प्रमाण से सुस्पष्ट बोध होता है कि—जो वस्तु श्रीभगवान् के प्रिय हैं, वही श्रीभगवान् को अर्पण करना कर्त्तव्य है । भगवद् बुद्धि से गो की पूजा करना अभिमत होने से श्री विष्णु के अभक्ष्य तृण जलादि के द्वारा पूजा करने की व्यवस्था नहीं देते । इस प्रसङ्ग का उद्देश्य यह है कि—समस्त अधिष्ठान में श्रीविष्णु के चतुर्भुजत्वादि रूप की चिन्ता करके पूजन करने का उपदेश किये हैं, तथापि किसी किसी अधिष्ठान में साक्षात् श्री विष्णु का ही ध्यान करे, एवं किसी किसी अधिष्ठान में उस अधिष्ठान की चिन्ता करके ही सेवा करे । उस के मध्य में वैष्णव अधिष्ठान में वैष्णव बुद्धि से ही बन्धु भाव से आदर अभ्यर्थना करे । गो शरीर श्रीविष्णु का प्रिय है । अतएव गो की सेवा करने से श्रीविष्णु सन्तुष्ट होंगे । इस बुद्धि से ही गो की पूजा करनी चाहिये ।

द्वितीय प्रकार उपासना में साक्षात् अधिष्ठाता श्रीविष्णु की ही उपासना होती है । जैसे हृदयाकाश में ध्यान निष्ठा के द्वारा, जल में जलादि उपकरण द्रव्य द्वारा श्रीविष्णु के तर्पणादि करने पड़ते हैं । अग्नि प्रभृति अधिष्ठान में अग्नि प्रभृति के अन्तर्य्यामी रूप में ही विष्णु की चिन्ता करनी चाहिये । किन्तु कभी

निजप्रेम-सेवाविशेषाश्रय-स्वाभीष्टरूपविशेषस्य । स तु सर्वथा परमसुकुमारत्वादिबुद्धिजनितया प्रीत्यैव सेवनीयः, यथोक्तं श्रीभगवतैव (भा० ११।२७।३२)---"वस्त्रोपवीताभरण-" इत्यादि । तेषां यथा भक्तिरीत्या परमेश्वरस्यापि तथा भावः श्रूयते, यथा श्रीनारदीये—

"भक्तिग्राह्यो हृषीकेशो न धनैर्धरणीसुराः । भक्त्या संपूजितो विष्णुः प्रददाति समीहितम् ।६३०।।
जलेनापि जगन्नाथः पूजितः क्लेशहा हरिः । परितोषं व्रजत्याशु तृषार्त्तः सुजलैर्यथा ।।"६३१।। इति

अत्र दृष्टान्त उपजीव्यः, वैपरीत्ये तु दोषश्च, यथा ग्रीष्मे जलस्थस्य पूजा प्रशस्ता, वर्षासु निन्दिता, यदुक्तं गारुड़े—

"शुचि-शुक्रगते काले येऽर्च्चयिष्यन्ति केशवम् । जलस्थं विविधैः पुष्पैर्मुच्यन्ते यमताड़नात् ।।६३२।।
घनागमे प्रकुर्व्वन्ति जलस्थं वै जनार्द्दनम् । ये जना नृपतिश्रेष्ठ तेषां वै नरकं ध्रुवम् ।।"६३३।। इति ।

भी निज अभीष्ट निज प्रेम सेवा विशेष का आश्रय भगवान् के रूप विशेष की चिन्ता न करे । कारण, निज अभीष्ट परमसुकुमार परम सुन्दर, परम मधुर, हैं, इस प्रकार बुद्धि जनित प्रीति से ही सब प्रकार सेवा करनी चाहिये । वह सुकोमलाङ्ग भक्त वल्लभ श्रीभगवान् दाहक अग्नि में अथवा सुशीतल जल में हैं, इस प्रकार चिन्ता करना सर्वथा निषिद्ध है । अर्थात् भक्ति विरुद्ध है । इस अभिप्राय से ही श्री भगवान् भा० ११।२७।३२ में कहे हैं । "वस्त्रोपवीताभरण" मेरा भक्त, उपवीत आवरण प्रभृति के द्वारा भक्ति पूर्वक मेरी पूजा करे वह सब भक्त भक्ति रीति से जिस प्रकार श्रीपरमेश्वर की पूजा करते हैं, श्रीपरमेश्वर भी उस प्रकार भाव में आविष्ट होते हैं । अर्थात् कोमलाङ्ग बुद्धि से चिन्तन करने से कोमलाङ्ग रूप में आविष्ट होते हैं । एवं वीर भाव में चिन्तन करने से वीर भाव में आविष्ट होने हैं । श्रीनारदीय पुराण में लिखित है--

"भक्तिग्राह्यो हृषीकेशो न धनैर्धरणीसुराः ।
भक्त्या संपूजितो विष्णुः प्रददाति समीहितम् ।।६३०।।
जलेनापि जगन्नाथः पूजितः क्लेशहा हरिः ।
परितोषं व्रजत्याशु तृषार्त्तः सुजलैर्यथा ।।६३१।।

हे ब्राह्मण गण ! भगवान् हृषीकेश केवल भक्ति ग्राह्य हैं, धन के द्वारा ग्राह्य नहीं हैं । श्रीविष्णु की पूजा भक्ति से करने पर श्रीविष्णु अभीष्ट प्रदान करते हैं । सर्वक्लेश हारी जगन्नाथ श्रीहरि, जल द्वारा पूजित होने से भी तृष्णार्त्त व्यक्ति जिस प्रकार सुन्दर जल प्राप्तकर सन्तुष्ट होते हैं,उस प्रकार श्रीविष्णु सन्तुष्ट होते हैं । यहाँ दृष्टान्त ही उपजीव्य है । अर्थात् तृष्णार्त व्यक्ति जिस प्रकार जल लाभ हेतु व्यग्र होता होता है, अपर किसी वस्तु से उस की तृप्ति नहीं होती है । उस प्रकार भक्ति पिपासु श्रीभगवान् भक्तिसे ही तृप्तिलाभ करते हैं । वैपरीत्य में दोष भी होता है । जिस प्रकार ग्रीष्म में जलस्थ भगवान् की पूजा प्रशस्ता है, किन्तु वर्षाकाल में जल द्वारा पूजा निन्दिता है । उस प्रकार भक्ति द्वारा श्रीकृष्ण पूजा प्रशस्ता है, ज्ञानादि के द्वारा पूजा निन्दिता है । गरुड़ पुराण में भी लिखित है—

"शुचि–शुक्रगते काले येऽर्च्चयिष्यन्ति केशवम् ।
जलस्थं विविधैः पुष्पैर्मुच्यन्ते यमताड़नात् ।।६३२।।

ग्रीष्म काल में जो व्यक्ति जलस्थ केशव की पूजा विविध पुष्प के द्वारा करता है, वह यमताड़ना से मुक्त हो जाता है ।

एवमन्यत्रापि । परिचर्य्याविधौ तद्देश-काल-सुखदानि शतशो विहितानि, तद्विपरीतानि निषिद्धानि च विष्णुयामले—"विष्णोः सर्वर्त्तुचर्य्या च" इति अतएवोक्तम् (भा० ११।११।४१) "यद्यदिष्टतमं लोके" इत्यादि । तत्र तत्रेष्टमन्त्रध्यानस्थलं च सर्वर्त्तुसुखमय-मनोहर-रूपरस-गन्धस्पर्शशब्दमयत्वेनैव ध्यातुं विहित-मस्ति, अन्यथा तत्तदाग्रहस्य वैयर्थ्यं स्यात् । तस्मादग्न्यादौ तत्तदन्तर्यामिरूप एव भाव्य इति स्थितम् ।। श्रीभगवान् ।।

२९६ । अथ नैवेद्यार्पणप्रसङ्गे यः क्रमदीपिका-दर्शितोऽनिरुद्ध-नामात्मको मन्त्रस्तस्य स्थाने श्रीकृष्णैकान्तिक-भक्तास्तु तन्मूलमन्त्रमेवेच्छन्ति । तथा यच्च तन्मुखज्योतिरनुगतत्वेन ध्यातुं विधीयते, तत्तु भोजन-समये तन्मुखप्रसादमेव मन्यन्ते । भोजनन्तु यथा लोकसिद्धमेव, नरलीलत्वात् श्रीकृष्णस्य । अथ जपे मन्त्रार्थस्य नानात्वेऽपि पुरुषार्थानुकूल एवासौ चिन्त्यः, यथा श्रीमदष्टाक्षरादावात्मनिवेदन-लक्षण-चतुर्थ्याद्यभाववर्त्ति मन्त्रे तदनुसन्धानेनेति ।

"धनागमे प्रकुर्वन्ति जलस्थं वै जनार्द्दनम् ।
ये जनाः नृपति श्रेष्ठ तेषां वै नरकं ध्रुवम् ।।"६३३।।

वर्षा काल में जो व्यक्ति जनार्दन को जलस्थ भाव से पूजा करता है, वह निश्चय ही नरक गमन करता है । इस प्रकार प्रमाण अन्यत्र भी है । परिचर्य्या विधि में तत्तद् देश काल के अनुसार श्रीहरि को सुखप्रद शत शत व्यवस्था हैं । एवं सुख विरोधी दुःख प्रद शत शत निषिद्ध व्यवस्था भी हैं । विष्णुयामल ग्रन्थ में पृथक् पृथक् ऋतु के अनुसार पृथक् पृथक् पूजा की व्यवस्था भी लिखित हैं । अतएव श्रीभगवान् भा० ११।११।४१ में कहे हैं—

"यद् यदिष्टतमं लोके यच्चाति प्रियमात्मनः ।
तत्तन्निवेदयेन्मह्यं तदनन्त्याय कल्पते ।।"

लोक में जो जो इष्टतम हैं, एवं मेरा भी प्रिय है, एवं भक्त का भी अतिप्रिय है, वह सब वस्तु मुझ को अर्पण करे । उस के मध्यमें जो सब अधिष्ठान की कथा कही गई, उस के मध्य में परम भागवत गण के पक्ष में निज अभीष्ट मन्त्र ध्यान का स्थान,—समस्त ऋतु में सुखमय, मनोहर रूप रस गन्ध स्पर्श शब्द मय स्थान का ध्यान ही विहित है । ऐसा न होने से धामगत निजेष्ट देव का चिन्तन करने का जो आग्रह शास्त्र में दृष्ट होता है, वह व्यर्थ होगा । अतएव अग्नि प्रभृति अधिष्ठान में अन्तर्य्यामी रूप ही चिन्तनीय है, यह स्थितीकृत हुआ ।

श्रीभगवान् कहे थे ।।२९५।।

२९६ ।। अनन्तर नैवेद्यार्पण प्रसङ्ग का वर्णन करते हैं । नैवेद्यार्पण प्रसङ्ग में श्रीकेशवाचार्य्य कृत क्रमदीपिका ग्रन्थ में अनिरुद्ध नामात्मक मन्त्र का वर्णन है, श्रीकृष्ण के ऐकान्तिक भक्त वृन्द किन्तु उस के स्थान में श्रीकृष्ण का मूल मन्त्र का ही प्रयोग करते हैं । एवं श्रीकृष्ण की मुखज्योति से मिलित रूप में नैवेद्य का ध्यान करने का जो विधान है, वह किन्तु भोजन समय में श्रीकृष्ण की मुख प्रसन्नता का ही चिन्तन करते हैं । श्रीकृष्ण का भोजन—मनुष्य लोक में जिस प्रकार प्रसिद्ध है, उस प्रकार ही जानना होगा । अर्थात् मनुष्य जिस प्रकार हस्त के द्वारा भोजन ग्रास उठाकर भोजन करता है, श्रीकृष्ण भी उस प्रकार ग्रास उठाकर भोजन करते हैं । श्रीकृष्ण भी मनुष्यवत् भोजन करने के आसन में उपविष्ट होकर श्रीहस्त द्वारा भक्त दत्त वस्तु श्रीमुख में अर्पण करतः गलाधः करण करते हैं । इस प्रकार ही चिन्तन करे । कारण, श्रीकृष्ण—नरलील हैं । मन्त्र जप के समय मन्त्र का विभिन्नार्थ होने पर भी निज प्रयोजनानुकूल

एवमन्येऽपि पूजाविधयो यथायथं योजनीयाः। शुद्धभक्ति-सिद्धयर्थं सर्व्वासां भक्तानामेव शुद्धत्वा-शुद्धत्वरूपेण द्विविधो हि भेदः सम्मत इति । तदेतदर्च्चनं फलेनाह, (भा० ११।२७।४९)—

(२९६) " एवं क्रियायोगपथैः पुमान् वैदिक–तान्त्रिकैः ।
अर्च्चन्नुभयतः सिद्धिं मत्तो विन्दत्यभीप्सिताम् ।।"९३४।।

उभयत इहामुत्र च ॥

२९७ । यथा (भा० ११।२७।५३)—

(२९७) "मामेव नैरपेक्ष्येण भक्तियोगेन विन्दति ।
भक्तियोगं स लभत एवं यः पूजयेत माम् ।।"९३५।।

नैरपेक्ष्येण निरुपाधिना भक्तियोगेन प्रेम्णा । स च भक्तियोग एवं पूजायाः स्यादित्य ह-भक्तीति श्रीभगवान् ।।

२९८ । यानि चात्र वैष्णवचिह्नानि निर्म्माल्य धारण-चरणामृतपानादीन्यङ्गानि, तेषाञ्च पृथक् पृथङ् महामाहात्म्यवृन्दं शास्त्रसहस्रेष्वनुसन्धेयम् । अथार्च्चनाधिकारिनिर्णयः (भा० ११।२७।४)

अर्थ चिन्ता ही करनी चाहिये । जिस प्रकार अष्टाक्षरादि मन्त्र में चतुर्थी विभक्ति का उल्लेख नहीं है, तथापि प्रत्येक मन्त्र का तात्पर्य्य आत्म समर्पण में ही है । अतएव जिस मन्त्रमें चतुर्थी विभक्ति का अथवा 'नमः' 'स्वाहा' "स्वधा" प्रभृति का उल्लेख नहीं है, वह सब मन्त्र में भी आत्म समर्पण अर्थ चिन्तन करना कर्त्तव्य है । इस प्रकार अन्यान्य पूजा विधि को भी यथा यथा रूप में योजना करनी चाहिये । शुद्ध भक्ति सिद्धि हेतु समस्त भक्ति के ही शुद्धत्व अशुद्धत्व रूप से द्विविध भेद हैं । फल प्रदर्शन के द्वारा पूर्वोक्त अर्च्चन का वर्णन भा० ११ २७।४९ में करते हैं—

(२९६) "एवं क्रियायोगपथैः पुमान् वैदिक--तान्त्रिकैः ।
अर्च्चन्नुभयतः सिद्धि मत्तो विन्दत्यभीप्सिताम् ।।"९३४।।

जो व्यक्ति, निरुपाधि अर्थात् ऐहिक पारत्रिक सुखापेक्षा शून्य है, भक्ति योग के द्वारा अर्थात् प्रीति पूर्वक पूर्व वर्णित रीति से मेरी पूजा करता है, वह मुझ में भक्ति योग लाभ करता है । अतएव उक्त द्विविध अर्च्चन विधि के मध्य में वैदिक तान्त्रिक क्रिया योग के द्वारा अर्चन—अशुद्ध भक्ति योग है, एवं द्वितीय प्रकार अर्च्चन ही विशुद्ध भक्ति योग है ॥२९६॥

२९७ । उस का वर्णन भा० ११।२७।५३ में इस प्रकार है—

(२९७) "मामेव नैरपेक्ष्येण भक्तियोगेन विन्दति ।
भक्तियोगं स लभत एवं यः पूजयेत माम् ।।"९३५।।

नैरपेक्ष्य—शब्द का अर्थ है—निरुपाधि भक्तियोग, अर्थात् प्रेम । वही भक्ति योग है । उक्त भक्ति योग के द्वारा पूजा करने से ही श्रीभगवान् को प्राप्त कर सकते हैं । श्रीभगवान् कहे थे ।।२९७।।

२९८ । अर्च्चनाङ्ग में वैष्णव चिह्न धारण, निर्म्माल्य धारण, चरणामृत पान प्रभृति जो अङ्ग समूह हैं, उन सब का पृथक् पृथक् माहात्म्य का वर्णन शास्त्र समूह में है । उसका अनुसन्धान करलेना आवश्यक है । अनन्तर अर्च्चन करने का अधिकारी का निर्णय करते हैं— भा० ११।२७।४ में उक्त है—

(२९८) "एतद्वै सर्व्ववर्णानामाश्रमाणाञ्च सम्मतम् ।
श्रेयसामुत्तमं मन्ये स्त्री-शूद्राणाञ्च मानद ॥"९३६॥

सर्व्ववर्णानां त्रैवर्णिकानाम्, तथा च स्मृत्यर्थसारे, पाद्मे च वैशाखमाहात्म्ये —

"आगमोक्तेन मार्गेण स्त्रिभिः शूद्रैश्च पूजनम् । कर्त्तव्यं श्रद्धया विष्णोश्चिन्तयित्वा पतिं हृदि ॥९३७॥
शूद्राणाञ्चैव भवति नाम्ना वै देवतार्च्चनम् । सर्वे चागममार्गेण कुर्य्युर्वेदानुसारिणा ॥९३८॥
स्त्रीणामप्यधिकारोऽस्ति विष्णोराराधनादिषु । पतिप्रियहितानाञ्च श्रुतिरेषा सनातनी ॥"९३९॥ इति ।

विष्णुधर्म्मे —

'देवतायाञ्च मन्त्रे च तथा मन्त्रप्रदे गुरौ । भक्तिरष्टविधा यस्य तस्य कृष्णः प्रसीदति ॥९४०॥
तद्भक्तजनवात्सल्यं पूजायां चानुमोदनम् । सुमना अर्च्चयेन्नित्यं तदर्थे दम्भवर्जनम् ॥९४१॥
तत्कथाश्रवणे रागस्तदर्थे चाङ्गविक्रिया । तदनुस्मरणं नित्यं यस्तन्नामोपजीवति ॥९४२॥

---

(२९८) "एतद्वै सर्व्ववर्णानामाश्रमाणाञ्च सम्मतम् ।
श्रेयसामुत्तमं मन्ये स्त्री-शूद्राणाञ्च मानद ॥"९३६॥

श्रीकृष्ण उद्धव को कहे थे— हे भक्त जन मानद ! यह अर्चन, त्रैवर्णिक के पक्ष में अर्थात् ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वान प्रस्थ एवं सन्न्यासी के पक्ष में यहाँतक कि स्त्री शूद्र के पक्ष में भी समस्त प्रकार माङ्गलिक साधनों के मध्य में श्रेष्ठ है । यह मेरा अभिमत है । स्मृत्यर्थ सार ग्रन्थ में एवं पद्म पुराण के वैशाखमाहात्म्य में लिखित है—

"आगमोक्तेन मार्गेण स्त्रिभिः शूद्रैश्च पूजनम् ।
कर्त्तव्यं श्रद्धया विष्णोश्चिन्तयित्वा पतिं हृदि ॥९३७॥
शूद्राणाञ्चैव भवति नाम्ना वै देवतार्च्चनम् ।
सर्वे चागममार्गेण कुर्य्युर्वेदानुसारिणा ॥९३८॥
स्त्रीणामप्यधिकारोऽस्ति विष्णोराराधनादिषु ।
पतिप्रियहितानाञ्च श्रुतिरेषा सनातनी ॥"९३९॥ इति ।

तन्त्रोक्त मार्ग में स्त्री शूद्र प्रभृति का,— हृदय में पति की चिन्ता करके श्रद्धा पूर्बक श्रीविष्णु की अर्च्चना करना कर्त्तव्य है । नामात्मक मन्त्र के द्वारा शूद्र को देवतार्च्चन करना चाहिये । वेदानुसारी तन्त्र मार्ग में किन्तु समस्त व्यक्ति की ही श्रीविष्णु की आराधना में अधिकार है ।

सारार्थ यह है कि—वैदिक विधि में देवतान्तर के अर्च्चन में स्त्री शूद्र गण स्वाहा स्वधादि का उच्चारण न करके केवल नाम मन्त्र के द्वारा देवतान्तर का अर्च्चन करें । इस प्रकार व्यवस्था है । यह केवल वैदिक क्रिया के सम्बन्धमें ही है । वेदानुसारी तन्त्रोक्तो विधि से निजेष्ट श्रीविष्णु की आराधना करने का अधिकार, स्वाहा स्वधादि स्मरण पूर्वक स्त्री शूद्र प्रभृति का समान रूप से है । जो सब स्त्री पतिप्रिये हितेरता हैं, उन के पक्ष में ही यह व्यवस्था है । किन्तु व्यभिचारिणी स्त्री का अधिकार विष्णु पूजा में नहीं है । यह सनातनी श्रुति है । विष्णु धर्म में भी लिखित है—

"देवतायाञ्च मन्त्रे च तथा मन्त्रप्रदे गुरौ ।
भक्तिरष्टविधा यस्य तस्य कृष्णः प्रसीदति ॥९४०॥
तद्भक्तजनवात्सल्यं पूजायां चानुमोदनम् ।
सुमना अर्च्चयेन्नित्यं तदर्थे दम्भवर्जनम् ॥९४१॥

भक्तिरष्टविधा ह्येषा यस्मिन् म्लेच्छेऽपि वर्त्तते । स मुनिः सत्यवादी च कीर्त्तिमान् स भवेन्नरः ।"९४३।

किञ्च, तत्त्वसागरे—

"यथा काञ्चनतां याति कांस्यं रसविधानतः । तथा दीक्षाविधानेन द्विजत्वं जायते नृणाम् ॥"९४४॥ इति ।

अथ (भा० ११।५।२१) "कृते शुक्लश्चतुर्ब्बाहुः" इत्यादिना युगभेदे यश्चोपासनाया माविर्भाव-भेद उच्यते, स च प्रायिक एव । तेभ्यश्चतुर्भ्योऽन्येषामुपासनाशास्त्रादेव, अन्यथेतरोपासनायाः कालासमावेशः स्यात् । श्रूयन्ते च सर्व्वत्र युगे सर्व्वोपासकास्तस्मात् सर्व्वैरपि सर्व्वदापि यथेच्छं सर्व्व एवाविशेषाः पूज्या इति स्थितम् । अतः "एतद्वै सर्व्ववर्णानाम्" इत्यादिकं सर्व्वसम्मतमेव ॥ उद्धवः श्रीभगवन्तम् ॥

तत्कथाश्रवणे रागस्तदर्थे चाङ्गविक्रिया ।
तदनुस्मरणं नित्यं यस्तन्नामोपजीवति ॥९४२॥
भक्तिरष्टविधा ह्येषा यस्मिन् म्लेच्छेऽपि वर्त्तते ।
स मुनिः सत्यवादी च कीर्त्तिमान् स भवेन्नरः ॥"९४३॥

अभीष्ट देवता में मन्त्र में एवं मन्त्रप्रद गुरु में जिस की अष्टविधा भक्ति हैं—श्रीकृष्ण, उस के प्रति प्रसन्न होते हैं। अष्ट विधा भक्ति इस प्रकार है—(१) भगवद् भक्त जन में वात्सल्य, (२ भगवत् पूजा का अनुमोदन, (३) शुद्ध चित्त से नित्य भगवदर्च्चन (४) भगवद् भक्ति का अनुष्ठान करके अहङ्कार शून्यता (५) भगवत् कथा श्रवण में आसक्ति, (६) भगवत् सेवा कार्य्य हेतु कायिक चेष्टा (७) नित्य भगवत् स्मरण एवं (८) नित्य भगवन्नाम को जीवन सर्वस्व करना। अर्थात् भोजन न करने से जिस प्रकार जीवन नहीं रहता है, उस प्रकार श्रीहरिनाम भिन्न देह धारण की असमर्थता। यह अष्टविधा भक्ति, यदि किसी म्लेच्छ में भी हों तो वही मुनि, सत्यवादी, एवं कीर्त्तिमान् है । तत्त्व सागर में लिखित है—

"यथा काञ्चनतां याति कांस्यं रसविधानतः ।
तथा दीक्षाविधानेन द्विजत्वं जायते नृणाम् ॥"९४४।

कांस्य (कांसा) जिस प्रकार रासायनिक प्रक्रिया से काञ्चनता को प्राप्त करता है, उस प्रकार मानव मात्र ही दीक्षा विधान के द्वारा द्विजत्व प्राप्त करते हैं।

अनन्तर भा० ११।५।२१ में उक्त "कृतेशुक्लश्चतुर्बाहुः" इस का समाधान करते हैं। कर भाजन योगीन्द्र ने कहा है—सत्यादि युग में उपासना का पार्थक्य है, एवं श्रीभगवदाविर्भाव का भेद है। ग्रन्थकार कहते हैं—वह विवरण प्रायिक है, अर्थात् प्रायशः इस प्रकार ही होता है। इस से इस प्रकार समझना ठीक नहीं है कि—सत्यादि युगों में उस उस युगावतार की ही उपासना करनी चाहिये। इस प्रकार नियम है। कारण, उस उस युगों में उस उस युग में पृथक् पृथक् उपासना एवं पृथक् उपास्य देव का वर्णन भी शास्त्र में दृष्ट होता है। यदि उस उस युग में उस उस युगावतार की एवं उस उस युग की उपासना करना ही अवश्य कर्त्तव्य है तो, अन्य श्रीभगवत् स्वरूप की एवं अन्य उपासना का अवसर उपस्थित नहीं होगा। कारण, सत्य का युगावतार शुक्ल भगवान् हैं, उपासना—ध्यान है। त्रेता में युगावतार यज्ञ पुरुष भगवान् है। उपासना—यज्ञ है, द्वापर में शुकपत्राभ श्याम भगवान् युगावतार हैं, उपासना—परिचर्य्या है। कलि में श्यामवर्ण भगवान् युगावतार हैं, उपासना—श्रीहरि नाम जप है। इस प्रकार चतुर्युग के युगावतार एवं उपासना का निर्णय हुआ। ऐसा होने पर अन्य भगवत् स्वरूप की उपासना का अवकाश नहीं है। अथच

२९९। तदेतदर्च्चनं व्याख्यातम्। अस्याङ्गानि चागमादौ ज्ञेयानि। तथा श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी-कार्त्तिकव्रतैकादशी-माघस्नानादिकमत्रैवान्तर्भाव्यम्। तत्र जन्माष्टमी यथा विष्णु-रहस्ये ब्रह्म-नारद-संवादे—

"तुष्टचर्थं देवकीसूनोर्जयन्तीसम्भवं व्रतम्। कर्त्तव्यं वित्ताशाठ्येन भक्तचा भक्तजनैरपि।
अकुर्वन् याति निरयं यावदिन्द्राश्चतुर्द्दश॥"९४५॥

तथा—

"कृष्णजन्माष्टमीं त्यक्त्वा योऽन्यद् व्रतमुपासते। नाप्नोति सुकृतं किञ्चिद्‌दृष्टं श्रुतमथापि वा॥"९४६॥

वित्ताशाठ्यञ्चोक्तमष्टमे (भा० ८।१९।३७)—

"धर्म्माय यशसेऽर्थाय कामाय स्वजनाय च।
पञ्चधा विभजन् वित्तमिहामुत्र च मोदते॥"९४७॥

अथ कार्त्तिको यथा स्कान्दे—"एकतः सर्वतीर्थानि" इत्यादिकमुक्त्वा,

---

सुनने में आता है कि समस्त युगों में समस्त भगवानों की उपासना है, एवं उपासक भी है। अतएव सब के पक्ष में सबयुगों में ही निज अभिलाष के अनुरूप भगवत् स्वरूप के सर्व प्रकार आविर्भाव ही पूज्य हैं, यही निर्णय हुआ। अतएव अर्च्चन मार्ग सब वर्णों के पक्ष में एवं समस्त आश्रमीयों के पक्ष में जो अवश्य कर्त्तव्य है, वह समस्त शास्त्र सम्मत है। उद्धव श्रीभगवान् को कहे थे॥२९८॥

२९९। उक्त रूप से अर्च्चन मार्ग का वर्णन हुआ। अर्च्चन मार्ग के अनेक अङ्ग हैं। तन्त्र शास्त्र से उसका परिज्ञान करना कर्त्तव्य है। इस अर्च्चनाङ्ग भक्ति के मध्य में कतिपय प्रसिद्ध भक्तयङ्ग है। जैसे श्रीकृष्ण जन्माष्टमी, कार्त्तिक व्रत, एकादशी, माघस्नान प्रभृति। विष्णु रहस्य ब्रह्म नारद संवाद में जन्माष्टमी का विवरण लिखित है—

"तुष्टचर्थं देवकीसूनोर्जयन्तीसम्भवं व्रतम्।
कर्त्तव्यं वित्ताशाठ्येन भक्तचा भक्तजनैरपि।
अकुर्वन् याति निरयं यावदिन्द्राश्चतुर्द्दश॥"९४५॥

देवकी नन्दन श्रीकृष्ण के सन्तोषार्थ भक्त जन मात्र को भक्ति पूर्वक वित्तशाठ्य शून्य होकर जयन्तीसम्भव व्रतानुष्ठान अवश्य करना चाहिये। यदि किसी भक्त नहीं करता है तो उस को चतुर्दश इन्द्र का भोग काल पर्य्यन्त नरक भोग करना पड़ेगा। उस प्रकार ही उक्त है—

"कृष्णजन्माष्टमीं त्यक्त्वा योऽन्यद् व्रतमुपासते।
नाप्नोति सुकृतं किञ्चिद्‌दृष्टं श्रुतमथापि वा॥"९४६॥

श्रीकृष्ण जन्माष्टमी को छोड़कर जो अन्य व्रताचरण करता है, वह दृष्ट श्रुत सब प्रकार सुकृत से वञ्चित होता है। इस व्रत में वित्त शाठ्य अर्थात् कृपणता करनी नहीं चाहिये। भा० ८।१९।३७

"धर्माय यशसेऽर्थाय कामाय स्वजनाय च।
पञ्चधा विभजन् वित्तमिहामुत्र च मोदते॥" ९४७॥

श्रीशुक्राचार्य्य बलिमहाराज को कहे थे—जो, धर्म, यश, अर्थ, भोग, एवं स्वजन—यह पाँच प्रकार से विभक्त कर वित्त को भोगता है, वह इस जगत् एवं पर जगत् में सुखी होता है। सम्प्रति स्कन्द पुराणोक्त कार्त्तिक व्रत का विवरण लिखते हैं—

"एकतः कार्त्तिको वत्स सर्वदा केशवप्रियः। यत्किञ्चित् क्रियते पुण्यं विष्णुमुद्दिश्य कार्त्तिके।
तदक्षयं भवेत् सर्वं सत्योक्तं तव नारद ॥"६४८॥ इति।

"अव्रतेन क्षिपेद्यस्तु मासं दामोदरप्रियम्। तिर्य्यग्योनिमवाप्नोति सर्वधर्मवहिष्कृतः ॥"६४९॥ इति।

अथैकादशी, तत्र तावदस्या अवैष्णवेऽपि नित्यत्वम्। तत्र सामान्यतः विष्णुधर्मे—"वैष्णवो वाथ सौरो वा कुर्य्यादेकादशीव्रतम्" इति, सौरपुराणे—"वैष्णवो वाथ शैवो वा सौरोऽप्येतत् समाचरेत्" इति, विशेषतश्च नारदपञ्चरात्रे दीक्षानन्तरावश्यक कृत्यकथने—"समयांश्च प्रवक्ष्यामि" इत्यादौ,

"एकादश्यां न भुञ्जीत पक्षयोरुभयोरपि। जागरं निशि कुर्वीत विशेषाच्चार्चयेद्विभुम् ॥"६५०॥ इति।

विष्णुयामलेऽपि तत्कथने दिग्विद्धैकादशीव्रतम्,—

"शुक्लाकृष्णाविभेदश्चासद्व्यापारो व्रते तथा। शक्तौ फलादिभुक्तिश्च श्राद्धञ्चैकादशीदिने।
द्वादश्याञ्च दिवास्वापस्तुलस्यवचयस्तथा ॥"६५१॥

"एकतः सर्वतीर्थानि" एक ओर समस्त तीर्थ यह कहकर कहते हैं—

"एकतः कार्त्तिको वत्स सर्वदा केशवप्रियः।
यत्किञ्चित् क्रियते पुण्यं विष्णुमुद्दिश्य कार्त्तिके।
तदक्षयं भवेत् सर्वं सत्योक्तं तव नारद ॥"६४८॥

हे वत्स नारद ! कार्त्तिक मास केशव का सर्वदा प्रिय है। इस कार्त्तिक मास में श्रीविष्णु सन्तोषार्थ जो कुछ पुण्य कार्य्य करे वह सब अक्षय फल प्रद होते हैं। मैंने तुम्हारे निकट अतिसत्य कहा हूँ। इस दामोदर प्रिय कार्त्तिक मास में जो व्यक्ति भगवत् सन्तोषार्थ व्रत व्यतीत समय अति वाहित करता है, वह सर्व धर्म वहिष्कृत होकर तिर्य्यक् योनि में गमन करता है।

"अव्रतेन क्षिपेद्यस्तु मासं दामोदरप्रियम्।
तिर्य्यग्योनिमवाप्नोति सर्वधर्म वहिष्कृतः ॥"६४९॥

अनन्तर एकादशी का वर्णन करते हैं—यह एकादशी अवैष्णव के पक्ष में भी नित्य कर्त्तव्य है। उस विषय में विष्णु धर्मोत्तर में सार्वजनीन भाव से उल्लेख है—"वैष्णवो वाथो सौरो वा कुर्य्यादेकादशी व्रतम्' वैष्णव हो अथवा ओर हो, सब के पक्ष में ही एकादशी व्रत आचरणीय है। सौर पुराण में लिखित है—

"वैष्णवो वाथ शैवो वा सारोऽप्येतत् समाचरेत" वैष्णव, शैव अथवा सौर सब ही व्यक्ति एकादशी व्रताचरण करें। विशेषतः नारद पञ्च रात्र के दीक्षानन्तर आवश्यक कृत्य कथन प्रसङ्ग में लिखित है—"समयांश्च प्रवक्ष्यामि" "तुम्हारे समीप में मैं नियम का वर्णन करूँगा। इस प्रकार कह कर कहा है—

"एकादश्यां न भुञ्जीत पक्षयोरुभयोरपि।
जागरं निशि कुर्वीत विशेषाच्चार्चयेद्विभुम् ॥"६५०॥

शुक्ल एवं कृष्ण—उभय पक्ष की एकादशी में भोजन न करे। एवं रात्रि में जागरण करे। श्रीविष्णु प्रतिमा की विशेष रूप से पूजा करे। विष्णु यामल के एकादशी व्रत वर्णन प्रसङ्ग में उक्त है—

"शुक्लाकृष्णाविभेदश्चासद्व्यापारो व्रते तथा।
शक्तौ फलादिभुक्तिश्च श्राद्धञ्चैकादशीदिने।
द्वादश्याञ्च दिवास्वापस्तुलस्यवचयस्तथा ॥"६५१॥

तत्र विष्णोर्दिवास्नानमपि निषिद्धत्वेनोक्तम् । पाद्मोत्तरखण्डे च वैष्णवधर्मकथने–"द्वादशी-व्रत-निष्ठता" इति । तथा स्कान्दे काशीखण्डे सौपर्णद्वारकामाहात्म्ये च चन्द्रशर्मणो भगवद्धर्म-प्रतिज्ञा—

"अद्य प्रभृति कर्त्तव्यं यन्मया कृष्ण तच्छृणु । एकादश्यां न भोक्तव्यं कर्त्तव्यो जागरः सदा ॥६५२॥
महाभक्त्याऽत्र कर्त्तव्यं प्रत्यहं पूजनं तव । पलार्द्धेनापि विद्धन्तु मोक्तव्यं वासरं तव ॥६५३॥
त्वत्प्रीत्याष्टौ मया कार्य्या द्वादश्यां व्रतसंयुताः ॥"६५४॥ इत्यादिका ।

अत उक्तमाग्नेये–

"एकादश्यां न भोक्तव्यं तद्व्रतं वैष्णवं महत् ॥"६५५॥ इति ।

गौतमीये–

"वैष्णवो यदि भुञ्जीत एकादश्यां प्रमादतः । विष्णवर्च्चनं वृथा तस्य नरकं घोरमाप्नुयात् ॥"६५६॥

मत्स्य-भविष्यपुराणयोः–

"एकादश्यां निराहारो यद्भुङ्क्ते द्वादशीदिने ।
शुक्ला वा यदि वा कृष्णा तद्व्रतं वैष्णवं महत् ॥"६५७॥ इति ।

दशमी विद्धा एकादशी को वर्जन करे । शुक्ला एकादशी व्रत करणीय है, कृष्णाएकादशी व्रत करणीय नहीं है, इस प्रकार विचार न करे । व्रतके दिन किसी प्रकार असत् कार्य्य न करे । व्रत करने में समर्थ होने पर फलादि भोजन न करे । एकादशी के दिन श्राद्ध कार्य्य न करे । द्वादशी तिथि में दिवानिद्रा एवं तुलसी चयन न करे । द्वादशी तिथि में श्रीविष्णु को दिवास्नान कराना निषिद्ध है । पद्म पुराण के उत्तर खण्ड के वैष्णव धर्म कथन प्रसङ्ग में लिखित है—"द्वादशी व्रत निष्ठता" द्वादशी व्रत में एकान्त निष्ठा होनी चाहिये । स्कन्द पुराणस्थ काशी खण्ड के सौपर्ण द्वारका माहात्म्य में चन्द्रशर्मा की भगवत् प्रतिज्ञा वर्णन प्रसङ्ग में लिखित है—

"अद्य प्रभृति कर्त्तव्यं यन्मया कृष्ण तच्छृणु ।
एकादश्यां न भोक्तव्यं कर्त्तव्यो जागरः सदा ॥६५२॥
महाभक्त्याऽत्र कर्त्तव्यं प्रत्यहं पूजनं तव ।
पलार्द्धेनापि विद्धन्तु मोक्तव्यं वासरं तव ॥६५३॥
त्वत्प्रीत्याष्टौ मया कार्य्या द्वादश्यां व्रतसंयुताः ॥"६५४॥

हे कृष्ण ! मैं आज से जो कुछ करूँगा, कहता हूँ, आप श्रवण करें ! समस्त एकादशी में भोजन नहीं करूँगा, एवं रात्रि जागरण करूँगा । एवं महाभक्ति पूर्वक प्रतिदिन आप की आराधना करूँगा । एकादशी तिथि—अर्द्धपल मात्र भी दशमी विद्धा होती है । तो उस एकादशी तिथि में व्रत नहीं करूँगा । एवं आप के सन्तोषार्थ—मैं अष्ट महाद्वादशी व्रत करूँगा । अतएव अग्नि पुराण में उक्त है—

"एकादश्यां न भोक्तव्यं तद्व्रतं वैष्णवं महत् ॥"६५५॥

एकादशी तिथि में भोजन न करे । कारण, यह एकादशी व्रत—श्रीविष्णु सम्बन्धान्वित है एवं अति महान् है । गौतमीय पुराण में लिखित हैं—

"वैष्णवो यदि भुञ्जीत एकादश्यां प्रमादतः ।
विष्णवर्च्चनं वृथा तस्य नरकं घोरमाप्नुयात् ॥"६५६॥

यदि कोई वैष्णव प्रमाद वशतः एकादशी में भोजन करे तो, उस के द्वारा अनुष्ठित श्रीविष्णु पूजा व्यर्थ होती है, एवं वह घोर नरक में निपतित होता है । मत्स्य एवं भविष्य पुराण में उक्त है—

स्कान्दे—

"मातृहा पितृहा चैव भ्रातृहा गुरुहा तथा। एकादश्यान्तु यो भुङ्क्ते विष्णुलोकच्युतो भवेत्।"९५८। इति।

अत्र वैष्णवानां निराहारत्वं नाम महाप्रसादान्न-परित्याग एव,-तेषामन्यभोजनस्य नित्यमेव निषिद्धत्वात्। यथोक्तं नारदपञ्चरात्रे-

"प्रसादान्नं सदा ग्राह्यमेकादश्यां न नारद। रमादि-सर्वभक्तानामितरेषाञ्च का कथा॥"९५९॥ इति।

ब्रह्माण्डपुराणे—

"पत्रं पुष्पं फलं तोयमन्नपानाद्यमौषधम्। अनिवेद्य न भुञ्जीत यदाहाराय कल्पितम्॥९६०॥
अनिवेद्य तु भुञ्जानः प्रायश्चित्तीभवेन्नरः। तस्मात् सर्वं निवेद्यैव विष्णोर्भुञ्जीत सर्वदा॥"९६१॥

जागरस्यापि नित्यत्वं यथा स्कान्दे उमा-महेश्वर-संवादे-

"सम्प्राप्ते वासरे विष्णोर्ये न कुर्वन्ति जागरम्। भ्रश्यते सुकृतं तेषां वैष्णवानाञ्च निन्दया॥९६२॥
मतिर्न जायते यस्य द्वादश्यां जागरं प्रति। न हि तस्याधिकारोऽस्ति पूजने केशवस्य हि॥"९६३॥ इति।

"एकादश्यां निराहारो यद् भुङ्क्ते द्वादशी दिने।
शुक्ला वा यदि वा कृष्णा तद्व्रतं वैष्णवं महत्॥"९५७॥

एकादशी में अनाहार रहकर द्वादशीमें भोजन करे। शुक्ल पक्ष की एकादशी, हो अथवा कृष्ण पक्ष की एकादशी ही—उभय पक्ष की एकादशी ही महत् वैष्णव व्रत है। स्कन्द पुराण में लिखित है—

"मातृहा पितृहा चैव भ्रातृहा गुरुहा तथा।
एकादश्यान्तु यो भुङ्क्ते विष्णुलोकच्युतो भवेत्॥९५८॥

जो व्यक्ति, एकादशी में भोजन करता है। वह मातृहत्या, पितृहत्या, गुरुहत्या, भ्रातृहत्या प्रभृति पापों से लिप्त होता है। एवं उस की विष्णु लोक प्राप्ति कभी भी नहीं होगी।। यहाँ ज्ञातव्य यह है कि—वैष्णवों का एकादशी में निराहार का अर्थ है—महा प्रसादान्न परित्याग। कारण, वैष्णव के पक्ष में महा प्रसादान्न व्यतीत अपर द्रव्य भोजन सर्वथा निषिद्ध है। नारद पुराण में उक्त है—

"प्रसादान्नं सदा ग्राह्यमेकादश्यां न नारद।
रमादि-सर्वभक्तानामितरेषाञ्च का कथा॥"९५९॥

हे नारद! एकादशी में महाप्रसादान्न ग्रहण सर्वथा निषिद्ध है। यह निषेध रमादि समस्त भक्तों के पक्ष में ही जब है, तब अपर के पक्ष में एकादशी में अन्न भोजन करना सुतरां निषिद्ध है। ब्रह्माण्ड पुराण में उक्त है—

"पत्रं पुष्पं फलं तोयमन्न पानाद्यमौषधम्।
अनिवेद्य न भुञ्जीत यदाहाराय कल्पितम्॥९६०॥
अनिवेद्य तु भुञ्जानः प्रायश्चित्तीभवेन्नरः।
तस्मात् सर्वं निवेद्यैव विष्णोर्भुञ्जीत सर्वदा॥"९६१॥

पत्र, पुष्प, फल, जल, अन्न, औषध पानीय एवं अन्यान्य भोज्य पदार्थ ग्रहण, श्रीविष्णु को निवेदन करके हि करे, विष्णु को निवेदन न करके भोजन करने से प्रायश्चित्त करना पड़ता है। सुतरां सर्वदा श्रीविष्णु को निवेदन करके ही भोजन करे। स्कन्द पुराण में एकादशी तिथि में रात्रि जागरण का वृत्तान्त लिखित है—उमा महेश्वर संवाद निम्नोक्त रूप है—

"सम्प्राप्ते वासरे विष्णोर्ये न कुर्वन्ति जागरम्।
भ्रश्यते सुकृतं तेषां वैष्णवानाञ्च निन्दया॥९६२॥

तद्व्रतस्य विष्णुप्रीतिदत्वञ्च श्रूयते पाद्मोत्तरखण्डे—

"शृणु देवि प्रवक्ष्यामि द्वादश्याश्च विधानकम् । तस्याः स्मरणमात्रेण सन्तुष्टोऽभूज्जनार्द्दनः ॥"६६४॥

भविष्ये—

"एकादशी महापुण्या सर्वंपापविनाशिनी । भक्तेस्तु दीपनी विष्णोः परमार्थगतिप्रदा ॥"६६५॥ इति ।

अतएव श्रीमदम्बरीषादीनां भक्त्येकनिष्ठानां महाप्रसादैकभुजां तद्व्रतं दर्शयता श्रीभागवतेनापि तदन्तरङ्गवैष्णवधर्मत्वेन सम्मतमिति दिक् । पाद्मे कार्त्तिक-माहात्म्ये च ब्राह्मणकन्यायाः कार्त्तिकव्रतैकादशीव्रत प्रभावात् श्रीसत्सत्यभामाख्य-भगवत्प्रेयसीपदप्राप्तिरपि श्रूयते, किं बहुना ? अथ माघः सौपर्णे—

"दुर्लभो माघमासस्तु वैष्णवानामतिप्रियः । देवतानामृषीणाञ्च मुनीनां सुरनायकः ।
विशेषेण शचीनाथ माधवस्यातिवल्लभः ॥"६६६। इति ।

मतिर्न जायते यस्य द्वादश्यां जागरं प्रति ।
न हि तस्याधिकारोऽस्ति पूजने केशवस्य हि ॥६५३॥

हरि वासर उपस्थित होने से जो मानव जागरण नहीं करता हैं, उसका पुण्य नष्ट होता है । एवं वैष्णव निन्दा से भी वही फल होता है । जिस की प्रवृत्ति द्वादशी जागरण में नहीं है । उस का अधिकार श्रीकेशव पूजा में कभी भी नहीं होगा । यह निश्चित है । यह द्वादशी व्रत जो श्रीविष्णु प्रीतिद है—उस का वर्णन पद्म पुराण के उत्तर खण्ड में है—

"शृणु देवि प्रवक्ष्यामि द्वादश्य श्च विधानकम् ।
तस्याः स्मरण मात्रेण सन्तुष्टोऽभूज्जनार्दनः ॥६६४॥

अयि देवि ! द्वादशी जो कर्त्तव्य है—उस को कहता हूँ, सुनो । द्वादशी का स्मरण होने से ही श्रीजनार्दन सन्तुष्ट होते हैं । भविष्य पुराण में लिखित है—

"एकादशी महापुण्या सर्वपापविनाशिनी ।
भक्तेस्तु दीपनी विष्णोः परमार्थगतिप्रदा ॥"६६५॥

एकादशी महापुण्यशालिनी एवं सर्व पाप विनाशिनी है । यह एकादशी विष्णु भक्ति को उद्दीप्त करती है, एवं यह परमार्थ गति प्रदान करती है ।

अतएव श्रीमद् भागवत शास्त्र भी भक्ति में एकमात्र निष्ठा प्राप्त एवं एक मात्र महाप्रसाद भोजन कारी श्रीमदम्बरीष महाराज प्रभृतिके महा प्रसाद त्याग रूप एकादशी व्रत प्रसङ्गको दिखाकर भगवान् के अन्तरङ्ग वैष्णव धर्म रूप में एकादशी व्रत को प्रतिपादन किये हैं । अर्थात् वैष्णव के पक्ष में जितने कर्त्तव्य हैं, उस के मध्य में श्रीएकादशी व्रत ही श्रीहरि का अत्यन्त प्रिय होने के कारण, वैष्णव के पक्ष में अनुष्ठेय भक्ति के अङ्गों के मध्य में परम आदर के सहित यह एकादशी व्रत अवश्य पालनीय है । पद्म पुराण के कार्त्तिक माहात्म्य में लिखित है—एक ब्राह्मण कन्या, कार्त्तिक व्रत एवं एकादशी व्रत अनुष्ठान के प्रभाव से श्रीकृष्ण प्रेयसी वृन्द के मध्य में सत्यभामा नाम्नी प्रेयसी हुई थी । इस से अधिक माहात्म्य और क्या हो सकता है ? ।

अनन्तर माघस्नान का वर्णन करते हैं—गरुड़ पुराण में लिखित है—

"दुर्लभो माघमासस्तु वैष्णवानामतिप्रियः ।
देवतानामृषीणाञ्च मुनीनां सुरनायक ।

स्कान्दे ब्रह्मनारद-संवादे—

"सर्वपापविनाशाय कृष्णसन्तोषणाय च । माघस्नानं सदा कार्य्यं वर्षे वर्षे च नारद ॥"६६७॥ इति ।

भविष्योत्तरे—

"एकविंशगणैः सार्द्धं भोगान् त्यक्त्वा यथेप्सितम् । माघमास्यूषसि स्नात्वा विष्णुलोकं स गच्छति ।"६६८।

एवं श्रीरामनवमी-वैशाखव्रतादयश्चात्र ज्ञेयाः । एतत् सर्वमपि सदाचारकथनद्वारा विधत्ते, (भा० ३।१।१९)—

(२९९) "गां पर्य्यटन्" इत्यादौ "व्रतानि चेरे हरितोषणानि" इति ।

व्रतानि एकादश्यादीनीति । विदुर इति प्रकरणलब्धम् ॥ श्रीशुकः ॥

३०० । एवं तादृशव्रतेष्वपि तत्तदुपासकानां स्वस्वेष्टदैवतव्रतं सुष्ठ्वेव विधेयमित्यागतम् । तथास्मिन् पादसेवार्चनमार्गे "यानैर्वा पादुकैर्वापि गमनं भगवद्गृहे" इत्यादिनागमोक्ता ये द्वात्रिंशदपराधास्तथा "राजान्नभक्षणं चैवम्" इत्यादिना वाराहोक्ता ये च तत्संख्यकास्तथा "मम शास्त्रं बहिष्कृत्य ह्यस्माकं यः प्रपद्यते" इत्यादिना तदुक्ता ये चान्ये बहवस्ते सर्वे,

---

विशेषेण शचीनाथ माधवस्यातिवल्लभः ॥"६६६।

माघमास अति दुर्लभ एवं वैष्णवों का अतिप्रिय है । हे देवराज ! हे शचीनाथ इन्द्र ! यह माघमास देवता वृन्द का, ऋषि वृन्द का मुनि वृन्द का एवं विशेष रूप से माधव का अतिशय प्रिय है । स्कन्द पुराण के ब्रह्मनारद संवाद में वर्णित है—

"सर्व पापविनाशाय कृष्णसन्तोषणाय च ।
माघस्नानं सदा कार्य्यं वर्षे वर्षे च नारद ! ॥"६६७॥

हे नारद ! सर्व प्रकार पाप नाश करने के निमित्त प्रतिवत्सर माघमासके प्रत्येक दिनमें प्रातः स्नान करना कर्त्तव्य है । भविष्योत्तर पुराण में लिखित है—

"एकविंशगणैः सार्द्धं भोगान् त्यक्त्वा यथेप्सितम् ।
माघमास्यूषसि स्नात्वा विष्णुलोकं स गच्छति ।।"६६८।

माघमास के ऊषाकाल में स्नान करके मानव अभीष्ट भोग त्याग करके एकविंशति कुल के सहित विष्णु लोक गमन की है । उस प्रकार श्रीराम नवमी एवं वैशाख व्रत प्रभृति जो अवश्य अनुष्ठेय है । यहाँ उस को भी जान लेना आवश्यक है । साधु वृन्द के आचरण को दिखाकर यह सब व्रत अवश्य पालनीय हैं, भा० ३।१।१९ के द्वारा उस को कहते हैं—

(२९९) "गां पर्य्यटन" श्रीशुकदेव श्रीपरीक्षित् को कहे थे—विदुर महाशय तीर्थ पर्य्यटन हेतु जब बहिर्गत हुए थे, उस समय—जिस व्रताचरण से श्रीहरि सन्तुष्ट होते हैं, वह सब एकादशी प्रभृति व्रतानुष्ठान किये थे । श्रीशुक, कहे थे ।।२९९।।

३०० । पूर्वोक्त व्रत समूह के मध्य में जिस व्रतानुष्ठान के द्वारा श्रीहरि सन्तुष्ट होते हैं—उस प्रकार व्रतानुष्ठान करना ही कर्त्तव्य है । तथापि, जो जिस भगवत् स्वरूप का उपासक है, उस के पक्ष में निजेष्ट देवता का व्रतानुष्ठान उत्तम रूप से करना कर्त्तव्य है । पूर्व सिद्धान्त के अनुसार यह निर्द्धारित हुआ । यहाँ विशेष ज्ञातव्य यह है कि—पाद सेवा वा अर्च्चन मार्ग अनुष्ठान में शास्त्रोक्त जो "यानैर्वा पादुकैर्वापि गमनं भगवद् गृहे" यान अथवा पादुका के द्वारा भगवद् गृह में गमन प्रभृति जो द्वात्रिंशत् 'बत्तीस' अपराध हैं,

'ममार्चनापराधा ये कीर्त्यन्ते वसुधे मया। वैष्णवेन सदा ते तु वर्जनीयाः प्रयत्नतः ॥'६६६॥

इति वाराहानुसारेण परित्याज्या इत्याशयेनाह (भा० ११।२७।१७-१८) –

(३००) "श्रद्धयोपाहृतं प्रेष्ठं भक्तेन मम वार्य्यपि"
"भूर्य्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते ॥"६७०॥

श्रद्धा-भक्ति-शब्दाभ्यामत्रादर एव विधीयते। अपराधास्तु सर्वेऽनादरात्मका एव, प्रभुत्वात्रमानतश्च आज्ञावमानतश्च। तस्मादपराधनिदानमत्रानादर एव परित्याज्या इत्यर्थः ॥ श्रीभगवान् ॥

३०१। महतामनादरस्तु सर्वनाशक इत्याह (भा० ४।३१।२१)-

(३०१) "न भजति कुमनीषिणां स इज्यां, हरिरधनात्मधनप्रियो रसज्ञः।
श्रुत-धन-कुल-कर्मणां मदैर्ये, विदधति प पमकिञ्चनेषु सत्सु ॥"६७१॥

एवं "राजान्नभक्षणं चैवम्" राजान्न भक्षण प्रभृति जो सब अपराध का वर्णन वराह पुराण में हैं। और जो द्वात्रिंशत् प्रकार अपराध प्रमाणान्तर में उल्लेख हैं – "मम शास्त्रं बहिष्कृत्य अस्माकं यः प्रपद्यते" जो शास्त्र बहिर्भूत आचरण करके मेरी शरण ग्रहण करता है" इस अनेक अपराध का वर्णन है, एवं वराहदेव धरणी को सम्बोधन कर के जो कहे थे—

"ममार्चनापराधा ये कीर्त्यन्ते वसुधे मया।
वैष्णवेन सदा ते तु वर्जनीयाः प्रयत्नतः ॥"६६६॥

हे वसुधे! मदीय अर्च्चन अनुष्ठान के मध्य में जो सब अपराध का विवरण उक्त है, वैष्णव के पक्ष में यह सब अपराध यत्न पूर्वक वर्ज्जन करना कर्त्तव्य है। वराह पुराण के अनुसार यह सब अपराधाचरण वर्जनीय है। इस अभिप्राय से ही श्रीकृष्ण भा० ११।२७।१७--१८ में कहे हैं—

(३००) "श्रद्धयोपाहृतं प्रेष्ठं भक्तेन मम वार्य्यपि।
"भूर्य्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते ॥"६७०॥

हे उद्धव! भक्त, श्रद्धा पूर्वक यदि जल भी अर्पण करता है तो, मैं उस को अतिप्रिय वस्तु मानता हूँ। किन्तु अभक्त जन के द्वारा भूरि परिमाण में उत्तम वस्तु अर्पण करने पर भी मेरा सन्तोष प्रद नहीं होता है। यहाँ श्रद्धा एवं भक्ति शब्द के द्वारा 'आदर' विहित हुआ है। किन्तु समस्त अपराध ही अर्थात् अर्च्चन मार्ग में उक्त अपराध समूह --अनादरात्मक है। श्रीभगवान् प्रभु हैं,—उन प्रभु को अवमानन करना एवं आज्ञा अवमानन करना होता है। अतएव अपराध का मूल कारण, भक्ति अङ्ग में भगवत् स्वरूप में एवं भक्त स्वरूप जो अनादर है। उस को सब प्रकार से परित्याग करे।

श्रीभगवान् कहे थे ॥३००॥

३०१। महत् का अनादर तो सर्वनाश कारी है। भा० ४।३१।२१ में उक्त है—

(३०१) "न भजति कुमनीषिणां स इज्यां, हरिरधनात्मधनप्रियो रसज्ञः।
श्रुत-धन-कुल--कर्मणां मदैर्ये, विदधति पापमकिञ्चनेषु सत्सु ॥"६७१॥

देवर्षि नारद, प्रचेतागण को कहे थे—श्रीहरि कुमनीषी अर्थात् कुमेधागण की पूजा ग्रहण नहीं करते हैं, निरभिमानी एवं हरिप्रिय व्यक्ति ही श्रीहरि के प्रिय है, कारण, श्रीहरि, भक्ति सुख ही अनुभव करते

अधनाश्च ते आत्मधना भगवदेकधनाश्च ते प्रिया यस्य सः, रसज्ञो भक्तिरसिको हरिः । के कुमनीषिण इत्यपेक्षायामाह,-श्रुतेति । पापमपराधम् ।। श्रीनारदः प्रचेतसः ।।

३०२ । किञ्च, (भा० ५।१०।२५) —

(३०२) "न विक्रिया विश्वसुहृत्सखस्य, साम्येन वीताभिमतेस्तवापि ।
महद्विमानात् स्वकृताद्धि मादृङ्-,नङ्क्ष्यत्यदूरादपि शूलपाणिः ।।"६७२।।

स्पष्टम् ।। रहूगणः श्रीभरतम् ।।

३०३ । अथ तथापि प्रामादिके भगवदपराधे पुनर्भगवत्प्रसादनानि कर्त्तव्यानि, तथा स्कान्दे अवन्तिखण्डे श्रीव्यासोक्तौ—

"अहन्यहनि यो मर्त्यो गीताध्यायं पठेत्तु वै । द्वात्रिंशदपराधांस्तु क्षमते तस्य केशवः ।।"६७३।। इति ।

तत्रैव द्वारकामाहात्म्ये—

"सहस्रनाममाहात्म्यं यः पठेच्छृणुयादपि । अपराधसहस्रेण न स लिप्येत् कदाचन ।।"६७४। इति ।

हैं । कुमेधा कौन है ? उस को कहते हैं जो विद्यामद से, धनमद से कुलमद से एवं सत् कर्ममद् से मत्तहोकर अकिञ्चन भक्त वृन्द की अवमानन करता है, इस प्रकार कुमेधा गण की पूजा श्रीहरि, ग्रहण नहीं करते हैं, अधन होकर भी वे आत्मधना हैं, अर्थात् श्रीभगवान् ही उन के एक मात्र धन हैं । रसज्ञ शब्द का अर्थ 'भक्ति रसज्ञ है । भक्ति रसज्ञ श्री हरि हैं, अध्ययन, धन, कुल, कर्म द्वारा अभिमान ग्रस्त व्यक्ति ही कुमनीषी होते हैं । पाप—शब्द का अर्थ है—अपराध । श्रीनारद प्रचेता गण को कहे थे ।।३०१।।

३०२ । भा० ५।१०।२५ में लिखित है—

(३०२) " न विक्रिया विश्वसुहृत्सखस्य, साम्येन वीताभिमतेस्तवापि ।
महद्विमानात् स्वकृताद्धि मादृङ्,--नङ्क्ष्यत्यदूरादपि शूलपाणिः ।।"६७२।

श्रीरहूगण—जड़ भरत को कहे थे—हे प्रभो ! आप के समान महापुराण वृन्द के चरणों में जो व्यक्ति, अवज्ञा रूप अपराध करता है, उस का सर्वनाश होता है । महापुरुष का स्वभाव है कि,—क्षोभ का विषय उपस्थित न होने पर भी क्षुब्ध न होना, तब अवज्ञा करने से महापुरुष क्षुब्ध क्यों होंगे, और उस से अमर्य्यादा कारी का अपराध क्यों होगा ? उत्तर में कहते हैं—यद्यपि आप सब विश्ववासी सब के हितकारी है एवं सखा है, अतएव सर्वत्र समबुद्धि हेतु निजदेह में अभिमान शून्य होने के कारण-अमर्य्यादा से आप सब क्षुब्ध नहीं होते हैं—यह सत्य हैं । तथापि महादेव के तुल्य अति समर्थ मादृश व्यक्ति भी महत् का अपमान करने से आशु विनष्ट होता है । रहूगण—श्रीभरत को कहे थे ।।३०२।।

३०३ । महापुरुष की अमर्य्यादा से सर्वनाश होता है, यह जानकर भी यदि अनवधान से श्रीभगवत् चरणों में अपराध उपस्थित होता है तो पुनर्वार भगवत् सन्तोष कर कार्य्य करना आवश्यक है भगवत् सन्तोष कर कार्य्य किस प्रकार है—उस का वर्णन करते हैं । स्कन्द पुराण के अवन्ती खण्ड में श्रीव्यास कहे हैं—

"अहन्यहनि यो मर्त्यो गीताध्यायं पठेत्तु वै ।
द्वात्रिंशदपराधांस्तु क्षमते तस्य केशवः ।।"६७३।

जो मानव, प्रतिदिन एक अध्याय गीता पाठ करता है, केशव, उस के द्वात्रिंशदपराधक्षमा करते हैं, स्कन्द पुराण के द्वारका माहात्म्य में लिखित है—

तत्रैव रेवाखण्डे —

"द्वादश्यां जागरे विष्णोर्यः पठेत्तुलसीस्तवम् । द्वात्रिंशदपराधानि क्षमते तस्य केशवः ॥"६७५॥ इति ।

तत्रैवान्यत्र—

"तुलस्या रोपणं कार्य्यं श्रवणेन विशेषतः । अपराधसहस्राणि क्षमते पुरुषोत्तमः ॥"६७६॥

तत्रैवान्यत्र कार्त्तिक माहात्म्ये—

"तुलस्या कुरुते यस्तु शालग्रामशिलार्च्चनम् । द्वात्रिंशदपराधांश्च क्षमते तस्य केशव ॥"६७७॥ इति,

अन्यत्र—

"यः करोति हरेः पूजां कृष्णशस्त्राङ्कितो नरः । अपराधसहस्राणि नित्यं हरति केशवः ॥"६७८॥ इति ।

आदिवाराहे—

"संवत्सरस्य मध्ये तु तीर्थे शौकरके मम । कृतोपवासः स्नानेन गङ्गायां शुद्धिमाप्नुयात् ॥६७९॥

मथुरायां तथाप्येवं सापराधः शुचिर्भवेत् । अनयोस्तीर्थयोरेकं यः सेवेत् सुकृती नरः ।
सहस्रजन्मजनितानपराधान् जहाति सः ॥"६८०॥ इति ।

"सहस्रनाममाहात्म्यं यः पठेच्छृणुयादपि ।
अपराधसहस्रेण न स लिप्येत् कदाचन ॥"६७४॥

जो प्रत्यह सहस्र नाम माहात्म्य पाठ करता है । अथवा श्रवण करता है । वह सहस्र सहस्र अपराध से भी कभी लिप्त नहीं होता है । स्कन्द पुराण के रेवाखण्ड में लिखित है

"द्वादश्यां जागरे विष्णोर्यः पठेत्तुलसीस्तवम् ।
द्वात्रिंशदपराधानि क्षमते तस्य केशवः ॥"६७५॥

द्वादशी व्रत में जो मानव जागरण करके तुलसी स्तव पाठ करता है — केशव, श्रीविष्णुचरणों में कृत उस के द्वात्रिंशदपराध क्षमा करते हैं । उक्त पुराण के अन्यत्र लिखित है—

"तुलस्या रोपणं कार्य्यं श्रवणेन विशेषतः ।
अपराधसहस्राणि क्षमते पुरुषोत्तमः ॥"६७६॥

तुलसी रोपन करना कर्त्तव्य है । श्रावण मास में रोपण से विशेष फल होता है । पुरुषोत्तम-रोपण कारी के सहस्र सहस्र अपराध क्षमा करते हैं । उस पुराण के अन्यत्र कार्त्तिक माहात्म्य में लिखित है—

"तुलस्या कुरुते यस्तु शालग्रामशिलार्च्चनम् ।
द्वात्रिंशदपराधांश्च क्षमते तस्य केशवः ॥"६७७॥

जो मानव, तुलसी द्वारा शालग्राम शिलार्च्चन करता है, केशव, उसके द्वात्रिंशत् अपराध क्षमा करते हैं । अन्यत्र भी इष्ट होता है—

"यः करोति हरेः पूजां कृष्णशस्त्राङ्कितो नरः ।
अपराधसहस्राणि नित्यं हरति केशवः ॥"६७८॥

जो व्यक्ति, श्रीकृष्ण के शङ्ख चक्र गदापद्म शस्त्र से अङ्कित होकर श्री हरि की पूजा करता है, केशव, नित्य उस के सहस्र सहस्र अपराध क्षमा करते हैं । आदि वाराह पुराण में लिखित है—

"संवत्सरस्य मध्ये तु तीर्थे शौकरके मम ।
कृतोपवासः स्नानेन गङ्गायां शुद्धिमाप्नुयात् ॥६७९॥

शौकरके शूकरक्षेत्राख्ये। महदपराधस्तु चाटुकारादिना वा, तत्प्रीत्यर्थकृतेन निरन्तर-दीर्घकालीन-भगवन्नामकीर्त्तनेन वा तं प्रसाद्य क्षमापणीय इत्यवोचामैव,-तत्प्रसादं विना तदसिद्धेः। अतएवोक्तं श्रीशिवं प्रति दक्षेण (भा० ४।७।१५)—

"योऽसौ मयाविदिततत्त्वदृशा सभायां, क्षिप्तो दुरुक्तिविशिखैर्विगणय्य तन्माम्।
अर्वाक् पतन्तमरहत्तमनिन्दयापाद्--दृष्ट्यार्द्रया स भगवान् स्वकृतेन तुष्येत्॥"६८१॥

एवमुत्तरत्रापि ज्ञेयम्।

अथ वन्दनम्,—तच्च यद्यप्यर्च्चनाङ्गत्वेनापि वर्त्तते, तथापि कीर्त्तन-स्मरणवत् स्वातन्त्र्येणा-पीत्यभिप्रेत्य पृथग्विधीयते। एवमन्यत्रापि ज्ञेयम्। वन्दनस्य पृथग्विधानं चानन्तगुणैश्वर्य्य-श्रवणात् तद्गुणानुसन्धान-पादसेवादौ विधूतदैन्यानां नमस्कारमात्रे कृताध्यवसायानामर्थे। स एष नमस्कारस्तस्यार्च्चनत्वेनाप्यतिदिष्टः, यथा नारसिंहे—

"नमस्कारः स्मृतो यज्ञः सर्वयज्ञेषु चोत्तमः। नमस्कारेण चैकेन साष्टाङ्गेन हरिं व्रजेत्॥६८२॥ इति।

मथुरायां तथाप्येवं सापराधः शुचिर्भवेत्।
अनयोस्तीर्थयोरेकं यः सेवेत् सुकृती नरः।
सहस्रजन्मजनितानपराधान् जहाति सः॥"६८०॥

जो व्यक्ति, एकवत्सर के मध्य में मेरा वराह तीर्थ गङ्गा में स्नान करके उपवास करता है, वह शुद्ध होता है। इस प्रकार मथुरा में जो व्यक्ति, यमुना स्नान करके उपवास करता है, वह अपराधी होने पर भी पवित्र होता है। वराह क्षेत्र वा मथुराक्षेत्र इन दोनों क्षेत्र के मध्य में किसी एक की सेवा किस सौभाग्यशाली व्यक्ति करता है। वह सहस्र जन्म जनित अपराध से मुक्त होता है। शौकरक शब्द से शूकर क्षेत्र को जानना होगा। महत् के निकट अपराध उपस्थित होने पर महत् के निकट दैन्य विनयादि द्वारा अथवा महत् प्रीति हेतु निरन्तर दीर्घ काल व्यापी श्रीभगवन्नाम कीर्त्तन के द्वारा क्षमा करना अवश्य कर्त्तव्य है। इस का कथन पहले ही हुआ है। कारण, महत् की प्रसन्नता को छोड़कर अपराध क्षमा नहीं हो सकती है। अतएव दक्ष प्रजापति श्रीशिव को भा० ४।७।१५ में कहे हैं—

"योऽसौ मयाविदिततत्त्वदृशा सभायां, क्षिप्तो दुरुक्तिविशिखैर्विगणय्य तन्माम्।
अर्वाक् पतन्तमरहत्तमनिन्दयापाद्– दृष्ट्यार्द्रया स भगवान् स्वकृतेन तुष्येत्॥"६८१॥

मैं तत्त्व दृष्टि शून्य होने के कारण सभा में तुम्हें दुर्वाक्य रूप वाण के द्वारा तिरस्कार एवं विद्ध किया हूँ, तुम महत्तम हो, तुम्हारी निन्दा से पतित मुझ को अपराध न मानकर स्नेहार्द्र दृष्टि से तुमने पालन किया है। तुम भगवान् हो निजकृत परानुग्रह से ही सन्तुष्ट रहते हो, मैं निजकृत अपराध का प्रतीकार करने में सक्षम नहीं हूँ। इस के बाद भी इस रीति को समझना चाहिये।

अनन्तर वन्दन का वर्णन करते हैं— यद्यपि यह नमस्कारात्मक वन्दनाङ्ग भक्ति— अर्च्चन मार्ग के अङ्ग रूप में भी है, तथापि कीर्त्तन एवं स्मरणाङ्ग के समान वन्दनाङ्ग का स्वतन्त्र भाव से प्राधान्य है— इस अभिप्राय से ही पृथक् विधान हुआ है। इस प्रकार अन्य भक्त्यङ्ग को भी जानना चाहिये। कतिपय भक्त, श्रीभगवान् के अनन्त गुण एवं ऐश्वर्य्य श्रवण करके सम्भ्रान्त हृदय से उस उस गुणानुसन्धान एवं चरण सेवा प्रभृति में अपना अधिकार नहीं है, इस प्रकार दैन्याक्रान्त होकर केवल नमस्कार करने में कृतसंङ्कल्प होते हैं, उन के निमित्त ही इस वन्दनाङ्ग को पृथक् रूप से लिखा गया है। इस नमस्काराङ्ग

तदेतद्वन्दनं यथा (भा० १०।१४।८) —

(३०३) "तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो, भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम् ।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते, जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक् ॥"६८३॥

यस्मात् (भा० १०।१४।७) "गुणात्मनस्तेऽपि गुणान् विमातुम्" इत्यादिना तादृशत्वमुच्यते, तत् तस्मात्, 'नमः' नमस्कारम्, मुक्तिपदे नवमपदार्थस्य मुक्तेरप्याश्रये परिपूर्णदशमपदार्थे, यद्वा, मुक्तिरिह पञ्चमस्थ-गद्यानुसारेण प्रेमैव, तत्पदे तद्विषये परिपूर्णभगवल्लक्षणे त्वयि दायभाग् भवति-भ्रातृवण्टन इव त्वं तस्य दायत्वेन वर्त्तस इत्यर्थः, त्वं तस्य सुवशो

को श्रीविष्णु के अर्च्चन रूप में भी कहा गया है। नरसिंह पुराण में उक्त है—

"नमस्कारः स्मृतो यज्ञः सर्वयज्ञेषु चोत्तमः ।
नमस्कारेण चैकेन साष्टाङ्गेन हरिं व्रजेत् ॥"६८२॥

समस्त यज्ञों के मध्य में नमस्कार को ही उत्तम यज्ञ कहा गया है। एकबार साष्टाङ्ग प्रणाम के द्वारा श्रीहरि को प्राप्त कर सकते हैं। पूर्वोक्त बन्दनाङ्ग का उदाहरण भा० १०।१४।८ में इस प्रकार है—

(३०३) "तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो, भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम् ।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते, जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक् ॥"६८३॥

श्रीब्रह्मा श्रीकृष्ण को कहे थे—हे नाथ ! तुम निखिल गुणाकर हो, गुण समूह का परिमाण करने में कोई भी समर्थ नहीं है। तज्जन्य जो व्यक्ति, तुम्हारी कृपा के प्रति दृष्टि रखकर निज कृत विविध कर्म्म फल को भोगता रहता है, एवं काय, वाक्य, मन से तुम को प्रणाम करता है, अर्थात् सुख वा दुःख उपस्थित होने से उस को प्रभु की कृपा मानता है, कारण, निजकृत कर्म फल भोग का अवसान न होने से श्रीचरण प्राप्ति की सम्भावना ही नहीं है, अतएव श्रीप्रभु सुख भोग के द्वारा मेरा पुण्य बन्धन को सुख भोग के द्वारा विनष्ट कर देते हैं एवं दुःख भोग के द्वारा पाप बन्धन विनष्ट कर देते हैं। इस प्रकार जो व्यक्ति दुःख से उद्विग्न नहीं होता है, एवं सुख भोग हेतु अभिलाष नहीं करता है, किन्तु प्रत्येक कार्य्य में ही चातक जिस प्रकार नवीन मेघमुक्त जल के अभिलाषी होकर रहता है, उस प्रकार अपार करुणामय की कृपा कब होगी, इस आशा से ही जीवन धारण करता है, वही मुक्ति पद का अधिकारी है, अर्थात् भ्रातृ वण्टन सम्पत्ति के समान तुम को वह प्राप्त करता है। उक्त न्याय से सब ही व्यक्ति उत्तराधिकारी सूत्र से भगवत् प्राप्ति का अधिकारी हैं, इस आशङ्का निवारण हेतु कहते हैं, 'जीवेत' अर्थात् भ्रातृवण्टन सम्पत्ति का अधिकारी जीवित व्यक्ति है, मृत व्यक्ति नहीं, उस प्रकार जो व्यक्ति जीवित है, वही भगवत् चरणारविन्द लाभ का अधिकारी है। यहाँ 'जीवित' शब्द का अर्थ भजन अनुष्ठान में रत रहना है। अर्थात् जो व्यक्ति भगवच्चरणों में भक्ति करता है, वही जीवित है, तद्व्यतीत अपर जीवित शव है। अर्थात् जिस जीवन में भगवद् भक्ति का स्पन्दन नहीं है, वही जीवन शव सदृश है : मूल श्लोक में 'मुक्तिपदे" शब्द का उल्लेख है— उस का अर्थ इस प्रकार है – प्रथमतो मुक्तिपद शब्द के अर्थ द्विविध हैं। प्रथम अर्थ—विश्वसर्ग विसर्ग,---यह दश पदार्थ के मध्य में नवम पदार्थ रूप जो मुक्ति है—उस का आश्रय, परिपूर्ण दशम आश्रय पदार्थ—का अधिकारी है। द्वितीय अर्थ—भा० ५।१६।२० के अनुसार 'यथा वर्ण विधानमपवर्गश्च भवति' अपवर्ग शब्द का अर्थ-- प्रेम भक्ति है। उस प्रेम भक्ति का विषय जो परिपूर्ण भगवान् उस का अधिकारी होता है। अन्यत्र 'मुक्ति-पद' का अर्थ है—निखिल मुक्ति--जिन के चरणों को आश्रय कर हैं, वही मुक्ति पद है। तात् पर्य्यार्थ यह

भवतीत्यर्थः । मुक्तिमात्रं तु सकृन्नमस्कारेणैवासन्नं स्यात्, यथा विष्णुधर्मे—

"दुर्ग--संसार-कान्तार मपारमभिधावताम् । एकः कृष्णे नमस्कारो मुक्तितीरस्य दैशिकः ॥"९८४॥ इति

'तत्ते' इत्यत्र "सुसमीक्षमाणः प्रतीक्षमाणः" इति टीका, यद्वा, प्रतिक्षणं निरुपाधिकृपयैव प्रभुणा तथा तथा क्रियमाणामनुकम्पां सुष्ठुरूपामीक्षमाणस्तत्रानन्दीभवत् तां सम्यक् पश्यन् विभावयन् तथा हृदा, यद्वा, वाचा, यद्वा, वपुषा, नमो विदधज्जन इत्यादि-व्याख्या ज्ञेया । नमस्कारेऽपराधाश्चैते परिहर्त्तव्याः, विष्णुस्मृत्यादिदृष्ट्या ये खलु एकहस्तकृतत्व-वस्त्रावृत-देहत्व-भगवदग्रपृष्ठ-वामभागात्यन्तनिकट-गर्भमन्दिरगतत्वादिमयाः ॥ श्रीब्रह्मा श्रीभगवन्तम् ॥

३०४। अथ दास्यम्, तच्च श्रीविष्णोर्दासम्मन्यत्वम्—

"जन्मान्तरसहस्रेषु यस्य स्यान्मतिरीदृशी । दासोऽहं वासुदेवस्य सर्वान् लोकान् समुद्धरेत् ॥"९८५॥

है कि—अनन्त स्वरूप भगवान् के नाम, रूप, गुण, लीला, परिकर, ऐश्वर्य्य, माधुर्य्य प्रभृति का आनन्त्य को सुनकर दीन भाव से--'मेरी योग्यता स्मरण कीर्त्तन की नहीं है । मैं केवल श्रीचरणों में निपतित होकर नमस्कार ही करूँगा—इस प्रकार वन्दन--नमस्कार रूप अङ्ग का अवलम्बन श्रीअक्रूर के समान कोई कोई अन्य करते हैं । यहाँ मुक्ति शब्द का अर्थ 'मुक्ति' सङ्गत नहीं है । कारण, एकवार मात्र नमस्कार से ही मुक्ति समीपवर्त्ती होती है, विष्णु धर्मोत्तर में उक्त है—

"दुर्ग--संसार--कान्तार मपारमभिधावताम् ।
एकः कृष्णे नमस्कारो मुक्तितीरस्य दैशिकः ॥"९८४॥

अपार दुर्गम संसारारण्य में जो भ्रमण करते रहते हैं—उन के पक्ष में श्रीकृष्ण को एकवार मात्र प्रणाम ही मुक्ति नदी तीर का प्रदर्शक होता है । "तत्तेऽनुकम्पांसुसमीक्ष्यमाणः" श्लोक में स्वामि पादने 'सुसमीक्ष्यमाणः" का अर्थ 'प्रतीक्षमाण' किया है । अर्थात् जो व्यक्ति निजकृत कर्म्मफल भोग करता है, एवं "कब श्रीकृष्ण की कृपा होगी" प्रतिक्षण इस प्रकार प्रतीक्षा करता है । इस से बोध होता है कि—निजकृत कर्म्म फल भोग, श्रीकृष्ण कृपा जनित नहीं है, किन्तु भोग में अनासक्त होकर कब श्रीकृष्ण कृपा करेंगे—इस प्रकार प्रतीक्षा है । श्री जीव गोस्वामि चरण के मत में 'सुसमीक्षमाण' शब्द का अर्थ यह है—जो व्यक्ति, निजकृत कर्म भोग काल में प्रभु श्रीकृष्ण ही यह सब भोग प्रदान करते रहते हैं, अतएव पुत्रोत्पत्ति में भी श्रीकृष्ण कृपा, पुत्र मृत्यु में भी श्रीकृष्ण कृपा, इस प्रकार मानकर सर्वावस्था में ही सुखी होकर श्रीकृष्ण कृपा भावना करके हृदय के द्वारा किंवा वाक्य के द्वारा, अथवा शरीर द्वारा, नमस्कार करता है, वही मुक्ति पद श्रीकृष्ण चरणों में भ्रातृ वण्टन सम्पत्ति के समान अधिकारी है । इस नमस्कार रूप भक्त्यङ्ग आचरण में विष्णु स्मृति प्रभृति में लिखित अपराध समूह को परित्याग करना अवश्य कर्त्तव्य है । (१) एकहस्त प्रणाम, (२) वस्त्रावृत देह में प्रणाम, (३) श्रीभगवान् के सम्मुख में प्रणाम, पृष्ठ भाग में वामभाग में प्रणाम अत्यन्त निकट में वा गर्भ मन्दिर में प्रणाम करना अपराध जनक है ।

श्रीब्रह्मा श्रीभगवान् को कहे थे ॥३०३॥

३०४। अनन्तर दास्य भक्ति का वर्णन करते हैं—"मैं श्रीविष्णु का दास हूँ" इस प्रकार अभिमान से भक्ति का अनुष्ठान करने का नाम दास्य भक्ति है ।

"जन्मान्तर सहस्रेषु यस्य यस्मान्मतिरीदृशी ।
दासोऽहं वासुदेवस्य सर्वान् लोकान् समुद्धरेत् ॥९८५॥

इत्युक्तलक्षणम् । अस्तु तावत्तद्भजन प्रयासः, केवलतादृशत्वाभिमानेनापि सिद्धिर्भवतीत्यभिप्रेत्यैवोत्तरत्र निर्देशश्च तस्य, यथोक्तम्—'जन्मान्तर-'इत्येतत्पद्यस्यैवान्ते,—'किं पुनस्तद्गतप्राणाः पुरुषाः संयतेन्द्रियाः" इति । श्रीप्रह्लाद-स्तुतौ (भा० ७।९।५०) 'तत्तेऽर्हत्तम' इत्यादिपद्ये तु नमः-स्तुति-सर्व्वकर्म्मार्पण-परिचर्य्या-चरणस्मृति-कथाश्रवणात्मकं दास्यं टीकायां सम्मतम् । श्रीमदुद्धववाक्ये च (भा० ११।६।४६) —

"त्वयोपभुक्त स्रग् गन्ध-वासोऽलङ्कारचर्चिताः ।
उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेम हि ॥"६८६॥ इति ।

तत्र तत्र च कार्य्यद्वारैव निर्दिष्टम्, उदाहरणन्तु (भा० ९।४।१८--२०) —

(३०४) "स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोः" इत्यादौ,
"कामञ्च दास्ये न तु कामकाम्यया" इति ।

चकारेति पूर्व्वेणान्वयः । कामं सङ्कल्पञ्च दास्ये निमित्ते एव, च-कारात्दासोऽहं तस्य दास्यमेतत् करोमीत्येवं सङ्कल्पितवानित्यर्थः, न तु कामकाम्यया स्वर्गादि-भोगेच्छया तं चकारेति वासनान्तर-व्यवच्छेदः ॥ श्रीशुकः ॥

सहस्र सहस्र जन्म के सौभाग्य फल से "मैं वासुदेव का दास हूँ । इस प्रकार अभिमान का उदय जिस में हुआ है, वही समस्त लोक की उद्धार करता है । भजन करन की बात तो दूर है—"मैं भगवान् का दास हूँ" केवल इस प्रकार अभिमान से ही सर्वार्थ सिद्धि होती है, अर्थात् प्रेम भक्ति लाभ होती है । "जन्मान्तर सहस्रेषु' इस प्रकार कथन के पश्चात् कहा गया है--"किं पुनस्तद् गत प्राणाः पुरुषाः संयतेन्द्रियः" अर्थात् "मैं वासुदेव का दास हूँ " इस प्रकार अभिमान से ही मानव, समस्त जीव को उद्धार कर सकता है, और जो व्यक्ति, भगवत् गत प्राण. संयत इन्द्रिय, वे समस्त जीवों को सुतरां उद्धार करने में सक्षम हैं । इस का सारार्थ यह है कि—"मैं वासुदेव का दास हूँ । इस प्रकार अभिमान से ही अन्य को कृतार्थ करने की सामर्थ्य होती है, सुतरां दासोचित आचरण करने से सब को कृतार्थ कर सकते हैं । भा० ७।९।५० में श्रीप्रह्लाद ने श्रीनृसिंह को स्तव करके कहा है—"तत्तेऽर्हत्तम" नमस्कार, स्तुति, सर्वकर्म्मार्पण, परिचर्य्या, चरण स्मृति, एवं कथा श्रवण रूप दास्य' 'मैं श्रीविष्णु का दास हूँ" इस अभिमान का कार्य्य है । अर्थात् मैं श्रीविष्णु का दास हूँ, इस अभिमान से उक्त समस्त भक्त्यङ्ग का अनुष्ठान करने से ही वह व्यक्ति कृतार्थ होता है । भा० ११।६।४६ में श्रीउद्धव ने भी कहा है—

"त्वयोपभुक्त स्रग् गन्ध-वासोऽलङ्कारचर्चिताः ।
उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेम हि ॥"६८६॥

हे भगवन् ! तुम्हारी मूर्त्ति में अर्पित माल्य, गन्ध, वस्त्र, अलङ्कार द्वारा विभूषित होकर, तुम्हारी उच्छिष्ट भोजन करके तुम्हारे दासाभिमानी हम सब अनायास से माया जय करने में सक्षम होंगे । किन्तु साक्षात् दास्य का उदाहरण भा० ९ ४ १८–२० में है--

(३०४) 'स वै मनः कृष्ण पदारविन्दयोः"
"कामञ्च दास्ये न तु काम काम्यया"

श्रीअम्बरीष महाराज श्रीकृष्ण पदारविन्द युगल में 'मन' अर्पण किये थे । एवं उनका सङ्कल्प भी

३०५। तदेतद्दास्य-सम्बन्धेनैव सर्व्वमपि भजनं महत्तरं भवतीत्याह (भा० ९।५।१६)–

(३०५) "यन्नामश्रुतिमात्रेण पुमान् भवति निर्म्मलः।
तस्य तीर्थपदः किंवा दासानामवशिष्यते ॥"९८७॥

यस्य भगवतो नामश्रवणमात्रेण यथाकथञ्चित्तच्छ्रवणेन, किं पुनः सम्यक् तत्तद्भजनेनेत्यर्थः। तर्हि दासोऽस्मीत्यभिमानेन सम्यगेव भजतां सर्व्वत्र साधने साध्ये च किमवशिष्यते-तदधिकमन्यत् किमपि नास्तीत्यर्थः ॥ दुर्वासाः श्रीमदम्बरीषम् ॥

३०६। अथ सख्यम्, तच्च हिताशंसनमयं बन्धुभावलक्षणम् (भा० १०।१४।३१) "यन्मित्रं परमानन्दम्" इत्यत्र तथैव मित्र-पदन्यासात्। यथा रामार्च्चनचन्द्रिकायाम्–

"परिचर्य्यापराः केचित् प्रासादादिषु शेरते। मनुष्यमिव तं द्रष्टुं व्यवहर्त्तुञ्च बन्धुवत् ॥"९८८। इति।

अस्य चोत्तरत्र पाठः प्रेम विश्रम्भवद्भावनामयत्वेन दास्यादप्युत्तमत्वापेक्षया। किञ्च, परमेश्वरेऽपि यत् सख्यं शास्त्रे विधीयते, तन्नाश्चर्य्यम्–"नादेवो देवमर्च्चयेत्" इति तद्भावस्यापि

श्री दास्य में ही था। किन्तु भोग काम में नहीं था। इस से दास्य में दास भावोचित निजप्रभु की सेवा व्यतीत अन्य कामना शून्यता का उदाहरण प्रस्तुत हुआ। श्रीशुक, कहे थे ॥३०४॥

३०५। उक्त दास्य सम्बन्ध से ही समस्त भजनों की श्रेष्ठतमता होती है। भा० ९।५।१६ में उक्त है-

(३०५) "यन्नाम श्रुतिमात्रेण पुमान् भवति निर्म्मल।
तस्य तीर्थपदः किंवा दासानामवशिष्यते ॥"९८७॥

सम्बन्ध अवलम्बन से जो कुछ कार्य्य किया जाता है, वह भक्त एवं भगवान्—उभय के पक्ष में ही सुखप्रद होता है। इस अभिप्राय से ही दुर्वासा-अम्बरीष को कहे थे– तीर्थ पद भगवान् के यथा कथञ्चित नाम श्रवण के द्वारा ही मानव जब निर्म्मल होता है, अर्थात् श्रीनाम माधुर्य्य आस्वादन के द्वारा धर्म्मादि मोक्ष पर्य्यन्त फल में तुच्छता बुद्धि होती है, तब सम्यक् भजन के द्वारा सुतरां मानव कृतार्थ होता है। ऐसा होने पर "मैं श्रीभगवान् का दास हूँ" इस अभिमान से जो श्रीभगवान् का भजन करते रहते हैं, उन के पक्ष में सर्व साधन एवं सर्व साध्य लाभ करने के मध्य में अवशेष क्या रह जाता है?

अर्थात् श्रीभगवद् दास्य से अधिक लाभ कुछ भी नहीं है। दुर्वासाः श्रीमदम्बरीष को कहे थे ॥३०५॥

३०६। अनन्तर सख्य का वर्णन करते हैं—श्रीभगवान् की हिताकाङ्क्षा मय बन्धुभाव का नाम सख्य है। भा० १०।१४।३२ में लिखित है—"यन्मित्रं परमानन्दं" यहाँ परमानन्द पूर्ण ब्रह्म श्रीकृष्ण, व्रज बासीवृन्द के मित्र अर्थात् हिताकाङ्क्षी बन्धु हैं। इस उद्देश्य से ही मित्र पद का प्रयोग है। जिस प्रकार रामार्च्चन चन्द्रिका में लिखित है—

"परिचर्य्यापराः केचित् प्रासादादिषु शेरते।
मनुष्यमिव तं द्रष्टुं व्यवहर्त्तुञ्च बन्धुवत् ॥"९८८॥

श्रीभगवान् को मनुष्य के समान देखने के निमित्त एवं उन के सहित बन्धु जन के समान व्यवहार करने के निमित्त कतिपय सेवा परायण महाभागवत श्रीमन्दिर में ही शयन करते हैं। इस अभिप्राय से ही "श्रवणं कीर्त्तनं" श्लोक में दास्य के बाद, सख्य का उल्लेख हुआ है। दास्य के पश्चात्, सख्य का उल्लेख करने का कारण यह है, यद्यपि दास की सेवा सम्प्राप्ति है, तथापि साध्वस सङ्कोच एवं प्रचुर गौरव बुद्धि

विधानश्रवणात्। किन्तु तद्भावस्तत्सेवा-विरुद्ध इति शुद्धभक्तैरुपेक्ष्यते। सख्यन्तु परम-सेवानुकूलमित्युपादीयत इति। तदेतत् साक्षाद्भजनात्मकं दास्यं सख्यञ्च टीकायामपि दर्शितमस्ति (भा० १०।८१।३६) "तस्यैव मे सौहृदसख्य-मैत्री-दास्यं पुनर्जन्मनि जन्मनि स्यात्" इत्यत्र श्रीदामविप्रवाक्ये, यथा—"श्रीकृष्णस्य भक्तवात्सल्यं दृष्ट्वा तद्भक्तिं प्रार्थयते,—तस्येति। सौहृदं प्रेम च, सख्यं हिताशंसनञ्च, मैत्री उपकारकत्वञ्च, दास्यं सेवकत्वञ्च तत्, समाहारैकवचनम्, तस्य तत्सम्बन्धिनो मे मम स्यात्, न तु विभूतिः" इत्येतत्। अत्र नवविधायां साध्यत्वात् प्रेमा नान्तर्भाव्यते, मैत्री तु सख्य एवान्तर्भाव्येति दास्य-सख्ये द्वे एव गृहीते। अत्र च ताभ्यां कर्म्मार्पण-विश्वासौ न व्याख्यातौ,—साक्षाद्भक्तित्वाभावात्। कर्म्मार्पणस्य फलं भक्तिर्विश्वासश्च भक्त्यभिनिवेशहेतुरितीह पूर्व्वमुक्तम्। तच्च भगवद्विषय-हिताशंसनमयं सख्यम्,—भगवत्कृतहिताशंसनस्य नित्यत्वात्, तेन सह तस्य नित्यसहवासाच्च। भजनविशेषेणापि विशिष्टं सम्पादयितुं नातिदुष्करं स्यादित्याह (भा० ७।७।३८)

होने के कारण भाव का दौर्बल्य सख्य में दासोचित सेवा तो है ही-साध्वस, सङ्कोच प्रभृति भी नहीं है। प्रत्युत बन्धु भाव प्रीति में विश्वास का प्राधान्य होने के कारण, सख्य में गौरवमय बुद्धि है ही नही परमेश्वर में असङ्कोच व्यवहारमय सख्य का विधान शास्त्र में दृष्ट होता है। यह आश्चर्य कर नहीं है। कारण 'नादेवो देवमर्च्चयेत" इत्यादि शास्त्र वाक्य से ज्ञात होता है कि—देवता होकर ही देवता का अर्च्चन करना चाहिये। किन्तु, साधक अपने को देवता भावना करने से निज प्रभु की सेवा के सहित विरोध उपस्थित होगा। इस अभिप्राय से ही शुद्ध भक्तगण अभीष्ट देव के सहित निज अभेद भावना करने की विधि की उपेक्षा करते हैं। साक्षात् भजन स्वरूप दास्य एवं सख्य का वर्णन श्रीधर स्वामिपाद कृत भागवत टीका में भी है। भा० १०।८१।३६ में उक्त है—

"तस्यैव मे सौहृद सख्य मत्री दास्यं पुनर्जन्मनि जन्मनि स्यात्॥

श्रीदाम विप्र—श्रीकृष्ण के भक्त वात्सल्य को देखकर उनके चरणों में भक्ति प्रार्थना करते हुये कहे थे। मेरा जन्म जन्म में श्री कृष्ण के सम्बन्ध में प्रेम, सख्य (हितकामिता) मैत्री (उपकारिता दास—सेवकत्व हो, किन्तु विभूति प्राप्त करने का अभिलाष जैसे कभी न हो। यहाँ ज्ञातव्य यह है कि—श्रवण कीर्त्तन रूपा नवधा भक्ति ही साधन रूपा है, नव विधा भक्ति के अन्तर्भुक्त प्रेम' नहीं है। कारण यह नवधा भक्ति साधन के द्वारा ही प्रेम—साध्य अर्थात् प्राप्य है। मैत्री किन्तु—सख्य का ही अन्तर्भुक्त है। इस अभिप्राय से ही "श्रवणं कीर्त्तनं" श्लोक में दास्य सख्य का ग्रहण हुआ है। मैत्री का ग्रहण नहीं हुआ है। किन्तु यहाँपर अर्थात् विशुद्ध भक्ति के प्रसङ्ग में—दास्य शब्द से कर्म्मार्पण एवं सख्य शब्द से विश्वास रूप अर्थ किया गया है। कारण, कर्मार्पण रूपा भक्ति में एवं विश्वास रूपा भक्ति में साक्षात् भक्ति धर्म का अभाव है। कर्म्मार्पण रूपा भक्ति का फल—साक्षात् भक्ति है, विश्वास, भगवत् भक्ति साधन में अभिनिवेश के प्रति हेतु है। इस के पहले इस प्रकार कहा गया है। भगवद् विषयक हिताकाङ्क्षामय सख्य, भगवत् कृत हिताशंसन के नित्यत्व हेतु, एवं श्रीभगवान् के सहित सख्य भावावलम्बी के सहवास हेतु भजन विशेष द्वारा सम्पादित होता है। अभिप्राय यह है कि—नित्य ही भगवत् भक्त का स्वभाव ही है—श्रीभगवान् की हिताकाङ्क्षा करना। एवं भक्त एवं भगवान् सर्वदा एकत्र अवस्थान करते हैं। कारण भा० ९।४ में कथित है—'साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयन्त्वहं" अर्थात् भक्त भगवान् के नित्य सह

(३०६) "कोऽतिप्रयासोऽसुरबालका हरे,--रुपासने स्वे हृदि छिद्रवत् सतः।
स्वस्यात्मनः सख्युरशेषदेहिनां, सामान्यतः किं विषयोपपादनैः॥"६८६॥

छिद्रवत् आकाशवदलिप्तत्वेन सदा वर्त्तमानस्य, नातिप्रयासे हेतुः--सर्व्वेषां देहिनां यः स्व आत्माशुद्धं स्वरूपं तस्य, सामान्यतः सर्व्वत्र निर्विशेषतयैव सखा, यथावसरं वहिरन्तः करण-विषयादिलक्षण-मायिकया निजप्रेमादिलक्षणामायिकयाश्च सम्पत्तेर्दानेन हिताशंसी यस्तस्य हरेः। तस्मादारोपितानां नश्वराणां विषयाणां जायापत्यादीनामुपार्जनैः किमिति॥ श्रीप्रह्लादोऽसुरबालकान्॥

३०७। तद्यथा (भा० ९।४।६६)---

(३०७) "मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शिनः।
वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥"६९०॥

अत्र दृष्टान्तेनांशतः सख्यात्मिका भक्तिर्लक्ष्यते॥ श्रीवैकुण्ठो दुर्वाससम्॥

३०८। एवञ्च (भा० ४।१२।३७) —

वासित्व है। सख्य भजन के द्वारा विशेष रूप से उस को उद्‌बुद्ध करना ही सुसाध्य है--दुःसाध्य नहीं है। इस अभिप्राय से ही भा० ७।४।३८ में श्रीप्रह्लाद ने कहा है--

(३०६) "कोऽतिप्रयासोऽसुरबालका हरे,--रुपासने स्वे हृदि छिद्रवत् सतः।
स्वस्यात्मनः सख्युरशेषदेहिनां, सामान्यतः किं विषयोपपादनैः॥"६८६॥

हे असुर बालक वृन्द ! जो छिद्रवत् अर्थात् आकाशवत् अलिप्त भाव से सर्वदा वर्त्तमान हैं। समस्त देहि वृन्द के आत्मा अर्थात् शुद्ध स्वरूप हैं, जो सामान्यतः सर्वत्र निर्विशेष भाव से सखा अर्थात् वाह्यान्तर इन्द्रिय समूह की मायामय भोग सम्पत्ति दान करते रहते हैं। अतएव हित कारी हैं। उन श्रीहरि की उपासना के निमित्त अति प्रयास की आवश्यकता ही क्या है ? अतएव आरोपित नश्वर विषय स्त्री पुत्र प्रभृति उपार्ज्जन के द्वारा क्या लाभ है ?

श्रीप्रह्लाद श्रीअसुर बालकों को कहे थे॥३०६॥

३०७। भक्त वृन्द के निकट श्रीभगवान् पारस्परिकसख्य भाव से आविष्ट होते हैं--उसका उदाहरण भा० ९।४।६६ में इस प्रकार है--

(३०७) "मयि निर्बद्ध हृदयाः साधवः समदर्शिनः।
वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत् स्त्रियः सत् पतिं यथा॥"६९०॥

श्रीवैकुण्ठ नाथ दुर्वासा मुनि को कहे थे--"हे मुने ! समदर्शी साधुगण, मुझ में नित्य बद्ध हृदय होकर सती रमणी जिस प्रकार सत् पति को वशीभूत करती है, उस प्रकार भक्ति द्वारा मुझ को वशीभूत करते हैं। इस दृष्टान्त के द्वारा अंशतः सख्यात्मिका भक्ति को लक्ष्य किया गया है। कारण, मूल श्लोक में सती रमणी एवं सत् पति का दृष्टान्त होने के कारण, कुछ अंश में सख्य भाव का प्रकाश हुआ है।

श्रीवैकुण्ठ दुर्वासा को कहे थे॥६९०॥

३०८। इस प्रकार भा० ४।१२।३७ में लिखित है —

(३०८) "शान्ताः समदृशः शुद्धाः सर्वभूतानुरञ्जनाः ।
यान्त्यञ्जसाच्युतपदमच्युतप्रियबान्धवाः ॥" ६६१॥

अच्युत एव प्रियबान्धवो येषाम्, अच्युतस्य पदं तत्सनाथं लोकम् । अच्युत-शब्दावृत्त्या फलस्य केनाप्यंशेन व्यभिचारित्वं नेति दर्श्यते ॥ श्रीमैत्रेयः ॥

३०९ । अथ आत्मनिवेदनम्, तच्च देहादिशुद्धात्मपर्य्यन्तस्य सर्व्वतोभावेन तस्मिन्नेवार्पणम् । तत्कार्य्यं चात्मार्थचेष्टाशून्यत्वं तन्न्यस्तात्मसाधन-साध्यत्वं तदर्थैकचेष्टामयत्वञ्च । इदं ह्यात्मार्पणं गोविक्रयवत्, विक्रीतस्य गोर्वर्त्तनार्थं विक्रीतवता चेष्टा न क्रियते, तस्य च श्रेयःसाधकस्तं क्रीतवानेव स्यात् स च गौस्तस्यैव कर्म्म कुर्य्यात्, न पुनर्विक्रीतवतोऽपीति । इदमेवात्मार्पणं श्रीरुक्मिणीवाक्ये (भा० १०।५२।३९) — "तन्मे भवान् खलु वृतः पतिरङ्गजाया, मात्मार्पितश्च भवतोऽत्र विभो विधेहि" इति । अत्र केचिद्देहार्पणमेवात्मार्पणमिति मन्यन्ते, यथा भक्तिविवेके—

"चिन्तां कुर्य्यान्न रक्षायै विक्रीतस्य यथा पशोः । तथार्पयन् हरौ देहं विरमेदस्य रक्षणात् ॥" ६६२॥

---

(३०८) "शान्ताः समदृशः शुद्धाः सर्वभूतानुरञ्जनाः ।
यान्त्यञ्जसाच्युतपदमच्युतप्रियबान्धवाः ॥" ६६१॥

श्रीमैत्रेय ऋषि श्रीविदुर को जो कहे थे—उस में भी सख्य भाव का आभास उपलब्ध है—अच्युत श्रीकृष्ण ही जिन के प्रिय बान्धव हैं, वे सब प्रकार वासना शून्य हेतु शान्त हैं, स्वर्ग मोक्ष नरक में तुल्य दृष्टिता के कारण, अर्थात् इन तीनों में मानसिक आवेश होने से श्रीहरि चरणों में प्रीति का अन्तराय उपस्थित होता है । समदर्शी हैं, एवं सर्व भूतों में सुखद व्यवहारकारी हैं, इस प्रकार साधु गण, जहाँ श्रीकृष्ण विराजित हैं, उस अच्युत धाम को जाते हैं । मूल श्लोक में 'अच्युत प्रिय बान्धवाः" एवं 'अच्युत पद" उभय स्थान में अच्युत शब्द का प्रयोग होने से श्री भगवद्धाम प्राप्ति विषयक किसी भी अंश में सन्देह नहीं है, यह सूचित हुआ है ।

श्रीमैत्रेय कहे थे---३०८॥

३०९ । सम्प्रति आत्म निवेदन का वर्णन करते हैं----नवधा भक्त्यङ्ग के मध्य में यह नवम हैं । आत्मनिवेदन----दो प्रकार के होते हैं । एक देह समर्पण, अपर शुद्ध आत्म समर्पण, समर्पण शब्द का अर्थ है,---सर्वतोभावेन श्रीभगवान् को दान करना । आत्मसमर्पण का कार्य्य है--स्वयं के निमित्त चेष्टा शून्यता उस में ही अर्पित निज साध्य साधन, एवं श्रीभगवान् के निमित्त कायिक, वाचिक, मानसिक चेष्टामयता । यह आत्म समर्पण गो विक्रय के तुल्य होता है । जिस प्रकार गो विक्रय, करने से गो विक्रय कारी व्यक्ति गोपालन पोषण में यत्न नहीं करता है । जिस को विक्रय किया गया है, वही क्रीत गोका मङ्गल साधक होता है । एवं जिसको विक्रय किया गया है, गो उसी का कार्य्य करता है, किन्तु जो विक्रय करता है, उस का कुछ भी नहीं करता है, इस आत्मार्पण का दृष्टान्त भा० १०।५२।३९ में है---

"तन्मे भवान् खलु वृतः पतिरङ्ग जाया,- मात्मार्पितश्च भवतोऽत्र विभो विधेहि"

श्रीरुक्मिणी देवी पत्र द्वारा श्रीकृष्ण को कही थीं "हे विभो ! मैंने आप को पति रूप में वरण किया है, एवं आत्म समर्पण भी किया है । आप मुझ को जाया रूप में निकट में स्थान दें "कतिपय व्यक्ति, देह समर्पण को ही आत्मार्पण मानते हैं, भक्ति विवेक ग्रन्थ में उस का उल्लेख है—

केचिच्छुद्धक्षेत्रज्ञार्पणमेव, यथा श्रीमदालमन्दारु स्तोत्रे—

"वपुरादिषु योऽपि कोऽपि वा, गुणतोऽस्मानि यथातथाविधः ।
तदयं तव पादपद्मयो,--रहमद्यैव मया समर्पितः ॥"६९३ । इति ।

केचिच्च दक्षिणहस्तादिकमप्यर्पयन्तस्तेन तत्कर्म्ममात्रं कुर्वते, न तु देहादिकर्म्मेत्याद्यपि दृश्यते । तदेतत् सर्वात्मकं सकार्य्यमात्मनिवेदनं यथा (भा० ६।४।१८--२०)

(३०६) "स वै मनः कृष्णपदारविन्दयो,-र्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने ।
करौ हरेर्मन्दिरमार्ज्जनादिषु, श्रुतिं चकाराच्युत-सत्कथोदये ॥६९४॥
मुकुन्दलिङ्गालय-दर्शने दृशौ, तद्भृत्यगात्रस्परशेऽङ्गसङ्गमम् ।
घ्राणञ्च तत्पादसरोजसौरभे, श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते ॥६९५॥
पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे, शिरो हृषीकेश-पदाभिवन्दने ।
कामञ्च दास्ये न तु कामकाम्यया, यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः ॥"६९६॥

चकार अर्पयामास । कृष्णपदारविन्दयोरित्यादिकमुपलक्षणं तत्सेवादीनाम् । लिङ्गं श्रीमूर्त्तिः, आलयस्तद्भक्तस्तन्मन्दिरादिः, श्रीमत्तुलस्यास्तत्पादसरोजसम्बन्धि यत् सौरभं

"चिन्तां कुर्य्यान्न रक्षायै विक्रीतस्य यथा पशोः ।
तथार्पयन् हरौदेहं विरमेदस्यरक्षणात् ॥"६९२॥

विक्रीत पशु रक्षा निबन्धन जिस प्रकार चिन्ता नहीं रहती है, उस प्रकार श्रीहरि को शरीरार्पण करके उस की रक्षा की चिन्ता से विरत होवे । अपर कुछ व्यक्ति--शुद्ध क्षेत्रज्ञापण अर्थात् जीवात्मार्पण ही आत्म समर्पण करते हैं । श्रीआलमन्दार स्तोत्र में इस का उदाहरण है ।

"वपुरादिषु योऽपि कोऽपि वा, गुणतोऽस्मानि यथा तथाविधः ।
तदयं तव पादपद्मयोरहमद्यैव मया समर्पितः ॥"६९३॥

मेरे देहादि के मध्य में जो कोई हो, एवं यथा यथ रूपमें गुणतः जो कुछ हो--आज मैं तुम्हारे चरणों में समर्पित हो गया । और कोई तो दक्षिण हस्तादि को समर्पण करके उससे केवल श्रीभगवान्के कार्य्य ही करते हैं, किन्तु दैहिक कर्म नहीं करते हैं,इस प्रकार आत्मार्पण भी दृष्ट होता है । यह आत्म समर्पण भक्ति, सर्व कार्य्य के सहित देह इन्द्रिय आत्म पर्य्यन्त समर्पण श्रीअम्बरीष महाराज में दृष्ट होता है । भा० ४।१८-२० में उक्त है—

(३०९) "स वै मनः कृष्णपदारविन्दयो,-र्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने ।
करौ हरेर्मन्दिरमार्ज्जनादिषु, श्रुतिं चकाराच्युत-सत्कथोदये ॥६९४॥
मुकुन्दलिङ्गालय-दर्शने दृशौ, तद्भृत्यगात्रस्परशेऽङ्गसङ्गमम् ।
घ्राणञ्च तत्पादसरोजसौरभे, श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते ॥६९५॥
पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे, शिरो हृषीकेश-पदाभिवन्दने ।
कामञ्च दास्ये न तु कामकाम्यया, यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः ॥"६९६॥

अम्बरीष महाराज,--श्रीकृष्ण चरण युगल में मन को अर्पण किये थे । श्रीकृष्ण पदारविन्द शब्द से

तस्मिन्, तदर्पिते महाप्रसादान्नादौ, कामं सङ्कल्पं च दास्ये निमित्ते। कथं चकार ? यथा येन प्रकारेण उत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः सा भवेदिति। अत्र सर्वथा तत्रैव सङ्घातात्म-निक्षेपः कृत इति वैशिष्ट्यापत्त्या स्मरणादि--मयोपासनस्यैवात्मार्पणत्वम्। एवमेवोक्तम् (भा० ११।१९।२०)---"श्रद्धामृतकथायां मे शश्वन्मदनुकीर्त्तनम्" इत्यारभ्य (भा० ११।१९।२४) "एवंधर्म्मैर्मनुष्याणाम्" इति। यथा स्मरण-कीर्त्तन-पादसेवनमय्युपासनमेव आगमोक्तविधि-मयत्व-वैशिष्ट्यापत्त्यार्च्चनमित्यभिधीयते, ततो नातिविक्तत्वम्। स्नान-परिधानादिक्रिया चास्य भगवत्सेवा-योग्यत्वायैवेति, तत्रापि नात्मार्पणभक्तिहानिरित्यनुसन्धेयम्। एतदात्मार्पणं

समझना होगा कि—श्रीकृष्ण के सेवादि कार्य्य सम्पादन हेतु सङ्कल्प किये थे। वाक्य समूह को श्रीकृष्ण गुणानु वर्णन में नियुक्त किये थे। हस्तद्वय को श्रीहरि मन्दिर मार्जनादि कार्य्य में रत किये थे। श्रुति—अर्थात् श्रवण इन्द्रिय को श्रीकृष्ण की पवित्र कथा का श्रवण में नियुक्त किये थे, नयन युगल को श्रीमुकुन्द की मूर्त्ति दर्शन में भक्त दर्शन में एवं श्रीमन्दिरादि दर्शन में नियुक्त किये थे। भक्त गात्र स्पर्श हेतु अङ्ग को नियुक्त किये थे। घ्राणेन्द्रिय को श्रीमती तुलसी सम्बन्ध युक्त भगवत् पद कमल सम्बन्धित सौरभ ग्रहण में नियुक्त किये थे। एवं रसना को महाप्रसाद आस्वादन में रत किये थे। चरण युगल को श्रीहरि क्षेत्र गमन में मस्तक को हृषीकेश श्रीकृष्ण के चरण वन्दन में एवं काम को अर्थात् सङ्कल्प को भगवत् दास्य लाभ हेतु समर्पण किये थे। किन्तु विषय भोग सम्पादन हेतु कभी सङ्कल्प नहीं किये थे।

किस अभिप्राय से आत्म समर्पण किए थे—उस को कहते हैं- जिस प्रकार के समर्पण करने से भगवद् भक्त जन के अनुगत भाव से श्रीहरि चरणों में प्रीति का उदय होता है—उस भाव से ही आत्म समर्पण किये थे। यहाँ पर सर्व प्रकार से श्रीभगवान् में देह इन्द्रिय प्रभृति आत्म निवेदन किये थे—यही समझाया गया है। आत्म समर्पण की वैशिष्ट्य प्राप्ति लीला प्रभृति स्मरणादि रूप उपासना में प्रकाशित होती है। इस का कथन भा० ११।१९।२० में उक्त है— "श्रद्धामृत कथायां मे शश्वन्मदनुकीर्त्तनम्"

श्रीकृष्ण, उद्धव को कहे थे,—मेरी अमृतमयी कथा में श्रद्धा, निरन्तर मेरे गुणादि कीर्त्तन, पूजा में परिनिष्ठा, ऋषि गण द्वारा कृत स्तुति के द्वारा मेरा स्तव, परिचर्य्या में आदर, सर्वाङ्ग द्वारा मुझ को नमस्कार, मेरी पूजा से भी मदीय भक्त पूजा में अधिक आदर, सर्वभूत में मैं विद्यमान हूँ—इस प्रकार मनोवृत्ति, मदीय सुखार्थ--ःलौकिकी क्रिया, लौकिकी वाक्य के द्वारा मेरा गुण कीर्त्तन, मुझ को मन समर्पण मुझ को छोड़कर अन्य सङ्कल्प शून्यता, मेरे निमित्त अर्थ त्याग, भजन विरोधी अर्थ को परित्याग, दैहिक भोग एवं भोग साधन द्रव्य चन्दनादि को परित्याग, पुत्र लालन पालनादि सुखापेक्षा शून्यता, एवं वैदिक कर्म, दान, होम, जप, व्रत, तपस्या प्रभृति का अनुष्ठान मदीय लाभ हेतु करे। हे उद्धव! इस प्रकार धर्म के द्वारा जिस ने मुझ को आत्म निवेदन किया हैं। उस में मदीय प्रेम भक्ति का उदय होता है! एवम्भूत लक्षणाक्रान्त भक्त के पक्ष में साधन एवं साध्य रूप कुछ भी प्रयोजन अवशेष नहीं रह जाता है। अर्थात् वह भक्त, सर्व साधन एवं साध्य सम्पत्ति प्राप्त कर कृतार्थ होता है। भा० ११।१९।२० "श्रद्धामृत कथायां में शश्वन्मदनुकीर्त्तन में से आरम्भ कर भा० ११।१९।२४ "एवं धर्मैर्मनुष्याणाम्" पर्य्यन्त उक्त विवरण कथित है।

स्मरण कीर्त्तन पाद सेवनमय उपासना, यदि शास्त्रोक्तविधि वैशिष्ट्यमय होता है तो उस को अर्च्चन कहते हैं। कारण शास्त्रोक्त विधि बाहुल्यमय अर्चनाङ्ग—भक्ति से पृथक् विवेचित नहीं होता है, कारण, अर्च्चनाङ्ग में जो विधि बाहुल्य है, स्मरण-कीर्त्तनादि में भी यदि वह विधि होती है तो, स्मरण

श्रीबलावपि स्फुटं दृश्यते । उदाहृतञ्चेदमात्मार्पणम् (भा० ७।६।२६)—"धर्म्मार्थकामः" इत्यादिना श्रीप्रह्लादमते, (भा० ११।२९।३४)—"मर्त्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्म्मा, निवेदितात्मा" इत्यादिना श्रीभगवन्मतेऽपि । तदेतदात्मनिवेदनं भावं विना भाववैशिष्ट्येन च दृश्यते, पूर्व्वं यथा—'मर्त्त्यो यदा' इत्यादि, उत्तरं यथैकादश एव (भा० ११।११।३५)--"दास्येनात्मनिवेदनम्' इति । यथा च रुक्मिणीवाक्ये (भा० १०।५२।३९)—"आत्मार्पितश्च भवतः" इति ॥ श्रीशुकः ।

३१० । तदेवं वैधी भक्तिर्दर्शिता अस्याश्चोक्तानामङ्गानामनुक्तानाञ्च कुत्रचित् कस्याप्यङ्गस्यान्यत्र तु तदितरस्य यन्महिमाधिक्यं वर्ण्यते, तत्तच्छ्रद्धा भेदेन तत्तत्-

---

कीर्त्तन से अर्च्चन का कुछ भी पार्थक्य नहीं होता है । यह आत्म समर्पण अङ्ग में साधक की स्नान, दन्त साधन प्रभृति क्रिया भी भगवत् सेवा के उपयोगी होने के कारण, आत्मसमर्पण रूपा भक्ति की हानि उस से नहीं होती है । यहाँ प्रश्न हो सकता है कि- यदि साधक, देह इन्द्रिय आत्मा प्रभृति सब कुछ भगवान् को अर्पण करता है,तो चिन्तां न कुर्य्यात् रक्षायै' इस वचन के अनुसार उसकी स्नान शौचादि करने की जो चेष्टा होती है, वह कैसे सम्भव हैं ? उत्तर में कहते हैं- साधक के यह सब कृत्य, भगवत् सेवोपयोगी हैं, सुतरां यह सब आत्मसमर्पण रूपा भक्ति के बाधक नहीं हैं । आत्म समर्पण रूपा भक्ति का दृष्टान्त श्रीबलि-महाराज में सुस्पष्ट रूप से है । भा० ७।६।२६ इस का वर्णन है । श्रीप्रह्लाद ने भी आत्म समर्पण का वर्णन यथार्थ रूप से किया है । "हे भ्रातृ गण ! तुम सब कह सकते हो, कि—धर्मार्थ काम यह त्रिवर्ग यदि पुरुषार्थ नहीं होते हैं, अर्थात् पुरुष प्रयोजन वस्तु नहीं हैं तो, आचार्य्य षण्ड अमर्क ने वेदोक्त रूप में उपदेश क्यों किया ? उस के उत्तर में कहता हूँ-सुनो । 'धर्मार्थ कामः" धर्मार्थ काम यह त्रिवर्ग एवं उक्त त्रिवर्ग लाभ हेतु ईक्षा (आत्मविद्या) त्रयी (कर्म विद्या) नय (तर्क) दम (दण्डनीति) निज जोविका प्रभृति वेदोक्त उपदेश समूह तब ही सत्य होते हैं, जब मानव, भगवच्चरणार विन्द में आत्म समर्पण करता है । भगवच्चरणों में आत्म समर्पण के बिना वेदोक्त समस्त साधन ही प्राण हीन देह को दूषित करने के समान व्यर्थ प्रयास होता है । यह है श्रीप्रह्लाद का अभिमत । श्रीभगवान् के मत में आत्म समर्पण प्रसङ्ग भा० ११।११।३४ में है—"मर्त्यो यदा त्यक्त समस्त कर्मा निवेदितात्मा" श्रीकृष्ण, उद्धव को कहे थे—मरण धर्मा मनुष्य जिस समय समस्त काम्य कर्म्म त्याग कर मुझ को आत्म समर्पण करता है, उस समय उस भक्त के निमित्त कुछ करणीय मेरा है—इस प्रकार सङ्कल्प का उदय मुझ में होता है । उस समय वह भक्त, मेरा पार्षद देह प्राप्त कर मदीय समानैश्वर्य्य प्राप्त करने का योग्य होता है। यह आत्म निवेदन द्विविध हैं--

एक भावशून्य आत्म निवेदन—जिस प्रकार बलिमहाराज ने किया था। इस का विवरण "मर्त्यो यदात्यक्त समस्त कर्मा" में है । यह भावशून्य आत्म समर्पण का फल भगवान् के समान ऐश्वर्य्य प्राप्ति है । और द्वितीय—अर्थात् भावयुक्त आत्मसमर्पण--भा० ११।११ ३५ में 'दास्येनात्म निवेदनम्' कथित है । अर्थात् दास्यादि किसी भाव के सहित आत्म समर्पण । उस का दृष्टान्त भा० १०।५२।३९ श्रीरुक्मिणी वाक्य में है । "आत्मार्पितश्च भवतः" श्रीरुक्मिणी ने श्रीकृष्ण को जो पत्र भेजा था—उस में कान्ताभाव के सहित आत्म समर्पण था ।

श्रीशुक मुनि कहे थे—३०९॥

३१० । उक्त रीति से वैधी भक्ति का वर्णन हुआ है, इस वैधी भक्ति के जो सब अङ्ग वर्णित हुये है, एवं जो सब अङ्ग वर्णित नहीं हुए हैं, वह सब भक्त्यङ्ग की महिमा का वर्णन कहीं अधिक रूप से हुआ है, एवं शास्त्रान्तर में किन्तु अन्य भक्त्यङ्ग की महिमा अधिक रूप से वर्णित हुई है । अर्थात् किसी स्थान

प्रभावोल्लासापेक्षयेति न परस्पर-विरुद्धत्वम् । अधिकारिभेदेन ह्यौषधादीनामपि तादृशत्वं दृश्यते ।

अथ रागानुगा, तत्र विषयिणः स्वाभाविको विषयसंसर्गेच्छातिशयमयः प्रेमा रागः, यथा चक्षुरादीनां सौन्दर्य्यादौ, तादृश एवात्र भक्तस्य श्रीभगवत्यपि राग इत्युच्यते । स च रागो विशेषणभेदेन बहुधा दृश्यते (भा० ३।२५।३८) –"येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च, सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टम्" इत्यादौ । तत्र प्रियो यथा तदीयप्रेयसीनाम्, आत्मा परब्रह्मरूपः श्रीसनकादीनाम्, सुतः श्रीव्रजेश्वरादीनाम्, सखा श्रीश्रीदामादीनाम्, गुरुः श्रीप्रद्युम्नादीनाम्, कस्यापि 'भ्राता', कस्यापि 'मातुलेयः', कस्यापि 'वैवाहिकः' इत्यादिरूपः, स एक एव तेषु

में एकादशी की महिमा अत्यधिक वर्णित है, और किसी स्थान में महा प्रसाद भोजन की महिमा सर्वाधिक रूप से वर्णित है । उस का कारण यह है – उस उस भक्त्यङ्ग में श्रद्धा भेद से उस उस भक्त्यङ्ग का प्रभाव का उल्लास विशेष की अपेक्षा करके ही इस प्रकार महिमा वर्णित है । अतएव उस प्रकार महिमा वर्णन से अङ्गों में पारस्परिक विरोध उपस्थित नहीं होता है । जिस प्रकार औषध प्रभृति का प्रभावातिशय्य अधिकारी भेद से दृष्ट होता है । किसी रोगी के पक्ष में कोई औषधि सत्वर व्याधि उपशम करती है, और किसी के पक्ष में वह औषधि फल प्रद नहीं होती है ।

अनन्तर रागानुगा भक्ति का वर्णन करते हैं—विषयी का विषय के सहित संसर्ग के निमित्त स्वाभाविक अतिशय इच्छामय प्रेम का नाम राग है । जिस प्रकार चक्षु प्रभृति इन्द्रियवृन्द की सौन्दर्य्य ग्रहण निमित्त स्वाभाविक अतिशय तृष्णा होती है । उस प्रकार ही भक्ति जगत् में भक्त का श्रीभगवान् में स्वाभाविक आकुल पिपासामय प्रेम ही राग शब्द से कथित होता है । श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु में राग का लक्षण निम्नोक्त रूप है—

"इष्टे स्वारसिकी रागः परमाविष्टता भवेत् ।
तन्मयी या भवेत्तृष्णा साऽत्र रागात्मिकोच्यते ।।"

अर्थात् आनुकूल्य का विषय श्रीभगवान् में स्वाभाविकी प्रेममयी पिपासा ही राग का स्वरूप लक्षण है । अभीष्ट विषय में परमाविष्टता– राग का तटस्थ लक्षण है । जैसे आकुल पिपासु व्यक्ति की जल में होती है । उस स्वाभाविक आकुल प्रेममयी पिपासा प्रेरित होकर जो निज अभीष्ट भगवान् में भक्ति की जाती है, उस का नाम ही रागात्मिका भक्ति है । वह राग भी विशेषण भेद से अर्थात् शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, मधुर भेद से बहु प्रकार हैं । इस विषय में भा० ३।२५।३८ में श्रीकपिल देवने कहा है –

"येषामहं प्रियमात्मासुतश्च सखागुरुसुहृदो दैव मिष्टम् "

हे मातः ! मैं जिस का प्रिय, आत्मा, पुत्र, सखा, हितोपदेष्टागुरु, हिताकाङ्क्षी सुहृद् एवं इष्ट देव हूँ । यहाँ प्रिय शब्द—जिस प्रकार तदीय प्रेयसी श्रीगोपी प्रभृति के सम्बन्ध में सखा, श्रीदाम प्रभृति के सम्बन्ध में, गुरु श्रीप्रद्युम्न प्रभृति के सम्बन्ध में, किसी का भ्राता, किसी का मातुलेय, किसी का वैवाहिक रूप में आत्मा—पर ब्रह्म रूप - श्रीसनकादि के सम्बन्ध में सुत—श्रीव्रजेश्वरादिक सम्बन्ध में एक ही भगवान् उन उन सम्बन्धान्वित भक्त के निकट एवं सुहृद् रूप में सम्बन्धि गण के निकट प्रकाशित होते हैं । तदीय सेवक दारुक प्रभृति के निकट इष्ट देवरूप में प्रकाशित होते हैं, यह प्रसिद्ध है ।

श्रीमती मोहिनी मूर्त्ति के प्रति महादेव का जो भाव प्रकट हुआ था, उस का अङ्गीकार यहाँ पर

बहुप्रकारत्वेन सुहृदः सम्बन्धिनाम्, दैवमिष्टं तदीयसेवकानां श्रीदारुकप्रभृतीनामिति प्रसिद्धम् ।

अत्र श्रीमत्यां मोहिन्यां यः खलु रुद्रस्य भावो जातः, स तु नाङ्गीकृतोऽनुक्तत्वात्, तस्य मायामोहिततयैव तादृशभावाभ्युपगमाच्च ।

तदेवं तत्तदभिमानलक्षणभावविशेषेण स्वाभाविक-रागस्य वैशिष्ट्ये सति तत्तद्रागप्रयुक्ता श्रवण-कीर्त्तन-स्मरण-पादसेवन-वन्दनात्मनिवेदनप्राया भक्तिस्तेषां रागात्मिका भक्तिरित्युच्यते तस्याश्च साध्यायां रागलक्षणायां भक्तिगङ्गायां तरङ्गरूपत्वात् साध्यत्वमेवेति, न तु साधन प्रकरणेऽस्मिन् प्रवेशः । अतो रागानुगा कथ्यते । यस्य पूर्व्वोक्ते रागविशेषे रुचिरेव जातास्ति, न तु रागविशेष एव स्वयम्, तस्य तादृशरागसुधाकर-कराभास-समुल्लसितहृदयस्फटिकमणेः शास्त्रादिश्रुतासु तादृश्या रागात्मिकाया भक्तेः परिपाटीष्व पि रुचिर्जायते । ततस्तदीयं रागं रुच्यानुगच्छन्ती सा रागानुगा तस्यैव प्रवर्त्तते । एषैवाविहितेति केषाञ्चित् संज्ञा, रुचिमात्र-प्रवृत्त्या विधिप्रयुक्तत्वेनाप्रवृत्तत्वात् । न च वक्तव्यम्, विध्यनधीनस्य न सम्भवति भक्तिरिति, (भा० २।१।७) —

नहीं हुआ । कारण, वह भाव असमीचीन होने के कारण, इस प्रसङ्ग में उल्लिखित नहीं हुआ । उस का कारण यह है कि--श्रीहरि की माया से मुग्ध होकर श्रीशङ्कर में कामभाव उपस्थित हुआ था ।

ऐसा होने पर उस उस कान्तादि अभिमान लक्षण भाव विशेष में स्वाभाविक राग का वैशिष्ट्य विद्यमान होने से भी उस उस राग से प्रेरित होकर जो श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, पाद सेवन, वन्दन, आत्म निवेदन—प्रधान भक्ति अनुष्ठित होती है—उस का नाम रागात्मिका भक्ति है । वह भक्ति, साध्या राग लक्षणा भक्ति गङ्गा में तरङ्ग के समान प्रकाशिता होती है । तज्जन्य उस राग प्रेरित होकर अनुष्ठित भक्ति भी साध्या है । तात्पर्य्य यह है कि—गङ्गा में जिस प्रकार तरङ्ग है, किन्तु वह तरङ्ग—गङ्गा से भिन्न वस्तु नहीं है, उस प्रकार ही साध्या--रागात्मिका गङ्गा में श्रवण कीर्त्तनादि भक्ति भी तरङ्ग के समान साध्या है । किन्तु साधन प्रकरण में उस श्रवण कीर्त्तनादि भक्ति का प्रवेश नहीं है । अर्थात् रागी भक्त जो श्रवण कीर्त्तनादि करते रहते हैं, उस का नाम साधन भक्ति नहीं है । वह साध्या भक्ति है । अनन्तर रागानुगा भक्ति का वर्णन करते हैं—जिस में पूर्व वर्णित राग विशेष में रुचि उत्पन्न हुई है, किन्तु स्वयं राग विशेष का उदय नहीं हुआ है, उस भक्त की—पूर्व वर्णित राग—सुधाकर किरणाभास पतित होकर जो हृदयमणि उच्छलित होती है, वह शास्त्र, श्रीगुरु एवं साधुमुख से उस रागात्मिका भक्ति की जो परिपाटी है, अर्थात् कायिक, वाचिक, मानसिक प्रेम चेष्टा है, उस को सुनकर—उस परिपाटी में अर्थात् चेष्टा में भी रुचि होती है । अभिप्राय यह है कि—भक्त का हृदय—स्फटिकमणि के समान स्वच्छ है, अर्थात् काम क्रोध प्रभृति दुष्ट भाव से दूषित नहीं है । उस भक्त की साधु शास्त्र एवं श्रीगुरु मुख से श्रवण कर रागात्मक भक्त के राग विशेष में रुचि होती है । उस भक्त की प्रेम मयी चेष्टा विशेष को सुनकर चन्द्र किरण पतित होने से जिस प्रकार स्फटिकमणि उच्छलित होती है, उस प्रकार उस रागात्मक भक्त की प्रेममयी चेष्टा श्रवण रूप किरण च्छटा से—हृदय उच्छलित होकर उस की वह सब प्रेम चेष्टा में रुचि होती है । अतएव रुचि विशेष से प्रेरित होकर उस राग के अनुगत भाव से जो भक्ति अनुष्ठिता होती है, उस का नाम रागानुगा है । रागानुगा भक्ति को कोई कोई व्यक्ति "अविहिता" नाम से कहते हैं । कारण

"प्रायेण मुनयो राजन् निवृत्ता विधिषेधतः।
नैर्गुण्यस्था रमन्ते स्म गुणानुकथने हरेः ॥"६६७॥

इत्यत्र श्रूयते। ततो विधिमार्गभक्तिर्विधिसापेक्षेति सा दुर्बला, इयन्तु स्वतन्त्रैव प्रवर्त्तत इति प्रबला च ज्ञेया। अतएवास्या जन्मलक्षणं भक्तिव्यतिरेकेणान्यत्रानभिरुचित्वमित्याद्यपि ज्ञेयम्, यथोक्तं तृतीये श्रीविदुरेण भगवत्कथारुचिमुपलक्ष्य (भा० ३।५।१३)—

"सा श्रद्दधानस्य विवर्द्धमाना, विरक्तिमन्यत्र करोति पुंसः।
हरेः पदानुस्मृतिनिर्वृतस्य, समस्तदुःखाप्ययमाशु धत्ते ॥"६६८॥

सा पूर्वोक्ता कथागृहीता मतिस्तद्रुचिरित्यर्थः। विधिनिरपेक्षत्वादेव पूर्वाभ्यां दास्य-सख्याभ्यामेतदीययोस्तयोर्भेदश्च ज्ञेयः। एवमेवोक्तम् (भा० ७।५।२४)—"तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्" इति। अतएव विध्युक्त-क्रमोऽपि नास्यामत्यादृतः, किन्तु रागात्मिकाश्रुत-क्रम एव। तत्र रागात्मिकायां रुचिर्यथा (भा० ११।८।३५) —

यह भक्ति, केवल रुचि मात्र से ही प्रवृत्ता होती है, किन्तु किसी भी अंश में विधि प्रेरणा प्रयुक्ता नहीं है। किन्तु यहाँपर इस प्रकार कहना सङ्गत नहीं है—कि—जो व्यक्ति शास्त्र विधि का अनुगत नहीं है—उस में भक्ति हो ही नहीं सकती है।

कारण, भा० २।१।७ में श्रीशुक देवने कहा है—

"प्रायेण मुनयोराजन् निवृत्ता विधिषेधतः।
नैर्गुण्यस्था रमन्ते स्म गुणानुकथने हरेः ॥"६६७॥

हे राजन्! विधि एवं निषेध के अधीन न होकर भी प्रायशः मुनिगण, निर्गुण स्वरूप में अवस्थित होकर श्रीहरि के गुणानुकथन में रत होते हैं। यह प्रसिद्ध ही है। अतएव विधिमार्ग भक्ति में विधि की अपेक्षा होने के कारण यह भक्ति दुर्बला है, जो दूसरी को अपक्षा करता है, वह दुर्बल होता है, जो अन्य की अपेक्षा नहीं करता है, वह सबल है। यह रागानुगा भक्ति अपर को अपेक्षा न करके ही स्वतन्त्र रूप से प्रवृत्ता होती है, अतः यह प्रबला है। अतएव इस रागानुगा भक्ति का लक्षण भी भक्ति भिन्न अन्यत्र अनभिरुचित्व ही है। इस का अपर नाम रुचि वा लोभ है। भा० ३।५।१३ में भगवत् कथा रुचि को उपलक्ष्य करके श्रीविदुर ने कहा है—

"सा श्रद्दधानस्य विवर्द्धमाना, विरक्तिमन्यत्र करोति पुंसः।
हरेः पदानुस्मृतिनिर्वृतस्य, समस्तदुःखाप्ययमाशु धत्ते ॥"६६८॥

श्रीहरि कथा में जिस की मति प्रविष्ट होती है, उस श्रद्धालु व्यक्ति की ग्राम्य कथा प्रभृति में विरक्ति होती है, कारण, श्रीहरि के चरण ध्यान से जिस का हृदय सुखी होता है, उस का आशु समस्त दुःख विनष्ट होते हैं। यहाँ पर प्रयुक्त 'मति' शब्द का अर्थ रुचि है। विधि निरपेक्ष होने के कारण, विधि भक्ति में कथित दास्य, सख्य से रागानुगीय दास्य सख्य का भेद है। यह जानना होगा, अतएव भा० ७।५।२४ में उक्त है—"तन्मन्येऽधीत मुत्तमम्" इस में अध्ययन की कथा उल्लिखित होने के कारण—शास्त्र विधि की अपेक्षा सूचित हुई है। अतएव रागानुगा भक्ति में शास्त्र विधि में कथित क्रम का आदर नहीं है, किन्तु

(३१०) "सुहृत् प्रेष्ठतमो नाथ आत्मा चायं शरीरिणाम् ।
तं विक्रीयात्मनैवाहं रमेऽनेन यथा रमा ।।" ९९९।।

अत्र स्वाभाविक-सौहृद्यादिधर्म्मैस्तस्मिन्नेव स्वाभाविक-पतित्वं स्थापयित्वा परस्यौपाधिक-पतित्वमित्यभिप्रेतम् । अन्यत्र-"पतावेकत्वं सा गता यस्माच्चरुमन्त्राहुति व्रता" इति छन्दोग-परिशिष्टानुसारेण कृतिममेवात्मत्वम्, तस्मिन् परमात्मनि तु स्वभावत एवेत्यात्मशब्दस्याप्यभि-प्रायः । एवं यद्यपि तस्मिन् पतित्वमनाहार्य्य-मेवास्ति, तथाप्यात्मनैव मूल्यभूतेन तं विशेषतः क्रीत्वा यथान्यापि कन्या विवाहात्मकेन स्वात्मसमर्पणेन कञ्चित् पतित्वेनोपादत्ते, तथा-भावेनाश्रित्यानेन परममनोहररूपेण तेन सह रमे, रमा लक्ष्मी-र्यथा । तदेवं तस्याः पिङ्गलायाः स्वरुचिदर्शितिता ।।

३११ । रागानुगायां प्रवृत्तिरपीदृशी, (भा० ११।८।४०) —

(३११) "सन्तुष्टा श्रद्दधत्येतद्यथालाभेन जीवती ।
विहराम्यमुनैवाहमात्मना रमणेन वै ।।" १०००।।

रागात्मिका भक्ति में उक्त क्रम की अपेक्षा है। अर्थात् रागात्मक भक्त का जो आनुगत्य स्वीकार किया हैं, उस के पक्ष में रागात्मक भक्त की परिपाटी का जो क्रम है, उस क्रम का अनुशीलन करना अवश्य कर्त्तव्य होता हैं। रागात्मिका की रुचि का वर्णन भा० ११।८ ३५ में इस प्रकार है—

(३१०) "सुहृत् प्रेष्ठतमो नाथ आत्मा च यं शरीरिणाम् ।
तं विक्रीयात्मनैवाहं रमेऽनेन यथा रमा ।।" ९९९।

पिङ्गला निर्विण्णा होकर कही थी, अनन्तर मैं सुहृत् प्रियतम एवं निखिल शरीरो का आत्मा श्रीनारायण को आत्म समर्पण रूप मूल्य द्वारा क्रय करके लक्ष्मी जैसे रमण करती है, वसे रमण करूँगी। श्लोक का तात् पर्य्य यह है कि—श्रीनारायण के स्वाभाविक सौहृद्यादि धर्म के द्वारा स्वाभाविक पतित्व स्थापन कर श्रीनारायण भिन्न अन्य सब का औपाधिक पतित्व समझाया गया है। कारण, छन्दोग्य परिशिष्ट के अनुसार "पतावेकत्वं सा गता यस्माच्चरुमन्त्राहुति व्रता" वह रमणी निज पति के सहित चरुमन्त्र आहुति एवं मन्त्रादि के द्वारा एकात्मता को प्राप्त करती है। यहाँ पर सुस्पष्ट हुआ है कि—देहाभिमानी मानव के सहित यथार्थत, स्त्री की एकता नहीं है, किन्तु चरुमन्त्र आहुति प्रभृति के द्वारा ही एकात्मता आरोपित होती है। परमात्मा में किन्तु स्वभावतः ही एकात्मता विद्यमान है। अतः सुहृद् प्रेष्ठ-तम श्लोक में आत्म पद का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार यद्यपि उन परमात्मा श्रीनारायण में पतित्व, आरोपित नहीं है, तथापि आत्म दान रूप मूल्य के द्वारा उन परमात्मा श्रीनारायण को विशेष रूप से क्रय करके जिस प्रकार कन्या विवाहात्मक आत्म समर्पण के द्वारा किसी पुरुष को पति रूप में ग्रहण करके उस के सहित रमण करती है, उस प्रकार मैं भी श्रीनारायण के सहित रमण करूँगी। साक्षात् स्फूर्त्ति प्राप्त मनोहर रूप श्रीनारायण के सहित लक्ष्मी जिस प्रकार रमण करती है, मैं भी उस प्रकार रमण करूँगी। यहाँपर लक्ष्मी का राग में पिङ्गला की रुचि प्रदर्शित हुई है ।।३१०।।

३११ । रागानुगा भक्ति में पिङ्गला की प्रवृत्ति भी अर्थात् कायिक वाचिक मानसिक वृत्ति की निम्नोक्त रूप से जानना होगा भा० ११।८।४०

अमुनेति भावगर्भरमणेन सह, आत्मना मनसैव तावद्विहरामि-रुचि-प्रधानस्य मार्गस्यास्य मनःप्रधानत्वात्, तत्प्रेयसीरूपेणासिद्धाया स्तादृशभजने प्रायो मनसैव युक्तत्वात् । अनेन श्रीमत्प्रतिमादौ तादृशीनामप्यौद्धत्यं परिहृतम् । एवं पितृत्वादि-भावेष्वप्यनुसन्धेयम् ॥ श्रीपिङ्गला ॥

३१२ । एवं प्रेयसीत्वाभिमानमयी दर्शिता । एषा ब्रह्मवैवर्त्ते कामकलायामपि दृष्टा, सेवकत्वाद्यभिमानमय्यां रुचिभक्तिश्चान्यत्र ज्ञेया, (भा० ७।७।२४) "तस्मादमूस्तनुभृताम्" इत्यादौ "उपनय मां निजभृत्यपार्श्वम्" इति श्रीप्रह्लाद-वचनवत्, यथा श्रीनारदपञ्चरात्रादौ—

"कदा गम्भीरया वाचा श्रिया युक्तो जगत्पते । चामरव्यग्रहस्तं मामेवं कुर्विति वक्ष्यसि ॥"१००१। इति

---

(३११) "सन्तुष्टो श्रद्दधत्येतद्यथालाभेन जीवती ।
विहराम्यमुनैवाहमात्मना रमणेन वै ॥"१०००।

अनन्तर पिङ्गलाने देह यात्रा निर्वाह हेतु जिस प्रकार सङ्कल्प किया था, उस का चित्रण उक्त श्लोक में है—मैं यथा लाभ से सन्तुष्ट होकर श्रीनारायण में दृढ़ विश्वास स्थापन पूर्वक देह यात्रा निर्वाह करतः भाव गर्भ रमण के सहित मन के द्वारा विहार करूँगी । अर्थात् प्राकृत देह के द्वारा श्रीनारायण के सहित रमण सर्वथा असम्भव है । कारण, श्रीनारायण नित्य ज्ञान एवं सुख स्वरूप हैं, मेरा शरीर अनित्य एवं अज्ञान, दुःख स्वरूप है, अतएव इस देह के द्वारा उन के सहित विहार सर्वथा असम्भव है, केवल मात्र भावात्मक मन के द्वारा उन के सहित भावमय रमण सम्भव है । रुचि प्रधान रागानुगा भक्ति पथ में मन का ही प्राधान्य है । उस का कारण यह है कि—पिङ्गला ने उस समय प्रेयसी रूप में सिद्धि प्राप्त नहीं किया था । सुतरां कान्ता भाव से रागानुगा भजन मन के द्वारा ही युक्ति युक्त है । इस से प्रतिपादित हुआ कि पिङ्गला यद्यपि स्वैरिणी रही, तथापि श्रीप्रतिमा प्रभृति में आलिङ्गन चुम्बनादि औद्धत्य का प्रकाश उसने नहीं किया है । इस प्रकार रीति का अनुसरण पितृत्व प्रभृति भाव में भी करना आवश्यक है ।

श्रीपिङ्गला कही थी ।३११।

३१२ । उक्त रीति से प्रेयसीत्व अभिमानमयी रागानुगा भक्ति का वर्णन हुआ । ब्रह्म वैवर्त्त पुराण में काम कला नाम्नी कुमारी में यह भक्ति प्रदर्शित हुई है । सेवकत्वादि अभिमानमयी रागात्मिका में रुचि लक्षणा भक्ति को अन्यत्र जान लेना चाहिये । भा० ७।९।२४ में कथित है—

"तस्मादमूस्तनुभृताम्" "उपनय मां निज भृत्य पार्श्वम्"

भक्त प्रवर श्रीप्रह्लाद, श्रीनृसिंह को कहे थे—हे नाथ ! मैं निखिल भोगों का परिणाम को सम्यक् जानता हूँ । जो काल से विलुलित होता है, इस प्रकार इन्द्रिय के द्वारा भोग्य ब्रह्म लोक के भोग को भी मैं नहीं चाहता हूँ । मुझ को निज भृत्य के समीप में ले चलो, श्रीप्रह्लाद के इस वाक्य के द्वारा श्रीनृसिंह देव के नित्य सिद्ध पार्षद के भाव में रुचि का विवरण सुस्पष्ट रूप से मिलता है । श्रीनारदपञ्चरात्रादि में भी उक्त है—

"कदा गम्भीरया वाचा श्रिया युक्तो जगत्पते ।
चामरव्यग्रहस्तं मामेवं कुर्विति वक्ष्यसि ॥"१००१॥

हे नाथ ! कब मेरा ऐसा सौभाग्य होगा, जिस दिन तुम लक्ष्मी के सहित एकासन में उपवेशन करके चामर सेवा में व्यग्रहस्त मुझ को गम्भीरस्वर से आह्वान कर आदेश करोगे,—हे किङ्कर ! तुम इस प्रकार

यथा स्कान्दे सनत्कुमारप्रोक्त-संहितायां प्रभाकर-राजोपाख्याने—

"अपुत्रोऽपि स वै नैच्छत् पुत्रं कर्म्मानुचिन्तयन् । वासुदेवं जगन्नाथं सर्व्वात्मानं सनातनम् ॥१००२॥
न पुत्रमभ्यर्थितवान् साक्षाद्भूताज्जनार्द्दनात् ॥"१००४॥

अशेषोपनिषद्वेद्यं पुत्रीकृत्य विधानतः । अभिषेचयितुं राजा स्वराज्य उपचक्रमे ॥१००३॥

अग्रे भगवद्दत्तवरश्च—"अहन्ते भविता पुत्रः" इत्यादि । अतएवोक्तं नारायणव्यूहस्तवे—

"पति-पुत्र-सुहृद्भ्रातृपितृवन्मातृवद्धरिम् । ये ध्यायन्ति सदोद्युक्तास्तेभ्योऽपीह नमो नमः ॥"१००५॥

अत्र पत्यादिवदिति ध्येयस्य पितृवदिति ध्यातुर्विशेषणं ज्ञेयम् । तथा मातृवदिति वति प्रत्ययेन प्रसिद्ध-तन्मातृजनाभेदभावना नैवाङ्गीक्रियते, किन्तु तदनुगतभावनैव । एवं पितृ-भावादावपि ज्ञेयम् । अन्यथा भगवत्यहंग्रहोपासनावत्तेष्वपि दोषः स्यात् । तथा ध्यायन्तीति पूर्व्वोक्तं मनः प्रधानत्वमेवोरीकृतम् । 'अपि' शब्देन तत्तद्रागसिद्धानां कैमुत्यमाक्षिप्यते ।

व्यजन सेवा करो ॥ जिस प्रकार स्कन्द पुराण की सनत् कुमार संहिता के नृपति प्रभाकर उपाख्यान में लिखित है—

"अपुत्रोऽपि सवै नैच्छत् पुत्र कर्म्मानु चिन्तयन् ।
वासुदेव जगन्नाथं सर्वात्मानं सनातनम् ।"१००२॥
अशेषोपनिषद्वेद्यं पुत्रीकृत्य विधानतः ।
अभिषेचयितुं राजा स्वराज्य उपचक्रमे ॥१००३॥
न पुत्रमभ्यर्थितवान् साक्षाद्भूताज्जनार्द्दनात् ।"१००४॥

प्रभाकर महाराज अपुत्रक होकर भी निज कर्म फल की चिन्ता करके पुत्र कामना नहीं किये थे । अशेष उपनिषद् वेद्य सनातन जगन्नाथ सर्वात्मा वासुदेव को पुत्र मानकर विधि पूर्वक निज राज्य में अभिषेक करने के निमित्त उद्योगी हुये थे । श्रीभगवान् उनको भक्तिवश होकर साक्षात् दर्शन दान करने पर भी उनके निकट से पुत्र प्रार्थना नहीं किये । अनन्तर श्रीभगवान् भी वरदान किये थे—"अहन्ते पुत्रोभविता" अर्थात् मैं ही तुम्हारे पुत्र बनूँगा ।

अतएव नारायण व्यूहस्तव में लिखित है—

"पति पुत्र सुहृद् भ्रातृ पितृ वन्मातृवद्धरिम् ।
ये ध्यायन्ति सदोद् युक्तास्तेभ्योऽपीह नमोनमः ।"१००५॥

जो, पति, पुत्र सुहृद् भ्रातृ, पितृ, एवं मित्र के समान श्रीहरि का ध्यान उत्कण्ठित चित्त से करते हैं, उनको प्रणाम । इस श्लोक में पति, पुत्र, सुहृद्, भ्राता यह चार ध्येय श्रीहरि के विशेषण हैं । जो, हरि की भावना, पति, पुत्र, सुहृद्, भ्रातृ, पिता, एवं माता के भाव में करते हैं, उन सब को कोटिशः प्रणाम । यहाँपर पितृवत्, मातृवत् सदृशार्थ में वतुप प्रत्यय है । अतएव समझना होगा कि—यहाँ पर श्रीहरि के प्रसिद्ध पिता माता के सहित अभेद चिन्तन नहीं हुआ है । किन्तु श्रीहरि के प्रसिद्ध पिता माता के आनुगत्य की भावना ही स्वीकृत है । तात्पर्य्य यह है कि—जिस प्रकार श्रीराम चन्द्र के पिता दशरथ, माता, कौशल्या है, शास्त्र में प्रसिद्ध हैं । साधक—"महाराज दशरथ मैं हूँ, कौशल्या मैं हूँ । इस प्रकार चिन्तन न करे, किन्तु दशरथ वा कौशल्या का अनुगत वा अनुगता हूँ, इस प्रकार भावना ही करे । अन्यथा अर्थात् इस प्रकार चिन्तन करने से मैं श्रीकृष्ण वा राम हूँ—इस प्रकार भावना जिस प्रकार अहंग्रह उपासना होने

ननु "चोदना-लक्षणोऽर्थो धर्म्मः" इत्यनेन पूर्व्वमीमांसायां विधिनैरापूर्व्वं जायत इति श्रूयते, तथा "श्रुति-स्मृति-पुराणोक्त-पञ्चरात्रविधिं विना" इत्यादिना यामले श्रुत्यादेरेकतरोक्त--क्रम नियमं विना दोषः श्रूयते, तथा—

"श्रुति-स्मृति ममैवाज्ञे यस्त उल्लङ्घ्य वर्त्तते। आज्ञाच्छेदी मम द्वेषी मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः॥"१००६॥

इत्यत्र श्रुत्याद्युक्तावश्यकक्रिया--निषेधयोरुल्लङ्घनं वैष्णवत्व-व्याघातकं श्रूयते, कथं तर्हि विधिनिरपेक्षया तया सिद्धिः ? उच्यते—श्रीभगवन्नाम-गुणादिषु वस्तुशक्तेः सिद्धत्वान्न धर्म्मवद्भक्तेश्चोदना-सापेक्षत्वम्, अतो ज्ञानादिकं विनापि फललाभो बहुत्र श्रुतोऽस्ति। चोदना तु यस्य स्वतः प्रवृत्तिनास्ति, तद्विषयैव,तथा क्रमविधिश्च तद्विषयः। तस्मिन्नेव नानाविक्षेपवति नानाविक्षेपवति रुच्यभावेन रागात्मिक-भक्तिशैली-मनभिजानति, सत्यामपि (भा० ११।२।३६) "धावन्निमील्य वा नेत्रे" इत्यादि-न्यायेन यथाकथञ्चिदनुष्ठानतः सिद्धौ सुष्ठु वर्त्मप्रवेशाय

के कारण, दोषावह है, उस प्रकार ही श्रीभगवान् के नित्य सिद्ध परिकर के सहित अभेद भावना भी दोषावह है। और भी विशेष ज्ञातव्य है-कि—"ध्यायन्ति" क्रिया पद का उल्लेख होने के कारण, रागानुगा मार्ग में 'मन' का ही प्रधान्य है। "तेभ्योऽपीह" यहाँ 'अपि' शब्द का उल्लेख है, उस से कैमुतियक भाव से—जो पति प्रभृति भाव से राग सिद्ध हैं—उनको प्रणाम, यह आक्षिप्त हुआ है। अर्थात् उस उस भाव से जो साधन रत हैं, वे यदि कोटि कोटि प्रणाम के योग्य होते हैं, तो जो उस उस राग सिद्ध हैं, वे सुतरां असमोर्द्ध्व प्रणामार्ह हैं।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि-पूर्व मीमांसा शास्त्र में उल्लिखित है "चोदनालक्षणोऽर्थोधर्मः॥ इस उक्ति से प्रतिपन्न होता है कि—विधि बोधित क्रिया के द्वारा ही— अपूर्व—अर्थात् अदृष्ट उत्पन्न होता है। यामल ग्रन्थ में भी लिखित है—"श्रुति स्मृति पुराणादि पञ्चरात्र विधिं विना" श्रुति प्रभृति के मध्य में किसी एक प्रमाण के द्वारा उपक्रम एवं विषय के विना अनुष्ठान करने से दोषावह होता है। और भी श्रुत है—

"श्रुति स्मृतीममैवाज्ञे यस्त उल्लङ्घ्य वर्त्तते।
आज्ञाच्छेदी मम द्वेषी मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः॥"१००६॥

श्रुत्यादि उक्त अवश्य कर्त्तव्य एवं निषेध का उल्लङ्घन करने से वैष्णवत्व की हानि होती है। ऐसा होने पर विधि निरपेक्षा रागानुगा के द्वारा कैसे साधक की सिद्धि होगी ? उत्तर में कहते हैं—श्रीभगवान् के नाम गुणादि में वस्तु शक्ति होने के कारण, त्रिगुण मय धर्म के समान भक्ति की चोदना की अपेक्षा नहीं है। अतएव ज्ञानादि के विनाभी बहु स्थान में ही भक्ति के द्वारा फल लाभ की कथा वर्णित है। "चोदना" किन्तु वहाँ होती है, जहाँ स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं है। उस को लक्ष्य करके ही प्रवृत्ति होती है। उसी प्रकार क्रम विधि भी स्वतः प्रवृत्ति शून्य व्यक्ति को विषय करके ही प्रवृत्त है। यद्यपि विशुद्ध भक्ति पथ में (भा० ११।२।३५) "धावन्निमील्य वा नेत्रे" इत्यादि नीति के अनुसार अर्थात् श्रुति स्मृति ज्ञान शून्य होकर क्रम लङ्घन करके भी भजनानुष्ठान करने पर भी फल लाभ होता है। तथापि इस प्रकार विशुद्ध भागवत धर्म्म में रुचि का अभाव होने पर विभिन्न प्रकार चित्त विक्षेप होता है, उस से रागात्मक भक्ति शैली का परिज्ञान नहीं होता है। उस प्रकार नीति अनभिज्ञ व्यक्ति को उत्तम रूप से धर्म पथ में प्रविष्ट कराने के

क्रमशश्चित्ताभिनिवेशाय च मर्य्यादारूपः स निर्मीयते। अन्यथा सन्तत-तद्भवत्युन्मुखताकर-तादृशरुच्यभावान्मर्य्यादानभिपत्तेश्चाध्यात्मिकादिभिरुत्पातैर्विहन्यते च स इति, न तु स्वयं प्रवृत्तिमत्यपि मर्य्यादा-निर्म्माणम्,-तस्य रुच्यैव भगवन्मनोरम-रागात्मका-क्रमविशेषाभिनिवेशात्। तदुक्तं स्वयमेव (भा० ११।११।३३) "ज्ञात्वाज्ञात्वाथ ये वै माम्" इत्यादिना रागात्मिक-भक्तिमतां दुरभिसन्धिनाप्यनुकरणमात्रेण तादृशत्वप्राप्तिः श्रूयते, यथा धात्रीत्वानुकरणेन पूतनायाः, तदुक्तम् (भा० १०।१४।३५) "सद्वेषादिव पूतनापि सकुला" इति, किमुत तदीयरुचिमद्भिस्तादृशनिरन्तरसम्यग्भक्त्यनुष्ठानेन, तदुक्तम् (भा० १०।६।३५-३६)—

"पूतना लोकबालघ्नी राक्षसी रुधिराशना।
जिघांसयापि हरये स्तनं दत्त्वाप सद्गतिम् ॥१००७॥
किं पुनः श्रद्धया भक्त्या कृष्णाय परमात्मने।
यच्छन् प्रियतरं किं नु रक्तास्तन्मातरो यथा॥"१००८॥ इति।

निमित्त एवं क्रमशः चित्त का अभिनिवेश धर्म विषय में कराने के निमित्त उक्त विधि निषेध का प्रवर्त्तन हुआ है। ऐसा न होने से जिस रुचि का उदय होने पर सतत श्रीकृष्ण चरणों की सेवा में चित्त उन्मुख होकर रहता है। जब तक उस प्रकार रुचि का उदय नहीं होता है, तब तक, विधि निषेध की अधीनता स्वीकार न करने से भजन नियम की रक्षा नहीं हो सकती है, एवं आध्यात्मिक प्रभृति उपद्रवों के द्वारा भजन मार्ग व्याहत हो जाता है। किन्तु जिस की स्वाभाविकी भजन प्रवृत्ति है, उस के प्रति विधि निषेध मर्य्यादा रक्षा की व्यवस्था नहीं की गई है। कारण, रुचि के द्वारा ही श्रीभगवान् के मनोमुग्ध कर रागात्मिका के क्रम विशेष में उस का अभिनिवेश है, इस अभिप्राय से श्रीभगवान् स्वयं ही कहे हैं—भा० ११।११।३३ "ज्ञात्वाज्ञात्वाथ ये वै माम्"

जो मुझ को जानकर अथवा न जानकर मेरा भजन करते हैं,—वे दोनों ही भक्ततम हैं। उन दोनों के मध्य में जो भगवत् स्वरूपादि का विचार न करके रुचि प्रेरित होकर भजन करते हैं, वे ही श्रेष्ठ हैं। दुरभिसन्धि से भी रागात्मक भक्तिमान् जन के वेषादि का अनुकरण करके भी धर्म फल लाभ होता है—इस का वर्णन श्रीमद् भागवत में है। जिस प्रकार भा० १०।१४।२५ में उक्त है—"सद्वेषादिव पूतनादि सकुला" धात्रीत्व मात्र का अनुकरण करके पूतनाने धात्री गति प्राप्त की। उक्त श्लोक में सुस्पष्ट वर्णित है--

पूतना राक्षसी—जिघांसा वृत्ति से भी धात्रीवेश अनुकरण के फल से धात्री गति को प्राप्त किया। ऐसा होने पर जो, रागात्मक भक्तिमान् जन की प्रेम परिपाटी में रुचि शील होकर निरन्तर सम्यक् रूप से भक्ति का अनुष्ठान करते हैं, वे सब तो सुतरां ही सिद्धि लाभ करेंगे। इस अभिप्राय से ही भा० १०।६।३५-३६ में उक्त है—

"पूतना लोकबालघ्नी राक्षसी रुधिराशना।
जिघांसयापि हरये स्तनं दत्त्वाप सद्गतिम् ॥१००७॥
किं पुनः श्रद्धया भक्त्या कृष्णाय परमात्मने।
यच्छन् प्रियतरं किं नु रक्तास्तन्मातरो यथा॥"१००८॥

नाम से पूतना, पवित्र नहीं है। जाति में—राक्षसी, व्यवसाय में, लोक बालघ्नी, जीविका में -नर

अत उक्तम् (भा० ११।२०।३६)—"न मय्येकान्तभक्तानां गुणदोषोद्भवा गुणाः" इति। एकान्तित्वं खलु भक्तिनिष्ठा, सा रुच्यैव वा शास्त्रविध्यादरेणैव वा जायते। ततो रुचेर्विरलत्वादुत्तराभावेनापि यदैकान्तिकीत्वम्,तत्तस्यैकान्तिमानिनो दम्भमात्रमित्यर्थः। ततस्तदनुद्यैवनिन्दा—"श्रुति-स्मृति-पुराण-" इत्यादिना,न तु रुचि-भावेऽपि तन्निन्दा युक्ता,—'पूतना'इत्यादेः। तथा चोक्तं पाद्मोत्तरखण्डे—

"स्वातन्त्र्यात् क्रियते कर्म न च वेदोदितं महत्। विनैव भगवत्प्रीत्या ते वै पाषण्डिनः स्मृताः॥"१००१।

इति प्रीतिरत्र तादृशरुचिः। तदेवमत्र शास्त्रानादरस्यैव निन्दा, न तु तदज्ञानस्य,—"धावन्निमील्य वा" इत्यादेः, गौतमीयतन्त्रे त्विदमप्युक्तम्—

शोणितपायिनी होकर भी, जिघांसा बुद्धि हृदय में लेकर भी, कालकूट विष द्वारा स्तन को लिप्त करके भी स्तन दानकर पूतनाने धात्री गति प्राप्त की है। उक्त श्लोक का अभिप्राय यह है कि—कर्तृ गत, कर्मगत, करणगत, गुरुतर दोष विद्यमान होने पर भी एक मात्र सम्प्रदान गत असामान्य गुण से, अर्थात् जिन को स्तनार्पण किया, वह सर्व दोषापहारी श्रीहरि हैं, और ज्ञान क्रिया शक्तिप्रद परमात्मा हैं, पक्षान्तर में सर्वाकर्षक स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हैं। पूतनाने धात्री गति प्राप्त की। अर्थात् उक्त असाधारण सम्प्रदानगत गुण ही धात्री गति का प्रापक हुआ। ऐसा होने पर,भक्त यदि श्रद्धा पूर्वक श्रीकृष्णके प्रिय पदार्थ श्रीकृष्ण को प्रदान करता है तो वह भक्त जो सद् गति को प्राप्त करेगा, इस में कुछ भी सन्देहावकाश नहीं है। पक्षान्तर में वात्सल्य भाव से श्रीकृष्ण की अनुरागिणी जननी वृन्द जिस भाव से श्रीकृष्ण को प्रिय पदार्थ अर्पण करती हैं, उस भाव से अर्पण करने से जो सद्गति का लाभ होगा, इस में सन्देह क्या ? इस अभिप्राय से ही भा० ११।२०।३६ में श्रीभगवान् श्रीकृष्ण—उद्धव को कहे हैं—

"न मय्येकान्त भक्तानां, गुण दोषोद्भवाः गुणाः"

अर्थात् एकान्त भक्त वृन्द के गुण समूह—व्यवहारिक गुण दोष से उत्थित नहीं हैं। एकान्ती शब्द का अर्थ है—भक्ति निष्ठा। वह भक्ति निष्ठा रुचि से अथवा शास्त्रीय विधि प्रति पालन से ही होती है। रुचि—अत्यन्त विरल है, अर्थात् दुर्ल्लभ है। अतएव यदि शास्त्रीय विधि का आदर विद्यमान नहीं होता है, तो, वह एकान्ती ही हो नहीं सकता है। यदि एकान्ती अभिमान साधक कर लेता है, तो वह दम्भ-छल-कापट्य मात्र ही है। अतएव रुचि हीन व्यक्ति को लक्ष्य करके ही "श्रुति स्मृति पुराणादि" वचन के द्वारा एकान्ती की निन्दा की गई है। किन्तु रुचि विद्यमान होने से एकान्तित्व की निन्दा युक्ति युक्त नहीं है। कारण, 'पूतना लोक बालघ्नी किं पुनः श्रद्धया भक्तया कृष्णाय परमात्मने यच्छन् प्रियतरं किं नु रक्तास्तन्मातरोयथा" इस श्लोक के द्वारा रुचिमान् जन के द्वारा अनुष्ठित भजन की प्रशंसा ही की गई है। इस अभिप्राय से ही पाद्मोत्तर खण्ड में उक्त है—

"स्वातन्त्र्यात् क्रियते कर्म न च वेदोदितं महत्।
विनैव भगवत् प्रीत्या ते वै पाषण्डिनो स्मृताः॥"१००१॥

जो लोक भगवद् भजन में रुचि हीन हैं, वे यदि शास्त्र शासनाधीन न होकर स्वतन्त्र रूप से महत् कर्म एवं अनुष्ठान भी करते हैं, तो उन सब को पाषण्डी जानना चाहिये। प्रीति शब्द का अर्थ, यहाँपर उस प्रकार रुचि है। अतएव जो लोक शास्त्र को अनादर करते हैं वे ही निन्दनीय हैं, 'श्रुति स्मृति पुराणादि" श्लोक के द्वारा उस की निन्दा की गई है। किन्तु जो व्यक्ति—शास्त्र ज्ञान हीन है, उस की निन्दा नहीं की

"न जपो नार्चनं नैव ध्यानं नापि विधिक्रमः। केवलं सन्ततं कृष्णचरणाम्भोजभाविनाम् ॥" १०१०॥

अजाततादृशरुचिना तु सद्विशेषादरमात्रादृता रागानुगापि वैधीसंवलितैवानुष्ठेया, तथा लोकसंग्रहार्थं प्रतिष्ठितेन जात-तादृशरुचिना च। अत्र मिश्रत्वे च यथायोग्यं रागानुगयैकी-कृत्यैव वैधी कर्त्तव्या। केचिदष्टादशाक्षरध्यानं गोदोहनसमय-वंशीवाद्यसमाकृष्ट-तत्तत्सर्व--मयत्वेन भावयन्ति, यथा चैके तादृशमुपासनं साक्षाद्व्रजजन-विशेषायैव मह्यं श्रीगुरुचरणै-र्मदभीष्टविशेषसिद्धयर्थमुपदिष्टं भावयामि, साक्षात्तु श्रीव्रजेन्द्रनन्दनं सेवमान एवास इति भावयन्ति। अथ "श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे" इत्यादि-निन्दित-मात्रस्यावश्यकक्रिया-निषेधयो-

---

गई है। कारण भा० ११।२ में उक्त है—"धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्नपतेदिह" श्रुति स्मृति ज्ञान हीन व्यक्ति यदि शास्त्र विधि क्रम लङ्घन करके भी भजन करता है, तथापि उस का स्खलन पतन नहीं है। गौतमीय तन्त्र में उक्त है—

"न जपो नार्चनं नैवनैवध्यानं नापि विधिक्रमः।
केवलं सन्ततं कृष्णचरणाम्भोज भाविनाम् ॥" १०१०॥

जो निरन्तर श्रीकृष्ण चरण कमल की चिन्ता करता रहता है, उस को जप, ध्यान, अर्चन, एवं विधिक्रम की अपेक्षा नहीं है। यद्यपि जो लोक श्रीकृष्ण में रागात्मिका भक्ति करते रहते हैं, उन के प्रति आदर विशेष होने से रागानुगा भक्ति आदृता होती है। तथापि जिनकी रुचि पूर्व वर्णित प्रकार से नहीं हुई है, अर्थात् भक्ति भिन्न अन्यत्र अनभिरुचित्व उत्पन्न नहीं हुई है, उन के पक्ष में रागानुगा भक्ति का अनुष्ठान भी वैधी सम्बलित ही करना कर्त्तव्य है। एवं जो लब्ध प्रतिष्ठ हैं, अर्थात् जिन का आचरण का अनुसरण अपर व्यक्ति करते रहते हैं, इस प्रकार अधिकारी व्यक्ति यदि पूर्व वर्णित जात रुचि सम्पन्न भी होते हैं, तथापि लोक शिक्षा हेतु वैधी संवलित रूप से ही रागानुगा का अनुष्ठान करना कर्त्तव्य है। उक्त उभय विध अधिकारी में यद्यपि रागानुगा भक्ति भी वैधी मिश्रिता है, तथापि उन के पक्ष में यथा सम्भव रागानुगा के सहित मिल करके ही वैधी का अनुष्ठान करना कर्त्तव्य है। कोई कोई व्यक्ति, अष्टादशाक्षर मन्त्र जप के समय, सप्तावरण के सहित श्रीकृष्ण का ध्यान करते हैं। एक ही समय में जहाँ पर श्रीराधा प्रभृति श्रीकृष्ण प्रियवर्ग हैं, वहाँपर श्रीनन्द, श्रीबलदेव प्रभृति गुरु वर्ग की स्थिति कैसे हो सकती है? कारण, वह तो भाव विरुद्ध है। उत्तर में समाधन इस प्रकार करते हैं—

श्रीकृष्ण, वंशी ध्वनि करते हैं, उस वंशी ध्वनि से आकृष्ट होकर समस्त व्यक्ति एकत्र मिलित होते हैं। इस प्रकार भावना करते हैं। किन्तु कतिपय रागानुगा साधक, श्रीमन्त्र स्मरण समय में—यद्यपि मैं साक्षात् व्रजवासी जन विशेष हूँ, तथापि किसी दुर्दैव के कारण मायामय जगत् में निपतित हूँ। परम कारुणिक श्रीगुरुदेव, मदीय अभीष्ट सिद्धि हेतु इस मन्त्र उपदेश किये हैं, इस रीति से जपादि करते हैं। साक्षात् रूप में किन्तु मैं श्रीव्रजेन्द्रनन्दन की सेवा ही कर रहा हूँ। इस प्रकार भावना करते हैं।

"श्रुति स्मृति" इत्यादि श्लोकोक्त अवश्य कर्त्तव्य-एवं निषिद्ध उल्लङ्घन भी द्विविध हैं। उक्त विधि निषेध—धर्मशास्त्र कथित - एक प्रकार है, अपर प्रकार भक्ति शास्त्र कथित विधि निषेध उल्लङ्घन है। उस के मध्य में भगवद् भक्ति में दृढ़ विश्वास के कारण, अथवा दुःशीलता निबन्धन धर्म शास्त्रोक्त विधि निषेध अकरण वा करण से वैष्णव भाव से स्खलित होना नहीं पड़ता है। कारण, भा० ११।५।४१ में उक्त है—"देवर्षि भूताप्त नृणां पितॄणाम्" जो सर्वान्तःकरण से श्रीकृष्ण चरणों में शरण ग्रहण किया है, वह,

रुल्लङ्घनं द्विविधम्,--तौ हि धर्मशास्त्रोक्तौ भक्तिशास्त्रोक्तौ चेति । तत्र भगवद्भक्तिविश्वासेन दौः शील्येन वा पूर्वयोरकरण-करणप्रत्यासत्तौ न वैष्णवभावाद् भ्रंशः, (भा० ११।५।४१) — "देवर्षिभूताप्तनृणाम्" इत्याद्युक्तेः, (गी० ९।३०) 'अपि चेत् सुदुराचारः" इत्याद्युक्तेश्च । तादृशरुचिमति तु तयैव रुच्या द्विष्टत्वादपुनर्भवाद्यानन्दस्यापि वाञ्छा नास्ति, किमुत परम-घृणास्पदस्य विकर्मानन्दस्य, अतस्तत्र स्वत एव न प्रवृत्तिः । प्रमादादिना कदाचिज्जातं चेद्विकर्म तत्क्षणादेव नश्यत्यपि,उक्तञ्च (भा० ११।५।४२) –"विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चिद्-, धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः" इति । अथ यदि वैष्णवशास्त्रोक्तौ तौ, तर्हि विष्णुसन्तोषैक-प्रयोजनावेव भवतः । तयोश्च तादृशत्वे श्रुते सति तदीयरागरुचिमतः स्वत एव प्रवृत्त्यप्रवृत्ती स्याताम्,–तत्सन्तोषैकजीवनत्वात् प्रीतिजातेः अतएव न तत्र स्वानुगम्यमान-रागात्मक-सिद्ध-भक्तविशेषेण कृतत्वाकृतत्वयोरनुसन्धानञ्चापेक्ष्यं स्यात्, किन्तु तत्कृतत्वे सति विशेषेण ग्रहो

देव, ऋषि, पितृ, भूत एवं आत्मीय स्वजन के निकट ऋणी नहीं है, एवं किङ्कर भी नहीं है । अतएव उक्त प्रमाणानुसार जो, भक्ति में दृढ़ विश्वास हेतु धर्म शास्त्रोक्त विधि को लङ्घन करता है, उस को प्रत्यवाय भागी नहीं होना पड़ता है । जो व्यक्ति दुःशीलता हेतु शास्त्र निषिद्ध, परस्त्री गमन अथवा परद्रव्यादि अपहरण करता है, अथच अन्य देवता का भजन नहीं करता है, एकमात्र श्रीकृष्ण का ही भजन करता है, वह सुदुराचारी होने पर भी साधु शब्द से अभिहित होता है । कारण, श्रीमद् भगवद् गीता में उक्त है— 'अपिचेत् सुदुराचारः" अर्थात् श्रीकृष्ण स्वयं कहे हैं - यदि अन्य देवता का भजन न करके केवल मेरा भजन ही करता है, तो, वह सुदुराचार होने पर भी साधु है । इस प्रमाण से ज्ञात होता है कि—धर्म शास्त्रोक्त निषेध लङ्घन करके अन्य देवता की उपासना वर्जन पूर्वक श्रीकृष्ण भजन करने पर वैष्णव भाव विदूरित नहीं होता है । पूर्वोक्त लक्षणाक्रान्त रुचिमान भक्त के पक्ष में रुचि के कारण, धर्म शास्त्रोक्त निषिद्ध आचरण के प्रति विद्वेष बुद्धि होना स्वाभाविक है । कारण, श्रीकृष्ण भजन में रुचिमान् भक्त की इच्छा मोक्ष में ही नहीं रहती है, अतएव घृणित मायिक विषयों के प्रति विद्वेष स्वाभाविक रूप से ही होगा । यदि दैवात् अनवधानता वशतः विकर्म्म उपस्थित भी होता तो—वह तत् क्षणात् विनष्ट हो जाता है । भा० ११।५।४२ में उक्ताभिप्राय को सुस्पष्ट रूप से कहा ।

"विकर्म्मयच्चोत्पतितं कथञ्चित् धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः ॥

अर्थात् श्रद्धालु भक्त के हृदय में यदि किसी प्रकार विकर्म्म उपस्थित होता है तो, भक्त प्रिय श्रीहरि तत् क्षणात् उस को विदूरित कर देते हैं । अनन्तर वैष्णव शास्त्रोक्त विधि निषेध का विचार उपस्थित करते हैं । वैष्णव शास्त्रोक्त विधि निषेध का तात् पर्य्य श्रीविष्णु सन्तोष पर ही है. इस को सुनकर श्रीविष्णु सन्तोषक भजन में रुचिमान् व्यक्ति की स्वाभाविकी प्रवृत्ति एवं अप्रवृत्ति होती है । अर्थात् जो कार्य्य करने से विष्णु सन्तुष्ट होते हैं, उस में प्रवृत्ति होती है, एवं जिस प्रकार कार्य्य करने से श्रीविष्णु असन्तुष्ट होते हैं, उस से निवृत्ति बुद्धि स्वाभाविक रूप से होती है । कारण, प्रीति जाती का एकमात्र जीवन श्रीकृष्ण सन्तोष ही है । अतएव जिस प्रकार आचरण करने से श्रीकृष्ण सन्तोष होता है, रागानुगीय साधक—उस विवरण को सुनकर जो रागात्मक सिद्ध भक्त के आनुगत्य भजन करता रहता है, उस के द्वारा अपर कर्त्तव्याकर्त्तव्य अनुष्ठित हुआ है, अथवा नहीं इस विषय का अनुसन्धान करने की अपेक्षा उस साधक को नहीं रहता है । किन्तु जिस भक्तचङ्ग का अनुष्ठान करने से श्रीकृष्ण सन्तोष होता है, उस में भी

भवतीत्येव विशेषः । अत्र क्वचिच्छास्त्रोक्त-क्रमविध्यपेक्षा च रागरुच्यैव प्रवर्त्ततेति रागानुगान्तःपात एव । ये च श्रीगोकुलादिविराजि-रागात्मिकानुगास्तत्परास्ते तु श्रीकृष्णक्षेम-तत्संसर्गान्तरायाभावादिकाम्यात्मक-तदभिप्राय-रीत्यैव वैष्णवलौकिक धर्म्मानुष्ठानं कुर्व्वन्ति । अतएव रागानुगायां रुचेरेव सद्धर्म्म प्रवर्त्तकत्वात् "श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे" इत्येतद्वाक्यस्य न तद्वर्त्मभक्तिविषयत्वम्, (गी० ९।३०) "अपि चेत् सुदुराचारः" इत्यादि-विरोधाच्च च विधि-वर्त्मभक्तिविषयत्वम्, किन्तु वाह्यशास्त्रनिर्मित-बुद्धर्षभ-दत्तात्रेयादि-भजनवर्त्मविषयत्वमेव । तथोक्तम्—

"वेदधर्मविरुद्धात्मा यदि देवं प्रपूजयेत् । स याति नरकं घोरं यावदाहूतसंप्लवम् ॥"१०११॥ इति ।

रागानुगायां विध्यप्रवर्त्तितायामपि न वेदवाह्यत्वम्, वेदवैदिकप्रसिद्धैव सा,—तत्र तत्र

सिद्ध रागात्मक भक्त की प्रेम परिपाटी में रुचि का उदय हुआ है । वह रागात्मक भक्त, उस भक्तयङ्ग का अनुष्ठान अति आदर के सहित करता है । इस प्रकार सुनने से विशेष आग्रह भक्तयङ्ग अनुष्ठान में होता है । किसी किसी भक्तयङ्ग साधन में शास्त्र कथित क्रम विधि की अपेक्षा भी राग रुचिके द्वारा ही प्रवर्त्तित होती है । अतएव शास्त्रोक्त क्रमविधि भी रागानुगा की ही अन्तर्वर्त्ती होती है । सार कथा यह है कि—रागरुचि के द्वारा जो जो भक्तयङ्ग अथवा विधि क्रम अनुष्ठित होता है, वह रागानुगा का ही अन्तर्भुक्त है ।

जो साधक, श्रीगोकुलादि में विराजमान रागात्मिका अनुगत होने के कारण, श्रीगोकुल वासी के आचरण तत् पर हैं, वे—श्रीकृष्ण के मङ्गल हेतु एवं श्रीकृष्ण के सङ्ग लाभ के अन्तराय निवृत्ति हेतु कामनायुक्त होकर व्रज वासी जन गण के अभिप्रायानुसार ही लौकिक धर्मानुष्ठान करते हैं । अर्थात् कोई कोई रागानुगीय भक्त—श्रीशिवपूजा, सूर्य्य पूजा, सत्यनारायण पूजा, प्रभृति लौकिक धर्मानुष्ठान समूह श्रीकृष्ण के कल्याणार्थ करते हैं, एवं निज श्रीकृष्ण प्राप्ति अन्तराय दूरी करणार्थ अनुष्ठान भी करते हैं । अतएव रागानुगा में रुचि ही सद्धर्म का प्रवर्त्तक है । अतएव "श्रुति स्मृतीममैवाज्ञे" इत्यादि वाक्य रागानुगीय भक्त के पक्ष में प्रयोज्य नहीं है । "अपिचेत् सुदुराचारः" इत्यादि वाक्य के सहित विरोध उपस्थित होने के कारण, उक्त वाक्य विधि मार्ग के साधक के पक्ष में भी प्रयोज्य नहीं है । किन्तु वेद वाह्य शास्त्र निर्म्मित बुद्ध ऋषभ, दत्तात्रेय प्रभृति प्रदर्शित भजन मार्ग विषयक ही उस वाक्य को जानना होगा, अर्थात् श्रुति स्मृति पुराणोक्त विधि के विना ऐकान्तिकी श्रीहरि भक्ति, उत्पात के निमित्त होती है, अर्थात् श्रीहरि वहिर्मुखता सम्पादक होती हैं, यह कथा वैधी वा रागानुगा भक्ति में प्रयोज्य नहीं है, अर्थात् वैधी वा रागानुगीय साधक को लक्ष्य करके नहीं कहा गया है । किन्तु वेद वाह्य शास्त्र निर्मित बुद्ध, ऋषभ, एवं दत्तात्रेय प्रभृति के द्वारा प्रदर्शित भजन पथिक को लक्ष्य करके ही कहा गया है । उस अभिप्राय से ही कहा गया है—

"वेदधर्मविरुद्धात्मा यदि देवं प्रपूजयेत् ।
स याति नरकं घोरं यावदाहूतसंप्लवम् ॥"१०११॥

अर्थात् यदि कोई वेद विरुद्ध आचरण परायण होकर ऐकान्तिक भाव से देव पूजा करता है तो, वह प्रलय काल पर्य्यन्त घोरतर नरक वासी होता है ।

रागानुगा भक्ति में विधि की अपेक्षा न होने पर भी रागानुगा भक्ति वेद वाह्य नहीं है, किन्तु वेद एवं वैदिक प्रसिद्धा है । कारण, वेद एवं वैदिक विधि में रागानुगीय भक्ति की रुचि है । वेद में यद्यपि बुद्ध,

रुचित्वात् । वेदेषु बुद्धादीनान्तु वर्णनं वेदवाह्यं विरुद्धत्वेनैव, यथा भ(ा० १।३।२४)—

"ततः कलौ संप्रवृत्ते सम्मोहाय सुरद्विषाम् ।
बुद्धो नाम्नाजिनसुतः कीकटेषु भविष्यति ।।"१०१२।। इत्यादि ।

तस्माद्भवत्येव रागानुगा समीचीना, तथा वैधीतोऽप्यतिशयवती च सा । मर्य्यादा-वचनं ह्यावेशार्थमेवेति दर्शितम् । स पुनरावेशो यथा रुचिविशेषलक्षण-मानसभावेन स्यात, न तथा विधिप्रेरणया, स्वारसिकमनोधर्म्मत्वात्तस्य । तत्र चास्तां तावदनुकूलभावः, परमनिषिद्धेन प्रतिकूलभावेनाप्यावेशो झटिति स्यात्, तदावेश-सामर्थ्येन प्रातिकूल्य दोषहानिः, स्यात्, सर्व्वानर्थनिवृत्तिश्च स्यादिति । भावमार्गस्य बलवत्त्वे दृष्टान्तोऽपि दृश्यते । तत्र यद्यनुकूल-भावः स्यात्तदा परमैकान्तिसाध्य एवासौ ।

अथ भावमार्गसामान्यस्य बलवत्त्वं दर्शयितुं प्रकरणमुत्थाप्यते, "श्रीयुधिष्ठिर उवाच (भा० ७।१।१५)—

(३१२) अहो अत्यद्भुतं ह्येतद्दुर्लभैकान्तिनामपि ।
वासुदेवे परे तत्त्वे प्राप्तिश्चैद्यस्य विद्विषः ।।"१०१३।।

ऋषभ, एवं दत्तात्रेय का नामोल्लेख है, तथापि वह वर्णन वेद विरुद्धाचरण कारी रूप में ही हुआ है । अर्थात् उन सब का आचरण जो वेद विरुद्ध है, उसका वर्णन वेद एवं वेदानुगत शास्त्र में ही है । जिस प्रकार—श्रीभागवत १।३।२४ में उक्त है,—

"ततः कलौ संप्रवृत्ते सम्मोहाय सुरद्विषाम् ।
बुद्धो नाम्नाजिनसुतः कीकटेषु भविष्यति ।।"१०१२।।

अनन्तर कलियुग प्रवृत्त होने पर असुर वृन्द को मुग्ध करने के निमित्त गया प्रदेश में बुद्ध नामक अञ्जन पुत्र आविर्भूत होंगे । यह उक्ति सुस्पष्ट है । अतएव रागानुगा भक्ति ही समस्त भक्ति से समीचीना है—इस विषय में सन्देहावकाश नहीं है । वैधी भक्ति से भी रागानुगा भक्ति अतिशय महती है । शास्त्रीय जो मर्य्यादा है—अर्थात् विधि निशेश है—उस का उद्देश्य है—साधक मन को निज अभीष्ट देव में आविष्ट कराना । रुचि विशय लक्षण मानस भाव में जिस प्रकार मानस आवेश होता है, उस प्रकार आवेश, विधि प्रेरणा से नहीं होता है । कारण, रुचि—स्वारसिकी है, अर्थात् स्वाभाविक मनोधर्म्म है । उस के मध्य में अनुकूल भाव—और भी अधिकतर स्वाभाविक है । परम निषिद्ध प्रतिकूल भाव से भी अधिकतर अति सत्वर आवेश होता है । उस प्रकार आवेश से प्रतिकूल दोष विदूरित होता है, एवं सर्वानर्थ निवृत्ति भी होती है । जिस किसी प्रकार से हो, श्रीकृष्ण में आवेश होने से ही जीव का परम कल्याण साधित होता है । मानसिक भाव मार्ग की बलवत्ता के विषय मैं अनेक दृष्टान्त भी है । उस के मध्य में भाव मार्ग यदि अनुकूल भावात्मक होता है । तो ऐकान्तिक भक्त वृन्द के पक्ष में भी परमसाध्य होता है । अनन्तर साधारण भावमार्ग की बलवत्ता को प्रतिपादन करने के निमित्त प्रकरण उपस्थित करते हैं—भा० ७।१।१५ में श्रीयुधिष्ठिर महाराज देवर्षि नारद को कहे थे—

(३१२) "अहो अत्यद्भुतं ह्येतद् दुर्लभैकान्तिनामपि ।

एकान्तिनां परमज्ञानिनामपि ॥

३१३ । यतस्तस्य सा न सम्भवति, (भा० ७।१।१६)—

(३१३) "एतद्वेदितुमिच्छामः सर्वं एव वयं मुने ।
भगवन्निन्दया वेणो द्विजैस्तमसि पातितः ॥"१०१४॥

तमसि नरके,—बहुनरकादिभोगानन्तरमेव पृथुजन्मप्रभावोदयेन तस्य वामनपुराणे सद्गतिश्रवणात् ॥

३१४ । (भा० ७।१।१७)—

(३१४) "दमघोषसुतः पाप आरभ्य कलभाषणात् ।
सम्प्रत्यमर्षी गोविन्दे दन्तवक्रश्च दुर्म्मतिः ॥"१०१५॥

स्पष्टम् ॥

३१५ । तत्रोत्तरं श्रीनारद उवाच यथा—अहो भगवन्निन्दकस्य नरकपातेन भाव्यमिति वदतस्तव कोऽभिप्रायः?—भगवत्पीड़ाकरत्वाद्वा, तदभावेऽपि सुरापानादिवन्निषिद्धनिन्दा-

---

वासुदेवे परे तत्त्वे प्राप्ति श्चैद्यस्य विद्विषः ॥"१०१३॥

श्रीकृष्ण द्वेषी शिशुपाल का वासुदेवाख्य परतत्त्व में लीन होना अत्यन्त विस्मयकर है । कारण, ऐकान्तिक परम ज्ञानी गण के पक्ष में भी वासुदेव तत्त्व में लीन होना अत्यन्त असम्भव है, कारण वे सब निर्विशेष ब्रह्म स्वरूप में ही लीन होते हैं । यहाँ ऐकान्ती शब्द का अर्थ-परम ज्ञानी है ।

३१३ । भा० ७।१।१६ में श्रीयुधिष्ठिर देवर्षि नारद को कहे थे—

(३१३) "एतद्वेदितुमिच्छामः सर्वं एव वयं मुने ।
भगवन्निन्दया वेणो द्विजैस्तमसि पातितः ॥"१०१४॥

श्रीकृष्ण द्वेषी शिशु पालका वासुदेवाख्य परतत्त्व में लीन होना अतीव आश्चर्य्य है । कारण, ऐकान्तिक परम ज्ञानी वृन्द के पक्ष में भी वासुदेव तत्त्व में लीन होना अत्यन्त असम्भव होता है । उन्होंने और भी कहा—हे मुनिवर ! हम सब जानना चाहते हैं कि—भगवान् की निन्दा करने के अपराध से ब्राह्मणों ने वेणराज को निविड़ तमसाच्छन्न नरक में निपातित किया था । कारण, अनेक नरक भोग के अनन्तर देह मन्थन से आविर्भूत पृथु महाराज के जन्मोदय प्रभाव से उस की सद्गति हुई थी, यह वृत्तान्त सुनने में आता है ॥३१३॥

३१४ । भा० १।१।१७ में उन्होंने और भी कहा—

(३१४) "दमघोषसुतः पाप आरभ्य कलभाषणात् ।
सम्प्रत्यमर्षी गोविन्दे दन्तवक्रश्च दुर्म्मतिः ॥"१०१५॥

पापमूर्त्ति दमघोष पुत्र शिशु पाल कलभाषण से आरम्भ कर श्रीगोविन्द द्वेषी थे । सम्प्रति उस के भ्राता दुर्म्मति दन्तवक्र भी श्रीगोविन्द को विद्वेष कर रहा है ॥३१४॥

३१५ । प्रश्नोत्तर में श्रीनारद कहे थे—श्रीभगवान् की निन्दा करने से अवश्यम्भावी नरकपात

श्रवणाद्वा। तत्र तावद्विमूढ़ै-र्जनैर्निन्दादिकं प्राकृतान् तमआदिगुणानुद्दिश्यैव प्रवर्त्यते। ततः प्रकृतिपर्य्यन्ताश्रयस्य तत्कृतनिन्दादेरप्राकृतगुणविग्रहादौ तस्मिन् प्रवृत्तिर्नास्त्येव, न च जीववत् प्रकृतिपर्य्यन्ते वस्तुजाते भगवदभिमानोऽस्ति, ततश्च तेन तस्य पीड़ापि नास्त्येव। तदेतदाह सार्द्धैस्त्रिभिः (भा० ७।१।२२)—

(३१५) "निन्दन-स्तव-सत्कार-न्यक्कारार्थं कलेवरम्।
प्रधान-परयो राजन्नविवेकेन कल्पितम्॥"१०१६॥

निन्दनं दोषकीर्त्तनम्, न्यक्कारस्तिरस्कारः, निन्दनस्तुत्यादि--ज्ञानार्थं प्रधानपुरुषयोर-विवेकेन जीवानां कलेवरं कल्पितं रचितम्॥

३१६। ततश्च (भा० ७।१।२३--२४)—

(३१६) "हिंसा तदभिमानेन दण्डपारुष्ययोर्यथा।
वैषम्यमिह भूतानां ममाहमिति पार्थिव॥१०१७॥
यन्निबद्धोऽभिमानोऽयं तद्वधात् प्राणिनां बधः।
तथा न यस्य कैवल्यादभिमानोऽखिलात्मनः।
परस्य दमकर्त्तुर्हि हिंसा केनास्य कल्प्यते॥"१०१८॥

होता है, इस प्रकार कहने का अभिप्राय आपका क्या है? भगवान् की निन्दा करने से भगवान् की मनः पीड़ा होती है,—अतः निन्दाकारी का नरक पात होता है, अथवा श्रीभगवान् की मनः पीड़ा न होने पर भी मद्य पानादि के समान वेद निषिद्ध भगवत् निन्दा श्रवण अथवा कीर्त्तन करने के निमित्त नरक पात होगा। एतदुभय के मध्य में मायामूढ़ व्यक्तिगण, प्राकृत तमः प्रभृति गुण को उद्देश्य करके ही निन्दा वा स्तुति प्रभृति करते रहते हैं। अतएव प्रकृति पर्य्यन्त सर्वाश्रय श्रीभगवान् के प्राकृत तमः प्रभृति गुण के अवलम्बन से आचरित निन्दादि की प्रवृत्ति अप्राकृतगुण विग्रहमें नहीं हो सकती है। अर्थात् प्राकृत गुणमय निन्दा वा स्तुति, प्राकृत गुणातीत श्रीभगवान् की सच्चिदानन्दमयमूर्त्ति में प्रवृत्त नहीं हो सकती है। विशेषतः जीव के समान प्राकृत एवं प्रकृति कार्य्य स्वरूप किसी भी वस्तु में श्रीभगवान् का अभिमान् नहीं है। अतएव प्राकृत गुणावलम्बी निन्दा द्वारा प्राकृत गुणातीत श्रीकृष्ण की पीड़ा भी नहीं है। इस विवरण को भा० ७।१।२२ से आरम्भ कर ७।१।२३--२४—सार्द्ध तीन श्लोकों के द्वारा कहते हैं—

(३१५) "निन्दनस्तव सत्कारन्यक्कारार्थं कलेवरम्।
प्रधान परयो राजन्नविवेकेन कल्पितम्।-१०१६॥

निन्दन शब्द का अर्थ है—दोष, कीर्त्तन, न्यक्कार का अर्थ है—तिरस्कार, स्तव—प्रशंसावाक्य, सत्कार—सम्मान, इन सब को समझने के निमित्त--प्रकृति पुरुष के अविवेक के द्वारा जीव शरीर समूह की रचना हुई है॥३१५॥

३१६। तदनन्तर भा० ७।१।२३--२४ में उक्त है—

(३१६) "हिंसा तदभिमानेन दण्डपारुष्ययोर्यथा।
वैषम्यमिह भूतानां ममाहमिति पार्थिव॥१०१७॥

इह प्राकृते लोके यथा तत्कलेवराभिमानेन भूतानां ममाहमिति वैषम्यं भवति, यथा तत्कृताभ्यां दण्ड--पारुष्याभ्यां ताड़न-निन्दाभ्यां निमित्तभूताभ्यां हिंसा च भवति, यथा यस्मिन्निबद्धो-ऽभिमानस्तस्य देहस्य बधात् प्राणिनां बधश्च भवति, तथा यस्याभिमानो नास्तीत्यर्थः। अस्य परमेश्वरस्य हिंसा केन हेतुना कल्प्यते, अपि तु न केनापीत्यर्थः। तथाभिमानाभावे हेतुः--कैवल्यात्, (भा० ७।१।३४) "देहेन्द्रियासुहीनानां वैकुण्ठपुरवासिनाम्" इति कैमुत्यादिप्राप्तशुद्धत्वात्तादृशनिन्दाद्यगम्यशुद्ध-सच्चिदानन्दविग्रहत्वादित्यर्थः। तस्य तदगम्यत्वञ्च (७।२५) "नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः" इति श्रीभगवद्गीतातः।

यन्निबद्धोऽभिमानोऽयं तद्वधात् प्राणिनां बधः।
तथा न यस्य कैवल्यादभिमानोऽखिलात्मनः।
परस्य दमकर्त्तुर्हि हिंसा केनास्य कल्प्यते॥"१०१८॥

जिस प्रकार प्राकृत देह में अभिमान के कारण, प्राणिवृन्द के मध्य निज एवं पर यह वैषम्य उपस्थित होता है, एवं उस देह कृत ताड़न एवं निन्दा द्वारा हिंसा भी होती है। और जिस प्रकार शरीर में ममत्व होने के कारण, शरीर को बध करने से प्राणी वृन्द का बध भी सम्पन्न होता है। किन्तु जिस का उस देह में अभिमान नहीं है, उस प्रकार श्रीभगवान् की हिंसा किस अवलम्बन से हो सकती है? तात्पर्य्य यह है कि—इस जगत् में निन्दास्तुति, देह को लक्ष्य करके ही होती है। अर्थात् यह व्यक्ति सुन्दर है, यह कुत्सित है, इस प्रकार स्तव, निन्दा, ऐवं देह को ताड़न, एवं देहाभिमानी को भर्त् सना की जाती है। शरीर में जिस का जितना अभिमान, ममत्व, वा आवेश है, उतनी परिमाण में मेरी निन्दा की प्रशंस की, द्वेष किया, सम्मान किया, इस प्रकार अभिमान उत्पन्न होता है। जिस का गुण मयदेह में अभिमान नहीं है, देह दृष्टि से कृतस्तव, ताड़न, अपमान प्रभृति से उस में सुख दुःखोत्पन्न नहीं होता है। कारण, आत्म दृष्टि से किसो प्रकार निन्दास्तुति नहीं की जाती है। यदि प्राकृत देहाभिमान शून्य जीवन्मुक्त पुरुष में निन्दास्तुति प्रभृति जन्य सुख दुःखोत्पन्न नहीं होता है, तब सब प्रकारसे प्रकृति सम्बन्ध रहित सच्चिदानन्द स्वरूप श्रीभगवान् की निन्दा करने से उन में तो सुख दुःखोत्पन्न सुतरां हो ही नहीं सकता है। यद्यपि श्रीभगवान् सविग्रह हैं, तथापि श्रीविग्रह एवं श्रीभगवान् भिन्न वस्तु नहीं हैं। जीव के समान देह देही भेद श्रीभगवान् में नहीं है। श्रीविग्रह ही श्रीभगवान् एवं श्रीभगवान् ही श्रीविग्रह हैं। श्रीभगवान् के श्रीविग्रह जो प्रकृति स्पर्श शून्य है भा० ७।१।३४ में श्रीयुधिष्ठिर महाराज ने कहा भी है—

"देहेन्द्रियासुहीनानां वैकुण्ठपुरवासिनाम्" देह, इन्द्रिय एवं प्राण हीन सम्बन्ध हीन वैकुण्ठ के द्वार पाल वृन्द में प्राकृत सम्बन्ध कैसे हो सकता है? सारार्थ यह है कि—श्रीजय विजय प्रभृति के देह, इन्द्रिय, प्राणादि नहीं हैं, अथच वैकुण्ठ पुर के द्वार पाल हैं। देहेन्द्रिय प्राण शून्य व्यक्ति के पक्ष में द्वार पाल होना सर्वथा असम्भव है। अतएव अर्थापत्ति प्रमाण से उन में अप्राकृत देहेन्द्रियदि स्थापित हुए हैं। विष्णु के द्वारपालों के शरीरादि यदि अप्राकृत होते हैं तो, सुतरां ही श्रीविष्णु के देहेन्द्रियादि अप्राकृत हैं। अतएव तादृश निन्दादि व्यवहार के अगम्य शुद्ध सच्चिदानन्द विग्रह होने के कारण, श्रीकृष्ण की निन्दा करने से श्रीकृष्ण की मनः पीड़ा नहीं हो सकती है। श्रीकृष्ण—जो निन्दादि के अगम्य हैं, उसका कथन भगवद् गीता के ६।२५ में सुस्पष्ट रूप से है—

"नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः॥

तादृशवैलक्षण्ये हेतुः—अखिलानामात्मभूतस्य, तत्र हेतुः – परस्य प्रकृतिवैभवसङ्ग-रहितस्य, हिंसाया अविषयत्वे हेत्वन्तरम्—दमकर्त्तुः, परमाश्चर्य्यानन्तशक्तित्वात् सर्वेषामेव शिक्षाकर्त्तुरिति ॥

३१७। तदेवं यस्माद्भगवतो निन्दादिकृतं वैषम्यं नास्ति, तस्माद्येन केनाप्युपायेन (भा० १०।१२।३९) "सकृद्यदङ्ग प्रतिमान्तराहिता" इत्यादिवत् तदाभासमपि ध्यायतस्तदावेशात्तत्र वैरेणापि ध्यायतस्तदावेशेनैव निन्दादिकृतपापस्यापि नाशात्तत्सायुज्यादिकं युक्तमित्याशयेनाह—तस्मादित्यादिभिः। तथाहि (भा० ७।१।२५)—

(३१७) "तस्माद्वैरानुबन्धेन निर्वैरेण भयेन वा।
स्नेहात् कामेन वा युञ्ज्यात् कथञ्चिन्नेक्षते पृथक् ॥"१०१९॥

युञ्ज्यादिति स्नेह—कामादीनां विधातुमशक्यत्वात् सम्भावनायामेव लिङ्—वैरानुबन्धादीनामेकतरेणापि युञ्ज्याद्ध्यायेच्चेत्, तदा भगवतः पृथङ् नेक्षते, तदाविष्टो भवतीत्यर्थः।

श्रीकृष्ण, योगमाया रूप स्वरूप शक्त्यावृत होने के कारण सब के नयन गोचरी भूत नहीं होते हैं। उस को "तथा न यस्य कैवल्यादभिमानोऽखिलात्मनः" यहाँ उनको अखिलात्मा कहा गया है। अर्थात् श्रीकृष्ण सब के आत्मा परमात्मा हैं, परमात्मा के शरीरादि प्राकृत नहीं होते हैं, यह शास्त्र प्रसिद्ध है। उस के बाद उस श्लोक में उक्त है—"परस्य दमकर्त्तुर्हि हिंसा केनास्य कल्पते" परमात्मा जो प्राकृत देहेन्द्रियादि के अविषय हैं, इस का कथन 'परस्य' शब्द से हुआ है। अर्थात् श्रीकृष्ण, प्रकृति वैभव सङ्ग शून्य हैं। अतएव श्रीकृष्ण—हिंसा के अविषय हैं. उक्तार्थ हेतु विशेषण है—"दमकर्त्तुः" अर्थात् श्रीकृष्ण, परमाश्चर्य्य अनन्त शक्ति समन्वित होने के कारण, सब को शिक्षा प्रदाता हैं। अतएव जो सब को शिक्षा प्रदान करते हैं, उनकी हिंसा कौन कर सकता है ॥३१६॥

७१७। पूर्वोक्त हेतु के कारण जब श्रीकृष्ण में निन्दादि कृत वैषम्य नहीं है, तब जिस किसी प्रकार से श्रीकृष्ण में मानसिक आवेश होने जीव का परम कल्यान साधित होगा। इस विषय में भा० १०।१२।३१ में उक्त है—"सकृद्यदङ्ग प्रतिमान्तराहिता" मनोमयी भागवतीं ददौ गतिम्" अर्थात् जो व्यक्ति एकबार मात्र श्रीकृष्ण की मनोमयी में मनसा आविष्ट होता है, उस को श्रीकृष्ण भागवती गति प्रदान करते हैं, अतएव वैरभाव से भी श्रीकृष्ण का ध्यान करके चित्त आविष्ट होने से भगवत् निन्दादि कृत पाप विनष्ट हो जाता है, फलतः उस से सायुज्या मुक्ति लाभ आश्चर्य्य जनक नहीं है। इस अभिप्राय से ही कहते हैं—

(३१७) "तस्माद्वैरानुबन्धेन निर्वैरेण भयेन वा।
स्नेहात् कामेन वा युञ्ज्यात् कथञ्चिन्नेक्षते पृथक् ॥"

देवर्षि कहे थे—राजन्! अतएव वैरानुबन्ध से हो अथवा निर्वैर से ही हो, भय से हो, किंवा स्नेह से हो, अथवा काम से हो, श्रीकृष्ण में मानसिक आवेश स्थापन ही कल्याण कर है, वह मनोयोग, जिस किसी प्रकार से श्रीभगवान् में होना चाहिये, तद्व्यतीत वस्तु में मानसिक आवेश दोषावह है। यहाँ "युञ्ज्यात्" यह क्रिया सम्भावनार्थ में लिङ् है। कारण, स्नेह वा काम प्रभृति का विधान नहीं हो सकता है। अर्थात् स्नेह करो, काम करो, इस प्रकार नियोग से स्नेह काम नहीं होता है, कारण, स्नेह एवं काम हार्दिक वस्तु हैं, अर्थात् स्वाभाविक हैं। सुतरां उस में उपदेश की अपेक्षा नहीं है। पूर्वोक्त वैरानुबन्ध

वैरानुबन्धो वैरभावाविच्छेदः, निर्वैरं वैराभावमात्रमौदासीन्यमुच्यते, तेन कामादिराहित्य मप्याyाति–वैरादिभावराहित्यमित्यर्थः । तेन वा वैरादिभाव-राहित्येन युञ्ज्यात्, विहितत्व मात्रबुद्धया ध्यायेत्, ध्यानोपलक्षितं भक्तियोगं कुर्य्यादित्यर्थः । स्नेहः कामातिरिक्तः परस्परम-कृत्रिमः प्रेमविशेषः, स तु साधके तदभिरुचिरेव ॥

३१८ । तदेवं सर्वेषां तदावेश एव फलमिति स्थिते झटिति तदावेशसिद्धये तेषु भाव-मयमार्गेषु निन्दितेनापि वैरेण विधिमय्या भक्तेर्न साम्यमित्याह, (भा० ७।१।२६)—

(३१८) "यथा वैरानुबन्धेन मर्त्यस्तन्मयतामियात् ।
न तथा भक्तियोगेन इति मे निश्चिता मतिः ॥"१०२०॥

वैरानुबन्धेनेति भयस्याप्युपलक्षणम् । यथा शैघ्र्येण तन्मयतां तदाविष्टताम्, भक्तियोगेन विहितत्व-मात्रबुद्धया क्रियमाणेन तु न तथा ॥

३१९ । आस्तां तादृशवस्तुशक्तियुक्तस्य तेषु प्रकाशमानस्य भगवतो भगवद्विग्रहाभासस्य वा वार्त्ता, प्राकृतेऽपि तद्भावमात्रस्य भाव्यावेशफलं महद्दृश्यत इति सदृष्टान्तं तदेव

प्रभृति के द्वारा ध्यान करने से भगवद् भिन्न वस्तु में चित्त आविष्ट न होकर भगवान् में ही चित्त आविष्ट होता है । वैरानुबन्ध शब्द का अर्थ है, अविच्छिन्न वैरभाव । निर्वैर शब्द का अर्थ है—वैरभाव का अभाव । अर्थात् उदासीन भाव' इस से स्नेह कामादि राहित्य सूचित हुआ है । अर्थात् वैरभाव से ही, अर्थात् वैरादि भाव राहित्य से ही हो, ध्यान करना कर्त्तव्य है । यहाँ ध्यान शब्द से भक्ति योग को जानना चाहिये ।

यहाँ 'स्नेह शब्द से काम भिन्न परस्पर अकृत्रिम पारस्परिक प्रेम विशेष को जानना होगा । उक्त 'प्रेम विशेष शब्द से साधक की प्रेम में अभिरुचि को जानना होगा ॥३१७॥

३१८ । अतएव, समस्त भावों का मुख्य फल श्रीकृष्ण में आवेश ही मुख्य फल है । यदि उस प्रकार आवेश ही मुख्य फल होता है तो, सत्वर उस प्रकार आवेश सिद्धि हेतु पूर्वोक्त भावमय मार्ग के मध्य में निन्दित वैरभाव के सहित विधिमयी भक्ति की कुछ समता नहीं है । उसका परिज्ञान कराने के निमित्त भा० ७।१।२६ में देवर्षि ने कहा है—

(३१८) "यथा वैरानुबन्धेन मर्त्यस्तन्मयतामियात् ।
न तथा भक्तियोगेन इति मे निश्चिता मतिः ॥१०२०॥

अर्थात् हे राजन् ! जिस प्रकार वैरानुबन्ध से मानव तन्मयता को प्राप्त करता है, भक्ति योग से उस प्रकार तन्मयता को प्राप्त नहीं करता है । यही मेरी सुनिश्चित धारणा है । यहाँ वैरानुबन्ध शब्द से उपलक्षण द्वारा भय को ग्रहण करना चाहिये । अर्थात् वैरानुबन्ध एवं भयानुबन्ध से जिस प्रकार आशु तन्मयता श्रीभगवान् में होती है– तर्त्तव्य मात्र बुद्धि से अनुष्ठित भक्ति योग के द्वारा उस प्रकार भगवदा-विष्टता नहीं होती है । ॥३१८॥

३१९ । उक्त विरुद्ध भावापन्न व्यक्तियों का श्रीभगवान् में एवं श्रीभगवद् विग्रह में आवेशाभाव की कथा दूर है, प्राकृत वस्तु में भी वैरानुबन्ध एवं भयानुबन्ध से भावनीय वस्तु में जो आवेश होता है, उस का भी महत् फल दृष्ट होता है । सदृष्टान्त उसका उल्लेख करते हैं– भा० ७।१।२७-२८ में उक्त है—

प्रतिपादयति, (भा० ७।१।२७-२८) —

(३१९) "कीटः पेशस्कृता रुद्धः कुडयायां तमनुस्मरन् ।
संरम्भभययोगेन विन्दते तत्स्वरूपताम् ॥१०२१॥
एवं कृष्णे भगवति मायामनुज ईश्वरे ।
वैरेण पूतपाप्मानस्तमापुरनुचिन्तया ॥"१०२२॥

संरम्भो द्वेषो भयञ्च ताभ्यां योगस्तदावेशस्तेन तत्स्वरूपतां तस्य स्वमात्मीयं रूपमाकृतिर्यस्य तत्तां तत्सारूप्यमित्यर्थः । एवमिति एवमपीत्यर्थः । नराकृतिपरब्रह्मत्वात् माययैव प्राकृतमनुजतया प्रतीयमाने । ननु कीटस्य पेशस्कृद्द्वेषे पापं न भवति, तत्र तु तत् स्यादित्याशङ्क्याह,—वैरेण यानुचिन्ता तदावेशस्तयैव पूतपाप्मानस्तद्ध्यानादेशस्य तादृक् शक्तित्वादिति भावः ॥

३२० । न च शास्त्रविहितेनैव भगवद्धर्म्मेण सिद्धिः स्यात्, न तदविहितेन कामादिनेति वाच्यम् । यतः (भा० ७।१।२९)—

(३२०) "कामाद्द्वेषाद्भयात् स्नेहाद्यथा भक्त्येश्वरे मनः ।
आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिं गताः ॥"१०२३॥

---

(३१९) "कीटः पेशस्कृतारुद्धः कुडयायां तमनुस्मरन् ।
संरम्भ भययोगेन विन्दते तत्स्वरूपतान् ॥"१०२१॥
एवं कृष्णे भगवति मायामनुज ईश्वरे ।
वैरेण पूतपाप्मानस्तमापुरनुचिन्तया ॥"१०२२॥

एक कीट दूसरे कीट के द्वारा आनीत एवं निज गर्त्त में आबद्ध होकर द्वेष एवं भय से उत्थित आनयन कारी कीट में जो आवेश होता है, अर्थात् द्वेष एवं भय से निरन्तर चिन्तन के द्वारा आनीत कीट आनयन कारी के समान रूप को प्राप्त कर लेता है । इस प्रकार ही जो मायिक मनुष्य के समान प्रतिभात होते हैं, वस्तुतः अप्राकृत पर ब्रह्म स्वरूप हैं—उन में आविष्ट होने से आविष्ट व्यक्ति की मुक्ति हो जाती है । "मायामनुज" शब्द में प्रयुक्त माया शब्द का अर्थ है—दया । अर्थात् विभु चैतन्य होकर भी भक्त के प्रति कृपा करके जो प्राकृत मनुष्यवत् प्रतिभात होते हैं । कारण, परिच्छिन्न भक्तिमान् जीव के निकट में अपरिच्छिन्न रूप में आविर्भूत होने से भक्त ग्रहण कर नहीं सकते हैं, अतः परिच्छिन्न रूप में ही आविर्भूत होते है । इस अभिप्राय से ही "मायामनुष्य" शब्द का उल्लेख हुआ । यहाँ प्रश्न हो सकता है कि—एक कीट जो अपर कीट के प्रति विद्वेष करता है, उस से उसका पाप नहीं होता है । किन्तु श्रीकृष्ण को द्वेष करने से पाप होता है ? इस के उत्तर में कहते हैं---"वैरेण पूतपाप्मानं" वैरभाव से जो अनवरत श्रीकृष्ण चिन्ता है—अर्थात् श्रीकृष्ण में आवेश है । उस आवेश के प्रभाव से विधौत पाप हो जाता है । कारण, श्रीभगवद् ध्यान की सामर्थ्य ही इस प्रकार है ॥३१९॥

३२० । इस प्रकार कहना भी समीचीन नहीं है-कि—शास्त्रीय विधि प्राप्त भगवद्धर्म के द्वारा सिद्धि होती है । किन्तु शास्त्रीय विधि शून्य कामादि के द्वारा सिद्धि नहीं हो सकती है । कारण, भा० ७।१।२९

यथा विहितया भक्त्या ईश्वरे मन आवेश्य तद्‌गतिं गच्छन्ति, तथैवाविहितेनापि कामादिना बहवो गता इत्यर्थः। तदघं तेषु कामादिषु मध्ये यद्द्वेषःभययोरघं भवति, तद्धित्वैव। भयस्यापि द्वेष-सम्बलितत्वादघोत्पादकत्वं ज्ञेयम्। अत्र केचित् काममप्यघं मन्यन्ते। तत्रेदं विचार्य्यते,—भगवति काम एव केवलः पापावहः, किंवा पतिभावयुक्तः, अथवा उपपतिभावयुक्त इति। स एव केवल इति चेत्, स किं द्वेषादिगणपातित्वात् तद्वत् स्वरूपेणैव वा, परमशुद्धे भगवति यदधरपानादिकम्, यच्च कामुकत्वाद्यारोपणं तेनातिक्रमेण वा, पापश्रवणेन वा। नाद्येन (भा० १०।२९।१३)—

"उक्तं पुरस्तादेतत्ते चैद्यः सिद्धिं यथा गतः।
द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताधोक्षजप्रियाः॥"१०२४॥

इत्यत्र द्वेषादेर्न्यक्कृतत्वात्, तस्य तु स्तुतत्वात्। अतश्च 'प्रियाः' इति स्नेहवत् कामस्यापि

में उक्त है—

(३२०) "कामाद्‌ द्वेषाद्‌ भयात् स्नेहाद्‌ यथा भक्त्येश्वरे मनः।
आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्‌गतिं गताः॥"१०२३॥

जिस प्रकार शास्त्रविधि प्रेरित होकर अनुष्ठित भक्ति के द्वारा परमेश्वर में मानसिक आवेश होने पर भावोचित सिद्धि लाभ होती है, उस प्रकार शास्त्र विधि के द्वारा अप्रेरित कामादि द्वारा भी अनेक व्यक्ति सिद्धि लाभ किये हैं, उक्त कामादि के मध्य में श्रीभगवान् को द्वेष करने से उन को भय करने से जो पाप होता है, भगवदावेश के फल से वह पाप विनष्ट हो जाता है। अतएव उक्त रीति से शिशुपाल पाप शून्य होकर मुक्त होकर पार्षद देह को प्राप्त किया था। यहाँ सन्देह हो सकता है कि—भगवान् को द्वेष करने से पाप होता है, किन्तु उन से भीत होने से पाप क्यों होगा? उत्तर में कहते हैं—भय के अभ्यन्तर में निगूढ़ भाव से विद्वेष रहता है। जिस प्रकार कंस—श्रीकृष्ण को भय करता था। किन्तु भय कारण, श्रीकृष्ण को वह कैसे विनष्ट करेगा—उस विषय में अनेक प्रयत्न भी उस ने निरन्तर किया था। यदि भय के अभ्यन्तर में द्वेष की सत्ता न हो तो भय पाप नहीं हो सकता है। कतिपय व्यक्ति---भगवान् के प्रति काम भाव को भी पाप मानते हैं। इस विषय में विचार करते हैं—श्रीभगवान् में केवल काम ही पापा वह है? अथवा पतिभाव युक्त काम पापावह है? किंवा उपपति भाव युक्त काम ही पाप वह है?

यदि कहा जाय कि भगवान् में काम भाव ही पापावह हैं, ऐसा होने पर वह काम भाव क्या द्वेषादि के समान ही पापावह है? किंवा पाप स्वरूप में ही परम विशुद्ध श्रीभगवान् में जो अधर पानादि हैं, एवं श्रीभगवान् में कामुकत्व प्रभृति का आरोप है, अर्थात् पति भाव युक्त अथवा उपपति भावयुक्त आरोप है, एवं उक्त आरोप जन्य श्रीभगवान् में जो मर्य्यादालङ्घन होता है, अथवा, श्रीभगवान् में काम-भाव पापावह है, इस प्रकार जो शास्त्र संवाद है, तज्जन्य ही क्या वह पापावह है? उस के मध्य में द्वेषादि गण के लिखित होने के कारण, वह पापा वह है—इस प्रकार सिद्धान्त नहीं किया जा सकता है। कारण, भा० १०।२९।१३ में श्रीशुकदेवने कहा है—

"उक्तं पुरस्तादेतत्ते चैद्यः सिद्धिं यथा गतः।
द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताधोक्षजप्रियाः॥"१०२४॥

प्रीत्यात्मकत्वेन तद्वदेव न दोषः। तादृशीनां कामो हि प्रेमैकरूपः, (भा० १०।३१।१९)-"यत्ते सुजात-चरणाम्बुरुहं स्तनेषु, भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु" इत्यादावतिक्रम्यापि स्वसुखं तदानुकूल्य एव तात्पर्य्य-दर्शनात्, सैरिन्ध्रचास्तु भावो रिरंसाप्रायत्वेन श्रीगोपीनामिव केवल-तत्तात्पर्य्याभावात्तदपेक्षयैव निन्दयते, न तु स्वरूपतः,-(भा० १०।४८।७) "सानङ्गतप्त-कुचयोः" इत्यादौ "अनन्तचरणेन रुचो मृजन्ती" इति, "परिरभ्य कान्तमानन्दमूर्त्तिम्" इति

हे राजन्! तुम्हारे जिज्ञासित विषयका उत्तर मैंने सप्तम स्कन्धके शिशु पाल प्रसङ्गमें दिया है, अर्थात् शिशुपाल यदि श्रीकृष्ण को विद्वेष कर सिद्धि प्राप्त कर सकता है तो अधोक्षज श्रीकृष्ण की प्रियतमा वृन्द प्रीति प्राप्त कर सिद्धि लाभ करेंगी—इस में संशय का अवसर कहाँ है? इस श्लोक के द्वारा द्वेष भाव को धिक्कारा गया है, एवं श्रीकृष्ण में काम भाव का स्तव किया गया है। तज्जन्य स्नेह के समान भगवत् विषयक काम भी प्रीत्यात्मक होने के कारण स्नेह के समान काम भी दोषावह नहीं है। श्रीव्रजसुन्दरी वृन्द के काम एवं प्रेम में किञ्चिन्मात्र भी भेद नहीं है। एतज्जन्य कथित है—

"प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्।
इत्युद्धवादयोऽप्येतं वाञ्छन्ति भगवत् प्रियाः॥"

श्रीव्रजसुन्दरी वृन्द के प्रेम ही काम के समान प्रतिभात होता है। आलिङ्गन चुम्बनादि विद्यमान होने के कारण-काम शब्द का प्रयोग होता है। तज्जन्य ही श्रीगोविन्द के अतिप्रिय श्रीउद्धव प्रभृति श्रीगोपी प्रेम की प्रार्थना करते रहते हैं। भा० १०।३१।१९ में उक्त है—

"यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु, भीताः शनैः प्रियदधीमहि कर्कशेषु"
इत्यादावतिक्रम्यापि स्वसुखं तदानुकूल्य एव तात्पर्य्य दर्शनात्॥

श्रीव्रजललनावृन्द की उक्ति है—हे प्रिय! तुम्हारे जिस चरण कमल को कठिन वक्षःस्थमे में धारण करते समय चरणतल में कितनी व्यथा होती होगी, इस भय से अति धीरे धीरे धारण करतीं हूँ, तुम तो उसी चरणों के द्वारा कठिन व्रज भूमि में विचरण कर रहे हो, क्षेत्र में निपतित वन्यधान्य शृङ्ग एवं तृणाङ्कुर के द्वारा तुम्हारे चरण व्यथित नहीं हो रहे हैं? तद् गत जीवना हमारे हृदय तुम्हारे चरणों की वेदना सम्भावना से अत्यन्त कातर है। इस उक्ति से सुस्पष्ट हुआ है कि—

श्रीव्रजदेवी वृन्द के कान्ता भाव के अभ्यन्तर में किसी भी अंश में स्वसुख तात् पर्य्यात्मक काम की सत्त्वा नहीं है। कारण, यदि काम की सत्त्वा होती तो, वक्षोपरि श्रीकृष्ण चरणाम्बुज धारण समय में परम सुख के परिवर्त्त में श्रीकृष्ण दुःख सम्भावना से भीता नहीं होती। अतएव सम्भोग अवस्था में भी व्रज देवीवृन्द का कृष्णसुखैक तात्पर्य्य है, स्व सुख तात्पर्य्य नहीं है। यह प्रदर्शित हुआ है। सैरिन्ध्री का भाव अर्थात् कुब्जा का भाव रमणेच्छा प्रधान है। अतः उस में श्रीकृष्ण सुखैक तात्पर्य्यता नहीं है, इस से ही वह निन्दित है। किन्तु स्वरूपतः वह निन्दित नहीं है। अर्थात श्रीगोपीवृन्द के प्रेम की अपेक्षा से ही सैरिन्ध्री का भाव निन्दित है। जिस प्रकार सूर्य्यालोक प्रकाशित होने पर अपर आलोक अनादृत होता है, उस प्रकार ही जानना होगा। अर्थात् श्रीगोपी वृन्द के निर्म्मल प्रेम भास्कर के निकट कुब्जा का भाव—सम्भोगेच्छायुक्त होने के कारण क्षुद्र दीप के समान अनादृत है, किन्तु स्वरूपतः पूजित ही है। कारण, भा० १०।४८।७ में श्रीशुकदेव ने कहा है—

"सानङ्गतप्तकुचयोः" "अनन्तचरणेन रुजो मृजन्ती"

"परिरभ्य कान्तमानन्दमूर्त्तिम्" जो अपरिच्छिन्न माधुर्य्य के कारण, अनन्तनाम से विख्यात है,

कार्य्यद्वारा तत्स्तुतेः तत्रापि (भा० १०।४८।९) "आहोष्यतामिह प्रेष्ठ" इत्यत्र प्रीत्यभिव्यक्तेश्च। अतएव (भा० १०।४८।८) —

"सैवं कैवल्यनाथं तं प्राप्य दुष्प्रापमीश्वरम्।
अङ्गरागार्पणेनाहो दुर्भगेदमयाचत॥"१०२५॥ इति,

(भा० १०।४८।११)—

"दुराराध्यं समाराध्य विष्णुं सर्व्वेश्वरेश्वरम्।
यो वृणीते मनोग्राह्यमसत्त्वात् कुमनीष्यसौ॥" १०२६॥

इति चैवं योजयन्ति, कैवल्यमेकान्तित्वं तेन यो नाथः सेवनीयस्तं पुरा तादृश-त्रिवक्रत्वादि-लक्षण-दौर्भाग्यवत्यपि। अहो आश्चर्य्ये, अङ्गरागार्पणलक्षणेन भगवद्धर्म्मांशेन कारणेन सम्प्रतीदं (भा० १०।४८।९) "आहोष्यतामिह प्रेष्ठ दिनानि कतिचिन्मया। रमस्व" इत्यादि-लक्षणं वक्ष्यमाणं सौभाग्यमयाचतेति। अतः (भा० १०।८०।२५)—

"किमनेन कृतं पुण्यमवधूतेन भिक्षुणा।
श्रिया हीनेन लोकेऽस्मिन् गर्हितेनाधमेन च॥"१०२७॥

उन श्रीकृष्ण के चरण युगल स्पर्श के द्वारा सैरिन्ध्रीने अनङ्ग तप्त कुच युगल का वक्षः स्थल का एवं नयन युगल का सन्ताप को विदूरित करके निज बाहु द्वय के द्वारा स्तनान्तर्गत आनन्द मूर्त्ति कान्त श्रीकृष्ण को आलिङ्गन करके दीर्घकाल श्रीकृष्ण अप्राप्ति जनित सन्ताप को सद्यः दूर किया। इस श्लोक में कार्य्य के द्वारा अर्थात् अखण्ड माधुर्य्यधाम आनन्द मूर्त्ति श्रीकृष्ण को आलिङ्गन रूप कार्य्य के द्वारा सैरिन्ध्री का भाव की प्रशंसा की गई है। उस के मध्य में भी भा० १०।४८।९ में उक्त है—

"सहोष्यतामिह प्रेष्ठ दिनानि कतिचिन्मया।
रमस्य नोत्सहेत्यक्तुं सङ्गं तेऽम्बुरुहेक्षण॥

हे प्रिय! कतिपय दिवस तुम मेरे साथ रहो, मेरे साथ रमण करो, हे कमल लोचन! मैं तुम्हारे सङ्ग छोड़ने में अक्षम हूँ, इस श्लोक में श्रीकृष्ण के प्रति कुब्जा का प्रेम प्रकाशित हुआ है। अतएव भा० १०।४८।८ में उक्त है—

"सैवं कैवल्यनाथं तं प्राप्य दुष्प्रापमीश्वरम्।
अङ्गरागार्पणेनाहो दुर्भगेदमयाचत॥"१०२५॥

भा० १०।४८।१२—

"दुराराध्यं समाराध्य विष्णुं सर्व्वेश्वरेश्वरम्।
यो वृणीते मनोग्राह्यमसत्त्वात् कुमनीष्यसौ॥"१०२६॥

अनन्तर कुब्जा, ऐकान्तिक भक्त कर्त्तृक सेवित दुष्प्राप्य परमेश्वर श्रीकृष्ण को भगवत् धर्मांश अङ्गराग अर्पण रूप कारण द्वारा प्राप्त कर यद्यपि वह त्रिवक्र रूप से दौर्भाग्यवती थी, तथापि सम्प्रति उस ने कुछ दिन मेरे साथ मेरे घर में वास करो, रमण करो, इस प्रकार सौभाग्य की आकाङ्क्षा की थी। वह अतीव आश्चर्य्य कर है। अतएव भा० १०।८०।२५ में श्रीदाम विप्र को लक्ष्य करके पुरस्त्रीवृन्द ने कहो थी--

इति श्रीदामविप्रमुद्दिश्यान्तःपुरजन-वचनवदेव तथोक्तिः । ननु कामुकी सा किमिति श्लाघ्यते ? तत्राह—दुराराध्यमिति । यो मनोग्राह्यं प्राकृतमेव विषयं वृणीते कामयते, असावेव कुमनीषी, सा तु भगवन्तमेव कामयत इति परमसुमनीषिण्येवेति भावः । तदेवं तस्य कामस्य द्वेषादिगणान्तः पातित्वं परिहृत्य तेन पापावहत्वं परिहृतम् । अथ कामुकत्वाद्यारोपणाद्यधरपानादि रूपस्तत्र व्यवहारोऽपि नातिक्रमहेतुः, यतो (ब्र० सु० २।१।३३) "लोकवत्तु लीला-कैवल्यम्" इति न्यायेन लीला तत्र स्वभावत एव सिद्धा । तत्र च श्री-भु-

---

किमनेन कृतं पुण्यमवधूतेन भिक्षुणा ।
श्रिया हीनेन लोकेऽस्मिन् गर्हितेनाधमेन च ।।"१०२७।।

यह भिक्षु अवधूत, श्रीहीन, व्यवहारिक दृष्टि से अति गर्हित एवं अधम ब्राह्मण ने पहले किस प्रकार पुण्यार्जन किया था, जिस से श्रीलक्ष्मी सेव्य पदार विन्द श्रीकृष्ण भी इस को आदर कर रहे हैं । यहाँपर जिस प्रकार स्वरूपतः श्रीदाम विप्र परम भागवतोत्तम हैं, किन्तु व्यवहारिक लोक दृष्टि से उनकी निन्दा की गई है, सैरिन्ध्री के पक्ष में भी उस प्रकार जानना होगा । यहाँ इस प्रकार मान सकते—कि—कामुकी सैरिन्ध्री की प्रशंसा उतनी क्यों की गई है ? उत्तर में श्रीशुक कहते हैं—"दुराराध्यं" जो दुराराध्य एवं सर्वेश्वरेश्वर श्रीविष्णु की आराधना करके मनोग्राह्य प्राकृत विषय की कामना करता है, वही कुमनीषी है, अर्थात् कुबुद्धि है, वह सैरिन्ध्री ने किन्तु श्रीभगवान् की कामना ही की थी, तज्जन्य वह परम सुमनीषिणी है । ऐसा होने पर सैरिन्ध्री का जो काम श्रीकृष्ण के प्रति है—वह द्वेषान्तः पाती नहीं है, एवं पापावह भी नहीं है । यह सुस्पष्ट रूप से दर्शाया गया है । कारण, यदि वह काम, पापावह होता एवं द्वेषादि के समान निन्दित होता तो सैरिन्ध्री आनन्दमूर्त्ति श्रीकृष्ण को आलिङ्गनादि करने की सौभाग्य वती नहीं हो सकती । भा० १।०।४८।७ की टीका में श्रीधरस्वामि पादने कहा है—"काममेवप्राकृतदृष्ट्या अयाचित । न च गोप्य इव सा तन्निष्ठेति दुर्भगेत्युक्तम् ।

कृतार्थत्वे तु तस्या न सन्देहः । अर्थात् वह सैरिन्ध्री ने प्राकृत दृष्टि से ही काम की प्रार्थना की थी, तत्त्व दृष्टि से वह काम अप्राकृत है, गोपी वृन्द के समान सैरिन्ध्री श्रीकृष्ण सुखैक तात्पर्य्यवती नहीं थी, इस अभिप्राय से ही सैरिन्ध्री को दुर्भगा कही गई है, वस्तुतः सैरिन्ध्री, परम कृतार्था है, इस विषय में कोई सन्देह नहीं है ।

अनन्तर श्रीभगवान् में कामुकत्व प्रभृति का आरोप, एवं अधर पानादि व्यवहार भी श्रीभगवान् की मर्य्यादा का लङ्घन के कारण नहीं हो सकते हैं । कारण,—"लोकवस्तु लीला कैवल्यम्"(ब्र० सू० २।१। ३३) इस न्याय से श्रीभगवान् की विशुद्ध लीला, अलौकिक होकर भी लौकिकवत् प्रतिभात होती है । उक्त सूत्र का श्रीहरिदास शास्त्रीकृत भागवत भाष्य—

"ब्रह्मन् कथं भगवतश्चिन्मात्रस्याविकारिणः
लीलया वापि युज्येरन् निर्गुणस्य गुणाः क्रियाः ।।
क्रीड़ायामुद्यमोऽर्भस्य कामश्चिक्रीड़िषान्यतः ।
स्वतस्तृप्तस्य च कथं निवृत्तस्य सदान्यतः ।।" भा० ३।७।२—३
को वेत्ति भूमन् भगवन् परात्मन्
योगेश्वरोती र्भवतस्त्रिलोक्याम् ।

लीलादिभिस्तस्य तादृशलीलायाः श्रीवैकुण्ठादिषु नित्यसिद्धत्वेन स्वतन्त्रलीला-विनोदस्य तस्याभिरुचितत्वावगमात् तादृशलीलारसमोह-स्वाभाविकं भगवत्ताद्यननुसन्धानमपि कामुकत्वादि-मननमपि च तदभिरुचितत्वेनैवावगम्यते। तथा तत्प्रेयसीजनानामपि तत्स्वरूप शक्तिविग्रहत्वेन परमशुद्धरूपत्वात्ततो न्यूनत्वाभावाच्च तदधरपानादिकमपि नाननुरूपम्, पूर्वयुक्त्या तदभिरुचितमेव च। न च प्राकृतवामाजने दोषः प्रसञ्जनीयः,-तद्योग्यं तादृशं भावं स्वरूपशक्तिविग्रहत्वञ्च प्राप्येव तदिच्छयैव तत्प्राप्तेः। अथ पापश्रवणेन च न पापावहोऽसौ कामः, तदश्रवणादेव। अतः पतिभावयुक्ते च तत्र सुतरां न दोषः, प्रत्युत स्तुतिः श्रूयते,

(भा० १०।९०।२७)-

"याः सम्पर्य्यचरन् प्रेम्णा-पादसम्बाहनादिभिः।

जवबा कथं वा कति वा करेति।
विस्तारयन् क्रीड़सि योग मायाम्।" भा० १०।१४।२१

श्रीभगवान् में यह सब लीला स्वभावसिद्धरूप में ही हैं। यह सब आगन्तुकी नहीं है। दाहिकाशक्ति के द्वारा जिस प्रकार अग्निका परिचय होता है,उस प्रकार ही अलौकिक लीलाके द्वारा ही श्रीभगवान् परिचित होते हैं। जल में उष्णता के समान यह आगन्तुक नहीं है। श्रीवैकुण्ठ प्रभृति में श्री, भू, लीला, प्रभृति शक्ति के सहित उस प्रकार श्रीभगवान् की अधर पानादि लीला सुप्रसिद्ध है, वह सब लीला में स्वतन्त्र लीलाविनोद श्रीभगवान् की अभिरुचि की कथा भी शास्त्र में वर्णित है। एवं उस अधर पानादि लीलारस में श्रीभगवान् का स्वाभाविक मोह एवं निज भगवत्तादि का अननुसन्धान, एवं कामुकत्व प्रभृति श्रीभगवान् की अभिरुचि सम्मत हैं, शास्त्र में इस प्रकार ही वर्णित है।

श्रीभगवान् की प्रेयसी गण की श्रीमूर्त्ति भी उनकी स्वरूप शक्ति की अधिष्ठात्री स्वरूप होने के कारण परम शुद्ध स्वरूप हैं, एवं श्रीभगवान् किसी भी अंश में न्यून नहीं हैं, अतएव उनके अधर पानादि भी अननुरूप नहीं हो सकते हैं। पूर्व युक्ति के अनुसार तादृश प्रेयसी वृन्द के अधर पानादि श्रीभगवान् की अभिरुचि सम्मत ही है। यह भी समझना होगा कि—श्री, भू, लीला प्रभृति के सहित श्रीभगवान् का विहार दोषावह नहीं हो सकता है, कारण, वे उनकी स्वरूप शक्ति की मूर्त्ति हैं। किन्तु प्राकृत जगत् की रामावृन्द के सहित विहार दोषावह एवं निन्दित है—इस प्रकार कहना समीचीन नहीं है। कारण, प्राकृत रामावृन्द में जब तक तादृश कान्ताभाव एवं स्वरूप शक्ति की मूर्त्ति प्रसक्ति नहीं होती है, तब तक, उस प्रकार प्राकृत गुण देह के सहित श्रीभगवान् का विहार नहीं हो सकता है। श्रीभगवदिच्छा से जब सच्चिदनन्दामय देह प्राप्ति होती है, तब ही श्रीभगवदिच्छासे सच्चिदानन्दमय देह— एवं योग्य कान्ताभाव प्राप्त होता है, एवं श्रीभगवान् भी विहार करते हैं, अतएव प्राकृत रामावृन्द के पक्ष में उस प्रकार काम भाव दोषावह नहीं है।

शास्त्र में वर्णित—जो श्रीभगवान् में काम भाव पापावह है, अतएव वह काम भाव दोषावह है, इस प्रकार कथन भी समीचीन नहीं है। कारण, शास्त्र के किसी भी स्थान में 'श्रीभगवान् में काम भाव पापावह है, इस प्रकार उल्लेख नहीं है। अतएव श्रीभगवान् में पति भाव युक्त काम जो दोषावह नहीं है, उस विषय में सुतरां कहना निष्प्रयोजन है। प्रत्युत श्रीभगवान् में पति भाव युक्त काम की स्तुति सुनने में आती है। भा० १०।९० २७ में उक्त है—

जगद्गुरुं भर्त्तृबुद्धया तासां किं वर्ण्यते तपः ॥"१०२८॥ इति ।

महानुभावमुनीनामपि तद्भावः श्रूयते, यथा श्रीमध्वाचार्य्यधृतं कौर्म्मवचनम्—

"अग्निपुत्रा महात्मानस्तपसा स्त्रीत्वमापिरे । भर्त्तारञ्च जगद्योनिं वासुदेवमजं विभुम् ॥"१०२९॥ इति ।

अतएव वन्दितं (नारायणव्यूहस्तवे)—'पतिपुत्रसुहृद्भ्रातृ-"इत्यादिना । अथोपपतिभावेन च न पापावहो-ऽसौ (भा० १०।२९।३२) "यत् पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग" इत्यादिना

"याः सम्पर्य्यचरन् प्रेम्णा—पादसम्बाहनादिभिः ।
जगद्गुरुं भर्त्तृबुद्धया तासां किं वर्ण्यते तपः ॥"१०२८॥

श्रीशुक देव कहे हैं—महिषीवृन्द ने जगद् गुरु श्रीकृष्ण की परिचर्य्या, प्रीति पूर्वक पाद सम्बाहन प्रभृति के द्वारा पति भाव से की है, उन सब के सौभाग्य की कथा क्या वाक्य से वर्णित हो सकती है ? महामुक्त मुनीन्द्रवृन्द की श्रीकृष्ण में प्रति भाव की कथा का वर्णन शास्त्र में है । श्रीमध्वाचार्य्य घृत कूर्म्म पुराण के बचन में लिखत है—

"अग्नि पुत्रामहात्मानस्तपसास्त्रीत्वमापिरे ।
भर्त्तारञ्च जगद्योनिं वासुदेवमजं विभुम् ॥"१०२९॥

महात्मा अग्निपुत्र गण, अनुरागमय तपस्या के द्वारा स्त्रीत्व की प्राप्त किये थे, एवं जगद्योनि अज, विभु, श्रीभगवान् को भर्त्तारूप में प्राप्त किये थे । अतएव नारायण व्यूहस्तव में लिखित है—"पतिपुत्र सुहृद् भ्रातृ" अर्थात् जो लोक श्रीकृष्ण में पति भाव पोषण करते हैं, वे बन्दनीय हैं । अतएव उपपति भाव से श्रीभगवान् में काम भाव पापावह है, इस प्रकार कहना नितरां असमीचीन है । कारण, भा० १०।२९।३२ में उक्त है—

"यत् पत्यपत्यसुहृदा मनुवृत्ति रङ्ग
स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम् ।
अस्त्वेव मेतदुपदेश पदे त्वयीशे
प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किलबन्धुरात्मा ॥"

टीका—अपि च यदुक्तं पत्यपत्येत्यादि त्वया धर्म विदेति सोपहासम् एवमेतदुपदेशानां पदे विषये त्वय्येवास्तु । उपदेश पदत्वे हेतुः ईश इति । विविदिषा वाक्येन सर्वोपदेशानामीश परत्वावगमादिति भावः । ईशत्वे हेतुः, आत्मा किल भवानिति । भोग्यस्य हि सर्वस्य भोक्ता आत्मैवेश इत्यतः, प्रेष्ठो बन्धुश्च भवानेवेति सर्व बन्धुषु करणीयं त्वय्येवास्त्वित्यर्थः । अथवा धर्मोपदेशानां पदे स्थाने धर्मोपदेष्टरि त्वयिसति अस्मासु च धर्मं जिज्ञासमानासु सतीषु त्वया धर्मविदा यदुक्तम्—एवमेतदस्तु नतु त्वं धर्मोपदेष्टा किन्तु भवानात्मेति । अथवा - यदुक्तमेतदुपदेश पदे पदे गोचरे पुरुषेऽस्तु नाम त्वयि तु ईशे स्वामिनि सत्येवम् । काक्वा नैवमित्यर्थः । यतस्तनुभृतां त्वमात्मा फल रूप इति । यद्वा, यदुक्तं पत्यादि शुश्रूषणं धर्म इति एव मेतत् त्वय्येवास्तु । कुत उपदेशपदे शुश्रूषणीयत्वेन उपदिश्य मानानां पत्यादीनां पदे अधिष्ठाने । कुतः ईशे । न हीश्वरमधिष्ठानं विना कोऽपि पति पुत्रादिर्नामेति । अन्यत् समानम् । अलमति विस्तरेण ।

श्रीव्रजदेवीयों ने उक्त वाक्य द्वारा उत्तर प्रदान किया है—कथन का अभिप्राय यह है—

पति, पुत्र, प्रभृति तब तक सेव्य हैं जब तक उस आभिमानिक देह में आत्मा अधिष्ठित है । आत्मा का सम्बन्ध के विना पति पुत्रादि की स्थिति नहीं है, अर्थात् उस उस शब्द का प्रयोग नहीं होता है—

ताभिरेवोत्तरितत्वात्, (भा० १०।३३।३५)–"गोपीनां तत्पतीनाञ्च" इत्यादिना श्रीशुकदेवेन च, (भा० १०।३२।२२) "न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां, स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः" इत्यत्र 'निरवद्य

आत्मसम्बन्ध हीन होने से उस की 'शव' संज्ञा होती है। अतएव मुख्य सेव्य आत्मा है, देह नहीं। आत्मा प्रति देह में भिन्न है, किन्तु आप, निखिल देह धारियों का आत्मा अर्थात् परमात्म हैं। अतएव आप ही सेव्य हैं, एवं आप की सेवा से पति पुत्र प्रभृति की सेवा होगी। जब तक आत्म दर्शन नहीं होता है, तब तक आत्म संवलित जड़ीय देह की सेवा विहित है, किन्तु परमात्म स्वरूप आप का साक्षात् कार होने के पश्चात् अपर की सेवा कया करनी चाहिये? इस रीति से श्रीव्रजदेवियों ने श्रीकृष्ण को मूल पति कहा है, एवं अन्य पतिम्मन्य को मूलपति कहा है। भा० १०।३३।३५ में श्रीशुकदेवने भी कहा है—

'गोपीनां तत् पतीनाञ्चसर्वेषामेवदेहिनाम्।
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीड़नेनेह देहभाक्॥"

टीका—परदारत्वं गोपीनामङ्गीकृत्य परिहृतम्। इदानीं भगवतः सर्व्वान्तर्यामिनः परदारसेवा नाम न काचिदित्याह गोपीनामिति। योऽन्तश्चरति अध्यक्षो बुद्ध्यादि साक्षी स एव क्रीड़नेन देह भाक्, नतु अस्मदादितुल्यो येन दोषः स्यादिति।

जो, गोपी एवं उनके पतियों के एवं निखिल व्रज बासियों के सहित मायिक दृष्टि के अन्तराल में नित्य विहार करते हैं, वह कर्म भक्त वृन्द को सुखी करने के निमित्त मानवों के नयन गोचर होकर प्रकट विहार करते हैं। इस श्लोक में "अन्तश्चरति" पद प्रयोग के द्वारा अप्रकट लीला में नित्य बिहार सूचित हुआ है, एवं 'अध्यक्षः' पद प्रयोग से प्रकट लीला भी सूचित हुई हैं। तात्पर्य्य यह है कि—अप्रकट लीला में श्रीलक्ष्मी नारायणवत् नित्य दाम्पत्य सम्बन्ध में बिराजित हैं, अतः उपपतित्व होने की सम्भावना ही कहाँ है। अर्थात् श्रीकृष्ण, श्रीव्रजसुन्दरीवृन्द के अधर्म सम्बन्ध से उपपति नहीं हैं, धर्म सम्बन्ध से पति भी नहीं हैं, केवल मात्र प्रबलतर अनुराग के सम्बन्ध से प्राणबन्धु, प्राणपति हैं। जहाँ प्रेम में धर्म सम्बन्ध अर्थात् लौकिक समर्थन मूलक आनुष्ठानिक सम्बन्ध है, एवं अधर्म--इन्द्रिय तृप्ति हेतु शास्त्रीय एवं लौकिक मर्य्यादालङ्घन पूर्वक स्वेच्छाचार सम्बन्ध है, वह प्रेम अनुरोध मय होने के कारण अतीव दुर्बल है। रसिक शेखर श्रीकृष्ण ने भी भा० १०।३२।३२ में कहा है—

"न पारयेऽहं निरवद्य संयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
यामाभजन् दुर्ज्जरगेह शृङ्खलाः संवृश्च तद्वः प्रतियातु साधुना॥"

टीका—आस्तामिदं परमार्थन्तु श्रृणुतेत्याह। नेति। निरवद्या संयुक् संयोगो यासां तासां वो विबुधानामायुषापि, चिरकालेनापि स्वीयं साधुकृत्यं प्रत्युपकारं कर्त्तु न पारये न शक्नोमि। कथम्भूतानां या भवत्यो दुर्ज्जरा अजराया गेह श्रृङ्खला स्ताः संवृश्च्य निःशेषं छित्वा मा माम्, अभजंस्तासाम् मच्चित्तन्तु बहुषु प्रेमयुक्ततया नैकनिष्ठम्। तस्माद्वो युष्माकमेव साधुना साधुकृत्येन तत् युष्मत् साधुकृत्यं प्रतियातु, प्रतिकृतं भवतु। युष्मत् सौशील्येनैव ममानृण्यं, न तु मत् कृत प्रत्युपकारेणेत्यर्थः॥

हे प्रियतमा वृन्द! मैं ब्रह्मा की आयुः के तुल्य आयुः प्राप्त करने पर भी तुम्हारे प्रेम के अनुरूप भजन करने में सर्वथा अक्षम हूँ। कारण, तुम सबने जिस देह से मेरे समीपमें उपस्थित हुआ है, वह देह अति विशुद्ध है, कारण, अपर की दृष्टि उस में नहीं पड़ी है, न तो अपर का स्पर्श ही हुआ है। मन भी अति-विशुद्ध है। कारण मेरा सुख तात्पर्य्य में ही वह समर्पित है। वहि दृष्टि से यह संयोग काममय रूपसे प्रतीत होने पर भी वस्तुतः यह संयोग अनुराग मय ही है। सूर्य्य एवं उस की ज्योतिः को जिस प्रकार अन्धकार

संयुजाम्' इत्यनेन स्वयं श्रीभगवता च। तादृशानामन्येषामपि तद्भावो दृश्यते, यथा पाद्मोत्तर खण्डवचनम्—

"पुरा महर्षयः सर्वे दण्डकारण्यवासिनः। दृष्ट्वा रामं हरिं तत्र भोक्तुमैच्छन् सुविग्रहम् ॥१०३०॥
ते सर्वे स्त्रीत्वमापन्नाः समुद्भूताश्च गोकुले।
हरिं संप्राप्य कामेन ततो मुक्ता भवार्णवात् ॥"१०३१॥

अतः पुरुषेष्वपि स्त्रीभावेनोद्भवाद्भगवद्विषयत्वाच्च प्राकृत- कामदेवोद्भावितः प्राकृतः कामोऽसौ, किन्तु (भा० १०।३२।२) "साक्षान्मन्मथ-मन्मथः" इति श्रवणादागमादौ तस्य कामत्वेनोपासनाच्च भगवदेकोद्भावितोऽप्राकृत एवासौ काम इति ज्ञेयम्। श्रीमदुद्धवादीनां परमभक्तानामपि च तच्श्लाघा श्रूयते (भा० १०।४७।५८)—"एताः परं तनुभृतो भुवि गोपबध्वः"

स्पर्श करने में अक्षम है, उस प्रकार काम कभी भी तुम्हारे अनुराग भास्कर को स्पर्श कर नहीं सकता है। आप सब के इस अनुराग का आभास भी जिस के हृदय में उदित होगा, उस हृदय को कामरूप अन्धकार स्पर्श नहीं करेगा। इत्यादि रीति से स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने भी श्रीव्रजसुन्दरी वृन्द के उपपति भाव की प्रशंसा का है।

उक्त गोपीवृन्द के अनुगति भावाक्रान्त अन्य साधक वृन्द का भी श्रीकृष्ण में उपपति भाव का वर्णन शास्त्र में है। अतएव बहु साधन एवं भगवत् कृपालब्ध भाव–कभी दोषावह नहीं होता है। पद्म पुराण के उत्तर खण्ड में लिखित है—

"पुरामहर्षयः सर्वे दण्डकारण्यवासिनः।
दृष्ट्वा रामं हरिं तत्र भोक्तुमैच्छन् सुविग्रहम् ॥१०३०॥
ते सर्वे स्त्रीत्व मापन्नाः समुद् भूताश्च गोकुले।
हरिं सं प्राप्य कामेन ततोमुक्ता भवार्णवात् ॥"१०३१॥

प्राचीन काल में दण्डकारण्य वासी महर्षिवृन्द, निज आश्रम में समागत दाशरथि राम को देखकर निज उपास्य श्रीमदन गोपाल हरि के सादृश्य अवलोकन करके मनोहारी श्रीमदन गोपाल देव को उपभोग करने के निमित्त बलवती आकाङ्क्षा पोषण किये थे। अनन्तर यह सब ऋषिगण स्त्रीत्व लाभ किये थे। अर्थात् गोकुल में गोपीदेह एवं गोपी भाव प्राप्त कर जन्म ग्रहण किये थे। एवं अभीष्ट संकल्प के अनुसार श्रीहरि को प्राप्त कर भवार्णव से मुक्त हुये थे। अतएव पुरुष वृन्द के मध्य में भी यह उपपति भावात्मक कामोद्गम होने के कारण, एवं उक्त काम का विषय श्रीकृष्ण होने के कारण, यह काम लोक जगत् में सुविख्यात प्राकृत कामदेव द्वारा उद्भावित काम नहीं हो सकता है। किन्तु भा० १०।३२।२ में उक्त है—"साक्षान्मन्मथमन्मथ" शब्द से अप्राकृत काम स्वरूप श्रीकृष्ण ही हैं। विशेषतः तन्त्रादि शास्त्र में काम गायत्री एवं कामबीज के द्वारा उपासित होने के कारण यह काम भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा ही उद्भावित है, अतएव यह सर्वथा अप्राकृत काम है। इस विषय में किसी प्रकार संशयावकाश नहीं है।

श्रीमान् उद्धव प्रभृति परम भक्त वृन्द भी इस उपपत्ति भावमय काम की प्रशंसा किये हैं। उसका वर्णन भा० १०।४७।५८ में है—

"एताः परं तनुभृतो भुवि गोपबध्वो
गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढ़ भावाः।

इत्यादौ । किं बहुना ? श्रुतीनामपि तद्भावो-बृहद्वामने प्रसिद्धः, यतस्तत्र श्रुतयोऽपि नित्य-सिद्धगोपिका-भावाभिलाषिण्यस्तद्रूपेणैव तद्गणान्तःपातिन्यो बभुवुरिति प्रसिद्धः । एतत् प्रसिद्धिसूचकमेवैतदुक्तं ताभिरेव, (भा० १०।८७।२३)—

"निभृतमरुन्मनोऽक्षदृढ़योगयुजो हृदि य-
न्मुनय उपासते तदरयोऽपि ययुः स्मरणात् ।
स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियो
वयमपि ते समाः समदृशोऽङ्घ्रिसरोजसुधाः ।।"१०३२।। इति ।

विस्पष्टश्चायमर्थः । यद्ब्रह्माख्यं तत्त्वं शास्त्रदृष्टचा प्रयास-बाहुल्येन मुनय उपासते, तदरयोऽपि यस्य स्मरणात् तदुपासनां विनैव ययुः । तथा स्त्रियः श्रीगोपसुभ्रवस्ते तव

वाञ्छन्ति यद् भवभियो मुनयो वयञ्च
किं ब्रह्म जन्मभिरनन्त कथा रसस्य ।।"

एताः इति । एताः परं केवलं तनुभृतः सफल जन्मानः । रूढ़ भावाः परमप्रेमवत्यः । यदित्यव्ययम् । यं रूढ़ं भावं भवभियो मुमुक्षवो मुनयो मुक्ता अपि वाञ्छन्ति, वयञ्च भक्ता अपि, । अतोऽनन्तस्य कथासु रसो रात्रो यस्य तस्य ब्रह्म जन्मभि विप्रसम्बन्धिभिः शौक्र सावित्र याज्ञिकं स्त्रिभिजन्मभिः किं कोऽतिशयः । यत्र तत्र जातः, स एव सर्वोत्तम इत्यर्थः । यद्वा, अनन्त कथासु रसोयस्य तस्य ब्रह्म जन्मभिश्चतुर्मुख जन्मभिरपि किमित्यर्थ ।

अर्थात् अजातरति, जातरति एवं प्राप्त भगवत् पार्षद देह रूप भक्त भूषणों से विभूषित भूमण्डल में श्रीव्रजदेवी वृन्द ही उत्तम देह धारिणी हैं । कारण, व्रजाङ्गना गण के देह महाभाव तोजोमय है, एवं महाभाव प्रकाशे के आकर स्वरूप है । अपर किसी भक्त देह एवं मुकुन्द महिषीवृन्द के देह भी इस महाभाव को धारण करने में सक्षम नहीं है । जिस गोपी भाव का प्रगाढ़ आवेश की वाञ्छा, --मुमुक्षु, मुक्त पुरुष, एवं दास भक्त हम सब भी सर्वदा करते रहते हैं । किन्तु किसी की प्राप्त करने की योग्यता है ही नहीं । इत्यादि रूप से गोपी भाव की प्रशंसा का वर्णन है । अधिक कहना ही क्या है—निखिल प्रमाण शिरोमणि श्रुति वृन्द की अधिष्ठात्री देवी वृन्द का श्रीकृष्ण में उपपतिमय काम भाव का वर्णन वृहद् वामन पुराण में सुप्रसिद्ध है । कारण, उस प्रकार उपपति भाव से ही श्रुति गण भी नित्यसिद्ध गोपिका गण के भाव की अभिलाषिणी होकर गोपी रूप में ही गोपीगण के अन्तः पातिनी हुई थीं । श्रुतिगणों ने जो गोपी भाव की अभिलाषिणी होकर गोपी देह लाभ किया था, उस का वर्णन भा० १०।८७।२३ में श्रुतियों के द्वारा हुआ है—

"निभृतमरुन्मनोऽक्षदृढ़योगयुजो हृदि य--
न्मुनय उपासते तदरयोऽपि ययुः स्मरणात् ।
स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियो
वयमपि ते समा समदृशोऽङ्घ्रिसरोजसुधाः ।।"१०३२।।

श्रुति गण बोली थीं "हे नाथ ! प्राण वायु, मन एवं इन्द्रिय वर्ग को निरुद्ध करके सुदृढ़ योग साधक मुनिगण– तत्त्व दृष्टि से अतीव प्रयत्न के द्वारा हृदय में ब्रह्माख्य तत्त्व की उपासना करते हैं, अरिगण भी

श्रीनन्दनन्दनरूपस्योरगेन्द्र-देहतुल्यौ यौ भुजदण्डौ तत्र विषक्तधियः सत्यस्तवैवाङ्घ्रिसरोज-सुधास्तदीयस्पर्शविशेषजातप्रेम-माधुर्य्याणि ययुः वयं श्रुतयोऽपि समदृशस्तत्तुल्यभावाः सत्यः समास्तादृशगोपिकात्वप्राप्तया तत्साम्यमाप्तास्त एवाङ्घ्रिसरोजसुधा ययिम यातवत्य इत्यर्थः । अर्थवशाद्विभक्तिविपरिणामः । अङ्घ्रीति सादरोक्तिः । अत्र तदरयोऽपि ययुः स्मरणादित्यनेन भावमार्गस्य झटित्यर्थसाधनत्वं दर्शितम् । 'समदृशः' इत्यनेन रागानुगाया एव तत्र साधकतमत्वं व्यञ्जितम् । अन्यथा सर्व्वसाधन-साध्यविदुष्यः श्रुतयोऽन्यथैव प्रवर्त्तेरन् । तथा स्मरणपरयुग्मद्वयेऽस्मिन् स्वस्व-युग्मे प्रथमस्य मुख्यत्वं द्वितीयस्य गौणत्वं दर्शितम्,-- उभयत्राप्यपि-शब्द-साहित्येनोत्तरत्र पाठादेकार्थताप्राप्तेः । अतः स्त्रिय इति नित्याः श्रीगोपिका एव ता ज्ञेयाः । तथैव श्रुतिभिरिति श्रीकृष्णनित्यधाम्नि ता दृष्टा इति बृहद्वामन एव प्रसिद्धम् । तदेवं साधु व्याख्यातम् (भा० ७।१।२९)— 'कामाद्द्वेषात्' इत्यादौ 'तदघं हित्वा' इत्यत्र तेषु मध्ये द्वेष-भययोर्यदघमित्यादि ॥

स्मरण प्रभाव से तादृश उपासना के विना ही उस तत्त्व वस्तु को प्राप्त करते हैं । उसी प्रकार श्रीगोप सीमन्तिनी गण भी तुम्हारे श्रीनन्दनन्दन रूपके सर्प देह तुल्य भुजदण्डमें विशेष आसक्त चित्त होकर तुम्हारी अङ्घ्रिसरोधसुधा अर्थात् श्रीचरण कमल स्पर्श विशेष जात प्रेम माधुर्य्य लाभ किया । हम सब श्रुतिगण भी समदृक् अर्थात् गोपी समभावापन्न होकर समा अर्थात् तादृश गोपीत्व प्राप्ति के कारण तादृश साम्य प्राप्त किये हैं । अर्थात् गोपी गण, नन्दनन्दन स्वरूप के चरण कमल स्पर्श विशेष जात प्रेम माधुर्य्य लाभ किये हैं, हम सब भी उस माधुर्य्य को काय व्यूह रूप से प्राप्त किये हैं । यहाँपर सुष्ठु अर्थ के कारण, विभक्ति का विपरिणाम हुआ है, अर्थात् श्लोकस्थ "ययु" स्थल में "ययिम" प्रयोग करके व्याख्या करनी चाहिये । अङ्घ्रि शब्द हृद्गत आदर भाव का सूचक है । यहाँ अरिगण भी स्मरण प्रभाव से उस तत्त्व वस्तु को प्राप्त किये हैं, इस प्रकार उक्ति के द्वारा विधि मार्ग से भाव मार्ग का आशु प्रयोजन साधकत्व प्रदर्शित हुआ है । अर्थात् कर्त्तव्यता बोध से उपासना के द्वारा सत्वर अभीष्ट कार्य्य में मन का आवेश नहीं होता है, किन्तु भाव मार्ग में निज अभीष्ट वस्तु में अति सत्वर गाढ़ आवेश होता है, ऐसा न होने पर सर्व साधन एवं साध्य विषय में अभिज्ञ श्रुति गणों की प्रवृत्ति अन्य विषय में होती । जानना होगा कि— मुनि गण भी स्मरण निष्ठ हैं, और अरिगण भी स्मरण निष्ठ हैं । उस के मध्य में मुनि वृन्द का मुख्यत्व है, अरिगण का गौणत्व है । और स्त्री अर्थात् व्रजाङ्गना वृन्द का मुख्यत्व है, और श्रुति वृन्द का गौणत्व है । कारण उभय स्थल में अपि शब्द का प्रयोग होने कारण उत्तर अर्थात् परवर्त्ती श्लोकके चरण में अपि शब्द का प्रयोग न होने से एकार्थता का ही बोध होता है । अर्थात् मुनिगण एवं अरिगण की प्राप्ति की समता है, एवं व्रजाङ्गना गण की तथा श्रुति गण की प्राप्ति में तुल्यता है । अतएव यहाँ स्त्री शब्द से नित्य सिद्धा गोपी सूचित हुई है । उस प्रकार ही श्रुतियों ने भी श्रीकृष्ण नित्य धाम में गोपियों को देखा है । बृहद्वामन पुराण में उक्त वृत्तान्त सु प्रसिद्ध है । अतएव पूर्वोक्त प्रकार की व्याख्या सु सङ्गत हुई है । भा० ७।१।२९ में उक्त है --"कामाद् द्वेषात्" यहाँ "आवेश्य तदघंहित्वा" प्रयोग है । यहाँ "अघ शब्द से--श्रीभगवान् को द्वेष करने से एवं भय करने से जो पाप होता है, उस की जानना होगा । उस प्रकार पाप शून्य होकर अभीष्टा गति को प्राप्त किये थे । इस प्रकार व्याख्या समीचीन है । अर्थात् कोई कोई कहते हैं—'श्रीभगवान् में काम भाव पोषण करना पापावह है ।' उनकी इस प्रकार कुव्याख्या को खण्डन करके कहा है, कि

३२१ । अथो 'बहवस्तद्‌गतिं गताः' इत्यत्र निदर्शनमाह, (भा० ७।१।३०)—

(३२१) "गोप्यः कामाद्भयात् कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः ।
सम्बन्धाद्‌वृष्णयः स्नेहाद्यूयं भक्त्या वयं विभो ॥"१०३३॥

गोप्य इति साधकचरीणां गोपीविशेषाणां पूर्व्वावस्थामेवावलम्ब्योच्यते—वयमिति । यथा श्रीनारदस्य हि (भा० १।६।२९) "प्रयुज्यमाने—मयि तां शुद्धां भागवतीं तनुम्" इत्याद्युक्त-रीत्या पार्षददेहत्वे सिद्धे तेन स्वयं वयमिति पूर्व्वावस्था मेवावलम्ब्योच्यते । तत्रैव वैधी भक्तिः । अधुना लब्धरागस्य तस्य (भा० ११।२०।३६)—न मय्येकान्तभक्तानां गुणदोषोद्‌भवा गुणाः,"

श्रीभगवान् को भय एवं द्वेष करने से जो पाप होता है, वही आवेश सामर्थ्य से विनष्ट होता है ॥३२०॥

३२१ । अनन्तर अनेक व्यक्ति अभीष्ट गति को प्राप्त किये हैं—इस प्रकार पूर्वोल्लिखित विषय का दृष्टान्त उपस्थित करत हैं—

(३२१) "गोप्यः कामाद्भयात् कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः ।
सम्बन्धाद्‌वृष्णयः स्नेहाद्यूय भक्त्या वयं विभो ॥"१०३३॥

काम भाव से गोपी गण, भय से कंस, द्वेष से चैद्यादि नृपतिवृन्द, सम्बन्ध से वृष्णि गण--यादव गण, स्नेह से युधिष्ठिर प्रभृति, एवं भक्ति से नारद प्रभृति अभीष्ट लाभ किये हैं । यहाँ गोपी शब्द से—जो सब व्यक्ति साधन करके गोपी देह लाभ किये थे । उन सब को जानना होगा । अतएव साधन सिद्ध व्यक्तियों की पूर्वावस्था को लक्ष्य करके उस प्रकार कहा गया है । जिस प्रकार भा० १।६।२९ में लिखित है—

"प्रयुज्यमाने मयि त्वां शुद्धां भागवतीं तनुम् ।" पूर्व जन्म में श्रीनारद दासी पुत्र थे, पश्चात् "प्रयुज्यमाने मयि त्वां' उक्ति के अनुसार---देवर्षि नारद को श्रीभगवान् मायागुण अस्पृष्ट विशुद्ध सत्त्वात्मक पार्षद देह में प्रवेश कराने से प्रारब्ध कर्म की परि समाप्ति जिस देह में हुई है—उस पाञ्च भौतिक देह का पतन हुआ था । अर्थात् पाञ्च भौतिक देह त्याग हुआ था । इस अभिप्राय से ही उक्त श्लोक में 'वयं' का प्रयोग हुआ है । इस प्रकार पूर्वावस्था को लक्ष्य करके ही उस प्रकार कहा गया है । देवर्षि नारद की दासी पुत्र अवस्था में ही वैधी भक्ति थी, अधुना पार्षद देह लाभ के पश्चात् राग भक्ति हुई । कारण, ११।२०।३६ में उक्त है—"न मय्येकान्त भक्तानां गुण दोषोद् भवागुणः" श्रीभगवान् उद्धव को कहे थे—हे उद्धव ! मेरा एकान्त भक्तों के गुण अर्थात् शास्त्र विहित आचरण, दोष—अर्थात् शास्त्र निषिद्ध आचरण, गुण—पुण्य वा दोष—पापोत्पन्न नहीं होता है । कारण--किसी वस्तु विशेष में राग, द्वेष वा अभिनिवेश उनका नहीं है । अतएव वे समचित्त हैं, कारण, वे प्रकृत्यतीत परमेश्वर को प्राप्त किये हैं । जब तक विहित अनुष्ठान रूप गुण में एवं अविहित अनुष्ठान, रूप दोष में दृष्टि रहती है, तब तक ही दोष है । गुण किन्तु उभय वर्जित है । अर्थात् कर्तव्याकर्त्तव्य बुद्धि शून्य होकर स्वाभावाविक श्रीभगवदावेश है । इस रीति से ही देवर्षि नारद की पार्षद देह प्राप्ति के पश्चात् विधि की अधीनता शून्य रागात्मिका भक्ति हुई थी । इस अभिप्राय से ही "तद् गतिं गताः" इस प्रकार उक्ति के द्वारा, अर्थात् साधक चरी गोपी, कंस, शिशु पाल प्रभृति का फल—अर्थात् अभीष्ट गति रूप फल प्राप्ति में अतीत काल का प्रयोग हुआ है । इस रागानुगा प्रकार में उक्त साधक चरी गोपिका गण के समान आधुनिकी साधक चरी गण भी प्राप्त गोपी देह गोपी गण के गुणादि श्रवण के द्वारा ही गोपी भाव को प्राप्त कर सकते हैं । यही समझाया गया है । जिस प्रकार भा० १०।९०।२६ में श्रीशुक मुनि ने कहा है—

(भा० ११।१९।४५) "गुणदोष-दृशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः" इति न्यायेन विध्यनधीना रागात्मिकैव विराजत इति । अतएव 'तद्गतिं गताः' इति तेषां फलप्राप्तेरप्यतीतत्वनिर्द्देशः । अत्र ता गोप्य इवाधुनिक्यश्च तद्गुणादि-श्रवणेनैव तद्भावा भवेयुः । यथोक्तम् (भा० १०।९०।२६)

"श्रुतमात्रोऽपि यः स्त्रीणां प्रसह्याकर्षते मनः ।
उरुगायोरुगीतो वा पश्यन्तीनां कुतः पुनः ॥"१०३४॥ इति ।

अथवा पार्षदचरस्यापि चैद्यस्यागन्तुकोपद्रवाभास-नाशदर्शनेनैव साधकत्व-निर्द्देशः । सम्बन्धाद्यः स्नेहो रागस्तस्माद्वृष्णयो यूयञ्चेत्येकम् (भा० ७।१।२५) "तस्याद्वैरानुबन्धेन' इत्यादौ, (भा० ७।१।३१)—"पञ्चानाम्" इति वक्ष्यमाणानुरोधात् उभयत्रापि सम्बन्ध--स्नेहयोर्द्वयोरपि विद्यमानत्वाच्च सम्बन्धग्रहणं रागस्यैव विशेषत्व-ज्ञापनार्थम् । गोपीवदत्रापि

"श्रुतमात्रोऽपि यः स्त्रीणां प्रसह्याकर्षते मनः ।
उरुगायोरुगीतो वा पश्यन्तीनां कुतः पुनः ॥"१०३४॥

महिषी वृन्द का भाव श्रीकृष्ण के प्रति होना कुछ भी आश्चर्य्यकर नहीं है । कारण, श्रीकृष्ण के नाम रूप गुणादि की कथा श्रवण मात्र से ही स्त्री गणों का मनः बल पूर्वक आकृष्ट होता है । अथवा, अनेक प्रकार से श्रीकृष्ण कीर्त्तन करने से जिस श्रीकृष्ण में चित्त आकृष्ट होता है, उन श्रीकृष्ण को उन्होंने साक्षात् देखा है, उन सब में एतादृश अर्थात् प्रेम वैचित्र्याख्यभावोदय होना— आश्चर्य्य कर नहीं है ॥" अथवा पूर्व काल में शिशुपाल वैकुण्ठ के पार्षद थे, उन में आगन्तुक उपद्रवाभास का नाश दर्शन के द्वारा ही साधकत्व निर्देश हुआ है । श्रीकृष्ण का सम्बन्धाभास विद्यमान हेतु स्नेह से अर्थात् राग से यादव-गण एवं तुम सब युधिष्ठिर प्रभृति—श्रीकृष्ण को प्राप्त किये हों, यहाँ यादव गण एवं युधिष्ठिर प्रभृति को समान भाव से कहा है । "तस्माद्वैरानुबन्धेन" इत्यादि का उल्लेख भा० ७।१।२५ में है एवं भा० ७।१।३९ में उक्त है "कामाद् क्रोधाद् भयात्" इन दोनों श्लोकों का उदाहरण वाक्य—"गोप्यः कामाद् भयात् कंशः" है । अतएव दोनों का एकरूप अर्थ करना ही कर्त्तव्य है । एवं इस के वाद भा० ७।१।३१ में कहा गया है— "कतमोऽपि न वेणः स्यात् पञ्चानां पुरुषं प्रति" अर्थात् पूर्व वर्णित भाव पञ्चक के मध्य में वेण राजका भाव अन्तर्भुक्त नहीं था । अर्थात् उक्त पञ्चविध भावों के मध्य में किसी में भी वेण राज का आवेश नहीं था । पञ्चविध भाव के द्वारा अभीष्ट लाभ कारी का उदाहरण इस प्रकार है—

(१) काम भाव से गोपी गण, (२) भय भाव से कंस, (३) द्वेष भाव से शिशुपाल, प्रभृति (४) सम्बन्ध से यादवगण (५) स्नेह से पाण्डव गण प्राप्त किये थे। एवं विधि भक्ति के द्वारा नारद प्रभृति की इष्ट सिद्धि हुई । यह (६) प्रकार है । किन्तु यहाँपर "पञ्चानां पुरुषं प्रति" उल्लेख है । पाँच प्रकार का ही उल्लेख हुआ है । उक्त विरुद्ध उभय वाक्य की सामञ्जस्य रक्षा हेतु मूल श्लोक की व्याख्या इस प्रकार करनी होगी । श्रीकृष्ण के सहित सम्बन्ध से जो स्नेह है, अर्थात् राग है, उस से ही यादवगण एवं पाण्डव गण श्रीकृष्ण को प्राप्त किये थे । विशेषतः यादव एवं पाण्डव—उभय वंश का ही श्रीकृष्ण के सहित सम्बन्ध है । एवं तदुभय का ही श्रीकृष्ण में स्नेह भी है । अतएव भाषा पृथक् होने पर भी उभय को एक मानकर निर्देश करना होगा । सम्बन्ध शब्द ग्रहण करने का उद्देश्य है—राग का विशेषत्व ज्ञापन करना । यहाँ गोपी वृन्द के समान साधकचर वृष्णि विशेष एवं पाण्डव सम्बन्धि विशेष की ही पूर्वावस्था का अवलम्बन करके साधकत्व रूप में निर्द्देश किया गया है । अर्थात् यहाँ यादव शब्द से नित्य सिद्ध उद्धव

साधकचरा वृष्णिविशेषाः पाण्डवसम्बन्धिविशेषाश्च पूर्वावस्थामवलम्ब्य साधकत्वेन निर्दिष्टाः। अतः सम्बन्धजस्नेहोऽपि तदभिरुचिमात्रं ज्ञेयम्। भक्त्या विहितया, अस्या एव प्रतिलब्धत्वेन भावमार्गं निर्द्दे ष्टुमुपक्रान्तत्वात्॥

३२२। यदि द्वेषेणापि सिद्धिस्तर्हि वेणः किमिति नरके पातित इत्याशङ्क्याह, (भा० ७'१।३१)

(३२२) "कतमोऽपि न वेणः स्यात् पञ्चानां पुरुषं प्रति" इति।

पुरुषं भगवन्तं प्रति लक्षीकृत्य पञ्चानां वैरानुबन्धादीनां मध्ये वेणः कतमोऽपि न स्यात्। तस्य तं प्रति प्रासङ्गिक-निन्दामात्रात्मकं वैरम्, न तु वैरानुबन्धः। ततस्तीव्रध्याना-

---

प्रभृति यादव वृन्द को पाण्डव शब्द से श्रीयुधिष्ठिर महाशय प्रभृति को लक्ष्य करके कहा गया है। कारण, वे सब नित्य सिद्ध परिकर रूप में ही है। जो सब यादव एवं पाण्डव वृन्द के भाव के आनुगत्य से भजन करके उन के सम्बन्धान्वित परिजन रूप में जन्म ग्रहण किये हैं, उनको ही जानना होगा। अतएव उनके के सम्बन्ध जनित स्नेह एवं उस सम्बन्ध विशेष में अभिरुचि को समझना होगा। "भक्त्यावयम्" अर्थात् हम सब भक्ति से सिद्धि प्राप्त किये हैं। यहाँ भक्ति शब्द से विहिता अर्थात् वैधीभक्ति को जानना होगा। कारण, इस वैधी भक्ति का ही प्रतिलब्ध रूप में भावमार्ग निर्देश करने के निमित्त उपक्रम किया गया है। अर्थात् शास्त्र शासनाधीन होकर भजन करते करते जब तक निज अभीष्ट देव में दास्यादि भाव का उदय नहीं होता है, तब तक ही कर्त्तव्य का अनुष्ठान एवं अकर्त्तव्य का वर्जनानुसन्धान से भजन करना पड़ता है। जिस समय निज अभीष्ट देव में भाव का आविर्भाव होता है। उस समय शास्त्राधीन होकर कर्त्तव्या कर्त्तव्य अनुसन्धान के द्वारा भजन नहीं करना पड़ता है। कारण, उस समय भाव ही कर्त्ता होकर कर्त्तव्य का अनुष्ठान एवं अकर्त्तव्य वर्जन स्वाभाविक रूप से करा देता है। सार कथा यह है कि—विधि अधीन होकर भजन का मुख्य लाभ है। निज अभीष्ट में भावोदय होना है। इस अभिप्राय से ही भावमार्गके प्रकार भेद का निर्देश करने के निमित्त श्रीनारद उपक्रम किये हैं॥३२१॥

३२२। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि—यदि द्वेष के द्वारा ही सिद्धि होती है तो, महाराज वेण को ब्राह्मण वृन्द ने नरक में निपातित क्यों किया? इस आशङ्का परिहार हेतु भा० ७।१।३० में कहते हैं—

(३२२) "कतमोऽपि न वेणः स्यात् पञ्चानां पुरुषं प्रति"

अर्थात् पुरुष—श्रीभगवान् को लक्ष्य करके प्रवृत्त वैरानुबन्ध प्रभृति पाँच के मध्य में महाराज वेण में किसी भी प्रकार नहीं था। कारण, उसका श्रीभगवान् के प्रति प्रसङ्ग क्रम से निन्दा मात्र स्वभाव वैरभाव था, किन्तु वैरानुबन्ध नहीं था। अतएव तीव्र ध्यानाभाव के कारण भगवन्निन्दा का प्रतिफल रूप पाप ही हुआ था। अतएव श्रीकृष्ण की आराधना करने के अभिलाषी देव तुल्य स्वभावाक्रान्त मानव वृन्द के पक्ष में--मोक्षलाभेच्छु होकर भी श्रीभगवान् के प्रति वैरभावानुरूप अनुष्ठान करने का साहस करना सर्वथा असमीचीन है। यहाँ ततोऽसुरतुल्यस्वभावैरपि तस्मिन् स्वमोक्षार्थं वैरभावानुष्ठान साहसं न कर्त्तव्यमित्यभिप्रेतम्" अतएव असुर सदृश स्वभाव के द्वारा निज मोक्षलाभ हेतु भगवान् में वैरभाव करने का साहस कभी भी न करे। अर्थात् शिशुपाल प्रभृति का आशु मोक्ष भगवद् विद्वेष से हुआ था, यह सुन कर देव स्वभाव श्रीकृष्णाराधनेच्छु व्यक्ति की धारणा हो सकती कि—भक्ति भाव से श्रीकृष्ण में चित्त का आवेश कठिनता से होता है, किन्तु शत्रु भाव से चित्त का आवेश सत्वर हो जाता है, सुतरां शत्रु भाव से आशु मोक्ष लाभ करेंगे—इस प्रकार साहस करना समीचीन नहीं है। अतएव भा० ११।२।३४ में कथित

भावात् पापमेव तत्र प्रतिफलितमिति भावः। ततोऽसुर तुल्यस्वभावैरपि तस्मिन् स्वमोक्षार्थं वैरभावानुष्ठानसाहसं न कर्त्तव्य-मित्यभिप्रेतम् । अतएव (भा० ११।२।३४) —"ये वै भगवता प्रोक्ताः" इत्यादेरप्यतिव्याप्तिर्व्याहन्यते,— अनभिप्रेतत्वेनाप्रोक्तत्वात् ॥

३२३। यस्मादेवम् (भा० ७।१।३१)—

(३२३) "तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत्" इति।

अत्रापि पूर्ववन्निवेशयेदिति सम्मतिमात्रम्, न विधिः। केनापि तेष्वप्युपायेषु युक्ततमे-नैकेनेत्यर्थः, अहो यत्तादृश-बहु प्रयत्नसाध्य-वैधभक्तिमार्गेण चिरात् साध्यते, स एवाचिराद्-भावविशेषमात्रेण, तत्र च द्वेषादिनापि, तस्मादेवम्भूते परमसद्गुणस्वभावे तस्मिन् दूरेऽस्तु पामरजनभावस्य वैरस्य वार्त्ता, को वाधम औदास्यमवलम्ब्य प्रीतिमपि न कुर्य्यादिति रागानुगायामेव तच्च युक्ततमत्वमङ्गीकृतं भवति ॥ श्रीनारदः श्रीयुधिष्ठिरम् ।

है—"ये वै भगवता प्रोक्ताः" भागवत धर्म लक्षण वर्णन प्रसङ्ग में श्रीकवियोगीन्द्र निमिमहाराज को कहे थे—हे राजन् ! भगवान् स्वयं अपने को प्राप्त कराने के निमित्त जो उपाय कहे हैं, वह उपाय भागवत धर्म के स्वरूप लक्षण है। एवं भगवत् प्राप्ति उस भागवद् धर्म का असाधारण फल वा तटस्थ लक्षण है। इत्यादि वाक्य की अलक्ष्य लक्षण गमन रूप अतिव्याप्ति नहीं होती है। कारण— भगवान् का अनभिप्रेत होने के कारण, 'मुझ को द्वेष करने पर भी मुझ को प्राप्त कर सकता है'—इस प्रकार उन्होंने नहीं कहा है ॥७२२॥

३२३। कारण पूर्वोक्त प्रकार से ही श्रीभगवान् में आवेश होता है। एवं उस आवेश के फल से ही अभीष्ट गति मिलती है। सुतरां कहते हैं—भा० ७।१।३१

(३२३) "तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत्"

अतएव जिस किसी उपाय से श्रीकृष्ण में मन का अभिनिवेश करना चाहिये। यहाँ पर भी पूर्ववत् 'निवेशयेत्' पद के द्वारा सम्मति प्रकट हुई है। किन्तु यह विधान नहीं किया गया है। कारण, मनोनिवेश के प्रति विधि नहीं हो सकती है। कारण, अभिनिवेश हृदय धर्म है, उस में कर्त्तव्यता का उपदेश हो ही नहीं सकता है. तब जो 'केनापि' अर्थात् किसी भी उपायों से मनो निवेश करे, कहा गया है,—उस से समझना होगा कि—पूर्वोक्त उपाय समूह के मध्य में युक्त तम किसी एक उपाय के द्वारा मनोनिवेश करे। इस प्रकार अर्थ ही समीचीन है, अहो ! चिरकाल यावत् बहु प्रयत्न साध्य वैधी भक्ति मार्गानुष्ठान के द्वारा जो आवेश लाभ नहीं हो सकता है, वह भाव विशेष भाव से ही अचिरकाल में ही प्राप्त हो जाता है। तन्मध्ये द्वेषादि के द्वारा भी वह आवेश लाभ हो सकता है। अतएव एवम्भूत परमसद् गुण स्वभाव उन श्रीभगवान् में पामर जन भाव्य वैरभाव की कथा तो दूर है, ऐसा कौन अधर्म व्यक्ति होगा कि—उन श्रीभगवान् में औदास्य अवलम्बन कर प्रीति न करके भी रह सकता है ? इस रीति से श्रीभगवान् में रागानुगा भक्ति का ही युक्त तमत्व स्वीकृत हुआ है। अर्थात् श्रीभगवान् इस प्रकार परम कल्याण मय स्वभाव विशिष्ट हैं कि—उन में भक्ति करना ही युक्ति युक्त है, उस में भी रागानुगा भक्ति ही युक्ततम हैं। इस प्रकार अभिप्राय को ही "तस्मात् केनाप्युपायेन" श्लोक के द्वारा प्रकाश किया गया है।

श्रीनारद श्रीयुधिष्ठिर को कहे थे ॥३२३॥

३२४। तदेवं भावमार्गसामान्यस्यैव बलवत्वेऽपि कैमुत्येन रागानुगायामेवाभिधेयत्वमाह, (भा० ११।५।४८) —

(३२३) "वैरेण यं नृपतयः शिशुपाल-शाल्व-
पौण्ड्रादयो गतिविलास-विलोकनाद्यैः।
ध्यायन्त आकृतिधियः शयनासनादौ
तद्भाव मापुरनुरक्तधियां पुनः किम् ॥"१०३५॥

आकृतिधियस्तत्तदाकारा धीर्येषाम्। एवमेवोक्तं गारुड़े —

"अज्ञानिनः सुरवरं समधिक्षिपन्तो, यं पापिनोऽपि शिशुपाल--सुयोधन द्याः।
मुक्तिं गताः स्मरणमात्रविधूतपापाः, कः संशयः परमभक्तिमतां जनानाम् ॥"१०३६॥ इति।

अतः (भा० ७।१।२६) "यथा वैरानुबन्धेन" इत्यत्र वैरानुबन्धस्य सर्वत आधिक्यं न योजनीयम्।

यच्च, (भा० ३।१६।३१) —

३२४। अतएव पूर्वोक्त प्रकार से समस्त भाव मार्ग की बलवत्ता विद्यमान होने पर भी रागानुगा भक्ति का अभिधेयत्व को श्रीदेवर्षि नारद ने श्रीवसुदेव को भा० ११।५।४८ में कहा है।

(३२४) "वैरेण यं नृपतयः शिशुपाल शाल्व
पौण्ड्रादयो गति विलास विलोकनाद्यैः।
ध्यायन्त आकृति धियः शयनाशनादौ
तद्भावमापुरनुरक्तधियां पुन किम् ।"१०३५॥

टीका—एतदेव कैमुत्यन्यायेन स्फुटयति वैरेणेति। यं शयनाशनादौ वैरेणापि ध्यायन्तस्तस्य गति विलासाद्यैराकृतिधियस्तत्तदाकाराधीर्येषां ते तत् सारूप्यमापुः किं पुनर्वक्तव्यम् अनुरक्तधियां तत्साम्यं भवतीति।

हे वसुदेव! शिशुपाल शाल्व पौण्ड्र प्रभृति राजन्यवृन्द,—वैरभाव से जिनका ध्यान, गति, विलास, विलोकनादि के सहित करते करते शयन, आसन, पर्य्यटन प्रभृति अवस्था में श्रीकृष्णाकाराकारित चित्त होकर श्रीकृष्ण सारूप्य मुक्ति को प्राप्त किये थे, उन श्रीकृष्ण में जो लोक अनुरक्त चित्त हैं, वे जो अभीष्ट गति को प्राप्त करेंगे—इस विषय में अधिक कहना ही क्या है? इस प्रकार उल्लेख गरुड़ पुराण में भी है—

"अज्ञानिनः सुरवरं समधिक्षिपन्तो,
यं पापिनोऽपि शिशुपाल सुयोधनाद्याः।
मुक्तिं गताः स्मरणमात्रविधूतपापाः,
कः संशयः परमभक्तिमतां जनानाम् ।"१०३६॥

अज्ञानी शिशुपाल दुर्य्योधन प्रभृति पापीगण भी, देवाराध्य श्रीकृष्ण की निन्दा करते करते स्मरण मात्र प्रभाव से विधूत पाप होकर मुक्ति को प्राप्त किये थे। उन श्रीकृष्ण में परम भक्ति मान् जन जो अभीष्ट गति को प्राप्त करेंगे—इस विषय में सन्देह है ही कहाँ? अतएव (भा० ७।१।२६) में उक्त है—"यथा वैरानुबन्धेन"। इस में समस्त भावों से वैरानुबन्ध की श्रेष्ठतास्थापित नहीं हुई है। अर्थात्

"मयि संरम्भयोगेन निस्तीर्य्य ब्रह्महेलनम् ।
प्रत्येष्यतं निकाशं मे कालेनाल्पीयसा पुनः ॥"१०३७॥

इति जय-विजयौ प्रति वैकुण्ठवचनम्, तदपि तदपराधाभासभोगार्थमेव संरम्भयोगाभासं विधत्ते,–तत्-प्राप्तेस्तयोः स्वाभाविकसिद्धत्वात्, युद्धलीलार्थमेव तत्प्रपञ्चनात् । अत्र द्वेषादावपि केचिद्भक्तित्वं मन्यन्ते, तदसत्, 'भक्ति-सेवादि'-शब्दानामानुकूल्य एव प्रसिद्धेः, वैरे तद्विरोधित्वेन तदसिद्धेश्च । पाद्मोत्तरखण्डे च भक्ति-द्वेषादीनाञ्च भेदोऽवगम्यते,—
"योगिभिर्दृश्यते भक्त्या नाभक्त्या दृश्यते क्वचित् । द्रष्टुं न शक्यो रोषाच्च मत्सराच्च जनार्द्दनः ॥"१०३८

इत्यत्र च । ननु, (भा० ३।२।२४)–"मन्येऽसुरान् भागवतान्" इत्यादौ श्रीमदुद्धव-वाक्ये

वैरानुबन्ध की तीव्रता से मानव जिस प्रकार तन्मयता को प्राप्त करता है, उस प्रकार तन्मयता प्राप्त करना भक्ति योग से सम्भव नहीं है । इस प्रकार उक्ति के सारार्थ से निखिल भक्ति भाव से वैरानुबन्ध की श्रेष्ठता को मानना समीचीन नहीं है। भा० ३।१६।३० में

जय विजय के प्रति श्रीभगवान् जो कहे थे—

"मयि संरम्भयोगेन निस्तीर्य्य ब्रह्महेलनम् ।
प्रत्येष्यतं निकाशं मे कालेनाल्पीयसा पुनः ॥"१०३७॥

हे जय विजय ! मेरे प्रति वैरानुबन्ध के आवेश से ब्राह्मण अपराध से उत्तीर्ण होकर अल्पकाल के मध्य में ही पुनर्वार मेरे निकट में प्रत्यावर्त्तन करोगे" । यहाँ ब्राह्मण अमर्य्यादा जनित अपराधाभास को भोग कराने के निमित्त ही वैरानुबन्ध का आभास विहित हुआ है । अर्थात् श्रीसनकादि ऋषि वृन्द की अमर्य्यादा करने के कारण जय विजय का जो अपराध सञ्चित हुआ था, वह वस्तुतः अपराध नहीं था । कारण, वे दोनों वैकुण्ठ के द्वार पाल थे । 'नग्न अवस्था में वैकुण्ठ धाममें कोई प्रवेश न करे, प्रभु के इस प्रकार आदेशानुवर्त्ती होकर ही उन्होंने सनकादि को वेत्र के द्वारा द्वार अवरोध किया था । अतएव वह अपराधाभास है । एवं उस अपराधाभास के फल भोग हेतु द्वेषाभास विहित है । अर्थात् वस्तुतः द्वेष नहीं है, किन्तु द्वेषका अनुकरण मात्र है । इस का विशेष विवेचन प्रीति सन्दर्भ में हुआ है । जय विजय, सर्वभक्त सुखद श्रीभगवदभिमत युद्ध कौतुक सम्पादन हेतु वैरभावात्मक मायिक देह में स्वाभाविक अणिमादि सिद्धि युक्त शुद्ध सत्त्वात्मक निज विग्रह द्वारा प्रवेश करके निज निज सान्निध्य द्वारा अचेतन को चेतन करके भक्ति वासना विलीन होने पर भी तत प्रभाव से उस देह में अविष्ट न होकर अर्थात् मायिक देह धर्म में लिप्त न होकर अवस्थान करते थे । अतएव वैरभाव सम्भूत भगवत् स्मरण द्वारा उनका वैरीभाव विदूरित हुआ था । यह दोनों ही वाह्यिक हैं । यह ज्ञातव्य यह है कि—वैरभावात्मक मायिक देह सम्बन्ध हेतु उन में वैरभाव व्यक्त हुआ था । श्रीभगवान् का युद्ध कौतुक निर्वाह के वाद वह देह सम्बन्ध विनष्ट हो गया था । वे दोनों नित्य पार्षद होने के कारण—नित्य प्रेमवान् हैं । प्रेम पूर्ण चित्त में वैरभाव का उदय होना असम्भव है । वाह्यिक देह सम्बन्ध से वह भावसहकृत स्मरण एवं उस भाव का विलय, एतदुभय ही वाह्यिक हैं, सार कथा यह है कि—श्रीजय विजय का ब्राह्मण अवमानन हेतु जो अपराध हुआ था, उसका ही फल दुःखानुबन्ध रूप वैरानुबन्ध है । अतएव वैरानुबन्ध में अपराधाभास का फल दुःख भोग रूप करके भगवान् में उस का विधान करना कर्म भी समीचीन नहीं हो सकता है । विशेषतः, जय विजय की भगवत् प्राप्ति स्वाभाविक ही है, तज्जन्य युद्ध लीला हेतु तादृश वैर भाव का आवेशाभास प्रकाश हुआ था । इस

तेषामपि भागवतत्वं निर्दिश्यते ? मैवम्, यतः 'मन्ये' इत्यनेनोत्प्रेक्षावगमात्, न स्वयं भागवतत्वं तत्रास्तीत्येवं सिध्यतीति। सा चोत्प्रेक्षा तेन तच्छोकौत्कण्ठ्यवता केवलदर्शन-भाग्यांशेनैव रचिता युक्तैव, यथा--हन्त वयमेव तद्वहिर्मुखाः, येषामन्तिमसमये तन्मुखचन्द्रमसो दर्शनसम्भावनापि न विद्यते, येभ्यश्चासुरा अपि भागवताः, ये खलु तदानीं तन्मुख-चन्द्रमसो दर्शनसौभाग्यं प्रापुरिति, तस्मान्न द्वेषादौ कथञ्चिदपि भक्तित्वम् ॥ श्रीनारदः श्रीवसुदेवम् ॥

प्रकार द्वेषादि में भी कतिपय व्यक्ति भक्तित्व स्वीकार करते हैं। वह अतीव असङ्गत होने के कारण अत्यन्त असङ्गत हेतु असत् है। कारण, भक्ति, सेवा, प्रभृति शब्द श्रीभगवान् के आनुकूल्य में सुप्रसिद्ध हैं, किन्तु वैरता में सुखानुकूल्य की विरोधिता विद्यमान होने के कारण, वह भक्ति, सेवादि शब्द से अभिन्न नहीं होती है। पाद्मोत्तर खण्ड में भक्ति के सहित द्वेषादि का भेद सुस्पष्ट वर्णित है।

"योगिभिर्दृश्यते भक्त्या नाभक्त्या दृश्यते क्वचित्।
द्रष्टुं न शक्यो रोषाच्च मत्सराच्च जनार्दनः ॥" १०३८॥

योगिगण, भक्ति नेत्र से श्रीभगवान् का दर्शन करते हैं। भक्ति हीन नयनों से कभी भी भगवान् दृष्ट नहीं होते हैं। इस प्रकार प्रमाण के द्वारा---भक्ति एवं द्वेष का पारस्परिक विभेद सुस्पष्ट हुआ है :

कतिपय व्यक्ति मानते हैं कि—भा० ३।२।२४ में "मन्येऽसुरान् भागवतान्" उक्ति के अनुसार असुर को भी भागवत संज्ञा से अभिहित किया गया है।

श्रीउद्धव विदुर को कहे थे—

"मन्येऽसुरान् भागवतांस्त्र्यधीशे संरम्भमार्गाभिनिविष्टचित्तान्।
ये संयुगेऽचक्षत तार्क्ष्यपुत्रमंसे सुनाभायुधमापतन्तम् ॥"

विदुर ! आप मन में कर सकते हैं कि श्रीभगवान् भागवत गण को ही अनुग्रह करते हैं, शास्त्र में इस का प्रसिद्ध उदाहरण है। किन्तु असुरगण को अनुग्रह करते हैं, इस को प्रसिद्धि नहीं है। यह सत्य है, किन्तु मैं मानता हूँ कि—असुरगण भी परमभागवत हैं। कारण, भागवत वृन्द के समान वे भी भगवत् ध्यान के अभिनिवेश से भगवत् साक्षात् दर्शन करते हैं। कारण, वे क्रोधावेश से त्रिगुण मायानियन्ता श्रीभगवान् में अभिनिविष्ट चित्त होने के कारण युद्धस्थल में कश्यप पुत्र गरुड़ के स्कन्ध देश में आविर्भूत चक्रायुध श्रीहरि का साक्षाद् दर्शन किये थे। श्रीउद्धव के वाक्य में भगवत् विद्वेषी असुर वृन्द को भागवत कहा गया है। उस के उत्तर में कहते हैं—"मैवम्" अर्थात् इस प्रकार सिद्धान्त कभी भी युक्ति सङ्गत नहीं हो सकता है। कारण, श्रीउद्धव ने कहा है—'मन्ये' अर्थात् मेरे मन में यह बात उठती है कि—असुर गण भी भागवत हैं। इस प्रकार उक्ति से उत्प्रेक्षा का ही बोध होता है। वस्तुतः उस असुर वृन्द में भागवतत्व नहीं है। यदि होता तो, 'मन्ये' मैं मानता हूँ, इस प्रकार उक्ति नहीं होती। वह उत्प्रेक्षा भी, श्रीकृष्ण विरह जनित शोक से भगवद् दर्शन हेतु उत्कण्ठायुक्त होकर भगवद् विद्वेषी वृन्द के केवल भगवद् दर्शन सौभाग्य अंश में ही भागवतत्व आरोप किया गया है। जिस प्रकार आक्षेप करके श्रीउद्धव मन ही मन सोच रहे थे, "हा धिक् ! हम भगवद् वहिर्मुख हैं, अन्तिम समय में भी श्रीकृष्ण के मुख चन्द्रमा की दर्शन सम्भावना भी नहीं है। हमारी अपेक्षा असुर वृन्द भागवत हैं, जिन्होंने अन्तिम समय में श्रीकृष्ण मुख चन्द्रमा का दर्शन सौभाग्य प्राप्त किया है।" इस प्रकार भाव से ही असुर गण को भागवत रूप में उन्होंने

३२५। तदेवं रागानुगा साधिता। सा च श्रीकृष्ण एव मुख्या, (भा० ७।१।३०)—"गोप्यः कामात्" इत्यादिना तस्मिन्नेव दर्शितत्वात्, दैत्यानामपि द्वेषेणापि तस्मिन्नेवावेशलाभ-दर्शनात् सिद्धिप्राप्तेश्च। नान्यत्र तु कुत्राप्यंशिन्यंशे वा। अतएवोक्तम् (भा० ७।१।३१)—"तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे" इत्यादि। अतस्तादृश-झटित्यावेशहेतूपासनालाभादेव स्वयमेकादशे वैधोपासना स्वस्मिन्नोक्ता, किन्त्वन्यत्र चतुर्भुजाकार एव। तत्र च शुद्धस्य रागस्य श्रीगोकुले एव दर्शनात्, तत्र तु रागानुगा मुख्यतमा, यत्र खलु स्वयं भगवानपि तेषां पुत्रादिभावेनैव विलसति, (गी० ४।११)—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते" इत्यादेः, (भा० १०।४३।१७) "मल्लानामशनिः' इत्यादेः, (भा० १०।१४।२) "स्वेच्छामयस्य" इत्यस्माच्च। ततश्च भक्तकर्तृक-भोजन-पायन-

---

उत्प्रेक्षण की है। वस्तुतः द्वेषादि में किसी प्रकार भक्ति नहीं है।

श्रीनारद श्रीवसुदेव को कहे थे ॥३२४॥

३२५। पूर्वोक्त रीति से रागानुगा भक्ति साधित हुई। यह रागानुगा भक्ति--व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण विषय में ही मुख्या है। कारण—भा० ७।१।३० में उक्त है—

"गोप्यः कामाद् भयात् कंसो द्वेषाच्चैद्यादयोनृपाः।
सम्बन्धाद् वृष्णयः स्नेहाद् यूयं भक्त्या वयं विभो ॥"

इत्यादि श्लोक से श्रीकृष्ण ही लक्षित हैं। दैत्यवृन्द का विद्वेष के द्वारा श्रीकृष्ण में आवेश एवं तज्जनित अभीष्ट लाभ भी दृष्ट होता है। किन्तु श्रीकृष्ण भिन्न अपर किसी अंश में वा अंशावतार में इस प्रकार आवेश अथवा अभीष्ट लाभ दृष्ट नहीं होता है। अतएव भा० ७।१।३१ में उपदेश है, "तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत्" अर्थात् उक्त श्लोकों के द्वारा श्री कृष्ण में ही मनोनिवेश करने के निमित्त उपदेश किया गया है। एतज्जन्य श्रीकृष्णोपासना में सत्वर मानसिक आवेश का कारण विद्यमान होने के कारण श्री कृष्ण स्वयं ही एकादशस्कन्ध में वैधी उपासना का वृत्तान्त कहे हैं। यहाँ पर समझने की बात यह है कि—यद्यपि श्रीकृष्ण विषय में वैधी भक्ति करने का उपदेश है, किन्तु वह उपदेश चतुर्भुज श्रीकृष्ण को लक्ष्य करके ही हुआ है। व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण में ही श्रीगोकुल वासी का विशुद्ध राग दृष्ट होता है, श्रीगोकुल में ही अर्थात् गोकुल वासी जननिकर में ही यह रागानुगा मुख्यतम है। जिस श्रीगोकुल में स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण भी उन सब गोकुल वासियों के पुत्रादि भाव में विलास करते हैं। अर्थात् स्वयं भगवान् होकर भी एवं किञ्चिन्मात्र भगवदावेश का अनुसन्धान न करके ही पुत्र, सखा एवं प्रिय रूप में विलास करत रहते हैं। कारण (गी० ४।११) में उक्त है—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते" जो जिस प्रकार से मेरा भजन करते हैं, मैं भी उन सब का भजन उस प्रकार से ही करता रहता हूँ। भजनानुरूप भजन श्रीकृष्ण करते हैं—उसका उदाहरण भा० १०।४३।१७ में हैं—

"मल्लानामशनि र्नृणां नरवरः स्त्रीणांस्मरो मूर्त्तिमान्।
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः।
मृत्यु र्भोज पते र्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां
वृष्णीनां परदेवतेति विदितोरङ्गं गतः साग्रजः ॥"

टीका- तत्र शृङ्गारादि सर्व रस कदम्ब मूर्त्ति र्भगवान् तत्तदभिप्रायानुसारेण बभौ न साकल्येन सर्वेषामित्याह—मल्लानामिति। मल्लानामज्ञानां द्रष्टॄणाम् अशन्यादि रूपेण दशधा विदितः सन् साग्रजो

स्नपन-वीजनादिलक्षण-लालनेच्छापि तस्याकृत्रिमैव जायते । साधारणभक्तिसद्भावेनैव हि (गी० ९।२६)—

"पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति । तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥"१०२९॥

रङ्गं गतः । इत्यन्वयः मल्लादिष्वभिव्यक्ता रसाः क्रमेण श्लोकेन निबध्यन्ते । रौद्रोऽद्भुतश्च शृङ्गारो हास्यं वीरोदया तथा । भयानकश्च बीभत्सः शान्तः स प्रेम भक्तिकः । अविदुषां विराट् विकलः अपर्य्याप्तोराजत इति तथा । अनेन बीभत्स रस उक्तः, विकलत्वञ्च क्व वज्रसार सर्वाङ्गावित्यादिना वक्ष्यते ।

श्रीकृष्ण, जिस समय कुवलयापीड़ नामक हस्ती को बध करके रङ्ग भूमि में प्रवेश किये थे, उस समय मल्लगण देखे थे—जैसे साक्षात् वज्र ही मूर्त्ति धारण कर आ रहे हैं । सभास्थ सभ्यवृन्द ने नर श्रेष्ठ रूप में देखा, स्त्रीगण साक्षात् कन्दर्प रूप में देखी थीं । गोपगण—निज स्वजनरूप में देखे थे । दुष्ट राजन्य वृन्द ने शासन कर्त्ता रूप में देखे थे । माता पिताने शिशु रूप में देखा । कंस ने तो देखा कि—साक्षात् मृत्यु ही मूर्त्ति धारण कर उपस्थित है । अतत्त्वज्ञव्यक्ति वृन्द के निकट पाञ्चभौतिक देह धारी रूप में योगी वृन्द के निकट—परम तत्त्व—परमात्मा रूप में यादव वृन्द के निकट परमाराध्य अभीष्ट देवरूप में श्रीकृष्ण उस सभा में सभ्यगण के भाव के अनुरूप प्रकाशित हुए थे । भा० १०।१४।२ में उक्त है—

"अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि ।
नेशेमहि त्ववसितुं मनसान्तरेण साक्षात् तवैव किमुतात्मसुखानुभूतेः ॥"

टीका—ननु नौमीति प्रतिज्ञाय किं स्वरूपानुवादमात्रं क्रियते, अत आह अस्यापीति । भो देव ! अस्यापि सुलभत्वेन प्रकाशितस्यापि तव वपुषोऽवतारस्य महि—महिमानम्, अवसितुं ज्ञातुं, कोऽपि, को ब्रह्मा अहमपि नेशे न शक्नोमि । यद्वा, कश्चिदपि नेशे न समर्थ आसीत् । सुलभत्वाय विशेषण द्वयम् । मदनु ग्रहस्य—मम अनुग्रहो यस्मात् तत् मदनुग्रहं तस्य, किञ्च, स्वेच्छामयस्य स्वीयानां भक्तानां यथा यथा इच्छा, तथा तथा भवतः । तर्हि किमिति ज्ञातुं न शक्यतेऽतआह—न तु भूतमयस्य, अचिन्त्य शुद्ध सत्त्वात्मकस्य यदा अस्यैव तदा कथं पुनः साक्षात् तव केवलस्य आत्मसुखानुभूतेरेव स्वसुखानु भव मात्रस्यावतारिणोगुणातीतस्य महिमानम् आन्तरेण निरुद्धेनापि मनसा को वा ज्ञातुं समर्थो भवेत् । अथवा, भूतमयस्य अपित विराट् रूपस्य तव तन्नियम्यस्य वपुष्यं महिमानमेव अवसितुं कोऽपि नेशे, तदा साक्षात् तवैवासाधारणस्य नियम्य नियन्तृ भेद रहितस्योक्त लक्षणस्यास्य महिमानम् अवसितुं कोऽपि नेश इति किमु वक्तव्यमित्यर्थः ।

श्रीकृष्ण, भक्तेच्छा के अनुरूप आविर्भूत होते हैं । इसका कथन प्रस्तुत श्लोक में हुआ है । भक्तेच्छा जिस प्रकार आस्वादन हेतु होती है, श्रीभगवान् उस प्रकार ही भक्त के निकट आविर्भूत होते हैं । कभी भक्त की इच्छा के विरुद्ध आचरण नहीं करते हैं । यद्यपि स्वयं भगवान् होने के कारण, परम स्वतन्त्र हैं, तथापि—निज भक्त की इच्छा के ऊपर किसी प्रकार स्वाधीनता प्रकाशित नहीं होती है । अतः भक्त कर्त्तृक भोजन, पान, स्नपन, एवं वीजादि लक्षण लालन प्राप्ति की इच्छा भी भगवान् में अकृत्रिम भाव से ही प्रकाशित होती है । श्रीगोकुलवासी गण के सम्बन्ध में इस प्रकार श्रीकृष्ण की आकाङ्क्षा स्वाभाविक रूप से रहती है । साधारण भक्ति विद्यमान होने पर ही भगवान् भक्त दत्त वस्तु का आस्वादन आदर पूर्वक करते हैं—इस की घोषणा समस्वर से (गी० ९।२६ एवं श्रीमद् भागवत में है—

"पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥" भा० १०।८१।३

इत्युक्तम् । श्रीशुकदेवेन च तदेतदेवाकाङ्क्षया श्लाघितम् (भा० १०।१५।१७)—

"पादसम्वाहनं चक्रुः केचित्तस्य महात्मनः ।
अपरे हतपाप्मानो व्यजनैः समवीजयन् ॥"१०४०॥

इत्यादिना । नानेन चैश्वर्य्यस्य हानिः,–तदानीमपि तस्यैश्वर्य्यस्यान्यत्र स्फुरद्रूपत्वात् भक्तेच्छामयत्वस्य चेशितरि प्रशंसनीयस्वभावत्वादेव, यथा श्रीव्रजेश्वरीबद्ध एव यमलार्ज्जुन-मोक्षं कृतवान् । तादृशैश्वर्य्येऽपि तस्मिन् श्रीव्रजेश्वरीवश्यतैव श्रीशुकदेवेन वन्दिता (भा० १०।९।१९) –"एवं सन्दर्शिता ह्यङ्ग" इत्यादिना । तस्माद् ये चाद्यापि तदीयरागानुगा-परास्तेषामपि श्रीव्रजेन्द्र नन्दनत्वादिमात्रधर्म्मैरुपासना युक्ता, यथा गोवर्द्धनोद्धरणलब्ध-विस्मयान् श्रीगोपान् प्रत्युक्तं स्वयंभगवतैव श्रीविष्णुपुराणे (५।१३।११)–

'यदि वोऽस्ति मयि प्रीतिः श्लाघ्योऽहं भवतां यदि । तदात्मबन्धुसदृशी बुद्धिर्वः क्रियतां मयि ॥"१०४१॥
"तदार्च्चा बन्धुसदृशी बान्धवाः क्रियतां मयि" इति वा पाठः, तथा (वि० पु० ५।१३।१२)—

में अनुरूप श्लोक है । उभय स्थान के बक्ता श्रीकृष्ण हैं एवं श्रोता सखा है । भक्ति भाव से संग्रह करके भक्ति पूत हृदय से जो मुझ को पत्र पुष्प फल जल समर्पण करता है, मैं फलाकाङ्क्षा रहित उस भक्त प्रदत्त पत्रादि भी भोजन करता हूँ । श्रीशुक देवने भी उस प्रकार भाव प्राप्ति की आकाङ्क्षा करके भाव की प्रशंसा की है– (भा० १०।१५।१७)

"पादसम्बाहनं चक्रुः केचित्तस्य महात्मनः ।
अपरे हतपाप्मानो व्यजनैः समवीजयन् ॥"१०४०॥

श्रीकृष्ण, सखावृन्द के सहित क्रीड़ा करते करते परिश्रान्त होकर पल्लवशय्या में शयन करने पर कोई कोई महात्मा सखा उनके पाद सम्बाहन किए थे । एवं परम सौभाग्यवान् कतिपय सखा कुसुम युक्त वृक्ष शाखा द्वारा उन को वीजन किये थे। इस वृत्तान्त वर्णन करते करते उस प्रकार सेवा लाभ की आकाङ्क्षा जो शुक देव की हुई थी—इस से सुस्पष्ट बोध होता है ।

इस से श्रीभगवान् की किसी प्रकार ऐश्वर्य्य हानि नहीं होती है । कारण, श्रीभगवान् जब भक्ताधीन होकर निज भगवत्ताविस्मृत होते हैं, तब ही उनका परिपूर्व ऐश्वर्य्य प्रकट अन्यत्र होता है । सर्व समर्थ श्रीभगवान् के भक्तेच्छामयत्व स्वभाव—अत्यन्त प्रशंसनीय है । जिस समय श्रीकृष्ण, मा यशोदा कर्त्तृक रज्जु से आवद्ध थे, उसी समय,--उन्होंने यमलार्जुन को मुक्ति प्रदान की । श्रीभगवान् में तादृश ऐश्वर्य्य होते हुये भी श्रीव्रजेश्वरी वश्यता की ही श्रीशुकदेव ने वन्दना की है (भा०।१०।९।१९) एवं सन्दर्शिता ह्यङ्ग" इत्यादि वाक्य के द्वारा ।

श्रीभगवान्—ऐश्वर्य्य ज्ञानी भक्त वृन्द को यह दाम बन्धनादि लीला के द्वारा निज भक्तवश्यता को सम्यक् रूप से प्रदर्शन किये हैं । इस प्रकार भक्त वश्यता स्वभाव की श्रीशुक देव ने विविधस्थानों प्रशंसा की है । अतएव अद्यापि जो सब भक्त, व्रजवासी जनगण के रागानुगत होकर भजन करते रहते हैं, उन सब की उपासना, श्रीव्रजेन्द्रनन्दनत्वादि मात्र धर्म के सहित करनी चाहिये । अर्थात् भगवत् बुद्धि से उपासना करना, व्रज रागानुगीय भक्त के पक्ष में विरुद्ध है । जिस प्रकार गोवर्द्धन धारण लीला में विस्मय प्राप्त गोप गण के प्रति स्वयं भगवान् कहे हैं—विष्णु पुराण (५।१३।११) में

"नाहं देवो न गन्धर्व्वो न यक्षो न च दानवः।
अहं वो बान्धवो जातो नानश्चिन्त्यमतोऽन्यथा ॥"१०४२॥ इति।

(भा० १०।३।४५) "युवां मां पुत्रभावेन ब्रह्मभावेन वासकृत्" इत्यत्र तु श्रीवसुदेवादीनामैश्वर्य्य-ज्ञानप्रधानत्वाद्द्वयात्मिकैव भगवदनुमतिर्ज्ञेया। प्रागुजन्मन्यपि तयोस्तपआदि--प्रधानैव भक्तिरुक्ता अतः श्रीव्रजेश्वर्य्याः पुनस्तन्मुखदृष्टवैभवत्वमश्लाघित्वा पुत्रस्नेहमयीं मायाद्येक-पर्य्यायां तत्कृपामेव बहुमन्यमानस्तादृशभाग्यञ्च श्रीवसुदेवादिकयोर्नास्तीति विस्पष्टयन् तस्याः श्रीव्रजेश्वरस्य च भाग्यं तादृश-वाल्यलीलोच्छल्यमानपुत्रभावेन राजमानमतिश्लाघितवान् राजा, (भा० १०।८।४६) —"नन्दः किमकरोद्-ब्रह्मन्" इत्यादि-द्वयेन, श्रीमुनिराजश्च तादृश-

---

"यदि वोऽस्ति मयि प्रीतिः, श्लाघ्योऽहं भवतां यदि।
तदात्मबन्धु सदृशी बुद्धिर्वः क्रियतां मयि ॥"१०४१॥

तदार्च्चा बन्धु सदृशी बान्धवाः क्रियतां मयि ॥" इति वा पाठः तथा विष्णु पुराण में (५।१३।१२)

"नाहं देवो न गन्धर्वो न यक्षो नच दानवः ॥"
अहं वो बान्धवो जातो नातश्चिन्त्यमतोऽन्यथा ॥"१०४२॥

यदि मेरे प्रति तुम्हारी प्रीति हो, तो, और मैं यदि तुम्हारे आदरणीय हूँ, तो, मेरे प्रति निज बन्धु सदृश आचरण करो। कहींपर—"ऐसा होने पर—हे बान्धव वृन्द! निज बन्धु सदृशी पूजा ही मेरी करें" इस प्रकार अर्थ सूचक पाठ भी दृष्ट होता है। श्रीकृष्ण ने और भी कहा है—"मैं देवता नहीं हूँ। गन्धर्व नहीं हूँ, यक्ष नहीं है, दानव नहीं हूँ, मैं तुम्हारे कुल में उत्पन्न हूँ एवं बान्धव हूँ।, इस को छोड़कर मेरे विषय में अपर कुछ भी चिन्ता मेरे विषय में न करें। भ० १०।३।४५ में कहा है—"युवां मां पुत्र भावेन ब्रह्म भावेन वासकृत्" श्रीवसुदेव देवकी में ऐश्वर्य्य ज्ञान का प्राधान्य था,—तज्जन्य कहा है—तुम दोनों मुझ को पुत्र भाव से अथवा ब्रह्म भाव से स्नेह पूर्ण हृदय में नियत चिन्ता करते करते निज परम अभीष्ट आस्वादन को प्राप्त करोगे" इस में भगवान् की अनुमति द्विविध हैं, पृश्णि, सुतपा, कश्यप, अदिति--पूर्व जन्म में भी तपः प्रभृति प्रधान भक्ति कथा भी कही गई है। अतएव श्रीव्रजेश्वरी का पुनर्वार-अर्थात् एक वार जृम्भा परित्याग करने के समय में अङ्क में शायित श्रीकृष्ण वदन में विश्व दर्शन, द्वितीय वार, मृद् भक्षण के समय श्रीकृष्ण मुख में विश्व दर्शन रूप वैभव की प्रशंसा न करके ही पुत्र स्नेह मयी कृपा का ही अपर नाम, माया को ही महत्व प्रदान कर, एवं यह श्रीव्रजेश्वरी के समान सौभाग्य श्रीवसुदेव देवकी का नहीं है, सुस्पष्ट रूप से इस का उल्लेख करके श्रीव्रजेश्वरी एवं श्रीव्रजराज के तादृश उच्छलित पुत्रभाव के सहित विराजमान सौभाग्य की प्रशंसा महाराज परीक्षित् ने अतिशय रूप से की है। भा० १०।८।४६--४७ श्लोक द्वय में उस का निदर्शन है।

"नन्दः किमकरोद् ब्रह्मन् श्रेय एवं महोदयम्।
यशोदा वा महाभागा पपौ यस्याः स्तनं हरिः॥"
पितरौ नान्वविन्देतां पुत्र दारार्भके हितम्।
गायन्त्यद्यापि कवयो यल्लोक शमलापहम् ॥"

श्रीपरीक्षित् महाराज श्रीशुक देव को पूछे थे—"हे सर्व वेद तत्त्व! महाराज नन्द ने ऐसा कौन श्रेयः साधन किया था, जिस से श्रीकृष्ण के प्रति पूर्वोक्त पुत्र स्नेह अतुलनीय उत्कर्ष मण्डित हुआ था?

तत्प्रेमैव श्लाघितवान्, (भा० १०।९।१९) —"एवं सन्दर्शिता ह्यङ्ग हरिणा" इत्यादिना। तदेवं श्रीवसुदेव-देवक्यावुपलक्ष्य श्रीनारदोऽपि साधकान् प्रति (भा० ११।५ ४७) —"दर्शनालिङ्गनालापैः" इत्यादिना यदुपदिष्टवान्, तत्र टीका च यथा—"पुत्रोपलालनेनैव भागवत-धर्म्मसर्व्वस्व निष्पत्तेः" इत्येषा, तथा (भा० ११।५।४९) "मापत्यबुद्धिमकृथाः कृष्णे सर्व्वेश्वरेश्वरे" इत्येतदपि तदविरोधेन टीकायामेवमवतारितम्, यथा,—"ननु पुत्रस्नेहश्चेन्मोक्षहेतुस्तर्हि सर्व्वेऽपि मुच्येरन् ? तत्राह—मापत्यबुद्धिमिति" इत्येतत्। तस्मिन्नपत्यत्वं प्राप्तेऽपि तस्मिन् तादृश-भावनावशंगतेऽप्यस्ति स्वाभाविकं पारमैश्वर्य्यमधिकमिति भावः। यद्वा, पूर्व्ववन्नार्षोऽड़ागमः, किन्त्वकारो निषेधे, "अभावे न ह्य नो न" इति शब्दकोषात्, ततो निषेधद्वयादपत्यबुद्धिमेव कुर्वित्यर्थः। अतएव ज्ञानाज्ञानयोरनादरेण केवलरागानुगाया एवानुष्ठितिः प्रशस्ता,

---

श्रीनन्द महाराज से भी श्रीयशोदा का सौभाग्य अत्यधिक है। कारण, श्रीहरि उनका स्तन्य पान किये थे। लोक शास्त्र विख्यात पिता माता श्रीवसुदेव देवकी भी एतादृश बाल्य चरित्र को अनुभव नहीं किये थे। अद्यादि श्रीकृष्ण द्वपायन प्रमुख महानुभव गण जिस बाल्य लीला सुधा का गान परम आवश से करते रहते हैं। जिस को सुन कर वहिर्म्मुख जनगण की श्री भगवद् वहिर्मुखता विदूरित होकर श्रीभगवान् में प्रीति का उदय होता है।।" इस रीति से महाराज परीक्षित् श्रीव्रजराज व्रजेश्वरी के विशुद्ध भाव की प्रशंसा किये थे। निखिल मुनिगण मुकुटमणि श्रीशुकदेव ने भी श्रीव्रजराज—व्रजेश्वरी के ऐश्वर्य्य गन्ध शून्य विशुद्ध वात्सल्य प्रेम की प्रशंसा "एवं सन्दर्शिताह्यङ्ग" प्रभृति श्लोकों के द्वारा की है। ऐसा होने पर पूर्वोक्त प्रकार से श्रीवसुदेव देवकी को उपलक्ष्य करके श्रीनारद ने भी साधकों के निमित्त (भा० ११।५।४७) "दर्शनालिङ्गनालापैः प्रभृति के द्वारा जो उपदेश किया है—"हे श्रीवसुदेव ! अपरापर भागवत वृन्द,- श्रीभगवान् में सर्व कर्म समर्पण रूप भागवद्धर्म के द्वारा जिस प्रकार चित्त शुद्धि को प्राप्त करते हैं, उस प्रकार भागवद्धर्म अनुष्ठान के द्वारा चित्त शुद्धि सम्पादन की आवश्यकता तुम्हारी नहीं है, कारण, दर्शन, आलिङ्गन, आलाप, शयन, उपवेशन, एवं भोजन प्रभृति के द्वारा अनवरत श्रीकृष्ण में जो पुत्र स्नेह करते रहते हो, उस से ही तुम्हारे देहेन्द्रिय मन, आत्मा का सम्यक् शोधन सम्पादित हुआ है। कारण, श्रीकृष्ण के प्रति यह पुत्र स्नेह ही भागवद् धर्म का सार सर्वस्व है। श्रीधर स्वामिपाद ने भी निज कृत टीका में इस का उल्लेख किया है—"पुत्रोपलालनेनैव भागवद्धर्म सर्व्वस्व निष्पत्तेः"। अनन्तर श्रीनारद ने भी भा० १०।५।४९ में कहा है—"मापत्य बुद्धिमकृथाः कृष्णे सर्वेश्वरेश्वरे" "सर्वेश्वर श्रीकृष्ण में अपत्य बुद्धि न करो" यहाँपर पूर्व वर्णित पुत्र स्नेह के अविरोध मे ही टीका में इस प्रकार अवतारणा उन्होंने की है—"ननु पुत्र स्नेहश्चेन्मोक्ष हेतु स्तर्हिसर्वेऽपि मुच्येरन् ? तत्राह मापत्यबुद्धिमिति"। यदि पुत्र स्नेह ही मोक्ष हेतु होता है तो सभी मुक्त हो जायेंगे ? उस के उत्तर में कहा, श्रीकृष्ण सर्वेश्वरेश्वर हैं। उन को अपत्य रूप में प्राप्त करने पर भी एवं आप स्वयं अपत्य भावना से वशीभूत होने पर भी उनका स्वाभाविक पारमैश्वर्य्य अधिक रूप से ही विद्यमान है। अर्थात् यद्यपि श्रीकृष्ण, को पुत्र रूप में प्राप्त किये हैं। एवं श्रीकृष्ण तुम्हारे पुत्र स्नेह वशीभूत हैं, तथापि अग्नि की स्वाभाविक उष्णता शक्ति के समान श्रीभगवान् में अप्रतिहत ऐश्वर्य्य सर्वदा विद्यमान् है। अतएव सर्वेश्वर श्रीकृष्ण में पुत्रादि स्नेह मोक्ष हेतु है। देहाभिमानी जीव, सर्वथा मायाधीन होने के कारण, पुत्रादि के प्रति पुत्रस्नेह प्रभृति मोक्ष हेतु न होकर मायामय बन्धन ही उस से होता है। अथवा "मापत्य बुद्धिमकृथाः" यहाँ 'मा' अव्यय योग से अकृथाः" यह अड़ागम होना असङ्गत

(भा० ११।११।३३) "ज्ञात्वाज्ञात्वाथ ये वै माम्" इत्यादिना । तस्मात् श्रीगोकुल एव रागात्मिकायाः शुद्धत्वात्, तदनुगा भक्तिरेव मुख्यतमेति साध्वेवोक्तम् । तदेव-मन्यत्रासम्भवतया रागानुगामाहात्म्यदृष्ट्या पूर्णभगवत्ता-दृष्ट्या च श्रीकृष्णभजनस्य माहात्म्यं महदेव सिद्धम्, तत्रापि श्रीगोकुल-लीलात्मकस्य ।

अथ तद्भजनमात्रस्य माहात्म्यमुपक्रमत एव यथा (भा० १।२।५) —

"मुनयः साधु पृष्टोऽहं भवद्भिर्लोकमङ्गलम् ।
यत्कृतः कृष्णसंप्रश्नो येनात्मा सुप्रसीदति ॥"१०४३॥ इति ।

तत्रैतद्वक्तव्यम्—पूर्व्वं मनसः सुप्रसादहेतुः पृष्टः, अनेन तु श्रीकृष्णप्रश्नमात्रस्य तद्धेतुतोक्ता,

---

होने पर भी आर्ष अर्थात् ऋषि वाक्य हेतु स्वीकृत है। इस प्रकार उल्लेख पहले भी हुआ है। किन्तु 'अकृथाः' में अकार निषेध वाची है।

कारण, कोषकार के मत में अ, मा, न, नो, ना' निषेध वाची है। अतएव 'मा' पद यहाँ निषेध वाची है। एवं 'अकृताः' पदस्थित 'अ' भी निषेधार्थक है। अतएव "द्वौ नञौ स्वीकृतार्थं द्योतयतः" अर्थात् नञ्द्वय स्वीकृतार्थ का बोधक हैं। अतः यहाँ 'हे वसुदेव देवकि ! सर्वेश्वर श्रीकृष्ण में तुम सर्वथा पुत्र बुद्धि ही करो" यह कहा गया है। अतएव भगवान् को भगवान् जानकर अथवा भगवान् न जानकर-- इस के प्रति आदर न करके केवल रागानुगा भक्ति का अनुष्ठान करना ही प्रशस्त है। भा० ११।११।३३ में कथित है—"ज्ञात्वाज्ञात्वाय ये वै माम् ।" इस में उक्तार्थ प्रकाशित है। अतएव श्रीगोकुल में ही रागात्मिका भक्ति का व्यवहार—ऐश्वर्य ज्ञान शून्य पुत्र, सखा, कान्ता भाव—विशुद्ध रूप में विद्यमान होने के कारण, रागात्मिका की अनुगा भक्ति ही मुख्यतमा है, इस का कथन सुन्दर रूप से हुआ है।

अतएव पूर्वोक्त रीति से अन्यत्र विशुद्ध रागात्मिका की सम्भावना न होने के कारण, रागानुगा-- माहात्म्य दृष्टि से ही, अनन्ता श्रीभगवान् की पूर्ण भगवत्ता दृष्टि से ही, श्रीकृष्ण भजन का माहात्म्य सर्व श्रेष्ठ है। तन्मध्ये भी श्रीगोकुल लीला विलासी श्रीकृष्ण भजन का माहात्म्य की जिज्ञासा श्रीसूत के समीप में श्रीमद्भागवत के उपक्रम में श्रीशौनकादि ऋषि वृन्द किये थे। (भा० १।२।५) में उक्त है—

"मुनयः साधु पृष्टोऽहं भवद्भिर्लोकमङ्गलम् ।
यत्कृतः कृष्णसंप्रश्नो येनात्मा सुप्रसीदति ॥"१०४३।

उत्तर में श्रीसूत कहे थे—हे मुनिगण ! आप के कर्त्तृक मैं अति पवित्र विषय में जिज्ञासित हुआ हूँ। यह जिज्ञासा ही लोक मङ्गलकर है। कारण, आप सबने श्रीकृष्ण विषयक प्रश्न किया है। श्रीकृष्ण विषयक जिस प्रश्न के द्वारा चित्त सुप्रसन्न होता है। यहाँ पर कहना यह है कि—पहले मुनिवृन्द ने श्रीसूत को पूछा था कि—किस उपाय से मनः प्रसन्न होता है ? श्रीसूतने उत्तर में किन्तु श्रीकृष्ण विषयक प्रश्न को ही मनः प्रसन्न होने का एक मात्र कारण कहा था। किन्तु भा० १।२।६ में उक्त "सर्वं पुंसां परोधर्मः" वही मानव मात्र के पक्ष में परम धर्म है, जिस से अधोक्षज भगवान् में रुचि लक्षणा भक्ति का उदय होता है। अनन्तर उक्त प्रकरण में उक्त है—अतिशय प्रयत्न पूर्वक कर्मार्पण से आरम्भ कर भक्ति में निष्ठा से आरम्भ कर भावोदय होने से श्रीराम, श्रीनृसिंह, वामन प्रभृति भगवदवतार का भजन के द्वारा चित्त शुद्धि होती है, इस प्रकार कहा गया है। श्रीकृष्ण भजन किन्तु उस प्रकार नहीं है। इस प्रसङ्ग का तात्पर्य्य

न तु (भा० १।२।६) "स वै पुंसां परो धर्म्मः" इत्यादिना तदीयानन्तरप्रकरणे यथा महता प्रयत्नेन कर्म्मार्पणमारभ्य भक्तिनिष्ठापर्य्यन्त एव जाते प्रादुर्भावान्तरभजनस्य तद्धेतुतोक्ता, तथेति। अतएवावतारान्तरकथाया अपि तदभिनिवेश एव फलमित्याह (भा० २।८।२) —

(३२५) "हरेरद्भुतवीर्य्यस्य कथा लोकसुमङ्गलाः।
कथयस्व महाभाग यथाहमखिलात्मनि।
कृष्णे निवेश्य निःसङ्गं मनस्त्यक्ष्ये कलेवरम्।।"१०४४।। इति।

हरेस्तदवताररूपस्य, अखिलात्मनि सर्व्वांशिनि कृष्णे श्रीमदर्जुनसखे।। राजा।।

३२६। तथा श्रीमदुद्धव-संवादान्ते च यथा। तत्र यद्यपि पूर्व्वाध्याय--समाप्तौ उक्ताया ज्ञानयोग-चर्य्याया भक्तिसहभावेनैव स्वफलजनकत्वं श्रीभगवतोक्तम्, तथापि तां ज्ञानयोग-चर्य्यामंशतोऽप्यनङ्गीकुर्व्वता परमैकान्तिना श्रीमदुद्धवेन (भा० ११।२६।१-२) —

"सुदुश्चरामिमां मन्ये योगचर्य्यामनात्मनः।
यथाञ्जसा पुमान् सिध्येत्तन्मे ब्रूह्यञ्जसाच्युत।।१०४५।।

यह हैं कि—जब तक निष्ठा भक्ति का उदय नहीं होता है, तब तक मन प्रसन्न नहीं होता है। किन्तु श्रीकृष्ण भजन कथा प्रसङ्ग में प्रश्न मात्र से ही चित्त प्रसन्न होता है "यत् कृतः कृष्ण संप्रश्नः येनात्मा सु प्रसीदति" इस श्लोक में उक्ताभिप्राय व्यक्त हुआ है। अतएव अन्यान्य अवतार वृन्द की कथा श्रवण कीर्त्तनादि का भी फल है। श्रीकृष्ण में अभिनिवेश होना। इस का ही वर्णन भा० २।८।२ में हुआ है—

(३२५) "हरेरद्भुतवीर्य्यस्य कथा लोकसुमङ्गला।
कथयस्व महाभाग यथाहमखिलात्मनि।
कृष्णे निवेश्य निःसङ्गं मनस्त्यक्ष्ये कलेवरम्।।"१०४४।।

श्रीपरीक्षित् महाराज श्रीशुक को कहे थे—"हे महाभाग! अद्भुत प्रभाव श्रीहरि की लोक सुमङ्गला कथा का कीर्त्तन आप करें। जिस से मैं सर्वांशी अर्जुनसखा श्रीकृष्ण में निःसङ्ग मन को अभिनिविष्ट करके इस कलेवर को परित्याग कर सकूँ। अन्य भगवत् कथा श्रवण करने से श्रीकृष्ण चरणों में अभिनिवेश होता है—इस का उल्लेख इस श्लोक में हुआ है।

श्रीराजा श्रीशुक को कहे थे।।३२५।।

३२६। भागवत के एकादश स्कन्ध श्रीउद्धव के सहित श्रीकृष्ण का जो संवाद हुआ था—उस में भी पूर्वोक्त अभिप्राय हो प्रकाशित हुआ है। यद्यपि उस प्रसङ्ग के ११।२८।४४ में श्रीकृष्ण ज्ञान एवं योग चर्य्या के सहित भक्त्यानुष्ठान के द्वारा ही निज निज फल साधनत्व का प्रदर्शन किये हैं, अर्थात् ज्ञान साधन हो, वा योग साधन हो, यदि भक्ति योग के सहित अनुष्ठित होता है, तो वह फल जनक होता है। भक्ति साहचर्य्य शून्य केवल ज्ञान वा योग फल प्रदान करने में असमर्थ है। तथापि परम ऐकान्तिक भक्त श्रीमान् उद्धव, ज्ञान एवं योग चर्य्या के किसी भी अंश को स्वीकार न करके श्रीकृष्ण को कहे थे—

"सुदुश्चरामिमां मन्ये योगचर्य्यामनात्मनः।
यथाञ्जसा पुमान् सिध्येत्तन्मे ब्रूह्यञ्जसाच्युत।।१०४५।।

प्रायशः पुण्डरीकाक्ष युञ्जन्तो योगिनो मनः ।
विषीदन्त्यसमाधानान्मनोनिग्रहकर्षिताः ॥"१०४६॥

इत्यत्र स्ववाक्ये तस्या दुष्करत्वेन प्रायः फलपर्य्यवसायित्वाभावेन चोक्तत्वात्, शुश्रूषमाणाया भक्तेस्तु सुकरत्वेनावश्यकफलपर्य्यवसायित्वेन चाभिप्रेतत्वात्तद्भक्तिरेव कर्त्तव्येति स्वाभिप्रायो दर्शितः। तदेवं तां ज्ञानयोगचर्य्यामनादृत्य भक्तिमेवाङ्गीकुर्व्वाणास्तव श्रीकृष्णरूपस्यैव भक्तिं तादृशास्तु ज्ञानयोगादिफलानादरेणैव कुर्व्वन्तीति पुनराह चतुर्भिः (भा० ११।२९।३) —

(३२९) "अथात आनन्ददुघं पदाम्बुजं, हंसाः श्रयेरन्नरविन्दलोचन ।
सुखं नु विश्वेश्वर योगकर्म्मभि,-स्त्वन्माययामी विहता न मानिनः ॥"१०४७॥

यस्मादेवं केचन विषीदन्ति, अथात अतएव ये हंसाः सारासारविवेकचतुरास्ते तु समस्तानन्दपरिपूरकं पदाम्बुजमेव नु निश्चितं सुखं यथा स्यात्तथा श्रयेरन्,-पदाम्बुजस्य सम्बन्धि-

---

प्रायशः पुण्डरीकाक्ष युञ्जन्तो योगिनो मन ।
विषीदन्त्यसमाधानान्मनोनिग्रहकर्षिताः ॥"१०४६॥

हे अच्युत ! असंयतचित्त साधक के पक्ष में यह योगमार्ग का अनुष्ठान सुदुश्चर प्रतिभात होता है। अतः अप्रयास से साधक सिद्धि लाभ करने में सक्षम हो, उस प्रकार उपाय का वर्णन सुख बोध्य रूप मे करो। वह योगानुष्ठान जो सुदुश्चर है, उस को कहते हैं—"हे कमल लोचन ! प्रायशः योगिगण—मनोनिग्रह करने में प्रचुर तर क्लेश लाभ करते हैं, कारण,—मनोनिग्रह नहीं होता है, किसी प्रकार से निग्रहीत होने पर भी प्रचुरतर श्रान्त हो जाते हैं। उद्धव के इस वाक्य में योग चर्य्या का सुदुश्चरत्व एवं प्रायशः फल में पर्य्यवसान न होने का संवाद है। अथच जिस भक्ति की कथा सुनना अभीष्ट था, उस भक्ति का सुकरत्व एवं अभीप्सित फल प्राप्ति में सुनिश्चयत्व के कारण श्रीहरि भक्ति का अनुष्ठान करना ही एकमात्र कर्त्तव्य है। श्रीउद्धव इस प्रकार निज अभिप्राय को व्यक्त किये थे। अतएव पूर्व वर्णित हेतु के कारण, ज्ञान योग चर्य्या के प्रति अनादर करके जिन्होंने एकमात्र भक्ति का अनुष्ठान ही किया है, वे ज्ञान योगादि के फल के प्रति आदर न करके श्रीकृष्ण रूप तुम्हारी चरणों में भक्ति करते हैं। पुनर्वार भा० ११।२९।३ से आरम्भ कर चार श्लोकों के द्वारा उस को कहते हैं—

(३२९) "अथात आनन्ददुघं पदाम्बुजं,
हंसाः श्रयेरन्नरविन्दलोचन ।
सुखं नु विश्वेश्वर योगकर्म्मभि-,
स्त्वन्माययामी विहता न मानिनः ॥"१०४७॥

हे अरविन्द लोचन ! ज्ञान योग चर्य्या अनुष्ठान कोई कोई व्यक्ति विषाद को प्राप्त करते हैं, अतएव जो हंस हैं—अर्थात् सारासार विवेक चतुर हैं, वे किन्तु समस्त आनन्द परिपूरक तुम्हारे पदाम्बुज की सेवा परमसुख पूर्वक निश्चिन्त भाव से करते रहते हैं। यहाँ मूल श्लोक में केवल पदाम्बुज शब्द का उल्लेख ही है, किन्तु किस का पदाम्बुज—उस सम्बन्धि पद का उल्लेख नहीं है। उस का कारण है--उद्धव साक्षात् श्रीकृष्ण के पदाम्बुज का दर्शन कर रहे थे। तज्जन्य सम्बन्धि पद का उल्लेख करना निष्प्रयोजन बोध किये थे। वह सब शुद्ध भक्त वृन्द, योग कर्म प्रभृति के द्वारा एवं तुम्हारी माया द्वारा कभी भी विहत नहीं होते

पदानुक्तिः साक्षाद्दृश्यमान-त्वदीयपदाम्बुजाभिव्यञ्जनार्था । अमी च शुद्धभक्ता योगकर्म्मभिस्त्वन्मायया च विहताः कृतभक्तचनुष्ठानान्तराया न भवन्ति, यतो न च मानिनोऽपि न भवन्ति । पुरुषार्थसाधने भगवतो निरुपाधि-दीनजनकृपाया एव साधकतमत्वं मन्यन्ते, न योगिप्रभृतिवत् स्वप्रयत्नस्येत्यर्थः ॥

३२७ । एवम्भूतस्य च भक्तस्य ज्ञान-योगादीनां यत् फलं तन्मात्रम्, न किन्त्वन्यन्महदेवेत्याह, (भा० ११।२९।४)

(३२७) "किं चित्रमच्युत तवैतदशेषबन्धो
दासेष्वनन्यशरणेषु यदात्मसात्त्वम् ।
योऽरोचयत् सह मृगैः स्वयमीश्वराणां
श्रीमत् किरीटतटपीड़ित--पादपीठः ॥"१०४८॥

अशेषबन्धो दासेष्वनन्यशरणेषु, यद्वा, अशेषाणामसुरपर्य्यन्तानां यो बन्धुर्मोक्षादिदानैर्निरुपाधिहितकारी, हे तथाभूत ! तवैतत् किं चित्रम् ? यदनन्यशरणेषु ज्ञानयोगकर्म्माद्यनुष्ठान-

---

हैं । अर्थात् भक्ति अनुष्ठान करने के कारण, किसी भी बाधा से अभिभूत नहीं होते हैं । यद्यपि वे सर्वोत्तम स्वयं भगवान् तुम्हारे प्रति सर्व साधन चूड़ामणि विशुद्ध भक्ति का अनुष्ठान ही करते हैं, तथापि वे अभिमानी नहीं होते हैं । कारण, वे पुरुषार्थ साधन विषय में श्रीभगवान् की निरुपाधि हीन जन के प्रति निरुपाधि कृपा को ही साधकतम मानते हैं । योगी प्रभृति के समान निज पुरुषकार को पुरुषार्थ अर्थात् फल प्राप्ति का साधक है, यह नहीं मानते हैं । एकमात्र श्रीकृष्ण कृपा को ही सर्व फल साधक मानकर सुदृढ़ निश्चय करते हैं ॥३२६॥

३२७ । इस प्रकार विशुद्ध भक्त के द्वारा ज्ञान योगादि अनुष्ठित होने से जो फल लाभ होता है, केवल वही नहीं, किन्तु अपर महत् सङ्ग लाभ भी होता है । भा० ११।२९।४ में श्रीउद्धव ने कहा है—

(३१७) किं चित्रमच्युत तवैवदशेषबन्धो
दासेष्वनन्यशरणेषु यदात्मसात्त्वम् ।
योऽरोचयत् सह मृगैः स्वयमीश्वराणां
श्रीमत्किरीटतटपीड़ित--पादपीठः ।।"१०४८॥

हे अशेष बन्धो ! अनन्य शरण दासों के एकमात्र बन्धु । अथवा, अशेष अर्थात् असुर पर्य्यन्त सब के मोक्षादि प्रदायक निरुपाधि हितकारी बन्धु ! जो ज्ञान योग कर्मादि अनुष्ठान में विमुख हैं, वह सब शुद्ध भक्त, बलि प्रभृति को जो आत्म दान करते है, अर्थात् निज विग्रह को भी उसका अधीन कर देते हैं, तुम्हारे सम्बन्ध में यह कुछ भी विचित्र नहीं है । तुमने तो स्वयं हि भा० ११।१४।२० में कहा है—"न साधयति मां योगः" जो लोक, ज्ञान कर्मादि साधन को अनादर करके एकमात्र विशुद्ध भक्ति को ही आदर करते हैं, उस के जाति गुणादि की अपेक्षा तुम नहीं करते हो । अन्तरङ्ग लीला में भी वृन्दावन में विचरण शील मृग वृन्द के सहित तुमने ही तो सख्य स्थापन किया है । स्वयं किन्तु तुम श्रीशिव ब्रह्मा प्रभृति ईश्वर वृन्द युक्त किरीटके अग्रभाग के द्वारा पूजित पाद पीठ हो, जो मुक्ति, ज्ञान योगादि साधन की परम फल

विमुखेषु दासेषु शुद्धभक्तेषु बलिप्रभृतिष्वात्मसात्त्वं तेषां य आत्मा तदधीनत्वमित्यर्थः। तदुक्तम् (भा० ११।१४।२०)–"न साधयति मां योगः" इत्यादि। तस्य तव तथाभूतेषु न जाति गुणाद्यपेक्षा चेत्यन्तरङ्गलीलायामपि दृश्यत इत्याह,–य इति। सुहेति सहभावं सख्यमित्यर्थः। मृगैर्वृन्दावनचारिभिः, स्वयन्तु कथम्भूतोऽपि ईश्वराणामित्यादिलक्षणोऽपि, ईश्वराः श्रीशिव-ब्रह्मादयः। ज्ञान-योगादि-परमफलरूपापि या मुक्तिस्तां दैत्येभ्योऽपि ददासि। पाण्डवादि-सख्य-दौत्य-वीरासनादिस्थितिवद्दासानान्तु स्वयमधीनो भवसि। अत एवम्भूतस्य श्रीकृष्णस्यैव तव भक्तिर्मुख्येति भावः॥

३२८। फलितमाह, (भा० ११।२९।५) —

(३२८) "तं त्वाखिलात्मदयितेश्वरमाश्रितानां
सर्व्वार्थदं स्वकृतविद्विसृजेत को नु।
को वा भजेत् किमपि विस्मृतयेऽनुभुत्यै
किं वा भवेन्न तव पादरजोजुषां नः॥"१०४९॥

तमेवम्भूतं त्वां स्वकृतवित् (भा० ३।२८।१३) "प्रसन्नवदनाम्भोजं पद्मगर्भारुणेक्षणम्" इत्यादि-श्रीकपिलदेवोपदेशतः स्वसौन्दर्य्यादि-स्फूर्त्तिलक्षणं स्वस्मिन् कृतं त्वदीयोपकारं यो

रूपा है, दैत्य प्रभृति को उस मुक्ति प्रदान भी करते हो। पाण्डवादिक के सम्बन्ध में तुमने सख्य, दौत्य, एवं वीरासनादि का आचरण किया है। उस प्रकार ही अकिञ्चिन दास भक्त वृन्द के सम्बन्ध में तुम अधीन हो जाते हो, अतएव एवम्भूत तुम्हारे श्रीकृष्ण स्वरूप की ही भक्ति ही मुख्य है। उक्त श्लोक का अभिप्राय यही है ॥३२७॥

३२८। सम्प्रति निष्किञ्चन भाव से जो भजन करते हैं– उन के उस प्रकार भजन का फल को कहते हैं—(भा० ११।२९।५)

(३२८) "तं त्वाखिलात्मदयितेश्वरमाश्रितानां
सर्वार्थदं स्वकृतविद् विसृजेत को नु।
को वा भजेत् किमपि विस्मृतयेऽनुभूत्यै
किं वा भवेन्न तव पादरजोजुषां नः॥"१०४९॥

पूर्वोक्त लक्षणाक्रान्त अशेष बन्धु स्वरूप तुम को परित्याग करके कौन व्यक्ति अपर का आश्रय ग्रहण करेगा? विशेषतः जो व्यक्ति, अन्तर्य्यामी रूप से तुमने जो उपकार किया है, उस को जानता है, वह क्या कभी भी तुम को छोड़कर इस का आश्रय ले सकता है? तुमने ही तो बलि प्रभृति की आत्मदान किया है। तुम्हारे द्वारा कृत उपकार का स्मरण करके सभी व्यक्ति तुम्हारे चरणों में एकान्त भाव से आश्रय ग्रहण करते हैं। भा० ३।२८।१३ में कपिल देव ने कहा है–"प्रसन्न वदनाम्भोजं पद्मगर्भारुणेक्षणम्" इस तुम्हारे सौन्दर्य्यादि की कथा वर्णित हुई है। इस जगत् के कौन व्यक्ति परम सुन्दर तुम से निज चित्त को वियुक्त कर सकता है। भा० ३।२८।३४ में कपिल देव ने कहा है– मुमुक्षु दोष दुष्ट चित्त रूप वड़िश को धीरे धीरे उन परम सुन्दर श्रीभगवान् से वियुक्त करे। इस प्रकार उपदिष्ट अधिकारी विशेष के समान

वेत्ति, स को नु विसृजेत्, (भा० ३।२८।३४) "तच्चापि चित्तवड़िशं शनकैर्वियुङ्क्ते" इति तदुपदिष्टाधिकारिविशेषवत् परित्यजेत् ?—न कोऽपीत्यर्थः। तस्माद्यस्त्यजति, स कृतघ्न एवेति भावः। कतम्भूतं त्वाम् ? स्वरूपतः एवाखिलानामात्मनां दयितं प्राणकोटिप्रेष्ठ-मीश्वरञ्चेत्यादि तथा, नु वितर्के, तद्वयतिरिक्तं किमपि देवतान्तरं धर्म्म--ज्ञानादि-साधनं भूत्यै ऐश्वर्य्याय संसारस्य विस्मृतये मोक्षाय वा को भजेत् ?–न कोऽपीत्यर्थः। अस्माकन्तु तत्तत्फलमपि त्वद्भक्तेरेवान्तर्भूतमित्याह,—किं वेति। वा--शब्देन तत्राप्यनादरः सूचितः, तदुक्तम् (भा० ११।२०।३२) –"यत् कर्म्मभिर्यत्तपसा" इत्यादि ॥

३२६। ननु कथं तत्तत्फलमपि विसृजति, न तु माम्, किंवा मम कृतम् ? तत्राह (भा० ११।२६।६) —

(३२६) "नैवोपयन्त्यपचितिं कवयस्तवेश
ब्रह्मायुषोऽपि कृतमृद्धमुदः स्मरन्तः।
योऽन्तर्व्वहिस्तनुभृतामशुभं विधुन्व-
न्नाचार्य्यचैत्त्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति ॥"१०५०॥

हे ईश ! कवयः सर्व्वज्ञा ब्रह्मतुल्यायुषोऽपि तत्कालपर्य्यन्तं भजन्तोऽपीत्यर्थः। तव

भजन कारी व्यक्ति क्या तुम को छोड़ सकता है ? वस्तुतः कोई भी परित्याग करने में समक्ष नहीं हैं। जो परित्याग करता है, वह अत्यन्त अकृतज्ञ है। एवं कृतघ्न भी है, इस में अणुमात्र सन्देह नहीं है। भगवान् किस प्रकार हैं—उस का परिचय देते हुए कहते हैं– स्वरूपतः ही अखिल आत्मा का दयित हैं। अर्थात् प्राण कोटि प्रेष्ठ एवं परमेश्वर हैं। श्लोकोक्त—'नु' शब्द का प्रयोग वितर्क अर्थ में हुआ है। तुम को छोड़कर देवतान्तर को अथवा धर्म ज्ञानादि साधन को ऐश्वर्य्य के निमित्त अथवा संसार विस्मृति रूप मोक्ष के निमित्त कौन व्यक्ति आश्रय करेगा ? फलतः कोई भी आश्रय ग्रहण कर नहीं सकता है। वह ऐश्वर्य्यादि फल भी तुम्हारी भक्ति के अन्तर्भूत हैं। मूल श्लोक में उस को प्रकाश करने के निमित्त 'को वा' कहा गया है। यद्यपि ऐश्वर्य्य प्रभृति भक्ति के ही अन्तर्भूत हैं, तथापि हम सब वह सब फलों के प्रति कुछ भी अनादर भाव नहीं रखते हैं। भा० ११।२०।३२ में श्रीभगवान् ने कहा भी है—"यत् कर्मभिर्यत्तपसा" कर्म, ज्ञान, तपस्या, वैराग्य के द्वारा जो फल लाभ होते हैं, मेरा भक्त, भक्ति योग के प्रभाव से वह सब फल को सुख पूर्वक प्राप्त करते हैं।३२८॥

३२६। हे उद्धव ! कैसे भक्तगण ऐश्वर्य्यादि फल त्याग करते हैं,किन्तु मुझ को परित्याग नहीं करते हैं ? मेरा इस विषय में कर्त्तव्य क्या है ? उत्तर में (भा० ११।२६।६) श्रीउद्धव ने कहा—

(३२६) "नैवोपयन्त्यपचितिं कवयस्तवेश
ब्रह्मायुषोऽपि कृतमृद्धमुदः स्मरन्तः।
योऽन्तर्व्वहिस्तनुभृतामशुभं विधुन्व-
न्नाचार्य्यचैत्त्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति ॥"१०५०॥

हे ईश्वर। कवि सर्वज्ञ गण, ब्रह्मा के समान आयुः प्राप्त करके भी अर्थात् द्विपरार्द्ध कालपर्य्यन्त

कृतमुप-कारमृद्धमुद उपचित-त्वद्भक्तिपरमानन्दाः सन्तः स्मरन्तः, अपचितिं प्रत्युपकार-मानृण्यमिति यावत्, तां न उपयन्ति पश्यन्ति, तस्मान्न विसृजेदित्युक्तम् । कृतमाह,-यो भवान् तनुभृतां त्वत्कृपाभाजनत्वेन केषाञ्चित् सफलतनुधारिणां बहिराचार्य्यवपुषा गुरु-रूपेणान्तश्चैत्त्यवपुषा चित्तस्फुरितध्येयाकारेणाशुभं त्वद्भक्तिप्रतियोगि सर्व्वं विधुन्वन् स्वगतिं स्वानुभवं व्यनक्तीति ॥ श्रीमदुद्धवः ॥

३३० । तथैव स्वभक्तेरतिशयित्वं श्रीभगवानपि तदनन्तरमुवाच । तत्र च तादृशान् प्रति शुद्धां स्वभक्तिं (भा० ११।२९।८) "हन्त ते कथयिष्यामि" इत्यादि-चतुर्भिरुक्त्वा पुनरेतादृशान् प्रति च करुणया स्वभजन-प्रवर्त्तनार्थमन्यद्विचारितवान् चतुर्भिः । यतः प्रायशो लोकाः स्पर्द्धादिपराः कथञ्चिदन्तर्मुखत्वेऽपि सर्व्वान्तर्यामिरूप-त्वद्भजनमात्रज्ञानिन इत्यालोच्य कृपया तेषां स्पर्द्धादीन् झटिति दूरीकर्त्तुं स्वस्मिन्नेवान्तर्मुखीकर्त्तुञ्च (गी० १०।४२) "विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्" इत्याद्युक्त-तदन्तर्यामिरूप-स्वांशस्य भजनस्थाने स्वभजनमुपदिष्टवान् । यथा (भा० ११।२९।१२)—

(३३०) "मामेव सर्व्वभूतेषु बहिरन्तरपावृतम् ।
ईक्षेतात्मनि चात्मानं यथा खममलाशयः ॥" १०५१॥

तुम्हारा भजन करके भी तुम्हारे भजन जनित परमानन्द को प्राप्त करके भी तुम्हारे द्वारा कृत उपकार का स्मरण करके उपकार का प्रत्युपकार रूप ऋण मुक्ति को नहीं देख पाते हैं। अतएव तुम को वे लोक परित्याग करने में अक्षम हैं। तुम्हारे द्वारा उपकार क्या है ? उस को कहते हैं, समस्त देह धारि वृन्द तुम्हारे एकमात्र कृपापात्र हैं। अतः देहधारी के बाहर आचार्य वपुः अर्थात् गुरु रूप में एवं अन्तर में चैत्यवपुः अर्थात् चित्त में स्फुरित ध्येय भगवदाकार में तुम्हारे भक्ति विरोधी समस्त अशुभ को विनष्ट करके निजानुभाव का विस्तार करते रहते हो। श्रीमदुद्धव कहे थे — ॥३२९॥

३३० । उद्धवकी इस प्रकार प्रार्थना के पश्चात् श्रीभगवान् निजभक्ति की श्रेष्ठता का वर्णन उद्धव के द्वारा वर्णित रीति से ही किये थे। उस के मध्य में श्रीउद्धव प्रभृति के समान ऐकान्तिक भक्त के प्रति (भा० ११।२९।८) "हन्त ते कथयिष्यामि" इत्यादि चार श्लोकों में विशुद्ध निज भक्ति का विवरण कहने के पश्चात् जो लोक ऐकान्तिक भक्त नहीं है, उस के प्रति भी करुणा करके निज भजन में प्रवृत्ति उत्पन्न कराने के निमित्त चार श्लोकों के द्वारा अन्य कुछ विचार भी किए हैं। कारण, प्रायशः लोक समूह स्पर्द्धादि निष्ठ होते हैं, किसी प्रकार अर्थात् साधुसङ्ग प्रभाव से भगवदन्तर्मुखता होने पर भी "सर्वान्तर्य्यामीरूप का ही भजन करना चाहिये" इस प्रकार ज्ञान सम्पन्न होते हैं। इस प्रकार आलोचना करके सत्वर उस के स्पर्द्धादि विदूरित करने के निमित्त एवं निज श्रीकृष्ण रूप के प्रति अन्तर्म्मुखी करने के निमित्त गीता शास्त्र में उल्लिखित (गी० १०।४२) "विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेनस्थितो जगत्" हे अर्जुन ! मैं एकांशके द्वारा समस्त जगत् में व्याप्त हूँ। अन्तर्य्यामी रूप में जो समस्त जगत् में व्याप्त है, वह भी श्रीकृष्ण का अंश है। उस अंश स्वरूप का भजन के स्थान में निज भजन का उपदेश किये हैं। (भा० ११।२९।१२)

(३३० "मामेव सर्वभूतेसु बहिरन्तरपावृतम् ।
ईक्षेतात्मनि चात्मानं यथा खममलाशयः ॥" १०५१॥

टीका च—"अन्तरङ्गां भक्तिमाह—मामिति त्रिभिः। सर्व्वभूतेष्वात्मनि चात्मानमीश्वरं स्थितं मामे-वेक्षेत" इत्येषा। कथम्भूतमीश्वरम् ?—बहिरन्तः पूर्णमित्यर्थः, तत् कुतः ? अपावृतमनावरणम्, तदपि कुतः ? यथा खमसङ्गत्वाद्विभुत्वाच्चेत्यर्थः। अत्र मामेवेति श्रीकृष्णरूपमेवेक्षेत, न तु केवलान्तर्यामिरूप-मित्यभिप्रायेणैव "अन्तरङ्गां भक्तिमाह" इति व्याख्यातम्॥

३३१-३३२। ततश्च (भा० ११।२६।१३-१४) —

(३३१) "इति सर्वाणि भूतानि मद्भावेन महाद्युते।
सभाजयन् मन्यमानो ज्ञानं केवलमाश्रितः॥१०५२॥
ब्राह्मणे पुक्कशे स्तेने ब्रह्मण्येऽर्के स्फुलिङ्गके।
अक्रूरे क्रूरके चैव समदृक् पण्डितो मतः॥"१०५३॥

केवलं ज्ञानमन्तर्यामिदृष्टिमाश्रितोऽपि, इति पूर्व्वोक्तप्रकारेण सर्वाणि भूतानि मद्भावेन तेषु मम श्रीकृष्णरूपस्य यो भावोऽस्तित्वं तद्विशिष्टतया मन्यमानः सभाजयन् पण्डितो मतः।

श्रीधर स्वामिपाद कृत इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार है—तीन श्लोकों के द्वारा अन्तरङ्गा भक्ति की व्याख्या करते हैं—सर्व भूतों में एवं अपने में अन्तर्य्यामी रूप में अवस्थित परमेश्वर मेरा दर्शन करोगे। यहाँ तक श्रीधर स्वामी पाद कृत टीका की व्याख्या है। इस का भावार्थ यह है कि—समस्त भूतों में एवं अपने में अन्तर्य्यामी रूप में अवस्थित जो ईश्वर हैं--वह ईश्वर मैं ही हूँ। इस प्रकार निर्द्देश होने के कारण, सर्व भूतान्तर्य्यामी रूप में श्रीकृष्ण दृष्टि ही करनी चाहिये। वह ईश्वर किस प्रकार हैं ? बाहर में एवं अन्तर में पूर्ण है। पूर्ण क्यों है ? उस के उत्तर में कहते हैं। "अपावृतम्" अर्थात् आवरण शून्य है। आवरण शून्य क्यों है ? उस के उत्तर में कहते हैं 'यथा खम्' अर्थात् आकाश जिस प्रकार असङ्ग है, विभु होने के कारण पूर्ण एवं अनावृत है, उस प्रकार मैं भी असङ्ग एवं विभु होने के कारण पूर्ण ऐवं अनावृत हूँ। यहाँ समस्त भूतों में मुझ को अर्थात् श्रीकृष्ण स्वरूप को ही देखना चाहिये। किन्तु केवल अन्तर्यामी रूप न देखे। इस अभिप्राय से ही श्री धर स्वामी पाद ने 'अन्तरङ्गां भक्ति माह, अर्थात् अन्तरङ्गा भक्ति को कहते हुए इस प्रकार व्याख्या की है॥३३०॥

३३१--३३२। अनन्तर भा० ११।२६।१३--१४ में कहा है—

(३३१) "इति सर्वाणि भूतानि मद्भावेन महाद्युते।
सभाजयन् मन्यमानो ज्ञानं केवलमाश्रितः॥१०५२॥
ब्राह्मणे पुक्कशे स्तेने ब्रह्मण्येऽर्के स्फुलिङ्गके।
अक्रूरे क्रूरके चैव समदृक् पण्डितो मतः॥"१०५३॥

श्रीकृष्ण उद्धव को कहे थे—हे उद्धव ! केवल ज्ञान अर्थात् अन्तर्यामी दृष्टि से भी पूर्वोक्त प्रकार से समस्त भूतों में मैं ही श्रीकृष्ण रूपमें विद्यमान हूँ। विशिष्ट दृष्टि से जो इस प्रकार मान कर सब को सम्मान प्रदान करता है, वही पण्डित है। अर्थात् ब्राह्मण में पुक्कश में स्तेन (चौर) में ब्राह्मण्य में सूर्य्य में, अग्नि स्फुलिङ्ग में, अक्रूर एवं क्रूर में जो जन मद् दृष्टि से सम अर्थात् मेरा दर्शन करता है—उस को ही पण्डित कहा जाता है। अनन्तर निरन्तर सर्वभूतों में जो व्यक्ति मेरा चिन्तन करता है। तत् पश्चात् भा० ११।

मद्दृष्ट्या ब्राह्मणादिषु समदृक् समं मामेव पश्यतीति । ततश्च (भा० ११।२९।१५) "नरेष्वभीक्ष्णम्" इत्यादिना तादृश-स्वोपासनाविशेषस्य झटिति स्पर्द्धादिक्षयलक्षणं फलमुक्त्वा (भा० ११।२९।१६) "विसृज्य" इत्यादिना तथादृष्टि-साधनं सर्व्वनमस्कारमुपदिश्य (भा० ११।२९।१७) "यावत्" इत्यादिना तादृशोपासनाया अवधिञ्च सर्व्वत्र स्वतः स्वस्फूर्त्तिमुक्त्वा (भा० ११।२९।१८) "सर्वम्" इत्यादिना (भा० ४।३०।२०) —

"नव्यवद्धृदये यज्ज्ञो ब्रह्मैतद्ब्रह्मवादिभिः ।
न मुह्यन्ति न शोचन्ति न हृष्यन्ति यतो गताः ॥"१०५४॥

इति प्रचेतसः प्रति श्रीभगवद्वाक्ये तट्टीकायाञ्च तस्य भगवतः प्रतिपद-नव्यस्फूर्त्तिरेव

२९।१५ में उक्त "नरेष्वभीक्ष्णम्" समस्त भूतों में स्पर्द्धा असूया, तिरस्कार एवं अपने में जो अहङ्कार होता है—उस का विलय हो जाता है, इस प्रकार सर्व भूतों में निरन्तर श्रीकृष्ण दृष्टि रूप निज उपासना विशेष का सत्त्वर स्पर्द्धादि विलय रूप फल को कहकर भा० ११।२९।१६ "विसृज्य" श्लोक में उन्होंने कहा है—उपहास कारी व्यक्ति में एवं हिताचरण कारी व्यक्ति में शत्रु मित्र दृष्टि परित्याग पूर्वक— उत्तम--अधम बुद्धि परित्याग पूर्वक कुकुर चण्डाल प्रभृति को भी दण्डवत् प्रणाम करो । इस प्रकार उपदेश के द्वारा सर्व्वत्र श्रीकृष्ण दृष्टि का साधन रूप नमस्कार का उपदेश प्रदान पूर्वक भा० ११।२९।१७ में कहते हैं—'यावत्' जब तक सर्व भूतों में श्रीकृष्णरूपी मैं हूँ—इस प्रकार दृष्टि नहीं आती है, तब तक कायिक, वाचिक, मानसिक वृत्ति के द्वारा सब को नमस्कार रूप उपासना करे । इस प्रकार सर्वत्र प्रणाम रूप उपासना की अवधि है, सर्वत्र स्वाभाविक श्रीकृष्ण स्फूर्त्ति । इस प्रकार उपदेश करने के पश्चात् भा० ११।१९।१८ में कहा "सर्वम्" अर्थात् इस प्रकार उपासना कारी साधक के पक्ष में सर्व विश्व ब्रह्ममय हो जाता है । कारण, उस को सर्वत्र ईश्वर दृष्टि हेतु जो ज्ञान प्राप्त होता है, उस का फल स्वरूप वह नराकृति पर ब्रह्म मुझ को देखता है, अतएव निखिल क्रिया— अर्थात् अनुष्ठान से वह विरत हो जाय— उन्होंने इस प्रकार कहा है । इस उपदेश में "सर्व ब्रह्मात्मकं तस्य" यह ब्रह्म शब्द से श्रीभगवान् को जानना चाहिये—अर्थात् वह श्रीकृष्ण वाचक है । कारण, भा० ४।३०।२१ में श्रीभगवान् प्रचेताः गण को कहे थे—

"नव्यवद्धृदये यज्ज्ञो ब्रह्म तद्ब्रह्मवादिभिः ।
न मुह्यन्ति न शोचन्ति न हृष्यन्ति यतो गताः ॥"१०५४॥

हे प्रचेतागण ! जो सब व्यक्ति, गृह धर्म में आविष्ट हैं, वे भी यदि समय अतिवाहित मेरी कथा से करें, तो वह गृह, बन्धन का कारण नहीं होता है । कारण, मेरी कथा श्रवण करने से सर्वत्र ईश्वर मैं प्रतिक्षण में नूतन के समान हृदय में प्रकाशित होता हूँ । तब जो भी मेरी कथा कीर्त्तन करे— उस को भक्ति रस विभोर हृदय होना आवश्यक है । कहा जा सकता है कि श्रीकृष्ण कथा श्रवण से ब्रह्म साक्षात् कार कैसे हो सकता है ? उत्तर में कहते हैं--तुमने जो मेरा दर्शन किया है । "एतदेव ब्रह्म" अर्थात् मैं ही ब्रह्म हूँ । कारण, मुझ को प्राप्त कर कोई भी मोह अथवा शोक किंवा प्राकृत हर्ष को प्राप्त नहीं करते हैं । श्रीधर स्वामिपादने उक्त श्लोक की टीका में लिखा है—"भगवतः प्रतिपदनव्य स्फूर्त्तिरेव ब्रह्मेतीति" भगवान् का प्रतिपद में नूतन नूतन रूप से आविर्भाव ही ब्रह्म है । अतएव "सर्व ब्रह्मात्मकं तस्य" भा० ११।२९।२८ श्लोक में उक्त ब्रह्म शब्द से श्रीकृष्ण का ही बोध होता है । कारण, जो भक्त, सर्वत्र श्रीकृष्ण

ब्रह्मेतीति यदुक्तम्, तदेव तत्फलमित्युक्त्वा, यद्वा, (गो० ता०, उ० २८) "कथमस्यावतारस्य ब्रह्मता भवति" इति गोपालतापनी-श्रुतिप्रसिद्ध-ब्रह्मेत्यभिधान-नराकृति-परब्रह्मरूपस्फुर्त्तिस्तत् फलमित्युक्त्वा तेनैव तादृशोपासनं सर्व्वोद्ध्वर्मपि प्रशंसति, (भा० ११।२९।१९)—

(३३२) "अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायवृत्तिभिः॥"१०५५।

सर्वकल्पानां सर्व्वोपायानां सध्रीचीनः समीचीनः, मद्भावो मम श्रीकृष्णरूपस्य भावना। एतच्च श्रीकृष्णभजनस्यान्तर्यामिभजनादप्याधिक्यं श्रीगीतोपसंहारानुसारेणैवोक्तम्, तथाहि (गी० १८।६१--६६)—

"ईश्वरः सर्व्वभूतानां हृद्देशेऽर्ज्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्व्वभूतानि यन्त्रारूढ़ानि मायया॥१०५६॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥१०५७॥
इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु॥१०५८॥

सत्ता की उपलब्धि करते हैं, उन के पक्ष में निर्विशेष ब्रह्म साक्षात्कार— फल रूप में कभी भी प्रकाशित नहीं हो सकता है।

अथवा, श्रीगोपाल तापनी में उक्त है—"कथमस्यावतारस्य ब्रह्मता भवति' श्रीकृष्णावतार की ब्रह्मता कैसे सम्भव है? इस प्रकार प्रश्न के उत्तर में कथित है—नराकृति परब्रह्म रूप में श्रीकृष्ण स्फूर्त्ति ही सर्वत्र श्रीकृष्ण दर्शनोपासना का फल है। श्रीभगवान् उस प्रकार कह कर पूर्वोक्त उपासना को ही सर्वोर्द्ध कह कर प्रशंसा किये हैं—(भा० ११।२९।१९)

(३३२) "अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायवृत्तिभिः॥"१०५५॥

सर्व कल्प अर्थात् समस्त उपायों के मध्य में यही समीचीन उपाय है। वह उपाय क्या है? उत्तर में कहते हैं—मनोवाक् काय वृत्ति के द्वारा सर्वभूतों में मेरी श्रीकृष्ण रूप की भावना है। भगवद् गीता के (१८।६१--६५) उपसंहार वाक्य में भी अन्तर्य्यामी भजन से भी श्रीकृष्ण भजन का आधिक्य प्रदर्शित हुआ है। उस में "ईश्वरः सर्वभूतानां" से आरम्भ कर "सर्व धर्मान् परित्यज्य" पर्य्यन्त उक्त विषय का वर्णन हुआ है—

"ईश्वरः सर्व्वभूतानां हृद्देशेऽर्ज्जुन तिष्ठति।
भ्रामयत् सर्व्वभूतानि यन्त्रारूढ़ानि मायया॥१०५६॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥१०५७॥
इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।

सर्व्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढ़मिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥१०५९॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥१०६०॥
सर्वधर्म्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥"१०६१॥ इति ।

अत्र च गुह्यं पूर्व्वाध्यायोक्तं ज्ञानम्, गुह्यतरमन्तर्यामिज्ञानम्, सर्व्वगुह्यतमं तन्मनस्त्वादि-लक्षणं तदेक-शरणत्वलक्षणञ्च तदुपासनमिति समानम् । एवं श्रीगीतास्वेव नवमाध्यायेऽपि (गी० ९।१)

विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥१०५८॥
सर्व्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढ़मिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥१०५९॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥१०६०॥
सर्वधर्म्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥"१०६१॥

हे अर्जुन ! समस्त प्राणीओं के हृदय में ईश्वर विद्यमान है, जो यन्त्रारूढ़ वत् माया द्वारा समस्त प्राणिओं को भ्रमण कराते रहते हैं । उनकी प्रेरणा व्यतीत कोई भी कुछ करने में सक्षम नहीं हैं । हे भारत तुम सर्वान्तः करण से सर्वापेक्षा शून्य होकर सर्व नियामक तत्त्व उन परमेश्वर की शरण लो । उन की प्रसन्नता से पराशान्ति एवं ध्वंस उत्पत्ति शून्य सनातन स्थान लाभ करोगे ।

काल, कर्म, माया, जीव, यह सब ही ईश्वर के नियम्य हैं, ईश्वर सब के नियामक हैं । नियामक तत्त्व के अनुग्रह के विना कोई भी परम शान्ति लाभ नहीं कर सकते हैं । अथच उस सर्वनियामक तत्त्व में भी करुणा है, उस करुणा को प्राप्त करने में शरणागत भिन्न अपर कोई भी व्यक्ति प्राप्त करने में सक्षम नहीं हैं । यही है गुह्य से गुह्य तर ज्ञान, जिस को मैंने तुम से कहा है । पूर्व अध्याय में जिस ज्ञान का कथन मैं ने किया है, वह ज्ञान गुह्य है, अन्तर्य्यामी ज्ञान-गुह्यतर है, "मन्मनाभव मद्भक्तः" इस श्लोक में वर्णित ज्ञान ही सर्व गुह्यतम है । सब कुछ ही मैंने तुम से कहा है, अब तुम अशेष विशेष से विचार कर जैसी इच्छा वैसी करो । 'यद्यपि मैंने यद्यपि राज गुह्याध्याय नामक नवम अध्याय में तुम्हारे निकट सर्व गुह्य तत्त्व का वर्णन किया है । तथापि पुनर्वार कह रहा हूँ । यही मेरा महा काव्य है—अवधान पूर्वक श्रवण करो । तुम मेरा इष्ट हो,अतः परमगम्भीर गीतार्थ अवधारण में यदि तुम भ्रान्त न हो जाओ,एतज्जन्य ही तुम्हारे हितार्थ गीता शास्त्र का सारार्थ को कहता हूँ । तुम, मन्मना मद्भक्त होओ, मेरा अर्च्चन शील बनो, मुझ को प्रणाम करो । तुम मेरा प्रिय हो, प्रिय व्यक्ति के निकट मैं शपथ पूर्वक कहता हूँ, तुम इस प्रकार आचरण करने से मुझ को तुम प्राप्त करोगे । सर्व धर्म को परित्याग करके तुम मेरी शरण लो, मैं तुम को समस्त पापों से रक्षा करूँगा, तुम ज्ञाति बध निबन्धन शोक न करो । इस प्रकार श्रीकृष्ण चरण में सङ्कल्प स्वरूप मन को स्थापन करना, एवं श्रीकृष्णैक शरण लक्षण उनकी उपासना करना दोनों ही

"इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥" १०६२॥

(गी० ९।२) "राजविद्या राजगुह्यम्" इत्यादिना वक्ष्यमाणार्थं प्रशस्य श्रीकृष्णरूपस्वभजन श्रद्धाहीनान् निन्दन्, तच्छ्रद्धावतः प्रशस्तवान् स्वयमेव, यथा (गी० ९।११-१३)–

"अवजानन्ति मां मूढ़ा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥१०६३॥
मोघाशा मोघकर्म्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीञ्चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१०६४॥
महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥" १०६५॥

माम् 'अव' अनादरेण मानुषीं तनुमाश्रितं जानन्तीत्यर्थः । तस्मात् सर्व्वान्तर्यामि--

---

समान हैं । अर्थात् सर्व सङ्कल्प श्रीकृष्ण में स्थापन करने का नाम ही मन्मना होना है, द्वितीया—सर्व धर्मापेक्षा शून्य होकर श्रीकृष्ण की शरण ग्रहण करना । इन दोनों उपासना का एक ही लक्षण है । इसी प्रकार गीता के नवमाध्याय(९।१) में कहा गया है—

"इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥"१०६२॥

इस श्लोक से आरम्भ कर "महात्मानस्तु मां पार्थ" इत्यादि कतिशय श्लोकों के द्वारा वक्ष्यमाण भगवत् चरणारविन्द में सर्व सङ्कल्प समर्पण लक्षण उपासना की प्रशंसा करके श्रीकृष्ण रूप निज भजन में श्रद्धा विहीन जन की निन्दा एवं श्रद्धावान् जनकी प्रशंसा— स्वयं श्रीकृष्ण ही किये हैं । पूर्वोक्त श्लोक का अर्थ इस प्रकार है—"हे अर्जुन ! तुम किसी के गुण में दोषारोप नहीं करते हो, अर्थात् असूया वर्जित हो । तज्जन्य तुम्हारे समीप में अनुभव के सहित शास्त्रीय ज्ञानोपदेश कर रहा हूँ । जिस को जानकर तुम निखिल अशुभ वासना से मुक्त हो जाओगे । यह तत्त्व ज्ञान, समस्त विद्याओं के मध्य में राजा है, एवं समस्त गोपनीय विषयों के मध्य में भी राजा है ।" इस प्रकार गुह्य विद्या भक्ति की प्रशंसा करके "अव जानन्ति मां मूढ़ाः" इत्यादि श्लोक के द्वारा श्रीकृष्ण भजन में श्रद्धा हीन जनकी निन्दा करते हैं— (गी० ९-११-१३

"अवजानन्ति मां मूढ़ा मानुषीं तनु माश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥१०६३॥
मोघाशा मोघकर्म्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीञ्चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१०६४॥
महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥"१०६५॥

"हे अर्जुन ! तुम यह कह सकते हो कि पूर्वोक्त लक्षणाक्रान्त मुझ को सब लोक आदर क्यों नहीं करते हैं ?" उस के उत्तर में कहते हैं—अज्ञ लोक समूह सर्व भूत महेश्वर रूप मेरा परम तत्त्व को न जान कर मेरी अवज्ञा करते हैं । अवज्ञा करने का कारण यह है कि— मैंने शुद्ध सत्त्वमयी तनु को भक्तेच्छा हेतु

भजनादप्युत्तमत्वेन तदनन्तरञ्च 'सर्वगुह्यतमम्' इत्यत्र सर्व्वग्रहणात् सर्व्वत उत्तमत्वेन श्रीकृष्णभजने सिद्धे तदवतार-भजनात् सुतरामेवोत्तमता सिध्यति ॥

३३३। अथ तामेव कैमुत्येनाप्याह, (भा० ११।२९।२१)—

(३३३) "यो यो मयि परे धर्म्मः कल्प्यते निष्फलाय चेत् ।
तत्रायासोऽनिरर्थः स्याद्भयादेरिव सत्तम ॥"१०६६॥

मयि मदर्पितत्वेन कृतो यो यो धर्म्मो वेदविहितः स स यदि निष्फलाय फलाभावाय कल्प्यते, फलकामनया नार्प्यत इत्यर्थः, तदा तत्र तत्रायास, श्रान्तिरनिरर्थः स्यात्, व्यर्थो न भवति। निष्फलायेति विशेषणं फलभोगादिरूप-तद्भक्तयन्तरायाभावेनानिरर्थतातिशयतात्-पर्य्यम् । तत्रानिरर्थत्वे कैमुत्येन श्रीकृष्णलक्षणस्य स्वस्यासाधारणभजनीयताव्यञ्जको दृष्टान्तः

प्रकट किया है। अर्थात् वे मानते हैं – यह देह प्राकृत नराकार है। वस्तुतः मेरी श्रीमूर्त्ति, विशुद्ध सत्त्वमयी स्व प्रकाशा एवं सच्चिदानन्दस्वरूपा है। किन्तु भक्त वृन्द के सङ्कल्प के कारण, नित्य ही प्रकटित मनुष्याकार है। मूर्ख लोक—इस परम तत्त्व को नहीं जानते हैं, तज्जन्य ही अवज्ञा करते हैं। "मोघाशा मोघ कर्म्माणो" इत्यादि श्लोकों की व्याख्या करते हैं, वे जो मुझ को अनादर करते हैं—उसका और एक कारण है—वे मानते हैं कि--मुझ को छोड़ कर अपर देवतावृन्द सत्वर फल प्रदान करते हैं। इस प्रकार व्यर्थ आशा पोषण करते हैं। अतएव मुझ में विमुख होने के कारण ही निष्फल कर्मानुष्ठान में वे रत होते हैं, उसका शास्त्र ज्ञान भी विविध कुतर्काश्रित होने के कारण, वे विक्षिप्त चित्त होते हैं। यह सब दुष्प्रवृत्ति के प्रति कारण हैं—हिंसादि बहुल राक्षसी अर्थात् तामसी, एवं काम कर्म्म बहुल आसुरी अर्थात् राजसी बुद्धि भ्रंशकारी, प्रकृति होती है, अतः मुझ को अवज्ञा करते रहते हैं। कौन व्यक्ति श्रीकृष्ण की आराधना करते हैं—सम्प्रति उसका विवरण कहते हैं—

"महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृति माश्रिताः ॥
भजन्त्यनन्य मनसो ज्ञात्वा भूतादि मव्ययम् ॥"

जो लोक, महात्मा हैं, अर्थात् कामादि से अनभिभूत चित्त हैं। वे देव स्वभाव को प्राप्त कर अन्य सङ्कल्प शून्य होकर जगत् कारण, नित्य स्वरूप मेरा भजन करते हैं। अतएव सर्वान्तर्यामि भजन से भी उत्तम होने के कारण, तत् परवर्त्ति अध्याय में 'अष्टादशाध्याय में' 'सर्व गुह्य तमम् भूयः" उक्त श्लोक में सर्वपद का उल्लेख हेतु श्रीकृष्ण भजन की सर्वोत्तमता निर्दिष्ट होने के कारण, श्रीकृष्ण के अन्य अवतार का भजन से सर्वावतारी श्रीकृष्ण भजन का सर्वोत्तमत्व सुतरां सिद्ध हुआ ॥३३२॥

३३३। अनन्तर भा० ११।२९।२१ में श्रीकृष्ण भजन का श्रेष्ठत्व प्रदर्शन कैमुत्यिक न्याय से करते हैं-

(३३३) "यो यो मयि परे धर्मः कल्प्यते निष्फलाय चेत् ।
तत्रायासोऽनिरर्थः स्याद्भयादेरिव सत्तम ॥"१०६६॥

हे उद्धव! जो जो वेद विहित धर्म मुझ को अर्पण करके अनुष्ठित होते हैं, उस उस धर्म यदि निष्फलत्व होते हैं, अर्थात् फल कामना से अर्पित नहीं होते हैं, तो उस धर्म में प्रयास अर्थात् परिश्रम अनिरर्थ होता है, अर्थात् व्यर्थ नहीं होता है। 'निष्फलाय' यह 'विशेषण' उल्लेख करने का उद्देश्य यह है कि—फल भोगादि रूप भक्ति का अन्तराय न होने के कारण, वह साधक की अभीष्ट सिद्धि के पक्ष में कोई

भयादेरिवेति । यथा कंसादौ मत्सम्बन्धमात्रेण भयादेरप्यायासो निरर्थो न भवति,-मोक्षसम्पादकत्वादित्यर्थः ॥

३३४ । अथ श्रीमदुद्धववत् श्रीकृष्णैकानुगतानां साधनत्वे साध्यत्वे च स्वयं श्रीकृष्णरूप एव परमोपादेय इत्याह, (भा० ११।२९।३३)—

(३३४) "ज्ञाने कर्म्मणि योगे च वार्त्तायां दण्डधारणे ।
यावानर्थो नृणां तात तावांस्तेऽहं चतुर्विधः ॥"१०६७॥

ज्ञानादौ यावान् धर्म्मादि लक्षणश्चतुर्विधोऽर्थः, तावान् सर्व्वोऽपि अहमेव । तत्र ज्ञाने मोक्षः, कर्म्मणि धर्म्मः कामश्च, योगे नानाविधसिद्धिलक्षणो लौकिको वार्त्तायां दण्डधारणे च नानाविधलौकिकश्चार्थ इति चतुर्विधत्वं ज्ञेयम् ॥ श्रीभगवान् ॥

३३५ । पुनरेवमेव श्रीमानुद्धवोऽपि प्राथितवान् (भा० ११।२०।४०)—

(३३५) "नमोऽस्तु ते महायोगिन् प्रपन्नमनुशाधि माम् ।
यथा त्वच्चरणाम्भोजे रतिः स्यादनपायिनी ॥"१०६८॥

भी बाधा उपस्थित नहीं करता है । इस को समझाने के निमित्त कैमुत्य नीति के अवलम्बनसे श्रीकृष्ण स्वरूप निज असाधारण भजनीयता व्यञ्जक दृष्टान्त उपस्थित करते हैं—"भयादेरिव सत्ताम" जिस प्रकार कंसादि के सहित मेरा सामान्य सम्बन्ध था, तज्जन्य भयादि का आयास भी निरर्थ (व्यर्थ) नहीं हुआ । कारण, मेरे सम्बन्ध में भय से भी मोक्ष लाभ होता है । ऐसा होने पर जो लोक सत्ताम हैं, अर्थात् शुद्ध भक्त हैं, उनकी मेरे विषयक किसी चेष्टा जो विफल नहीं होती हैं, इस विषय में अधिक कहना निष्प्रयोजन है ।।३३३।।

३३४ । अनन्तर श्रीमान् उद्धव के समान जो लोक श्रीकृष्ण के एकान्त अनुगत हैं, उन के साधन एवं साध्य-एतदुभयविध अवस्था में ही स्वयं श्रीकृष्ण रूप ही जो परमोपादेय है-उसका वर्णन भा० ११।२९। ३३ में करते हैं—

(३३४) "ज्ञाने कर्मणि योगे च वार्त्तायां दण्ड धारणे ।
यावानर्थो नृणां तात तावांस्तेऽहं चतुर्विधः ॥"१०६६॥

श्रीकृष्ण कहे थे—हे उद्धव ! ज्ञान, कर्मयोग, वार्त्ता एवं दण्ड धारण के मानव वृन्द के धर्मादि लक्षण जो चतुर्विध फल हैं, तुम्हारे सम्बन्ध में तत् समुदय भी मैं ही हूँ । उस के मध्य में ज्ञान का फल मोक्ष, निष्काम कर्म का फल धर्म, सकाम कर्म का फल काम, अर्थात् विषय भोग, योग के विविध प्रकार सिद्धि लक्षण लौकिक फल है, वार्त्ता—अर्थात् जीविका एवं दण्ड धारण के विविध लौकिक फल है । इस प्रकार चतुर्विध फल का प्रदर्शन हुआ । श्लोक का तात्पर्य्य यह है कि—हे उद्धव ! में ही तुम्हारा धर्म हूँ । मैं ही तुम्हारा मोक्ष हूँ, में ही तुम्हारी सिद्धि हूँ एवं मैं ही तुम्हारे विविध लौकिक फल स्वरूप हूँ ।

श्रीभगवान् कहे थे ॥३३४॥

३३५ । पुनर्वार श्रीमान् उद्धव ने भी उसी प्रकार प्रार्थना की—भा० ११।२९।४०

(३३५) "नमोऽस्तु तु महायोगिन् प्रपन्नमनुशाधि माम् ।

टीका च—"एवं यद्यपि त्वया बहूकृतम्, तथाप्येतावत् प्रार्थय इत्याह,–नमोऽस्त्वति। अनुशाधि अनुशिक्षय, अनुशासनीयत्वमेवाह,–यथेति । मुक्तावप्यनपायिनी" इत्येषा ॥ श्रीमानुद्धवः ॥

३३६ । अतएवान्यत्राप्यभिप्रेयाय (भा० ११।१४।३१)—

(३३६) "यथा त्वामरविन्दाक्ष यादृशं वा यदात्मकम् ।
ध्यायेन्मुमुक्षुरेतन्मे ध्यानं मे वक्तुमर्हसि ।।"१०६९।।

टीका च—"मुमुक्षुस्त्वां यथा ध्यायेत्, तन्मे वक्तुमर्हसीति । जिज्ञासोः कथनाय मे पुनरेतत् त्वद्दास्यमेव पुरुषार्थः, न तु ध्यानेन कृत्यमस्तीति । तदुक्तम् (भा० ११।६।४६) – 'त्वयोपभुक्तस्रग्गन्ध' इत्यादि" इत्येषा ॥ श्रीमानुद्धवः ॥

३३७ । तस्य सर्व्वावतारावतारिष्वप्रकटितं परमशुभ-स्वभावत्वं च स्मृत्याह, (भा० ३।२।२७)

(३३७) "अहो बकी यं स्तनकालकूटं
जिघांसयापाययदप्यसाध्वी ।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं
कं वा दयालुं शरणं व्रजेम ।।"१०७०।।

यथा त्वच्चरणाम्भोजे रतिः स्यादनपायिनी ।।"१०६८।।

हे प्रभो ! यद्यपि तुमने मेरा बहोत उपकार किया है, तथापि मेरी यही शेष प्रार्थना है। तुम्हारे चरणों में मेरा सतत प्रणाम हो। हे महायोगिन् ! तुम्हारे चरणों में एकान्त शरणागत मुझ को उसी प्रकार शिक्षा दान करो, जिस से मुक्ति अवस्था में भी तुम्हारे चरण नलिन युगल में मेरी अनपायिनी अर्थात् अविचला रति विद्यमान रहे ।   श्रीमानुद्धव कहे थे—।।३३५।।

३३६ । अतएव अन्यस्थान में भी—अर्थात् अन्य अधिकारी के प्रति भी श्रीकृष्ण स्वरूप का ध्यान करने का अभिप्राय को भा० ११।१४।३१ में व्यक्त किया है ।

(३३६) "यथा त्वामरविन्दाक्ष यादृशं वा यदात्मकम् ।
ध्यायेन्मुमुक्षुरेतन्मे ध्यानं मे वक्तुमर्हसि ।।"१०६९।।

हे अरविन्दाक्ष ! मुमुक्षु व्यक्ति, तुम्हारा ध्यान किस प्रकार करेगा, उसका वर्णन करो । यद्यपि तुम्हारे चरणार विन्द युगल का दास्य ही मेरा एक मात्र पुरुषार्थ है। तादृश, अर्थात् मोक्ष सम्पादक ध्यान से मेरा कोई प्रयोजन नहीं है । तथापि जिज्ञासु व्यक्ति के कल्याणार्थ मैंने इस प्रकार जिज्ञासा की है। श्रीउद्धव ने तो भा० ११।६।४६ में "त्वयोपभुक्तस्रग्गन्ध" इत्यादि के द्वारा श्रीकृष्ण दास्य ही जो निज परम पुरुषार्थ है उस को कहा है ।   श्रीमान् उद्धव कहे थे ।।३३६।।

३३७ । श्रीकृष्ण के सर्व अवतार एवं सर्व अवतारी में जिस परम शुद्ध स्वभाव का प्रकाश नहीं हुआ है, उस स्वभाव का स्मरण करके श्रीउद्धव कहे थे—(भा० ३।२।२३)

(३३७) "अहो बकी यं स्तनकालकूटं जिघांसयापाययदप्यसाध्वी ।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं कं वा दयालुं शरणं व्रजेम ।।"१०७०।।

धात्र्या या उचिता गतिस्तामेव ॥ स (श्रीमदुद्धवः) एव ॥

३३९। अनेन तत्रापि गोकुललीलात्मकस्य श्रीकृष्णस्य भजनमाहात्म्यातिशयो दर्शितः, तथा (भा० १०।६।३५) —"पूतना लोकबालघ्नी" इत्यादौ च ज्ञेयम्। तथा श्रीकृष्णसन्दर्भे च (भा० १०।७।१) "येन येनावतारेण" इत्यादिकं विवृतमस्ति। अथ गोकुलेऽपि श्रीमद्व्रजबधू-सहित-रासादिलीलात्मकस्य परमवैशिष्ट्यमाह, (भा० ११।३३।३९)—

(३३८) विक्रीड़ितं व्रजबधूभिरिदञ्च विष्णोः
श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद् यः।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः ॥"१०७१॥

च-कारादन्यच्च, अथेति वार्थे,-शृणुयाद्वा वर्णयेद्वा, उपलक्षणञ्चैतद्ध्यानादेः। परां यतः

अहो असत् स्वभाव सम्पन्ना राक्षसी पूतना ने श्रीकृष्ण के प्रति जिघांसा बुद्धि से कालकूटलिप्त स्तन पान करा कर भी धात्री वृन्द प्राप्य स्थान लाभ किया। अतएव जिन प्रभु की इतनी दया है, उन दयालु प्रभु श्रीकृष्ण को छोड़कर अन्य किस की शरण ग्रहण करें ?

टीका—एवमनुवृत्ति कृपयैवेति सूचयन् अपकारिष्वपि तस्य कृपालुतां दर्शयन्नाह। अहो आश्चर्य्यं दयालु तायाः। हन्तुमिच्छयापि स्तनयोः सम्भृतं, कालकूटं विषं समपाययत्। बकी, पूतना, आसाध्वी, दुष्टापि, धात्र्या यशोधाया उचितां गतिं लेभे। भक्तवेश मात्रेण यः सद्गतिं दत्तवानित्यर्थः। ततोऽन्यं कं वा भजेम॥ वह श्रीमदुद्धव ही कहे थे ॥३३७॥

३३८। श्रीमद् भागवत के "अहोबकी यं" श्लोक द्वारा श्रीकृष्ण स्वरूप के मध्य में भी श्रीगोकुल लीलामय श्रीकृष्ण का भजन माहात्म्य ही अतिशय रूप से प्रदर्शित हुआ है। जिस प्रकार 'अहो बकी यं' श्लोक के द्वारा व्रज विलासी श्रीकृष्ण का अतिशय कारुण्य प्रदर्शित हुआ है, उस प्रकार ही 'पूतना लोक बालघ्नी राक्षसी रुधिराशना" भा० १०।६।३५ के श्लोक के द्वारा श्रीकृष्ण का भजन माहात्म्य प्रदर्शित हुआ है। अर्थात् पूतना लोक बालघ्नी रुधिराशना राक्षसी होकर भी जिघांसा बुद्धि से श्रीकृष्ण को विष लिप्त स्तन दान करके भी धात्री जनोचित गति लाभ की अधिकारिणी हुई थी। इस श्लोक के द्वारा श्रीकृष्ण भजन का आधिक्य प्रदर्शित हुआ है। उसी प्रकार श्रीकृष्ण सन्दर्भ में 'भा० १०।७।१ "येन येनावतारेण" श्लोक के द्वारा श्रीव्रज लीलात्मक श्रीकृष्ण का अतिशय माधुर्य्य विस्तार पूर्वक वर्णित है। गोकुल में भी श्रीमती व्रज बधू वृन्द के सहित रासादि लीला कारी श्रीकृष्ण का परम वैशिष्ट्य भा० १०।३३।३९ में सुस्पष्ट रूप से वर्णित है—

(३३८) "विक्रीड़ितं व्रजबधूभिरिदञ्च विष्णोः
श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद् यः।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः ॥"१०७१॥

व्रज बधू वृन्द के सहित श्रीविष्णु की यह विचित्र क्रीड़ा, एवं उन के सहित अन्यान्य जो सब लीला है, जो व्यक्ति उस का श्रवण श्रद्धा पूर्वक करता है। अर्थात् यह लीला प्राकृत काम मयी नहीं है। किन्तु

परा नान्या कुत्रचिद्विद्यते, तादृशीम्, हृद्रोगं कामादिकमपि शीघ्रमेव त्यजति। अत्र सामान्यतोऽपि परमात्व-सिद्धे तत्रापि परमप्रेष्ठ--श्रीराधा-संवलित-लीलामय-तद्भजनन्तु परमतममेवेति स्वतः सिध्यति । किन्तु रहस्यलीला तु पौरुषविकारवदिन्द्रियैः पितृ-पुत्र-दास-भावैश्च नोपास्या,–स्वीयभावविरोधात् । रहस्यत्वञ्च तस्याः क्वचिदल्पांशेन क्वचित्तु सर्वांशेनेति ज्ञेयम् ॥ श्रीशुकः ॥

३३९। तत्र ते भक्तिमार्गा दर्शिताः। अत्र च श्रीगुरोः श्रीभगवतो वा प्रसादलब्धं साधन-साध्य-गतं स्वीयसर्व्वस्वभूतं यत्किमपि रहस्यम्, तत्तु न कस्मैचित् प्रकाशनीयम्, यथाह (भा० ८।१७।२०)

(३३९) "नैतत् परस्मा आख्येयं पृष्टयापि कथञ्चन।
सर्वं सम्पद्यते देवि देवगुह्यं सुसंवृतम् ॥"१०७२।

सम्पद्यते फलदं भवति ॥ श्रीविष्णुरदितिम् ।

३४०। तदेवं साधनात्मिका भक्तिर्दर्शिता । तत्र सिद्धिक्रमश्च श्रीसूतोपदेशारम्भे

काम गन्ध शून्य विशुद्ध प्रेममयी है। इस प्रकार दृढ़ विश्वास के सहित जो व्यक्ति श्रवण करता है। श्लोकोक्त—"शृणुयादथ" यहाँ अथ शब्द का प्रयोग 'वा' अर्थ में हुआ है। अर्थात् श्रवण करता है, अथवा वर्णन करता है। उपलक्षण में ध्यानादि करता है, वह व्यक्ति, श्रीभगवच्चरणारविन्द में पराभक्ति लाभ करता है। अर्थात् जिस से अपर कोई श्रेष्ठ भक्ति नहीं हैं, उस प्रकार भक्ति प्राप्त करता है, तदनन्तर स्वयं ही हृद् रोग काम वासना को आशु परित्याग करता है। यहाँपर यद्यपि व्रजाङ्गनावृन्द के सहित सामान्य रूप से श्रीकृष्ण विहार का श्रेष्ठत्व प्रदर्शित हुआ है, तथापि तन्मध्य में भी अर्थात् व्रजाङ्गना वृन्द के सहित श्रीकृष्ण लीला के मध्य में भी परम प्रियतमा श्रीराधा सम्वलिता लीला का सर्व श्रेष्ठ तमत्व- स्वतः सिद्ध है। किन्तु जिस की इन्द्रिय—पौरुष विकार युक्त है, उस के पक्ष में एवं पितृ भाव, पुत्रभाव, दास्य भाव दास्य भाव विशिष्ट भक्त वृन्द के पक्ष में रहस्य लीला उपास्या नहीं है। कारण, निज भाव विरोधी है। इस लीला का रहस्यत्व कभी अल्पांश में कभी सर्वांश में है। अर्थात् आलिङ्गन चुम्बन प्रभृति का वर्णन जहाँ है वहाँ रहस्यत्व अल्पांश में है, एवं सम्प्रयोगादि लीला में रहस्यत्व सर्वांश में विद्यमान है। यह जानना होगा। प्रवक्ता श्रीशुक हैं—।।३३८।।

३३९। प्रस्तुत सन्दर्भ ग्रन्थ में उक्त भक्ति मार्ग समूह का वर्णन हुआ। इस भक्ति मार्ग में श्रीगुरु अथवा श्रीभगवत् प्रसाद लब्ध साधन एवं साध्यगत निज सर्वस्व स्वरूप जो कुछ रहस्य लाभ होगा, कभी भी किसी के निकट में उस को प्रकाश करना नहीं चाहिये। श्रीमद् भागवत के ८।१७।२० में उक्त है—

(३३९) "नैतत् परस्मा आख्येयं पृष्टयापि कथञ्चन।
सर्वं सम्पद्यते देवि देवगुह्यं सुसंवृतम् ॥"१०७२॥

श्रीविष्णु श्रीअदिति को कहे थे - हे मातः! मैने जो कुछ कहा है, जिज्ञासित होकर भी कभी भी किसी के निकट उस को प्रकाशन करें। अयि देवि! सर्व देव गुह्य वस्तु यदि सम्यक् गुप्त रखी जाय तो वह फल प्रदान में सक्षम है। श्रीविष्णु अदिति को कहे थे—३३९॥

(भा० १।२।१६) "शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य" इत्यादिना दर्शितः, यथा च श्रीनारदवाक्ये (भा० १।५।२३) "अहं पुरातीत-भवेऽभवम्" इत्यादौ, यथा च श्रीकपिलदेववाक्ये (भा० ३।२५।३५) "सतां प्रसङ्गान्ममवीर्य्यसम्बिदः" इत्यादौ । अत्र कैवल्यकामायाम् (भा० ३।२५।२६) —"भक्त्या पुमान् जातविरागः" इत्यादिना शुद्धायां (भा० ३।२५।३४) "नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचित्" इत्यादिना क्रमो ज्ञेयः। तथा शुद्धायामेव श्रीप्रह्लादकृत-दैत्यबालानुशासने (भा० ७।७।३०)— "गुरुशुश्रूषया" इत्यादिना। तमेवं क्रममेव संक्षिप्य सदृष्टान्तमाह, (भा० ११।२।४२-४३ —

(३४०) "भक्तिः परेशानुभवो विरक्ति,--रन्यत्र चैष त्रिक एककालः ।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्यु,-स्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम् ॥१०७३॥
इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या, भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः ।
भवन्ति वै भागवतस्य राजं-स्ततः परां शान्तिमुपैति साक्षात् ॥"१०७४

---

३४० । पूर्वोक्त रीति से साधनात्मिका भक्ति का वर्णन हुआ । उक्त भक्ति में सिद्धि क्रम भी श्रीसूत के उपदेशारम्भ में भा० १।२।१६ में "शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य" प्रदर्शित हुआ है । अर्थात् पवित्र तीर्थ निषेवन से साधुसङ्ग की सम्भावना होती है, साधुसङ्ग से श्रीहरिकथा श्रवण में रुचि होती है, अनन्तर श्रीहरिकथा में विशेष श्रद्धा का उदय होता है । इत्यादि रूप में श्रीभगवत् प्रेम प्राप्ति का क्रम का प्रदर्शन हुआ है । एवं उक्त क्रम का दृष्टान्त— देवर्षि नारद का कथोपकथन प्रसङ्ग में सुस्पष्ट रूप से है । श्रीकृष्ण द्वैपायन को देवर्षि नारद कहे थे,—"मैं पहले दासी पुत्र था" इत्यादि क्रम से दर्शाया गया है । भा० ३।२५।२५ में श्रीकपिल देव का वाक्य "सतां प्रसङ्गान्ममवीर्य्य सम्बिदः" भी प्रस्तुत विषय का उदाहरण है । इस में साधन भक्ति से आरम्भ कर भाव एव प्रेम भक्ति का दृष्टान्त उपस्थित किया गया है । उस साधन भक्ति के मध्य में भी कैवल्य कामा भक्ति में "भक्त्या पुमान् जात विराज ऐन्द्रियात्" (भा० ३।२५।२६) दृष्टान्त है । अर्थात् भक्ति साधन करते करते ऐन्द्रियक सुख भोग में वितृष्णा होती है । अनन्तर क्रमशः मुक्तिपथ में साधक अग्रसर होता है । इत्यादि क्रम का वर्णन है । शुद्ध भक्ति में भा० ३।२५।३४) "नैकात्मतां में स्पृहयन्ति केचित्" क्रमवर्णित है । अर्थात् मुक्ति पर्य्यन्त समस्त विषयों की कामना परित्याग पूर्वक श्रीभगवान् में दास्य सख्यादि किसी एक भाव लाभ होता है । इत्यादि क्रम का वर्णन हुआ है । उस शुद्धा भक्ति में ही श्रीप्रह्लाद कृत दैत्य बालक वृन्द के प्रति उपदेश प्रसङ्ग में कथित है— भा० ७।७।३० "गुरु-- शुश्रूषया भक्त्या" अर्थात् श्रीगुरु शुश्रूषा भक्ति के द्वारा श्रीभगवान् में सर्व लाभार्पण द्वारा अर्थात् जहाँ जो कुछ भगवदर्पण योग्य द्रव्य उपलब्ध होगा, वह श्रीभगवान् को समर्पण करे । इस प्रकार साधुभक्त के सङ्ग के द्वारा एवं ईश्वर आराधना के द्वारा श्रीभगवान् में भाव भक्ति लाभ होती है । इत्यादि क्रम प्रदर्शित हुआ है । इस क्रम का वर्णन सदृष्टान्त भा० ११।२।४२--४३ में हुआ है ।

(३४०) "भक्तिः परेशानुभवो विरक्ति,–रन्यत्र चैष त्रिक एककालः ।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्यु,--स्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम् ॥१०७३॥
इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या, भक्तिर्विरक्तिर्भगवत् प्रबोधः ।
भवन्ति वै भागवतस्य राजं,-- स्ततः परां शान्तिमुपैति साक्षात् ॥"१०७४॥

श्लोक द्वय की श्रीधरस्वामिपाद कृत व्याख्या इस प्रकार हैं—एकान्त शरणागत होकर श्रीहरिभजन कारी मानव की श्रीहरि में प्रेम लक्षणा भक्ति, प्रेमास्पद भगवत् रूप की – स्फूर्त्ति, (अर्थात् परेशानुभव)

टीका च—"प्रपद्यमानस्य हरिं भजतः पुंसो भक्तिः प्रेमलक्षणा, परेशानुभवः प्रेमास्पद भगवद्रूप-स्फूर्त्तिस्तया निर्वृतस्य ततोऽन्यत्र गृहादिषु विरक्तिरित्येष त्रिक एककालो भजन-समकाल एव स्यात्, यथाश्नतो भुञ्जानस्य तुष्टिः सुखं पुष्टिरुदरभरणं क्षुन्निवृत्तिश्च प्रतिग्रासं स्युः। उपलक्षणमेतत्। प्रतिसिक्थमपि यथा स्युस्तद्वत्। एवमेवैकस्मिन् भजने किञ्चित्प्रेमादि त्रिके जायमाने अनुवृत्त्या भजतः परमप्रेमादि जायते। बहुग्रासभोजिन इव परमतुष्ट्यादि, ततश्च भगवत् प्रसादेन कृतार्थो भवतीत्याह,-इत्यच्युताङ्घ्रिमिति" इत्येषा। शान्तिं कृतार्थत्वम्, साक्षादन्तर्वहिश्च प्रकटित-परमपुरुषार्थत्वादव्यवधानेनैवेत्यर्थः। पूर्व्वपद्ये भक्त्यादीनां तुष्ट्यादयः क्रमेनैव दृष्टान्ता ज्ञेयाः,—उत्तरत्राप्येतत्क्रमेणैव भक्ति-तुष्ट्योः सुखैकरूपत्वात्, पुष्ट्यनुभवयोरात्मभरणैकरूपत्वात्, क्षुदपायविरक्त्योः शान्त्येकरूपत्वात्। यद्यपि भुक्तवतो-ऽन्नेऽपि वैतृष्ण्यं जायते, भगवदनुभविनस्तु विषयान्तर एवेति वैधर्म्यम्, तथापि वस्त्वन्तर-वैतृष्ण्यांश एव दृष्टान्तो गम्य इति॥ श्रीकविर्निमिम्॥

तदेतद्व्याख्यातमभिधेयम्। अत्रान्योऽपि विशेषः शास्त्र-महाजनदृष्ट्यानुसन्धेयः।

एवं तज्जन्य परमानन्द आप्लुतान्तः करण होने के कारण, भगवद् भिन्न अन्यत्र गृहादि में विरक्ति--यह तीन एककाल में अर्थात् भजन समकाल में ही होती हैं। जिस प्रकार भोजन में प्रवृत्त व्यक्ति की तृष्टि अर्थात् सुख, पुष्टि, अर्थात् उदरभरण, एवं क्षुधानिवृत्ति यह तीन प्रत ग्रास में होती हैं,। यह उपलक्षण है। अर्थात् भजन के अन्यान्य अङ्ग समूह भी कमशः प्रकाशित होते हैं। प्रत्येक अन्नकणा से ही जिस प्रकार तुष्टि पुष्टि होती हैं, भजन के सम्बन्ध में भी उस प्रकार जानना होगा। इस प्रकार एक अङ्ग भजन करने से किञ्चित् प्रेम, भगवदनुभाव एवं विषय वैराग्य यदि यह तीन उत्पन्न होते हैं, तो जो व्यक्ति अनुकूल वृत्ति अवलम्बन से श्रीकृष्ण भजन करते रहते हैं, उन में परम प्रेमादि भी आविर्भूत होते हैं। जो व्यक्ति बहु ग्रास भोजन करते हैं, जिस प्रकार उनकी परम तुष्टि, परम पुष्टि, एवं परम क्षुधा निवृत्ति होती हैं, भक्ति सम्बन्ध में भी उस प्रकार जानना चाहिये। अनन्तर साधक भगवत् कृपा से कृतार्थ होता है—इस का कथन "इत्यच्युताङ्घ्रि" इत्यादि श्लोक में हुआ है। यहाँ तक श्रीधरस्वामिपादकृत टीका का वर्णन है। श्लोकार्थ इस प्रकार है—श्रीकृष्णसुखानुकूल वृत्ति अवलम्बन से श्रीकृष्ण भजन कारी भागवत का श्रीभगवान् में प्रेम, भगवदनुभव, एवं विषय वैराग्य होता है. अनन्तर श्रीभगवत् कृपा से पराशान्ति अर्थात् वह कृतार्थ होता है। उस कृतार्थता भी साक्षात् अर्थात् अव्यवधान से होती है। कारण, भगवद् भक्त के अन्तर एवं बाहर में परम पुरुषार्थ वस्तु भगवत् प्रेम, एवं भगवदनुभव का प्रकाश होता है। पूर्व पद्य में अर्थात् "भक्तिः परेशानुभवः" इस श्लोक में प्रेम, भगवदनुभव, एवं विषय वैराग्य के सहित तुष्टि, पुष्टि, एवं उदरभरण का दृष्टान्त यथा क्रम से उत्थापित हुआ है। उस के मध्य में प्रेम भी सन्तुष्टि के सुखांश में एक रूपता है,एवं क्षुधानिवृत्ति भी विरक्ति,शान्ति अर्थात् निवृत्ति अंशमें एकरूपता है। यद्यपि भोजन कारी की अन्न में भी वितृष्णा होती है, किन्तु भगवदनुभवी का विषयान्तर में वैराग्योदय होता हैं। यह वैधर्म्य है। तथापि अन्य वस्तु में वितृष्णा होती है—इस अंश में दृष्टान्त है, यह जानना होगा।

श्रीकवियोगीन्द्र निमिमहाराज को कहे थे॥३४०॥

श्रीमद् भागवतोक्त अभिधेय तत्वका विश्लेषण उक्त रीति से हुआ। इस अभिधेय के प्रसङ्गमें अपर जो

गुरुः शास्त्रं श्रद्धा रुचिरनुगतिः सिद्धिरिति मे
यदेतत्तत् सर्व्वं चरणकमलं राजति ययोः ।
कृपापूरस्यन्द स्नपित-नयनाम्भोजयुगलौ
सदा राधाकृष्णावशरणगती तौ मम गतिः ॥१०७५॥

इति कलियुगपावन-स्वभजन-विभजनप्रयोजनावतार-श्रीश्रीभगवत्कृष्णचैतन्यदेव-चरणानुचर-विश्ववैष्णवराजसभा-सभाजन-भाजन-श्रीरूप-सनातनानुशासन-भारतीगर्भे षट्सन्दर्भात्मके श्रीश्रीभागवतसन्दर्भे श्रीश्रीभक्तिसन्दर्भो नाम पञ्चमः सन्दर्भः ॥५॥

श्रीभागवतसन्दर्भे सर्व्वसन्दर्भगर्भगे ।
पञ्चमो भक्तिसन्दर्भः समाप्तिमिह सङ्गतः ॥
समाप्तोऽयं श्रीश्रीभक्तिसन्दर्भः ॥
मूलम्—३४०, लेख्याः ४६२६ श्लोकाः

कुछ जानना आवश्यक है। उस को शास्त्र एवं महाजन गण के आचरण के द्वारा जानना आवश्यक है।

"गुरुः शास्त्रं श्रद्धा रुचिरनुगतिः सिद्धिरिति मे
यदेतत्तत् सर्व्वं चरणकमलं राजति ययोः ।
कृपापूरस्यन्द स्नपित- नयनाम्भोजयुगलौ
सदा राधाकृष्णावशरणगती तौ मम गतिः ॥१०७५॥

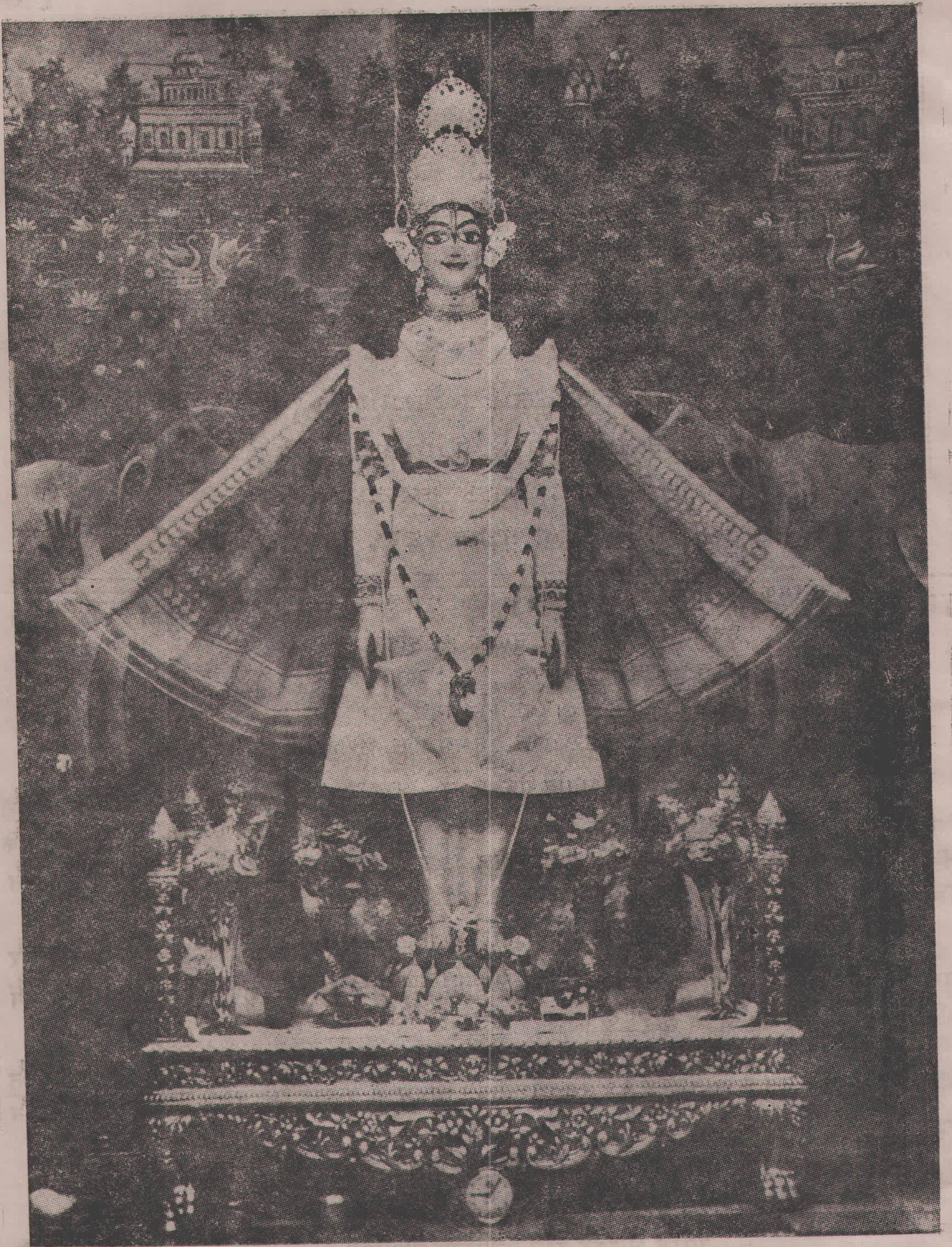
श्रीगुरु शास्त्र, श्रद्धा, रुचि, शरणागति एवं सिद्धि—मेरा यह सब जिनके श्रीचरणकमल हैं, अर्थात् जिन के चरण कमल ही मेरा सर्व साधन एवं सर्व सिद्धि स्वरूप में विराजमान हैं निज श्रीचरणाश्रित के प्रति अपार करुणा प्रवाह धारा से जिन के नयनाम्भोज युगल सर्वदा स्नापित हैं, उन अशरण गति श्रीराधाकृष्ण ही मेरा सर्वदा समाश्रय हैं।

इति कलियुग पावन स्व भजन विभजन प्रयोजनावतार श्रीश्रीभगवत् कृष्णचैतन्यदेव चरणानुचर विश्व वैष्णव राज सभा सभाजन भाजन श्रीरूप सनातनानुशासन भारता गर्भ में श्रीभागवत सन्दर्भ में भक्ति सन्दर्भ नामक यह पञ्चम सन्दर्भ हैं।

श्रीभागवत स दर्भे सर्व सन्दर्भ गर्भ में पञ्चमो भक्ति सन्दर्भः समाप्तिमिह सङ्गतः। तत्त्व भगवत प्रभृति षट् सन्दर्भ जिस के अन्तर्भुक्त है। उस श्रीभागवत सन्दर्भ के मध्य में यह भक्ति सन्दर्भ नामक पञ्चम सन्दर्भ सम्पूर्ण हुआ।

"शास्त्रीति ख्यात तत्त्वेन हरिदासेन धीमता
श्रीगान्धर्वा प्रसादेन ग्रन्थोऽयं प्रमुदे कृतः ।
वृषस्थे भास्करे रम्ये वृन्दारण्ये शुभास्पदे
हयाकाश ग्रहेचन्द्रे ग्रन्थोऽयं पूर्णतां गतः ॥

श्रीगुर्वार्पणमस्तु ॥



❀ श्रीश्रीगौराङ्ग महाप्रभु ❀